पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरूषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

भूमिका

महापुरुषों का जीवन प्रसंग जनसामान्य के लिए अनुकरणीय माना गया है। उनमें भी जो जन्मजात कठिनाइयों से, अभाव और असहायता की परिस्थितियों से संघर्ष करके ऊँचा उठते हैं, वे और भी आदरणीय होते हैं और उन्हीं को हम अपना मार्गदर्शक चुन सकते हैं। कारण यही है कि साधन, सुविधा और सहायकों के पूरी तरह होने पर तो सभी आगे बढ़ सकते हैं और ऊँची पदवी प्राप्त कर सकते हैं, पर जो लोग विपन्न और विपरीत परिस्थितियों के होते हुए भी अपने परिश्रम, लगन, त्याग और तपस्या के आधार पर आगे बढ़ते हैं, वे ही सामान्य लोगों के लिए मार्गदर्शन करा सकते हैं। वे देखने अथवा सुनने में सामान्य ही जान पड़ते हैं, पर उनमें कोई ऐसा सत्य तथ्य निहित रहता है कि बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भी हम उनको याद करते और उनसे उत्तम प्रेरणा ग्रहण करते रहते हैं।

सामान्यतया देखा यह जाता है कि जो लोग साधन सम्पन्न हैं, सामर्थ्यवान हैं, विद्या और बुद्धि की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं और धर्म, नीति, दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के भी ज्ञाता हैं, वे भी व्यवहार में प्रायः अनुचित मार्ग का अवलम्बन करते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए देश, समाज व संस्कृति की तरफ से आँखें फेर लेते हैं और जब कोई उनके गलत कार्यों पर आक्षेप करता है तो यही बहाना पेश करते हैं कि आजकल की दुनिया में चालाकी, तिकड़म और असत्य के बिना काम ही नहीं चल सकता। कितने ही व्यक्ति इस संसार को एक प्रपंच कहते हैं, माया का खेल बताते हैं और इन्हीं बातों की ओट में प्राय: अपनी बहुत-सी त्रुटियों, अनैतिक कार्यों को क्षम्य समझ लेते हैं। वे कहते हैं कि इस संघर्षमय और आपाधापी से भरे संसार में रहकर मनुष्य सदैव सत्य, न्याय, समानता आदि का व्यवहार नहीं कर सकता।

पर महापुरुषों का, देशभक्तों का, शहीदों का मार्ग इससे भिन्न होता है । वे अपने सामने एक ऊँचा आदर्श रखते हैं और उसके लिए आवश्यकता होने पर न केवल स्वार्थ का बलिदान करने, वरन् अपने जीवन का उत्सर्ग करने को भी तैयार रहते हैं। उनकी कथनी और करनी एक होती है। यही कारण है कि वे जो कहते हैं वही कर भी दिखाते हैं। वे अपनी सफलता द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि निर्धनता, शारीरिक त्रुटियाँ या साथी-सहायकों का अभाव ऐसी बातें नहीं हैं जिनके कारण हम प्रगति पथ पर अग्रसर होने से निराश हो जायें वरन् कठिनाइयों की ऐसी अग्निपरीक्षा मनुष्य में वह शौर्य-साहस, संकल्पशक्ति, दृढ़ निश्चय और कर्मण्यता का गुण उत्पन्न कर देती है, जिनसे वह निर्धारित लक्ष्य की ओर प्रगति मार्ग में बहुत तेजी से बढ़ता है और शक्ति, बुद्धि एवं साधन सम्पन्न लोगों से आगे निकल जाता है।

परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी के वाङ्मय के इस खण्ड में भारतवर्ष ही नहीं, वरन् संसार भर के शौर्य, साहस एवं बुद्धि, कर्म की धनी प्रतिभाओं, महामनीषियों, महामानवों, उत्कट देशभक्तों एवं सफल जननायकों के प्रेरणाप्रद चरित्रों, जीवन प्रसंगों का संकलन किया गया है। प्रस्तुत खण्ड में जिन महापुरुषों के जीवन प्रसंग दिये गये हैं उनमें यही विशेषता है कि उन्होंने जन-जीवन में अपने देश को खपा देने एवं परतंत्रता की बेड़ी को उखाड़ फेंकने को ही सबसे बड़ी आत्मसाधना और परमात्मा की प्राप्ति समझा और तदनुसार आजीवन ऐसे कार्यों में लगे रहे जिनसे दूसरे लोगों का कल्याण हो, उनके दु:ख और अभावों में कमी हो सके। साधारण स्थिति से जीवन आरंभ करते हुए इन महामानवों ने संसार में ऐसे महान कार्य कर दिखाये, जिनसे करोड़ों लोगों का कल्याण हुआ और

जिसके लिए आज भी उनका नाम न केवल बड़े आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है, वरन् वे हम सबके लिए प्रेरणा स्रोत बने हुए हैं।

वाङ्मय के इस खण्ड में उन महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंगों को लिया गया है जिन्होंने अपना सारा जीवन देश, समाज और संस्कृति की रक्षा में खपा दिया। तप, त्याग, बलिदान और लोकमंगल ही जिनका जीवनोद्देश्य रहा, ऐसे महामानवों के जीवन चरित्र आज भी उतने ही प्रासंगिक एवं प्रेरणादायी हैं जितने कि तब थे। प्राचीनकाल में भारत के ऋषि-मुनि अरण्यों में निवास करते हुए भी देश-हित को सर्वोपरि मानते थे। उनके लिए आध्यात्मिकता का प्रथम पाठ देशभक्ति ही था और उसी के लिए वे समर्पण भाव धारण कर कर्मरत रहते थे। आज भी वह परम्परा जीवित है। स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि महानता की जिस ऊँचाई तक पहुँच सके, उसकी मूल प्रेरणा और शक्ति उनकी स्वदेश भक्ति में ही निहित रही है। परम पूज्य गुरुदेव ने भी अपनी जीवन साधना का शुभारम्भ देशभक्ति से करते हुए अपने जीवन की अंतिम श्वास तक स्वदेश चिंतन की आहुति देते हुए अपने जीवन यज्ञ को पूर्णाहुति प्रदान की।

प्रस्तुत खण्ड के पाँच अध्यायों में देश-विदेश के जिन कर्मवीरों, देशभक्तों एवं लोकनायकों के जीवन चरित्रों को लिया गया है उनमें छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, भामाशाह, सरदार पटेल, लाला लाजपतराय, राष्ट्रपति कैनेडी, मेजर शैतान सिंह, वन्देमातरम् के दृष्टा-बंकिमचन्द्र, चन्द्रगुप्त, विद्यारण्य, बहादुरशाह 'जफर', सिकन्दर, नैपोलियन जैसे शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तंभ सम्मिलित हैं। महाराणा राजसिंह से लेकर आइजन हावर तक एक ओर जहाँ बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभाएँ हैं, वहीं दूसरी ओर भारत के अमर शहीदों व स्वतंत्र भारत के आधार स्तंभों के प्रेरणादायी जीवन प्रसंग हैं। महात्मा गाँधी, गोखले, लिंकन आदि से लेकर हेमर शोल्ड तक एवं मार्शल जुकोव से लेकर जार्ज वाशिंगटन, चर्चिल तथा जार्ज पाम्पीद तक विश्व प्रसिद्ध सफल जननायकों के महत्वपूर्ण जीवन प्रसंगों को वर्णित किया गया है। इन देशभक्तों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का प्रेरणादायी परिचय पाठकों को अपने जीवनोद्देश्य को पहचानने में निश्चित ही सहायता प्रदान करेगा।

-ब्रह्मवर्चस्

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

सम्पादक
ब्रह्मवर्चस

प्रकाशक :
अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ।।

मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ।।

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ।।

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ।।

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ।।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।

विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक
एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्‌बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- ''प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गईं- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।''

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जराग आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंत:स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दु:खी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्राय: पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनने महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलथाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक मांह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल; स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्त्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। ❑❑❑

विषय-सूची

शौर्य और साहस के सुदृढ़ स्तम्भ

मूर्तिमान शौर्य-शिवाजी

औरंगजेब के शासन का मध्याह्न सूर्य तप रहा था। अधिकांश हिन्दू नरेश आत्मसमर्पण कर चुके थे। शहंशाह की भृकुटि का एक वक्र संकेत किसी का भी भाग्य निर्णायक बन जाता था। चारों ओर भय, आशंका, कठोरता तथा लूट-पाट का आतंक छाया हुआ था।

पर ऐसे समय में भी देशभक्ति मरी नहीं थी। कुछ नर केसरी उसे अपनी श्वासों से जीवन दे रहे थे। धार्मिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का जैसा सुन्दर समन्वय इस काल में हुआ शायद ही किसी काल में हुआ हो।

शाहजहाँ के समय में ही एक दुर्दमनीय शक्ति पनपना प्रारम्भ हो गई थी। वे थे शाहजी भौंसले नामक एक मराठा सरदार। वे पहले अहमदनगर की रियासतों में और फिर बीजापुर में उच्च पद पर कार्य करते रहे।

नरकेसरी वीर शिवाजी को जन्म देने का श्रेय इन्हीं को है। शेरों के शेर ही हुआ करते हैं। पर यहाँ तो पुत्र का साहस-बल तथा पुरुषत्व पिता से भी दो कदम आगे था। शिवाजी का जन्म १० अप्रैल, १६२७ को शिवनेरी के पर्वतीय दुर्ग में हुआ था।

अपनी मातृभूमि को पराधीनता के पाश से निकालने के लिए शिवाजी ने अपने जीवन का कण-कण, क्षण-क्षण विसर्जित कर दिया था, जन्म के कुछ काल पश्चात् ही पिता का संरक्षण विधाता ने उठा लिया, पर इनकी माता जीजाबाई भी भारतीय वीरांगना थीं। उन्होंने पिता का अभाव खलने नहीं दिया और उन्होंने वे समस्त कार्य शिवाजी को स्वयं अपनी देख-रेख में सिखाये जो पिता का कर्त्तव्य हुआ करता है। राष्ट्रीयता की भावना को तो उन्होंने माता के दूध में ही दान किया था।

१६-१७ वर्ष के किशोर के मन में यही द्वन्द्व मचा रहता था कि किस प्रकार इन नर हत्यारों से अपनी भारत माँ को स्वतंत्र कर लूँ? पास में कोई बड़ी सेना न थी—बड़े साधन न थे। हाँ, हिम्मत अवश्य ही बहुत थी।

इनके व्यक्तित्व को गढ़ने का श्रेय इनकी माता को तो है ही पर इन्हें नर-पुंगव बनाने में जो योगदान इनके गुरु-समर्थ गुरु रामदास का है वह भी अतुलनीय तथा असीम है।

शिवाजी उनके सर्वाधिक प्रिय शिष्य थे। राष्ट्रीयता की उत्कट भावना सागर की उत्ताल तरंगों की भाँति हृदय में हिलोरें लिया करती थीं।

इन्होंने सोचा कि बड़ी सेना इकट्ठी करने तथा बड़े पैमाने पर साधन एकत्रित करने को तो पर्याप्त समय चाहिए, क्यों न जो कुछ अपने पास है उसी को अञ्जलि में भरकर माँ के चरणों में समर्पित कर दिया जाय और इन्होंने छोटे-छोटे कई संगठित दलों का निर्माण किया। स्वामी रामदास के आदेशानुकूल— शिवाजी के नेतृत्व में मर मिटने के लिए तैयार कई जवान आगे आये और शिवाजी ने इन छोटे-छोटे दलों को लेकर ही अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

उन्होंने सहयाद्री पर्वत पुत्रों —मालवा आदिवासियों की सहायता से एक-एक करके बीजापुर सल्तनत और मुगलों के अधीन किले छीनने आरंभ किए और अपने राज्य का विस्तार किया। उन्हें अपने सजातीय बंधुओं से आरंभ में सहयोग नहीं मिला। स्वाभिमानी और सरल स्वभाव मालवा वीरों ने शिवाजी के ध्येय की पूर्ति के लिए जो बलिदान किए वे इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ बन चुके हैं। बाजीराव देशपांडे का बलिदान हमारे इतिहास की गौरवपूर्ण थाती है।

१९ वर्ष का युवक, जहाँ भी औरंगजेब के अत्याचारों की प्रबलता देखता वहीं अपने इस छापामार दल के साथ टूट पड़ता। सर्वप्रथम पूना के समीप इन्होंने एक छोटा किला अपने बलबूते पर अपने अधिकार में किया। इससे सभी का साहस बढ़ा। नेतृत्व करने की कुशलता शिवाजी को दैविक देन के ही रूप में प्राप्त हुई थी उसे निखारा स्वामी रामदास ने और उसका खुलकर उपयोग किया शिवाजी ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए-अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये-अपने धर्म की रक्षा के लिए।

धर्म का वास्तविक उद्देश्य क्या है यह हमें इसी काल में क्रियान्वित होता दृष्टिगोचर होता है। गाँव-गाँव मन्दिर स्थापित किये गये। नित्य ही सब वहाँ भगवद्-भजन के बहाने एकत्रित होते। नव-युवकों में स्वामी रामदास राष्ट्रीय भावना जाग्रत करते। बड़े-बड़े अखाड़ों का भी निर्माण किया गया जहाँ युवकों को अपने शरीरों को बनाने तथा शस्त्र-विद्या में कुशलता प्राप्त करने का प्रशिक्षण दिया जाता था।

शिवाजी सभी से सम्पर्क स्थापित करते। स्वयं सबको निज के भाई जैसा ही स्नेह प्रदान करते तथा मरने-मारने में सदा आगे रहते। स्थान-स्थान पर इन्होंने इसी प्रकार कई छोटे-छोटे किले जीते। यद्यपि इनके सहयोगियों की संख्या औरंगजेब की सेना की तुलना में बहुत ही अल्प थी। परन्तु रणबाँकुरों का साहस, उत्सर्ग की भावना तथा कार्यकुशलता इतनी अधिक थी कि इनका एक-एक सिपाही मुगल सेना के बीस-बीस सैनिकों के लिये पर्याप्त सिद्ध होता था।

शिवाजी की सफलता का रहस्य उनका संगठन-राष्ट्रीय निष्ठा तथा कुशल नेतृत्व तो था ही पर एक वस्तु और थी वह थी यदि काल भी सामने आ जाये तो उससे

भी जूझ जाने का संकल्प पूर्ण साहस । इसी साहस के बल पर वे अपनी छोटी-छोटी टुकड़ियों को लेकर किलों पर हमला करते और विजयी होते।

शिवाजी के इस अदम्य उत्साह तथा पराक्रम से औरंगजेब अभिभूत हो उठा था । उसने इन्हें धोखे से आगरे बुलवाया पर यहाँ उसे ही मुँह की खानी पड़ी । राजनीति में साम, दाम, दण्ड और भेद चारों ही नीतियाँ काम में लाई जाती हैं । जब जैसी आवश्यकता हो ।

दक्षिण के मुगल अधिकारी तो इनके आतंक से इतने भयभीत हुए कि लगान का चौथा भाग इन्हें देने लगे, जो 'चौथ' के नाम से आगे भी मराठे सरदार तथा राजे सदा वसूल करते रहे ।

अब तक शिवाजी कई किले आधीन कर चुके थे । अधिकांश दक्षिणी प्रदेश इनके अधिकार में था । सन् १६७४ में शिवाजी का रायगढ़ में धूमधाम के साथ राज्याभिषेक किया गया और अब वे एक अच्छी खासी व्यवस्थित शक्ति के स्वामी थे ।

सन्त तुकाराम तथा रामदास के भजन लोकमानस में वह उमस उत्पन्न करते थे जिससे राष्ट्रीयता के प्रति लोगों के हृदय से स्नेह निर्झर फूट पड़ते थे । शिवाजी यद्यपि स्वयं राजा बन गये थे तथापि समस्त राज्य संचालन वे स्वामी रामदास के आदेशानुसार ही करते थे ।

शिवाजी ने जीवन भर न स्वयं चैन की साँस ली न औरंगजेब को ही चैन से सोने दिया । वे आजीवन अपनी मातृभूमि के लिये युद्ध करते रहे । दाहिने हाथ में शस्त्र तथा बाएँ हाथ में शास्त्र की जो उक्ति है उसे हम शिवाजी के जीवन काल में चरितार्थ हुआ देखते हैं ।

शिवाजी जितने कुशल प्रशासक थे, उतने ही चतुर राजनीतिज्ञ भी थे । राजनीति के गुर उन्होंने दादाजी कोणदेव जैसे अनुभवी व्यक्ति से सीखे थे । दुष्टों के दलन के लिए छल-बल का सहारा लिया जाय तो इसे अनीति नहीं कहा जा सकता । अतः उन्होंने अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए साम, दाम, दंड और भेद की नीति का सहारा लिया । इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि वे चारित्रिक दृष्टि से दुर्बल थे । उस काल के अन्य राजाओं से दीखते हुए भी वे उन सबसे निराले थे ।

उन्होंने बीजापुर और दिल्ली की शत्रुता का भरपूर लाभ उठाया । पहले बीजापुर साम्राज्य की शक्ति क्षीण करने के लिए उन्होंने मुगल सम्राट औरंगजेब का साथ दिया और जब बीजापुर साम्राज्य दुर्बल पड़ गया तो उससे काफी प्रदेश छीन लिया । उन्होंने दगाबाज के साथ दगा भी किया तो विश्वासी के विश्वास की पूरी रक्षा भी की ।

शिवाजी के सैनिक मुगलों व बीजापुर सल्तनत की सेनाओं की रसद व गोला-बारूद तथा मालगुजारी में वसूल किया गया धन भी मौका देखकर लूट लिया करते थे, पर उनकी यह नीति दुष्टों के साथ ही थी । एक बार जब उनका एक सेनापति एक किले की विजय के बाद किलेदार की रूपमती पुत्र वधू को भी पकड़ लाया तो शिवाजी को अपने सरदार की इस नासमझी पर बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने अपने सरदार से कहा-"यदि हम भी ऐसा करने लगें तो हममें और लुटेरों में क्या अन्तर रह जाएगा?" भविष्य में कभी ऐसी भूल न करने का निर्देश देते हुए उन्होंने उस रूपवती रानी से अपने सरदार की नासमझी के लिए क्षमा माँगी तथा उसे ससम्मान अपने पति के पास भिजवा दिया ।

शिवाजी का यह नैतिक आदर्श और राष्ट्र प्रेम की उत्कट भावना जहाँ उनके साथियों में उनके लिए हँसते-हँसते प्राण न्योछावर करने की प्रेरणा भर देती थी वहीं शत्रु पक्ष के लोगों के दिलों में भी उनके प्रति प्रेम पैदा कर देती थी । जयपुर के राजा जयसिंह उनके इन्हीं गुणों पर रीझे थे । आगे चलकर जब औरंगजेब ने इन्हें आगरे के किले में बंदी बनाकर रखा, तो जयसिंह के पुत्र रामसिंह से उन्हें भरपूर सहायता मिली ।

शिवाजी काँटे से काँटा निकालना बखूबी जानते थे । दुष्ट व्यक्ति से सद्व्यवहार की आशा करना व्यर्थ होता है । उसको तो वैसे ही आचरण से जीता जा सकता है जैसा कि उसके साथ उचित है । अफजल खाँ शिवाजी के प्राण हरने का षड्यंत्र रचकर बीजापुर सुल्तान की हैसियत से उनसे मिलने आया था । वे उससे मिलने में धोखे की पूरी संभावना समझे हुए थे अतः पूरी तैयारी करके उससे मिलने गए और वह अपने षड्यंत्र को सफल कर पाता उसके पहले ही शिवाजी ने उसका काम तमाम कर दिया ।

जयपुर के राजा जयसिंह की राय से शिवाजी औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए ताकि औरंगजेब जोधपुर नरेश जसवंत सिंह तथा जयपुर नरेश जयसिंह की तरह उन्हें भी अपने दरबार में उच्च स्थान देकर अपना मांडलिक बना ले । इसके पीछे उनकी यह नीति थी कि यदि औरंगजेब ऐसा कर लेता है तो उन्हें आगे के लिए मुगल सेनाओं से लोहा नहीं लेना पड़ेगा तथा वे जयसिंह तथा जसवंत सिंह जैसे हिन्दू राजाओं को भी अपनी ओर मिलाकर मुगल सल्तनत का सदा के लिये अन्त कर देंगे । किन्तु औरंगजेब भी एक ही कांइयाँ था वह शिवाजी को यह मौका नहीं देना चाहता था कि वे कोई खुराफात कर सकें। उसने वहाँ शिवाजी को वह सम्मान नहीं दिया जिसकी वे सोच रहे थे । वे मात्र पंचहजारी मनसबदार बनाए गए । वे अपने इस अपमान को सहन न कर सके । वे औरंगजेब के कांइयाँपन को पूरी तरह समझ गए थे अतः अब उसके सामने झुकना भी नहीं चाहते थे। वे किसी भी शर्त पर उसे अपना सम्राट स्वीकारने को तैयार नहीं हुए ।

आगरा के दीवाने-खास और दीवाने-आम में शिवाजी ने औरंगजेब की जो उपेक्षा की उसने उनके स्वाभिमान को उस बुलंदी पर ले जा चढ़ाया जो बड़े

गर्व की बात है । औरंगजेब ने इन्हें आगरा के किले में बंदी बनाकर रख दिया । बंदीगृह से निकल भागने में उन्हें कई महीने लग गए पर औरंगजेब इस सिंह को अपने पिंजरे में बंद करके रख न सका । वे चतुराई से उसमें से निकल गए ।

जितने समय तक वे महाराष्ट्र से बाहर रहे उनके थोड़े से सरदारों ने महाराष्ट्र में किसी प्रकार की अराजकता या उपद्रव नहीं होने दिया । बाहर से होने वाले आक्रमणों को भी उन्होंने इसी प्रकार रोके रखा । उनका कोई सरदार सपने में भी उनसे विद्रोह करने की सोच तक नहीं सकता । इसके मूल में शिवाजी की निस्पृहता और धर्म राज्य स्थापित करने की उत्कृष्ट कामना ही थी । उन्होंने कभी अपने को राजा नहीं माना । वे सदा महाराष्ट्र के एक सामान्य सेवक की तरह ही रहे । ऐसे व्यक्ति से भला कौन विद्रोह कर सकता था ?

औरंगजेब को भी राजा जसवंत सिंह को भेजकर उनसे संधि करनी पड़ी और उन्हें एक स्वतन्त्र राजा स्वीकार करना पड़ा । यह सब उसने इसलिए किया था कि उसे दूसरे क्षेत्रों में उठ रहे विद्रोहों को दबाना था । थोड़े ही समय बाद फिर उसे महाराष्ट्र से लड़ना पड़ा । शिवाजी ने इसके लिए तैयारियाँ कर ही रखी थीं । जीवन भर औरंगजेब महाराष्ट्र को दबाने की पुरजोर कोशिश करता रहा पर वह सफल नहीं हो सका ।

शिवाजी को ऐसे-ऐसे वीर साथी मिले जो देश के लिए प्राणों पर खेलने में हिचकिचाते नहीं थे । बाजीराव देशपांडे और तानाजी मालसरे जैसे सहस्त्रों वीर उनकी सेना में थे। महाराष्ट्र की पृष्ठभूमि तो समर्थ गुरु रामदास ने जनमानस में तैयार कर ही रखी थी उसे क्रियात्मक रूप शिवाजी ने दे डाला ।

युद्ध कौशल और नीति कुशलता में ही नहीं राज्य प्रबंध के मामले में भी वे तत्कालीन राजाओं से निराले थे । उन्होंने वास्तव में सुशासन दिया था जनता को । उन्होंने राज्य प्रबंधकों के लिए अष्ट प्रधान मंडल की जिस परम्परा का प्रचलन किया जो आगे के लिए भी महाराष्ट्र मंडल की रीढ़ बना रहा ।

वे पहले राजा थे जिन्होंने जागीरदारी व जमींदारी की प्रथा बंद करके भू-राजस्व वसूल करने के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किए । उनकी शासन व्यवस्था मौलिक थी पारम्परिक नहीं । इसमें प्रजा की उन्नति व सुख-सुविधा की भरपूर व्यवस्था थी ।

शिवाजी ने राज्य की अधिकतम शक्ति अष्ट प्रधान मंडल के अधीन रखी व स्वयं नाममात्र के राजा रहे । उन्होंने जिस सुराज्य के लिए लड़ाइयाँ लड़ी थीं, वह सुराज्य उन्होंने अपने सुप्रबंध द्वारा लाकर बताया भी सही। लगातार छत्तीस वर्ष तक उन्होंने वन पर्वत एक करके अनेकानेक युद्ध करके सशक्त महाराष्ट्र की स्थापना का स्वप्न साकार किया जो उस समय की आवश्यकता थी । उसके बीज लोगों के दिलों में विद्यमान थे पर उन्हें अंकुरित करके पल्लवित-पुष्पित पादप का रूप देने का श्रेय उन्हें मिला । महाराष्ट्र ही नहीं वे तो सारे भारत को मुस्लिम शासन से मुक्त देखना चाहते थे । बुंदेलखंड केसरी महाराज छत्रसाल को प्रारंभिक अवस्था में सहायता व मार्गदर्शन शिवाजी से ही मिला था । इस परंपरा को शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने भी निभाया ।

सन् १६८० में शिवाजी का देहावसान हो गया । उन्होंने अपने समय के एक युगपुरुष की भूमिका निभायी । उनका यह जीवन आदर्शों का एक चिरंतन प्रेरणा स्रोत है । उनके जीवन के कुछ प्रेरक प्रसंग इस प्रकार हैं -

गढ़ आया पर, सिंह चला गया

शिवाजी को सूचना मिली कि कोंडलगढ़ में औरंगजेब द्वारा नियुक्त अधिकारी एक हिन्दू कन्या के साथ बलात निकाह पढ़वाने वाला है । उन्होंने इस अनीति को रोकने के लिए कोंडलगढ़ विजय के लिये तुरन्त कूच करने की आज्ञा अपने प्रिय योद्धा तानाजी के पास भेज दी ।

उन्हीं दिनों ताना जी के पुत्र का विवाह होने वाला था, किन्तु उन्होंने कर्तव्य की गरिमा समझी तथा तुरन्त प्रस्थान किया । समय पर पहुँच कर कन्या का उद्धार किया तथा गढ़ जीत लिया, किन्तु उस अभियान में स्वयं भी बलिदान हो गये ।

शिवाजी को गढ़-विजय तथा तानाजी के बलिदान का समाचार मिला तो उनके मुख से निकला- गढ़ आया पर, सिंह चला गया, दुर्ग का नाम सिंहगढ़ ही रख दिया गया ।

ईश्वर की कृपा

अनावृष्टि से संकटग्रस्त जनता की सहायता के लिए छत्रपति शिवाजी एक बाँध बनवा रहे थे । मजूरी करके सहस्त्रों व्यक्ति उदर-पोषण का आधार प्राप्त कर रहे थे ।

शिवाजी ने एक दिन उन्हें देखा तो गर्व से फूले न समाये कि वे ही उतने लोगों को आजीविका दे रहे हैं । यदि वे यह प्रयास न करते तो इतने लोगों को भूखा मरना पड़ता ।

समर्थ गुरु रामदास उधर से निकले, शिवाजी ने उनका सम्मान, सत्कार किया और उदार-अनुदान की गाथा कह सुनाई ।

समर्थ उस दिन तो चुप हो गये, पर जब दूसरे दिन चलने लगे तो शान्त भाव से एक पत्थर की ओर संकेत करके शिवाजी से कहा इस पत्थर को तुड़वा दो ।

पत्थर तोड़ा गया तो उसके बीच एक गड्ढा निकला, उसमें पानी भरा था और एक मेंढकी कल्लोल कर रही थी ।

समर्थ ने शिवाजी से पूछा- इस मेंढकी के लिए सम्भवत: तुमने ही पत्थर के भीतर यह जीवन-रक्षा की व्यवस्था की होगी ? शिवाजी लज्जा से पानी-पानी हो गये।

गुरुदक्षिणा

"शिवाजी ! तू बल की उपासना कर, बुद्धि को पूज, संकल्पवान बन और चरित्र की दृढ़ता को अपने जीवन में उतार, यही तेरी ईश्वर-भक्ति है । भारतवर्ष में बढ़ रहे पाप, हिंसा, अनैतिकता और अनाचार के यवनी-कुचक्र से लोहा लेने और भगवान की सृष्टि को सुन्दर बनाने के लिये इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है ।" समर्थ गुरु रामदास ने समझाया ।

"आज्ञा शिरोधार्य देव ! किन्तु यह तो गुरु-दीक्षा हुई अब, गुरु-दक्षिणा का आदेश दीजिये ।" शिवाजी ने दृढ़ किन्तु विनीत भाव से प्रार्थना की ।

गुरु की आँखें चमक उठीं । शिवाजी के शीश पर हाथ फेरते हुए बोले- "गुरु-दक्षिणा में मुझे एक लाख शिवाजी चाहिए, बोल देगा ?"

"दूँगा गुरुदेव ! एक वर्ष एक दिन में ही यह गुरु-दक्षिणा चुका दूँगा "इतना कहकर शिवाजी ने गुरुदेव की चरण धूलि ली और महाराष्ट्र के निर्माण में जुट गये ।

पहले छोटे लक्ष्य पूर्ण करो

शिवाजी उन दिनों मुगलों के विरुद्ध छापामार युद्ध लड़ रहे थे । रात को थके माँदे वे एक वनवासी बुढ़िया को झोपड़ी में जा पहुँचे और कुछ खाने-पीने की याचना करने लगे ।

बुढ़िया के घर में कोदों थी सो उसने प्रेमपूर्वक भात पकाया और पत्तल पर उसके सामने परोस दिया ।

शिवाजी बहुत भूखे थे । सो सपाटे से भात खाने की आतुरता में अँगुलियाँ जला बैठे और उन्हें मुँह से फूँककर जलन शान्त करने लगे ।

बुढ़िया ने आँखें फाड़कर उसे देखा और बोली- सिपाही तेरी शक्ल शिवाजी जैसी लगती है और साथ ही यह भी लगता है कि तू उसी जैसा मूर्ख भी है ।

शिवाजी स्तब्ध रह गये । उन्होंने बुढ़िया से पूछा- भला शिवाजी की मूर्खता तो बताओ और साथ ही मेरी भी ।

बुढ़िया ने कहा- तू ने किनारे-किनारे से ठण्डी कोदों खाने की अपेक्षा बीच के गरम भात में हाथ मारा और अँगुलियाँ जलालीं । यही बेअकली शिवाजी करता है, वह दूर किनारों पर बसे छोटे किलों को आसानी से जीतते हुए शक्ति बढ़ाने की अपेक्षा बड़े किलों पर धावा बोलता है और मार खाता है ।

शिवाजी को अपनी रणनीति की विफलता का कारण विदित हो गया । उन्होंने बुढ़िया की सीख मानी और पहले छोटे लक्ष्य बनाये और उन्हें पूरा करने की रीति-नीति अपनाई । छोटी सफलताएँ पाने से उनकी शक्ति बढ़ी और अन्ततः बड़ी विजय पाने में समर्थ हुए ।

जाति द्रोह का प्रतिफल

वीर शिवाजी और औरंगजेब के मध्य बीजापुर के शासक मसऊद खाँ के विरुद्ध सम्मिलित युद्ध अभियान की सन्धि हो गई । सन्धि की शर्तों के अनुसार शिवाजी को अपने पुत्र सम्भाजी को मुगल दरबार में रेहन रखना पड़ा । मराठे औरंगजेब की कूटिनीति जानते थे । अतएव वे मुगल-मराठा सन्धि के पक्ष में नहीं थे । सम्भाजी को मुगल दरबार में बन्धक रखना तो और भी अपमानपूर्ण लगा किन्तु शिवाजी को मराठों की वीरता पर विश्वास था इसलिये सन्धि-शर्तों के पालन में कोई दिक्कत न आई । मुगल सल्तनत में प्रवेश के साथ ही सम्भाजी की पहली दृष्टि पड़ी सुरा और सुन्दरियों पर । कर्म के दूरवर्ती परिणामों पर विवेकजन्य विचार न करने वालों, इन्द्रियों के आकर्षणों पर अंकुश न रख सकने वालों के समान ही सम्भाजी का भी इस तरह पतन प्रारम्भ हुआ और उसका अन्त अपने पिता के प्रति विद्रोह के रूप में आ प्रस्तुत हुआ ।

सम्भाजी को मालूम था कि दुश्चरित्रता भारतीयों में सबसे बड़ा अपराध होती है । शासक और मार्गदर्शक के लिए तो वह अक्षम्य भी होती है । एक बार स्थिति बिगड़ जाने पर सत्ता का उत्तराधिकार प्राप्त करना भी अनिश्चित था अतएव सम्भाजी पूरी तरह पाप-पंक में डूबे, वासना के कुचक्र में ही नहीं फँसे वरन् उन्होंने राष्ट्रघात भी किया । औरंगजेब को पिता की सेना, दुर्ग, कोष के ठिकानों का सारा अता-पता दे दिया। भारतीय इतिहासज्ञों का कथन है कि यह सब औरंगजेब के संकेतों पर हुआ किन्तु दोष सम्भाजी को ही दिया जाना चाहिए जो बुद्धिमान होकर भी विवेक स्थिर न रख सके यह जानते हुए भी वासना और राष्ट्रघात दोनों ही पतन के घर हैं अपने आपको वे नियन्त्रित न कर सके ।

औरंगजेब ने निश्चय किया कि अब बीजापुर विजय का श्रेय अकेले ही लूटना चाहिए, सो उसने सम्भाजी को लालच देकर लड़ने के लिए राजी कर लिया । शिवाजी के साथ हुई शर्त उसने ठुकरा दी और अपने क्रूर सेनापति दिलेर खाँ के साथ सम्भाजी को बीजापुर युद्ध में भेज दिया । शिवाजी मर्माहत हो उठे। बदला लेने के लिए उन्होंने बीजापुर नरेश का साथ दिया और अपने पुत्र व दिलेर खाँ के विरुद्ध मसऊद खाँ के साथ लड़ाई में भाग लेकर मुगल सेना को परास्त कर दिया ।

वे सम्भाजी को पकड़ना चाहते थे पर वह दिलेर खाँ के साथ पहले ही लड़ाई का मैदान छोड़कर भाग खड़ा हुआ । भारतीय लड़ाइयों में यवन शासकों की अधिकांश पराजय का कारण उनकी चरित्रहीनता ही रही है, जिसके कारण साहस और बल की दृष्टि से वे सदैव खोखले ही रहे और इस तरह प्रायः प्रत्येक युद्ध हारते रहे ।

हार का बदला क्रूरता । यह उनका दूसरा सिद्धान्त था । दिलेर खाँ जो कभी सम्भाजी का बड़ा मित्र बनता था । सम्भाजी की सहायक मराठी सेना को नष्ट हुआ देख कर छल कर बैठा। मार्ग में तिकोटा पड़ता था । यह स्थान मराठी सल्तनत का भाग था और सम्भाजी यहाँ के बच्चे-बच्चे से परिचित थे । इन सबके बावजूद दिलेर खाँ ने नृशंसता की और मुगल सैनिकों ने तिकोटा को खूब जी भर कर लूटा ।

सन्ध्या हुई । सम्भा विचारमग्न लेटे हुए थे तभी पास के कोने से कराहने की आवाज आई । स्वयं उठकर देखने की हिम्मत नहीं थी तभी क्रूर हँसी के साथ दिलेर खाँ प्रविष्ट हुआ और सम्भाजी को उस खेमे में पकड़ ले गया जहाँ सैकड़ों भारतीय ललनाओं को बन्दी बनाकर उनके साथ अमानुषिक अत्याचार किया जा रहा था । सम्भाजी अपनी ही बहिनों पर अत्याचार देखकर सिहर उठे, हृदय चीत्कार उठा पर एक राष्ट्रघाती शर्म से सिर झुका लेने के अतिरिक्त कर भी क्या सकता था ?

प्रायश्चित उनकी धर्मपत्नी येसुबाई ने सुझाया । उसी रात सम्भाजी मुगलों के चंगुल से भाग निकले । पिता ने इन्हें क्षमा भी कर दिया पर जो भूल हो चुकी थी, जिसके कारण उन्होंने अपनी आँखों, अपनी संस्कृति को अपमानित होते देखा था उसके पश्चाताप की आग में वे मृत्युपर्यन्त झुलसते रहे ।

आदर्शों के हिमालय-

महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी- ये दो नाम ऐसे हैं जिन्हें सुनकर आज भी हमारे रक्त में एक सन-सनाहट-सी उपजने लगती है । यदि हमारा रक्त पानी नहीं बन गया है तो निश्चय ही ये नाम उसमें ज्वार उपजाए बिना नहीं रहते । इन महापुरुषों के व्यक्तित्व और कर्तव्य को काल की परिधि में नहीं बाधा जा सकता, ये चिरंतन हैं । अमर हैं । आज भी और हर काल भी ये नाम उतने ही प्रभामय और प्रेरक हैं और रहेंगे ।

व्यक्ति की अपनी नैतिकता अपना आदर्श और अपना स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय-गौरव वह अलंकरण है जिनके आगे राज्य वैभव और विलास के समस्त साधन तुच्छ हैं । वह जीवन भी क्या जीवन है जिसका कोई मानवोचित आदर्श नहीं । वह व्यक्ति क्या व्यक्ति है जो अनीति अनाचार और दुष्टता से समझौता कर ले । ऐसे व्यक्ति की साँस भले ही चल रही हो पर वह निष्प्राण है, निर्जीव, चेतनाहीन । महाराणा प्रताप का जीवन इसी आदर्श का प्रतीक है ।

महाराणा प्रताप का जन्म सन् १५४० में मेवाड़ के महाराणा राजवंश में हुआ । यह वही राजवंश था जिसने महाराणा साँगा और महाराणा कुम्भा जैसे आदर्श प्रजा सेवी शासक व मातृभूमि के रक्षकों को जन्म दिया था । महाराणा सांगा के पौत्र होने का जहाँ प्रताप को गर्व था वहीं महाराणा उदयसिंह के पुत्र होने का दुःख भी । उदय सिंह अपने पिता और मेवाड़ की शौर्य परम्परा को निभाने में असमर्थ ही रहे थे । उनके पिता ने ठेठ आगरा के पास खानवा के मैदान में जाकर भारत पर आक्रमण करने वाले बाबर से लोहा लिया था पर उदयसिंह उसके पौत्र अकबर से चित्तौड़ की रक्षा नहीं कर सके । वे वहाँ से भाग खड़े हुए ।

प्रताप की माता यद्यपि राजकुमारी नहीं थीं । वे उदयपुर के निकटवर्ती ग्राम देबारी के देगड़ा वंश की कन्या थीं । उनके पिता कृषि कर्म करते थे । वे पढ़ी-लिखी भी नहीं थीं । पर संतान का निर्माण कैसे किया जाता है इस कला में वे अति प्रवीणा थीं । शरीर से पूरी तरह स्वस्थ और मन से पूरी तरह निर्मल माता ने जहाँ राणा प्रताप को भीम का-सा शारीरिक बल दिया वहीं हिमालय की-सी आदर्शनिष्ठा और मनोबल भी दिया था । शिवाजी को छत्रपति बनाने का श्रेय जो उनकी माता जीजाबाई को है, वही महाराणा प्रताप को स्वाधीनता के अमर रक्षक और महान तपस्वी बनाने का श्रेय उनकी माता को ही है।

उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़कर अरावली पर्वतों में सुरक्षित स्थल पर उदयपुर नगर का निर्माण किया था । उन्हीं पर्वतों में आखेट करते समय उन्होंने एक दिन एक स्वस्थ सबल कृषक कन्या को अरावली की खड़ी चढ़ाई में सिर पर भारी बोझ और हाथों में चार छह गाय के बछड़ों को पकड़े, जो अपनी बाल सुलभ मस्ती में पीछे की ओर लटक रहे थे, बड़ी सहजता से चढ़ते देखा तो उनके मन में विचार उठा कि इस कन्या के कोई पुत्र हो तो कैसा बलिष्ठ होगा । उनका यह विचार ही इस कृषक कन्या को मेवाड़ की महारानी बनाने का कारण बना ।

राणा प्रताप का जिरह-बख्तर लोहे का टोप व भाले आदि का वजन ही इतना था कि अकेला आदमी उसे उठा नहीं सकता फिर उनका शरीर कैसा होगा ? इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । उनकी माता यद्यपि राज कन्या नहीं थी पर जिस कुल की वह वधू बनी थी उसकी मान मर्यादा और गौरव का उन्हें पूरा ध्यान था । उन्होंने राणा प्रताप को तन और मन दोनों से इतना सबल बना दिया कि वे मुगल सम्राट से बराबर की टक्कर ले सकें । एक ओर उन्हें वीर और त्यागी महापुरुषों की कहानियाँ सुना-सुना कर उनमें उच्च भावनाएँ भरीं दूसरी ओर शस्त्र संचालन सिखाने और उनके शारीरिक बल सम्वर्द्धन की ओर भी उनकी माता ने पूरा ध्यान दिया ।

महाराणा उदयसिंह का ध्यान अपनी स्वतंत्रता की रक्षा से अधिक हासविलास में लगता था । उनका

अधिकांश समय इन्हीं में बीतता था । राणा प्रताप की सौतेली माता ने जो एक राज कन्या थी, उनसे अपने पुत्र जयमल को महाराणा बनाने का वचन ले लिया था । प्रताप की जननी ने अपने पुत्र के व्यक्तित्व व चरित्र निर्माण पर अधिक ध्यान दिया था, न कि उसे महाराणा बनाने पर । इस कारण आरम्भ से ही उनका लक्ष्य मातृभूमि की सेवा करना था न कि राजा बनकर सुख भोगने का । राणा कोई भी रहे वे तो मेवाड़ को स्वाधीन देखना चाहते थे- चित्तौड़ को मुगलों के अधिकार से मुक्त करना चाहते थे ।

मेवाड़ के वीर सरदार उदयसिंह की कायरता पर क्षुब्ध थे । उनकी नजर प्रताप पर लगी थी । अपने दादा के समस्त गुण वे पौत्र में देख रहे थे जिनके नेतृत्व में वे देश की रक्षा के लिये बाबर से जूझे थे । मेवाड़ी वीरों की अपनी राष्ट्रीय परम्परा रही थी। वे सारे भारत को अपना देश मानते थे तभी तो मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के समय हर बार वे रावल समरविक्रम के साथ पानीपत के मैदान में लड़ने गये ।

उदयसिंह की मृत्यु पर उनकी इच्छा के अनुसार जयमल को सिंहासन पर नहीं बैठने दिया, सरदारों ने प्रताप को ही महाराणा बनाया । प्रताप के लिये महाराणा बनने का अर्थ ही दूसरा था । वे सिंहासन पर पीछे बैठे पहले उन्होंने प्रतिज्ञा की- "मैं जब तक चित्तौड़ पर केसरिया ध्वज नहीं लहराऊँगा तब तक थाली में नहीं पत्तल पर भोजन करूँगा, भूमि पर शयन करूँगा, झोंपड़ी में रहूँगा और नगाड़ा नहीं बजाऊँगा ।"

हर कर्म का एक उद्देश्य होता है । यह उद्देश्य ही मनुष्य को क्षुद्र और महान बना देता है । जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ व सुख के लिये कुछ किया जाता है वहाँ क्षुद्रता और जहाँ किसी आदर्श के लिये कार्य किया जाता है वहाँ महानता की बात होती है । प्रताप ने महाराणा का पद अधिकार भोगने के लिये नहीं- कर्तव्य निभाने के लिये- व्यक्तिगत सुख भोग के लिये नहीं- राष्ट्रीय गौरव के लिये स्वीकारा। ये उनकी महानता का परिचायक है । महानता का पथ यही है । पथ तो प्रस्तुत रहा है, अभाव तो पथिकों का ही है ।

प्रताप ने राज्य सिंहासन पर बैठते ही मेवाड़ की बिखरी शक्ति को पुनर्गठित करना आरम्भ कर दिया । महाराणा उदयसिंह के काल में यह लगभग उपेक्षित ही रही थीं । मेवाड़ के स्वाधीनता प्रिय सरदारों के हृदय में एक नया जोश उत्पन्न हो गया अपने इस नायक को देख कर। किन्तु प्रताप कुछ इससे भी दूर की बात सोच रहे थे । अब तक राज्य की रक्षा का काम थोड़े से सामन्तों और उनके सहायकों का कार्य रहा था । राजा-सामन्त और प्रजा ये उस समय की राजनैतिक समाज व्यवस्था के तीन आधार थे । इनमें एक आधार जो प्रजा अर्थात् नागरिकों का था वह प्रायः राज्य की गतिविधियों में कोई भाग नहीं लेता था । वे तो राजा यदि अच्छा हुआ तो उसके राज्य में थोड़ी-सी राहत पा लेते थे और बुरा हुआ तो उसके राज्य के अन्याय को सह लेते थे । राज्य-व्यवस्था और राज्य की सुरक्षा के सम्बन्ध में यह वर्ग न तो अपना कोई कर्त्तव्य समझता था न अधिकार। यह तो बेचारी प्रजा थी जिस पर राजा और उसके मुट्ठी भर सामन्त शासन करते थे ।

प्रताप को यह व्यवस्था कुछ उचित और युक्तिसंगत न जान पड़ी । उन्होंने राजा, सामन्त और प्रजा के बीच की दीवारों को तोड़ने का प्रयास किया । उदयपुर और उसके आस-पास के क्षेत्र में जो कि अरावली पर्वत श्रेणियों के कारण निरा बीहड़ था, कृषि योग्य भूमि बहुत कम थी । सब ओर जंगल ही जंगल था । इस जंगल में भील और मीणा नाम के आदिवासी लोग रहते थे, जो सभ्यता में पिछड़े होकर भी अपनी नैसर्गिक ईमानदारी, विश्वास और श्रमनिष्ठा के लिये प्रसिद्ध थे । महाराणा प्रताप ने इन लोगों को अपना सहयोगी बनाया । वे उनमें एक राजा की तरह नहीं उनके देशवासी भाई की तरह रहे, उनका हृदय जीता और उनमें यह भावना जगायी कि यह धरती उनकी है, उसकी रक्षा का दायित्व उनका भी है तथा राज्य की गतिविधियों में उनका भी हक है ।

महाराणा प्रताप एक ओर अपने सरदारों-सामन्तों को अपनी मातृभूमि के खोये हुए भाग को पुनः प्राप्ति के लिये संगठित व शक्तिशाली बना रहे थे वहीं दूसरी ओर आदिवासियों में राष्ट्रीय भावना जगा रहे थे तभी दुर्योग से जयपुर के राजा मानसिंह का, जो अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुका था, साथ ही अपनी बहिन का विवाह भी उससे कर चुका था, दक्षिण विजय करता हुआ इधर होकर निकला। उदयसागर के तट पर महाराणा अपने आदिवासी सहायकों के साथ शिविर डाले हुये थे । थोड़े ही दिनों में महाराणा ने इन प्रकृति पुत्रों का हृदय जीत लिया था । महाराणा उनके साथ बिना किसी दुःख के रहते थे । मानसिंह का महाराणा ने अच्छा स्वागत सत्कार किया । उसके स्वागत में अच्छा खासा भोज दिया, पर जहाँ साथ बैठकर भोजन करने की बात थी, राणा टाल गये। स्वतंत्रता प्रेमी भील आदिवासियों के साथ एक ही पंगत में बैठकर भोजन करने वाले राणा को अपने स्वार्थ और सुख के लिये अपने जातीय और राष्ट्रीय स्वाभिमान को भुलाकर विधर्मी, विदेशी अकबर की आधीनता स्वीकार करने व अपनी बहन ब्याह देने वाले आदर्शच्युत मानसिंह के साथ बैठकर भोजन करना गँवारा न हुआ । उन्होंने कहला भेजा उनके सिर में दर्द है ।

मानसिंह दर्द को समझ गया । अगले ही वर्ष वह इस दर्द की दवा करने शाहजादा सलीम के साथ एक विशाल सेना लेकर आ उपस्थित हुआ । महाराणा की तैयारी अभी अधूरी ही थी मुगल सेना की तुलना में उनके पास बहुत कम सेना थी । हल्दी घाटी के मैदान में दोनों का जमकर

मुकाबला हुआ । महाराणा प्रताप और उनके देशभक्त साथियों की वीरता देखते ही बनती थी । राणा पूरे जोश में थे और उनके सैनिक भी । लगता था कि वे मुगल सेना को गाजर-मूली की तरह काटकर रख देंगे । सलीम मरते-मरते बचा । मानसिंह भय के मारे सामने नहीं आया संख्या में कम होने के कारण राणा के साथी कटकर मरने लगे । इस युद्ध में उन्हें भयंकर हानि उठानी पड़ी ।

अपने थोड़े से साथियों के साथ उन्हें वन-वन भटकना पड़ा । ऐसे समय में पर्वत पुत्र आदिवासियों ने अपने देश के वीर नायक की भरपूर सहायता की । वे हल्दी घाटी के युद्ध में भी लड़े थे उनके साथ । मुगल सेना पीछे पड़ी थी । खाने के लिए घास की रोटियाँ, मिलती कभी वे भी नहीं मिलतीं । राजकुमार के हाथ से वन विलाव घास की रोटी छीन कर भाग खड़ा होता है । महाराणा रोटी के अभाव में बिलखते राजकुमार को देखते हैं तो आँखें भर आती हैं । सोचते हैं वे भी झुक- जायें अनीति के आगे हार मान लें ? नहीं, फिर आदर्शों के लिये कौन कठिनाइयों-कष्टों को सहन करेगा ।

महाराणा का यह स्वातंत्र्य प्रेम का उच्चादर्श भारतीय इतिहास की अनमोल थाती बनकर रह गया है । आज भी उनकी जयंतियाँ मनाई जाती हैं उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती हैं क्योंकि उन्होंने एक महानतम भावना को उच्चतम विकास दिया था । कवि बाँकीदास ने उनके लिये लिखा है—

''अकबर घोर अंधार ऊघाणा हिन्दू अवर ।
जागे जग दातार पोहरे राणाप्रताप सी ।''

अकबर रूपी घोर अंधकार भरी रात्रि में सब भारतीय सो गये हैं किन्तु इस संसार के रचने वाले ईश्वर के महानतम अंश को स्वयं में जगाये हुए राणा प्रताप प्रहरी बने जागकर राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं । आज जब सारा संसार अनैतिकता के अंधकार में डूबा हुआ है, तब इस अनैतिकता को मिटाने की शक्ति भर प्रयास करने वाले थोड़े से नैतिक लोगों के लिये उनका यह साहस क्या छोटा-मोटा सम्बल है ?

सत्य है महाराणा प्रताप के एक-एक करके सभी किले मुगलों के अधिकार में चले गये थे । उन्हें वर्षों तक बीहड़ वनों में अपने परिवार व अपने मुट्ठी भर साथियों के साथ घोर अभाव व कष्टों भरा जीवन व्यतीत करना पड़ा । जिन राजकुमारों के पाँव मखमल की सेजों से नीचे नहीं पड़ते थे वे घास की रोटी के लिये तरसे । किन्तु इस तप ने राणा की नैतिक विजय का लोहा उन हिन्दू राजाओं को ही नहीं मनवा दिया जिन्होंने स्वार्थ और सुख के लिये अपनी स्वतंत्रता व अपने राष्ट्रीय गौरव को बेच दिया था, वरन् स्वयं अकबर ने भी माना । कोई व्यक्ति बिना राज्य और बिना किसी सम्पदा के भी महान हो सकता है। यह उसने भी जाना ।

अकबर का दरबारी रत्न अब्दुर्रहीम खानखाना राणा की महानता पर मुग्ध था । बीकानेर महाराज का भाई पृथ्वीराज राठौर उसके मुँह के सामने महाराणा के अपराजेय व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य प्रेम के गीत गाता था । मानसिंह और अन्य राजा भी मन ही मन अपनी क्षुद्रता को समझ रहे थे । इन सबके सामने उसे हल्दीघाटी के युद्ध में हुई अपनी विजय फीकी लगती थी ।

उनकी जो प्रतिज्ञा थी कि उनका मस्तक केवल ईश्वर के सामने झुक सकता है, इस प्रतिज्ञा में उनका अहम् नहीं वरन् इनकी ईश्वर-निष्ठा, संस्कृति-निष्ठा व राष्ट्र-निष्ठा ही बोल रही थी । वे मातृभूमि छोड़ने और सिंध के रेगिस्तान में जाकर नयी शक्ति संगठित करने के लिये तैयार थे, पर वे अपने देश की स्वतंत्रता को व्यक्तित्व सुखों के लिये बेचने को तैयार नहीं हुए । कहना न होगा कि स्वतंत्र भारत उस समय राणा के हृदय में अवस्थित था। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय समस्त फ्रांस पर जर्मनी की सेना का अधिकार था पर जनरल दगाल के साथ फ्रांस का अस्तित्व व व्यक्तित्व इंग्लैण्ड में सुरक्षित था। ठीक उसी प्रकार राणा प्रताप सारे देश की स्वतंत्रता के प्रतीक बन चुके थे जबकि वे खाली हाथ थे, राज्य छिन चुका था ।

राणा का तप पूरा हुआ । ''भामाशाह के रूप में ईश्वर ने उनकी मनोकामना पूरी कर दी । भामाशाह ने अपने कोष की कुंजी इनके चरणों में रख दी जिससे २५ हजार व्यक्ति बारह वर्ष तक गुजर कर सकते थे । इस धन से उन्होंने पुनः शक्ति संगठित की और एक-एक करके बत्तीस किले मुगलों से छीन लिये ।'' केवल चित्तौड़ और माण्डलगढ़ के दो दुर्ग जीतने शेष रहे थे कि यह अमरविभूति इस संसार को छोड़ गयी । महाराणा प्रताप का यह स्वातंत्र्य प्रेम, आदर्शमय जीवन यदि हमारे रक्त में उबाल न लाए और हम इस अनैतिकता की सर्वभक्षी विभीषिका से स्वयं मुक्ति पाने और समाज को मुक्ति दिलाने के लिए व्यक्तिगत सुखों का मोह न त्याग सके तो इससे बड़ी लज्जा की बात और क्या होगी ?

विपत्तियाँ भी जिन्हें आदर्शों से डिगा नहीं सकीं

स्वतन्त्रता संग्राम में जूझते हुए राणा प्रताप वन-पर्वतों में अपने छोटे परिवार सहित मारे-मारे फिर रहे थे। एक दिन ऐसा अवसर आया कि खाने के लिये कुछ भी नहीं था। अनाज को पीसकर उनकी धर्मपत्नी ने जो रोटी बनायी थी उसे भी वन-बिलाव उठा ले गया । छोटी बच्ची भूख से व्याकुल होकर रोने लगी ।

राणा प्रताप का साहस टूटने लगा । वे इस प्रकार बच्चों को तड़पकर भूख से मरते देखकर विचलित होने लगे । एक बार मन में आया शत्रु से सन्धि कर ली जाय और आराम की जिन्दगी बितायी जाय । उनकी मुख-मुद्रा गम्भीर विचारधारा में डूबी हुई दिखाई दे रही थी ।

रानी को अपने पतिदेव की चिन्ता समझने में देर न लगी। वे स्नेहपूर्वक बोलीं-- नाथ ! किस चिन्ता में पड़ गये ? बच्ची भूखों मर थोड़े ही जायेगी। मर भी जाये तो राष्ट्र पर जहाँ बड़ों-बड़ों का बलिदान हो रहा है, एक बालिका और सही। हम अपने परिवार को अनीति के विरुद्ध संघर्ष के लिए एक आदर्श इकाई के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। हमें देखकर ही समाज में कष्टों से जूझकर आगे बढ़ने का उत्साह उभरेगा। इस साधना में बच्चे भी तो सहयोगी बनेंगे।

महाराणा को अपना संकल्प याद आ गया। राष्ट्र निर्माण की अपनी इकाई को आदर्श निष्ठा बनाये रखकर अपनी मंजिल की ओर बढ़ गये।

आदर्श के लिए लड़ने वाले योद्धा

शक्तिसिंह ने सामने खड़ी मेवाड़ के रणबाँकुरे राजपूतों की छोटी-सी सेना को एक नजर से देखा। पुनः सलीम और मानसिंह की इस संयुक-वाहिनी को देखा। वह मन ही मन हँसा- ये मुट्ठी भर सैनिक स्वयं ही मृत्यु के ग्रास बनने को आ रहे हैं। विभिन्न प्रकार के हथियारों से सुसज्जित इस विशाल सेना के सामने ये कहाँ तक टिक सकेंगे। अब राणाप्रताप का वह गर्व मिट्टी में मिलकर ही रहेगा तथा मेरे हृदय-कुण्ड में जल रही प्रतिशोध की अग्नि का शमन होगा।

रणभेरी बजी। दोनों ओर के सैनिक एक दूसरे पर झपट पड़े। तलवारें जौहर दिखाने लगीं। राजपूत जिन्होंने मरना सीखा था जीना नहीं, मुगलसेना के सैनिकों को ऐसे काटने लगे जैसे थोड़े से किसान विशाल खेत को काटने के लिए जुट पड़े हों और देखते ही देखते मैदान खाली हो जायगा। राणाप्रताप की तलवार जिधर भी चलती उधर मुण्ड ही मुण्ड छितरा जाते, मैदान साफ हो जाता। मुगल सैनिकों के पाँव उखड़ने लगे।

एक ओर सच्चे देशभक्त थे जो अपनी मातृभूमि की रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग करने को प्रस्तुत थे। दूसरी ओर वेतन भोगी कर्मचारी मात्र।

राणा प्रताप का घोड़ा गजासीन सलीम के निकट जा पहुँचा ? चेतक ने कूदकर अपने अगले दोनों पाँव हाथी के कानों पर रख दिये। राणा प्रताप ने उसे लक्ष्य कर भाला मारा। सलीम अपनी प्राणरक्षा के लिए हौदे में छिप गया। उसी समय किसी मुगल सैनिक ने चेतक का पिछला पाँव काट दिया।

इसी समय सादड़ी के सरदार मना झाला ने देखा कि राणाप्रताप के प्राण संकट में हैं। वे न रहे तो हिन्दुओं का सूर्य अस्त हो जायगा। मैं तो बूढ़ा हो चला, मर भी गया तो कोई हानि न होगी। शीघ्र ही यह निर्णय ले वह राणा है प्रताप के पास आया और उनके राज चिह्न धारण कर लड़ने लगा। मुगल सेना उसको राणा समझ कर उस पर टूट पड़ी। घायल चेतक अपने स्वामी को न चाहते हुए भी उन्हें सघन वन की ओर लेकर भाग चला। सरदार मन्ना झाला ने अपने प्राणों की आहुति देकर महाराणा की जान बचाली।

शक्तिसिंह ने राणा को मैदान छोड़कर जाते देख लिया। दो मुगल सैनिकों को भी यह ज्ञात हो गया। उन्होंने राणा का पीछा किया। शक्तिसिंह भी उनके पीछे ही चला कि वे बचकर न निकल जायें।

रणभूमि में शक्तिसिंह के घोड़े की टापों तले योद्धाओं के शव कुचलते जा रहे थे। पन्द्रह बीस मुगल सैनिकों के ढेर के निकट इक्का-दुक्का राजपूत खेत रहा था। शक्तिसिंह के मन में विचार उठा- मेवाड़ की मिट्टी व रक्त से सींचे पौधे, बड़े होकर आज धरती की गोद में सदा के लिए सो गये हैं। कितने भाग्यशाली हैं ये ? मातृभूमि की रक्षा के लिये हँसते-हँसते बलि हो गये। तभी उसके भीतर से किसी ने पूछा- "और तुम प्रताप के छोटे भाई होकर ....?" उसके अन्तर में सोया देश प्रेम जाग उठा। वह स्वयं को धिक्कारने लगा। कितना अभागा हूँ मैं ? "प्रतिशोध लेने चला था अपने ही भाई से, प्रकारान्तर में मातृभूमि से।" आज कितनी ही क्षत्राणियों की माँगों के सिंदूर पुछ गये, रक्त की नदियाँ बह गईं और मैं अपनी मातृभूमि के किसी काम न आ सका। कैसे इस पाप का प्रायश्चित करूँगा ?

उसने देखा दोनों मुगल सैनिक राणा का पीछा कर रहे हैं। राणा के प्राण संकट में हैं। उसने अपना घोड़ा दौड़ाया और उनके समीप पहुँच गया। जहाँ दोनों सैनिक राणा को तलवार का निशाना बनाना चाहते थे। उसी समय शक्तिसिंह आ पहुँचा। उसने अपनी तलवार के वार से दोनों मुगल सैनिकों को धराशायी कर दिया।

चेतक मूर्च्छित होकर गिर पड़ा था, प्रताप के समक्ष शक्तिसिंह अपराधी के समान खड़ा था राणा ने कहा- मेरे प्राण शेष हैं वह भी ले ले। इतने राजपूतों के खून से भी तेरा प्रतिशोध पूरा नहीं हुआ ?

किन्तु शक्तिसिंह की आँखों से प्रायश्चित के आँसू बह रहे थे। वह राणा प्रताप के चरणों पर गिर पड़ा।

भामाशाह का अनोखा त्याग

स्वतन्त्रता के अमर पुजारी महाराणा प्रताप मेवाड़ रक्षा का अन्तिम प्रयास करते हुये भी निराश हो चले थे। सारा राज्यवैभव समाप्त हो गया। अकबर की विशाल सेना का मुकाबला मुट्ठी भर राजपूत ही कर रहे थे। अपने शौर्य, पराक्रम और वीरता से उन्होंने दुश्मनों के दाँत खट्टे कर दिये थे। परन्तु बेचारे करते क्या ? इधर अल्पसंख्यक राजपूत, उधर टिड्डी दल की तरह मुगलों की अपरमित सेना। जब एक सेना समाप्त हो जाती, दूसरी पुनः लड़ने के लिये भेज दी जाती। जब एक जगह का रसद पानी समाप्त हो जाता, दूसरे जगह से शीघ्र ही सहायतार्थ पहुँचा दिया जाता। अकबर की विशाल सेना और अतुल साधनों का

मुकाबला महाराणा अपने थोड़े सैनिकों और अल्प-साधनों से अब तक करते आ रहे थे।

अन्त में समय ऐसा आ गया जब सारा धन और सारी सेना समाप्त हो गई। अब न पास में पैसा रहा और न अन्य साधन ही जिससे पुन: सेना तैयार करते। मातृभूमि की रक्षा के लिये एक भी उपाय सोचे बिना नहीं चूके, परन्तु क्या करते अब एक भी वश नहीं चल रहा था। उधर शत्रु सेना बढ़ती ही चली आ रही थी। अरावली की पहाड़ियों में भी छिपकर जीवन बिता लेने की कोई सूरत न दीख रही थी। शत्रुदल वहाँ भी अपनी टोह लगाये बैठा हुआ था।

अपने जीवन की ऐसी विषम घड़ियों में एक दिन महाराणा व्यथित-हृदय एकान्त में विचार करने लगे — "अब मातृभूमि की रक्षा न हो सकेगी। माँ की रक्षा न कर सकने वाले मुझ अभागे को इस समय देश का त्याग कर कम से कम अपनी रक्षा तो कर ही लेनी चाहिए जिससे भविष्य में कभी दिन लौट हैं और पुन: माँ को शत्रु के हाथों से स्वतन्त्र कर सकूँ।"

दूसरे दिन प्रात: अपने परिवार और बचे खुचे साथियों सहित वे सिन्ध प्रदेश की तरफ चल दिये। अभी थोड़ी ही दूर गये होंगे कि पीछे से किसी ने आर्त्त भरी आवाज लगाई "महाराणा ठहरो हम अभी जीवित हैं। राणा ने पीछे मुड़ कर देखा तो उनके राज्य के पुराने मन्त्री भामाशाह दौड़ते-हाँफते हुए उनकी तरफ चले आ रहे हैं। उन्होंने अभी-अभी राणा के देश त्याग का समाचार पाया था।

समीप पहुँचकर डबडबायी आँखों से भामा बोले— "राजन् आप निराश हो जायेंगे तो आशा फिर किस के सहारे जीवित रहेगी?" मुख मलीन किये हुए राणा प्रताप बोले, "मन्त्रिवर! देश रक्षा के मेरे सारे साधन समाप्त हो चले। किसी साधन की खोज में ही कहीं चल पड़ा हूँ। यदि सुयोग हुआ तो फिर लौट सकूँगा वर्ना सदा के लिये मातृभूमि से नाता तोड़ के जा रहा हूँ।"

स्वतन्त्रता के पुजारी और मेवाड़ के सिंह की बातें बूढ़े भामाशाह के कलेजे में तीर जैसी जा चुभीं वे हाथ जोड़कर बोले— "अपने घोड़े की बाग मेवाड़ की तरफ मोड़िये और नये सिरे से लड़ाई की तैयारी कीजिये। इसमें जो कुछ भी खर्च पड़ेगा मैं दूँगा। मेरे पास आपके पूर्वजों की दी हुई पर्याप्त धन राशि पड़ी हुई है। जिस दिन मेवाड़ शत्रु के हाथों चला जावेगा, उस दिन वह अतुल सम्पत्ति भी तो उसी की हो जावेगी। फिर इससे अधिक सुयोग और क्या हो सकता है जब मातृ-भूमि से उपार्जित कमाई का एक-एक पैसा उसकी रक्षा में लगा दिया जाय।

भामाशाह के इस अपूर्व त्याग और देशभक्ति की बातें सुनकर महाराणा प्रताप का दिल भर आया। वे वापस लौटे और उस सम्पत्ति से एक विशाल सेना तैयार करके शत्रु से युद्ध हेतु जा डटे और सफलता प्राप्त की। कहते हैं कि भामाशाह ने इतनी सम्पत्ति अर्पित की जिससे महाराणा की पच्चीस हजार सेना का बारह वर्ष तक का खर्च चला था। भामाशाह चले गये और राणा भी अब नहीं हैं पर उनकी कृतियाँ अब भी हैं और सदा तक रहेंगी। देश को जब भी आवश्यकता पड़ेगी, उनकी प्रेरणाएँ अनेक राणा तैयार करेंगी और उसी प्रकार अनेक भामाशाह भी पैदा होते रहेंगे जो अपनी चिर-संचित पूँजी को मातृभूमि के रक्षार्थ अर्पित करते रहेंगे।

मध्य-युग का महान क्रान्तिकारी—
हरसिंह

कुमायूँ और गढ़वाल के प्रत्येक गाँव में उस क्रान्तिकारी के स्मारक बने हुए हैं जिन्हें 'थान' कहा जाता है। किसी बड़े पेड़ के नीचे लोहे के त्रिशूल और चिमटे गड़े होना और पेड़ की टहनियों पर लाल और सफेद रंग के चीर बँधे होना 'थान' की निशानी है। आज भी कोई वृद्धा, निर्बल, निर्धन, विधवा या असहाय व्यक्ति किसी सामर्थ्यवान, सत्तावान व्यक्ति द्वारा सताया जाने पर यहाँ आकर चावल-अक्षत चढ़ाता है और अपनी सहायता करने की प्रार्थना करता है। लोगों का विश्वास है कि उस महान क्रान्तिकारी जिसने आजीवन अत्याचार और शोषण से पीड़ित मनुष्यों की रक्षा की, उसकी आत्मा उनकी पुकार को सुनती है और उनकी सहायता करती है। पहाड़ी जनता का आज भी ऐसा विश्वास है। अपने सुकृत्यों के द्वारा मृत्यु के पाँच सौ वर्ष बाद भी इतना सम्मान, इतनी श्रद्धा और इतना विश्वास पाने वाला यह क्रान्तिकारी था हरसिंह, जो सम्भवत: हमारे देश का पहला क्रान्तिकारी था।

कुमायूँ और गढ़वाल में आज भी उसके गीत गाये जाते हैं। इन गीतों को 'जागर' कहा जाता है। जागर का अर्थ है जगाने वाले। सबसे बड़ा जागर हरसिंह का ही है। बुन्देलखण्ड में 'आल्हा' जितना जनप्रिय है उतना ही गढ़वाल और कुमायूँ में जागर। यद्यपि मुस्लिम इतिहासकार इस सन्दर्भ में प्राय: मौन रहे हैं। वे अपने सम्राटों के विरुद्ध क्रान्ति करने वालों के विषय में विस्तार से क्यों कहेंगे। उनमें तो संक्षिप्त विवरण भर मिलता है। किन्तु पर्वतीय जनता ने इस क्रान्तिवीर को अपने लोक गीतों के माध्यम से अमर कर दिया है। हरसिंह का जागर सामूहिक रूप से ग्यारह रात और ग्यारह दिन तक गाया जाता है।

हरसिंह तत्कालीन राजाओं की परम्परा से सर्वथा अलग-थलग जन प्रतिनिधि क्रान्तिकारी के रूप में उभरे, न तो वे राजवंश कुलोत्पन्न थे और न ही उन्होंने अन्य राजाओं की तरह अपना पारम्परिक राज्य ही स्थापित करने का प्रयास किया। वरन् उन्होंने जनता को संगठित करके मुगल शासन और कत्यूरी हिन्दू राजाओं के शोषण से पर्वतीय जनता को मुक्ति दिलाने के लिये अपना जीवन होम दिया था। वे इतिहासकारों की दृष्टि में कटेहर के राजा थे किन्तु सही बात तो यह थी कि वे जनक्रान्ति के नेता थे।

हरसिंह का बचपन बहुत असहाय अवस्था में बीता। उनका काल सन् १३९० से १४७५ था। उनके जन्म के साथ अत्यन्त करुण और बीभत्स कहानी जुड़ी हुई है। उनकी माता अपने परिवार के सहित उत्तरायणी के अवसर पर हरिद्वार में कुम्भ का मेला देखने गयी थीं। वह अविवाहिता ही थी। इस मेले के अवसर पर अचानक तुर्कों ने हरिद्वार पर आक्रमण कर दिया। भयंकर लूट-पाट, हत्या और कुकर्म किये तुर्कों ने। कालिनारा (हरसिंह की माता) अपने शील की रक्षा हेतु गंगा में कूद पड़ी पर एक तुर्क ने उसे बचाकर उसके साथ जघन्य कर्म किया और जंगल में असहाय छोड़ चलता बना।

कालिनारा ने इस पाप से मुक्ति पाने के लिये कई बार आत्मघात करने का प्रयास किया पर योगी गोरखनाथ द्वारा बचा ली गयीं। हरसिंह और सैम नामक दो जुड़वाँ पुत्रों को जन्म देने के बाद वह सदा के लिये गंगा की गोद में समा गयीं। योगी गोरखनाथ ने दोनों बच्चों को पाला।

कुछ वर्षों तक तो ये बालक योगी गोरखनाथ के आश्रम में पलते रहे। गोरखनाथ के साधना हेतु स्थान परिवर्तन के कारण वे अनाथ हो गये। भटकते-भटकते वे हंसूलागढ़ पहुँचे वहाँ कुछ दिन एक सहृदय गोपालक की गायें चराते हुए दिन काटते रहे। अवैध सन्तान होने के कारण उन्हें समाज से अपमान और तिरस्कार ही मिला। लोग उनसे अंत्यज की तरह व्यवहार करते।

एक दिन तुर्क सैनिक कुछ गौओं के साथ सैम को भी पकड़कर ले गये। हरसिंह अपने भाई के इस प्रकार पकड़े जाने पर बहुत दुःखी हुए और इस अत्याचार का बदला लेने की सोचने लगे।

गुरु गोरखनाथ के साथ कुछ वर्षों तक रहने के कारण हरसिंह के बाल मन पर कुछ ऐसे संस्कार पड़ गये थे कि वे समय पाकर असर दिखाने लगे। अन्याय का प्रतिकार करने के लिये शक्तिशाली बनना आवश्यक था। अतः वे शक्ति-सम्वर्द्धन में लगे। उन्होंने साधु का वेश धारण किया और संयम-नियम से रहते हुए जनशक्ति संग्रह के लिये अलख जगाने लगे कुमायूँ यात्रा करते हुए उन्हें चम्पावत ग्राम में गोरिया नामक सहायक मिला। उसके पास धन भी था और स्वल्प जन-शक्ति भी थी। इन दोनों ने मिलकर सैम को कारागार से मुक्त कराया।

अन्याय, अत्याचार का प्रतिकार करने के उद्देश्य से उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ायी और वे कटेहर के प्रशासक बने। यों उनका जीवन संन्यासी का-सा ही रहा, व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से शून्य। उन्हें कटेहर का प्रशासक या राजा कहने की अपेक्षा उस क्षेत्र की जनता को संगठित करके तत्कालीन शासकों के अन्याय, अत्याचार के विरुद्ध खड़ा करके उस क्रान्ति का नेतृत्व करने वाला नायक कहना ही उपयुक्त होगा।

जनता कर इसलिये देती है कि राजा उसकी सुरक्षा करे- उसे सुशासन दे, जबकि उस समय के तुर्क राजा गयासुद्दीन बलबन, मुहम्मद बिन तुगलक आदि केवल अपनी सेना बढ़ाने, अपने ऐशो-आराम के साधन जुटाने और प्रजा पर अत्याचार करने के अतिरिक्त और कुछ करते ही नहीं थे। फिर उन्हें कर देने का क्या औचित्य ? यह बात हरसिंह ने उन्हें बतायी। किन्तु वे अपने को कमजोर और सामर्थ्यहीन समझते थे। इस पर हरसिंह उन्हें समझाते-"कर वसूलने के लिए पाँच दस सिपाही आते हैं और गाँव के दो-सौ आदमियों से कर वसूल कर ले जाते हैं कर नहीं देने पर मारते, पीटते और अपमानित करते हैं, ऐसा क्यों होता है। क्योंकि हम कभी एक होकर नहीं सोच सकते। हम यदि संगठित होकर विरोध करें तो पाँच-तो क्या पाँच सौ से भी भारी पड़ें। किन्तु हम संगठित होना नहीं जानते, संगठन की शक्ति से परिचित नहीं होते।"

उनकी इन बातों का लोगों पर जादू का-सा असर होता। लोग जागने लगे। धीरे-धीरे उनके पास हजारों स्वयं सेवक सैनिक तैयार हो गए जो वक्त आने पर अपना काम छोड़ कर सैनिक बन जाया करते थे। हरसिंह ने कटेहर (वर्तमान रुहेलखण्ड) को दिल्ली साम्राज्य की पराधीनता से मुक्त कर लिया।

यह उस काल की अपूर्व घटना थी। मध्ययुग में दिल्ली साम्राज्य का विरोध करने के लिये जनता में राजनैतिक चेतना जगाने का यह अपूर्व काम हरसिंह ने किया था। उनके द्वारा चलाया गया 'कर न दो' आन्दोलन वस्तुतः बहुत बड़ी क्रान्ति थी। जिस प्रकार अँग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की सच्ची तस्वीर अपने इतिहास में नहीं खींची वैसा ही मुस्लिम इतिहासकारों ने भी किया है।

'तारीख-ए-मुबारक शाही' पुस्तक के अनुसार सन् १४१८ में दिल्ली के शासक खिज्र खाँ सैयद ने कटेहर के इस जन-विद्रोह जिसका नेतृत्व हरसिंह कर रहे थे, को कुचलने के लिए सेनापति ताजुल मुल्क के नेतृत्व में विशाल शाही सेना भेजी थी। इस विशाल सेना का मुकाबला जनता के जवान करने में समर्थ नहीं थे अतः हरसिंह पीछे हट गये। इस युद्ध में उनकी पराजय हुई। किन्तु यह पराजय क्षणिक थी। शाही सेना के लौटते ही १४२० में उन्होंने पुनः कटेहर को स्वतन्त्र कर लिया। तीन वर्ष तक उस प्रदेश से कर के नाम पर एक पैसा भी शाही खजाने में जमा नहीं हुआ था।

१४२४ में खिज्र खाँ का ध्यान पुनः कटेहर की ओर गया। उसने अपने पुत्र शेख मुबारक शाह सैयद को एक बहुत बड़ी सेना देकर हरसिंह को परास्त करने के लिए भेजा। मुबारक शाह की इस विशाल सेना को परास्त करने के लिए हरसिंह ने कत्यूरी नरेश पृथ्वीपाल से सहायता चाही। पृथ्वीपाल ने उसे सहायता दी जिससे वह शाही सेना के दाँत खट्टे करके पीछे हटाने में सफल हुए। 'रहब' नदी के तट पर जहाँ पृथ्वीपाल और हरसिंह की सम्मिलित सेना ने तुर्क सेना को हराया था वहाँ नैनीताल के रानीबाग नामक स्थान पर आज भी प्रतिवर्ष उन्हीं दिनों

विजयोत्सव मनाया जाता है । इतिहासकार इस पर मौन रहे हों पर वहाँ के लोकगीतों ने आज भी उस विजय की याद को ताजा बना रखा है ।

कटेहर के एक सामान्य से विद्रोही होने पर भी हरसिंह अनूठे और प्रेरणादायक व्यक्तित्व के धनी थे । आज भी कुमायूँ का लोकमानस भूला नहीं है । पृथ्वीपाल के दरबारी कवि धरमदास ने हिमालय की उपत्यिकाओं में निवास करने वाले पर्वत-पुत्रों में आत्मसम्मान, स्वतन्त्रता, भ्रातृभाव और संगठन-शक्ति का प्रचार करने के लिये हरसिंह के जीवन पर काव्य-ग्रन्थ रचकर उसे अमरत्व प्रदान कर दिया है । जिसे मुसलमान साहित्यकारों के द्वारा लिखे गये पक्षपातपूर्ण इतिहास की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक और विश्वस्त कहा जा सकता है । लोक-साहित्य की तो वह निधि है ही ।

एक अनाथ और असहाय बालक की दयनीय स्थिति से ऊपर उठकर उस प्रदेश की जनता का नेतृत्व करने- अपने स्वाभिमान की रक्षा ही नहीं जातीय स्वाभिमान और मानवीय मूल अधिकार-स्वतन्त्रता के लिए प्रबल जन आन्दोलन खड़ा करने वाला यह प्रखर व्यक्तित्व मनुष्य की आत्म-शक्ति और संकल्प-शक्ति का अनूठा उदाहरण है । अन्यायपूर्ण मुस्लिम शासन से कटेहर की जनता को मुक्ति दिलाने वाला यह व्यक्ति कभी जन-जन द्वारा उपेक्षित किया गया, ठुकराया गया था पर उसने समाज से घृणा नहीं की । उसने समाज के उपकारों की ओर ही ध्यान दिया । यदि योगी गोरखनाथ उनका पालन-पोषण नहीं करते, समाज में जहाँ दस ने उनकी उपेक्षा की, दो ने प्यार भी दिया था । उस प्यार का प्रतिदान चुकाने के लिये उसने जीवन समर्पित किया तो वही उपेक्षित 'हरु' हरसिंह बन गया और सदियों तक पूजा गया । यह कीर्ति, यह अमरत्व उसका अपना उपार्जित किया हुआ था ।

हरसिंह ने मुस्लिम शासन से कुमायूँ की जनता को मुक्त कराने का उद्योग ही नहीं किया वरन् समाज के पीड़ित और शोषित वर्ग का प्रतिनिधि बनकर उसने निस्संतान विधवाओं को भूमि का अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष भी किया । हिन्दू-राजाओं द्वारा प्रजा पर लगाये गये अतिरिक्त कर भार के विरुद्ध आन्दोलन किया । केदार नाथ मन्दिर के लिए जनता पर लगाया गया 'देवकर' उसी के प्रयासों से बन्द हुआ ।

उनके इन क्रान्तिकारी जन-आन्दोलनों के कारण कुछ सम्पन्न ब्राह्मण और क्षत्रीय उसके विरोधी हो गए । वीर सिंह मनारी नामक एक क्षत्री ने उसके सेनापति गोरिया का वध कर दिया । उसका भाई सैंम पहले ही युद्ध में काम आया था । इस प्रकार अपने दो निकट सहयोगियों की मृत्यु हो जाने पर भी उन्होंने अपने इस आन्दोलन को स्थगित नहीं किया । उनके इन प्रयासों से कुमायूँ में निरंकुश शासक अन्याय और अत्याचार के पक्ष से विरत हो सुशासन की रीति-नीति अपनाने को विवश हुए ।

हरसिंह, सैंम और गोरिया तीनों आजन्म अविवाहित रहे । पर्वतीय जनता में संगठन और आत्मसम्मान की भावना जगाने और निरंकुश शासन पर अंकुश लगाने का जो महत्वपूर्ण काम उन्होंने अपने हाथ में लिया था उसमें घर-परिवार की जिम्मेदारियाँ उठाने के लिए स्थान नहीं था । अतः एक ही ध्येय को समर्पित होकर उन्होंने अपने काम में सफलता हासिल की । उन्हें कुमायूँ की जनता आज भी 'निरधारी निरकारी दयाल ठाकुर' के नाम से श्रद्धा सहित याद करती है । निर्बलों के सहायक और अत्याचार के प्रबल विरोधी के रूप में उनका व्यक्तित्व सामान्य मानव से ऊपर उठकर देव स्तर तक पहुँच चुका है । उनका यह जीवन आज भी उतना ही प्रेरक ओर स्मृहणीय है ।

पराधीनता से संघर्ष करने वाले-
गैरीवाल्डी

पराधीनता मनुष्य के लिये बहुत बड़ा अभिशाप है वह चाहे व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रीय, उससे मनुष्य के चरित्र का पतन हो जाता है, गुणों का ह्रास होने लगता है और तरह-तरह के दोष उत्पन्न हो जाते हैं । इसीलिये कवियों ने पराधीनता को एक ऐसी 'पिशाचिनी' की उपमा दी है जो मनुष्य के ज्ञान, मान, प्राण सब का अपहरण कर लेती है ।

दूसरे को पराधीन बनाना संसार में सबसे बड़ा अन्याय और दुष्कर्म है । भगवान् ने संसार में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े, निर्बल-सबल, मूर्ख-चतुर, प्राणी बनाये हैं । ईश्वरीय नियम तो यह है कि जो अपने से छोटा, कमजोर, नासमझ हो उसको आगे बढ़ने में, उन्नति करने में सहायता दी जाय, प्रगति-क्षेत्र में उसका मार्गदर्शन किया जाय पर इसके विपरीत जो कमजोर को अपना भक्ष्य समझे हैं, छलबल से उसके स्वत्व का अपहरण करने को ही अपनी विशेषता समझते हैं, उन्हें कम से कम 'मानव' पद का अधिकारी तो नहीं कह सकते । इनकी गणना तो उन क्रूर, हिंसक पशुओं में ही की जा सकती है, जिनका स्वभाव ही खूँखार बनाया गया है और जो सब के लिये भय के कारण होते हैं ।

इटली के गैरीवाल्डी (जन्म १८०७) संसार के उन महापुरुषों में से थे जिनको इस प्रकार की पराधीनता घोर अन्याय जान पड़ती थी और जिन्होंने अपने ही देश में नहीं वरन् जहाँ भी सामने अवसर आया अथवा कर्तव्य की पुकार सुनाई दी, वहीं उसके विरुद्ध प्राणपण से संघर्ष किया । यद्यपि वे इटली के निवासी थे और वहीं के लिये वे स्वाधीनता-संग्राम में सैनिक बने थे, पर उन्होंने दक्षिण अमरीका के भी कई छोटे राष्ट्रों के स्वाधीनता-संग्राम में प्रमुख भाग लेकर उनको पराधीनता के बन्धनों से छुड़ाया ।

गैरीवाल्डी के पिता एक निर्धन मल्लाह थे, इससे छोटी आयु से ही उन्हें समुद्र में नाव चलाने का काम करना

पड़ा और कुछ ही समय में वे कुशल नाविक बन गये। इस कला ने उनका आजीवन साथ दिया और उन्होंने विभिन्न देशों के स्वाधीनता-संग्रामों में समुद्री सेना संगठन तैयार करके पर्याप्त सहायता पहुँचाई। २७ वर्ष की आयु में वे उन्नति करते-करते एक जहाज के कप्तान बन गये इस कार्य में उन्होंने अनेक देशों की यात्रा की और संसार की स्थिति का बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया। उनको यह देखकर बड़ा दुःख होता था कि उनका देश, जो एक प्राचीन सभ्यता का जन्मदाता है और सैकड़ों वर्षों तक समस्त योरोप पर शासन करके अनेक पिछड़ी जातियों को सभ्यता का पाठ पढ़ा चुका है, आज बड़ी गई-गुजरी दशा में परमुखापेक्षी बना हुआ है। इन दिनों फ्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रेलिया आदि इटली पर तरह-तरह के अन्याय करते रहते थे और मनमाने ढंग से उसका बँटवारा कर देते थे, मानो वह उन्हीं की जायदाद हो।

गैरीवाल्डी पर भी इस दयनीय परिस्थिति का प्रभाव पड़ा और वह इस सम्बन्ध में कुछ कार्य करने का विचार करने लगे। उसी समय उन्हें पता लगा कि जिनोआ नगर में मेजिनी नामक देशभक्त ने तरुण इटली नाम की एक गुप्त संस्था स्थापित की है, जिसका लक्ष्य इटली को स्वाधीन करके प्रजातन्त्र शासन की स्थापना है। गैरीवाल्डी तुरन्त जिनोआ पहुँचकर इस संस्था में शामिल हो गये और देश के शत्रुओं को भगाने की योजनाएँ रचने लगे। निश्चय हुआ कि गैरीवाल्डी अपने साथियों को लेकर जिनोआ के तोपखाने पर अधिकार कर लेंगे और मेजिनी 'पीडमौंट' को कब्जे में करके वहाँ प्रजातन्त्र की घोषणा करेंगे। योजना बहुत कुछ कार्यान्वित हो चुकी थी कि एक साथी के विश्वासघात के कारण उसका रहस्य सरकारी कर्मचारियों को मालूम पड़ गया। बहुत से लोग पकड़े गये और उन्हें प्राणदण्ड की सजा दी गई। पर गैरीवाल्डी एक किसान का भेष बनाकर पहाड़ी मार्ग से नाइस नगर पहुँच गये और वहाँ से एक जहाज पर सवार होकर दक्षिण अमरीका चले गये।

दक्षिण अमरीका में वे ६ वर्ष तक रहे और इस बीच में 'रिओडिजेनरो' तथा 'अरुग्वे'— के देशों के विद्रोह में साथ देकर विदेशियों के अन्यायी शासन को हटाने का श्रेय प्राप्त किया। यहीं पर एनिटा नामक महिला से उनका विवाह हो गया, जिसने आजीवन उनके उद्देश्य की पूर्ति में सक्रिय भाग लिया और अनेक युद्धों में वह उनके साथ बन्दूक लेकर लड़ती भी रही। अन्त में इटली की राजधानी रोम के संग्राम में उसने इतना अधिक परिश्रम किया कि वह अशक्त होकर स्वर्ग सिधार गई। १४ वर्ष तक विदेशों में समय निकालने के पश्चात् इटली से नवीन क्रान्ति की तैयारी का समाचार आया। वे तुरन्त अपने ५६ वीर साथियों को लेकर एक जहाज से इटली पहुँच गये। पहले तो इटली के शासक के दब्बूपन के कारण काम रुका रहा पर क्रान्तिकारियों के उत्साह के फलस्वरूप २८ अप्रैल, १८४९ को रोम में स्वाधीन प्रजातंत्र की घोषणा कर दी गई। रोम का पोप इसके विरुद्ध था और फ्रांस के शासक ने उसकी सहायता के लिए एक सेना दल भेज दिया। क्रान्तिकारियों को जो भी हथियार मिला उसी से उसने दुश्मन का सामना किया और तीन मास तक रोम की गली-गली में गुप्त और प्रकट रूप से युद्ध करते रहे। अन्त में फ्रांस और आस्ट्रिया की हथियारबन्द शक्तिशाली सेनाओं ने विद्रोह को कुचल दिया, पर गैरीवाल्डी ने तब हार नहीं मानी और घोड़े पर सवार होकर जोर से कहा— "वेनिस (नगर) और गैरीवाल्डी कभी हार नहीं मानते। जिसमें हिम्मत हो मेरे पीछे आये इटली अभी जीवित है।" वे २०० साथियों को लेकर पहाड़ी दर्रों के बड़े भयंकर रास्ते से समुद्र के किनारे पहुँच गये जहाँ उनको वेनिस ले जाने को १३ नावें तैयार थीं। पर शत्रु के सैनिक भी अन्य मार्ग से वहाँ पहुँच गये और नौ नावों को पकड़ लिया। गैरीवाल्डी फिर भी लड़ते-भिड़ते निकल गये और कुछ समय पश्चात् फिर अमरीका पहुँच गये।

अमरीका में उनको अपना समय बड़ी कठिनाइयों में बिताना पड़ा। न्यूयार्क के पास 'स्टेटन' नामक टापू में झोंपड़ी बनाकर रहते थे और मोमबत्तियाँ बनाकर अपना निर्वाह करते थे। डेढ़ वर्ष बाद उनको फिर एक जहाज के कप्तान की नौकरी मिल गई और वे पेरू तथा चीन के बीच आवागमन करने लगे। उन दिनों में इस मार्ग से गुलामों का व्यापार आमतौर से हुआ करता था, पर गैरीवाल्डी ने; जो स्वाधीनता के उपासक थे, आज्ञा दे रखी थी कि उनका जहाज दास-व्यापार के लिये काम में न लाया जाय।

अन्त में समय फिर बदला और योरोप की राजनीतिक स्थिति के बदल जाने से इटली की स्वाधीनता का अवसर निकट आ गया। इटली के नए शासकों को गैरीवाल्डी की याद आई और उसे बुलाकर सेना का सर्वोच्च अधिकारी बना दिया। उसकी पुरानी लाल कमीज और लम्बे अंगरखे को देखकर सेना और जनता में जोश उमड़ पड़ा और उसने कितनी ही लड़ाइयों में ऐसी वीरता दिखायी कि आस्ट्रिया की सेना ने फिर इटली की ओर मुँह करने का साहस न किया और गैरीवाल्डी का जो स्वप्न था वह पूरा हो गया।

गैरीवाल्डी का अन्तिम जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत हुआ। अपने देशोद्धार के कार्यों के लिये वे देश-विदेशों में प्रसिद्ध हो गये और जहाँ-कहीं वे गये उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया गया। सन् १८७४ में वे इटली की लोकसभा के सदस्य चुने गये। उनके सम्मान में सारा नगर सजाया गया और वहाँ की पार्लियामेन्ट के सब

सदस्यों ने उठकर उनका सम्मान किया । अपने स्वप्न को साकार होते देखकर हर्ष के आवेग से उनकी आवाज थरथराने लगी । इस प्रकार सार्वजनिक प्रेम और सम्मान को प्राप्त करते हुए सन् १८८२ ई० में उनका देहावसान हो गया ।

वीरवर- राणा साँगा

राणा संग्रामसिंह भारतीय इतिहास के एक प्रकाशमान नक्षत्र हैं । उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन देश व धर्म की रक्षा में लगा दिया था ।

राणा संग्राम सिंह, जिन्हें 'राणा साँगा भी कहा जाता है, मेवाड़ के शासक थे । मेवाड़ एक छोटा-सा राज्य था । उसके साधन भी सीमित थे । तब भी राणा साँगा के शौर्य, साहस और धर्मनिष्ठा के कारण वह अजेय बना रहा । जब तक राणा साँगा जीवित रहे, देश-धर्म की रक्षा के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहे । राज-भोग क्या होता है, आराम का जीवन कैसा होता है? राणा साँगा ने इसका अनुभव करने की कभी कामना न की थी । उनके जीवन का केवल एक ही लक्ष्य था और वह था देश-धर्म की रक्षा के लिये संघर्ष करते रहना ।

उन दिनों भारत पर मुसलमानों का राज्य था और वे हिन्दू धर्म को मिटाकर भारत को इस्लामी देश बना देना चाहते थे । राणा-साँगा को यह दुरभि-सन्धि जरा भी सहन न हुई । पहले तो उन्होंने देश के सारे हिन्दू-राजाओं को समझा-बुझा कर एक झण्डे के नीचे लाने का प्रयत्न किया किन्तु जब देखा कि वे सब अपना जातीय गौरव खो चुके हैं तो धर्म की रक्षा के लिये खुद अपने बलबूते पर खड़े हो गये।

कायर और विलासी राजाओं ने राणा साँगा को बहुत बार समझाया कि वे अपनी हानि-लाभ देखें, देश-धर्म के चक्कर में न पड़ें और उन्हीं की तरह ही निश्चिन्त और निर्विघ्न जीवनयापन करें । आजकल मुसलमानों का सितारा बुलन्द है और हिन्दू-धर्म के नक्षत्र कमजोर पड़ गये हैं, इसलिये उसका पक्ष करने से कोई लाभ न होगा, बल्कि मुसलमान बादशाहों से शत्रुता हो जायेगी और उनकी शक्ति का शिकार बनना पड़ेगा किन्तु धर्मवीर राणा साँगा पर कायर और स्वाभिमानरहित राजाओं के उपदेश का कोई प्रभाव न पड़ा । वे अपने स्वाधीनता और धर्म-रक्षा के व्रत पर डटे रहे ।

राणा साँगा को अपने व्रत-पालन में लगभग अस्सी-नब्बे लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं, जिसमें उन्हें अपार क्षति उठानी पड़ी । एक बार नहीं अनेक बार प्राणों का संकट उठाना पड़ा । आपत्ति के समय इस आशा पर उन्होंने हिन्दू राजाओं से धर्म-युद्ध में सहयोग करने के लिये कहा, लेकिन सदा ही उनसे कोरा उत्तर ही मिला । तथापि राणा साँगा निराश न हुए और न उन्होंने अपना साहस ही खोया । धर्म का आश्रय लेकर धर्मयुद्ध में लगे रहे ।

न केवल राणा साँगा को ही बल्कि उनके पूरे परिवार को भी अपार कष्ट उठाने पड़े । शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिये महीनों तक लुक-छिप कर इधर-उधर मारे-मारे फिरना पड़ा । किन्तु कर्तव्य-परायण राणा साँगा ने परिवार के मोह में आकर अपने व्रत से मुख न मोड़ा । उन्होंने उस सारी शारीरिक और मानसिक वेदना को कर्तव्य-पालन का प्रसाद ही माना और उत्साहपूर्वक अपने कर्तव्य-पथ पर बढ़ते रहे ।

जिस समय मध्य-एशिया से मुगल-नायक बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय किसी भी हिन्दू अथवा मुसलमान राजा का साहस उसका सामना करने का न पड़ा । सारे देश में निराशा का वातावरण छा गया था । बाबर प्रदेश पर प्रदेश विजय करता हुआ आगे बढ़ रहा था । देशभक्त साँगा को बाबर का बढ़ना सहन न हुआ । उन्होंने अपने जो थोड़े-बहुत साधन थे, इकट्ठे किये और साहसपूर्वक बाबर के टिड्डी दल से जूझ पड़े । इस युद्ध में राणा साँगा ने जिस शौर्य एवं साहस का परिचय दिया, वह इतिहास की एक अमर घटना बन गई ।

इस युद्ध में साँगा का एक हाथ, एक पैर और एक आँख जाती रही, साथ ही उनके शरीर में अस्सी घाव आये, तब भी वे रणभूमि में घोड़े पर डटे हुए, युद्ध करते ही रहे और तब तक करते रहे, जब तक बाबर सन्धि करने पर विवश न हो गया । धन्य थे राणा साँगा ।

लौहपुरुष-

सरदार वल्लभ भाई पटेल

सरदार वल्लभ भाई पटेलकी शिक्षा का श्रीगणेश मन्द गति के साथ ही हुआ । जिस समय इनके पिता प्रात:काल खेत पर हल लेकर जाते, सरदार भी उनके साथ जाते और पिता से पहाड़ा सीखा करते थे ।

सरदार वल्लभ भाई पटेल के पिता श्री झबेर भाई एक साधारण किसान थे किन्तु सन् १८५७ के स्वातन्त्र्य-संग्राम में महारानी लक्ष्मीबाई की सेना में रहने से देशप्रेम की भावनायें इनके हृदय में गहराई तक बसी हुई थीं । पिता की इन भावनाओं का प्रभाव पुत्र पर पड़ा और वे बाल्यकाल से ही स्वाधीनता प्रिय देशभक्त बन गये ।

परिश्रमपूर्ण वातावरण के बीच प्रारम्भिक शिक्षा स्वयं देकर श्री झबेर भाई ने अपने पुत्र को पेटलाद की पाठशाला में भरती कराया । परिश्रम तथा कर्मठता तो मानों सरदार वल्लभ भाई पटेल को घुट्टी में ही पिला दी गई थी । अतएव उसके बल पर उन्होंने पाठशाला की परीक्षायें उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण कर नडियाद के हाईस्कूल में दाखिल हुये।

साहस, निर्भीकता तथा उत्साह आपके पैतृक गुण थे जिससे नये-नये शहर में आकर भी उनमें कोई हीन भावना, संकोच अथवा दब्बूपन नहीं आया । वे निर्भीकता

से स्कूल में रहते, लगन से अध्ययन करते और भविष्य में जीवन की सार्थकता के लिए विचार करते । किन्तु अन्यायपूर्ण व्यवहार किये जाने से अनेक अध्यापकों की इन से अनबन हो गई, जिससे यह कालिज छोड़कर पुनः नडियाद वापस आ गये और वहीं से इन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की ।

इन्ट्रेन्स की शिक्षा तक जिन बल्लभ भाई ने पिता को व्यय का कष्ट दिया था वह अब आगे उनको कष्ट न देना चाहते थे । उनका कहना था कि जो किशोर अपने पैरों पर खड़ा होने लायक हो जाये उसे किसी पर भारस्वरूप होकर रहने का कोई अधिकार नहीं है । बढ़ने का रास्ता मिल जाने पर हर नवयुवक को अपने पैरों बढ़ना चाहिए, किसी का सहारा लेकर नहीं ।

निदान उन्होंने इन्ट्रेन्स पास करने के बाद आगे न पढ़कर मुख्तारी की परीक्षा पास की और गोधरा में वकालत करने लगे । जिसके हृदय में काम करने का उत्साह है, शरीर में परिश्रम की स्फूर्ति है, मस्तिष्क में स्वावलम्बन का स्वाभिमान है वह पुरुषार्थ के बल पर पानी पर राह बना लेता है, बालू में तेल खोज लेता है ।

वकालत का आर्थिक मार्ग पाकर सरदार वल्लभ भाई पटेल ने परिवार से उस निर्धनता नाम की पिशाचिनी को सदा के लिये खदेड़ देने का संकल्प करके मुकदमों के कार्यों में अपने को डुबा दिया, जिसने आगे पढ़ने से रोक दिया था । वे पैरवी के लिये मस्तिष्क के अन्तिम छोर तक सोचते और तथ्य को तेजस्विता के साथ प्रतिपादित करते जिससे उनकी वकालत में सफलताओं की होड़-सी लग गई । जो परिश्रमी हैं, जिसने लगन के साथ मस्तिष्क में योग्यता के स्वस्थ एवं उर्बर बीज बोये हैं जो अपने विषय का सच्चा जानकार और कार्य को ईमानदारी-तल्लीनता से करने में विश्वास करता है सफलता उसके पास न आकर क्या संदिग्ध योग्यता, अपूर्ण-अभ्यास वाले और श्रमहीन आलसी के पास जायेगी ?

जहाँ परिश्रम-चोर अयोग्य वकील, मजिस्ट्रेटों और जजों की चाटुकारिता कर अपने मुकदमें जीतने और अधिकारियों को अन्याय का प्रश्रय देते वहाँ सरदार वल्लभ भाई पटेल अपने शक्तिशाली तर्कों तथा परिपूर्ण विधि के बल पर अपना विषय प्रतिपादित करते । एक तो सत्य यों ही तेजवान होता है किन्तु जब वह किसी चरित्रवान की वाणी से निसृत होता है तो वह अपना असाधारण प्रभाव छोड़ता है । सरदार पटेल के तर्कों का भी न्यायशीर्षों पर विशेष प्रभाव पड़ता था ।

वकालत के साथ-साथ वल्लभ भाई पटेल अवसर आने पर जनसेवा का पुण्य लाभ कमाने से भी नहीं चूकते थे । जिन दिनों उन्हें मुकदमों से फुर्सत न मिलती थी उन्हीं दिनों गोधरा में महामारी का प्रकोप हो गया और प्लेग पीड़ितों की सेवा करते-करते स्वयं प्रभावित हो गये । फिर भी जब तक रोग शय्या पर पड़कर विवश न हो गये अपना सेवा कार्य नहीं छोड़ा । अपने आत्मविश्वास, आत्मबल तथा आत्मसंयम के साथ उपचारपूर्ण उपायों से स्वयं तो शीघ्र ही अच्छे हो गये, किन्तु प्रभावित पत्नी को आप्रेशन के लिए बम्बई भेजना पड़ा । कार्य और कर्तव्य की बहुतायत से स्वयं साथ न जा सके ।

पत्नी को भेजने के बाद उन्हें अपने कर्तव्य के अतिरिक्त कुछ याद ही नहीं रहा । मुकदमों की पैरवी में बहस के दौरान उन्हें पत्नी की मृत्यु का तार मिला तो उन्होंने उसे पढ़कर मेज पर रख दिया और फिर यथावत स्थिति में बहस करने लगे । सफलता और समृद्धि की देवियाँ ऐसे ही संयमी, संतुलित, शान्त एवं आत्मवान, कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों को वरण करने के लिए गली-गली घूमा करती हैं ।

आवश्यक धन उपार्जित करने के बाद प्रगति-प्रिय सरदार पटेल जी ने विलायत जाकर बैरिस्ट्री पास करने के लिये पासपोर्ट बनवाया किन्तु अपने बड़े भाई विट्ठलभाई की इच्छा देख अपना जाना स्थगित करके पासपोर्ट उनके नाम करा दिया और उनके वापस आने पर स्वयं गये ।

विदेश में देश की प्रतिभा की धाक जमाने के लिये सरदार वल्लभ भाई पटेल ने अपनी परिश्रमशीलता को कई गुना बढ़ा दिया । वे अपने निवास-स्थान से ११ मील दूर उत्तर टेम्पूल के सम्पन्न पुस्तकालय को लन्दन की विकट सर्दी में प्रातःकाल उठकर जाते, दोपहर का भोजन नहीं करते और सत्रह-सत्रह घंटे निरन्तर अध्ययन करने के बाद पैदल लौटकर आते । इस तपो-पूर्ण परिश्रम का फल यह हुआ कि बैरिस्ट्री की परीक्षा में वे सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए, जिससे शुल्क मुक्ति के साथ ५० पौंड की छात्रवृत्ति से पुरस्कृत किये गये ।

विलायत से वापस आने के बाद सरदार वल्लभ भाई अहमदाबाद में पुनः वकालत करने लगे, जिससे वे कुछ ही समय में इतने धनवान हो गये कि राजाओं जैसे ठाट-बाट से रहने लगे । परिवार से गरीबी को मार भगाने का उनका संकल्प पूरा हो गया । सम्पन्नता, सम्मान और शान-शौकत होने पर भी उनकी आत्मा में एक अनजान असंतोष करवट लिया करता था । जिसे वे यदा-कदा अनुभव तो करते थे किन्तु समझ न पाते थे ।

कुछ समय बाद गांधीजी के सम्पर्क में आने पर उन्हें अपने अनजान असन्तोष का स्पष्ट रूप दिखाई पड़ा, जिसको दूर करने और सम्पूर्ण मानसिक शान्ति तथा आत्मसंतोष के लिये सरलता और सादगी से सुशोभित जीवन अपना लिया । जीवन के सच्चे और अकृत्रिम मार्ग पर उन्हें पता चला कि ऐश्वर्य के विभ्रम में वे जिस प्रदर्शनपूर्ण जीवन क्रम को अपनाते चले जा रहे थे, उसमें आगे चलकर प्रमाद-जन्य पतन के कितने गहरे गर्तों की सम्भावना थी, किन्तु शीघ्र ही सुरक्षित दिशा में आ जाने पर उन्हें ऐसा संतोष हुआ मानो संयोगवश किसी भयंकर खतरे में पड़ते-पड़ते बच गये हों । प्राप्त संतोष की इस पुलकपूर्ण अनुभूति ने उनके सादगीपूर्ण सहज जीवन क्रम को मुहरबंद कर दिया ।

गाँधी जी के सम्पर्क में आकर जहाँ सरदार ने सादगी का सौंदर्य देखा वहाँ जन-सेवा का महत्व भी समझा। उनके हृदय में पीड़ित मानवता के प्रति हार्दिक करुणा उमड़ पड़ी, वे अपने व्यवसाय से समय निकालकर सेवा कार्य करने लगे। जन-सेवा में उनका पहला काम था गुजरात से बेगार प्रथा उठवा देना। बेगार प्रथा जमींदारी शासन का भयंकर अभिशाप थी। जमींदार लोग अपनी जमींदारी में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर अपना स्वत्व समझते थे। अपने किसी भी छोटे-बड़े काम के लिये गरीब आदमियों को बुला लेते और दिन-दिन भर काम लेकर उन्हें यों ही भूखा-प्यासा मजदूरी को बिना दिये भगा देते थे। इस प्रकार यह बेगार प्रथा सारे देश में फैली हुई थी। इस घोर पराधीनतापूर्ण बेगार प्रथा से कराहती मानवता को मुक्त कराने के लिये सरदार वल्लभ भाई पटेल व्याकुल हो उठे और गोधरा के प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन के सभापति की हैसियत से उन्होंने उसके विरुद्ध कार्यवाहियाँ करनी शुरू कर दीं। इस विषय में सरदार वल्लभ भाई पटेल की संकल्प शक्ति से भयभीत होकर सरकार ने गुजरात में बेगार प्रथा को अवैध घोषित कर दिया।

इसी बीच गुजरात के खेड़ा क्षेत्र में अकाल पड़ गया और जनता भूख की ज्वाला में आहुति बनने लगी। चारों ओर हाहाकार मचने लगा। उस पर सरकार लगान वसूली की सख्ती कर रही थी। जनता पर यह अन्याय देखकर सरदार पटेल की मनुष्यता आहत हो गई और उन्होंने खेड़ा की जनता को संगठित करके लगान वसूली के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ दिया। जिसका फल यह हुआ कि सरदार पटेल के सुयोग्य नेतृत्व में जनता की विजय हुई और किसानों से लगान वसूली माफ हो गई। इसके अतिरिक्त उन्होंने गाँव-गाँव घूमकर नंगों, भूखों के लिये अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की, इस प्रकार अकाल पीड़ित जनता की सहायता के लिये याचना की झोली फैलाते संकोच न हुआ। यही नहीं उन्होंने अपनी सम्पत्ति का एक बड़ा भाग अकाल पीड़ितों की सेवा में खर्च किया।

गाँधीजी द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयास स्वरूप छेड़े गये असहयोग तथा बहिष्कार आन्दोलन के समय देश-सेवा की भावना तथा समय की पुकार पर अपनी हजारों रुपयों माहवार की वकालत छोड़ दी, यद्यपि उस समय अपने पुत्र और पुत्री को पढ़ाने के लिये विलायत भेजने वाले थे। उन्होंने भारत माता के हजारों लाखों पुत्र-पुत्रियों की मंगल कामना में अपनी सन्तान के व्यक्तिगत उत्कर्ष की सम्भावना को न्योछावर कर दिया।

बहिष्कार आन्दोलन से प्रेरित स्कूल-कालिज छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रश्न उपस्थित होने पर सरदार वल्लभ भाई पटेल ने राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना की योजना चलाई, जिसके लिये आवश्यक धनराशि इकट्ठी करने के लिये संपूर्ण देश से लेकर वर्मा तक दौरा किया और जब तक १० लाख रुपये इक्कट्ठे नहीं कर लिये चैन की सांस नहीं ली। अनेक राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना के साथ उन्होंने गुजरात विद्यापीठ की भी स्थापना की जिससे विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रश्न बहुत दूर तक हल हो गया।

गुजरात के बोरसद ताल्लुका में डाकुओं का आतंक फैल गया। सरकार उनको पकड़ने में असफल हो रही थी। उस इलाके में सरकार ने गाँव की रक्षा के लिये जो पुलिस तैनात की थी उसका खर्च वह ग्रामवासियों से लेती थी। एक ओर डाकू धन लूट रहे थे, दूसरे सुरक्षा के बहाने सरकार ने लूटना प्रारम्भ कर दिया। इस दोहरी मार से त्रस्त होकर जनता ने सरदार वल्लभभाई पटेल की याद की। जनता पर भयानक संकट का समाचार पाते ही बिना किसी भय अथवा विलम्ब के बोरसद जा पहुँचे। अपने विश्वस्त एवं वीर नेता को अपने बीच पाकर जनता का साहस बढ़ गया। सरदार ने २०० स्वयं सेवकों का एक दल बनाया और ग्राम-रक्षा में नियुक्त करके ग्रामवासियों में आत्मरक्षा की भावना जगाई। जिससे शीघ्र ही इलाके से डाकुओं का आतंक समाप्त हो गया।

नागपुर झन्डा सत्याग्रह में विजयी होकर सरदार वल्लभभाई पटेल ने अहमदाबाद म्युनिसिपल बोर्ड का सभापति पद सँभाला और नगर के कायाकल्प में लग गये। उन्होंने मोहल्ले-मोहल्ले, गली-गली घूमकर जनता को सफाई का महत्व बताया तथा स्वयं ने भी नगर की सफाई के कार्यक्रमों में भाग लिया, जिससे नगर की सारी गन्दगी दूर हो गई और जनता में सफाई की एक स्थायी चेतना जाग्रत हुई। इस काल में उन्होंने बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया और नगरपालिका की पाठशालायें खुलवायीं तथा बच्चों के स्वास्थ्य की देख-रेख का प्रबन्ध किया।

सरदार वल्लभ भाई पटेल के अहमदाबाद नगरपालिका के सभापतित्वकाल में गुजरात में भयंकर बाढ़ आ गई। गाँव के गाँव बह गये, लोगों के घर तबाह हो गये। जगह-जगह जनता असाध्य परिस्थितियों में फँसकर भूखों मरने लगी। ज्यों ही सरदार पटेल को इसकी खबर लगी वे २००० स्वयंसेवक लेकर बाढ़ पीड़ित क्षेत्र में जा पहुँचे और लोगों को अपनी सेवा तथा सहायता से सान्त्वना देने लगे। सरदार अपने स्वयंसेवकों के साथ, पानी के बीच फँसे मनुष्यों तथा पशुओं को बचाने के लिये बिना किसी साधन के स्वयं तैर कर जाते और उनको निकाल कर बाहर लाते। इस प्रकार वे अपने महान जन-सेवा की भावना के बल पर हजारों जीवों के प्राण बचाने में सफल हुए।

अभी बाढ़ के प्रकोप से गुजरात की जनता की रक्षा करने की व्यस्तता कम न होने पाई थी कि तब तक अकाल तथा भुखमरी से मरती हुई जनता ने अपने सहायक तथा निष्काम सेवक-सरदार वल्लभ भाई पटेल को पुकारा! बिना एक क्षण का विलम्ब किये सरदार पटेल अकाल पीड़ितों की सहायता करने चल पड़े। बाढ़ के समय सरदार की सच्ची सेवा देखकर सरकार ने अपना

विरोधी होने पर भी डेढ़ करोड़ रुपये की धनराशि अकाल पीड़ितों की सहायता के लिये सरदार पटेल के ही हाथ में दी, जिसका समुचित उपयोग कर सरदार ने शीघ्र ही अकाल पर नियन्त्रण कर लिया। इसके अतिरिक्त जो उन्होंने ३ लाख रुपया स्वयं चन्दा किया था उसका भी एक-एक पैसा खर्च कर नंगे-भूखों तथा बेघरबार व्यक्तियों के लिये अन्न, वस्त्र तथा मकानों का प्रबन्ध किया। अनवरत प्रयत्नों के धनी सरदार पटेल जिस काम में भी लग जाते थे पूरा किये बिना चैन न लेते।

समाज सेवा के साथ-साथ सरदार पटेल राजनीति के माने हुए नेता थे। वे खेड़ा सत्याग्रह, असहयोग आन्दोलन, नागपुर झण्डा सत्याग्रह, बारदोली सत्याग्रह आदि आन्दोलनों के प्रमुख नेता, संचालक तथा प्रबन्धक रहे। अपनी देश-सेवा के सिलसिले में वे अनेकों बार जेल गये और अगणित यातनाएँ सहीं पर कठिनाइयाँ उन्हें कभी विचलित न कर सकीं।

सरदार पटेल की परदुखकातरता

घटना सन् १९३५ की है सरदार वल्लभ भाई पटेल एक लम्बी सजा काटकर कारावास से लौटे ही थे। उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया था और नाक में बेहद पीड़ा हो रही थी। चिकित्सकों ने तुरन्त आपरेशन का परामर्श दिया और उसकी तैयारी होने लगी।

तभी उन्हें बोरसद में फैली महामारी की सूचना मिली और यह भी पता चला कि सरकार कोई ध्यान नहीं दे रही है और लोग बुरी तरह मौत के मुँह में जा रहे हैं। बस फिर क्या था सरदार अपनी पीड़ा भूल गये और बोरसद की ओर दौड़ पड़े। शल्य-क्रिया के सारे उपक्रम जहाँ के तहाँ रह गए। साथियों, शुभचिन्तकों और श्रद्धालुओं ने उन्हें वैसी दशा में महामारी-क्षेत्र में न जाने के लिए सलाह दी, किन्तु परदुःख-कातर सरदार भला कब रुकने वाले थे।

धीर, वीर और नेमी

घटना सन् १९४६ की है। बम्बई बन्दरगाह के नौसैनिकों ने विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। अँग्रेज अधिकारियों ने उन्हें गोली से भून देने की धमकी दी थी साथ ही भारतीय नौ-सैनिकों ने जबाव में उनको खाक कर देने की चुनौती दे रखी थी।

बड़ी भयानक स्थिति थी। उस समय बम्बई का नेतृत्व सरदार पटेल के हाथ में था। लोग उनकी तरफ बड़ी घबड़ाई नजरों से देख रहे थे। किन्तु सरदार पर परिस्थिति का रंच-मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा न तो वे अधीर थे और न विचलित।

बम्बई के गवर्नर ने उन्हें बुलाया और काफी तुर्शी दिखाई। इस पर सरदार ने शेर की तरह दहाड़ कर गवर्नर से कह दिया कि यह अपनी सरकार से पूछ ले कि अँग्रेज भारत से मित्रों के रूप में विदा होंगे या लाशों के रूप में।

अँग्रेज गवर्नर सरदार का रौद्र रूप देखकर काँप उठा और फिर उसने कुछ ऐसा किया कि बम्बई घटना में अँग्रेज सरकार को समझौता करते ही बना।

अत्याचार के विरुद्ध अनवरत संघर्षशील—

जनरल हम्बर्टो डेलगाडो

"एक वीर योद्धा की भाँति राजनैतिक पैशाचिकता से लड़कर राष्ट्रवासियों के लिये अपने सुख, वैभव व प्रतिष्ठा को दाँव पर लगा देता है और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करते-करते अपने प्राण भी न्योछावर कर देता है।" इतनी-सी कहानी है हमारे चरित्रनायक की। उसे पुर्तगाल की लोकतन्त्रप्रिय जनता-स्वतन्त्रता का देवदूत हम्बर्टो डेलगाडो के नाम से पुकारती है।

अभी कुछ वर्ष ही बीते हैं उस वीर की नृशंस हत्या अत्याचारी सालजार की शासन-सत्ता ने की थी। न उस पर मुकदमा चलाया गया और न ही गोली या फाँसी दी गई। नंगे शरीर पर बेतों की इतनी बौछार की गई कि उसकी असह्य पीड़ा से बहादुर जनरल का देहान्त हो गया।

दुनिया में ऐसे पराक्रमी और पुरुषार्थी पुरुष कम ही होते हैं, जो दूसरों के हित के लिए जाँबाजी कर दिखाते हैं। डेलगाडो उन्हीं चिरस्मरणीय महापुरुषों की श्रेणी में आते हैं।

वह पुर्तगाल की सेना के एक छोटे से अफसर थे। अथक परिश्रम, कर्तव्यपरायणता, दृढ़ता, सत्यता और लगन से काम करते-करते डेलगाडो एक दिन सालाजार के विश्वासपात्र जनरल बने पर जिस दिन उन्हें वह महत्वपूर्ण पद प्रदान किया गया उस दिन उन्हें मालूम हुआ कि उनकी सम्पूर्ण सेवा निरंकुशता के पक्ष में गई। उन्होंने जो कुछ त्याग और तप किया उससे देशवासियों की कुसेवा ही हुई।

डेलगाडो ने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी, चाहते तो उससे अपने जीवन के भोग-विलास बढ़ा लेते और ऐश्वर्य का जीवन बिताते, पर जब उन्हें सच्चाई मालूम हुई तो उन्होंने अपना मुँह, अपनी आवाज, अपना कदम अत्याचार के विरोध में मोड़ दिया।

सालाजार की पुलिस का नाम गार्डा रिपब्लिकाना है, उसके अत्याचारों के उदाहरण दिये जाते हैं। शासक सालाजार की निरंकुशता के विरुद्ध कोई भी आवाज उठाये वह उससे बच नहीं सकता। उसे लिस्बन या ओपोर्टो की जेल भेज दिया जाता है। उसका दण्ड पूर्व निश्चित होता है दण्ड भी ऐसा कि उसे घुट-घुट कर मरना पड़े। आवाज निकाले तो बेतों से मुँह तोड़ दिया जाता है।

जब इस बात का असली पता डेलगाडो को चला तो उसका राष्ट्रप्रेमी वक्ष आत्माभिमान से फूल उठा । उसने कहा- मैंने जिस मातृभूमि का अन्न खाया है, दूध पिया है, जिस देशी की गोद में पल कर बढ़ा, बड़ा हुआ और आमोद-प्रमोद किया उसे नृशंसता से, राजनैतिक विषमता से छुटकारा दिलाना भी मेरा परम कर्तव्य है मैं मुक्ति का उद्‌घोष करता हूँ और अपने देशवासियों को अत्याचार से बचाने के लिये सतत् संघर्ष की प्रतिज्ञा लेता हूँ ।

उस दिन से डेलगाडो ने अपने सुख पूर्ण जीवन को तिलांजलि दे दी । अपने एक परमप्रिय मित्र को सम्बोधित करके उसने कहा- अभी तक मैंने एक ढर्रे का जीवन जिया है, सुख के साधनों की खोज की है और अब जब मुझे कुछ महत्वपूर्ण काम करने हैं तो आवश्यक है कि संघर्षों के लिये तैयार होऊँ ।

यह कहकर करोड़ों मूक-मानवों के हित के लिये डेलगाडो ने अपना जनरल पद त्याग दिया और सालाजार के विरुद्ध जनमत मजबूत करने लगे । इसके लिये उन्होंने अपना सारा धन, मकान, सामान बेच दिया । इससे भी यह काम न हो सकता था । इसलिये धन की और कमी को पूरा करने के लिये वे दर-दर भटकने लगे ।

सालाजार को इन सब बातों का पता चल गया तो उसके अत्याचार और भी बढ़ गये । मुक्ति-मोर्चे को सहायता पहुँचाने वाले लोगों का दमन और भी कठोरता से किया जाने लगा। डेलगाडो के पीछे मौत निजी छाया-सी घूमने लगी।

अब उन्हें पुर्तगाल छोड़ना पड़ा । बच्चों से बिछुड़ने का कितना भावनात्मक दुःख रहा होगा पर उन्होंने उसकी भी परवाह न की । उन्होंने ब्रिटेन, फ्रांस व इटली जाने की योजना बनाई पर उन्हें अनुमति ही नहीं मिली । अनेक वर्षों तक केवल निराशा ही निराशा रही । वे अल्जीरिया गये पर वहाँ से शीघ्र ही भागना पड़ा । इस बीच बीमार पड़ गये, अतः इलाज के लिये चेकोस्लोवाकिया गये। वहाँ भी बैचैन से रहे पर इन सब आपत्तियों के बावजूद भी उन्होंने साहस न हारा और क्रान्ति की ज्योति बराबर जलाये रखी ।

इस बीच डेलगाडो की लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गई । देशवासी इस प्रतीक्षा में थे कि डेलगाडो अब अपने देश लौटें और मुक्ति आन्दोलन में उनका नेतृत्व करें पर ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था । अल्जीरिया में सालाजार के सिपाही उन्हें पकड़ने में सफल हो गये । छलपूर्वक अपहरण कर लिया गया ।

इसके बाद यह शर्त रखी गई कि वे आत्मसमर्पण करें। अपना अपराध स्वीकार करें और उसके लिये क्षमा याचना करें। पर डेलगाडो ने कहा- मैं अपने देशवासियों प्रजा के साथ विश्वासघात नहीं करूँगा, इसके बदले में उन्हें बैंतों की कर्कश मार दी गई उनके प्राण लेकर ही छोड़े ।

डेलगाडो का संकल्प था अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष अनवरत संघर्ष । उसने इस व्रत को प्राणाहुति देकर भी पूरा किया । यह बलिदान बेकार नहीं गया।

जीवित शहीद गैरिसन

१ जनवरी, १८६३ को अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने दास प्रथा समाप्त करने की घोषणा की और चालीस लाख गुलामों को आजादी से साँस लेने का अवसर मिला । जब यह घोषणा-उत्सव चाल्स्टन नगर में मनाया जा रहा था तो विलियम गैरिसन भी उसमें पधारे । गैरिसन को अपनी जीवन साधना की सफलता पर सन्तोष था । जनता ने जब उस महामानव को देखा तो वह हर्ष से उन्मत्त हो गई । उसे कंधे पर उठा लिया गया और सबने उस मुक्तिदाता का हार्दिक अभिनन्दन किया ।

जो कानून पार्लियामेन्ट ने बनाया था उसकी घोषणा लिंकन के द्वारा सम्पन्न हुई थी, पर जिस अमानवीय दास-प्रथा के कारण चालीस लाख मनुष्य पशुओं से भी गया बीता जीवन बिताने के लिए मजबूर थे, उसे समाप्त कराने में अनेक व्यक्तियों को प्राणपण से प्रयत्न करना पड़ा, बड़े से बड़े जोखिम उठाने पड़े और तिल-तिल करके सारी जिन्दगी इसी संघर्ष में जला देनी पड़ी । ऐसे ही जीवित बलिदानियों में एक गैरिसन भी थे ।

विलियम गैरिसन का बाप मल्लाह था । वह समुद्र यात्रा पर गया तो एक तूफान के थपेड़े में पड़कर अपनी नाव समेत उसी में विलीन हो गया । उसकी माँ दाई का काम करती थी । बाप मर गए, माँ को रात-बिरात दूसरों के घर काम करने जाना पड़ता था । बेचारा नन्हा-सा अकेला बालक घर में रहता । उसका जीवन बीहड़ के झाड़- झंखाड़ पौधे की तरह था, जिसकी देखभाल केवल ईश्वर करता है । विलियम दस साल का भी न हुआ था कि उसे पेट की आग बुझाने के लिये अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ा । पहले एक मोची की दुकान पर जाने लगा, पीछे एक बढ़ई के यहाँ जगह ढूँढ़ी । थोड़ा बड़ा हुआ तो एक छापेखाने में अक्षर जोड़ने का काम सीखा । अब तक वह सिर्फ इतना पढ़ पाया था कि अक्षर पढ़ले । प्रेस में काम करते हुए उसने अपना अभ्यास बढ़ाया । जो किताबें छपने आतीं उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ता । जो छपाने आते उनसे कुछ पूछ-ताछ करता, उनसे परिचय बढ़ाकर, उनके घर जाता और पुस्तकें माँगकर पढ़ने हेतु लाता । यह क्रम उसका तेजी से चलता रहा । सोलह वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उसने इतना ज्ञान बढ़ा लिया कि अखबारों में छपने लायक लेख लिख सके ।

उसकी हैसियत कम्पोजीटर की थी, उम्र में १६ वर्ष का था, इससे उसे डर लगा कि कोई सम्पादक उसके व्यक्तित्व का पता चलने पर उसके लेख न छापेगा । इसलिए उसने 'बूढ़ा ब्रह्मचारी' कल्पित नाम से लेख लिखने प्रारंभ किए । वे सम्मानपूर्वक पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगे । उन दिनों अमेरिका में गुलामों के खरीदने बेचने का व्यापार खूब फल-फूल रहा था । उन्हें जीवित रहने भर को रोटी दी जाती थी और इतना काम कराया

जाता था कि जवानी में ही वे मर खप जाते थे। जरा-जरा-सी बात पर उनको निर्दयता के साथ पीटा जाता था, जिसमें कई बार तो वे मर तक जाते थे। इस अन्याय के कई दृश्य गैरिसन ने अपनी आँखों देखे थे। उसे इस प्रथा के विरुद्ध इतनी तीव्र घृणा हुई कि उसने और कुछ करने की अपेक्षा अपना जीवन इसी के विरुद्ध संघर्ष करने में लगा देने की ठानी।

इक्कीस वर्ष की आयु में उसने अपना स्वतन्त्र अखबार निकाला- 'फ्री प्रेस' आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह न चल सका। फिर उसी का जैसा फक्कड़ एक और साथी मिल गया- बेंजामिन लुण्डी। दोनों मिलकर 'विश्व उद्धार का देवता' नामक एक और अखबार निकालने लगे। अखबार क्या था - 'दिलजले की आह' थी दास प्रथा के प्रति इतने कठोर शब्द इस्तेमाल किये जाते थे कि एक बार तहलका मच गया और इससे जिनके स्वार्थों की हानि तथा बदनामी होती थी वे उनकी जान के ग्राहक बन गये। एक ने मानहानि का मुकदमा चला दिया। फलस्वरूप गैरिसन को जेल की सजा भुगतनी पड़ी। छूटने के बाद वे गाँव-गाँव अपना सन्देश सुनाने के लिए घूमने लगे। उन्होंने ढेरों भाषण दिये। पर कहीं उनका स्वागत न हुआ। आखिर बोस्टन में छोटा-सा मकान उन्हें अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाने के लिए लिया। सन् १८३१ में उन्होंने 'मुक्तिदाता' नामक एक और अखबार निकाला। दक्षिण अमेरिका के लोग तो खुलेआम दास व्यापार करते ही थे, पर उत्तरी अमेरिका के लोग भी चुपके-चुपके उस प्रथा को जारी रखना चाहते थे। क्योंकि उन लोगों के कारखाने भी गुलामों के सस्ते श्रम से ही फल-फूल रहे थे। निदान वहाँ भी गैरिसन शत्रु ही बन गया।

आखिर उसे खतरनाक खूनियों की श्रेणी में रख दिया गया और कई राज्यों के लोग उसे पकड़ने और मार डालने तक पर उतारू हो गये। दक्षिणी कैरोलिना की ओर से घोषणा हुई कि जो 'मुक्तिदाता' के प्रचारकों को पकड़वा देगा उसे छह हजार रुपया इनाम दिया जायगा। उत्तरी कैरोलिना ने भी उसके नाम वारंट निकाला। जार्जिया राज्य ने उसे पकड़ लाने के लिए बीस हजार रुपया इनाम की घोषणा की। बोस्टन में एक बार उसे घेर लिया गया। शत्रुओं ने कमर में रस्सा बाँधकर उसे घर से बाहर निकाला और सड़क पर घसीटने लगे। लगता था कि अब कुछ ही क्षण में उनके टुकड़े-टुकड़े किये जाने वाले हैं। यह खबर जब वहाँ के शासनाध्यक्ष को लगी तो वे स्वयं दौड़े आये और भीड़ से उसे छुड़ाया तथा उसकी जीवन रक्षा की दृष्टि से हवालात में बन्द कराया, तब कहीं उसकी जान बची।

यह तो उसकी जीवन-घटनाओं में से कुछ थोड़ी-सी बातें हैं। वस्तुत: चौबीसों घण्टे वह इस एक ही कार्य में लगा रहता था कि दासता का अन्त कैसे कराया जाय? उसका दिमाग इसी विचार में डूबा रहता, इसी की योजनायें बनाया करता और शरीर उन योजनाओं को पूर्ण करने में लगा रहता। गैरिसन को जीवित शहीद कहा जा सकता है। फाँसी या गोली से थोड़ी देर कष्ट सहकर प्राण विसर्जन कर देना सुगम है, पर तिल-तिल करके सारे जीवन को किसी आदर्श के लिए उत्सर्ग करना और उसके लिए निरन्तर अभावों, कष्टों और आपत्तियों को सहन करते रहना कठिन है। इस कठिन कार्य को उस महापुरुष ने हँसते-हँसते सम्पन्न कर दिया।

कई लोग यह कहते रहते हैं कि क्या करें हमारी परिस्थिति अनुकूल नहीं, हमारा कोई सहायक नहीं, हम अल्पशिक्षित हैं, अकेला चना भाड़ को नहीं फोड़ सकता, आदि-आदि। वे यह नहीं जानते कि व्यक्ति के भीतर छिपी हुई चेतना इतनी सशक्त है कि यदि व्यक्ति उसका ठीक प्रकार उपयोग करे, अपना मूल्य और महत्व समझे तो वह प्रत्येक दिशा में आगे बढ़ सकता है। उस दिशा में भी जिसमें कि पग-पग पर शत्रुता, विरोध, कष्ट, अभाव और यहाँ तक प्राणों से हाथ धोने का भी संकट मौजूद है।

जीवित शहीद गैरिसन आत्मविश्वास की सजीव मूर्ति थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि दूसरों से सहायता की अपेक्षा न करके भी अपनी अयोग्यताओं को समझते हुए भी, व्यक्ति अपनी शक्ति को पहचान ले तो किसी व्यक्ति से, किसी समस्या से ही नहीं, एक सशक्त समाज से भी टक्कर ले सकता है। इस सिद्धान्त को उन्होंने व्याख्यानों और लेखों से नहीं अपने जीवन को एक प्रत्यक्ष उदाहरण बनाकर स्पष्ट कर दिखाया।

जीवन ज्योति पंजाब केसरी-

लाला लाजपतराय

"मेरे शरीर पर लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश शासन के कफन की एक-एक कील सिद्ध होगा"- ये शब्द थे पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के, जो उन्होंने साइमन कमीशन के विरोध में अपने पर हुए लाठी चार्ज के समय अन्तिम बार कहे थे। वास्तव में हुआ भी वैसा ही लालाजी के बलिदान से पंजाब ही क्या सारे भारत में क्रान्ति की ज्वाला इस प्रचण्ड रूप से धधकी कि आखिर ब्रिटिश हुकूमत उसमें जलकर खाक ही हो गई।

जन-मन की यह श्रद्धा पाने के अधिकारी लालाजी का निर्माण धर्म की आधार भूमि पर हुआ था। उनके घर का वातावरण धार्मिक तो था ही, उन्हें स्वयं भी उसका अध्ययन करने की बड़ी जिज्ञासा थी। अपनी पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त वे रामायण, महाभारत अथवा गीता आदि कोई न कोई पुस्तक अवश्य पढ़ते और उसका तत्व समझने का प्रयत्न करते रहते थे। जिससे धीरे-धीरे उन्होंने धर्म के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक ओर वे साइमन कमीशन की बहिष्कार सभा में बोल रहे थे और दूसरी ओर उन पर लाठियों से प्रहार करती हुई पुलिस, कप्तान सेन्डर्स की आज्ञा का पालन कर

रही थी । किन्तु धर्म के तत्व को ठीक-ठीक हृदयंगम किये हुए लालाजी प्रहार सहन करते हुए एक भाव से बोलते रहे और जब तक उनका भाषण समाप्त नहीं हो गया वे विचलित न हुए और अन्त में उपर्युक्त अन्तिम शब्द कहते हुये गिरकर मूर्च्छित हो गये । जब तक वे अपने कर्तव्य को पूरा न कर सके, लाठी का प्रहार उनके शरीर पर निष्फल ही होता रहा । ऐसा ज्ञात हो रहा था जैसे धर्म और धैर्य कवच बनकर उनकी रक्षा कर रहे थे ।

समय की पुकार पर जो अपने को न्योछावर कर देते हैं वही वास्तविक महापुरुष होते हैं। साधारण व्यक्ति किसी का दुःख-दर्द देखकर या तो अनुभूत ही नहीं करते अथवा उस अनुभूति को आई गई कर देते हैं । किन्तु महान व्यक्तित्व जिस पीड़ा को एक बार अनुभव कर लेते हैं उसे दूर करने में अपने सर्वस्व की बाजी लगा देते हैं ।

लालाजी के बलिदान से भारत में जो क्रान्ति का एक नवीन भूचाल आया था और समस्त जनमानस प्रचण्ड रूप से आन्दोलित हो उठा था, उसके पीछे उनकी निष्काम लोकसेवायें काम कर रही थीं। लगभग डेढ़ हजार रुपये मासिक की वकालत और बार-एसोसिएशन का सम्मानित अध्यक्ष पद छोड़ते उन्हें देर न लगी, जब राजस्थान, बिहार और उत्तर भारत में पड़े अकाल से पीड़ित मानवता की चीत्कारों ने मनुष्यता को आवाज दी।

लालाजी ने दीन दुःखियों की क्या सेवा की इसका लेखा-जोखा कोई लेना चाहे तो पंजाब के तात्कालिक अनाथालयों और आश्रय-भवनों की गणना कर ले जो उनके लिये बनवाये थे और यदि उस समय का कोई बड़ा-बूढ़ा मिल जाये तो उससे पूछकर अनुमान लगा लें कि वे कितने क्षुधार्त बन्धुओं को ईसाई मिशनरियों के जाल से निकाल कर पंजाब लाये थे और उनके सहायता कोष के के लिए फैली हुई उनकी झोली कितनी बार भरी और खाली हुई थी ।

मानवता के लिये उनकी सेवा का यह पहला अवसर न था । उड़ीसा और मध्य-प्रदेश के दुर्भिक्ष ने उनकी परीक्षा ली, महाराष्ट्र को महामारी और कांगड़ा के भूकम्प ने उनकी दयालुता और दानवीरता को परखा । किन्तु दुर्दैव का कोई भी कोप उनकी अखण्ड-सेवा भावना को थका न सका । अकाल पीड़ितों की भोजन व्यवस्था और भूकम्प के घायलों की दवा-दारू से लेकर महामारी के मारे हुए लोगों की सेवा सुश्रूषा करने में उन्होंने दिन रात एक कर दिया। जब तक उस भयंकर अस्त-व्यस्त स्थिति पर उन्होंने काबू नहीं पा लिया बैठकर चैन की साँस नहीं ली। इस कार्य में उन्होंने कितने दिन लगाये और कितनी रातें बिना सोये बिताईं इसकी संख्या तो वही दुःखी आत्मायें ही बतला सकती हैं जिनको उन्होंने सुख दिया ।

उनके हृदय में मानव का क्या मूल्य था और मानवता के लिए कितना दर्द था यह उनके उन महान कार्यों से सहज ही आँका जा सकता है जो उन्होंने पददलित हरिजनों और समाज के उपेक्षित व्यक्तियों के लिये किये थे। जिस हरिजनोद्धार आन्दोलन को गाँधीजी ने आगे बढ़ाया उसके जन्मदाता लाला लाजपतराय ही थे । उन्होंने हरिजनों के ज्ञानवर्द्धन के लिये ४० हजार रुपये का नकद दान करके अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की । यद्यपि उनका धर्मभीरु परिवार चली आ रही रूढ़ियों, परम्पराओं और कुरीतियों तक को यथावत मानने में ही विश्वास करता था तथापि उसे लालाजी की निस्पृह सुधार भावना से भरे इस क्रान्तिकारी कार्य को मान्यता देनी ही पड़ी । संसार में अभी तक ऐसे किसी बन्धन का आविष्कार नहीं हो सका है जो किसी सच्चे साहसी को कोई सत्कार्य करने से रोक सके ।

जिस विद्या और ज्ञान ने उन्हें निष्काम सेवा का पुण्य प्रदान किया था । उसका प्रसाद जन-जन को बाँटने के लिए उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं और विद्यालयों का जाल बिछा दिया । छोटी पाठशालाओं से लेकर रायकृष्ण हाई स्कूल और डी० ए० वी० कालिज जैसे बड़े-बड़े विद्या-मन्दिरों की स्थापना उन्हीं के परिश्रम और पुरुषार्थ का फल है । उन्होंने केवल स्थापना ही नहीं कराई अपितु अन्य सारे काम करते हुए २५ वर्ष तक अवैतनिक रूप से अध्यापन और प्रबन्ध भी किया ।

इस प्रकार इतनी लोकसेवा की साधना करने के बाद लालाजी एक तपस्वी का तेज लेकर काँग्रेस के माध्यम से विदेशी शासन की जड़ उखाड़ने के लिये राजनीति में उतरे । एक प्रकार से काँग्रेस अभी तक वाद-विवाद और प्रस्तावों तक ही सीमित थी । लालाजी के प्रवेश से उसमें नवजीवन का संचार हुआ । कौंसिल सुधार प्रस्ताव पर उनके प्रथम भाषण ने ही लोगों को अवगत करा दिया कि भारत की मोह-निद्रा भंग हो गई है और अब वह पूरी तरह चैतन्य हो चुका है । लालाजी की ओजस्विता से प्रेरित होकर मेज कुर्सी तक सीमित काँग्रेस ने भी अपना परिकर कसा तथा एक ऐसी करवट ली कि अँग्रेज साम्राज्यवादियों को अपशकुन होने लगे ।

स्वाभाविक था कि अँग्रेजी शासन काँग्रेस में जागते हुए ज्वलंत राष्ट्रीयता का कारण खोजता । उसने खोजा और लाला लाजपतराय के रूप में उस शिखा को पहचान लिया, जिसकी आलोक-रश्मियाँ भारतीय स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त कर रही थीं । बिहार के अकाल पीड़ितों की सेवा के समय अपनी तत्परता से जो लाला लाजपतराय सरकार के प्रशंसा पात्र बने थे वह अब उसकी आँख के कंटक बन गये । किन्तु वह कुछ कर सकने का अवसर न देखकर मनमसोस कर रह गई । दहकते हुये अंगार को सहसा मुट्ठी में जकड़ लेने का उसे साहस न हुआ ।

अस्तु, उसने इस मूल अंगार और उसकी ऊष्मा से आग पकड़ते हुये बहुत-सी चिन्गारियों पर पानी डालने के लिए इंग्लैण्ड की संसद के समक्ष भारतीय जनता का पक्ष प्रस्तुत करने के लिये काँग्रेस को आमन्त्रण दिया । निदान १९०६ में एक शिष्टमण्डल इंग्लैण्ड गया जिसमें लालाजी सम्मिलित थे । किन्तु आग जहाँ जायेगी गरमी पैदा करेगी ।

लालाजी के तेजस्वी तर्कों और ओजस्वी भाषणों से इंग्लैण्ड के जनमत में हलचल पैदा हो गई। अस्तु, ब्रिटिश संसद ने कांग्रेस शिष्टमण्डल को कोरा वापस कर दिया ।

इधर कांग्रेस के पुराने नेताओं ने लालाजी के नवीन क्रान्तिकारी कदमों के कारण अँग्रेजों से याचना में कुछ सुविधायें पा सकने की आशा को धूमिल होते देखकर उनके विचारों का विरोध करना शुरू कर दिया । जिससे कांग्रेस के नरम और गरम दो दल हो गये । लालाजी जब जेल से छूटकर आये तब उनका नाम कांग्रेस अध्यक्ष के लिए चुना गया किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर संगठन रक्षा के लिए उदारता का परिचय दिया ।

१९२० में विदेश से आते ही वे महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में शामिल हो गये। पंजाब के विदेशी बहिष्कार नेता के रूप में अनेक प्रबल संघर्ष के फलस्वरूप पंजाब में अँग्रेजी राज्य के पैर हिलने लगे । सरकारी स्कूलों का बहिष्कार कर सारे नौजवान देश-सेवा में जुट गये । उनके समुचित विकास के लिये उन्होंने लाहौर में 'तिलक स्कूल ऑफ पालिटिक्स' की उन्हीं दिनों स्थापना भी की । अपने इन्हीं क्रान्तिकारी कार्यों के फलस्वरूप ये फिर गिरफ्तार करके दो वर्ष के लिए कारागार भेज दिये गये ।

अनन्तर आप स्वराज्य पार्टी में सम्मिलित हुये । नेशनल पार्टी की स्थापना करके हिन्दू महासभा की स्थापना कराई । यह सब कुछ होते हुए भी आपकी मौलिक क्रान्तिकारी भावना, ज्वलन्त देश-भक्ति और हिन्दू-धर्म भावना में किंचित अन्तर न आया । वे जिस दल अथवा सभा में गये उसे एक नवीन चेतना ही दी और आखिर, ब्रिटिश हुकूमत ने कोई वश न देखकर उन्हें साइमन कमीशन की आड़ में शहीद करके अपने विनाश के बीज बो ही लिये ।

आजीवन, देश-विदेश, सभा-सोसाइटी समाज-सरकार जहाँ भी रहे लाला लाजपतराय ने एकनिष्ठ स्वदेश और समाज की सेवा की तथा देश की बलि-वेदी पर उत्सर्ग होकर भारत के इतिहास में सदा को अमर हो गये ।

आजीवन अन्याय से जूझने वाले क्रान्तिकारी–

बापट

सन् १९२० । महाराष्ट्र का प्रसिद्ध किसान आन्दोलन और जिसका नेतृत्व कर रहे थे पाण्डुरंग महादेव बापट । अँग्रेज सरकार ने टाटा जल विद्युत शक्ति उत्पादन केन्द्र की स्थापना के लिए सैकड़ों किसानों की भूमि को अपने कब्जे में कर लिया था और कितने ही किसान केवल मात्र अपनी जीविका साधन-भूमि के छिन जाने पर तिलमिला उठे थे पर उनमें संगठित होकर भी अँग्रेज शासन से टक्कर लेने की हिम्मत नहीं थी । आजीवन अन्यायों से जूझने वाले क्रान्तिकारी बापट किसानों का दुःख-दर्द देखकर कैसे चुप रह सकते थे, उन्होंने महाराष्ट्र के समस्त किसानों को संगठित कर सत्याग्रह आन्दोलन का बिगुल बजा दिया ।

बापट इस सत्याग्रह संग्राम के सफल नेतृत्व करने के कारण ही 'सेनापति' की उपाधि से विभूषित किये गये और उसके बाद महाराष्ट्र में होने वाले प्रत्येक आन्दोलन का उन्होंने बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया । विद्युत उत्पादन केन्द्र के कार्य को शीघ्र ही पूर्ण करने की दृष्टि से सैकड़ों मजदूर कार्य कर रहे थे । काम बड़े जोरों से चल रहा था । मजदूरों से भरी मोटर उक्त केन्द्र की ओर जा रही थी । सेनापति बापट ने मोटर चालक के पैरों पर गोली दागकर श्रमिकों को कार्य करने न जाने दिया । सेनापति बापट का यह कार्य अँग्रेज शासन के लिए एक चुनौती सिद्ध हुआ । वह अपने पाशविक बल के सम्मुख भला किसी की बात क्यों सुनने वाली थी । मोटर ड्राइवर की हत्या के प्रयास का आरोप लगाकर मुकदमा चलाया गया और अन्त में जब सब गवाहों के बयान पूरे हो गये तो न्यायाधीश ने बापट से भी अपनी सफाई देने को कहा । बापट थोड़ी देर को गम्भीर हो गये फिर बड़ी शान्ति से बोले– "मैं क्रान्तिकारी हूँ आततायी नहीं । मुझे अपने निशाने पर पूरा विश्वास है क्योंकि मैं अच्छे ढंग से पिस्तौल चला लेता हूँ मेरा उद्देश्य ड्राइवर को मारना बिल्कुल न था । वरन् जिस अन्याय की सहायता में वह जुटा था उससे अलग करना ही मेरा उद्देश्य था । मैं अपने कार्य को विशुद्ध सत्याग्रह मानता हूँ । यदि न्यायालय मुझे दोषी मानता है तो उसके द्वारा दिये गये दण्ड को भुगतने के लिए मैं सहर्ष तैयार हूँ ।"

और सेनापति बापट को १२ वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड सुना दिया, पर बापट तनिक भी विचलित न हुये। १९२० की वह घटना आज भी राष्ट्रप्रेमियों के सन्मुख है जब राष्ट्र के लिए सम्पूर्ण जीवन लगाने का व्रत बापट ने लिया था । फिर उस व्रत के सम्मुख आने वाली अनेक बाधाओं से वह विचलित हो भी कैसे सकते थे ? पूना के डेक्कन कॉलेज के छात्रावास में अपने दो अन्य मित्रों की उपस्थिति में बापट ने नंगी तलवार पर हाथ रखकर अपने व्यायाम शिक्षक श्री द० व० भिड़े के सम्मुख प्रतिज्ञा की– "मैं राष्ट्रहित में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाऊँगा ।" फिर उसी संकल्प की पूर्ति हेतु आजीवन प्रयत्न करते रहे।

क्रान्तिकारी बापट का जन्म १२ नवम्बर, १८८० ई० को महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में स्थित पारनेर नामक नगर के एक निर्धन परिवार में हुआ था । निर्धनता उनकी पढ़ाई में बाधक न बन सकी क्योंकि वह मेधावी छात्र थे जिससे पढ़ाई का सारा खर्च उन्हें मिलने वाली छात्रवृत्तियों से पूर्ण होता गया । पूना से स्नातक उपाधि प्राप्त कर वे विद्युत इन्जीनियरिंग का अध्ययन करने इंग्लैण्ड चले गये वहाँ विद्युत तकनीक में विशेषज्ञ बनने के स्थान पर अग्नि

बम बनाने की कला में निपुण हो गए । यहीं उनकी भेंट वीर सावरकर से हुई । वीर सावरकर के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनसे उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और क्रान्तिकारी संगठन के सक्रिय सदस्य बन गये ।

क्रान्तिकारी बापट में निर्भीकता और साहस, जन्मजात गुण थे । मृत्यु की तो वह तनिक भी चिन्ता न करते थे। एक दिन उन्होंने सावरकर से ब्रिटिश संसद को अपने बमों से तहस-नहस करने की आज्ञा माँगी । किन्तु बापट को ऐसा कार्य न करने की सलाह देते हुए भारत लौटने के लिए कहा। जहाँ पहुँचकर वह क्रान्तिकारियों को बम बनाने के प्रशिक्षण से अवगत करावें । भारत में तो उस समय कितने ही क्रान्तिकारी ब्रिटिश शासन को समूल उखाड़ने के लिए सीना ताने तैयार खड़े थे ।

बापट ने सन् १९०६ में भारत लौटकर लोकमान्य तिलक से भेंट की और क्रान्ति से सम्बन्धित अनेक गतिविधियों पर विचार-विमर्श किया । सन् १९०८ में मानिक बम काण्ड के सिलसिले में ब्रिटिश राज्य शासन का दमन-चक्र जोर-शोर से चल पड़ा और किसी जासूस ने बापट का भी नाम ले दिया । फिर क्या था इन्हें बन्दी बनाने के लिये पुलिस की टुकड़ियाँ जहाँ-तहाँ छानबीन कर पता लगाने लगीं और बापट का कहीं पता न चला । वह महाराष्ट्र में ही क्रान्ति की मशाल हाथ में लिये जगह-जगह घूमते रहे और नवयुवकों को बम बनाने की शिक्षा तथा अँग्रेजों को छकाने के क्रान्तिकारी ढंग बताते रहे । उन्होंने ५ वर्ष भूमिगत रहकर पुलिस को ऐसा छकाया कि वह भी नाकों चने चबा गई ।

सन् १९१८ में बापट ने लोकमान्य तिलक द्वारा स्थापित 'मराठा' का सम्पादन किया । अपनी सम्पादन कला से मराठा के हजारों पाठकों को यह बता दिया कि शस्त्र उपासक सरस्वती उपासक बनकर अपनी लेखनी से हजारों व्यक्तियों के दिल और दिमाग को नई दिशा की ओर मोड़ सकता है ।

कारावास की लम्बी अवधि से रिहा होकर बापट ने इण्डियन नेशनल काँग्रेस में सक्रिय रूप से कार्य करना प्रारम्भ कर दिया । सन् १९३१ में महाराष्ट्र प्रदेश काँग्रेस के अध्यक्ष चुने गये । सन् १९३२ में जब हिन्दू महासभा के नेता वासुदेव बलवन्त गोगाटे ने अँग्रेज गवर्नर हडसन पर पूना में गोली चलाई तब कितने ही नेताओं ने गोगाटे के इस साहसपूर्ण कार्य की कटु शब्दों में आलोचना की पर उस समय अपनी आत्मा की पुकार पर सिंह गर्जना करने वाले और गोगाटे के कार्य को प्रोत्साहित करने वाले सेनापति बापट ही थे जिन्होंने कहा था- "शाबास बहादुर ऐसा ही करना चाहिए था ।"

अँग्रेज सरकार भला क्यों चूकने वाली थी वह सदा ऐसे अवसरों की तलाश ही करती रहती थी। उसने बापट को हिंसा भड़काने का दोषी बताकर बन्दी बना लिया और ५ वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुना दी । सन् १९३७ में बम्बई में कूपर मन्त्रिमण्डल के गठित होने पर उन्हें रिहा किया गया, पर जेल जीवन की कठोर यातनाओं से घबड़ाकर वह हार मानने वाले न थे उन्होंने तो अब और अधिक सक्रियता के साथ कार्य करके लक्ष्य पूर्ति के हेतु जुटने का निश्चय कर लिया । उन्होंने १९३९ में हिन्दू महासभा और आर्य समाज के संयुक्त रूप से हैदराबाद में जन अधिकारों की सुरक्षा के लिए जो सत्याग्रह चलाया उसकी प्रथम पंक्ति में खड़े होकर नेतृत्व करते हुए अँग्रेज शासन को ललकारा । सन् १९४० में द्वितीय महायुद्ध विरोधी भावना के आरोप में उन्हें फिर बन्दी बना लिया गया और इस प्रकार जीवन के ८७ वर्षों में से उन्होंने २० मूल्यवान वर्ष जेल में ही बिता दिये ।

१५ अगस्त, १९४७ को अपना देश स्वतन्त्र हो गया । स्वतन्त्रता संग्राम के लाखों सैनिकों के स्वप्न साकार हुए । सेनापति बापट की भी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । वह भी भारत माता की जय-जयकार करने लगे । अनेक सैनिकों ने अपनी सेवा और त्याग के फलस्वरूप स्वतन्त्र देश की सरकार से आर्थिक सहायता की माँग की, पर बापट ने अपनी जवानी की पूँजी को होम देने के बाद भी बदले में कुछ न चाहा । वह तो इस बात पर प्रसन्न थे कि अपने प्रयत्नों का फल स्वतन्त्रता के रूप में अपने ही जीवन में देख सके जबकि कितने ही क्रान्तिकारी प्राणोत्सर्ग करने के बाद जीवन की एक राह बनाकर ही विदा हुये थे और उस मार्ग पर आने वाले सैनिकों को भी मौत का फन्दा चूमने का आह्वान किया था ।

स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद वह चुप कैसे बैठ सकते थे? सन् १९५० में महाराष्ट्र समाजवादी दल ने अन्न आन्दोलन किया तब भी वह आगे रहे । सन् १९५५ में गोआ मुक्ति-संग्राम के समय यह कहकर आगे बढ़े कि पलंग पर लेटकर प्राण देने से तो कहीं अच्छा, शत्रु से लड़कर मर जाना ।

८६ वर्ष की आयु में मई १९६६ में बम्बई में आयोजित अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के अधिवेशन पर महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद के समाधान हेतु ५ दिन तक अनशन करके महाजन आयोग की नियुक्ति करवाई । क्रान्तिकारी बापट ने केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही कार्य करके जन-जन के मन में अपना स्थान नहीं बनाया वरन् वह साहित्यिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी सदैव स्मरण किये जायेंगे ।

हिन्दू समाज में फैले हुए छुआछूत के रोग पर जब उनकी दृष्टि गई तो वह अच्छी तरह समझ गये कि जब तक जाति-पाँति के भेदभाव से देश को मुक्त नहीं कराया जाता, तब तक वह प्रगति की दौड़ में तीव्रता से आगे नहीं बढ़ सकेगा । लोगों की विचारधारायें संकीर्ण बनी रहेंगी फिर अपने समाज तथा राष्ट्रोन्नति के लिए वे क्या सोच

सकेंगे ? अतः हरिजनों को सवर्णों के समान स्थान दिलाने के लिए वह झाड़ू लेकर हरिजन बस्तियों में सफाई करने पहुँचे और स्वच्छता का पाठ पढ़ाया ।

धर्मप्राण राष्ट्र में जन्म लेने के कारण वरेण्य क्रान्तिकारी बापट की गीता और उपनिषदों में गहरी आस्था थी । गीता के अनुसार उन्होंने अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न किया था । वह कर्म में विश्वास करते थे केवल कर्म में, फल तो ईश्वर के आधीन है, कर्म करते जायेंगे, तो ईश्वर फल अपने आप देगा । योगी अरविन्द के 'डिवाइन लाइफ' का उन्होंने मराठी में अनुवाद किया था। 'चैतन्य गाथा' उनकी प्रेरणादायी अमरकृति है जो आज भी तरुणों का आदर्श व पथ-प्रदर्शक बनी हुई है ।

सच्चे रूप में भारतमाता को अपनी माँ मानने वाले और उसके रूप को सँवारने- बनाने का पूर्ण ध्यान रखने वाले बापट २७ नवम्बर, ६७ को अपने जीवन के ८७ संघर्षमय वर्ष पूर्ण करके इस संसार से सदा-सदा के लिये विदा हो गये । पुष्प अपनी सुगन्ध वायु को समर्पित कर टहनी से झड़कर नीचे गिर जाता है उसी प्रकार अपनी सारी शक्ति देश-सेवा में लगाकर अपना नश्वर शरीर छोड़कर चले गये । युगों-युगों तक आने वाली पीढ़ियाँ उनके द्वारा प्रदत्त जीवन प्रकाश में अपनी मंजिल की ओर कदम बढ़ाती रहेंगी ।

महान सत्याग्रही, जनसेवी–

सैमुअल इवान्स स्टोक्स

एक बच्चे ने अपने पिता से एक बार कहा- "पिताजी! चार पैसे केक के लिए चाहिये ।" पिता ने सब तरफ देखा, बच्चे के लिये उसे बड़ी वेदना हुई पर पास में कुछ न निकला । उनके जीवन का यह संस्मरण पढ़ते हुए सम्भवतः लोग यह अनुमान करेंगे कि वह कोई अत्यन्त निर्धन व्यक्ति रहा होगा पर बात ऐसी नहीं । उसी दिन उसने पच्चीस हजार रुपये बंगाल के अकाल पीड़ितों के लिये भेजे थे । इसीलिए उसके पास कुछ न बचा था ।

एक अँग्रेज के हृदय में, वह भी उस समय जबकि भारतवर्ष उनके अधिकार में था, भारतीयों के प्रति निश्छल प्रेम अनोखी बात लगती है पर उन आत्माओं के लिए यह कोई अनोखी बात नहीं जो सत्य, ईमानदारी, न्याय और मानवोचित सज्जनता के लिये हर इन्सान को अपना हृदय, अपना भाई मानते हैं । अपनी कम और दूसरों की सेवा-सहानुभूति का अधिक ध्यान रखते हैं ।

ऐसा ही था वह अँग्रेज पादरी- जो २२ वर्ष की चढ़ती आयु में सन् १९०४ में भारतवर्ष भेजा गया । उसका नाम था सैमुअल इवान्स स्टोक्स । वह आया था ईसाई धर्म के प्रचार के लिये, अपनी योग्यता और क्षमता का उपयोग भारतीयों को ईसाई बनाने में करने के लिए पर यहाँ आकर भारतीय संस्कृति और निश्छलता ने उसके आंतरिक मानव को जाग्रत किया । वह महान पादरी सच्चे अर्थों में भारतीय संन्यासी बन गया । नाम से सत्यानन्द और गुणों से सच्चा जन-सेवक ।

जिस कमरे में बैठकर सैमुअल स्टोक्स समाज-सेवा की साधना किया करते थे उसमें बड़े-बड़े अक्षरों से लिख रखा था-"आलसी मत बनो, जब परमेश्वर की उपासना से समय मिले तो कुछ पढ़ा-लिखा करो अथवा दूसरों की सेवा का काम किया करो ।"

"तुम सेवा के लिए आये हो हुकूमत चलाने के लिए नहीं। जान लो, परिश्रम करने और कष्ट उठाने के लिए तुम इस धरती पर आये हो । आलसी होकर अपना समय व्यर्थ वार्तालाप में नष्ट न करो ।"

यह उपदेश औरों के लिए, प्रदर्शन के लिए अंकित नहीं किये थे वरन् उस प्रेरणा को प्रखर रखने के लिए ही यह शब्द लिखे थे, जिससे पीड़ित मानवता की सेवा के लिए कभी निराशा, अधैर्य तथा अ-लगन न उत्पन्न हो । इन आदर्शों को स्टोक्स ने अपनी क्रियाओं द्वारा जीवन भर जागृत रखा ।

इवान्स स्टोक्स की नियुक्ति शिमला जिले के कोटगढ़ स्थान में हुई थी । थानाधार से दो मील दूर एक सुन्दर पर्वतीय उपत्यका के बीच, सतलज के सुरम्य तट पर बसा कोटगढ़ कभी प्रेतगढ़ कहलाता था । निर्धनता तो वहां अट्टहास करती रहती थी, अँग्रेजों के कुत्सित तिरस्कार के भय ने भारतीयों को और भी दयनीय बना रखा था । कोटगढ़ की सुषमा के बीच न जाने परमात्मा का कौन-सा शाप था कि वहाँ के सैकड़ों लोग कुष्ट रोग से पीड़ित थे । इस कारण उन्हें और घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। सैकड़ों निरीह जन पर्वत की चोटी से आत्महत्या कर चुके थे । इन कारणों का सम्मिलन वस्तुतः इतना भयानक हो गया था कि यह स्थान एक प्रकार से भूतों का ही डेरा बन गया था ।

इस दुःखद स्थिति ने सर्वप्रथम इवान्स स्टोक्स के हृदय में पीड़ा का रूप धारण किया । स्टोक्स दिन-रात सोचा करते थे कि इन अभागे मानवों के उद्धार का कोई रास्ता है क्या ? क्या ये भी सन्तोषप्रद जीवन जीने का कोई आधार पा सकते हैं । एक बार दया का गुबार कुछ इस तरह उठा कि इवान्स अपने आपको रोक न सके और वे कुष्ठ पीड़ितों की सेवा में कूद पड़े ।

स्थिति का गम्भीर और पास से अध्ययन करने पर उन्होंने अनुभव किया कि बीमारी का मुख्य कारण स्थानीय लोगों की निर्धनता है । इसे उन्होंने सजातीयों की उपेक्षा का परिणाम समझा । काफी सोच-विचार के बाद एक युक्ति सूझी आपने यहाँ की मिट्टी की जाँच करवाई और इसके बाद अमेरिका से सेब के अच्छे पौधे मँगवाये । सेब की अच्छी फसल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक

लोगों से पत्र व्यवहार किया । एक ही दिशा में अनवरत श्रम-साधना का यह परिणाण हुआ कि कोटगढ़ में सेवों की अच्छी फसल तैयार होने लगी । कुछ ही समय में यही स्थान 'सेवों की घाटी' के नाम से न केवल भारत में वरन् सुदूर विश्व में विख्यात हुआ । यहाँ से आज भी सारे देश को सेव निर्यात होते हैं ।

एक ओर निर्धनता के विरुद्ध मोर्चाबन्दी और दूसरी ओर कुष्ठ पीड़ितों की लगनपूर्ण सेवा ने उन्हें इस क्षेत्र का परमप्रिय नेता बना दिया । किन्तु इतना सम्मान पाकर भी उन्होंने अतिमानव बनने की चेष्टा नहीं की । छोटा बनकर सेवा की सिद्धि प्राप्त कर लेना इतनी बड़ी उपलब्धि है जिसके सामने संसार के सब सुख, ऐश्वर्य और वैभव फीके पड़ जाते हैं । सैमुअल इवान्स भला उससे क्यों भटकते ? उन्हें जितना सम्मान मिला उतना ही उन्होंने अपने आपको छोटा, परमात्मा का सबसे छोटा अज्ञानी बालक माना और एक ही प्रार्थना परमपिता से की-''प्रभु ! तेरी सृष्टि मंगलमय है, कुछ ऐसा कर कि जन-जन मंगलमय बने, किसी को दुःख न हो, किसी को पीड़ा न हो । '' यह प्रार्थना भावना और व्यवहार दोनों में चरितार्थ हुई । कुष्ठ पीड़ितों की सेवा में, अकाल और तत्कालीन कांगड़ा-भूकम्प पीड़ितों की सेवा में रात और दिन एक कर आपने सच्ची सेवापरायणता का उदाहरण प्रस्तुत किया ।

अब तक स्टोक्स शरीर, मन और वेश-भूषा से भारतीय हो चुके थे । अपना नाम भी बदल कर सत्यानन्द कर लिया । विवाह के बाद जो बच्चे हुए उनके नाम भी भारतीय नामों जैसे रखे । आठ वर्षीय पुत्र ताराचन्द की स्मृति में आपने कोटगढ़ में बच्चों का एक प्यारा स्कूल स्थापित किया । 'परम ज्योति मन्दिर' की प्रतिष्ठा भी अपने हाथ से की । मन्दिर के कलश पर सोना भी चढ़वाया । उनकी भावना व्यावहारिक अधिक थी । आदर्श सिद्धान्तों या परम्पराओं के प्रति कभी अन्ध-श्रद्धा व्यक्त नहीं की । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कुल्लू और काँगड़ा में जब सूखा पड़ा तो यह सोना निकलवा कर बेच डाला और उसे गरीबों मे बाँट डाला ।

सत्यानन्द सत्याग्रह में हिमालय की तरह अडिग और चट्टान की तरह सुदृढ़ थे । प्रलोभन या धार्मिक कट्टरता की अपेक्षा मानवीय मूल्यों को ही ईश्वरीय आदेश मानकर केवल उन्हीं का पालन किया । इसके लिए उन्होंने अँग्रेज बिरादरी के विरोध की भी परवाह नहीं की । इनकी 'एवेकिंग इण्डिया' नामक पुस्तक की भूमिका में बापू ने उनकी न्यायप्रियता, बुद्धि और विचारशीलता का समर्थन करते हुए लिखा है-''विदेशी कपड़ों को क्यों जला देना चाहिए इस विषय में स्टोक्स ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे अकाट्य हैं ।''

कोटगढ़ की दरिद्रता दूर करना उनका एक कर्तव्य था पर मनुष्य जीवन इतना विशाल है कि उसमें मनुष्य सैकड़ों कर्तव्यों का पालन और पूर्ति कर सकता है । स्वास्थ्य, शिक्षा, समृद्धि, समाज-सेवा के एक से एक बढ़ कर कर्तव्यों और उद्देश्यों की पूर्ति और प्राप्ति के लिए सौ वर्ष का मनुष्य का जीवन कम नहीं । स्टोक्स यह बात कैसे भूल जाते । अब उन्होंने अपना ध्यान भारत की स्वाधीनता की ओर दौड़ाया और महात्मा गाँधी को अपना राजनैतिक गुरु मान कर स्वाधीनता संग्राम में कूद पड़े । भारतीय स्वतन्त्रता के समर्थन और अँग्रेजों की निन्दा करने में कसर नहीं छोड़ी ।

वह अँग्रेज थे इसलिए अँग्रेजों का पक्ष लेना चाहिए यह स्वीकार करना स्टोक्स के लिए ही नहीं सारे विश्व के लिए अपराध है । न्याय-नीति और बुद्धि-संगत कार्य और पथ का अनुसरण करने में, चाहे वह अपने घर का हो या बाहर का समर्थन करने से नहीं हिचकिचाये, वैसे ही अनीति करने वाला अपना पिता, भाई या गुरु क्यों न हो उसका विरोध करना चाहिए-यह कोई सत्यानन्द से सीखे ।

अँग्रेज इस व्यवहार से क्षुब्ध हो गये फलस्वरूप स्टोक्स गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हें अँग्रेजों ने डराया, धमकाया और प्रलोभन भी दिया पर उनकी नीति फूँस का झोंपड़ा नहीं थी जो ज़रा-सी आँच से जल जाती ।

अब तो देश स्वतन्त्र भी हो गया । सेवों की घाटी फल-फूल रही है पर सत्याग्रही सत्यानन्द नहीं रहा । वह परमात्मा की गोद में चला गया है । अपने पीछे उन्होंने कर्तव्य परायणता, सेवा, न्याय-निष्ठा का प्रकाश छोड़ा है । उसे हम हृदयंगम कर सकें तो उसकी साधना और अपना जीवन दोनों सार्थक कर सकते हैं ।

जिन्होंने मृत्यु और असत्य में से मृत्यु को चुना—

यानहुस

प्रतीक्षा में बैठी हुई उसकी पत्नी ने दरवाजे पर थप-थपाहट सुनी तो उसकी आँखों से तन्द्रा टूट पड़ी । बच्चे अभी ही खा पी कर सोये थे और वह भी खाना खा कर अपने पति का इन्तजार कर रही थी । बड़ा लड़का अभी भी दीपक के प्रकाश में पढ़ रहा था, दरवाजा खोला आशा के अनुरूप ही द्वार पर हुसीनेत्स खड़ा था- आज तक आपको कभी देरी नहीं हुई थी। क्या खेत पर कोई झगड़ा हो गया था । आपके कपड़े ऐसे अस्त-व्यस्त क्यों है ?

''खेत पर से तो मैं शाम को ही वापस लौट आया था''

''तो फिर''

''मालिक कल सुबह रोम जा रहे हैं । उनके जाने की तैयारी में ही व्यस्त रहना पड़ा।''

"रोम ! क्यों ?"

"धर्मगुरु पोप के पास । स्वर्ग की फीस जमा करवाने। काश ! हम लोगों के पास भी पैसा होता तो हम भी परलोक का कुछ इन्तजाम कर लेते । थके हुए हुसीनेत्स ने अपनी पत्नी को ओर विवश दृष्टि से देखा और पत्नी कुछ कहे इससे पूर्व ही उनका बेटा बोल उठा स्वर्ग की फीस धर्मगुरु पोप के पास जमा करवाने ! कैसी विचित्र बात कह रहे हैं पिताजी आप । स्वर्ग की भी कोई फीस होती है क्या ? मैं तो अद्भुत बात सुन रहा हूँ ।

"हाँ बेटे ! मृत्यु के बाद का जीवन सुख-सुविधा भरी स्वर्गीय व्यवस्था का लाभ उठाने के लिए धर्मगुरु ने यह व्यवस्था दी है ।"

"क्या व्यवस्था दी है ?"

वे शुल्क के रूप में जो रकम यहाँ दी जाती है उस रकम के अनुसार उसी श्रेणी में स्वर्ग के लिए पोप पाल प्रवेश पत्र दे देते हैं ।

"पर मरकर तो आदमी का शरीर यहीं छूट जाता है। सुनते हैं स्वर्ग में इस संसार की कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती ।

प्रवेश पत्र मरने वाले के साथ ही दफना दिया जाता है । जिसे देवदूत ले जाते हैं और उस व्यक्ति को उसी श्रेणी के स्वर्ग में ठहराते हैं जिसका निर्देश पोप पाल देते हैं । ढोंग-अपने एक हाथ को जोर से झटकते हुए उस किशोर ने जोर से अट्टहास किया और माता-पिता को चिन्ता हुई कि जरूर मेरे बेटे का दिमाग खराब हो गया है । कहीं धर्मगुरु पोप भी पाखण्ड कर सकते हैं । ईश्वर से तो उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । यही नहीं वे शुल्क के रूप में प्राप्त धनराशि सीधे परमात्मा तक पहुँचाते भी हैं फिर ढोंग कैसे हुआ? जरूर मेरा बेटा पढ़-पढ़ कर अपना दिमाग खराब कर चुका है ।

घटना चैकोस्लोवाकिया के दक्षिणी बोहेलिया प्रांत की है । उन दिनों सामंतशाही का युग था और सामंत-शाही पर भी हावी थी पोपशाही । जनता में शिक्षा, विवेक, ज्ञान और विद्या का प्रचार तो था नहीं पर श्रद्धा खूब थी उसमें धर्म के प्रति और इसी श्रद्धा का लाभ उठा कर धर्म नेतृत्व क्या गरीब और क्या अमीर सभी वर्ग के लोगों का शोषण कर रहा था । पोप पृथ्वी का परमात्मा बन चुका था । पोप के प्रति श्रद्धा ही प्रचलित सच्चा धर्म, पोप-पादरियों की वाणी ही धर्म का नियम और उनके निर्देशों का पालन ही सबसे बड़ी उपासना बनी हुई थी ।

धर्म के प्रति आस्थावान धर्मगुरु के संकेत पर अपनी जान भी कुर्बान कर देते थे। स्वर्ग-मोक्ष का लाभ उठाने वाली जन-शक्ति पर पोप का पूरा नियंत्रण था । इसलिए शासकवर्ग भी इन तत्वों से भय खाते थे। घोरतम विलासता का जीवन व्यतीत कर रहे इन धर्मगुरुओं ने जनसाधारण के अंतर्चक्षुओं पर पर्दा डाल रखा था और यही कारण था जिससे कि उन लोगों का जीवन सर्वसाधारण के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था । जो लोग इस नियोजित और स्थापित अन्धविश्वास की शक्ति की असलियत जानते थे, उन्हें भी इस विषय में कुछ कहने का साहस नहीं होता था। क्योंकि इससे जनशक्ति और राज-शक्ति के सूत्रधार उस अकेले व्यक्ति को क्षणभर में कुचल कर मिट्टी में मिला सकते थे । उनका तो बनना-बिगड़ना कुछ नहीं बल्कि उल्टे स्वयं अपने जीवन की भी हानि पहुँचाने और अपने बाद परिवार के बच्चों को भी दुर्दशाग्रस्त स्थिति भोगने के लिए छोड़ जाने का व्यर्थ खतरा कौन मोल लेता? इस समय लोग धर्म व्यवस्था के प्रति इतने निष्ठावान थे कि विचारशील व्यक्तियों को अपने अतिआत्मीय परिजनों से भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए भयभीत होना पड़ता था । पता नहीं कौन तथाकथित ईश्वरीय न्याय के दण्ड से बचने के लिये उसकी शिकायत कर दे ।

परन्तु जब उक्त किशोर छात्र ने इस व्यवस्था को ढोंग कहा तो माता-पिता की ममता और ईश्वरीय न्याय के मिथ्या विश्वास के बीच में ममता ही जीती । अपने पुत्र के कल्याण और सुरक्षा के लिए हुसीनेत्स ने समझाया, "यान, यह बात तुमने हमारे सामने तो कह दी परन्तु किसी और के सामने कहने का साहस न करना । क्योंकि इससे तुम्हारा जीवन खतरे में पड़ जावेगा, बेटे ।"

यानहुस नामक विद्यार्थी ने कहा-नहीं पिताजी आप मेरी चिंता न करना । इस मिथ्या विश्वास को तोड़ने के लिए मैं एक व्यक्ति भर भी जाऊँ तो इसकी चिंता नहीं करनी चाहिए । मैं कहूँगा लोगों से । अवश्य कहूँगा कि यह पाखण्ड है, ढोंग है । क्योंकि इसी से धर्म की हानि रोकी जा सकेगी ।

"इससे फायदा कुछ नहीं होना है बेटा । हम इस गलतफहमी में आकर किसी सुदृढ़ किले से सिर टकरायें कि इस प्रकार हम इसकी दीवारें तोड़ देंगे और उसमें कैद व्यक्तियों को मुक्ति दिलवा सकेंगे तो यह भूल ही है ।"

"फायदा तो है पिताजी । फायदा क्यों नहीं । ये जो बड़े-बड़े धनपति और सेठ-सामंत हैं ना, ये जिंदगी भर पाप करते रहते हैं । आप किसान हैं न, धरती के बेटे । धरती माँ उन डाकुओं को तो निहाल करती है और आप को कंगाल ही रहने देती है क्यों ? नहीं, एक माँ अपने बेटों से फर्क नहीं रख सकती । लेकिन ये अभिजात कुल के लोग आप का भाग छीन लेते हैं । यह उस माँ की दृष्टि में अपराध है और उसके दंड का भय ही उन्हें इस अपराध से रोक सकता है । लेकिन इन लोगों को पाप के दण्ड से बचने का आसान रास्ता मिल गया है और इसी कारण इनके हौसले भी बढ़ते जाते हैं ।"

ठीक है लेकिन इसी दिशा में प्रयास और भी अन्य कई लोग कर चुके हैं परन्तु कुछ नहीं हुआ, उन्हें जान से हाथ धोना पड़ा । यह बात युवक के लिए सचमुच उपयोगी और चिंतनीय थी अत: वह सोचने लगा कि किस प्रकार इस तंत्र को सफलतापूर्वक तोड़ा जाय । भावी जीवन की गतिविधियों और कार्यक्रमों पर विचार करते हुए यानहुस अध्ययन करते रहे ।

आगे चलकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस पाखण्ड को नष्ट करने के लिए इन्हें भी धर्मदर्शन का गहन अध्ययन करना चाहिए । विद्यालय में भी उन्होंने अपने पाठ्य विषयों के चयन में धर्मदर्शन को ही प्रमुखता दी और उन्होंने इस विषय में विशेष योग्यता प्राप्त की । पाठ्यक्रम के अतिरिक्त भी उन्होंने इस विषय में गहराई तक प्रवेश किया । जिज्ञासापूर्ण अध्ययन के परिणाम स्वरूप वे इस विषय में इतने विद्वान हो गये कि इकत्तीस वर्ष की आयु में ही उन्हें चार्ल्स विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया ।

सुख-सुविधाओं भरे जीवन के लिए यह पर्याप्त था । इस प्रगति पर बधाई देते हुए उनके मित्रों ने हुस को बधाई दी परन्तु यानहुस ने इस उपलब्धि को अपने कर्तव्य पालन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए एक सीढ़ी भर ही माना । उन्होंने कहा- मैंने यह पद सुख-सुविधाओं भरे जीवन के लिए स्वीकार नहीं किया है वरन् इसलिए कि मैं इस पद पर रहते हुए उन परिस्थितियों का और अच्छी तरह अध्ययन कर सकूँगा जिनसे कि मैं निबटना चाहता हूँ और छात्रों में भी सच्चे-धर्म के प्रति चेतना उत्पन्न कर सकूँगा ताकि वे इस अंधविश्वास की जड़ें समूल नष्ट करने में समर्थ और सफल हो सकें । दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद पर रहते हुए इसी लक्ष्य को सामने रख कर वे कार्य करते रहे । इतने चुपचाप और मूक रह कर कि उनकी योग्यता, लगन और श्रम से प्रभावित होकर प्रबन्ध समिति ने उन्हें विश्वविद्यालय का कुलपति बना दिया ।

इस पद की दायित्वपूर्ण जिम्मेदारियों को समझते हुए वे उद्देश्य की ओर सीधे कदम बढ़ाने लगे। उन्होंने आरम्भ में प्रचलित पाखण्ड और अंधविश्वासों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा वरन् सृजनात्मक रवैया अपनाया । उन्होंने पहले अपने विद्यार्थियों को बाद में शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्ग के श्रद्धालु लोगों को धर्म और अध्यात्म की सही सच्ची व्यावहारिक व्याख्यायें समझायीं । जनसाधारण की भाषा में, आत्मीय शैली में धर्म तथा अध्यात्म की व्याख्या करने से वे शीघ्र ही लोकप्रिय होते गये ।

लोकप्रियता के अति ऊँचे स्तर को उन्होंने छू लिया । प्राग का आर्कविशप उनकी विद्वता और लोकप्रियता से लाभ उठाने का लोभ संवरण न कर सका । आर्कविशप की ओर से उन्हें बेथलेहम के विख्यात चर्च में धर्मोपदेशक का पद स्वीकार करने का आग्रह किया गया । लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में इसे सहायक समझ कर उन्होंने यह आग्रह स्वीकार कर लिया ।

अब वे काफी आत्मविश्वास और सुदृढ़ स्थिति बना चुके थे । यद्यपि आर्कविशप उनके व्यक्तित्व और प्रभाव का उपयोग अपने शोषण-चक्र को और अधिक सरलता पूर्वक चलाने में करना चाहते थे लेकिन यानहुस का मन्तव्य तो कुछ और ही था । वे उस मंच से अंधविश्वास का अंधकार भगाना चाहते थे । इन्हीं विषयों पर उनका चर्च के अधिकारियों से मतभेद हो गया । यहाँ तक कि वह विवाद तक बन गया ।

लेकिन यानहुस तो अपने सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ निष्ठावान थे । व्यापक जनशक्ति भी उन्होंने अपने पक्ष में मोड़ ली थी अत: उन्हें इस विवाद से कोई चिंता नहीं हुई । उलटे वे सभी बन्धनों से मुक्त होकर जनक्षेत्र में उतर आये और स्वतन्त्र रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे ।

धर्म-विश्वासियों के स्वार्थ-साधना अस्त्र को उन्होंने जनशक्ति के बल पर उलवा देने का संकल्प कर लिया था । इस केन्द्र बिन्दु पर अनवरत अपनी विचारधारा का उन्होंने इस तर्कपूर्ण ढंग से प्रचार किया कि अब तक जो लोग पोप, पादरियों और बिशपों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिये जनसाधारण से कहते थे व स्वयं पादरियों और बिशपों से सच्चे धर्म का अवलम्बन लेने और उपदेश देने के लिए कहने लगे ।

प्रबल जनशक्ति को एक अकेले व्यक्ति के कारण अपने विरोध में जाते देख कर पादरी लोग यानहुस के जानी दुश्मन हो गये और वे अपने पवित्र पिता- होली फादर के नाम पर हुस का विरोध करने लगे । यान हुस ने इस प्रचार तंत्र का विरोध किया। धर्म गुरुओं ने सभी उपाय अपना लिए परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला । जनता में सच्ची धर्म-चेतना और जागरूकता फैलती जा रही थी ।

निदान राज्य-सत्ता को- जो उस समय बिशपों पादरी-पुरोहितों और धर्मतंत्र के कठमुल्लाओं के नियंत्रण में थी अंतिम-शस्त्र के रूप में उपयोग में लाया गया। सन् १४१४ में जर्मन के कंसटेस नगर में एक अखिल विश्व ईसाई धर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया । जिसमें लगभग एक हजार पादरी बिशप, आर्क बिशप और पोप के गुर्गों के अतिरिक्त करीब बीस हजार अन्य प्रतिनिधिगणों ने भाग लिया । इस सम्मेलन में यानहुस को सद्भावना पूर्वक आमन्त्रित किया गया । स्वयं हुस को भी खतरे की आशंका थी परन्तु जब जर्मनी के सम्राट ने उनकी जीवन रक्षा का वचन दिया तो वे जाने को तैयार हुए ।

पहले से ही नियोजित योजना के अनुसार यान को गिरफ्तार कर लिया गया और उन पर दबाव डाला गया कि अब तक के अपराधों (पोप के विरोध) के लिए वे पोप से क्षमा माँगे और आगे से ऐसा न करने का वचन दें । दृढ़तापूर्वक उन्होंने यह बात मानने से इंकार कर दी। जिसके फलस्वरूप उन्हें शैतान का ताज पहनाया गया और जीवित ही जलती हुई आग में फेंक दिया गया।

यानहुस तनिक भी नहीं छटपटाये और चुपचाप उन्होंने अपने आप को जल जाने दिया लेकिन असत्य के आगे घुटने नहीं टेके । अपने कृतित्व के माध्यम से वे जन-मानस में सच्चे धर्म बीजों का आरोपण-अंकुरण कर चुके थे जिनमें आगे चलकर सच्ची धर्मनिष्ठा के फूल लगे।

अमेरिका के महान नीग्रो–
श्री रिचर्ड ऐलेन

अमरीका का अफ्रीकन मैथोडिस्ट ऐपिस्केसल चर्च आज एक महान राष्ट्रीय संस्था माना जाता है । वह संस्था धर्म के आधार पर संसार में सेवा और भ्रातृत्व-भाव का प्रचार करती है । इसकी ओर से संसार के प्रत्येक भाग में शिक्षा-संस्थाओं ओर सेवा संघों की स्थापना की गई और की जा रही है । इसके मिशनरी संसार के हर कोने में जाकर धर्म और प्रेम-भाव का प्रसार करते हैं । इस संस्था को अमेरिका की एक विशाल राष्ट्रीय-शक्ति माना जाता है ।

इस संस्था का महत्व इस बात से और है कि इसके संस्थापक एक नीग्रो थे । उनका नाम श्री रिचर्ड ऐलेन था । श्री रिचर्ड ऐलेन का जन्म १७६० के आस-पास फिलडेल्फिया में हुआ था । वे एक गुलाम वंश में पैदा हुए थे । उनके माता-पिता दास थे और वे बाल्यकाल में ही डेलाबेअर के एक किसान के हाथ बेच दिये गये थे ।

उन दिनों अफ्रीका के हब्शियों की आत्मा का उद्धार करने के बहाने लोग उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित करने के लिये ले आते थे और दास बनाकर उनसे पशुओं जैसा काम लेते थे ? स्वार्थ के लिये दरअसल उनकी आत्मा का हनन कर डालते थे । यद्यपि उनको दीक्षित ईसाई धर्म में ही किया जाता था किन्तु श्वेत लोग उनके साथ धर्म-बन्धुत्व का व्यवहार न करते थे । इस प्रकार अमेरिका में बहुत से अश्वेत ईसाई दास ला-लाकर रखे गये थे । उन्हीं में से एक श्री रिचर्ड ऐलेन भी थे ।

श्री रिचर्ड एलेन में प्रारम्भ से ही धर्म और ईश्वर के प्रति बड़ी आस्था थी । वे अपने अति व्यस्त जीवन में से किसी न किसी समय ऐसे क्षण निकाल ही लेते थे, जिनमें प्रभु की प्रार्थना कर लिया करते थे । अपने परिश्रम, काम और आज्ञाकारिता से प्रसन्न कर उन्होंने आगे चलकर मालिक से खेत पर ही एक छोटी-सी प्रार्थना सभा करने की अनुमति लेली थी । ईसाई होने के नाते उसे धर्म के नाम पर वह छोटी-सी छूट देनी ही पड़ी थी। श्री रिचर्ड ने उस अवसर का पूरा लाभ उठाया और वे अन्य खेतों पर काम करने वाले नीग्रो लोगों को मध्यान्तर के समय जमा करके प्रार्थना और उपदेश करने लगे। प्रार्थना और उपदेश का विषय गुलामी से मुक्ति और आत्मा के जागरण के सिवाय और हो ही क्या सकता था ? श्री रिचर्ड के सम्पर्क में आने वाले नीग्रो लोगों को अपना अस्तित्व बोध होने लगा और उनके बीच रिचर्ड का प्रभाव भी बढ़ने लगा ।

किन्तु स्वार्थी श्वेत मालिक अपने मोल लिये अश्वेत दास की लोकप्रियता सहन भी कैसे कर सकता था और कैसे दूसरे श्वेत स्वामी की शिकायत करने और अपने दासों को वर्जित करने से मान सकते थे ? निदान श्री रिचर्ड की प्रार्थना-सभा पर न केवल प्रतिबन्ध ही लगा दिया गया, बल्कि अश्वेत दासों पर सख्ती और काम की मात्रा भी बढ़ा दी गई । अहंकारी और स्वार्थी लोगों का यही तो दुर्भाग्य होता है कि वे अपने लोभ और अहं के लिये धर्म की धज्जियाँ तक उड़ा सकते हैं ।

लेकिन रिचर्ड को तो धर्मोपदेश और दासों के बीच जागरण की लगन लग चुकी थी । वे किसी भय से ईश्वरीय कार्य से विरत भी किस प्रकार हो जाते ? उन्होंने उपाय निकाला । उन्हें पता था कि दास-प्रथा में एक ऐसी मद भी है कि जो दास अपनी कीमत और उस समय तक अपने आने वाले खाने-पहनने के खर्च का भुगतान मालिक को कर दे वह दासता से मुक्त हो सकता था । रिचर्ड ने इसी उपाय का अवलम्बन लिया । अमेरिकी क्रान्ति के समय जब काम की बहुतायत हो गई और सभी को उसमें हिस्सा बँटाने का अवसर मिला तो रिचर्ड ने मालिक का काम करने के बाद अपने विश्राम का सारा-सारा समय, यहाँ तक कि रात में सोने का समय तक अतिरिक्त मजदूरी में लगा दिया । उन्होंने उन गाड़ियों, ठेलों और छकड़ों को खींचने का काम किया जिन्हें घोड़े, गधे और खच्चर खींचा करते थे । पुरुषार्थी रिचर्ड ने आदमी बनने के लिए पशुओं के योग्य परिश्रम करने से मुँह न मोड़ा । इस प्रकार धन जमा करके मालिक का सारा पैसा मय सूद-ब्याज के चुकता करके अपने को मुक्त कर लिया । दूसरे प्रायः जिस बात को असम्भव समझते थे रिचर्ड ने उसे सम्भव कर एक उदाहरण उपस्थित कर दिया ।

अब रिचर्ड ऐलेन डेलावेअर से फिलाडेल्फिया चले आये और एक स्वतन्त्र नागरिक की तरह रहने और काम करने लगे । यों तो अमेरिका के किसी भी चर्च में अश्वेतों को जाकर प्रार्थना करने की अनुमति नहीं थी लेकिन एक सेन्ट जार्ज चर्च ऐसा जरूर था जहाँ अश्वेतों का प्रवेश वर्जित नहीं था । पता नहीं इस उदारता का पुण्य किस भाग्यवान ने लिया था और किस मुहूर्त में मानवीय समता के भावी बीज बो गया, जिसकी फसल उस समय से लेकर अब तक फलती-फूलती चली आ रही है और उसकी उदारता निकट भविष्य में अश्वेत अमेरिकनों को दासता और श्वेत अमेरिकनों को उसके पाप से पूर्णतया मुक्त कर दे ।

रिचर्ड ऐलेन इसी चर्च में जाने और प्रार्थना के साथ धर्मोपदेश करने लगे । सच्ची प्रार्थना और उसके साथ जुड़ी हुई मांगलिक मनोकामना में बड़ा प्रभाव और प्रताप होता है । रिचर्ड के व्यक्तित्व, वक्तव्य और भक्ति से खिंच कर फिलडेल्फिया के सारे अश्वेत दास उस चर्च में जाने और जागरण पाने लगे। अश्वेतों की भीड़ ने श्वेतों की संख्या नगण्य कर दी । निदान श्वेत 'बगुला भक्त' प्रभु की प्रार्थना तो भूल गये और धर्म की उस अभिवृद्धि को रोकने की दुरभिसन्धि में लग गये । पहले तो उन्होंने चर्च में अश्वेतों का प्रवेश निषिद्ध करने की सोची, लेकिन प्रस्ताव लाने का साहस न पड़ा। उसके बाद उन्होंने असहयोग और

बहिष्कार की नीति अपनाई । जिसका परिणाम उलटा निकला । संख्या के अनुपात से वे स्वयं ही बहिष्कृत से हो गये और अन्त में जब कोई वश न चला तो असुरता पर उतर आये । एक दिन चर्च के अधिकारियों ने अपने श्वेत सदस्यों की सहायता से श्री रिचर्ड ऐलेन को प्रार्थना करते समय बीच में ही रोककर बलपूर्वक चर्च से बाहर निकाल दिया । ईर्ष्या और अहंकार के वशीभूत उन्होंने यह भी न सोचा कि उनके ऐसा करने से स्वर्ग में बैठी प्रभु ईसा की आत्मा को कितना गहरा आघात पहुँचा होगा । किन्तु धर्म-धन्धकों का तो काम ही उस परम-प्रभु को दुःखित और पीड़ित करना होता है, जिसके नाम पर वे खाते, कमाते और आदर पाते हैं, और महत्व की बात यह होती है कि उनका पाप, परिताप की ओर ले जाने के लिये इस 'अवश्यंभावी परिणाम' की ओर नहीं देखने देता-

"उघरे अन्त न होइ निबाहू ।
कालनेमि जिमि रावण राहू ॥"

इस घटना से अश्वेतभक्तों में रोषपूर्ण असन्तोष फैल गया और अशान्ति की सम्भावना खड़ी हो गई । किन्तु शान्तिप्रिय रिचर्ड ने परिस्थिति सँभाल ली । उन्होंने अपने अनुयायी अश्वेतों को समझाया- "ईसा-धर्म के सच्चे अनुयायी दुर्व्यवहार का बदला दुर्व्यवहार से नहीं, प्यार से देते हैं । हम इस अपकार का प्रतिकार करेंगे, लेकिन सुन्दर सृजन द्वारा । वे उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति समझकर हमें भगवान के मन्दिर से निकालते हैं निकाल दें, हम कहीं भी आकाश के नीचे खड़े होकर प्रार्थना कर लेंगे । धरती के फर्श आकाश की छत वाला यह सारा संसार भगवान का मन्दिर ही तो है । हमें ईंट-पत्थरों से बनी एक ऐसी इमारत के लिए झगड़ना उचित नहीं जहाँ भगवान की जगह पर उसके ठेकेदारों का अधिकार है ।"

दूरदर्शी रिचर्ड ऐलेन ने अश्वेतों के संगठन और अवसर को परख लिया और बड़े प्रयत्नों के साथ 'स्वतन्त्र अफ्रीकी समाज' नामक हितकारी संस्था स्थापित कर दी । आगे चलकर इसी संस्था के आधार पर उन्होंने अश्वेतों के लिए 'बैथेल मैथोडिस्ट ऐपिस्कोपल चर्च' भी स्थापित किया, लेकिन श्वेतों के प्रवेश पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया । यही वह चर्च है जो आज अमेरिका की शक्तियों में से एक महान शक्ति माना जाता है और जिसके इस समय दस लाख से ऊपर स्थायी सदस्य हैं ।

उन्हीं दिनों फिलाडेल्फिया में पीलिया रोग का प्रकोप हुआ और इस महामारी से सैकड़ों लोगों की प्रतिदिन मृत्यु होने लगी । तथापि परिश्रम से प्राप्त सच्चे स्वास्थ्य के कारण अश्वेतों की मृत्यु संख्या कम रहती थी । महामारी से इतना भय फैल गया कि श्वेत नागरिक घर छोड़कर भागने लगे। रोगियों की सेवा करने, लाशों को दफनाने और उन्हें दवा देने वालों का अभाव हो गया । सारा नगर उजाड़ होने लगा। यह रोग प्लेग का ही एक प्रकार था और संक्रामक माना जाता था । अस्तु, छूत लगने के भय से परिवार के लोग अपने रोगियों को मरता छोड़ कर भाग जाते थे । इस आपत्तिकाल में रिचर्ड ऐलेन ने अपने अश्वेत साथियों की सहायता से श्वेतों की महान सेवा की । उन्होंने रोगियों की परिचर्या, लाशों को दफनाने और परिवारों की व्यवस्था का प्रबन्ध किया । उनकी इन सेवाओं ने रिचर्ड ऐलेन की ख्याति दूर-दूर तक फैला दी। इसी अपत्तिकाल में रोगियों की सेवा करने के लिए रिचर्ड ऐलेन ने नीग्रो पुरुषों को डॉक्टरी का और स्त्रियों को परिचारिका का प्रशिक्षण भी दिलाया जिससे इनका सामाजिक स्तर ऊँचा हो गया ।

संसार भर ने नीग्रो लोगों की इस सेवा को मान्यता दी और उनके नेता की प्रशंसा की। तब भी ऐसे अनेक श्वेतों की कमी नहीं थी जिन्होंने कृतघ्नतापूर्वक उनकी इस महानता में भी बुराई निकाली और धनोपार्जन का लांछन लगाया- जिसका उत्तर देते हुए रिचर्ड ऐलेन ने लिखा- "उस आपत्तिकाल में प्राप्त होने वाला धन इतना कम था कि उससे मजदूरों की मजदूरी और मृतकों के लिये कफन भी पूरा न पड़ता था । हम लोगों ने तो धर्म का आधार और ईश्वर का विश्वास लेकर पीड़ितों की सेवा करने के लिये उस अग्नि-कुण्ड में अपने को ढकेल दिया था । हमारी आस्था के अनुसार ईश्वर ने हमें समस्त भयों से मुक्त करके हमें शक्ति प्रदान की और हमारे हृदयों को अधिकाधिक परोपकारी बनने और सेवा करने की प्रेरणा दी ।"

श्री रिचर्ड ऐलेन का सम्मान इतना बढ़ गया कि वे फिलाडेल्फिया की सामाजिक सभाओं और चर्चों तक के प्रधान बनाये जाने लगे । अपनी इन स्थितियों द्वारा नीग्रो के बीच संगठन और जागरण को और आगे बढ़ाया जिससे श्वेत मालिकों को भय हो गया कि कहीं अश्वेत दास शक्ति न पा लें और तब अमेरिका में अपने अधिकारों की माँग करके बराबरी में न आने लगें । अस्तु, उन्होंने नीग्रो लोगों को अफ्रीका वापस भेजने की दुरभिसन्धि रची और इसके लिये उनसे स्वीकृति हेतु जबरदस्ती हस्ताक्षर लेने लगे । श्री रिचर्ड ऐलेन ने बल-प्रयोग का डटकर विरोध किया और विरोधियों की एक न चलने दी । उन्होंने अश्वेतों की रक्षा के लिये बहुत से संघों और विशाल संगठनों का आयोजन किया और इस प्रकार नीग्रो लोगों का निष्कासन रोक दिया गया। श्री रिचर्ड ऐलेन लगभग इकहत्तर-बहत्तर वर्ष तक जीवित रहे और अपनी पूरी आयु तक इसी प्रकार नीग्रो जनों में जागरण और मुक्ति भावना का प्रचार करते रहे । १८३१ में जब उनकी मृत्यु हुई उस समय तक अमेरिकी अश्वेत दास बहुत कुछ जाग चुके थे । उनके बीच तब से अब तक जो स्वातन्त्र्य शिखा जलती आ रही है उसमें श्री रिचर्ड ऐलेन की तपस्या, उनके त्याग और उनकी प्रेरणा-ज्योति प्रदीप्त हो रही है । दास-मुक्ति के जिस आधार को उन्होंने अपने जीवन का क्षण-क्षण त्याग कर बनाया था उस पर अब भवन बनना प्रारम्भ हो गया है जो शायद कुछ दिनों में पूरा हो जायगा।

जो हब्शियों के लिए बलिदान हो गये-

प्रेसीडेन्ट कैनेडी

मनुष्य का मूल्य उसकी मृत्यु के पश्चात् ही मालूम होता है जो जितना ही महान होता है उसे प्रायः उतना ही अधिक विरोध सहन करना पड़ता है । ये विरोधी किसी व्यक्ति के श्रेष्ठ कार्यों का भी उलटा अर्थ लगाते हैं और उसे हर तरह से बदनाम, अपदस्थ करने की चेष्टा करते हैं । चाहे कोई व्यक्ति कितना ही सच्चा, त्यागी, सेवाभावना वाला क्यों न हो, दूषित भावना वाले विरोधियों को वह छली, कपटी, दम्भी ही दिखलाई पड़ता है और वे उसके कामों में हर तरह से अड़ंगा लगाने, असफल करने की कोशिश करते रहते हैं ।

सच्चे परोपकारी सज्जन इस प्रकार की विघ्न-बाधाओं की परवाह न कर के संसार की भलाई के कामों से कभी पश्चात्-पद नहीं होते । वे देखते हैं कि भगवान ने मनुष्य को कितने अपूर्व साधन और शक्तियाँ दी हैं, फिर भी वह अपनी संकीर्णता, ईर्ष्याभाव, द्वेष-बुद्धि से स्वयं ही दुःखी होता है और दूसरों को भी पीड़ित करता है। यदि मनुष्य इन दुष्प्रवृत्तियों को त्यागकर सबके साथ न्याय, समता और भ्रातृभाव का व्यवहार करने लगे तो यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन सकती है ।

अमरीका के प्रेसीडेन्ट कैनेडी (१९१७-१९६३) इसी श्रेणी के महापुरुष थे । यद्यपि प्रेसीडेन्ट बनने से पहले उनका नाम संसार के अन्य देशों में तो क्या अमरीका में भी प्रसिद्ध न था । उनकी आयु भी अपेक्षाकृत कम थी और वे कोई बहुत बड़े विद्वान भी न थे पर उनमें वर्तमान समय की राजनैतिक स्वार्थपरता और धूर्तता का प्रयोग कर के संसार के अन्य देशों के सत्वापहरण करने की दुष्प्रवृत्ति के बजाय सहयोग तथा सहायता की नीति को काम में लाकर मानव जाति को प्रगति पथ पर अग्रसर करने की सद्भावना थी । खासकर पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में अणुशक्ति का जैसा विकास हुआ है उसे देखकर वे मन में बार-बार यही सोचते थे कि जब मनुष्य ने सृष्टि निर्माण की कुंजी प्राप्त करली है और थोड़े-से प्रयत्न से वह इस पृथ्वी को नन्दनवन बना सकता है, तब इस प्रकार आपस में मरने-कटने और नाश के पथ को अपनाने की क्या आवश्यकता है ?

इन्हीं उदात्त आदर्शों को लेकर कैनेडी राजनीतिक क्षेत्र की ओर अग्रसर हुये । उन्होंने इंग्लैण्ड में रह कर सुप्रसिद्ध प्रोफेसर लास्की से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किया और सन् १९४६ के लगभग अमेरिका की शासन-सभा के सदस्य चुन लिये गये । पैंतीस वर्ष की आयु में अमरीका की 'सीनेट' के सदस्य बन गये थे । वे डैमोक्रेटिक पार्टी की तरफ से उम्मीदवार बनकर शासन सभा में गये थे, पर वहाँ उन्होंने किसी खास गुट में शामिल होने के बजाय स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का ही निश्चय किया । वे प्रत्येक समस्या का निर्णय उसके गुण-दोषों के आधार पर ही करते थे । इससे लोगों में उनके प्रति सम्मान की भावना बढ़ गई और सन् १९६० में वे अमरीका के प्रेसीडेन्ट चुन लिये गये । इस प्रकार वे अपने देश के सबसे छोटे राष्ट्राध्यक्ष थे । अभी तक कोई राजनीतिज्ञ इतनी कम आयु में इस पद तक नहीं पहुँच सका था ।

अमरीका जैसे संसार के अग्रगामी राष्ट्र के कर्णधार बनने पर कैनेडी ने वहाँ की राजनीति को एक नया मोड़ दिया । अभी तक वहाँ के शासक अपने भीतरी मामलों को ही सबसे अधिक महत्व देते थे, पर कैनेडी ने अपने देशवासियों से कहा कि अब युग बदल गया है और यदि वे केवल अपने घरेलू मामलों में ही उलझे रहेंगे, तो शीघ्र ही विश्व राजनीति में अमरीका अन्य देशों के मुकाबले में पिछड़ जायगा ।

प्रेसीडेन्ट बनने के डेढ़ साल बाद ही उनको एक विश्वव्यापी महत्व की समस्या का सामना करना पड़ा । क्यूबा का द्वीप, जो अमरीका की मुख्य-भूमि से कुछ ही दूरी पर है, कम्यूनिस्ट पक्ष में जा मिला और रूस ने वहाँ पर अणुयुद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं । अपने घर में ही इस प्रकार विरोधी का प्रवेश होने से अमरीका वाले तुरन्त ही क्यूबा पर आक्रमण करके इस खतरे को सदा के लिए अन्त करने की माँग करने लगे । पर प्रेसीडेन्ट कैनेडी जानते थे कि रूस के साथ अणुयुद्ध छेड़ने का क्या परिणाम होगा? जिस प्रकार रूस ने क्यूबा में घुसकर अमरीका के विरुद्ध मोर्चा बना लिया था, उसी प्रकार अमरीका भी पहले से टर्की को अपना साथी बना कर वहाँ अणु-अस्त्रों का एक बड़ा अड्डा बना चुका था ।

इस संघर्ष में दो बार ऐसे मौके भी आये जबकि सैनिक अधिकारियों की तरफ से अमरीकन वायुयानों को एटम बम लेकर रूस के तरफ बढ़ने का आदेश दे दिया गया, पर कैनेडी ने सूचना मिलते ही इसे रोका । उन्होंने राष्ट्रव्यापी माँग को मानकर क्यूबा का घेरा डाल दिया, पर कभी अपनी ओर से ऐसा कार्य नहीं होने दिया जिससे युद्ध भड़क उठे । उनके संयम और शान्ति स्थापित करने की नीति का ही यह नतीजा हुआ कि रूस वालों ने अपनी गलती मान ली और एक महीने के भीतर वे अपने समस्त अणु-अस्त्रों को लेकर क्यूबा से हट गये और वहाँ बम फेंकने के जो अड्डे बनाये गये थे उनको तोड़ दिया गया । इस अवसर पर कैनेडी स्वयं योरोप गए और वियना नगर में रूसी अधिनायक ख्रुश्चेव से बातें करके रूस के साथ शत्रुता की नीति का एक प्रकार से अन्त ही कर दिया ।

यद्यपि संसार के अधिकांश व्यक्ति अभी तक कैनेडी की इस महान सेवा का महत्व नहीं जान सके हैं, पर सच बात यह है कि उस समय अमरीका में कोई संकीर्ण विचारों का राष्ट्रवादी प्रेसीडेन्ट होता तो असम्भव नहीं था कि रूस के साथ उसका युद्ध छिड़ जाता । उस दशा में उन

दोनों देशों का ही सर्वनाश नहीं होता वरन् यह मानव सभ्यता पर एक ऐसा आघात होता कि संसार की काया ही पलट जाती । वास्तव में वे दो-तीन वर्ष संसार के भाग्य निर्णायक थे और उस अवसर पर कैनेडी तथा नेहरू जैसे महान् व्यक्तियों के आविर्भाव के कारण ही इस घोर संकट से मानव जाति की रक्षा हो सकी ।

कैनेडी का दूसरा स्मरणीय कार्य अपने देश के हब्शी (नीग्रो) जाति वालों को गोरे लोगों के समान अधिकार देने का कानून बनाना था । अब से दो सौ वर्ष पहले हब्शी लोगों को अफ्रीका से जबर्दस्ती पकड़ कर ले जाना और उनको दास बनाकर अमरीका में बेच देना एक ऐसी घटना थी जो बहुत काल तक अनेक योरोपियनों के सिर पर कलंक का टीका लगाती रहेगी । निर्दोष और सीधे-सादे हब्शियों पर केवल अपने स्वार्थ साधन के कारण जो अमानुषिक अत्याचार किये गये वे विश्व-इतिहास के अमिट काले अध्याय बन चुके हैं ।

अमरीका के महामानव प्रेसीडेन्ट अब्राहम लिंकन ने आज से सौ वर्ष पहले गृहयुद्ध का सामना करके और हजारों व्यक्तियों का बलिदान देकर इस महापाप रूपी प्रथा का अन्त कराया । पर इसके पश्चात् भी स्वार्थी गोरों ने उनके साथ न्याययुक्त व्यवहार करना स्वीकार न किया । वे उनको नीच, अछूत की तरह ही मानते रहे और राजनीति, समाज, शिक्षा आदि सभी विषयों में भेदभाव का व्यवहार करते रहे । अब से चालीस-पचास वर्ष पहले भी यदि कोई बहशी गोरों की समानता करता तो उसे गुप्त या प्रकट रूप से मौत के घाट उतार दिया जाता इतना ही नहीं यदि कोई गोरा व्यक्ति हब्शियों का पक्ष लेता, उसका समर्थन करता तो उसकी बड़ी दुर्दशा की जाती । इस तरह के कार्यों के लिए वहाँ के कई प्रदेशों में 'कु क्लक्स क्लैन' जैसी अत्याचारी गुप्त-संस्थायें बना ली गई थीं ।

प्रेसीडेन्ट कैनेडी की मानवता को, नीग्रो लोगों के प्रति किये जाने वाले इस अन्यायपूर्ण व्यवहार से बड़ा धक्का लगा । वे विचारने लगे कि जब हम संसार के विभिन्न राष्ट्रों को समानता का पद देकर, उनके साथ बराबरी का व्यवहार करके मानव-जाति को प्रगति-पथ पर अग्रसर करने के लिये प्रयत्नशील हैं, तब अपने देश में रंग के नाम पर लाखों नर-तन धारियों के साथ शत्रुओं का-सा बर्ताव करना हमें कहाँ तक शोभा दे सकता है ? यह तो केवल मानव-स्वाधीनता या समता के सिद्धान्त का उपहास करना ही होगा । यदि हम अपने साथ न्याय चाहते हैं तो हमें नीग्रो लोगों को भी उचित अधिकार देने होंगे ।

अपने करोड़ों देशवासियों के विरोध का सामना करते हुए भी कैनेडी ने इस पवित्र कर्तव्य को पूरा करने का संकल्प कर लिया । उन्होंने अमरीकन शासन सभा के सामने 'सिविल राइट्स बिल' (नागरिक अधिकारों का कानून) पेश किया और उसके पास कराने के लिये बहुत अधिक प्रयत्न करने लगे । इससे दक्षिण की रियासतें, जिनमें नीग्रो-द्वेष की भावना विशेष रूप से पाई जाती है, उनके खिलाफ हो गईं । यद्यपि कैनेडी स्वयं दक्षिण के रहने वाले थे और वहाँ वालों के वोटों से जीत कर प्रेसीडेन्ट बने थे, पर इस कारण वे एक अन्यायपूर्ण प्रथा का समर्थन करने को तैयार न हुए । वे इस सम्बन्ध में अपने विचारों का स्पष्टीकरण करने और वहाँ के विचारशील लोगों को अपने अनुकूल बनाने के उद्देश्य से दक्षिणी रियासतों का दौरा करने गये और उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी मिलने लगी ।

दक्षिणी रियासतों के कट्टरपन्थी, जो हब्शियों के मामले में सदा लड़ने और मरने को तैयार रहते थे और षड्यन्त्र रचने में भी निपुण थे, कैनेडी की जान के ग्राहक बन गये । यद्यपि वे भी इस बात को जानते थे, उनको धमकी के हजारों पत्र मिल चुके थे (शासन के प्रथम वर्ष में ही ऐसे पत्रों की संख्या ८६० थी) पर इस प्रकार वे अपने कर्तव्य से पीछे नहीं हट सकते थे । २२ नवम्बर, १९६३ को जब वे जलूस के रूप में डलास नगर की सड़क पर निकल रहे थे एक आततायी ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी ।

इस प्रकार एक और महामानव का बलिदान मानवीय-स्वाधीनता व समानता की वेदी पर हो गया । सौ वर्ष पूर्व प्रेसीडेन्ट लिंकन को भी हब्शियों का उद्धार करने के कारण गोली से मारा गया था । इनके हत्यारे तो अपने मन में न जाने अपनी योजना की सफलता पर कितना गुमान करते होंगे, पर दरअसल उन्होंने उन दोनों को अमर बना दिया । जबकि अन्य प्रेसीडेन्टों के नाम भी लोगों को मुश्किल से याद रहेंगे ये सैकड़ों, हजारों वर्षों तक पूजे जाते रहेंगे ।

आदर्श के लिये खतरों से टकराने वाले—

डा० हाल्डेन

मानव जाति के उत्थान एवं कल्याण के लिये अनेकों सेवा माध्यम हैं । उन्हीं में वैज्ञानिक अन्वेषण भी है । डा० हाल्डेन ने अपनी रुचि एवं प्रतिभा के अनुरूप यही मार्ग चुना और वे एक तपस्वी कर्मवीर की तरह इसी मार्ग पर आजीवन चलते रहे ।

सेवा का पथ कष्टसाध्य है उस पर चलने वाले को अपनी पात्रता एवं पवित्रता की अग्नि परीक्षा में होकर गुजरना पड़ता है । शूरवीर और साहसी ही अपने लक्ष्य के अन्तिम छोर तक पहुँच सकने में समर्थ होते हैं, इस बात को हाल्डेन भली प्रकार जानते थे । फिर भी उन्होंने आरामतलब जिन्दगी जीने की अपेक्षा, यही मार्ग चुना और वे पग-पग पर जीवन-संकट उपस्थित करने वाले खतरों का सामना करते हुए आदर्श की ओर बढ़ते चलने में ही प्रसन्नता अनुभव करते रहे ।

उन्होंने कई प्रकार के कार्यक्रम बदले, पर इस परिवर्तन में लक्ष्य अविचल ही बना रहा। मानव-कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग का आनन्द अनुभव करते रहना यही उनका लक्ष्य था, इसे वे जब तक जिये हर घड़ी प्राप्त भी करते रहे।

मानव की क्षमताओं और उस पर वैज्ञानिक रसायनों, द्रवों और गैसों का ठीक-ठीक प्रभाव और परिणामों की खोज करने के लिए ये घन्टों पानी में समाधिस्थ रहते, गैसों के वस्त्र पहनते और अनेक वस्तुओं को खा लेते थे।

विगत विश्वयुद्ध के दौरान उन्हें अपनी जलसेना की कठिनाइयों के कारणों की खोज करने के लिए लगभग पन्द्रह घण्टे एक स्पात निर्मित कमरे में बन्द रहना पड़ा। उनकी इस तपस्या में पनडुब्बियों की दुर्घटनाओं की दिशा में नौ-सेना को बड़ा लाभ हुआ। एक बार मानव-शरीर पर ठीक-ठीक उसका प्रभाव जानने के लिये वे प्रयोगार्थ एमोनियम क्लोराइड पी गये। उस अमर मानव ने जो तथ्य इस विषय में दिये वे आज तक सर्वमान्य एवं साहसिक माने जाते थे।

एक बार एक ऐसे खतरनाक जलीय अन्वेषण का काम उन्होंने अपने हाथों में लिया, जिसके प्रयोग में सौ प्रयोगकर्त्ताओं का एक पूरा-पूरा मिशन ही अपने प्राण उत्सर्ग कर चुका था। उस जलीय अन्वेषण के लिये उन्हें जल के भीतर एक लम्बी समाधि लेनी पड़ी। अपने इस प्रयोग में जहाँ उन्होंने बहुत सी-बातों की खोज करली वहीं इस खोज का भी बहुत महत्व है कि यदि सामान्य वातावरण से छह गुने दबाव में प्राण वायु में श्वास खींची जाये तो उसमें एक प्रकार का स्वाद अनुभव होगा। यह स्वादहीन कही जाने वाली प्राणवायु (ऑक्सीजन गैस) के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी अन्वेषण था। यद्यपि इस प्रयोग में उनकी रीढ़ की हड्डी टूट गई थी। तथापि क्या वे किसी प्रयोग से विरत हो गये? उनके जीवन का एक-एक क्षण और शरीर का प्रत्येक अंश मानव-जीवन की सेवा के ही लिये था।

उन्होंने अणु बम के पश्चात् उसके अवशेष तत्वों के प्रभाव की दिशा में 'गामा किरणों' से उदर में होने वाली उथल-पुथल की जो खोज की है वह महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ आधुनिकतम भी है। उनके अन्वेषण से यह पता लगाना सरल हो गया कि अणु-बम विस्फोटों से आगामी पीढ़ियों के कितने भ्रूण शिशुओं की मृत्यु होगी और किस-किस प्रकार के कितने घातक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। कहना न होगा कि उनका यह अन्वेषण मानव जाति की एक महानतम सेवा है और अणु योद्धाओं के लिए एक सामयिक चेतावनी।

अपने शरीर पर विभिन्न रसायनों और द्रवों का प्रयोग करते रहने से वे कैंसर से पीड़ित हो गये। परिचितों द्वारा उस पर चिन्ता व्यक्त किये जाने पर उन्होंने दार्शनिक व्यक्ति की तरह हँसकर उत्तर दिया कि जब मरना निश्चित ही है तब यदि मैं कैंसर की परवाह कर भी लूँ तो अन्य प्रकार से भी नहीं मर सकता हूँ? मैं तो अपने पर हर प्रयोग से उत्पन्न होने वाले विकारों को अपनी सेवाओं का पुरस्कार मानता हूँ और वैज्ञानिक क्षेत्र में उनका लाभ उठाता हूँ। मेरे शरीर में उत्पन्न प्रत्येक विकार मुझसे कुछ लेता नहीं बल्कि कुछ देता ही है।

उनके दार्शनिक व्यक्तित्व ने 'सफल-मानव' और 'समृद्ध-मानव' की जो सशक्त व्याखायें दी हैं वे उनकी वैज्ञानिक देन से किसी प्रकार भी कम नहीं हैं। वे मानव को केवल एक मानव ही नहीं महामानव के रूप में मानते थे। वे मानव प्रवृत्तियों और प्रकृतियों के इतने बड़े ज्ञाता और व्याख्या थे कि उनकी इस विषय की विवेचना पढ़कर दंग रह जाना पड़ता है।

वे मुसीबतों और संघर्षों को जीवन की उन्नति का मूल मन्त्र मानते थे, इसीलिये अपने सिद्धान्तों की रक्षा में समागत मुसीबतों और संघर्षों का सहर्ष स्वागत करते रहते थे। उन्होंने कभी भी किसी सुख-सुविधा के लिये अपने अन्वेषित सत्य का बलिदान करना स्वीकार न किया। यही कारण है कि जमाने ने उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन करने में कृपणता की है।

वैज्ञानिक और दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक देशभक्त योद्धा भी थे। वे कोई सामयिक पुकार सुनकर भी केवल एक क्षेत्र में ही बैठे रहने में विश्वास न करते थे। उनका विश्वास था कि समय की चुनौती सुनकर, किन्हीं अपनी प्रिय सीमाओं में बैठा रहना एक कायरता है। आगे बढ़कर उसका सामना करना सबसे बड़ी मानवता और मानव-सेवा है।

अपनी इस धारणा के आधार पर वे प्रथम विश्वयुद्ध में प्रयोगशाला से निकल कर रक्षा क्षेत्र में आ गये। प्रयोग यन्त्र के स्थान पर हाथ में बन्दूक लेकर वैज्ञानिक से सिपाही बन गये। युद्ध के सम्बन्ध में वे एक बार फ्रांस और दूसरी बार ईराक में घायल हुये। एक मोर्चे से दूसरे पर आते-जाते हुये उन्होंने अनेक देश देखे, जहाँ वे न केवल युद्ध ही करते थे, अपितु वहाँ के मानवों तथा भौगोलिक स्थितियों के अध्ययन से अपने आपको भी लाभान्वित करते थे, जो आगे चलकर उनकी रचनाओं में बहुत काम आया। कदाचित् वे ही एक ऐसे दार्शनिक वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपने ज्ञान के अतिरिक्त देश की सशस्त्र सेवा भी की।

युद्धान्तरण के सिलसिले में वे लगभग सवा साल तक भारत में भी रहे। भारत उन्हें अन्य देशों की अपेक्षा अधिक पसन्द आया और उन्होंने अपने जीवन का चौथा चरण वहीं रहकर बिताने का निश्चय किया।

युद्ध समाप्त होने पर वे देश वापस चले गये और ऑक्सफोर्ड में न्यू कालिज के शरीर विभाग में शिक्षक का काम करने लगे । कोई उपाधि या डिग्री न होने पर भी उन्हें प्राध्यापक का पद दिया गया । जिसको उन्होंने बड़ी दक्षता से सँभाला ।

शिक्षण काल में भी उन्होंने अपने शरीर पर अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किये, जिसके कारण वे वैज्ञानिकों के बीच काफी लोकप्रिय हो गये । अनेक वैज्ञानिक उनसे अपने-अपने अन्वेषण क्षेत्र में सहायता, सहयोग एवं परामर्श लेने लगे । नोबुल पुरस्कार-प्राप्त प्रोफेसर हॉकिन्स ने उनकी सहायता से 'साइटोक्रीम में आक्सीडेज' पदार्थ की खोज की और अपनी पुस्तक 'उत्क्रान्ति के कारण' में वंश परम्परा पर अनेक लेख लिखे ।

हिटलर द्वारा निष्कासित यहूदी वैज्ञानिक डा० थोटी चेरन, डॉ० हाल्डेन के घर रहकर उनके परामर्श प्रसाद से तेनिसिलीन नामक एक अत्युपयोगी औषधि का आविष्कार कर सके । इसी प्रकार न जाने कितने वैज्ञानिकों ने उनके ज्ञान का लाभ उठाया ।

डॉ० हाल्डेन स्वाभिमान को जीवन में बहुत महत्व देते थे । उसके लिए वे बड़े से बड़ा त्याग और ऊँचे से ऊँचे अधिकारी की उपेक्षा कर देते थे । इसलिए जीवन भर उन्हें कठिनाइयों और आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। किन्तु इससे वे अपने ध्येय मार्ग से विचलित न हुए । डॉक्टर हाल्डेन एक [illegible] मानव होने के अतिरिक्त और कुछ न थे । निरर्थक एवं रूढ़िगत सामाजिक अथवा धार्मिक कोई भी बन्धन वे मानने को तैयार न थे । मानव अधिकारों के प्रति अन्याय देख सकना उनकी शक्ति के बाहर था । यही कारण था कि स्वेज नहर के मामले में वे अपने देश की नीति से अप्रसन्न होकर इंग्लैण्ड छोड़कर भारत के नागरिक बन गये और फिर आजीवन भारत में ही रहे ।

वैज्ञानिक होने के साथ-साथ डा० हाल्डेन विद्या-व्यसनी भी थे । अपने प्रयोगों से समय निकाल कर वे विभिन्न विषयों एवं भाषाओं का अध्ययन किया करते थे । उन्होंने ग्रीक लैटिन भाषाओं में अधिकार प्राप्त किया रसायन, पदार्थ, जीव एवं प्राणी-विज्ञान का उन्हें असीमित ज्ञान था । आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय से उन्होंने गणित में 'मैथमेटिकल माडरेशन' विषयक परीक्षा उच्चश्रेणी में उत्तीर्ण की। इतिहास, भूगोल एवं वनस्पति उनके प्रिय विषयों में से थे । उन्होंने लैटिन और ग्रीक भाषाओं के पुरातन जीव-विज्ञान से आधुनिक जीव-विज्ञान को बहुत लाभ पहुँचाया ।

डॉ० हाल्डेन न केवल भारतवासी ही बने, बल्कि उन्होंने भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं आचार-विचार भी अपना लिये। वे भारतीय ढंग के कुरता, टोपी और धोती पहनते और अधिक से अधिक भारतीय ढंग का ही भोजन करते थे । वे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के जहाँ श्रद्धालु उपासक थे वहाँ सूक्ष्मदर्शी आलोचक भी थे ।

वह महामानव आज संसार में नहीं है पर उनका त्याग, तप, साहस और उदार दृष्टिकोण उज्ज्वल नक्षत्र की तरह जनसाधारण को परमार्थ पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए अभी विद्यमान है ।

जो फाँसी के तख्ते तक हँसता रहा–

टामसमोर

"अपराध किया है मैंने और सजा भी पाई मैंने पर बेकसूर दाढ़ी यों ही मारी जा रही है । ऐ भाई जल्लाद! थोड़ा ठहरो, फाँसी को अभी तो २० मिनट बाकी हैं तब तक इस दाढ़ी को तो अलग कर देने दो ।" इतना कहते-कहते-कहते उसे हँसी आ गई। जल्लाद भी अपनी मुस्कान न रोक सका पर साथ ही उसे कौतूहल भी कम न था इस व्यक्ति के अजीब व्यवहार पर, जिसके आगे मौत खड़ी थी । निश्छल कर्मयोगी की तरह उसे तब भी जीवन के आनन्द और हास्य से अनुराग बना रहा जब जिन्दगी और मौत के बीच कुल बीस मिनट का अन्तर था।

हँसते हुए जिया और फाँसी का फन्दा गले में डालने तक दिल्लगी करता रहा, वह था अँग्रेजी का प्रसिद्ध विद्वान टामसमोर । मनुष्य जीवन का सत्य- हास्य है- आन्तरिक प्रफुल्लता है- फूलों के सौरभ जैसी मुस्कान है, इस तथ्य को सही अर्थों में समझने वालों में टामसमोर थे ।

इसमें सन्देह नहीं कि आनन्द जीवन का अन्तिम ध्येय है पर क्या वह धन से उपलब्ध हो सकता है, नहीं । कंचन और कामिनी में क्षणिक सुख है और विषाद अधिक, इनमें आज तक किसी को सुख नहीं मिला। लौकिक उपलब्धियाँ आनन्द की प्राप्ति में सहयोगी भले ही हों पर उनका उद्गम मनुष्य के अन्तःकरण में ही है । विनोद उसका स्वरूप है और हास्य उसकी आत्मा । जो इसे पा गया सचमुच उसने जिन्दगी का आनन्द पा लिया ।

सर टामसमोर का सम्बन्ध सदैव ही मनुष्य जीवन की गहराइयों से रहा । वह एक सम्पन्न व्यक्ति थे । साधन और सम्पत्ति का उन्हें अभाव न था पर अपने आदर्शों को वे इन सबसे उच्च मानते थे । सांसारिक संघर्षों से एक वीर योद्धा की भाँति जूझते रहे फिर भी उनकी सरलता और प्रफुल्लता का निर्झर प्रवाह कभी अगतिशील न हुआ । उनका हास्य क्षणिक न था, वरन् उसमें एक अभिनव पुरातन छिपा हुआ था, उनकी हँसी व्यंग या विद्रूप न थी वरन् वह आत्मा समीपवर्ती वातावरण को हास्य-विभोर रखते थे। प्रतिपक्षी भी उनका साहचर्य पाने के लिये सदैव उत्सुक बने रहते थे।

टामसमोर का जन्म लन्दन में सन् १४५० के लगभग हुआ था। हेनरी अष्टम ने इनकी विद्वता से प्रभावित होकर लार्ड चांसलर नियुक्त किया । इसके पूर्व जब मोर पार्लियामेन्ट के मैम्बर थे तो सप्तम हेनरी के साथ इनका

विवाद हो गया पर वे अपने आदर्श से एक पल भी विचलित न हुये । इसी बीच सम्राट ने, जिन्होंने टामसमोर को लार्ड चांसलर का गौरवपूर्ण पद-प्रदान किया था, अपनी धर्मपत्नी कैथराइन को तलाक दे दिया । अब तक लोग यह समझते थे कि मोर मस्त प्रकृति का व्यक्ति है, विद्वान भी है पर अब लोगों ने यह भी देखा कि उनके अन्तःकरण में मानवता के प्रति उत्कट उत्सर्ग का भाव भी भरा हुआ है । सदैव हँसता रहने वाला व्यक्ति जीवन की गहराइयों से मोर्चा लेने का साहस भी रखता है । उसने अपने पद से स्तीफा दे दिया और हेनरी के खिलाफ बगावत कर दी ।

एक दिन इनकी पत्नी और बच्चे पास आये और समझाने लगे कि आप अपने विचार बदल दीजिए, बादशाह का विरोध करने से हम नष्ट हो जायेंगे । बच्चों की सुरक्षा की आशंका ने एक बार मोर के हृदय को द्रवित किया पर दूसरे ही क्षण फिर वही सरल मुस्कान प्रस्फुटित हुई । मोर बोले- ''बच्चो मुझे फाँसी की सजा हो जायगी तो दूसरे लोग यह तो जान लेंगे कि संसार में इन्सानियत की कीमत बड़ी है । शैतानियत से घृणा हो जायेगी । मेरे जीवन का यही उद्देश्य है कि संसार के प्रत्येक व्यक्ति को मानवीय अधिकार मिलें, किसी आत्मा को कुचला न जाये । मैं हँसता हूँ कि सारे विश्व में हँसी और आनन्द फूट पड़े । यदि तुम्हें मुझसे प्यार है तो जाओ और यह निश्चय कर लो कि मेरी मौत के बाद मानवता की रक्षा के लिए तुम भी वही रास्ता पकड़ लोगे जिस पर मैं चल रहा हूँ ।''

संसार में चाहे वह ईसाई धर्म रहा हो, बौद्ध या हिन्दू, जितने भी महापुरुष, सन्त और सुधारक हुए हैं इन सबको प्रतिक्रियावादी तत्वों का कड़ा मुकाबला करना पड़ा है और इसमें उनकी जानें भी चली गई हैं पर इससे जो प्रभाव उत्पन्न होता रहा है उसी से सनातन सत्य की रक्षा और विजय होती रही है । जिस युग में इस तरह की हलचल नहीं रही उसी में बुराइयाँ बढ़ी हैं । इसलिए सनातन आदर्शों के लिए क्रान्ति का नियम भी सनातन ही है । टाम्समोर ने उसी पथ का अनुसरण किया और परिणाम भी वैसे ही निकले । टामसमोर लंदन की मीनार में कैद कर दिये गये । महापादरी फिशर जैसे महान व्यक्ति भी मोर के साथ इस धर्मयुद्ध में बन्दी बनाये गए और उन सबको मौत की सजा दे दी गई ।

जीवन भर कठिनाइयों से दिल्लगी करते रहने वाले व्यक्ति के लिए यह कसौटी का समय था । कहीं वह आदर्श छिन्न हो गया होता तो न उसे अन्त में देवत्व प्रदान किया जाता और न लोगों को मानवता के प्रति आत्मोत्सर्ग की भावना में विश्वास रह जाता। मोर एक वीर की तरह जीवन संग्राम में उतरा था । कायरों की तरह रुकता, डरता, झिझकता और सिसकता हुआ नहीं, उसने अपनी इस उन्मुक्तता को अन्त तक बहाल रखा ।

जल्लाद ने उठी हुई कुल्हाड़ी रोक दी मोर ने बड़े मजे से दाढ़ी बनाई मानो उसे किसी बारात में जाना हो । दर्शक इस अनोखे मानसिक सन्तुलन पर मुग्ध थे, उन्हें मोर के प्रति प्यार और पुलक उठती थी। विवश तो वे सिर्फ इसलिए थे कि राजाज्ञा के उल्लंघन की उनमें शक्ति न थी। पर टामसमोर उसके चेहरे में तब तक वही मुस्कान, वही विनोद स्थिर था जो सम्पूर्ण जीवन उसका सहयोगी रहा । उसने आफीसर को बुलाकर कहा- ''ऐ भाई थोड़ा हाथ लगा दे तो मैं तख्ते पर चढ़ जाऊँ मेरा शरीर तो फिर अपने आप नीचे आ जायेगा, पर हाँ थोड़ा सँभलकर जोर लगाना, मोर का मोटा शरीर कहीं आप पर ही न गिर पड़े ।'''हँस पड़ा, जल्लाद भी हँसा और उसकी जब कुल्हाड़ी छूटी तब टामसमोर भी हँसी के ही बीच था । टामसमोर की मृत्यु हो गई पर वे दुनिया को बता गये कि मनुष्य को कठिनाइयों, आपदाओं और मृत्यु जैसी विभीषिकाओं में भी हँसते रहना चाहिए ।

अमेरिका के महान् नीग्रो-
फ्रैडरिक डगलस

कष्टों, यातनाओं और आपत्तियों को सह सकने और अपने पथ से विचलित न होने का साहस दिखला सकने वाले वीर के लिए संसार का कोई कार्य असम्भव नहीं होता, यदि उसके हृदय में अदम्य इच्छा-शक्ति हो । अमेरिका के फ्रैडरिक डगलस नीग्रो दासों को मुक्त कराना और अमेरिका के एक स्वतन्त्र नागरिक की भाँति उन्नति करना चाहता था ।

श्री डगलस की स्थिति और उद्देश्य में दो विपरीत छोरों का अन्तर था तथापि उन्होंने दोनों छोरों को मिलाकर अपने में उपरोक्त गुणों को प्रमाणित कर दिया । वे अमेरिका के शक्तिशाली राजनीतिक दल के नेता बने । उन्होंने संयुक्त राष्ट्र-मार्शल का पद पाया । वे कोलम्बिया के वीर इतिहास के प्रमाणिक संकलन कर्ता बनाये गये और हेटी रिपब्लिक में संयुक्त-राज्य अमेरिका के राजदूत नियुक्त किये गए । इसके अतिरिक्त वे आजीवन नीग्रो जाति के नेता तो बने ही रहे ।

उस पद से उन्होंने दास प्रथा के उन्मूलन, दासों के नागरिक और स्त्री मताधिकार के लिए जो सेवायें कीं उनका फल दासों ने मुक्ति और स्त्रियों ने समानाधिकार के रूप में भोगा । इतना सब कुछ हो सकना और कर सकना उस समय के अश्वेत दास के लिए असम्भव के समान ही था पर श्री फ्रैडरिक डगलस ने उसे सम्भव कर दिखलाया। इसके लिए उन्हें कितने कष्ट, कितनी यातनायें और कितनी आपत्तियाँ सहन करनी पड़ीं इसकी एक रोमांचकारी गाथा है ।

फ्रैडरिक डगलस का जन्म सन् १८१७ के आस-पास मेरीलैण्ड में हुआ था । यह जन्म-जात दास थे । इनको

माता-पिता की छत्रछाया न मिल सकी थी । इनका पालन इनकी वृद्धा दादी ने किया । किन्तु उससे भी छीनकर ये बचपन में ही एक श्वेत किसान स्त्री के हाथ बेच दिये । वह किसान स्त्री क्या थी, पूरी डायन थी । वह दास बालकों को ही अपने खेतों पर काम के लिए लगाती थी और प्रतिदिन नियम से अकारण में कारण निकालकर कोड़ों से मारती थी । उसको इस अत्याचार में बड़ा आनन्द आता था । उसकी इस क्रूरवृत्ति के शिकार बने बालकों में एक श्री फ्रैडरिक डगलस भी थे । उस समय इनका नाम बेली था । ये स्वभाव से कुछ चटक और देखने में सुन्दर थे, इसलिए वह स्त्री इन पर ही सबसे अधिक क्रुद्ध रहती थी । पैशाचिक वृत्ति और सौभाग्य में स्वाभाविक बैर होता है ।

बालक बेली को न केवल कोड़े ही लगते थे, बल्कि भूखा रहकर गन्दी जगहों पर सोना भी पड़ता था । सूर्योदय से पूर्व काम पर लग कर जब बेली सायंकाल छूटता था तो भूख भयानक रूप से उसे खाती होती थी । किन्तु घर आकर मालकिन की तरफ से उसे ताड़ना के सिवाय और कुछ न मिलता था । अपनी प्राण रक्षा के लिये वह उस जूठन से भूख मिटाया करता था, जो उसको मालकिन अथवा उसके पड़ौसी बाहर फेंक दिया करते थे। इस क्रम में उसे बहुत बार जूठन के लिए भूखे कुत्तों से युद्ध करना पड़ता था । कभी-कभी जूठन के समय पर नहीं पहुँच पाता तो कुत्ते हाथ मार ले जाते थे तो वह फटे-पुराने चीथड़े लपेटे यहाँ-वहाँ भोजन की तलाश में मारा-मारा फिरता था । इस स्थिति से निकल कर उस स्थिति में पहुँचने वाले बेली उर्फ फ्रैडरिक डगलस निश्चय ही आदर और नमन के पात्र हैं । वह उन्नति की बलवती इच्छा और आशा एवं विश्वास के साथ सहनशील साहस का ही सम्बल था, जिसके बल पर डगलस ने उस गौरव को प्राप्त कर लिया और अपनी आत्मा को उससे सामंजस्य नहीं करने दिया । पुरुषार्थ के ऐसे ही धनी इतिहास के पन्नों पर स्वर्ण अक्षरों में जगमगाया करते हैं ।

वह क्रूर कृषक महिला बेली की वास्तविक मालकिन नहीं थी । बेली उसके पास किराये पर चलता और काम किया करता था । मालिक तो एक और व्यक्ति था । उसने उस के पास से बेली को हटाकर अपने एक सम्बन्धी के यहाँ सेवा करने को भेज दिया । नये घर की स्वामिनी जरा अच्छे स्वभाव की थी बेली ने उसे अपनी सेवा से बहुत प्रसन्न कर लिया । फलस्वरूप उसने बेली को अँग्रेजी अक्षरों का ज्ञान करा दिया । किन्तु स्वामी संकीर्ण था । उसने बेली से वह सुविधा छीन ली । तब भी बेली अपनी एकान्त कोठरी में तख्तों, टीनों और जमीन पर लिखने और बाइबिल से पढ़ने का अभ्यास करता रहा और थोड़े दिनों में पढ़ने भी लगा ।

बेली को पढ़ने की इतनी रुचि लगी कि उसने अतिरिक्त समय में लोगों के जूतों पर पालिश करके कुछ पैसे कमाये और उनसे 'कोलम्बियन ओरेटर' नाम की एक पुस्तक खरीद लाया । यही एक पुस्तक उसकी अध्ययन सामग्री थी । उसमें स्वतन्त्रता पर बड़े लोगों के भाषण थे । बेली पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा और उसने दासता से मुक्त होने का संकल्प कर लिया ।

बेली जब दुबारा एक छोटे से नगर में सेवा करने भेजा गया तो उसने वहाँ की एक नीग्रो-बाल-पाठशाला में अवैतनिक अध्यापन का कार्य अपने ऊपर ले लिया और नीग्रो बालकों के मनोविकास में संलग्न हो गया । किन्तु वहाँ के संकीर्ण श्वेत नागरिकों ने उस स्कूल को ध्वंस कर दिया । बेली को न केवल पढ़ने-पढ़ाने के लिए मना ही किया अपितु मारा भी । बेली के उप-स्वामी को पता लगा तो उसने उसे खतरनाक नीग्रो समझ कर कोवे नामक एक ऐसे व्यक्ति के पास काम करने को भेज दिया, जो खतरनाक नीग्रो दासों को शारीरिक यंत्रणायें देकर सीधे रास्ते पर लाने के लिए विख्यात था ।

कोवे बेली को ऐसे नये-नये काम देता जो उसके वश में न होते और फिर गलती होने अथवा न कर सकने पर उसे कोड़े से बेतहाशा मारा करता था, जिससे नये अथवा बिगड़ैल बैल ठीक किए जाते थे । इस यातना का वर्णन करते हुए बेली बनाम फ्रैडरिक डगलस ने एक स्थान पर लिखा है-"छह महीनों तक निरन्तर डंडों, कोड़ों और हंटरों की मार मुझ पर इतनी पड़ती रही कि मेरी दु:खती हुई हड्डियाँ, घायल पीठ और सूजे हुए हाथ पैर मेरे कभी न बिछुड़ने वाले मित्र बन गये ।"

काम करते-करते बेहोश हो जाने पर भी जब उससे उठा कर काम करने को कहा जाने लगा और न कर सकने पर हाथ-पैर और सिर, पीठ तोड़ी-फोड़ी जाने लगी, तब तो फ्रैडरिक का मृत मनुष्य जाग उठा और एक दिन उसने विद्रोह करके कोवे को उठाकर पटक ही दिया । जिसका फल यह हुआ कि कोवे का अत्याचार बन्द हो गया ।

एक वर्ष की अवधि पूरी होने पर फ्रैडरिक के स्वामी ने उसे कोवे के पास से हटाकर एक और के पास किराये पर भेजा । लेकिन इस बार वहाँ न जाकर वह न्यूयार्क भाग गया । वहाँ वह भूखा-प्यासा लुक-छिप कर काम खोजता रहा पर काम न मिला । अन्त में वह मेसाचुसेट्स चला आया और नान्टुकेट में स्थापित एक दासता-विरोधी समाज में सम्मिलित हो गया । बस यहीं से फ्रैडरिक डगलस के जीवन का दूसरा अध्याय शुरु हो गया ।

फ्रैडरिक डगलस अपने विगत तथा वर्तमान जीवन में सारी बाधायें, यातनायें तथा कष्टों को सहते हुए भी अध्ययन क्रम को जारी रखते रहे, जिससे उनकी योग्यता दिन पर दिन बढ़ती गई और वे एक अच्छे भाषणकर्ता एवं लेखक बन गये । अपनी इस योग्यता का उपयोग उन्होंने निरन्तर नीग्रो समाज की सेवा में ही किया, जिससे वे उनके नेता बन गये । डगलस की स्वतन्त्रता सम्बन्धी सभाओं का न केवल विरोध ही किया जाता था बल्कि ईंटों और पत्थरों

से आक्रमण भी किया जाता था । किन्तु दृढ़व्रती डगलस यह सब सहते हुए भी अपना काम करते रहे ।

अन्त में जब अब्राहम लिंकन के समय में उत्तर दक्षिण के प्रश्न पर अमेरिका में गृह-युद्ध छिड़ गया तो फ्रैडरिक डगलस ने न्याय का पक्ष लेकर अब्राहम लिंकन की सराहनीय सहायता की । उन्होंने स्वयं तो भाग लेकर युद्ध में वीरता दिखलाई ही, हजारों नीग्रो लोगों को सेना में भर्ती कराया और एक स्वातन्त्र्य सेना भी गठित की । बाद में जब अमरीका एक संयुक्त-राज्य बन गया तब श्री फ्रैडरिक डगलस की सेवाओं का मूल्यांकन किया गया और वे अमेरिका के विभिन्न उच्च पदों पर रहने के साथ राजनेता भी बने । उनकी मृत्यु लगभग १८९५ में हुई ।

जो सिकन्दर के आगे झुका नहीं–

देशभक्त पुरु

भारतीय इतिहास में महाराज पुरु का बहुत सम्मान पूर्ण स्थान है । महाराज पुरु के सम्मान का कारण उसकी कोई दिग्विजय नहीं है । इतिहास में केवल एक यही ऐसा वीर पुरुष है, जिसने पराजित होने पर भी विजयी को पीछे हटने पर विवश कर दिया ।

ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में यूनान के सम्राट सिकन्दर ने सिंहासनारूढ़ होते ही विश्व-विजय करने का विचार बनाया । यद्यपि सिकन्दर के पास अपना देश था और उसके लिये आवश्यक न था कि वह किसी दूसरे देश पर आक्रमण करके उसे जीते, तथापि उसने अहंकार और लोभ के वशीभूत होकर विश्व-विजय की ठान ही ली ।

यह दोष सिकन्दर का नहीं, बल्कि राजमद का था, जो सम्पूर्ण पृथ्वी को अधिकार में करने पर भी संतुष्ट नहीं होता और अकारण ही शांति-प्रिय लोगों को सताना शुरू कर देता है । असन्तोष की परिणति अनीतिपूर्ण अत्याचार में होना स्वाभाविक है और अत्याचार का अर्थ है विनाश। विश्व-विजयी सिकन्दर इसी क्रम में पड़कर एक दिन नष्ट हुआ और निराश होकर इस संसार से विदा हुआ ।

सिकन्दर ने अपने अभिमानपूर्ण अभियान के लिए यूनान से प्रस्थान किया । नया उत्साह, नये साधन, महा-विजेता एक विशाल वाहिनी लेकर चला, तो देश के देश उसे आत्मसमर्पण करने लगे । बिना लड़े अथवा थोड़ा लड़कर उसने यूनान से भारतीय सीमान्त तक के सारे देश आन की आन में जीत लिये ।

न जाने पराजित देशों के निवासी किस मिट्टी के बने थे कि दुश्मन से दो हाथ किये बिना ही अधीन बन गये । कर्तव्य तो उनका यह था कि जब उनके देश का एक-एक बच्चा कट मर जाता, तब कहीं सिकन्दर की सेना उस श्मशान से आगे बढ़ पाती, किन्तु क्या कहा जाय, उन विजितों की मानसिक दुर्बलताओं को, जो वे भविष्य पर विचार किये बिना विलास और आलस्य की मृत्युदायिनी गोद में पड़े पलते रहे ।

बिना किसी प्रयास के अनायास ही देश पर देश जीत लेने से सिकन्दर के अहंकार का घट लबालब भर गया और उसे अपने विश्वविजेता होने का भ्रामक स्वप्न उज्ज्वल से उज्ज्वलतर दिखाई देने लगा । वह आँधी की तरह बढ़ता आया और भारतीय सरहद पर अपना पड़ाव डाल दिया ।

अपने विजय अभियान के लिये यह महान यूनानी जितना लश्कर लेकर चला था, अब इस समय उसके पास उससे कहीं अधिक सेना हो गई थी । कारण स्पष्ट है कि जिन-जिन देशों को वह पराजित करता आया अथवा जिन-जिन देशों ने उसे आत्मसमर्पण किया, उनकी सेनाओं तथा साधनों को भी सिकन्दर ने अपने लश्कर में शामिल कर लिया था । इस समय उसे अपनी शक्ति के अभिमान का भरपूर नशा था ।

भारतीय सीमांत के समीप आते-आते सिकन्दर को सिन्ध और झेलम के पानी से पैनी की गई तलवारों के जौहर का ज्ञान आने-जाने वालों से मिला था । किन्तु सिकन्दर ने इन सत्य समाचारों को लोकचर्चा से अधिक महत्व नहीं दिया । सिकन्दर बढ़ता रहा और भारतीय वीरता के समाचार भी । किन्तु जब उस देश-जयी को भारत की वीर गाथायें दोस्त और दुश्मन दोनों के मुँह से एक जैसी ही सुनने को मिलीं, तब उसके विजय-विश्वास में दरार पड़े बिना न रह सकीं और उसे आक्रमण करने से पूर्व विचार करने पर मजबूर होना पड़ा ।

सिकन्दर ने भारत की आंतरिक दशा का पता लगाने के लिए भेदिये भेजे, जिन्होंने आकर समाचार दिया कि इस में कोई संदेह नहीं कि वीरता भारतीयों की बपौती है, किन्तु उनकी सारी विशेषताओं को एक नागिन घेरे हुए है, जिसे 'फूट' कहते हैं । इसी फूट रूपी नागिन के विष से भारतीयों की बुद्धि मूर्छित हो चुकी है, जिससे उनकी अनुशासनहीन शूरता और दम्भपूर्ण स्वाभिमान अभिशाप बन चुका है । यदि सिकन्दर भारत में प्रवेश चाहता है, तो उसे तलवार की अपेक्षा भारतीयों में फैली फूट की विष बेल से लाभ उठाना होगा ।

साहस के पीछे हटते ही सिकन्दर की भेद-नीति आगे बढ़ी । उसने और भी गहराई से पता लगाया कि इस समय भारत किसी एक छत्र-सत्ता से अनुशासित नहीं है । अकेले पश्चिमोत्तर सीमान्त, सिन्ध और पंजाब में ही सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य हैं, जो सदियों से आपस में लड़ते-लड़ते जर्जर हो चुके हैं । इन प्रदेशों के सारे राजे एक दूसरे के प्राणांत शत्रु बने हुए हैं और एक दूसरे को हर मूल्य पर नीचा दिखाने के लिए कोई भी उपाय एवं अवसर का उपयोग करने को उद्यत बैठे हैं । भारत के सिंहद्वार प्रहरी राजाओं के बीच शत्रुतापूर्ण अनैक्य के इन समाचारों ने सिकन्दर के साहस को फिर बढ़ावा दिया और उसने अपना काम शुरू कर दिया ।

राजनीति के चतुर खिलाड़ी सिकन्दर ने शीघ्र ही उस तक्षक का पता लगा लिया, जो प्रोत्साहन पाकर भारत की स्वतन्त्रता पर फन मार सकता है और वह था-तक्षशिलाधीश दम्भी आम्भीक, जो अपने अकारण उपद्रव के कारण पुरुषपुर नरेश 'महाराज पौरुष' से बारम्बार हार कर विद्वेषविष से अन्धा बन चुका था।

आम्भीक पुरु से लड़ने फिर सेना तैयार करने में जुटा हुआ था, जिसके लिए वह त्राहि-त्राहि करती हुई प्रजा से बुरी तरह धन शोषण कर रहा था। सिकन्दर ने अवसर से लाभ उठाया और लगभग पचास लाख रुपये की भेंट के साथ सन्देश भेजा, यदि महाराज आम्भीक सिकन्दर की मित्रता स्वीकार करें तो वह उन्हें पुरु को जीतने में ही मदद नहीं देगा, बल्कि पूरे भारत में उसकी दुन्दुभी बजवा देगा। सिकन्दर द्वारा भेजी हुई भेंट के साथ सम्मानपूर्ण सन्देश पाकर द्वेषान्ध आम्भीक के होश हर्ष से बेहोश हो गये और वह देश के साथ विश्वासघात करके सिकन्दर का स्वागत करने को तैयार हो गया। भारत के गौरवपूर्ण चन्द्र-बिम्ब में एक कलंक बिन्दु लग गया।

आम्भीक का निमंत्रण पाकर सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। किन्तु भारत का भाग्य केवल आम्भीक पर ही तो निर्भर न था। जहाँ आम्भीक जैसे देशद्रोही थे, वहाँ अनेक देशभक्त राजा भी थे। उन्होंने सिकन्दर का प्रतिरोध किया किन्तु अलग-अलग अकेले जिसके फलस्वरूप मिटते चले गये। जहाँ इन राजाओं में देश-भक्ति की भावनाएँ थीं, वहाँ एकता की बुद्धि का अभाव था। सिकन्दर के विरोधी होने पर भी वे अपने आपसी विरोध को न भुला सके। किसी एक राष्ट्र के कर्णधारों में परस्पर प्रेम रहने से ही कल्याण की सम्भावनायें सुरक्षित रहा करती हैं, फिर भी यदि उनमें किसी कारण से मनोमालिन्य रहेगा, तब भी किसी संक्रामक समय में उन्हें आपसी भेदभाव मिटाकर एक संगठित शक्ति से ही संकट का सामना करना श्रेयस्कर होता है अन्यथा आया हुआ संकट अलग-अलग सबको नष्ट कर देता है। यही बात सिकन्दर के साथ लड़ाई में राजाओं के मध्य हुई।

इधर सिकन्दर विजयी हो रहा था और उधर दुष्ट आम्भीक की दुरभिसन्धि से अनेक अन्य राजा देशद्रोही बनते जा रहे थे। काबुल का कोफायस, पुष्कलावती का संजय, शशिगुप्त तथा अश्वजित आदि अनेक अभागे राजा सिकन्दर की सहायता करते हुए उसकी विजयों में अपना भाग देखने लगे थे। जिसके फलस्वरूप पुरु को छोड़कर लगभग सारे राजा या तो हारकर मिट चुके थे अथवा देहद्रोह करके सिकन्दर के झण्डे के नीचे आ चुके थे।

अब भारत के प्रवेश द्वार पर, एकमात्र प्रहरी के रूप में केवल महाराज पुरु रह गये थे। अब प्रश्न यह उठता है कि महाराज पुरु बुद्धिमान देशभक्त होने पर भी अन्त तक वे सिकन्दरी युद्ध में तटस्थ रहकर लड़ाई क्यों देखते रहे। क्यों नहीं उन्होंने स्वयं ही नेतृत्व करके सारे राजाओं को संगठित करके सिकन्दर का प्रतिरोध किया? महाराज पुरु ने प्रयत्न किया, किन्तु हीन राजमद के रोगी राजा पुरु की योजना में शामिल न हुए। कुछ तो स्वार्थ के वशीभूत होकर सिकन्दर से मिल गये और कुछ ने पोरस का नेतृत्व स्वीकार करने की अपेक्षा सिकन्दर से पृथक ही लड़कर मर जाना अच्छा समझा, ताकि श्रेय पुरु को न मिलकर उन्हें ही मिले। मनुष्य की यह संकीर्ण स्वार्थपरता सामूहिक जीवन के लिए सदा ही विघातक रही है।

सिकन्दर कपिशा से तक्षशिला तक के बीच की अनेक स्वतन्त्र शक्तियों की कँटीली झाड़ियों से लोहु-लुहान होता हुआ तक्षशिला आ पहुँचा, जहाँ आम्भीक ने उसका बड़ा विशाल स्वागत किया। अभी तक सिकन्दर कपिशा के आस-पास ही रहा। अभिसार देश का राजा महाराज पुरु का मित्र बना रहा। पर ज्यों ही सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा, अभिसार नरेश को भीरुता का दौरा पड़ गया। कहना न होगा, जब कोई पापी किसी मर्यादा की रेखा उल्लंघन कर उदाहरण बन जाता है, तब अनेकों को उसका उल्लंघन करने में अधिक संकोच नहीं रहता। तक्षशिला के राजा आम्भीक की देखा देखी अभिसार नरेश भी सिकन्दर से जा मिला जिससे पोरस को बिल्कुल अकेला रह जाना पड़ा।

अभिसार नरेश से पोरस के साहस-वीरता तथा गौरवपूर्ण देशभक्ति के विषय में जानकर सिकन्दर ने पुरु को इस आशय का सन्देश भेजा कि यदि वह सिकन्दर को बिना विरोध के आगे बढ़ जाने दे तो वह उसे अपना मित्र मानकर सुरक्षित छोड़ देगा।

सिकन्दर का यह मैत्री सन्देश स्वाभिमानी पुरु के लिए युद्ध की खुली चुनौती थी। उसने सिकन्दर को पंजाब में झेलम के किनारे ललकारा। घमासान युद्ध की सम्भावना से दोनों की सेनायें नदी के आर-पार डट गईं। झेलम के पूर्वी किनारे पर महाराज पुरु की थोड़ी-सी सेना और उसके पश्चिमी तट पर देशद्रोही राजाओं की कुमुक के साथ सिकन्दर का टिड्डी दल।

बरसात के दिन थे, झेलम बाढ़ पर थी, सिकन्दर का साहस नदी पार करने का न पड़ा। लगभग एक सप्ताह बाद एक दिन जबकि रात में घनघोर वर्षा हो रही थी और पुरु की सेना बराबर पड़ी हुई थी झेलम से लगभग अठारह मील उत्तर में बढ़कर सिकन्दर की सेना ने नदी पार करके पुरु की सेना पर आक्रमण कर दिया। सिकन्दर के टिड्डी दल ने यद्यपि पुरु की थोड़ी-सी सेना पर धोखे से आक्रमण किया था, तथापि पुरु के वीर सैनिकों की तलवारों ने उस अँधेरी में बिजली की तरह कौंध कर उसे पीछे हटा दिया।

इस आकस्मिक युद्ध में चार सौ सैनिकों के साथ पुरु का पुत्र मारा गया, किन्तु खेत पुरु के हाथ ही रहा। सिकन्दर ने पीछे हटकर फिर सेना बढ़ाई और इधर पुरु ने बेटे का शोक किये बिना ही व्यूह रचना कर दी। हाथियों

को आगे रखकर की गई व्यूह रचना के कारण महाराज पुरु की सीमित सेना भी सिकन्दर की सेना को अजेय एवं दुर्धर्ष दिखाई देने लगी। सिकन्दर के बार-बार प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देने से वह बढ़ी और टक्कर होते ही भाग खड़ी हुई । वह क्षण निकट ही था कि महाराज पुरु की विजय हो कि तब तक एक भारी विस्फोट होने से पुरु की सेना के हाथी भड़क गये और वे अपने सैनिकों को ही कुचलते हुए पीछे की ओर भाग खड़े हुये । पुरु का अजेय व्यूह अपने ही साधनों से नष्ट हो गया । सारी सेना तितर-बितर हो गई । अब क्या था ? सिकन्दर ने अवसर से लाभ उठाया और संपूर्ण शक्ति के साथ पुरु की अस्त-व्यस्त सेना पर धावा बोल दिया। शत्रु की ओर से असावधान, अपनी सेना को सँभाल करते हुये पुरु शत्रुओं के तीरों से घायल होकर गिर पड़े ।

अचेतनावस्था में गिरफ्तारी के बाद जब महाराज पुरु को होश आया, तब वे सिकन्दर के सामने थे । सिकन्दर ने हँसते हुए बड़े गर्व के साथ कहा- "पोरस ! बतलाओ कि अब तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय ?"

सिकन्दर को विश्वास था कि इस समय असहाय होने से पुरु गिड़गिड़ाकर यही कहेगा कि अब तो मैं आपका बन्दी हूँ, चाहे जिस प्रकार का व्यवहार करिये और तब सिकन्दर उसे प्राणदान देकर आभार स्वरूप भारत-विजय करने में उसकी वीरता एवं रण-कुशलता का मनमाना उपयोग करेगा, किन्तु उसका उत्तर सुनकर वह विश्व-विजय का स्वप्नदर्शी ग्रीक आकाश से जमीन पर गिर पड़ा ।

महाराज पुरु ने स्वाभिमानपूर्वक सिर ऊँचा करके उत्तर दिया- सिकन्दर, वह व्यवहार जो "एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है ।"

सिकन्दर निर्भीक पुरु का यह वीरोचित उत्तर सुनकर इतना प्रसन्न एवं प्रभावित हुआ कि उठकर उसके गले से लग गया ।

भारतीयों की वीरता और महाराज पुरु की विकट मार से सिकन्दर की सेना की हिम्मत हवा हो चुकी थी । सिकन्दर अच्छी तरह जानता था कि यदि अब वह आगे बढ़ने का आदेश देगा तो उसकी भयभीत सेना अवश्य विद्रोह कर देगी, इसलिए वह महाराज पुरु पर ऐहसान रखता हुआ चुपचाप भारतीय सीमाओं से बाहर चला गया ।

अभागे आम्भीक जैसे अनेक देश-द्रोहियों के लाख कुत्सित प्रयत्नों के बावजूद भी एक अकेले देशभक्त पुरु ने भारतीय गौरव की लाज रखकर संसार को सिकन्दर से पद-दलित होने से बचा लिया ।

कहना न होगा कि जब तक पुरु जैसे वीर भारत-भूमि पर पैदा होते रहेंगे इसकी गौरव-पताका युग-युग तक आकाश में फहराती रहेगी ।

'सोचो नहीं मोर्चा लो' के आदर्श–

बैंजहाफ

पूरा नाम जान एफ. बैंजहाफ । अमेरिका के ३० वर्षीय एटार्नी के हाथ में अखबार का महत्व इसलिए था कि अमेरीकी राष्ट्रपति जान एफ. कैनेडी ने सर्जन जनरल को 'धूम्रपान का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?' इस विषय पर अपनी विस्तृत जाँच रिपोर्ट देने को कहा था । वह रिपोर्ट उसमें प्रकाशित होने वाली थी । इस समाचार से अमेरिकी सिगरेट उद्योग पर प्रलय-सी गिरने वाली थी और अमरीका चूँकि अत्यधिक सिगरेट पीने वाला देश है इसलिए वह प्रत्येक नागरिक से सम्बन्ध रखने वाली बात थी इसलिए उस अखबार की प्रतीक्षा ऐसे हो रही थी जैसे चुनाव के दिनों में अपनी पार्टी की जीत का समाचार सुनने को लोग आतुर होते हैं ।

बैंजहाफ ने पूरी रिपोर्ट पढ़ी तो सिर से पसीना छूट गया । स्वास्थ्य के लिए कितनी घातक सिगरेट और उसे लोग कितने प्रेम से गले लगाये हैं ? वह मासूम बच्चे यदि हाथ पकड़कर मुँह में थोड़ा धुआँ फूँक दिया जाये तो खाँसते-खौंसते आँखें लाल हो जायें, किस प्रकार बड़ों का अनुकरण करते हैं और छोटी अवस्था से ही विष की पोटली शरीर से बाँध लेते हैं ? यह बात बैंजहाफ जितना अधिक सोचते उतना ही अधिक रिपोर्ट का अंश मस्तिष्क में क्रान्ति मचाने लगता-"१० सिगरेट से कम सिगरेट एक दिन में पीने वालों में मृत्यु दर न पीने वालों की अपेक्षा ४० प्रतिशत अधिक है । १० से १९ सिगरेट प्रतिदिन पीने वाले लोगों की मृत्यु दर ७० प्रतिशत और २० से ३९ सिगरेट पीने वालों लोगों की मृत्यु दर ९० प्रतिशत अधिक है । जो ४० से भी अधिक सिगरेट एक दिन में पीते हैं उसकी मृत्यु दर १२० प्रतिशत अधिक होती है ।" यह प्रभावी अंश ही वह सब बता देने के लिए काफी था कि सिगरेट का धुँआ कितना विषैला होता है और उससे शरीर के जीवन-तत्त्व कितनी दुर्दशा के साथ मारे जाते हैं पर साधारण लोग जान कर भी, ऐसे उद्धरण पढ़कर भी अपनी आदत से लाचार कुछ कर नहीं पाते । अपना सत्यानाश तो वे करते ही हैं आने वाली संतानों के लिए विषैला वातावरण और दूषित आनुवंशिकता दे जाने का पाप भी करते हैं ।

पढ़ना कोई हथियार नहीं है जो पाप दुष्प्रवृत्ति की जड़ को अपने आप काट दे, उसके लिए कुछ क्रान्ति और संघर्ष करना पड़ता है। पर उन लोगों को क्या कहें जो बढ़ती हुई दुश्चरित्रता, दंगा-फसाद, हत्या, लूट-पाट, दहेज की कुत्सा और अन्धविश्वास की दुष्टता के समाचार तो पढ़ लेते हैं पर अर्द्ध-मृत जीव की तरह उनकी इतनी भी हिम्मत नहीं होती कि और अधिक नहीं तो अपने क्षेत्र में

ही उस दुष्प्रवृत्ति को मिटाने का प्रयत्न करें । संघर्ष और सत्याग्रह के इस अभाव के कारण ही आज संसार में बुराइयाँ पनप रही हैं । श्री बैंजहाफ की याद आज इसलिए अधिक आ रही है और उसे आगे भी बहुत दिनों तक स्मरण रखकर लोग नैतिक-क्रान्ति की प्रेरणा पायेंगे, क्योंकि उस अकेले व्यक्ति ने ही क्रान्ति का बिगुल बजाकर उतना कर दिखाया जितना कई साधन सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा भी हो सकना सम्भव न था ।

बैंजहाफ अभी युवक हैं खेलने-खाने की आयु में भला समाज सेवा की भी कोई बात सोचता है ? लोग अपनी प्रतिष्ठा, अपना यश और अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का सबसे अच्छा समय इसी अवस्था को मानते हैं । इसी अवस्था में लोग उद्योग करते हैं, व्यवसाय करते हैं, अच्छी आजीविका ढूँढ़ते, गृहस्थी जमाते और बच्चे पैदा करते हैं। साधारण लोगों के सुख और सन्तोष की यह संकुचित स्थिति ही सामाजिक जीवन में कल्याणकारक प्रवृत्तियों को पनपने नहीं देती । बैंजहाफ ने ऐसे ही समय पर नारा दिया और वह था कि बढ़ती हुई आयु और शक्ति का तकाजा यह नहीं कि हम अपने लिए कितना कर लेते हैं वरन् शान इसमें है कि हम सदाचार, सत्प्रवृत्ति और मानवता की रक्षा के लिए कितना त्याग और उत्सर्ग कर सकते हैं । उन्होंने यह सब सोचा ही नहीं किया भी जो आज के हर शिक्षित युवक के लिए आदर्श बन गया है और उन्हें यह सोचने को विवश करता है कि क्या हम जिन परिस्थितियों में रह रहे हैं उन्हें यों ही और विकृततर होने की स्वच्छन्दता प्रदान कर दी जाये अथवा सामाजिक जीवन में फैले हुये अनाचार, भ्रष्टाचार और दुष्प्रवृत्तियों को आगे बढ़कर साहसपूर्वक रोका और उनसे लड़ा जाये ।

बैंजहाफ ने मेसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट से टेक्नोलाजी में डिग्री पाई थी। वे कोई अपढ़ नहीं थे । उन्होंने कोलम्बिया से वकालात पास की थी । अन्य युवकों की तरह उनकी भी महत्वाकांक्षाएँ थीं । सोशल डाइरेक्टर बनकर विश्व भ्रमण का सुनहरा स्वप्न उन्होंने भी देखा था पर जब घर में आग लगी हो तो विवेक यह कहता है कि सोना, हँसना, खेलना भूलकर सबसे पहले आग बुझाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए बुराइयों की आग उपेक्षा के ईंधन से भड़कती और उसकी लपटें सारे मानव समाज को झुलसाकर रख देती हैं ।

उपरोक्त रिपोर्ट पढ़कर बैंजहाफ ने अपनी महत्व-कांक्षाओं को कुछ दिन के लिये ताक पर उठा कर रख देना ही उचित समझा । उन्होंने निर्णय किया सिगरेट विरोधी अभियान चलाये बिना उनकी हानियों से मानव-समाज को बचाया जाना सम्भव नहीं है । अमरीका जैसे षड्यन्त्री देश में तो यह कार्य और भी कठिन था । वहाँ सिगरेट उद्योग बड़े-बड़े पूँजीपतियों के हाथ में है । सिगरेट बनाने वाली कम्पनियाँ कोई २ अरब ५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष केवल विज्ञापन और १ अरब ६० करोड़ रुपया र`डियो द्वारा विज्ञापन पर खर्च कर देती हैं इसी खर्च से उनकी आय का पता लगाया जा सकता है । उनकी आमदनी पर धक्का लगे और प्रतिवाद न हो ऐसा असम्भव है । श्री बैंजहाफ ने इस बात को खूब अच्छी तरह सोच लिया था पर उसने किसी भी खतरे में आगे पाँव बढ़ाने की हिम्मत कर ही डाली । युवक ने आगे बढ़कर कहा-मनुष्यता के लिये स्वाभिमानपूर्वक मर जाना ऐसी १०० जिन्दगियों से अच्छा है जिसमें मनुष्य कीड़े-मकोड़ों की-सी रोजी-रोटी वाला शिश्नोदर परायण जीवन जीकर मर जाता है । वह अकेले ही 'सिगरेट छोड़ो' अभियान चलाने के लिये उठ खड़े हुये ।

स्थान-स्थान पर सभाओं और गोष्ठियों के द्वारा युवक लोगों को सिगरेट की बुराइयाँ बताना, उसे छोड़ने के लिए उत्साहित करना शुरू किया । उन्होंने वैज्ञानिकों और स्वास्थ्य विशेषज्ञों के सारे आँकड़े लोगों के सामने खोलने शुरू कर दिये । जब लोगों ने देखा कि सिगरेट के धुँये में निकोटीन जैसे विषैले पदार्थ हैं और उनसे स्वास्थ्य बुरी तरह चौपट होता है तो अनेक लोग सिगरेट पीना छोड़ने भी लगे ।

बैंजहाफ ने टेलीविजन अधिकारी को एक पत्र लिखकर आग्रह किया कि जितना समय सिगरेट कम्पनियों को विज्ञापन के लिए मिलता है उतना ही समय हमें भी मिलना चाहिए जिसमें हमें लोगों को धूम्रपान की बुराइयाँ समझाने का अवसर मिले । जो कुछ सोचा गया था हुआ उससे विपरीत । मनुष्य समाज की सेवा के रास्ते में यदि कोई सुनिश्चित उपहार है तो वह है परीक्षा । उससे आज तक कोई बचा नहीं बाद में उसे सफलता मिली हो या असफलता पर संघर्षों में कड़ी परीक्षा का विधान अब तक कभी नहीं टला । बैंजहाफ को टेलिविजन पर कुछ बोलने की स्वीकृति तो नहीं मिली हाँ जहाँ नौकरी करते थे वहाँ से उसे निकाल अवश्य दिया गया क्योंकि वह जिस कम्पनी में काम करता था, उसके मालिक बड़ी-बड़ी सिगरेट कम्पनियों के स्वामी भी थे ।

जो भी हो, होता रहे, बैंजहाफ ने कहा- समाज सेवा के लिए त्याग और बलिदान का रास्ता अभाव और परिस्थितियों की कठिनाइयों में रुकेगा नहीं । फटे-चीथड़े और रूखी रोटी ही सही पर मेरा यह जीवन तो अब इस सामाजिक कोढ़ को छुड़ाने और भावी-प्रजा को बीमारी और रोगों से उबारने के प्रयत्न में ही बीतेगा।

इस बार उसने कई प्रभावशील व्यक्तियों को साथ लेकर एफ० सी० सी० को पत्र लिखा और अपने पक्ष में जोरदार दलीलें प्रस्तुत कीं । फलस्वरूप सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार कर लिया गया कि रेडियो कार्यक्रमों में उन्हें भी समय मिलेगा । यह पहली सफलता थी जिससे बैंजहाफ का कर्मनिष्ठ हृदय उत्साह से भर गया ।

पर प्रतिक्रियावादी यों ही मैदान छोड़ जाने वाले न थे । बुराइयाँ भीतर से कितनी ही कमजोर क्यों न हों वीभत्स रूप बनाने का इन्द्रजाल बनाना उन्हें बहुत आता है इसीलिए प्राय: लोग थोड़े में ही घबड़ा जाते हैं पर जो लोग राम लक्ष्मण की तरह निशाने पर तीर छोड़ना बन्द नहीं करते वह जल्दी ही मायाजाल को काटकर मानवता को उससे मुक्त कर लेते हैं । २ जून, १९६० से उसने टेलिविजन से सिगरेट छोड़ो अभियान शुरू किया । प्रारम्भ में आंशिक सफलता दिखाई दी । थोड़े लोगों ने सिगरेट छोड़ना शुरू कर दिया पर यही क्या कम था कि अन्धा प्रवाह रुका तो, रुका ही क्यों, कुछ कम भी हुआ ।

इससे सिगरेट कम्पनियाँ चिन्तित हो उठीं और उन्होंने एफ० सी० सी० को उक्त निर्णय पर पुनर्विचार के लिए लिखा । बेचारे बैंजहाफ को कई बार मार डालने की भी धमकियाँ दी गयीं पर किन्हीं भी परिस्थितियों में उसने हिम्मत नहीं हारी । मामला कचहरी में पहुँचा । एक ओर अर्थ-विपन्न छोटा-सा वकील और दूसरी ओर ६ बड़ी सिगरेट कम्पनियाँ ६ ब्रोडकास्टिंग स्टेशन और नेशनल एसोसियेशन ऑफ ब्राडकास्टिंग टुबैको इन्स्टीट्यूट जैसी शक्ति सम्पन्न प्रतिवादी । पर सत्य का बल, इसे हजार हाथियों के बराबर कहते हैं उसकी आवाज और उक्तियों में वह प्राण और सत्य झलकता था, वह निस्वार्थता और समाज के प्रति दर्द फूटता था कि एफ० सी० सी० को भी अपने निर्णय की पुन: पुष्टि करनी पड़ी । बैंजहाफ की इस शानदार विजय ने उन लोगों में भी हिम्मत भर दी जो भीतर से धूम्रपान की बुराइयाँ तो अनुभव करते पर नैतिक साहस के अभाव में समर्थन या सक्रिय सहयोग से कतराते रहते थे।

अब उसने एक संस्था बनाकर काम शुरू कर दिया है । अब बहुत से प्रभावशाली लोग भी उसके सहयोगी हो गये हैं । न्यूयार्क में अपना बड़ा भारी कार्यालय खोलकर उसने विधिवत 'सिगरेट छोड़ो अभियान' प्रारम्भ कर दिया है । उसी का परिणाम है कि युवकों में १० प्रतिशत और कम उम्र वाले बच्चों में २० प्रतिशत सिगरेट की खपत कम हो गई है । यह आंशिक सफलता भी कम महत्वपूर्ण नहीं पर अभी बैंजहाफ उस दिन के लिये काम कर रहे हैं जब धरती में कोई भी प्राणी सिगरेट के धुँए से घुटेगा नहीं । उसके विषैले प्रभाव से बचाने के लिए उनका अभियान अभी भी तेजी से चल रहा है ।

बैंजहाफ जैसे युवक ही समाज को स्थायी नैतिकता प्रदान कर सकते हैं । न जाने वह दिन कब आयेगा जब दूसरे देशों के पढ़े-लिखे युवक भी उठ खड़े होंगे और विश्व में फैली दुष्प्रवृत्तियों का अन्त करने के लिये जुट पड़ेंगे ।

अनीति से आजन्म लड़ने वाले-

दीक्षित जी

आगरा जिले के 'मई' गाँव में श्री गेंदालाल दीक्षित का जन्म हुआ। दो वर्ष की आयु में माता का स्वर्गवास हो गया तो ताऊ ने उन्हें पाला-पोसा । फिर वे ननिहाल चले गये और किसी प्रकार हाईस्कूल पास कर मुफीदे आम स्कूल आगरा में अध्यापक हो गये ।

यों नौकरी के लिये गणित, भूगोल पढ़ाने का काम तो सभी अध्यापक करते हैं पर दीक्षित जी तो दूसरी ही मिट्टी के बने थे । उन्होंने देखा पढ़ जाने पर भी यदि कोई व्यक्ति रोटी ही कमाने तक सीमित रहा तो उसे 'पढ़ा गधा' ही समझा जा सकता है । विद्या का वास्तविक उद्देश्य है मनुष्य का भावनाशील, उदात्त और व्यक्तित्वसम्पन्न होना । जिसमें पढ़-लिखकर भी यह गुण न आये उसकी शिक्षा निरर्थक ही गई यह माना जाना चाहिए । छात्रों को पढ़ाते तो थे पर साथ ही उनमें उदात्त भावनाएँ भरने में भी कमी न रखते थे । वे इन भावी नागरिकों को लौह पुरुष देखना चाहते थे इसलिए इनको आदर्शवादी बनने की प्रेरणा देते रहते थे ।

दीक्षित जी की यह गतिविधियाँ स्कूल के अधिकारियों को पसन्द न आईं । उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी । वे इटावा जिले के औरेया कस्बे में गये और वहाँ डी० ए० वी० स्कूल की स्थापना की, जहाँ से वे भारत माता की बेड़ियाँ काटने वाले योद्धा तैयार कर सकें । जब पाठशाला ठीक प्रकार चलने लगी तो वे भारत की विशृंखलित जनता को संगठित करने के लिए दौरा करने निकल पड़े ।

उत्तर प्रदेश का दौरा करके उन्होंने 'जगह-जगह' शिवाजी समिति की शाखाएँ स्थापित कीं । इनमें नवयुवकों को व्यायाम एवं शस्त्रकला सिखाई जाती थी और देश-भक्ति की भावनाएँ भरी जाती थीं । उनके दो साथी और भी हुए एक लक्ष्मणानन्द दूसरे रामप्रसाद 'बिस्मिल' जो बाद में भारत में क्रान्तिकारी नेतृत्व के लिए विख्यात हुए । शिवाजी समितियाँ उत्तर प्रदेश तक ही सीमित न रहकर पंजाब, राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल आदि प्रान्तों में भी फैल गईं और उनके द्वारा स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के अतिरिक्त भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की पृष्ठभूमि भी तैयार की जाने लगी ।

सरकार को उनके उद्देश्य का पता चल चुका था । अँग्रेज नहीं चाहते थे कि उनकी गुलामी का जुआ उतार फेंकने के लिए भारत में कोई प्रयत्न किये जायँ । वे यहाँ के नागरिकों को हर दृष्टि से दीन-हीन ही देखना चाहते थे ताकि उन्हें मनमानी रीति से अपने प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जा सके । जो लोग जनता में चेतना और संगठन के भाव फैलाते थे वे उनकी आँखों में खटकते थे । दीक्षित जी के दल के बारे में सरकार ने सोचा कि यह नवयुवकों का क्रान्तिकारी दल उनके लिए कभी न कभी संकट ही उत्पन्न करेगा इसलिये उसे नष्ट-भ्रष्ट ही कर देना चाहिए । वारन्ट निकाले गये और लाहौर में एक ही दिन ६४ व्यक्ति पकड़ लिय गये और भी गिरफ्तारियाँ हुईं पर दीक्षित जी बच निकले ।

अब वे पक्के क्रान्तिकारी बने और भारत में सशस्त्र क्रान्ति के लिए तैयारी करने में लग गये । उन दिनों राजस्थान में हथियार रखने की छूट थी । वहाँ से अस्त्र लाकर अँग्रेजों द्वारा शासित क्षेत्रों में पहुँचाने का कार्य आरम्भ किया । बढ़िया किस्म के हथियार लेने वे जापान जाना चाहते थे पर सरकार की कड़ी निगरानी के कारण उन्हें बर्मा से ही वापस लौटना पड़ा ।

दल के एक मुखबिर द्वारा भेद दे देने पर पुलिस के साथ उनके दल की मुठभेड़ हो गई, फलस्वरूप दीक्षित जी के तीन गोलियाँ लगीं। सरकार द्वारा उन्हें पकड़कर ग्वालियर के किले में बन्दी बना लिया गया । अस्पताल में गोली निकाल लेने पर वे बच तो गये पर स्वास्थ्य बहुत गिर गया । पुलिस उन्हें मैनपुरी षड्यन्त्र केस के सिलसिले में एक जेल से दूसरी जेल में ले जा रही थी कि वे आँख बचाकर भाग निकले और मुखबिर को भी साथ ले गये । सरकार ने उनको जीवित या मृत पकड़वाने के लिए तीन हजार रुपया इनाम रखा ।

दीक्षित जी के हृदय में यह विचार सदा काम करता रहा कि षड्यन्त्र, लुक-छिप, शस्त्र प्रयोग, विद्रोह आदि अपराध समझे जाने वाले अनुचित काम उन्हें करने चाहिए या नहीं । निष्कर्ष के बाद वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि अन्याय सहने में जितना पाप है, उतना उसके प्रतिरोध में हिंसा का अवलम्बन करने में नहीं हो सकता । स्वतन्त्रता जैसे लोक-कल्याण का ऊँचा लक्ष्य लेकर निस्वार्थ भाव से यदि वे हिंसा अपनाते हैं तो वे कोई नैतिक अपराध नहीं करते, भले ही कानून का दृष्टिकोण उनके विचार से भिन्न ही क्यों न हो । किसी स्वतन्त्र देश के सैनिक यदि शत्रु का मुकाबला करने के लिये अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करते हैं या अपनी गतिविधियों को गुप्त रखते हैं तो उसमें पाप नहीं माना जाता । फिर अन्यायी सरकार के विरुद्ध उनका हथियार उठाना ही क्यों पाप होगा ? संसार में राज्य-क्रान्तियाँ हुईं भी शस्त्र बल पर ही- ऐसी दशा में उन्हें अपने क्रान्तिकारी कार्यक्रम में न अनीति दिखाई पड़ती थी और न पश्चाताप होता था । अहिंसा द्वारा प्रतिरोध को वे आदर्श तो मानते थे पर व्यावहारिक नहीं । इस दृष्टि से उनके दल ने हिंसात्मक मार्ग चुना था पर उनकी देशभक्ति अहिंसावादियों की अपेक्षा किसी प्रकार कम न थी ।

स्वास्थ्य खोकर भी दीक्षित जी एक सच्चे स्वतन्त्रता सैनिक की तरह निरन्तर काम करते रहे। लुक-छिपकर काम करना और आर्थिक अभावों से पग-पग पर जूझना सचमुच बड़ा कठिन काम था । कठिनाइयाँ ही वीरता की कसौटी मानी जाती हैं । वे साहसपूर्वक हँसते हुए उनका सामना करने से कभी निराश या खिन्न न हुए पर शरीर तो आखिर शरीर ही है। सुधार का अवसर न मिले तो वह बिगड़ेगा ही । प्रकृति तो अन्धी है उसे देशभक्त या देशद्रोही की पहचान कहाँ ? जो भी उसके नियमों में किसी भी कारण से व्यतिक्रम करेगा वही आरोग्य खोने का दण्ड पावेगा । दीक्षित जी की विवशता ने उन्हें स्वास्थ्य सुधारने का अवसर न दिया और वे क्षय-ग्रस्त हो गये ।

जन्मभूमि की तरफ आश्रय पाने गये तो वहाँ पुलिस पहले ही मौजूद थी । घर वाले भी उन्हें ठहराने को तैयार न हुए । हरिद्वार गये तो वहाँ की ठण्ड बर्दाश्त न हुई । दिल्ली लौटे और 'छोटे लाल' नाम लिखवाकर अस्पताल में भर्ती हो गये । पत्नी और भाई यह खबर पाकर उनका अन्तिम-दर्शन करने दिल्ली पहुँचे तो वे वहाँ पहुँचने से पूर्व २१ दिसम्बर, १९२० को महाप्रयाण कर चुके थे । उनकी जेब में उनके असली नाम पते की चिट निकली, पर पुलिस ने उस पर विश्वास न किया और मृत्यु के बीस वर्ष बाद तक उन्हें पकड़ने के लिए वारन्ट लिए फिरती रही ।

अन्याय का प्रतिकार करने के लिए हिंसा का आश्रय लिया जाय या अहिंसा का, इसमें दो मत हो सकते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास के ज्ञाता गाँधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन को उनकी सामयिक दूरदर्शिता पूर्ण नीति भी मानते हैं और कहते हैं कि यदि वे पूर्ण अहिंसक होते तो काश्मीर पर आक्रमणकारियों का सशस्त्र प्रतिरोध करने के लिए भारत सरकार को आशीर्वाद न देते । वैसे वे भी कायरता से हिंसा को और हिंसा से अहिंसा को श्रेष्ठ मानते थे । इस दार्शनिक उलझन में बिना पड़े भी दीक्षित जी की देशभक्ति की एक स्वर से सराहना करनी पड़ेगी । उन्होंने जिस त्याग, बलिदान का आदर्श उपस्थित किया, तिल-तिल कर अपने को मातृभूमि की सेवा में लगाया और जीवन के अन्तिम क्षण तक अपने महान लक्ष्य के लिए संघर्ष करते हुए एक सच्चे शहीद की तरह इस संसार से विदा हुये ।

यों जीने को सभी जीते हैं और समय आने पर मरना भी सभी को पड़ता है पर जिनका जीवन अन्याय के प्रतिकार एवं न्याय की स्थापना में संघर्ष करने के लिये लग सका वस्तुतः उन्हीं की मृत्यु को सराहनीय कहा जा सकता है ।

राष्ट्र निर्माता-

बैंजामिन फ्रेंकलिन

आज जिन्हें अमेरिका का राष्ट्र-निर्माता कहकर याद किया जाता है, उन बैंजामिन फ्रेंकलिन ने जीवन में जिन कठिनाइयों को पार किया, उनमें यदि कोई कच्ची लगन और कमजोर मनोभूमि वाला व्यक्ति होता तो राष्ट्रहित के बड़े-बड़े काम कर सकना तो दूर वह अपना साधारण जीवन भी सुरक्षित न रख पाता लेकिन बैंजामिन फ्रेंकलिन हर परिस्थिति में दृढ़ बन रहे । उन्होंने निराशा, निरुत्साह

अथवा उद्विग्नता को अपने पास न आने दिया और साहसपूर्वक हर कठिनाई का सामना करते हुये आगे बढ़ते रहे और अन्त में एक सफल व्यक्ति बनकर मानसम्मान के साथ इस संसार से गये ।

बैंजामिन फ्रेंकलिन सर्वथा आत्मनिर्मित व्यक्ति थे। उनके विकास में किसी दूसरे व्यक्ति का जरा भी आभार नहीं था । यहाँ तक कि माता-पिता भी उनके लिए कुछ न कर सके थे । वे बेचारे कुछ कर भी कहाँ से सकते थे । पिता मोमबत्ती और साबुन बनाने का मामूली काम करते थे । उसमें इतनी आय न हो पाती थी, जिससे सत्रह बच्चों का भरण-पोषण ठीक से हो सकता । किसी को भरपेट रोटी भी न मिल पाती थी- शिक्षा और विकास साधनों की बात तो कल्पना से परे की वस्तु थी । पेट भरने के लिये बैंजामिन फ्रेंकलिन को दस वर्ष की आयु में ही अपने पर निर्भर होना पड़ा था ।

जिस समय रोटी की तलाश में वे घर से फिलाडेल्फिया की ओर चले तो शरीर पर पूरे कपड़े भी न थे और जो थे वे फटे और पुराने थे । पास में सिर्फ तीन आने पैसे थे । यह पैसे भी उन्हें घर से नहीं मिले थे । यह उस कमाई की बचत थी, जो उन्होंने बहुत दिन तक लुहारों, ठठेरों, मोचियों, भटियारों और रंगरेजों की दुकानों पर परिश्रमपूर्वक की थी । वे जो कुछ कमाते थे परिवार पोषण के लिए पिता को दे देते थे । किन्तु जब उन्हें घर पर रहकर उन्नति की सम्भावना न दीखी तो वे फिलाडेल्फिया की ओर चल दिये ।

निरन्तर पैदल यात्रा करके जब वे अपने गन्तव्य पर पहुँचे तो, भूख के मारे दम निकला जा रहा था । निदान उनको पास के पैसों से रोटी खरीद लेनी पड़ी, जिनको वे कई दिन तक बचाये रखना चाहते थे । कहीं आराम से बैठकर खाने की फुरसत तो थी ही नहीं, तुरन्त ही कहीं जाकर काम खोजना था । अस्तु, खरीदी हुई तीन रोटियों में से दो तो बगल में दबा लीं और एक को खाते हुए चलते रहे । बालक बैंजामिन की यह दशा देखकर राहगीर हँसते थे सो हँसते थे, एक सुन्दर-सी लड़की यह कहकर- कितना फूहड़ और गँवार लड़का है- इतनी हँसी कि खुद एक तमाशा बन गई । पर आत्म-विभोर बैंजामिन पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा । वह ज्यों का त्यों अपना काम करता चलता रहा । लेकिन बाद में जब बैंजामिन ने सफलताओं को जीत लिया, तब इसी लड़की ने उनसे विवाह का प्रस्ताव किया था और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया था ।

खोजते-खोजते बैंजामिन को एक प्रेस में काम मिला । उन्होंने उसमें इस लगन और परिश्रम से काम किया कि न केवल उसमें उन्नति ही पाई बल्कि इस योग्य हो गये कि खुद प्रेस चला सकें । इसी प्रेस में उन्होंने पढ़ना और लिखना भी सीखा था । कुछ समय तक काम करके और पैसा बचाकर उन्होंने एक अखबार निकाला । अखबार चला लेने के बाद पुस्तकें छापीं और एक शिक्षा संस्था स्थापित की । उसी शिक्षा संस्था में उन्होंने एक संगीत की कक्षा भी चलवायी और स्वयं भी संगीत सीखा, इस प्रकार वे परिश्रमपूर्वक अपना जीवन प्रगति-पथ पर चला ले चले ।

बैंजामिन फ्रेंकलिन को पढ़ने का बड़ा शौक था । लेकिन उन दिनों अमेरिका में पुस्तकालयों और वाचनालयों का रिवाज नहीं था । पुस्तकें भी कम छपती थीं और महँगी भी थीं। बैंजामिन को यह कमी खूब खटकी और उन्होंने उसका उपाय निकाला । वे खोज-खोजकर ऐसे लोगों से मिले जिनके पास पुस्तकें थीं । उन्हें पुस्तकालयों का महत्व समझाया और इस बात पर राजी कर लिया कि सब लोग एक स्थान पर अपनी पुस्तकें जमा कर लें और फिर वहीं से पढ़ने के लिए ले जायें अथवा उसी स्थान पर बैठकर पढ़ें । लोगों ने वैसा ही किया और इस प्रकार पुस्तकालयों एवं वाचनालयों का रिवाज चल पड़ा । आगे चलकर इसी क्रम में उन्होंने बड़ी-बड़ी अध्ययन गोष्ठियाँ बनाईं और विद्वानों और अध्ययनशील व्यक्तियों की एक संस्था स्थापित की, जिसका नाम 'जन्टो' रखा । उनके इन प्रयत्नों ने नागरिक विकास में बहुत योगदान दिया ।

सेवा और सत्कर्मों का परिणाम आत्म-शांति के साथ-साथ सामाजिक सम्मान भी होता है । बैंजामिन फ्रेंकलिन को सम्मान मिला पर उन्होंने इसका उपयोग भी अन्य विकास कार्यों में भी किया । उन्होंने बहुत से लोगों को साथ लेकर एक 'यूनियन फायर कम्पनी' और एक 'फायर इन्श्योरेन्स कम्पनी' की स्थापना की, जिनसे फिलाडेल्फिया के नागरिकों की महत्त्वपूर्ण सेवायें हुयीं । इसके अतिरिक्त उन्होंने सरकार और नगरवासियों को एकमत करके नगर की सारी सड़कें और गलियाँ पक्की करा दीं । प्रकाश और पार्कों की व्यवस्था कराई । इस प्रकार उनके प्रयत्नों द्वारा फिलाडेल्फिया का यह पुराना नगर नया होकर चमक उठा ।

सरकार ने बैंजामिन फ्रेंकलिन की प्रतिभा पहचानी और उन्हें नगर का डाक विभाग सौंप दिया । उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं योग्यता का उपयोग डाक व्यवस्था का विकास करने में किया, जिसके उपलक्ष्य में वे उस समय अमेरिकी उपनिवेश के पोस्ट-मास्टर जनरल बना दिये गये। इन सेवाओं के साथ-साथ उन्होंने शिक्षा की उन्नति के लिए काम किया, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर वहीं का हाईस्कूल एक विशाल विश्वविद्यालय बन गया, जो आज 'पैंसिलवेनिया यूनीवर्सिटी' के नाम से प्रसिद्ध है ।

उन्हीं दिनों जब बैंजामिन फ्रेंकलिन जन-सेवा द्वारा उन्नति के सोपानों पर चढ़ते जा रहे थे, इंग्लैण्ड और अमेरिकी जनता में मतभेद हो गया और अमेरिका, ब्रिटिश साम्राज्य से निकल कर स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में विकास करने के लिए इच्छुक हो उठा । बैंजामिन फ्रेंकलिन युद्ध

की सम्भावना से बेचैन हो उठे । उन्होंने सारे काम छोड़ दिये और शांति समझौते के लिए अमेरिकी जनता की ओर से उसके प्रतिनिधि बनकर इंग्लैण्ड चले गये। वहाँ वे कई वर्षों तक ब्रिटिश शासकों को शांति स्थापना के लिए, अमेरिका को सुविधायें देने के लिये प्रेरित करते रहे । किन्तु शासकों की हठधर्मी ने कोई काम बनने न दिया और आखिर में युद्ध की ज्वाला भड़क ही उठी ।

श्री बैंजामिन फ्रेंकलिन ने अपना कर्त्तव्य समझा और देश के स्वाधीनता संग्राम में प्राणपण से जुट गये । उन्होंने अमेरिकी राष्ट्र को संगठित किया । अमेरिकी काँग्रेस में पड़ती फूट को रोका और स्वाधीनता के बाद दास प्रथा के अन्त कर देने के लिए जोर डाला । यद्यपि अब तक बैंजामिन फ्रेंकलिन बहुत बूढ़े हो गये थे तथापि उनकी उपयोगिता एवं कार्यक्षमता कम न हुई थी । उन्हें अमेरिका की जल एवं थल सेना का अध्यक्ष बनाया गया । इस पर उन्होंने जिस योग्यता से काम किया उसके लिए वे आज भी संसार के श्रेष्ठ सेना-संचालकों में माने जाते हैं । किन्तु जब उनके शरीर ने पूरी तरह जबाव दे दिया तो वे सारा कामों से अवकाश लेकर अपनी पुत्री के पास चले आये और उसी के पास १७ अप्रैल, १७९० को यश, सम्मान और पुण्य-परमार्थ के साथ अमेरिका के राष्ट्र-निर्माता का नाम पाकर शांतिपूर्वक स्वर्ग सिधार गये ।

श्री बैंजामिन फ्रेंकलिन का जीवन पुरुषार्थ, लगन और अध्यवसाय की गाथा है, जिसके बल पर वे लुहारों, ठठेरों, भटियारों, मोचियों और रंगरेजों की सेवा करने से उठकर एक महान् राष्ट्र-निर्माता बन सके ।

अदम्य साहस के प्रतीक-

मेजर शैतानसिंह

२० अक्टूबर, १९६२ में भारत-चीन सीमा संघर्ष शुरू हुआ था । १८ नवम्बर को चीनियों ने अपने सुसज्जित हथियारों के साथ चुशूल क्षेत्र में भीषण आक्रमण किया । मेजर शैतानसिंह कुमायूँ रेजिमेण्ट की एक फौजी टुकड़ी के साथ रेजगला चौकी पर दुश्मनों का मुकाबला करने के लिए नियुक्त हुए । इस यकायक आक्रमण के कारण इस छोटी टुकड़ी का सम्बन्ध भी रेजिमेण्ट से भंग हो गया । १७००० फीट की इस ऊँची-नीची और बर्फीली पहाड़ी पर न तो आवागमन का ही उपयुक्त साधन था और न आत्मरक्षा के लिए कोई समुचित सुव्यवस्था ही हो पाई थी । रसद भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान न थी । क्या पता था कि भाईचारे का सम्बन्ध रखने वाला चीन इस तरह बर्बरता और असुरता का व्यवहार हमारे साथ करेगा ?

आक्रमणकारी ने तोपों, टैंकों, मोर्टारों और अपने विभिन्न हथियारों द्वारा १८ अक्टूबर के प्रातः से ही गोलाबारी आरम्भ कर दी । अपनी छोटी-सी टुकड़ी लेकर शैतानसिंह मातृभूमि की रक्षार्थ शत्रु के सामने जा डटे । दो-दो प्लाटूनों का संचालन वे स्वयं कर रह थे । उधर शत्रु के भीषण आक्रमण और इधर प्रकृति की विपरीतता । भीषण सर्दी, बर्फ की वर्षा, जहाँ रक्त भी जम रहा था । सबका एक साथ सामना करना हँसी-खेल की बात न थी। फिर भी जहाँ हिम्मत हो, साहस हो और अदम्य उत्साह हो वहाँ साधन के अभाव में भी बहुत कुछ किया जा सकता है – यह मेजर शैतानसिंह के इस कारनामे में सहज ही देखा जा सकता है । साधन स्वल्प थे तो भी साथी सैनिकों में वे प्राण फूँक रहे थे। इनकी इस तरह की निर्भीकता सेना में बल का संचार कर रही थी । यही तो कारण था कि इतने अल्प सैनिक उस भारी भरकम चीनी सेना के छक्के छुड़ा रहे थे और शत्रु दल आगे बढ़ने में असमर्थ हो रहे थे ।

काफी समय तक जमकर मोर्चा चलता रहा परन्तु अन्त में भारतीय सैनिक लाचार हो उठे । इधर मात्र बन्दूकें और उधर से तोपों की बौछारें, आखिर कितनी देर तक मुट्ठी भर सैनिक अपने प्राणों पर खेलते ? शैतानसिंह का सारा शरीर गोलियों की बौछारों से छिदकर जर्जर हो गया। सीने, बाँहों और सिर में बेतरह घाव हो गये । हथियार चलाना भी अब कठिन था । ऐसी स्थिति देखकर सैनिकों ने अपने सरदार को भाग निकलने और अपने प्राण बचा लेने की सलाह दी । बड़ी ही विषम परिस्थिति सामने आ पड़ी ।

मेजर शैतानसिंह ने दो क्षण रुककर थोड़ा विचार किया यद्यपि वे पूरे स्वतन्त्र थे जब चाहे वहाँ से भाग निकलते । परन्तु उन्होंने सोचा, यह पार्थिव शरीर आज नहीं तो कल समाप्त होने ही वाला है अन्यत्र घुट-घुट कर मर जाने की अपेक्षा मातृभूमि की रक्षार्थ अपने प्राण दे देना कहीं श्रेयस्कर है । जिस भूमि का अन्न-जल ग्रहण करके यह शरीर पालित-पोषित हुआ, उसी हेतु अर्पण कर देने का इससे बढ़कर सुअवसर और कब आ सकता है ? मातृभूमि के बलिदानी राणा और अन्य बलिदानियों की याद आते ही इस राजपूत में बिजली की लहर-सी दौड़ गई । सीमा पर वह अन्त तक काल-कराल की तरह खड़ा रहा और शत्रुओं को नाकों चने चबवाता रहा । उसकी इस भयंकरता को देखकर चीनियों की हिम्मत आगे बढ़ने की नहीं हो रही थी । इधर के सैनिक भी पूरी हिम्मत बाँधकर अंत तक डटे रहे । परन्तु मशीनगनों का मुकाबला मात्र बन्दूकों से कब तक किया जा सकता है ? अन्त में यह वीर सेनानी बुरी तरह आहत होकर रणक्षेत्र में गिर पड़ा । सेना के नौजवान उसे लेकर अन्यत्र भाग जाना चाहते थे परन्तु प्राण रहते वहाँ से हटने से इन्कार कर दिया । वह वीर सरकता हुआ एक चट्टान तक जा पहुँचा और मातृभूमि को प्रणाम करते हुए अन्तिम साँस ले ली ।

कुछ देर बाद चीनी सैनिक वहाँ पहुँचे परन्तु बहुत खोजने के पश्चात् भी वे शैतानसिंह को वहाँ पा न सके । प्रकृति ने शैतान सिंह के पवित्र शरीर को चीनियों के हाथ न लगने दिया और उस वीर के शव को बर्फ ने चार मास

तक अपने अंचल में छिपा रखा । लेकिन फरवरी, १९६३ में भारतीय सेना ने अपने इस बहादुर सेनानी, भारत माँ के सच्चे सपूत के शव को बर्फ से खोज निकाला ।

१७ फरवरी, १९६३ को एक विशेष विमान द्वारा 'पार्थिव शरीर' जोधपुर लाया गया। समाचार पाते ही जनता की भीड़ हवाई अड्डे पर एकत्र होने लगी । दूर-दूर तक लोगों की अपार भीड़ इस सेनानायक के अन्तिम दर्शनार्थ टूट पड़ी । मातृभूमि के प्रति इस प्रकार अपने को उत्सर्ग कर देने वाले पर, सबमें एक अभूतपूर्व श्रद्धा भरी दिखाई दे रही थी । उनका शरीर तो यद्यपि आज निष्प्राण था फिर भी सम्मान उतना पा रहा था जितना जीवित रहने पर भी जनता के सामने आज परमवीर शैतानसिंह नहीं था, था तो उसका केवल पार्थिव शरीर, पर जोधपुर की जनता आज उसे मृत नहीं मान रही थी । यही तो कारण था जब प्रतिक्षण आकाश में यही ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही थी, "शैतानसिंह जिन्दाबाद! शैतानसिंह जिन्दाबाद!!

मेजर शैतानसिंह का जन्म १९२४ में जोधपुर जिले के बाणासर गाँव में ले० कर्नल हेमसिंह भाटी के यहाँ हुआ था । हेमसिंह १९१६ में फ्रांस में प्रथम विश्व युद्ध के समय आहत हुए थे । शैतानसिंह ने हाईस्कूल परीक्षा जोधपुर के चौपसनी हाईस्कूल से और बी० ए० परीक्षा यशवन्त कालेज से पास की थी । आगे अधिक शिक्षा की व्यवस्था न बन पड़ने के कारण जोधपुर राज्य की अश्वारोही सेना में भर्ती हो गये । रियासती सेना के भारतीय सेना में विलय होने के पश्चात् वे कोटा की उम्मेद इन्फैन्ट्री में लेफ्टीनेन्ट रहे । इसके पश्चात उनकी नियुक्ति कुमायूँ रेजिमेण्ट में हो गई । जिसमें उन्होंने जीवनपर्यन्त सेवा की । मेजर शैतानसिंह उन पहले अधिकारियों में से थे, जो सैनिक गुप्तचर अधिकारी के रूप में गोवा भेजे गए थे ।

राष्ट्र की जनता ने उस महान वीर के साहस, शौर्य और अदम्य उत्साह की भूरि-भूरि प्रशंसा की । मरणोपरान्त भारत सरकार ने उन्हें परमवीर चक्र की उपाधि से विभूषित किया । मेजर शैतानसिंह आज हमारे बीच नहीं रहे, परन्तु राष्ट्र के प्रति उनकी कर्तव्यपरायणता, त्याग और आत्मोत्सर्ग की भावना युग-युग तक नवयुवकों और भारतीय सैनिकों को प्रेरणा प्रदान करती रहेगी । भारत को आज ऐसे ही सपूतों एवं वीर जवानों की अवश्यकता है ।

क्रान्ति के सन्देशवाहक—

नाजिम हिकमत

तुर्की के अमर कवि नाजिम हिकमत का बचपन बड़े सुख और आराम से बीता था क्योंकि उनका जन्म ही धनी परिवार में हुआ था । बड़े होने पर जब उन्होंने अपने देशवासियों को अभावग्रस्त देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्हें अपने तथा देश की सामान्य जनता के जीवन स्तर में जमीन-आसमान का अन्तर लग रहा था । अब तो उन्हें अपने जीवन पर ग्लानि होने लगी । वह सोचने लगे कि देश का नागरिक होने के नाते मुझे भी उतनी सुविधायें प्राप्त करने का अधिकार है जितनी कि एक सामान्य नागरिक को ।

अब उन्होंने स्वेच्छा से निर्धनता का जीवन स्वीकार कर लिया और देश की निर्धन जनता का ही एक अंग बन गये । १९२०-२२ में तुर्की की देशभक्त जनता ने अत्याचारी शासकों तथा उनके विदेशी साम्राज्यवादी साथियों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की । स्वतन्त्रता संग्राम में सैकड़ों राष्ट्रप्रेमी सम्मिलित होकर अपने जीवन का मोह त्याग मृत्यु को आलिंगन करने के लिए बढ़े जा रहे थे । ऐसे समय में नाजिम हिकमत पीछे कैसे रह सकते थे ? वह सारा घरबार छोड़ देश को स्वतन्त्र कराने वाले बलिदानियों की टोली में सम्मिलित हो गये ।

कुछ दिनों बाद नाजिम हिकमत रूस चले गये। वहाँ रूसी साहित्य का अध्ययन किया तो उनके साहित्यिक जीवन में नया मोड़ आया और उन्होंने नई तुर्की कविता को जन्म दिया । तुर्की की पुरानी, दरबारी और निर्जीव कविताओं को छोड़कर ऐसी कविता लिखी जिसने जनमानस में क्रान्ति की आग फूँक दी । पुराने छन्दों का बन्धन तोड़कर कविता के लिये ऐसे छन्दों को माध्यम बनाया जिनके द्वारा विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त किया जा सके । जन-जन के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख मानने के कारण ही कवि भूतल का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाता है। कविता को जनता की निकटता तक लाने के लिए यह आवश्यक होता है कि वह ऐसी भाषा में लिखी गई हो जिसे देश का हर व्यक्ति समझता हो और बोलता हो । नाजिम हिकमत ने यही किया ।

नाजिम को अपनी मातृभूमि से दूर रहना असह्य था, क्योंकि जिस समय तुर्की के नागरिक देश को स्वतन्त्र कराने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार थे उस समय नाजिम अपने को रूसी साहित्यकारों के बीच घेरे भी कैसे रह सकते थे ? वह स्वदेश लौटे तो जनता ने पलक पाँवड़े बिछाकर उनका स्वागत किया । काव्य के द्वारा देश में क्रान्तिकारी भावना जाग उठी । सरकार की आँखों में तो वह काँटे की तरह खटकने लगे थे । वह नाजिम की लोकप्रियता सहन न कर सकी और स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के कारण तीन वर्ष की सजा सुना दी गई ।

कैद से छूटने के बाद नाजिम चुप नहीं बैठे । शासन के जुल्म और दमन-चक्र के विरोध में उनकी आवाज और तेज हो गई । उनकी कविताओं ने देशवासियों के दिल में स्थान पा लिया था । देश के किसान, मजदूर और कर्मचारियों तक ही उनकी कवितायें सीमित न रहीं वरन् जब पुलिस और सेना के लोगों ने भी उन कविताओं को पढ़ना शुरू किया तो सरकार चौंकी । अब सरकार के सामने केवल यही एक तरीका रह गया था कि वह

नाजिम की वाणी और लेखनी पर पाबन्दी लगा दे । इसके लिए अच्छे बुरे अनेक उपाय सुझाये गये । अन्त में सरकार द्वारा यह अभियोग लगाया गया कि उनकी कवितायें सिपाहियों और सैनिकों के पास पाई गई हैं, जिनमें समाजवाद के प्रचार की भावना भरी हुई है । एक विशेष न्यायालय में मुकदमा चला और अट्ठाईस वर्ष के कारावास की सजा सुना दी गई । जहाँ क्रूर शासन न्यायालयों पर जोर देकर अपने पक्ष में निर्णय की पहल करता हो वहाँ इस तरह का निर्णय सुनकर जनता को आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि यह गनीमत रही कि उन्हें मृत्यु के घाट नहीं उतारा।

अभियोग भी उन कविताओं के आधार पर लगाया गया था जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही छप चुकी थीं । न्यायालय द्वारा जो २८ वर्ष का दण्ड दिया गया यह वहाँ के कानून के अनुसार अवैधानिक था, क्योंकि इतनी सजा तुर्की में गैर कानूनी थी । अतः उस निर्णय को कानून का आवरण पहनाने के लिये एक नया कानून बनाया । जनता इसके खिलाफ आवाज उठाती रही पर हिंसा पर उतारू सरकार ने किसी की न सुनी ।

नाजिम को अन्य कैदियों से अलग रखा गया क्योंकि सरकार को यह डर था कि यह कैदी अन्य कैदियों को भी क्रान्ति के लिये न भड़का दे ? उन्हें एकान्त में रखा गया । पत्र व्यवहार तथा मिलने-जुलने पर पाबन्दी लगी दी गई । इस बात की बराबर कोशिश की गई कि नाजिम का सम्बन्ध देशवासियों से बिल्कुल टूट जाये । इतना ही नहीं वरन् नाना प्रकार की कठोर यातनायें दी गईं । पर नाजिम ने हिम्मत न हारी । आशा की किरणें उसे अन्धेरी कोठरी में भी प्रकाश पहुँचाती रहीं । उन्होंने अपने आत्म-विश्वास को घटने न दिया । अब दुश्मनों से लड़ने के लिए कविता ही एक मात्र शस्त्र था जिसका प्रयोग वह लुक-छिपकर करते रहते थे । कवितायें लिख-लिख कर जेल से बाहर भेजी जाती रहीं । ये कविताएँ समाचार-पत्र और पत्रिकाओं में दूसरे नामों से छपती रहीं । उन्हें अपना नाम प्यारा न था वह तो काम में आस्था रखने वाले पुरुषार्थ के धनी थे, जिसे लोकेषणा छू तक न गई थी, पर देश के सारे पाठक-पाठिकाएँ कविता में दूसरे का नाम होने पर भी यह समझते थे कि कवितायें उनके प्रिय कवि नाजिम की हैं ।

कालकोठरी में बैठकर क्रान्ति और बलिदान का सन्देश देने वाले नाजिम को अब बारह वर्ष बीत गये थे । एक-एक दिन उन्होंने एक-एक युग के समान निकाला था पर न निराश न हुये और न घबराये । स्वास्थ्य गिरने लगा, शरीर क्षीण हो गया । न भोजन ऐसा था जिससे शरीर चल सके और न सर्दी से बचने के लिए कपड़े । दिल की भयंकर बीमारी ने उस साहस की परीक्षा लेनी चाही । टाँगों में इतना दर्द बढ़ा कि उन पर चलना-फिरना कठिन हो गया । फिर भी वह मंगलमय भविष्य की कामना करके जीते ही रहे ।

एकान्त कारावास की इतनी अवधि, जिसमें सिवाय यातनाओं के और कुछ मिला नहीं, ऐसी परिस्थितियों में और कोई होता तो आत्महत्या के लिए उतारू हो जाता या किसी पागलखाने की शरण लेने के लिए विवश किया जाता । पर वह तो देशवासियों के उन सुनहरे स्वप्नों के साथ अपने को जोड़े हुए थे कि एक दिन त्याग और बलिदान के परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता मिलेगी। वह स्वयं तो जीवित रहा ही साथ ही अन्य कैदियों तथा ऐसे देशभक्तों, जिन पर दमन चक्र चल रहा था, स्वाभिमान से जीवित रहने का अपनी कविताओं में अभूतपूर्व प्रेरणादायक सन्देश दिया ।

अब नाजिम का स्वास्थ्य और खराब हो गया । बचने की आशा न रही । जेल अधिकारियों की उपेक्षा बढ़ती गई तो उन्होंने भूख हड़ताल कर दी । यह समाचार संसार में बिजली की तरह फैला । स्थान-स्थान पर सहानुभूति में सभाएँ की गईं और नाजिम की रिहाई की आवाज उठाई गई । करोड़ों व्यक्तियों की बुलन्द आवाज का अनुकूल प्रभाव पड़ा और तुर्की सरकार ने नाजिम को छोड़ दिया । फिर सरकार को उनसे अत्यधिक भय था अतः पूर्ण स्वतन्त्रता न दी गई । उसकी वाणी पूरे देश की वाणी थी जिसे सरकार सदैव के लिए बन्द कर देना चाहती थी ।

आखिर ६१ वर्षीय नाजिम ३ जून, १९६३ को मुहर्रम के दिन अपने देश से दूर मास्को में इस संसार से विदा हो गये । यह दिन मुस्लिम जगत के लिये ही नहीं वरन् समस्त विश्व के लिये शोक का दिन था क्योंकि इस दिन विश्व के महान कवि ने सबको जगाकर चिरनिद्रा प्राप्त की थी ।

अमर हुतात्मा—

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी

देश की स्वाधीनता में बाधक बने साम्प्रदायिक विष को पीकर बलिदान हो जाने वाले गणेशशंकर विद्यार्थी का जन्म आश्विन शुक्ला १४ सम्वत् १९४७ (सन् १८९०) को प्रयाग के अतरसुइया मोहल्ले में हुआ । उनका परिवार मध्यवर्गीय परिवारों में भी एक साधारण परिवार था । उनके पिता मुन्शी जयनारायण ग्वालियर रियासत में मुंगावली कस्बे के एक मिडिल स्कूल में सहायक अध्यापक थे ।

विद्यार्थी जी के पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, किन्तु वे बड़े ही मितव्ययी, सदाचारी और सादे स्वभाव के थे । सन्तोष को उन्होंने जीवन की सुख-शान्ति का मूल-मन्त्र बनाया हुआ था । अपने इन्हीं गुणों के कारण वे अपनी सन्तानों पर इतने पवित्र संस्कार डाल सके कि आगे चलकर उनके आदर्श पुत्र गणेशशंकर केवल कुटुम्ब का ही नहीं, प्रत्युत देश का मस्तक ऊँचा करके गाँधीजी जैसे महान मनस्वी की प्रशंसा एवं प्रेम के पात्र बनकर दिखला सके ।

मुंशी जयनारायण अपनी कठिन आर्थिक परिस्थितियों के कारण अपने होनहार पुत्र गणेशशंकर को कुछ अधिक शिक्षा न दिला सके । वे उसे केवल अँग्रेजी मिडिल तक की शिक्षा दिलाने के बाद यह आशा करने लगे कि गणेशशंकर नौकरी करके परिवार का बोझ बँटाये । गणेशशंकर ने पिता की विवशता अनुभव की और कानपुर में अपने बड़े भाई के पास नौकरी करने के लिए चले गये ।

चलते समय उनके पिता ने कहा कि "गणेश ! यह मैं अच्छी प्रकार जानता हूँ कि पढ़ने-लिखने में तुम्हारी रुचि है और तुम आगे पढ़ने की इच्छा रखते हो, किन्तु परिवार की स्थिति से तुम अनभिज्ञ नहीं हो । मैं हर प्रकार से विवश होकर ही तुम्हें नौकरी करने की अनुमति दे रहा हूँ । यदि तुम में शिक्षा की सच्ची लगन होगी तो तुम नौकरी करते हुए भी आगे पढ़ सकने के लिए मार्ग निकाल लोगे। मनुष्य यदि अपने उद्देश्य का धनी है तो वह पर्वतों के बीच भी अपना रास्ता बना लेता है ।

पिता के प्रेरणापूर्ण शब्दों ने गणेशशंकर पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला और वे मन ही मन यह संकल्प लेकर कानपुर के लिये विदा हो गये कि हजार बाधाओं के रहते हुए भी मैं जीवन की उन्नति और जन सेवा का मार्ग निकाल लूँगा ।

गणेशशंकर कानपुर में जब अपने बड़े भाई के पास पहुँचे और अपना मन्तव्य बतलाया तो उनके दूरदर्शी भाई ने उन्हें आगे पढ़ने के लिए प्रेरित किया । उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनका उद्योगी एवं परिश्रमी भाई अधिक से अधिक शिक्षा पाये और जीवन में विकास करे । निदान उन्होंने अपने सीमित साधनों में से भी खर्च निकालकर गणेशशंकर को इन्ट्रेन्स के पाठ्यक्रम की पुस्तकें खरीद दीं और कुछ खर्च देकर पिता के पास पुनः इस प्रार्थना के साथ भेज दिया कि वे उन्हें स्कूल में भरती कराकर आगे पढ़ने का अवसर दे दें । पिता की इच्छा में फूल खिल उठे और उन्होंने पुत्र को खुशी-खुशी इन्ट्रेन्स में भरती कराकर भगवान को धन्यवाद दिया ।

गणेशशंकर ने खूब मन लगाकर पढ़ा और बहुत ही अच्छे नंबरों के साथ इन्ट्रेन्स की परीक्षा द्वितीय श्रेणी में पास की । आगे पढ़ने के लिए उन्होंने इलाहाबाद में कायस्थ कालिज में प्रवेश लिया, किन्तु किसी प्रकार भी आगे का खर्च न चल सकने के कारण सात-आठ माह बाद उन्हें कालिज छोड़ देना पड़ा ।

किन्तु इससे उन्होंने अपने उत्साह को मन्द नहीं होने दिया और कानपुर में करेन्सी कार्यालय में नौकरी कर ली । किन्तु स्वतन्त्र विचार के उद्योगी युवक गशेशशंकर विद्यार्थी को सरकारी गुलामी पसन्द न आई और उन्होंने करेन्सी की नौकरी छोड़कर कानपुर के पृथ्वीनाथ हाई-स्कूल में अध्यापन का कार्य कर लिया ।

अपने अध्यापन काल में विद्यार्थी जी न केवल छात्रों को पढ़ाते ही थे, बल्कि उनके हृदय में देशभक्ति का संचार करते और पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिखा करते थे । इसी समय दिल्ली दरबार के अवसर पर महाराजा बड़ौदा ने अपने स्वाभिमान की रक्षा में कोई ऐसा आचरण व्यक्त कर दिया जो दरबार की प्रतिष्ठा के अनुरूप न था । देश के सरकारी पिट्ठू अखबारों ने महाराज बड़ौदा की बड़ी आलोचना की । गणेशशंकर से यह अन्याय सहन न हुआ और उन्होंने स्वाभिमान की रक्षा करने वाले महाराज बड़ौदा के आचरण को उचित ठहराते हुए बड़े ही तेजस्वी शब्दों में 'कर्मयोगी' आदि पत्रों में लेख लिखे ।

गणेशजी का यह स्वतन्त्र साहस उनकी जिन्दगी में एक महत्वपूर्ण मोड़ सिद्ध हुआ । जनता ने उनकी प्रतिभा पहचानी और उन्होंने जनता की आवश्यकता समझी । स्कूल के अधिकारियों ने गणेशशंकर के तेजपूर्ण विचारों को अहितकर बताया तो उन्होंने स्कूल की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया ।

उसी समय 'सरस्वती' के सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को एक योग्य सहायक की आवश्यकता थी । वे गणेशजी के विचारों की तेजस्विता और लेखनी की विशेषता से परिचित हो चुके थे । उन्होंने उनको अनुरोधपूर्वक 'सरस्वती' में बुला लिया और ३० रु० मासिक पारिश्रमिक का प्रस्ताव करते हुए कहा- "विद्यार्थी जी! 'सरस्वती' के पास साहित्य-सेवा के अवसर के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं है ।" गणेशशंकर ने विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हुए केवल २५ रुपया पारिश्रमिक ही उनके लिये पर्याप्त होगा । उन्होंने अपना जीवन पैसे के लिए नहीं, किसी भी माध्यम से देश-सेवा के लिये समर्पित कर देने का निश्चय कर लिया है और 'सरस्वती' ने उन्हें इसका अवसर देकर कृतार्थ कर दिया है ।

प्रस्तावित वेतन से ५ रुपये कम लेकर श्रीगणेशशंकर ने सरस्वती में इतनी ऊँची लगन और गहरे परिश्रम से सेवा की कि आचार्य द्विवेदी ने एक स्थान पर व्यक्त किया- "विद्यार्थी जी जब तक मेरे साथ रहे, उन्होंने बड़ी मुस्तैदी और परिश्रम से सारा काम किया । वे रोज दो मील पैदल चलकर प्रातःकाल जुही जाते थे और सायंकाल को वापस आते थे । उनकी शालीनता, सुजनता और परिश्रमशीलता ने मुझे मुग्ध कर लिया । विद्यार्थी जी में ज्ञानार्जन की इतनी लगन थी कि वे बहुधा रास्ते में चलते हुए भी कोई न कोई अखबार अथवा पुस्तक का अध्ययन किया करते थे ।

सरस्वती की निष्काम सेवा ने उन्हें भारत के पत्रकार जगत में विख्यात कर दिया । जिसके फल-स्वरूप उन्हें इलाहाबाद के 'अभ्युदय' साप्ताहिक ने द्विवेदी जी से माँग लिया । द्विवेदी जी ने उन्हें राजनीतिक विचारधारा विकसित करने का परामर्श देकर आशीर्वादपूर्वक 'अभ्युदय' का सम्पादन भार सँभाल लेने के लिए अनुमति दे दी ।

देश की चिरवांछित स्वाधीनता के लिए सेवा करने के इच्छुक गणेशजी को अब उपयुक्त क्षेत्र मिल गया था और उन्होंने निर्द्वन्द्व होकर कलम उठाई और अपने तेजस्वी विचारों से राजनीतिक वातावरण में एक हलचल भर दी। किन्तु कुछ समय बाद बीमार हो जाने के कारण उन्हें 'अभ्युदय' से हटना पड़ा।

स्वस्थ हो जाने के बाद वे फिर मैदान में आये। किन्तु अभ्युदय के माध्यम से नहीं, बल्कि 'प्रताप' नामक एक नये साप्ताहिक की योजना लेकर। अपनी बीमारी के समय उन्होंने 'अभ्युदय' के सम्पादक का पद जिन मित्र को समर्पित कर दिया था, उनसे वापस लेना उचित न समझा। साथ ही देश में अच्छी पत्र-पत्रिकाओं की कमी की पूर्ति में योगदान करने के इरादे से उन्हें अपने नये पत्र का प्रकाशन करने की योजना उचित ही लगी।

'प्रताप' की योजना का प्रस्ताव करते समय उन्होंने अपने सहयोगी मित्र पं० शिवनारायण मिश्र के निराशापूर्ण प्रश्न का जो उत्तर दिया, वह वास्तव में कुछ करने की आकांक्षा रखने वालों के लिए एक प्रेरणप्रद शिक्षा से कम नहीं है। उन्होंने कहा-"रुपये-पैसे व प्रेस आदि अन्य साधनों की कमी को हम लोग अपने अनवरत परिश्रम एवं लगनशीलता से पूरी कर लेंगे। हम निःस्वार्थ भाव से जनता की सेवा का व्रत लेकर कार्य करेंगे और जनता हमारा सहयोग करेगी। मिश्रजी आप निराश न हों, आत्मविश्वास के साथ पुरुषार्थ का सहारा लेकर मैदान में आइए तो। हम लोग लेखन से लेकर चपरासी तक का सब काम जब स्वयं करेंगे तो कोई कारण नहीं कि हमारी जनोपयोगी योजना सफल न हो।"

श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ने ऐसा ही किया और साधनों के अभाव में भी प्रताप चल निकला। उन्होंने अपने पत्र की नीति किसान-मजदूर तथा देशी राज्यों की पीड़ित एवं शोषित जनता का हित समर्थन बनाई। उन्होंने रायबरेली के किसानों, कानपुर के मिल मजदूरों का समर्थन करते हुये चम्पारन में गोरों के अत्याचार की कड़ी आलोचना शुरू करके जन-स्वाधीनता का संघर्ष छेड़ दिया। इस राष्ट्रीय सेवा के पुरस्कार स्वरूप उन्हें पाँच बार जेल यात्रा करनी और यातना सहनी पड़ी।

श्री गणेशशंकर की इन जीवन्त सेवाओं ने उन्हें गाँधीजी के निकटस्थ कर उनका कृपा-पात्र बना दिया और तब तो उन्होंने होम रूल आन्दोलन, कानपुर के सूती मिल मजदूरों की हड़ताल, रायबरेली कृषक-संघर्ष, स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन और नमक-सत्याग्रहों में सक्रिय भाग लेकर वह महत्वपूर्ण कार्य कर दिखाया, जिसके लिये वे प्रांतीय राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गये और जनता द्वारा १९२५ में कानपुर के एक धन कुबेर के मुकाबले चुनाव में जिताकर प्रान्तीय कौंसिल में भेजे गये। किन्तु उन्हें धारा सभा का निष्क्रिय जीवन पसन्द न आया। वे तो मैदान में सिपाही बनकर देश की स्वाधीनता के लिये सक्रिय सेवा करना चाहते थे। निदान उन्होंने १९२९ में धारा सभा का त्याग कर दिया।

महात्मा गाँधी ने जब सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन चलाया तो विद्यार्थी जी इस आन्दोलन के कर्णधारों की अग्रिम पंक्ति में आ खड़े हुए। कानपुर में रेल अधिकारियों की मनमानी का उन्होंने सक्रिय विरोध किया। एक बार तो रेलवे के जनरल मैनेजर ने उनसे लिखित क्षमा याचना तक की।

'प्रताप' कार्यालय उस समय क्रान्तिकारियों का गढ़ बन गया था। वहाँ क्रान्तिकारियों की रूपरेखा तैयार होती आन्दोलनकारी वहाँ प्रश्रय लेते। यतीन्द्र नाथ दास, सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद जैसे स्वतंत्रता सेनानी उनसे परामर्श और सहयोग लेते थे। भगतसिंह उनकी ही प्रेरणा और सहयोग से जापान में रास बिहारी बोस से मिलने गये थे। पंजाब से कानपुर आकर बलवन्त सिंह के नाम से उन्होंने विद्यार्थी जी की सलाह पर ही क्रान्तिकारी गतिविधियों का संचालन किया था।

वे नहीं रहे। उनका असामयिक निधन हो गया। मौत किसे छोड़ती है परन्तु किसी-किसी की मौत भी उस व्यक्ति को अमर बना जाती है। मृत्यु से शत्रुता रखकर भयभीत होने वाले व्यक्तियों को वह पूरी तरह नष्ट कर देती है परन्तु जो उसे साथी-सहचर मानकर उसका स्वागत करते हैं उन्हें वह अमर बना देती है। विद्यार्थीजी ने हँसकर मृत्यु को गले लगाया और वे इतिहास में अमर हो गये। मृत्यु तो सुनिश्चित है जो पैदा होता है वह मरता अवश्य है। किन्तु जो इस जीवन को इस ढंग से जीते हैं कि मरने के बाद भी उनके कार्य उन्हें चिरस्मरणीय बना जाते हैं विद्यार्थी जी ऐसे ही व्यक्ति थे।

अत्याचार-पीड़ितों की सहायता में सर्वस्व समर्पण करने वाले योद्धा

उन दिनों देशी राज्यों की दशा बड़ी शोचनीय थी। वहाँ अयोग्य राजाओं का निरंकुश शासन चल रहा था। ये छोटे-बड़े भूखण्डों के एकमात्र कर्ता-धर्ता अपनी रियासत के निवासियों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं, कोई इस पर ध्यान देने वाला न था। इन राजाओं ने ब्रिटिश गवर्नमेंट की आधीनता स्वीकार करली थी और हर तरह से उसकी खुशामद किया करते थे। इसके बदले में उसने इनको 'बाह्य आक्रमणों' से बचाने की गारंटी दे रखी थी। नतीजा यह हुआ कि वे निर्भय होकर प्रजा का शोषण करने और उस धन को दुर्व्यसनों तथा शौकों की पूर्ति में उड़ाने लगे। जब 'स्वामी' की यह दशा थी तो 'सेवक' लोग क्यों पीछे रहते। रियासती अधिकारी और छोटे-बड़े राज्य कर्मचारी दोनों हाथों से गरीब प्रजा को लूटते-मारते थे और किसी का साहस 'उफ' करने तक का न होता था।

ऐसे समय में श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी (सन् १८९०-१९३१) ने कानपुर से 'प्रताप' (साप्ताहिक) को प्रकाशित करना आरम्भ किया । उसका उद्देश्य था दीन-दु:खी, अत्याचार पीड़ितों की आवाज को बुलन्द करना और उनके कष्टों को मिटाने के लिये आन्दोलन करना । विद्यार्थी जी स्वयं गरीबी में पले थे, आरम्भ से ही उनको जीवन निर्वाह के साधनों के लिए संघर्ष करना पड़ा था, इसलिये स्वभावत: ही उनमें दीन जनों के प्रति हार्दिक सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो गया था । उनका जन्म तथा पालन भी एक ऐसे देशी राज्य ग्वालियर में हुआ था, जहाँ उनके पिता मुन्शी जयनारायण जी एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी करते थे । इसलिये विद्यार्थी जी रियासतों की कुव्यवस्था और नादिरशाही से अच्छी तरह परिचित थे और उन्होंने आरम्भ से ही 'प्रताप' में रियासती प्रजा पर होने वाले अन्यायों का विरोध करना आरम्भ कर दिया था ।

यद्यपि ग्वालियर के शासक महाराज माधवराव सिंधिया अन्य अनेक देशी नरेशों की अपेक्षा सज्जन स्वभाव के और शासन-संचालन पर ध्यान देने वाले थे, तो भी समय-समय पर राज्य-कर्मचारियों द्वारा प्रजा का शोषण और उत्पीड़िन तो होना ही था । 'प्रताप' में अन्य रियासतों की तरह ग्वालियर के विरुद्ध भी शिकायतों के दो-चार 'पत्र' छपे थे । बात महाराज तक पहुँची और यह भी मालूम हुआ कि विद्यार्थी जी इसी रियासत के निवासी हैं । महाराज ने बात बढ़ाने के बजाय पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर ही अपना मतलब सिद्ध कर लेना उचित समझा और विद्यार्थी जी को बात-चीत के लिये ग्वालियर आमन्त्रित किया । खादी के मामूली धोती-कुर्ता पहने विद्यार्थी जी राजमहल में पहुँचे तो महाराज स्वयं उठकर खड़े हुए और कहने लगे-

"तशरीफ रखिये ! मैं इस राज्य में अपना स्थान आपके लिये खाली करने को तैयार हूँ । आप अपने उसूलों के मुताबिक राज्य कीजिये ।" विद्यार्थी जी के बैठ जाने पर उन्होंने फिर कहा- "मुझे इस बात का अभिमान था कि हमारी रियासत के एक होनहार व्यक्ति ने बाहर जाकर खूब नाम कमाया पर आपके 'पेपर' (अखबार) ने हमारे ही ऊपर सितम कर डाला ।"

विद्यार्थी जी पर न तो महाराज के व्यंग का कोई असर पड़ा और न वे उनकी खुशामद से पिघले । कहने लगे- "हम तो गरीबों के सेवक हैं । उनको कष्ट पाते देखते हैं तो उसे शासकों के सम्मुख प्रकट करके दूर कराने की चेष्टा करते हैं । अगर उन शिकायतों में कोई झूठी बात हो तो हम अखबार में अपनी गलती मान लेंगे।" चलते समय महाराज के मन्त्री एक अच्छी रकम भेंट करने लगे कि "यह आपका मार्ग व्यय है ।" विद्यार्थी जी ने उत्तर दिया-"हम थर्ड क्लास में सफर करने वाले हैं और 'प्रताप' इतना खर्च कर सकने में असमर्थ नहीं है ।" उनका स्वाभिमान और निष्पृहता देखकर सभी दंग रह गये । अपनी 'कृपा' की इस प्रकार उपेक्षा होते देख महाराज को रोष भी हुआ और उन्होंने 'प्रताप' को ग्वालियर राज्य में न मँगाने की राजाज्ञा दे दी ।

अवध के किसान तालुकेदारों के अत्याचारों से कराह रहे थे । ये 'लुटेरे' तरह-तरह की 'लगानों' और 'करों' के नाम पर गरीबों की पसीने की कमाई का इस प्रकार अपहरण करते थे कि दिन-रात मेहनत करने पर भी उनको दो वक्त भरपेट रोटी नहीं मिल पाती थी । जब कानपुर के निकटवर्ती रायबरेली जिले के किसान बहुत पीड़ित हुये और उन्होंने तालुकेदार वीरपाल सिंह के विरुद्ध सिर उठाया तो उसने गोली चलवाकर कितनों को ही हताहत कर दिया । विद्यार्थी जी के पास खबर पहुँची तो उन्होंने एक प्रतिनिधि भेजकर जाँच कराई और वीरपालसिंह की शैतानी का पूरा कच्चा चिट्ठा 'प्रताप' में प्रकाशित कर दिया ।

'तालुकेदार साहब' ऐसी बातों को कब सहन कर सकते थे । उन्होंने विद्यार्थी जी को नोटिस दे दिया कि "या तो माँफी माँगो, नहीं तो अदालत में मानहानि का दावा दायर कर दिया जायगा ।" उत्तर दिया गया-"आप खुशी से अदालत की शरण लें । हम वहीं आपकी करतूतों का भण्डाफोड़ करेंगे । माफी माँगने वाले कोई और होते हैं।" छह महीने तक मुकदमा चला, तीस हजार रुपया उसमें बर्बाद करना पड़ा, तीन मास की सजा भी भोगी, पर किसानों की दु:ख गाथा और तालुकेदारों के अन्याय संसार के सम्मुख प्रकट हो गये और उसी समय से जो किसान-आन्दोलन शुरू हुआ तो उसने जमींदारी प्रथा को जड़मूल से उखाड़ कर ही दम लिया ।

ऐसे थे श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी, जनता के सेवक और दीन-दु:खियों के बन्धु । मजदूरों पर कारखाने वालों की ज्यादती देखी तो उनसे भिड़ गये, चम्पारन में नील के खेती करने वाले गोरों को किसानों पर जुल्म करते देखा तो उनके विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा, फिजी आदि टापुओं में भारतीय कुलियों को पशुओं के समान कोड़े खाकर काम करते सुना तो उनकी हिमायत करने को खड़े हो गये । मतलब यह कि चाहे अपना निर्वाह कठिनाई से होता हो, इधर-उधर दौड़ते फिरना पड़े, आये दिन मुकदमों में फँसकर जेल के लोहे के सींखचों में बन्द होना पड़े, पर किसी जगह अन्याय होते देखकर विद्यार्थी जी चुप नहीं रह सकते थे । शक्ति और धन के मद में अंधे व्यक्ति निर्दोष लोगों को केवल उनकी निर्बलता के कारण सताते रहें, यह उनसे सहन नहीं होता था ।

जब वे अपने देशवासियों के अन्यायों का इस प्रकार डटकर विरोध करते थे, तो विदेशियों के जुल्म और शोषण को देखकर किस तरह चुप रह सकते थे ? "प्रताप ने अपने प्रथम अंक से ही अंग्रेजी अधिकारियों की पक्षपातपूर्ण नीति और देश को पराधीनता के बन्धनों में कसने की चालों के विरुद्ध लिखना और जनता को अपने स्वत्वों की रक्षा के लिये संगठित होकर खड़े होने की

प्रेरणा देना आरम्भ किया । नतीजा यह हुआ कि 'प्रताप' सरकार की आँखों में खटकने लगा और तरह-तरह से उसे दबाने की चेष्टा की जाने लगी। 'राज-द्रोही' लेखों के कारण उससे कई बार जमानतें माँगी गईं और जब्त की गईं । रायबरेली वाले मुकदमे के अवसर पर तो उसके सम्पादक तथा प्रकाशक से ३० हजार की जमानतें और मुचलके माँगे । अनेक सरकारी कर्मचारियों से उन पर दावा कराये गये, पाँच बार जेल की सजा दी गई, कितने ही देशी राज्यों में 'प्रताप' का प्रवेश बन्द कर दिया गया । पर इनमें से किसी प्रहार से विद्यार्थी जी विचलित नहीं हुए और जिस 'सेवा-धर्म' को उन्होंने अपनाया था, जीवन के अंतिम क्षणों तक उसका पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करते रहे ।

उनका अन्त तो ऐसा शानदार हुआ कि उसके उनके जीवन भर के कार्यों को और भी चमका दिया । वे हरदोई जेल से छूटकर घर आये ही थे और काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने को कराँची जाने ही वाले थे कि २४ मार्च, १९३१ को कानपुर में दंगा आरम्भ हो गया । हिन्दू मुसलमान पागल होकर एक दूसरे की हत्या करने और घरों में आग लगाने लगे । मुसलमानों के मुहल्लों में रहने वाले हिन्दुओं और हिन्दू मुहल्लों में मुसलमानों की स्थिति अत्यन्त संकटापन्न हो उठी । प्रतिक्षण उनको अपने मारे और लूटे जाने की आशंका होने लगी ।

यह दृश्य देखकर विद्यार्थीजी का हृदय तिलमिला उठा । आजन्म अन्यायों का विरोध करने वाला अपने ही नगरवासियों द्वारा ऐसा अन्याय होते कैसे देख सकता था ? बस वे कमर कसकर और अपने लिये खतरे की परवाह न करके दंगे के क्षेत्र में पहुँचकर विपत्तिग्रस्त व्यक्तियों की रक्षा का उपाय करने लगे । हिन्दू मुहल्लों में फँसे हुए अल्पसंख्यक मुसलमानों को वहाँ से हटाकर सुरक्षित स्थानों में पहुँचाया । दूसरे दिन २५ मार्च को भी यही क्रम रहा । दोपहर के तीन बजे तक बिना खाये-पिये हिन्दू मुहल्लों से डेढ़ दो सौ मुसलमानों को हटाकर अन्यत्र भिजवाया ।

उसी समय किसी ने आकर कहा कि मुसलमानी मुहल्लों में बहुत संख्या में हिन्दू फँसे हुए हैं और उन पर मुसलमानों का आक्रमण हो रहा है । विद्यार्थी जी तीन स्वयंसेवकों के साथ, जिनमें से एक मुसलमान था, मुसलमानी मुहल्ले में पहुँच गये । वहाँ से भी पाँच-सात व्यक्तियों को बाहर भिजवाया । पर जब वे एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ मुसलमानों की भीड़ जमा थी, तो वह उन्हीं को मारने के लिये टूट पड़ी । स्वयंसेवकों ने बहुत कहा कि इन्होंने तो आज ही दो सौ मुसलमानों को बचाया है, पर वे धर्मान्ध इन बातों को कब सुनने और समझने लगे । कुछ लोग विद्यार्थी जी को बचाने के लिये उन्हें अन्य स्थान की तरफ खींचने लगे तो उन्होंने कहा-"भाई आप मुझे घसीटते क्यों हैं ? मैं मृत्यु के भय से भागने वाला नहीं । एक दिन मरना ही है, तो फिर ऐसी महत्वपूर्ण मृत्यु से डरना ही क्या ? यदि मेरे रक्त से आपकी प्यास बुझ सकती है, तो मैं सहर्ष बलिदान होने को तैयार हूँ । आप अपनी इच्छा पूरी करें, मैं अपने कर्तव्यपालन के लिए प्रस्तुत हूँ ।"

इतना कहकर उन्होंने अपना सिर झुका दिया और आततायी की कुल्हाड़ी उनकी गर्दन के पार हो गई । श्री गणेशशंकर का यह आदर्श बलिदान सदा-सर्वदा के लिए अमर हो गया ।

इस तरह यद्यपि उस समय पाशविकता द्वारा मानवता का अन्त कर दिया गया, हिंसा ने अहिंसा को, स्वार्थ ने परमार्थ को पददलित कर दिया पर प्रकृति में ऐसी अस्वाभाविक प्रक्रिया अधिक समय तक नहीं टिक सकती। शीघ्र ही इस 'महा बलिदान' की प्रतिक्रिया हुई और राष्ट्रपिता गाँधी ने घोषणा की-'हमें तो अब गणेशशंकर विद्यार्थी बनना चाहिए। वह मरा नहीं अमर हो गया । मैं भी उसी की तरह आततायियों के फरसों और भालों से मरने का आकांक्षी हूँ । " नेहरूजी ने कहा गणेशजी जैसी शान से जिये वैसे ही मरे ।" इससे अधिक कोई और क्या माँग सकता है ।"क्या हम भी उनके उदाहरण से- अपने धर्म, अपने मिशन और अपने कर्तव्य के लिए सब कुछ अर्पण करने की प्रेरणा ग्रहण करेंगे ?"

भारतीय संस्कृति के प्रतीक

एक बड़े विद्यालय में, जिसमें अधिकांश छात्र अपटूडेट फैशन वाले दिखाई पड़ते थे, एक नये विद्यार्थी ने प्रवेश लिया । प्रवेश के समय उसकी पोशाक- धोती, कुर्ता, टोपी, जाकेट और पैरों में असाधारण चप्पल ।

विद्यालय के छात्रों के लिये यह सर्वथा नया दृश्य था । कुछ इस विचित्रता पर हँसे, कुछ ने व्यंग्य किया - तुम कैसे विद्यार्थी हो जो तुम्हें अपटूडेट रहना भी नहीं आता, कम से कम अपना पहनावा तो ऐसा बनाओ जिससे लोग इतना तो जान सकें तुम एक बड़े विद्यालय के विद्यार्थी हो ।

छात्र हँसा, हँसकर उत्तर दिया- "अगर पोशाक पहनने से ही व्यक्तित्व ऊपर उठ जाता तो पैंट और कोट पहनने वाला हर अँग्रेज महान पंडित होता, मुझे तो उनमें ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती । रही शान घटने की बात तो अगर सात समुद्र पार से आने वाले और भारतवर्ष जैसे गर्म देश में ठण्डे मुल्क के अँग्रेज केवल इसलिए अपनी पोशाक नहीं बदल सकते कि वह उनकी संस्कृति का अंग है तो मैं ही अपनी संस्कृति को क्यों हेय होने दूँ ? मुझे अपने मान, प्रशंसा और प्रतिष्ठा से ज्यादा धर्म प्यारा है, संस्कृति प्रिय है, जिसे जो कहना हो कहे मैं अपनी संस्कृति का परित्याग नहीं कर सकता ? भारतीय पोशाक छोड़ देना मेरे लिये मरणतुल्य है ।"

भाव संवेदना सूखने न पाये

एक बड़े क्रान्तिकारी को अपनी मातृभूमि के प्रति कर्तव्यपरायणता निभाने के अपराध में- अपनी मातृभूमि को विदेशियों के चंगुल से छुड़ाने के अपराध में फाँसी की सजा सुनाई गई ।

पीछे बच रहीं दो आत्माएँ । एक तो उनकी विधवा पत्नी तथा दूसरी उनकी युवा कन्या । कन्या के विवाह का प्रश्न दुःखों की असीम विस्तृत भूमि को चिढ़ाता-सा चट्टान जैसा समक्ष खड़ा था, कई अवरोध थे। पैसे की कमी, संरक्षक का अभाव तथा विपन्नता । विधवा की यह दशा देखकर एक शिक्षित नवयुवक ने स्वयं आगे बढ़कर विवाह मंजूर कर लिया । युवक राजी भी हुआ तो पुलिस अधिकारी ने धमकी दी । "क्रांतिकारी की कन्या से विवाह करोगे, तो परिणाम अच्छा न होगा ।"

वह बेचारा डर गया। परेशानी की बात एक सम्पादक तक पहुँची । उनका संवेदनशील हृदय द्रवित हो उठा । वे सीधे उक्त गाँव गये और उस पुलिस अधिकारी से मिले । कहा "आपको एक असहाय तथा दुःखी परिवार को और अधिक दुःखी तथा चिन्ताकुल बनाने में आखिर क्या मिलेगा ? सोचिये- यदि उस क्रान्तिकारी के स्थान पर आप होते-तो क्या आपको यह स्थिति उत्पन्न करना अच्छा लगता ? यदि आप किसी के आँसू पोंछ नहीं सकते, तो फिर किसी को रुलाने का भी आपको क्या अधिकार है ?"

पुलिस अधिकारी पानी-पानी हो गया । उसने अपने कृत्य पर क्षमा माँगी बाद में उसने स्वयं कन्या का विवाह उसी युवक से करवाया और सारा व्यय भार भी स्वयं ही उठाया ।

यों संवेदना उड़ेलने वाले तथा विवाह में कन्या के पिता का उत्तरदायित्व उठाने वाले सम्पादक थे, श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ।

स्वाभिमानी को किसी बात की चिन्ता नहीं

गणेशशंकर विद्यार्थी अपनी शिक्षा सम्पन्न कर एक विद्यालय में अध्यापन कार्य करने लगे । उन दिनों अँग्रेजों का राज्य था । तब राष्ट्रीय समाचार पत्र के ग्राहक बनना और उसे पढ़ना तक अपराध समझा जाता था ।

पं० सुन्दरलाल ने 'कर्मयोगी' साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया था । उस समय इस राष्ट्रीय पत्र की देश में सर्वत्र धूम थी । गणेशजी को यह पत्र बहुत पसन्द था । अपने विद्यालय के रिक्त समयांश में वह 'कर्मयोगी' पढ़ रहे थे । प्रधानाध्यापक की दृष्टि कहीं उस समाचार-पत्र पर पड़ गई। उन्होंने गणेशजी को कार्यालय में बुलाकर डाँटा । भला स्वाभिमानी गणेशजी प्रधानाध्यापक की इस अनुचित बात को कैसे सहन कर सकते थे । उन्होंने तुरन्त विद्यालय की सेवा से त्याग-पत्र दे दिया । उन्होंने इस बात की भी चिन्ता न की कि इस समय उनकी आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय है और पूरे परिवार का उत्तरदायित्व अकेले उन्हीं के कंधों पर है ।

'वन्देमातरम्' मन्त्र के द्रष्टा-
बंकिमचन्द्र

श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय बंगाल के बहरामपुर जिले में डिप्टी मजिस्ट्रेट थे । सरकारी नौकरी होते हुए भी उनमें राष्ट्रीयता की भावना जितनी अधिक देखने में आती थी उसका उदाहरण अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है ।

बहरामपुर में अँग्रेजी फौज की एक छोटी-सी छावनी थी । उसके सामने एक बड़ा मैदान था जिसके बीच में होकर एक पगडण्डी कचहरी तक जाती थी । एक दिन बंकिम बाबू शाम के समय उसी रास्ते से घर लौट रहे थे कि एक अँग्रेज ने उनकी पालकी के कहारों को रोका । जब बंकिम बाबू ने उसे डाँटा तो वह उनको पकड़कर मैदान के बाहर निकाल आया । इस अपमान से वे इतने क्रोधित हुए कि वहाँ एकत्रित तमाम अँग्रेजों को चेतावनी देते हुए घर चले गये और दूसरे ही दिन उस अँग्रेज पर जिसका नाम कर्नल डाफिन था और जो उस छावनी का अफसर था, जज की अदालत में दावा कर दिया ।

जब मुकदमे का सम्मन मिला तो कर्नल साहब के होश ठिकाने आये । पहले तो उसने अन्य अँग्रेज अधिकारियों का दबाव डलवाकर मामले को रफा-दफा करने की कोशिश की और फिर जज साहब से सिफारिश कराई, पर जब इसमें सफलता नहीं मिली, तो मुकदमे की पैरवी के लिए वकील ढूँढ़ने लगा । पर बहरामपुर का कोई वकील उसकी की तरफ से मुकदमा लड़ने को तैयार न हुआ और सबने यही उत्तर दिया कि- हमने बंकिम बाबू के वकालतनामे पर दस्तखत कर दिये हैं । अन्त में कर्नल को अपनी शान छोड़कर 'काले आदमी' से क्षमा माँगनी पड़ी, तब कहीं जाकर मामला समाप्त हो सका ।

जातीय गौरव की रक्षा का इस प्रकार ध्यान रखने वाले बंकिमचन्द्र (सन् १८३७ से १८९४) का जन्म कलकत्ता के पास 'कांटालपाड़ा' ग्राम में हुआ था । उनके पिता श्री यादवचन्द्र भी डिप्टी कलक्टर थे और अपने समय के एक बड़े योग्य और तेजस्वी अधिकारी माने जाते थे। वे मिदनापुर जिले में काम करते थे, इसलिए बंकिम बाबू की प्रारम्भिक शिक्षा वहीं पर हुई । उस समय तक मैट्रिक, इण्टर, बी०ए० आदि परीक्षायें प्रचलित नहीं हुई थीं, केवल जूनियर, सीनियर के नाम से परीक्षा ली जाती थीं । सन् १८५८ में जब बंकिम बाबू कालिज की

पढ़ाई समाप्त कर चुके तो उसी वर्ष कलकत्ता विश्व-विद्यालय का कार्यारम्भ हुआ और घोषणा की गई कि ५ अप्रैल को बी० ए० की परीक्षा ली जायेगी । उस समय केवल दो तीन महीने का समय शेष था, इसलिए केवल १३ विद्यार्थी परीक्षा में बैठने को तैयार हुए । इनमें से केवल दो पास हुए जिनमें बंकिम बाबू का स्थान प्रथम था ।

इस प्रकार बंगाल के प्रथम बी० ए० होने के कारण इनकी चारों ओर बड़ी प्रशंसा होने लगी और बंगाल के गवर्नर हालिडे साहब ने स्वयं उनको बुलाकर बधाई दी तथा डिप्टी मजिस्ट्रेट के पद पर काम करने को कहा, जो उस समय भारतवासियों के लिये बड़ी चीज मानी जाती थी । बंकिम बाबू ने लार्डसाहब को धन्यवाद देकर कहा- "इस सम्बन्ध में मैं अपने पिता से पूछकर जैसा वे कहेंगे वैसा करूँगा ।"

लार्डसाहब ने आश्चर्य के साथ कहा-"क्या डिप्टी मजिस्ट्रेट से बढ़कर आप किसी अन्य पद की आशा रखते हैं ?"

बंकिम- "आपका कथन ठीक है, पर मैं पिताजी की आज्ञा लिये बिना कोई काम नहीं करता, इसीलिए तुरन्त स्वीकृति देने में असमर्थ हूँ ।"

पिताजी इस समाचार से बड़े प्रसन्न हुए और बंकिम बीस वर्ष की आयु में ही डिप्टी मजिस्ट्रेट बन गये । पर इतने बड़े अधिकारी होकर भी उन्होंने भारतीय संस्कृति की मर्यादा का पालन करते हुए पिता की आज्ञा को इतना महत्व दिया, इससे लार्डसाहब भी बड़े प्रभावित हुए ।

साहित्य सेवा का व्रत

वह समय भारतवर्ष में एक नवयुग के प्रभात का था। सन् १८५७ का गदर समाप्त हो चुका था और महारानी विक्टोरिया ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकार समाप्त करके शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिया था । वे इस देश को आधुनिक प्रगति के मार्ग पर चलाना चाहती थीं । इसलिये यहाँ शीघ्रतापूर्वक शिक्षा का प्रचार किया जाने लगा, प्रेस खोले जाने लगे, समाचार-पत्रों का प्रकाशन होने लगा । इस प्रकार चारों ओर एक नवीन सार्वजनिक जाग्रति का दृश्य दिखाई पड़ने लगा और कितने ही प्रबुद्ध व्यक्ति समाज हितकारी प्रवृत्तियों में भाग लेने को अग्रसर होने लगे ।

आवश्यकता तो यह थी कि बंकिम बाबू जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी समस्त शक्ति देश की प्रगति के कार्यों में ही लगाते पर उस समय न तो इतने साधन थे और न कोई स्पष्ट कार्यक्रम ही था । इसलिए उन्होंने सरकारी नौकरी से जो समय बचता था, उसमें जनता के लिए प्रेरणादायक साहित्य की रचना करने का निश्चय किया । उस समय बंगला भाषा की दशा कैसी थी, इसका वर्णन करते हुए महाकवि रवीन्द्रनाथ ने एक लेख में कहा था -

"तब बंग-भाषा को कोई श्रद्धा के साथ नहीं देखता था । संस्कृत के पण्डित उसे 'ग्राम्य भाषा' कहते थे और अँग्रेजी के विद्वान उसे 'मूर्खों की भाषा' बतलाते थे । बंगला में ग्रन्थ रचना करके यश प्राप्त करने की सम्भावना पर कोई स्वप्न में भी विश्वास नहीं करता था । असम्मानित बंगला भाषा उस समय अत्यन्तहीन और मलिन वेश में कालयापन करती थी ।"

मातृभाषा की यह हीनावस्था बंकिम बाबू को बहुत खटकने लगी और उन्होंने यह भी समझ लिया कि जब तक हमारे साहित्य का विकास न होगा तब तक देश में नव-जीवन का संचार भी नहीं हो सकता । इसलिए उन्होंने साहित्य-सेवा का व्रत लिया और कुछ ही समय में ऐसी रचनायें प्रस्तुत करके जनता के सम्मुख रखीं, जिससे उसके दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन हो गया । जो लोग उस समय तक शृंगार अथवा अश्लीलतापूर्ण हास्य की दस-पाँच पुस्तकों को ही 'साहित्य' समझा करते थे, वे बंकिम बाबू की 'दुर्गेशनन्दिनी' 'कपाल कुण्डला' 'आनन्दमठ' 'देवी चौधरानी', 'सीताराम', 'कृष्ण चरित्र' आदि अभिनव और एक से एक बढ़कर प्रेरणादायक रचनाओं को पढ़कर एक नई दिशा में सोचने-विचारने लगे ।

बंकिम बाबू ने उपन्यासों की रचना पर ही विशेश ध्यान दिया। इसका कारण यह था कि उस आरम्भिक युग के पाठकों से यह आशा करना कि वे अधिक गम्भीर विषयों की पुस्तकों को रुचिपूर्वक पढ़ सकेंगे ठीक न था। नये और पढ़ने-लिखने में अनभ्यस्त पाठक कथा-साहित्य को ही पढ़ सकते हैं, इसलिए तत्कालीन विद्वान उनकी रुचि का मार्जन करने के लिए इसी माध्यम का सहारा लेते थे । यद्यपि अधिकांश व्यक्ति उपन्यासों को मनोरंजन के लिये ही पढ़ते हैं, पर बंकिम बाबू ने अपने सभी उपन्यासों में पाठकों के समक्ष एक विशेष आदर्श रखा जिससे समाज-सुधार या देशोत्थान का कोई उद्देश्य पूरा हो सके ।

इतना ही नहीं उन्होंने अपने कई उपन्यासों द्वारा राष्ट्र-निर्माण और देश की स्वाधीनता का भी मार्गदर्शन किया । इस दृष्टि से उनका 'आनन्दमठ' भारतीय-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर चुका है । इसमें एक ऐसे देशभक्त संन्यासी-दल की कथा है जिसने देश को विदेशियों की दासता से मुक्त कराने के लिये गुप्त रूप से सैनिक तैयारी की थी और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हँसते-हँसते अपने प्राणों का बलिदान किया था । यद्यपि आरम्भ में लोगों ने इसके महत्व को पूरी तरह अनुभव नहीं किया पर जब सन् १९०५ में अँग्रेजी शासन से देश को स्वतन्त्र करने के लिए एक तीव्र आन्दोलन आरम्भ हुआ, तब बहुसंख्यक नवयुवकों ने इसी उपन्यास से प्रेरणा लेकर गुप्त-समितियाँ स्थापित कीं और सशस्त्र क्रान्ति का उद्योग करके देशोद्धार के यज्ञ में प्राणों की आहुति दे दी । अँग्रेज अधिकारी इस सम्भावना को पहले ही समझ गये थे, इसलिए उन्होंने उसी

समय बंकिम बाबू से जवाब तलब किया और उनकी नौकरी जाते-जाते बची थी।

इस 'आनन्दमठ' में ही प्रथम बार 'वन्दे-मातरम्' मंत्र का उल्लेख किया गया है। एक समय था जब 'वन्दे मातरम्' के जयघोष से भारत की शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार थर-थर काँपने लगी थी और इसका उच्चारण करने पर सैकड़ों देशभक्तों को जेल और बेंतों की सजा सहन करनी पड़ी थी। आज भी हमारे देश के बालक से लेकर वृद्ध तक 'वन्देमातरम्' को सुनकर भारत भूमि के प्रति जिस अनिर्वचनीय भाव का अनुभव करते हैं, उससे इसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है और हम श्रद्धा पूर्वक इस मन्त्र के 'ऋषि' बंकिम बाबू को प्रणाम करते हैं।

उनके उपन्यासों में पुरुषों को ही देशभक्ति और वीरता की प्रेरणा नहीं दी गई है वरन् ऐसी स्त्रियों का भी चरित्र-चित्रण किया गया है जिन्होंने देश के शत्रुओं का मुकाबला करके तलवार चलाई। यद्यपि बंगाली स्त्रियों को देखते हुये यह एक असम्भव कल्पना थी, तो भी इस प्रेरणा से देश में ऐसी कई युवतियाँ आगे आयीं, जिन्होंने क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होकर महत्वपूर्ण कार्य किया और आवश्यकता होने पर पिस्तौल लेकर देश के शत्रुओं को मारने के लिये आगे बढ़ीं।

इस प्रकार बंकिम बाबू ने साहित्य-सृजन द्वारा देश में एक ज्योति जगाई, जिसके प्रकाश से आज भी हमारे हृदय आलोकित हो रहे हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि साहित्य की शक्ति अल्प नहीं है, वरन् यदि उसका विचार-पूर्वक उपयोग किया जाय तो वह राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के उत्थान का एक महान साधन बन सकता है।

गोवा के प्रखर देशभक्त-

डा० माश्कार हंस

जब-जब स्वाधीनता का पावन पर्व आता है मन में एक कसक-सी उठती है। हम पचास करोड़ भारतवासी एक होकर आजादी की खुशियाँ मना रहे हैं और हम में से एक, हमारा ही सहोदर पुर्तगाली कारावास में पड़ा गत पन्द्रह वर्षों से यातना सह रहा है-चौबीस साल की लम्बी यातना, सत्तर वर्ष की इस वृद्धावस्था में और एक हम हैं, जिन्हें उनका कभी स्मरण तक नहीं होता। क्या अपराध किया था उन्होंने ? आजादी के लिए आवाज उठायी थी न ? पर गोवा आजाद हुए भी आज कितने वर्ष बीत गए। वे व्यवहार कुशल नहीं 'पागल' थे। पागल न होते तो क्या आज इस स्थिति तक पहुँचते। क्या कमी थी उनमें।

पुर्तगाल गये थे-बैरिस्टर बनने, मजिस्ट्रेट बनने। लेकिन अन्त में क्या बने ? डा० माश्कार जिस दिन पुर्तगाल के कोइंबा विश्वविद्यालय में दाखिल हुए, वह उनके जीवन का एक ऐतिहासिक दिन था। प्राध्यापकों के रूप में जिन अर्थवेत्ता का उनसे परिचय हुआ, वे थे डा० सालाजार। इन्हीं डॉ० सालाजार के सर्वप्रिय होनहार, कुशाग्र बुद्धि विद्यार्थी डॉ० माश्कार के नाम से सम्बोधित हुए। माश्कार योग्य थे। वे प्रखर प्रतिभा सम्पन्न थे- अपने सहपाठी और पुर्तगाल के वर्तमान प्रधानमंत्री मारसेल कायतान से ही नहीं, बल्कि सब से अधिक।

मारसेल कायतान ने अपने गुरु डा० सालाजार का साथ न छोड़ा और आज बने हैं सालाजार के उत्तराधिकारी पुर्तगाल के प्रधानमंत्री। यदि डा० माश्कार भी सालाजार की नीतियों के समर्थक बने रहते तो आज क्या बने होते ?

किन्तु वे कुछ न बने होते क्योंकि वे 'पागल' थे न। ज्यों ही सालाजार ने पुर्तगाल की बागडोर सँभाली। डा० माश्कार ने एक दूसरा ही सपना देखना शुरू कर दिया। वे गोवावासियों में, विशेषतः ईसाई जगत में एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण की कल्पना साकार करने लगे। उन्हें यह देखकर मर्मान्तक पीड़ा हुई कि गोवावासी अपने को भारतीय कम और पुर्तगाली अधिक मानते हैं। अपनी मातृभूमि के लिए इनमें स्वाभिमान क्यों नहीं।

उन्होंने लिखना शुरू किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दो उपन्यासों 'नौका डूबी' और 'घरे-बाहिरे' का पुर्तगाली रूपान्तर किया? गाँधीजी की आत्मकथा का भी। रामायण पर भी उन्होंने पुर्तगाली में एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख डाली।

परिवर्तन एवं प्रभाव की इसी विकट स्थिति से वे वर्षों तक संघर्ष करते रहे। उनके हृदय में एक अद्भुत आस्था थी और वे व्यग्र होकर अनुकूल समय की बाट जोह रहे थे।

तभी उन्होंने सुना कि डा० लोहिया नामक एक क्रान्तिकारी गोवा-मुक्ति के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। बस, इतना ही था कि उन्होंने पुर्तगाल से गोवा की राह पकड़ी। इस पर मित्र कहने लगे- "यह क्या कर रहे हो ? यहाँ क्या कमी है तुम्हें ? इतने बड़े लेखक हो, पत्रकार हो, यहीं बैठे-बैठे कुछ क्यों नहीं करते ?" पत्नी रो पड़ी- "मेरे लिए क्या सोचा ? आप तो आराम से जेल में जाकर बैठ जायेंगे, परन्तु मैं अकेली कहाँ रहूँगी ? क्या खाऊँगी ?" एक सहृदय ने समझाया- " तुम वस्तुस्थिति समझते क्यों नहीं ? गाँधीजी का सत्याग्रह सफल रहा इसलिए कि अँग्रेज विवेकशील थे। पुर्तगाल के खिलाफ तुम्हारी गाँधी-नीति तुम्हारा अस्तित्व ही मिटाकर रख दे, तो कोई आश्चर्य नहीं। ... पर माश्कार के सामने अस्तित्व का क्या कभी प्रश्न रहा ?

गोवा आकर देखते हैं- वीरान पड़ा है गोवा। कुछ देशभक्त कारावास में यातना सह रहे हैं, कुछ बम्बई और पूना की ओर संगठन कार्य में संलग्न हैं। न किसी को बोलने की अनुमति, न लिखने की। सर्वत्र पुलिस का एकछत्र साम्राज्य है।

डा. माश्कार ने पुर्तगाली साम्राज्यवाद के विरुद्ध लेख लिखे । किन्तु पुर्तगाली भाषा के इस नर-केसरी लेखक के प्रखर लेखों को प्रकाशित करने का साहस किस में था ? जब कुछ न बन सका तो उन्होंने सिर पर चढ़ा ली बगावत की निशानी- सफेद गाँधी टोपी । तब भी सरकार ने उन्हें बन्दी न बनाया ।

यों तो गोआ सरकार उन्हें आसानी से गिरफ्तार कर सकती थी, किन्तु सरकारी अधिकारियों ने सुना था कि वे किसी समय पुर्तगाल के प्रधानमंत्री डॉ० सालाजार के प्रिय विद्यार्थी रह चुके हैं । इसलिए उन्होंने एक नई नीति अपनाई । माश्कार को गिरफ्तार करने की अपेक्षा जिनके यहाँ वे जाते या जिनसे वे मिलते-जुलते पुलिस उन्हें परेशान करने लगी । मित्र और रिश्तेदार कहने लगे- ''भाई, गुनाह तो तुम करते हो और सजा हमें मिल रही है ।'' माश्कार असमंजस में पड़ गये । आखिर जिस प्रकार जरासंध के डर से नहीं, किन्तु जरासंध के आक्रमण से मथुरा के लोगों को बचाने के लिए श्रीकृष्ण ने 'रण' छोड़ दिया था, उसी प्रकार उसी वृत्ति से माश्कार गोवा छोड़कर बम्बई चले आये । सालाजार को जब इस बात का पता लगा कि अब वे बम्बई रहकर राष्ट्रवादी गोवा वासियों का नेतृत्व करने वाले हैं, तब वे तुच्छता से बोल उठे कि 'यह तो पागल है ।' बम्बई में उन्हें गोवावासियों की चार-छह पार्टियाँ दिखायी दीं । कोई काँग्रेसी, कोई समाजवादी, कोई कोंकणीवादी तो कोई महाराष्ट्रवादी । गोवा की आजादी का कोई चिह्न कहीं नहीं । क्या किया जाय ? एक दिन बम्बई में वे राष्ट्रवादियों की एक परिषद् में गये और कहने लगे-

''तुम सब लोग पागल हो । पहले नेहरू से जाकर कहो कि फौज दें और गोवा आजाद करायें । अन्य किसी मार्ग से गोआ स्वतन्त्र नहीं हो सकता और जब तक गोवा आजाद नहीं होता । तुम्हारी देशभक्ति की सब चर्चायें व्यर्थ हैं ।''

लोगों ने उनकी बात को पागलपन की बहक समझकर हँसी में उड़ा दिया पर कुछ दिन बाद सचमुच वे जवाहरलालजी से मिले । जब जवाहरलालजी ने उन्हें यह समझाने की कोशिशें की कि किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय दबाव से पुर्तगालियों को विवश हो गोआ छोड़ना पड़ेगा । तब डा० माश्कार बोल उठे-

''क्या आप मुझसे ज्यादा पुर्तगाल को जानते हैं ? मैं बरसों वहाँ रह चुका हूँ और सालाजार को भी अच्छी तरह से जानता हूँ, क्योंकि वे मेरे गुरु रह चुके हैं । मैं उनका विद्यार्थी रहा हूँ । आपको गोआ की आजादी के लिए किसी न किसी दिन फौज भेजनी ही पड़ेगी । दूसरा कोई रास्ता नहीं है ।'' जवाहरलाल जी ने बाद में किसी से कहा था-''कैसा पागल आदमी है यह।''

जब किसी प्रतिभाशाली लेखक के सामने कोई समस्या खड़ी होती है तो उसकी कलम चलने लगती है और समस्या की परिसमाप्ति लेख में ही हो जाती है । माश्कार साहब ने बम्बई से पुर्तगाली भाषा में 'रेस्युगे गोवा' नामक एक साप्ताहिक शुरू किया और उसमें वे अपना हृदय उँड़ेलने लगे । किन्तु पुर्तगाली साप्ताहिक पढ़ने वाला बम्बई में तो कोई था नहीं । उनका पाठक वर्ग या तो गोवा में था या पुर्तगाल में । यह साप्ताहिक उनके पास पहुँचे कैसे ? डाक से भेजने पर डाकखाने में ही गोवा की पुलिस सारी प्रतियाँ जब्त करने लगी, किन्तु अखबार घर पहुँचने का कोई प्रभावशाली तन्त्र किसी के पास न था । इसलिए साल-डेढ़ साल तक पत्र चला कर माश्कार को आखिर बन्द करना पड़ा ।

उन्ही दिनों भारत सरकार की 'आकाशवाणी' ने दिल्ली से पुर्तगाली भाषा में कार्यक्रम प्रसारित करने की एक योजना बनाली और सरकार ने डा० माश्कार से सहायता माँगी । माश्कार को अब एक प्रभावशाली साधन मिल गया । वे 'आकाशवाणी' के पुर्तगाली-विभाग में सम्मिलित हो गये और बड़ी तत्परता से नित्य प्रसारण-कार्य करने लगे । सुना है, उनके प्रसारण गुप्त रूप से सही, किन्तु बड़े चाव से सुने जाते थे किसी ने एक दिन जाकर 'आकाशवाणी' के अधिकारियों से शिकायत की कि वे जो प्रसारण करते हैं, उसमें भारत-सरकार की आलोचना भी करते हैं। 'आकाशवाणी' के अधिकारियों के पास माश्कार को छोड़कर पुर्तगाली भाषा जानने वाला कोई दूसरा सुयोग्य व्यक्ति नहीं था । जो थे वे माश्कार के मातहत काम करते थे । दुर्भाग्यवश उन्हीं में से एक को माश्कार पर निगरानी रखने का कार्य सौंपा गया । बस 'आकाशवाणी' का पुर्तगाली विभाग उसके बाद चुगलियों का भयंकर अखाड़ा बन गया । अन्त में माश्कार ने ऊबकर त्यागपत्र दे दिया । ये सोचकर कि 'अब जो होने वाला हो, होने दें'' वे गोवा लौटे और गोवा सरकार ने तनिक भी विलम्ब नहीं किया । उन्हें पकड़ कर सीधे हवाई जहाज से पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन पहुँचा दिया ।

बरसों पहले वे पुर्तगाल गये थे न्यायालय में मजिस्ट्रेट बनकर न्यायदान को पवित्र करने के विचार से । अब की बार वे पहुँचे, पुर्तगाल की अदालत में एक अपराधी के नाते उपस्थित होने। किसी समय के उनके प्राध्यापक डा० सालाजार ने उन्हें भारी दण्ड का आदेश दिया और न्यायालय ने डा० माश्कार को २४ साल के कठोर कारावास की सजा सुना दी। गोवा अब आजाद हो चुका था, फिर भी यह कट्टर एवं प्रखर देशभक्त पुर्तगाल की जेल में बंद था ।

डा० माश्कार को इतनी लम्बी अवधि तक पुर्तगाल की जेल में बन्दी बनाये रखने के पश्चात् उन्हें यह आशा ही नहीं थी कि वे कभी रिहा हो सकेंगे । पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने इनका मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंप दिया था फलतः न्यायालय के निर्णय स्वरुप श्री माश्कारकी शीघ्र रिहाई संभव हो सकी ।

देशसेवा में सर्वस्व अर्पण करने वाले—

चिदम्बरम पिल्ले

भारतीय स्वाधीनता संग्राम का श्री गणेश १८५७ में ही हो गया था, जब लाखों की संख्या में सैनिकों और जनता के व्यक्तियों ने विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिये एक सम्मिलित प्रयास किया था। यद्यपि परिस्थितियों के अनुकूल न होने से वह असफल हो गया, तो भी उसमें भाग लेने वाले बलिदानी वीरों के प्रभाव से देशभक्तों की एक शृंखला का निर्माण हो गया जो किसी न किसी रूप में प्रयत्न करते हुए उस स्वातन्त्र्य-ज्योति को प्रज्वलित रखे रही।

५० वर्ष बाद फिर देश में नव-जागरण की बेला आई। बंग-भंग के फलस्वरूप समस्त देश में उत्साह और आन्दोलन का ज्वालामुखी फूट पड़ा उसकी चिंगारियाँ बड़े नगरों से लेकर छोटे से कस्बों तक को आलोकित करने लगीं। बड़े-बड़े विद्वानों, श्रीमानों, पदवीधारियों ने सुख-साधनों को त्यागकर सब तरह के कष्टों और आपत्तियों को अंगीकार किया और मातृभूमि को विदेशियों की दासता से मुक्त कराने के लिए संघर्ष आरम्भ कर दिया। अँग्रेज शासकों ने दमन का दौरदौरा चलाया, हजारों लोगों को जेल, जुर्माना, जब्ती, देश निकाला, फाँसी आदि की सजायें दी गयीं।

इस अवसर पर दक्षिणी भारत में श्री चिदम्बरम पिल्ले ने इस आन्दोलन की बागडोर सँभाली और कुछ ही महीनों में समस्त प्रदेश में एक आग भड़का दी। वे अपने प्रदेश के बहुत प्रसिद्ध वकील थे। हजारों रुपया प्रतिमास की आमदनी थी और घर पर सुख तथा वैभव की सब सुविधायें मौजूद थीं पर कर्तव्य का आह्वान होने पर उन्होंने इस सबको एक ओर रख दिया और बिना किसी प्रकार के खतरे की परवाह किये मैदान में कूद पड़े।

सन् १९०७ की सूरत कांग्रेस में राजनैतिक नेताओं में मतभेद हो गया। चिदम्बरम गर्म विचारों के व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने जोरशोर से लोकमान्य तिलक के गर्मदल का समर्थन किया और मद्रास लौटकर तेजी से आन्दोलन करने लगे। उन्होंने लाखों श्रोताओं को प्रेरणा देकर स्वदेशी आन्दोलन को खूब बढ़ाया और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कराया। वे कहते थे कि अगर हम एक होकर अपना उद्धार करने को खड़े हो जायें तो ५० हजार अँग्रेजों को एक दिन में भारत से भगा सकते हैं।

सन् १९०० में वकालत की परीक्षा पास करने वाले इस युवक ने तूत्तुक्कुड़ि (तूतीकोरन) में वकालत आरम्भ कर दी। थोड़े ही दिनों में यह युवा वकील 'गरीब वकील' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसका कारण यह था कि वह गरीबों के मुकद्दमे बिना फीस लिए लड़ा करता था। यहाँ तक कि कभी-कभी तो वह अपने गरीब मुवक्किलों की आर्थिक सहायता भी कर दिया करता था। यह युवक और कोई नहीं स्वतन्त्रता व स्वदेशी आन्दोलन के प्रख्यात सेनानी व० उ० चिदम्बरम पिल्ले थे जिन्हें तमिलनाडु के 'तिलक' नाम से भी जाना जाता है।

अपनी युवावस्था में ही उन्होंने अँग्रेजी अर्थतन्त्र की धज्जियाँ उड़ाने के जोरदार कार्य करने आरम्भ कर दिये थे जिससे अँग्रेज बौखला उठे थे। स्वदेशी अभियान के अन्तर्गत उन्होंने जो 'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' आरम्भ की थी उसने अँग्रेजी जल यातायात को बड़ा धक्का पहुँचाया था। वे लोग उन्हें किसी तरह पकड़कर जेल में ठूँसना चाहते थे। उन्हें इसके लिए उपयुक्त अवसर भी मिल गया।

१२ मार्च, १९०८ के दिन तिरुनेलवेली जिलाधीश के न्यायालय में उन पर जनता को विद्रोह के लिए भड़काने के आरोप में मुकदमा चलाया गया। जब न्यायाधीश ने उनसे और उनके मित्र सुब्रह्मण्यम शिवा से 'वन्देमातरम्' का नारा लगाना छोड़ देने का वचन लेना चाहा तो वे दोनों न्यायालय में ही जोर-जोर से 'वन्देमातरम्' का जयघोष करने लगे इस पर वह बौखला उठा और अदालत की मानहानि व जनता को विद्रोह के लिए प्रेरित करने के कथित अपराध में वे जेल में ठूँस दिये गये। अब तक तो वे खुले थे पर अब उन्हें जेल में रखते हुए मुकदमे की सुनवायी की जा रही थी।

जब तमिलनाडु के इन नरकेहरियों की इस अनुचित गिरफ्तारी का समाचार प्रदेश में फैला तो स्थान-स्थान पर इसकी तीव्र विरोधी प्रतिक्रिया हुई। विरोध, प्रदर्शन, हड़ताल, बाजार बन्द आदि अपने यौवन पर उभर पड़े।

उसका दमन करने के लिए सरकारी अमले ने भी गोलियों और लाठियों का सहारा लिया। यहाँ तक कि स्वयं जिलाधीश विंचू ने अपनी पिस्तौल से तीन युवकों को मौत के घाट उतार दिया। जनता का विरोध और पुलिस का दमन दोनों ही एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर थे। सरकार ने सभी गरम दल के लोगों को जेलों में ठूँस दिया।

चार महीने तक उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलता रहा। एडीशनल सेशन जज पिन्हे ने ७ जुलाई, १९०८ को पिल्ले को बीस वर्ष के काले पानी के कारावास का दण्ड सुनाया। उसकी हाईकोर्ट में अपील हुई। हाईकोर्ट ने यह सजा दस वर्ष की कर दी। फिर उनके मित्रों ने प्रिवी-कौंसिल में अपील की जहाँ यह सजा छह वर्ष के सश्रम कारावास में बदल दी गयी।

अँग्रेज सरकार श्री पिल्ले के पीछे इस प्रकार हाथ धोकर क्यों पड़ी इसके कारण को समझने के लिए उनके सशक्त स्वदेशी आन्दोलन को समझने की आवश्यकता होती है। पिल्ले की गिरफ्तारी व सजा के मूल में उनके उत्तेजक भाषण नहीं वरन् उनका यह स्वदेशी अभियान ही था, जिसके अन्तर्गत उन्होंने अँग्रेजी व्यापार-तन्त्र की प्रतिद्वन्द्विता में स्वदेशी व्यापार तन्त्र खड़ा करके उसे छिन्न भिन्न कर देने का समर्थ और सफल प्रयास किया था।

तमिलनाडु की वीर प्रसूत क्षेत्र पण्डिपनाडु के तिकनेलवेली जिले के ओट्टपिटारम ग्राम के ठगलनाथ पिल्ले नामक कृषक के घर ५ सितम्बर, १८७२ के दिन माता परमायी की कोख से उत्पन्न होने वाला यह नर-रत्न जितना स्वदेश से प्रेम करता था उतना ही विदेशियों से घृणा । क्योंकि उन्हें समय और समझ के साथ यह ज्ञात हो चुका था "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं" जब पूरा ही देश विदेशियों के आधीन हो तो फिर प्रगति कैसे हो ।

राजनीति में विशेष रुचि होने के कारण पहले तो वे वकील बने और देशवासियों के दु:ख-दर्द में सहायक होते-होते स्वदेशी आन्दोलन के अभियान तक पहुँचे । उनकी वाणी में आग बरसती थी कि नेताओं के हृदय में उनके भाषण सुनकर पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ फेंकने का ज्वार उफन आता था । उसके लिये उन्होंने गाँव-गाँव में 'स्वदेशी प्रचार सभा' की शाखाएँ खुलवायीं । बुनकरों व कारीगरों के हित के लिए उन्होंने नेशनल गोडाउन व 'मद्रास एग्रो इण्डस्ट्रीयल सोसायटी लि०' जैसी संस्थाओं की स्थापना करायी जिससे कि हमारा स्वदेशी व्यापार बढ़े ।

स्वदेशी व्यापार की वृद्धि-समृद्धि के सूत्र के साथ ही अँग्रेजों के व्यापार के उखड़ने और साथ ही साथ उनके शासन के उखड़ने की पूरी सम्भावनाएँ जुड़ी हुई थी । युवकों में राष्ट्रीय भावनाएँ उपजाने के लिए उन्होंने तमिलनाडु भर में 'देशाभियान संगम' नामक संस्थाएँ स्थापित कीं ।

जिस प्रकार लोकमान्य तिलक ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए 'पैसा फण्ड' आरम्भ किया था जो एक तरह का सार्वजनिक बैंक था । उन्होंने स्वदेशी सहकारी भण्डार की स्थापना भी बम्बई में सन् १९०६ में की थी । वैसा ही एक कार्य व० उ० चिदम्बरम पिल्ले ने भी हाथ में लिया जो इतिहास में अपने ढंग का अनूठा समानान्तर आर्थिक तन्त्र था । १९०६ में उन्होंने अथक श्रम करके 'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' आरम्भ की । पचास-पचास रुपयों के ४० हजार शेयर रखकर उन्होंने भारतीयों की एक समर्थ व्यापारिक यातायात संस्था गठित की ।

बम्बई की एक जहाज कम्पनी का एक जहाज किराये पर लेकर पहले पहल तूतीकोरन व लंका के बीच व्यापारिक सेवा आरम्भ की । अँग्रेजी जहाज कम्पनियाँ भारतीय व्यापारियों के माल को लाने ले जाने में चाहकर देरी करती थीं व उनके व्यापार को हतोत्साहित करती थीं । इस कम्पनी की स्थापना होने पर भारतीय व्यापारियों की समस्या हल हो गयी । उनका काम ऐसा चला कि पहले दो महीनों में ही कम्पनी को बीस हजार का लाभ हुआ ।

'ब्रिटिश स्टीम नेविगेशन' इसकी प्रारम्भिक प्रति-स्पर्धा से ही विचलित हो उठा । उन्होंने बम्बई की उस जहाज कम्पनी पर दबाव डालकर किराये के जहाज को रुकवा दिया । किन्तु पिल्ले हार मानने वाले नहीं थे । वे यह प्रण करके निकले कि बम्बई से दो जहाज खरीद कर ही लौटूँगा । ब्रिटिश स्टीम नेवीगेशन के लाख सिर पटकने पर भी पिल्ले दो जहाज खरीदने में सफल हुए । उसके लिए उन्हें बहुत से शेयर बेचने पड़े ।

'स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी' की कुछ ऐसी धूम मची कि अँग्रेजी जहाज कम्पनी ने उसे उखाड़ने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगा दिया । किराया कम करते करते और सुविधाएँ बढ़ाते-बढ़ाते वे यहाँ तक नीचे उतर आये कि उन्होंने बिना भाड़े के माल और बिना किराया लिए यात्रियों को लाना ले जाना प्रारम्भ कर दिया । फिर भी स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी की जड़ें गहराती ही गयीं । क्योंकि इसके पीछे स्वदेश प्रेम की भावना जुड़ी हुई थी ।

राजनीति के क्षेत्र में प्रबल जन आन्दोलन, युवकों में राष्ट्रीय चेतना जगाने के संघबद्ध प्रयास, किसानों और मजदूरों की मूर्छा तोड़ने के जोरदार प्रयास, बुद्धिजीवियों और धनिकों को अपने कार्य-कलापों द्वारा आन्दोलन के तले लाने का प्रयास और दूसरी तरफ आर्थिक क्षेत्र में ब्रिटिश व्यापार तन्त्र की जड़ों में तेल डालने जैसा स्वदेशी अभियान । इसकी धुरी थे चिदम्बरम पिल्लै ।

महाराष्ट्र में तिलक और तमिलनाडु में पिल्लै तो बंगाल में पाल और पंजाब में लाला लाजपत राय जैसे महारथियों द्वारा लड़े जाने वाले इस महाभारत में अँग्रेजों को अपनी सत्ता ही डाँवा-डोल होती दिखाई पड़ने लगी तो उन्होंने धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ करना आरम्भ कर दिया । जब पिल्लै पर लगाये गये राजद्रोह के फैसले की अपीलें चल रही थीं तभी लोकमान्य को छह वर्ष की सजा हुई । श्री पिल्लै को भी छह वर्ष का सश्रम कठोर कारावास दिया गया । इस प्रकार गरम दल द्वारा उठाये गये तूफान को अँग्रेजों ने येन केन प्रकारेण न्याय और नीति को तिलांजलि देकर कुचलने का प्रयास किया ।

छह वर्ष का कठोर कारावास भोगकर उनका शरीर भले ही क्षीणकाय हो गया था किन्तु अंगारे में दबी अग्नि की तरह उनकी स्वतन्त्रता प्रेम की ज्योति रंचमात्र भी मन्द नहीं पड़ी थी । उन्हें कोयम्बटूर व कण्णनूर के कारागृहों में रखा गया । यहाँ उन्हें कोल्हू खींचना पड़ा था, पत्थर तोड़ने पड़ते थे व बोझा ढोना पड़ता था । ऊपर से खाना रूखा-सूखा व आधा पेट ही दिया जाता था । इसके उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था । १९१२ में वे जेल से छूटे ।

जेल से छूटकर जब वे पुन: कर्म क्षेत्र में आये तो वहाँ सब कुछ उलट चुका था । उनके घर की, परिवार की स्थिति दयनीय हो चली थी । उनके द्वारा स्थापित स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन को पहले तो बन्द कर दिया गया और बाद में उसे बेच भी दिया था । उनकी वकालत की सनद भी सरकार ने जब्त कर ली थी । देशभक्तों को तो यह सब यन्त्रणाएँ व दु:खद परिस्थितियाँ भोगनी ही पड़ती हैं । यह सोचकर श्री पिल्लै खिन्न नहीं हुए उन्होंने नये सिरे से आन्दोलन आरम्भ करने की ठान ली ।

वकालत न सही दुकानदारी ही सही । पर खर्च चलाने के लिए उन्होंने पंसारी की दुकान खोल ली और स्वदेशी आन्दोलन को पुनः गतिमान बनाने का प्रयास किया । उन्होंने इन दिनों कई मजदूर संगठन बनाये ।

१९१४ में लोकमान्य तिलक भी अपना जर्जर शरीर और युवा मन लेकर माण्डला जेल से रिहा होकर आये तो श्री पिल्लै उनसे मिलने गये और गरम दल का वर्चस्व पुनः बढ़ाने के लिए विचार-विमर्श किया । १ अगस्त, १९२० को तिलक का देहावसान हो जाने से पिल्लै को बड़ा धक्का पहुँचा । क्योंकि वे कलकत्ता कांग्रेस में पुनः अपनी नीतियों को मनवाने के विषय में योजना बना चुके थे । किन्तु अकेले पड़ जाने के कारण अपनी नीतियों को जोरदार ढंग से रखने के बाद भी वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके । मद्रास लौटकर वे पुनः उसी ज्योति को प्रखर बनाने में जुट पड़े जो लोकमान्य तिलक ने जलायी थी । अब उन्हें वकालत की सनद भी वापस मिल गयी थी । अतः वे पुनः गरीबों को न्याय दिलाने के लिए निःशुल्क पैरवी करते हुए अपने राष्ट्रीय अभियान को चलाते रहे ।

पिल्लै राजनीतिज्ञ व अर्थविज्ञानी ही नहीं तमिल के उद्‌भट विद्वान भी थे । अपने इतने व्यस्त जीवन में भी समय निकाल कर उन्होंने अपनी पद्यात्मक आत्मकथा व कई नीति-ग्रन्थ लिखे जिनका तमिल साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है । जेल में उन्होंने अपने साथियों को तमिल भाषा व साहित्य पढ़ाया भी था । राजगोपालाचारी व सेलम विजय राघवाचारी उन्हीं में से दो हैं ।

१८ नवम्बर, १९३६ को उनका देहावसान हो गया । उनके सम्मान व स्मृति में १९४९ में तत्कालीन गवर्नर जनरल राजा जी ने तूतीकोरन व श्रीलंका के बीच चलने वाले एक जहाज का नाम 'चिदम्बरम' रखा व उन्हीं के नाम पर वहाँ एक हार्बर भी बनाया । तमिल अभिनेता शिवाजी गणेशन ने उनके जीवन पर फिल्म भी बनायी। उसका नाट्य रूपान्तर सारे तमिलनाडु में खेला गया । भारतीय डाकतार विभाग ने ५ सितम्बर, १९७२ को उनकी स्मृति में विशेष डाक टिकट भी जारी किया । उनके इस जीवन से हम यदि वैसे ही महान स्वप्न सँजोने व उन्हें साकार करने के लिए तिल-तिल जलने की प्रेरणा न ले सके तो यह हमारा दुर्भाग्य ही होगा ।

जो अनाथ बालक से राष्ट्र निर्माता बना--

चन्द्रगुप्त मौर्य

ईसा से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व की बात है । मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का अहीर जब अपने बाड़े में गाय भैंसों को चारापानी देने के लिए घुसा तो एक शिशु का रूदन स्वर सुनाई दिया । वह उसी आवाज की ओर दौड़ा गया । देखा- एक नवजात शिशु पड़ा हुआ बिलख रहा था । शायद अपने उस दुर्भाग्य पर- जिसके कारण उसे जन्म के तुरन्त बाद ही अपनी माँ से बिछुड़ना पड़ा था ।

अहीर ने आस-पास देखा शायद उसकी माँ यहीं कहीं हो, तो देखा पीछे के दरवाजे में खड़ी एक स्त्री तुरन्त मुड़ी और बड़ी तेजी से चली गयी । अहीर ने फिर भी उस स्त्री का मुँह देख लिया और पहचान गया कि यह मगध के एक सरदार की धर्मपत्नी है । जिसका पति युद्ध में मारा गया था । कुछ ही दिन पूर्व की तो बात थी । तब वह स्त्री अपना वैधव्य काटने के लिए अपने भाई के पास आयी थी ।

भाई ने अपनी एकमात्र बहिन को संरक्षण और सम्मान दिया । उसका प्रसव काल निकट ही था तब भाई को चिन्ता होने लगी । बेचारा अपना पेट ही तो बड़ी मुश्किल से भर पाता था फिर बहिन के बच्चे का भार कैसे उठाता । परन्तु उसने अपनी चिन्ता को व्यक्त नहीं किया ।

बहिन भी समझदार थी इसलिए उसने अपने बच्चे को किसी अच्छे घर के आस-पास छोड़ आने का निश्चय कर लिया ताकि उसका भली-भाँति पालन-पोषण हो सके । यही सोचकर वह प्रसव के बाद अपनी ममता का बन्धन तोड़कर नवजात पुत्र को उक्त अहीर के बाड़े में छोड़ने के लिए आयी थी । वह जानती थी कि यह अहीर दयालु है। इसलिए बच्चा अच्छी तरह यहीं पल सकेगा और आँखों के सामने भी रहेगा ।

यही बालक आगे चलकर चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से भारत के सम्राट पद पर बैठा और अपना ही नहीं देश का नक्शा भी बदलकर रख दिया । चन्द्रगुप्त के पिता मौर्य वंशीय क्षत्रिय थे । जब वह गर्भ में था तभी वे एक लड़ाई में मारे गये । बचपन से ही बालक चन्द्रगुप्त को विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ देखने पड़ीं ।

जिस अहीर के पास माँ ने अपने बेटे को छोड़ा था वह भी बड़ा लोभी निकला । चन्द्रगुप्त जब बड़ा हो गया तो गाँव में एक दिन कोई शिकारी आया । चन्द्रगुप्त अपने घर के सामने ही खेल रहा था । दूध मिलता था खूब पीने के लिए और दिन भर खेलना-कूदना । बेफिक्री और अच्छे भोजन ने चन्द्रगुप्त को परिपुष्ट शरीर प्रदान किया । शिकारी निःसन्तान था इसलिए उसने निश्चय किया कि किसी न किसी प्रकार इस बच्चे को अपना बेटा बनाना चाहिए ।

शिकारी ने आस-पास के पड़ोसियों से चन्द्रगुप्त के बारे में पूछ-ताछ की तो पता चला कि यह बालक उस अहीर का अपना बेटा नहीं है और प्रयत्न किया जाय तो असंभव नहीं कि वह उसे देने के लिए राजी हो जाये । शिकारी ने समझ-बूझ से अहीर के सामने इच्छा व्यक्त की अहीर ने कह दिया कि- चन्द्रगुप्त पर किया गया अभी तक

का खर्च कोई चुका दे तो वह उसे चुकाने वाले को सौंप देगा ।

शिकारी ने अहीर को काफी धन देकर चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया । जब चन्द्रगुप्त की माँ को यह सब पता चला तो वह बड़ी दुःखी हुई । अब तक तो वह अपने बेटे को देखकर ही सन्तोष कर लिया करती थी । परन्तु वह अब उसकी आँखों से भी ओझल हो रहा था । किसी तरह उस बेचारी ने अपना मन मार लिया और चन्द्रगुप्त शिकारी के साथ चला गया । शिकारी भी अच्छा धनवान था । काफी सम्पत्ति और पशुधन था उसके पास । शिकारी ने उसे पिता का प्यार दिया । जिसके परिणामस्वरूप वह स्वयं को और भी सुखी तथा निश्चित अनुभव करने लगा ।

शिकारी के साथ रहकर चन्द्रगुप्त कई गुण और शस्त्र विद्या सीख गया । कुछ बड़ा होने पर वह भी अपने नये पिता के मवेशी चराने लगा । साथ में दूसरे ग्वाल-बाल भी होते । ढोर तो इधर-उधर चरते रहते और चन्द्रगुप्त अपने साथियों के साथ तरह-तरह के खेल खेला करता । कभी राजा-प्रजा का, कभी चोर-सिपाही का । अच्छे डीलडौल और वय में भी बड़ा होने के कारण इन खेलों में मुख्य पात्र तथा निर्णायक चन्द्रगुप्त को ही बनाया जाता था । एक दिन की बात है कि ग्वाल-बाल साथियों के साथ वह राजा-प्रजा का खेल खेल रहा था । पास से ही गाँव की ओर एक सड़क जाती थी । उस सड़क पर से निकला एक क्षीणकाय दुर्बल ब्राह्मण ।

बालकों को राजा-प्रजा का खेल खेलते देख कौतूहलवश वह वहीं रुक गया । मनोरंजन की दृष्टि से वह राजा बने चन्द्रगुप्त के पास पहुँचा और नाटकीय निवेदन किया- "महाराज मैं गरीब और अनाथ ब्राह्मण हूँ।"

"हाँ-हाँ बोलो क्या चाहिए"- राजा बने चन्द्रगुप्त ने कहा ।

"कुछ गायें मिल जाएँ तो बड़ी मेहरबानी हो"- उस ब्राह्मण ने कहा ।

"ले जाओ"- पास चर रही गायों की ओर इशारा करते हुये चन्द्रगुप्त ने कहा- "जितनी चाहिए ले जाओ ।"

"इनका मालिक मुझे पकड़ कर मारेगा"- ब्राह्मण ने और भी रस लेते हुए कहा ।

"किसकी हिम्मत है जो सम्राट चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करे"- चन्द्रगुप्त ने इस प्रकार उत्तर दिया जैसे सचमुच ही वह राजा हो और वह ब्राह्मण जो और कोई नहीं भारतीय नीति शास्त्र के पण्डित चाणक्य थे, इस उत्तर से बड़े प्रभावित हुए । उन्होंने बालक चन्द्रगुप्त को एक उदीयमान प्रतिभा के रूप में देखा और लगा कि उनकी खोज पूरी हो गयी है ।

उस समय चाणक्य किसी ऐसे युवक की तलाश में थे जिसे आगे कर वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर सकें । उस समय भारतवर्ष अनेकों छोटे-बड़े राज्यों में बिखरा हुआ था । जिनके अधिपति राजा-महाराजा वीर तो थे परन्तु संकीर्ण स्वार्थों और संकुचित हितों के लिए ही परस्पर लड़ते मरते रहते थे ।

फूट और तज्जनित वैमनस्यता के कारण उन्हें अपने राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान नहीं रहता था । उस समय भारत में चारों ओर धन सम्पदा बिखरी पड़ी थी । आपसी फूट और बिखराव से लाभ उठाकर विदेशी लुटेरे तथा सम्राट यहाँ आ आकर अपना भंडार भर लेते थे । विदेशी आक्रमणकारी धन और जन ही नहीं यहाँ की संस्कृति को भी लूटने और तहस-नहस करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते थे । यही कारण था कि चाणक्य को तक्षशिला का विद्यापीठ छोड़कर गाँव-गाँव भटकने के लिए विवश होना पड़ा ।

पण्डितों और ब्राह्मणों का एक महत कर्तव्य यह भी है कि वे संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए अपने पद, गौरव और ऐश्वर्य को भूलकर प्राणपण से प्रयत्न करें । चाणक्य इसी कर्तव्य-बोध से तक्षशिला का प्रतिष्ठित आचार्य पद छोड़कर पहले मगध सम्राट के पास पहुँचे थे । मगध उस समय भारत का सबसे बड़ा राज्य था । इस राज्य का राजा था नन्द । चाणक्य ने नन्द को सलाह दी कि वह बिखरे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधकर संगठित करे । परन्तु नन्द को तो अपने विलास भोगों से ही फुरसत कहाँ थी । इसलिए उसने चाणक्य को अपमानित कर अपने यहाँ से भगा दिया ।

अब चाणक्य ने समझ लिया कि प्रस्तुत लक्ष्य किसी राजा या सम्राट से पूरा नहीं होगा । उसके लिए तो एक नयी ही शक्ति का उदय होना चाहिए जो देश-प्रेम, वीरता, संघ-निष्ठा और एकता के आधार पर उदित हो । चाणक्य स्वयं तो संन्यासी और धर्माचार्य थे । स्वयं राजनीति में प्रत्यक्ष भाग लेना उन्हें मर्यादाओं के विरुद्ध लगा इसलिए अपने किसी निष्ठावान शिष्य को यह उत्तरदायित्व सौंपकर इस अभियान का सूत्र संचालन ही उपयुक्त लगा और वे इसलिए योग्य शिष्य की तलाश में इधर-उधर भटक रहे थे ।

चन्द्रगुप्त में वह प्रतिभा देखकर उन्होंने शिकारी से सम्पर्क साधा और उसे अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया । चाणक्य अपने नये शिष्य को लेकर तक्षशिला पहुँचे और वहाँ शस्त्र तथा शास्त्र दोनों सिखाने लगे । शासक स्तर के व्यक्ति को बुद्धि और शक्ति दोनों ही विभूतियों से सम्पन्न होना चाहिए । चाणक्य ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर यह विचार व्यक्त किया है । शासक ही क्या सामान्य व्यक्ति के लिए भी बुद्धि-बल और शरीर-बल दोनों का महत्व अनुपेक्षणीय है । चन्द्रगुप्त ने सात-आठ वर्ष तक अपने योग्य और विद्वान गुरु के पास ही रहकर दोनों विशेषतायें अर्जित कीं ।

तक्षशिला में व्यतीत किया समय चन्द्रगुप्त के भावी जीवन का आधार मजबूत करने और बनाने का कारण

बना । चाणक्य ने अपने शिष्य को शस्त्र और शास्त्र में पारंगत बनाने के साथ-साथ उसके चरित्र गठन की ओर भी ध्यान दिया । चरित्र ही तो समस्त सफलताओं और सदुद्देश्यों को प्राप्त करने का मुख्य आधार है । इसके अभाव में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य और सम्राटों का नाश तथा पतन हुआ है । आदि काल से अब तक इस बात के कई उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं ।

व्यक्तिगत जीवन में भी चरित्र को उतना ही अनिवार्य तथा उपयोगी माना गया है । साधारण से साधारण व्यक्ति के लिए भी वह उतना ही उपयोगी है जितना कि उच्च प्रतिष्ठित और शासन तथा अधिकारियों के लिए क्योंकि चिरस्थायी शान्ति और अपने उत्तरदायित्व को समझने तथा उसे पूरा करने की क्षमता चरित्र-साधना से ही तो उद्भूत होती है ।

तभी ई० पू० ३२६-२७ में भारत पर यूनान के सम्राट सिकन्दर ने आक्रमण किया । यहाँ के राज्यों की आपसी फूट का लाभ उसे मिला और समूचा पश्चिमी भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ दिया गया । उस समय चाणक्य चन्द्रगुप्त को अपना स्वप्न साकार करने के लिये तैयार कर रहे थे । दूरदर्शी चाणक्य यह जानते थे कि आखिर भारत को वर्तमान परिस्थितियों और यहाँ के राजाओं की आपसी फूट के कारण एक न एक दिन अपनी स्वतन्त्रता खोनी ही पड़ेगी ।

यह अनुमान सही निकला परन्तु चाणक्य इससे सन्तुष्ट हुए क्योंकि पूर्व की स्थिति में छोटे-छोटे राजाओं से लड़कर अपनी समय और शक्ति को व्यर्थ ही खर्च करना पड़ता । अब सिकन्दर के आक्रमण से कई राज्यों का एकीकरण हो गया तो उन पर विजय प्राप्त करने तथा अपना स्वप्न साकार करने में बड़ी आसानी रहेगी । अब चाणक्य और चन्द्रगुप्त आगे की योजनायें बनाने लगे । चाणक्य ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से विदेशियों को भारत से बाहर खदेड़ने की योजना बना ली । जिसके अनुसार एक बड़ी सेना का गठन किया जाना था । इधर सिकन्दर की विजय ने सामान्य जनता का मनोबल तोड़कर रख दिया । सेना गठन के लिए इस मनोबल को पुनः जाग्रत करना आवश्यक था । गुरु और शिष्य मिलकर पंजाब भर में घूमे और वहाँ के लोगों को स्वतन्त्रता तथा एक राष्ट्र की स्थापना के लिए प्रेरित करने लगे । कई लोगों ने उनका साथ दिया । युवा और उत्साही व्यक्ति चन्द्रगुप्त और चाणक्य की योजना के अनुसार सेना बनाने के लिए आगे आये ।

सैन्य-संगठन का कार्य आरम्भ होने भर की देर थी । चाणक्य और चन्द्रगुप्त-एक सन्त ब्राह्मण और दूसरा गरीब अनाथ- दोनों की आवाज ने अपना कमाल दिखाया । लोग उनके आह्वान पर अपने घरों से खाना खाकर, भूखे रहकर राष्ट्र की स्थापना के लिए आगे आये और अन्त तक उनके साथ रहे ।

इन युवकों को युद्ध विद्या का प्रशिक्षण दिया गया और एक अच्छी सेना तैयार हो गयी जिसका सेनापति बना चन्द्रगुप्त । पंजाब की भूमि तो वैसे भी रणबाँकुरे जवानों से भरी पड़ी थी । कमी थी तो योग्य नेतृत्व की । चन्द्रगुप्त के रूप में अपना अगुआ-नेता पाकर पंजाब के वीर जवानों ने यूनानियों को ललकारा और झेलम तथा व्यास नदी के आसपास से विजय अभियान शुरू किया जो यूनानियों से घिरी हुई थी ।

मरने मारने के लिए कटिबद्ध पंजाबी सैनिक और राष्ट्र-निर्माण के लिए आहूत जीवन चन्द्रगुप्त और चाणक्य- इन सबकी सम्मिलित शक्ति से तीन वर्ष के भीतर-भीतर भारत-भूमि यूनानियों से रहित हो गयी । विदेशी शासन का नामोनिशान मिट गया। विदेशियों को भारत-भूमि से भगाकर चन्द्रगुप्त का ध्यान अपने देश की अन्दरूनी स्थिति पर दिलाया गया । अभी तो आधे से अधिक काम बाकी पड़ा था । बुद्धि-कौशल और निष्ठावान सहयोगियों के बल पर चन्द्रगुप्त को विश्वास था कि यह काम पूरा होकर रहेगा । जिस विश्वास के बल पर चार वर्ष पूर्व गुरु शिष्य दोनों खाली हाथ घर से निकले थे । वह बुद्धि कौशल ही था जो उन परिस्थितियों में भी इतना बड़ा सैन्य संगठन तैयार हो गया और मंजिल की आधी दूरी तै कर ली।

पश्चिमी भारत को सुरक्षित और कण्टकहीन कर चन्द्रगुप्त मगध की ओर मुड़ा । उस समय मगध के पास काफी बड़ी सेना थी । लगभग २ लाख २५ हजार सैनिक मगध के राज्य की रक्षा का भार सम्हाले हुए थे । परन्तु चाणक्य जानते थे कि मगध का राजा नन्द वहाँ की जनता में बहुत अलोकप्रिय है । उसकी शासन व्यवस्था, चरित्र-हीनता और घमण्ड से उसके स्वयं के परिजन, राजमहल के निवासी तक बड़े त्रस्त थे । इसलिए थोड़ी सूझबूझ से काम लिया जाये तो मगध को आसानी से जीता जा सकता है ।

चाणक्य ने सैन्य-बल की अपेक्षा बुद्धि-बल से काम लिया और नन्द के कई अधिकारियों को अपने पक्ष में कर लिया । अन्दर से इतना सशक्त विरोध नहीं होगा यह जानकर चन्द्रगुप्त अपनी सेनायें लेकर मगध पर टूट पड़ा । यद्यपि नन्द के कई अधिकारियों ने चन्द्रगुप्त की मदद की फिर भी मगध को जीतने में दो वर्ष का समय लगा । ३२१ ई० पू० चन्द्रगुप्त ने अपनी सेनाओं सहित मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में प्रवेश किया । नन्द का शासन समाप्त हो गया था । राज्य सिंहासन पर चन्द्रगुप्त का तिलक किया गया । इतनी बड़ी सफलता प्राप्त कर लेने के बाद भी चन्द्रगुप्त में घमण्ड बिल्कुल ही नहीं आया । कहते हैं उसने अपने पालक बचपन के अहीर पिता को ढुँढ़वाया और उसे पर्याप्त धन दौलत दी ताकि वह सुख चैन से जीवन बिता सके । कई-अवसरों पर चाणक्य ने भी उसे फटकारा परन्तु चन्द्रगुप्त तो अभी सम्राट कम और शिष्य अधिक था । सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य बन जाने के बाद उन्होंने अपने अभियान का अगला चरण पूरा करने के लिए कदम उठाया ।

पंजाब, मगध और व्यास नदी के तटवर्ती प्रदेश तो अधिकार में आ ही गये थे अब मध्य भारत, दक्षिणी प्रदेश और पूर्वी भारत को एक सूत्र में आबद्ध किया और वृहत्तर भारत की नींव रखी। उस समय रचे गये ऐतिहासिक ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के सम्राट के रूप में किया गया है। हिमालय से सागर तक और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक एक राष्ट्र और भारत और उसका निर्माता था- एक अनाथ, मातृ-पितृ हीन बालक।

सम्राट चन्द्रगुप्त ने इतने बड़े साम्राज्य का अधिपति होते हुए भी कभी इस विचार को प्रश्रय नहीं दिया कि मैं अतुल धन सम्पदा और राज्य लक्ष्मी का स्वामी हूँ। वह सदैव यही मानता रहा कि मैं प्रजा का सेवक मात्र हूँ। अपने मार्गदर्शक महामति चाणक्य का विनम्र अनुगामी भर हूँ। जो इतने बड़े राष्ट्र के गठन में प्रधान भूमिका निभाने तथा अतुल वैभव का उपभोग करने में समर्थ होते हुए भी शहर से बाहर एक साधारण-सी कुटिया में रहते हैं। सर्वोच्च शासन पद पर रहते हुए भी इतना निर्लिप्त और अनासक्त जीवन जीकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारतीय इतिहास में एक स्वर्ण अध्याय- अपनी कर्म लेखनी से लिख डाला।

यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार चन्द्रगुप्त के शासन काल में लोग भी उतने ही सदाचारी और एक दूसरे का ध्यान रखने वाले हो गये थे। फिर भी शासन की ओर से किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरती जाती थी। चाणक्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र-जो राज्य व्यवस्था का प्रमुख मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है- के अनुसार तथा चाणक्य के परामर्श से सारा राजकाज चलता था। सैन्य-संगठन तथा सुरक्षा व्यवस्था इतनी सुदृढ़ बनायी गयी थी कि बाहर का कोई भी शत्रु राष्ट्र की सीमा को वेध नहीं सकता था। इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में ही सेल्यूकस सिकन्दर के आक्रमण का उल्लेख भी आता है परन्तु उसे पराजित होकर ही जाना पड़ा। लगभग २४ वर्षों तक राज्य कर २९७ ई० पू० चन्द्रगुप्त का देहान्त हो गया।

'विक्रमादित्य'—चन्द्रगुप्त

"अनेकों बार मैं ऐसे प्रदेशों से गुजरा हूँ, जहाँ मुझे अपने लूटे जाने का भय उपजे बिना नहीं रहा क्योंकि प्रत्येक बार मेरे पास सम्राट और अतिथि सत्कार प्रिय नागरिकों द्वारा भेंट किये गये बहुमूल्य वस्त्राभूषण और उनसे भी अधिक मूल्यवान अपने साथ ले जाने के लिये एकत्रित की हुई पुस्तकें थीं। अकेले सुनसान जंगलों और वीरान सड़कों से गुजरते हुए प्रायः मेरे मन में ऐसी आशंका उत्पन्न हो जाती थी कि कोई मुझ लूट लेगा पर किसी ने मुझे परेशान नहीं किया। जो भी कोई मिला उसने सहायता ही की। विनम्र शब्दों में अपना आतिथ्य स्वीकार करने का ही आग्रह किया। कितने अच्छे हैं यहाँ के लोग - सभ्य, सुसंस्कृत, शिष्ट और उदार, तभी तो समृद्धि इनके चरण चूमती है।

राज्य में चोरी, डकैती और राहजनी जैसे अपराध तो होते ही नहीं हैं। कैदियों को भी शारीरिक यन्त्रणाएँ नहीं दी जाती हैं। मृत्यु-दण्ड का तो विधान ही नहीं है यहाँ पर। भयंकर से भयंकर अपराध का दण्ड भी अंग-भंग तक ही सीमित है। अपराधियों के लिये कठोर दण्ड विधान न होते हुए भी अपराधों का नहीं के बराबर होना मेरे लिये एक सुखद आश्चर्य था। इसमें राजा और प्रजा दोनों की महानता की झलक मिलती है। राजा अपने को प्रजा का सेवक भर समझता है।

उपरोक्त कथन है चीनी यात्री फाह्यान का जो गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में भारत आया था। तीन वर्ष तक वह मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा था। उस समय चन्द्रगुप्त आर्यावर्त का एक छत्र शासक था। उसकी महानता, कुशल शासन प्रबन्ध और भारतीय जनता की इस उच्च सामाजिक और मानवीय चेतना का यह वृतान्त उसने चीन में अपने मित्र को सुनाया था जिसने उसके इस वृतान्त को लिपिबद्ध कर लिया था। जो आज उस समय की हमारी सभ्यता, संस्कृति, धर्म और सामाजिकता की उच्चता का प्रामाणिक दस्तावेज बना हुआ है। उसने सम्राट चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व और उसकी शासन व्यवस्था के बारे में अपने मित्र को बताया -"सम्राट चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था बहुत उदार और उत्तम थी। लोगों पर अधिक कर भार नहीं था। प्रजा समृद्ध थी प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने के लिये स्वतन्त्र था। नैतिकता और सामाजिकता के अलिखित नियमों में मनुष्य इस प्रकार बँधा हुआ था कि लगता था यह सब उनका स्वभाव ही बन गया है। कोई चोरी नहीं करता था इसलिये घरों में ताले लगाने का रिवाज भी नहीं था।

मगध के विशाल साम्राज्य में स्थान-स्थान पर यात्रियों के विश्राम करने और आश्रय के लिए धर्मशालाएँ बनी हुई थीं। जनता शिक्षा, चिकित्सा और समाज कल्याण के कार्य स्वयं सम्पादित करती है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था ही कुछ इस प्रकार की थी कि इन सबके लिये शासन को न तो जनता से कर ही लेना पड़ता था न उसकी व्यवस्था ही करनी पड़ती थी। सम्पन्न नागरिक इन सबकी व्यवस्था स्वयं करते थे।

सम्पन्न होते हुए भी लोग धन को नहीं चरित्र को महत्व देते थे। सत्य और नैतिकता पालने वाला व्यक्ति ही समाज में सम्मानित माना जाता था। व्यक्ति की महत्ता का आधार उसका चरित्र था धन नहीं। मगध में कहीं मुझे माँस, मदिरा की दुकान दिखायी नहीं दी इससे पता लगता है, लोग इनका सेवन नहीं करते थे। यहाँ तक कि प्याज और लहसुन का प्रयोग भी कोई नहीं करता था। शासन व्यवस्था बहुत उत्तम और नागरिक बड़े चरित्रवान थे।"

फाह्यान द्वारा वर्णित इन तथ्यों को सुनकर आज हमें आश्चर्य होता है किन्तु यह वर्णन असत्य नहीं है। गुप्त

काल, हमारी सभ्यता, संस्कृति का चरमोत्कर्ष काल था, उसका श्रेय गुप्त सम्राटों को भी कम नहीं जाता, तत्कालीन सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी व्यक्तित्व और चरित्र में महान था तभी व अपने प्रजाजनों की इस महानता की श्री वृद्धि करने में सफल हो सका था।

काल गणना के अनुसार चन्द्रगुप्त ३०० ईस्वी में सिंहासनारूढ़ हुआ था, ऐसा इतिहासकारों का मत है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का विरुद धारण करके सिंहासन पर आसीन हुआ था। इस विरुद को धारण करने वाले कई सम्राट हुए हैं। किन्तु विक्रम सम्वत् चलाने वाला ऐसा कोई पराक्रमी राजा इस काल में दीखता है तो वह यही हो सकता है यदि इसे सत्य माना जाय तो वह वर्ष ईस्वी पूर्व सिंहासनारूढ़ हुआ ऐसा माना जा सकता है।

चन्द्रगुप्त 'भारत के नेपोलियन' कहे जाने वाले पराक्रमी सम्राट का छोटा पुत्र था। वीरता, शक्ति, कौशल और चरित्र में श्रेष्ठ होते हुए भी पिता की मृत्यु पर उसे राज्य सिंहासन पर बैठने का अधिकार नहीं मिला, उसके बड़े भाई रामगुप्त को मिला, जो कायर और विलासी था। चन्द्र को साम्राज्य का लोभ नहीं था पर अपने वंश-गौरव और पिता द्वारा आरम्भ की गयी सर्वहितकारी शासन प्रणाली की रक्षा की चिन्ता अवश्य थी।

विलासी और कायर रामगुप्त के निर्बल हाथों से इस विशाल साम्राज्य की व्यवस्था सम्हाली न जा सकी। वह शकों से पराजित ही नहीं हुआ वरन् राजमहिषी ध्रुवदेवी को भी उन्हें उपहार में देकर सन्धि करने को तत्पर हो गया। अपने अग्रज किन्तु क्लीव और विलासी रामगुप्त का यह अपमानजनक कृत्य उसे किसी भी मूल्य पर स्वीकार नहीं हो सका। यहाँ राज्य रक्षण का प्रश्न ही नहीं था वरन् नारी के सम्मान का भी प्रश्न था। रामगुप्त ने तो कह दिया कि ध्रुवदेवी उपहार में आयी है इसलिये वह भी उसे शकराज को उपहार में दे रहा है।

यह समुद्रगुप्त की दूरदर्शिता और व्यवहार कुशलता थी कि उसने पराजित पर्वत नरेश की पुत्री को अपने कुल की वधु स्वीकार कर लिया था और उसके पिता को आश्वासन दिया था कि वह मगध सम्राट की महादेवी बनेगी किन्तु ज्येष्ठत्व के नाते रामगुप्त मगध का सम्राट और ध्रुवदेवी का पति बन जायगा। चन्द्रगुप्त उदारता और निर्लोभता का परिचय देकर उसे राजा स्वीकार कर लेगा।

चन्द्रगुप्त को इस प्रकार ध्रुवदेवी को शकराज को उपहार में देना बिल्कुल भी नहीं रुचा। नारी पूज्या होती है, उसे भी पुरुष जितना ही अधिकार है उसे कोई कैसे उपहार में दे सकता है। राज्य और राजा की रक्षा के लिये महादेवी की बलि उसे स्वीकार नहीं हुई और वह छद्मवेश में ध्रुवदेवी बनकर अपने थोड़े से चुने हुए सैनिकों के साथ शकराज के पास उसके द्वारा भेजी गयी सन्धि की शर्तों के अनुसार शक शिविर में पहुँचा। वहाँ उसने द्वन्द्व युद्ध में शकराज का वध किया साथ ही शक सैनिकों को पराजित भी किया।

विजयी चन्द्रगुप्त जब मगध सैन्य शिविर में लौटा तो मगध वीरों ने उसे अपना सम्राट स्वीकार किया। चन्द्रगुप्त के नहीं चाहते हुए भी सैनिकों ने कायर रामगुप्त का वध कर दिया। ध्रुवदेवी ने भी अपने रक्षक चन्द्रगुप्त को स्वेच्छा से पति चुन लिया। यद्यपि चन्द्रगुप्त ने उसे समझाने का प्रयत्न किया कि वह सम्मान सहित उसके संरक्षण में रहे पर नारी हृदय की भी तो अपनी एक प्रतिदान की उमंग होती है साथ ही समर्थ सहधर्मी की चाह भी।

चन्द्रगुप्त अपने विरुद के अनुरूप ही पराक्रमी और महान हुआ। रामगुप्त की अकर्मण्यता और विलासिता के कारण विश्रृंखलित साम्राज्य को उसने पुनः सुसंगठित किया, विद्रोहियों को दबाया, करद राज्यों पर नियन्त्रण किया। उसने नये प्रदेशों को भी जीता। इस प्रकार उसका राज्य दक्षिण में अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी के तटवर्ती भारत में फैल गया। उत्तर में अफगानिस्तान तिब्बत आदि पर भी उसका शासन था। इस प्रकार उसने विदेशी आक्रमणकारियों का समर्थ प्रतिरोध वाला सुगठित आर्यावर्त पुनः स्थापित कर लिया।

चन्द्रगुप्त को इतिहास में 'शकारी' के नाम से जाना जाता है। 'शक' उत्तर मध्य एशिया में बसने वाली एक बर्बर जाति थी जो बहुत क्रूर और असभ्य थी। समुद्रगुप्त के समय में ही उनके आक्रमण आरम्भ हो गये थे। किन्तु समुद्रगुप्त ने चट्टान की तरह उनकी राह ही नहीं रोकी थी उन्हें बुरी तरह पीछे खदेड़ कर उनकी क्रूरता और बर्बरता से भारतीय जन जीवन और यहाँ की सभ्यता, संस्कृति की सुरक्षा की थी। रामगुप्त के समय में शक लोग कहीं-कहीं भीतर घुस आये थे और उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य बना लिये थे। चन्द्रगुप्त ने उन्हें चुन-चुनकर हराया और भारत की सीमा से बाहर खदेड़ा। उसका यह प्रयास निश्चय ही उसकी महानता के अनुरूप था।

चन्द्रगुप्त के सुन्दर शासन प्रबन्ध और सुसभ्य, सुसंस्कृत प्रजा का जो वर्णन चीनी यात्री फाह्यान ने किया है वह हमारा गौरवपूर्ण अतीत कहलाता है। वह अप्रतिम योद्धा, वीर, कुशल सेनानायक और प्रशासक, सुशासक ही नहीं था वरन् कलाप्रेमी और अर्थवेत्ता भी था। उसकी राज्यसभा में कहा जाता है वराहमिहिर जैसा गणितज्ञ, ज्योतिर्विद, बैताल भट्ट जैसे कुशल राजनीतिज्ञ आदि थे। ऐसे ही नर-रत्न इसकी सभा में थे।

चन्द्रगुप्त ने ३९ वर्ष तक राज्य किया। उसके कुशल और उदार शासन प्रबन्ध में संस्कृति, साहित्य, धर्म, कला आदि का चरमोत्कर्ष ही नहीं हुआ वरन् आर्थिक समृद्धि भी बहुत बढ़ी। उसके समय में भारतीय व्यापारी मिस्र तक अपने व्यापार-पोत ले जाया करते थे। बंगाल की खाड़ी के ताम्रलिप्ति नामक विशाल बन्दरगाह से सूती, रेशमी कपड़े, कपूर, चन्दन, मसाले आदि वस्तुएं का विदेशों को निर्यात किया जाता था। उसके बदले में सोने के जहाज भर-भरकर आते थे। कभी इंग्लैण्ड का समुद्री व्यापार जितना समृद्ध था उतना ही समृद्ध यहाँ का व्यापार था।

इसी व्यापार के कारण भारत सोने की चिड़िया बन गया था। निर्यात में सबसे अधिक भारत के कुटीर व्यवसाय का बना हुआ माल होता था। जिसके विनिमय में सोना मिलता था।

चन्द्रगुप्त वैष्णव था। किन्तु वह अन्य मतों का भी उतना ही आदर करता था जितना अपने मत का। उसका प्रधान सेनापति बौद्ध था। वह सभी धर्मावलम्बियों को समान मानता था। उदार और दानी होने के कारण प्रजा उसके प्रति प्रेम ही नहीं श्रद्धा भी रखती थी। उसके राज्य में प्रजा बड़ी सुखी थी। कहते हैं वह रात्रि में वेष बदलकर जनपथ पर इसलिये घूमा करता था कि वह अपनी प्रजा के सुख-दुःख और राज कर्मचारियों की कर्तव्य विमुखता का पता लगा सके। इसी कारण उसे कर्तव्य परायणता 'परदुःखतकातर राजा' भी कहा जाता है। उसकी प्रजावत्सलता और परदुःखकातरता की कितनी ही कहानियाँ आज भी भारतीय लोक-साहित्य और किंवदंतियों के रूप में जीवित हैं- सोलह सौ वर्ष बाद भी। सम्राट विक्रमादित्य कहा करते थे मेरे पूर्वजों ने अपने पराक्रम और परिश्रम से जिस मातृ-भूमि का शृंगार किया, वह मातृभूमि आज मेरे पौरुष की अपेक्षा करती है तो क्या मुझे उसके लिए क्षण भर की भी देरी करनी चाहिए ? मेरे पूर्वजों ने जिस भारत-भूमि को अपनी बलि की खाद से सदा वीर-प्रसूता बनाये रखा, वह मातृभूमि आज मेरे रक्त का अभिसिंचन चाहती है तो क्या मुझे उसके लिए क्षण भर की देरी करनी चाहिए ?

मेरे बाद मेरी आने वाली पीढ़ियाँ मेरी मातृभूमि का जिस रूप में दर्शन करना चाहती हैं, जिस श्रद्धा से उसे पूजना चाहती हैं, जिस पौरुष से उसके रक्षार्थ बलिदान होना चाहती हैं, यदि मैं अपनी मातृभूमि का वैसा पुण्य वेश अपनी सर्वोपरि पूजा, सर्वस्व अर्पण और सर्वोच्च बलिदान से न बनाऊँ तो क्या मैं अकेला ही इतना बड़ा कलंक न बन जाऊँगा कि सारा मानव समाज ही सदा के लिए उससे कलंकित और लज्जित न हो जाय ?

प्रतिभा का सम्बन्ध शरीर से नहीं आत्मा से है

उद्यान में भ्रमण करते-करते सहसा राजा विक्रमादित्य महाकवि कालिदास से बोले- ''आप कितने प्रतिभाशाली हैं, मेधावी हैं, पर भगवान ने आपका शरीर भी आपकी बुद्धि के अनुसार सुन्दर क्यों नहीं बनाया ?'' कुशल कालिदास राजा की रूप की गर्वोक्ति समझ गये। उस समय तो व कुछ भी न बोले। राजमहल में आकर उन्होंने दो पात्र मँगाये- एक मिट्टी का और एक सोने का। दोनों में जलभर दिया गया। कुछ देर बाद कालिदास ने विक्रमादित्य से पूछा-''राजन् किस पात्र का जल अधिक शीतल है ?''

''मिट्टी के पात्र का।'' विक्रमादित्य ने उत्तर दिया। तब मुसकराते हुए कालिदास बोले- ''जिस प्रकार शीतलता पात्र के बाहरी आधार पर निर्भर नहीं है, उसी प्रकार प्रतिभा भी शरीर की आकृति पर निर्भर नहीं है। विद्वता और महानता का सम्बन्ध शरीर से नहीं आत्मा से है।''

निर्भयता के सामने ब्रह्मराक्षस भी भाग खड़ा हुआ

विक्रमादित्य ने चौथेपन में संन्यास ले लिया और वे अवधूत जीवन व्यतीत करने लगे। उनके स्थान पर जो भी राजा बैठता, उसे भयंकर ब्रह्मराक्षस रात्रि के समय मार डालता। इस प्रकार कितने ही राजाओं की मृत्यु हो गयी। भेद कुछ खुलता न था। सो कहीं से विक्रमादित्य के खोज निकालने और उनसे मार्ग निकलवाने का निश्चय किया गया। खोजने पर वे एक स्थान पर मिल भी गये। सारी स्थिति समझायी गयी और उन्हें गुत्थी सुलझा देने के लिए सहमत कर लिया गया।

विक्रमादित्य ने अपनी दिव्यदृष्टि से ब्रह्मराक्षस की करतूत समझ ली। उनने शयनकक्ष से बाहर इतने पकवान-मिष्ठान्न रखवा दिये कि उन्हें खाकर उसका पेट भर गया। फिर भी राजा को मारने के लिए शयनकक्ष में आ पहुँचा।

विक्रमादित्य बड़े बुद्धिमान थे। उन्होंने ब्रह्मराक्षस को सम्मानपूर्वक बिठाया और वार्तालाप में लगाया। उससे उसकी शक्तियाँ और सिद्धियाँ पूछीं। राजा ने उसकी भूख बुझाने का अधिक उपयुक्त प्रबन्ध करा देने का भी आश्वासन दिया। साथ ही मित्रता की शर्त रूप में यह वर माँगा कि उनकी आयु बता दे। ब्रह्मराक्षस ने १०० वर्ष बतायी। राजा ने कहा- इनमें से आप दस घटा या बढ़ा सकते हैं क्या ? उसने मना कर दिया और कहा यह कार्य विधाता का है।

विक्रमादित्य तलवार निकालकर खड़े हो गये और कहा जब आयु निर्धारित है, तो तुम मुझे कैसे मार सकते हो ? निर्भय राजा के सामने राक्षस सहम गया और यहाँ से उलटे पैरों भाग खड़ा हुआ। इसके बाद राजग्रह में प्रवेश करने का साहस उसने कभी भी नहीं किया।

राष्ट्रीयता का उपासक-

सम्राट समुद्रगुप्त

गुप्तवंश एवं गुप्त-साम्राज्य का सूत्रपात सम्राट चन्द्रगुप्त प्रथम ने किया है तथापि उस वंश का सबसे यशस्वी सम्राट समुद्रगुप्त को ही माना जाता है। इसके पास एक नहीं, अनेक गुण थे। एक तो समुद्रगुप्त बहुत वीर था, दूसरे महान कलाविद और इन गुणों से भी ऊपर राष्ट्रीयता का गुण सर्वोपरि था।

भारतीय सम्राटों में से जिन महान वैदिक परम्पराओं का लोप हो गया था, समुद्रगुप्त ने उनकी पुनर्स्थापना की। उनमें से एक अश्वमेधयज्ञ भी था। सम्राट समुद्रगुप्त ने जिस अश्वमेधयज्ञ का आयोजन किया था, उसमें उसका दृष्टिकोण मात्र भी यश, विजय अथवा स्वर्ग न था। समुद्रगुप्त का उद्देश्य उसके राज्य के अतिरिक्त भारत में फैले हुए अनेक छोटे-मोटे राज्यों को एक सूत्र में बाँधकर एक छत्र कर देना था, जिससे भारत एक अजेय शक्ति बन जाये और आये-दिन खड़े आक्रांताओं का भय सदा के लिए दूर हो जाये।

समुद्रगुप्त अच्छी तरह जानता था कि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त देश कभी भी एक शक्तिशाली राष्ट्र नहीं बन पाता है और इसीलिए देश सदैव विदेशी आक्रांताओं का शिकार बना रहता है। जिस देश की सम्पूर्ण भूमि एक ही छत्र, एक ही सम्राट अथवा एक ही शासन-विधान के अन्तर्गत रहती है, वह न केवल आक्रांताओं से सुरक्षित रहती है, अपितु हर प्रकार से फलती-फूलती भी है। उसमें कृषि, उद्योग तथा कला-कौशल का विकास भी होता है। उसकी आर्थिक उन्नति और सामाजिक सुविधा न केवल दृढ़ ही होती है, बल्कि बढ़ती भी है।

सम्राट समुद्रगुप्त देशभक्त सम्राट थे। वह केवल वैभवपूर्ण राज्य सिंहासन पर बैठकर ही संतुष्ट नहीं थे, वह उन लोलुप एवं विलासी शासकों में से नहीं थे, जो अपने एशो-आराम की तुलना में राष्ट्र-रक्षा, जन-सेवा और सामाजिक विकास को गौण समझते हैं। मदिरा पीने और रंग भवन में पड़े रहने वाले राजाओं की गणना में समुद्रगुप्त का नाम नहीं लिखा जा सकता है। वह एक कर्मठ, कर्तव्यनिष्ठ तथा वीर सम्राट थे।

जिस समय पिता चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद सन ३३५ के लगभग समुद्रगुप्त ने राज्य-भार संभाला, भारत में अन्य अनेक राजा भी थे। जिनका काम था, प्रजा का शोषण करना और भोग-विलास में डूबा रहना। यद्यपि अधिकतर राजाओं की यह नीति रहती थी कि वे किसी अन्य राजा की कर्मविधि में न कोई हस्तक्षेप करते थे और न कोई अभिरुचि रखते थे। किसी राजा की प्रजा सुखी है अथवा दुःखी, इसकी उन्हें कोई चिन्ता न होती थी और न वे इस बात से कोई सरोकार रखते थे। किन्तु सम्राट समुद्रगुप्त का मानव हृदय यह न देख पाता था। वह सारे संसार के मानवों के प्रति करुणा का भाव रखता था। वह रघु और राम जैसे आदर्श राजाओं की नीति परम्परा का समर्थक और यथासम्भव उनके चरण-चिह्नों का अनुगमन करने का प्रयास किया करता था।

भारत-भूमि के एकीकरण के मन्तव्य से समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय-यात्रा प्रारम्भ की। सबसे पहले उसने दक्षिणापथ की ओर प्रस्थान किया और महानदी की तलहटी में बसे दक्षिण-कौशल महाकान्तार, पिष्टपुर, कोहर कांची, अवमुक्त, देव-राष्ट्र तथा कुस्थलपुर के राजा महेन्द्र व्याघ्रराज महेन्द्र, स्वामिदत्त, विष्णुगोप, कोलराज, कुबेर तथा धनंजय को राष्ट्रीय-संघ में सम्मिलित किया। उत्तरापथ की ओर उसने गणपति-नाग, रुद्रदेव, नागदत्त, अच्युत-नन्दन, चन्द्रवर्मन, नागसेन, बलवर्मन आदि आर्यावर्त के समस्त छोटे-बड़े राजाओं को एक सूत्र में बाँधा। इसी प्रकार उसने मध्य-भारत के जंगली शासकों तथा पूर्व-पश्चिम के समतट, कामरूप, कर्तृपुर, नैपाल, मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक, काक और खर्परिक आदि राज्यों को एकीभूत किया।

इस दिग्विजय में समुद्रगुप्त ने केवल उन्हीं राजाओं का राज्य गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया, जिन्होंने बहुत कुछ समझाने पर भी समुद्रगुप्त के राष्ट्रीय उद्देश्य के प्रति विरोध प्रदर्शित किया था। अन्यथा उसने अधिकतर राजाओं को रणभूमि तथा न्याय-व्यवस्था के आधार पर ही एकछत्र किया था। अपने विजयाभियान में सम्राट समुद्रगुप्त ने न तो किसी राजा का अपमान किया और न उसकी प्रजा को संत्रस्त। क्योंकि वह जानता था कि शक्ति बल पर किया हुआ संगठन क्षणिक एवं अस्थिर होता है। शक्ति तथा दण्ड के भय से लोग संगठन में शामिल हो तो जाते हैं किन्तु सच्ची सहानुभूति न होने से उनका हृदय विद्रोह से भरा ही रहता है और समय पाकर फिर वह विघटन के रूप में प्रस्फुटित होकर शुभ कार्य में भी अमंगल उत्पन्न कर देता है।

किसी संगठन, विचार अथवा उद्देश्य की स्थापना के लिये शक्ति का सहारा लेना स्वयं उद्देश्य की जड़ में विष बोना है। प्रेम, सौहार्द, सौजन्य तथा सहास्तित्व के आधार पर बनाया हुआ संगठन युग-युग तक न केवल अमर ही रहता है बल्कि वह दिनों-दिन बड़े ही उपयोगी तथा मंगलमय फल उत्पन्न करता है।

साधारणतः मनुष्य अपने संस्कारों के प्रति बड़ा दुराग्रही होता है। बुरे से बुरे अनुपयोगी तथा अहितकर संस्कारों के स्थान पर वह शुभ एवं समय-सम्मत संस्कारों को आसानी से सहन नहीं कर पाता। प्राचीनता के प्रति अनुरोध तथा अर्वाचीन के प्रति विरोध उसका सहज स्वभाव बन जाता है। समाज में इस प्रकार के प्राचीन संस्कार रखने वाले लोगों की कमी नहीं होती और वे उनके प्रति किसी सुधार का सन्देश सुनते ही अनायास ही संगठित होकर नवीनता के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। ऐसे अवसर पर यदि किसी शक्ति का सहारा लेकर उन्हें नवीन संस्कारों मे दीक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है तो एक संघर्ष या निरर्थक टकराव की स्थिति पैदा हो जाती है जिससे समाज अथवा राष्ट्र शक्तिशाली होने के स्थान पर निर्बल ही अधिक बन जाता है।

अतएव समझदार समाज सुधारक, बुद्धिमान राष्ट्रनायक विचार बल से ही किसी परिवर्तन को लाने का प्रयत्न किया करते हैं। हठ से हठ का जन्म होता है। यदि कोई अपने शुभ-विचारों को भी हठात किसी अविचारी के मत्थे मढ़ना चाहता है तो उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप

यह अपने अविचार के प्रति ही दुराग्रही हो जाता है । किसी बाह्य शक्ति का सहारा लेने की अपेक्षा अपने उन विचारों को ही तेजस्वी बनाना ठीक होता है जिनको कोई हितकर समझकर समाज अथवा व्यक्ति में समावेश करना चाहता है । जिसका आचरण शुद्ध है, चरित्र उज्ज्वल और मन्तव्य निःस्वार्थ है उसके विचार तेजस्वी होंगे ही, जिन्हें क्या साधारण और क्या असाधारण कोई भी व्यक्ति स्वीकार करने के लिये सदैव तत्पर रहेगा ।

यद्यपि राष्ट्र को एक करने के लिये परम्परा के अनुसार समुद्रगुप्त ने सेना के साथ ही प्रस्थान किया था, किन्तु उसको शायद ही कहीं उसका प्रयोग करना पड़ा हो । नहीं तो अधिकतर राजा लोग उसके महान राष्ट्रीय उद्देश्य से प्रभावित होकर ही एकछत्र हो गये थे । कहना न होगा कि जहाँ समुद्रगुप्त ने इस राष्ट्रीय एकता के लिये अथक प्रयत्न एवं परिश्रम किया वहाँ उन राजाओं को भी कम श्रेय नहीं दिया जा सकता, जिन्होंने निरर्थक राजदर्प का त्याग कर संघबद्ध होने के लिये बुद्धिमानी का परिचय दिया । जिस देश के अमीर-गरीब, छोटे-बड़े तथा उच्च निम्न सब वर्गों के निवासी एक ही उद्देश्य के लिये बिना किसी अन्यथा भाव के प्रसन्नतापूर्वक एक ध्वज के नीचे आ जाते हैं, वह राष्ट्र संसार में अपना मस्तक ऊँचा करके खड़ा रहता है । इसके विपरीत राष्ट्रों के पतन होने में कोई विलम्ब नहीं लगता ।

सम्राट समुद्रगुप्त ने अपने प्रयास बल पर सैकड़ों भागों में विभक्त भारत-भूमि को एक करके वैदिक रीति से अश्वमेधयज्ञ का आयोजन किया जो कि बिना किसी विघ्न के सम्पूर्ण हुआ और वह भारत के चक्रवर्ती सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। उस समय भारतीय साम्राज्य का विस्तार ब्रह्मपुत्र से चम्बल और हिमालय से नर्मदा तक था ।

भारत की इस राष्ट्रीय एकता का फल यह हुआ कि लंका के राजा मेघवर्मन, उत्तर-पश्चिम के दूरवर्ती शक राजाओं, गांधार के शाहिकुशन तथा काबुल के आक्सस नदी तक राज्य करने वाला साहांशु आदि शासकों ने स्वयं ही अधीनता अथवा मित्रता स्वीकार करली ।

इस प्रकार सीमाओं सहित भारत की आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाकर समुद्रगुप्त ने प्रजारंजन की ओर ध्यान दिया । यह समुद्रगुप्त के संयमपूर्ण चरित्र का ही बल था कि इतने विशाल साम्राज्य का एकछत्र स्वामी होने पर भी उसका ध्यान भोग-विलास की ओर जाने के बजाय प्रजा की ओर गया। सत्ता का नशा संसार की सौ मदिराओं से भी अधिक होता है । उसकी बेहोशी सँभालने में एकमात्र आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही समर्थ हो सकता है । अन्यथा भौतिक भोग का दृष्टिकोण रखने वाले असंख्यों सत्ताधारी संसार में पानी के बुलबुलों की तरह उठते और मिटते रहे हैं और इसी प्रकार बनते और मिटते रहेंगे ।

चरित्र एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अभाव में ही कोई भी सत्ताधारी फिर चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र का हो अथवा धार्मिक क्षेत्र का मदांध होकर पशु की कोटि से भी उतरकर पिशाचता की कोटि में उतर जाते हैं ।

सम्राट समुद्रगुप्त ने अश्वमेध के समन्वय के बाद जहाँ ब्राह्मणों को स्वर्ण मुद्रायें दक्षिणा में दीं वहाँ प्रजा को भी पुरस्कारों से वंचित न रखा । उसने यज्ञ की सफलता की प्रसन्नता एवं स्मृति में अनेकों शासन सुधार किये, असंख्यों वृक्ष लगवाये, कुँए खुदवाये और शिक्षण संस्थायें स्थापित कीं ।

एकता एवं संगठन के फलस्वरूप भारत में धन-धान्य की वृद्धि हुई प्रजा फलने और फूलने लगी । बुद्धिमान समुद्रगुप्त को इससे प्रसन्नता के साथ-साथ चिन्ता भी हुई । उसकी चिन्ता का एक विशेष कारण यह था कि धन-धान्य की बहुतायत के कारण प्रजा आलसी तथा विलासप्रिय हो सकती है । जिससे राष्ट्र में पुनः विघटन तथा निर्बलता आ सकती है । राष्ट्र को आलस्य तथा उसके परिणामस्वरूप जड़ता की सम्भावना के अभिशाप से बचाने के लिये सम्राट ने स्वयं अपने जीवन में संगीत, कला, कौशल तथा काव्य-साहित्य की अवतरणा की । क्योंकि वह जानता था कि यदि वह स्वयं इन कलाओं तथा विशेषताओं को अपने जीवन में उतारेगा तो स्वभावतः प्रजा उसका अनुकरण करेगी ही । इसके विपरीत यदि वह विलास की ओर अभिमुख होता है तो प्रजा बिना किसी अवरोध के आलसी तथा विलासी बन जायेगी ।

प्रजा के कल्याणार्थ सम्राट समुद्रगुप्त ने संगीत, काव्य तथा चित्रकला का स्वयं अभ्यास ही नहीं किया प्रत्युत उसमें निष्णात बना, जिसका फल यह हुआ कि उस समय के भारत में सबसे अधिक कवि, कलाकार तथा चित्रकार एवं मूर्तिकार हुये हैं। अपने युगीन भारत की विजयों तथा विशेषताओं को इन कलाओं के स्मृति रूप में समुद्रगुप्त ने समय-समय पर जो सिक्के चलाये उनमें किसी पर स्वयं को वीणा लिये अंकित कराया, किसी पर विजय श्री के रूप में साम्राज्ञी, अश्व तथा कृपाण को अंकित कराया है ।

इस केवल एक संयमी सम्राट के हो जाने से भारत का वह काल इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है, तब भला जिस दिन भारत का जन-जन संयमी तथा चरित्रवान बन सकेगा उस दिन यह भारत, यह विशाल भाषा उन्नति के किस उच्च शिखर पर नहीं पहुँच जायेगा ?

संस्कृति की रक्षार्थ बलिदान—

स्कन्दगुप्त

पाटलिपुत्र के नागरिक सुख की नींद सो रहे थे किन्तु सम्राट स्कन्दगुप्त की आँखों में आज नींद नहीं थी । उनके

कानों में अभी तक उस ब्राह्मण के शब्द गूँज रहे थे-"शत्रु को छोटा नहीं समझें सम्राट ! आपको स्वयं हूणों की राह रोकने के लिए प्रयास करना होगा । नहीं तो टिड्डियों की तरह आने वाले बर्बर हूण इस सभ्यता, संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करके रख देंगे ।" - "नहीं मेरे रहते ऐसा नहीं हो सकता, इस पुण्यभूमि पर उनके अपवित्र पैर नहीं पड़ सकते ।"

स्कन्दगुप्त को मगध का विशाल साम्राज्य अपने पिता से उत्तराधिकार में मिला था । उन्होंने इसे सुख की सेज नहीं काँटों का ताज मानकर अंगीकार किया था । राज्य सुख भोगने के लिये नहीं, प्रजा की सेवा का सुअवसर समझकर इस सौभाग्य को स्वीकारा था । उन्होंने अपने जीवन को भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप ढाला था । आयु तीस पार करने को थी पर अभी तक विवाह करने की सूझी ही नहीं । महामात्य कभी से विवाह करने का आग्रह कर रहे थे पर वे टालते ही जाते थे । वे सारा जीवन सेवा में ही व्यतीत कर देना चाहते थे । बहुत आग्रह पर उन्होंने सोचा था कि परिषद् में आर्यपट्ट पर राजमहीषी को अभिषिक्ति करने की घोषणा करेंगे किन्तु आज ही तो यह ब्राह्मण देवता आ उपस्थित हुए ।

ब्रह्मतेज से दैदीप्य उनका मस्तक चिन्ता की रेखाओं से घिरा हुआ था । काश्मीर से पाटलिपुत्र तक आने की थकान उनके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी । गाढ़े का अधोवस्त्र तथा यज्ञोपवीत रास्ते की धूल से मैला हो उठा था। समाचार जो वे लाये थे वह था ही ऐसा जिसे सुनकर किसी भी भारतीय का चिन्तित हो जाना स्वाभाविक था । उन्होंने कहा -"सम्राट ! कुम्भा के उस पार अगणित हूण एकत्रित हो रहे हैं । ये बर्बर हूण निरे पशु हैं । इनका धर्म केवल पेट-प्रजनन तक ही सीमित है । स्वर्ण-भूमि के वैभव की कहानियां सुन-सुन कर उनके मुँह से लार टपकने लगी है । टिड्डी दल की तरह इनके झुण्ड के झुण्ड एकत्रित हो रहे हैं ।"-"ब्राह्मण देवता आप आश्वस्त होवें । परमवीर गोविन्दगुप्त सीमा पर सन्नद्ध हैं । उनके रहते कोई इधर आँख उठाकर नहीं देख सकता ।" स्कन्दगुप्त के इस कथन पर ही ब्राह्मण ने वह बात कही जो उनको सोने नहीं दे रही थी ।

सम्राट स्कन्दगुप्त इस कल्पना से ही काँप उठे । आज जो वैभव तथा शालीनता आर्यावर्त में पारिजात पुष्प की तरह सुरभित हो रही है उसे बर्बर पशु रौंद कर रख देंगे । सुसंस्कृत नागरिक जो पराये धन को अपना बना लेने का विचार तक अपने पवित्र मन में नहीं लाते । घर को ताले नहीं लगाये जाते । अपराधों की संख्या नहीं के बराबर है । नारी को कोई कुदृष्टि से नहीं देखता । मन्दिर जन-जाग्रति के केन्द्र जहाँ उपासना करने नागरिक एकत्रित होते हैं तथा निरन्तर उत्कृष्ट बनने की प्रेरणा पाते हैं क्या यह सब मिट जायगा । यह संस्कृति का सुरम्य उद्यान बर्बरों की घोड़ों की टापों तले रौंद दिया जायेगा । हमारे देव मन्दिर अपवित्र किये जायेंगे । हमारी माँ-बहिनों के सतीत्व लूटे जायेंगे । "नहीं-नहीं" ऐसा नहीं हो सकता । भले ही मुझे अपना बलिदान भी देना पड़े, राज्य भी खोना पड़े मैं ऐसा कदापि नहीं होने दूँगा ।

सौतेली माँ रानी अनन्त देवी की राज्य लिप्सा से वह बेखबर न थे । स्कन्द का पाटलिपुत्र छोड़ते ही वह अपने पुत्र पुरुगुप्त को सम्राट बनाने का षड्यन्त्र रचेंगी । "रच लें- सम्राट होने की साध किसे रही है- व्यक्तित्व की कसौटी तो चरित्र होता है । यह स्वर्णभूमि रही- यह देव संस्कृति रही तो- स्कन्द धन्य ही होगा । अमर होकर तो कोई आया नहीं, न सदा सुख, वैभव, पद ही स्थायी रहे हैं स्कन्दगुप्त को कुम्भा के पार माँ संस्कृति पुकार रही है वह तो वहीं जाएगा ।"

मगध के रणबाँकुरे वीरों की वाहिनी सजी । नगर वासियों ने इन्हें भावभीनी विदाई दी । माताओं ने पुत्रों को बहिनों ने भाइयों को, कुल वधुओं ने अपने पतियों के मस्तक पर तिलक लगाकर संस्कृति की रक्षार्थ मुस्कराते हुए विदा किया । सम्राट स्कन्दगुप्त पर आज प्रजा निछावर हो रही थी । धन जन देने में एक से एक बढ़कर था ।

धर्म, आदर्श तथा नैतिकता सभ्य व सुसंस्कृत लोगों के लिए है । बर्बर तथा लुटेरे उनकी महत्ता को क्या समझें । उनके लिये तो शस्त्र ही उपयुक्त रहते हैं । उनकी लिप्सा का उपचार यही होता है । इन बर्बर हूण आक्रान्ताओं से जूझने के लिए यह वाहिनी चल पड़ी ।

सम्राट स्कन्दगुप्त के इस उदात्त चरित्र के निर्माण में सद्‌ग्रन्थों का बहुत योगदान था । उनसे भी अधिक योगदान उनके आचार्य वर का था, जिन्होंने उनको सही दिशा का दिग्दर्शन कराया था । लोभ, मोह, अहंकार जैसी ओछी भावनाओं से ऊपर उठाकर त्याग, तप तथा परमार्थ के श्रेय पथ पर अग्रसर किया था । वे निर्द्वन्द्व थे । किसी प्रकार की चिन्ता उनके मन में शेष न थी । अपने आपको धन्य मानकर वे मातृभूमि तथा संस्कृति की रक्षार्थ प्रस्थान कर रहे थे ।

सुदूर कुम्भा के तट पर इस वाहिनी ने अपना सैन्य शिविर स्थापित किया । पंचनद प्रदेश पीछे छूट चुका था । मगध में बसे अपने परिजनों का अभाव कभी सैनिकों को खला नहीं । उस अभाव की पूर्ति सम्राट स्कन्दगुप्त की आत्मीयता ने पूरा कर दिया था । एक दिन दो दिन की बात नहीं पूरे तीन माह तक सम्राट एक साधारण सैनिक की भाँति नग्न धरती पर सोये ।

झुण्ड के झुण्ड हूण आते और इस अभेद्य प्राचीर-सी मगधवाहिनी से टकराकर पुन: लौट जाते । भारतीय सैनिकों के तीक्ष्ण खड्‌गों के अचूक वार हूणों के सिर इस प्रकार काट देते जैसे बिजली चली हो । प्रत्येक बार हूण समुदाय को अपने अनेक साथियों के प्राणों की आहुति देकर पीछे हट जाना पड़ा । हूण नेता खिंखिल के स्वप्न धूल में मिलने लगे । वह उन्हें समझा-बुझाकर, प्रलोभन देकर संगठित करके लाता और वे मातृभूमि के रक्षक इन भारतीय वीरों से हार कर भाग खड़े होते ।

स्कन्दगुप्त अपने वीर सैनिकों के साथ कुम्भा तट पर अभाव भरा जीवन जी रहे थे फिर भी उन लोगों का मनोबल बहुत ऊँचा था । क्योंकि वे आदर्शों के लिये लड़ रहे थे । उसी समय पाटलिपुत्र में महारानी अनन्त देवी अपने पुत्र पुरुगुप्त को सम्राट बनाने का षड्यन्त्र रच रही थी ।

स्कन्दगुप्त इससे अनभिज्ञ नहीं थे । जिसकी उन्हें पहले से आशंका थी वही हो रहा था । वे मनुष्यों के दुर्बल पक्ष को देखने के आदी नहीं थे । उन्होंने तो उनके उज्ज्वल पक्ष को देखा था । यही भावना व्यक्ति को कर्तव्य पथ से विचलित नहीं होने देती है । यदि दूसरों के दोष ही देखते रहें तो स्वयं की प्रतिभा, उत्साह, निष्ठा तथा लगन ठण्डी पड़ने लगती है । जो करना चाहते हैं वह कर नहीं पाते ।

उन्होंने मगध की राजधानी में क्या हो रहा है ? उन्हें सहायता क्यों नहीं मिल रही है ? उनका भविष्य क्या होगा ? कल वे सम्राट थे आज उनकी स्थिति क्या है ? इन सब बातों से चित्त को हटा लिया । अपने उद्देश्य के प्रति एकनिष्ठ रहकर वे जूझते रहे । आक्रान्ताओं की संख्या घटने लगी युद्ध में हानि दोनों पक्ष उठाते हैं ।

स्कन्दगुप्त स्वयं भी बुरी तरह आहत हो गये । सैनिकों ने उन्हें शिविर में चलने का आग्रह किया पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया । प्रातःकाल से युद्ध आरम्भ हुआ । भगवान भास्कर भी स्कन्द का शौर्य देखकर प्रसन्न हो उठे । दिन ढलने लगा । हूणों के पाँव उखड़ गये, वे भाग खड़े हुए ।

सम्राट को लगा घाव प्राणघातक था । युद्ध से शिविर में लौटे तब तक बहुत-सा रक्त बह चुका था । स्वयं के प्राणों की परवाह न करके उन्होंने मातृभूमि की लाज बचा ली ।

युद्ध का स्वरूप भले ही दूसरा हो । संस्कृति की रक्षा के लिये उत्सर्ग करने का ऐसा ही समय फिर आ पहुँचा है, स्कन्दगुप्त का यह बलिदान जाग्रत आत्माओं के रक्त में उबाल लाये बिना न रहेगा । वे युग धर्म पालन को उठ खड़े होंगे ।

राष्ट्र रक्षार्थ सम्राट—यशोधर्मा का प्रबल पुरुषार्थ

भारत के विगत पन्द्रह सौ वर्षों के इतिहास का एक मुख्य अंश विदेशियों के आक्रमण और भारतीयों द्वारा उनके समर्थ प्रतिरोध का इतिहास रहा है । यूनानियों के पश्चात् और अँग्रेजों से पूर्व जितनी भी जातियाँ भारत पर चढ़ कर आयीं वे असभ्य, असंस्कृत और बर्बर थीं । यों स्वार्थपरता और हृदयहीनता में तो यूनानी व अँग्रेज भी कम नहीं थे पर उन्हें असभ्य नहीं कहा जा सकता । गुप्त काल के अन्तिम यशस्वी सम्राट स्कन्दगुप्त के समय में जिस बर्बर जाति ने भारत पर आक्रमण किया वह जाति बर्बरता में सर्वाधिक कुख्यात है । इस जाति का नाम था हूण ।

मध्य एशिया से आने वाली यह बर्बर जाति एशिया के अनेकानेक देशों को टिड्डी दल की तरह चाटती हुई भारतवर्ष तक आ पहुँची थी । यह शकों व कुषाणों से भी अधिक भयंकर थी । लाखों की संख्या में दल के दल हूण एशिया को रौंदते हुये चले आ रहे थे । एशिया ही नहीं इन्होंने यूरोप को भी रौंदा था । मध्य एशिया से इन लोगों ने दो दिशाओं में गमन किया था । एक भारत की ओर तथा दूसरे यूरोप की ओर ।

भारत में इस जाति को अपने पाँव जमाने में सफलता नहीं मिल सकी । उन्हें उलटे पाँव भागना पड़ा अथवा बर्बरता त्याग कर सांस्कृतिक जीवन अपनाना पड़ा । सारे एशिया को रौंदने वाली इस बर्बर जाति को भारत से भगाने का श्रेय जिन दो पराक्रमी सम्राटों को है वे हैं सम्राट स्कन्दगुप्त और यशोधर्मा ।

सम्राट स्कन्दगुप्त ने इस जाति की पहली बाढ़ को कुम्भा नदी के तीर पर ही रोक दिया । वर्षों तक वे वहीं अपनी सेना के साथ चट्टान की तरह अड़े रहे । हूणों को पराजित होकर भागना पड़ा ।

कुछ समय बाद खिंखिल के नेतृत्व में ये लोग फिर आये । अबकी बार भी सम्राट स्कन्दगुप्त ने उन्हें कुम्भा के तट पर ही रोक दिया । एक दो महीने नहीं पूरे सोलह वर्ष तक सम्राट स्कंदगुप्त अपनी सेना के साथ वहाँ डटे रहे । उनके जीते जी एक भी हूण भारत भूमि पर पाँव नहीं रख सका । सोलह वर्ष तक सम्राट एक सामान्य सिपाही की तरह धरती पर सोते रहे, उन्हीं का साधारण भोजन करते रहे । ऐसे उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिल सकेगा ।

हूण टिड्डी दल की तरह दल बाँधकर लाखों की संख्या में आते थे, लूट-पाट, हत्या, मद्य-माँस भक्षण उनका स्वभाव था । पशुवत ही था उनका यह जीवन । हमारे देश का नाम सर्वप्रथम आर्यावर्त था । आर्य का अर्थ होता है श्रेष्ठ और सुसंस्कृत मनुष्य । हूण पूर्णरूपेण अनार्य थे । आर्य देश पर चढ़कर आने वाले इन अनार्यों को सम्राट स्कन्दगुप्त के मरते ही भारत में घुस पड़ने का मार्ग मिल गया क्योंकि पीछे से मगध का साम्राज्य उन जैसे सुयोग्य शासक के हाथ में नहीं रहा ।

वे लूटमार, अत्याचार और अनाचार करते हुए आगे बढ़ते गये । तक्षशिला विश्वविद्यालय के विशाल पुस्तकालय को उन्होंने जलाकर खाक कर डाला । वे जंगली क्या समझते थे कि विद्या क्या है ? ज्ञान क्या होता है ? उनकी इस बर्बरता को रोकने की सामर्थ्य तत्कालीन मगध सम्राट में नहीं थी । भारतीय वीर रक्त का घूँट पीकर रह गये, पर क्या करते कोई नेता उठकर खड़ा नहीं हो रहा था । पर तभी एक वीर उठकर खड़ा हुआ । वसुंधरा भला कभी वीरों से खाली रही है । इस वीर का नाम था यशोधर्मा, यथा नाम तथा गुण की उक्ति को सार्थक करने वाला ।

मालवा प्रदेश के एक छोटे से प्रदेश के अधिपति यशोधर्मा से यह देखा न गया कि उस देश में जहाँ कोई किसी की वस्तु चोरी करना तो दूर छूना तक पाप मानता

है, जहाँ घरों में ताले नहीं लगाये जाते, अपराध नाममात्र को होते हैं, बर्बर और असभ्य हूण मनमाना अत्याचार करते रहें, हमारे देव मन्दिरों और जनता को लूटते रहें, मातृ-शक्ति को अपमानित करते रहें तो यह जीवन फिर किस दिन काम आयेगा ?

यशोधर्मा ने छोटे-छोटे राजाओं से जो मगध सम्राट को कमजोर देख स्वतन्त्र हो गये थे, अनुरोध किया कि वे हूणों को भारत भूमि से बाहर खदेड़ने में उसकी सहायता करें । नेता के उठ खड़े होते ही सहायक तो अपने आप जुटने लगे । देखते ही देखते एक विशाल सेना खड़ी हो गयी । यशोधर्मा छोटे से प्रदेश का अधिपति होते हुए भी भावनाओं और विचारों से महान था । उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा इस संगठन के पीछे नहीं थी फिर ऐसे व्यक्ति को सहायक क्यों न मिलते ।

भारतीय राजाओं की इस संगठितवाहिनी का नेतृत्व यशोधर्मा को सौंपा गया । इस वीर ने हूण नेता मिहिरकुल को पराजित कर उसे इस स्वर्णभूमि से बाहर करने की प्रतिज्ञा की । सिंहों की इस संगठित सेना ने हूणों को जा घेरा।

दशपुर (वर्तमान मन्दसौर) नामक स्थान पर घमासान युद्ध हुआ । भारतीय वीर जो अब तक असंगठित होने के कारण हूणों की नृशंस विनाश लीला देख रहे थे। अब उसका गिन-गिन कर बदला चुकाने लगे थे । इन काल ने वीरवेश धारी भारतीयों की असिधारा की चमक के आगे हूणों के भाले फीके पड़ गये । देखते ही देखते उनका नेता मिहिरकुल बन्दी बना लिया गया । उसकी बन्दर सेना भाग खड़ी हुई । वह यशोधर्मा के पाँवों में गिरकर प्राणों की भीख माँगने लगा । मगध के बौद्ध सम्राट को दया आ गयी । उसने यशोधर्मा से उसे प्राण दान देने का अनुरोध किया । मिहिरकुल को प्राण दान मिला पर बिना शर्त के नहीं । वह शर्त थी भारतीय प्रदेश खाली करके जाने की ।

मिहिरकुल को तब तक बंदी रखा गया जब तक हूण लोग भारत की सीमा से बाहर नहीं निकल जाते । मिहिरकुल ने अपने सरदारों को हूणों को भारतवर्ष से बाहर निकल जाने के लिये प्रेरित करने भेजा । हूण पहले ही दशपुर के समरांगण में भारतीय वीरों और उनके नेता यशोधर्मा का महाकाल रूप देख चुके थे । अब उनका यहाँ टिक पाना सम्भव नहीं था । अत: उन्होंने अपनी राह लेना ही उचित समझा ।

हूणों को पराजित करने के कारण यशोधर्मा की यश पताका सारे देश में फहराने लगी । उज्जैन में उनका भव्य स्वागत किया गया । भारतीय राजाओं ने उन्हें अपना सम्राट मानकर उन्हें सम्राट विक्रमादित्य के सिंहासन पर आसीन किया, वे उनके माण्डलिक बने । सम्राट पद पाने के बाद भी वे उसके मोह से रहित ही रहे । एक बार फिर उन्होंने अपनी सेना सजाई और हूणों को छानकर भारत से बाहर निकाला । मिहिरकुल को उन्होंने ठेठ सिन्धु के तट पर जाकर छोड़ा ।

पराजित हूण नेता की गर्दन नीची झुक गयी । इस बर्बर जाति को इस देश में अपनी बर्बरता दिखाने का अवसर नहीं मिला । वे यहाँ से उलटे पाँव ऐसे भागे कि फिर इधर मुड़कर देखने का प्रयास नहीं किया । वीरवर सम्राट यशोधर्मा का यह यशस्वी कार्य उन्हें प्रात: स्मरणीय बना गया । अपने पुरुषार्थ, पराक्रम और शक्ति का व्यक्तित्व परिधि से बाहर निकल कर सर्वहित के लिए समर्पण करना - व्यक्ति को इतिहास पुरुष बनाने में समर्थ होता है । देश प्रेम, स्वतन्त्रता की रक्षा, संस्कृति और धर्म के क्षरण को रोकने के लिए जिन-जिन महापुरुषों ने भी बलिदान किये हैं वे भले ही स्थूल जीवन का आनन्द अधिक समय तक न ले सके हों पर काल पर विजय प्राप्त कर महामानव बनने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त होता रहा है ।

शौर्य साहस का धनी-

पुष्यमित्र शुंग

ब्राह्मण पुष्यमित्र ने सुना- दिमित्र यवन अपनी विशाल वाहिनी लेकर पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा है । उसे यहाँ पहुँचने में एक सप्ताह से अधिक न लगेगा । दिमित्र सिकन्दर के अधूरे सपने को पूरा करने आ रहा है और इधर पाटलिपुत्र को अरक्षित छोड़कर मौर्य सम्राट बृहद्रथ अपनी जान बचाकर भागने की चिन्ता में हैं ।

पुष्यमित्र में आगे सुनने की हिम्मत न थी इतना ही उसके सोये क्षात्र धर्म को जगाने के लिये पर्याप्त था । उसने ब्राह्मण होते हुए भी आपात्कालीन धर्म के रूप में क्षत्रिय धर्म स्वीकार करने का निश्चय किया । उसे यह स्वीकार न था कि यवन उसके देव मन्दिरों को भ्रष्ट करें तथा मातृभूमि को अपने घोड़ों की टापों तले रौंदे और वह घर में बैठा हुआ अग्निहोत्र ही करता रहे ।

उसने भूतपूर्व महामात्य शंकु से विचार-विमर्श किया। महामात्य ने स्वीकार किया "अब मौर्य साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला है । सम्राट अशोक के बाद उनके पुत्रों ने विशाल साम्राज्य के चार भाग करके बाँट लिये। मैंने उस समय विरोध किया था तभी मुझे महामात्य पद से हटना पड़ा था। अब न तो उतनी सेना ही राज्य के पास है और न योग्य सेनापति ही है ।"

पुष्यमित्र ने कहा-"यह आप जो कह रहे हैं ठीक है पर क्या हम अपनी आँखों के सामने इसे पददलित होते देख सकेंगे । अभी तो समय है, कुछ कर भी सकते हैं । इसीलिये मैंने आपात्कालीन धर्म के रूप में खड्ग पकड़ ली है । हमें मिलकर कुछ उपाय करना चाहिए ।"

शंकु सहमत हो गया । वृद्ध महामात्य तथा पुष्यमित्र ने अपनी योजना बना ली । जहाँ अकर्मण्यता होगी वहीं पतन अपने पाँव फैलाता है पर जहाँ कर्म करने को कोई संकल्प लेकर प्रस्तुत होता है, तो सहायक मिल ही जाते हैं।

अकर्मण्य सम्राट बृहद्रथ से सेना भी प्रसन्न नहीं थी । महामात्य शंकु का कई गुल्म नायकों पर अब भी प्रभाव था उनकी एक गोष्ठी आयोजित की गई ।

पुष्यमित्र ने उन्हें उद्बोधन दिया- "मौर्य वाहिनी के वीरो! तुम्हें स्मरण होगा इसी पाटलिपुत्र के सम्राट ने सेल्यूकस का मानमर्दन करके उससे अपमानजनक संधि कराई थी । इन्हीं वीरों ने सारे भारत को सम्राट अशोक के नेतृत्व में एक सूत्र में पिरोया था ।

तुम्हें पता होगा दिमित्र पाटलिपुत्र विजय करने आ रहा है और हमारे सम्राट को अपने विलास-कक्ष से बाहर निकलने का समय ही नहीं ।

बोलो ! क्या तुम अपने जीते जी इस भूमि को पद दलित होने दोगे ।

"कदापि नहीं । कदापि नहीं ।।"

"मुझे तुमसे यही आशा थी ।"

इसी प्रकार का उद्बोधन नागरिकों को भी दिया गया ।

"पाटलिपुत्र के नागरिको ! आपको ज्ञात होगा कि दिमित्र यवन पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने आ रहा है । क्या आप इसके गौरव की रक्षा को तन, मन व धन देकर बचाने का प्रयास नहीं करेंगे ?" करेंगे ! अवश्य करेंगे ! एक समवेत स्वर गूँजा । "कल सब सम्राट के सम्मुख उपस्थित होंगे वहीं निर्णय होगा।" पुष्यमित्र ने कहा ।

दूसरे दिन । सम्राट के दर्शनों के लिये प्रजा एकत्रित हो चुकी थी पर उन्हें यवन दासियों से पाँव दबाने से फुर्सत नहीं थी । पुष्यमित्र ने परिचारिका को कहा-"सम्राट से निवेदन करो प्रजा आपके दर्शन करना चाहती है ।

बड़ी देर में सम्राट पधारे । "सम्राट बृहद्रथ की जय" प्रजा ने जयकार की ।

"आप लोगों को कोई कष्ट है ? हम सम्राट हैं, कहो ?"

"सम्राट, मैं पुष्यमित्र शुंग पाटलिपुत्र की प्रजा के सेवक के रूप में श्रीमान् से निवेदन करना चाहता हूँ कि पाटलिपुत्र के नागरिक अपने आप को असुरक्षित अनुभव कर रहे हैं । श्रेष्ठिजन नगर छोड़कर जा रहे हैं । सारे नगर में भय की लहर छाई है ।"

"इस का कारण ?" सम्राट ने पूछा ।

"यवन दिमित्र का आक्रमण ।"

"तो इसमें भय करने की क्या बात है । हम अहिंसा के पुजारी हैं व्यर्थ का रक्तपात हमें पसन्द नहीं । हम राज्य उन्हें दे देंगे ।" सम्राट बोले ।

"प्रजा पूछती है कि क्या आज तक यही हमारी परम्परा रही है ? यवन नगर को बिना लूटे छोड़ देंगे ? हमारे देव मन्दिरों को नहीं तोड़ेंगे ?" पुष्यमित्र ने कहा ।

"तो मैं क्या करूँ ? प्रजा क्या चाहती है ?

"प्रजा युद्ध चाहती है सम्राट!"

"हमारी सेना पूरी यहाँ है नहीं, आने में काफी समय लगेगा, तब तक पाटलिपुत्र की रक्षा असम्भव है ।" सम्राट बोले ।

"प्रजा मान सहित मरना पसन्द करती है सम्राट! प्रजा ही सेना की तरह लड़ेगी । मैं इसका सेनापतित्व करूँगा । यही प्रजा पाटलिपुत्र का गौरव अक्षुण्ण रखेगी ।" पुष्यमित्र ने कहा ।

सम्राट का पतनोन्मुख जीवन उन्हें खोखला बना चुका था वे पुष्यमित्र के व्यक्तित्व के आगे ठहर न सके । "मैं तुम्हें सेनापति के समस्त अधिकार सौंपता हूँ ।"सम्राट ने कहा।

"सेनापति पुष्यमित्र की जय" के जयघोष से पाटलिपुत्र में नवजीवन आ गया ।

पुष्यमित्र ने बाहर गई सेना को बुलाने विश्वस्त सैनिक भेज दिये । सम्राट तथा उनके महामात्य महलों में ही नजरबन्द कर दिये गये । सैनिकों को इकट्ठा करके नगर के प्राचीरों पर पहरा आरम्भ करवा दिया ।

धनिकों ने धन दिया, युवक सैनिक प्रशिक्षण पाने लगे महिलाओं ने रसद व गर्म पानी तथा पत्थरों की व्यवस्था जुटानी आरम्भ कर दी । कल का अरक्षित पाटलिपुत्र आज गौरव से सिर उठाकर खड़ा हो गया ।

यवन सेना ने आकर दुर्ग घेर लिया । दुर्ग के चारों ओर खाई में पानी भरा था । जो भी तैर कर प्राचीर पर चढ़ने का प्रयास करता, उस पर वह मार पड़ती कि भागता ही नजर आता । यवनों के तीर प्राचीर तक पहुँच नहीं पाते थे । प्राचीर पर से बरसाये तीर गजब ढा रहे थे ।

यवनों की आधी सेना समाप्त हो गई । दिमित्र के सपने चूर-चूर होने लगे । उसने रात्रि में दूर एक नावों का बेड़ा बाँधा दिन में उसे गंगा के पानी में खाई तक ले आया । एक सैनिक को इसकी भनक पड़ गई । उसने पुष्यमित्र को इसकी सूचना दी । यदि वह इसमें सफल हो जाता तो फिर उनका प्राचीर पर चढ़ना सरल था ।

उसने अपने पुत्र अग्निमित्र के साथ पन्द्रह गिने हुए सैनिक गुप्त रास्ते से खाई में प्रविष्ट करा दिये वे अन्दर ही अन्दर बेड़े तक जा पहुँचे और सब नावें बहा आए । इस जोखम भरे काम को इन वीरों ने इस कुशलता से किया कि यवन जान भी न सके ।

दूसरे दिन मगध की बाहर गई सेना वापस आ चुकी थी । यवन दो पाटों के बीच फँस गए । जब उनके योद्धा कट-कट कर गिरने लगे तो सेना में खलबली मच गई । दिमित्र सिर पर पाँव रखकर भागता नजर आया ।

पुष्यमित्र के परिश्रम और साहस से पाटलिपुत्र का सम्मान अक्षुण्ण रह गया । नागरिकों ने पुष्यमित्र को ही वहाँ का सम्राट चुन लिया । उसने अपने दायित्व को बड़ी कुशलता से निभाया ।

पुष्यमित्र शुंग की भूमिका प्रस्तुत करने के लिये आज भी समय जाग्रत आत्माओं को युग धर्म पालन के लिए पुकार रहा है ।

निष्काम लोकसेवी—

महाराजा हर्षवर्धन

"अब भी आप राज्यारोहण के लिये तैयार नहीं हैं ।" बाल्य बंधु माधव गुप्त ने स्थानेश्वर नरेश प्रभाकरवर्धन के द्वितीयपुत्र शिलादित्य से पूछा ।

"माधव, अब तुम्हें कितनी बार कहूँ कि मुझे राजा बनने में कोई अनुरक्ति नहीं है । मैं तो धर्म-प्रचार करके अपना यह जीवन सफल सार्थक करना चाहता हूँ । कितना अच्छा होता कि मैं किसी साधारण व्यक्ति के घर जन्म लेता तो आज की-सी विषम स्थिति तो सामने नहीं आती ।"

राजकुमार आप यह समझते हैं कि बौद्ध भिक्षु बन कर ही आप लोकसेवा कर सकेंगे, अपना जीवन सफल, सार्थक कर सकेंगे । राजा बनकर नहीं । मेरी दृष्टि में तो आपका यह सोचना ठीक नहीं। मनुष्य यदि अपना दृष्टिकोण सही रखे तो वह किसी भी काम को करता हुआ लोकसेवा कर सकता है । आप राज्याधिकार को अपनी महत्वाकांक्षा, तृप्ति, सुखोपभोग, ऐश्वर्य लाभ के लिये नहीं अपने दायित्व के रूप में निष्काम भाव से भी तो ग्रहण कर सकते हैं । फिर आप जो कार्य बौद्ध भिक्षु बनकर कर सकते हैं उससे कहीं अधिक स्थानेश्वर सम्राट बन कर भी कर सकते हैं । ऋषि-मनीषियों का कथन है कि संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है, अपनी दृष्टि को असंसारी बनाने की है ।

अपने बाल्य बंधु का कथन उन्हें तथ्यपूर्ण लगा । वे उस पर गहराई से विचार करने लगे । माधव गुप्त ने देखा उसकी बातों का असर होने लगा है । अतः उसने अपनी बात आगे बढ़ायी —"आज आपका व्यक्तित्व जवान है । आप शरीर से पुष्ट, बलवान, बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व और ज्ञानवान हैं । आपको इस स्थिति तक पहुँचाने में आपके स्वर्गीय पिताजी-परम भट्टारक महाराजा राज प्रभाकर वर्धन, आपके अग्रज महाराज राज्यवर्धन, भगिनी राज्यश्री आदि का स्नेह, सहयोग रहा है । स्वर्गीय महाराज की यशकीर्ति को अक्षुण्ण रखना, अपने अग्रज की मृत्यु का प्रतिकार लेना, भगिनी की असहायावस्था में सहायता करना भी तो आपका दायित्व है और फिर स्थानेश्वर के राज्यसिंहासन पर बैठकर प्रजा को सुशासन देना, राष्ट्र की समृद्धि का उद्योग करना भी तो पुण्यकार्य ही है । उसे भी आप निष्काम भाव से करते रह सकते हैं ।"

शिलादित्य पर माधव गुप्त की बातों का प्रभाव पड़े बिना न रह सका । ठीक ही तो कह रहा है वह । व्यक्ति का दृष्टिकोण सेवापरक हो भोगपरक नहीं तो फिर वैभव उसे बाँध कैसे पाएगा । वह तो उनसे निर्लिप्त रह कर अपने अभीष्ट को पूरा करता रहेगा । मैं भी स्थानेश्वर का राज्यसिंहासन प्रजा के सेवक के रूप में ही ग्रहण करूँ तो अपने जीवनोद्देश्य से भटक नहीं सकता ।

शिलादित्य हर्षवर्धन के नाम से स्थानेश्वर के राज्य सिंहासन पर बैठा। उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की धोखे से हत्या कर देने वाले मालवाधिपति देवगुप्त और गौड़ाधिपति शशांक नरेन्द्र गुप्त को पराजित किया । भगिनी राज्यश्री को कान्यकुब्ज के राजा गृहवर्मा को ब्याही गयी थी, मालवाधिपति देवगुप्त के आक्रमण और गृहवर्मा की हत्या के उपरान्त विंध्यांचल की ओर चली गयी थी । उसके राज्य की रक्षा और उसकी खोज के प्रयत्नों में निरत हर्ष के ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन भी धोखे से मारे जा चुके थे। कन्नौज का राज्य तो हर्ष ने आक्रमणकारियों से छीन लिया था पर राज्यश्री का कोई पता नहीं चल रहा था ।

राज्यश्री की खोज के लिये हर्ष एक विशाल सेना लेकर विंध्याचल की उपत्यकाओं में भटकते फिरे । बड़ी खोज के बाद उन्हें राज्यश्री मिली । वह अपनी दुःखद स्थिति से हारकर चितारोहण करने ही जा रही थी कि हर्ष वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने अपनी बहिन को बचा लिया । पति और भ्राता की हत्या और राज्य छिन जाने की वेदना ने उसे झिंझोड़ कर रख दिया था । वह विक्षिप्त-सी हो गयी थी । अपने जीवन से निराश राज्यश्री को जीवन की वास्तविकता और महान उद्देश्य से परिचित कराने के लिये हर्ष को बहुत प्रयास करने पड़े । अपने इन प्रयासों में वे सफल भी हुए ।

प्रायः देखा जाता है कि सफलता के पश्चात् व्यक्ति अपने आदर्शों से गिर जाता है । किन्तु निरन्तर आत्म-निरीक्षण करते रहने के कारण वे अपने आदर्शों से गिरे नहीं वरन् उन्होंने महाराज जनक की तरह अपने आपको राज्य और वैभव से निर्लिप्त ही रखा ।

सामयिक परिस्थितियों से निपटने के बाद उन्होंने एक क्रान्तिकारी निर्णय लिया- कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर अपनी बहिन राज्यश्री को बिठाने का । राज्यश्री इसके लिए बड़ी कठिनाई से तैयार हुई । राज्यश्री को कान्यकुब्ज की साम्राज्ञी बनाकर वे स्वयं उसके माण्डलिक बने। उनके द्वारा पराजित देवगुप्त व शशांक नरेन्द्रगुप्त आदि राजाओं को भी उन्होंने कान्यकुब्ज साम्राज्य के माण्डलिक बनने पर विवश किया । ऐसा आज तक के इतिहास में नहीं हुआ था । नारी द्वारा इतने बड़े साम्राज्य का सूत्र संचालन करना और कितने ही पुरुष राजाओं द्वारा उसका मांडलिक बनना, नारी और पुरुष की समानता सिद्ध करने का यह हर्ष का साहसिक कदम था साथ ही उनकी निस्वार्थता का परिचायक भी था ।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् हर्षवर्धन ने एक बार फिर हारे आर्यावर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने का भागीरथ प्रयास किया । उनका यह प्रयोग भी एक नवीनता लिये हुये था । उन्होंने सभी राजाओं से

अनुरोध किया कि वे आपस में लड़ना-झगड़ना छोड़कर परस्पर मित्र बन जायें । राज्यों के बीच परिवार भाव का विकास करके एक झण्डे तले आ जायें । राज्यश्री को उन्होंने अपनी बहिन के नाते नहीं मातृ-शक्ति के नाते उस संघ राज्य की अधिष्ठात्री बनाने की बात की । वे स्वयं भी उसके माण्डलिक बने तथा अपनी तरह दूसरे राजाओं को भी कान्यकुब्ज साम्राज्य के माण्डलिक बन जाने का अनुरोध किया । उनकी इस तथ्यपूर्ण बात को जिन राजाओं ने समझा वे बन गये । किन्तु जो दुराग्रही थे उन्हें युद्ध द्वारा यह बात मनवानी पड़ी । इस प्रकार उन्होंने शृंखलित आर्यावर्त को पुनः एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित किया । राज्य को एक सूत्र में पिरोकर एक सुसम्बद्ध माला का रूप दिया । उनका यह उद्योग इसीलिये था कि समर्थ भारत विदेशी आक्रमणकारियों की भ्रष्ट कामनाओं को भस्मीभूत कर सके । गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उनके इस उद्योग ने पुनः भारत को शक्तिशाली बनाया था । उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने यह सब सहयोग व सद्भावना के आधार पर ही करना चाहा था ।

आपद्धर्म की तरह राज्याभिषेक करा लेने और राज्य का सूत्र संचालन करते हुये भी हर्ष त्यागी-विरागी ही बने रहे जैसा कि उन्होंने अपने आप को बनाये रखना चाहा था। कहीं राज्य में मोह न उत्पन्न हो जाय इसलिये वे कान्यकुब्ज के सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हुए । उन्होंने विवाह भी नहीं किया । आजन्म अविवाहित रहते हुए वे निष्काम भाव से राष्ट्रसेवा करते रहे । विवाह कर लेने और संतान हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी अयोग्य होते हुए भी राज्य पर अपना अधिकार जता सकते थे अतः उन्होंने विवाह किया ही नहीं । वे राजाओं के सामने एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि राजा बनने का उद्देश्य राज्य भोगना नहीं एक सेवक की भाँति उसका प्रबन्ध करना होना चाहिए ।

अविवाहित होते हुए भी अपना स्नेह लुटाने के लिये उन्होंने एक अनाथ बालिका को अपनी पालित पुत्री बना लिया था । इस प्रकार मानव मन की सहज स्वाभाविक भूख सन्तान पाने, उसका पोषण-निर्माण करने की कामना को उन्होंने एक परमार्थिक दृष्टि दी थी । अविवाहित रहते हुए भी सन्तान का सुख पाया जा सकता है, यह उनके इस आचरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है ।

हर्षवर्धन को तत्कालीन राजा लोग समझ नहीं पाये थे। यह भी हो सकता है कि समझकर भी अपने स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ पाये थे । इसी कारण उन्हें समूचे आर्यावर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने में ही अपने जीवन के अधिकाधिक वर्ष लगा देने पड़े थे, जब अधिकांश राज्य स्वेच्छा से संगठित होने को तैयार नहीं हुए तो उन्हें सैन्यबल व युद्ध में पराजित करके एक साम्राज्य के माण्डलिक बनने को विवश करना पड़ा था । वे लोग स्वेच्छा से उनकी सुन्दर और हितकारी योजना को स्वीकार कर लेते तो उस समय उस शक्ति को किसी और ही दिशा में लगाते जो युद्धों में खर्च हुई ।

अधिकांश समय सुदृढ़ साम्राज्य के गठन में लगाते हुये भी उन्होंने बहुत से ऐसे काम किये जो राजाओं के लिये आदर्श कहे जा सकते हैं ।

धन और धरती तो ईश्वर की है । उस पर सभी मनुष्यों का समान अधिकार है । राजा सामान्य मनुष्य से अधिक सुख, सम्पदा व ऐश्वर्य क्यों भोगें ? राज्य के कोष में क्यों जनता के श्रम बिन्दुओं द्वारा उपार्जित पूँजी जमा पड़ी रहे । अतः वे हर पाँचवें वर्ष प्रयाग में एक विशाल सम्मेलन करते थे । इस सम्मेलन का स्वरूप धर्म सम्मेलन का था । इस अवसर पर वे सभी प्रचलित धर्मों को सम भाव से सम्मानित किया करते थे । यों वे स्वयं बौद्ध धर्म के मानने वाले थे किन्तु अपने धर्म के प्रचार के प्रति ही वे आग्रही नहीं थे। बौद्ध, वैदिक, जैन तथा अन्य सभी धर्मों के देवताओं की प्रतिमाओं की इस अवसर पर पूजा किया करते थे । पाँच वर्ष तक राज्य कोष में जो सम्पदा एकत्रित होती थी उसका जनहित में विनियोग करते थे । गरीबों, असहायों और कष्टपीड़ितों को सहायता देने के साथ-साथ लोकसेवी-संस्थाओं और शिक्षण-संस्थाओं को मुक्त हस्त दान दिया करते थे ।

यह अवसर एक प्रकार से सर्वस्वदान का अवसर होता था । वे अपने वस्त्राभूषण तक दान में दे दिया करते थे और फिर अपनी बहिन राज्यश्री से माँगकर वस्त्र पहना करते थे । राज्यश्री के साम्राज्य के प्रबंध संचालन में भी वे उसकी सहायता किया करते थे । धार्मिक-सहिष्णुता और सर्वधर्म समन्वय का जो प्रयास हर्षवर्धन ने किया था उससे प्रजा पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था ।

उनके समय में चीन से ह्वेनसांग नामक एक यात्री भारत आया था । वह उनके इस शासन प्रबन्ध को देखकर बहुत प्रभावित हुआ था । उसने अपने यात्रा संस्मरणों में तत्कालीन जन जीवन की सुख, समृद्धि तथा सुन्दर राज्य प्रबंध का वर्णन किया है । उसने लिखा है कि उस समय के सभी लोग सुखी, समृद्ध और संतुष्ट थे । पारस्परिक स्नेह, सद्भाव और सहयोग को व्यक्ति आवश्यक मानता था । कर बहुत कम थे । अपराध नहीं के बराबर होते थे । दण्ड व्यवस्था कठोर थी । राजा अपने को प्रजा का स्वामी नहीं सेवक मानता था ।

हर्ष कुशल प्रशासक, योद्धा व जनसेवी राजा ही नहीं श्रेष्ठ लेखक भी थे। उसने नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका आदि ग्रन्थों की रचना की थी । बाणभट्ट नामक महाकवि उसी के दरबार का रत्न था। 'हर्षचरित' व 'कादम्बरी' उसकी प्रमुख रचनाएँ हैं । धर्म प्रचार व शिक्षा प्रसार के लिये भी उन्होंने बहुत यत्न ही नहीं किया वे धर्म की मूल भावना तक पहुँचे थे । सब धर्मों के मूलतत्व एक हैं उनके बाह्य स्वरूप में भले ही थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है। अतः प्रत्येक धर्मावलम्बी को इतर धर्मों के साथ सहिष्णुता बरतनी चाहिए । इस भावना को व्यवहार में लाने के लिये ही वे हर पाँचवें वर्ष धर्म सम्मेलन का आयोजन करते थे ।

हर्षवर्धन का काल ५९० ई० से ६४८ ई० तक का काल था । राजा प्रजा का सेवक होता है । उसकी अपनी सारी क्षमताएँ, योग्यता, विभूतियाँ अपने लिये न होकर जनता के लिये होती हैं । उन्होंने यह आदर्श अपने जीवन में उतारकर बताए थे । राजा का पद वंश क्रमानुसार नहीं योग्यता और सेवा भावना के आधार पर मिले इसके लिये उन्होंने विवाह तक नहीं किया । यदि उनके इन आदर्शों को तत्कलीन राज्यों ने अपने जीवन में उतारा होता तो आज हमारा इतिहास कुछ और ही होता । उनके ये आदर्श आज के राजनेताओं के लिये भी कम अनुकरणीय नहीं है ।

वस्तुत: कोई भी पद अथवा अधिकार अपने लिए सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिए नहीं मिलता । उनके मिलने का तो एक ही कारण है कि हम उसके माध्यम से और अच्छी तरह जनसेवा कर सकें। सम्राट हर्षवर्धन ने अपने जीवन और चरित्र के माध्यम से यह आदर्श हमारे सामने रखा कि जिसको जानकर हम भी अपने जीवन में उतार सकें।

धर्म समन्वित शिक्षा ही सार्थक

हर्षवर्धन कई दिन से बहुत चिन्तित थे-''प्रजा की उन्नति किस तरह हो ?'' सच्चा उत्तराधिकारी वही तो है जो अपने आश्रित के कल्याण की बात सोचे और उसे हर तरह से पूरा करने का प्रयत्न भी करे ।

इस सम्बन्ध में उन्होंने मन्त्रियों से मन्त्रणा की सबने कहा- ''महाराज शिक्षा का व्यापक प्रसार हुए बिना प्रजा की उन्नति सम्भव नहीं है इसलिये देश भर में स्थान-स्थान पर विद्यालयों की स्थापना की जावे । प्रौढ़ों के लिये रात्रि पाठशालायें चलाई जावें । इसके लिये शिक्षकों की कमी को अन्य राज्यों से उधार लेकर भी पूरा किया जा सकता है पर साक्षरता देश की उन्नति के लिये अत्यावश्यक है ।''

बात ठीक है ''शिक्षा के बिना बौद्धिक विकास नहीं हो पाता । विचार की दिशाएँ व लोगों के मनोबल शिक्षा से ही विकसित होते हैं ।'' यह विचार मस्तिष्क में अच्छी तरह बैठ गया तब हर्षवर्धन ने सारे राज्य में विद्यालयों का जाल बिछा दिया ।

शिक्षा प्रत्येक बच्चे के लिए अनिवार्य कर दी गई । प्राथमिक स्तर के विद्यालयों से लेकर बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों की स्थापना की गई । प्रजा ने कंधे से कंधा मिलाकर सहयोग दिया । जिसके पास धन था धन दिया, जमीन वालों ने जमीन दी और शिक्षितों ने अपनी योग्यताएँ प्रजा को साक्षर बनाने में समर्पित कर दीं । देखते-देखते सारे राज्य से अविद्या का अन्त हो गया एक भी निरक्षर न रहा ।

शिक्षा बढ़ने के साथ ही उन्नति की आकांक्षायें जाग पड़ीं । जगह-जगह नये-नये उद्योग स्थापित हुए । दूसरे राज्यों से व्यापार बढ़ा । कृषि में अनेक तरह के अनुसंधान हुए । शिक्षा के प्रसार में राज्य ने जो तपस्या की वह आर्थिक उन्नति के रूप में तुरन्त देखने में आई ।

किन्तु यह स्थिति थोड़े दिन ही चल पाई थी कि सारे राज्य में धन, पद, प्रतिष्ठा की होड़ लग गई । लोगों में इनके लिये द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ । ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य, छल, कपट के दाँवपेंच खेले जाने लगे । सर्वत्र भ्रष्टाचार और अनाचार फैल गया । हर्षवर्धन बड़े चिन्तित हुये । शिक्षा जैसी महत्वपूर्ण साधना के फल भी कुत्सित हो सकते हैं ? राज्यों में किसी ने इसकी कल्पना भी न की थी । अब इसका क्या उपाय किया जाये कि राज्य में बढ़ रही सामाजिक अशान्ति दूर हो- यह चिन्ता सारे प्रबुद्ध नागरिकों, सभासदों में व्याप्त हो गई । राजा हर्षवर्धन को स्वयं नहीं सूझ रहा था कि क्या किया जावे ?

एक दिन वे इसी चिन्ता में डूबे हुये अन्यमनस्क से बैठे थे तभी उधर से महारानी राज्यश्री ने प्रवेश किया। दोनों ने बड़ी देर तक मन्त्रणा की। कोई उपाय समझ में न आया तब राज्यश्री ने कहा-''महाराज आज्ञा हो तो विद्यालयों का भ्रमण कर आया जावे, सम्भव है कोई त्रुटि समझ में आ जाय ।''

हर्ष और राज्यश्री प्रातःकाल राज्य-भ्रमण पर निकले । वे एक महाविद्यालय पहुँचे । विद्यालयों का भवन न्यास देखते ही बनता था । उसे चारों ओर से वृक्ष-वाटिका से घेर दिया गया था जिससे उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो रही थी । महाराज ने देखा- इतिहास भूगोल, गणित, वैद्यक, कला, संगीत सब कुछ सिखाने का प्रबन्ध है । सारा प्रबन्ध देखकर वे गद-गद हो उठे ।

मानव जीवन की गरिमा, उद्देश्य और आचार को सिखाने का प्रबन्ध न हो तो यह शिक्षा फलवती नहीं हो सकती । धार्मिक मर्यादाओं का ज्ञान न होने के कारण ही आज लोग स्वार्थ में डूबे हैं, इसी कारण प्रजा अशान्त है ।

हर्ष की समझ में बात आ गई । भूल ठीक करली गई, प्रत्येक विद्यालय में धर्म-शिक्षण अनिवार्य कर दिया गया और तब प्रजा की उन्नति की स्थिति उस आभूषण सज्जित राजकुमारी की-सी हो गई जो शरीर से भी बहुत सौन्दर्यवती होती है ।

दक्षिण भारत के चाणक्य-

विद्यारण्य

सन् ७१२ ई० में अरबों ने भारत पर पहला आक्रमण किया । इस आक्रमण का नेतृत्व किया था मुहम्मद बिन कासिम ने और पहला आक्रमण का निशाना बनाया था सिन्ध को । मुहम्मद कासिम ने सिन्ध के शासक दाहिर को परास्त करने में सफलता प्राप्त की और वहाँ अपने साम्राज्य का झण्डा फहराया। सिन्ध से देवल और मुलतान तक भी अरब साम्राज्य का विस्तार हुआ और यह सारा विस्तार तीन चार वर्षों के प्रयत्नों का ही परिणाम था ।

उससे आगे का अभियान जुनैद और तामिन नामक प्रतिनिधियों को सौंपकर कासिम वापस लौट गया । तब तक भारतीय जनता और राजाओं में भी स्थिति के प्रति जागरूकता और सतर्कता आ गयी थी परिणामस्वरूप एकता, शौर्य और साहस में अद्वितीय स्थान रखने वाली भारतीय जनता के सम्मुख जुनैद और तामिन तथा उनकी सेनाओं की एक न चल सकी । यद्यपि वे अपने अभियान को सफल बनाने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगाते रहे परन्तु सफलता नहीं मिली ।

अरब आक्रमण से भारतवर्ष लगभग तीन शताब्दियों तक एक प्रकार से सुरक्षित हो गया । परन्तु इन तीन शताब्दियों के दौरान ही कुछ ऐसा राजनीतिक घटनाचक्र चला कि हमारे देश की राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ गयी । भारतीय राजा आपस में लड़ने लगे । दसवीं शताब्दी में पुन: एक बार जोरदार अरब आक्रमण हुआ और पंजाब हाथ से निकल गया । भारतीय रियासतों को फिर भी इस घटना से कोई सबक नहीं मिला । वे आपस के झगड़ों में ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहे । गुजरात के चालुक्य और अजमेर के चौहान, महोबा के चन्देल और कन्नौज के गहरवाल जिनके सम्मिलित प्रयासों ने आक्रामकों के दाँत खट्टे किये थे आपस में ही लड़ने-भिड़ने और मरने-मारने लगे ।

इस स्थिति का लाभ उठा कर महमूद गजनवी ने छब्बीस वर्षों के भीतर भारत पर सत्रह बार हमले किये । भारतीय सेनाओं ने आनन्दपाल के नेतृत्व में महमूद का मुकाबला झेलम के किनारे किया परन्तु बिखरी हुई शक्तियों का अस्थायी गठबन्धन गजनवी का मुकाबला नहीं कर सका और विजय महमूद को ही मिली । महमूद गजनवी ने इस आक्रमण में विजयी होकर मथुरा, वृन्दावन, कन्नौज, कालिंजर के मन्दिरों को लूटा । गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर को लूटने और सोमनाथ की मूर्ति का भंजन कर 'बुत शिकन' होने का धर्मान्ध श्रेय भी गजनवी ने ही प्राप्त किया । फिर भी मूलत: वह लुटेरा था। उसकी रुचि साम्राज्य स्थापित करने की अपेक्षा हीरे जवाहरातों से अपना कोष भरने में अधिक थी । अपने इस उद्देश्य में एक दृष्टि से सफल होकर वह वापस चला गया ।

साम्राज्य स्थापना की इच्छा से मोहम्मद गौरी ने ११९१ में भारत पर पहला आक्रमण किया । इस आक्रमण का सामना किया दिल्ली के प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने परन्तु अपने स्वार्थों के लिए राष्ट्रीय हितों का खून करने वालों की भी कमी नहीं थी । व्यक्तिगत शत्रुता के कारण, राजा गौरी का स्वागत किया कन्नौज के जयचन्द ने। जिसका नाम ही देशद्रोही प्रवृत्तियों का प्रतीक बन गया है और दिल्ली पर एक लम्बे संघर्ष के बाद मोहम्मद गौरी ने विजय प्राप्त की और भारत की दासता का अन्धयुग आरम्भ हुआ कतिपय देशद्रोही तत्वों के कारण ।

इस लम्बी भूमिका के प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य राष्ट्रीय विपत्तियों के मूल में एकता का अभाव कहना ही है । मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद धीरे-धीरे अन्य राज्यों में भी उनका प्रभाव प्रबल होता गया । कोई विजेता राष्ट्र विजय के बाद विजित राष्ट्र की सांस्कृतिक आधार शिलाओं पर चोट करता है ताकि भविष्य में उसके प्राणों में राष्ट्रीयता का बीज अंकुरित न होने पाये । भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति पर जब बर्बर आक्रमणों की शुरूआत हुई और उनकी भीषणता बढ़ती गयी तो ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता प्रबल हुई जो अपनी मेधा, प्रतिभा के बल पर बिखरे मणि-माणिक्यों को एक सूत्र में आबद्ध कर सके और उस समय यह आवश्यकता पूरी की चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के दो भाइयों ने। उन्होंने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की और इस राज्य की सीमा का विस्तार भी किया । यद्यपि इस प्रयास का श्रेय उनके संस्थापकों हरिहर और बुक्काराय को दिया जाता है परन्तु बहुत कम लोग जानते हैं कि इस प्रयास के मूल में चाणक्य की तरह का एक अद्‌भुत व्यक्ति काम कर रहा था जिसका नाम था -विद्यारण्य ।

विद्यारण्य बचपन का नाम था। उनके पिता विजयनगर राज्य के संस्थापक हरिहर-बुक्काराय के कुलगुरु बने । इसी कारण उन्हें हरिहर वंश के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर प्राप्त हुआ । विद्यारण्य ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता तथा राजवंश के कुलगुरु आचार्य मायण के सान्निध्य में सम्पन्न की और आगे चलकर अपने समय के विख्यात विद्वानों विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठ के सानिध्य में चली । विद्या तीर्थ श्रृंगेरी मठ के शंकराचार्य थे, भारतीतीर्थ भी वेदान्त के ही उपदेष्टा थे और श्रीकण्ठ से उन्होंने साहित्य तथा संस्कृति का ज्ञान अर्जित किया ।

कहा जा चुका है कि उस समय न केवल भारतीय राजनीति पर ही विदेशी शक्तियाँ हावी थीं वरन् धर्म और संस्कृति को भी पूरी तरह नष्ट करने का कुचक्र जोरों से चल रहा था । बालक माधव ने अपने बाल्यकाल से ही देश और समाज की इस तपनशील अवस्था को देखा था तथा जागरूक अन्तःकरण में आक्रोश भी उत्पन्न होता अनुभव किया था । विद्यारण्य के एक जीवनीकार ने उस समय की स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है-''उस समय लोग चिदम्बरम के पवित्र तीर्थ को छोड़कर भाग गये थे । मन्दिरों के गर्भगृह और मण्डलों में घास उग आयी थी । अग्रहारों से यज्ञ-धूप की सुगन्धि के स्थान पर पकते माँस की गन्ध आने लगी थी । ताम्रपर्णी नदी का जल चन्दन से मिश्रित होने के स्थान पर गौरक्त से मिश्रित होने लगा था । देवालयों और मन्दिरों पर कर लग गये थे । अनेक मन्दिर देखभाल न होने के कारण या तो स्वयं गिर गये थे अथवा गिरा दिये गये थे । हिन्दू राज्य छल-बल से समाप्त होते जा रहे थे ।''

जिन विभूतियों को माधव के शिक्षण और मार्गदर्शन का दायित्व प्राप्त था, वे भी किसी प्रकार इस दु:स्थिति को उलट देने के लिए लालायित थीं, व प्रयत्नशील भी थीं । माधव ज्यों-ज्यों बड़े होते गये वे अपने व्यक्तित्व निर्माताओं

के प्रयासों के अनुरूप ढलने लगे । और जब गुरुगृह से लौटने लगे तो भारतीय परम्परा के अनुसार उन्होंने गुरुओं से पूछा- ब्राह्मण परम्परा के अनुसार मैं आपको दक्षिणा में क्या अर्पित करूँ ?"

'अपना जीवन' छह अक्षरों का उत्तर मिला और उन्होंने जीवन अर्पित कर दिया। जिसको दक्षिणा स्वरूप ग्रहण कर प्रसाद स्वरूप इस शर्त के साथ लौटा दिया कि-"राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से खण्ड-खण्ड होते जा रहे भारत का पुनर्जागरण कर भारतीय धर्म और संस्कृति को पुनर्जीवन देना ।"

माधवाचार्य (बाद में विद्यारण्य) अपनी कुल परम्परा से हरिहर और बुक्काराय के वंश के कुलगुरु बने । इन सामन्त पुत्रों से उनका निकट सम्बन्ध था अत: उन्हीं की प्रेरणा और संरक्षण में संगमराज के पुत्र हरिहर प्रथम ने सन् १३३६ ई० में विजयनगर राज्य की नींव डाली । दक्षिणभारत को दिल्ली का कमजोर मुगल शासन अपनी नियन्त्रण व्यवस्था में रख पाने में असमर्थ हो रहा था । इसी कमजोरी का लाभ उठाकर चौदहवीं शताब्दी में अपने ढंग का यह पहला प्रयास हुआ। विजयनगर के नाम से तुंगभद्रा नदी के तट पर एक सुन्दर नगर बसाया गया, जिसकी रमणीयता का वर्णन करते हुए उस समय भारत आये एक फारस के यात्री ने लिखा है-"संपूर्ण विश्व में विजयनगर जैसा साम्राज्य न देखा है और न सुना है उसके चारों ओर सात दीवारें हैं । बाहर की दीवार के चारों ओर लगभग ५० गज की चौड़ाई और लगभग साढ़े तीन फुट की ऊँचाई के पत्थर लगे हैं जिससे नगर की सुरक्षा होती है और प्रहरियों की निगाह बचाकर कोई भी नगर में प्रवेश नहीं कर सकता । नगर के भीतर विभिन्न वस्तुओं के बाजार अलग-अलग स्थित हैं । हीरे-जवाहरात आदि बहुमूल्य चीजें खुले बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक बिकती हैं देश में अच्छी खेती होती है और जमीन उपजाऊ है ।" एक दूसरे इटालियन यात्री ने विजयनगर साम्राज्य को सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य कहा है ।

इन सफलताओं को प्राप्त करने में लम्बा समय लगा । विजयनगर राज्य की स्थापना के बाद उसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाना तथा उद्देश्य का अगला चरण पूरा करना था जिसे दृढ़तापूर्वक अमल में लाना था । विद्यारण्य के छोटे भाई सायण विद्वान होने के साथ साथ एक योग्य सेनापति भी थे । सायण के नायकत्व में विजयनगर साम्राज्य की सेनाओं ने आसपास फैले मुगल साम्राज्य पर आक्रमण आरम्भ किया । उस समय दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक का शासन था जो पूर्वापेक्षा काफी अशक्त और क्षीण हो गया था । विजयनगर की सेनाओं ने अपने राज्य के समीपवर्ती कई क्षेत्रों को विदेशी दासता के चंगुल से मुक्त किया । इस अभियान के संचालक और मार्गदर्शक विद्यारण्य ही थे, जिनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि जिस प्रकार चाणक्य ने बिना तलवार उठाये नन्द साम्राज्य का अन्त किया और भारत का राष्ट्रीय स्वरूप प्रतिष्ठित किया उसी प्रकार दक्षिण भारत में विद्यारण्य ने भी बिना शस्त्र ग्रहण किये भारतीय संस्कृति की विजय पताका के पुनर्जीवन का कार्य सम्पन्न किया ।

विजयनगर ने दक्षिण भारत के समुद्री तट पर अधिकांश भाग में स्वदेशी शासन की स्थापना कर ली थी । कोंकण तट मालावार का समुद्री तट और कावेरी नदी सहित होयरवल राज्य भी विजयनगर साम्राज्य के अंग बन गये । कहा जाता है कि इस विजय अभियान के लिये ग्यारह लाख देशभक्त युवकों को सेना में भर्ती किया गया था । साम्राज्य का विस्तार इतना अधिक हो गया था कि उसकी सीमा के भीतर ३०० बन्दरगाह आते थे।

हरिहर बुक्काराय के शासन काल में वहाँ हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान भी हुआ । प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया गया और जिनमें पूजा आरती का क्रम बन्द हो गया, वहाँ का वातावरण पुन: घन्टा घड़ियालों से निनादित होने लगा । जो मन्दिर और देवालय विदेशी आक्रमणकारियों ने तुड़वा दिये थे उन्हें फिर से बनवा कर तैयार किया गया । गुरुकुल परम्परा तथा आश्रम व्यवस्था पुन: प्रचलित हुई । इन सब प्रवृत्तियों के पीछे विद्यारण्य का दिशा-निर्देशन तथा शासकों की निष्ठा भावना थी। वहाँ की स्थिति का उल्लेख इतिहासकारों ने कुछ इस प्रकार किया है- विजयनगर राज्य की स्थापना विदेशी शासकों के अनाचार और अत्याचार तथा सांस्कृतिक ध्वंसलीला के विरुद्ध एक समर्थ प्रतिरोधक शक्ति के रूप में हुआ था । प्रजा और राजा दोनों ही धर्मरत थे । अधिकांश लोग वैष्णव मत को मानने वाले थे फिर भी राज्य व्यवस्था किसी की धर्मनिष्ठा में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी यहाँ तक कि विधर्मियों के प्रति भी उदार-नीति बरती जाती थी । राज्य की ओर से सभी धर्मावलम्बियों के लिए समान व्यवहार किया जाता था ।

भारतीय संस्कृति के नवोन्मेष अभियान के दो चरण थे । पहला-राजनीति में स्वदेशभक्ति की प्रतिष्ठा और दूसरा धर्मतन्त्र को स्वस्थ तथा परिष्कृत रूप देना । माधवाचार्य के रूप में अब तक प्रथम चरण के लिए कार्यरत रहते हुए आरम्भ की गयी परम्पराओं को भली-भाँति प्रचलित और सुदृढ़ देख आश्वस्त होकर माधवाचार्य दूसरे चरण के लिए संन्यासी हो गये । भारतीय धर्मदर्शन को नयी सामयिक दृष्टि परिप्रेक्ष्य देने के लिए संन्यास जीवन में माधवाचार्य 'विद्यारण्य' के नाम से दीक्षित हुए ।

उनका संन्यास किसी जंगल में बैठकर मौन एकान्त साधना या आत्मकल्याण और व्यक्तिगत मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं था वरन् वे तो इस देश में जनकल्याण और शिक्षण का प्रयोजन पूरा करना चाहते थे । एक कुटिया में रहते हुए उन्होंने अपने तपोनिष्ठ जीवन द्वारा सर्वसाधारण

को धर्म और अध्यात्म के व्यावहारिक स्वरूप को समझना आरम्भ किया । उनकी प्रतिष्ठा, पाण्डित्य और विद्वता ने उनके उद्देश्य को व्यापक बना दिया । लोग उनके पास व्यक्तिगत समस्याओं से लेकर सार्वजनिक गुत्थियों का हल पूछने तक आया करते और वे यथाशक्य उनकी आशा-अपेक्षाओं को पूरा करते ।

संलाप चर्चा द्वारा वाणी के माध्यम से लोकशिक्षण करने के साथ उन्होंने महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन भी किया। उनकी लिखी हुई पराशर माधवीय में हिन्दू धर्म के आचार-पक्ष और विचार-पक्ष का बड़ा सुन्दर विवेचन है । दक्षिण भारत के विद्वान इस ग्रन्थ को अब भी 'मनुस्मृति' के समतुल्य महत्व देते हैं । इस ग्रन्थ के अतिरिक्त उन्होंने जीवन्मुक्ति, विवेक पंचदशी और जैमिनीय न्यायमाला नामक ग्रन्थ भी लिखे जिन्हें भी धर्मशास्त्रों के समान लोकप्रियता प्राप्त है ।

विजयनगर साम्राज्य सम्पूर्ण रूप से भारतीय धर्म और संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए उदित हुआ था। कला, संगीत, स्थापत्य आदि को प्रोत्साहित किया गया । इस राज्य के आरम्भ काल में वेदों पर भाष्य भी लिखे गये और दर्शन ग्रन्थ भी प्रणीत हुए । इन कार्यों में विद्यारण्य ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । माधवाचार्य ने सन् १३७७ में विद्यारण्य के नाम से संन्यास ग्रहण किया था और फिर वे आजीवन इसी प्रकार लोकसेवा साधना में लगे रहे ।

यद्यपि उन्होंने धर्मतन्त्र के माध्यम से ही लोकसेवा का मार्ग अपना लिया था फिर भी राज्यकार्यों में आवश्यक परामर्श व मार्गदर्शन देते रहते थे । हरिहर बुक्काराय तथा अन्य बाद के शासक उनके महिमामंडित व्यक्तित्व से लाभ उठाने के लिए प्रायः उनकी कुटिया पर आया करते थे और उनसे राजनीतिक समस्याओं पर समाधान चर्चा किया करते थे । विद्यारण्य उन्हें समुचित मार्ग निर्देशन देते और राज्य-संचालन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायता करते । उनके रहते विजयनगर साम्राज्य के सभी शासकों ने विद्यारण्य को राजगुरु रूप में प्रतिष्ठित रखा । हरिहर प्रथम ने उन्हें अपने से भी ऊँचा आसन और सम्मान दिया था तथा वैदिक मार्ग प्रतिष्ठाता के सम्मानित सम्बोधन से सम्बोधित किया ।

तत्कालीन सामाजिक परिवर्तन में विद्यारण्य का एक प्रमुख योगदान यह रहा कि उन्होंने संन्यास का सम्बन्ध सूत्र सीधे समाज से भी जोड़ा । प्रायः साधु-संन्यासी उस समय भी समाज से निरपेक्ष और विमुख रहकर लोगों को कोरी भक्ति और पूजा-पाठ का उपदेश दिया करते थे । विद्यारण्य ने अपने समय के कई विख्यात और लोकादृत साधु-महन्तों को लोकसेवा के रचनात्मक कार्यों में लगाया। उनके समय के प्रख्यात वैष्णव भक्ति के प्रचारक वेदान्त देशिक को समग्र भारतीय धर्म और अध्यात्म के पुनरुत्थान में नियोजित करने की घटना तो ऐतिहासिक है ।

विद्यारण्य ने अपने समय में वाणी और लेखनी द्वारा ही नहीं व्यक्तित्व और कृतित्व द्वारा भी लोकनेतृत्व का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह भारत के प्रथम राष्ट्र निर्माता चाणक्य का स्मरण दिला देता है । विजयनगर साम्राज्य की इतिहास में जितनी प्रशंसा होती है उसके पीछे आधार रूप में विद्यारण्य का ही व्यक्तित्व विद्यमान है ।

जिन्होंने राष्ट्ररक्षा के लिये तलवार थामी—

'विक्रमादित्य' हेमू

भारत धन, धान्य और स्वर्ण से भरा पूरा देश है। इस तथ्य से परिचित हो यहाँ की सुख-समृद्धि पर डाका डालने के लिये क्रमशः यूनानी, शक, हूण, कुषाण, पर्शियन, मुसलमान और अँग्रेज आये । सदियों तक भारत माँ के लाड़ले सपूत अपने देश की, अपने धर्म की, अपनी संस्कृति और जातीय स्वाभिमान की रक्षा के लिए इन स्वार्थी बर्बरों से लोहा लेते रहे ।

धन और धरती तो शूरों की होती है । नर-रत्न गर्भा माँ भारती की कोख से ऐसे कितने ही सपूत उपजे थे जिन्होंने इसकी विदेशियों से रक्षा करने के लिये महान उद्योग और प्रबल पुरुषार्थ किया । विक्रमादित्य हेमू इन्हीं नर-पुंगवों में से एक थे जिन्होंने समय की पुकार पर अपने धर्म को, कर्तव्य को निभाया ।

अपने को अमीर तैमूर का वंशज कहने वाला राज्यलिप्सु, धनलिप्सु बाबर भी भारत के वैभव की कहानियाँ सुनकर भारत आया । तैमूर स्वयं एक लुटेरा था उसका वंशज क्या उससे कम होता ? दिल्ली पर उन दिनों इब्राहीम लोदी नामक बादशाह राज्य करता था । वह बाबर के सामने टिक नहीं सका । पानीपत के मैदान में उसे करारी हार मिली । मेवाड़ पर उन दिनों प्रतापी हिन्दू राजा महाराणा साँगा राज्य करते थे । उन्होंने ठेठ फतहपुर सीकरी के पास खानवा के मैदान में जाकर बाबर को रोका । महाराणा सांगा के आह्वान पर कितने ही राजपूत राजा एकत्रित होकर राष्ट्ररक्षा के लिये खानवा के मैदान में जा डटे । बाबर के पास नयी किस्म के अस्त्र-तोपें व बन्दूकें जो दूर से मार सकती थीं, होते हुए भी उसकी सेना राजपूतों के आगे टिक न सकी और भाग खड़ी हुई । भागती सेना का पीछा करना भारतीय वीरों ने उचित नहीं समझा, वे विजयोत्सव मनाने लगे । किन्तु बाबर अपने सपनों को यों चूर-चूर नहीं देखना चाहता था । वह लुटेरे साथियों को पुनः संगठित कर असावधान राजपूतों पर चढ़ बैठा । वे बड़ी वीरता से लड़े पर व्यूह रचना टूट जाने से उनकी पराजय हुई पर बाबर भी उससे आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका ।

महाराणा साँगा युद्ध में बुरी तरह घायल हुए । वे स्वस्थ होकर इस पराजय के कलंक को धोने की तैयारी में लगे पर वे इस युद्ध के कुछ समय बाद ही दिवंगत हो

गये। उनका पुत्र उदयसिंह उनकी तरह पराक्रमी नहीं निकला कि उस पराजय का बदला चुकाता ।

ऐसे विकट समय में जब चारों ओर अंधकार छाया हुआ था कोई क्षत्रिय राजा ऐसा नजर नहीं आता था जो कि बाबर अथवा उसके वंश को पुन: पराजित करके उस अपमान का बदला चुकाता व पुन: हिन्दू-राज्य की स्थापना करके सुशासन स्थापित करता । समय के इस धर्म की चुनौती को जिस व्यक्ति ने स्वीकारा वह था हेमू-हेमचन्द्र, जिसकी सात पुश्त तो क्या पूरे वंश में किसी ने तलवार को हाथ नहीं लगाया था । वणिक पुत्र हेमू के पुरखे वैश्य थे । व्यापार करना और धन की वृद्धि करना, हिसाब-किताब रखना यही थे उनके कर्म। युद्ध क्या होता है, विजय कैसे मिलती है और पराजय क्या होती है उन्हें पता ही न था पर हेमू भला चुप कैसे बैठता ।

उसके पुरखों ने काफी धन सम्पदा एकत्रित कर रखी थी । वे दिल्ली सम्राट के मुख्य कोषाधिकारी हुआ करते थे । हेमू भी दिल्ली दरबार में प्रधानमंत्री रह चुके थे । उन्होंने मुगलों को भारत से मार भगाने का निश्चय कर लिया । अनेकों छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं से उनका परिचय था । संगठन की शक्ति से तो वे परिचित थे ही । अपनी सारी सम्पदा को उन्होंने देश की स्वाधीनता के लिये अर्पित करके अपनी एक सैना तैयार कर ली । छोटे-छोटे राजाओं को मिला अपने भगवा झण्डे तले आकर विदेशी-सत्ता को उखाड़ फेंकने की तैयारी कर ली ।

विदेशी आक्रमणकारी बाबर अधिक समय तक जीवित नहीं रहा । उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्रों में राज्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष चला । चलता क्यों नहीं स्वार्थी और लुटेरों के वंशजों से और आशा ही क्या की जा सकती थी । भाइयों की हत्या करके और पिता को बंदी गृह में डालकर राज्य करने की परम्पराएँ इसी वंश में चलती रही थीं । बाबर का पुत्र हुमायूँ उसकी तरह वीर नहीं था। उसके भाई कामरान ने उससे विद्रोह किया। गृह-कलह के कारण उसे ईरान भाग जाना पड़ा ।

इस स्थिति को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपयुक्त जान हेमू ने अपनी शक्ति और संगठन की गतिविधियाँ और भी तेज कर दीं । देखते ही देखते उसके पास एक विशाल सेना संगठित हो गयीं । हेमू ने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिये वैश्य धर्म से क्षत्रिय धर्म अंगीकार कर सैन्य संगठित ही नहीं की थी वरन् मुगलों को भारत से बाहर निकालने के ध्येय की पूर्ति के लिये भरसक प्रयत्न किया था । अत: उन्हें सहयोगियों की कमी नहीं रही ।

अवसर हाथ लगते ही उन्होंने दिल्ली पर धावा बोल दिया । उनकी विजय हुई । दिल्ली का सिंहासन पुन: भारतीय राजा के हाथ में आ गया । उस पर भगवा रंग की धर्म-ध्वजा फहराने लगी । यह वह समय था जब शेरशाह सूरी का पतन हो चुका था । हुमायूँ की मृत्यु हो चुकी थी । उसका पुत्र अकबर, बैरमखाँ के संरक्षण में बड़ा हो रहा था ।

दिल्ली को हस्तगत कर लेने पर हिन्दू राजाओं ने अपने इस वीरनायक को ही सम्राट मान लिया । वे उसके माण्डलिक बने । हेमू को विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित किया गया । दिल्ली से आगरा तक का प्रदेश अब उनके अधिकार में आ चुका था । वहाँ से मुगल सेना भाग खड़ी हुई थी ।

हेमू ने सिंहासन पर बैठकर राज्य को सुव्यवस्थित किया । थोड़े वर्षों को ही सही पर इस सुशासन में प्रजा ने अनुभव किया कि विदेशी शासकों से यह स्वदेशी शासन हजार गुना अच्छा था । हमारे देश का इतिहास व्यक्तिगत महानता की दृष्टि से तो बड़ा ऊँचा ठहरता है पर जहाँ राष्ट्रीयता की भावना और जनसामान्य की बात है इस दृष्टि से भारतवासी कमजोर ही रहे हैं । राणा साँगा के बाद जिस प्रकार हेमू ने राजाओं को संगठित कर एक स्वदेशी शक्ति गठित की यह उनकी मृत्यु के बाद स्थिर न रह सकी ।

'विक्रमादित्य' हेमू ने अपने छोटे से जीवन काल में पन्द्रह से अधिक लड़ाइयाँ लड़ीं । उन्होंने निर्णायक युद्ध पानीपत के मैदान में अकबर से लड़ा । अकबर बड़ी विकट स्थितियों में पलकर बड़ा हुआ था । उसे पढ़ने का अवसर भी नहीं मिला था । इसका कारण हेमू द्वारा मुगलों का दिल्ली से आधिपत्य समाप्त कर देना था । सच पूछा जाय तो ये विदेशी बर्बर राज्यलिप्सु अपनी वीरता के बल पर भारतीयों से नहीं जीते थे वरन् इनकी बर्बरता व धोखे बाजी से ही उन्होंने वीर भारतीयों पर अल्पकाल के लिये आधिपत्य भर जमाने में सफलता प्राप्त की थी । पानीपत के युद्ध में विक्रमादित्य हेमू काम आये । सेनापति के मरते ही सेना में भगदड़ मच गयी इस कारण अकबर जीत गया । और वह दिल्ली का बादशाह बना ।

अकबर ने अपने साम्राज्य को भेद-नीति से बढ़ाया वीरता से नहीं । राजपूत राजाओं की फूट और अहमन्यता पर ही उसका मुगल साम्राज्य विस्तरित हुआ । यद्यपि हेमू को अपने ध्येय में अल्पकाल तक ही सफलता मिली थी पर इतने समय तक ही सही वे सूर्य की तरह विदेशी शासन के तिमिर को चीरते रहे । इस साहस, पराक्रम व पुरुषार्थ के लिये वे आज भी स्मरणीय, अनुकरणीय बने हुए हैं ।

मुगलराज्य के हिन्दू प्रशासक –

टोडरमल

१५८९ में सम्राट अकबर जब कश्मीर गया तो सवाल उठा कि राजकाज किसकी देखरेख में सौंपा जाय यों उसके पास एक से एक योग्य और दक्ष अधिकारी थे । नवरत्नों के नाम से अपने पास अकबर ने प्रतिभाशाली विद्वान और योग्य व्यक्तियों को एकत्रित कर रखा था । परन्तु अकबर को सबसे अधिक विश्वसनीय लगे दीवान–

ए-अशरफ टोडरमल । उसने सारा शासन प्रबन्ध टोडरमल की देखरेख में छोड़ दिया ।

दूसरे विद्वानों को टोडरमल की इस प्रतिष्ठा से जलन हुई। कोई भी व्यक्ति साधारण स्थिति से परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर ऊँचा उठता है, तो अच्छे लोग ईर्ष्या करने लगते हैं। टोडरमल प्रारम्भ से ही इन परिस्थितियों का सामना करते आये थे इसलिए उन्हें चिन्ता नहीं हुई। वे सौंपे गये उत्तरदायित्व को निश्चिन्ततापूर्वक पूरा करते रहे।

टोडरमल का जन्म उत्तर प्रदेश के लहरपुर गाँव में हुआ । उनका परिवार सम्पन्न स्थिति का नहीं कहा जा सकता । फिर भी टोडरमल अपने आस-पास घटने वाली घटनाओं का सूक्ष्म-दृष्टि से निरीक्षण करना सीख गये । इसी प्रकार उनकी बुद्धि का विकास हुआ ।

उस समय राज्य के अधिकारीगण किसानों से कर वसूल करने के लिये ज्यादतियाँ किया करते थे । टोडरमल ने यह सब देखा और विचार किया । उन्होंने पहली बार बौद्धिक प्रतिभा का परिचय दिया । अधिकारियों को उनसे ऐसे सुझाव और परामर्श मिले कि राज्यकोष में भी अधिक धन इकट्ठा हुआ और कृषक भी ज्यादतियों से बच गये । अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष ज्यादा धन इकट्ठा हुआ । इसके समाचार अकबर तक पहुँचे और वह बड़ा प्रभावित हुआ। युवक टोडरमल को अकबर ने अपने राज्य-शासन में अच्छा पद और सम्मान दिया । बौद्धिक क्षमता के बल पर सामान्य स्थिति में भी अच्छा सम्मान, प्रतिष्ठा, ख्याति और अधिकार प्राप्त किया जा सकता है ।

सन् १५७३ में अकबर ने टोडरमल को भूमि प्रबन्ध के लिये गुजरात भेजा । वहाँ उन्होंने सारी जमीन की नाप जोख करवायी और जमीन की किस्म, क्षेत्रफल तथा पैदावार के हिसाब से मालगुजारी की दरें निश्चित कीं । इस नयी व्यवस्था से शासन और किसान दोनों को ही लाभ पहुँचा। हमेशा मालगुजारी की वसूली के अवसर पर पैदा होने वाली अशान्ति दो वर्षों में ही समाप्त हो गयी । टोडरमल की इस सूझबूझ से प्रभावित होकर अकबर ने पूरे साम्राज्य की भूमि का प्रबन्ध टोडरमल को सौंप दिया ।

छोटी सफलतायें प्राप्त कर लेने के बाद और बड़े उत्तरदायित्व निभाने की पात्रता मिल जाती है और उसे भी अच्छी प्रकार निभाकर बुद्धिमान व्यक्ति अपनी योग्यता का विकास करते रहते हैं । टोडरमल ने सारे राज्य का भूमि प्रबन्ध नये सिर से करने के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को १८२ परगनों मे बाँटा । प्रत्येक परगने के लिए एक अफसर नियुक्त किया गया जिसे करोड़ी कहा जाता था ।

परगने के लगान की रकम हाथ में आने के कारण करोड़ी लालची होते गये । वे किसानों से मनमाना कर वसूल करने लगे । इन मनमानियों की शिकायत टोडरमल और अकबर तक पहुँचो । अकबर ने उन्हें दीवाने-अशरफ मालगुजारी का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया । दीवाने अशरफ के इस पद पर रहकर उन्होंने विभाग में आवश्यक सुधार किये ।

लालची करोड़ियों को कठोर दण्ड दिया गया । कई को आजन्म कारावास मिला। टोडरमल ने जमीन की नपाई के लिए रस्सियों का प्रयोग किया था । ये रस्सियाँ पानी में भिगाने से सिकुड़ जातीं और करोड़ी इसी प्रकार की चालाकियाँ करते थे । टोडरमल ने रस्सी के स्थान पर लोहे के कड़ों से जरीबें तैयार करवायीं । थोड़े बहुत परिवर्तन से इसी प्रकार की जरीबें अब भी प्रयोग में लायी जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बेईमानी, अनैतिकता और हरामखोरी को रोकने के लिए पतितों को आतंकित करने के लिए सम्भावनाओं को निर्मूल करने का ही व्यावहारिक तरीका अपनाया ।

सुप्रबन्ध क्षमता और कार्यदक्ष होने के कारण सम्राट अकबर का अन्य चापलूस दरबारियों के जलते रहने के बाद भी टोडरमल अपना विश्वास बढ़ाता गया । टोडरमल ने भी खुशामद और अनावश्यक चाटुकारिता का ओछा और अयोग्यों द्वारा अपनाया जाने वाला तरीका छोड़कर विशुद्ध कर्मठता, लगन और परिश्रम का मार्ग चुना । यहां तक कि जब अकबर के चलाये धर्म दीन इलाही को कई दरबारी स्वीकार कर चुके थे । टोडरमल से इस विषय में राय जानने पर उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया । धर्म के सम्बन्ध में टोडरमल कट्टर हिन्दू थे । वे घर पर परम्परा गत पोशाक धोती-कुर्ता ही धारण करते थे । दोनों समय संध्या उपासना और पूजा पाठ नियमित रूप से किया करते । जब तक नित्यकर्मों से निवृत्त नहीं हो जाते उन्हें चैन नहीं मिलता ।

बादशाह को भी धार्मिक संकीर्णता का त्याग कराने में उनका बड़ा हाथ था । उन्होंने चल रहे जजिया कर को इस आधार पर हटाने की सलाह दी कि मात्र हिन्दू होने के कारण वर्ग विशेष से किसी प्रकार का कर वसूल करना अवांछनीय है । उनके इस तार्किक प्रतिपादन को समझकर ही अकबर ने जजिया कर हटाया था । यही नहीं हिन्दुओं को शासन में उचित स्थान दे कर उन्हें अपना बनाने का प्रयास भी किया।

तत्कालीन शासन की उदार धर्म नीति के मूल कारण टोडरमल से इसीलिये लोग जला करते थे । वे धर्म उदार चेता धर्मानुयायी थे । साम्प्रदायिक पक्षपात को अनुचित ठहराते हुए अपने विभाग और प्रशासन में भी योग्यता और प्रतिभा को संयुक्त करने की परम्परा चलायी । फल स्वरूप शासन व्यवस्था में भी इसके सत्परिणाम सामने आये।

टोडरमल केवल प्रबन्ध और व्यवस्था में ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी कुशल थे । अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में सफल और दक्ष होने के साथ-साथ वे वीर सेनापति भी थे । अकबर ने कई बार उन्हें युद्ध के मोर्चों पर लड़ने के लिए भेजा था । उन्होंने उस समय जो वीरता और शौर्य प्रदर्शित किया वह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ही प्रतीक है । राजधानी से दूर होने के कारण बंगाल में प्रायः विद्रोह हुआ करते थे । जिसे दबाने के लिए टोडरमल को ही भेजा । चार वर्ष तक कठोर परिश्रम कर उन्होंने बंगाल

में स्थायी शांति कायम की । गुजरात के सुलतान जफर को भी उन्होंने ही पराजित किया ।

सैन्य-व्यवस्था में मनसबदारी की प्रथा विकृतियों को समाप्त करने का श्रेय भी टोडरमल को ही था । उस समय सम्राट वेतनभोगी मनसबदार नियुक्त किया करता था। ये मनसबदार कालान्तर में भ्रष्टाचारी बन गये। टोडरमल ने सम्राट को भ्रष्टाचार जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए बहुमूल्य परामर्श दिये । जिनके परिणामस्वरूप स्वस्थ परम्परायें बन सकीं ।

जन हितकारी, स्वच्छ और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था ही टोडरमल का लक्ष्य था जिसे उन्होंने जीते जी प्राप्त कर लिया। अनुशासन और व्यवस्था अच्छे राज्य के दो आवश्यक तत्व हैं । जिनकी प्रतिष्ठापना के लिए टोडरमल ने स्वयं के जीवन की आहुति दे दी और इसी के लिए मृत्यु का वरण भी किया। उनकी हत्या सन् १५८९ में एक व्यक्ति ने कर दी थी । जिसे उन्होंने किसी अपराध के कारण दण्डित किया था ।

कर्तव्यपालन उनकी दृष्टि में सबसे बड़ा धर्म था । वृद्धावस्था के कारण कार्य करने में असमर्थ हो जाने के कारण उन्होंने राज काज से अवकाश ग्रहण कर हरिद्वार जाना चाहा । अकबर ने तीर्थयात्रा का प्रबन्ध कर दिया और वे चल दिये । मार्ग में ही उन्हें समाचार मिला कि ऐसे काम के लिए जिसे कोई और नहीं कर सकता है उनकी आवश्यकता है । टोडरमल अपनी यात्रा को बीच में ही छोड़कर वापस आ गये और सम्बन्धित कार्य देखने लगे । इसके कुछ समय बाद ही एक सजातीय व्यक्ति ने उन्हें मार डाला । जिन्होंने अपने विचारों से सम्राट को भी प्रभावित कर लिया वे अकबर के सबसे बड़े और योग्य व्यवस्थापक के रूप में अविस्मरणीय रहेंगे।

मेवाड़ के भीष्म—

राजकुमार चूड़ामणि

जोधपुर नरेश राव रणमल का राजपुरोहित टीका नारियल लेकर मेवाड़ के राज दरबार में उपस्थित हुआ । मेवाड़ की यशकीर्ति उन दिनों अपने यौवन पर थी । महाराणा कुम्भा के गुजरात विजय की बात अभी पुरानी नहीं पड़ी थी । उस विजय की स्मृति में बनाये गये विजय-स्तम्भ की नूतनता पर आतप, शीत और वर्षा का प्रभाव भी परिलक्षित नहीं हो पाता था । व्योमवर्णी प्रस्तरों की कान्ति अभी धूमिल नहीं पड़ी थी ।

मेवाड़ के राज्य सिंहासन पर वीरवर कला प्रेमी महाराणा कुम्भा के पुत्र महाराणा लाखा आसीन थे । महाराणा कोई पचास बसन्त देख चुके थे । उनके ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार चूड़ामणि भी पच्चीस के आस-पास पहुँच चुके थे । उनके शौर्य और सच्चरित्रता की कहानियाँ राजघरानों में विकसते पाटल की सुरभि-सी फैल रही थीं । उसी को सुनकर जोधपुर नरेश ने अपनी कन्या बिन्दुमती का हाथ उनके लिये प्रेषित किया था । इसी प्रयोजन से जोधपुर राज्य के राजपुरोहित मेवाड़ के यश-वैभव के अनुरूप ही भेंट के साथ यह रिश्ता लेकर पहुँचे थे ।

दरबार लगा हुआ था । सोलह-बत्तीसी उमराव अपने-अपने स्थानों पर बैठे थे । महाराणा के सिंहासन से थोड़ा हटकर कुछ नीचाई पर युवराज राजकुमार चूड़ामणि का आसन था । वे उस पर आसीन थे । उगते सूरज का-सा उनका प्रखर व्यक्तित्व सभा को और भी गरिमा प्रदान कर रहा था । महाराणा लाखा यों पचास के हो चले थे । पर दीखते पैंतीस के आस-पास ही थे । मुखमण्डल पर वैसा ही कसाव था जैसा प्राय: युवकों के चेहरे पर होता है । उनकी भरी हुई दाढ़ी और मस्तक पर पड़ी रेखाएँ भले ही उनकी आयु का प्रदर्शन कर रही हों पर स्वास्थ्य की दृष्टि से वे युवा सदृश्य ही थे ।

राव रणमल के राज पुरोहित ने अभिवादन, अभ्यर्थना के पश्चात् अपने आगमन का प्रयोजन बताया तो महाराणा लाखा के मुख मण्डल पर मुस्कान खिल आयी । वे हँसते हुए बोले-"हम जानते हैं पुरोहित जी राव रणमल अपनी कन्या का रिश्ता युवक राजकुमार चूड़ामणि के लिये नहीं तो क्या हम जैसे वृद्धों के लिये भेजेंगे ।" उन्होंने यह बात कही तो हँसी में थी पर, जब वे यह बात कह रहे थे राजकुमार चूड़ामणि की दृष्टि उनके मुखमंडल पर ही जमी हुई थी। अपने वृद्ध होने के अहसास के प्रकटीकरण के समय मानव की स्वभावगत दुर्बलता उनकी आँखों में रक्तिम डोरों के रूप में उभर आयी थी । यदि वे ही युवा होते तो उनका भी विवाह उस नवयौवना से हो जाता । पिता की यह दुर्बलता राजकुमार से छिपी न रही । अत: इसके पहले कि महाराणा इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते राजकुमार बोल उठे-

"अन्नदाता! जब आपने रणमल जी की सुपुत्री के सम्बन्ध में ऐसी बात कही तो वे मेरे लिए माता के तुल्य हो गयी हैं । अब मैं उन्हें पत्नी के रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ । आप अपने लिये ही इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लें । " राजकुमार का यह कथन सुनकर सभा में सन्नाटा छा गया । इस अप्रत्याशित घटना पर सभी हतप्रभ रह गये । महाराणा धर्म संकट में पड़ गये । राव रणमल के प्रतिनिधि किंकर्तव्यविमूढ़ कभी राजकुमार की ओर ताकते और कभी महाराणा की ओर।

"हमने तो यह बात हँसी में कही थी राजकुमार! तुम्हें इसे इतनी गहराई से नहीं लेना चाहिए ।"

"क्षमा करें अन्नदाता ! आपने किसी भी रूप में कहा हो अब वे मेरी माता बन चुकीं ।"

राव रणमल का प्रतिनिधि भी राजनीति कुशल और व्यवहार कुशल व्यक्ति था। वह अपने महाराज से पूरी बात करके ही आया था । वे अपनी पुत्री को मेवाड़ की

महारानी बनाना चाहते थे । पुरोहित को दूर की सूझी क्यों राजकुमारी को मेवाड़ की महारानी ही नहीं राजमाता भी बना दिया जाय । उसने महाराणा से निवेदन किया-

"महाराज ! हमारे महाराज ने युवराज और राजकुमारी जी के सम्बन्ध का प्रस्ताव इसलिये भेजा है कि वे मेवाड़ के भावी महाराणा हैं । क्षमा करें महाराज यदि युवराज के कथनानुसार आप राजकुमारी जी से विवाह कर भी लें तो आपके बाद में राज्य स्वामी तो युवराज ही होंगे, हमारा राजकुमारी जी की कोख से उत्पन्न राजकुमार नहीं ।"

राजपुरोहित की यह अर्थभरी बात सुनकर राजकुमार चूड़ामणि बोले-"आप निश्चिन्त रहें पुरोहित जी आपकी राजकुमारी जी की कोख से जो बालक उत्पन्न होगा वही मेवाड़ का महाराणा बनेगा । मैं ईश्वर को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेवाड़ के राज्य सिंहासन का न तो मैं कभी दावेदार बनूँगा और न मेरी सन्तान ही । मैं अपना युवराज पद छोड़ता हूँ ।

तिनके की भाँति इतने विशाल और समृद्ध राज्य का उत्तराधिकार छोड़ने वाले राजकुमार चूड़ामणि की ओर सभी सभासदों की दृष्टियाँ उठ गयीं । राजकुमार के चेहरे पर मुस्कान खेल रही थी, त्याग का अपूर्व सुख उस पर आभा बनकर विराज गया था । महाराणा ने अपने पुत्र की ओर देखा और बोले-"युवराज, तुम एक बार फिर सोच लो ।" हमें पता होता कि हँसी-हँसी में कही गयी बात की ऐसी प्रतिक्रिया होगी तो हम वैसा कभी नहीं कहते । आये हुये टीके को फेरने में हमारी हेठी ही नहीं होगी जोधपुर महाराज भी अपना अपमान समझेंगे । ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राज्य के उत्तराधिकारी तुम्हीं हो । तुम्हारी योग्यता और वीरता पर हमें भरोसा भी है । मेवाड़ का हित इसी में है कि तुम्हीं हमारे पश्चात् महाराणा बनो । ऐसी स्थिति में हम धर्म संकट में पड़ गये हैं ।

"आप चिन्ता न कीजिये महाराज! जब तक चूड़ामणि जीवित है मेवाड़ के गौरव चन्द्र को कोई राहू ग्रस नहीं सकता । शासन के प्रबन्ध में सिर कटाने की बात हो तो मैं आधी रात को तैयार हूँ पर सिंहासन पर बैठने की बात अब नहीं बनेगी ।"

राजकुमार की इस भीष्मप्रतिज्ञा पर सभी विस्मित चकित थे । इस त्याग के कारण उन्होंने वह श्रेय सम्मान पा लिया था जो मेवाड़ के राज्य सिंहासन से भी उच्च था, ऐसी कीर्ति पायी थी जिसकी प्रभा कभी धूमिल होने वाली नहीं थी ।

जोधपुर नरेश का अपमान न हो इसलिये महाराणा लाखा ने जोधपुर की राजकुमारी बिन्दुमती से विवाह कर लिया । वे मेवाड़ की महारानी बनीं । विवाह के कुछ ही वर्ष पश्चात् उनके मोकल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ । मोकल आठ वर्ष का भी नहीं हो पाया था कि महाराणा लाखा का देहावसान हो गया ।

अल्पवयस्क मोकल को महाराणा पद पर अभिषिक्त किया गया । राजकाज माता बिन्दुमती देखती थीं । राजकुमार चूड़ामणि उनकी सहायता करते थे । एक प्रकार से राज्य का सारा प्रबन्ध वे ही किया करते थे । काम तो वे करते थे महाराणा पद पर मोकल आसीन थे । राजमाता बिन्दुमती को उन पर पूरा विश्वास था । राजकुमार के त्याग ने उनके हृदय में बहुत ऊँचा स्थान बना लिया था । वे उन्हें बहुत मानती थीं ।

किन्तु जोधपुर नरेश राव रणमल के मन-मस्तिष्क में कुछ और ही खिचड़ी पक रही थी । वे मेवाड़ को अपने पैरों के नीचे करने की घृणित कामना को सफल करने में लगे हुए थे । उन्होंने अपने कुचक्र चलाने आरम्भ कर दिये । राजमाता बिन्दुमती के मन में उन्होंने राजकुमार चूड़ामणि के प्रति अविश्वास उत्पन्न करना आरम्भ कर दिया । पहले तो उन्होंने उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया पर अपने पिता द्वारा बार-बार उसी बात को दोहराने पर वह भी उन पर शंका करने लगी । यद्यपि उनकी शंका निराधार थी । राव रणमल राजकुमार चूड़ामणि को मेवाड़ से बाहर निकलवाकर अपने मार्ग का काँटा दूर करना चाहते थे ।

राजमाता बिन्दुमती ने भी अपने पिता की बातों पर विश्वास करके राजकुमार चूड़ामणि से परामर्श लेना बन्द कर दिया । राज्य के जिम्मेदार पदों पर उन्होंने अपने पिता की राय के अनुसार उनके अपने आदमी नियुक्त करने आरम्भ कर दिये । राजकुमार चूड़ामणि ने उन्हें सचेत किया कि ऐसा करने से हमारे भेद बाहर चले जायेंगे । इस पर राजमाता ने उन्हें कटुवचन कहे-"राजकुमार, आप मोकल के स्थान पर अपने आपको महाराणा बनाना चाहते हो इसीलिये ऐसी बातें कह रहे हो । हम स्वयं जैसे होते हैं हमें दूसरे भी वैसे ही दिखाई देते हैं । मैं आपका यहाँ मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़गढ़ में रहना आवश्यक नहीं समझती । आप यहाँ से चले जाइये ।

राजकुमार चूड़ामणि, राजमाता के ये वचन सुनकर बहुत दुःखी हुए । उन्होंने अपने अपमान को पी लिया और बोले-"यदि आपको मेरे में खोट लगता है तो मैं यहाँ नहीं रहूँगा । मैं सलुम्बर के बीहड़ प्रदेश में चला जाता हूँ पर आप इतना याद रखें महाराणा मोकल पर कोई संकट आये तो मुझे सूचित किये बिना न रहें ।"

राजकुमार चूड़ामणि अपने थोड़े से परिवार और साथियों सहित सलुम्बर के पर्वतीय प्रदेशों में चले गये । उनके चले जाने पर राव रणमल को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया। राजमाता उन्हें अपना और महाराणा मोकल का शुभचिन्तक ही समझती रहीं पर जब उनके पिता का वास्तविक स्वरूप उजागर हुआ तो वे काँप उठीं। अब उनके हाथ में कुछ नहीं रहा था । राव रणमल के विश्वासपात्र सामन्त दायित्वपूर्ण पद सम्हाले बैठे थे । वास्तविक सत्ता उन्हीं के हाथों में थी । अल्पवयस्क

महाराणा मोकल के प्राणों पर कभी भी संकट आ सकता था । अब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई । राजकुमार चूड़ामणि के उच्चादर्श समन्वित उच्चचरित्र पर विश्वास न कर उन्होंने अपने पिता पर, रक्त के रिश्तों पर विश्वास किया, जो झूठा निकला ।

इस संकट की घड़ी में उन्होंने एक दूत के हाथ राजकुमार चूड़ामणि के पास सन्देश भेजकर महाराणा मोकल की रक्षा करने की प्रार्थना की । राजकुमार चूड़ामणि को इसी बात की आशंका थी । उन्होंने उस स्थिति से निपटने की तैयारी भी कर रखी थी । सलुम्बर रहकर उन्होंने अपना सैन्य बल भी बढ़ा लिया था । राजमाता का संदेश पाते ही वे सदल बल चित्तौड़ के लिए कूच कर पड़े । गुप्त मार्ग से दुर्ग में प्रविष्ट होकर उन्होंने महाराणा मोकल की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया । फिर सोलह-बत्तीसी सरदारों से मन्त्रणा की । सबने मिलकर राव रणमल के सामन्तों का सफाया कर दिया ।

मानापमान की परवाह न करते हुए उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा- अपने कर्तव्य का पालन किया । जब तक मोकल वयस्क नहीं हुए उन्होंने उनका संरक्षण किया । तदनन्तर वे पुनः सलुम्बर चले गये । व्यक्ति का चरित्र और उसकी उच्च भावनाएँ ही उसे महान और यशस्वी बनाती हैं, पद सम्मान नहीं । राजकुमार चूड़ामणि के व्यक्तित्व और कर्तृत्व में यह तथ्य प्रखर रूप में उद्भाषित हुआ है । उनके त्याग ने उन्हें ही नहीं उनके वंशजों को भी अक्षय गौरव प्रदान किया । उनके वंशज जो 'चूड़ावत' कहलाते थे, की सहमति के बिना कोई मेवाड़ के सिंहासन पर आसीन नहीं हो सकता था। इस मर्यादा का प्रचलन राजमाता विन्दुमती ने ही किया था, राजकुमार चूड़ामणि की कीर्ति को स्थायी बनाने के लिये । उस परम्परा का पालन अन्त तक होता रहा । राजकुमार चूड़ामणि अपने इस त्याग के कारण सदा सर्वदा के लिये आदर्श बन चुके हैं । आज भी कोई यश पाना चाहे तो उसका मार्ग वही है जो उन्होंने चुना था ।

स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और संस्कृति के संरक्षक –

महाराजा छत्रसाल

उस दिन विंध्यवासिनी देवी के मन्दिर पर भारी भीड़ लगी हुई थी । देवी पूजा के उत्सव का आयोजन चल रहा था और दूर-दूर से आये श्रद्धालु अपनी आराध्या जगज्जननी देवी के मन्दिर में श्रद्धा के फूल चढ़ा रहे थे । मार्ग में चल रहे कुछ घुड़सवार एक बगीचे के पास रुके और उन्होंने बगीचे में फूल चुन रहे एक किशोर को फूहड़ता के साथ पुकारा। युवक ने फिर भी नम्रता और शिष्टता से उत्तर देते हुए पूछा-"क्या बात है?"

"तुम लोग जिस देवी की पूजा करते हो उस देवी का मन्दिर कहाँ है ?"- घुड़सवार ने पूछा ।

किशोर युवक ने कहा-"क्या आप भी माँ की पूजा करने आये हो । जरा ठहरिये, मैं फूल चुन लूँ फिर हम साथ-साथ ही चलेंगे ।"

"हमारे पास समय नहीं है ।" सरदार से लगने वाले घुड़सवार ने अहंकारपूर्वक कहा-"और हमें पूजा-वूजा से कोई भी मतलब नहीं है । हम तो सल्तनत के आदमी हैं और हमें वह मन्दिर तोड़ना है ।"

तब तक नवयुवक के साथी भी एकत्र हो गये थे । युवक ने अपने फूलों की टोकरी अपने साथी को थमा दी और घुड़सवार के नजदीक जाकर बोला- जरा तमीज से बात करो सरदार । देवी माँ के लिए ऐसी बात मुँह से निकाली तो जबान खींच लूँगा ।

युवक की भवें तन गयी थीं और होठ फड़फड़ाने लगे थे । घुड़सवार को इस किशोर से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी । वह घोड़े से यह कहता हुआ नीचे उतरा-"तू तो क्या तेरी देवी माँ भी मेरा बाल बाँका नहीं कर सकती । ठहर अभी तुझे मजा चखाता हूँ ।" यह कहता हुआ सरदार घोड़े से नीचे उतरा और उसके पास आने लगा । एक लड़के का ऐसा साहस उस गर्वोन्मत्त घुड़सवार को सहन नहीं हो रहा था और वह इस तरह उत्तर देने वाले लड़के का सिर ही उतार लेने की सोच रहा था । घुड़सवार उतरकर युवक के पास आ ही रहा था कि युवक ने आनन-फानन में अपने कमर में खोंसी हुई तलवार निकाली और सरदार जिसका नाम रसदुल्ला खाँ था की छाती में घोंप दी । रसदुल्ला खाँ वहीं ढेर हो गया। अपने सरदार की यह दशा देखकर साथ आये अन्य घुड़सवार भी उस युवक पर टूट पड़े । युवक भी कोई कमजोर नहीं था । उसने तथा उसके साथियों ने मिलकर ऐसे वीरतापूर्ण हाथ दिखाये कि दुश्मन को छठी का दूध याद आ गया । इस छोटे से युद्ध की खबर मन्दिर में पूजा कर रहे राजपूत वीरों और चम्पतराय तक भी पहुँची, जो उस युवक के पिता थे । वे लोग जब तक तैयार होकर आते तब तक तो छत्रसाल अपने शत्रुओं पर काबू पा चुके थे ।

किशोरवय में ही अपनी संस्कृति के प्रति इतना भक्तिभाव रखने और आक्रमणकारियों का वीरतापूर्वक मुकाबला करने वाले इस युवक का नाम था छत्रसाल जिसके सम्बन्ध में शिवाजी के राजकवि भूषण ने कहा था- "शिवा को सराहौं के सराहौं छत्रसाल को ।" इतिहासकारों द्वारा बुन्देलखण्ड के शिवाजी कहे जाते थे वीर छत्रसाल । उनके पिता चम्पतराय बुन्देलखण्ड के राजा थे । चम्पतराय का अधिकांश जीवन शाहजहाँ और औरंगजेब से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करते हुए बीता । तब बुन्देलखण्ड पर मुगलों का आधिपत्य हो गया था और शत्रु सेना चम्पतराय को पकड़ने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ रही थी । चम्पतराय अपनी और बुन्देलखण्ड के

भावी नरकेसरी की जीवन रक्षा के लिए महारानी लाड़ कुँवरि के साथ विंध्याचल की मोर पहाड़ी में जा छुपे थे। अज्ञातवास के दौरान ४ मई, १६४९ को छत्रसाल का जन्म हुआ।

चम्पतराय सोचते थे कि अपना जीवन तो यहाँ-वहाँ लुकते-छिपते और शत्रु ठिकानों पर धावा बोलते ही बीतेगा। ऐसी परिस्थिति में अबोध शिशु को सुरक्षापूर्वक पालना-पोसना कठिन था। इसलिए उन्होंने छत्रसाल को उसकी ननिहाल भेज दिया। लाड़ कुँवरि के पिता अपनी बेटी की इस निशानी को राष्ट्र की धरोहर मानकर पालने-पोसने लगे। नाना के घर पर रहते हुए ही छत्रसाल ने तलवार चलाना, तीर-कमान से निशाना साधना और घुड़सवारी करना सीख लिया। इसके साथ ही उन्होंने संस्कृत की शिक्षा भी ग्रहण की।

जब छत्रसाल १४ वर्ष के थे तभी उक्त घटना घटी। इस घटना के साथ ही उन्होंने अनुभव किया कि औरंगजेब के अधीन रहते हुए अपने धर्म और अपनी संस्कृति को स्वाभिमानपूर्वक अपनाना सम्भव नहीं है। उनके नाना के पास अक्सर दूसरे सम्बन्धी भी आया करते थे, जो अन्य छोटी-छोटी रियासतों के स्वामी थे। उनकी बात-चीत से ही छत्रसाल को मालूम हुआ कि इन रियासतों को कर देना पड़ता है। इतना ही नहीं अपने धर्म का पालन करने के लिए भी हिन्दुओं को जजिया चुकाना पड़ता है। दो चार मर्तबा उन्होंने बातचीत के दौरान अपने सम्बन्धियों को सलाह दी थी कि इस तरह अपमानपूर्वक जीने से तो बेहतर है कि संघर्ष करते हुए मृत्यु का वरण कर लिया जाय। सम्बन्धियों ने इसे बचकाना कहा और यह व्यंग्य भी कसा कि-"तुम्हारे पिता ने ऐसा किया है तो उनको क्या परिणाम भुगतने पड़े हैं।"

सम्बन्धियों के सोचने-विचारने का यह ढंग देखकर छत्रसाल ने अपने उद्देश्य के लिए एक योजना बनायी। इसी बीच चम्पतराय और लाड़ कुँवरि शत्रु के हाथों पड़ जाने पर अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए आत्महत्या कर चुके थे। इस घटना ने छत्रसाल के खून में खौलाव ला दिया था पर उन्होंने धैर्य और सूझ-बूझ से काम लेना ही उचित समझा। वे महाराज जयसिंह के पास गये। जयसिंह उस समय औरंगजेब के अधीनस्थ, उसकी आज्ञानुसार बर्तने वाले राजा थे। जयसिंह के पास जाकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और कहा कि वे सेना में भर्ती होना चाहते हैं। जयसिंह के कानों में तब विंध्यवासिनी देवी के मन्दिर पर घटी घटना का विवरण पहुँच चुका था और वह इस युवक के शौर्य तथा साहस से बड़े प्रभावित भी हुए थे। उन्होंने छत्रसाल को अपनी सेना में भर्ती कर लिया।

छत्रसाल जयसिंह की सेना के साथ युद्ध पर जाते और अपनी वीरता का बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन करते। इस प्रकार काम करने का उद्देश्य यह था कि वे युद्ध विद्या का व्यावहारिक शिक्षण प्राप्त करें और मुगलों की युद्ध नीति को भी अच्छी तरह समझ सकें। उन्होंने कई युद्धों में भाग लिया और जब देखा कि आवश्यक शिक्षण प्राप्त कर लिया है तो जा पहुँचे शिवाजी के पास। शिवाजी ने अपनी नीतिमत्ता, सूझबूझ और कौशल के बल पर एक सुगठित भारतीय साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। उनके राज्य की सीमाओं पर कड़ा पहरा रहता था और कोई अजनबी इस पहरे से बचकर राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता था। अतः छत्रसाल ने वनमार्ग से छुपकर जाने का निश्चय किया। बरसात का मौसम था। रास्ते में भीमा नदी पड़ती थी और भीमा नदी में भयंकर बाढ़ आयी हुई थी। वे इस बाढ़ की पर्वाह किये बिना ही नदी में उतर पड़े और प्रलयंकर प्रवाह से संघर्ष करते हुए उस पार पहुँचे।

शिवाजी के पास पहुँचकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और अब तक की कहानी सुनायी तो वे बड़े प्रभावित हुए। उनके साथ कुछ और साथी भी थे। बड़े सम्मान के साथ शिवाजी ने छत्रसाल को अपने यहाँ ठहराया और उनकी योजना ध्यानपूर्वक सुनी। छत्रसाल को उन्होंने अपने हाथ से तिलक लगाया और एक तलवार कमर में बाँधी। इस प्रकार शिवाजी ने छत्रसाल को संघर्ष की दीक्षा दी एवं हर घड़ी सहयोग करने का आश्वासन दिया। छत्रसाल वहाँ से बुन्देलखण्ड चले आये और वहाँ के आदिवासियों, मजदूर पेशाओं और निम्न श्रेणी के लोगों को संगठित करने का काम आरम्भ किया। इस काम के लिए पैसों की आवश्यकता थी और पैसा छत्रसाल के पास था नहीं। ये तो कुछ गहने जो मोर पहाड़ी में उस मकान में उनकी माँ की निशानी के रूप में गड़े हुए थे जहाँ उनका जन्म हुआ था। छत्रसाल ने उन गहनों को बेचकर पैसा जुटाया और स्वतन्त्रता प्रेमी नवयुवकों को संगठित करने लगे।

इन सेनानियों को शस्त्र चलाने और घुड़सवारी करने का अभ्यास छत्रसाल स्वयं कराते थे। २२ साल की आयु में छत्रसाल ने क्रान्ति का बिगुल बजाया और मुगल छावनियों तथा किलों पर आक्रमण करने लगे। पद्धति वही थी जो शिवाजी ने अपनायी थी। शत्रु जब असावधान रहता तो रात के समय उसके डेरे पर जाकर धावा बोल देते। सबसे पहले सन् १६७२ में उन्होंने गढ़कोटा के किले पर अधिकार किया और उसके बाद विजय का ताँता सा लग गया। पन्ना को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और इसके बाद उनके आक्रमण दर आक्रमण का क्रम चलता रहा। कहते हैं छत्रसाल ने अपने जीवनकाल में ५२ लड़ाइयाँ लड़ीं और बुन्देलखण्ड राज्य की सीमाओं को जमुना, चम्बल और नर्मदा तक फैलाया। भारतमाता की ये पुत्रियाँ जैसे उनके राज्य की सीमा निर्धारित करती थीं।

सन् १६८४ में स्वामी प्राणनाथ से छत्रसाल की भेंट हुई। समर्थ रामदास की भाँति ही स्वामी प्राणनाथ भी किसी ऐसे शिष्य की खोज में घूम रहे थे जो उनके भारतीय साम्राज्य का स्वप्न साकार कर सके। छत्रसाल के संघर्षों की कहानियाँ उनके कानों तक पहुँचती रहती थी और उनकी असंदिग्ध देशभक्ति तथा धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर

स्वयं प्राणनाथ पन्ना आये थे । छत्रसाल ने स्वामी प्राणनाथ का खूब आदर-सत्कार किया और उनके लिए अपना सिंहासन खाली कर दिया । कुछ देर तक स्वामी जी सिंहासन पर बिराजे और फिर उठते हुए बोले-"अब यह राज्य तुम्हारा अपना नहीं है । मेरी अमानत के रूप में इसकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करो ।"

इससे पूर्व ही छत्रसाल स्वामी प्राणनाथ को अपना गुरु मान चुके थे । उन्होंने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य किया और आजीवन उनके आदेश का निष्ठापूर्वक पालन करते रहने का संकल्प लिया । इसके चार वर्ष बाद ही स्वामी प्राणनाथ ने छत्रसाल को 'महाराजा' की उपाधि से विभूषित किया । वस्तुतः उन्होंने अपने इस नाम को पहले ही सार्थक कर लिया था । उनका राज प्रबन्ध इतना बढ़िया था कि बुन्देलखण्ड राज्य की वार्षिक आमदनी १ करोड़ ८ लाख होती थी । छत्रसाल द्वारा अपने पुत्र को लिखे गये एक पत्र से पता चलता है कि वे राजकोष में १४ करोड़ रुपये छोड़कर मरे थे । जबकि औरंगजेब ने जनता को दोनों हाथों से लूटा-खसौटा और फिर भी उसके मरते समय दिल्ली का खजाना लगभग खाली था । दिल्ली और पन्ना के खजाने की यह स्थिति औरंगजेब की अविवेकपूर्ण राजनीति और छत्रसाल की दूरदर्शितापूर्ण प्रशासन दक्षता का प्रमाण है ।

छत्रसाल अन्तिम साँस तक भारतमाता का चप्पा-चप्पा स्वतन्त्र कराने के लिए संघर्ष करते रहे । उन्होंने अन्तिम युद्ध ८० वर्ष की आयु में किया जो मुहम्मद खाँ बंगश के साथ हुआ । इस युद्ध में पेशवा बाजीराव ने भी छत्रसाल का साथ दिया और वे स्वयं सेना लेकर पहुँचे । आजीवन लड़ाई के मैदान में जूझते हुए छत्रसाल के सम्बन्ध में यह जानकर आश्चर्य होना तो स्वाभाविक ही है कि वे अच्छे साहित्यकार भी थे । यों राजा महाराजा साहित्य में रुचि तो लेते रहे हैं पर आश्चर्य इस बात का होता है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तलवारों की झंकार के नीचे रहने वाले छत्रसाल काव्य-रचना के लिए कब फुरसत निकाल लेते थे । उनकी प्रारम्भिक रचनायें 'छत्रसाल ग्रन्थावली' के नाम से प्रकाशित हुई । छत्र-विलास, नीति-मंजरी और राज-विनोद के अलावा भी उनके रचे कुछ काव्य ग्रन्थ और भी हैं ।

स्वयं कवि होने के साथ-साथ छत्रसाल गुण ग्राहक भी थे । महाकवि भूषण को तो उन्होंने इतना सम्मान दिया कि उनकी पालकी ही अपने कन्धे पर उठाली। सन् १७३१ में उनका निधन हुआ । उन्होंने अपने जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर आठ बादशाह बैठते और उतरते देखे पर आने वाली पीढ़ी को स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाते हुए उन्होंने मध्य देश को स्वतन्त्र कराने का लक्ष्य प्राप्त कर ही लिया ।

छत्रसाल की चरित्रनिष्ठा

छत्रसाल अपनी प्रजा की देखभाल बच्चों की तरह करते थे । वह समय-समय पर अपने राज्य का दौरा करते और जन-सम्पर्क द्वारा उनसे कठिनाइयाँ पूछते रहते थे । एक बार उनके स्वस्थ और सुन्दर शरीर को देखकर एक युवती उनकी और आकर्षित हुई । कामातुरता के सम्मुख भय और लज्जा कैसी ?

वह युवती महाराज के पास आई और मौका देखकर बोली राजन् ! आप जैसे दयालु राजा के राज्य में भी मैं दुःखी रहती हूँ ।

राजा बड़े दुःखी हुये । वह सोचने लगे कि मेरे निरन्तर प्रयत्नशील रहने पर भी राज्य के स्त्री पुरुष दुःखी रहें, अभाव ग्रस्त रहें फिर मेरे राज्य करने से भी क्या लाभ है ?

वह बोले "देवी! बताइये आपको क्या कष्ट है मैं उसे दूर करने के लिये भरसक प्रयत्न करूँगा ।"

"राजन ! ऐसी मीठी-मीठी आश्वासन भरी बातें कह तो सब देते हैं पर करते-विरले ही हैं । आप वचन दें तब मेरा बताना भी सार्थक है ।"

उस महिला ने अपना पासा फेंका । महाराज ठहरे सरल हृदय वाले और प्रजावत्सल उन्होंने कहा "देवी! आपके दुःख दूर करने के लिये मैं यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा ।"

"बात बड़ी छोटी-सी है । मैं चाहती हूँ कि आप जैसी सन्तान मेरे भी हो ।"

उसकी बात सुनकर कुछ क्षण के लिए महाराज छत्रसाल स्तब्ध रह गये, पर उन्होंने बड़ी विवेकशीलता तथा संयम से कार्य किया । वे उस कामातुर नारी के चरणों में मस्तक नवाकर बोले-"माताजी ! सम्भव है आप जिस पुत्र को जन्म दें वह मेरी तरह न हो अतः आज से आप मुझे ही अपना पुत्र स्वीकार कर लीजिए ।"

राजा की कही यह बात सुनते ही उस महिला का स्वप्न टूट गया। उसे अपनी त्रुटि का बोध हो गया । पर छत्रसाल अपने जीवन भर उसके प्रति श्रद्धा रखते रहे और राजमाता की तरह सम्मान प्रदान करते रहे ।

महत्वाकांक्षी वीर-

महादाजी सिंधिया

मराठों और अहमदशाह अब्दाली के बीच हुई भयंकर लड़ाई में मराठों को पराजय का मुख देखना पड़ा था। उससे उनकी बढ़ी-चढ़ी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुँचा। इस पराजय का समाचार जब पेशवा नानासाहब को मिला तो वे इतने दुःखी हुए कि इसी शोक और निराशा में घुलते हुए थोड़े ही दिनों में उनका प्राणान्त हो गया ।

पानीपत की इस पराजय के कारण महाराष्ट्र मण्डल में व्याप्त निराशा को मिटाने और खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने का श्रेय जिन थोड़े से पुरुषार्थियों को दिया

जा सकता है उनमें शीर्षस्थ व्यक्ति दो हैं– निष्काम भाव से हिन्दू महाराष्ट्र को पुनर्प्रतिष्ठित करने वाले कुशल राजनीतिज्ञ नाना फड़नवीस और वीरवर महादाजी सिंधिया । महादाजी सिंधिया महाराष्ट्र मण्डल की सुदृढ़ बलिष्ठ भुजदण्डों के सदृश्य थे तो नाना फड़नवीस उसके तेज तर्रार मस्तिष्क बल ।

महादाजी सिंधिया मालवा के एक छोटे से क्षेत्र के अधिपति राणोजी सिंधिया के पुत्र थे । राणोजी सिंधिया के पुरखे मुगल सम्राट के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे । किन्तु परिस्थितिवश उन्हें पेशवा के सामान्य भृत्य का कार्य करना पड़ा । इस तुच्छ से कार्य को भी राणोजी ने इस निष्ठा व दायित्व के साथ निभाया कि पेशवा ने प्रसन्न होकर उन्हें मालवा के उत्तरार्द्ध का प्रशासक नियुक्त कर दिया ।

महादाजी सिंधिया राणोजी की एक ऐसी उपपत्नी के पुत्र थे जिसका पूर्व चरित्र सम्मानास्पद नहीं रह सका था । इस कारण कुलीन मराठा वंशों के अधिकांश सामन्त अपने संकीर्ण दुराग्रहों के कारण उनका सम्मान नहीं करते थे । राणोजी के कोई अन्य पुत्र नहीं होने के कारण महादाजी को उनका उत्तराधिकार मिला था ।

महादाजी एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। वह स्वयं पानीपत के युद्ध में सेनापति सदाशिवराव भाऊ के सहायक बनकर गये थे । पानीपत में हुई पराजय के अनन्तर वह भी वहाँ से भाग आये थे । इस युद्ध में उन्होंने काफी अनुभव प्राप्त किया था ।

महादाजी सिंधिया और नाना फड़नवीस ने मिलकर महाराष्ट्र के गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रबल प्रयास किया । महादाजी सिंधिया जैसा पराक्रमी, शूरवीर उस समय महाराष्ट्र मण्डल में दूसरा कोई नहीं था । अत: नाना फड़नवीस ने उन्हें अपना अनन्य सहयोगी बना लिया ।

पिछले वर्षों में पूना और बड़ौदा के अतिरिक्त मध्य भारत में ग्वालियर और इन्दौर में दो मराठा राज्य उदित हुये थे। महादाजी सिंधिया को उन्हीं में से एक ग्वालियर का आधिपत्य उत्तराधिकार में मिला था । महादाजी के नेतृत्व में मराठा सेना ने कई बार अँग्रेजों को करारी हार ही नहीं दी, वरन् मुगल सम्राट के संरक्षक भी महादाजी सिंधिया ही बने । महाराष्ट्र मण्डल एक बार पुनः भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन सका, इसमें महादाजी के इस पराक्रम का बहुत बड़ा हाथ था ।

सन् १७७९ में मराठों और अँग्रेजों के बीच जो युद्ध हुआ उसके सेनापति महादाजी ही थे । महादाजी सिंधिया और होल्कर को नाना फड़नवीस ने पूना दरबार की सेनाओं की कमान थमाकर लड़ने के लिये भेजा । अँग्रेजों को देशद्रोही राघोवा अपने साथ लेकर आ रहा था । वह पेशवा बनने के सपने देखता हुआ अँग्रेजों की कठपुतली बना उन्हें अपने ही घर पर चढ़ाकर ला रहा था ।

मराठे सरदारों ने खाण्डेल तक उनकी सेना को नहीं रोका । बम्बई से १८ मील दूर नली गाँव में वे उनका वीरोचित स्वागत करने को तैयार खड़े थे । इस सजी-सजाई सेना को देखकर अँग्रेज काँप उठे । लड़कर पराजित होने की अपेक्षा उन्होंने लौट पड़ना ही ठीक समझा । अतः वे लौट पड़े । लौटती हुई अँग्रेजी सेना पर मराठे वीर भूखे सिंह की भाँति टूट पड़े । उनकी रसद और गोला बारूद पर अधिकार कर लिया । चारों ओर से अँग्रेज सेना को घेर लिया और उन्हें आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया। मजबूर होकर उन्हें अपमानजनक सन्धि करनी पड़ी ।

महादाजी वीर थे पर वह नाना फड़नवीस की तरह दूरदर्शी नहीं । न वे निष्काम भाव से राष्ट्रसेवा करने के व्रती थे वरन् उनकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ भी कम बढ़ी-चढ़ी नहीं थीं । यही कारण था कि वे वीर होते हुए भी अपनी इस वीरता से राष्ट्र का कोई विशेष हित अपनी स्वेच्छापूर्वक नहीं कर पाये । नाना फड़नवीस उसकी वीरता और युद्ध कौशल का सदुपयोग समय-समय पर राष्ट्र हित में करते रहे थे पर महादाजी के हृदय में उन उच्च भावों की अपेक्षा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का अधिक स्थान था। फिर भी साधन रूप में और अपने पराक्रम से मुगल साम्राज्य को हिला देने व उसका संरक्षक बनने के रूप में उनकी वीरता का महत्व असंदिग्ध ही है ।

महादाजी की इस व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के मूल में एक कारण यह भी था कि उसे अन्य मराठे सरदार राणोजी की उपपत्नी के पुत्र होने के कारण असम्मानित दृष्टि से देखते थे और वह महाराष्ट्र मण्डल के हित से अपने व्यक्तिगत हित को ऊपर स्थान दिया करते थे । महादाजी की इस महत्वाकांक्षा को समाप्त किया जा सकता था यदि उनकी वीरता और पराक्रम के अनुरूप उन्हें मान दिया जाता । महाराष्ट्र मण्डल के सूत्र संचालक नाना फड़नवीस अवश्य उन्हें वह मान देते थे जिसके वे अधिकारी थे। नाना फड़नवीस ने उनकी भूलों को समय-समय पर सुधारा भी ।

बम्बई के युद्ध में हुई विजय के पश्चात् सन्धि की शर्तों के अनुसार दो अँग्रेजों को महाराष्ट्र मण्डल में बंधक रखा गया था । नाना फड़नवीस ने यह गौरव महादाजी को ही दिया कि वह उन दोनों का निरीक्षण करें तथा उन्हें अपने अधिकार में रखें । राघोवा को अँग्रेजों ने सन्धि की शर्तों के अनुसार महाराष्ट्र मण्डल को सौंप दिया था । उसके नियन्त्रण का दायित्व भी महादाजी को ही सौंपा गया ।

कर्नल गाईड ने महादाजी पर अपना जाल फैलाया । उन्हें प्रलोभन दिया कि वह उसे महाराष्ट्र मण्डल में सबसे प्रमुख बना देगा । महादाजी वीर थे पर कूटनीतिज्ञ नहीं थे साथ ही महत्वाकांक्षी भी थे सो उसके झाँसे में आ गये । उन्होंने दोनों अँग्रेज प्रतिनिधियों व राघोवा को उनके हाथों में सौंप दिया । महादाजी सोचते थे कि ऐसा करने के कारण अँग्रेज उनसे अलग सन्धि करेंगे पर कर्नल गाईड ने ऐसा कुछ नहीं किया वरन् उसने सिंधिया के सैनिकों पर छापा भी मारा ।

इस चूक से भी वे सबक नहीं ले सके । नाना फड़नवीस ने जब मुगल सम्राट, अर्काट के नवाब, हैदरअली, निजाम तथा अन्य छोटे-छोटे राज्यों को संगठित कर अँग्रेजों को समूल नष्ट करने की तैयारियाँ आरम्भ कीं तो कर्नल गाईड ने पुनः सिंधिया को मध्यस्थ बनाया । सालवाई की सन्धि इसी मध्यस्थता का परिणाम थी । महादाजी यदि बीच में नहीं पड़ता तो बहुत सम्भव था उस समय साम्प्रदायिक मतभेद भुलाकर एक हुए भारतीय राजागण अँग्रेजों को सदा के लिये बाहर निकाल देते । हैदरअली तो पहले ही इसके लिये तैयार बैठा था पर सालवाई की सन्धि ने उस सम्भावना पर पानी फेर दिया । यहाँ नाना फड़नवीस भी चूक गये थे । वे महाराष्ट्र मण्डल की ही बात न सोच कर सारे भारत की सोचते तो ऐसा न होता ।

इन भूलों के करते हुए भी इतना तो मानना पड़ेगा कि वह वीर और पराक्रमी थे । उन्होंने हिन्दुओं का डंका ठेठ दिल्ली के मुगल तख्त तक बजाया था । उनकी समझ में उस समय यह बात नहीं आयी थी कि उनका वास्तविक शत्रु कौन है ? वह अब भी मुगलों और अन्य मुस्लिम शासकों को ही भारतीयों का शत्रु समझता था । जबकि स्थिति परिवर्तित हो चुकी थी । अब अँग्रेज समस्त भारतवासियों को लील जाने के लिये आ पहुँचे थे पर वह उन्हें समझ नहीं पाया था । यही कारण था कि वह उन्हें मुसलमानों की अपेक्षा अपना मित्र मानता था ।

दिल्ली के बादशाह शाहआलम को इलाहाबाद से दिल्ली पहुँचाकर तख्तनशीन करवाने के लिए महादाजी ने उससे दस लाख रुपये लिये । महादाजी ने उसे तख्त पर बिठाया । वह उस कठपुतली बादशाह के संरक्षक भी बने । इस प्रकार दिल्ली पर हिन्दू राजा का वर्चस्व स्थापित हुआ । अपनी दृष्टि से महादाजी ने यह गौरवपूर्ण कार्य किया था । उनके इस कार्य का महत्व स्वीकारना ही पड़ेगा । पर यह बात अखरती है कि वे दूरदर्शी नहीं थे किन्तु उन्हें तो नाना फड़नवीस निभाते रहे थे ।

सालवाई की सन्धि में अँग्रेज मराठों की शक्ति का लोहा मान चुके थे । उन्हें अपनी भूमि और प्रतिष्ठा खोनी पड़ी थी पर वस्तुतः यह उनकी चाल थी । वे नाना फड़नवीस और महादाजी के रहते हुए महाराष्ट्र मण्डल पर हाथ नहीं डाल सकते थे । अतः इस सन्धि के माध्यम से उन्होंने अपना बचाव किया था । उस समय तो महादाजी को यह गौरवपूर्ण लगा था और इस सन्धि से प्रत्यक्षतः मराठों का प्रभुत्व बढ़ा ही था ।

इस सन्धि के उपरान्त १७८२ में वे दिल्ली पहुँचे । दिल्ली पर महादाजी का बड़ा प्रभाव था । सब पर उसकी धाक बैठी हुई थी । उसने आगरा में रहकर मुगल सम्राट के शासन का प्रबन्ध किया । राज्य में कई हेर-फेर किये । अयोग्य व्यक्तियों को कार्यमुक्त करके उनके स्थान पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया । वस्तुतः दिल्ली दरबार की सारी शक्ति उसके हाथों में केन्द्रित हो गयी थी । वह जब तक आगरा रहा उसकी स्थिति सम्राट की ही थी । शाहआलम तो नाम का सम्राट था ।

अपने समय में महादाजी ने सारे भारत में एक बार पुनः महाराष्ट्र मण्डल का भगवा ध्वज जिसे धर्म राज्य प्रतीक रूप में समर्थ रामदास ने शिवाजी को सौंपा था, फहराया । अँग्रेज लोग उसके पराक्रम के आगे पानी भरते थे । पूना के पेशवा के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने यह दिखा दिया था कि दिल्ली के साम्राज्य का संरक्षण करने की और परोक्ष रूप में उस पर आरूढ़ रहने की सामर्थ्य किसी में है तो वह मराठों में ही है ।

हिन्दू जनता का स्वाभिमान महादाजी के समय में एक बार पुनः हिलोरें लेने लगा था कि सारे देश में पुनः भारतीयों का शासन हो जाएगा । १७७२ में उन्होंने इस आशा को चरम शिखर पर पहुँचा दिया था । दुर्भाग्य से अगले ही वर्ष उनका देहावसान हो गया । समय के चाणक्य नाना फड़नवीस का चन्द्रगुप्त महादाजी लक्ष्यपूर्ति से पूर्व ही चल बसा। उनका हाथ टूट गया। इस वीर की मृत्यु से महाराष्ट्र मण्डल की जो क्षति हुई उसे पूरा करने वाला फिर कोई मिला नहीं । अपनी वीरता और अदूरदर्शिता के कारण महादाजी का जीवन आज भी सीख बना हुआ है । वीरता ही पर्याप्त नहीं होती उसके साथ निष्काम राष्ट्र भावना व दूरदर्शिता भी आवश्यक है ।

साहस व धैर्य के धनी-

बहादुर शाह जफर

२० सितम्बर, १८५८ का सूरज अपनी प्रखर किरणों से लाल किले को दुलार रहा था । उसी समय किले के भीतरी कक्ष में नजरबंद अन्तिम मुगल सम्राट किसी गम्भीर चिन्तन में निमग्न थे । पाँसा पलट चुका था । विप्लव असफल रहा था । अपने मन की साध पूरी हो जाने का उस वृद्ध शहंशाह को संतोष था । विजय श्री भले ही न मिली हो अन्याय का प्रतिकार करने वह उठ खड़ा तो हुआ था । उस संतोष की आभा उसके श्वेतकेशी व फहराती लम्बी दाढ़ी युक्त चेहरे पर चमक रही थी ।

अँग्रेज सेनापति हड़सन ने कक्ष में प्रवेश किया। पहरे पर खड़े संतरी ने एड़ियाँ मिलाकर उसे 'सेल्यूट' दिया । हड़सन के साथ एक सैनिक भी था जिसके हाथ में बड़े से रेशमी रूमाल से ढका हुआ थाल था । हड़सन ने बादशाह का अभिवादन करते हुए कहा-"बादशाह सलामत! कम्पनी ने आपसे दोस्ती का इजहार करते हुए आपकी खिदमत में यह नायाब तोहफा भेजा है । इसे कबूल फरमाएँ।" उसके इस कथन के साथ ही सैनिक ने थाल बहादुरशाह 'जफर' के सामने कर दिया । काँपते हाथों से किन्तु दृढ़ हृदय से उन्होंने रेशमी कपड़ा हटाया तो अँग्रेजों की क्रूरता निरावृत हो गयी । उसमें बादशाह के लड़कों के कटे हुए सिर थे ।

हड्सन ने सोचा था कि बूढ़ा अपने बेटों के कटे सिर देखकर विलाप करने लगेगा। किन्तु इस सम्भावना के विपरीत वृद्ध पिता कुछ क्षण अपने पुत्रों के कटे सिरों की ओर देखकर अपनी नजरें हड्सन के क्रूर चेहरे पर जमाते हुए निर्विकार भाव से कहा-''अलह हम्दो लिल्लाह!''

तैमूर की औलाद ऐसे ही सुर्खरू होकर अपने बाप के सामने आया करती है। गजब का धैर्य था इस व्यक्ति में।

'जफर' अपमान और परवशता के जीवन से मृत्यु को बेहतर समझते थे। यही कारण था कि अपने पुत्रों के इस असामयिक अन्त पर वे दुःखी नहीं हुए। वरन् प्रसन्न थे कि जो हसरत वे पूरी नहीं कर सके वह उनके पुत्रों को पूरी करने का अवसर मिला था। बहादुरशाह के मुगल सम्राट बनने के पहले ही मुगल सल्तनत दिल्ली के लाल किले की चहारदीवारी में आ सिमटी थी। वह नाममात्र के बादशाह थे। बादशाह क्या थे अँग्रेजों के कृपापात्र उनकी कठपुतली भर थे। वे जैसे चाहते उन्हें नचा सकते थे। उनके पूर्वजों ने विलास से समझौता करके अपने आप को परवश बना दिया था। यही उनके भाग्य की लकीर बन कर उन्हें भी भोगना पड़ा था। किन्तु वे कभी उस जिन्दगी को भली नहीं मान पाए थे।

सोने के पिंजरे में बन्द तोते की जो दशा होती है वही उनकी भी थी। वे अपनी इस दशा पर सदैव क्षुब्ध व असंतुष्ट थे किन्तु करते क्या उनके पर तो अँग्रेजों ने पहले ही उनके पूर्वजों के समय ही काट दिये थे। वे स्वयं को अँग्रेजी शासन के चंगुल से बचाना तथा भारत के तत्कालीन राजाओं में स्वतन्त्रता की लहर उत्पन्न करना चाहते थे किन्तु उसके लिये सभी रास्ते बन्द हो चुके थे यह उनकी बहुत बड़ी व्यथा थी। इस व्यथा को उनके पूर्वज हास-विलास, स्त्री व शराब की दुनिया में उलझ कर भुलाते रहे पर वे भुला न सके। वे विद्रोह करना चाहते थे।

बहादुरशाह अच्छे शायर थे। 'जफर' उनका उपनाम था। उनकी शायरी में उनकी यह व्यथा खुलकर सामने आयी है ''लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दयार में .... दो गज जमीन भी ना मिली कुँए ए यार में।'' जैसी कृतियों में उनकी यह व्यथा अपने पूरे यौवन के साथ उभरी है। मनुष्य की आत्मा हास-विलास, आराम व शौक-मौज में कभी तृप्त नहीं होती है। यह तो मानवोचित गौरव गरिमा युक्त जीवन जीने में ही तृप्ति पाती है। यही कारण था कि 'जफर' का दिल इस उजड़े दयार में नहीं लगता था। वे चाहते थे कि एक पुरुषार्थी व्यक्ति की तरह इस जंजाल से मुक्त हो स्वतन्त्रता की ज्योति जलाते। किन्तु घुटकर रह जाते थे।

और फिर वह समय भी आया जबकि उनकी यह चिर संचित अभिलाषा पूर्ण हुई। जिस प्रकार के विद्रोही स्वर उनके हृदय में गूँज रहे थे। वैसे ही स्वर अन्य कई लोगों के हृदयतंत्रियों की झंकार बने हुए थे। १८५७ का विप्लव इसी का परिणाम था। भीतर ही भीतर यह आग बवन्डर का रूप धारण करती जा रही थी। स्वतन्त्रता प्रेमी भारतीय राजाओं, सैनिकों व प्रजाजनों ने विप्लव की पूरी की पूरी योजना बना रखी थी। उसको सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित करने के लिए हजारों, लाखों व्यक्ति घर-घर जाकर जन-जन के हृदय द्वारों पर दस्तक दे रहे थे।

इस जन क्रान्ति के सूत्रधार थे बिठूर के पेशवा नाना साहब। उनके सहयोगियों ने बहादुरशाह 'जफर' से इस जन क्रान्ति का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। 'जफर' अब तक इन्तजार करते-करते थक चुके थे। उनके शरीर में वह शक्ति नहीं रही थी कि अपना जौहर दिखा सकें। किन्तु अँग्रेजों से दो-दो हाथ करने की उमंगें अभी वैसी ही जवान थीं। उन्होंने उस पर सहमती दे दी। यह सब गुप्त रूप से हुआ था। अँग्रेजों ने इसकी कानों-कान खबर नहीं थी।

यह सुनियोजित क्रान्ति यदि निश्चित तिथि ३१ मई, १८५७ के दिन एक साथ सारे भारत में फूटती तो अँग्रेजी साम्राज्य का पता ही न चलता। किन्तु उसके पहले ही मेरठ में सैनिक विद्रोह हो गया और लोगों के धैर्य का बाँध टूट गया और भिन्न-भिन्न तिथियों को भिन्न भिन्न स्थानों पर विद्रोह हुआ। फिर भी अँग्रेजों के होश-हवाश गुम हो गये। पहले-पहल तो सब जगह क्रान्तिकारियों की विजय हुई।

१५ मई को लाल किले पर विप्लवी क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया। दिल्ली से अँग्रेजों का सफाया हो गया। बहादुरशाह 'जफर' को भारत का सम्राट बनाया गया। अँग्रेजों के हौसले परस्त हो गये। कई अँग्रेज युद्ध में मारे गये व कई बन्दी बनाये गये। बन्दियों के साथ बहादुरशाह ने मानवोचित व्यवहार किया। १५ मई से १४ सितम्बर तक दिल्ली पर क्रान्तिकारियों का आधिपत्य रहा। उसके पश्चात् अंग्रेज प्रबल होने लगे तथा २० सितम्बर को बहादुरशाह व उनकी बेगम व बच्चों को अँग्रेजों ने बन्दी बना लिया। इस प्रकार भारत में क्रान्ति का शंखनाद फूँकने में उनका महत्वपूर्ण योगदान व नेतृत्व रहा।

८० वर्ष के शहंशाह बहादुरशाह पर लालकिले के दीवाने खास में, लेफ्टीनेन्ट जनरल डेलास के नेतृत्व में ५ सदस्यों की सैनिक अदालत में अभियोग चलाया गया। जिसने उन्हें काले पानी की सजा सुनायी। २७ जनवरी, १८५९ को उन्हें रंगून के बन्दीगृह में भेज दिया गया। यहाँ के सामान्य नागरिक की तरह उन्हें बन्दी जीवन भोगना पड़ा। कारावास के इस जीवन से जफर व्यथित नहीं थे। वे उसे अपने पापों के प्रायश्चित के रूप में ही लेते। उनके पुत्रों का वध अंग्रेजों ने पहले ही कर दिया था। उनकी बेगम व पुत्रवधुओं के साथ भी अँग्रेजों ने मानवीय व्यवहार नहीं किया। उन्हें भी अपने संरक्षक के साथ दुःख व कष्ट

का जीवन व्यतीत करना पड़ा । किन्तु वह जीवन उस जीवन से श्रेष्ठ था यहाँ आत्मा-हनन की स्थिति नहीं थी । रंगून जेल में ७ नवम्बर, १८६२ को बहादुरशाह 'जफर' का निधन हो गया । एक सच्चे इंसान, सहृदय कवि व क्रान्ति के सैनिक के रूप में उन्हें याद किया जाता रहेगा । उनका जीवन हमें आत्म-हनन करके सुख ऐश्वर्य भोगने की विडम्बना से बचने के लिए सचेत करता रहेगा ।

अपनी मुक्ति छोड़ने वाले— सन्त गौरीनाथ

"चारों तरफ गोलियों की आये दिन बौछार होती थी । मन्दिर गिराये जा रहे थे, मूर्तियाँ तोड़कर मार्ग पर फेंकी जा रही थीं, गायों का निर्दयतापूर्वक कत्ल चिढ़ाने और अपमानित करने के लिए किया जा रहा था संगीनों की नोंक पर ईसाई बनाया जा रहा था । बहुसंख्यक होते हुए भी गोवा का हिन्दू समाज अपने आपको हताश, असहाय अनुभव कर रहा था ।

यह घटना है सोलहवीं शताब्दी की जब गोवा में पुर्तगालियों का शासन था । वे गोवा का आर्थिक शोषण तो कर ही रहे थे, पर उससे भी भयंकर बात यह थी वे गोवा से हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्टकर वहाँ ईसाइयत का प्रचार करने के लिये बर्बर उपायों का आलम्बन ले रहे थे । हिन्दुओं के सभी धार्मिक कृत्य लगभग निषिद्ध, प्रतिबन्धित किये जा रहे थे । अगर कोई हिन्दू धार्मिक कृत्य नजर करता आता तो उसे तरह-तरह से सताया जाने लगता । अत्याचारों के कारण दृढ़ निश्चयी हुए तो वे बुरी तरह पिस जाते या फिर कमजोर मन वाले ईसाई बन कर उस उत्पीड़न से छुटकारा पा जाते । जनता इन अत्याचारों से बुरी तरह आतंकित हो उठी थी ।

पुर्तगालियों के अत्याचार दिनों-दिन बढ़ते जाते थे । ऐसे वातावरण को देखकर कनारा गाँव के एक सन्त बाबा गौरीनाथ सिहर उठे । पूजा-पाठ को उन्होंने गौण कर दिया । वे इस आतंक से लोहा लेने के लिए आगे आये । वे मूलतः एक धार्मिक पुरुष थे । अपना अधिकतर समय ईश्वर आराधना में लगाकर मोक्ष प्राप्त करना चाहते थे । किन्तु जब उन्होंने पुर्तगालियों के बर्बर अत्याचारों और जनता की विवशता को देखा तो उनका हृदय रो पड़ा ।

उनका हृदय अब जन-जन में, पीड़ित मानवता में ईश्वर-दर्शन करने लगा था । अस्तु, उनका प्रधान कार्य मानवोचित शौर्य साहस उत्पन्न करने के लिए जन सम्पर्क बनाना और जनसाधारण के क्रिया-कलापों में निरत रहना बन गया । वे घर-घर जाते, जन-जन से मिलते और यही समझाते कि यदि संगठित रूप से अत्याचार-अनाचार का प्रतिरोध किया जाये तो शक्तिशाली बर्बरता को भी परास्त किया जा सकता है । व्यक्तियों का संगठन करके ये जगह-जगह क्रान्ति की आग लगा रहे थे । जिससे जनता के अन्दर एक नवीन साहस पैदा होने लगा ।

उसी समय पुर्तगालियों के बर्बर अत्याचार की एक और घटना घटित हुई । मन्दिर के पुजारी को खम्भे से बाँधकर घर की स्त्रियों से अमानुषिक व्यवहार किया गया। इस घटना से जनता का खून खौल उठा । जबरन बनाये गये ईसाइयों ने गले से क्रास चिह्न निकाल फेंके और बाइबिल के स्थान पर पुनः गीता और रामायण की स्थापना की गई । पुर्तगालियों के प्रति जनता में घोर घृणा भर गई और उनसे बदला लेने के लिए आतुर हो उठे । तोड़े गये मन्दिरों का निर्माण कार्य उसी समय आरम्भ हो गया और सन्त गौरीनाथ ने एक बगावत खड़ी कर दी ।

लोगों ने सरकार को तरह-तरह से हानि पहुँचाना आरम्भ कर दिया । जगह-जगह तोड़-फोड़ की घटनाएँ होने लगीं । पुर्तगालियों के पैरों से जमीन खिसकने लगी उन्हें लगा कि जाग्रत जनता उन्हें खदेड़कर ही दम लेगी ।

पुर्तगाली यह जानने को बेचैन थे कि जो आतंकित जनता मुँह खोलने का साहस नहीं कर सकती थी, उसमें इस प्रकार विद्रोह के बीज डालने वाला कौन है ? बहुत खोजबीन के बाद उन्हें पता चला कि इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले एक सन्त गौरीनाथ हैं । उन्होंने जन-जन से सम्पर्क बनाया है और उन्होंने विद्रोह की आग लगाई है । सन्त गौरीनाथ को पकड़वाने के लिए बड़े-बड़े इनाम रखे गये किन्तु गौरीनाथ कहीं पकड़ने में न आते थे । क्योंकि जनता उन्हें बेहद प्यार करती थी ।

सन्त गौरीनाथ छुपे-छुपे ही आन्दोलन का नेतृत्व करते और योजनानुसार वे पुर्तगालियों को काफी हानि पहुँचाते सरकार परेशान थी कि न तो कोई उनका पता बताता था न पुर्तगाली सैनिक उन्हें ढूँढ़ पाते थे ।

एक ऐसा दुर्भाग्य का दिन आया कि पुलिस द्वारा उन्हें पकड़ लिया गया और लाकर जेल के सींखचों में बन्द कर दिया गया । पहले तो उन्हें बहुत प्रलोभन दिये गये कि वे इस आन्दोलन के मार्ग से हट जायें और ईसाई धर्म स्वीकार कर लें तो भारी इनाम के साथ बाइज्जत छोड़ दिया जायेगा । किन्तु जब वे तैयार न हुए तो कहा गया कि वे अपने साथियों के नाम ही बता दें, जिन्होंने इस आन्दोलन में उनका साथ दिया था । इस पर गौरीनाथ बोले, "मैं ही उन सबका प्रतिनिधि नेता हूँ । उन सबका दण्ड मैं अकेले ही सहने को तैयार हूँ ।"

जब पुर्तगालियों ने देखा कि उनके किये गये सभी प्रयोग निष्फल हो रहे हैं तो बर्बरतापूर्वक उन्हें सताया गया। उन्हें हंटरों से पीटा गया जिससे उनके शरीर पर अनेकों घाव हो गये थे । अँधेरी, गीली, दुर्गन्ध वाली कोठरी में उन्हें कई दिनों तक भूखा-प्यासा रखा गया । इस पर भी उन्होंने पुर्तगालियों की शर्तों को स्वीकार नहीं किया ।

एक दिन सन्त गौरीनाथ को जेल से बाहर निकाला गया । उन्हें गन्दे व फटे चिथड़े पहनाये गये, गले में फटे गन्दे जूतों की माला डालकर उन्हें क्रूर पुर्तगाली पीटते हुये गिरजाघर के सामने लाये और उनसे फिर ईसाई धर्म में सम्मिलित होने के लिए कहा गया । इस पर उन्होंने इतना

ही कहा-"न मुझे लोभ अपने पथ से विचलित कर सकता है और न ही अत्याचार डिगा सकते हैं ।"

"इतना सुनते ही पुर्तगालियों ने गिरजाघर के सामने बड़ा-सा गड्ढा खोदकर उन्हें कमर तक गाड़ दिया गया एक बार पुन: उनसे ईसाई धर्म स्वीकार करने को कहा गया । इस पर उन्होंने कहा-"धर्म के प्रति सच्ची निष्ठा की इस अग्नि परीक्षा में मुझे उत्तीर्ण होने दीजिये जो आप करना चाहें करें, मुझसे निष्ठा से विचलित करने की आशा मत कीजिये ।"

सन्त गौरीनाथ के ऊपर खूँखार शिकारी कुत्ते छोड़े गये जो उनकी बोटियाँ नोंचने लगे किन्तु उनके चेहरे पर अन्त तक शान्ति और सन्निष्ठा की झलक दिखाई देती रही । गौरीनाथ की मृत्यु-दण्ड का समाचार जब गोवा की जनता ने सुना तो उसका खून खौलने लगा । आन्दोलन ने जोर पकड़ा और पुर्तगालियों को सब ओर अपना विनाश और काल ही खड़ा दिखाई देने लगा ।

छापामार विद्रोहियों ने उनकी करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट की और सैकड़ों को मौत के घाट उतारा । सन्त गौरीनाथ की जलाई हुई आग कभी धीमी, कभी तीव्र गति से जलती ही रही । समय तो लगा पर ज्वाला शान्त तब हुई जब पुर्तगालियों का गोवा की भूमि पर से पूरी तरह से मुँह काला हो गया ।

जिनका बल-विक्रम निरर्थक ही रहा-

राजा जसवन्तसिंह

सत्रहवीं शताब्दी के छठे दशक का उत्तरार्द्ध । दिल्ली के लालकिले में रोग शैया पर पड़े मुगल सम्राट शाहजहाँ पर काल मुस्कुरा रहा था । राज्य सत्ता के स्वार्थ पंक में लिप्त हो पारिवारिक सौमनस्य को ही लील जाने वाली जिस परम्परा का श्री गणेश उसके पिता ने किया था, वह स्वयं भी उसे अस्वीकार नहीं कर सका था । अब वही नाटक उसके सामने दोहराया जाना वाला था, भाई के द्वारा भाई की हत्या का पाशविक नाटक । शाहजहाँ का पेशाब रुक गया था । जाने कब मृत्यु आ जाय कुछ कहा नहीं जा सकता, पर मृत्यु यों आसानी से आने वाली नहीं थी । कर्मों का फल उसे यहीं भोगना था । शाहजहाँ का चहेता पुत्र दाराशिकोह नहीं चाहता था कि सम्राट के अस्वस्थ होने की सूचना उसके भाइयों तक पहुँचे नहीं तो वे उस पर चढ़ बैठेंगे । किन्तु किले का हर व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ में लगा था। किसी को किसी से कोई सरोकार ही नहीं था । शहंशाह की अस्वस्थता के समाचार हवा के घोड़ों पर बैठकर उड़ चला था ।

ऐसे विषम समय में दारा को किसी व्यक्ति पर भरोसा था तो जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और उनके बीस हजार राजपूत सिपाहियों पर । अत: उसने किले की रक्षा का भार जसवन्तसिंह को सौंप दिया । लाल किले पर जसवन्तसिंह के सैनिकों का पहरा बिठा दिया गया सच ही कहा है किसी ने कि बेईमान आदमी भी ईमानदार साथी चाहता है । राजपूत अपनी आन-बान और वचन के पक्के होते हैं। राजा जसवन्तसिंह में भी ये गुण कूट-कूट कर भरे थे । सभी मुगल सामन्त इनके शौर्य और उनकी रणकुशलता का लोहा मानते थे । राजदरबार में उनका बड़ा मान था ।

कुचक्री शहजादे औरंगजेब को अपनी बहिन रोशन-आरा के द्वारा अपने पिता शहंशाह के अस्वस्थ होने की सूचना मिली तो उसने अपना कूटनीतिक चक्र चलाना आरम्भ कर दिया। मुगल राजवंश में पिता से विद्रोह करने की परम्परा तो शहजादों की महत्वाकांक्षा और स्वार्थ ने अपने आप ही डाल दी थी । किन्तु सम्राट अकबर ने शहजादियों के लिये एक अलिखित परम्परा यह चला दी थी कि वे विवाह नहीं कर सकतीं । इस परम्परा ने बेचारी शहजादियों की स्थिति आम आदमी की लड़की से भी तुच्छतर बना दी थी । यदि वे शादी करतीं तो उनके पति व पुत्र भी उत्तराधिकार के लिये झगड़ते इस अन्यायपूर्ण परम्परा ने रोशनआरा को विद्रोही बना दिया था ।

औरंगजेब के उकसाने पर उसके भाई दिल्ली पर चढ़ बैठे । शहजादा शुजा बंगाल से एक बड़ी सेना लेकर चल पड़ा । दारा ने जयपुर के राजा जयसिंह के नेतृत्व में एक बड़ी सेना उसे पराजित करने भेजी । उसके रवाना होने के थोड़े ही दिनों बाद उसे औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेनाओं के आक्रमण की सूचना मिली । उसने राजा जसवन्तसिंह व कासिम खाँ की कमान में चालीस हजार सिपाहियों को उन्हें मजा चखाने के लिए भेजा । धरमत नामक स्थान पर दोनों पक्षों में जमकर लड़ाई हुई । कासिम खाँ दगा देकर औरंगजेब की ओर मिल गया। अकेले जसवन्तसिंह और उनके बीस हजार जाँबाज सिपाहियों ने राजपूती आन-बान का परिचय दिया । वे खूब जमकर लड़े । बढ़-बढ़ कर हाथ मारे । किन्तु कहाँ सत्तर हजार और कहाँ बीस हजार । राजा जसवन्तसिंह युद्ध में बुरी तरह घायल हो गये फिर भी वे मैदान छोड़ना नहीं चाहते थे । " राजपूत मर जाना बेहतर समझते हैं पीठ दिखाना नहीं" इस आन के अनुरूप ही वे निकट आयी मौत को ललकारते रहे । अपने सेनापति के प्राण संकट में पड़े देखकर राजपूत सैनिकों ने उन्हें बलात रणक्षेत्र से हटा लिया । विजयश्री औरंगजेब के हाथ रही। जसवन्तसिंह को जीवन भर अपने साथियों द्वारा रणक्षेत्र से निकाल लाने का मलाल बना रहा ।

राज्य सिंहासन पाने के इस संघर्ष में शुजा, मुराद और दारा औरंगजेब की कूटनीति के शिकार हो मारे गये । अपने भाइयों को मार और पिता को कैद करके औरंगजेब दिल्ली के रक्त सने सिंहासन पर बैठा । यही नहीं उसने अपने भाई दारा की बेगमों को भी अपने हरम में रख लिया ।

ऐसे अन्यायी औरंगजेब ने जब राजा जसवन्तसिंह से मित्रता का हाथ बढ़ाया तो उन्होंने सब कुछ भुलाकर उसे स्वीकार कर लिया । इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजपूत चरित्र, वीरता, साहस, शौर्य और आन-बान में मुगलों से हजार गुना अच्छे थे । उनकी वीरता, कर्तव्य-परायणता और जाँबाजी के किस्सों से इतिहास के पृष्ठ रंगे पड़े हैं । किन्तु यही सब कुछ नहीं होता । उसके सदुपयोग और एकता की भावना का उनमें सर्वथा अभाव था । ये सब गुण राजपूतों ने व्यक्तिगत महत्ता के रूप में लिये थे । राजपूतों के 'शौर्य' और 'मर मिटना' ये सब बातें उनके अहंकार को बढ़ाने वाली और उन्हें समाज और मातृभूमि के प्रति दायित्वों से परान्मुख बनाने की कारण बनीं थीं।

राजपूत राजाओं के इस मिथ्याभिमान व अविवेक का लाभ मुगलों ने उठाया था । उनके राज्य की नींवें इन्हीं राजपूत राजाओं के बल पर खड़ी रही थीं । मुसलमान इतिहासकारों ने सत्य को छिपाया है । राजपूत राजाओं से मुगलों ने दोस्ती की थी न कि उन्हें अपने अधीन रखा था । किन्तु यह मित्रता नीतिसंगत और व्यावहारिक नहीं थी । यह तो बेर और कदली के सामीप्य जैसी मित्रता थी । उसके फलस्वरूप राजपूतों का गौरव तो कम हुआ ही पराधीनता का कलंक भी भारत भूमि को ढोना पड़ा । विकट प्रदेश काबुल को जीतने वाले जसवन्तसिंह जैसे राजपूत राजाओं का वह शौर्य, साहस व पराक्रम उन्हीं के पराभव का कारण बना । उनके रहते हमारे देव मन्दिर अपमानित हुए। माँ-बहिनों का अपमान हुआ । फिर उस शौर्य की क्या सार्थकता रही । राणा हम्मीर, महाराणा प्रताप, महाराणा राजसिंह की तरह उन्होंने भी लोलुप और शिथिल चरित्र मुगल सम्राटों से मित्रता न की होती और संगठित होकर उन्हें पराजित किया होता तो दासता का कलंक उनके माथे पर नहीं लगता ।

राजा जसवन्त सिंह जोधपुर के राजा थे । उन्हें अपनी वीरता पर आवश्यकता से अधिक गर्व हो गया था । वे शाहजहाँ व औरंगजेब के दरबार में रहते यह समझते थे दिल्ली का शहंशाह हमारे बलबूते पर शहंशाह है । हम चाहें तो उसे दिल्ली का शहंशाह बना सकते हैं और वे इसी गर्व में फूलते रहते । इस अभिमान से उनके सारे बल पराक्रम पर पानी फिर जाता ।

जसवन्तसिंह ने यह सोचने का प्रयास नहीं किया कि यह क्रूर निर्दयी, अन्यायी औरंगजेब जब अपने पिता को कैद कर सकता है, भाइयों को कत्ल करवा सकता है तो समय आने पर उन्हें भी दगा दे सकता है । उनके परिवार पर संकट ला सकता है, उनका राज्य हथिया सकता है । उन्होंने औरंगजेब के दरबार में रहना स्वीकार कर लिया ।

जसवन्तसिंह की वीरता और पराक्रम से औरंगजेब ने जी भरकर लाभ उठाया । राजपूत राजा मुगल दरबार में रहने में अपना एक स्वार्थ यह भी देखते थे कि उनकी सेना का और उनका खर्च मुगल कोष से मिलता है पर वे यह भूल जाते थे कि उसके लिये उन्हें लड़ना भी पड़ता है । जसवन्तसिंह ने उसके लिए कठिन से कठिन संग्राम जीते। लेकिन शंकालु प्रवृत्ति का औरंगजेब उनसे भीतर ही भीतर भयभीत रहता था । यदि जसवन्त सिंह बदल गया तो उसकी 'आलमगीरी' धरी रह जायगी । फलतः उनकी यही वीरता उनके प्राणों की ग्राहक बन गयी । औरंगजेब ने उन्हें धोखे से मरवा दिया ।

कुटिल की मित्रता और अपना अति अभिमान उनकी मृत्यु का कारण ही नहीं बना वरन् उनके परिवार और राज्य पर संकट आने का कारण भी ।

जसवन्तसिंह ने अपने पुत्रों को भी अपने ही जैसे प्रखर योद्धा, वीर, साहसी और आन-बान वाला बनाया था। कहा जाता है शाहजहाँ ने जंगल से एक शेर पकड़ कर मँगवाया । उसके पिंजड़े को दरबार में लाया गया तो शाहजहाँ बोला-"जंगल का यह राजा भारत सम्राट का लोहा मानता है ।"

उसके इस कथन की सब दरबारियों पर तो आशानुरूप प्रतिक्रिया हुई पर जसवन्तसिंह के चेहरे पर व्यंग्य की रेखाएँ खिंच गयीं जो शाहजहाँ से छिपी न रहीं । उसने पूछा-"राजा जसवन्तसिंह ! आपको हमारी बात पसन्द नहीं आयी ।" इस पर वे बोले-'जहाँपनाह ! ऐसे शेर तो मेरे घर में खेला करते हैं ।" इस पर शाहजहाँ ने अपने शेर से जसवन्तसिंह के शेर की लड़ाई कराने का प्रस्ताव रखा जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया । दूसरे दिन मुकाबला रखा गया । वे अपने पुत्र पृथ्वीसिंह को अपने साथ मुकाबले के लिये ले गये । शाहजहाँ ने जब उन्हें शेर के लिये पूछा उन्होंने पृथ्वीसिंह को प्रस्तुत किया । निहत्थे पृथ्वीसिंह ने उस बबर-शेर को पछाड़ दिया ।

हो सकता है इस कहानी में अतिशयोक्ति हो किन्तु यह बात असम्भव नहीं है । क्षत्राणियों के लिये ऐसे नर केहरियों को जन्म देना कठिन नहीं था । जसवन्तसिंह के पुत्र ऐसे ही पराक्रमी थे । औरंगजेब इस बात से भी परिचित था । दया तो उसमें थी नहीं, न्याय का भी लेश मात्र नहीं । उसने जसवन्त को ही नहीं उनके पुत्रों को भी धोखे से मरवा दिया । जोधपुर का राज्य भी उसने हथिया लिया । उनकी रानी और नवजात शिशु अजीतसिंह को दुर्गादास राठौर नामक स्वामिभक्त वीर बड़ी कठिनाइयों से औरंगजेब के पंजे से छुड़ाकर लाने में सफल हुआ नहीं तो उनका वंश ही मिट जाता ।

राजा जसवन्तसिंह के पास जो बल विक्रम था वह सही दिशा में न होकर गलत दिशा में प्रयुक्त हुआ। वह स्वयं उनके लिये, उनके परिवार के लिये तथा हिन्दू जाति के लिये निरुपयोगी ही सिद्ध नहीं हुआ वरन् उसका लाभ उठाकर औरंगजेब ने अपना स्वार्थ सिद्ध किया । किसी को ईश्वर सम्पदा, विभूति अथवा सामर्थ्य देता है तो निश्चित रूप से उसके साथ कोई न कोई सद्प्रयोजन जुड़ा होता है। मनुष्य को समझना चाहिए कि वह विशेष अनुदान उसे

किसी समाजोपयोगी कार्य के लिए ही मिला है । अतः उस पर अपना अधिकार न मानकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार मानना चाहिए । जहाँ वह व्यक्तिगत सम्पदा-सामर्थ्य मान लिया जाता है वहीं वह अहंकार का कारण बन जाता है । अहंकार आ जाने पर व्यक्ति को हर कोई झूठी प्रशंसा करके अपने पथ से विचलित कर देता है । वह समाजवादी से व्यक्तिवादी बन जाता है । यह व्यक्तिवाद उसकी सामर्थ्यों को निरर्थक बना देता है । जसवन्तसिंह ने भी यही भूल की थी ।

राजा जसवन्तसिंह को उस काल के अधिकांश हिन्दू राजाओं का प्रतीक कहा जा सकता है जिनकी सत्ता, सामर्थ्य, बल, पौरुष व सैन्य शक्ति या तो आपस में लड़ने झगड़ने और मिथ्या मानापमान में उलझकर परस्पर ईर्ष्या द्वेष उपजाने में ही खर्च होती रही अथवा उसका लाभ दूसरे लोगों द्वारा उठाया जाता रहा । आज के समय में भी सच्चे और ईमानदार व्यक्तियों को यदि दीन-हीन देखा जाता है तो उसके पीछे एक कारण यह भी है कि उसका लाभ बुरे लोग उठा लेते हैं । अतः सच्चाई, ईमानदारी और नैतिकता को व्यक्तिगत क्षेत्र में ही उपयोगी व अपने अहं का कारण ही नहीं बनाना चाहिए । सच्चे लोगों को संगठित होना चाहिए । यह भी देखना चाहिए कि उसके लाभ गलत व्यक्ति तो नहीं उठा रहे हैं। नहीं तो यह अच्छाइयाँ भी राजा जसवन्त सिंह के पराक्रम की तरह निरर्थक चली जायेंगी ।

जातीय मर्यादा की रक्षा

विशालवाहिनी का सरित-प्रवाह नगर के मुख्य द्वार पर आकर रुक गया । द्वार बन्द थे । सेना के अग्र भाग में पैदल सैनिक गुल्म थे । उनके पीछे अश्वारोही तथा गज सेना थी ।

एक प्रहर दिन चढ़ जाने पर भी नगर के द्वार बन्द देखकर सभी विस्मित थे । नगरवासियों द्वारा अपने महाराज के स्वागत का आयोजन तो दूर, द्वार तक बन्द थे । समय पर सूचना पहुँचा दी गई थी कि महाराज काबुल अभियान से लौट रहे हैं ।

महाराज जसवन्तसिंह को सेना की गति रुकने का कारण समझ में नहीं आया । वे सेना के अन्तिम भाग में अपने सुसज्जित गजराज पर आसीन थे । उन्होंने अपने निकटस्थ अश्वारोही से गति रुक जाने का कारण पूछा । उसने कहा-''महाराज द्वार बन्द है ।''

''जाओ द्वारपाल से कहो कि द्वार खोले तथा नगर-पाल से कहे स्वागत की तैयारी की जाय ।''

थोड़े ही समय में अश्वारोही लौट आया । उसने महाराज को वस्तुस्थिति बताई-''महाराज! द्वारपाल ने द्वार खोलने से इन्कार कर दिया है तथा उसने श्रीमान की सेवा में निवेदन किया है कि यह महारानी जी की आज्ञा टालना मेरे बस में नहीं । आपसे महारानी जी का यही निवेदन है कि आप पुनः काबुल विजय हेतु प्रस्थान करें । राजपूत या तो युद्ध से विजय श्रीवरण कर लौटता है या वहीं प्राणोत्सर्ग कर देता है । राजपूत नारी विजयी होकर लौटने की स्थिति में उसका अपूर्व स्वागत करती है तथा मृत्यु वरण करने पर हँसते-हँसते उसके शव के साथ चितारोहण करती है । इन दो स्थितियों के अतिरिक्त तीसरी दशा में पराजित होकर लौटने पर उसका स्वागत इसी प्रकार होता है ।

क्षत्राणी के इस कथन को सुनकर महाराज जसवन्त सिंह का सिर लज्जा से झुक गया । उन्होंने सैनिकों को पुनः काबुल की ओर प्रयाण करने का आदेश दिया । उन्होंने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया या तो वे जीतकर लौटेंगे या मृत्यु का वरण करने पर उनका पार्थिव शरीर ही जोधपुर नगर के द्वार पर पहुँचेगा ।

प्रथम अभियान की कठिनाइयों को वे भूले नहीं थे । दिल्ली से काबुल का रास्ता अतीव दुर्गम तथा भूल-भुलैया- सा था । सैनिक भी थक चुके थे । उन्होंने अपने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा-वीरो ! मैं जानता हूँ कि तुम थक गये हो, मार्ग दुर्गम तथा बीहड़ है । किन्तु व्यक्ति अपने संकल्प पर दृढ़ रहता है तभी तक वह मनुष्य कहलाने, वीर कहलाने का अधिकारी होता है । हम कायर नहीं, वीर हैं। हम जीयेंगे, साथ जीयेंगे, मरेंगे, साथ ही मरेंगे । जीवित रहे तो विजय का सेहरा हमारे मस्तक पर बँधेगा ही, मर गये तो वीरगति पा स्वर्ग को जायेंगे ।''

अपने सेनानायक के इस प्रकार के उत्साह भरे वचन सुनकर सैनिकों में नवीन उत्साह तथा स्फूर्ति जाग गयी । यह उत्साह ही उनकी काबुल विजय का कारण बना ।

महाराज जसवन्तसिंह अपनी पराजय का कलंक धोकर जब विजय श्री वरण कर लौटे तो जोधपुर नगर में दीवाली मनाई गयी । उनका स्वागत करने के लिए स्वयं महारानी द्वार पर उपस्थित थीं । उन्होंने उनकी आरती उतारी तथा चरणों में मस्तक झुका दिया । सत्य है व्यक्ति की पूजा नहीं होती उसके गौरव मण्डित व्यक्तित्व को ही पूजा जा सकता है ।

राजा जसवन्तसिंह की यह जाति स्वाभिमान की दर्पमयी रानी उदयपुर के सिसौदिया वंश की क्षत्रिय कन्या थी । अपने पति को इस प्रकार पराजित लौटते देखकर उसने अविचलित भाव से उन्हें पुनः रण यात्रा को विवश किया था । क्षत्राणियाँ अपने पुत्रों को भी वैसी सीख दिया करती थीं । यही कारण था कि मुट्ठी भर मेवाड़ के राजपूत विशाल मुगल साम्राज्य को चुनौती देते रह सके थे ।

नौकर से बादशाह बने-

शेरशाह

मुगलकालीन भारतीय इतिहास में शेरशाह सूरी का समय स्वर्णकाल के नाम से जाना जाता है । प्रशासन और न्याय की उत्कृष्ट व्यवस्था किसी भी शासक को इतिहास

पुरुष सिद्ध कर देती है । शेरशाह सूरी के शासनकाल से भी अधिक प्रेरणादायी है उनका जीवन । एक साधारण नौकर के पुत्र से दिल्ली सल्तनत के सिंहासन तक पहुँचने के लिए उन्होंने जो संघर्ष किया और कठिनाइयाँ झेलीं उन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकता ।

उनके दादा इब्राहीम खाँ अफगानिस्तान के एक सौदागर थे। लेकिन भारत में जब अफगानों का राज्य हुआ तो वे अपना देश छोड़कर यहाँ चले आये। उनका व्यवसाय कोई खास नही चलता था। रोजगार की तलाश करने के लिए भारत आकर उन्होंने राजकीय परिवार में नौकरी पाने का प्रयत्न किया। राज परिवार की सेवा का तो उन्हें अवसर नहीं मिला परन्तु सेना में अवश्य जगह मिल गयी । इब्राहीम खाँ हिसार और नारनौल के जागीरदारों की फौज में भर्ती हो गये । उनके मरने के बाद शेरशाह के पिता मियाँ हसन को जौनपुर के बादशाह ने दो गाँव की जागीर दे दी । तब तक शेरशाह सूरी का जन्म भी हो चुका था । उनके जन्म का नाम फरीद खाँ था ।

फरीद खाँ अपने बाप का सबसे बड़ा बेटा था । जागीर मिलने पर बाप विलासिता और रागरंग में डूबा रहने लगा । यहाँ तक कि मियाँ हसन ने अपनी एक दासी से विवाह भी कर लिया । फरीद खाँ को सौतेली माँ के साथ रहना पड़ा । मियाँ हसन की नयी पत्नी के भी बच्चे हुए तो उसमें सौतिहा डाह जाग उठा और उसने अपने पति के कान भरना शुरू कर दिये । मियाँ हसन भी डपटने लगा । फरीद खाँ आरम्भ में तो सब कुछ सहते रहे । सोचा कभी तो पिता का व्यवहार सुधरेगा । परन्तु स्थिति दिनों-दिन बिगड़ने लगी । सौतेली माँ का दुर्व्यवहार, पिता का भेदभाव और प्रताड़ना तथा छोटे सौतेले भाइयों की मारपीट और गाली-गलौज अपनी सीमा से बाहर होते गये । फरीद खाँ ने तंग आकर घर छोड़ दिया और जौनपुर चला गया ।

जौनपुर उन दिनों शिक्षा का अच्छा केन्द्र था । मजदूरी करते हुए उसने पढ़ना भी शुरू कर दिया । अपनी परिस्थितियों से न घबराकर और थोड़ी-सी सूझबूझ ने फरीद खाँ को कठोर परिश्रम के लिए प्रेरित किया । प्रगति और विकास की मंजिल की ओर अग्रसर करने में कठिनाइयाँ तथा विपत्तियाँ बड़ी सहायक सिद्ध होती हैं । ऐसे अवसरों पर घबड़ाना या किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं हो जाना चाहिए । फरीद खाँ ने उसी सूझ-बूझ से काम लिया और शिक्षा प्राप्त कर अपनी योग्यता तथा प्रतिभा को विकसित करने की ठानी । जौनपुर में उसने फारसी भाषा और अन्य विषयों का अध्ययन किया। गुलिस्ताँ, बोस्ता और सिकन्दरनामा जैसी पुस्तकें कण्ठस्थ कर लीं । फरीद खाँ की विशेषता और बुद्धि के समाचार जब मियाँ हसन ने सुने तो उन्हें अपनी गलती का ज्ञान हुआ और बेटे को वापस बुलाकर जागीर सम्हालने का उत्तरदायित्व सौंप दिया ।

प्राप्त किये अनुभवों तथा तज्जनित चतुराई और बुद्धिमत्ता के बल पर फरीद खाँ ने जागीर का इतना अच्छा प्रबंध किया कि सभी लोग उससे खुश रहने लगे । उसके सद्व्यवहार ने काश्तकारों, जागीर में रहने वालों तथा सिपाहियों सभी का मन जीत लिया। फरीद खाँ के व्यवस्था कौशल की खबर बिहार के बादशाह सुलतान मुहम्मद को लगी तो बादशाह बड़ा प्रभावित हुआ । सुलतान मोहम्मद खाँ ने उसे अपने पास बुलवा लिया । निस्संदेह फरीद खाँ अपनी तारीफ के अनुसार ही निकला । अपनी योग्यता, सूझबूझ और बुद्धिमत्ता के बल पर वह बादशाह का दाहिना हाथ बन गया । बादशाह उसे २४ घण्टे अपने साथ रखने लगा । कहा जाता है कि एक दिन जब सुलतान शिकार पर गया तो एक शेर ने बादशाह पर प्राणघातक हमला किया । फरीद खाँ भी सुलतान के साथ ही था । तत्काल शेर पर तलवार का ऐसा वार किया कि एक ही वार में उसके दो टुकड़े हो गये । बादशाह ने स्वामिभक्ति और बहादुरी से प्रसन्न होकर फरीद खाँ को पुरस्कृत किया तथा शेरखाँ का नाम दिया ।

शेरखाँ एक बार अपने मित्रों के साथ आगरा गया । उस समय बाबर हिन्दुस्तान का बादशाह था । आगरा की शासन व्यवस्था तथा मुगलों का रहन-सहन देखकर शेरखाँ ने अनुमान लगाया कि ये लोग ऐशो आराम में पड़कर निकम्मे हो चुके हैं । भोग विलास में डूबे व्यक्तियों की शक्ति तो वैसे ही कुंठित हो जाती है । फिर सामान्य-सी परिस्थितियाँ या संघर्ष भी आसानी से उनको बेधने में सफल हो जाती हैं। संसार की बड़ी से बड़ी शक्तिशाली जातियों के पतन का एकमात्र कारण यही रहा है कि वे लोग प्राप्त सफलताओं के मद में चूर होकर सुख-सुविधाओं तथा भोग-विलास के संसाधनों में इस कदर लिप्त हो जाते हैं कि उन्हें अपना तनिक भी ध्यान नहीं रहता । शेरखाँ ने मुगलों की इस कमजोरी को जानकर उन्हें भारत से खदेड़ने का निश्चय किया ।

यदा-कदा वे अपने मित्रों से भी कहते रहते कि अब इन लोगों को भगाना आसान है । मित्रों में इस बात पर बड़ी हँसी उठती । इस पर उन्होंने अपने मित्रों से इस प्रकार की चर्चा करना ही बन्द कर दिया । मित्रों का हँसना भी अकारण नहीं था । उन्हें विश्वास नहीं था कि बिहार के एक छोटे से सुलतान का दरबारी, जिसकी अपनी शक्ति कुछ भी नहीं है, गहरी नींव जमे मुगल साम्राज्य को उखाड़ने का दिवा स्वप्न किस प्रकार पूरा कर सकेगा ।

व्यक्ति की अन्तर्निहित योग्यता और संकल्प शक्ति किसी के चेहरे पर नहीं लिखी होती । अपनी बातों पर कोई विश्वास कर सकता है तो वह स्वयं ही । होना भी यही चाहिए । अपने महान लक्ष्यों की चर्चा औरों से कर उपहासास्पद बनने की अपेक्षा स्वयं आत्मविश्वास को दृढ़

बनाते जाना चाहिए । यह विश्वास और संकल्प जितने ही मजबूत होते जायेंगे सफलता की मंजिल उतनी ही समीप आती जायेगी ।

एक दिन शेरखाँ बाबर के दरबार में गये । बाबर से उन्होंने इतनी खुलकर बातचीत की कि उसे भी आश्चर्य होने लगा । बाबर ने जब अपनी बातों का बेधड़क उत्तर पाया तो उसे लगा कि आज किसी बराबर के व्यक्ति से पाला पड़ा है । शेरखाँ के खुले व्यवहार ने बाबर के संदेहशील हृदय में शंका के बीज बो दिये । उसे लगने लगा कि एक न एक दिन इस व्यक्ति से मुगल सल्तनत को खतरा हो सकता है । बाबर ने भावी खतरे को शुरू से ही निर्मूल करना उचित समझा और शेरखाँ को पकड़कर मार देने का षड़यन्त्र रचा ।

इस षड़यन्त्र का पता शेरखाँ को लग गया और वे आगरा छोड़कर बिहार चले गये और वहाँ रहकर पठानों को संगठित करना शुरू कर दिया । तभी बाबर की मृत्यु हो गयी और उसका बेटा हुमायूँ गद्दी पर बैठा । शेरखाँ थोड़े से ही सैनिक संगठित कर पाये थे कि एक ओर तो हुमायूँ की विशाल फौजें तथा बंगाल के बादशाह का लश्कर था दूसरी ओर शेरखाँ के मुट्ठी भर जवान । परन्तु अपनी संगठन शक्ति और सूझबूझ का प्रयोग कर शेरखाँ ने एक-एक राज्य जीतना आरम्भ कर दिया । चुनारगढ़ और रोहतासगढ़ को विजित करते हुए शेरखाँ की सेनाएँ दिल्ली की ओर बढ़ने लगीं । वस्तुतः संख्या और साधन नहीं, मनोबल और साहस किसी की विजय का कारण बनते हैं । रणभूमि में भी और जीवन संग्राम में भी । दिल्ली पहुँचते-पहुँचते शेरखाँ की हुमायूँ से दो बार टक्कर हुई और अन्तिम बार तो हुमायूँ को दिल्ली छोड़कर ईरान भागना पड़ा ।

दिल्ली के सिंहासन पर शेरखाँ ने शेरशाह सूरी के नाम से आरोहण किया। अपनी सफलता से गर्वोन्नत न होकर उन्होंने तत्काल राज्य व्यवस्था को सुधारने तथा जनता की सुख-शान्ति बढ़ाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये । अपने राज्य को सैंतालीस सूबों में बाँटा और इन सूबों को परगनों में । उस समय मुगल शासन की नींव खोदने में शासकीय कर्मचारी भी बड़ी मुस्तैदी से लगे हुए थे । शेरशाह सूरी ने तुरन्त ही इस ओर ध्यान दिया तथा ऐसी व्यवस्था बनायी जिसके अनुसार एक स्थान पर अधिक समय तक किसी कर्मचारी का टिका रहना मुश्किल हो गया। उनका स्थानान्तरण होने लगा । यह व्यवस्था उसी समय से चली है । ऐसा प्रबन्ध भी किया जिसमें भ्रष्टाचार की तनिक भी गुंजाइश न रहे । इसके बाद भी जो कुछ हरकत करते तो उन्हें कड़ा से कड़ा दण्ड दिया जाता । इन सुधार कार्यों ने ऐतिहासिक रूप धारण कर लिया ।

न्याय की सुरक्षा और जनता की सुख-सुविधा का ध्यान रखना शेरशाह का मुख्य उद्देश्य बन गया था । इसी उद्देश्य से उन्होंने सस्ता, शीघ्र और निष्पक्ष न्याय दिलवाने की व्यवस्था की । यहाँ तक कि स्वयं अपने बेटे को भी नहीं बख्शा । फकीरों और भूखों से लेकर यात्रियों तक के लिए उन्होंने आवश्यक प्रबन्ध किया । पाँच वर्ष शासन करके ही उनका देहान्त हो गया । परन्तु पाँच वर्ष की अवधि में भी उन्होंने इतना काम कर दिखाया जितना कोई शासक अपने जीवन भर नहीं कर सका । अपनी शासन व्यवस्था और पुरुषार्थ के बल पर ही वे सच्चे अर्थों में बादशाह बने ।

पीड़ितों के सहायक–

वीर हम्मीरदेव

अलाउद्दीन खिलजी का एक सरदार बड़ा स्वामिभक्त, सच्चा और बहादुर था । उसने अनेक युद्धों में इतनी वीरता दिखाई कि वह जनचर्चा का विषय बन गया । दुष्टप्रवृत्तियों के दास अलाउद्दीन को अपने उस सरदार की नामवरी पसन्द न आई । वह चाहता था कि जनता में यदि किसी की बहादुरी की चर्चा हो तो यह मेरी ही हो । मेरे सिवाय किसी दूसरे की चर्चा बिल्कुल न हो । स्वार्थ एवं अहंकार का दोष मनुष्य को इसी सीमा तक संकीर्ण बना देता है ।

सरदार की चर्चा सुन-सुन कर अलाउद्दीन मन ही मन जल-भुनकर रहने लगा । किन्तु करे तो करे भी क्या ?'' सत्य का प्रकाशन आतंक से तो रोका नहीं जा सकता । सरदार अपनी सेवा और कर्तव्य में कोई खोट नहीं करता था । दोष लगाकर उसे अपदस्थ करने का अवसर नहीं था । अस्तु, मन ही मन ईर्ष्या की भट्टी सुलगाता और स्वयं उसमें जलता रहा । एक बार दुष्ट अलाउद्दीन को झूठा बहाना मिल गया और उसने अपना फन सीधा कर दिया ।

सरदार की वीरता की चर्चा हरम में बेगमों के बीच भी होती थी । एक दिन देर तक चर्चा होते रहने के कारण एक बेगम ने स्वप्न में बड़बड़ाते हुए उसका नाम ले लिया । बस हीनवृत्ति खिलजी को बहाना मिल गया और उसने बेगम के साथ सरदार के प्रेम का कलंक खड़ा कर दिया । ईर्ष्या और अहंकार ने उसके विवेक को इस सीमा तक दूषित कर दिया था कि वह यह न समझ सका कि बेगम का साथ सरदार को प्रेम का कलंक लगाने का अर्थ है अपनी ही पगड़ी उछालना । लेकिन अलाउद्दीन तो सरदार को अपदस्थ ही नहीं, ईर्ष्यावश दण्डित करना चाहता था । उसे तो बहाना चाहिए था। पगड़ी उछलती है तो उछला करे। अस्तु, उसने उस गर्हित आधार पर सरदार को दुश्चरित्र और विश्वासघाती घोषित कर गिरफ्तारी का फरमान निकाल दिया।

सरदार बड़ा नेक आदमी था । वह बेगम पर लगे कलंक की असत्यता और अपनी नेक चलनी को प्रमाणित करने का अवसर चाहता था । लेकिन गिरफ्तारी के परिणाम से भी अनभिज्ञ न था । मृत्यु दण्ड की इस भूमिका को अच्छी तरह समझता था । उसके पास निकल भागने के सिवाय और कोई चारा न था । अस्तु, एक दिन वह रात में दिल्ली की सीमा से अकेला ही बाहर हो गया ।

उसने भारत के लगभग सभी राजा नवाबों के पास जाकर शरण माँगी । किन्तु अलाउद्दीन की शक्ति और दुष्टता के आतंक से भयभीत कोई भी राजा नवाब उसे आश्रय देने को तैयार न हुआ ।

वक्त का मारा सरदार एक स्थान पर बैठा न्याय-अन्याय और सत्य-असत्य की वास्तविकता पर विचार कर रहा था कि एक राहगीर ने उसकी व्यथा मालूम करके परामर्श दिया कि वह रणथम्भौर के राजा हम्मीर देव के पास चला जाये, वे उसे जरूर शरण दे देंगे । सरदार अभी तक बड़े-बड़े राजा नवाबों के पास गया था । उसने छोटे-छोटे राजपूत राजाओं के विशाल हृदय न देखे थे । मरता क्या न करता । सन्देह होते हुए भी सरदार रणथम्भौर गया । महाराज हम्मीरदेव ने उसकी व्यथा की कथा सुनी और पाया कि सरदार निर्दोष है। अलाउद्दीन उस पर अन्याय कर रहा है । उसने सरदार को शरण दे दी ।

अलाउद्दीन को पता चला और उसने सरदार को वापस करने के लिए रणथम्भौर सन्देश भेजा । महाराज हम्मीरदेव ने स्पष्ट कहला दिया कि सरदार निर्दोष है । मैंने उसे शरण दी है और शरणागत को उसके शत्रु के हवाले करना मेरे धर्म के विरुद्ध है । परिणाम एक ही होना था । खिलजी ने छोटे से रणथम्भौर पर तीन लाख सेना के साथ आक्रमण किया । वीर हम्मीरदेव ने धर्म का ध्यान कर तलवार सँभाली और भयानक शौर्य के साथ अलाउद्दीन खिलजी को परान्मुख करके यह सिद्ध कर दिया कि विजय सत्य की ही होती है ।

माता के अनुरूप ही सुसंतति का निर्माण

चित्तौड़ के राजकुमार एक चीता का पीछा कर रहे थे । वह चोट खाकर झाड़ियों में छिप गया था । राजकुमार घोड़े को झाड़ी के इर्द-गिर्द घुमा रहे थे, पर चीते को बाहर निकालने में सफल नहीं हो पा रहे थे । किसान की लड़की यह दृश्य देख रही थी । उसने राजकुमार से कहा-''घोड़ा दौड़ाने से हमारा खेत खराब होता है । आप पेड़ की छाया में बैठें । चीते को मारकर मैं लाये देती हूँ।'' वह एक मोटा डण्डा लेकर झाड़ी में घुस गई और मल्ल युद्ध में चीते को पछाड़ दिया । उसे घसीटते हुए बाहर ले आई और राजकुमार के सामने डाल दिया । राजकुमार दंग रह गये । उन्होंने किसान से विनय करके उस लड़की से विवाह कर लिया । प्रख्यात योद्धा हमीर उसी लड़की की कोख से पैदा हुआ था । माताओं के अनुरूप ही संतान का निर्माण होता है ।

हम्मीर हठ, जिसने रूढ़ियों के बन्धन तोड़े

''यह केवल हठ की बात नहीं है काका सा ! आप यह क्यों नहीं सोचते कि हम भारतीयों के घरों में नारी की स्थिति पहले ही कैसी दयनीय है ? राजकुमारी वसुमती का वैधव्य मेरे लिए अमंगल हो सकता है तो यह सारे भारतीयों के मस्तक पर भी कलंक क्यों न होना चाहिए ? विधवाओं की सबसे ज्यादा संख्या इसी देश में है और उसके उत्तरदायी सामाजिक कारण भी पुरुषों द्वारा ही तैयार किए गये हैं । क्या अपने किए का प्रायश्चित पुरुषों को नहीं करना चाहिए ?''

राणा हम्मीर इतना कहते-कहते कुछ आवेश में आ गए थे, पर अपने काका सा- अजय सिंह और अन्य सभासदों का वे पूर्ण सम्मान करते थे । इसलिए फिर अपनी वाणी को संयम और विनीत बनाते हुए बोले- ''काका सा । राजकुमारी के कोई सन्तान नहीं है, वे छोटी आयु में ही विधवा हो गई । राज परिवार संन्यासी का-सा जीवन नहीं जी सकता फिर क्या यह राजकुमारी की कोमल भावनाओं पर आघात न होगा कि उन्हें हँसते-खिलखिलाते जीने की इस आयु में रीति-रिवाजों के बन्दीगृह में डाल दिया जाय ? सम्बन्ध मुझे करना है और मैं तैयार हूँ आप लोग किसी अमंगल की बात अपने मन से निकाल दें ।''

''किन्तु हम्मीर ! तुम नहीं जानते चित्तौड़ नरेश भालदेव ने हमारे साथ छल किया है । उसने जान-बूझ कर विधवा कन्या का सम्बन्ध भेजा है । तुम्हारे जैसे वीर और प्रतिष्ठित राजकुमार के लिए विधवा से सम्बन्ध करना शोभा नहीं देता- हम्मीर ! युद्ध ही करना है तो हम तैयार हैं, पर हम इस पक्ष में कभी नहीं कि तुम्हारा सम्बन्ध एक ऐसी कन्या से हो जो पहले कभी किसी का वरण कर अपवित्र हो चुकी हो ।'' अजयसिंह ने दृढ़ शब्दों में कहा और सामन्तों ने उनका अनुमोदन किया ।

पर हम्मीर उस धातु के बने नहीं थे जो किसी भी समय कैसे भी मोड़े और झुकाये जा सकते ? हम्मीर किसी सिद्धान्त को देर से स्वीकार करते थे । लेकिन एक बार उसमें सत्य और आदर्श की रक्षा देख लेते तो उसके लिए ऐसा हठ करते कि फिर सारा संसार एक तरफ हो जाता तो भी वचन से पीछे न हटते । 'हम्मीर हठ' उन दिनों जन साधारण के लिए दैनिक बोल बन गए थे ।

हम्मीरदेव ने कहा- ''काका सा! पुरुष जब चार-चार रानियाँ लाकर राजमहलों में डाल देता है तब अपवित्र नहीं होता, फिर नारी एक ऐसी अवस्था में जबकि उसे सहारे की आवश्यकता होती है और दूसरा विवाह कर दिया जाता है तो वही अपवित्र क्यों हो जाएगी । मान्यतायें मनुष्य ने बनाई हैं, पर उनमें केवल वही बातें मान्य हो सकती हैं जिनका कुछ विवेक-जन्य औचित्य भी हो ? विधवा अपवित्र और अमंगल होती है- यह कोई तर्क नहीं, सच बात तो यह है, यदि वह निःसन्तान है तो सबसे पहले सहारे की अधिकारिणी भी वही है ।''

हम्मीर के हठ के आगे किसी की एक न चली । वह लगन मण्डप पर जा पहुँचे और सम्बन्ध कर ही लिया । सैनिक जो मेवाड़ से युद्ध करने गए थे, वह बराती बनकर लौटे ।

वसुमती ने उस दिन पूर्ण शृंगार किया था, पर उसे ऐसा लग रहा था जैसे महाराणा हम्मीर उसके साथ कहीं छल तो नहीं कर रहे । समाज ने विधवा के जीवन में जो आत्महीनता लाद दी है, वसुमती उसी के कारण कुछ भयभीत-संकुचित-सी लग रही थी । लेकिन शीघ्र ही उसके भ्रम का निवारण हो गया । महाराणा के प्रेमिल व्यवहार से उसे जल्दी ही मालूम हो गया कि हम्मीर ने यह कार्य सिर्फ हठ के कारण नहीं-मानवीय करुणा और रूढ़ियों को तोड़ फेंकने के शौर्य के रूप में किया है ।

उसने हम्मीरदेव को शासन व्यवस्था में ऐसा सहयोग प्रदान किया कि एक दिन राणा हम्मीर बिना किसी द्वन्द्व रक्तपात के ही मेवाड़ के शासक बन गए । पहले जो लोग कहा करते थे कि विधवा से विहार हम्मीर के अमंगल का सूचक है वही पीछे कहने लगे- विधवा कभी अमंगल नहीं होती । उसे मानवीय सम्मान मिले तो वह किसी भी योग्य जीवन साथी के कर्तव्यों का पालन कर सकती है ।

संकल्पों का धनी–

अलक्षेन्द्र सिकन्दर

"माँग लीजिए जो कुछ आप मांगना चाहते हैं मुझसे ।" राजा के भीतर से राजाधिपति होने का मिथ्या दंभ बोला । उसे सुनकर संत के चेहरे पर मुस्कान फैल गयी ।

"देना ही चाहते हो तो पाँच मुट्ठी धूप दे दो मुझे ।" संत बोले । राजा उनकी इस माँग को सुनकर लज्जित हो उठा । संत दायोजिनस और सम्राट अलक्षेन्द्र सिकन्दर मनुष्य की उसी एक भूख को स्पष्ट करते हैं । मनुष्य चाहता है कि उसका अधिकार क्षेत्र विस्तृत हो । उसकी एकमात्र सीधी सच्ची राह यही है कि मनुष्य अपने आपे को उतना विस्तृत करदे जितनी यह धरती है । दूसरे रास्ते तो कई दीखते हैं पर वे मात्र मृग मरीचिका ही हैं । अलक्षेन्द्र ने भी ऐसे ही एक माया पूरित राह चुनी थी । जहाँ राह गलत होती है वहाँ जीवन के सार्थक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता फिर भी अलक्षेन्द्र के संकल्प और व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीखा जा सकता है जो सही मार्ग पर चलने वाले के लिये भी उपयोगी सिद्ध होगा ।

मकदूनिया के महत्वाकांक्षी राजा के पुत्र अलक्षेन्द्र ने भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुसरण किया । क्योंकि उन दिनों पश्चिम में मनुष्य के लिए यही गौरव की बात मानी जाती थी कि वह अपनी प्रभुता को सिद्ध कर दिखाये । उसका पिता फिलिप चाहता था कि जिस फारस ने यूनान पर आक्रमण करके उसे अपमानित किया है उसका वह बदला फारस को हराकर ले । बालक सिकन्दर के मन में भी वैसे ही संस्कार पड़ने और संकल्प जागने स्वाभाविक ही थे । वह सोचा करता था कि जब पिताजी ही सारे देशों को जीत लेंगे तो वह किसे जीतेगा । उसके मन में यह बात आ ही कैसे सकती थी कि प्रदेशों को जीत लेने से ही व्यक्ति महान नहीं बन जाता वह महान बनता है अपने सद्‌विचारों से, सत्कर्मों से विश्व मानव की सेवा से ।

भारत और पाश्चात्य देशों के निवासियों के सोचने के ढंग में यही अन्तर था । वे स्थूल को महत्त्व देते थे, शरीर को ही सत्य मानते थे, आत्मा उनके लिए कुछ नहीं थी । यही कारण है कि भारतवासियों ने अपनी संस्कृति, अपने आध्यात्मिक दर्शन के कारण विश्व में अपनी कीर्ति पताका फहरायी । उन्होंने कभी तलवार लेकर किसी देश पर चढ़ाई नहीं की । किन्तु पश्चिमी देशों ने तलवार के बल पर राज्य विस्तार के लम्बे चौड़े सपने देखे ।

अलक्षेन्द्र का सपना था विश्वविजय करने का । उस सपने को साकार करने के लिए उसने स्वयं को वैसा ही सुदृढ़ बनाना आरम्भ कर दिया। उसका सपना कितना बड़ा था । साधारण व्यक्ति या साधारण राजा ऐसा सपना नहीं देख सकता था । अलक्षेन्द्र को अपनी असाधारणता पर विश्वास था । मनुष्य कितने बड़े संकल्प कर सकता है। उन संकल्पों को साकार भी कर सकता है अलक्षेन्द्र उसका अनुपम उदाहरण है । भूल उसकी यही थी कि उसने केवल अपने अहम् की तृप्ति के लिये यह सब किया। यदि वह दूसरों के हित का ध्यान रखकर कोई 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का सपना देखता तो उसकी दिशा भी सही मानी जाती । उसका परिणाम भी शुभ होता ।

एक दिन उसके पिता की सभा में एक घोड़ा लाया गया । इस शानदार और शक्तिशाली घोड़े पर उसका कोई दरबारी काबू नहीं कर पाया । बालक अलक्षेन्द्र ने इस चुनौती को स्वीकार किया क्योंकि वह भी तो असामान्य स्वप्न देख रहा था, असम्भव को सम्भव बनाने के स्वप्न संजो रहा था । वह अपने स्थान से उठा घोड़े की लगाम पकड़ी उसका मुँह सूर्य की ओर किया और वह कुछ उछले उसके पहले ही उसकी पीठ पर जा सवार हुआ । बालक के इस दुस्साहस पर सभी चकित रह गये । "घोड़ा उसे गिराकर छोड़ेगा" वह यही सोचकर उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नरत हो गये । किन्तु आशंका के विपरीत अलक्षेन्द्र ने उसे काबू में कर लिया । उसे उसने इतना दौड़ाया कि वह थककर बेदम हो गया । तभी से फिलिप जान गया कि उसके बेटा बहुत बड़ा राजा बनेगा ।

कहते हैं अपनी माता की उपेक्षा करने के कारण अलक्षेन्द्र ने अपने पिता की हत्या कर दी और अपनी सौतेली माँ और उसके पुत्रों को बलि चढ़ा दिया । सत्ता के मद में चूर फिलिप के अपनी पत्नी ओलिम्पियास की उपेक्षा करना और अलक्षेन्द्र का उसे मौत के घाट उतार देने जैसे अप्रिय प्रसंग प्राय: सम्पन्नता और वैभव के साथ-साथ आत्मशक्ति का सम्पादन न करने के कारण मध्य युग में भी देखने को मिल जाते थे और आज भी कुछ दूसरे ढंग से हमारे समाज में हो देखने को मिल जाते हैं ।

फिलिप के बाद अलक्षेन्द्र मकदूनिया का शासक बना । शासक बनते ही उसने विश्वविजय के सपनों को साकार करना आरम्भ किया । सर्वप्रथम उसने अपनी सैन्य शक्ति का विस्तार किया । सैनिकों को प्रशिक्षित करने और अनुशासित रखने के लिये उसने विशेष प्रयत्न किये ।

सेना सुगठित हो जाने पर उसने एक-एक करके सारे यूनानी राज्यों को जीत लिया और इन हारे हुए राजाओं के साथ उदारता का व्यवहार करके उन्हें अपना मित्र बना लिया, जो उसके अगले विश्व विजय अभियान में साथी बने । उसकी यह उदारता उसके विरोधी पैदा नहीं होने देती थी ।

अलक्षेन्द्र ने अपनी शरीर साधना बखूबी की थी । वह तलवार तथा अन्य शस्त्रास्त्र चलाने में प्रवीण था । यूनानी सेना में उसके एक सेनापति आनेक्रलीज को छोड़कर और कोई उसके मुकाबले का योद्धा नहीं था । उसका शरीर पूरा ऊँचा बलिष्ठ और स्फूर्तिमय था । उसका शरीर सौष्ठव देखते ही बनता था । उसके सारे शरीर पर मत्स्याकृत मांसपेशियाँ उभरी हुई थीं ।

यूनान के पश्चात् उसने अपने आस-पास के दूसरे देशों पर विजय प्राप्त की । फिर वह फारस की ओर उन्मुख हुआ, जो उस समय का सबसे बड़ा राज्य था, जिसका राजा दारा अपने आप को सारे संसार का स्वामी समझता था । वह भी विश्वविजय के सपने देखा करता था। इसी के लिए उसने बहुत बड़ी सेना एकत्रित कर रखी थी। वह पहले यूनानियों को हरा भी चुका था । अलक्षेन्द्र की सेना में तीस हजार पैदल और पाँच हजार घुड़सवार थे। दारा की सेना उसकी सेना से तीन गुनी से भी अधिक थी । आइसस के मैदान में दोनों में टक्कर हुई । प्रशिक्षित और अनुशासित सेना के बल पर अलक्षेन्द्र ने अपने से तीन गुनी सेना रखने वाले दारा को पराजित कर दिया । वह मैदान छोड़कर भाग निकला । उसकी माँ, पत्नी तथा बच्चे पकड़े गये । सिकन्दर उनके साथ बड़ी सभ्यता से पेश आया और उनकी सुरक्षा का प्रबंध किया । दारा की पत्नी अत्यंत रूपवती थी । अलक्षेन्द्र के स्थान पर और कोई होता तो उसको अपनी पत्नी बना लेता पर सिकन्दर ने ऐसा नहीं किया क्योंकि वह जानता था कि चरित्र ही मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा है । वह तो राज्यों को जीतना भर चाहता था, पराजित राजाओं की रानियों को अपनी अंकशायिनी बनाना नहीं । अलक्षेन्द्र में यह चारित्रिक बल न होता तो वह अपने काम में सफल भी नहीं होता ।

पराजितों के साथ भी सम्मानजनक व्यवहार करना उसकी नीति थी । दारा ने पराजित होकर भी आत्म-समर्पण नहीं किया था । वह अपने बचे हुए सैनिकों के साथ इधर-उधर भागता फिरा । एक दिन उसके ही एक सैनिकों ने उसे छुरों से घायल करके उसे मरा समझकर छोड़ दिया अलक्षेन्द्र को वह मृतप्राय दशा में मिला । अपने मरणासन्न शत्रु को उसने अपना दुशाला उढ़ाकर सम्मान प्रकट किया । दारा ने उसे अपनी पत्नी व बच्चों के प्रति किये गये व्यवहार के लिए धन्यवाद दिया ।

उसकी इस उदारता के कारण उसकी सेना के कुछ उच्चाधिकारी अप्रसन्न भी हो जाते थे । किन्तु वह उनकी अप्रसन्नता की चिंता किये बिना अपनी इस नीति पर दृढ़ रहा करता था । भारतीय राजा पुरु के साथ भी उसने ऐसी ही उदारता बरती थी । वह पुरु की वीरता से प्रभावित भी कम नहीं हुआ था ।

अलक्षेन्द्र और उसकी सेना को तो पुरु की विशाल सेना और वीर सैनिकों के प्रबल आक्रमण को देखकर यह लगने लगा था कि इस बार पराजय के अतिरिक्त कुछ हाथ लगने वाला नहीं है । ऐसे कठिन समय में अलक्षेन्द्र ने धैर्यपूर्वक सोचा तो उसे एक युक्ति समझ में आयी । उसने अपने सैनिकों को हाथियों की आँखों में बाण मारने की आज्ञा दी । उसकी यह युक्ति काम में आयी । पुरु के हाथी बिगड़ खड़े हुये और वह पकड़ा गया । उसे जब अलक्षेन्द्र के सामने लाया गया तो अलक्षेन्द्र ने उससे पूछा-''बोलो हम तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करें ।''

''जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है ।'' पुरु ने निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया । उसके इस वीरोचित उत्तर से वह बहुत प्रसन्न हुआ । उसने उसके जीते हुए प्रदेश को लौटा दिया । वस्तुतः यह बात यूनानी इतिहासकारों द्वारा लिखी गयी है । इस सम्बन्ध में इतिहासकार सच्चाई को खोजने का प्रयास कर रहे हैं । सत्य यह लगता है कि अलक्षेन्द्र पुरु से हार गया था ।

प्रत्यक्ष युद्ध में भले ही अलक्षेन्द्र हारा न हो लेकिन यहाँ आकर उसका विश्व-विजय का स्वप्न चूर-चूर अवश्य हो गया । चाहे पुरु हारा भी हो तो भी यह सच्ची विजय नहीं थी । उसके सैनिकों का साहस इस युद्ध में चुक गया था । उन्हें अब तक ऐसे वीरों से मुकाबला नहीं पड़ा था । जब उन्होंने मगध के राजा नन्द की विशाल मागधी सेना और उसके पराक्रम की बात सुनी तो वे आगे बढ़ने से इन्कार कर गये ।

अलक्षेन्द्र ने विपाशा के तीर पर उन्हें आगे बढ़ने का आह्वान किया तो वे तैयार न हुए । अलक्षेन्द्र को इससे बड़ी निराशा हुई । वह तीन दिन तक अपने खेमों से बाहर नहीं निकला । अन्त में उसे अपनी बात वापस लेनी पड़ी और वे लौट चले । लौटते समय वह बहुत उदास था । उसके स्वप्न ही धूल में नहीं मिल गये थे वरन् वह अपनी भूल पर पछता भी कम नहीं रहा था । स्वयं को विश्व विजेता सिद्ध करने के लिए उसने हजारों आदमियों का रक्त बहाया था कितनी ही माँगों का सिन्दूर पोंछ दिया था, कितनी माताओं की गोद सूनी करदी थी और कितने ही बच्चों को अनाथ कर दिया था । हाय रे दुर्बुद्धि यह कैसी विजय है । यह विजय का सेहरा नहीं यह तो कलंक का टीका है । इन विचारों से वह बड़ा त्रस्त हो गया । उनसे मुक्त होने के लिए उसने शराब का सहारा लिया । भारत से लौटते समय वह बहुत पीने लगा था लौटते हुए रास्ते में ही उसे निमोनिया हुआ और मर गया ।

अलक्षेन्द्र केवल ३३ वर्ष ही जी सका । उसने केवल १३ वर्ष ही राज्य किया । यदि स्वयं विश्व विजय करने का पागलपन मतिष्क में बिठाये स्वयं भी चैन से नहीं बैठना न अपने सैनिकों को बैठने देना और न दूसरे राजाओं को यदि इसी का नाम राज्य करना है तो वह राजा था अन्यथा मनुष्य जीवन की उन रसानुभूतियों और आत्मसंतोष से तो वह वंचित ही रहा जो सामान्द स्थिति का मनुष्य ही पा लेता है । संत दायोजिनस ने उसे पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी थी । किन्तु अलक्षेन्द्र के सिर पर तो दूसरा ही भूत सवार था । किसी उर्दू कवि ने ठीक ही कहा है- ''न हुई हद सिकन्दरी न कारूँ की चली, मौत का आ गया पैगाम कि चलते चलते ।'' अलक्षेन्द्र का यह संकल्प और उसके लिए जुटाया गया साधन, श्रम, समय और जीवन किसी काम नहीं आया । एक कहानी भर बनकर रह गया । केवल स्वार्थ और मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर किया गया काम कितना ही बड़ा क्यों न हो न तो उस व्यक्ति को ही सुखी और सन्तुष्ट कर सकता है और न मानव समाज को ही कुछ दे सकता है । अलक्षेन्द्र का जीवन इस सत्य को सिद्ध करता है, सिखाता है बड़े आदमी बनने की अपेक्षा महान कार्य करने की कामना हजार गुनी श्रेष्ठ है ।

पारस्परिक विश्वास-बन्धु सिकन्दर और फिलिप

घटना उस समय की है जब सिकन्दर फारस देश पर आक्रमण करने जा रहा था । यह अपनी विशाल सेना का नेतृत्व करता जा रहा था कि सहसा एक स्थान पर रुक गया और घोड़े से उतर पड़ा । उसे ऐसा लगा मानो उसे मूर्छा आने वाली है । वह घोड़े की रास थामे थोड़ी देर खड़ा रहा । सारी सेना रुक गई और सरदार लोग घोड़ों से उतर-उतर कर उसे घेर कर खड़े हो गये और हाल पूछने लगे । सिकन्दर ने धैर्य तथा साहस से अपने आपको अचेत होने से रोक लिया और सरदारों से कहा-सेना का पड़ाव यहीं डाल दो, मेरी तबियत कुछ खराब हो रही है, आगे चल सकना कठिन है ।

सेना का पड़ाव डाल दिया गया और जब तक रहने ठहरने की व्यवस्था हो सिकन्दर रोग से तड़पने लगा । उसके पेट तथा हृदय-स्थल में प्रचण्ड पीड़ा शुरू हो गई थी । किसी तरह शीघ्रता से उसका तम्बू लगा और वह एक पलंग पर लिटा दिया गया। सिकन्दर पलंग पर पीड़ा से तड़पने और छटपटाने लगा ।

सिकन्दर के साथ यूनान के कई सुयोग्य हकीम आये हुये थे, जिनके पास अच्छी-से-अच्छी दवायें थी । उन्होंने सिकन्दर की हालत देखी और शरीर व नाड़ी की परीक्षा की । सभी हताश हो गये । उन्हें विश्वास हो गया कि वह चन्द मिनटों का ही मेहमान है । अब वह किसी प्रकार बचाया नहीं जा सकता ।

इधर यूनान के राजा विश्व-विजय के स्वप्नदर्शी सिकन्दर की हालत खराब होती जा रही थी और वह सहायता के लिए असहाय-सा हकीमों और सरदारों की ओर देखता था । इधर सरदार सहायता से यह सोच कर मुँह छिपा रहे थे कि शायद इसकी मृत्यु के बाद यह अधिकार हमें मिल जाये और हकीम सोच रहे थे कि अब यह बचेगा तो है ही नहीं । यदि मेरी दवा लेने के बाद मर गया तो लोग यह संदेह करेंगे कि इसे मैंने जानबूझ कर मार डाला है, तब बेकार में अपनी जान आफत में फँसेगी, उन सब का स्वामी और सम्राट सिकन्दर मर रहा था और उसकी मृत्यु घड़ी देख कर सब अपने-अपने हित की सोच रहे थे । निश्चय ही उनका सबका वह स्वार्थ और असहयोग धिक्कार के योग्य था । कुछ उसकी मृत्यु की बाट इसलिये देख रहे थे कि उसका अधिकार उन्हें मिल जायेगा, दूसरे उसे बचाने का जोखिम इसलिये नहीं ले रहे थे कि कहीं उन्हें उसकी मृत्यु का कलंक न लग जाये और उनको किसी संकट का सामना न करना पड़ जाये । वास्तव में अधिकार पद बड़ा विडम्बनापूर्ण होता है । जब तक वह सक्षम तथा समर्थ है, लोग उसकी झूठी चाटुकारी किया करते हैं और जब वह असहाय और विवश होता है तो तुरन्त आँखें ही नहीं फेर लेते बल्कि न उठ सकने योग पतन के लिये दो धक्के और दे देते हैं । सिकन्दर भी इस समय इसी अवस्था में था ।

जब तक शक्ति-मन्तों की भुजा में बल, वाणी में प्रभाव और विस्तार पर नियंत्रण रहता है, सभी उसे नमन करते, उसके अत्याचार को वीरता, अनीति को चातुर्य और शोषण को आवश्यकता मानते रहते हैं । किन्तु ज्यों ही उसकी वे विशेषतायें समय पाकर क्षीण हो जाती हैं त्यों ही लोगों के मन और दृष्टिकोण बदल जाते हैं । उसके गुण नीचे पड़ जाते हैं, उसके उपकार यदि कोई होते हैं तो दब जाते हैं और सारे दोष उभर आते हैं । लोग निर्णायक की तरह उसके जीवन तथा कृत्यों का लेखा-जोखा करने लगते हैं और उससे भी अधिक विपरीत हो जाते हैं, जितने कि अनुकूल थे ।

सिकन्दर शक्तिमन्त था। उसका अपना देश था, अपना राज्य था, अपना पद और अपना सिंहासन था । किन्तु वह अपनी इन वसुधाओं और अपनी उस सीमा में संतुष्ट न रह सका। सारे विश्व को अपने पैरों तले लाने की महत्वाकांक्षा उस पर प्रेत की तरह सवार हो गई, जिसने उसे आततायी बना दिया और वह पागल समीर की तरह मित्र, अमित्र तथा तटस्थ सभी देशों की ओर उन्हें रक्त रंजित और कुचल डालने के लिये दौड़ने लगा । अनावश्यक रूप से उसने सारे संसार की शान्ति भंग कर दी। सुख और चैन से रहती जनताओं में भय, रोष और शंका की वृत्तियाँ जगा दीं । सारे देश उसके समाचार सुन-सुन कर अपने घर सुरक्षा और युद्ध की तैयारी करने लगे । सेनायें बढ़ाई जाने लगीं, घर-घर के लाड़ले नवयुवक

बलि-वेदी पर दीक्षित होने लगे । सैन्य भंडारों में संचय होने लगा, सामान्य जीवन महँगा हो गया। कर और राजस्व बढ़ गया और जनता आर्थिक भार से कसमसा उठी । यह सब इसलिये कि सिकन्दर की शक्तिमत्ता अपनी परिधि में न रह सकी ।

अन्य देश ही नहीं, उसकी उस अनुचित महत्वाकांक्षा से उसके अपने देश का भी जीवन शान्त न रह सका था । उसे विश्व-विजय योग्य लश्कर चाहिये था । किसी घर में नवयुवक न छोड़े गये । उस विशालवाहिनी की रसद के लिये प्रजा को धन-धान्य से रिक्त कर दिया गया । कोई विरोध अथवा असंतोष खड़ा न हो इसलिये सिर पर आतंक की नंगी तलवार लटका दी गई । सेना बनाम देश के नागरिकों को उनके घर-बार से दूर सैकड़ों कोस विदेशी सीमाओं में डाल दिया गया । दिन-रात लड़ाई, रक्तपात, छल-कपट और अभियान प्रयाण । न कोई शान्ति और न कोई सकून । लाखों कटते, हजारों भूखों मरते और न जाने कितने रोगी हो जाते । किन्तु कोई सुनने वाला नहीं । लोग त्रस्त, क्लान्त तथा असंतुष्ट थे । किन्तु तब तक शक्तिमन्त की भुजा में बल, वाणी में तेज और विस्तार पर नियंत्रण था । समय पूरा न हुआ था ।

किन्तु आज जबकि सिकन्दर रोग से विवश तथा असहाय हो गया कौन कह सकता है कि उसके अपनों के हृदयों में वे सब त्रास और कष्ट न कसक उठे हों जो उनमें बलात इसलिये उठवाये कि सिकन्दर अपने जिगीषु दम्भ को तुष्ट करना चाहता था, जिसका कोई लाभ, कोई श्रेय उनमें से किसी को न होना था । बहुत सम्भव था कि हकीमों और सरदारों के असहयोग के पीछे यह भाव काम कर रहा हो कि यह एक मौत के आँचल बँधे और हम सब को सुख चैन की साँस लेना नसीब हो । क्या उनमें से बहुतों को यह याद न आया होगा कि कब-कब सिकन्दर ने कहाँ, कारण और अकारण ही उन्हें दलित, तिरस्कृत अथवा ताड़ित किया है । क्या उस समुदाय में ऐसे लोग न होंगे जिन्हें यूनान के उन लाखों घरों की याद आती हो जहाँ उस समय पुत्र और पति के वियोग में मातायें और पत्नियाँ आँसू बहा रही होंगी और उन पिताओं की जो पुत्र के हाथ में हल और पतवार सौंपकर निश्चिन्त हो चुके थे किन्तु उन्हें फिर वह भार इसलिये लेना पड़ा होगा कि उनके कर्णधारों को सिकन्दर ने विदेशों के मोर्चों पर कटवा डाला है । शक्तिमन्त, सिकन्दर इस समय विवश और असहाय था, सबके मन और विचार-कोण बदल चुके थे और पहले जहाँ लोगों को उसके गुण ही गुण दिखलाई देते थे, अब दोष ही दोष दृष्टिगोचर होने लगे ।

यदि सिकन्दर ने अपनी शक्ति जनहित और संसार में सुख-शान्ति की वृद्धि में लगाई होती तो उसकी सहायता की जोखिम से लोग डरते नहीं बल्कि अपने प्राण देकर भी उसे बचाने का प्रयत्न करते । राज-पद और उस पर भी अनीति तथा आतंक से दूषित राज पद ऐसा ही प्रतारणा पूर्ण होता है कि लोग न तो उस पर स्वयं विश्वास करते है और न यही विश्वास रखते हैं कि वह उन पर विश्वास कर रहा होगा सिकन्दर संसार से जा रहा था और उसके पार्श्ववर्ती उसकी सहायता से मुँह चुरा रहे थे ।

फिर भी जहाँ प्रतिशोधी, स्वार्थी तथा अवसरवादियों की कमी नहीं हो तो वहाँ विशुद्ध मनुष्य भी होते हैं जो आपत्ति तथा पीड़ा में देखकर शत्रु का भी अपकार भूल जाते हैं और मनुष्यता के नाते उसकी सहायता में तत्पर हो जाते हैं । सिकन्दर के एक फिलिप नाम के सेवक से उसकी पीड़ा न देखी गई । वह बड़ा विश्वासी व्यक्ति था, और उसे यह भी विश्वास था कि सिकन्दर उस पर विश्वास रखता है । वह पीड़ा से तड़पते सिकन्दर के पास आया और बोला-"स्वामी आप धीरज रखिये मैं अभी आपके लिए दवा तैयार करके लाता हूँ, आप शीघ्र ही अच्छे हो जायेंगे ।" फिलिप दवा लाने चला गया ।

अनेक लोग फिलिप के पास पहुँचे और उसे समझाते हुये बोले-"फिलिप क्या मूर्खता करने जा रहे हो । सिकन्दर अब किसी प्रकार बच नहीं सकता । यदि वह तुम्हारी दवा पीने के बाद मर गया तो लोग यही समझेंगे कि तुमने उसे विष देकर मार डाला है । इसलिये तुम उसे दवा देने की गलती न करो, नहीं तो तुम्हारी जान संकट में पड़ जायेगी ।"

फिलिप दवा बनाता हुआ साधारण वाणी में बोला-"मेरी आत्मा शुद्ध है, मैं उनके लिये अच्छी से अच्छी दवा तैयार कर रहा हूँ । मुझे पूरा विश्वास है कि वे मेरी दवा से शीघ्र ही अच्छे हो जायेंगे और यदि वे परमात्मा की इच्छी मेरी दवाई पीकर न भी रहे और मुझे उन्हें मार डालने की शंका पर प्राणदण्ड भी दे दिया गया तो भी मुझे कोई असन्तोष न होगा । मेरी आत्मा की पवित्रता मुझे स्वर्ग ले जायेगी और फिर बहुत से मनुष्य-मनुष्य की जान बचाने में, किसी का उपकार करने में स्पष्ट मौत आलिंगन कर लेते हैं, तो क्या मैं इस विश्वास के साथ उनकी मदद नहीं कर सकता, कि वे अवश्य बच जायेंगे, अप्रत्याशित मृत्यु के भय से मैं मानवीय कर्तव्य से क्यों विमुख हो जाऊँ?"

फिलिप के पास अनेक अपरिचित ऐसे भी आये जिन्होंने उसके जुल्म, शोषण तथा अत्याचार का चित्र दिखाते हुए उसे मनुष्यों का शत्रु और उसका दासकर्ता सिद्ध करने का प्रयत्न किया। किन्तु फिलिप पर इसका भी कोई प्रभाव न पड़ा और वह यह कहकर दवा बनाता रहा कि सिकन्दर इस समय केवल एक पीड़ित तथा असहाय मनुष्य है, न वह राजा है, न जालिम और न मुझको गुलाम बनाने वाला आततायी।

जिस समय फिलिप दवा बना रहा था उस समय सिकन्दर के पास एक अधिकारी का पत्र आया । सिकन्दर ने जैसे-तैसे पत्र खोलकर पढ़ा- उसमें लिखा था-आप फिलिप से सावधान रहें। फारस के राजा ने आपको विष पिला कर मार डालने का षड्यन्त्र किया है । इस कार्य के

लिए उसने, अपार धनराशि और अपनी बेटी का विवाह कर देने का लालच देकर फिलिप को नियुक्त किया है ।

सिकन्दर ने पत्र पढ़कर अपने तकिये के नीचे रख लिया । फिलिप दवा लेकर आया- सिकन्दर ने एक हाथ से प्याला लिया और दूसरे हाथ से वह पत्र निकाल कर फिलिप को दे दिया । उधर फिलिप ने पत्र पढ़ना शुरू किया । फिलिप ने जब उस पत्र से आँखें उठाकर कातर दृष्टि से सिकन्दर की ओर देखा तब तक वह प्याला खाली कर चुका था। दवा ने तीव्र प्रभाव किया, सिकन्दर अचेत हो गया । सरदारों ने मृत्यु-दृष्टि से फिलिप की ओर देखा और फिलिप अपनी आत्मा की सच्चाई पकड़े साहसपूर्वक खड़ा रहा । कुछ देर बाद सिकन्दर सचेत हुआ और उठ कर बैठ गया, उसकी सारी पीड़ा जा चुकी थी, वह बिल्कुल ठीक हो गया था ।

उसने उठकर फिलिप को गले लगाया और धन्यवाद दिया । किन्तु फिलिप आँसुओं से उसे तर करता हुआ बोला- स्वामी ! ऐसा पत्र पाकर भी आपने मुझ पर विश्वास कैसे कर लिया । सिकन्दर मुस्कराता हुआ बोला- प्यारे फिलिप ! मुझे आदमियों की बहुत कुछ पहचान है । मुझे पूरा विश्वास था कि तुम्हारा जैसा सज्जन व्यक्ति कभी विश्वासघात नहीं कर सकता और फिर यदि तुम वैसा करते भी तो भी मैंने संशयपूर्ण निकृष्ट मृत्यु मरने की अपेक्षा विश्वासपूर्ण मृत्यु मरना अच्छा समझा ।

सिकन्दर ने फिलिप को बहुत-सा पुरस्कार देना चाहा किन्तु फिलिप ने उसे न लेते हुये कहा- ऐसे अवसर पर आपने मुझ पर विश्वास करने की महानता तथा आदर दिया है, वह ही बहुत है मेरे स्वामी !

खाली हाथ जा रहा हूँ

विश्वविजय का स्वप्न देखने वाला अजेय योद्धा सिकन्दर एक साधारण से जन्तु मच्छर का सामना नहीं कर सका । बेबीलोन में जाकर उसकी मृत्यु मलेरिया से हुई । नित्य शराब पीने और रागरंग में मस्त रहने के कारण उसका शरीर इतना निर्बल हो चुका था कि मच्छर के काटने और मलेरिया के कीटाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाने के कारण उसका शरीर उन कीटाणुओं का भी प्रतिरोध नहीं कर सका ।

मृत्यु के समय उसके जीवन की एक-एक स्मृतियाँ उभरकर आने लगीं । अभी तीन वर्ष पूर्व मिली नैतिक पराजय वह भूला भी नहीं था जो उसे भारत की युद्ध यात्रा में मिली थी और वह भी गाँव की दो साधारण कन्याओं द्वारा पराजय का सारा दृश्य उसकी आँखों के सम्मुख घूम आया ।

उस समय वह भारत के परम प्रतापी राजा पुरु को परास्त कर चुका था और आगे बढ़ने की योजना बना रहा था । अगले दिन कूच कर देना था । भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमान्त के एक नगर के पास उसकी सेनाओं का डेरा था । सिकन्दर दिन भर की थकान मिटाने के लिए पास ही के एक गाँव में गया । साथ में कुछ थोड़े से अधिकारी भी थे । ऊँचे कन्धे, लम्बे कद और हृष्ट-पुष्ट शरीर के इस युवक को देखकर गाँववासी ठिठक आये । वे कोई जल्सा मना रहे थे । जल्सा रोक दिया गया ।

सिकन्दर ने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा कहलवाया-"जलसा रोकने की कोई जरूरत नहीं है । आप लोग उसी प्रकार खुशियाँ मनाइये । हमारे सम्राट सिकन्दर महान भी आपकी खुशियों में सम्मिलित होना चाहते हैं ।"

और जल्सा फिर चलने लगा। मधुर वाद्य यन्त्र ढोल और नगाड़ों का शोर तथा उनकी थाप पर पड़ने वाले ग्रामीण युवक-युवतियों के पाँव- सब इतने मन मोहक लगे कि सिकन्दर अपनी सुध-बुध खो बैठा । बीच में प्यास लगी तो सिकन्दर के लिए पानी लाया गया । उस समय तक रात भी गहराती जा रही थी और सिकन्दर के भोजन का समय भी हो चला था । सोचा गया यहीं भोजन भी कर लिया जाय । इसलिये सिकन्दर के लिए भोजन की माँग की गयी । खाना वहीं मँगवा लिया गया ।

थोड़ी देर बाद दो ग्रामीण युवतियाँ एक थाली को कीमती चादर से ढक कर लाईं और सिकन्दर के सामने खड़ी हुईं । भोजन की थाली चादर सहित सिकन्दर के सामने रख दी । चादर हटाकर ज्यों ही देखा तो सम्राट के क्रोध का पारावार न रहा। जी चाहता था कि इस प्रकार मजाक करने वाली इन युवतियों का सिर धड़ से अलग कर दिया जाय। परन्तु भारतीयों के प्रत्येक विचित्र व्यवहार में एक गम्भीर अर्थ खोजने वाले युवा सम्राट ने युवतियों से जो पास ही खड़ी थीं पूछा-"यह क्या हमने तो खाना मँगाया था और आप ये क्या ले आयीं ?"

एक युवती ने बड़ी निर्भीकता से उत्तर दिया- वही जो आप खाते हैं ।

"हम यह खाते हैं ?"

"हमने तो सुन रखा है मकदूनियाँ का सम्राट सिकन्दर महान सोने और चाँदी का भूखा है- उस थाली में सोने चाँदी के आभूषण थे- और यह भी कि वह अपनी इस भूख को मिटाने के लिए भारत आया हुआ है । सो आपकी सेवा में आपका भोजन ।"

इस कटाक्ष से सिकन्दर विक्षिप्त हो उठा ।

और आज जब अन्तिम घड़ी आ उपस्थित हुई हैं तो वह घटना रह-रहकर याद आ रही है । उसे याद आया कि वह अपने सैनिकों द्वारा जोर डालने पर ही भारत की जय यात्रा को बीच में रोककर वापस हो गया था । वह ही नहीं उसके सैनिक भी हिम्मत हार चुके थे । सिकन्दर ने यह आखिरी साँस जानकर अपने एक सेनापति को बुलाया और कहा- "देखो मित्र । जब मेरा अर्थी बनायी जाय तो मेरे दोनों हाथ अर्थी से बाहर निकाल देना ताकि दुनिया वाले यह जान सकें कि मैं कुछ नहीं ले जा रहा हूँ और उसके दोनों हाथ खाली थे ।"-इतना कहकर उसने दम तोड़ दिया ।

गुरु गरिमा

सिकन्दर और अरस्तू साथ-साथ जा रहे थे । रास्ते में नदी मिली । अरस्तू पहले पार जाना चाहते थे, पर सिकन्दर न माना और वही पहले उतरा, अरस्तू बाद में उतरे । पार जाने पर अरस्तू ने सिकन्दर से कहना न मानने का कारण पूछा । सिकन्दर ने जबाव दिया कि यदि सिकन्दर डूब जाता, तो अरस्तू ऐसे दस सिकन्दर बना सकते थे, पर अगर अरस्तू डूब जाते तो दस सिकन्दर मिलकर भी एक अरस्तू नहीं बना सकते थे ।

शोषण से संघर्ष को दायित्व मानने वाले—

अर्नेस्ट गोवेरा

"जिन हालातों में मैंने पूरे महाद्वीप की यात्रा की उनमें मैं गरीबी, भूख और बीमारी के बहुत निकट सम्पर्क में आया और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बीमार बच्चों को नीरोग नहीं किया जा सकता क्योंकि स्वस्थ रहने के लिए जो साधन आवश्यक हैं वे उन्हें प्राप्त होना तो दूर उनके दर्शन तक नहीं हो पाते । आधे पेट खाकर तन तोड़ मेहनत करने वाले लोग जो इन कारणों से रोगी हैं केवल डाक्टरों के दम पर जिन्दा नहीं रह सकते । इस कारण मैंने यह निश्चय किया कि मुझे महाद्वीप पर से भूख और बीमारी को दूर करने के लिए डाक्टरी शोध के स्थान पर कुछ और करना चाहिए । कुछ इस प्रकार का जो कि ऐसी शोध से अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावकारी सिद्ध हो सके "- ये शब्द हैं क्यूबाई क्रान्ति के एक नायक गोवेरा के जो उस समय चिकित्सा व्यवसाय को पेशे के रूप में नहीं सेवा के रूप में ही अपनाये हुए थे । ये तो उन्हें क्यूबा की जनता ने अपनी श्रद्धा और प्रेम के कारण कहकर सम्बोधित किया था । अन्यथा उनका वास्तविक नाम था अर्नेस्ट गोवेरा डी० लासरना ।

अमेरिका के दक्षिण में कैरिबीयन सागर का छोटा-सा द्वीप है- क्यूबा । इसकी खोज अब से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व कोलम्बस ने की थी और काफी समय तक यह स्पेन के आधीन रहा । बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यहाँ आजादी आयी । परन्तु यहाँ की जनसामान्य की दशा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया । शोषक और शोषित जनों के बीच की खाई ज्यों की त्यों ही बनी रही- इतना ही नहीं वह और भी बढ़ती गयी । अर्नेस्ट ने एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के देशों को तीसरी दुनिया का नाम दिया । जहाँ एक वर्ग के पास सब कुछ और दूसरे के पास कुछ नहीं । एक वर्ग के लोग गोरे थे और दूसरे के काले । एक मालिक था तो दूसरा गुलाम । दिन भर कड़ी मशक्कत करने के बावजूद शाम को चैन की नींद आ सके इतना भी भरपेट भोजन उन्हें नहीं मिल पाता था परिणामस्वरूप वे तरह-तरह के रोगों के शिकार बनते । गरीबों की सीमा रेखा से भी काफी नीच स्तर का जीवन गुजारते थे ।

और इस वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष का आह्वान किया अर्नेस्ट ने । न केवल आह्वान वरन् स्वयं भी सैनानी बनकर मैदान में उतरे और उस पूरी समाज व्यवस्था को बदल डाला जहाँ शोषण, अन्याय और अत्याचार को पोषण मिलता था, वह फलता-फूलता था । उनका यह संघर्ष किसी देश, जाति या सीमा की परिधि तक ही नहीं बँधा रहा वरन् उन्होंने अपना यह लक्ष्य ही बना लिया कि जहाँ-जहाँ भी अन्याय और शोषण हो रहा है वहाँ-वहाँ संघर्ष उन्हें पुकारता है । यही कारण है कि क्यूबाई क्रान्ति के नायक होते हुए भी उन्हें समूची तीसरी दुनिया में अर्धविकसित देशों के सैनिक के रूप में याद किया जाता है ।

अर्नेस्ट गोवेरा का जन्म १४ जून, १९२८ को अर्जेण्टीना के रोसरिया नगर में हुआ था । उनके पिता न तो सम्पन्न स्थिति के कह जा सकते थे और न ही एकदम दीन-हीन । फिर भी जीविकोपार्जन के लिए उन्हें कठोर परिश्रम करना पड़ता था । इसलिए पुत्र जन्म पर उन्हें इस आशा से बड़ी खुशी हुई कि उनकी सहायता के लिए दो हाथ और आये । आज न सही भविष्य में कभी भी तो बेटा सहारा बनेगा । अभी वे दो वर्ष के ही थे कि उन्हें अस्थमा जैसी भयंकर बीमारी का दौरा पड़ा और जैसा कहते हैं कि दमा दम के साथ ही जाता है यह रोग उनका अन्त तक साथी रहा । जीवन भर अस्थमा के मरीज रहते हुए अर्नेस्ट ने न केवल मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व किया वरन् उसमें सैनिक बनकर स्वयं भी लड़ते रहे - यह कैसे सम्भव हो सका लोगों को जानकर आश्चर्य होता है ।

वय सन्धि पार करने तक उनके जीवन में दो ऐसी घटनायें घटीं जिन्होंने अर्नेस्ट को डॉक्टर बनने के लिए प्रेरित किया । पहले उनकी दादी और फिर कुछ वर्षों बाद माँ का देहान्त एक ही रोग कैंसर से हुआ था और भी कई लोग इस बीमारी से मरते देखे थे पर दादी और मां को इस रोग के कारण मरता देख उनके मन में यह लगन उत्पन्न हुई कि वे डॉक्टर बनेंगे । सन् १९४६ में उनका परिवार 'आवस्त' आकर रहने लगा और वे डॉक्टरी पढ़ने लगे । उनकी समझ में तब तक यह बात आने लगी थी कि इस व्यापक रोग का कोई बड़ा कारण होना चाहिए और उस कारण को जानने के लिए उन्होंने दूर-दूर तक के गाँव छान मारे और वहाँ जाकर रहे, वहाँ के जन-जीवन का निकट रहकर अध्ययन किया । पूरे साल उनका यही क्रम रहता एक बार तो उन्होंने साइकिल पर सवार होकर पूरे अर्जेण्टीना को ही नाप डाला । फिर सोचा कि पूरे महाद्वीप का दौरा किया जाय अत: अपने एक साथी को लेकर निकल पड़े । मार्ग में खर्च के लिये तो कुछ रहता नहीं था । अत: तरह-तरह का काम कर, कभी होटलों में प्लेटें धोकर तो कभी कुलीगिरी कर अपना राह खर्च निकाला।

इसी यात्रा के दौरान उन्होंने एक कोढ़ियों की बस्ती में भी निवास किया और उनके दु:ख-दर्द का अध्ययन

किया। इस यात्रा से प्राप्त अनुभवों ने उन्हें गहन विचार मंथन में डाल दिया था। फिर भी वे यात्रा समाप्त कर जब लौटे तो डॉक्टरी पास करने के लिए दिन-रात एक कर जुट गये । सन् १९५३ में उन्होंने डॉक्टरी की परीक्षा पास की और कुछ समय तक प्रैक्टिस भी जारी रखी । परन्तु यात्रा अनुभवों ने उन्हें उस निष्कर्ष बिन्दु पर पहुँचा दिया जिसका उल्लेख आरम्भ में कर चुके हैं । वे उन मूल कारणों को दूर करने के लिए तो कृत संकल्प थे परन्तु अभी तक मार्ग नहीं मिल रहा था ।

मार्ग मिला उसी वर्ष डॉक्टरी छोड़ने के बाद बोलविया में असफल क्रान्ति हुई । यद्यपि यह विद्रोह असफल रहा परन्तु इसके कारण सरकार को अपने रवैये में काफी परिवर्तन करना पड़ा । क्रान्ति की असफलता के कारणों में तह तक पहुँचने के बाद अर्नेस्ट ने यह मत बनाया था कि देशवासियों के हृदय में गहराई तक क्रान्ति की विचारधारा जब तक न पहुँचायी जाय और जब तक उनका सहयोग न मिले तब तक क्रान्ति सफल नहीं हो सकती । बोलविया में असफल क्रान्ति होने के बाद वे उस देश में भी गये और वहाँ की परिस्थितियों का अध्ययन किया । उन्होंने यह आवश्यक समझा कि क्रान्ति फिर से होनी चाहिए और पिछली भूलों को नहीं दोहराया जाना चाहिए ।

और वे क्यूबा लौट आये । वहाँ उन्होंने क्रान्ति के लिये सर्वोत्तम मार्ग चुना गुरिल्ला युद्ध का और उन्होंने क्यूबा के वर्तमान प्रधानमन्त्री फिडिल कास्ट्रो के साथ मिलकर एक गुरिल्ला दस्ता गठित किया । इस दस्ते में अभी सौ से भी कम सैनिक थे और उसमें भी प्रशिक्षण का अभाव था । फिर भी कास्ट्रो तथा अर्नेस्ट ने आशा व हिम्मत नहीं हारी और अपना पहला धावा अल्जीरिया ही पालो पर बोला । लेकिन अनुभवहीनता और अपरिपक्वता के कारण यह हमला असफल रहा । यही नहीं विपक्षी सेनाओं के प्रत्याक्रमण में उनके तीन चौथाई से भी ज्यादा सैनिक मारे गये । किसी प्रकार वे तथा उनके कुछ अन्य वरिष्ठ साथी भाग निकले ।

अर्नेस्ट बचपन से ही अस्थमा के रोगी थे । अत: उन्हें दवायें सदैव साथ रखना पड़तीं । महीनों तक अपने साथियों के साथ पुन: गुरिल्ला दस्ता गठित करने के लिए उन्हें स्थान-स्थान पर भटकना पड़ा । समय पर न भोजन-पानी की व्यवस्था थी और न कहीं सोने बैठने का प्रबन्ध । अपने दस्ते को पुन: संगठित करने के लिए उन्होंने किसानों की मदद प्राप्त करना आरम्भ किया । उन्हें मदद मिली भी, जिसके बल पर उन्होंने क्रान्ति की चरमराती धुरी को मजबूत बनाया और गुरिल्ला दस्ता पुन: संगठित किया । युद्ध के दौरान इन लोगों ने अपरिपक्व अनुभवों के कारण कई गल्तियाँ कीं जिनका परिणाम विफलता के रूप में भोगना भी पड़ा परन्तु उन्होंने अपनी प्रत्येक गल्ती से सबक सीखा और उसे न दोहराने का प्रयत्न किया । साथ ही जनसामान्य को अपने साथ करने के लिए व्यावहारिक कदम भी उठाते रहे ।

उन्होंने अपने प्रत्येक सैनिक को सचेत कर दिया कि किसान, मजदूर और साधारण वर्ग के लोग ही नहीं शत्रु सेना के घायल सैनिकों और युद्धबन्दियों के साथ भी उन्हें मानवीय व्यवहार करना चाहिए । हमारी लड़ाई- अन्याय से है जनता से नहीं । इस नीति का अच्छा परिणाम हुआ और धीरे-धीरे युद्ध में विजय भी मिलती गयी । यों कहा जाता है कि गुरिल्ला युद्ध में गुरिल्ले जीतते नहीं हैं शत्रु सेना घिरती है । इस अर्थ में प्रतिपक्ष कमजोर पड़ने लगा।

अन्तत: क्यूबा में पुरानी व्यवस्था का तख्ता उलटा और क्रान्तिकारी सरकार बनी । उन्हें औद्योगिक विभाग का अध्यक्ष बनाया गया फिर चार वर्ष बाद वे उद्योग मन्त्री बने। इस पद पर रहते हुए उन्होंने क्यूबा के औद्योगिक विकास हेतु कई बड़े कदम उठाये । बाद में उन्हें राष्ट्रीय बैंक के संचालक पद पर भी नियुक्त किया गया जहाँ उन्होंने अपनी प्रतिभा का पूरा-पूरा लाभ जनता को दिया ।

परन्तु १९६५ में अर्नेस्ट गोवेरा ने सदा के लिए क्यूबा को छोड़ दिया । कारण था उनकी अन्तरात्मा की वह ध्वनि जो हर स्थान पर संघर्ष के लिए प्रेरित करती थी जहाँ कि अन्याय हो रहा है । समस्त लैटिन अमेरिका में क्रान्ति की आग फैलाने के लिए उन्होंने घुमक्कड़ गुरिल्ला योद्धा का जीवन स्वीकार किया । क्यूबा से विदा होते समय उन्होंने फिडिल कास्ट्रो- प्रधानमन्त्री से कहा-अब देश के नेतृत्व की जिम्मेदारी तुम पर है । दूसरे देश जहाँ कि अन्याय का कुचक्र चल रहा है मुझे संघर्ष के लिए- मदद के लिए पुकार रहे हैं । उस समय गोवेरा अधेड़ावस्था के करीब पहुँच चुके थे- पर इस अवस्था में भी उन्होंने अपने मुक्ति संघर्ष में सक्रिय योगदान को कितना महत्व दिया- अस्थमा के रोगी होते हुए भी यह उनकी ध्येय निष्ठा का ही परिचायक है । वहाँ से अर्नेस्ट फिर बोलविया चले गये और वहाँ लगभग एक साल तक काम करते रहने के बाद वे एक सैनिक टुकड़ी से मोर्चा लेते समय घायल हो गये और बन्दी बना लिये गये । उसी वर्ष उन्हें मृत्युदण्ड की सजा दे दी गयी और अर्नेस्ट गोवेरा शहादत को प्राप्त हुए ।

जीवन भर क्रान्ति के लिए संघर्षरत रहते हुए वे आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त रहे । परन्तु अभावों से उन्हें असन्तोष नहीं था वरन् उन्हें धन से- निजी सम्पत्ति से एक प्रकार की घृणा-सी थी । क्रान्तिकारी सरकार के महत्वपूर्ण पदों पर रहने के बाद वे चाहते तो अपने अभावों को मिटा सकते थे परन्तु उन्होंने अपनी आवश्यकतायें इतनी कम कर ली थीं कि धन उनके लिए कोई महत्वपूर्ण चीज नहीं रह गया था । उन्होंने मरने के बाद अपने पत्नी बच्चों के लिए भी कुछ नहीं छोड़ा और इस स्थिति में बड़ा गौरव अनुभव किया । क्यूबा छोड़कर जाते समय उन्होंने फिडिल कास्ट्रो को जो विदाई पत्र

लिखा उसमें यह भी था कि – मैंने अपनी पत्नी और चार बच्चों के लिए एक पैसा भी नहीं छोड़ा और इस बात से मुझे बड़ी खुशी और गर्व का अनुभव हो रहा है ।

समाजवाद की स्थापना उन्होंने न केवल अपने देश में की वरन् उसके आदर्शों को स्वयं भी आत्मसात कर लिया । सम्पत्ति पर सामाजिक अधिकार और उसका समान वितरण ही समाजवाद का आधारभूत सिद्धान्त है । अतः अर्नेस्ट गोवेरा ने इस आदर्श को अपने निजी जीवन में भी उतारा और धन के प्रति कभी आकर्षण अनुभव नहीं किया । अर्नेस्ट गोवेरा- जिन्हें लोग प्यार से चे गोवेरा कहते थे ने अपनी परम्परा के अनुयायियों के लिए संस्मरण और आवश्यक मार्ग निर्देशक साहित्य भी लिखा है। जिसका एक-एक शब्द अनुभूतियों के सागर से मोती की तरह निकला है । समाजवाद में ही सारी मनुष्य जाति का कल्याण देखने वाले चे गोवेरा तीसरी दुनिया के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम करते रहेंगे ।

प्रेम, कर्तव्य विमुखता नहीं सिखाता–

संयोगिता

पृथ्वीराज चौहान को सुन्दरी संयोगिता क्या मिली, वह सब कुछ भुलाकर उसी में लिप्त हो गये । न राज्य प्रबन्ध सूझता न राज्य की रक्षा करने की ही सुध थी । उन्होंने अपने आपको अपनी दुनिया को संयोगिता के विलास-कक्ष तक ही समेट लिया ।

दीपक जलाया तो प्रकाश के लिये जाता है, किन्तु गृहस्वामी की असावधानी तथा अविवेक से वही घर को जलाकर राख भी कर सकता है । नारी का स्नेह पुरुष के जीवन में सरसता भरता देता है । इस प्रकार प्रकृति ने जीवन पथ की अगणित कठिनाइयों को पार करने के लिये पुरुष तथा स्त्री को सहयोगी बनाकर भेजा है ताकि यह यात्रा दुरूह न हो जाय । यदि साथी को पाकर मंजिल ही भुला दी जाय, चलना ही छोड़ दिया जाय तो इससे बड़ी विडम्बना और क्या होगी ?

पृथ्वीराज ऐसी ही भूल-भूलैया में फँसे थे । विलास का अखण्ड दौर चल रहा था । कब सूर्योदय होता है ? कब सूर्यास्त होता और पुनः रात्रि आ जाती इसका भान ही नहीं था । देखते-देखते आँखें थक जातीं पर नव परिणीता पत्नी के सौन्दर्य से आँख नहीं हटती । स्पर्श सुख की प्यास ज्यों-ज्यों बुझाई जाती त्यों-त्यों अतृप्ति भी बढ़ती जाती । मरुभूमि में पानी के लिए तरसते हरिण को दिखाई देने वाली मृगतृष्णा की तरह-अग्नि में घृत डालकर बुझा पाने की मिथ्या धारणा की तरह वह कभी पूरी नहीं होती ।

मोहम्मद गौरी फिर भारत पर चढ़कर आ रहा था । कन्नौज के राजा जयचन्द ने उसे सहायता का वचन देकर निमन्त्रित किया था, इसी कारण उसका यह साहस हो सका था । नहीं तो वह अपने ही बलबूते पर आक्रमण करने वाला न था । अनेक बार हारने तथा प्राणों के लाले पड़ जाने की बात वह भूला न था ।

पृथ्वीराज के परम मित्र, राज कवि चन्द तथा मन्त्री गुरुराम उन्हें आक्रमण की सूचना देने आये तो परिचारिका ने राजा की आज्ञा बतादी– "वे किसी से नहीं मिल सकते ।" अति आवश्यक कार्य बताकर राजा से पुछवाया पर उत्तर वही मिला । एक बार, दो बार नहीं पूरे तीन बार उन्हें निराश होना पड़ा ।

चौथी बार तो कवि चन्द अड़ गये । अभी नहीं तो फिर राजा से कभी मिलना न हो सकेगा । उन्होंने अपना सन्देश लिखकर भेजा–"कग्गर अप्पहं राज कर, मुँह चप्पह इह बत्त। गौरी रत्तौ तुअ धरनी तुअ गौरी रस रत्त (यह काम करने के लिये पूरा जीवन पड़ा है । गौरी तुम्हारी मातृभूमि को ताक रहा है और तुम स्त्री के रस में डूब रहे हो ।)

कवि चन्द का सन्देश पढ़कर भी पृथ्वीराज को चेत नहीं आया । उसने कहलाया–"कह दो कवि चन्द ही लड़ ले।" इस कथन में पृथ्वीराज का अहंकार ही नहीं संयोगिता के प्रति गहन आसक्ति भी बोल रही थी । संयोगिता ने अपने पति की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा वह समझ न सकी कि वे अपने सखा राज कवि से मिलना क्यों नहीं चाहते । उसने पूछा– "क्या हुआ नाथ ?"

"कुछ नहीं गौरी ने हमारे देश पर आक्रमण किया है ।"

"तो फिर आप यहाँ क्या कर रहे हैं ?"

पृथ्वीराज उसे देखता ही रह गया । जो सच्चाई वह अपने जीवन के पैंतीस वर्षों में नहीं जान पाया था उसे संयोगिता ने सहज रूप में बता दी थी । भोग की कोई सीमा नहीं । यह तो सुरसा की तरह मुँह फैलाता ही रहता है । तेज मदिरा की तरह चेतना पर छाकर विवेक को कुण्ठित ही कर देता है। उन्हें पश्चाताप होने लगा । विदेशी आक्रमणकारी मेरी मातृभूमि पर चढ़ा आ रहा है, हमें पद दलित करने आ रहा है । मैं भी कितना मूर्ख हूँ कि नारी को इस रूप में देखता रहा जिसे वह कभी स्वीकार नहीं करती । संयोगिता के कथन ने एक क्षण में उसके उस रूप को उजागर कर दिया ।

पृथ्वीराज के लिए एक क्षण भी उस विलास कक्ष में रुकना कठिन हो गया । वह कर्तव्य पथ पर चल पड़े ।

नैपोलियन की निराशा

नैपोलियन को बड़ी मानसिक वेदना का सामना करना पड़ रहा था । उसे न साथी-मित्र की सराहना मिलती और न अपने से बड़ों का प्रेम । कहीं से प्रेरणा मिली कि वह कलम का उपयोग कर साहित्य की साधना करे ताकि अभीष्ट सफलता मिले और प्रसिद्धि भी ।

१७ वर्ष की आयु में उसने कलम पकड़ी । तब वह एक सैनिक स्कूल में पढ़ रहा था । वहाँ उसे दुःख भरा जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था । निदान अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरी करने के लिए पूर्ण साधना अध्ययन का आरम्भ किया । रूसो की दि सोशल काण्ट्रेक्ट और ऐब्बे रेनाल की एक रचना जिसमें सामाजिक समस्याओं का अध्ययन था, पढ़ डाली । दूसरी अन्य पुस्तकें भी पढ़ीं और निश्चय किया कि मैं भी देश की समस्याओं पर समाधानपरक कोई ग्रन्थ लिखूँ । इसी विचार से उसने लिखना आरम्भ किया । लिखा-काटा, फिर लिखा फिर काटा इसी प्रकार काफी समय और श्रम लगाकर उसने 'कार्सिका का इतिहास' नामक पुस्तक लिख डाली ।

किसी अच्छे लेखक से संशोधन करवाने के लिए नैपोलियन ने वह पुस्तक एब्बे रेनाल को भेजी । बिना पढ़े ही उसने यह नोट लगाकर वापस भेज दी कि दुबारा गहरी खोज कर पुस्तक फिर से लिखो ।

यह उत्तर पाकर नैपोलियन बड़ा झुँझलाया परन्तु फिर से वह दुबारा लिखने लगा । जब दुबारा मेहनत करने के बाद पुस्तक तैयार हुई तो नैपोलियन ने उसे फिर रेनाल के पास भेजा । रेनाल से पुनः वही निराशाजनक उत्तर मिला।

उसने इतिहास-लेखक का प्रयास ही छोड़ दिया और स्वतन्त्र लेखन करने लगा । सर्वप्रथम नैपोलियन ने प्रेम पर एक शोधपूर्ण निबन्ध लिखकर विद्वान लेखकों के पास भेजा तो वहाँ भी निराशा मिली ।

अगली बार आनन्द विषय पर कलम चलाई पर इसके लिए नवयुवक लेखक को डाँट ही मिली ।

उन्हीं दिनों एथेन्स की विद्वत परिषद् ने एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया । इस प्रतियोगिता में नई कलमों को भाग लेने के लिए प्रेरित किया गया था। निबन्ध पर डेढ़ हजार लिबरे का इनाम भी घोषित किया गया पर परीक्षकों ने इस टिप्पणी के साथ कि उसका निबन्ध इतना अव्यवस्थित है और इतनी बुरी तरह से लिखा गया है कि इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जा सकता ।

आठ वर्षों तक लगातार कलम घिसने के बाद भी नैपोलियन को अपना स्वप्न पूरा होता दिखाई नहीं दिया तो दूसरे क्षेत्र में अपनी किस्मत आजमाने का फैसला किया ।

नैपोलियन अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिये अन्य मार्ग तलाश रहा था । अन्ततः उसने रणक्षेत्र में अपनी प्रतिभा और सामर्थ्य को आजमाने का निश्चय किया और सेना में भर्ती होकर एक साधारण सैनिक के रूप में अपने महत्वाकांक्षी जीवन का आरम्भ किया । वहीं वह अपनी क्षमताओं, मानसिक गुणों और प्रतिभा को निखारने में लगा । बढ़ते-बढ़ते वह अपने देश का नहीं अन्य देशों का भाग्य विधाता भी बन गया ।

जब उसने कई प्रदेशों को जीत लिया तो एक अवसर पर कहने लगा कि बार-बार असफल होकर भी मैं ग्रन्थ-कार बनने का सपना देखता रहता तो सम्भवतः मैं कोई अदना-सा लेखक बन जाता पर शीघ्र ही मुझे अपने स्वरूप और उसकी क्षमता का परिचय मिला तथा मैं अब महान विश्वविजेता बन सका हूँ ।

अपनी क्षमताओं को पहचानने और उनका विकास करने के लिए भी व्यक्ति को गहरी सूझ-बूझ की आवश्यकता है । किसी भी क्षेत्र में असफलता पर असफलता मिलने से निराश होकर बैठ जाने की अपेक्षा बेहतर है अन्य क्षेत्रों में प्रयोग किये जायें ।

एक क्षेत्र में असफल होने पर दूसरे क्षेत्र में प्रवेश करके व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं को निश्चित रूप से पूरा कर लेते हैं तथा उल्लेखनीय सफलतायें अर्जित करते हैं ।

*****

बुद्धि, कर्म व साहस की धनी प्रतिभायें

बुद्धि, बल व साहस के धनी—
महाराणा राजसिंह

चारुमती ने यौवन की देहलीज पर पाँव रखा ही था, बचपना अभी छूटा न था, रूपनगर की यह राजकुमारी एक ऐसा ही बचपना कर बैठी । दिल्ली से एक चित्र बेचने वाली स्त्री आई थी । राजकुमारी ने उससे वीर हिन्दू राजाओं के चित्रों के साथ औरंगजेब का चित्र भी खरीदा और उसी के सामने फाड़कर फेंक दिया । उसकी सहेलियों ने उसे पाँवों तले रौंदा ।

चित्र बेचने वाली ने वे टुकड़े ले जाकर औरंगजेब को दिखाए साथ ही चारुमती के रूप का भी वर्णन कर दिया । उस रूपरस-लुब्ध-भ्रमर के मुँह में पानी भर आया । उसे क्या पता था कि इसी चारुमती के आगे उसकी शाहजादी और बेगम को बंदी बनकर जाना पड़ेगा । उसने रूपनगर के राजा को इस आशय का संदेश भेज दिया कि राजकुमारी चारुमती का विवाह उसके साथ कर दें अन्यथा रूपनगर की ईंट से ईंट बजाकर रख दी जायगी ।

चारुमती ने जब उसका यह संदेश सुना तो बड़ी चिंतित हुई । यह चिंता अधिक समय उसे घुलाती न रह सकी, उसने अपना निर्णय कर लिया कि राजपूत राजाओं में यदि कोई उसकी रक्षा करने में समर्थ हो तो वह उसे पति रूप में वरण कर लेगी अन्यथा विषपान करके प्राण त्याग देगी किन्तु अन्याय के सामने सिर नहीं झुकाएगी । सच है जिसे मृत्यु से भय नहीं उसे अन्यायी झुका नहीं सकता चाहे वह कितना ही सामर्थ्यवान क्यों न हो ।

रूपनगर के राजा विक्रम बड़े सोच में पड़ गए । वे सम्राट से लड़ने में समर्थ नहीं थे तथा मरने से भय खाते थे । उन्होंने हिन्दू राजाओं के पास इस आशय से दूत भेजे कि वे राजकुमारी से विवाह कर लें । केवल मेवाड़ के राणा राजसिंह के पास संदेश नहीं भेजा क्योंकि उनसे पुरानी शत्रुता थी । वाह रे संकुचित हिन्दू हृदय । जिसे विधर्मी के अन्याय के सामने घुटने टेक देने की लज्जाजनक स्थिति स्वीकार है पर अपने ही जाति तथा धर्म के किसी व्यक्ति के साथ समझौता करना स्वीकार नहीं ।

राजा लोग सभी अपने क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर अपने आपको सामर्थ्यहीन, हीन-वीर्य बना चुके थे । औरंगजेब से शत्रुता लेने का उनमें साहस नहीं था । वे इस विषय में अपनी अस्वीकृति देते गये । विक्रम सिंह ने आत्म-रक्षार्थ बेटी का बलिदान स्वीकार कर लिया उसने औरंगजेब का आदेश स्वीकार कर लिया ।

चारुमती ने फिर भी साहस नहीं छोड़ा । उसने विचार किया तो उसे एक राह सूझ गई । तत्कालीन हिन्दू राजाओं में एक राजा उसे ऐसा दिखाई दिया जो उसकी रक्षा करके धर्म और स्त्री-गौरव की रक्षा कर सकते थे । वह थे मेवाड़ के राणा राजसिंह । उसने उन्हें एक पत्र लिखा जिसमें अपने ऊपर आने वाले संकट का वर्णन था और उनसे अपने उद्धार करने की प्रार्थना की गई थी । उसने अपने पिता की तरह संकीर्ण बुद्धि नहीं रखी । पत्र अपने विश्वस्त राज पुरोहित के हाथ उदयपुर भिजवा दिया ।

राणा राजसिंह ने जब पत्र पढ़ा तो वे चारुमती को उस नर-पशु की वासना का शिकार होने से बचाने के लिये सहमत हो गये ।

उन्होंने अपने सरदारों को बुलाया । उनसे मंत्रणा की । सभी सरदार सहमत थे कि राजकुमारी की रक्षा करना हमारा धर्म है । मेवाड़ भी यदि मर्यादा की रक्षा नहीं करेगा तो और कौन करेगा । महाराणा अपने इन सरदारों पर बड़े प्रसन्न हुए । उनका मस्तक गर्व से ऊँचा उठ गया, साहस द्विगुणित हो गया । न सही मेरे पास विशाल सेना, न सही मेरे पास गोला-बारूद, न सही मेरे पास तोपें और बंदूकें । मेरे सरदार जो मेवाड़ की आन व निर्बलों की रक्षा के लिए प्राण हथेली पर लेकर जूझते हैं ये इन जड़ वस्तुओं से कम नहीं हैं । सत्य का सहारा क्या मेरे लिए कम है । जब तक जी सकते हैं शान से जीयें, मनुष्य की गौरव गरिमा से जियें, अन्याय से संघर्ष करके जीयें और संघर्ष करते हुए वीर की मृत्यु मरें । अन्यायी कितना ही बड़ा और शक्तिवान क्यों न हो ईश्वर उसके साथ नहीं होता अतः उसे हारना ही पड़ता है ।

अपनी सैन्य-शक्ति तथा सम्पदा का औरंगजेब को गर्व था । इसके बल पर उसने कई राजाओं से अपनी गलत इच्छायें भी पूरी करा ली थीं । वह समझता था कि सौ गाँवों का एक छोटा-सा रूपनगर राज्य भला उसकी विशाल वाहिनी के आगे क्या टिकेगा । विक्रम सिंह ने जब अपनी बेटी उसे ब्याहना स्वीकार कर लिया तो वह फूला न समाया । उसे क्या पता था कि अन्याय तभी तक फूलता-फलता है जब तक उससे संघर्ष, विरोध करने कोई खड़ा नहीं होता ? पर जब छोटा सा संगठन भी सम्पूर्ण मनोयोग व तन, मन और धन से इसके विरोध में खड़ा हो जाता है तो अन्याय चल नहीं सकता ।

उसने अपनी विशाल सेना मुबारक बेग के सेनापतित्व में रूपनगर भेज दी । राणा राजसिंह भी सतर्क थे । उन्होंने ऐसी योजना बनाई की साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे । मेवाड़ को धन जन की हानि भी न हो और राजकुमारी की रक्षा भी हो जाय । वे राजस्थान के चप्पे-चप्पे से परिचित थे । दिल्ली से रूपनगर आने का एक ही मार्ग था । उस मार्ग पर एक सँकरे स्थान पर अपनी सेना की एक छोटी सी टुकड़ी चुन्डावत सरदार की कमान में

वहाँ औरंगजेब की सेना को रोकने के लिए भेज दी । स्वयं ५० सैनिक साथ ले वेष बदलकर रूपनगर जा पहुँचे तथा युक्ति से चारुमती की डोली उदयपुर लेकर चले आये ।

उदयपुर आकर राजसिंह ने चारुमती से कहा "आप जो चाहे जब तक हमारे संरक्षण में रहें, हमारे जीवित रहते औरंगजेब आपकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देख सकता ।" चारुमती मन में उन्हें अपना पति स्वीकार कर चुकी थी उसने उन्हें अपना मन्तव्य बता दिया । इस पर राणा ने कहा "हमारे विवाह का आदर्श काम तृप्ति नहीं है । आप स्वेच्छा से मेवाड़ की महारानी बनना चाहती हैं तो आपका स्वागत है । आप पर हमने किसी प्रकार का अहसान नहीं किया, यह तो हमारा धर्म था ।"

राजकुमारी चारुमती के मन मंदिर में राजसिंह की मूर्ति देवता की भाँति स्थापित हो चुकी थी । ऐसे नर केसरी सा पति उसे अन्यत्र कहाँ मिल सकता था ? उसने मेवाड़ की महारानी बनना स्वीकार कर लिया ।

औरंगजेब को जब अपनी सेना की असफलता का समाचार मिला तो वह आपे से बाहर हो गया । उसने मेवाड़ को समूल नष्ट कर देने की ठान ली । अपनी सेना के चार भाग करके मेवाड़ को चारों ओर से घेरने के लिए वह स्वयं दिल्ली से चल पड़ा ।

राजसिंह को इसकी आशंका पहले से ही थी । उसके स्वागत की तैयारी वे पहले से किये बैठे थे । प्रकृति ने उन्हें पहले ही वरदान दे रखा था । मेवाड़ राज्य के चारों ओर पर्वत श्रेणियों का परकोटा खिंचा था जिसमें आगे केवल चार मार्ग थे । ये चारों सँकरे दर्रे थे । उन पर रण-बाँकुरे जवानों और मातृभूमि के लिए प्राण न्योछावर करने वाले तीर कमानधारी आदिवासी भीलों के द्वारा मोर्चाबंदी कर ली गई ।

मुगल सेना को दर्रे में प्रवेश करने देकर दोनों तरफ से दर्रे के मुँह बड़े-बड़े पत्थरों से बन्द कर दिये और ऊपर से पत्थरों की वर्षा की गई सो आधी सेना तो खत्म हो गई शेष में से बहुत सारे भीलों के तीर व राजपूतों की तलवार से मौत के घाट उतर गये इस युद्ध में औरंगजेब भी बुरी तरह घायल हुआ । सारी मुगल सेना तितर-बितर होकर भाग खड़ी हुई ।

किसी प्रकार गिरते-पड़ते औरंगजेब अपनी सीमा में आ सका । इतनी बुरी हार की कल्पना भी उसने नहीं की थी ।

राजसिंह जानते थे कि औरंगजेब फिर आक्रमण करेगा जिससे इसकी तैयारी उन्होंने पहले ही करली थी । उन्होंने अब की बार पहले वाली युद्ध-नीति नहीं अपनाई । उससे औरंगजेब परिचित हो चुका था ।

दिल्ली जाकर औरंगजेब ने फिर सेना का संगठन किया और स्वयं अपने परिवार सहित और खजाने सहित उसके साथ चल पड़ा । विलासी और असंयमी पुरुष चाहे कितनी ही सम्पदा और शक्ति का धनी हो पर संयम का बल उसके पास नहीं होता, जो व्यक्ति अपनी बेगम से कुछ महीने भी दूर न रह सके, युद्ध क्षेत्र में भी जिसे विलास की तलब लगी रहे भला वह राजसिंह जैसे संयमी व चरित्रवान पुरुष से क्या जीत सकता था ।

ज्यों ही देवारी की सँकरी राह से वह विशाल वाहिनी गुजरी किसी ने प्रतिरोध नहीं किया । औरंगजेब हैरान हो गया । मेवाड़ सारा वीरान पड़ा था । न किसी खेत में फसल न गाँव में मनुष्य । उदयपुर सूना पड़ा था महल भी सूने पड़े थे । क्या हुआ ? सब कहाँ गये ? किससे लड़े । उसका क्रोध निर्जीव मन्दिरों व मूर्तियों पर उतरा ।

वह वापस लौट पड़ा देवारी की संकरी राह से सारी सेना बाहर निकल गई, पीछे रह गई रसद और बेगमों की पालकियाँ । वहीं छिपे हुये महाराणा की सेना ने उन पर अधिकार कर लिया और उदयपुर लेकर चले गये । औरंगजेब चूहेदानी में फँस चुका था न खाने को रसद और न पीने को पानी ही उजाड़ वन में था । शेष सेना बाहर निकल चुकी थी और उसे घाटी में फँसाकर दोनों तरफ से बन्द कर दिया गया था ।

सैनिक भूखों मरने लगे । पर्वत पर भील तीर कमान लिये खड़े थे । मेवाड़ के द्वार पर रणबाँकुरे राजपूत दीवार बन कर अड़े थे । औरंगजेब इतना निराश हो गया कि वह अपमानजनक संधि करने पर विवश हो गया । उसने कभी मेवाड़ पर आक्रमण न करने का वचन दिया ।

बेगम व जेबुन्निसा शहजादी को उदयपुर में वन्दिनी के रूप में कई दिनों तक रहना पड़ा । संधि की यह भी शर्त थी कि औरंगजेब के दिल्ली पहुँचने पर ही उन्हें भेजा जाएगा । उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार नहीं किया गया -सम्मान सहित रखा गया ।

औरंगजेब ने तीसरी बार भी मेवाड़ पर आक्रमण किया पर इस बार भी उसे असफल होना पड़ा । वह शिवाजी व राजसिंह से इतना परेशान हो चुका था कि उसका जीना कठिन हो गया था । उसकी सारी जिन्दगी इसी में बीत गई । सत्य है जो व्यक्ति दूसरों को दुःख देना ही चाहता हो वह स्वयं सुखी कैसे हो सकता है ?

महाराणा राजसिंह सदा-सर्वदा सत्य-पथ के पथिकों को, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वालों को प्रेरणा, प्रकाश देते रहेंगे । अन्याय का प्रतिकार करने के लिये थोड़े ही सही संघबद्ध रूप से प्रतिकार होते रहेंगे तथा धर्म की पुनर्स्थापना ऐसे ही साहसी योद्धा अपने बुद्धि-बल से करते रहेंगे ।

लुटेरे गजनवी का मानमर्दन करने वाले राजा संग्राम राज

विभूतियों के स्वामी की चित्त-वृत्तियाँ कुमार्ग पर चल पड़ीं तो सर्वनाश उपस्थित हो गया । वह स्वयं न जीवन भर चैन से सोया न करोड़ों को उसने चैन की नींद सोने दिया । उसने भौतिक सम्पदा से सुख पाना चाहा । ज्यों-ज्यों धन मिलता गया त्यों-त्यों उसकी भूख बढ़ती गई । उसका

दीन-ईमान केवल पैसा रह गया, पैसे के भूखे हजारों नर पशुओं की विशाल वाहिनी सजा कर वह एशिया भर में लूट मचाने लगा । जिधर उसका रुख फिर जाता उधर कितने ही गाँव श्मशान बन जाते, जीवन-मृत्यु में और मुस्कान आँसू में बदल जाती ।

गजनी का यह दुर्दान्त दैत्य-लुटेरा महमूद गजनवी सत्रह बार भारत में लूट-मार करने आया । कई बार वह अकूत धन सम्पदा लूटकर ले गया । उसकी इस सफलता का अर्थ यह नहीं था कि भारत में सभी मिट्टी के पुतले ही रहते थे । वीरता तथा बुद्धि कौशल में भारतीय नरेश उससे कम नहीं थे न कायर ही थे । ऐसे नर-रत्नों की कमी नहीं थी जिन्होंने उसके एक बार नहीं तीन बार दाँत खट्टे किये थे । उसे पराजय का मुँह ही नहीं देखना पड़ा वरन् जान बचाकर भागना पड़ा था । ऐसे ही पराक्रमी राजाओं में काश्मीर के राजा संग्राम राज का नाम अग्रणी है ।

राजा क्षेमगुप्त की मृत्यु के पश्चात् काश्मीर राज्य के सिंहासन पर रानी दिद्दा बैठी । रानी वीरता, शौर्य, प्रबन्ध कौशल, धैर्य जैसे अनेक गुणों की स्वामिनी थी । उसने आजीवन काश्मीर के शासन को सुव्यवस्थित रूप से चलाया । मनुष्य में हजार गुणों के साथ एक अवगुण हो तो वह सब पर पानी फेर देता है । उसकी कीर्ति कलंक उस कालिमा से धूमिल हो जाती है । रानी दिद्दा का चरित्र शिथिल था । कामुकता के घृणित दोष के कारण वह निंदा की पात्र ही नहीं बनी वरन् वह ऐसे दुष्कर्म भी कर बैठी जो माँ होकर कोई नहीं कर सकती । वह पतन के मार्ग पर चलकर इतनी नीचे गिरी कि उसने अपने पुत्रों तथा पौत्रों का वध करवा दिया ।

चार दिन की जवानी के बाद बुढ़ापा आया । मृग तृष्णा की तरह मन की हविस तो ज्यों की त्यों थी । भला आग में घी डालने से कभी वह बुझी है ? संयमहीन जीवन कभी सुख का हेतु नहीं होता । उसने अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन किया तो उसके पापों के पहाड़ के नीचे अपनी आत्मा को सिसकते पाया । अपनी भूलों पर वह फूट-फूट कर रोयी । अब क्या हो सकता था । उत्तराधिकारी के लिए उसे अपने भाई उदयराज के आगे झोली फैलानी पड़ी ।

राजा उदयराज के कई पुत्र थे । उनमें से एक को उसे अपना उत्तराधिकारी चुनना था । सब राजकुमारों को उसने अपने यहाँ बुलाया तथा उनकी परीक्षा ली । एक सेवों से भरा टोकरा उसने उन राजकुमारों के बीच रखा तथा कहा कि जो सबसे अधिक सेव लेकर उसके पास आयेगा उसी को वह अपना उत्तराधिकारी चुनेगी । शेष सब राजकुमार अधिक सेव लेने के लिये लड़ने लगे । संग्राम राज चुप-चाप खड़ा रहा । वे लड़ने में व्यस्त थे कि मौका देखकर वह सबसे ज्यादा सेव उठाकर रानी के पास जा पहुँचा ।

संग्राम राज युवराज घोषित किया गया । युवराज बन जाना एक बात थी और उसकी पात्रता उत्पन्न करना दूसरी बात । संग्राम राज ने एक योग्य राजा की पात्रता विकसित करना आरम्भ कर दिया । वह युद्ध कला, शासन -प्रबन्ध, नीतिशास्त्र, धर्म शास्त्र आदि विद्याओं में पारंगत हो गया ।

१००३ में रानी दिद्दा की मृत्यु हो गयी । संग्राम राज सिंहासनारूढ़ हुए । काश्मीर राज्य की स्थिति उस समय अत्यन्त जर्जर हो चली थी । प्रजा की श्रद्धा रानी की चरित्रहीनता के कारण शिथिल हो चुकी थी । सेनापति तुंग योग्य, साहसी तथा प्रचण्ड योद्धा था । परन्तु उसे स्वयं पर बड़ा गर्व था साथ ही वह भी रानी दिद्दा की तरह ही शिथिल चरित्र कामुक था । इसके विरुद्ध प्रजा में असंतोष उमड़ रहा था ।

इन्हीं दिनों गजनी के लुटेरे दैत्य महमूद गजनवी के आक्रमण होने आरम्भ हो गये थे । वह दो बार पंजाब को पदाक्रांत कर चुका था । राजा जयपाल अपनी हार से इतना दुखित हुआ कि उसने आत्म-हत्या कर ली । महमूद के आक्रमण का काश्मीर राज्य को भी भय था । सारा उत्तर भारत संगठन के अभाव में भयाक्रांत हो रहा था जिसकी लहर काश्मीर तक पहुँच चुकी थी ।

इन विकट परिस्थितियों में राज सिंहासन काँटों की सेज बना हुआ था । इस काँटों की सेज को संग्राम राज ने स्वीकार किया । उसने धीरज से काम लिया । राज्य में शांति बनाये रखने के लिये उसने प्रजा के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलाकर उनसे मंत्रणा की । वे तुंग को सेनापति पद से हटाना चाहते थे । राजा संग्राम राज अपनी बुआ को वचन दे चुका था कि वह तुङ्ग का कोई अनिष्ट नहीं होने देगा पर प्रजा के सच्चे आग्रह को उसने स्वीकार कर के तुङ्ग को सेनापति के पद से हटा दिया । उसने वचन नहीं विवेक का ध्यान रखा तथा प्रजा को सुशासन दिया ।

प्रजा पर उन दिनों ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व था । ब्राह्मण के हाथों में होना आवश्यक भी है किन्तु जब जाति का आधार कर्म न रहकर जन्म मान लिया तब समाज में विशृंखलता आना प्रारम्भ हो गया । ये तथाकथित ब्राह्मण संग्राम राज के लिये सिर दर्द बन गये । उन्होंने पदच्युत सेनापति तुङ्ग के महल में एक ब्राह्मण का दाह-कर्म करने का प्रपंच रचा । राज कलश इन सिरफिरों का नेता था । उसने यह निर्णय दिया । मृतक तुङ्ग के अत्याचारों से मरा है अत: उसे उसके महल में ही जलाया जायेगा । जनता इन तथाकथित धर्म के ठेकेदारों से आतंकित थी । संग्राम राज ने देखा कि पानी अब सिर से ऊपर चढ़ आया है । प्रजा उसके पक्ष में थी । उसने इन प्रपंच रचने वालों को पकड़ कर यह कुकृत्य बन्द कराया ।

१००९ में महमूद फिर पंजाब पर चढ़ आया था । राजा अनङ्गपाल ने उसका मुकाबला किया तथा उसे पीछे हटने को विवश कर दिया । अनङ्गपाल की विजय निश्चित थी पर उसका हाथी बिगड़ गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वह हार गया । महमूद ने जी भर कर लूट मचाई, गाँव जलाये, मंदिर तोड़े ।

यह खबर जब काश्मीर पहुँची तो संग्राम राज बहुत दु:खी हुए। उन्होंने संकल्प लिया कि अब जब भी वह पंजाब पर आक्रमण करेगा काश्मीर उसकी जी-जान से सहायता करेगा। राज्य में आंतरिक विग्रह नहीं उठ खड़े होते तो वह भारत के सब राजाओं को एक सूत्र में पिरो कर अपने राष्ट्र के धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिये एक सुदृढ़ दीवार खड़ी करता। उन्होंने अन्य राजाओं के पास अपने दूत भी भेजे। उन दूतों ने उन्हें यही संदेश दिया कि व्यक्तिगत मिथ्याभिमान से ऊपर उठकर हम संगठित होकर ही इस प्रकार के आक्रमणकारियों को सबक सिखा सकते हैं।

शासन सूत्र ग्रहण करते ही संग्राम राज ने अपनी सेना को सुव्यवस्थित किया, दुर्गों की मरम्मत करवाई तथा सेना वृद्धि की। नियमित अभ्यास प्रशिक्षण की व्यवस्था बनाई।

उनका विश्वास था कि मनुष्य में सद्मार्ग पर चलने की स्वाभाविक इच्छा होती है। यदि इस प्रवृति को निरन्तर पुष्ट किया जाता रहे तो मनुष्य ऊँचाइयों के शिखर पर चढ़ता जाता है। इसमें ढिलाई बरतने पर बिना माँजे बर्तन की तरह वह मैला भले ही हो जाय पर उसकी वह वृत्ति मरती नहीं है। इस विश्वास के कारण ही वह सेनापति तुङ्ग तथा महारानी दिद्दा को अपने अनुकूल चला सका था। तुङ्ग को अपदस्थ करने पर भी उसके प्रति संग्राम राज के व्यवहार तथा आत्मीयता में कोई कमी नहीं आयी तथा तुङ्ग उसका विरोधी नहीं बना।

१०१४ में महमूद गजनवी फिर पंजाब पर चढ़ आया। उस समय अनङ्गपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल वहाँ का शासक था। संग्राम राज ने तुङ्ग के नेतृत्व में एक विशाल सेना उसकी सहायता के लिये भिजवा दी। दोनों सम्मिलित सेनाएँ जब उस लुटेरे से भिड़ीं तो उसे छटी का दूध याद आ गया। वह इन वीरों का मुकाबला नहीं कर पाया। महमूद के पाँव उखड़ गये।

लुटेरे की न कोई नीति होती है न कोई मर्यादा। वह कुछ समय के लिये पीछे हट गया, काश्मीर की सेना के लौटते ही असावधान त्रिलोचनपाल पर चढ़ बैठा। जिसका परिणाम यह हुआ कि त्रिलोचनपाल हारा और उसे काश्मीर में संग्राम राज के संरक्षण में आना पड़ा।

गजनवी काश्मीर पर पहले ही दाँत पीस रहा था। वह चोट खाये साँप की तरह भयानक हो उठा था। वह तोपी नदी को पार करके काश्मीर की ओर बढ़ा। उसे क्या पता था कि वहाँ संग्राम राज उसकी प्रतीक्षा में ही बैठा है। अब तक उसका शूरवीरों से तो पाला पड़ा था पर एक चरित्र-बल सम्पन्न विवेकवान शूरमा से भिड़ने का यह प्रथम अवसर था।

एक समय इसी पथ से चीनी यात्री ह्वेनसाँग भारत आया था। ह्वेनसाँग आत्मा की प्यास, ज्ञान की भूख से प्रेरित होकर आया था। भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा आत्म-विज्ञान को पाकर वह धन्य हो गया। अमीर कहलाने वाला यह डाकू धन की प्यास लेकर आया और जीवन भर अतृप्ति की आग में झुलसता रहा। अन्त समय उसे अपनी भूल ज्ञात हुई तथा उसने उसे स्वीकार किया। अपने खाली हाथ उसने जनाजे के बाहर रखवाए ताकि ऐसी भूल फिर कोई न करे।

संग्राम राज तथा त्रिलोचन पाल दोनों अपनी सेना सहित लोहर के दुर्ग में पहुँच गये तथा मोर्चेबन्दी कर ली। लोहर का अजेय दुर्ग सामरिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण था। यही नाका था जहाँ से काश्मीर में प्रवेश होता था। इस दर्रे को पार करके पुँछ घाटी में प्रवेश किया जाता था।

ज्यों ही गजनवी की विशाल लुटेरों की भीड़-बहुत बड़ी सेना किले के पास आयी। भारतीय वीरों के बाणों की भीषण वर्षा ने उसका रास्ता रोक दिया गया। दो महीने तक यह सेना आगे न बढ़ सकी। फिर ठंड का मौसम आ गया। काश्मीर की घाटियाँ बर्फ से जम गयीं और गजनवी चूहेदानी में फँस गया।

उसे भूखे-प्यासे आधी से अधिक सेना गँवाकर वापस लौटना पड़ा। लौटते तुर्कों पर भारतीय सिंह झपट पड़े और उन्हें पीर पंजाल तक खदेड़ आये, जहाँ मृत्यु उनके लिए आँखें बिछाए बैठी थी। बड़ी कठिनाई से गजनवी अपना सा मुँह लेकर खाली झोली अपनी राजधानी को लौट सका।

गजनी जाकर फिर उसने लुटेरों की एक सेना इकट्ठी की। सोने की चिड़िया भारतवर्ष आकर लूटने के लिए भूखे नंगे बर्बरों की कमी क्या थी फिर १०२१ में वह काश्मीर पर चढ़ आया। इस बार इसने पूरी तैयारी के साथ काश्मीर पर आक्रमण किया। उसकी राह वही पुरानी राह थी। कोपा पार करके फिर लोहर दुर्ग को जीतने के सपने सजाये वह आ पहुँचा। इस बार भी उसे हार खानी पड़ी तथा खाली हाथ अपनी सेना गँवाकर भाग खड़ा होना पड़ा। इस बार घेरा पूरे सात महीने तक चला। फिर ठंड और भूख ने गजनवी की तीन चौथाई सेना को लील लिया।

यही नहीं संग्राम राज अन्य अरबों के आक्रमणों के समय भी चट्टान बनकर भारत की सीमा पर अड़ा रहा। अपने देश, धर्म व संस्कृति की रक्षा के लिये उसने अपना पूरा जीवन अर्पित कर दिया। इस प्रकार के व्यापक प्रयत्न यदि अत्याचारी, लुटेरों तथा अन्यायियों के विरुद्ध होते रहें तो वे कभी सिर उठाने का साहस नहीं कर सकते। राजा संग्राम राज ने ठेठ सिन्धु में जाकर अरबों के विरुद्ध युद्ध किया तथा उन्हें वापस खदेड़ा।

इतिहास साक्षी है कि कुमार्ग पर चलने वाले महमूद की सफलता का कारण उसकी शक्ति नहीं थी उसकी सफलता के कारण थे भारतीय राजाओं की आपसी फूट तथा उनका अहंकार। संग्राम राज के आवाज देने पर कोई साथी नहीं आये। इससे वह निराश नहीं हुआ। अकेले ही लड़ा। लड़ा ही नहीं उसे तीन बार पराजित करके खदेड़ा। आदर्शों के पथ पर कर्तव्य तथा लोकमंगल व राष्ट्र की रक्षार्थ अकेले भी उनकी तरह लड़ा जा सकता है तथा विजय पायी जा सकती है।

स्वातन्त्र्य सेनानी--
नाना साहब पेशवा

१८२९ पेंशन प्राप्त पेशवा बाजीराव ने अपनी वसीयत लिखी । इस वसीयत के अनुसार पेशवा की पेंशन तथा सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकार उनके दत्तक पुत्र नाना साहब को मिलने वाला था । उस समय तो अँग्रेज अधिकारियों ने इस वसीयत का विरोध नहीं किया । १८५२ में पेशवा की मृत्यु हो गई तब अँग्रेजों ने इस वसीयत को अमान्य ठहराया ।

नाना साहब गरीब माता-पिता की संतान थे । उन्हें अँग्रेजों की पेंशन का लोभ नहीं था किन्तु अँग्रेजों की यह अनीति उन्हें अच्छी नहीं लगी । स्वार्थ के लिये नहीं अन्याय के प्रतिकार को अनिवार्य समझकर वे अपना यह अधिकार पाने का प्रयास करने लगे । १८१७ में लार्ड हेस्टिंग्स तथा पेशवा बाजीराव की जो संधि हुई थी उसकी शर्त थी कि पेशवा के राज्य का प्रबन्ध अँग्रेज सम्हालेंगे तथा पेशवा तथा उसके उत्तराधिकारी को ८ लाख रुपये पेंशन के रूप में देते रहेंगे । इस शर्त के अनुसार नाना साहब को पेंशन पाने का पूरा अधिकार था ।

अँग्रेज पदाधिकारियों से पेशवा नाना साहब ने अपने अधिकारों की माँग की । कम्पनी ने उनकी इस माँग को ठुकरा दिया । अँग्रेजों ने इसी प्रकार अधिकांश भारतीय राजाओं को धोखा देकर उनके पास से राज्याधिकार छीन कर उन्हें पंगु बना दिया था । इस प्रकार के विश्वासघाती को दण्ड देने के लिए नाना साहब कृत संकल्प हो गये । अँग्रेजों के पास हुकूमत थी, बड़ी सेना थी, उनके सहायक भी बहुत थे उनके सामने नाना साहब की कुछ भी स्थिति नहीं थी । वह कानपुर के पास बिठूर में रहते थे । उनके पास केवल पाँच हजार सैनिक थे । इतनी बड़ी ताकत से टकराना अपने विनाश को बुलाना था । नाना साहब को विनाश का भय नहीं था । अन्याय का प्रतिकार मानव मात्र का धर्म होता है, इस धर्म से विमुख होकर जीना-क्या जीना है वह तो मृत्यु से भी बदतर जीवन है ।

नाना साहब ने अँग्रेजों से लड़ने की ठान ली । उन्हें आशा नहीं थी कि उन्हें बिना लड़े न्याय मिल जायेगा फिर भी वे समझौते का प्रयास करते रहे । अपने प्रतिनिधि अजीमुल्ला को उन्होंने इंग्लैण्ड भेजा । इंग्लैण्ड जाकर अजीमुल्ला ने सम्राट की अदालत में कम्पनी के इस अन्यायपूर्ण निर्णय के विरुद्ध अपील की । यह अपील खारिज हो गई तथा कम्पनी के अधिकारियों का निर्णय ही मान्य रहा । नाना साहब ने अँग्रेज पदाधिकारियों से भी व्यक्तिगत प्रयासों के माध्यम से अपना निर्णय बदलवाने का प्रयास किया पर अँग्रेज नहीं माने ।

अजीमुल्ला इंग्लैण्ड से असफल होकर लौटा । नाना-साहब ने उससे कहा कि "मुझे यही आशा थी कि यह अपील मंजूर नहीं होगी ।" अँग्रेज समझते हैं कि भारत के सभी राजा पंगु हो चुके हैं किन्तु अब वे ही देखेंगे कि अभी भी उनमें अन्याय का प्रतिकार करने की क्षमता है ।

नाना साहब ने देशव्यापी क्रान्ति की योजना बनाई । अँग्रेजों का जो नग्न रूप नाना के सामने आया था उससे भारत के राजा तथा प्रजा दोनों कभी ग्रसित हो चुके थे । नाना साहब जानते थे कि अब तक कोई व्यक्ति साहस करके आगे नहीं आया था इस कारण वे चुप बैठे हैं पर यदि उन्हें जगाकर एक सूत्र में पिरोया जाय तो वे इस विदेशी शासन को उखाड़ कर फेंक सकने में समर्थ होंगे । आज तक प्रत्येक राजा अपने स्वार्थ के लिए ही लड़ा था । न तो उसमें राष्ट्र के एकत्व की भावना थी, न अन्य नरेशों का सहयोग ही मिला था । अँग्रेजों को भी वह अपनी ही तरह एक नरेश भर मानते चले आ रहे थे । नाना अब उनको अँग्रेजों का वास्तविक रूप बताने वाले थे, जो महा भयानक था ।

न्याय के पक्ष में लड़ने वाले असफलता के भय से अपने निर्णय को स्थगित नहीं करते । उनके सामने तो एक ही लक्ष्य होता है अन्याय का प्रतिकार । अन्याय सहना अन्याय करने से कई गुना बड़ा अपराध है । इसका यह अर्थ नहीं कि नाना साहब की योजना सुनियोजित न थी । नाना साहब ने अँग्रेजों के विनाश के लिए सुनियोजित क्रान्ति का ताना-बाना बुना । उन्होंने अँग्रेजों के अत्याचारों तथा घृणित उद्देश्यों को बताते हुए भारतीय नरेशों को उनके विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए संगठित होने के लिए आह्वान किया । जनता में प्रचार करने के लिए गुप्त वेशधारी प्रचारक भेजे । भारतीय सैनिकों में देशभक्ति जगाने के लिये संदेश वाहक भेजे ।

अन्याय तब तक ही फलता-फूलता है जब तक उसका प्रतिकार करने के लिए कोई संगठन उठ खड़ा नहीं होता । अँग्रेज भारतियों को मरा हुए समझे बैठे थे । उन्हें क्या पता था कि उन्हें जिस क्रान्ति का पता नहीं है, सुनियोजित ढङ्ग से कोई उसका सूत्र संचालन कर रहा है । देखते ही देखते नाना साहब को पत्रों के उत्तर प्राप्त होने लगे । नाना साहब को अब पता लगा कि व्यक्ति अपने विचारों से ही छोटा और बड़ा होता है । कल तक वे पेंशनयाफ्ता राजा भर थे पर आज वे भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम के दृष्टा हैं कितने ही नरेश उनकी योजना के अनुसार काम करने को तत्पर हो उठे । अँग्रेजों ने यदि उसके पौरुष को चुनौती नहीं दी होती तो आज वे इस प्रकार लोगों की श्रद्धा के पात्र नहीं बन सकते थे ।

नाना साहब इस क्रान्ति के सूत्रधार बने । इस काम में अजीमुल्ला खाँ उनका दाहिना हाथ बना । यह प्रथम प्रयास था जबकि हिन्दू-मुसलमानों ने सम्प्रदाय भेद को मिटाकर भारत की मुक्ति के लिए संगठित रूप से प्रयास किया । अँग्रेज इतिहासकार सर जान के इस कथन से "क्रान्ति के लिये किये गये प्रयासों की व्यापकता का दर्शन होता है ।" महीनों से नहीं वर्षों से अँग्रेजी राज्य के विरुद्ध

समस्त देश में क्रान्ति की आग लगाई जा रही थी । नाना साहब के दूत क्रान्ति की आग भड़काने वाले पत्रों को लेकर सारे देश में घूम रहे थे । बड़ी सावधानी तथा दूरन्देशी के साथ इन पत्रों में लोगों को समझाने की बातें लिखी होती थीं । देश के भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों और परस्पर विरोधी नरेशों तथा नवाबों को बड़ी समझदारी के साथ उद्देश्य की पूर्ति के लिए तैयार किया जाता था ।

इस क्रान्ति के सूत्र संचालन के लिये नाना साहब ने दिन रात एक कर दिये । एक तरफ क्रान्ति के लिए जनता तथा राजाओं को उकसाया जा रहा था दूसरी तरफ अँग्रेजों के साथ नाना का व्यवहार भी मैत्रीपूर्ण होता जा रहा था । जब कई राजा, नवाब इसके लिए सहमत हो गये तब वह अजीमुल्ला के साथ उनसे बात चीत करने के लिए तीर्थ यात्रा के बहाने सारे देश में भ्रमण के लिए निकले । जहाँ भी ये गये इनका हार्दिक स्वागत हुआ । अँग्रेज पदाधिकारियों से मिलना नाना साहब नहीं भूले । जहाँ भी जाते वहाँ इनसे अवश्य मिलते ।

इस क्रान्ति के लिए कितना प्रचार किया गया था यह इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि जनता में अँग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए इतना जोश उत्पन्न हो चुका था कि वह निश्चित समय के पूर्व ही भड़क उठी । क्रान्ति की तिथि ३१ मई तय थी पर यह ६ मई को ही आरम्भ हो गई थी । यह तिथि मुख्य-मुख्य लोगों को ही बताई गई थी । साधारण जनता को तो प्रतीक्षा करने को ही कहा गया था ।

एक साथ एक ही दिन सारे भारत में क्रान्ति होने वाली थी । इसी तिथि पर यदि यह क्रान्ति होती तो अँग्रेजों को सम्हलने का मौका नहीं मिलता । बैरकपुर के सैनिकों के विद्रोह ने समय से पूर्व ही इसे आरम्भ कर दिया । दूसरे क्रान्तिकारी भी चुप नहीं रह सके । भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग तिथियों को क्रान्ति हुई । असमय क्रान्ति के फूट पड़ने पर भी लोगों ने अँग्रेजों को दिन में तारे दिखा दिये । अँग्रेज परिवारों को जान बचाकर अपने देश भागना कठिन लग रहा था ।

कानपुर में क्रान्ति की खबरें आ पहुँची । अँग्रेज लोग भय से पीले पड़ गये । उन्होंने इस देश को जी भरके लूटा था, अत्याचार किये थे, भारतवासियों को अपमानित किया था । उनके कुकर्म ही आज क्रान्ति बनकर उन्हें डसने आ रहे थे । क्रान्ति इस ढङ्ग से नियोजित की गई थी कि इसकी सूचना नाना साहब के साथियों को पहले मिल जाती थी उसके दो तीन दिन बाद अँग्रेजों को पता लगता था ।

नाना साहब अब ३१ मई की प्रतीक्षा नहीं कर सके । उन्होंने कानपुर पर आक्रमण कर दिया । विप्लवी सैनिक टुकड़ियाँ उनसे आ मिली थीं । उन्होंने देखते ही देखते खजाने तथा गोला-बारूद पर अधिकार कर लिया । अँग्रेज सेनापति ह्वीलर को भागकर किले में शरण लेनी पड़ी । कुछ दिनों किले के सहारे रहा पर नाना के आगे वह ठहर न सका । उसे आत्म-समर्पण कर देना पड़ा । कानपुर पूरी तरह नाना के अधिकार में आ गया था । दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर पहले ही क्रान्तिकारियों का अधिकार हो चुका था ।

नाना साहब के पिता धर्म-निष्ठ ब्राह्मण थे । बाल्यकाल से ही उन्होंने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया था । गीता उनका प्रिय धर्म-ग्रन्थ था । वीर पूजक नाना के बचपन में ही शिवाजी आदर्श रहे । यह युद्ध उनके दैनिक नित्यकर्म की तरह ही था । इस धार्मिक विश्वास से उन्हें जो बल मिला उसी का परिणाम था कि नाना साहब ने दुःख कष्टों की परवाह नहीं की तथा राष्ट्र में नवीन प्राण फूँके ।

२० जून, १८५७ कानपुर के सत्ती चौरा घाट पर ४० नावें गंगा तट से लगीं । उनमें अँग्रेज परिवारों को बिठाकर इलाहाबाद भेजा जाने वाला था सेनापति ह्वीलर को नाना ने हाथी पर बैठकर विदा होने का आग्रह किया पर वह राजी न हुआ । सेनापति नाना साहब ने सच्चे मानव की भूमिका निभाई । शत्रु के साथ भी मानवीय व्यवहार किया । जनरल नील के अत्याचार की खबरें कानपुर तक आ पहुँची थीं । भारतीय अँग्रेज परिवारों को इस प्रकार सुरक्षित जाते देखकर क्रुद्ध हो उठे । नाना साहब को यह ज्ञात हुआ तो वे तत्काल वहाँ पहुँचे, उन्होंने स्त्रियों व बच्चों की रक्षा की तथा सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया ।

नाना साहब ने तीन महीने तक कानपुर को अपने अधिकार में रखा । ये तीन महीने कानपुर की जनता के गौरव का समय था । न्याय तथा सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध नाना साहब ने किया ।

अँग्रेजों की कूटनीति तथा उत्तम अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित सेना ने इस क्रान्ति को सफल नहीं होने दिया । चंद देश-द्रोहियों ने अपने घृणित स्वार्थ के वश होकर अँग्रेजों की सहायता की । समय से पहले क्रान्ति का फूट पड़ना भी एक प्रमुख तथ्य था नहीं तो सफलता मिलने में कोई अंदेशा नहीं था, पर इस क्रान्ति का परिणाम दूरगामी हुआ । नाना साहब का यह प्रयास अँग्रेजों को भारत से भगाने का शुभारम्भ ही कहा जायेगा ।

नाना साहब ने देखा कि अब भारत में रहकर क्रान्ति का संचालन कठिन है । क्रान्तिकारियों के गढ़ एक-एक करके टूटते चले गये तो वे नेपाल की तरफ चले गये । नेपाल नरेश ने इन्हें सहायता देने के बजाय अँग्रेजों को नेपाल प्रवेश की आज्ञा दे दी । साठ हजार स्त्री-पुरुष नाना साहब के साथ नेपाल के भयंकर जंगलों में गये । अँग्रेजी सेना के आक्रमण करने पर उनमें से अधिकांश वापस भारत लौट आये । आजादी के अग्रदूत नाना साहब की छाया भी अँग्रेज न पा सके । पराधीनता की अपेक्षा उन्होंने दुःख-कष्ट सहना स्वीकार किया तथा नेपाल के बीहड़-वनों में उन्होंने अपना शेष जीवन बिताया ।

अँग्रेजी शासन के अन्धकार से लड़ने के लिये अकेले दीपों को प्राणवत करने का जो साहस तथा श्रम नाना ने किया वह एक जीवित जाग्रत महान आत्मा का ही काम था । समाज सुधार के क्षेत्र में आज ऐसी ही जाग्रत आत्माओं को उठ खड़े होने की आवश्यकता है ।

१८५७ की क्रान्ति के सर्वोच्च सेनापति- ताँत्या टोपे

गौरवर्ण, छोटी पर मोटी और मजबूत गर्दन के ऊपर गोल-मटोल तेजस्वी मुख, भारी सिर पर अर्ध गोलाकार मखमली रत्नजड़ित लाल टोपी, ओजपूर्ण चमकीली आँखें, मझोले कद के सुडौल और गठे हुए शरीर में चकले जैसी छाती, अंग-अंग में विद्युत सी चपलता और मस्तक पर गहन विचारों की रेखा, यह है हमारे १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम के सर्वोच्च सेनापति महाबली स्वर्गीय ताँत्या टोपे का चित्र ।

ताँत्या टोपे का जन्म १८१४ के लगभग अहमदनगर के येवला नामक गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उनके पिता पांडुरंग येवलकर पेशवा बाजीराव के धर्मगुरु थे । ताँत्या टोपे का जन्म का नाम रामचन्द्रराव था । इस जन्मजात क्रान्तिकारी रामचन्द्रराव ने पुरोहिताई में याचक वृत्ति का दूषण देखकर उसे अपनाने में अनिच्छा प्रकट की, उन्हें आरम्भ से ही शास्त्रों की अपेक्षा शस्त्रों से विशेष अनुराग था । बालक की रुचि के अनुकूल शस्त्रविद्या सिखाने का कार्य स्वयं बाजीराव पेशवा ने अपने हाथों में लिया । धीरे-धीरे बालक रामचन्द्रराव की शस्त्र चलाने की असाधारण प्रतिभा मुखरित हो उठी । बर्छा, तलवार, बिछवा आदि अस्त्र-शस्त्र चलाने में उन्होंने अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया । बाण की प्रत्यंचा चढ़ाने में तो वह अद्वितीय थे । एक बार हाथ से निकला तीर कभी व्यर्थ नहीं जाता था । बालक की इस असाधारण प्रतिभा पर मुग्ध होकर बाजीराव पेशवा ने भरी राजसभा में युवक रामचन्द्र राव को एक रत्न जड़ित लाल मखमली टोपी से विभूषित किया और 'टोपे' कहकर पुकारा तभी से बालक रामचन्द्र का नाम ताँत्या टोपे पड़ गया । उस समय इस युवक का मुख बाल रवि की भाँति शोभायमान हो रहा था । पेशवा ने इस अवसर पर आशीर्वाद देते हुए कहा था कि बेटा देश की धरती को एक दिन तुम नापाक फिरंगियों से अवश्य मुक्त कराओगे । इस कार्य में भगवान् तुम्हारी सहायता करेंगे । बस, उसी दिन से रामचन्द्रराव ताँत्या टोपे के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

१८३७ में देश के अनेक भागों में ईस्ट इन्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हो चुका था, अँग्रेजों की स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता बढ़ती चली जा रही थी । कम्पनी के अँग्रेज शासकों ने बाजीराव पेशवा को पूना से निर्वासित कर दिया था, इन्हीं के साथ ताँत्या परिवार भी निर्वासित हुआ । इस प्रकार छोटी आयु से अपनी मातृभूमि को छोड़कर ताँत्या टोपे कानपुर के पास बिठूर (ब्रह्मावर्त) चले आये थे । यहीं सर्वप्रथम झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई और नाना फड़नवीस से उनका साक्षात्कार हुआ था । इस समय ताँत्या टोपे की अवस्था लगभग २४ वर्ष, नाना फड़नवीस की १६ वर्ष और लक्ष्मीबाई की कुल दस वर्ष की थी । ताँत्या टोपे ने बिठूर के दुर्ग में रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहब को शस्त्र विद्या की शिक्षा दी । शस्त्र विद्या के साथ-साथ ताँत्या टोपे ने इन दोनों के अन्दर राजनीति और क्रान्तिकारी भावनाओं का समावेश किया । नकली दुर्ग बनाना, कल्पित सेनाओं पर आक्रमण करना, किलों को तोड़ना, शिकार करना, छापामार युद्ध करना आदि में ताँत्या टोपे ने इन्हें प्रवीण कर दिया था ।

पेशवा बाजीराव ने ताँत्या टोपे को पहले से ही काँटों का ताज पहनकर आने वाली भीषण क्रान्ति का कर्णधार निर्धारित कर दिया था, समय-गति तेजी से करवट बदल रही थी । अँग्रेजों के अत्याचारों एवं जघन्य कृत्यों के विरुद्ध देश का वातावरण गर्म हो उठा था, देश के सभी छोटे-बड़े राज्यों का अँग्रेज क्रमशः अन्त और विनाश करते जा रहे थे । भारतीय राजा-नवाबों के सभी रीति-रिवाज और प्रथाओं का अन्त कर अँग्रेजी-सभ्यता प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी । मदोन्मत्त फिरंगियों में चरित्रहीनता भी बहुत बढ़ गई थी ।

अँग्रेजों के खिलाफ ताँत्या टोपे के सुनिश्चित षड्यन्त्र का श्रीगणेश १८५१ में हुआ जबकि पेशवा बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् कम्पनी के शासन ने नाना साहब को उनका दत्तक-पुत्र मानने से इन्कार कर दिया था पेशवा बाजीराव ने नाना साहब को १८२७ में ही दत्तक पुत्र के रूप में गोद ले लिया था । वास्तव में वे ही उनके उत्तराधिकारी थे पर अँग्रेजों ने उनके इस अधिकार की अवहेलना की । इसी कारण ताँत्या टोपे का अन्तर्द्वन्द्व प्रथम बार क्रान्ति का मूर्तरूप लेकर प्रकट हुआ ।

पूरे ६ वर्ष तक ताँत्या टोपे ने इस क्रान्ति आन्दोलन को सक्रिय रूप देने के लिये सारे देश का भ्रमण कर सभी राजाओं एवं गण्यमान्य व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया और सावधानी के साथ क्रान्ति की अग्नि को सुलगाया । महीनों के विचार-विमर्श के पश्चात् ३१ मई, १८५७ क्रान्ति दिवस निश्चित किया गया किन्तु दुर्भाग्यवश इस क्रान्ति के ज्वालामुखी का लावा २५ दिन पूर्व ही मेरठ में फूट निकला ।

इस संग्राम में महावीर ताँत्या की चमकती हुई तलवार ने काल का रूप धारण कर अनेक देशी-विदेशी शत्रुओं का संहार किया । अपनी अन्तिम श्वास तक ताँत्या टोपे ने कभी अँग्रेजों की आधीनता स्वीकार नहीं की । जिस समय अँग्रेज सभी देशी राज्यों का अन्त कर भारत में एकछत्र राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे । सेनापति ताँत्या टोपे भला ऐसे अपवित्र शासन को कैसे सहन कर सकते

थे । उन्होंने बिठूर के दुर्ग पर खड़े होकर बगावत का झण्डा बुलन्द किया ।

मेरठ में विप्लव का विस्फोट होते ही नाना फड़नवीस अपने भाई राव साहब और ताँत्या टोपे को पेशवा की गद्दी का उत्तराधिकारी बनाकर क्रान्ति का नेतृत्व करने मेरठ की ओर प्रस्थान कर गए । क्रान्ति की अग्नि देश में सर्वत्र धधक रही थी । आवश्यकता थी एक रण-बाँकुरे सेनापति की जो क्रान्ति का सुचारु रूप से नेतृत्व कर सके । सप्ताहों महारानी लक्ष्मीबाई, नाना फड़नवीस और प्रमुख क्रान्तिकारियों ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विनिमय किया और अन्त में १८ जून, १८५७ को ताँत्या टोपे को इस महाक्रान्ति का सर्वोच्च सेनापति चुन लिया ।''

विप्लवी सेनाओं की बागडोर अपने हाथ में लेते हुए देश की जनता के नाम सेनापति ताँत्या टोपे ने एक संदेश प्रसारित किया । जिसमें कहा गया था कि–''भारत की स्वतन्त्रता को चिरस्थायी और अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए देश के सभी लोग आपसी भेदभाव भुलाकर अँग्रेजों को मार भगाने के लिए संगठित हो जायें । अँग्रेजों ने हमें परतन्त्र रखने के लिए देश में जो दमन आरम्भ किया है, हमें उसका खुले रूप में मुकाबला करना है । अँग्रेजों की उदण्ड सैनिक शक्ति और नापाक हुकूमत को हिन्दुस्तान से समाप्त करने के लिये विप्लवी सेनाओं का पूरा-पूरा साथ देना आप लोगों का कर्त्तव्य है । 'जय भारत' आपका तुच्छ सैनिक ताँत्या टोपे ।'

सेनापति ताँत्या टोपे के इस आह्वान पर भारतीय स्वतन्त्रता की उन्मुक्त सेनायें उनके नेतृत्व में सिंह-गर्जना के साथ लोहा लेने को कटिबद्ध हो गईं । भारतीय सेनायें अँग्रेजी फौजों का सफाया करती निरन्तर आगे बढ़ रही थीं । कितने ही अँग्रेज मारे गये । अनेक अपनी जान बचाकर भाग निकले और यत्र-तत्र जा छिपे । इस समय बहुत से देशद्रोही भी अँग्रेजों का साथ दे रहे थे । ऐसे सभी लोगों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर ताँत्या की विप्लवी सेनाओं ने मौत के घाट उतार दिया और जिन लोगों ने क्षमायाचना कर उनकी आधीनता स्वीकार करली, उनको सेनापति ने अभयदान दिया ।

ताँत्या टोपे में विलक्षण दैवी-शक्ति थी । विकट परिस्थिति में जब कभी मार्ग में घोड़े को छोड़ देना पड़ता था तब सेनापति ताँत्या टोपे द्रुतगति से क्रान्ति का संचालन करने के लिये अपने पैरों में एक विशेष प्रकार के बने हुए लम्बे बाँसों का प्रयोग किया करते थे । जिस समय वे इन बाँसों को पैरों में बाँधकर वायु वेग से भागते थे, उस समय अँग्रेज शत्रुओं की दक्ष, सुसज्जित और साधन सम्पन्न सेनायें उनके पैरों की उड़ती हुई धूल को भी नहीं देख पाती थीं ।

ताँत्या टोपे के अपूर्व बल और रण-चातुर्य पर मुग्ध होकर लन्दन के 'डेली न्यूज' और लन्दन टाइम्स तक ने उनकी बड़ी प्रशंसा की । 'टाइम्स' ने लिखा–''ताँत्या बड़ा साहसी वीर है, वह धैर्यवान् विचारक और कुशल योद्धा है ।'' नेलसन नामक एक अँग्रेज लेखक ने अपनी भारत-विद्रोह का इतिहास नामक पुस्तक में लिखा है–'निःसंदेह संसार की किसी भी वीर सेना ने इतनी तीव्रगति और साहस के साथ कभी कूच नहीं किया जितनी तेजी के साथ बहादुर ताँत्या टोपे की सेना ने किया ।'

लन्दन के 'डेली न्यूज' के सम्वाददाता की रिपोर्ट के अनुसार –''हमारा विचित्र मित्र ताँत्या इतना चतुर और कठोर है कि मैं उसकी सराहना किये बिना नहीं रह सकता । उसने हमारे बहुत से नगर उजाड़ दिये, खजाने लूट लिये, युद्ध के शस्त्रागार खाली कर दिये । उसने सेनाएँ इकट्ठी कीं और कटवा डालीं । हमारी तोपें छीन लीं और हमारा ही सफाया किया । अपनी गति में तो वह बिजली को भी मात कर रहा है । कई-कई सप्ताह चालीस-पचास मील प्रति घण्टे की गति से यात्रा करता रहता है । हमारी सेनाओं के आगे रहता हुआ अचानक पीछे पहुँच जाता है, सर्वोत्तम मशीन भी इतनी तेजी न कर सकेगी जितनी तूफानी तेजी ताँत्या करता है । पर्वतों की चढ़ाई पर, कन्दराओं में, घाटियों में, पीछे-आगे, ऊपर-नीचे कहीं भी ताँत्या टोपे के जाने में कोई बाधा नहीं डाल सकता है । वह चक्करदार मार्गों से तुरन्त ही हमारी सेनाओं और सामान की गाड़ियों पर बाज की तरह आक्रमण करता है किन्तु हमारे हाथ नहीं आता ।''

ताँत्या टोपे ने दूर-दूर तक अँग्रेजों का सफाया कर दिया था किन्तु कुमक पहुँचने पर अँग्रेजी सेनाएँ पुनः आगे बढ़ आती थीं और अपनी भयानक तोपों से नगर के नगर और ग्राम के ग्राम ध्वंस करती थीं ।

ग्वालियर के युद्ध में असफल होकर सेनापति ताँत्या नर्मदा नदी को पार कर महाराष्ट्र पहुँचे और वहाँ उन्होंने जनता को अँग्रेजों के विरुद्ध युद्ध के लिये संगठित किया । झाँसी की रानी के बाद अँग्रेज यदि किसी से घबराते थे तो वह थे ताँत्या टोपे । इसलिए अँग्रेजों की सेनाएँ निरन्तर उनकी खोज में रहती थीं । कहा जाता है कि ताँत्या वर्षा काल में चम्बल की तूफानी लहरों पर सर्प की भाँति तैर जाते थे । सेनाएँ और सामग्री की कमी के दिनों में अँग्रेजी सेनाएँ उनको पकड़ने के लिये मार्ग रोककर दीवार बनकर खड़ी रहती थीं किन्तु विप्लवी देशभक्त सेनाएँ सदैव उनसे डटकर लोहा लेती रहीं और उनकी पंक्तियों को तोड़-फोड़ कर आगे बढ़ती रहीं । उन्होंने अपने अपूर्व युद्ध-कौशल से अँग्रेजों को परास्त कर कानपुर पर पेशवाई का झण्डा फहरा दिया पर अँग्रेजों ने पुनः कानपुर पर चढ़ाई की और महीनों तक दोनों ओर से सेनाएँ जूझती रहीं । घमासान युद्ध चलता रहा । निश्चय ही विजय देशभक्त सेनाओं की होती किन्तु तत्काल ही अँग्रेजों की नई सेना के आ जाने के कारण ताँत्या टोपे घिर गये और उन्हें युद्ध स्थगित कर मैदान छोड़ देना पड़ा ।

फिर भी वे हतोत्साह नहीं हुए । कानपुर पर पुनः अधिकार करने के लिये विद्रोही ताँत्या की सेनाओं ने परखारी पर अधिकार कर लिया । कानपुर पर धावा बोलने की तैयारी थी कि रानी लक्ष्मीबाई ने दूसरे मोर्चे पर

सैनिक सहायता की माँग की, इसलिए वह स्वप्न अधूरा रह गया ।

इस क्रान्ति को काफी समय हो गया था । धीरे-धीरे तॉंत्या टोपे के अनेक मित्र और सहयोगी विप्लव की आहुति में प्राणार्पण कर चुके थे । कुछ देशद्रोही बन गये थे, किन्तु तॉंत्या टोपे अन्तिम श्वास तक संघर्ष करते रहे ।

एक बार किसी वन में छिपी तॉंत्या की सेनाएँ विश्राम कर रही थीं । अँग्रेजी सेनाओं ने उन्हें चारों ओर से घेरकर आग लगादी । वह सब जंगल जलकर राख हो गया और अँग्रेजों सेनाएँ ज्यों की त्यों खड़ी रहीं । अँग्रेज समझे कि वे सब लोग जलकर खाक हो गये किन्तु ज्यों ही उनकी सेनाएँ पीछे हटीं त्यों ही महा वीर तॉंत्या टोपे की जीवट सेना ने अचानक वेग से अँग्रेजी सेनाओं पर घातक आक्रमण कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप सारे अँग्रेज मारे गये ।

तॉंत्या टोपे की मृत्यु के सम्बन्ध में इतिहासकारों के विभिन्न मत पाये जाते हैं । कोई कहता है कि तॉंत्या टोपे को गिरफ्तार करके उसी समय उनके हाथ-पैर बाँधकर मार डाला था । कई लोगों का कहना है कि उनको फाँसी दी गई थी किन्तु इतिहास के गहन अध्ययन से पता चलता है कि मानवता, न्याय और नीति की दुहाई देने वाले कई क्रूर अँग्रेजों ने मिलकर उनकी बड़ी बेरहमी से हत्या की । इस पर भी जब उनकी पैशाचिक प्यास नहीं बुझी तब प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने मृत शरीर को १८ अप्रैल १८५९ को तोप के मुँह से बाँधकर उड़ा दिया ।

निष्ठा और संकल्प के धनी–

टीपू सुल्तान

अँग्रेज माताएँ अपने शरारती बच्चों को टीपू आया कहकर चुप कराती थीं । टीपू सुल्तान का भय अँग्रेज बच्चों से लेकर सैनिक, सेनाधिकारियों तथा शासकों तक के हृदय में ऐसा समाया हुआ था कि वे उनका नाम सुन कर घबड़ा उठते थे । टीपू सुल्तान अपने समय के एक मात्र ऐसे देशभक्त योद्धा थे, जिन्होंने अँग्रेजों को देश से बाहर निकालने का संकल्प लिया और उसे पूरा करने के लिए जीवन भर प्राणपण से डटे रहे ।

ये महाप्रतापी हैदर अली के पुत्र थे । हैदर अली ने बचपन से ही उन्हें ऐसी शिक्षा दी थी कि उनके हृदय में अपने देश, भूमि और शोषित जनता के प्रति निष्ठा और सहानुभूति का भाव जागे । उन्हें बचपन से ही लड़ाई लड़ना और शस्त्र चलाना सिखाया गया । भावना और निष्ठा से सम्पन्न टीपू ने अपने शिक्षण काल में ही ऐसा कौशल दिखाया कि उनके पिता को अपने पुत्र की योग्यता पर विश्वास जम गया ।

वे जब १९-२० वर्ष के थे तो हैदर अली ने उन्हें मद्रास में हवा खोरी कर रहे अँग्रेजों और उनकी सेनाओं को खदेड़ने के लिए भेजा । हैदर अली ने टीपू को पाँच हजार सेना दी और टीपू मद्रास इतनी तेजी से पहुँचा कि जब तक स्मिथ और उसके अधीनस्थ अधिकारियों को पता चला तब तक तो वह जा ही धमका । टीपू के पहुँचने का समाचार सुनकर सभी कर्मचारी हक्के-बक्के रह गये और वे तुरन्त भाग खड़े हुए । मद्रास बन्दरगाह पर खड़े जहाज से निकल कर बड़ी मुश्किल से उन्होंने अपनी जान बचायी ।

बिना लड़े ही मद्रास टीपू ने जीत लिया । अब उसने आस-पास के अँग्रेजी क्षेत्रों को जीतना आरम्भ किया । उन्होंने अपने आस-पास का सारा इलाका अँग्रेजों से छीन लिया । इस समय निजाम भी टीपू सुल्तान का साथ दे रहा था । जब बहुत बड़ा इलाका जीत लिया गया तो एक साथ लड़ने की शर्तों के अनुसार बराबर बाँट लिया गया । टीपू सुलतान अपने वचन और सन्धियों के प्रति ईमानदार थे । कई अवसरों पर उन्हें ईमानदारी और मैत्री, विश्वास के कारण धोखा खाना पड़ा परन्तु उन्होंने इन मानवीय सिद्धान्तों को कभी तिलांजलि नहीं दी ।

छल-छद्म राजनीति का प्रधान अंग है । अपने स्वार्थों और हितों को पूरा करने के लिए राजनेता मानवीय आदर्शों को ताक में रखकर घृणित सौदे किया करते हैं । परन्तु इतिहास में उन्हें वह सफलता नहीं मिलती जो कि आदर्शों और सिद्धान्तों को प्राण से संयुक्त कर लेने वाले वीर पुरुषों को । निजाम हैदराबाद ने टीपू सुल्तान को ऐन उस वक्त पर धोखा दिया जब अँग्रेजी सेनाओं के साथ वे मंगलौर में लोहा ले रहे थे । उस समय भले ही इन साथियों ने टीपू सुल्तान का साथ छोड़ दिया हो परन्तु मंगलौर की जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया । एक भयानक लड़ाई हुई और अँग्रेजों के पैर उखड़ गये । इस विजय की खुशी में टीपू सुल्तान ने मद्रास के किले के बाहर एक चित्र बनवाया, जिसमें हैदर अली टीपू के पिता-तख्त पर बैठे थे और अँग्रेज ढेरों अशर्फियाँ बिखेरते हुए उनके सामने सन्धि-पत्र लेकर खड़े थे ।

वस्तुत: स्थिति भी ठीक थी । कर्नल स्मिथ ने टीपू सुल्तान और उनके पिता को कई बार प्रलोभन देकर अपनी ओर फोड़ लेने की साजिश की । परन्तु उन्होंने सदैव झूठे प्रलोभनों को ठुकरा दिया और प्रस्तुत किये गये आकर्षणों से अप्रभावित रहकर अपने अभियान को जारी रखा उद्देश्य पूर्ति के मार्ग में चल रहे सभी व्यक्तियों को प्राय: अनेक आकर्षण अपनी ओर खींच कर उन्हें विमुख करने के लिए आया करते हैं, समझदार व्यक्ति इन आकर्षणों में कभी नहीं फँसते और लक्ष्य की ओर बढ़ते ही रहते हैं ।

मंगलौर में अँग्रेजों की पराजय ने लार्ड वारेन हेस्टिंग्स को बड़ा चिन्तित कर दिया, उन्होंने इस जागती हुई शक्ति को दबाने के लिए अपने विश्वस्त सेनापति कर्नल आयर कूट को मद्रास का प्रशासक बनाकर भेजा । टीपू-सुल्तान और हैदर अली का दमन करने के लिए कर्नल आयर कूट

ने मैसूर राज्य पर तीन आक्रमण किये और तीनों बार पराजित हुआ ।

पिता का देहान्त होने के बाद १७८२ में टीपू सुल्तान मैसूर राज्य के राजा बने । उन्होंने अपने पिता हैदरअली के उद्देश्य और योजना को अच्छी प्रकार समझा था । उसे पूरा करने के लिए देसी राजाओं को संगठित कर विदेशी शासकों को परास्त करने के लिए सम्मिलित प्रयास करने की योजना बनायी परन्तु पिता के साथ हुए विश्वासघातों को देखकर यह विश्वास फलित होते न दीखा ।

फिर भी अँग्रेजों को बाहर तो निकालना ही था और यह काम उनको अपने अकेले के बस का नहीं लगा । उन्होंने फ्रांस से सहायता प्राप्त करने के लिए अपना एक दूत पेरिस भेजा और बातचीत शुरू की । इस बात से अँग्रेजों को और भी भय हुआ । टीपू सुल्तान की वीरता उनके रणकुशल सैनिक और फ्रांस के समर्थ साधन सम्पन्न शस्त्रास्त्र ये तीनों मिलकर अँग्रेजी साम्राज्य को सचमुच ही ध्वस्त कर सकते हैं । बहुत सी विशेषतायें जब एक स्थान पर एकत्रित हो जाती हैं तो सचमुच ध्येय की प्राप्ति सहज और सरल बन जाती है, परन्तु विरोधी शक्तियाँ भी अवरोध पैदा करने में कोई कसर नहीं छोड़तीं ।

उस समय कम्पनी का गवर्नर लार्ड कार्न वालिस था । १७९० में उसने विशाल सेनायें लेकर कर्नाटक पर हमला बोल दिया । वह स्वयं युद्ध संचालन कर रहा था । दो वर्ष तक घमासान युद्ध होता रहा । टीपू के सैनिक बड़ी वीरता पूर्वक लड़े परन्तु साधन और संख्याबल में कम होने के कारण उनके पैर शीघ्र ही उखड़ने लगे । टीपू सुल्तान को परास्त होकर संधि करनी पड़ी । इस संधि के अनुसार श्री रंगापट्टम में टीपू को अपना आधा राज्य और युद्ध का हर्जाना देना पड़ा । अंग्रेजों को बड़ा महल, सलेम, डिंडीगल और मलाबार के प्रदेश मिल गये ।

इतना हो जाने का टीपू सुल्तान को बड़ा क्षोभ तो हुआ परन्तु वे निराश नहीं हुए । वे फिर शक्ति संचय और सैन्य संगठन करने में लग गये । अँग्रेजों को उनका बढ़ता हुआ प्रताप फूटी आँखों नहीं भाया । रंगापट्टम की संधि के अनुसार टीपू सुल्तान को अँग्रेजों की ओर से किसी आक्रमण की आशंका नहीं करनी चाहिए थी । परन्तु कार्न वालिस के बाद १७९९ में लार्ड वेलेजली ने मैसूर पर आक्रमण करने का निश्चय किया । इस आक्रमण में हैदराबाद के निजाम ने भी अँग्रेजी सेनाओं का ही साथ दिया । वही निजाम जो पन्द्रह बीस वर्ष पूर्व टीपू सुल्तान का सहयोगी था । सत्ता और धन का आकर्षण ही ऐसा है । जिसमें अच्छे-अच्छे लोग फँस जाते हैं ।

निजाम की तीस हजार सेना तथा अँग्रेजी सेना ने मिल कर उसी वर्ष युद्ध छेड़ दिया । टीपू सुल्तान को जल और थल दोनों तरफ से घेर लिया गया । साथ ही उनके मातहत सैनिक अधिकारियों को भी फोड़ने का प्रयत्न किया गया । टीपू को कदम-कदम पर अपने सेनापतियों द्वारा धोखा, विश्वासघात और बेईमानी का सामना करना पड़ा फिर भी उन्होंने संतुलन नहीं खोया वे बड़े साहस के साथ रणभूमि में शत्रु का मुकाबला करते रहे । मीर सादिक नामक एक अति विश्वासपात्र सैनिक भी उस अवसर पर अँग्रेजों से मिल गया और उसने किले की एक दीवार तुड़वा दी जिसमें से होकर अँग्रेज राजधानी के भीतर घुस आये । इस पर भी टीपू ने अँग्रेजों का सामना किया, उन्होंने अपने मुट्ठी भर साथियों को जो कि उनका साथ दे रहे थे-लेकर मुकाबला अंत तक जारी रखा । लड़ाई में उन्हें दो गोलियाँ छाती पर लगीं फिर भी बन्दूक दागते रहे । उनके साथियों ने युद्ध क्षेत्र से हट जाने के लिए कहा परन्तु टीपू सुल्तान तो 'साध्येम् वा देह पातयेत्' के सिद्धान्त को लेकर चलने वाले थे, छाती से फूटते खून के फुब्बारे छूट रहे थे फिर भी वे शत्रु का सामना करते रहे ।

अन्त में उनके सहयोगियों ने जबरदस्ती पकड़ कर उन्हें पालकी में बिठाया और ले जाने लगे । तभी कुछ अँग्रेज पालकी के पास पहुँच गये । टीपू सुल्तान ने यहाँ भी अपनी तलवार से दो अँग्रेजों को मौत के घाट उतार दिया । फौरन एक गोली उनकी कनपटी को छेद गयी और टीपू सुल्तान जमीन पर गिर पड़े, तत्क्षण उनका देहान्त हो गया ।

आदर्शों के लिए अड़े रहने वाले-
बुँडेज

क्रीड़ा जगत में नैतिक आदर्शों की स्थापना और सुरक्षा के लिए एक अक्खड़ किन्तु कर्मठ व्यक्ति की तरह निरन्तर काम करने वाले श्री एवरी बुँडेज को सदा याद किया जाता रहेगा । ओलम्पिक खेलों का सीमा विस्तार ही नहीं उनका स्तर और गौरव बढ़ाने में भी मानो उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भुला ही दिया हो ।

ओलम्पिक संस्थान के प्रधान ८० वर्षीय लौह-पुरुष ने अपने कर्तव्य को विश्व का महत्वपूर्ण क्रिया-केन्द्र बनाने में अद्भुत सफलता पाई है । यह सब अनायास ही नहीं हो गया, न उत्तराधिकार में मिला है, न किसी के अनुग्रह ने उन्हें यह संस्थान दिलाया है वरन् अपनी क्षमता और प्रतिभा के कारण ही वे इस स्थान तक पहुँचे हैं ।

उनका स्वावलम्बी जीवन १२ वर्ष की आयु से आरम्भ होता है जब उन्होंने माँ-बाप से बिछुड़ कर एक मजदूर के रूप में अपने पैरों पर खड़े होने का प्रयास किया । वे पढ़े पर अपनी पढ़ाई और निर्वाह की व्यवस्था बचे हुए समय में मजदूरी करके जुटाई । वे चाहते तो किन्हीं उदार व्यक्तियों एवं संस्थाओं की सहायता भी ले सकते थे पर उन्हें यह जरा भी पसन्द नहीं था । हाथ-पाँव रहते हुए क्यों किसी के आगे हाथ पसारें ? यह मानवीय स्वभाव के विरुद्ध है । जब उन्हीं के कई साथी असहाय बनकर दूसरों की सहायता पर अपनी शिक्षा और गुजर चला रहे थे, तब उन्हें भी वैसी सुविधा मिल सकती थी पर उन्होंने

अनावश्यक अहसान और ऋण-भार अपने ऊपर लादने की अपेक्षा यही उचित समझा कि प्रगति भले ही कम हो, देर में हो पर स्वाभिमान की हर कीमत पर रक्षा की जाय ।

खेल उन्हें आरम्भ से ही प्रिय थे । विद्यार्थी काल में वे चेम्पियन रहे । दर्शन, मनोविज्ञान, इन्जीनियरिंग आदि विषयों की वे ऑनर्स परीक्षायें उत्तीर्ण करते रहे । साथ ही खेलों में पूरी दिलचस्पी से भाग लेते रहे । फलत: उनमें वे कुशल भी बन गए । १९१२ में इन्होंने प्रथम बार अमेरिका की ओर से स्टाकहोम ओलम्पिक खेलों में भाग लिया । इसके बाद उनकी योग्यता और क्षमता को पहचान कर सम्मानित किया गया । वे क्रमश: उस विश्व संगठन के संचालक मण्डल का उत्तरदायित्व सम्भालते हुए प्रधान पद तक पहुँचे ।

ब्रुँडेज का मत है कि खेलों को विशुद्ध खेल ही रहने दिया जाय । उनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावनाओं की वृद्धि की जाय और शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के विकास क्रम को प्रोत्साहित किया जाय । यह क्षेत्र इतने उद्देश्य तक ही सीमित रहे । इसमें उन दूषित तत्वों का प्रवेश न होने दिया जाय जो विपरीत प्रभाव डालते हैं । इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इन्होंने उस क्षेत्र में पेशेवर खिलाड़ियों का प्रवेश ओलम्पिक प्रतियोगिताओं में निषिद्ध ठहराया । साथ ही विजेताओं को अतिरिक्त सम्मान देकर अन्य खिलाड़ियों में उसी प्रकार की ललक उत्पन्न होने की सम्भावना को भी ध्यान में रखा । यदि विजेताओं को राजनैतिक या आर्थिक प्रोत्साहन उनके देशवासी देते हैं तो फिर अन्य विजेता या तो वैसी हर उपलब्धि के लिये अपने देशवासियों से झगड़ेंगे या फिर रुष्ट एवं दुखी होंगे । यह अवांछनीय प्रतिस्पर्धा उत्पन्न न होने देने से ही क्रीड़ा क्षेत्र का स्तर बढ़ता है । यह उनकी मान्यता है । अनेक विरोध, प्रतिरोधों के रहते हुए वे इस आदर्श को कड़ाई के साथ निवाहते चले आ रहे हैं -और विश्व के समस्त देशों के-लगभग ढाई करोड़ खिलाड़ियों को अपने इस निर्देश से निर्देशित, नियन्त्रित करते हैं । क्रीड़ा क्षेत्र में चक्रवर्ती शासन का एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं श्री एवरी ब्रुँडेज ।

उनके मूलमन्त्र का जब -जब जहाँ उल्लघंन हुआ कड़ाई से काम लेने में उन्होंने कोई शिथिलता नहीं बरती । १९५४ में अर्जेण्टाइना सरकार ने अपने खिलाड़ियों में एक विशेष रियायत कर दी कि जो कार खरीदेंगे उन पर टैक्स माफ रहेगा । इस सुविधा का लाभ उठाकर वे लाइसेंसों को बेचकर पैसा बनाने लगे ।

ब्रुँडेज ने इसका विरोध किया । इस पर अर्जेण्टाइना के शासक उबल पड़े । उन्होंने कहा-"हम अपने देश में कुछ भी कर सकते हैं ।" उसके जवाब में ब्रुँडेज ने भी यही लिखा-"उसी तरह ओलम्पिक संगठन पर हमारा अधिकार है । यदि निर्धारित आदर्शों की उपेक्षा की जायेगी तो अर्जेण्टाइना के खिलाड़ियों को भविष्य में किसी प्रतियोगिता में भाग न लेने दिया जायेगा । यह कड़ाई काम आई । अर्जेण्टाइना सरकार को अपना निश्चय बदलना पड़ा । खिलाड़ियों को दी जाने वाली अतिरिक्त सुविधा वापस लेनी पड़ी ।

खिलाड़ी केवल खिलाड़ी रहें व्यवसायी नहीं । यह सिद्धान्त उन्हें इसलिये निर्धारित करना पड़ा कि, कहीं रेस के घोड़ों की तरह मालदार आदमी उन्हें भी अपनी कठपुतली न बनालें और पुलिस, फौज में काम करने वाले विशिष्ट बलवानों को ही चैम्पीयन बनकर विश्वख्याति पर छा जाने का मौका मिले । यदि ऐसा हुआ तो सर्वसाधारण में खेलों के प्रति रुचि उत्पन्न करने वाला संस्थान अपना उद्देश्य ही खो बैठेगा तब वह मुट्ठी भर लोगों को अधिक सम्मान प्रदान करने का माध्यम रह जायेगा और एक प्रकार से उदीयमान खिलाड़ियों का रास्ता बन्द हो जायेगा ।

इसी आधार पर उन्होंने अमेरिका के सबसे बड़े माइनर सेन्टी को जीवन भर के लिये 'एक्येचर' की सूची से हटा दिया ।

एक और ऐसी ही घटना कनाडा में घटी । कु० अन्ना स्काट ने बर्फ पर फिसलने (स्केटिंग) की विश्व प्रतियोगिता जीती । ओटावा के नागरिकों ने उसका शानदार स्वागत करने और उसे एक बहुमूल्य कनवर्टीवल ब्यूक कार उपहार में देने का निश्चय किया । यह पता ब्रुँडेज को लगा, उन्होंने तुरन्त सन्देश भेजा कि यदि स्काट ने यह उपहार स्वीकार किया तो उसे व्यवसायी घोषित किया जायेगा और अयोग्य ठहराया जायगा -खिलाड़ियों की सूची में उसका नाम न रहेगा । इस धमकी का कारगर प्रभाव पड़ा और उसी समारोह में स्काट ने यह उपहार अस्वीकृत कर दिया । इससे कनाड़ा में बहुत रोष उभरा । उनके पुतले तक जलाये गए-पर ब्रुँडेज टस से मस नहीं हुए । वे खिलाड़ियों में इस प्रकार की अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा उत्पन्न करने, उन्हें परस्पर ईर्ष्यालु बनाने और एक ही वर्ग में अभागे, सौभाग्यशाली का विभेद उत्पन्न नहीं करना चाहते थे । अस्तु, इस प्रकार के कठोर कदम उठाने के अलावा उनके पास कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था ।

ऐसी ही एक घटना का सामना उन्हें हिटलर से घोर विरोध लेकर उन दिनों करना पड़ा जब हिटलर का सितारा आसमान को छू रहा था और उसके सामने मुँह खोलने की हिम्मत भी नहीं पड़ती थी ।

अनुपयुक्तता के विरुद्ध लड़ने में उन्हें अगणित संघर्ष करने पड़े । इतना ही नहीं उन्होंने उस महान संगठन को सुविस्तृत, सुगठित और सुव्यवस्थित बनाने में पूरा-पूरा योगदान दिया । उन्होंने अपने हाथ में एक कार्य लिया और उसी में तन्मय हो गये । यदि आधे-अधूरे मन से यह कार्य किया होता तो उतनी सफलता कदापि न मिलती और दूसरे अगणित संगठन प्रयासों की तरह यह भी लँगड़ा, लूला-कुबड़ा रहकर किसी प्रकार अपनी गाड़ी खींचने तक सीमित रहता ।

ब्रूंडेज के पास उनकी अपनी थोड़ी सी आजीविका है । उनके पास एक बड़ा मकान है, उससे किराये की जो आमदनी होती है उसी से वे अपनी गुजर करते हैं । इतना ही नहीं ओलम्पिक संस्थान से वे किराया-भाड़ा और आफिस खर्च तक नहीं लेते । यों यह राशि ३०-४० हजार डालर तक जा पहुँचती है । वे चाहते तो वेतन न सही, इतना खर्च तो संस्था खुशी-खुशी ही देती रहती । अपने पास की आजीविका को बेटे-पोतों के लिये संग्रह करते रहना और सेवा-भावियों का कार्यक्रम रहता है, पर यह ओछापन ब्रूंडेज जैसे महामानव नहीं कर सकते । उन्होंने किया भी नहीं है, यही उनकी महानता के अनेक आधार हैं जिन्होंने केवल उन्हें ही नहीं वरन् उनके द्वारा संचालित कार्य को भी उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचाया है ।

कर्मयोगी हचिसन

अमरीकी सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक टामस अल्वा एडीसन अपनी प्रयोगशाला में किसी प्रयोग में व्यस्त थे । दृष्टि ऊपर उठाई तो सामने एक नवयुवक को खड़ा देखा । एक ही साथ कई प्रश्नों को सुनकर भी वह चकराया नहीं । कहाँ अध्ययन कर रहे हो ? किस विषय में अधिक रुचि है ? पढ़-लिखकर क्या बनने का स्वप्न देख रहे हो ?

बचपन से मेरी इच्छा इलैक्ट्रिकल इन्जीनियर बनने की है, इसलिये स्कूल की पढ़ाई समाप्त कर इंजीनियरिंग कालेज में अध्ययन कर रहा हूँ । इंजीनियरिंग की परीक्षा पास कर यदि आपकी प्रयोगशाला में प्रधान इंजीनियर का पद प्राप्त हो जाये तो आप जैसे वैज्ञानिक से बहुत कुछ सीखने को मिल जायेगा और अनुसंधान कार्यों में आपकी सहायता भी कर सकूँगा ।

उस अपरिचित जिज्ञासु की बात सुनकर एडीसन बड़े खुश हुये । एक क्षण को अपने विचारों में निमग्न होते हुए वे बोले "तुम्हारे विचारों का मैं स्वागत करता हूँ । तुम्हारी महत्वाकांक्षा भगवान पूरी करें पर मैं अपनी प्रयोगशाला में उसी व्यक्ति की नियुक्ति करना चाहता हूँ जो विज्ञान के क्षेत्र में एक आविष्कार करके दिखा सके ।"

यह छात्र माइल्स था जो बड़े होने पर विज्ञान जगत में डा० माइल्स रीश हचिसन के नाम से विख्यात हुआ । उस दिन तो वह युवक माइल्स अपने घर लौट आया पर उसके सामने का मार्ग अब बिल्कुल साफ था । उसे अपने लक्ष्य के निर्धारण में अब किसी प्रकार की कोई कठिनाई होने वाली न थी ।

उसने अपने विद्यार्थी जीवन में कतिपय ऐसे व्यक्तियों को देखा जिन्हें कान से कम सुनाई पड़ता था । सोचने लगा यदि ऐसे व्यक्तियों के प्रति कुछ सेवायें दी जा सकें तो उनके जीवन को और उपयोगी बनाया जा सकेगा । उस समय तो इंजीनियरिंग का विद्यार्थी था । अतः चिकित्सा क्षेत्र में शोध करने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ज्ञान की यह दोनों शाखायें बिल्कुल अलग हैं ।

इंजीनियरिंग की परीक्षा उत्तीर्ण की और कान की बनावट का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अलबामा मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया । विषय का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर उस उत्साही नवयुवक ने मेडीकल कालेज से विदा ली और बहरों के लिये यन्त्र बनाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया । कई महीनों के अथक परिश्रम के बाद उन्हें सफलता मिली और विद्युत की सहायता से ऐसा यन्त्र तैयार कर लिया गया । इसका नाम 'अकाउस्टिफन' रखा गया ।

उन दिनों ग्रेट ब्रिटेन की महारानी अलेक्जेण्ड्रा को अपने कानों से कुछ कम सुनाई देने लगा था । उन्हें जब यन्त्र बनने की खबर मिली तो उन्होंने भी डाक्टर हचिसन से वह यंत्र मँगवाया । इतने से ही उन्हें सन्तोष न हुआ तो उन्होंने हचिसन को लन्दन बुलाकर सार्वजनिक अभिनन्दन किया ।

अब डाक्टर हचिसन, एडीसन की प्रयोगशाला में पहुँचे । उन्होंने देखा जैसे उनकी प्रतीक्षा की जा रही है । उन्हें वहाँ काम करने का अवसर मिलने लगा । वह एडीसन की पूरी-पूरी सहायता करने लगे । दोनों वैज्ञानिक १८-१८ घण्टे कार्य में व्यस्त रहते थे । हचिसन का जीवन कर्ममय हो गया था । जब कभी अधिक काम होता वह प्रयोगशाला में ही विश्राम करते, वहीं खाते पीते । यद्यपि उनका घर प्रयोगशाला के बिल्कुल निकट था फिर भी वे कभी दो-चार मिनट से अधिक को न जाते थे जिससे कि चलते हुए कार्य में किसी प्रकार की बाधा न पड़े ।

आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंने अपने जीवन में केवल तीन दिन का अवकाश ही लिया शेष सारा समय विज्ञान के लिए समर्पित किया । भला ऐसे श्रमनिष्ठ व्यक्ति जिस कार्य में हाथ डालेंगे वह पूरा क्यों न होगा ?

एक अपराजेय देशभक्त–

खान अब्दुल गफ्फार खाँ

विवेकवान, वे ही व्यक्ति हैं जो समझ में आ जाने पर ठीक बात को एक बार में ग्रहण कर गाँठ बाँध लेते हैं और गलत बात को सदा-सर्वदा के लिये त्याग देते हैं । सरहदी गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ उन्हीं विवेकवान व्यक्तियों में से थे ।

गरम खून वाली उस पठान जाति में जन्म लेकर भी, जिसके शब्दकोष में अहिंसा का बोधक कोई शब्द कभी नहीं रहा और जो सदा से शक्ति और शस्त्र में ही विश्वास रखने वाली रही है, खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने जब से महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आकर शान्ति और अहिंसा की महत्ता समझी उस दिन से सदा-सर्वदा के लिये एक शान्त सन्त की तरह अहिंसावादी बन गये और उस व्रत-भङ्ग की हजारों परिस्थितियाँ आने पर भी अपने सिद्धान्त पर अचल और अडिग बने रहे ।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ का जन्म उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त के एक सम्पन्न पठान परिवार में जनवरी १८९० में हुआ। इनके पिता पेशावर के निकट उत्मानजई गाँव के जागीरदार थे और क्षेत्र में उनका बहुत प्रभाव था। सीमा प्रान्त का यह पठान-परिवार प्रारम्भ में साम्राज्यवादियों का अनुयायी था किन्तु जब देश की स्वाधीनता का आन्दोलन छिड़ा और महात्मा गाँधी का नया राजनीतिक दर्शन प्रकाश में आया तो यह परिवार भी सत्य को स्वीकार किये बिना न रह सका। सम्पूर्ण परिवार ने अन्यायी साम्राज्यवादियों का साथ छोड़ दिया और स्वदेश-स्वाधीनता के झण्डे के नीचे आ गया और एक बार फिर जीवन भर स्वाधीनता संग्राम के सैनिक बनकर विदेशी ताकतों का उत्पीड़न सहन करते रहे। उन्होंने देशभक्ति की वेदी पर अपनी जागीर, स्वाधीनता, सुख-सुविधा तथा सारी सम्पत्ति बलिदान कर दी और फकीरी धारण कर जेल और जुल्म सहने का स्वाद लेते रहे।

इसी परिवार के पुत्ररत्न खान अब्दुल गफ्फार खाँ भी देश के लिये जिस विनम्रता, शान्तिप्रियता और अहिंसा का परिचय देते हुए शासकों का अपमान और अवहेलना सहना अपना कर्त्तव्य समझते रहे। वे कितने स्वाभिमानी और असहनशील थे इसका पता इस एक ही बात से चल जाता है।

उत्मानजई से मिडिल की परीक्षा पास करने के बाद खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने मिलिट्री में जाने का निश्चय किया। उन्होंने अपना पूरा परिचय लिखकर प्रार्थना पत्र भेजा और वे तुरन्त बुला लिये गये। नाप-जोख और तौल में अनफिट होने का प्रश्न ही नहीं था। अन्तिम डाक्टरी जाँच में भेज दिये गये। वहाँ वे अपनी बारी आने की प्रतीक्षा में धैर्यपूर्वक बैठे थे कि तब तक एक अँग्रेज अफसर ने एक हिन्दुस्तानी सिपाही से कुछ अपमान-जनक व्यवहार कर दिया। बस युवक गफ्फार खाँ का स्वाभिमान जाग उठा और वे उस अफसर से एक हिन्दुस्तानी होने के नाते टूट पड़ने को तैयार हो गये। किन्तु कुछ लोगों ने बीच में पड़कर मामला वहीं रोक दिया। खान अब्दुल गफ्फार खाँ का मन मिलिटरी की नौकरी से फिर गया और वे घर वापस चले आये। इसी स्वाभिमानी पठान युवक ने जब सत्य, शान्ति और अहिंसा की महत्ता हृदयंगम कर ली तो उसके निर्वाह में महात्मा गाँधी की समकक्षता तक जा पहुँचा। संसार में सिद्धान्त-शूर और व्रतवन्त व्यक्ति ऐसे ही धीर पुरुष कहलाते हैं।

मिलिटरी की नौकरी से इन्कार कर देने पर इनके पिता ने इन्जीनियरिंग पढ़ने के लिये विलायत भेजने का निश्चय किया। इस पर माता ने विरोध करते हुए कहा कि "मेरा एक लड़का तो विलायत जाकर हाथ से निकल गया, अब मैं इस एक लड़के को उस रास्ते कदापि न जाने दूँगी।" निदान इनका इंग्लैण्ड जाना स्थगित हो गया।

यद्यपि खान अब्दुल गफ्फार खाँ एक जागीरदार के बेटे थे, घर में किसी बात की कमी न थी। धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद और मान-सम्मान सब कुछ था। चाहते तो घर बैठे ऐशो-आराम की जिन्दगी बिता सकते थे। किन्तु उन्हें घर बैठकर खाना-पीना और मौज उड़ाना पसन्द न आया। वे कुछ ऐसा काम करना चाहते थे जिससे वे व्यस्त भी बने रहें और जनता का कुछ हित भी होता रहे। निदान वे पेशावर के एक मकतब में चले गये और वहाँ कुरान और हदीस आदि धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करने लगे।

कुछ समय तक मकतब की सेवा करने के बाद वे फिर अलीगढ़ आकर उच्च शिक्षा के लिए विश्व-विद्यालय में भरती हो गये। अलीगढ़ विश्वविद्यालय उन दिनों मुसलमानों में साम्प्रदायिकता भरने का एक बड़ा केन्द्र बना हुआ था। जब विश्वविद्यालय के कट्टरपन्थी और साम्प्रदायिक विष से विकृत मुसलमान नवयुवकों ने अपने बीच एक सरहद पठान नौजवान को आया देखा तो बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा-'इसको साम्प्रदायिक विष से भरकर सरहदी सूबे में साम्प्रदायिकता फैलाने का यन्त्र बनाना चाहिए, अस्तु उन्होंने खान से वैसी बातें करनी और पाकिस्तान का स्वप्न दिखलाना शुरू कर दिया। किन्तु उस सच्चे मनुष्य पर देश-द्रोह का रंग न चढ़ सका। उसकी समझ में बिल्कुल न आया कि आखिर यह सब लोग हिन्दू-मुसलमानों के बीच दुश्मनी और देश के विभाजन में किस हित का स्वप्न देखते हैं। उसे उनके विचार देश-द्रोह से भी अधिक दूषित लगे और उन्होंने उन सबका साथ छोड़ दिया तथापि उसके मस्तिष्क में राजनीति के बीज पड़ चुके थे।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने अलीगढ़ में रहते हुए मौलाना आजाद का अखबार 'अलहिलाल' पढ़ना शुरू किया। उन्हें इस अखबार की विचारधारा ठीक मालूम दी और वे उन्हीं विचारों में दीक्षित होते चले गये। अध्ययन, अनुभव, मनन और देश की आवश्यकता तथा विदेशियों की नीति देखकर खान अब्दुल गफ्फार खाँ के हृदय में राष्ट्रीयता की भावना जाग उठी और वे स्वदेश की स्वाधीनता के लिये कुछ करने के लिये उत्सुक होकर वापस चले आये।

राष्ट्रीयता का प्रकाश लेकर १९११ में घर आने पर उन्होंने राजनीति के नाम पर सोयी हुई पठान जाति को जगाना शुरू कर दिया। उन्हें इस बात पर बड़ी लज्जा आई कि साहस तथा वीरता की धनी पठान जाति स्वाधीनता के लिये कुछ न करती हुई, मोहनिद्रा में सोती हुई अँग्रेजों के जाल में फँसी हुई है।

सरहदी पठानों में जाग्रति लाने के लिये उन्होंने जो सबसे पहला काम किया वह था शिक्षा-प्रसार। खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने न केवल स्थान-स्थान पर स्कूल ही स्थापित कराये बल्कि स्वयं भी पाठशालायें लगाते थे और उनमें अक्षर-ज्ञान देने के साथ-साथ राष्ट्रीय शिक्षा भी देते

थे । आठ साल के अविराम परिश्रम के बाद उन्होंने पठानों के बीच जाग्रति पैदा कर दी और उन्हें इस योग्य बना दिया कि वे स्वाधीनता, अपने अधिकार और देश व समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य समझ सकें ।

१९१९ में जब गाँधी जी का आह्वान गूँजा और देश भर में स्वतन्त्रता का आन्दोलन चल पड़ा तब खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने सरहदी पठानों को उठाया और लाखों जन-समूह के बीच विदेशी सरकार की कड़ी आलोचना की । उसी सभा में उन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम में पठानों को मर मिटने का निमन्त्रण दिया । उनका आमन्त्रण पाकर वे संगठित हो उठे और सरहद पर स्वतन्त्रता का सिंहनाद गूँजने लगा ।

अँग्रेजों के लिए यह एक नया अनुभव था । उन्हें स्वप्न में भी विश्वास न था कि उनकी नीति के जादू से बँधे सीमान्त प्रदेश के पठान भी भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में सम्मिलित हो सकते हैं । उन्होंने सरहदी विद्रोह का मुख्य कारण खान अब्दुल गफ्फार खाँ को समझा और उन्हें गिरफ्तार करा कर जेल में डलवा दिया । खान अब्दुल गफ्फार खाँ के व्यक्तित्व से सरकार इतनी डर गई कि उसने इस नरसिंह को बाँधने के लिए एक विशेष प्रकार की हथकड़ी-बेड़ियाँ बनवाईं ।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने जेल जीवन का समय यों ही पड़े-पड़े नहीं खो दिया । उन्होंने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया और उसका उपयोग गीता तथा बाइबिल के गहन अध्ययन में किया । इसके अतिरिक्त महात्मा गाँधी की आत्म-कथा और उनके राजनीतिक-दर्शन का भी गूढ़ अध्ययन किया । निष्पक्ष तथा निर्विघ्न अध्ययन से उन्हें इन सद्ग्रन्थों का सार-तत्व हृदयंगम हो गया और वे अब वास्तविक रूप से सत्य, शान्ति, अहिंसा और प्रेम के अनुयायी बन गये, तो फिर एक बार ग्रहण करने के बाद उसे जीवन भर नहीं छोड़ा ।

जेल से छूटने के बाद वे फिर देश और समाज की सेवा में लग गये । 'चारसद्दा आश्रम' और 'खुदाई खिदमतगार' नाम के दो आश्रम उन्होंने चलाये । यह आश्रम लगभग भारतीय आश्रम जैसे थे । इनमें सूत कातने का कार्य तो नियमित रूप से चलता ही था, साथ ही नित्य ही ईश्वर-प्रार्थना और राष्ट्रीय शिक्षा का आयोजन भी था । सत्य, अहिंसा और शान्ति का नियमित पाठ इस आश्रम में पढ़ाया जाता था । साधारण शिक्षा के अतिरिक्त 'चारसद्दा आश्रम' में ऐसी व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती थी जिसे पाकर शिक्षार्थी जीवन में स्वावलम्बी बनकर, सम्मानपूर्वक अपनी आजीविका कमा सकें । यह आश्रम पठानों का वास्तविक भारतीयकरण करने का एक सार्थक केन्द्र था ।

'खुदाई खिदमतगार' नाम का संगठन और कुछ नहीं था, देश तथा समाज के सेवकों का एक संगठन था । इसके 'स्वयंसेवक' खान अब्दुल गफ्फार खाँ के नेतृत्व में देश के अहिंसात्मक आन्दोलनों में तो भाग लेते ही थे, आवश्यकता पड़ने पर पीड़ितों तथा दुःखी लोगों की सहायता भी करते थे ।

सरहद की इन दोनों संस्थाओं ने वहाँ पर विदेशी शासन के विरुद्ध एक प्रचण्ड वातावरण तैयार किया जिससे उस महत्वपूर्ण स्थान से अँग्रेजों के पैर उखड़ने लगे । अस्तु सरकारी कूटनीतिज्ञों ने लीगी नेताओं को खान अब्दुल गफ्फार खाँ की सच्ची राष्ट्र-भक्ति से विरत करने की प्रेरणा दी । लीग के बड़े-बड़े नेताओं ने उनसे सम्पर्क स्थापित किया । उन्हें पाकिस्तान बनने के फायदे दिखलाये, इस्लाम और मुसलमानियत का वास्ता दिया और यहाँ तक कहा कि वे हिन्दुओं के संगठन काँग्रेस का साथ छोड़कर लीग में शामिल होकर पाकिस्तान बनवाने में सहायता करें तो उन्हें पाकिस्तान सरकार का सर्वोच्च पद जीवन भर के लिए उन्हें दे देंगे और यदि चाहेंगे तो उनका पृथक राज्य ही बनवा देंगे । किन्तु सिद्धान्त तथा सत्य के धनी खान अब्दुल गफ्फार खाँ उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आये और सच्चे मन से भारत माता की सेवा में लगे रहे । इस आराधना के लिए उन्हें काफिर, गैर-मुस्लिम और इस्लाम का शत्रु भी कहा गया और तरह-तरह से अपमानित और लांछित किया गया, किन्तु वे अपने व्रत से जरा भी विचलित न हुए । सरकार ने उनकी सारी जमीन, सम्पत्ति तथा जीवन के साधन छीन लिये पर उन्हें न विचलित होना था और न वे विचलित हुए ।

१९२१ के असहयोग आन्दोलन से तो उनका जीवन जेल में ही कटने लगा । जेल में उन्हें तरह-तरह के त्रास और यातनायें दी गईं । उनका स्वास्थ्य खराब हो गया । बहुत बार उन्हें अनशन करना पड़ा किन्तु जिस महान पथ पर वे अपना कदम बढ़ा चुके थे, उससे तिल भर पीछे हटना उन्होंने सीखा ही न था । राजनीतिक दुर्भाग्य से पाकिस्तान बन गया और खान अब्दुल गफ्फार खाँ की कर्म-भूमि सीमान्त प्रदेश पाकिस्तान में चला गया । पाकिस्तान बन जाने पर वहाँ की सरकार ने पुनः पदों का लालच देकर उन्हें व्रत-च्युत करना चाहा । किन्तु उन्होंने पाकिस्तान को मान्यता प्रदान न की और पख्तूनों की मातृभूमि सीमान्त प्रदेश को पाकिस्तान से स्वतन्त्र कराने के लिये संघर्ष करना शुरू कर दिया और जिसके लिये उन्हें जेल में जीवन बिताना पड़ा । यदि वे चाहते तो सिद्धान्त की कीमत पर पाकिस्तान के साथ होकर वहाँ की सरकार में मनमाना पद ले सकते थे अथवा भारत में स्थानांतरण कर जेल व जुल्म से तो बच ही सकते थे साथ ही जहाँ स्वतन्त्रता के बाद अवसरवादियों ने दोनों हाथ लाभ लूटे हैं वे भी उच्च से उच्च पद पा सकते थे । किन्तु जिसका जीवन ही सत्य के लिये संघर्ष करते रहने के लिये समर्पित हो चुका था, जो समाज तथा देश की सेवा के लिये जीवित रहा वह प्रलोभन को क्या महत्व देता ?

बंगला देश के निर्माता–
शेख मुजीबुर्रहमान

विजय सदा न्याय की हुई है, अन्याय सदा हारता आया है। विश्व का इतिहास उठाकर देखें तो यही स्पष्ट होगा कि अनाचार कितना ही बड़ा हो जब तक उसका प्रतिकार नहीं किया जाता तभी तक वह बढ़ता है किन्तु जब उसका प्रतिकार करने के लिए कोई उठ खड़ा होता है तो उसे हार माननी ही पड़ती है। इस प्रतिकार के लिए कमर कस कर खड़ा होना किसी साहसी का ही काम होता है। ऐसे साहसियों की अमर गाथायें युगों तक गाई जाती हैं।

ऐसा ही एक साहस इन दिनों किया गया। इस साहस का श्रेय बङ्गबन्धु शेख मुजीबुर्रहमान को दिया जायगा, जिसके फलस्वरूप चौबीस वर्ष बाद बंगला देश को पाकिस्तान के क्रूर शासन से मुक्ति मिली।

७ दिसम्बर, १९७० का दिन न्याय के लिये लड़ने वाले साहसियों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने वाला दिन था। पाकिस्तान के अमानुषिक अत्याचारों को सहते-सहते बंगाल अधमरा हो गया था। ढाका के रेसकोर्स मैदान में एक विशाल जनसमूह के सम्मुख शेख मुजीबुर्रहमान ने अपने दल को वोट देने की अपील इन शब्दों में की "यह स्वातंत्रता संग्राम है, जिसके दौरान हम न सरकार को टैक्स देंगे, न उसके फौजियों के साथ सहयोग करेंगे।"

यह घोषणा करने वाले शेख मुजीबुर्रहमान को वहाँ की जनता स्नेह से बंगबन्धु के नाम से पुकारती थी। इनका जन्म १७ मार्च, १९२० में बंगाल के फरीदपुर जिले के टौंगी पारा गाँव के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। ये बी० ए० करने से पूर्व ही स्वाधीनता संग्राम में भाग ले चुके थे। १९४१ में उन्होंने नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के साथ काम किया था। कलकत्ता की 'ब्लेक हाल घटना' व होलवेल स्मारक हटाने में उन्होंने सहयोग दिया था। वे सुभाष को अपना गुरु मानते थे।

भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान सरकार ने पाकिस्तान की भाषा उर्दू घोषित की। पूर्वी बंगाल व बंगालियों के प्रति यह सौतेला व्यवहार था। बंग बन्धु ने इसके विरोध में जनता की आवाज बुलन्द की। विरोध करने वाले जेल में ठूँस दिये गये। उसी दिन इनके मन में यह निश्चय हो गया कि यह पाकिस्तान चलने वाला नहीं है। ये पाकिस्तान के विरोधी हो गये। पूर्वी बंगाल के नागरिक उर्दू जानते नहीं थे। यह भाषा उन पर बलात् थोपी गई थी। इस विरोधी आंदोलन का नेतृत्व मुजीब ने किया। इन्हें भी बन्दी बनाकर ७ दिन तक जेल में रखा गया।

अब ये पूर्वी बंगाल की जनता में लोकप्रिय हो चुके थे, इन्हें अवामी लीग का संयुक्त सचिव चुन लिया गया। १९५४ में वे प्रान्तीय चुनावों में विधानसभा के लिये चुने गये। एक वर्ष पश्चात् वे केन्द्रीय विधानसभा के लिये चुन लिये गये।

राजनीति शेख मुजिबुर्रहमान का क्षेत्र था किन्तु वे राजनीति, छलछिद्रों से परे थे। एक सच्चे मानव और सत्य के समर्थक होने के नाते उन्हें १९५६ में जो पाकिस्तान का विधान बना, स्वीकार नहीं हुआ। इनके अतिरिक्त अवामी लीग के सभी सदस्यों ने इसे 'अधूरी स्वायत्तता' की संज्ञा दी। पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान के साथ जो इस संविधान में भेद-भाव बरता गया था उसका कड़ा विरोध किया। ४ अक्टूबर, १९५६ को उन्हें पाकिस्तान सुरक्षा अध्यादेश के अन्तर्गत बन्दी बना लिया तथा बिना न्यायिक जाँच के एक वर्ष तक बन्दी बनाकर रखा गया।

बंगबन्धु का पूरा जीवन संघर्ष की एक कहानी है। जनता की आवाज को पाकिस्तानी शासकों के कानों तक पहुँचाते रहने पर भी वह सुन नहीं रहे थे वरन् मुजीब को दबाने का प्रयास करते रहे। यह चाहते तो राजनीति में अच्छा पद पा सकते थे किन्तु इन्होंने जनसाधारण की श्रद्धा को बेचा नहीं। १९६५ में जब भारत-पाक युद्ध हुआ तब पूर्वी बंगाल के प्रदेश को प० पाकिस्तान ने बिल्कुल उपेक्षित रखा। तब बंग, बन्धु ने जनता की भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया था-"हमारी सरकार काश्मीर में जनमत कराने के लिये लड़ रही है। सरकार को यहाँ जनमत संग्रह करना चाहिये तब उसे मालूम होगा कि ९५ प्रतिशत जनता मेरे साथ है।"

बंगाल की जनता की श्रद्धा को मुजीब ने जिस प्रकार अपने हृदय में समेटा है उसका उदाहरण गाँधी जी के बाद यह दूसरा है। १९६६ में इनकी पार्टी ने पूर्वी बंगाल को पूर्ण स्वायत्तता दिलाने का कार्यक्रम प्रस्तुत किया तथा उसके लिये जनमत संग्रह करने में जुट गये। इसका परिणाम पाकिस्तान के प्रथम चुनाव (जिसमें एक व्यक्ति ने एक वोट दिया) में शेख मुजीबुर्रहमान के छह सूत्री कार्यक्रम के आधार पर इनकी पार्टी ने अपूर्व सफलता पाई।

जनमत के द्वारा इस प्रकार शेख साहब का समर्थन करने पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल याह्या खाँ बौखला उठे। इसका कारण यह पाकिस्तान में जनमत के आधार पर कोई सरकार नहीं बनी थी। इसी कारण सरकार सेना की कठपुतली मात्र रही थी। प्रत्येक सरकार चन्द महीनों तक ही जीवित रह सकी और कोई स्थानीय शासन न बन सका। सैनिक प्रशासकों को जनमत की इस सरकार से भय होना स्वाभाविक था।

जनरल याह्या खाँ नहीं चाहते थे कि शासन सूत्र मुजीब के हाथ में चला जाये। इस कारण ३ मार्च को जो राष्ट्रीय एसेम्बली की बैठक होने वाली थी उसे स्थगित कर दिया। राष्ट्रपति के इस निर्णय पर ढाका, चटगाँव तथा पूर्वी बंगाल के सभी स्थानों पर जोरदार प्रदर्शन हुए।

पाकिस्तान सरकार ने इन प्रदर्शनों का बड़ी क्रूरता से दमन किया । शेख साहब ने याह्या खाँ के इस कदम को 'काला षड्यंत्र बताया'। सारे पूर्वी बंगाल में इसका शांतिपूर्ण तरीके से विरोध किया गया ।

पाकिस्तान शासकों ने जनता की इस आवाज को दबाने के लिये एक चाल चली । १७ मार्च को पूर्वी बंगाल में जनरल टिक्का खाँ को मार्शल ला प्रशासक नियुक्त किया । याह्या खाँ स्वयं मुजीब से बात करने का ढोंग करने ढाका गये । बात-चीत चलती रही साथ ही साथ सुनियोजित ढंग से सैनिक स्थिति को सुदृढ़ कर लिया । यह स्थिति मजबूत होते ही बातचीत बन्द कर याह्या खाँ पाकिस्तान लौट आये । २६ मार्च को जनता के इस सेवक को, जनता की आवाज को, पाकिस्तान के क्रूर शासकों ने बन्दी बना लिया और पश्चिमी पाकिस्तान ले आये । उसी रात पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने शेख मुजीब को उस राष्ट्र का शत्रु घोषित कर दिया, जिसके नागरिकों ने उसे राष्ट्र का शासक नियुक्त किया था । इन्हें पाकिस्तान का शत्रु घोषित किया साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि इनको कठोर दण्ड दिया जायगा ।

"उनके पास शस्त्र हैं, वे मुझे मार सकते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि वे बंगाल की साढ़े सात करोड़ जनता की भावनाओं को नहीं कुचल सकते ।" पाकिस्तानी शासकों ने मुजीब के शरीर को बन्दी बना लिया तो क्या ? मुजीब कोई एक शरीर तो था नहीं वह तो समय की आवाज थी । समय की आवाज किसी भी शरीर के माध्यम से गूँज सकती थी । मुजीब और बंगला देश के प्रति किया गया नृशंस व्यवहार रंग लाया । बंगला देश के कोने-कोने से मुजीब निकल पड़े । दमन चक्र तेजी से चलने लगा । एक ओर सच्चाई के शस्त्र लिये साधन विहीन बिना सैनिक शिक्षण पाई जनता की सेना, मुक्ति वाहिनी और दूसरी ओर अमेरिका से खरीदे गये युद्ध सामग्री से लदे-फदे प्रशिक्षित पाकिस्तानी सैनिक युद्ध के मैदान में कूद पड़े ।

बड़े-बड़े देश जो शान्ति का दम भरते थे मौन साधे बैठे रहे । बंगाल की धरती पर पाकिस्तानी सैनिकों ने जो अमानुषिक अत्याचार किये उनका उदाहरण विश्व के इतिहास में नहीं मिलता । हत्या और बलात्कार के कीर्तिमान स्थापित करने में पाकिस्तान की सेना ने कोई कसर नहीं रखी । साढ़े दस महीने तक यह साढ़े सात करोड़ जनता जिन्दगी और मौत के अँधेरे में भटकती रही । इस महाभारत के सूत्रधार थे बंगबन्धु जिनके आह्वान पर नागरिकों ने अपना सब कुछ स्वतन्त्रता के यज्ञ में होम दिया ।

यह कम साहस की बात नहीं है । एक तरफ पाकिस्तान की सुसज्जित सेना से निहत्थे नागरिकों को लड़ाने का साहस, न्याय के प्रति अटल निष्ठा । ईश्वर के नियमों पर इतना अटल विश्वास यदि इतना सब नहीं होता तो बंग बन्धु की कभी हिम्मत नहीं पड़ती कि वे इस युद्ध के लिये बिगुल बजा उठते ।

शेख मुजीबुर्रहमान पर पाकिस्तान की फौजी अदालत में गुप्त मुकदमा चलाया गया । पाकिस्तान के शासकों का बस चलता तो इन्हें कभी का मरवा दिया होता पर वे जानते थे कि इस आदमी के पीछे सारा बंगला देश है । गिरफ्तारी पर ही इतनी प्रतिक्रिया हो रही है तो मृत्यु पर न जाने क्या होगा ।

मुजीब ने जनता से केवल कहा ही नहीं कि स्वतंत्रता के लिये लड़ मरो वरन् इस संग्राम की पूरी तैयारी भी करली थी । यदि ऐसा नहीं होता तो मुजीब के बन्दी बनाने के उपरान्त वहाँ दस महीने तक जनता का मनोबल बना रहना कठिन था ।

शेख मुजीब राष्ट्रों की सच्ची मैत्री के समर्थक थे । किसी भी राष्ट्र के द्वारा उठाये गलत कदम का वे प्रतिवाद करने से नहीं चूकते थे । वे जब चुनाव जीते ही थे और पाकिस्तान ने भारत का एक वायुयान जला दिया था तब बङ्गबन्धु ने पाकिस्तान द्वारा इसकी जाँच न कराये जाने पर प्रतिवाद किया था ।

नौ महीने नर-संहार के बाद न्याय की विजय हुई । पाकिस्तान ने अचानक जब भारत के हवाई अड्डों पर आक्रमण किया तो भारत के लिये बंगला देश की समस्या अपनी समस्या हो गयी तथा भारत की सहायता से बंगला देश पाकिस्तान की दासता से मुक्त हो गया ।

शेख साहब तब बंगला देश के प्रधान मंत्री बने । एक सच्चे क्रांतिकारी राष्ट्र-भक्त के साथ-साथ इनमें मानवीय गुणों का समावेश था । अगस्त, १९७५ में सेना के कुछ विद्रोही अधिकारियों ने मिलकर उनकी हत्या कर दी ।

जिनकी रंग-रंग में क्रांति भरी थी-
डॉ० राम मनोहर लोहिया

बर्लिन में शिक्षा पा रहे पुत्र को भारतीय पिता का पत्र मिला । पत्र में भारत में हो रहे अत्याचारों का वर्णन था । महात्मा गाँधी ने १२ मार्च को नमक कानून तोड़ने को डाँडी प्रयाण आरम्भ किया तो स्थान-स्थान पर नमक बनाकर इस कानून तोड़ने का विरोध करने के लिए जनता उमड़ पड़ी । इन निहत्थे सत्याग्रहियों पर अँग्रेज सरकार के सिपाहियों ने अमानवीय अत्याचार किये । इन्हें लाठियों से पीटा गया और बूटों के तले रौंदा गया । कई लोग तो इस बेतरह पिटाई से बेहोश हो गये । स्वयं उसके पिता भी उन बेहोश होने वालों में से एक थे ।

युवक भगतसिंह तथा उसके साथियों के फाँसी दिये जाने की खबर पाकर पहले ही क्षुब्ध हुआ बैठा था ।

रही-सही कमी इस पत्र ने पूरी कर दी । उसके मन में इसका प्रतिकार करने की प्रबल कामना जाग पड़ी ।

इन्हीं दिनों लीग ऑफ नेशन्स की बैठक जिनेवा में होने वाली थी जिसमें भारत के प्रतिनिधि अँग्रेजों के पिट्ठू

एक राजा भाग ले रहे थे जो अँग्रेजों द्वारा रटाई गई बातें ही कहने वाले थे । भारत की वास्तविक स्थिति को प्रकट नहीं होने देने के षड़यन्त्र को विफल करने के लिए यह युवक कटिबद्ध हो गया ।

विदेश में जहाँ कोई संगी-साथी नहीं, पराए लोग हों वहाँ इस प्रकार का कदम उठाना असम्भव था पर इसने हार न मानी । वह जिनेवा जा पहुँचा । उन राजा ने ज्यों ही अँग्रेजी शासन की बड़ाइयों की तोता रटन्त आरम्भ की तो इस युवक ने दर्शक कक्ष में जोर-जोर से सीटी बजानी आरम्भ कर दी । पहरेदार भागकर युवक के पास पहुँचे । इसे दर्शक-कक्ष से बाहर निकाल दिया ।

युवक इस प्रकार बाहर निकाले जाने पर निराश न हुआ, 'कान्फ्रेस के अध्यक्ष के नाम एक पत्र' शीर्षक से भारत की वास्तविक स्थिति का चित्रण अखबार में छपाना चाहा । वह कई अखबारों के सम्पादकों के पास गया पर कोई इसे छापने को तैयार न हुआ । अन्त में एक पत्र 'लूश्रावे ह्यु मेनाइट' ने छापना स्वीकार कर लिया । युवक ने दूसरे दिन सभा आरम्भ होने के पहले ही इस पत्र की प्रतियाँ लीं और सभा भवन के द्वार पर खड़ा हो गया । सभा में भाग लेने वाले प्रत्येक प्रतिनिधि को उसने यह पत्र भेंट किया ।

युवक ने अपना प्रतिवाद सफलतापूर्वक कर लिया । अन्य देश के प्रतिनिधियों ने इस पत्र को पढ़कर वास्तविक स्थिति जानी । अन्य देशों के सामने अँग्रेजों का स्वार्थ नंगा होकर सामने आ गया । यह युवक था-राम मनोहर लोहिया ।

ये पढ़ने के लिय इंगलैण्ड गये पर उन्हें उसी देश की शिक्षा ग्रहण करने में कोई तुक दिखाई न दी जो हमारे देश को गुलाम बनाये था । वे जर्मनी चले गये । जर्मनी गये तो वहाँ एक विकट समस्या सामने आई । ये जब अपने प्राध्यापक प्रो० जोम्बार्ट के सामने उपस्थित होकर अँग्रेजी में अपना मन्तव्य बताने लगे तो उन्होंने कहा "मुझे अँग्रेजी नहीं आती । यहाँ की पढ़ाई केवल जर्मन भाषा में होती है ।" इन्होंने उत्तर दिया-"तीन महीने बाद आपसे मिलूँगा ।"

तीन महीने बाद ये प्रो० जोम्बार्ट से मिले तो जर्मन भाषा पूरी तरह सीख चुके थे । इस भारतीय की प्रतिभा देखकर जोम्बार्ट बहुत प्रसन्न हुए । लगन और परिश्रम के बल पर सभी कुछ सम्भव होता है, लोहिया ने इसका अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था ।

२६ मार्च, १९१० को अकबरपुर (उत्तर प्रदेश) में इनका जन्म हुआ । इनके पिता हीरालाल लोहिया कट्टर देशभक्त थे । राम मनोहर को जन्म देकर माँ चन्दा बचपन में ही सदा की नींद सो गई । एकमात्र पुत्र को अपनी माँ के भरोसे छोड़कर हीरालाल जी ने अपना शेष जीवन देश को सौंप दिया । लोगों ने विवाह करने का आग्रह किया पर वे न तो शादी के इच्छुक थे न पुत्र के लिए धन जमा करने के लिए ही । उन्होंने सोच लिया था कि पुत्र को शिक्षित करने तथा अपना खर्च चलाने के लिए तो वे चार घण्टे काम करेंगे तो भी काम चल जायगा ।

हीरालाल जी ने अपना कार्य क्षेत्र कलकत्ता बनाया । वे बड़ा बाजार काँग्रेस कमेटी के मन्त्री बनाये गये । राम मनोहर भी अपनी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके कलकत्ता पहुँच गये । वहाँ कालेज चयन का प्रश्न उपस्थित हुआ । उस समय अभिभावक मिशनरी कालेज में अपने लड़कों को पढ़ाना चाहते थे । राम मनोहर ने विद्या सागर कालेज में प्रवेश लिया जिसे लोग व्यङ्ग से भेड़िया धसान कालेज कहते थे । यहाँ पर भी अपने परिश्रम के बल पर प्रथम श्रेणी में बी० ए० आनर्स परीक्षा पास करके उन्होंने मिशनरी कालेज में पढ़ने वाले भारतीयों को दिखा दिया कि भारतीय कालेज में पढ़ाई का स्तर नीचा नहीं होता ।

जर्मनी से डाक्टरेट करके लोहिया भारत लौट रहे थे तो इनके पास पुस्तकों का अपूर्व संग्रह था । इन्हें खाने से भी अधिक पुस्तकों की जरूरत रहती थी । भारत में इनकी जो पढ़ाई का खर्च पिताजी देते थे उसमें से तीन चौथाई अच्छी-अच्छी पुस्तकें खरीदने में चला जाता था । नाजी सरकार के आदेश से इनकी सब पुस्तकें तथा सामान जब्त करवा दिया गया ।

मद्रास बन्दरगाह पर उतरे तो ये खाली हाथ थे । एक भी पैसा जेब में नहीं था । धन भले ही न हो, अर्जित विभूतियाँ तो थीं । ये जहाज से उतर कर सीधे 'हिन्दू' पत्र के कार्यालय पहुँचे और सह-सम्पादक से बोले -"मैं जर्मनी से आ रहा हूँ । आपको दो लेख देना चाहता हूँ ।" सह-सम्पादक ने इस क्षीणकाय नाटे युवक को देखा तो उसे इनके कथन पर विश्वास न हुआ । उसने पूछा - "कहाँ है लेख दिखाइये ?" लोहिया बोले-कागज-कलम दीजिये अभी लिख देता हूँ । मेरे पास कलकत्ता जाने के लिये पैसे नहीं हैं इसलिये आपको कष्ट दे रहा हूँ ।" इस सहज सच्चाई से वह प्रभावित हुए बिना न रह सका । कागज कलम लेकर कुछ ही घण्टों में दो लेख लिखकर लोहिया ने उनके हाथ में थमा दिये । लेख देखकर वह आश्चर्यचकित रह गया । लोहिया को पारिश्रमिक दिया तथा वह जीवन भर के लिये उनके मित्र बन गये ।

भारत आकर लोहिया अपनी डिग्री के बलबूते पर अर्थोपार्जन में नहीं लगे । वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगे । देशप्रेम की अग्नि जो उनके हृदय कुण्ड में जल रही थी उसी में अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की आहुति देकर वे राष्ट्र समर्पित जीवन जीने लगे ।

इनके पिता हीरालाल जी लोहिया ने इनकी भेंट गाँधी जी से कराई । वे इस युवक से प्रभावित हुए । लोहिया की गिनती गाँधी जी के अन्तरंग शिष्यों में की जाने लगी ।

लोहिया ने 'काँग्रेस सोशलिस्ट' पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया । इस पत्र में अपनी सशक्त लेखनी से अँग्रेजों के विरोध में लोहिया इस प्रकार के आक्षेप करते कि सरकार की नाक में दम होने लगा ।

केवल पत्रकार के रूप में ही नहीं लोहिया खुले सत्याग्रह में जोरदार भाषण देते थे । उनके हृदय में भारतीय प्रजा की पीड़ा थी । वह पीड़ा इतनी सघन थी कि उन की वाणी और लेखनी में इस प्रकार उभरती थी कि उसे जो भी सुनता देशप्रेम की वेदी पर बलिदान होने को प्रस्तुत हो जाता ।

लोहिया ने आजन्म अविवाहित रहने का संकल्प लिया था, मित्रों तथा परिचितों के आग्रह पर वे कभी विवाह करने के लिये तैयार नहीं हुए । उनके सामने महान लक्ष्य था उसी के निमित्त वह पूरी शक्ति लगाना चाहते थे । विवाह करके इस ओर शक्ति बँटाना नहीं चाहते थे ।

काँग्रेस में काम करते हुए लोहिया ने विदेशी सम्पर्क विभाग का काम सम्हाला । अब तक यह विभाग नहीं था । लोहिया ने इस विभाग को कुशलतापूर्वक संचालित करके विदेशों में भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में जनमत तैयार किया ।

उनके भाषणों को आपत्तिजनक घोषित करके उन्हें कई बार जेल में रखा गया । ७ जून, १९४० को इन्हें इसी अपराध में बन्दी बनाया गया, मुकदमे की पेशी पर हथकड़ी पहने इन्हें तीन मील लाया जाता था । हथकड़ी नहीं पहनने पर बल प्रयोग किया जाता । इन्हें दो वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया । यह सजा पूरी नहीं हुई कि द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण इन्हें बिना पूर्व सूचना के छोड़ दिया ।

फिर आया १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन । लोहिया की आत्मा वर्षों से जिसका इन्तजार कर रही थी इतिहास बदलने वाला वह समय आ पहुँचा । लोहिया गिरफ्तार होने के पक्ष में नहीं थे । उन्हें तो सही अर्थों में आन्दोलन चलाना था । बड़े-बड़े नेता लोगों के गिरफ्तार हो जाने पर जनता का मनोबल बनाये रखने के लिये भी तो कोई चाहिए । गिरफ्तार होने का क्रम बनाये रखने के लिये भी तो कोई चाहिए था । लोहिया ने वही भूमिका निभाई । पेम्फलेट तथा छोटी-छोटी पुस्तकों को चोरी छिपे छपाना तथा बाँटना इनका काम था । काँग्रेस रेडियो नाम का स्टेशन भी इन्हीं ने चलाया जो रेडियो प्रोग्रामों के बीच क्रान्तिकारी समाचार तथा उद्‌बोधन प्रसारित करता था । डेढ़ वर्ष तक इन्होंने अँग्रेजों की आँखों में धूल झोंककर देशभक्तों को करो या मरो की प्रेरणा दी । सरकार ने लोहिया को पकड़ने के लिये बड़े-बड़े इनाम रखे ।

लोहिया का भारत में रहना कठिन हो गया तो ये नेपाल चले गये । भारत सरकार ने नेपाल सरकार को इन्हें बन्दी बनाने के लिये मजबूर किया । जय प्रकाश पहले ही वहाँ थे दोनों पकड़े गये । वहाँ से जेल तोड़कर दोनों भाग निकले । भारत आने पर फिर पकड़े गये ।

लोहिया व जय प्रकाश को खतरनाक कैदी समझकर इन्हें लाहौर की जेल में रखा गया । वहाँ इतनी शारीरिक तथा मानसिक यन्त्रणायें दी गई जिनका वर्णन कठिन है । सात-सात दिन तक सोने नहीं देना साधारण बात थी । देश-प्रेम के इस दीवाने ने सब यन्त्रणायें सह लीं । चार वर्ष तक ये अत्याचारों को पीते रहे । जनता ने रिहाई के आन्दोलन किये पर सब व्यर्थ गया । इंग्लैण्ड में जब लेबर पार्टी की सरकार बनी तब इन्हें छोड़ा गया ।

आजाद भारत में भी लोहिया हिन्दी के प्रबल समर्थक तथा किसानों और मजदूरों के हितों के रक्षक के रूप में अपना एक व्यक्तित्व बनाये रहे । प्रबुद्ध विरोधी नेता के रूप में उनकी कमी आज भी अनुभव की जाती है । १९६७ में इनका देहावसान हो गया ।

लोहिया का जीवन एक ऐसे आदमी की कहानी है जो देशवासियों का अपना आदमी था । उन्हीं के दर्द में तड़पा, उन्हीं के दर्द को लेकर जिया और उसी को लेकर मरा । भावनाशील लोगों के हृदय में उनके कर्तृत्व से सदा पीड़ित मानव की सेवा करने की उमंगें उठा करेंगी ।

स्वदेश और समाज के उद्धारकर्ता– डा० सनयातसेन

सन् १८९६ के अक्टूबर में लन्दन नगर में यह खबर बड़े जोरों से फैली कि एक शरणागत चीन निवासी का बलपूर्वक अपहरण कर लिया गया है और उसे चीनी-दूतावास में कैद कर रखा है । स्वाधीनता की प्रियभूमि इंग्लैण्ड में ऐसी अनहोनी घटना का होना सुनकर सर्वसाधारण में एक विचित्र हलचल पैदा हो गई और दो-तीन दिन तक समाचार पत्रों तथा जनता में उसी की चर्चा सुनाई देती रही । यह देखकर वहाँ की सरकार का आसन भी डोला और प्रधानमन्त्री लार्ड सेलिसबरी ने चीन के राजदूत को सन्देश भेजा कि 'हमारे देश में इस प्रकार का अवैध कृत्य करके आपने बहुत बड़ी गलती की है, अब उस व्यक्ति को तुरन्त मुक्त कर दीजिए ।' कहना न होगा कि इस आदेश का अविलम्ब पालन किया गया । फिर इंग्लैण्ड निवासी उस व्यक्ति को बिल्कुल भूल गये ।

इस व्यक्ति का नाम सनयातसेन था । यद्यपि वह एक गरीब घर में उत्पन्न हुआ था, पर बड़े होने पर उसने चीन के 'महामहिम सम्राट' के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा उठाने का साहस किया था । एक गुलामों के भी गुलाम के तुल्य व्यक्ति की ऐसी गुस्ताखी देखकर अपनी पचास करोड़ प्रजा द्वारा 'भगवान' माने जाने वाले सम्राट बहुत असंतुष्ट हुये और उन्होंने आदेश दिया कि 'जो कोई उसे जीवित या मृतक पकड़ कर लायेगा उसे दस हजार (आज-कल के हिसाब से पाँच लाख) रुपया पुरस्कार दिया जायगा । इस धन के लालच से कितने ही लोग उसके प्राणों के ग्राहक हो रहे थे और उसके भय से वह क्रान्तिकारी युवक भी एक मुल्क से दूसरे मुल्क में छिपकर भ्रमण करता रहता था । जब वह अमरीका से लन्दन के लिए रवाना हुआ तो इसकी सूचना चीनी राजदूत ने तार द्वारा इंग्लैण्ड स्थित राजदूत को दे दी । लन्दन पहुँचकर सनयातसेन अपने एक अँग्रेज मित्र के यहाँ ठहर कर उस नगर में रहने वाले

चीनी लोगों में विद्रोह का प्रचार करने लगा। उसे यह मालूम न था कि स्वदेश से दस हजार मील के फासले पर यहाँ भी 'शत्रु' के दूत उसका पीछा कर रहे हैं।

इन दूतों ने भी चीन निवासी 'देश-भक्तों' का स्वाँग बनाया और सनयातसेन को सहायता देने का वायदा करके किसी एकान्त स्थान में ले गये। वहाँ चीनी राजदूत के गुर्गे पहले से ही छिपे थे और उन्होंने सनयातसेन को बेबस करके चीनी दूतावास में ले जाकर बन्द कर दिया। उनकी योजना थी कि कुछ दिन बाद मौका लगने पर उसे जहाज द्वारा चीन भेज देंगे पर भेद खुल गया और षड्यन्त्र रचने वालों की मन की मन में रह गई।

सनयातसेन का जन्म चीन के एक छोटे से गाँव में १८६६ में हुआ था। उस समय गरीबों की तो क्या बात चीन के अमीर लोग भी बहुत कम पढ़ते थे और उनको यह पता न था कि अपने देश के बाहर संसार में अन्य बड़े-बड़े प्रभावशाली और उन्नत देश भी हैं, जहाँ की जनता अपने आप ही मालिक है। यही कारण था कि चीन के निरंकुश सम्राट अपनी प्रजा को तरह-तरह से गुलाम बनाये हुए थे और वे हर्गिज नहीं चाहते थे कि चीन निवासियों में भूगोल, इतिहास आदि का ज्ञान फैले और वे यह जान सकें कि संसार के अन्य अनेक देशों के निवासी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सुखी और अधिकार सम्पन्न हैं। चीन में रहने वालों को तो केवल एक ही बात सुनाई और सिखाई जाती थी कि सम्राट भगवान का स्वरूप है, वही समस्त प्रजा का पिता है, उसी की सेवा करने से हमारा उद्धार हो सकता है। वह जो कुछ भी न्याय-अन्याय करे वही धर्मानुकूल और मान्य है। उसके विरुद्ध तनिक भी आवाज निकालना घोर पाप है।

पर ऐसे 'दैवी कैदखाने' में रहने पर भी किसी प्रकार सनयातसेन को आजादी की हवा लग गई और १३ वर्ष की आयु में ही वे अमरीका द्वारा शासित हवाई टापू में मजदूर के रूप में चले गये। वहाँ जाकर उनको अनुभव हुआ कि वे एक नई दुनिया में पहुँच गये हैं। पर उसका लाभ तब तक नहीं उठाया जा सकता जब तक वे अँग्रेजी सीखकर अन्य लोगों से बातचीत और विचार, विनिमय न कर सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने एक 'चर्चस्कूल' में नाम लिखा लिया। इसके बाद तो उनका साहस बढ़ गया और एक स्थान से दूसरे स्थान को जाकर अपनी शिक्षा को पूरी करने का प्रयत्न करने लगे, कुछ ही वर्षों में उन्होंने डाक्टरी की सनद प्राप्त कर ली और वे इस योग्य हो गये कि स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते हुए कहीं भी रह सकें।

शासन की भ्रष्टता और राज कर्मचारियों की घोर स्वार्थपरता को देखकर सनयातसेन के हृदय में विद्रोह का भाव कालेज में पढ़ते हुए ही उत्पन्न हो गया था और अपने कुछ साथियों को लेकर वे राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे थे। चीन में रहकर तो यह कार्य कर सकना सम्भव न था, क्योंकि सरकार के जासूस चारों तरफ फैले हुए थे और उनके द्वारा किसी के सम्बन्ध में जरा भी सन्देहजनक खबर मिलने पर उसे बिना विलम्ब किसी जेलखाने की कालकोठरी में बन्द कर दिया जाता और तरह-तरह की यन्त्रणायें देकर उसका प्राणान्त किया जाता था। साथ ही चालाक शासकों ने प्राचीनकाल से ही चीन की जनता के दिल और दिमाग को ऐसे सुदृढ़ बन्धनों में बाँधा था कि शासकगण चाहे जैसा अन्याय, अत्याचार करें वह चूँ नहीं करती थी। उनकी ठीक वही हालत थी जैसी हम अपने देश में कुछ ही वर्ष पहले भारतीय रियासतों की प्रजा की देख चुके हैं। इनमें से अधिकांश राजा अयोग्य थे और अपने भोग-विलास के लिये प्रजा का खून चूसने में उनको जरा भी संकोच नहीं होता था। उनके शासन में किसी की भी सम्पत्ति और इज्जत सुरक्षित नहीं थी। चाहे जब किसी की लूट-मार कर सकते थे। फिर भी प्रजा उनको 'सर्वशक्तिमान भगवान' का अंश समझकर पूजती रहती थी।

सनयातसेन ने विदेशों में बसने वाले चीनी लोगों और अपने मित्रों के सहयोग से कई बार चीन में विद्रोह फैलाने की चेष्टा की, पर उसे नाम मात्र की सफलता ही मिल सकी। तब उसने विचार किया कि एक बार संसार के विभिन्न देशों का दौरा करके वहाँ के शासकों की सहानुभूति प्राप्त की जाय और उन देशों में रहने वाले चीनियों को संगठित भी किया जाय तभी कोई बड़ा काम हो सकेगा। इसी संसार भ्रमण के अवसर पर इंग्लैण्ड में अपहरण होने की घटना हुई थी जिसका उल्लेख आरम्भ में किया जा चुका है।

सनयातसेन का प्रयत्न कुछ समय बाद किसी हद तक सफल हुआ। चीन में आधुनिकतावादियों के मुकाबले में एक प्रगति विरोधी दल की स्थापना हुई और उसने एक विद्रोह उत्पन्न करके अनेक विदेशी पादरियों तथा राजदूतों को मार दिया। इस पर आठ राष्ट्रों ने सम्मिलित रूप से चीन में अपनी सेनायें भेजीं। चीन तो भ्रष्टाचार और अन्ध विश्वास के प्रभाव से खोखला बना था, वह उन्नतशील पश्चिमी राष्ट्रों का मुकाबला क्या करता? दस बीस दिन में ही विद्रोही जिसका नाम 'बक्सर' था कुचल दिये गये और हर्जाने के रूप में चीन के कई समुद्र तट के स्थानों पर कब्जा कर लिया गया।

इस अवसर को सनयातसेन ने अपने आन्दोलन और प्रचार कार्य के लिए उपयुक्त समझा यद्यपि वह अब भी खुले तौर पर सरकारी सेना का मुकाबला नहीं कर सकते थे, पर अब चीन के शासन की पोल खुल जाने से वहाँ का प्रबुद्ध वर्ग चेतन्य होने लगा था और उसी का संगठन करके सनयातसेन समस्त देश में जाग्रति फैलाने तथा जनता में असन्तोष भड़काने की चेष्टा करने लगे। यद्यपि इस बार उनको पहले से अधिक सफलता मिली, पर चीन की बहुसंख्यक जनता को उठा सकना सहज न था। इसका एक कारण तो जैसा ऊपर बतलाया गया है, यही था कि शासकों ने प्रगति और जाग्रति के सब मार्ग बन्द कर रखे थे

और दूसरा कारण यह कहा जा सकता है कि स्वयं चीन की जनता आध्यात्मिकता का सच्चा अर्थ भूलकर स्वयं भी प्रगति विरोधी बन गई थी । इसका वर्णन करते हुए एक स्थान पर कहा गया है –

"बहुत समय से चीन को आध्यात्मिक अहंकार का लकवा मार गया था और उसी अहंकार की बेड़ियाँ उसे अब तक जकड़े हुई थीं । जिस समय योरोप के लोग निरे जंगली थे उस समय चीन वाले बड़े-बड़े मकान बनाना जानते थे, चाय बोते थे, बारूद बना लेते थे, मिट्टी के बर्तन, सरेस, ताँत आदि अनेक पदार्थ बनाना जानते थे । उन्होंने छापने की कला का आविष्कार किया था, १२०० मील लम्बी किलेबन्दी की अभेद्य दीवार और ६०० मील लम्बी नहर भी बनाई थी ।

इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें अपनी इस प्रकार की उन्नति पर यह ख्याल पैदा हो गया कि संसार की सारी जातियाँ जंगली हैं और केवल हमारी जाति ही सभ्य कहलाने योग्य है । यदि यह जाति नष्ट हो जाय तो संसार का समस्त ज्ञान-भण्डार भी लुप्त हो जायगा । इस झूठे अहंकार का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि चीन दिन पर दिन प्रगति के मैदान में पिछड़ने लगा, योरोपियन जातियाँ उससे बहुत आगे निकल गईं । पर उसका घमण्ड और श्रेष्ठता का गुमान ज्यों का त्यों बना रहा । ऐसे देश को एक दिन निश्चय ही नीचा देखना पड़ेगा और हुआ भी ऐसा ही ।

क्या इस प्रकार के आध्यात्मिक अहंकार का दोष हम भारतीयों की नसों में भी नहीं घुसा हुआ है ? और पिछले हजार बरसों में हमने विदेशियों की जो ठोकरें खाई हैं उसका एक बहुत बड़ा कारण क्या यह गलत 'अध्यात्मवाद' ही नहीं है ? कोई भी जानकार व्यक्ति इस तथ्य की सच्चाई से इनकार नहीं कर सकता । निस्सन्देह अध्यात्म मानव-जीवन का सर्वोच्च स्तर है, पर तभी तक जब तक उसे अहंकार और अन्ध-विश्वास से दूर रखा जाय । अध्यात्म कोई गुप्त या काल्पनिक चीज नहीं है, वरन् जीवन को सार्थक बनाने का एक सुनिश्चित और बुद्धिसंगत मार्ग है । किसी समय हमारे पूर्वज सच्चे अध्यात्म को जानते थे और पालन करते थे । तब भारतवर्ष जगद्गुरु की पदवी पर आसीन था । अब भी यदि हम अपनी भूल को सुधार कर सच्चे अध्यात्मवाद का प्रचार करने लग जायें, तो फिर हमारा देश सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकता है ।

फिर भी सनयातसेन ने अपना प्रयत्न जारी रखा । उनके मार्ग में अनेक बाधायें आती रहीं, पर अन्त में चीन का प्रबुद्ध वर्ग उठ खड़ा हुआ और सन् १९११ के दिसम्बर की २९ तारीख को ब्रिटिश समाचार ऐजेन्सी 'रायटर' के चीन स्थित सम्वाददाता ने समाचार भेजा कि "वही शरणागत व्यक्ति (सनयातसेन) जो अपने देश से भागकर हमारे यहाँ पहुँचा था और वहाँ भी जिसका पीछा दुश्मनों से न छूटा था, आज चीन के प्रजातन्त्र का सर्वप्रथम राष्ट्रपति बनाया गया है और इस समय वही उस देश का कर्त्ताधर्ता और सूत्रधार है ।"

सनयातसेन ने बीस वर्ष तक जो देशसेवा की थी और जिसके लिए आधे पेट खाकर भी वे संसार के विभिन्न देशों की खाक छानते हुए घूमे थे । जनता द्वारा सर्वसम्मति से राष्ट्रपति चुने जाने पर भी वे इस पद पर अधिक समय तक नहीं रहे । एक वर्ष के भीतर ही जब उन्होंने देखा कि अभी चीन उत्तरी और दक्षिणी दो भागों में बँटा हुआ है, जिसके कारण एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में उसका निर्माण नहीं हो सकता, तो उन्होंने राष्ट्रपति का पद स्वेच्छापूर्वक उत्तरी चीन के नेता युआन शिकाई को इस शर्त पर दे दिया कि वह पूर्ण रूप से राज्य-पक्ष को त्यागकर प्रजातन्त्र के लिए कार्य करें । इसके पश्चात् भी वे चीन की प्रगति के लिए निरन्तर श्रम करते रहे ।

सनयातसेन न तो किसी बड़े खानदान के वैभवशाली व्यक्ति थे और न अधिक विद्वान् । पर उन्होंने अपनी निःस्वार्थ सेवा-भावना से चीन जैसे विशाल देश का उद्धार कर दिया । अन्त में जब सफलता मिली तो उन्होंने स्वयं उसका लाभ उठाने के बजाय दूसरे लोगों को ही आगे बढ़ाकर अपना ध्येय केवल राष्ट्र-रक्षा ही रखा । इस दृष्टि से उनकी तुलना महात्मा गाँधी से की जा सकती है । हमारे वर्तमान 'नेता' नामधारी व्यक्ति, जो जनता तथा राष्ट्र के हित के बजाय सबसे पहिले अपनी प्रतिष्ठा तथा प्रधानता के लिये लड़ रहे हैं वे भी इस महान पुरुष के चरित्र से प्रेरणा लेकर देश के सच्चे सेवक बन सकते हैं ।

राष्ट्र के लिये सर्वतोभावेन समर्पित–पोहलू राम

पंजाब जिला होशियारपुर गाँव आनन्द पुर । यहीं एक व्यक्ति जन्मा पोहलू राम । बचपन ऐसे ही बीत गया । युवावस्था आई तो उसने अपने को एक ऐसे चौराहे पर खड़ा पाया जहाँ से वह किसी भी दिशा में जा सकता था ।

महत्वाकांक्षा हर व्यक्ति में होती है उसे दिशा मिले तो संसारी आकर्षण, धन, भोग, यश, पद आदि प्राप्त करके अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने एवं अहंकार की तृप्ति करने में लगता है पर यदि उसे इस बड़प्पन की तुलना में महानता का महत्व विदित हो जाय, विलासिता और अहंता की पूर्ति के स्थान पर महामानव बनने के लिये, उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का अवलम्बन करने के लिये उत्साह उत्पन्न हो जाय तो स्वयं प्रकाशवान होने और अपनी ज्योति से असंख्यों को ज्योतिर्मय बनाने में समर्थ हो सकता है ।

पोहलू राम का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि उसे उस उठती उम्र में ही महानता के पथ पर चलने की प्रेरणा मिल गई, जिसमें कुछ कर सकना सम्भव होता है । सचमुच यही उम्र ही कुछ कर गुजरने के उपयुक्त होती है बुढ़ापे में तो मनुष्य एक प्रकार से निरर्थक ही होता है

शरीर अशक्त हो जाता है और मन ऐसे जाल-जंजाल में जकड़ जाता है कि कुछ परमार्थ कार्य बन पड़ना सम्भव ही नहीं रहता ।

सन् १९०९ की बात है । बालक पोहलू राम गाँव के मिडिल स्कूल में पढ़ता था । अध्यापक देवीनन्द तिवारी अपने छात्रों को स्वयं देश की स्थिति, अँग्रेजों के अत्याचार, स्वराज्य की आवश्यकता, देशभक्ति के लिये कुर्बानी जैसे विषयों पर विस्तार से चर्चा किया करते थे । अन्य छात्रों पर तो उतना प्रभाव नहीं पड़ा, पर पोहलू राम के ह्रदय में वह बात गहराई तक जम गई, उसने निश्चय किया कि वह देश की दुर्दशा दूर करने के लिये ही अपना जीवन समर्पित करेगा ।

एक बार एक विद्वान साधु उधर आये । उनसे पोहलू राम का वार्तालाप होता रहता । उन्होंने भी कहा-ईश्वर भक्ति भी अच्छी है पर देशभक्ति उससे भी अच्छी है । बालक के विचारों में दृढ़ता आई और परिपक्वता भी । उसने घर वालों से स्पष्ट कह दिया कि वह अपना रास्ता आप बनायेगा । न उसे गृहस्थी बसानी है न कमाई करनी है । वह देश के लिये जियेगा और उसी के लिये मरेगा । घर वालों ने रोका तो वह घर छोड़कर निकल पड़ा । एक कम्बल, एक जोड़ी कपड़े, एक लोटा कुछ पैसा, इतना ही सामान पास । देशभक्ति के लिए कहाँ जाया जाय ? सूझा दिल्ली राजधानी है देशभक्ति का अवसर भी वहीं मिलेगा। भोला देहाती किशोर उसके व्यावहारिक रूप को जानता न था, पर उसकी उत्कंठा बहुत थी । सो पैदल ही लम्बी यात्रा पूरी करके भूखा प्यासा दिल्ली आ पहुँचा ।

यमुना किनारे एक साधु से उसकी भेंट हुई । कुछ खाने को मिला और आश्रय भी । देश भक्ति की लगन तो बहुत थी पर क्या करना चाहिए यह सूझ नहीं पड़ता था । उन्हीं दिनों लार्ड हार्डिंग दिल्ली आये । उनका जुलूस निकला उसमें दर्शक पोहलू राम भी था । क्रान्तिकारियों द्वारा बमफेंका गया । हार्डिंग मरे तो नहीं पर घायल हो गये । पंजाब नेशनल बैंक की छत पर बैठे हुये सभी लोग सन्देह में पकड़े गये, उनमें पोहलू राम भी था । पुलिस ने जाँच-पड़ताल के लिए सबको जेल भेज दिया । कई दिन उन्हें वहाँ रहना पड़ा । इन्हीं साथियों से उसे यह शिक्षा मिल गई कि उसे भविष्य में क्या करना है । उन दिनों क्रान्तिकारी आन्दोलन ही जोरों पर था । काँग्रेस तब थी तो पर उसका कोई आन्दोलनात्मक कार्य नहीं था । पोहलू राम क्रान्तिकारी बन गया और देश की स्वतन्त्रता के लिये क्रान्तिकारी कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए पार्टी के आदेशानुसार काम करने में जुट गया ।

एक बार संकल्प किया सो जीवन भर निभा । चंचल चित्त मनुष्य हजार ओर मन डुलाते और हजार रास्ते पलटते हैं, पर जो स्थिर मति दृढ़ निश्चयी होते हैं वे ऊँच नीच समझने के बाद निश्चय करते हैं और करने के बाद उसे निबाहते हैं । पोहलू राम ने निश्चय कर लिया था कि उसका जीवन देश के लिये है, अनेक प्रकार ललचाया पर उसने किसी तरफ आँख उठाकर नहीं देखा वरन् और कठिनाइयों से भरे रास्ते पर वह वीरव्रती की तरह निरन्तर अनवरत रूप से बढ़ता ही चला गया ।

पार्टी के निर्देशों के अनुसार उसे अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी और अनेक कार्यक्रम अपनाने पड़े । पर लक्ष्य एक रहा अपने नेताओं के मार्गदर्शन में वह कठपुतली की तरह नाचता रहा । जो करने के लिये कहा गया उसे उसने बिना शंका के किया । यथावत कर दिखाया ।

लिलुआ कलकत्ता में गोशाला के कर्मचारी की तरह, जापान में पत्र लेखक के रूप में, स्पेनिश कम्पनी में गेट कीपर बन कर न जाने उसे क्या-क्या पापड़ बेलने पड़े और अपना बाह्य रूप ऐसा बनाये रहना पड़ा जिससे पकड़ में न आकर पार्टी का काम ठीक तरह किया जाता रहे । आनन्द पुर में एक जमींदार के यहाँ और फिर मिलिट्री में सिपाही के यहाँ उसने नौकरी की । अपने लिये नहीं । पार्टी के निर्देशानुसार । गुजारे के लिए स्वावलम्बी उपार्जन, सरकार की आँखों से बचने के लिए कोई धन्धा और शेष सारा समय क्रान्तिकारी गतिविधियों में । इस एक ही रीति-नीति में उनकी सारी जिन्दगी बीत गई । सत्रह वर्ष की आयु से लेकर सतहत्तर वर्ष की उम्र तक पूरे ६० साल यह भारत माता का पुजारी जब तक जिया केवल देश के लिये जिया । उसी के लिये सोचा और जो कुछ सम्भव था सो उसी के लिये किया ।

अनेक बार पुलिस की आँखों में धूल झोंक कर वे अपना काम ठीक तरह करते रहे । अनेक बार पकड़े भी गये और बन्दी गृह की यातनाएँ सहते रहे । उन्हें नौ बार गिरफ्तार किया गया कुल मिलाकर तीस वर्ष जेल रहना पड़ा । पर उनके लिए जेल जीवन और बाहर रहने में कोई अन्तर न था । जेल जीवन में जहाँ देश के लिये कुछ कर न पाने की व्यथा रहती थी वहाँ व्यस्तता में कुछ हल्का पन भी अनुभव होता था और एक प्रकार की निश्चिन्तता भी रहती थी । इसलिये उन्होंने न कभी जेल जीवन से उदासीनता प्रकट की और न बाहर आने की उत्सुकता । राष्ट्र के लिये समर्पित जीवन उनका अपना न था परिस्थितियाँ जहाँ भी ले जायें उसमें रहने में उन्हें कोई आपत्ति न थी ।

पचहत्तर वर्ष में उनका शरीर थक गया और स्वतन्त्रता प्राप्ति का लक्ष्य भी पूरा हो गया तो उन्होंने सरकार से प्राप्त छोटे से भूमि-खण्ड पर अपनी कुटिया बनाई और वहीं अन्न उत्पन्न करके स्वावलम्बी समाज के लिये उपयोगी गतिविधियाँ अपना कर जीवनयापन करने लगे । इसी भूमि खण्ड पर १९ फरवरी, १९६२ को उनका स्वर्गवास हो गया ।

सार्वजनिक जीवन में व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की दौड़-धूप वाले, पद और यश-कामना के लिये पागल लोगों के बीच पोहलू राम अपना एक ज्वलन्त उदाहरण छोड़ गये हैं । दूसरों पर छा जाने को अपनी गरिमा

प्रतिष्ठापित करने की घुड़-दौड़ में कलुषित सार्वजनिक जीवन कैसे पवित्र और प्रखर रखा जा सकता है, इसका दर्शन यदि सीखना हो, राष्ट्र के लिये समर्पित जीवन का स्वरूप समझना हो तो पोहलूराम के चिन्तन और कर्तृत्व की पृष्ठ-भूमि का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिये ।

संग्राम के अमर अहिंसक सैनिक– फुलेना प्रसाद

अहिंसक योद्धा ने हिंसा से लड़ने के लिये अपना सीना खोल दिया । लाठियों के प्रहारों ने दोनों हाथ पहले ही तोड़ रख दिये थे । एक भाला भी लग चुका था । उस वीर को इसकी चिंता नहीं थी । सिपाही यदि अंग भंग की चिंता करने लगे तो वह विजय श्री कैसे वरण कर सकता है ? गोलियाँ चलाने वाले भी इस साहसी को देखकर दाँतों तले अँगुली दबाने लगे । गोलियाँ तड़क उठी धाँय, धाँय. . . .। एक दो नहीं पूरी आठ गोलियाँ सीने को बेध चुकी थीं पर योद्धा उसी शान से मैदान में डटा था । नवीं गोली ने शरीर के चिथड़े उड़ा दिये । अहिंसा के संग्राम में यह अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करने वाले भारतीय सत्याग्रही थे फुलेना प्रसाद ।

विश्व के इतिहास में हिंसा और अहिंसा के युद्ध का पहला उदाहरण महात्मा गाँधी ने प्रस्तुत किया । निहत्थे सत्याग्रहियों पर सशस्त्र पुलिस ने लाठियाँ बरसाईं, बूटों से रौंदा यहाँ तक कि गोलियाँ बरसाईं पर आजादी के दीवाने सच्चाई के सेनानी रुके नहीं, थके नहीं, परिणाम यह हुआ कि हिंसा हार गई अहिंसा जीत गई । अहिंसा के योद्धाओं में अमर शहीद फुलेना प्रसाद की गणना श्रेष्ठ सैनिकों में की गई । उनकी मृत्यु ने हजारों को प्रेरणा दी । यह शहादत किसी भी अहिंसक के लिये ईर्ष्या की वस्तु थी इस मृत्यु पर हजार जीवन न्योछावर किये जा सकते हैं ।

महाराजगंज, छपरा (बिहार) के निवासी इस बालक को देखकर आनन्दित हो उठते थे । मुस्कराते फूल की तरह हँसता हुआ गोरा-चिट्टा, हृष्ट-पुष्ट बड़ी-बड़ी आँखों वाला यह मनोहर बालक सबके आकर्षण का केन्द्र था । जो भी इसे देखता अपने आप को भूल जाता था । अपने जीवन के कुल तीस बसन्त देखकर यही बालक मातृ-भूमि की बलिवेदी पर बलिदान हो गया और गाँव वालों के हृदय में आदर्शों के प्रति एक दर्द जगा गया । ऐसे पद चिह्न छोड़ गया जिनका अनुसरण करके कोई भी मनुष्य जन्म की 'सुर-दुर्लभता' प्रतिपादित कर सकता है ।

यों तो पेड़ से गिरते हुए फल को सभी देखते हैं, आकाश में दीखने वाला इन्द्रधनुष सबको मोहित करता है पर उन पर चिंतन-मनन करने वाले विरले ही होते है जो न्यूटन और सी० वी० रमण-जैसे वैज्ञानिक बन जाते है । वैसे यह किसी की बपौती नहीं है पर अधिकांश लोग इस प्रकार के चिंतन-मनन की उपेक्षा वर्तते हैं । बालक फुलेना प्रसाद इस प्रकार की प्रवृति को प्रोत्साहन नहीं देता था । वह प्रत्येक तथ्य पर विचार करता तथा अपना आत्म निरीक्षण करते हुए सद्गुणों की वृद्धि करता तथा दुर्गुणों को छोड़ता जाता ।

आमों के पकने की ऋतु आई । पके आमों की गंध से बच्चों के मुँह से लार टपकने लगी । बच्चे ही क्या युवक भी इसमें पीछे न था । एक आम के नीचे ऐसे कई बच्चे और युवक इकट्ठे होकर आम गिराने के लिये लकड़ियाँ फेंक रहे थे । एक लकड़ी उछलकर आठ वर्ष के बालक फुलेना प्रसाद के सिर में जोर से लगी और खून बह निकला । जिसने लकड़ी फेंकी थी उसकी तो शामत ही आ गई । फुलेना प्रसाद सबका प्रिय था । घर वालों ने अपराधी के पिता से शिकायत की । उसके पिता उसे मारने लगे । फुलेना प्रसाद ने कहा-"चाचाजी मोहन भैय्या को मत मारिये । मेरी भी गल्ती थी जो मैं फेंकी गई लकड़ी की ओर चला गया ।" इस पर उस अपराधी बालक के पिता ने स्नेह से उसे गोद में उठा लिया और पूछा-"बेटा । तुम्हें यह बात किसने बताई ।" बालक ने कहा-"मेरे मन ने । आप मोहन भैय्या को मारते तो हम साथ खेलने में अचकचाते । मेरे तो लगी सो लगी उसे भी मार पड़ती ।" यह बालक की विचार शक्ति का ही शुभ परिणाम था कि वह सबका प्रिय बन गया ।

आज की तरह उन दिनों न तो गली-गली में पाठशालाएँ थीं, न गाँव-गाँव में हाई स्कूल थे, बालक फुलेना प्रसाद को बस्ता बगल में दबाकर पढ़ने के लिये पैदल छह मील जाना और छह मील आना पड़ता था । यह पूरी तपस्या थी कठोर परिश्रम करने पर जो शिक्षित कहलाने का सौभाग्य पाते हैं पीछे नहीं होता । फुलेना प्रसाद ने जिस परिश्रम तथा लगन से शिक्षा पाई उसी का परिणाम था कि वे जीवन में बहुत कुछ कर सके थे । समय और श्रम की महत्ता को समझ सके थे ।

विद्यालय में कुछ छात्र उद्दण्ड थे । वे कुछ न कुछ शैतानी करते ही रहते थे । उनकी यह मण्डली चाहती थी कि फुलेना प्रसाद भी उसमें सम्मिलित हो जाय । वे जानते थे कि इस प्रकार की उद्दण्डता करने का परिणाम शुभ नहीं होता । वे उनसे बोलते नहीं थे । अपने काम से काम रखते । उनके व्यंग्यों की ओर ध्यान नहीं देते थे । इन्हें झेंपू कहा जाने लगा । उन्होंने चुप रहकर कुसंगति से अपनी रक्षा करली ।

बचपन से ही वे देख रहे थे कि माता-पिता, परिवार के सदस्य तथा गाँव वाले उन्हें प्यार करते हैं, उनके लिये कष्ट उठाते हैं । माता-पिता ने तो बहुत कष्ट उठाया है । वे उस का प्रतिदान करने में नहीं चूकते थे । घर में कोई भी बीमार हो जाता तो वे उसकी सेवा में दिन-रात एक कर देते थे । हाईस्कूल की परीक्षा के दिन छोटा भाई बीमार हो गया तो वे सब कुछ भूलकर उसकी सेवा में जुट

गए । इस कारण फेल भी हो गए । दु:ख तो हुआ पर सेवा का सुख भी कम न था । गाँव में किसी अपाहिज को बीमार को देखते तो खाना-पीना छोड़कर उसकी सेवा करते ।

पिता जमींदार थे पर छोटी जमींदारी पर सोलह व्यक्तियों का बोझ कम न था । वे उन पर भार बनना नहीं चाहते थे । हाईस्कूल परीक्षा पास करके वे पटना चले गये तथा अपनी आजीविका चलाने के साथ-साथ वे बँगला गुजराती व संस्कृत का स्वाध्याय करके उसके अच्छे ज्ञाता बन गये । ज्ञानार्जन की भूख ने उनके दृष्टिकोण को विकसित किया । वे अब दक्षिण भारतीय भाषाएँ भी सीखना चाहते थे पर उससे भी महत्वपूर्ण काम उनके सामने था । वह काम था देश को राजनैतिक दासता से मुक्त कराना तथा भारतीयों की सामाजिक दशा सुधारना । अपने ज्ञान को, अपनी क्षमता को केवल अपने लिये प्रयुक्त करना नहीं चाहते थे । ज्यों-ज्यों ज्ञान की वृद्धि होती गई उनकी परमार्थपरायणता बढ़ती गई ।

संस्कृत के अध्ययन से उन्होंने भारतीय जीवन दर्शन को समझा । सच्चा ज्ञान पाकर वे मनुष्य जीवन की महानता को समझे और उसे कार्य रूप में परिणित करने को तत्पर हो गये । आत्मा की अमरता तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को उन्होंने अपने जीवन में उतारने का शुभारम्भ कर दिया । वे उन लोगों में से नहीं थे जो किसी आदर्श की प्रशंसा तो करते हैं पर अपने जीवन में उतारने का साहस नहीं जुटा पाते ।

सवेरे चार बजे उठकर व्यायाम करना उनका नियम था । शरीर को स्वस्थ एवं समर्थ बनाने में उन्होंने कोई कसर नहीं रखी । उनका शरीर शौष्ठव देखते ही बनता था । वे शरीर को दीनदुर्बलों की रक्षा, रोगियों-अपाहिजों की सेवा तथा देश धर्म का हेतु मानते थे । धन रूपी बल की तरह वे शारीरिक तथा मानसिक बल को उससे कम नहीं अधिक ही मानते थे ।

स्वस्थ, सुन्दर, सुशिक्षित तथा सज्जन युवक को अपनी लड़की देने के लिये कौन लालायित न होगा ? बीस वर्ष की आयु में फुलेना प्रसाद का विवाह होने पर उनकी परमार्थ वृत्ति घटी नहीं । ससुराल वाले धनाढ्य थे । चार पाँच जोड़े कोट और सोने की चीजें इन्हें भेंट में मिलीं उसे उन्होंने जरूरतमंदों को दे दिया । अपने लिये तो वे प्रत्येक मौसम में कुर्ता ही उपयुक्त समझते थे उनके स्वस्थ शरीर पर मौसम का प्रभाव नहीं पड़ता था । पिता के घर से मिली वस्तुओं का इस प्रकार बाँटना इनकी पत्नी को अच्छा न लगा । उन्होंने प्रतिवाद किया । इस समय तो वे चुप रहे दूसरे दिन अपनी पत्नी को साथ में उन मजदूरों की बस्ती में ले गये । करुणा की मूर्ति श्रीमती तारारानी ने इन गरीबों की दशा देखी और अपने पतिदेव की विशाल हृदयता देखी तो नारी की स्वाभाविक ममता जाग पड़ी उन्होंने पतिदेव का सच्चा परिचय पाकर उनकी चरण रज माथे पर लगाली और सच्चे अर्थों में सहधर्मिणी बन गई । उन्होंने सदा अपने पति के मिशन में सहायता की ।

देशवासियों के दर्द से भावनाशील फुलेना प्रसाद का अन्तःकरण रो उठता था । अपने माता-पिता की एकमात्र संतान होने से श्रीमती तारा को पर्याप्त धन तथा उपहार मिले थे वे जरूरत-मंदों के लिये ही प्रयुक्त होने लगे । अपनी आय का अधिकांश भाग भी फुलेना प्रसाद परमार्थ में लगा देते थे ।

ये देशसेवा करना चाहते थे । काम अधिक था समय और साधन कम थे । फुलेना प्रसाद ने विवाह के दो वर्ष के बाद ही संयम अपना लिया । वे बच्चे-बच्चियों के जंजाल में फँसकर अपने सेवा व्रत से च्युत नहीं होना चाहते थे । इस निश्चय में उनकी पत्नी की भी पूरी सहमति थी । उन्होंने व्यायाम का समय बढ़ा दिया । भोजन में सादा दलिया और दूध लेने लगे । इस सात्विक आहार ने उन्हें संयम पालन में सहायता की । शरीर निरंतर पुष्ट होता गया । इससे उनकी सेवा का क्रम और भी अधिक चलने लगा । वे कहते थे "सन्तान पालन और देशसेवा दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं इस समय तो एक ही लक्ष्य है वह है देश सेवा ।"

सर्दी हो या गर्मी चार बजे उठ जाना फिर नित्य कर्म से निवृत्त होकर मालिश करके व्यायाम करना उनका नियम था । उनका शरीर देखकर पेशेवर पहलवान भी ईर्ष्या करते थे । व्यायाम के पश्चात् भिगोए चने खाकर दूध पीते और फिर समाज सुधार और देश-सेवा के कामों में जुट जाते । इस काम से रात्रि के ग्यारह बजे निवृत्त हो पाते थे । रात्री को जो सुखद गहरी नींद आती थी वह सारी थकान मिटा देती और चार बजे पहले ही वे उठ बैठते ।

पराया दु:ख देख सकना उनके बस की बात नहीं थी । किसी का मुँह लटका देखा कि फौरन पूछते-"क्या हुआ ?" लोगों को भी दु:ख दर्द में और कोई सहारा नहीं मिलता था । प्यासा जैसे कुयें के पास आता है वैसे ही वे इनके पास भाग कर आते थे । कुआँ जिस तरह अपना पानी अपने लिये नहीं रखता वैसे ही ये अपना तन, मन व धन दूसरों के दु:ख दर्द दूर करने में लगा देते थे ।

तीस वर्ष की अल्पायु में ही सत्याग्रही में सर्वश्रेष्ठ बलिदानी कहलाने के लिये ही मानो उन्होंने तैयारी कर रखी थी जिसने जन्म लिया है वह मरेगा ही पर ऐसी मृत्यु किसी-किसी को मिलती है ।

इनकी पत्नी तारा देवी ने इनकी मृत्यु को स्वीकार नहीं किया । उस पारस के स्पर्श से वे स्वर्ण बन चुकी हैं । आज भी वे अपने पति के मिशन को पूरा कर रही हैं अमर शहीद का यह जीवन पारस पत्थर से कहीं अधिक मूल्यवान है जिनके अंत:करण से छू गया उसके महामानव बनने में संदेह नहीं है ।

सच्चे देशभक्त–
श्री बदरुद्दीन तैयब जी

सज्जनता, शीतलता, सत्यता एवं कर्त्तव्य निष्ठा की जीती-जागती मूर्ति श्री बदरुद्दीन तैयब जी का जन्म ८ अक्तूबर, १८४४ ई० को बम्बई के बहुत सम्पन्न परिवार में हुआ।

श्री तैयब जी उन तीन व्यक्तियों में से एक थे, जिन्होंने 'भारतीय स्वतन्त्रता की वाहिका भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की नींव डाली थी।

श्री तैयब जी का परिवार एक साधन सम्पन्न धनी परिवार था और बम्बई में उनके परिवार का बहुत आदर था। किन्तु यह परिवार मुसलमान होते हुए न तो माँस खाता था और न किसी प्रकार की ऐशो-इशरत का पक्षपाती था। पूरे परिवार का और खास तौर से श्री बदरुद्दीन तैयब का जीवन तो बिल्कुल साधु-सन्तों जैसा सरल और सादा था। वे सादा जीवन उच्च विचार के सिद्धान्त की जीती-जागती तस्वीर थे।

तैयब जी की इस सन्तोपम सादगी देखकर उनके अनेक धनी मित्र उनसे कहा करते थे। "भाई तैयब जी आप को तो परमात्मा ने बेकार ही पैसा दिया, न तो आप शान-शौकत से रह सकते हैं और न धनियों जैसा रौब-रोआब ही आप में है। आप सामान्य से सामान्य व्यक्ति से भी उसी तरह बात करते हैं और मिलते-जुलते हैं जिस प्रकार धनी मित्रों से, यह तो अमीरी का अपमान है।"

श्री तैयब जी उनकी बात सुनते और हँस कर उत्तर देते –"भाई मैं तो इन्सान पहले हूँ और कुछ बाद में। मेरी अमीरी, गरीबों के लिये भय का कारण न बने, इसी में मैं इसकी सार्थकता मानता हूँ और कोशिश करता हूँ कि अपने पैसे का उपयोग अपनी सुख-सुविधा में न करके गरीब और आवश्यकताग्रस्त अपने देश-भाइयों की सहायता में सदुपयोग करूँ। मुझे समाज के इस पैसे का उपयोग अपने लिये करने का क्या अधिकार है। फिर जहाँ मुल्क गुलाम और देश में इधर से उधर गरीबी फैली हुई है वहाँ मैं किस प्रकार से ऐशो-इशरत की जिन्दगी बिता सकता हूँ। यह स्वार्थ मेरी आत्मा के विरुद्ध तो है ही, साथ ही सभ्यता तथा मानवता के विरुद्ध भी है। मैं ऐसा अपराध कदापि नहीं कर सकता। मुझे अपने देशवासी भाइयों की तरह ही सामान्य जिन्दगी जीना और उनकी जो भी सेवा हो सके उसे करते रहने में ही संतोष है। धन का अभिमान एक बुरी बात है। धनी को तो समाज में उसी प्रकार विनम्र होकर रहना चाहिए जैसे फलों से लदा वृक्ष नीचा रहता है।" उनके धनी मित्र उनकी बात सुनते और न केवल प्रभावित ही होते बल्कि प्रकाश भी ग्रहण करते।

श्री बदरुद्दीन तैयब जितने ही धनी व्यक्ति थे उतने ही विद्वान् तथा न्याय-निष्ठ भी थे। जिस प्रकार एक दुर्गुण बढ़कर मनुष्य को बुराइयों की खान बना देता है उसी प्रकार एक सद्गुण पल्लवित होकर मनुष्य को गुणों का निधान ही नहीं उसे देवत्व के स्तर पर पहुँचा देता है।

तैयब जी ने देखा कि बम्बई हाईकोर्ट में अँग्रेज जज तथा अँग्रेज बैरिस्टर वकील आपस में संगठित होकर कानूनों को मनमाने ढंग से मोड़ते और मुकदमों में भारतीयों का न केवल शोषण ही करते बल्कि उनके साथ अन्याय भी करते हैं। यदि कोई भारतीय वकील वहाँ जाकर वकालत करने का प्रयत्न करता है तो वे उसे टिकने नहीं देते। अँग्रेज बैरिस्टरों तथा जजों के षड्यन्त्र के फलस्वरूप साधारण वकीलों की तो बात ही क्या सर फीरोजशाह मेहता और एच० वाडिया जैसे धुरन्धर बैरिस्टरों तक के पाँव न टिक सके और वे बम्बई हाई कोर्ट छोड़ कर चले गये। यह भारतीय योग्यता तथा मस्तिष्क के लिये अँग्रेज वकीलों की खुली चुनौती थी। स्वाभिमानी भारतीय श्री तैयब साहब को स्थिति असह्य हो गई और आवश्यकता न होने पर भी उन्होंने इंग्लैण्ड जाकर बैरिस्टरी पास करने और बम्बई हाईकोर्ट में वकालत करने का निश्चय कर लिया।

अपने निश्चय के अनुसार श्री तैयब जी इंग्लैण्ड गये और प्रथम श्रेणी में बैरिस्टरी पास करके आये और बम्बई हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। अँग्रेज वकील तथा जजों ने यथासम्भव उनका असहयोग तथा बहिष्कार करने का प्रयत्न किया किन्तु अपने उद्देश्य के धनी तैयब जी सब कुछ सहन करते हुए डटे रहे और इस योग्यता से वकालत करते रहे कि आखिर अँग्रेजों के हौसले पस्त हो गये। उन्होंने दुष्प्रवृत्ति छोड़ी और भारतीयों के साथ सहयोग करने पर विवश हुए। श्री बदरुद्दीन तैयब ने अपने अध्यवसाय, परिश्रम तथा दृढ़ता के बल पर न केवल अँग्रेज जजों तथा वकीलों का सुधार ही कर दिया, बल्कि भारतीय वकीलों के लिये बम्बई हाईकोर्ट में स्थान बना दिया। एक लगनशील तथा उद्देश्यनिष्ठ परिश्रमी पुरुष क्या नहीं कर सकता? उनकी परिश्रमशीलता एक उदाहरण है, जो उन्होंने इंग्लैण्ड में बैरिस्टरी पढ़ते समय स्थापित की जो बड़ी ही प्रेरक तथा उत्साहवर्धक है।

१८६० में जिस समय श्री तैयब जी इंग्लैण्ड में बैरिस्ट्री पढ़ रहे थे उस समय छात्रों के बीच वहाँ एक बार लैटिन, फ्रेंच तथा अँग्रेजी भाषा में एक प्रतियोगिता आयोजित की गई जिसकी तैयारी के लिये अठारह माह की अवधि रखी गई। यह प्रतियोगिता उन्हीं छात्रों के बीच रखी गई थी जो लेटिन तथा फ्रेंच भाषायें नहीं जानते थे। जिस समय तैयब जी ने अपना नाम प्रतियोगिताओं में दिया उस समय अनेक यूरोपियन छात्रों ने उनकी खिल्ली उड़ाते हुए कहा कि तुम हिन्दुस्तानी हम यूरोपियन्स का क्या मुकाबला करोगे? तैयब जी ने इस कटु बात का हँसते हुए उत्तर दिया "विद्या परमात्मा की देन है इस पर किसी का एकाधिकार नहीं है। जो भी परिश्रमपूर्वक अध्ययन करता है उसको प्राप्त हो जाती है। अपनी भाषा पर अन्य लोगों को इतना

अभिमान नहीं दिखाना चाहिए । घमण्ड करने वालों को बहुधा नीचा ही देखना पड़ता है । समय आने दीजिये पता चल जायगा कि मस्तिष्क केवल यूरोप के पास ही नहीं भारत के पास भी है ।'' सारे यूरोपियन्स उनकी इस सभ्यता तथा युक्तिपूर्ण वक्तव्य को सुनकर अपना सा मुँह लेकर रह गये ।

श्री तैयब जी के लिये वह प्रतियोगिता देश की प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गई । उन्होंने सफलता-असफलता का दायित्व परमात्मा पर छोड़ दिया और आप एक तन-मन से लेटिन तथा फ्रेंच भाषाओं के अध्ययन में लग गये । अठारह माह की अवधि एवं अभिरुचिपूर्ण अध्ययन के बाद वे प्रतियोगिता में उतरे और सैकड़ों यूरोपियन छात्रों के बीच पक्षपात के शिकार होने पर भी सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए । भारती के लाल ने अपनी लगन तथा अध्यवसाय के बल पर देश की ऐसी लाज रखी कि अभिमानी छात्रों को शिक्षा मिल गई और तब से अपने मुकाबले में उन्होंने भारतीयों को हीनबुद्धि मानना छोड़ दिया ।

तैयब जी अपनी इन सफलताओं तथा गुणों के कारण इतने लोकप्रिय बन गये कि १८७३ में जनता ने उन्हें बम्बई कार्पोरेशन का पहला अध्यक्ष बनाया और तभी वे मध्य में जनता की सेवा करते हुए १८८२ में बम्बई व्यवस्थापिका सभा के सदस्य चुने गये और अनेक वर्षों तक बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन के अध्यक्ष रहे । अपनी इस व्यक्तिगत उन्नति में उन्हें सन्तोष न था । वे तो पूरे देश को उन्नत देखना चाहते थे । निदान उन्नति में बाधक दासता से देश का उद्धार करने के लिये उन्होंने उन्हीं दिनों इंडियन नेशनल काँग्रेस की नींव डाली और हिन्दू-मुस्लिम एकता का इतनी गहराई तथा सच्चाई से प्रचार व समर्थन किया कि सारा देश एक झण्डे के नीचे आ गया । काँग्रेस एक शक्तिशाली राजनैतिक संस्था बन गई ।

इस हिन्दू-मुस्लिम एकता से भयभीत अँग्रेज सरकार ने लार्ड डफरिन नाम के एक कुटिल राजनीतिज्ञ को उनमें फूट डालने के लिये नियुक्त किया । लार्ड डफरिन ने श्री तैयब जी को बुलाकर कहा कि ''हिन्दुओं से आप मुसलमानों का क्या सम्बन्ध । आप उनसे अलग एक मुस्लिम संस्था बना लीजिए और उसके नेता बन जाइये । मैं आपकी उस संस्था को भारत की एकमात्र संस्था की मान्यता दे दूँगा ।'' श्री तैयब जी ने उस राजनीतिज्ञ की बात शान्तिपूर्वक सुनी और हँसकर उत्तर दिया -''श्रीमान् जी आप हर मुसलमान को मीर जाफर समझने की भूल न करें । अब मुसलमान सजग हो गया है और एकता का महत्व समझने लगा है । साथ ही मैं आपके इस कथन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अब हिन्दुस्तानियों को अँग्रेजों से और भी सावधान हो जाना चाहिए क्योंकि अब वह भाई-भाई को लड़ाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं । साथ ही इसका अर्थ यह भी है कि भारत की इस एकता की शक्ति से सरकार बहुत डर गई है और वह दिन दूर नहीं दिखाई देता जब हमारी राष्ट्रीय एकता अँग्रेजों को भारत से विदा होने के लिये विवश कर देगी ।''

डफरिन तो उनकी यह बात सुनकर चुप हो गया किन्तु समय ने अपने विशाल पट पर उस महान् देशभक्त की बात अंकित कर ली जो कि समय आने पर पूर्ण रूप से प्रमाणित हुई । इस प्रकार जीवन भर सत्य, न्याय तथा स्वतन्त्रता के लिये तिल-तिल बलिदान देकर वह भारत का सपूत १९ अगस्त, १९०६ को इस असार संसार से हँसी-खुशी विदा हो गया ।

निर्भीक जनसेवक—

श्री हीरालाल शास्त्री

राजस्थान के प्रथम मुख्यमंत्री और भारतवर्ष की देशी रियासतों के जन-आन्दोलन के नेता पंडित हीरालाल शास्त्री की महत्ता केवल नेता के रूप में नहीं, अपितु अखिल भारतीय महत्त्व की महिला शिक्षण-संस्था वनस्थली विद्यापीठ के रूप में विशेष उल्लेखनीय है ।

शास्त्री जी निरन्तर कार्यरत रहने में विश्वास करते हैं । वे मानते हैं कि हमें कल की फिक्र नहीं करनी चाहिए । कल आता ही नहीं है और जब आएगा तब उसे आज बनकर ही आना होगा । ४३ वर्षों तक जो व्यक्तित्व न केवल राजस्थान अपितु देश की अन्य रियासतों के जन-जीवन पर छाया रहा वह व्यक्तित्व ओहदे के लिए ओहदा, भाषण, के लिए भाषण, लेखन के लिए लेखन और बात करने के लिए बात करना नहीं जानता । लेकिन आवश्यकता पड़ने पर समय की माँग पूरी करने में शास्त्री जी कभी पीछे नहीं रहते ।

सन् १८९८ में जोवनेर के एक किसान परिवार में जन्म लेकर और प्रतिभाशाली छात्र-जीवन बिताकर बहुत छोटी अवस्था में शास्त्री जी जब तत्कालीन जयपुर राज्य की सरकार के मुख्यमन्त्री बन गए, तब वह एक चमत्कार हो गया था परन्तु इससे भी बड़ा विस्मय तब हुआ जब उन्होंने उस जमाने की हवा के रुख के विपरीत वह पद एकाएक छोड़ दिया । छोड़ा इसलिए कि उनकी अन्तरात्मा पिछड़े हुए दलित ग्रामवासियों की सेवा के लिए व्याकुल हो रही थी ।

एक बहुत ही छोटे और पिछड़े हुए गाँव वनस्थली में उन्होंने ग्रामोत्थान का अपना कार्यक्रम 'जीवन-कुटीर' की स्थापना से आरम्भ किया और वहाँ बैठकर दर्जनों रचनात्मक कार्यकर्ता तैयार किए । यह कार्यकर्ता मण्डली ही आगे चलकर जयपुर राज्य प्रजामण्डल की अग्रसेना बनी ।

शास्त्री जी ने अभी हाल में प्रकाशित अपनी जीवनी प्रत्यक्ष जीवन 'शास्त्र' में लिखा है कि-''मेरी सत्ता से कभी जान-पहचान नहीं हुई, कुछ न कुछ कर गुजरने की इच्छा ही मेरे लिये सत्ता है ।''

शास्त्री जी मानते हैं कि-''आज देश में चारित्र और नेतृत्व का संकट है । ऐसे समय में बुराई को तटस्थ होकर देखते रहना उसमें शामिल होने के बराबर है ।''

शास्त्री जी अपनी बात के प्रति आग्रही थे । वे स्पष्टवादी और बिना किसी लाग-लपेट के बात करते जो उन्हें ठीक लगता, वही कहते और वही करते । अपनी गलती स्वीकार कर लेने में भी उन्हें कोई झिझक नहीं होती ।

स्वतंत्रता के बाद जयपुर में १९४८ में हुआ प्रथम विराट काँग्रेस अधिवेशन उनकी संगठन और कर्तृत्व शक्ति का प्रतीक था । कुछ कर गुजरने की तमन्ना वाला व्यक्ति ही वैसे विशाल आयोजन की जिम्मेदारी ले सकता था ।

उनके मुख्य-मन्त्रित्व काल में देशी रियासतों के संघ राज्यों पर केन्द्रीय सरकार का काफी नियन्त्रण रहता था पर बात चाहे पण्डित नेहरू की ओर से आए, चाहे सरदार पटेल की ओर से, यदि वह शास्त्री जी को उचित न प्रतीत हुई, तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि वैसा करना ठीक नहीं है और वह सम्भव भी नहीं हो सकता फिर भी अपनी सच्चाई और निष्ठा के कारण वे पण्डित नेहरू और सरदार पटेल दोनों के ही अन्त तक निकट और विश्वासपात्र बने रहे ।

हवा के रुख के विपरीत भी सही बात सोचने और कहने वाले इने-गिने लोगों में शास्त्री जी की गिनती है । १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में जब कतिपय रियासतों में राजाओं को अल्टीमेटम दे दिया गया, तब उन्होंने 'जयपुर राज्य प्रजा मण्डल' के अध्यक्ष की हैसियत से जयपुर के महाराजा को अल्टीमेटम देना ठीक नहीं समझा । वे मानते थे कि असली लड़ाई तो अंग्रेजों से है और उसी आन्दोलन को सफल बनाने में हमें अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए । उन्होंने राज्य-सरकार से एक असाधारण समझौता कर लिया, जिसके कारण राज्य में वैधानिक सुधार और बहुत से जनहित के काम सम्पन्न हो सके । साथ ही जयपुर सरकार युद्ध के लिए फौज में भर्ती न करने को तैयार हुई, अँग्रेजों के खिलाफ धन-जन की मदद में दखल न देने को तैयार हो गयी और जयपुर में युद्ध विरोधी प्रचार खुले आम होने देने से सहमत हो गयी । जेल से आने पर गाँधी जी ने शास्त्री जी की कार्यवाही का अनुमोदन किया और उसे बहुत ठीक बताया ।

शास्त्री जी ने 'जीवन कुटीर' के काल में ही एक क्रान्तिकारी भारत का स्वप्न देखा था । उन्होंने उसकी कल्पना अपने एक गीत में की कि- "महलों की टपरियाँ, टपरियों के महल, पहाड़ से मैदान और रेगिस्तान से हरा भरा देश बन रहा है । राजा घर बैठ जायेंगे और आज के निर्बल दिखाई देने वाले लोग शासक बन जायेंगे । वह सपना कुछ अंशों में साकार तो हुआ पर शास्त्री जी कहते कि "सच्चे जन-राज्य के लिए एक वास्तविक क्रान्ति होना अभी बाकी है ।"

क्रान्तिकारी जीवन के मार्गदर्शक– सोहनसिंह

अण्डमान की जेल में काले पानी की सजा प्राप्त एक कैदी आया । उसने वीर सावरकर के साहसिक कार्यों की ख्याति बहुत पहले से सुन रखी थी । वह भी इसी जेल में थे । नया कैदी उन्हें खोजता-खोजता उस स्थान तक जा पहुँचा जहाँ सावरकर तेल का कोल्हू चला रहे थे । एक हवलदार बगल में कोड़ा लिये खड़ा था-बीच-बीच में उन्हें दो-चार गालियाँ और तेज और तेज चलने का आदेश झाड़ रहा था ।

ऐसी कठोर यातना देखने का पहला अवसर था । इस नवागन्तुक कैदी की आँखों से आँसू बरसने लगे-आत्मा हाहाकार कर उठी-परमात्मा क्या यही तुम्हारा न्याय है ?

नये कैदी को अपनी यातना पर रोते देख सावरकर मुस्करा दिये एक क्षण रुककर बोले-बावले ! लगता है तू कच्चा क्रान्तिकारी है, मेरी मुसीबत से घबड़ा गया तो अपनी झटक कैसे झेलेगा । दोस्त क्रान्ति शूरवीरों का बाना है उसके लिये साहस और हिम्मत चाहिए, धैर्य चाहिये केवल मात्र त्याग-बलिदान का भावावेश ही पर्याप्त नहीं- लम्बे समय तक संघर्ष और कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास चाहिए ।

कैदी ने आँसू पोंछ डाले, थोड़ा सा मुस्कराया-मानो उसने क्रान्तिकारी का संदेश अक्षर-ब-अक्षर आत्मसात कर लिया और अपनी दुर्बलता को सदैव-सदैव के लिये मन से निकाल दिया । वीर सावरकर की शिक्षायें उसके लिये जीवन-मंत्र बन गयीं और उन्हीं को आदर्श मानकर वह जीवन भर कठिनाइयों से संघर्ष करता रहा ।

क्रान्तिकारी चाहे वह राजनैतिक हो या सामाजिक उसका जीवन किस प्रकार होना चाहिए इस आदर्श का व्यावहारिक मार्ग-दर्शन देने वाला यह कैदी और कोई नहीं गदर पार्टी के संस्थापक सरदार सोहनसिंह थे । सोहनसिंह का जन्म पंजाब के अमृतसर जिले के ग्राम भकना में १८७० में हुआ था । एक निष्काम कर्मयोगी की भाँति वह २६ वर्ष तक लगातार अण्डमान तथा लाहौर आदि की जेलों में यातनायें सहते रहे । इसके बावजूद भी वे अपने उद्देश्य से कभी विचलित न होकर यह सिद्ध कर गये कि महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संघर्ष करने वालों की निष्ठा इतनी प्रगाढ़ होनी चाहिए कि एक जन्म में ही नहीं लक्ष्य-सिद्धि के लिये कई जन्मों तक अनवरत जूझते रहने की बाकायदा हिम्मत रख सके ।

सरदार सोहनसिंह का यथार्थ जीवन ३९ वर्ष से प्रारम्भ होता है । वे अपने इतने लम्बे जीवन काल पर पश्चाताप करते हुए कहा करते -यदि मैंने समय के महत्व को पहले समझा होता तो ४० वर्ष में तो न जाने कितनी उपलब्धियाँ अर्जित करली होतीं "जब समझ आई तभी से सही" कहावत के अनुसार वे एक क्षण का बिलम्ब किये

२.२७ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२

बिना काम में जुट गये । १९०९ में जब वह अमरीका में एक आरा मिल में काम करते थे, एक अमेरिकन ने उन्हें बुरी तरह से डाँटा । उस समय उन्हें ज्ञात हुआ कि पैसे की कीमत दुनिया में नगण्य है सबसे पहली वस्तु है व्यक्ति का आत्माभिमान और उसकी रक्षा के लिये सबसे पहली वस्तु है राष्ट्रीय स्वाधीनता । दासता चाहे वह राजनैतिक हो या बौद्धिक व्यक्ति को आत्महीनता की स्थिति में धकेलती है ऐसा व्यक्ति जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकता है । उन्नति के लिये चिन्तन-उन्मुक्त होना चाहिए । चिन्तन उन्मुक्त तभी हो सकता है जब अपनी बौद्धिक क्षमताओं को योजनाबद्ध काम करने के लिये वातावरण बाधक न हो पर पराधीनता में तो न अपना शरीर साथी न मन, सभी दूसरों की इच्छा पर आधारित । इस स्थिति में उन्हें तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार देश की राजनैतिक स्वाधीनता ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य दिखाई दी । इसी उद्देश्य से उन्होंने सर्वप्रथम गदर-पार्टी की स्थापना अमेरिका में की और वहाँ के भारतीयों को संगठित किया ।

संगठन में बड़ी शक्ति होती है एक आदमी अधिक से अधिक २०० पौण्ड वजन का हो सकता है पर यदि सौ-सौ पौण्ड वजन के पाँच आदमी भी मिल जाते हैं तो वजन ५०० पौण्ड हो जाता है । दो हमेशा एक से दो गुने होते हैं । अनेक भारतीय मिले तो अनेक तरह के साधनों का एकत्रीकरण हुआ । बात की बात में काफी धन और शस्त्र इकट्ठे हो गये । निश्चय किया गया कि इन शस्त्रास्त्रों को लेकर भारत चला जाये वहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति खड़ी कर दी जाये ।

इस निश्चय को क्रियान्वित किया गया किन्तु दुर्भाग्य से जहाज कामा गाटा मारू जिस पर अस्त्र-शस्त्र लादकर कलकत्ता लाये गये थे, खुफिया भेद के कारण कलकत्ते में पकड़ लिया गया और उसका शस्त्रास्त्र तथा स्वाधीनता सैनिक बन्दी बना लिये गये । श्री सोहनसिंह को भी कैदकर मुल्तान भेज दिया गया । उन्हें लाहौर-षड्यन्त्र का दोषी ठहराकर गोरी हुकूमत ने फाँसी की सजा सुना दी पीछे अपील पर यह सजा आजीवन कारावास में बदल दी गई । सोहनसिंह इसी सजा को भुगतने अण्डमान भेजे गये जहाँ वीर सावरकर ने उन्हें कच्चे से पक्का क्रान्तिकारी बना दिया । उन्होंने समझाया -क्रान्तिकारी उसे कहते हैं जो पहले अच्छी प्रकार यह निश्चित कर लेता है कि देश जाति, धर्म या संस्कृति के हित में अमुक योजना आवश्यक है उसे अपना धर्म समझ कर पूरा किया जाना मेरा कर्त्तव्य है, एक बार यह निश्चय हो गया फिर समय की कमी, साधनों का अभाव, बाल बच्चों का मोह, सुखों की ललक और मानापमान की चिंता जैसी बातों की ओर उसका ध्यान नहीं जाना चाहिए । फिर तो लक्ष्य-सिद्धि ही उसका जीवन और मरण होना चाहिये ।

सोहनसिंह ने इस बात को मन में पक्का कर लिया । थोड़े ही दिन पीछे स्वयं भी तेल निकालने वाले कोल्हू में जोत दिये गये । उनकी इस उमंग ने उनका सारा कष्ट मिटा दिया । आधे-अधूरे मन वाला व्यक्ति होता तो इतनी सी बाधा ही उसे रास्ते से डिगाने को पर्याप्त हो जाती पर सोहनसिंह जिस गुरु का शिष्य था वह स्वयं बाधाएँ जान बूझकर आमन्त्रित करता और तूफान में खेलने के लिये मचलता । फिर सोहनसिंह भला अपने मार्गदर्शक को लजाकर पाप का भागी क्यों बनता ?

तेरह वर्षों की एक लम्बी जिन्दगी इस तरह चक्की पीसते कटी । सोहनसिंह के स्थान पर कोई दुर्बलमना व्यक्ति होता-कोई सन्तान के लिये रोने वाला, कर्ज की चिन्ता में डूबा हुआ, बेकारी के लिए दूसरों का मुँह ताकता हुआ, पारिवारिक सुख-शान्ति के लिये देवताओं की आशा लगाता हुआ, स्वास्थ्य ठीक करने के लिए अपने जीवन क्रम को न सम्भाल कर स्याने-दीवानों की बखाल साफ करता हुआ व्यक्ति होता तो १३ वर्ष के कठोर जेल जीवन में मकोय के पत्तों की तरह सूखा हुआ बाहर निकलता पर सोहनसिंह ऐसे दुर्बल मनोबल वाला इंसान नहीं था । १३ वर्ष बाद उन्हें अण्डमान से लाहौर बदला गया कष्ट कुछ कम हुआ । वे जानते थे कि ब्रिटिश हुकूमत की किसी भी इच्छा को न स्वीकार करने का अर्थ उससे भी कठिन यातना हो सकता है पर परिस्थितियों से भयभीत होना उन्होंने सीखा नहीं था, एक दिन उन्होंने जेल में कैदियों के साथ हो रहे अत्याचार के विरुद्ध अनशन कर दिया । आखिर सरकार झुकी, अत्याचार कम हुए उसी के साथ ही सरकार ने उन्हें सशर्त रिहा करने का भी प्रस्ताव किया पर उन्होंने साफ कह दिया-मेरा मन भारतीय है, मुझमें जातीय स्वाभिमान है मैं किसी की शर्तें मानने की अपेक्षा सच्चाई के लिए मर जाना श्रेयष्कर समझता हूँ । आखिर यहाँ भी सरकार झुकी और उन्हें जेल से बिना शर्त मुक्त कर दिया गया ।

जेल से बाहर आये-कुछ कमजोर मन वाले मित्रों ने समझाया अच्छा हुआ तू छूट गया सोहनसिंह चल घर बार सम्भाल आराम से रह ? उनकी ओर एक तीक्ष्ण, क्रुद्ध दृष्टि डालते हुए सरदार ने कहा-"देश और समाज नाइन्साफी की आग में जल रहे हों, समस्यायें खाये जा रही हों, विषमता की आग फैली हुई हो ऐसे समय केवल अपनी सुरक्षा सोचने वाले मूर्ख होते हैं । मैं मूर्ख नहीं हूँ मुझे सुख नहीं चाहिए । मैं तो चाहता हूँ देश, जाति धर्म और संस्कृति को बाहरी या भीतरी शत्रुओं से जब भी भय पैदा हो, मैं बार-बार जन्म लूँ और दुष्प्रवृत्तियों के विरुद्ध बार-बार संघर्ष करता रहूँ ।" वे घर में नहीं बैठे फिर कांग्रेस आन्दोलन में कूदे और दो बार जेल गये ।

जेल से छूटने पर उन्होंने देखा कि स्वतन्त्रता की आग पूरी तेजी से फैल गई है पर गाँव के अनपढ़ किसान अभी तक भी पिछड़े पड़े हैं, तब उन्होंने अपना ध्यान उस ओर लगाया । ठीक भी था विचारशील लोगों को परम्पराओं

और सामयिक बहाव से भिन्न दिशा में सोचना ही चाहिए। उन्होंने ऑल इण्डिया किसान सभा में काम शुरू किया और ग्रामीण किसान-मजदूरों में नवचेतना भरने लगे । इस कारण १९३९ में उन्हें फिर बन्दी बना लिया गया । इस तरह लगातार ६५ वर्ष तक ये मृत्यु से संघर्ष करते रहे । उनका शरीर जर्जर पड़ गया किन्तु मन सोने की तरह तपा हुआ खरा निकल आया ?

९८ वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ उस समय भी उनके चेहरे का तेज बता रहा था-"बुड्ढा मरकर दुबारा इसी मिट्टी में जन्म लेगा और देश के उत्थान में फिर से भागीदार बनना चाहता है । कौन जाने आज उनकी आत्मा फिर से जन्म लेकर इस देश के उत्थान की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति से संलग्न हो क्योंकि गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है -"अर्जुन अन्तिम समय जो जैसी इच्छा लेकर मरता है, मैं उसकी पूर्ति अगले जन्म में निश्चय ही करता हूँ ?"

आशावादी—डंकन

कैलीफोर्नियाँ के प्रसिद्ध डाक्टर डंकन पक्षाघात के शिकार हुए । हाथ, पाँव बेतरह जकड़ गये उनका हिलना डुलना कठिन हो गया, गनीमत इतनी ही रही कि गरदन से ऊपर के अंग आँख, कान, मुँह आदि ठीक काम करते रहे ।

डंकन ने अपनी आत्मा-कथा में लिखा है-जब मैं अस्पताल में भर्ती हुआ तो पहले-पहल अपनी दयनीय दशा पर अत्यधिक दु:खी हुआ । पत्नी के पास इतने पैसे भी न थे कि वह ठीक से इलाज का खर्च भी वहन कर सके । बच्चों की सहायता के लिए मैं कुछ भी नहीं कर सकता था, इस स्थिति में कई दिन बहुत परेशानी रही ।

पीछे विचार किया कि इस स्थिति में रहते हुए भी जो कुछ अपने लिए तथा अपने बच्चों के लिए किया जा सकता है वह तो करना ही चाहिए । बहुत सोचने के बाद उन्हें सूझा कि वे जो कुछ इन परिस्थितियों में कर सकते हैं वह यह है कि इस आकस्मिक विपत्ति के समय परिवार पर जो भय, आशंका का दबाव पड़ा है उसे दूर करें । वे जब पत्नी और बच्चे उनसे मिलने आते तो सारा साहस समेटकर हँसने-मुसकाने, आशा-हिम्मत बढ़ाने वाली बातें करने में लगते । इसका प्रभाव यह हुआ कि बच्चे यह अनुभव करने लगे वे किसी अप्रत्याशित संकट में फँसे हुए नहीं हैं । छोटी-सी बीमारी कुछ समय के लिए ही पापा को लग गई है और वे जल्दी ही उन लोगों के बीच पहले की तरह होंगे । मन का बोझ हल्का हुआ तो वे चाव से पढ़ने-लिखने लगे और अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण हुए । पत्नी का जी हलका हुआ और उसने भी बीमारी की चिन्ता छोड़कर अस्त-व्यस्त आर्थिक स्थिति एवं गृह व्यवस्था को सम्हालना आरम्भ कर दिया । फल यह हुआ कि डंकन के अस्पताल में भर्ती होते समय परिवार की अपनी स्थिति डाँवाडोल दीखती थी वह संभल गई और लगभग वैसा ही ढर्रा चलने लगा जैसा कि डाक्टर साहब की स्वस्थ स्थिति में चलता रहा था ।

आशा और उत्साह भरी अभिव्यक्तियों का साथियों पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका चमत्कार उन्होंने अपने परिवार पर देखा । अतः निश्चय किया कि अस्पताल के दूसरे साथी रोगियों को भी इसी प्रकार लाभान्वित करें । उसी वार्ड में लकवा के दूसरे ऐसे रोगी भी रहते थे । जो उनकी अपेक्षा कुछ अच्छी स्थिति में थे । डंकन ने उनका जी हल्का करने का उपाय सोचा । फालतू समय में ताश शतरंज आदि खेलने के लिए उन्हें इकट्ठा करते । दूसरे बीमार जहाँ हाथ की सहायता से ताश शतरंज खेलते वहाँ डंकन को वह कार्य मुँह और दाँतों की सहायता से करना पड़ता । उँगलियाँ तो नहीं मुड़ती थीं पर कुहनी हिल सकती थी वे मुँह-दाँत और कुहनियों की सहायता से कई तरह के खेल खेलते और वार्ड के अन्य रोगियों का अच्छा मनोरंजन करते ,साथ ही उन्हें यह भी साहस बँधाते कि जब बीमारी से इतना अधिक जकड़ा एक रोगी इतना मस्त रह सकता है तो अपेक्षाकृत कम रोग की स्थिति में उन्हें ज्यादा प्रसन्न, ज्यादा आशावादी और ज्यादा उत्साही होना चाहिए ।

डंकन को फोटोग्राफी की जानकारी थी । उनके पास कैमरा भी था । वार्ड के रोगियों, कर्मचारियों तथा उनके घर वालों को उन्होंने बताया कि यदि वे चाहें तो उनसे बिना पारिश्रमिक दिये अच्छे फोटो खिंचवा सकते हैं । लोग अपनी रीलें ले आते और फोटो खिंचवाते, हाथ ठीक काम नहीं करते थे, पैरों से खड़े भी नहीं हो सकते थे पर उनमें पलंग पर बैठ सकने जितना सुधार हो गया था, सो वे बैठकर कैमरे का फोकस मिलाते और ठोड़ी की सहायता से शटर दबाते । पूरे मनोयोग के साथ खींचे गये यह फोटो इतने साफ निकलते कि लोगों का उत्साह बढ़ता ही गया और अवकाश के समय वह वार्ड एक प्रकार से फोटोग्राफी का केबिन ही बना रहने लगा ।

अपनी आत्मकथा में डंकन ने लिखा है पक्षाघात का आक्रमण इतना गहरा था कि चारपाई पर हिलना-डुलना और करवट लेना भी कठिन था, ऐसी स्थिति में भविष्य के निराशाजनक चित्र देखने वाला व्यक्ति घुल-घुल कर मर ही सकता था । बीमारी अपने आप में जितनी भयंकर होती है, उससे कहीं अधिक विपत्ति उस मनोवृत्ति के कारण आती है जो रोगी के मन पर निराशा, घबराहट, आशंका जन्य कष्ट का अनवरत चिन्तन करते रहने के कारण उत्पन्न होती है । बीमारी दवा से अच्छी हो सकती है पर यदि रोगी अपनी मन:स्थिति दुर्बल बनाले तो फिर उसका अच्छा हो सकना कठिन है ।

उन्हें लगभग एक वर्ष अस्पताल में रहना पड़ा । छुट्टी मिली तो सिर्फ इतना ही सुधार हो सका कि घर में थोड़ा चल-फिर सकें, कुहनियों और कंधों के जोड़ तो मुड़ने लगे

थे पर उँगलियाँ और कलाइयाँ इतना साथ न दे सकीं जिससे कुछ हाथों से किया जा सकने वाला काम कर सकें । डाक्टरों ने इससे आगे का सुधार बहुत धीरे-धीरे हो सकने की ही आशा व्यक्त की और उसी स्थिति में अस्पताल से निवृत्त कर दिया ।

डंकन ने सोचा जिस आशा, धैर्य और उत्साह के बल पर वे स्वयं जीवित रह सके, भारी पीड़ा को सहन कर सके, परिवार को सामान्य ढर्रे पर चल सकने की प्रेरणा दे सके, साथी रोगियों का मनोरंजन कर सके और साथ ही अपना मनोबल बनाये रह सके उसी आशावादिता का आश्रय लेकर वे इस अवांछित विषम परिस्थितियों में रहकर भी 'कामचलाऊ' जीवनयापन कभी नहीं कर सकते ।

उन्होंने अपने घर पर ही फोटोग्राफी का धन्धा खड़ा किया । पत्नी उनका सहयोग करती । मन पूरी तरह लगने पर फोटो बहुत बढ़िया आते । ठोढ़ी से शटर दबाकर फोटो खींचने वाला फोटोग्राफर धीरे-धीरे मशहूर होता चला गया और उस कौतुक को देखने के लिये फोटो खिंचाने वालों की भारी भीड़ आने लगी । आखिर उन्होंने एक बड़ा स्टुडियो बनाया और अपने करतब से इतने लोगों को चमत्कृत किया कि स्वस्थ स्थिति में चलने वाले डाक्टरी धन्धे की अपेक्षा कई गुनी आमदनी होने लगी ।

अस्पताल में भर्ती होने से लेकर फोटोग्राफी में भारी सफलता पाने वाले पाँच वर्ष के समय में डंकन ने अपना मनोबल स्थिर रखकर बढ़ाया और उसके आधार पर मृत्यु एवं अपंगता पर विजय पाई । इतना ही नहीं उन्होंने इस अवधि में अपने सम्पर्क में आने वाले विपत्तिग्रस्त लोगों को अपना उदाहरण देकर साहस बढ़ाया । निराशा के अन्धकार में आशा की बिजली कौंधाते रहना उनका स्वभाव ही बन गया था । अस्तु, आये दिन उनके पास कितने ही दुःखी, उद्विग्न व्यक्ति अपनी कष्ट कथा सुनाने उन्हें आते और बदले में आशा और उत्साह भरी प्रेरणा योजना साथ लेकर जाते । इस क्रम के कारण वे असंख्यों बोझिल जीवन हलके बनाने में सफल हो सके ।

अपने निज का संकट टालने से लेकर अगणित व्यथा-वेदना ग्रस्तों को आशा की किरणें दिखाने तक के क्रिया-कलाप का विशद वर्णन उन्होंने अपने बच्चों की सहायता से लिखाया और पत्रिकाओं में छपाया । उससे उन्हें जहाँ आजीविका मिली वहाँ यश भी बहुत फैला । आशावादी डंकन के नाम से वे सारे अमेरिका में विख्यात हुए ।

अस्पतालों में रोगियों का मनोबल बढ़ाने के लिये उनके भाषणों की आवश्यकता अनुभव की गई । उन्होंने अस्पतालों में अपंग अवांछित और वृद्धों के बीच अनेकों भाषण दिये । आशावादी विचारों के चमत्कार समझाये साथ ही वह मार्गदर्शन भी किया कि संकटग्रस्त स्थिति में पड़े हुए लोग किस विचारधारा और किस कार्य-पद्धति को अपनाकर किस प्रकार अधिक सुन्दर और समुन्नत जीवन जी सकते हैं ।

डंकन कहा करते थे पक्षाघात ने उनके हाथ-पाँव जकड़ दिये । उन्हें शारीरिक सुविधाओं से वंचित कर दिया पर विधेयात्मक चिन्तन का द्वार भी उस विपत्ति ने ही खोला । पहले शरीर स्वस्थ और साहस सोया पड़ा था, पर अब शरीर अपंग होते हुए भी आशावादी चिन्तन निखरा है । दोनों परिस्थितियों की जब तुलना करता हूँ तो प्रतीत होता है हर दृष्टि से आशावाद की उपलब्धि मेरे लिये अधिक सुखद और श्रेयस्कर सिद्ध हो रही है ।

देशभक्तों के निर्माता--

वारीन्द्र कुमार घोष

ब्रिटिश सरकार की सेवा में निरत भारतीय डाक्टर की यह हार्दिक इच्छा थी कि उनके पुत्र पूरे अँग्रेज साहब बनें । रहन-सहन, वेश-भूषा तथा शिक्षा-दीक्षा में वे किसी प्रकार अँग्रेज अफसरों से कम न हों । इस विचार से इन्होंने अपनी पत्नी को जब दूसरा पुत्र पेट में ही था, इंग्लैण्ड भिजवा दिया ताकि बालक को इंग्लैण्ड की नागरिकता प्राप्त हो ।

फूल कहीं भी खिले पर उसकी सुगन्ध नहीं बदली जा सकती । गुलाब को भारत में लगाएँगे तो भी गुलाब जैसी सुगन्ध फैलाएगा और इंग्लैण्ड में भी वह गेंदा नहीं बन जायेगा रहेगा गुलाब ही । बालक इंग्लैण्ड में उत्पन्न हुआ । उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हुई । अँग्रेजी बोलता, अँग्रेजों जैसी वेशभूषा धारण करता पर उसकी आत्मा भारतीय थी । अपने देश और संस्कृति के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं पड़ी ।

ये पिता थे कृष्णधन घोष । अपने दोनों पुत्रों को ये साहब बनाना चाहते थे पर उनमें से एक भी साहब नहीं बना । बड़े पुत्र अरविन्द को इंग्लैण्ड ही रखा गया, वहीं पढ़ाया गया । वही आगे चलकर भारतीय संस्कृति का महान द्रष्टा बना जिन्हें योगीराज अरविन्द के रूप में विश्व जानता है । जिसे ब्रिटिश नागरिकता मिली, वारीन्द्र घोष एक महान देशभक्त बना । बंगाल में क्रांति का सूत्रपात करने का श्रेय इन्हें दिया जा सकता है । पिता की अव्यावहारिक तथा समय के प्रतिकूल इच्छा का समर्थन दोनों पुत्रों की आत्मा नहीं कर सकी ।

वारीन्द्र कुमार घोष अपनी शिक्षा समाप्त करके इंग्लैण्ड से लौट आये । उन्हें अपने देशवासियों की सेवा करने की बचपन से ही चाह उत्पन्न हो चुकी थी । ब्रिटिश शासन के वेतनभोगी अफसर बनकर यह काम नहीं किया जा सकता था । वे भारत को इस शासन से मुक्त कराना चाहते थे । इंग्लैण्ड में उन्होंने एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नागरिक को सम्मानित जीवन जीते हुये देखा । भारतीयों के साथ जिस प्रकार का हीन भाव इन अँग्रेजों के मन में था उसे भी देखा था । उन्होंने संकल्प लिया कि मैं अपना जीवन इसी लक्ष्य को अर्पित कर दूँगा । भारतीय जनता को जगाकर देश को स्वाधीन करने का उद्योग करूँगा ।

वारीन्द्र अब अधिक समय तक वहाँ रुकने में असमर्थ थे । उनके लिये एक-एक पल भारी हो रहा था । पिता उन्हें आई० सी० एस० परीक्षा में बैठने के लिए जोर दे रहे थे । एक ओर तो पिता की आज्ञा और दूसरी ओर मातृभूमि का प्रश्न । वह किसे चुने किसे न चुने ? पर वे निश्चय कर चुके थे कि जिस धरती का अन्न खाकर, जल पीकर तथा जिसकी पावन गोद में उनकी कितनी ही पीढ़ियाँ स्वर्गोपम सुख भोग चुकी हैं मुझे उसी की सेवा करनी है । आत्मा की आवाज को पिता तथा रिश्तेदारों का आग्रह दबा न सका वे बंगाल लौट आये ।

भारत में आकर जब उन्होंने अपने देशवासियों की दशा देखी और उसकी तुलना इंग्लैण्ड के नागरिकों से की तो उन्हें जमीन-आसमान का अंतर स्पष्ट दिखाई दिया । गरीबी व अशिक्षा के कारण ये दीन-हीन जीवन जी रहे थे । विदेशी तो शासन करते थे उन्हें जनता के उत्थान से क्या सरोकार था ! युवक वारीन्द्र का हृदय करुणा से भर आया । ऐसी स्थिति में भला कोई भावनाशील युवक कैसे चुप बैठ सकता है ।

उन्होंने राजनैतिक दासता से मुक्ति पाने के लिये एक दल संगठित करने की योजना पढ़े, लिखे युवकों के सामने रखी । किसी ने उत्साह प्रदर्शित नहीं किया । उनकी बातें सुनकर लोगों ने उनका उपहास किया । "आप इंग्लैण्ड से क्यों लौट आए ? आप तो अच्छे अफसर बन सकते थे ।" वारीन्द्र को यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि बंगाल के लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति मोह तो है पर वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर देश के लिये कुछ करने का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं ।

वारीन्द्र घोष उन अधीर लोगों में से नहीं थे । जो भावावेश में आकर किसी काम को उठा तो लेते हैं पर जब कठिनाइयाँ आती हैं तथा लोगों का सहयोग नहीं मिलता तो उसे छोड़ देते हैं । वे जानते थे कि बीज डालने के दूसरे तीसरे ही दिन यदि फसल पकने की आशा की जाय तो व्यर्थ ही जायगी । उसके लिये तो बड़े धैर्य की आवश्यकता है । उसकी देखभाल करना, पानी-खाद देना तथा खरपतवार उखाड़ते रहना पड़ता है तब कहीं महीनों में फसल तैयार होती है । राजनैतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बड़ी चीज है इसके लिये तो बड़ा समय चाहिए, श्रम चाहिए, बलिदान चाहिए । वे उस समय की प्रतीक्षा करने लगे जब जनता के व्यक्तिगत स्वार्थों पर सरकारी चोट पड़े, और वह उसके प्रतिरोध में उठ खड़ी हो । वे अपना काम सफलता-असफलता की ओर ध्यान न देकर करते रहे ।

लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों में विभक्त करने की सोची और इसे कार्यान्वित किया जाने लगा तो बंगाली जनता के हितों तथा भावना पर सीधी चोट पड़ी । एक चतुर किसान की तरह वारीन्द्र जिस समय की प्रतीक्षा कर रहे थे वह समय आ पहुँचा । खेत तैयार था बस बीज बोने की देर थी । क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी । संगठन का क्रम भी चल पड़ा । जनता ने लार्ड कर्जन के बंग भंग का व्यापक विरोध किया । बंगाल के टुकड़े फिर भी होकर रहे । यह क्रान्तिकारियों के लिये अच्छा अवसर था । इस समय ही लोगों को प्रेरित किया जा सकता था ।

आंदोलन चलाने के लिये जनमत को तैयार करना आवश्यक होता है । इसके लिये सभायें तथा व्यक्तिगत रूप से घर-घर जाकर जन जागरण करना न तो स्थायी होता है न सुगम । घर-घर जाकर जनजागरण का काम पत्र, पत्रिकाएँ ही कर सकती हैं । संगठन बन गया तो प्रचार कार्य के लिए 'युगान्तर' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया गया । इस पत्र के सम्पादक बने स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त । यह पत्र जनजागरण के लिए बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ । १९०८ तक तो इसकी बिक्री २०००० हो गई । इस पत्र के माध्यम से क्रान्तिकारियों का एक अच्छा-खासा संगठन बन गया ।

दल की शाखा-प्रशाखाएँ बंगाल में ही नहीं बंगाल से बाहर तक फैल गईं । वारीन्द्र घोष इस दल के सफल संचालक थे । जो नव युवक केवल बंगाल को एक करने के उद्देश्य से इस संगठन में आये थे अब उनका लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य हो गया । उनका पूर्ण स्वराज्य महज एक कल्पना नहीं थी । वारीन्द्र घोष के तेज दिमाग ने इसकी पूरी रूप रेखा तैयार की थी । अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा भाग उन्होंने दल के एक सदस्य हेमचन्द्र दास को विदेश भेजने में लगाया । हेमचन्द्र दास ने अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर अपना सर्वस्व राष्ट्रहित पर न्यौछावर किया । इसके पीछे वारीन्द्र की ही प्रेरणा थी । वे १९०६ में पेरिस गये । वहाँ से रूस गये तथा बम बनाना सीखकर आये । थोड़े से अँग्रेज चालीस करोड़ भारतीयों पर उनके ही सहयोग से राज्य कर रहे थे । इस दल ने जनता को सरकार से असहयोग करने की प्रेरणा दी । विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, डाक, तार, रेल, तथा प्रशासन में असहयोग करने के साथ-साथ खादी तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आरम्भ हुआ । गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन जैसा ही व्यापक असहयोग इन दिनों बंगाल में चला ।

उन दिनों बंगाल में एक और क्रान्तिकारी दल का आरम्भ हुआ उसका नाम था 'अनुशीलन समिति' वारीन्द्र ने उनसे सम्बन्ध स्थापित किया पर वे जल्दबाज थे । उन्हें पूरी तैयारी के बाद सोच समझकर कदम उठाये जाने जितना धैर्य नहीं था । वारीन्द्र जानते थे कि यह जल्दबाजी हानिकारक सिद्ध हो सकती है । उन्होंने अनुशीलन समिति के सदस्यों को समझाया पर वे माने नहीं । इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ ।

१९०७ में क्रान्तिकारियों ने बंगाल के गवर्नर पर बम फेंकने की योजना बनाई । पहली बार बम फटने से रह गया । दूसरी बार बम फटा पर गवर्नर बच गया । इस प्रकार की असफलता ने वारीन्द्र को मजबूर कर दिया कि वे अपने दल को भी इसमें भाग लेने दें ताकि भविष्य में क्रान्ति का काम और तेजी से चले ।

खुदीराम बोस तथा प्रफुल्ल चन्द्र चाकी नामक दो नवयुवकों को दल ने न्यायाधीश किंग्सफोर्ड को समाप्त करने का भार सौंपा । किंग्सफोर्ड का स्थानान्तरण मुजफ्फरपुर हो जाने के कारण ये युवक मुजफ्फरपुर गए । वहाँ किंग्सफोर्ड को तलाश करना कठिन था । इन्होंने उसका पता लगा लिया तथा उसके आफिस के मार्ग में छिपकर बैठ गये । उसकी कार आई । खुदीराम के बम ने कार को एक ही बार में उड़ा दिया और दोनों भाग निकले ।

उन दिनों वारीन्द्र घोष के बड़े भाई अरविन्द घोष भी इनके साथ ही थे । यह वारीन्द्र के कुशल संगठन का ही परिणाम था कि इतना सशक्त दल बंगाल में बन सका तथा अन्याय के प्रतिकार के लिये कितने ही युवक तत्पर हो गये थे । सबसे अधिक ताकत इंजन को लगानी पड़ती है, डिब्बे तो पीछे अपने आप खिंचे आते हैं । इस संगठन के इंजन थे वारीन्द्र । वे इस पुष्पोद्यान के माली थे जिसमें खुदीराम जैसे बलिदानी फूल खिले जिनकी सौरभ ने कितने ही युवकों को देशप्रेम की बलिवेदी पर चढ़ने के लिए तैयार किया ।

किंग्सफोर्ड फिर भी बच गया था । उस दिन वह कार में नहीं था । उसके स्थान पर केनेडी परिवार की दो महिलाएँ मर गईं । १९०८ के मई माह में खुदीराम बोस गिरफ्तार कर लिये गये । उन्हें फाँसी की सजा दी गई । वे गीता हाथ में लेकर फाँसी के फंदे पर हँसते-हँसते झूल गये । उनका अन्तिम संस्कार हुआ तो हजारों दर्शक उपस्थित थे । इनकी राख को लोगों ने लूट लिया । ये बलिदान व्यर्थ नहीं गये । लोगों को इन बलिदानियों के भाग्य से ईर्ष्या होने लगी वे भी देश के लिये सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो गये ।

खुदीराम के पकड़े जाने पर पुलिस बहुत सतर्क हो गई । उसके गुप्तचर बंगाल भर में फैल गये । जज पर बम फैंकना कोई साधारण बात नहीं थी। अँग्रेजों को लगने लगा था कि अब बंगाल हमारे हाथ से गया । बंगाल में यदि वे असफल हो गये तो फिर सब जगह असफलता ही उनके हाथ लगेगी । अँग्रेज वारीन्द्र कुमार घोष के नाम से चिढ़ चुके थे । धड़ा-धड़ गिरफ्तारियाँ होने लगीं । वारीन्द्र घोष, अरविन्द घोष, उपेन्द्र नाथ बनर्जी, उल्लासकर दत्त, हेमचन्द्र दास, कन्हाई लाल दत्त, इन्द्र भूषण राय आदि दल के बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये । उन पर मुकदमा चलाया गया । अरविन्द घोष की पैरवी देशबन्धु चितरंजन दास ने की ।

वारीन्द्र ने देखा कि पुलिस का दमन-चक्र चालू है और वह निर्दोष लोगों को परेशान कर रही है । दमन को रोकने के लिए उन्होंने अपने बयान में कहा-''हमारा उद्देश्य हत्या करना नहीं किन्तु जन जागरण के लिए हम इसे अनिवार्य समझते हैं तथा आततायी को दण्ड देनी का हमारा यह कोई अनुचित तरीका नहीं । जिनके हाथ में सत्ता है वे फाँसी देते हैं वैसा ही यह दण्ड हमने दिया । हमारा लक्ष्य आजादी पाना है । अब जब आरम्भ हो चुका है तो इसका अन्त आजादी ही होगी ।''

वारीन्द्र घोष को अपने अन्य साथियों सहित आजन्म काले पानी की सजा दी गई । वहाँ इनके साथ बड़ा अमानवीय व्यवहार किया गया । जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन देश को समर्पित कर दिया हो उसे इस प्रकार के कष्ट-कंटकों को सहने की तैयारी करके ही इस कर्म क्षेत्र में उतरना होता है । इन देश-भक्तों के कष्टों की करुण कथाओं ने देश के नागरिकों को बहुत झकझोरा । ये कष्ट-कंटक अँग्रेजी शासन को भारत से समाप्त करने में बहुत उपयोगी सिद्ध हुये ।

अरविन्द घोष इस मुकदमे में बरी हो गये । उसके पश्चात् वे फिर अध्यात्म क्षेत्र में चले गए । वारीन्द्र घोष का यह समर्पित जीवन सार्थक हुआ । बंगाल के लाखों लोगों को इनके बलिदानों से प्रेरणा मिली । इस प्रकार के त्यागी, उद्योगी तथा भावनाशील व्यक्ति ही मानवता को कुछ दे सकते हैं । इनका चरित्र जब तक इतिहास के पृष्ठों पर रहेगा, देश पर सर्वस्व न्योछावर करने वालों की कमी नहीं रहेगी ।

महान बलिदानी–
भाई मतिदास

मुगल शासन काल में एक हिन्दू को बादशाह का आदेश मिला-''यदि जीवन चाहते हो तो स्वधर्म त्याग कर मुसलमान धर्म स्वीकार कर लो और हमारी शहजादी से विवाह करके सम्पन्न सम्मानित जीवन जीओ अन्यथा मृत्यु दण्ड पाने के लिये प्रस्तुत हो जाओ ।'' एक ओर सम्पूर्ण विलासिता का जीवन और दूसरी ओर मृत्यु, अब किसे वरण करे ? उस व्यक्ति ने मृत्यु को स्वीकार किया अपने धर्म को नहीं छोड़ा । इस साहसी का नाम था भाई मतिदास ।

किसी देश-जाति को जीतकर उस पर अधिकार तो किया जा सकता है पर वह स्थायी नहीं रह सकता । जब तक उस देश के नागरिकों की धार्मिक तथा सांस्कृतिक चेतना को नष्ट न कर दिया जाय । भारत वर्ष की समृद्धि कथाएँ सुनकर धन की लोभी जातियों ने भारत पर आक्रमण किये तथा चन्द-देशद्रोहियों के बलबूते पर शासन भी किया पर उनका सदा यही प्रयास रहा कि इनकी धार्मिक चेतना समाप्त कर दी जाय । यही मुगलों ने किया । मुगल बादशाह को भाई मतिदास का व्यक्तित्व ऐसा ही लगा जिसे देखकर उसे भय हुआ कि यह सब हिन्दुओं को जगा देगा तो हमारा शासन खतरे में पड़ जायगा ।

भाई मतिदास स्वाभिमानी तथा दृढ़-चरित्र के व्यक्ति थे । वे भारतीय धर्म व संस्कृति के ज्ञाता तथा उसकी महानता से परिचित थे, वे चाहते थे कि हिन्दुओं को अपना वास्तविक स्वरूप बताकर उन्हें संगठित कर विधर्मी शासन से मुक्त करें । इसकी भनक जब बादशाह

के कानों में पड़ी तो उन्हें धर्म-पथ से विचलित करने के लिए यह आदेश प्रसारित किया।

भाई मतिदास भला इस प्रकार के अन्याय के सामने सिर क्यों झुकाते मृत्यु से अज्ञानी ही भय खाता है। जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में जो हमारे धर्म की मान्यताएँ हैं यदि उन्हें कोई जीवन में उतार ले तो उसे किसी का भय नहीं रह सकता। वे जानते थे कि अच्छा राजपद और राजा की पुत्री से विवाह करके जो विलासिता पूर्ण जीवन जीयेंगे वह तो मृत्यु से भी बढ़कर होगा। इससे धार्मिक चेतना की जो चिंगारी उन्होंने जलाई है वह बुझ जायगी पर यदि वे मृत्यु का वरण कर लेंगे तो यही चिंगारी बड़वानल उत्पन्न कर देगी। मुगल शासक भी जान जायेंगे कि मृत्यु भी किसी को धर्म-पथ से विचलित नहीं कर सकती।

यह आदेश देने वाला क्रूर मुगल सम्राट औरंगजेब था जिसके हाथ ऐसे अनेकों निरपराध धर्म प्रेमियों के रक्त से सन चुके थे। इसी के परिणामस्वरूप मुगल शासन का अन्त हुआ।

दिल्ली के चाँदनी-चौक में आज जहाँ फव्वारा है ठीक उसी स्थान पर मतिदास को प्राण-दण्ड दिया गया। शरीर पर आरा चल रहा है और वे मुस्करा रहे हैं। मुगल सेनापति अफजल खाँ उनका यह साहस व दृढ़ता देखकर चकित हो गया। वह बलिदानी इस शान से मरा कि आज भी भारतवासियों का मस्तक गर्व से ऊपर उठ जाता है। ऐसा ही बलिदान प्रस्तुत करने की ललक स्वयं के हृदय में भी उठती है।

जब भी धार्मिक चेतना जागी है राष्ट्रीय-गौरव के कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। विदेशी हमारी इस चेतना को अपनी शिक्षा के मंद-विष से इतना मृत-प्राय बना गए हैं कि इसे पुनः जाग्रत करने के लिए कितने ही मतिदासों की बलि हमें देनी है। उनकी तैयारी हमें करनी ही चाहिए।

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी–

कन्हाईलाल दत्त

गोरे जेलर ने देखा कि जिस युवक को कल फाँसी दी जाने वाली है आज भी उसके चेहरे पर वही मनोहारी मुस्कान फूट रही है, उसी आत्मीयता के साथ वह उसका अभिवादन कर रहा है। जिस दिन से यह कैदी इस जेल में आया है उसकी विचारणाओं में महान परिवर्तन आने लगा। जब इस सुदर्शन युवक को फाँसी की सजा सुनाई गई तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। लम्बे बालों तथा चौड़े चेहरे वाले इस युवक से जेलर ने उस दिन पूछा था–"तुम इतने प्रसन्न क्यों हो ?" उसने आशा की थी कि वह राष्ट्र पर अपने बलिदान के सौभाग्य पर प्रसन्न होगा पर उस युवक ने इस आशा के विपरीत उत्तर दिया–"मैं अगले जन्म की तैयारी में व्यस्त हूँ और यही मेरी प्रसन्नता का कारण है ।" जिज्ञासा जगा दी। वह इससे भारतीय संस्कृति का लगा ज्ञान पाने लगा, वह समझने लगा कि आत्मा जन्म-मरण से परे है, युवक अगले जन्म की तैयारी में लगा है। इन दोनों में परस्पर घनिष्ठता बढ़ती गयी।

मृत्यु के एक दिन पहले भी उसकी पूर्ववत् मुस्कान देखकर जेलर ने पूछा–"आज तो हँस रहे हो कल तुम्हारे यही मुस्कराते होंठ मृत्यु की कालिमा से काले पड़ जायेंगे।" युवक ने कहा कुछ नहीं उसी तरह मुस्कराता रहा। जेलर का हृदय इस जिंदादिल युवक के बिछोह की कल्पना से भर आया। यह युवक थे स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर बलिदान होने वाले प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कन्हाई लाल दत्त। जिन्हें अलीपुर-कांड के सिलसिले में फाँसी दी गई थी। जेल की कोठरी में भी इनका वजन १५ पौण्ड बढ़ गया था। फाँसी के बाद जेलर ने इनका चेहरा देखा। उस पर वही अमर मुस्कान बिखरी हुई थी। मृत्यु की कालिमा का कोई चिह्न इस वीर के शरीर पर नहीं था, होता भी कैसे उनके लिए तो मृत्यु, आत्मा के वस्त्र परिवर्तन की प्रक्रिया थी।

कन्हाई लाल दत्त का जन्म कलकत्ता के निकट चन्द्र नगर में १८८७ में हुआ था। जन्माष्टमी के दिन जन्म लेने के कारण इनके माता-पिता ने इनका नाम कन्हाई लाल रख दिया। परिवार की स्थिति सामान्य थी। पिता इनके पढ़ाई का खर्च नहीं जुटा पाते थे। पिता की इस विवशता को कन्हाई स्वयं जानते थे। उन्होंने पिता का भार नहीं बढ़ाया। अपने पाँवों पर खड़े होकर इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। ट्यूशन तथा छोटी-मोटी नौकरियाँ करके उन्होंने अपनी शिक्षा पूरी की। सच है जहाँ चाह है वहाँ राह तो निकल ही आती है।

पढ़ाई पूरी करके ये स्वतन्त्र व्यवसाय करने की सोच रहे थे। व्यवसाय के लिए धन चाहिए था जो इनके पास नहीं था। अँग्रेजों की नौकरी ये करना नहीं चाहते थे। अन्तःकरण से आवाज आयी "कन्हाई तू अपने पेट की चिन्ता कर रहा है और भारत के करोड़ों नागरिक दासता की चक्की में पिसे जा रहे हैं। तेरी यह जवानी किस दिन काम आयेगी ? इसे सफल बना देश के लिए कुछ कर।" इस आवाज को सुनकर उन्होंने स्वतन्त्रता लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया।

क्रान्तिकारियों से इनकी भेंट हुई। १९ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने चन्द्रनगर में देशभक्तों की एक शाखा स्थापित की। बम बनाने की कला सीखने के लिए आप मानिकतल्ला बाग के बम कारखाने में आने-जाने लगे। पुलिस तथा जासूसों को इस कारखाने का पता नहीं था। किसी देशद्रोही ने अपने थोड़े से लाभ के लिए इस कारखाने की सूचना सरकार को देने की नीचता की। भेद खुल गया। इस स्थान पर छापा मारा गया जिसमें ३४ व्यक्ति गिरफ्तार हुए। कन्हाई लाल भी उनमें से एक थे।

जेल की चहारदीवारी में बन्द होने पर भी न तो ये लोग निष्क्रिय बैठे रहे और न इनकी गिरफ्तारी पर क्रान्ति

का काम रुका। इनका स्थान अन्य लोगों ने ले लिया। इस केस के सरकारी वकील की फरवरी, १९०८ में क्रान्तिकारियों ने हत्या कर दी। दिन दहाड़े अदालत में डी. एस. पी. को खत्म कर दिया। हत्या करना क्रान्तिकारियों का उद्देश्य नहीं था। इस माध्यम से वे विदेशी शासकों को बता देना चाहते थे कि यह आग इन गिरफ्तारियों से बुझने वाली नहीं है और भी जोर से भड़केगी जिसमें यह साम्राज्य जलकर स्वाहा हो जायगा।

इस क्रान्ति दल का एक कमजोर आदमी जो मृत्यु के भय से काँप गया तथा प्रलोभन में पड़कर सरकारी गवाह बन गया। यह व्यक्ति था नरेन गोसांई। विदेशी शासक अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए कुछ भी करते रहें पर एक भारतीय का इस प्रकार का विश्वासघात असह्य था। इस एक की गद्दारी ने अन्य देशभक्तों की मान मर्यादा तथा सदुद्देश्य को भी आँच पहुँचाई। कन्हाई लाल तथा सत्येन्द्र ने इस देशद्रोही को सजा देने की ठान ली।

इनके उद्देश्य को जानकर अन्य बुजुर्ग क्रान्तिकारियों ने इन युवकों का उत्साह बढ़ाने की बजाय इन्हें हतोत्साह किया। किन्तु ये दोनों अपने निश्चय पर अटल थे। अन्य लोगों का असहमत होना निराधार भी नहीं था। जेल में रहते हुए पिस्तौल पा लेना तथा नरेन के पास पहुँचना नितांत असम्भव था। किन्तु दृढ़ इच्छा-शक्ति तथा बौद्धिक कौशल के बल पर इन दोनों ने इस असम्भव को सम्भव बना दिया।

इनके पास रिवाल्वर कैसे पहुँचे। यह अभी तक रहस्य के पर्दों में छिपा है। किन्तु यह सत्य है कि इन्होंने किसी प्रकार दो रिवाल्वर प्राप्त कर लिए। बहुत सम्भव है खाने के लिए जो मछली तथा कटहल आदि आते थे उनमें छिपाकर यह इस तक पहुँचाई गई हों। रिवाल्वर मिल जाने पर आधी सफलता तो हाथ लग गई।

नरेन सरकारी गवाह हो जाने के कारण इन लोगों से दूर एक अस्पताल में रखा गया था। उस तक पहुँचना भी टेढ़ी खीर था। सत्येन्द्र ने खाँसी का मरीज बनकर अस्पताल की शरण ली तथा कन्हाई ने पेट दर्द का बहाना बनाकर। पहले सत्येन्द्र पहुँचा, उसके कई दिनों बाद कन्हाई लाल। कन्हाई ने अस्पताल पहुँचते ही जोर-जोर से कराहना-चिल्लाना आरम्भ किया। यह सत्येन्द्र को अपने आगमन की सूचना देने का संकेत था।

दोनों ने बीमारी का अभिनय इस खूबी से किया कि किसी ने इन पर सन्देह नहीं किया। सत्येन्द्र ने अपने आपको जीवन से निराश प्रकट किया तथा मुखबिर बनने की इच्छा प्रकट की। नरेन से मिलने की इच्छा प्रकट करने पर नरेन तथा एक जेल का अफसर इससे मिलने का लोभ संवरण न कर पाये। दोनों इनसे मिलने पहुँचे। नरेन को देखते ही सत्येन्द्र ने रिवाल्वर से फायर किया पर गोली नरेन के पाँव में लगी। नरेन भाग खड़ा हुआ। अन्य मरीजों ने देखा कि दिन-रात खाट तोड़ने वाला पेट का मरीज शेर की तरह उछला व लपक कर नरेन के पीछे भागा। यह देखते ही कन्हाई लाल ने सारी गोलियाँ इसी देशद्रोही पर समाप्त कर दीं। वह धराशायी हो गया।

यह समाचार बिजली की तरह सारे कलकत्ता में फैल गया। कन्हाई लाल के इस साहस पर नवयुवकों में उत्साह की एक लहर दौड़ पड़ी। वे भी कमर कसकर आन्दोलन में भाग लेने को उठ खड़े हुए। जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही लिपटे पड़े थे। इस काण्ड ने उन्हें झकझोर कर खड़ा कर दिया। भारतीय जनता में उत्साह का संचार हो गया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे नेताओं ने यह समाचार सुनते ही मिठाई बाँटी।"

अँग्रेजी हुकूमत की यह बहुत बड़ी हार थी। उसकी जेल में रहने वाले क्रान्तिकारी ऐसा काम कर जाएँ। उनके पिट्ठू को जेल अधिकारी के सामने गोलियों से छलनी कर दें। वह भी किसी छोटे-मोटे स्थान पर नहीं कलकत्ता जैसे बड़े नगर में जहाँ अँग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी थी। सत्ता के मुँह पर इससे बड़ा तमाचा और क्या हो सकता था?

धरती तो आज भी वही है। देशवासी भी बदले नहीं। पर आज कुर्बानी, वह देश-भक्ति, वह आदर्श एक सपना बनकर रह गया है। हर आदमी ने पेट इतना बड़ा कर लिया है-अपना स्वार्थ ही सब कुछ मान लिया है। उसी संकुचित दृष्टिकोण को अपनाकर नीति-अनीति का भेद किये बिना अपना घर भरने की हीन वृत्ति से ग्रस्त होकर राष्ट्र के हित की बात सोच नहीं पाते। वह दिन दूर नहीं जब इस धरा पर फिर कन्हाई लाल उत्पन्न होंगे तथा स्वार्थ के पुतले नरेन को सबक सिखाकर ही छोड़ेंगे।

कन्हाई लाल के इस दुस्साहस पर विदेशी साम्राज्यवादी बौखला उठे। मुकदमे की रस्म अदायगी पूरी हुई। फाँसी से अधिक और क्या दे सकती थी यह हुकूमत दोनों को फाँसी की सजा सुनाई गयी। १० नवम्बर १९०८ के दिन इन दोनों को फाँसी दे दी गयी।

फाँसी के बाद शहीद का शव लेने के लिए उनके भाई तथा परिवार के अन्य व्यक्ति जेल पहुँचे। शोक से सभी की छाती फटी जा रही थी। बड़े भाई की रुलाई नहीं रुक पा रही थी। गोरे जेलर ने उनकी पीठ थपथपाते हुए कहा- "आप रोते क्यों हैं जिस देश में ऐसे वीर पैदा होते हैं। वह देश धन्य है। मरेंगे तो सभी अमर होकर कौन आया है पर आपके भाई जैसे भाग्यवान कितने होते हैं?" उन्होंने विस्मय से देखा गोरा अधिकारी स्वयं रो रहा था। जैसे उसका अपना भाई दिवंगत हो गया हो। काँपते हाथों से शव के मुख पर से कम्बल हटाया तो देखा कन्हाई इन रोने वालों पर हँस रहे थे। एक अमर मुस्कान उनके होठों से फूट रही थी।

कौन कहता है कि यह शहीद गुलाम रहा था। जिसने एक पल भी विदेशी हुकूमत को नहीं माना। अपने क्षुद्र स्वार्थों का गुलाम वह बना नहीं। जेल की दीवार उसके संकल्प को बाँध नहीं पायी। फाँसी की सजा उसका चैन

नहीं छीन पायी । मृत्यु के विकराल हाथ उसकी मुस्कान नहीं छीन पाये । जिसे अँग्रेजी हुकूमत ने एक हत्यारा कहा पर देशवासियों ने उसे शहीद का गौरव प्रदान किया । शान से उसकी शवयात्रा निकाली गई । हजारों की संख्या में लोग एकत्रित हुए । पंचभूत शरीर की राख को लोगों ने लूट लिया अपने मस्तक पर लगाने के लिये ।

यह सम्मान, यह विजय श्री तथा यह श्रद्धा किसी-किसी को ही मिलती है । जो आदर्शों के पथ पर चलते हैं वे ही यह सब पा सकते हैं । इस पर कुबेर का कोष व विश्व का साम्राज्य भी न्योछावर किया जा सकता है । कन्हाई लाल दत्त ने अपनी अन्त:प्रेरणा अनसुनी नहीं की, उठ खड़े हुए तो सफल हो गई उनकी जवानी । आज देश में कितने ही युवक बेकार फिरते हैं । क्या वे अपनी इस जवानी को समझ पाये ? यदि समझ पाये होते तो आज देश की यह दशा नहीं होती । अनाचार और अनैतिकता इस प्रकार बढ़ी-चढ़ी न होती ।

कन्हाई लाल दत्त अपनी भरी जवानी में अपने कर्तव्य पथ पर चलते हुए शहीद हो गये । उनकी मुस्कान सदा यह कहती-बताती रही-"अन्याय चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो उसका प्रतिकार करने का साहस न करना अपने मानवीय कर्तव्यों की उपेक्षा करना है । अन्याय का अन्धकार चाहे कितना ही सघन क्यों न हो एक आदर्शवादी व्यक्ति उसे मिटाने के लिए दीपक की तरह जले तो प्रकाश होकर ही रहेगा ।" हमें आजादी मुफ्त में नहीं मिली । अनेक देशभक्तों के रक्त से इस स्वतंन्त्रता का निर्माण हुआ । स्वतन्त्र भारत की उन्होंने ऐसी कल्पना तो नहीं की थी जैसी आज हम देख रहे हैं । इन देशभक्तों के प्रति हमारे हृदय में तनिक भी श्रद्धा है-उसका जीवन वृत पढ़ कर हमारे हृदय में तनिक भी हलचल होती है-आँखों में दो अश्रु छलक आते हैं तो अन्त:करण की आवाज-आत्मा की पुकार को सुनकर श्रेय-पथ पर चलना होगा । सर्वनाशी विभीषिकाओं से जूझने तथा नवसृजन के लिए हमें अपना जीवन नियोजित करना ही होगा ।

एक सच्चे भारतीय-
श्री कान्त अनन्त राव आप्टे

चाचा ! पास वाली बहिन जी ने यह चिट्ठी रोते-रोते दी है । मैं इसे डाक में डाल आऊँ ? सात वर्षीय बालक ने चाचा श्री कान्त अनन्त राव आँप्टे से पूछा । उनको रोते हुए चिट्ठी देने की बात समझ में नहीं आयी, उन्होंने चिट्ठी देखी तो माथा ठनका । पता उनके पड़ोसी का था पत्र लिखने वाली लड़की अपने पिता को मौखिक नहीं कह सकी तथा पत्र में लिखी तो अवश्य यह कोई गूढ़ बात होनी चाहिए । रोते हुए पत्र देने का अर्थ शुभ नहीं हो सकता । उन्होंने लिफाफा फाड़कर पत्र पढ़ा ।

"पूज्य पिताजी ! कल जब यह पत्र आपको मिलेगा तब तक मैं किसी दूसरी दुनिया में जा चुकी होऊँगी । मैंने जो भूल की है उसकी सजा मृत्यु-दण्ड ही हो सकती है । आपने मुझे पढ़ने के लिए कॉलेज में भर्ती कराया ताकि मैं अपना जीवन सँवार सकूँ पर मैंने उसे बिगाड़ लिया । मैंने एक लड़के की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर अपना सर्वस्व उसे सौंप दिया । वह मेरी इस मूर्खता का लाभ उठाकर थोड़े ही दिनों में बदल गया । अब मैं आपको मुँह दिखाने योग्य नहीं रही और दिखाऊँगी भी नहीं . . . . . ।

आप्टे इससे आगे पढ़ नहीं पाये । उनका हृदय भर आया । स्वार्थ और लोलुपता के इस दानव ने कितनी ही सुकुमार कलियों के भोलेपन का लाभ उठाकर उन्हें कुचल-मसलकर आत्महत्या तथा सामाजिक प्रताड़ना का शिकार बनाया है । वासना के पीतल पर प्यार के सोने का मुलम्मा चढ़ाकर जो नर-पशु नारी की उदारता का अनुचित लाभ उठाते हैं उन्हें सबक देने के लिये इस विवेकशील तरुण की चेतना जाग उठी । दोष दोनों का और दण्ड एक को मिले यह न्याय उन्हें स्वीकार न था ।

आप्टे के चाचा उससे बड़ा स्नेह करते थे । उसने अपने चाचा को यह पत्र दिखाया । चाचा ने इस सम्बन्ध में अपना एक ही सुझाव बताया वह यह था कि कोई युवक इस कन्या से विवाह करने के लिए राजी हो जाय तो उसके प्राण बचाए जा सकते हैं ।

इस प्रकार का उदार युवक मिलना कठिन था । कोई तैयार भी हो जाता तो समाज के तथाकथित ठेकेदार उसका जीना हराम कर देंगे । यह मुसीबतें एक साथ मोल लेने वाली बात थी । ऐसा कोई युवक खोजा जाता तब तक तो उस लड़की का प्राणान्त ही हो जाता । आप्टे ने आजीवन अविवाहित रहने का व्रत ले रखा था । आप्टे के अत:करण से आवाज आयी । किसी के प्राणों की रक्षा के लिये व्रत तोड़ना पड़े तो कोई हानि नहीं । आप्टे ने उस कन्या को स्वीकार कर लिया । चाचा के प्रयत्नों से दोनों विवाह-सूत्र में बँध गये ।

आप्टे के पिता पूना के निवासी थे किन्तु पोस्टल सुपरिण्टेडेण्ट होने के कारण उन्हें अलग-अलग स्थानों पर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ा । जब वे अहमदनगर में थे तब श्रीकान्त का जन्म हुआ । एक स्थान पर नहीं रह पाने के कारण श्री कान्त आप्टे की पढ़ाई नियमित नहीं हो सकी । वे बड़ी कठिनाई से मैट्रिक तक पढ़ सके ।

स्कूल की पढ़ाई नियमित न होते हुए भी आप्टे ने अपने ज्ञान-भण्डार को भरने में कमी नहीं रखी । वे भारतीय धर्म शास्त्रों का अध्ययन करते, उनमें लिखी हुई बातों से जब प्रचलित रीति-रिवाज तथा मान्यताओं की तुलना करते तो उन्हें जमीन-आसमान का अन्तर दृष्टिगोचर होता था । इस स्वाध्याय का यह परिणाम हुआ कि उनके अन्त:करण में विवेक जाग्रत होने लगा । जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण समाजवादी तथा मानवतावादी होने लगा ।

सारे देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन की धूम मची हुई थी । आप्टे के मन में देश-प्रेम का सागर हिलोरें ले रहा था । वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में ही बँधे नहीं रह सके । सामाजिक प्रगति के लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता एक अनिवार्य आधार होता है । आप्टे ने अपने आपको राष्ट्र की सेवा में समर्पित कर दिया । पत्नी के साथ उन्होंने जो विशाल सहृदयता दिखाई थी प्रतिदान में उसने अपने आपको इनके उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया ।

आप्टे ने एक क्रान्तिकारी दल का संगठन किया । अपने जैसे देशभक्त युवकों को एकत्रित करके उन्होंने पर्याप्त शक्ति संगठित करली थी । भारत के अन्य क्रान्तिकारी दलों से सम्पर्क स्थापित करके इन्होंने अँग्रेजों को आतंकित करना आरम्भ कर दिया । थाने लूट लेना साधारण बात थी । कोई अँग्रेज भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करता तो उसका बदला यह दल लिये बिना नहीं रहता था । आप्टे की पत्नी अपने घर के मोर्चे को सम्भालती थी । उसने इन्हें पूरी तौर पर देश सेवा के लिए छोड़ दिया था । आप्टे की योजनायें तथा कार्यपद्धति इतनी सूझ-बूझ की होती थीं कि अँग्रेज सरकार इनका पता नहीं लगा पाती थी । आप्टे उनके लिए सिर दर्द बन चुके थे । वह किसी भी मूल्य पर इन्हें पकड़ना चाहती थी और उनकी सब चालें नाकामयाब कर देते थे ।

पुलिस ने आप्टे के घर को आ घेरा । पति की रक्षा करने के लिए पत्नी दरवाजे पर चट्टान बनकर अड़ गयी । अँग्रेज अफसर ने उसे हटने को कहा पर वह हटी नहीं । क्रुद्ध होकर उसने लाठी चलाने को कहा । लाठी के प्रहार से उस वीर नारी की कलाई टूट गयी पर वह चौखट से हटी नहीं । हारकर पुलिस को गोली चलानी पड़ी । एक दिन आप्टे ने उसकी रक्षा की थी आज उस का प्रतिदान उसने अपने प्राण देकर चुका दिया था । इतनी देर में आप्टे सिपाहियों की आँखों में धूल झोंक कर भाग चुके थे ।

आप्टे को अपनी पत्नी के दिवंगत होने की सूचना मिली तो वे नारी की इस महानता पर नत मस्तक हो गये । वे नहीं चाहते थे कि विवाह करें पर यदि वे विवाह नहीं करते तो उन्हें यह रूप देखने को कहाँ से मिलता कि हम अपने अर्धांग को इस प्रकार पद-दलित किये हुए हैं, वह हमारे प्रगति का सोपान सिद्ध हो सकता है, यह हमारी मूर्खता ही तो है ।

राष्ट्र और समाज के लिये सारा जीवन अर्पित करने के उद्देश्य से उन्होंने आजीवन अविवाहित रहने का व्रत लिया था । वह व्रत पत्नी की मृत्यु के उपरान्त ज्यों का त्यों चलने लगा । उस देवी ने उन्हें गृहस्थी के झंझट में नहीं पटका था । बाल-बच्चा कोई था नहीं । अब उनके सामने एक ही लक्ष्य था लोक-सेवा ।

गाँधी के विचारों की आँधी जब चली तो उसमें अच्छे-अच्छे प्रतिभावान, सम्पदावान उड़ गये । इस विचार धारा से परिचित होकर आप्टे को लगा कि जिस पथ की उन्हें प्रतीक्षा थी वह उन्हें मिल गया है । अब उनके मन में कोई विकल्प नहीं रहा, उन्होंने स्वयं को इस आन्दोलन का एक अंग बना लिया ।

आप्टे जी ने धन कमाने को तो जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझा नहीं था । विवाह हो जाने पर भी वे इस ओर से उदासीन ही थे । उस देवी ने कभी उनसे इस सम्बन्ध में आग्रह नहीं किया, क्रान्तिकारी जीवन में कमाई करना सम्भव भी नहीं था । बाद में अकेले व्यक्ति की थोड़ी सी आवश्यकताएँ पूरी हों इतना ही वे कमाते बाकी समय का उपयोग समाजसेवा, देशसेवा में करते थे । इनके पास गाँधी जी को देने के लिए न धन था, न सम्पदा थी न और कुछ था । इन्होंने जीवन ही गाँधी के आदर्शों को समर्पित कर दिया जो धन-सम्पदा से कई गुना बहुमूल्य था ।

गाँधी जी के नेतृत्व में अँग्रेजों से संग्राम हुआ । अँग्रेज हारे भारतवासियों की विजय हुई । गाँधी जी ने राजनैतिक स्वाधीनता को ही अपना लक्ष्य नहीं माना था । वे रामराज्य लाना चाहते थे । स्वराज्य मिलते ही इस संग्राम के सैनिकों ने अपने देशप्रेम का मूल्य उगाहना आरम्भ कर दिया , जिसके हाथ जो कुर्सी लगी उसी पर जमकर बैठने लगे । उसी की चिन्ता रहने लगी । थोड़ी सी सफलता को ही सब कुछ मानकर उसी में लीन हो गये । उद्देश्यों को भूल गये । आप्टे जी ने अपने उस देश-प्रेम को बेचा नहीं उन्होंने बचे कामों में अपने को लगाया ।

आप्टे जी जानते थे कि भारत गाँवों का देश है । गाँवों की समृद्धि पर ही सारे देश की समृद्धि है । उन्होंने अपना कर्म क्षेत्र गाँवों को ही बनाया । सच्चा लोक-सेवक वह है जो समाज की जड़ को सींचे । भारत के प्रगति प्रासाद की नींव गाँवों से भरी जायेगी तभी यह टिक सकेगी । दिल्ली का शासन-सूत्र ही सब कुछ नहीं कर सकता । उसकी अपनी महत्ता तो है पर गाँवों को प्रगतिशील बनाना भी कम महत्वपूर्ण नहीं वरन् प्राथमिक काम है ।

अपने गाँव के डेढ़ बीघा अनुपजाऊ जमीन को आप्टे जी ने अपनी प्रयोगशाला बनाया । वे कहते कि भारतीय किसान के पास जमीन बहुत कम है । उस कम जमीन पर खेती करके भी सुखी और प्रसन्न रहा जा सकता है । वे उस हल्की कंकड़-पत्थरों वाली जमीन पर अधिकतम फसल उगाते थे । उसी की उपज से अपना निर्वाह करते हैं ।

आप्टे जी के तपोमय जीवन के प्रति लोगों के हृदय में बड़ी श्रद्धा थी । वे उनके कहने पर धन, खेत सब देने को तत्पर रहते थे, आग्रह करते, पर वे नहीं लेते । आरम्भ में उन्होंने अपनी इस अनुपजाऊ भूमि पर काम करना आरम्भ किया तो लोगों ने उन्हें पागल व सनकी समझा । जब उस खेत में अन्य अच्छे उपजाऊ खेतों की अपेक्षा दुगुनी-तिगुनी फसल होने लगी तो वे ही इनके प्रशंसक बन गये ।

आप्टे जी बिनोवा जी से बहुत प्रभावित थे । उनकी विनोबा के रचनात्मक कार्यों में बड़ी रुचि थी । सादगी, सज्जनता, अपरिग्रह तथा ऋषि-परम्परा का जीवन जीने वाले आप्टे जी ने उस क्षेत्र में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी उन्होंने बीस-बीस फुट जमीन में भी गेहूँ बोकर उसमें पर्याप्त अन्न उत्पन्न किया । वे १९५१ से इस प्रकार के खेती सम्बन्धी प्रयोग कर रहे थे ।

आप्टे जी के तरीके को अपनाकर कम से कम भूमि वाला किसान, कम से कम साधन होते हुए भी अपना तथा अपने परिवार का पोषण कर सकता है तथा लोकसेवा के लिये समय निकाल सकता है । इस भूमि के टुकड़े पर चार पाँच घण्टा परिश्रम करके वे अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेते थे । शेष समय वे समाज निर्माण, लोक शिक्षण तथा सेवा में लगाते थे । उपदेश देने के लिए उनका यह जीवन क्रम ही काफी है वे तो बस सेवा करना सीखे हैं ।

आप्टे जी खेती नहीं करते पूजा करते थे । धरती माता की पूजा सेवा करके उससे एक शिशु की तरह अन्न का उपहार पाते । फावड़ा, कुदाली, हँसिया, खुरपी, तगारी आदि उनके लिये माला, धूप, दीप नैवैद्य था । यह श्रम देवता की पूजा ही उनके जीवन का आधार था । आप्टे जी ने इस आदर्श कृषि परम्परा से उस क्षेत्र के कृषकों में नव जीवन ही संचार नहीं किया उन्हें सच्चे अर्थ में भारतीय बनाया था ।

आपा-धापी, प्रदर्शन और उपदेश, दान,त्याग पर जो राजमार्ग इस तपस्वी लोक-सेवक ने चुना वह कोई सच्चा लोकसेवी ही अपनाता है । उनकी अपनी कोई संतान नहीं पर उनके स्नेह की छाया में कितने ही स्नेह के भूखे शिशुओं को सुखद छाया नसीब हुई है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भारतीय आदर्श को उन्होंने जीवन में साकार किया था ।

आज भौतिकता की अन्धी-दौड़ में सभी बेतहाशा भाग रहे हैं पर इस दौड़ में सभी बेतरह थक भी रहे हैं । आप्टे जी जैसे उदारमना व्यक्ति ही समाज को इस अंधानुकरण की विभीषिका से बचा सकते हैं । इनके इस जीवन से प्रेरित होकर भावनाशील युवक इस पथ पर निकल पड़ें तो देखते-देखते विश्व का कायाकल्प हो जाय

सफलता संकल्पवानों को मिलती है–
निराला

चौदह वर्ष की अल्पायु में उसका विवाह हो गया । पत्नी अच्छी हिन्दी जानती थी । पत्नी के मुँह से हिन्दी भाषा सुनकर उन्होंने भी हिन्दी भाषा का विद्वान बनने का संकल्प लिया । कुछ लज्जावश और कुछ भविष्य के प्रति आश्वस्त रहकर अपनी आकांक्षा उसे बता न सके फिर पत्नी पितृगृह चली गई । युवक की कामना मन की मन में रह गई । विवाह के चार वर्ष बाद ही उसका देहान्त हो गया ।

अहिन्दी भाषी प्रदेश में अब हिन्दी सीखे तो किससे सीखे । मन में सीखने की अदम्य चाह ने रास्ता सुझा दिया । सरस्वती पत्रिका के अंक पढ़-पढ़ कर अपने अध्यवसाय के बल पर अच्छी हिन्दी सीखनी आरम्भ कर दी । सरस्वती पत्रिका ने अपनी इस विशेषता के कारण हिन्दी भाषा के उत्थान में बड़ा योग दिया था । इसका श्रेय उसके तात्कालिक सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को था । जिन्होंने इसे ईश्वरोपासना की तरह सम्पादित किया था ।

अब तो वह आगे बढ़े एवं हिन्दी में कविता करने लगे । कविताएँ तो लिखीं पर उन्हें प्रकाशित करने के लिये तो पत्र-सम्पादकों के सहारे रहना पड़ता है । उनकी सभी कविताएँ लौटकर आने लगीं ।

युवक जानता था कि सफलता पाने के लिये परीक्षण तथा संघर्ष अनिवार्य है । उन्होंने आरम्भ से ही अध्यवसाय के बलबूते पर हिन्दी भाषा सीखी थी । साहित्यकार बनने के लिये तो और भी अधिक परिश्रम करना चाहिए । वह हारे नहीं । अपनी सशक्त रचनाएँ अस्वीकृत होकर लौटतीं तो उन्हें कोई खेद नहीं होता था न ।

प्रकाशन तो दूर उनका उपहास किया जाता था । उसके छन्दों के नये-नये नामकरण संस्कार किये जाते थे । इन सब उपहासों को वह पी गया । वह जानता था कि सच्चाई को आज नहीं तो कल स्वीकार किया ही जायगा ।

उन्होंने प्रकाशकों से संघर्ष किया, स्वयं पत्रिकाओं का सम्पादन किया । वहाँ भी यही बात सामने आई पहले तो सम्पादकगण उनकी कवितायें प्रकाशित नहीं होने देते थे अब पत्र के मालिकों ने विरोध किया ।

संघर्ष चलता ही रहा । पास में सम्पदा नहीं, न कोई डिग्री जिसके सहारे धन कमाया जा सके । उन्होंने छोटे से छोटा काम किया । दवाइयों के पैम्फलेट लिखे, विज्ञापन बनाये सभी कुछ किया ।

अंत में विजय हुई एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ फिर दूसरा व तीसरा । लोगों ने पढ़ा, सराहा और वह साहित्याकाश में चमक उठे । यह व्यक्ति थे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, उन्होंने हिन्दी कविता को एक नई दिशा दी ।

जड़-जगत में आदर्शवादिता का खोजी–
जानसन

पड़ौस के मकान में आग लगी । मुहल्ले वाले भी उसे बुझाने में जुटे । छोटे देहात में आग बुझाने के बड़े साधन न होने से आग पर काबू जल्दी न पाया जा सका । फिर भी प्रयत्न यही रहा कि आग को बुझाने और घर का सामान निकालने के लिये जितना अधिक प्रयत्न सम्भव हो सके किया जाय ।

यह सब चलता रहा । सामान भी बहुत कुछ बाहर निकल आया पर एक कोठरी में सोती हुई उस लड़की का किसी को ध्यान ही नहीं रहा । जब आग की लपटों में बहुत झुलसी तब वह जगी और चीखी पर अब चारों ओर से वह कोठरी आग की लपटों से बुरी तरह घिर गई थी । उसमें से निकल सकना न लड़की के लिए सम्भव था और न किसी की यह हिम्मत पड़ती थी कि अपने को जोखिम में डालकर उसे निकाले । सभी विवशता अनुभव कर रहे थे और मुँह नीचे को लटकाये खड़े थे ।

थी तो विवशता ही पर एक लड़के के अन्तःकरण से असाधारण जोश आया । दूसरों के प्राण बचाने के लिए अपने प्राण जोखिम में डालने का साहस न जाने उसमें कहाँ से आ गया । लड़के ने एक गीला कम्बल शरीर पर लपेटा, जूते कड़े किये, तीर की तरह आग से घिरी उस कोठरी में घुस गया जिसमें लड़की चीख रही थी । अपनी भुजाओं में उसे लपेटा और दौड़ता हुआ वापस आ गया ।

लड़की झुलसी तो थी पर उतनी नहीं जितना वह किसान युवक । लड़की को साधारण देहाती उपचार करने से ही राहत मिल गई, पर बेतरह जले हुए युवक को बोस्टन (अमेरिका) के अस्पताल में दाखिल किया गया । उसका नाम था-'जानसन।'

लड़के की उच्च-भावना और साहसिकता की कथा सुनकर अस्पताल के सभी कर्मचारी प्रभावित हुए । वे जो उपचार कर सकते थे, करते ही रहे, पर स्थिति कुछ सुधरने में नहीं आ रही थी । मृत्यु और जीवन-संघर्ष चल रहा था ।

प्रकृति के निष्ठुर नियम कहते थे, हमें अपनी धुरी पर घूमना है, भावना और उपयोगिता से हमें कुछ लेना-देना नहीं । जो आग को छूयेगा वह जलेगा । घाव जितने गहरे होंगे-शरीर जितना अशक्त होगा, उतना कष्ट सहना होगा । हमारे यहाँ धर्मात्मा, अधर्मी के बीच कोई भेदभाव नहीं । हमारी अपनी आचार-संहिता है और उसी पर चलेंगे । जानसन धर्मात्मा है इससे उसके नियम-कायदे नहीं बदल सकते ।

चेतना के सदय नियम कह रहे थे हमारा अपना क्षेत्र है मनुष्य का अन्तःकरण । जहाँ उत्कृष्टता होगी वहाँ आत्मबल बढ़ेगा और उस आत्मबल से प्रकृति के नियमों को बदल सकना अधिक सम्भव न हो तो भी धैर्य, शान्ति और हिम्मत के साथ कष्टों को सहने का बल तो मिल ही सकता है ।

अस्पताल की रोग-शय्या पर लगता था जड़ और चेतन क्रिया-प्रक्रिया का संघर्ष आरम्भ हो गया और दोनों ही एक दूसरे को चुनौती देने लगीं ।

जख्म इतने अधिक और इतने बड़े थे कि उनमें न रुकने वाले स्राव बहने लगे । दिन रात रक्त-मिश्रित पानी रिसता और हर रोज कई-कई चादरें बदलनी पड़तीं । डाक्टर चिकित्सा में संलग्न तो थे पर उनकी चिकित्सा कुछ अधिक कारगर नहीं हो रही थी । वे इस लड़के की साहसिकता से बहुत प्रभावित थे और उसे बचाने का हर प्रयत्न कर रहे थे पर कुछ रास्ता नहीं निकल रहा था । अपनी असफलता पर उन्हें उदासी ही घेरती चली जा रही थी ।

मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए जानसन ने वस्तुस्थिति को समझा, पर वह घबराया नहीं और भी अधिक संतुलित तथा गम्भीर हो गया । उसकी जिजीविषा जाग्रत हुई और निश्चय किया कि वह मरेगा नहीं-अभी जीवित रहेगा । उसने डाक्टरों से कहा-आप उदास न हों । नये साहस से प्रयत्न करें-मेरी जीवनेच्छा अब आपको नये सिरे से अधिक सहायता करेगी । न केवल दूसरे का प्राण बचाने में वरन् जीवन को मृत्यु के मुख में से निकाल सकने में भी क्या सत्साहस काम कर सकता है ? यह जानने के लिये डाक्टर उत्सुक ही नहीं आतुर भी हो गये । उन्होंने घायल लड़के से कहा-तुम चाहो तो चिकित्सा विधि में अपनी सलाह भी सम्मिलित कर सकते हो । हम लोग यथा सम्भव अपने उपचार में वैसा ही हेर-फेर करने की सोचेंगे ।

अब चिकित्सकों की मण्डली में यह मरीज भी शामिल था । अब उससे भी परामर्श लिया जाने लगा ।

जानसन ने सोचा मानसिक समस्याओं का समाधान यदि अपने भीतर से निकल सकता है तो शारीरिक समस्याओं का समाधान क्यों न होगा । घावों से बहते हुए स्राव के स्वच्छ भाग को यदि पुनः शरीर में प्रवेश कराया जाय तो उससे गलित विकृतियों को हटाया जाना सम्भव हो सकता है । यह सूझ उसे अध्यात्मवादी सिद्धान्तों के आधार पर सूझी । अपने सद्विचारों और सद्भावों को यदि कुविचारों से अलग छाँट लिया जाय और उन्हें अधिक उत्साह के साथ अन्तःकरण में प्रवेश कराया जाय तो दुष्प्रवृत्तियों से-बुरी आदतों से सहज ही छुटकारा पाया जा सकता है । यही तथ्य शरीर पर सफल क्यों न होगा । उसने जितना सोचा उतना ही विचार परिपक्व होता गया ।

दूसरे दिन डाक्टर आये तो एक नया प्रयोग करने के लिए कहा । उसके घावों में से बहते हुए स्राव में से शुद्ध जलांश निकालकर उसे शरीर में पुनः प्रविष्ट कराया जाय । डाक्टर पहले तो इस नये प्रयोग के लिए तैयार न हुये पर जब उसने यह लिखित अनुरोध प्रस्तुत किया कि इस नये प्रयोग में उसकी जान भी जाय तो कुछ हर्ज नहीं, क्योंकि शरीर अब ऐसा हो गया है जिसको एक प्रकार से बचने की आशा ही नहीं रह गई है । डाक्टरों ने उसका अनुरोध स्वीकार कर लिया । स्राव को इकट्ठा करके उसका शुद्ध अंश 'सीरम' निकाला गया और उसे सुई से उसके शरीर में पुनः प्रविष्ट किया गया । परिणाम बहुत ही उत्साहवर्धक निकला । घावों से बहने वाला स्राव बन्द हो गया । डाक्टर इस नये प्रयोग की सफलता से आश्चर्य चकित थे ।

स्राव तो बन्द हो गया पर घावों के समीपवर्ती भाग इतने विकृत हो गये थे उनका भरना, नई चमड़ी उत्पन्न होना असम्भव लगता था । जानसन ने इस समस्या का हल भी अध्यात्म सिद्धान्त के आधार पर सोचा । अपनी विकृतियों का समाधान अपने ही पास हो सकता है । शुद्ध चमड़ी को अशुद्ध चमड़ी के स्थान पर लगा दिया जाय, तो इससे शुद्ध स्थान की कोई हानि न होगी किन्तु अशुद्ध की अशुद्धि मिट जावेगी, यही होता भी है । श्रेष्ठ पुरुष अपने ज्ञान, तप और श्रम आदि का एक बड़ा भाग पतित और पिछड़े हुए लोगों के लिए दे देते हैं । इससे उनकी कुछ हानि नहीं होती । उनका पुण्य-परमार्थ खर्च हुए आत्मबल और तप की पूर्ति कर देता है । साथ ही पतित का उद्धार भी हो जाता है । इसी आधार पर यह शुद्ध स्थान की

त्वचा अशुद्ध स्थान पर लगा दी जाय तो उस शुद्ध स्थान पर नई त्वचा आयेगी और सामने ही गलित घावों का भर जाना भी सम्भव हो सकेगा । इस तथ्य पर विचार करता रहा । जितना सोचा उतना ही यह आधार सही प्रतीत होता गया । चेतन जगत के भावनात्मक सिद्धान्त शरीर पर, भले ही वह जड़ हों लागू क्यों न हो सकेंगे ।

दूसरे दिन डाक्टरों से उसने अनुरोध किया उसके शुद्ध स्थान की चमड़ी उखाड़कर गलित घावों में जोड़ दी जाय । डाक्टर इस नये प्रयोग के लिए भी मुश्किल से ही तैयार हुए पर उन्हें आशा यह जरूर थी कि पिछले प्रयोग की तरह शायद यह नया प्रयोग भी सफल हो जायगा । जब रोगी उस प्रयोग के लिये अपना शरीर स्वयं प्रस्तुत कर रहा है तो उसमें कुछ आपत्ति भी नहीं थी ।

यह प्रयोग भी किया गया । शुद्ध स्थान की त्वचा उखाड़कर घावों पर लगाई गई । आश्चर्य इस बार भी हुआ । ८० प्रतिशत घाव पुर गये । साथ ही उखाड़े हुए स्थान की क्षति-पूर्ति भी स्वयंमेव हो गई । २० प्रतिशत जो घाव रह गये थे उनका उसी तरह का आपरेशन फिर हुआ और ये रहे बचे घाव भी भर गये ।

तीन वर्ष बाद अस्पताल से छुट्टी मिली । इस बीच इसका 'सीरम' का औषधि रूप प्रयोग और त्वचा का स्थानान्तरण वाला प्रयोग होता रहा । डाक्टरों के लिए इसमें दुहरी दिलचस्पी थी । इस परमार्थपरायण युवक की साहसिकता से प्रभावित लोग उसकी जीवन रक्षा करके सामाजिक कृतज्ञता का परिचय देने के लिये उत्साहित थे, दूसरा उसका शरीर चिकित्सा-विज्ञान की भावी सम्भावनाओं से जन-समाज को भारी लाभ देने वाला था । इस दुहरी दिलचस्पी से डाक्टरों ने वह सब साधन जुटाये जो साधारणतया अस्पतालों में उपलब्ध नहीं थे । युवक की साहसिकता और सूझ-बूझ की चर्चा जहाँ भी हुई, वहाँ प्रभाव उत्पन्न हुआ । लोगों ने जानसन की जान बचाने के लिये बहुत कुछ किया । लगभग ११ हजार डालर अस्पताल की सुविधा के अतिरिक्त खर्च आया सो कुछ ही उदार व्यक्तियों ने जिनमें वे डाक्टर भी शामिल थे, मिलजुल कर पूर्ति कर दी ।

अस्पताल से छुट्टी पाकर जब वह निकला तो दो शिकायतें शेष थीं एक तो पड़े-पड़े उसके सारे जोड़ जकड़ गये थे और मुड़ने में दर्द करते थे । दूसरे चेहरे के घाव भर जाने पर उसकी शक्ल कुरूप हो गई थी इसके लिए भी उसने आध्यात्मिक सिद्धान्तों का ही प्रयोग किया । सतत संघर्ष से जड़ता का निराकरण चेतना क्षेत्र में तो सफल होता ही रहा है, शरीर पर भी सफल हुआ । उसने मालिश के कई प्रयोग किये, जोड़ों को रगड़ा और वहाँ उत्तेजना उत्पन्न की । व्यायाम की कई ऐसी विधियाँ खोज निकालीं जो जकड़े हुए जोड़ों को फिर गतिशील बना सकें ।

कुरूप अंगों को काट-छाँट करके उन्हें सुडौल बनाने की बात भी उसे सूझी । कुरूपता और सौन्दर्य दोनों ही अपने में विद्यमान हैं । हेर-फेर की प्रक्रिया ही साधना, तपस्या कहलाती है । यदि उसका प्रभाव जीवन के अन्धकार को प्रकाश में बदल सकता है तो कुरूपता सौन्दर्य में क्यों नहीं बदल सकती । नाक, जबड़ा ठोढ़ी यह तीन अंग विशेषतया कुरूप हो गये थे । उसने डाक्टरों से अनुरोध करके एक और प्रयोग कराया । किस अंग को किस तरह काट-छाँटकर कहाँ का पैबन्द कहाँ लगाकर कुरूपता दूर हो सकती है, यह उसने बताया । डाक्टरों ने उसमें थोड़ा सुधार किया और वह प्रयोग भी कर डाला जानसन की कल्पना सही निकली इस प्रयोग ने उसकी कुरूपता दूर करदी और वह अस्पताल में भर्ती होने से पूर्व जैसा ही सुडौल सुन्दर लगने लगा ।

(१) शरीर से निकलने वाले स्राव का शुद्ध अंश 'सीरम'-औषधि रूप में प्रयुक्त होना (२) त्वचा का दूसरे स्थान पर प्रत्यारोपण (३) जकड़े जोड़ों में मुलायमी उत्पन्न करने वाली मालिश (४) प्लास्टिक सर्जरी । इन चारों ही आविष्कारों ने जानसन के शरीर पर प्रयोग होने के बाद दिशा प्राप्त की और उस सन्दर्भ में काफी आगे चलकर इनकी बड़ी प्रगति सम्भव हो सकी, जिसने असंख्यों को नवजीवन प्रदान किया ।

जानसन का परमार्थ एक लड़की को आग से निकालने की प्रक्रिया के साथ आरम्भ हुआ । उसने चार प्रयोग स्वास्थ्य जगत के लिये प्रस्तुत किए । पीछे उसने कृषि और बागवानी क्षेत्र में भी यही किया । पौधों और वृक्षों के जाति-भेद का संमिश्रण करके उसमें अधिक समुन्नत किस्म की फसलें उगाई इस सूझ के बारे में भी वह यही कहता था पारस्परिक-सहयोग और प्रत्यावर्तन मानव समाज के लिए ही हितकर नहीं-पेड़-पौधों के लिये भी वह लाभदायक है । इस कृषक युवक की सूझ-बूझ की जब भी सराहना हुई तब उसने यही कहा-मैंने आध्यात्मिक सिद्धान्तों को भौतिक जगत में प्रयोग करने की बात भर सोची । दुनिया ने देखा कि यह तथ्य गलत नहीं सही है कि प्रकृति का कण-कण उच्च आदर्शों का ही समर्थन करता है ।

न्याय के लिए संघर्ष

जगदीश चन्द्र बसु बी० ए० की उपाधि लेकर भारत लौटे । वह समय स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व का था । भारतीयों के साथ भेदभाव बरता जाता था । वह प्रेसिडेंसी कॉलेज में भौतिक विज्ञान के अध्यापक हो गये । कॉलेज के संचालक तथा अनेक अध्यापक अँग्रेज थे । भारतीय अध्यापकों को केवल दो तिहाई वेतन ही मिलता था ।

समान योग्यता प्राप्त और एक समान विद्यालय की सेवा करने वाले अध्यापकों में वेतन की यह असमानता रंग भेद के कारण ही थी । उस विद्यालय में तीन अध्यापक कम वेतन पर काम करते थे पर विरोध कौन करे ? विरोध करने का परिणाम सभी जानते थे नौकरी से अलग कर देना । अँग्रेज संचालक तो यह मानता था कि भारतीय

अध्यापकों को भले ही समान शिक्षा और योग्यता प्राप्त हो पर वह विज्ञान विषयों को उतनी अच्छी तरह नहीं पढ़ा सकते थे जितनी अच्छी तरह अँग्रेज ।

अँग्रेजों का यह अन्याय बसु सहन न कर सके । उन्होंने वेतन तथा समान सुविधाओं की माँग की और अन्याय का विरोध करने लगे । बसु भारतीय थे, अपने देश और जाति का उन्हें अभिमान था । वह सोचते, यह सब प्रकार के अन्याय इसलिए सहन करने पड़ते हैं कि हमारा देश स्वतन्त्र नहीं है । सात समुद्र पार देश के व्यक्तियों का शासन है ।

बसु के इस विरोध से कॉलेज का संचालक रुष्ट हो गया । उसने बसु की नौकरी स्थाई भी नहीं की, इसलिए और भी कम वेतन मिलता था । इस कम वेतन को लेने के लिए बसु तैयार नहीं थे । महीने की प्रथम तारीख आती, वेतन के लिए उन्हें बुलाया जाता और वह मना कर देते पर अध्यापन कार्य में किसी प्रकार की कमी नहीं की । पूर्ण मनोयोग के साथ वे अपनी सेवायें देते रहे और साथ ही समान अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष जारी रखा ।

दो माह, चार माह, अब पूरे तीन वर्ष हो गये । इतना पैसा उनके पास कहाँ था जो वेतन के अभाव में अपने परिवार का खर्चा चला लेते । वह कठिनाइयों में झुके नहीं वरन् उनका सामना करने का प्रयास करते थे ।

आर्थिक स्थिति खराब होने लगी । अभी तक वह कलकत्ता में रहते थे पर अब वहाँ मकान छोड़कर चन्द्रनगर में रहने लगे । यहाँ कम किराये का एक मकान मिल गया । वहाँ से नित्य कलकत्ता आना होता था रास्ते में एक नदी पड़ती थी, उनके पास इतने पैसे नहीं होते थे कि रोज-रोज नाव का किराया दें । वह अपने हाथ से नाव खेकर इस पार ले आते और उनकी पत्नी नाव को फिर वापस उस किनारे पर ले जातीं । उनकी पत्नी ने आर्थिक कठिनाइयों के समय पूरा-पूरा सहयोग दिया ।

तीन वर्ष के इस संघर्ष के बाद कॉलेज के अधिकारियों को झुकना पड़ा और सिद्धान्ततः मान लिया कि कॉलेज के सभी अध्यापकों को चाहे अँग्रेज हो या भारतीय समान रूप से वेतन तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी । बसु को गत तीन वर्षों का पूरा वेतन देकर उनकी सेवाओं को स्थायी घोषित किया गया ।

यह जगदीशचन्द्र बसु भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे जिन्होंने वनस्पति विज्ञान में अनुसन्धान कार्य करके सम्पूर्ण विश्व में अपनी धाक जमायी थी ।

पचास का काम अकेले करने वाले—
विनोद कानूनगो

सन् १९४२ में एक युवक स्वतंत्रता आन्दोलन में पकड़कर जेल में ठूँस दिया गया । जेल की चहारदीवारी में रहना कुछ दिन तो युवक को बड़ा अखरा । इस प्रकार अमूल्य समय को व्यर्थ गँवा देना उसे बड़ा बुरा लग रहा था । उसने अपने जीवन में एक महत्वपूर्ण काम करने का बचपन में निश्चय किया था । वह निश्चय था उड़िया भाषा का एक विशाल शब्द-कोष तैयार करना ।

उसने विचार किया कि क्यों न शुभ काम को शीघ्र ही आरम्भ कर दिया जाय । जीवन काल तो थोड़ा सा होता है । किसी महत्वपूर्ण कार्य को करने के लिये जितनी शीघ्रता की जाय उतना ही उत्तम है । उसने अपने शब्द कोष का निर्माण करने का निश्चय कर लिया ।

राजनैतिक कैदी होते हुए भी युवक को राजनैतिक कैदी की सभी सुविधायें उपलब्ध नहीं थीं । उसने अपने साथियों को अपना विचार बताया । वे इस युवक की हँसी उड़ाने लगे । भला जेल में भी इस प्रकार का काम किया जा सकता है ? जिसमें विश्व की महत्वपूर्ण जानकारी दी जा रही हो, उसके सूत्र यहाँ एकत्रित कैसे किये जा सकते हैं ?

उसने देखा कि ये लोग तो मेरे इस कार्य में सहयोग नहीं दे सकेंगे । उसके अन्तःकरण से आवाज आई कि पगले सहयोगियों की पर्वाह करने वाले भला कोई महत्वपूर्ण कार्य कैसे कर पायेंगे ? महात्मा ईसा ने जब अपना कार्य आरम्भ किया था तो उन्हें सहयोग मिलना तो दूर उनका विरोध किया गया । विरोध ही नहीं उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया था । तुझे भी यदि कुछ करना है तो सहयोग की आशा त्याग दे ।

युवक ने देखा कि सहयोग-स्वेच्छा से कोई देगा नहीं सहयोग मुझे पाना है उसके लिए राह खोजनी पड़ेगी । उसे राह मिल भी गयी । उसने अपने साथ वाले राजनैतिक बन्दियों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी सभी ने मिलकर राजनैतिक बन्दियों को दी जाने वाली सुविधाओं के लिये अनशन किया । युवक इस अनशन में सबसे आगे रहा । उनके सत्याग्रह के आगे जेल के अधिकारियों को झुकना पड़ा ।

यह युवक बड़ा आत्मविश्वासी था । उसका नाम था विनोद कानूनगो । उसने जेल से छूटने की प्रतीक्षा नहीं की । अपनी तैयारी यहीं आरम्भ कर दी । अब उनके लिए यह जेल, जेल न रही थी एक अध्ययनशाला व चिंतन शाला बन गई । वह यहाँ अध्ययन करता, चिंतन करता, मनन करता और अपने भावी कार्यक्रम की रूपरेखा बनाता । यहीं जेल में उसने पूरी योजना बना ली । विश्व के कितने खण्ड होंगे, कैसा आकार होगा, कितनी सामग्री प्रस्तुत की जायेगी । अब उसका शरीर भले ही सींखचों में बन्द था पर मन तो सारे विश्व का भ्रमण करके एक महान कृति में सजाने की तैयारी करता रहा । जो भी उपयुक्त सामग्री मिलती उसे भी एकत्रित करता रहा ।

जेल से छूट कर १९१४ में इन्होंने इस विश्वकोष का सम्पादन आरम्भ किया 'ज्ञानमण्डल' नामक इस शब्दकोष में १७०० पृष्ठ होंगे तथा १५००० चीजों के बारे में जानकारी इसमें दी जायेगी । प्रत्येक खण्ड का मूल्य १००

रुपये होगा और उसके कुल ७५ खण्ड होंगे जिनका मूल्य ७५०० रुपये होगा।

जिनके पास किसी विश्वविद्यालय की कोई डिग्री नहीं। जिसके पास साहित्य जगत की कोई प्रसिद्ध नहीं। वह व्यक्ति इस प्रकार का कोई काम करना आरम्भ करता है तो उसका उपहास किया जाता है। उसे पागल तक कहा जाने लगता है इस प्रकार की स्थिति का सामना विनोद कानूनगो को भी करना पड़ा। उनके मित्रों ने सलाह दी कि इस प्रकार के असम्भव कार्य को नहीं उठाना चाहिए। इसके लिए बड़ी-बड़ी संस्थायें भी साहस नहीं जुटा पातीं जिसमें कितने विद्वान कार्यकर्ता होते हैं, उनकी विद्वता की धाक सर्वत्र मानी जाती है। उसी काम को एक अकेला व्यक्ति कैसे कर पायेगा।

इस प्रकार के उपहासों को इन्होंने अपने लिये हितकर माना। उन्होंने अपने काम को और भी सावधानी से करना आरम्भ कर दिया। ज्यों-ज्यों इस कोष का सम्पादन करते गये, त्यों-त्यों उनके ज्ञान की वृद्धि होने लगी। इस सम्पादन कार्य के साथ-साथ स्वयं का लेखन कार्य भी आरम्भ कर दिया।

उड़िया भाषा में इन दिनों साहित्यकारों का अभाव सा था। इनकी रचनाओं ने इस कमी को भी दूर किया। इस प्रकार के साहित्य-सृजन से उड़िया पाठक इनके नाम से परिचित होने लगे। इनके मित्रों को भी कुछ विश्वास हो चला कि इन्होंने जो काम हाथ में लिया है वह पूरा किया जाना इनके लिये असम्भव नहीं है इनका उपहास करने वालों को भी अब अपने पर लज्जा अनुभव होने लगी।

इतना बड़ा काम और एक अकेले व्यक्ति के द्वारा किया जाय, यह विश्व भर में पहला प्रयास है। जिस कोष का सम्पादन असंख्य कार्यकर्त्ताओं वाली संस्था भी बड़ी कठिनाई से कर पाती है, उसे अकेले श्री कानूनगो कर रहे हैं। इनके काम करने का तरीका ही ऐसा है कि जो कम समय तथा कम श्रम में हो सकने वाला है। एक बड़े कमरे में १०,००० फाइलों को बड़े करीने से सजाकर इन्होंने सारे विश्व की जानकारियाँ जमा कर रखी है। इनका अधिकांश समय इसी कक्ष में व्यतीत होता है।

यह कार्य पर्याप्त श्रम तथा समय देने से ही पूरा हो सकता है। इनके लिये विनोद कानूनगो ने अपने समय का इस प्रकार से सदुपयोग किया है कि वे अपने दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ अपना यह कोष सम्पादन का काम भी करते रहते हैं। जब विश्राम का समय होता है तो विश्राम करते-करते अध्ययन भी चालू रहता है। भोजन के समय भी उनका चिंतन कार्य चलता ही रहता है। एक एक क्षण को उन्होंने इसी मिशन में खर्च किया है।

अब तक इस विशाल कोष के जो खण्ड प्रकाशित हुए हैं ये अपने ढंग के अनोखे सिद्ध हुए हैं। जिनकी प्रशंसा भी कम नहीं हुई है। जो इनकी सफलता के प्रति आश्वत न थे, वे अब आश्वस्त हो चुके थे।

इनकी मान्यता है कि स्वतन्त्रता के साथ ज्ञान और स्वावलम्बन की शर्तें अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई हैं। ये तीनों एक दूसरे के पूरक हैं, स्वतन्त्रता पाने के लिये जो संग्राम था वह पूरा हो गया पर अब उससे लाभ उठाने के लिये और भी अधिक श्रम करना चाहिए। अब हम देशवासियों पर अधिक जिम्मेदारियाँ आ गई हैं। इन जिम्मेदारियों का निर्वाह वे इस समय ५९ वर्ष की आयु में भी कर रहे हैं। वे न थकते हैं न रुकते है। उनका अधिकतम समय इसी प्रयोजन में जाता है।

केवल श्रम व समय ही नहीं अपने इस कार्य को सफल करने में उन्होंने अपना धन भी लगाया है। वे कहते हैं कि धन का सदुपयोग करने में ही उसकी सार्थकता है। धन मनुष्य का दास है स्वामी नहीं। जब हम उसे अपने लिये ही खर्च करने का दृष्टिकोण अपना लेते हैं तो वह हमारा स्वामी बन बैठता है। उन्होंने इस कार्य में अपने दो लाख रुपये लगाये जबकि सरकार ने इन्हें २५००० रुपये ही दिये हैं।

अब हमारे देश को ऐसे ही उदार व ज्ञान देवता के आराधकों की आवश्यकता है अधकचरे साहित्य लेखकों तथा जन-साधारण के लिये इनका चरित्र सदैव अनुकरण की प्रेरणा देता रहेगा।

दो हजार कुश्तियाँ लड़ने वाला— किंग कांग

दरासोव (रूमानिया) में सन् १९०९ में एक बालक का जन्म हुआ। नाम रखा गया ऐमालय चजाया। आयु के अनुपात में बालक का शारीरिक विकास बहुत कम हो रहा था। वह दुबला-पतला और दब्बू प्रकृति का था अपने साथियों से रोज पिट कर घर आता था। उसे यह पिटना असह्य था पर विवश था क्या करता।

एक दिन इसमें बहुत बुरी तरह मार पड़ी। वह रोता-रोता घर आ रहा था कि उससे एक मोटे ताजे व्यक्ति ने पूछा, "बच्चे क्यों रोते हो ?" उसने उत्तर दिया –"मैं दुबला हूँ सब लड़के मुझे मारते हैं।" उस व्यक्ति ने स्नेह से उसकी पीठ थपथपाई और समझाया कि तुम शरीर और बल का व्यायाम के माध्यम से विकास करो। उसी दिन से बालक ने नियमित व्यायाम आरम्भ किया। वह इस नियमित व्यायाम से विश्वविख्यात पहलवान बना और किंग कांग के नाम से अभूतपूर्व ख्याति अर्जित की।

किंग कांग का शरीर पहलवानों के लिये भी आश्चर्य की वस्तु था। उसकी ऊँचाई छह फुट तीन इंच और वजन १९० किलोग्राम था। आकार में यह पूरा एक पहाड़ था। अपने जीवन में इसने दो हजार प्रथम श्रेणी की कुश्तियाँ लड़ी थीं।

किंग कांग को अपने इस शारीरिक विकास के लिए बड़ी साधना करनी पड़ी। साधारण दुबले-पतले सींकिया पहलवान से विकसित होकर इतना विशाल शरीर

बनाने के लिये आजीवन अविवाहित रहने के संकल्प को उसने निभाया । इसके निर्वाह के कारण उसे मार भी खानी पड़ी । १९३८ में 'विश्व विजेता' होकर जब वह जर्मनी गया तो वहाँ भी एक सुन्दरी ने इसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा जिसे उसने अस्वीकार कर दिया । महिला ने अपने इस निरादर का बदला किंग कांग पर शराब की बोतल फेंक कर लिया । इस चोट का निशान उसे सदा अपने संकल्प का ध्यान दिलाता रहा ।

व्यायाम मनुष्य के लिये भोजन की तरह ही अनिवार्य है । किंग कांग की खुराक बहुत थी । इतनी अधिक कि लोग दाँतों तले उँगली दबाते थे । इतना भोजन पचाना तभी सम्भव था कि वह रोज व्यायाम भी करता । भोजन और व्यायाम ये दोनों उसके लिये अनिवार्य थे ।

उठती उम्र में एक दिन वह अपने मित्रों के साथ लन्दन में सिनेमा देखने गया । वहाँ एक दैत्य जिसका नाम किंग कांग था उसे देखकर उसके मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि क्या ऐसा शरीर केवल कहानियों की ही सामग्री है अथवा ऐसा बनाया भी जा सकता है उसी दिन से उसने अपना नाम ऐमायल चजाया से बदलकर किंग-कांग रख लिया कि वह ऐसा बनने का प्रयास करता रहे ।

किंग कांग अपने आपको विश्व नागरिक मानता था । एक ही देश का होकर रहना उसे अपनी विशालता के अनुपात में बड़ा छोटा लगता था । अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वह 'विश्व विजेता' के रूप में विख्यात हो सका था ।

उसे हर प्रकार की कुश्ती लड़ने का शौक था । वह हमीद पहलवान के चेलेंज पर लाहौर आया तथा उससे कुश्ती लड़ा । भारतीय दाँवों से लड़ने का उसका यह प्रथम अवसर था । दोनों बराबर रहे । दूसरी बार वह गामा के भाई इमाम बख्श से लड़ा जिसमें इमामबख्श का घुटना टूट गया और सदा के लिये पहलवानी करना छूट गया । दारासिंह से कई बार वह हारा व कई बार उसने दारा सिंह को हराया ।

कुश्ती में खिलाड़ी की भावना से लड़ने वालों में किंग कांग को सदा याद किया जाता रहेगा । विश्व विजेता होते हुए भी उसने भारतीय ढंग से कुश्ती लड़ना अस्वीकार नहीं किया उसे अपनी शारीरिक शक्ति पर गर्व नहीं था, न अपने विश्व विजेता सम्मान को बनाये रखने की चिन्ता ही थी ।

उसने अपने जीवन में एक लक्ष्य को चुना था और वह था कुश्ती लड़ना । उसकी इच्छा थी कि वह अखाड़े में ही प्राण त्यागे । इस इच्छा के पीछे वह एक ही बात कहता था कि जिस काम को करो उसी में लीन हो जाओ यही सफलता का राज है ।

उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी । मलेशिया की एक कार दुर्घटना में वह बुरी तरह घायल हो गया था । ५७ वर्ष की आयु में दो महीने तक अस्पताल में इलाज करवाने के बाद इसका देहान्त हो गया ।

किंग कांग ने अपने कार्य कलापों से यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य चाहे तो अपनी शक्ति का मनचाहा विकास कर सकता है । यह दूसरी बात है कि उसने उपार्जित क्षमता का उपयोग केवल कुश्ती लड़ने में ही किया । सभी मनुष्यों को वैसा शौक भी नहीं होता । शरीर को स्वस्थ व सबल बनाने के क्षेत्र में तो उसका लोहा मानना ही पड़ेगा ।

कमजोर और पिछड़ा मनुष्य आज जीवन के हर क्षेत्र में दुबले-पतले ऐमायल चजाया की तरह मार खा रहा है । अपनी आन्तरिक शक्तियों को जगा कर उसे किंग कांग बनना है । भावनाशील व्यक्ति पीड़ित और दिग्भ्रमित मनुष्य के लिये करना तो बहुत कुछ चाहते हैं पर उन्हें अपनी क्षमताओं पर विश्वास नहीं आता है । किंग कांग की तरह इन शक्तियों को विकसित किया जाय तो ऐसे ही आश्चर्य जनक परिणाम जन-कल्याण की दिशा में भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

किंगकांग ने अपनी इस शक्ति का सदुपयोग दुर्बलों को अपनी तरह बलवान बनाने में किया उसने कई व्यायाम शालायें संचालित कीं । मरने के पूर्व भी वह सिंगापुर की व्यायामशाला का संचालन कर रहा था ।

एक ही उद्देश्य पर अपने समस्त कार्यकलाप केन्द्रित कर दिये जायें तो उसका परिणाम आश्चर्यजनक होता है । किंग कांग की तरह अपने लक्ष्य पर ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित करके पूरी निष्ठा व परिश्रम से जुट जाय तो असम्भव को भी सम्भव बनाया जा सकता है । किंग कांग की यह उपलब्धि संकल्पवानों को सदा प्रेरणा देती रहेगी और वे उसे पूर्ण करने में सफल होते रहेंगे ।

असमय बुझी दोषग्रस्त प्रतिभा—

पैरासेलसस

सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल योरोप के इतिहास में क्रान्ति युग माना जाता है । गणित, ज्योतिष, विज्ञान, रसायन, चिकित्सा तथा दर्शन आदि के क्षेत्रों में नई खोजें हो रही थीं, अनेक विद्रोहियों ने अपने पूर्व में प्रचलित मान्यताओं का खुलकर विरोध किया था । चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में विसेलियस पारे तथा पैरासेलसस आदि ऐसे विद्वान हुये थे जिन्होंने अपने युग की चिकित्सा प्रणाली के अनेक सिद्धान्तों को मिथ्या सिद्ध कर दिया था ।

यूरोप के औषधीय वैज्ञानिकों के अनुसार धातुओं और रासायनिक तत्वों का प्रयोग स्वास्थ्य की दृष्टि से बड़े ही भयंकर परिणाम उत्पन्न करने वाला था । क्योंकि उनकी दृष्टि में यह वस्तुएँ विष थीं । पैरासेलसस उस युग के उन महत्वपूर्ण विद्वानों में से एक थे जिन्होंने, सर्वप्रथम यूरोप के औषधीय ज्ञानकोष में रासायनिक तत्वों और धातुओं का समावेश किया था । पैरासेलसस का जन्म स्विटजरलैण्ड में १४९३ में हुआ था । इनका अधिकांश समय अपनी मातृभूमि से पिरामिडों की छाया तक बीसियों देशों की यात्रा में व्यतीत हुआ । यात्रा के मध्य चिकित्सा शास्त्र के

कितने ही आचार्यों, चिकित्सकों और फकीरों से भेंट करके विषय से सम्बन्धित नये अनुभव एकत्रित किए थे ।

पैरासेलसस का विश्वास था कि प्रकृति की विचित्रताओं का रहस्य जानना कोई आसान कार्य नहीं है । जिज्ञासु को इन विचित्रताओं के मध्य ही भटकना होगा और अपनी मान्यताओं के अनुसार उनका सारा जीवन भटकने में ही गया तब कहीं शोध कार्य में सफलता प्राप्त कर सके । पैरासेलसस द्वारा संचित ज्ञान श्रृंखलाबद्ध न होकर एक विशाल संग्रहालय की तरह था जिसमें विभिन्न कालों की वस्तुएँ संग्रहीत रहती हैं ।

पैरासेलसस के संग्रह में रहस्यवादी दर्शन से लेकर अरबी हकीमों के नुस्खे तक संग्रहीत थे, इसलिये इस अद्‌भुत वैज्ञानिक पर दार्शनिक और चिकित्सक दोनों ही क्षेत्र के व्यक्तियों का जोर है । रहस्यवादी दार्शनिक इन्हें अपना जनक मानते हैं जबकि आधुनिक वैज्ञानिक औषधीय रसायन का जन्मदाता कहकर अपना दावा प्रस्तुत करते हैं ।

सन् १५२५ में पैरासेलसस की ख्याति चिकित्सक के रूप में सारे यूरोपीय राज्यों में फैल चुकी थी । इसलिये बेसल विश्वविद्यालय में औषधि-विज्ञान विभाग में प्राध्यापक पद पर इनकी नियुक्ति हो गई थी । विश्व-विद्यालय के उस कक्ष में, जिसमें पैरासेलसस अपने विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे, गेलन की औषधि-विज्ञान सम्बन्धी रचनाओं में आग लगादी । बाद में उन्होंने अपने विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा–''पुरानी मान्यताओं और संस्कारों को जब तक तुम अग्नि को समर्पित नहीं कर देते तब तक तुम नयी मान्यताओं को कैसे सीख सकते हो । अमुक व्यक्ति ने यह कहा है, इसलिये तुम उसे मानने के लिये तैयार क्यों हो जाते हो, सत्य स्वयं अनुभव करना चाहिए और जिसमें उसे स्वीकार करने का साहस है वही अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो सकता है ।''

पैरासेलसस के इस व्यवहार से विश्वविद्यालय के सारे उच्च अधिकारी उसके विरोधी हो गये । पैरासेलसस को अपने मार्ग पर विश्वास था अत: कोई विरोधी उनका कुछ न बिगाड़ सका । प्रत्येक नये कार्य में परम्परावादी बाधा डालते ही हैं । पैरासेलसस रोग-हीन जीवन को ही सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे । उनकी मान्यता के अनुसार चिकित्सक का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति होना चाहिए । ज्ञान को पुस्तकों की सीमाओं में बाँधना उन्हें कहाँ पसन्द था इसीलिये तो वे कहा करते थे कि ज्ञान पुस्तकों के बाहर बिखरा हुआ है । वास्तव में यह कथन उनके जीवन में सही रूप में दिखाई देता है उन्होंने अपना सारा जीवन पुस्तकों को पढ़कर ज्ञान संचित करने में नहीं लगाया वरन् पुस्तकों के बाहर जो ज्ञान बिखरा पड़ा है, उसे वे सँजोते रहे ।

पैरासेलसस आजन्म पुरातन परम्पराओं का विरोध करते रहे । कोई बात पहले से चलती आ रही है इसलिये यह सही ही होगी यह कोई आवश्यक तो नहीं । उन दिनों विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम लैटिन भाषा थी, पर पैरासेलसस ने जर्मन भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया । यद्यपि यह कार्य विश्वविद्यालय की परम्परा के विपरीत था और संपूर्ण यूरोप में उच्च ज्ञान के लिये लैटिन को ही मान्यता प्राप्त थी पर पैरासेलसस का यह तर्क था कि जर्मन जन सामान्य की भाषा है अत: क्यों न इसे मान्यता दी जाये । एक ओर विद्यार्थियों में उनकी लोकप्रियता बढ़ी तो दूसरी ओर विश्वविद्यालय के अधिकारी तथा लैटिन प्रेमी उनके विरोधी हो गये ।

पैरासेलसस ही वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने उपदंश (सिफलिस) जैसे भयंकर रोग से छुटकारा दिलाने के लिये भरसक प्रयत्न किया और सफलता भी मिली । उपदंश की अवस्थाओं का वर्णन करते हुए इस रोग को वंशानुगत बताया । इस रोग की चिकित्सा के लिये उन्होंने पारद का प्रयोग किया था । पैरासेलसस ने ही सर्वप्रथम कैलोमेल और ऐण्टीमनी का प्रयोग चिकित्सा के लिये किया था । पूर्वी देश शताब्दियों से औषधि निर्माण में रसायनों का प्रयोग करते आ रहे हैं । इस वैज्ञानिक ने यह अद्‌भुत ज्ञान पूर्वी देशों से ही प्राप्त किया था ।

यदि व्यक्ति में अच्छी लगन हो तो वह अपनी विरोधी मान्यताओं को भी समूल नष्ट कर सकता है । पैरासेलसस का स्वभाव अहंकारी था । उनका अहंकार इस सीमा तक बढ़ गया था कि उन्होंने एक बार बेसल विश्वविद्यालय में अपने भाषण में कहा था कि दुनिया के तमाम विश्व-विद्यालयों का अनुभव मेरी दाढ़ी के बालों से भी कम है । व्यक्ति के सद्‌गुण यदि उसे उत्थान की ओर ले जाते हैं तो उसके अन्दर स्थान जमाये अवगुण भीतर ही भीतर उसकी जड़ खोखली करते रहते हैं । सद्‌गुण यदि अच्छाई का प्रसार करते रहते हैं तो अवगुण वातावरण को विषैला बनाने में कब चूकते हैं ?

इस अहंवृत्ति के कारण पैरासेलसस से बेसल के नागरिक भी विरोध प्रकट करने लगे थे । बेसल के न्यायाधीश का अपमान करने के बाद दण्ड से बचने के लिये नगर छोड़ कर भागना पड़ा, अहंकार की प्रवृत्ति ज्ञान की प्रगति में बाधक होती है जब वह अपने को सबसे अधिक विद्वान समझने लगता है तो विद्वान में नम्रता का और विनय का जो गुण है वह लुप्त हो जाता है और उसका ज्ञान एक सीमाबद्ध होकर रह जाता है ।

इसके अतिरिक्त पैरासेलसस को शराब पीने की भी बड़ी बुरी लत लगी थी । पहले तो आदमी शराब को पीता है पर बाद में शराब ही आदमी को पीकर उसका अन्त कर देती है । सुरापान के दोष के कारण अनेक लांछनायें सहनी पड़ीं और १५४१ में एक मदिरालय में अधिक पी जाने के कारण ८४ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया । यदि इन दोषों से उनका जीवन बचा रहता तो शायद और वे भी नई-नई खोजें करके मानवता का भला करते ।

मातृभूमि के बलिदानी--

सोहनलाल पाठक

फाँसी के फन्दे पर लटकाने से पहले जेल अधिकारी ने कैदी से पूछा "आप की अन्तिम इच्छा क्या है ?"

कैदी मुस्कराया उसने कहा 'मैं चाहता हूँ कि मुझे शीघ्र फाँसी दी जाय ताकि मेरा यह जन्म समाप्त हो और दूसरा जन्म लेकर भारत को स्वतन्त्र कराने के प्रयत्न में दूसरी बार फाँसी के फन्दे को पुनः चूम सकूँ ।

यह कैदी कोई साधारण कैदी न था । किसी चोरी, डकैती या कत्ल करने के अपराध में जेल के सींखचों में बन्द न किया गया था । वरन् यह देशभक्त था और देश को स्वतन्त्रता दिलाने का प्रयत्न ही इसका अपराध था । नाम था सोहनलाल पाठक ।

माँडले की जेल । १० फरवरी, १९१६ की एक सुबह । अमर शहीद सोहनलाल पाठक को फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया । जल्लाद उस निरपराधी की जीवन लीला समाप्त होते देख आँसू बहा रहे थे और पाठक अपने देश पर न्योछावर होने में प्रसन्नता तथा गर्व का अनुभव कर रहे थे । भला जिस देश में ऐसे बहादुर हों उस देश की स्वतन्त्रता को रोक भी कौन सकता था ?

सोहनलाल पाठक का जन्म सन् १८८३ में हुआ था । परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण स्कूली शिक्षा से शीघ्र ही सम्बन्ध तोड़ना पड़ा और लाहौर के डी० ए० वी० स्कूल में केवल २१ रु० मासिक पर शिक्षक का कार्य करना पड़ा ।

इस समय राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी घटनाएँ हो रही थीं जिनकी उपेक्षा करना पाठक जैसे देशभक्त के लिये सम्भव न था । बंगाल का विभाजन, लाला लाजपत राय और अजीतसिंह जैसे नेताओं की गिरफ्तारी, खुदीराम बोस का बलिदान और मदनलाल ढींगरा द्वारा कर्जन पर गोली चलाना जैसी घटना उनके कानों में पड़तीं और अँग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये गये अत्याचार देखने और सुनने को मिलते तो उनका खून खौलने लगता था ।

१९०८ में लाला हरदयाल इंग्लैण्ड से लौटकर लाहौर आये तो युवक पाठक का उनसे सम्पर्क बढ़ने लगा । इसी समय उन्हें एक पुत्र का पिता बनने का अवसर मिला । परिवार के लिये यह प्रसन्नता की ही बात थी पर दूसरे ही क्षण यह समाचार भी सुनने को मिला कि पुत्र को जन्म देकर माँ सदैव के लिए संसार से विदा हो गई और एक सप्ताह बाद वह पुत्र भी भगवान को प्यारा हो गया ।

पाठक की उस समय उम्र ही क्या थी । घर वाले तथा मित्रों ने दूसरे विवाह के लिए बहुत जोर दिया पर उन्होंने साफ-साफ कह दिया "ईश्वर मुझसे कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों की आशा करता है इसीलिए तो उसने उत्तरदायित्त्वों से मुक्त किया है ।"

उनका लक्ष्य था दूसरे देशों से सहायता प्राप्त करके भारत में क्रांति करवाना और अँग्रेजों को देश छोड़ने के लिये विवश करना , उस समय तक काँग्रेस और गाँधी जी पूर्ण प्रकाश में भी न आ पाये थे, उनकी गतिविधियाँ देश हित में तेज न हो पाई थीं । उस समय पाठक अपने ६ साथियों को लेकर अमेरिका पहुँचे ।

भारतीयों के सहयोग से अमरीका में गदर-पार्टी की स्थापना की गई और एक 'गदर' नामक पत्र निकाला जिसका उद्देश्य भारतीय स्वतन्त्रता के लिये वातावरण का निर्माण करना था ।

१९१४ में विश्वयुद्ध छिड़ गया । अँग्रेजों ने दो लाख सैनिकों को भारत से बाहर युद्ध के लिए भेजा । इस अवसर का क्रांतिकारी लाभ उठाना चाहते थे । सोहनलाल पाठक, बर्मा में क्रांति कराने का प्रयास कर रहे थे उन्होंने वहाँ के दो हजार सैनिकों को अपने पक्ष में कर लिया । चार दिन तक सिंगापुर में क्रांति की ज्वाला धधकती रही और वहाँ का शासन-सूत्र देशभक्तों के हाथ में रहा ।

एक दिन पाठक सैन्य-छावनी में कुछ सैनिकों को मार्गदर्शन दे रहे थे कि तीन हिन्दुस्तानी सैनिकों ने उनको घेर लिया । वह हिन्दुस्तानी सैनिक उनके भाई थे । वह अपने देशवासियों से बदला नहीं लेना चाहते थे । वैसे उस समय उनके पास तीन स्वचालित पिस्तौल तथा २८७ गोलियाँ थीं । जरासी देर में वह तीनों सैनिकों को मौत के घाट उतार सकते थे या बर्मा के सैनिकों को ही संकेत करते तो वहीं उनका काम तमाम कर देते, पर एक दूसरे भारतीय के प्राणों का ग्राहक बने वह उन्हें स्वीकार न था ।

वह बन्दी बनाकर माँडले के जेल में भेज दिये गये और एक दिन देश को स्वतन्त्रता दिलाने के प्रयासों में फाँसी के तख्ते पर झूल गये ।

मातृभूमि के लिये सर्वस्व न्योछावर करने वाले तथा हँसते-हँसते मौत को गले लगाने वाला यह वीर आत्मा की अनित्यता पर विश्वास करता था । इसी विश्वास के कारण वे उस काल में अंग्रेजी शासन से लड़े जिस समय कि उनके राज्य में सूर्य तक अस्त नहीं होता था । सत्य में कितनी शक्ति होती है, मनुष्य के विचारों व भावनाओं में कितनी शक्ति होती है इसका ज्वलंत उदाहरण पाठक जी का जीवन है, जो हमें सिखाता है कि अन्याय को सहन करना, जो कुछ हो रहा है उसे अनुचित व अस्वाभाविक मानते हुए भी ऐसे चुपचाप बैठना मानव-धर्म नहीं ।

सतहत्तर साल के नौजवान--

दाताराम

सन् १९३८ का एक महत्त्वपूर्ण दिन-दाताराम को एक पुस्तक मिली 'गीता-प्रवचन' । कोई-कोई पुस्तक ऐसी महत्त्व की होती है कि पाठकों को सोचने की एक नई दिशा प्रदान करती है । उसका दृष्टिकोण बदल जाता

है और ऐसा लगता है मानो किसी ने जादू कर दिया है ।

वैसे दाताराम का परिवार धार्मिक विचारों का था । बचपन में ही उन्होंने अपने पिता तथा दादा के संसर्ग से रामायण, महाभारत, भागवत तथा गुरुग्रन्थ साहेब आदि का अध्ययन कर लिया था, पर अब तक का सारा स्वाध्याय तोता रटन्त सरीखा था । 'गीता-प्रवचन' को पढ़ने के बाद उन्हें अपने जीवन में परिवर्तन मालूम पड़ने लगा ।

दाताराम का जन्म सरगोधा के छोटा ग्राम में जो आज पाकिस्तान में है, नवम्बर, १८९४ में एक व्यापारी परिवार में हुआ था । साधारण-सी शिक्षा प्राप्त कर वह २५ वर्ष की आयु में व्यापार का कार्य करने लगे । १९४६ में तो वह सरगोधा छोड़कर कलकत्ता में बस गये और हैसियर बाजार तथा गनी बाजार में दलाली का कार्य करने लगे ।

व्यक्ति जब आत्म-निरीक्षण करता है, अपने दोषों को मार भगाने का प्रयास करता है, तो साधारण सा मनुष्य असाधारण महत्व के कार्य सम्पन्न करने लगता है ।

व्यापार में उन्हें दो तीन बार घाटा हुआ और लगभग ४२ व्यक्तियों के कर्ज से वह लद गये । कानूनन उस कर्ज की रकम चुकाने से वह बरी थे । पर उनकी आत्मा ने पुकार कर कहा कि जिस व्यक्ति का ऋण लिया है उसका चुकाना चाहिए । १९५० तक २० हजार रुपये की तगादी रकम अपने ऋण-दाताओं को वापस कर दी ।

दाताराम दलाली का तो कार्य कर ही रहे थे बचे हुये समय में सर्वोदय साहित्य का प्रचार करने लगे । विनोबा भावे से जब उनकी भेंट हुई तो विनोबा ने दाताराम को दो कार्य करने का परामर्श दिया । एक तो यह कि बिना पैसे लिये किसी को पुस्तक न दो, साथ ही यह भी देख लो कि उस पुस्तक को खरीद कर वह पढ़ता भी है अथवा उसकी पुस्तक पर धूल जमती रहती है । दूसरी बात यह कि रोज डायरी लिखो और समय-समय पर हमारे पास भेजते रहो ।

विनोबा जी की इन दोनों बातों को दाताराम ने गाँठ में बाँध लिया । दाताराम की आय बढ़ती जा रही थी और एक दिन वह आयकर देने जितनी हो गई । उन्होंने सरकारी कानून को तोड़ना उचित नहीं समझा । क्योंकि उनकी दृष्टि में यह कर की चोरी थी । वह आयकर अधिकारी के पास पहुँचे उनकी बात को सुनकर वह अधिकारी चौंका, उसे लगा कि कोई पागल आ गया है । क्योंकि सारे व्यापारी आयकर के पचड़े में नहीं पड़ना चाहते । झूठे हिसाब-किताब दिखाकर और अधिकारियों को खिला-पिला कर आयकर से बचने का प्रयास करते थे, जब कि यह व्यक्ति अपनी ओर से कर जमा करने आया है । अधीनस्थ कर्मचारी तो दाताराम को देखकर मजाक करने लगे ।

कमिश्नर ने कहा जैसा यह बताते हैं वैसा हिसाब नोट कर लिया जाय, उसी हिसाब से इनसे आयकर ले लिया जाये । हिसाब करने पर १४०० रुपये आयकर के निकले और वह खुशी-खुशी देकर घर चले आये ।

विनोबा भावे ने सम्पत्ति-दान का आन्दोलन शुरू किया तो उसमें सहयोग देने में दाताराम पीछे न रहे । उन्होंने उस आन्दोलन का महत्व समझा और नियमित रूप से अपनी आय का छठा हिस्सा देने लगे । दाताराम की सारी सम्पत्ति पाकिस्तान में छूट गई थी । भारत सरकार के द्वारा उन्हें काफी जमीन सहारनपुर के पास मिली । उसका उपयोग उन्होंने अपने लिये नहीं किया वरन् विनोबा जी १८५२ में जब मथुरा आये तो उन्हें भूदान में दे दी ।

दाताराम अनुभव करने लगे कि सर्वोदय और भूदान आन्दोलन समाज में धन के वितरण की समान व्यवस्था करने वाले हैं । वर्ग संघर्ष का इस समाज में कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा । क्योंकि यह शोषण-मुक्ति आन्दोलन है फिर, उनकी दृष्टि अपने व्यवसाय की ओर गई । उन्हें अपना व्यवसाय शोषण-युक्त लगा । फिर क्या था उन्होंने १९५८ में अपना दलाली का धन्धा बिलकुल छोड़ दिया ।

अब उनके पास केवल एक कार्य रह गया सर्वोदय-साहित्य का प्रचार । घड़ी के काँटे की तरह बिलकुल नियमित रूप से पुस्तकों का झोला लेकर प्रचार-प्रसार के लिये निकलने लगे । सरदी, गरमी या बरसात ने उनका मार्ग नहीं रोका । कलकत्ता के ईडेन गार्डन, विक्टोरिया मैमोरियल या मानुमेन्ट के पास एक सीधा-सादा खद्दरधारी व्यक्ति सर्वोदय की पुस्तकें फैलाये बैठा मिलता था ।

दिन हो या रात, सुबह हो या शाम उनका एक ही कार्यक्रम था, एक ही लगन थी । सर्वोदय का साहित्य घर-घर पहुँचे । गाँधी जी के सन्देश को लोगों तक पहुँचाना ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था ।

१९६५ में उनका स्वास्थ्य गिर गया । विनोबा भावे ने एक माह के लिये उन्हें बुलाकर अपने पास रखना चाहा पर वह इसलिए उनके पास नहीं गये कि वहाँ प्रचार करने का अवसर नहीं मिलेगा । विनोबा एक दम कुछ समय के लिये पूर्ण विश्राम करने की सलाह देंगे ।

दाताराम के उत्साह में कभी-कभी नहीं आई, वह सदैव सर्वोदय के प्रचार-प्रसार में लगे रहते थे । बिना काम के उन्हें चैन नहीं पड़ता । बरसते पानी में झोला लेकर निकल पड़ते हैं और दस बीस रुपये का साहित्य बेचकर ही घर लौटते हैं । बिना काम किये भोजन करने में उन्हें आनन्द नहीं आता ।

जब तक शरीर काम देता रहेगा तब तक सदैव कार्य करते रहने का उन्होंने संकल्प कर लिया था ।

पैसा कमाना उनके जीवन का उद्देश्य नहीं था । पैसा वह बहुत कमा चुके थे और अब पैसे की इच्छा ही नहीं रही । सद्-साहित्य को घर-घर पहुँचाने का कार्य वह अपने आनन्द के लिये करते थे । एक बार विनोबा जी ने अपने प्रवचन में कहा था कि सुख बाँटने से सुख बढ़ता

है । अतः दाताराम घर-घर जाकर सुख बाँटते थे वह जानते थे कि इससे सुख में वृद्धि ही होगी कमी नहीं ।

फिर न मिलेगा अवसर ऐसा

समय की हवा के साथ देश-प्रेम की दबी हुई चिन्गारी दावानल बनकर सारे भारत में फैल चुकी थी । कानपुर तो इस क्रान्ति का केन्द्र था । रूप के हाट में बैठी एक वेश्या के अन्तःकरण से आवाज आयी-"पगली अजीजन तू चुपचाप क्या बैठी है ? इस हाट पर बैठकर रोज-रोज मरने की अपेक्षा तो एक ही दिन मरना अच्छा है । उठ ! बहती गंगा में हाथ धोले । छोड़ यह अस्मत का व्यापार, देश की आन पर मर मिट ।" अजीजन ने अपने अन्दर बैठे देवता की आवाज को सुना और उठ खड़ी हुई ।

उसने स्त्रियों का एक दल संगठित किया । यह दल पुरुष वेश में हाथों में तलवार लिये कानपुर के राजमार्ग पर निकल पड़ा । नारियों के इस साहस को देखकर पुरुष वर्ग में एक नवीन जोश उत्पन्न हो गया । कल की वेश्या आज नारी-शक्ति का प्रतीक बन गई । सबके हृदय में उसके प्रति श्रद्धा का सागर लहराने लगा ।

इस महिला-सैनिक दल ने घर-घर क्रान्ति का सन्देश पहुँचाया । घायल सैनिकों को सेवा-सुश्रूषा की । उन्हें युद्ध के मैदान से उठाकर सुरक्षित स्थान पर लाने का काम बड़ी तत्परता से चलने लगा । यह दल जिधर निकल जाता उधर उत्साह को एक लहर उमड़ पड़ती । सिपाहियों को लड़ाई को उत्साहित करने के लिये इनके मधुर शब्द ही पर्याप्त थे पर ये अपने साथ फल तथा मिठाइयाँ ले जातीं तथा उन्हें बाँटतीं ।

तबले की ताल पर थिरकने वाली अजीजन अब बिजली बनकर युद्ध क्षेत्र में चमक रही है । उसके नेतृत्व में वीरांगनाओं का दल गोला-बारूद सैनिकों के पास पहुँचाता उन्हें विश्राम देता तथा समय पड़ने पर स्वयं भी युद्ध में भाग लेता है ।

जनरल नील कानपुर में हुई हार को सुनकर बौखला उठा था । नाना साहब ने अँग्रेज परिवारों की रक्षा का पूरा प्रयास किया था पर नील अपनी सेना के साथ गाँव के गाँव जलाकर खाक करता हुआ आ रहा था । यह सुनकर अजीजन का बदला लेने का संकल्प और भी दृढ़ हो गया ।

युद्ध क्षेत्र में अजीजन पूरी वीरता के साथ लड़ी दुर्भाग्य से अँग्रेजों ने उसे बन्दी बना लिया । सेनापति हेवलाक कोस के सामने अजीजन को लाया गया तो उसे विश्वास नहीं हुआ कि यह स्त्री भी युद्ध में भाग ले सकती है । उसने अजीजन से कहा-"तुम यदि अपने अपराधों के लिये क्षमा माँग लो तो तुम मृत्यु-दण्ड से बच सकती हो ।"

अजीजन के होठों पर मुस्कान फैल गई । उसने अपने आप से कहा "कैसा पागल है यह अँग्रेज सेनापति ? वह अजीजन मर गई जो मौत से डरती थी और पेट भरने के लिये घृणित व्यवसाय करती थी, पर आज मैंने जीना सीख लिया है । मृत्यु का भय क्या ? मृत्यु तो एक दिन आयेगी ही ।" सेनापति हेवलाक इसकी निर्भीकता देखता ही रह गया । अजीजन बोली-"मैं आततायी से क्षमा नहीं माँगती । तुमने निरपराध लोगों की हत्या की है ।" हेवलाक ने पूछा-"क्या अँग्रेज परिवारों के साथ ऐसा अन्याय नहीं हुआ है ?" "तुम्हारा सेनापति नील इस प्रकार भारतीयों की हत्या नहीं करवाता तो कानपुर में उसका बदला न लिया जाता ।" हेवलाक क्रोधित होकर चीखा "आखिर तुम चाहती क्या हो ?" "अँग्रेजी कुशासन का अन्त ।" अजीजन का उत्तर था ।

सेनापति का इशारा पाते ही बन्दूकें गरज उठीं अजीजन का शरीर चिथड़े-चिथड़े हो गया पर उसके शब्द वायुमण्डल में गूँजते रहे ।

आत्मा की आवाज को सुनकर उठ खड़ी होने वाली अजीजन अमर हो गई । मनुष्य के पतन-उत्थान की कहानी अजीजन अपनी जबानी कह गई, जिसे दुहरा कर कोई भी अमर हो सकता है ।

टैंक-युद्ध के अनुभवी विजेता- जनरल चौधरी

अनेक, कच्छ जैसे समझौतों को तोड़कर और बार-बार आक्रमण करके पाकिस्तान ने समझ लिया कि भारत स्वाधीनता के लिये बहुत अधिक बलिदान देने के बाद खोखला हो चुका है, अब उसमें ऐसा कोई दमखम नहीं रह गया है कि वह संग्राम के लिये रण-भूमि में उतर सके । कोई बड़ा आक्रमण करो और इन समझौतावादियों से कश्मीर अथवा भारत-भूमि का कोई बड़ा भाग हड़प लो !

निदान युद्ध की इच्छा से अपनी टैंक-सेना आगे बढ़ा दी । यह अमरीकी पैटन-टैंक अभेद्य तथा अजेय समझे जाते थे, अमेरिका ने पाकिस्तान को इन्हीं टैंकों से लैस कर रक्खा था । पाकिस्तान को पूरा विश्वास था कि या तो भारत इन भीमकाय टैंकों को देखकर उनकी शर्तों पर समझौता कर लेगा अथवा उनके यह अमरीकी टैंक इलाके पर इलाके रौंदते हुए भारत पर अधिकार कर लेंगे ।

किन्तु हुआ यह कि भारत के टैंक दस्तों ने उनके अभेद्य पैटर्न्-टैंकों के धुर्रे उड़ाने शुरू कर दिये और बात की बात में तोड़-फोड़ कर ढेर लगा दिये । भारत की यह दक्षता देखकर पाकिस्तान ही नहीं, अमेरिका तथा ब्रिटिश तक दाँतों तले उँगली दबा कर रह गये और इस बात की जाँच-पड़ताल करने लगे कि आखिर इस अहिंसावादी भारत के पास ऐसे कौन से अस्त्र-शस्त्र हैं, जिससे उन्होंने हमारे अपराजेय टैंकों की मिट्टी पलीत कर दी, जिनके

बल पर उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के दौरान टैंक-युद्ध विशेषज्ञ- जर्मन सेनापति जनरल रोमेल को परास्त किया था।

उन्होंने भारतीय बमों के टुकड़े इकट्ठे किये और इस बात की खोज-बीन शुरू कर दी कि यह टैंक तोड़ने वाले बम किन-किन उपादानों से बनाये गये हैं। किन्तु उन्होंने यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि टैंक-युद्ध के महारथी जनरल जयन्त नाथ चौधरी स्वयं ही इस युद्ध की कमान सँभाले हुए हैं।

भारतीय सेनाध्यक्ष-'जनरल जयन्त नाथ चौधरी' एक वीर, अनुभवी और तपे हुए सेनानी हैं। विश्व के माने हुए छह टैंक युद्ध महारथियों में उनका विशेष स्थान है। द्वितीय महायुद्ध में जर्मन सेनापति रोमेल को हराने का जो श्रेय मित्र-राष्ट्र सेनाध्यक्ष अकिनलेक को मिला था, यह वास्तव में हमारे जनरल चौधरी और चौथी भारतीय डिवीजन के जवानों की उपलब्धि थी।

लीबिया के मरुस्थल में जिस समय रोमेल ने अपने टैंक-आक्रमण से अमेरिकी तथा अँग्रेजी फौजों को दिन में तारे दिखला दिये थे और ऐसी स्थिति में ला दिया था कि उन्हें लीबिया का मोर्चा छोड़ कर भागना पड़े, उसी समय जनरल चौधरी ने अपनी चौथी भारतीय डिवीजन अड़ाकर मित्र-सेनाध्यक्ष आकिनलेक की लाज रखली! किन्तु उस विजय का श्रेय जनरल चौधरी को इसलिये न मिल सका था कि उस समय वे मित्र-सेनाध्यक्ष आकिनलेक की आधीन लड़ रहे थे।

सन् १९४१ के नवम्बर मास में मित्र-सेनाध्यक्ष जनरल आकिनलेक ने लीबिया के सिदी उमर मरुस्थली में जर्मनी सेनापति की अध्यक्षता में पन्द्रहवीं और इक्कीसवीं पेंजर डिवीजनों के विरुद्ध मोर्चा खोला। यह टैंकों का युद्ध था। इसी युद्ध में चौथी भारतीय डिवीजन के साथ जनरल चौधरी ने आकिनलेक के नेतृत्व में भाग लिया था।

उसी समय दूरदर्शी जनरल चौधरी ने लीबिया के मरुस्थल की हड्डी गला देने वाली सर्दी और आत्मा हिला देने वाली रेगिस्तानी आँधियों के बीच जान हथेली पर रखकर टैंक युद्ध की बारीकियों का अध्ययन किया था और अपने में वे क्षमतायें उत्पन्न की थीं, जो भारत के विरुद्ध पाकिस्तान के युद्ध में काम आईं। उन्होंने जनरल अकिनलेक के एक निर्देश का पालन करते हुए अपनी सूझ-बूझ से अनेक अन्य दाँव-पेंचों को खोज निकाला। एक प्रतिरक्षा कार्यवाही के क्रम में दूसरे आक्रमण की रूप-रेखा समझ लेने में तत्पर-जनरल चौधरी के साहस और प्रत्युत्पन्न बुद्धि ने उन्हें टैंक-युद्ध में इतना दक्ष बना दिया कि आज संसार में उनकी इस विशेषता का नक्कारा बज रहा है।

लीबिया का उद्धत-युद्ध एक निर्णायक युद्ध था और यदि उसमें मित्र सेनाओं की हार हो जाती तो हिटलरशाही के नीचे दबे योरोप का और ही रूप होता और सम्भव था कि आज न तो ब्रिटिश अपनी कूटनीति चलाने योग्य रहता और न अमेरिका अपने पाकिस्तान जैसे पिट्ठुओं को करोड़ों रुपये के अस्त्र-शस्त्र देकर शान्ति-प्रिय भारतीयों के विरुद्ध खड़ा कर सकता।

जनरल रोमेल ने लीबिया पर पूर्ण अधिकार करके उसे मिश्र से अलग करने के लिये दस गज चौड़ी, काँटेदार तारों की एक बाड़ लगवादी थी और इस विश्वास के साथ निश्चिन्तता की सौर तान ली थी कि लीबिया की प्राण-लेवा ठण्डी हवाओं में कौन ऐसा माई का लाल है, जो इन लौह-कंटकों को पार करके इसकी ओर रुख करेगा।

युद्ध का वातावरण और निश्चिंतता से जर्मन सेनापति रोमेल धोखा खा गया! उसके विजय-विलास ने लीबिया की कष्टकर परिस्थितियों को अधिक आँका और यह भूल गया कि जब तक शत्रु का शव तक सड़कर मिट्टी न हो जाये, तब तक उससे पूर्ण सतर्क रहते हुए सन्नद्ध रहने की आवश्यकता है।

१० नवम्बर, १९४१ की प्रलयंकरी रात को जबकि लीबिया का रेगिस्तानी तापमान गौरीशंकर के तापमान को मात दे रहा था और उसकी हिम-हवायें मौत के तीरों की तरह शरीर चीर रही थीं, मित्र-सेना के शिल्पी अपने को मोटे-मोटे लबादों में छिपाये और बड़े-बड़े औजार लिये मिश्र और लीबिया की विभाजन बाड़ पर आ पहुँचे और लगे काटने उन कटीले लौह तारों को, जिनमें जर्मन जनरल रोमेल की विश्वासपूर्ण-बुद्धिमत्ता विजय के नशे में लिपटी सो रही थी।

हाथ ऐंठ रहे थे, प्राण ठिठुर रहे थे और औजार असह्य शीत की तरह ठण्डे हो रहे थे, पर साहसी इन्जीनियर आत्मा की शक्ति लगाकर अपना काम कर रहे थे! उन्हें अपने जीवन से अधिक अपने उस शत्रु का जीवन अखर रहा था, जो उस बाड़ के आगे लीबिया में चैन से सो रहा था! उन्हें दुश्मन के वे जुल्म अधिकाधिक क्रियाशील बना रहे थे, जो अकारण ही उन पर ढाये गये थे। उन्हें आततायी का अहंकार गर्म कर रहा था और राष्ट्र-रक्षा की भावनाएँ शरीर में बिजली भर रही थीं।

तीन बार की असफलता के बाद धुन के धनी इन्जीनियरों ने वह कटीली बाड़ बीस जगह से काट गिराई मित्र सेनाओं के टैंक-दस्तों, बख्तरबन्द गाड़ियों और मोटरों का दल तोपों के साथ लीबिया में घुस गया।

इस अभियान में चौथी भारतीय डिवीजन के जवान और उनके नायक-जनरल चौधरी सबसे आगे थे। वे इस रेगिस्तानी युद्ध से पहले शीतकाल में सहारा मरुस्थल की सर्दी को अपनी दृढ़व्रती प्रवृत्ति से परास्त कर चुके थे और बर्फीली आँधियों को सहन करने के अभ्याससिद्ध कर चुके थे। इन भारतीय वीर-व्रतियों ने लीबिया की सर्दी को तनिक भी महत्व न दिया और ठण्डे देशों के सारे जवानों पर अपनी सहन-शक्ति का सिक्का जमा दिया।

कई दिन लगातार रेतीली यात्रा पार करके मित्र-सेनाओं ने लीबिया में सिदी उमर के मैदान पर मोर्चा जमा

दिया और जर्मन सेनापति रोमेल के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगीं ।

दूर समुद्र तट पर अपने शिविर में पड़े रोमेन को आक्रमण की सूचना मिली और वह अपनी टैंक डिवीजन लेकर पूर्व की ओर से बढ़ चला । तोपें दागता, गोले बरसाता और आग उगलता हुआ रोमेल निश्चित मृत्यु की तरह बढ़ा आ रहा था । ब्रिटिश सेनाएँ अपनी रक्षा का उपक्रम कर रही थीं ।

देखते ही देखते रोमेल ने मैदान पकड़ लिया और डेढ़ हजार गज की दूरी से अपनी पचास मिली-मीटर वाली तोपों से वार करना शुरू कर दिया । टैंक टूटने लगे और जवान मर-मर कर गिरने लगे और अमरीकी लड़ाकों की हिम्मत पस्त कर दी गई ।

दूसरे दिन के युद्ध में भी रोमेल विजयी हुआ और ऐसा लगने लगा कि अपने साज-सामान के साथ सारी मित्र-सेना लीबिया के रेगिस्तान में दफन हो जायेगी ! किन्तु भारत के वीर जवानों और जनरल चौधरी ने हिम्मत न हारी । वे एक संगठित अनुशासन में होकर बढ़े और तीसरे दिन के घमासान युद्ध में रोमेल के छक्के छुड़ा दिये । रोमेल भाग गया और मैदान मित्र-सेनाओं के हाथ रहा ।

लीबिया की पराजय को विजय में बदल देने वाले इन्हीं जनरल जयन्त ने पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध की कमान सम्भाली और तब जिस कौशल से जर्मन के अभेद्य टैंकों की मिट्टी बनाई थी, उसी कौशल से भारत भूमि पर चढ़कर आये अमेरिका के पैटर्न-टैंकों को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया ।

भारत की स्वतन्त्रता के शत्रुओं को इस युद्ध से शिक्षा लेनी चाहिए और इन अहिंसावादियों को ठीक-ठीक समझकर अपनी भ्रांतिपूर्ण धारणा में संशोधन करके भारत को इस बात का अवसर देना चाहिए कि वह अपनी मौलिक प्रवृत्तियों का लाभ संसार को दे सके, उसकी सेवा कर सके और विश्व में एक स्थायी सुख-शान्ति की परिस्थिति ला सके । अन्यथा जिस प्रकार वह आज तक रण-लिप्सुओं का मुँह तोड़ता रहा है, आगे भी तोड़ता रहेगा ।

श्रम, सम्पदा व सद्भावना का धनी— हेनरी फोर्ड

अमेरिका के ग्रीन फ्रील्ड नामक गाँव की पाठशाला में पढ़ने वाले आठ वर्षीय बालक हेनरी की मशीनों में बड़ी रुचि थी । कोई भी मशीनरी देखी नहीं कि उसकी जानकारी पाने के लिए उसके मन में तीव्र आकांक्षा जाग्रत हो जाती । पिता एक साधारण किसान थे । उनके पास इसकी इस रुचि को तृप्त करने का कोई साधन नहीं था । अपने घर में रखी हुई टाइमपीस घड़ी उसके लिये बड़ा आकर्षण का केन्द्र थी । उसके भीतर जो संसार भरा पड़ा था । उसे जानने के लिये वह बेचैन रहा करता था ।

माता-पिता दिन भर खेत में परिश्रम करके रात्रि को घोड़े बेचकर सोते । यह समय उसे अपनी आकांक्षा पूरी करने के लिए उपयुक्त लगा । उसने एक रात उस टाइमपीस को खोलकर उसके सारे पुर्जे फिर ज्यों के त्यों फिट कर दिये । उस दिन उसकी प्रसन्नता देखते ही बनती थी ।

हेनरी का जन्म ३० जुलाई, १८६३ को ग्रीन फील्ड ग्राम के फोर्ड परिवार में हुआ था । बचपन में ही वह बड़ा जिज्ञासु था । मशीनों के बारे में उसकी विशेष जिज्ञासा थी । अपने घर की टाइमपीस खोलकर फिट कर देने के बाद उसने घर के कबाड़खाने में पड़ी एक पुरानी घड़ी को खोला तथा दिन भर उसी को ठीक करने में जुटा रहा । जिस घड़ी को कारीगर ठीक नहीं कर पाये थे उसे इस आठ वर्ष के बालक ने ठीक कर दिया था । उसके कुछ पुर्जे उसने अपने हाथ से बनाये । इस सफलता के पीछे एक ही कारण था वह था हेनरी का मनोयोग ।

हेनरी को अब अपनी ज्ञान वृद्धि के लिये और मशीनें चाहिए वे कहाँ से मिलें ? हेनरी को उसके लिये एक तरकीब सूझी । वह जिस घर में जाता वहाँ की घड़ी देखने लग जाता और फिर असावधानी प्रकट करता हुआ गिरा देता । घर वाले उसे डाँटते तो वह कहता "लाइये मैं अपने पिता के हाथ इसे ठीक करवा लूँगा ।" अपने घर आकर वह स्वयं उसे ठीक कर देता । बारह वर्ष की आयु में हेनरी अच्छा घड़ी साज बन गया ।

गाँव की पाठशाला की पढ़ाई पूरी करने पर हेनरी के पिता ने खेती करने को कहा । हेनरी को खेती करने में रुचि नहीं थी वह इन्जीनियर बनना चाहता था । वह डेट्राइट चला गया । वहाँ औद्यौगिक प्रशिक्षण स्कूल में भर्ती हो गया जहाँ मशीनों सम्बन्धी पढ़ाई होती थी । पिता की इच्छा के विपरीत हेनरी इस स्कूल में भर्ती हुआ तो उन्होंने खर्च देना बन्द कर दिया । घड़ी साजी का ज्ञान यहाँ उसके लिये बड़ा हितकर सिद्ध हुआ । वह डेट्रायट की एक घड़ी सुधारक की दुकान पर पहुँचा । उसके मालिक से बोला "मैं घड़ियाँ सुधारना जानता हूँ, क्या आप मुझे काम देंगे ।" बारह वर्ष के इस देहाती बालक को देखकर उस दुकानदार को विश्वास नहीं हुआ । वह कुछ विनोदी स्वभाव का था । उसने सोचा कि यह घड़ियाँ तो क्या सुधारेगा पर मनोरंजन की सामग्री अवश्य बन जायेगा । उसने इसे ऐसी घड़ी लाकर दी जिसे कोई सुधारक सुधार नहीं पाया था । हेनरी अपने काम में जुट गया । यह उसी प्रकार की घड़ी थी जो उसके घर में कबाड़खाने की शोभा बढ़ा रही थी । हेनरी ने उसे ठीक कर दिया । दुकानदार की आँखें आश्चर्य से फैल गईं । उसने हेनरी को अपने यहाँ रख तो लिया पर ग्राहक भड़क न जाये इस कारण हेनरी के लिए पर्दे के पीछे बैठने की व्यवस्था करनी पड़ी ।

इस दुकान में काम करने से दुकानदार को बहुत लाभ हुआ । यह बहुत कम समय में घड़ियाँ ठीक कर देता व पारिश्रमिक दुकानदार जो देता वही ले लेता । हेनरी ने इसे व्यवसाय के रूप में नहीं अपनाया था वह इसे साधना की तरह पूरे मनोयोग से करता था । उसे तो यंत्रों की जानकारी करने अपनी ज्ञान वृद्धि से मतलब था । उसकी इस साधना का ही परिणाम था कि वह विश्व का धन कुबेर बना और उसके साथ के कारीगर अपने व्यावसायिक दृष्टिकोण के कारण घड़ी सुधारक से आगे न बढ़ पाये ।

अपनी पढ़ाई से बचे समय में वह घड़ियों की इस दुकान पर काम करके अपना खर्च जुटा लेता । पूरे मनोयोग से पढ़ने का परिणाम यह हुआ कि वह जब इस स्कूल से निकला तो केवल यंत्रों का ज्ञाता ही नहीं था वरन् यंत्रों के आवश्यक सुधार तथा निर्माण के सम्बन्ध में भी उसका मस्तिष्क बहुत काम करने लगा था । अपनी प्रतिभा के कारण उसे काम ढूँढ़ने में दौड़-धूप नहीं करनी पड़ी । उसे 'एडीसन एल्यूमिनेटिंग कम्पनी' में इन्जीनियर के पद पर नौकरी मिल गई ।

प्रगति के इच्छुक पुरुषार्थी कभी अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं होते वे तो निरन्तर आगे बढ़ना चाहते हैं । वे नदी की तरह निरन्तर गतिमान रहना चाहते हैं । स्थिर तालाब की तरह सड़ना नहीं चाहते । जिन व्यक्तियों ने महान उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वे प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे दूसरी के नहीं । हेनरी इन्जीनियर बनकर ही संतुष्ट नहीं हो गया । उसने कारखाने का काम करने के पश्चात् बचे हुए समय में नवीन यंत्र बनाने का विचार किया । उसके पिता कृषक थे । ग्रीन फील्ड के साथी निवासी किसान थे । हेनरी फोर्ड ने उनके लिये एक ऐसी गाड़ी का निर्माण करने की योजना बनाई जो खेतों पर सामान ले जाने में प्रयुक्त हो सके ।

हेनरी फोर्ड इस दिशा में पहला व्यक्ति नहीं था । उसके पहले भी मोटर गाड़ी का निर्माण हो चुका था । वह मोटर गाड़ी इतनी लागत में पड़ती थी कि साधारण व्यक्ति उसे खरीदने का साहस नहीं कर सकता था । अब तक यंत्रचालित मोटर कार अमीर लोगों के लिये ही थी । हेनरी फोर्ड चाहता था कि इसमें यांत्रिक सुधार करके कम से कम लागत की मोटर कार बनाई जाय जिससे सामान्य व्यक्ति लाभ उठा सकें ।

हेनरी इस काम में जुट गया उसने अपने घर के अन्दर ही मोटर कार बनानी आरम्भ कर दी । १८९२ में यह बनकर तैयार हुई तो निकालने की समस्या सामने आयी । घर की दीवार फोड़कर उसके लिए रास्ता बनाया गया । मोटर कार ५-६ मील प्रति घण्टा की रफ्तार से चलती थी । देखने में बड़ी भद्दी थी और शोर करके आसमान सिर पर उठा लेती थी । इस प्रयास को लोगों ने पागलपन समझा । हेनरी का मजाक उड़ाया । हेनरी जानता था कि वह सफल हुआ है ।

इस निर्माण के पीछे हेनरी फोर्ड का उद्देश्य यह था कि उसे जनसाधारण खरीद सके और अधिक संख्या में बनाई जा सके । पहली मोटर कार में उसने कम से कम लागत लगाई थी । १८९८ में दूसरी मोटर कार तैयार हुई जो देखने में तो भद्दी थी पर कीमत तथा चलने के दृष्टिकोण से अति उत्तम थी । उसने इस का प्रचार करने के लिए मोटर कार रेस में भाग लिया और रेस जीती ।

१९०३ में डेट्राइट में 'फोर्ड मोटर कम्पनी' की स्थापना हुई । हेनरी फोर्ड ने १८९८ वाले माडल में थोड़ा सुधार करके मोटरकारों का निर्माण आरम्भ कर दिया । उनकी मोटरकारें सस्ती होने से चल निकलीं । उनमें दिन पर दिन सुधार होने लगा । फोर्ड एक इन्जीनियर ही नहीं कुशल व्यापारी तथा उद्योगपति के रूप में प्रसिद्ध होने लगा । अधिक संख्या में मोटर बनाने के कारण लागत कम पड़ने लगी और मोटर कारें सस्ती पड़ने लगीं ।

कारखाने की प्रणाली में सुधार करने के लिये हेनरी के उर्वर मस्तिष्क में कोई न कोई योजना आती रहती थी । उसने 'कन्वेयर बैल्ट' का आविष्कार करके कारीगरों के समय की बड़ी बचत कर दी । मोटर कार में भी प्रत्येक मॉडल में वह पर्याप्त सुधार करके निकालता जिससे लोगों का विश्वास बढ़ने लगा ।

आरम्भिक दिनों में जब उसने अपनी थोड़ी सी पूँजी से डेट्राइट में फोर्ड मोटर कम्पनी की स्थापना करके उत्पादन आरम्भ किया था तो उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । पहले तो उसका एक भागीदार उसे छोड़कर चला गया । वह अधिक लाभ लेने के लिए मोटरगाड़ी का मूल्य अधिक रखना चाहता था । हेनरी इस पर राजी न हुआ । सीमित साधनों से कारखाना चलने लगा तो जी. बी. सेल्डन ने इसके विरुद्ध नमूना चोरी का दावा दायर कर दिया । पहली बार वह हार गया किन्तु वह निराश होने वाला नहीं था । उसने आगे अपील की और जीता ।

इन कठिनाइयों को पार करता हुआ हेनरी फोर्ड आगे बढ़ता गया । अपने उत्पादन में निरन्तर सुधार करता रहा । इसके कारखाने में बनी मोटर कारें धड़ाधड़ बिकने लगीं । एक दिन जिस हेनरी फोर्ड की मोटर कार को 'खटारा' कहकर लोगों ने उसका मजाक उड़ाया वही अपनी लगन, अपने परिश्रम, सूझ-बूझ तथा धैर्य से विश्व के श्रेष्ठतम पूँजीपतियों में गिना जाने लगा । उसके कारखाने में विश्व भर में सबसे अधिक मोटर गाड़ियाँ बनतीं हैं, जो प्रति वर्ष लाखों की संख्या में बनाई व बेची जाती हैं ।

विश्वयुद्ध के समय हेनरी फोर्ड ने मित्र राष्ट्रों की मदद की । अपने कारखाने अमेरिका सरकार के लिए खोल दिये । उसमें जल जहाजों का निर्माण होने लगा । युद्ध के समय कितनी ही मोटर गाड़ियाँ हेनरी फोर्ड ने अमेरिका सरकार को दे दीं । हेनरी केवल धन कुबेर ही नहीं एक देशभक्त का हृदय भी रखता था । विनाश के बादल मँडराये तो वह अपनी सम्पदा को लोकहित में प्रयुक्त करने को आतुर हो उठा ।

'शिकागो ट्रिब्यून' नामक पत्र ने हेनरी फोर्ड को राजद्रोही ठहराया । हेनरी फोर्ड अन्तर्राष्ट्रीय शांति का पक्षपाती था । वह नहीं चाहता था कि कोई राष्ट्र अपने पास शस्त्रों का विशाल भण्डार रखे इसके लिये उसने एक आन्दोलन चलाया था । आपत्कालीन स्थिति में अमेरिका को जी-जान से सहायता करने वाले हेनरी फोर्ड का विवेक कहता था कि शस्त्रों की होड़ मानव के लिये हितकर नहीं है । हेनरी में एक सच्चे मानव के गुण थे तभी वह सरकार की नीति के विरुद्ध आन्दोलन चला सका था । उसने 'शिकागो ट्रिब्यून 'पर दावा दायर किया और तीन वर्ष तक मुकदमा लड़कर जीता ।

हेनरी फोर्ड के कारखाने में १८००० आदमी काम करते हैं । उनमें नवयुवक, हृष्ट-पुष्ट कर्मचारी बहुत कम हैं । अधिकांश अन्धे, काने, लूले, लँगड़े, अपंग कर्मचारियों को उन्होंने अपने कारखाने में काम दिया । ईश्वर के मंदिर की तरह उनके प्रति श्रमालय का द्वार हर व्यक्ति के लिए खुला है । वे यह नहीं देखते कि यह व्यक्ति मेरे यहाँ काम कर सकेगा या नहीं वरन् यह देखते हैं कि उसे कौन सा काम देकर उसे रोजगार दिया जाय । समाज में जो कैदी स्थान नहीं पा सकते, उनको भी वे अपने यहाँ काम देते थे । उन्हें ईश्वर ने धन दिया था । उस धन को उन्होंने अधिक से अधिक लोगों को रोजगार देने में लगाया । ऐसे लोग जिन्हें कहीं काम नहीं मिलता था वे इनके यहाँ काम पाते थे । अपने कर्मचारियों को वे अधिक वेतन तथा सुविधाएँ देते थे । दान देने में भी हेनरी फोर्ड कभी पीछे नहीं रहे ।

एक घाटे में चलने वाली जहाज कम्पनी इन्होंने खरीद ली । मजदूर हड़ताल कर रहे थे । खरीदने के दूसरे ही दिन इन्होंने घोषणा कर दी कि मजदूरों को उनकी माँग के बराबर वेतन दिया जायेगा । मजदूर काम पर लौट आए । थोड़े ही समय में घाटा भी पूरा हो गया । हेनरी फोर्ड ने इस प्रयोग से दिखा दिया कि उदारता का परिणाम शुभ ही होता है । मजदूरों को अधिक वेतन देकर भी लाभ कमाया जा सकता है ।

हेनरी फोर्ड की इच्छा थी कि वे एक साधारण आदमी की तरह मरें । उनकी यह इच्छा पूरी हुई जिस दिन हेनरी फोर्ड की मृत्यु हुई उस दिन घन-घोर वर्षा हुई । उनके बेटे भी उनके पास नहीं पहुँच सके । बिजली, टेलीफोन आदि के तार टूट चुके थे । फर्नीचर जलाकर उनके कमरे में उजाला किया गया । अन्तिम समय में उनके पास उनकी पत्नी व एक नौकर ही था ।

हेनरी फोर्ड ने अपने अध्यवसाय से अपार धन अर्जित किया, उसका उपयोग जन-कल्याण में किया तथा कभी उस पर गर्व नहीं किया । उन्होंने जीवन जीकर बताया कि धन साधन है साध्य नहीं । काश ! सभी पूँजीपति हेनरी फोर्ड के जीवन से कुछ प्रेरणा लेते ।

महाराष्ट्र मण्डल के चाणक्य-
नाना फड़नवीस

महाराष्ट्र-मण्डल के राजन्य वर्ग का सोलह वर्षीय कुमार बालाजी जनार्दन भानु मराठी सेनाओं के प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ का मंत्री बनकर अहमदशाह अब्दाली के साथ होने वाले पानीपत के युद्ध में पहुँचा । इस यात्रा के पीछे उसका उद्देश्य मात्र युद्ध कला का अनुभव प्राप्त करना ही नहीं था वरन् उत्तरी भारत के तीर्थ स्थलों का दर्शन करना भी था । इसीलिये उसके साथ उसकी माता और पत्नी भी थी ।

पानीपत का युद्ध तो विजेता अहमद शाह के लिये भी लाभकारी नहीं रहा था । पराजित पक्ष मराठों के लिये तो लाभकर होने का प्रश्न ही नहीं उठता । दोनों ओर से अपार जन-धन की हानि हुई । मराठी सेना के प्रधान सेनापति सदाशिवराव भाऊ खेत रहे । बालाजी जनार्दन भानु को भागना पड़ा । पानीपत से मराठी सेना के पाँव उखड़े तो दिल्ली और मथुरा में डेरा डाले पड़ी मराठी सेनाएँ भी भाग खड़ी हुई । कुमार बालाजी जनार्दन भानु की माता व पत्नी इसी भाग दौड़ में खो गयीं ।

पानीपत के युद्ध का अनुभव इस कुमार के लिये बड़ा भयंकर रहा । माता व पत्नी को खोकर वह एक साथ ही अनाथ और विधुर हो गया था । युद्ध ने मन में वैराग्य उपजा दिया था । मन में यही विचार उठता था कि वह घरबार त्याग कर संन्यासी हो जाय । कई दिनों तक उसके चित्त में यही विचार उमड़ता रहा । एक दिन चित्त कुछ अधिक उद्विग्न हुआ तो वह समर्थगुरु 'रामदास' का दास बोध लेकर बैठ गया । इसके पठन, मनन चिंतन से उसे बोध हो गया कि संसार से भागना सम्भव नहीं है । मैं यदि निष्काम भाव से करणीय कर्म करता रहूँ तो मुझे संसार त्यागने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । यह बोध होते ही अपने लिये विशाल कर्म क्षेत्र दिखाई दिया-विघटित होते हिन्दू महाराष्ट्र को बचाने और पुनर्गठित करने का । यही किशोर आगे चलकर नाना फड़नवीस नामक इतिहास पुरुष के नाम से विख्यात हुआ । इस एक अकेले व्यक्ति ने अपने जीते जी महाराष्ट्र की कीर्ति को धूमिल नहीं होने दिया, जिसे समर्थगुरु रामदास और शिवाजी आदि महापुरुषों ने अपने महान कर्तव्य के बल पर संगठित किया था ।

नाना फड़नवीस का जन्म १७४४ में पूना के फड़नवीस परिवार में हुआ था । मराठा मण्डल के फड़नवीसी कार्यालय के मुख्याधिकारी के पद पर कार्य करने के कारण इनके पूर्वजों के साथ फड़नवीस की उपाधि लगने लगी थी । पानीपत के युद्धोपरान्त नाना फड़नवीस समर्थ गुरु रामदास तथा वीरवर शिवाजी की तरह निष्काम भाव से महाराष्ट्र मण्डल के पुनर्गठन के कार्य में लग गये ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक अकेले निष्काम कर्मयोगी नाना फड़नवीस के पुण्य प्रताप से महाराष्ट्र मण्डल की नौका जिसमें अनेकानेक महत्त्वाकांक्षी पैंदे में छेद करने वाले सामंत बैठे थे फिर भी वह तब तक नहीं डूब सकी जब तक वे जीवित रहे ।

पानीपत की हार का धक्का पेशवा नाना साहब (बालाजी) सहन न कर सके । शोक और निराशा ने उनके प्राण हर लिये । उनके पश्चात् उनका सोलह वर्षीय पुत्र माधवराव पेशवा बने । नाना फड़नवीस उसके मंत्री नियुक्त हुए । नाना फड़नवीस के मार्गदर्शन में माधवराव ने महाराष्ट्र मण्डल को पुनः शक्तिशाली बनाया । थोड़े ही दिनों में पेशवा के इस कर्तृत्व ने यह आशा जगायी कि लोग पानीपत की हार को भूलने लगे । किन्तु माधवराव पेशवा अल्पायु सिद्ध हुए । वे दस वर्ष बाद ही चल बसे । माधवराव के बाद उनके कनिष्ठ भ्राता नारायण राव को पेशवा बनाया गया पर वह अपने भाई की तरह योग्य सिद्ध नहीं हुए । पेशवा नाना साहब का छोटा भाई राघोवा पेशवा बनने के सपने कई वर्षों से देख रहा था, पर नाना फड़नवीस और अष्ट प्रधान मण्डल के सदस्य उसके नीच स्वभाव से परिचित थे अतः वे उसे पेशवा नहीं बनाना चाहते थे । छत्रपति शिवाजी अपने समय से ही यह परम्परा बना गए थे कि अष्ट प्रधान मण्डल की सम्मति के बिना छत्रपति की नियुक्ति भी नहीं होगी ।

महत्वाकांक्षी राघोवा ने गुप्त रूप से पेशवा नारायण राव की हत्या करवा दी । ऐसा कुकर्म महाराष्ट्र मण्डल में अब तक नहीं हुआ था, फिर भी नाना फड़नवीस ने अष्ट प्रधान मण्डल की सहायता से राघोवा जैसे हत्यारे को पेशवा नहीं बनने दिया । नारायण राव के अल्पवयस्क पुत्र सवाई माधवराव को पेशवा बनाया गया । नाना फड़नवीस उसके संरक्षक बने ।

परिस्थितियाँ विकटतर होती जा रही थीं । स्वार्थी लोग महाराष्ट्र को रसातल में ले जाने को उद्यत थे । इन सबके बीच नैतिक और निस्वार्थी नाना फड़नवीस राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य पालन के दुर्वह दायित्व को जिस तत्परता से निभाते रहे वह अपूर्व धैर्य और साहस का ही कार्य था । वे सच्चे योगी थे, सच्चे संन्यासी थे, चाहे वे राजकार्य में रत रहे हों ।

उन दिनों महाराष्ट्र मण्डल में नाना फड़नवीस जैसा धुरंधर राजनीतिज्ञ और महादाजी सिंधिया जैसा प्रबल पराक्रमी योद्धा दूसरा नहीं था । वे दोनों एक दृष्टि के होते तो महाराष्ट्र सम्राज्य इतना शीघ्र अकाल कवलित न होता पर महादाजी सिंधिया, नाना फड़नवीस की तरह निस्वार्थी नहीं था । उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ी-चढ़ी थीं । नाना फड़नवीस जब तक जीवित रहे उन्होंने महादाजी को महाराष्ट्र मण्डल से पृथक नहीं होने दिया । उनकी मृत्यु होते ही वह महत्वाकांक्षी पर अदूरदर्शी व्यक्ति विदेशी अँग्रेजों की चाल में आ गया ।

माधवराव द्वितीय के समय में नाना फड़नवीस अष्ट प्रधान मण्डल में महामात्य पद पर पहुँचे । यों पद से उन्हें कुछ लेना देना था नहीं । एक प्रकार से वे तो विरक्त थे पर राष्ट्र की सेवा को अपना धर्म मानते हुए महाराष्ट्र के विगत-गौरव को स्थायित्व प्रदान करने का हर सम्भव प्रयास कर रहे थे । महामात्य पद पर प्रतिष्ठित होना इस दृष्टि से अतीव उपयोगी था ।

नाना फड़नवीस दूरदर्शी व्यक्ति थे । समझते थे वे कि हिन्दू साम्राज्य के वास्तविक शत्रु कौन हैं । महादाजी सिंधिया और राघोवा तो अभी तक यह भी नहीं जान पाए थे कि उनके वास्तविक शत्रु कौन हैं वास्तविक शत्रु तो थे अँग्रेज और फ्रांसिसी व्यापारी जबकि राघोवा और महादाजी निर्बल मुगल सम्राट और राष्ट्रवादी हैदर अली व टीपू सुल्तान को ही अपने शत्रु समझते थे ।

नाना फड़नवीस अपने समय के चाणक्य माने जाते हैं । उन्होंने अपना गुप्तचर विभाग कितना तत्पर बना रखा था इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध इतिहासकार मेजर वसु ने लिखा है-"नाना फड़नवीस के गुप्तचर विभाग का प्रबन्ध इतना उत्तम तथा पूर्ण था कि देश के किसी भी भाग में कोई भी महत्वपूर्ण घटना होती तो उस घटना के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा दर्जन की संख्या में वृतान्त लेख ठीक समय उनके पास पहुँच जाते थे । इन भिन्न-भिन्न स्थानों से आये हुए वृतान्त लेखों को पढ़कर वे अपने कमरे में बैठे-बैठे ही देश भर की घटनाओं की असलियत जान जाते थे ।

महादाजी सिंधिया को वे कहा करते थे-"यदि हमने मराठा साम्राज्य में अँग्रेजों को पाँव रखने दिया तो देश पराधीन हो जायगा ।" अँग्रेज उनकी राजनीति से भयभीत रहा करते थे । उन्हें महाराष्ट्र मण्डल में एक ही व्यक्ति ऐसा दिखाई देता था जो उनके इरादों की तह तक पहुँचा था - वह व्यक्ति थे नाना फड़नवीस । अँग्रेज यह जानते थे कि नाना फड़नवीस जैसा चतुर और निस्वार्थी व्यक्ति पेशवा का महामात्य रहेगा, तब तक उनकी दाल नहीं गलेगी । इसलिये वे नाना फड़नवीस को महाराष्ट्र मण्डल से हटाकर उनके स्थान पर अदूरदर्शी व्यक्ति को नियुक्त करने का हर सम्भव प्रयास करते रहते थे । किन्तु अष्ट प्रधान मण्डल और महाराष्ट्र की जनता का नाना फड़नवीस में अगाध विश्वास होने के कारण वे अपने नापाक इरादों में सफल नहीं हो सके ।

पूना के रेजीडेण्ट चार्ल्स मलेट ने लिखा था-"जब तक पूना दरबार में नाना फड़नवीस की प्रधानता है तब तक ब्रिटिश जाति को मराठा साम्राज्य में स्थिर स्थान प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए ।"

नाना फड़नवीस और वारेन हेस्टिंग्स के मध्य जो कूटनीतक दाँव पेंच चले उसमें हेस्टिंग्स को मुँह की खानी पड़ी । स्वार्थी राघोवा अँग्रेजों की शरण में जा पहुँचा था । वह पेशवा बनने का महत्वाकांक्षी था, उसने महादाजी सिंधिया को भी लोभ दिखाकर पूना दरबार में फूट डालने का प्रयास किया पर नाना के आगे उनकी एक न चली ।

नाना ने न केवल पूना दरबार को फूट से बचाया वरन् निजाम व भोंसले को भी अँग्रेजों के विरुद्ध करके अँग्रेजों को चकित कर दिया । नाना फड़नवीस ने अपने आचरण द्वारा यह अनुकरणीय उदाहरण रखा है कि राष्ट्र की सेवा पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ ही नहीं निष्काम भाव से की जानी चाहिए । राजनीतिक दाँवपेंचों का प्रयोग राष्ट्र विरोधियों के विरुद्ध ही किया जाय न कि अपने देशवासियों के साथ अपने स्वार्थ साधन के लिये ।

अँग्रेजों ने १७५५ में सूरत में जो संधि की थी उसका उन्हें कोई लाभ नहीं मिला । वे उसे पेशवा बनाने में असमर्थ रहे । हारकर उन्होंने १७७७ में पूना दरबार से पुरन्दर स्थान पर संधि की । इस संधि के पीछे उनका मतलब नाना फड़नवीस को महामात्य पद से हटाना था पर वे इसमें भी असफल ही रहे । कुटिल अँग्रेज पुरन्दर की संधि तोड़ने के प्रयास में थे । वे महाराष्ट्र मण्डल पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे । नाना भी चुप नहीं बैठे थे वे उसका मुँह तोड़ उत्तर देने के लिये सनद्ध थे । १७७९ में हुए इस युद्ध में अँग्रेज बुरी तरह हारे । उन्हें पूना दरबार से अपमानजनक संधि करनी पड़ी ।

अँग्रेजों के लिये इन संधियों का कोई महत्व नहीं था । वे कभी भी उन्हें तोड़ सकते थे । नाना फड़नवीस उनकी कुटिलता से परिचित थे । अत: उन्होंने एक बार उन्हें मूल से नष्ट कर देने के लिये उद्यत हो गये । उन्होंने निजाम, हैदर अली, अर्काट के नबाब तथा मुगल सम्राट शाह आलम को इसके लिये तैयार किया । गवर्नर हेस्टिंग्स को जब इस बात का पता चला तो उसे ब्रिटिश भारत राज्य का समूल नाश होता दिखाई पड़ने लगा । महादाजी सिन्धिया को उसने लोभ दिखाकर साक्षी के लिये मध्यस्थ बना लिया । महत्वाकांक्षी सिंधिया वीर होते हुए भी दूरदर्शी राजनीतिज्ञ नहीं था अत: वह लोभ में आ गया । गवर्नर हेस्टिंग्स और पूना दरबार के मध्य संधि हुई ।

नाना फड़नवीस के उद्योग से मृत्योन्मुख महाराष्ट्र मण्डल एक बार पुन: भारत की मुख्य शक्ति बन गया । मुगल सम्राट शाह आलम के मराठे संरक्षक बने । अँग्रेजों को दो-दो बार अपमानजनक संधि करनी पड़ी ।

नाना फड़नवीस की मृत्यु १६ फरवरी, १८०० में हुई । नाना की मृत्यु के साथ ही एक प्रकार से मराठों का सूर्य अस्त हो गया । उनके पश्चात् ऐसा कोई योग्य और निस्वार्थी व्यक्ति उन्हें सम्भालने वाला नहीं रहा । अँग्रेजों का दाँव लग गया । उन्होंने स्वकेन्द्रित मराठा सरदारों को एक-एक करके निर्मूल कर दिया । नाना साहब ने चालीस वर्ष तक राष्ट्र की जो सेवा की वह आज भी आदर्श है । उन्होंने सवाई माधव राव बालक पेशवा के आत्मघात के पश्चात् राघोबा के पुत्र बाजीराव को पेशवा स्वीकार किया क्योंकि पेशवा वंश में और कोई उत्तराधिकारी बचा ही न था । बाजीराव उनका जानी दुश्मन था फिर भी नाना की राष्ट्रनिष्ठा देखो उसने उसके पेशवा रहते हुए भी महाराष्ट्र को डूबने नहीं दिया । ऐसे निष्काम देशसेवियों व निस्वार्थ राजनीतिज्ञों की आज भी देश को आवश्यकता है ।

आत्मविश्वासी के लिये कुछ भी असम्भव नहीं

एक बार नाना साहब हाथी पर सवार होकर घूमने जा रहे थे । वे मनु को नहीं ले गये । बालिका रूठ गई । उसके पिताजी ने समझाया-"हम गरीब हैं, हमारे भाग्य में हाथी कहाँ ?" इस पर मनु ने तमक कर कहा "एक क्या ऐसे सैकड़ों हाथी हैं मेरे भाग्य में ।" आत्मविश्वासपूर्ण कही यह बात सच निकली । वह बड़ी होने पर झाँसी के राजा गंगाधरराव की पत्नी बनी और सैकड़ों हाथियों की स्वामिनी भी ।

मनु नामक उक्त बालिका ही झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई थीं, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि आत्मविश्वास की भावना दृढ़ हो तो मनुष्य एक साधारण स्थिति से ऊपर उठकर उच्च स्थिति तक पहुँच जाता है ।

महाराष्ट्र के पुनर्प्रतिष्ठापक- पेशवा बाजीराव

वयस्क और योग्य पुत्रों के हाथ में शासन सूत्र थमाकर बुन्देल-केसरी वीर महाराज छत्रसाल ईश्वराधना और लोकसेवा में निरत रह वानप्रस्थ का सा जीवनयापन कर रहे थे । तभी ८६ वर्ष की आयु में स्वदेश की स्वतंत्रता के लिये महान उद्योग करने वाले बूढ़े शेर को पुन: राष्ट्ररक्षा की ओर उद्यत होना पड़ा ।

मुहम्मद शाह बंगश ने उनके कनिष्ठ पुत्र जगतराज पर तीसरी बार आक्रमण कर उसकी राजधानी जैतपुर पर अधिकार कर लिया । बंगश पहले दो बार जगतराज से हार चुका था पर तीसरी बार उसकी विजय हुई । वृद्ध छत्रसाल के शरीर में अब वह बल नहीं रहा था, न पर्याप्त सैन्य ही उनके पास थी अत: उन्हें पुन: एक बार उस ओर आशाभरी नजर से देखना पड़ा जिधर उन्होंने युवावस्था में देखा था । छत्रपति शिवाजी की सहायता और मार्गदर्शन से ही वे एक सामान्य जागीरदार से बुंदेलखण्ड के गौरव बन सके थे और मुसलमान शासकों से अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करा सके थे ।

महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी के पौत्र शाहूजी उनके आसन पर आसीन थे । उनके सुयोग्य मन्त्री पेशवा बाजीराव ने शिवाजी की मृत्यु के बाद विघटित हो गये हिन्दू महाराष्ट्र को पुन: संगठित कर एक महान शक्ति के रूप में विकसित किया था । महाराज छत्रसाल को बाजीराव ही वे व्यक्ति दिखे जो उनके जीवन भर की साधना को डूबने से बचा सकते थे । उन्होंने अपने एक

विश्वस्त दूत के हाथ इस आशय का संदेश भेजा-

जो गति भई गजेन्द्र की सो गति पहुँची आय ।
बाजी जात बुन्देल की राखौ बाजी राय ।।

बाजीराव को संदेश मिला था कि वे एक विशाल सेना लेकर उनकी सहायता के लिये आ पहुँचे । भारत के इतिहास में यह अपने ढंग की महत्वपूर्ण घटना है । यदि इससे तत्कालीन हिन्दू राजा थोड़ी सीख लेते तो उनका पराभव सम्भव नहीं होता । महाराष्ट्र और बुन्देलखण्ड की सम्मिलित शक्ति के आगे बंगश को पराजित होकर भागना ही नहीं पड़ा वरन् हर्जाना और भविष्य में आक्रमण नहीं करने के लिये वचनबद्ध भी होना पड़ा ।

महाराज छत्रसाल के आह्वान पर यों उनकी सहायता को प्रस्तुत हो जाने वाले पेशवा बाजीराव ने एक बार पुन: उस स्वप्न को साकार करने के लिये प्राणपण से चेष्टा की जिसे समर्थगुरु रामदास और शिवाजी ने देखा था । उनका लक्ष्य पुन: भारत को एक सूत्र में बाँधना था । उनका अपना सारा जीवन इसी प्रयास में पूरा हुआ इसमें वे अन्तत: सफल भी हुए ।

इतिहास पुरुष बाजीराव का जन्म १६९९ में सावित्र नदी के तट पर बसे हुए महाराष्ट्र के ग्राम श्रीवर्द्धन पट्ट में हुआ था । व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान पर बसा होने के कारण मुसलमान शासकों की लोलुप दृष्टि के घेरे में रहा करता था । इनके पिता बाला जी विश्वनाथ यहीं रह कर व्यापार कार्य किया करते थे । बालाजी को जब बाजीराव छोटे ही थे तभी निकटवर्ती जंजीरा क्षेत्र के मुस्लिम शासक कासिम के अत्याचारों के कारण ग्राम छोड़ना पड़ा । बालाजी व्यापार के सिलसिले में अपने पास कुछ सैनिक भी रखते थे, मालगुजारी वसूलने का काम भी उनके हाथ में था । कासिम के आक्रमण के समय उन्होंने तट प्रदेश के अधिपति कान्होजी आँग्रे का साथ दिया था । इस कारण कासिम ने उन पर घोर अत्याचार करने आरम्भ किये । बालाजी के ज्येष्ठ भ्राता जनार्दन को हाथ-पाँव बाँध एक संदूक में बन्द कर क्रूरमना कासिम ने सागर में जीवित समाधि दे दी ।

ऐसी विकट परिस्थितियों को किशोर बाजीराव ने अपनी आँखों से देखा था और देखा था विधर्मी शासकों के उस नृशंस अत्याचार को, जिसे देख कर उनके किशोर मन में इस अत्याचार से अपने देशवासी भाइयों को मुक्त करने का संकल्प भरने लगा ।

बालाजी का श्रीवर्द्धन पट्ट में रहना सुरक्षित नहीं था अत: वे सपरिवार वहाँ से चल दिये । कैसे वे छत्रपति शाहू के मन्त्रिमण्डल में पहुँचे, कैसे उन्होंने छत्रपति वंश को पुन: शक्तिमान बनाया यह एक लम्बी कहानी है । जातीय-गौरव और राष्ट्रीय-स्वाभिमान से भरे पूरे पिता के दाहिने हाथ बनकर रहने वाले बाजीराव ने उनसे बहुत कुछ सीखा । बालाजी यदि कायर होते तो वे कासिम के विरुद्ध आँग्रे का समर्थन कभी न करते पर इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई । वे पहले से अधिक यशस्वी बन सके और अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर सके । बालाजी महाराष्ट्र मण्डल के पेशवा बनाए गये ।

पिता के पेशवा बनने के समय व उनके प्रमुख सहायकों में रहे । युद्धों में भी वे उनके साथ जाते और राज्य संचालन में भी वे उनका हाथ बँटाते । उन्हीं के साथ वे दिल्ली भी गये और तत्कालीन मुगल सम्राट फर्रुखशियर से संधि-वार्ता करने में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान रहा ।

बालाजी की कुशल राजनीति और वीरतापूर्ण देश भक्ति के प्रताप से मराठों का प्रताप सारे देश में फैल गया । वे भारत के सभी राजाओं से सन्देशमुखी कर चौथ वसूल किया करते थे । एक बार पुन: धर्म समन्वित राज्य की स्थापना सम्भव हो सकी । धर्म समन्वित इसलिये कहा जाना उचित है क्योंकि उनके राज्य में वैसे अन्याय नहीं होते थे जैसे मुगलों व अन्य मुस्लिम शासकों के काल में होते थे ।

बालाजी की मृत्यु के उपरान्त उनके द्वारा निभाये जा रहे इस दुर्वह दायित्व का भार बाजीराव के कन्धों पर आ गया । बाजीराव अपने पिता की तरह ही वीर और कुशल राजनीतिज्ञ थे । उनकी माता ने उन्हें बचपन में वीर शिवाजी, भगवान राम, भगवान कृष्ण आदि महापुरुषों की प्रेरक कहानियाँ सुना-सुना कर उनमें देश, धर्म और संस्कृति के प्रति अनुराग और जीवन के प्रति स्वस्थ और परमार्थिक दृष्टिकोण उत्पन्न किया था, इससे उनमें जो चारित्रिक और व्यक्तिगत विशेषताएँ उत्पन्न हुई थीं उनके सहारे ने इस दुर्वह दायित्व को पूरा करने में समर्थ थे ।

यों उस युग के किसी भी राजपुरुष के जीवन में घटनाएँ तो वही युद्ध संधि, वीरता, न्याय और राज प्रबन्ध विषयक घटित होती थीं वे उनके जीवन में भी घटित हुई । उनके महत्त्व को उनके उच्च दृष्टिकोण के परिपेक्ष्य में न आँका जाय तो उनके महत्त्व को पूरी तरह आँकना सम्भव नहीं होगा ।

छत्रपति शिवाजी के प्रबल उद्योगों द्वारा स्थापित हिन्दू महाराष्ट्र समय के साथ शक्तिशाली तो होता गया और उसका चरम विकास बाजीराव और उनके पुत्र नाना साहब बालाजी के समय में देखने को मिला पर बाद में इस महाराष्ट्र के जितने भी कर्णधार हुए उनमें जातीय और राष्ट्रीय निष्ठा का ह्रास और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का परिवर्द्धन होने लगा था । ऐसी स्थिति में महाराष्ट्र के सामन्तगणों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को राष्ट्रीय हित से ऊपर उठकर उन्हें विशृंखलित होने से बचाने का काम जिन व्यक्तियों ने किया उन्हीं में बाजीराव पेशवा का नाम मुख्य माना जाता है ।

पूना नगर के पुनर्निमाण का श्रेय भी बाजीराव पेशवा को ही है । पूना नगर की रमणीयता, समृद्धि और बसावट के विषय में अँग्रेज प्रेक्षक मि० गार्डन का वर्णन मनोमुग्ध कारी है । यह पेशवा बाजीराव की कलाप्रियता और निर्माण कौशल का उदाहरण है ।

निजाम पर अनेकों बार विजय और उससे चौथ वसूलने का अधिकार पाना, मालवा जीतकर वहाँ सुशासन की स्थापना करना, छत्रसाल के गौरव और बुन्देल खण्ड के हिन्दूराज्य की रक्षा करना, पुर्तगालियों के राज्य विस्तार को रोकना आदि ऐसे महत्वपूर्ण कार्य हैं जो उनकी वीरता और नीति कुशलता के कारण ही सम्भव हुए हैं।

उनके जीवन में कई बार ऐसे प्रसंग आये जब मृत्यु उनके सामने विकराल रूप धारण करके खड़ी हुई। शत्रु-पक्ष के विश्वासघात के कारण वे बन्दी बना लिये गये। ऐसे विकट क्षणों में भी उन्होंने धैर्य और साहस को बिसारा नहीं। फल यह हुआ कि बाजी उनके हाथ रही।

महाराज शाहू और राजाराम आदि तो नाममात्र के छत्रपति रहे थे। राज्य का मेरुदण्ड तो पेशवा ही थे। पेशवा बाजीराव के पराक्रमी व्यक्तित्व ने सिंधिया और होल्कर को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का दास नहीं होने दिया। उनके जीवन के घटनाक्रम इस बात की पुष्टि करते हैं कि उन्हें विधर्मी शासकों से जितना संघर्ष नहीं करना पड़ा उतना अपने ही स्वजातीय बन्धुओं से महाराष्ट्र के एकत्व के लिये करना पड़ा।

पेशवा बाजीराव के जीवन के साथ ऐसे भी कुछ प्रसंग जुड़े हुए हैं जिनसे उनका उदात्त दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। महाराज छत्रसाल की सहायता करने के कारण उन्होंने पेशवा बाजीराव को महाराष्ट्र मण्डल के लिये न केवल अपने राज्य का तीसरा भाग, जिनमें झाँसी, बाँदा व जालौन सम्मिलित थे मिले वरन् साथ ही काफी धन भी मिला। यही नहीं उन्होंने अपनी यवनी पत्नी की कोख से उत्पन्न एक पुत्री का विवाह भी बाजीराव के साथ किया। यद्यपि बाजीराव नहीं चाहते थे फिर भी महाराज छत्रसाल की बात रखने के लिये उन्हें यह विवाह सम्बन्ध स्वीकारना ही पड़ा।

उनकी इस यवनी पत्नी को लेकर अपने कुटुम्बीजनों का बड़ा विरोध सहना पड़ा पर उन्होंने उसे अपने अधिकार से वंचित नहीं होने दिया। उसे वही सम्मान और स्नेह वे देते रहे जिसकी वह अधिकारिणी थी।

वे उसकी कोख से उत्पन्न पुत्र शमशेर बहादुर के उसी प्रकार उपनयन व मुण्डनादि संस्कार करवाना चाहते थे ताकि वह सांस्कृतिक मर्यादाओं में बँधकर उच्च उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा ले पर तत्कालीन रूढ़िवादी समाज का एक भी ब्राह्मण इसके लिये तैयार नहीं हुआ। हिन्दू समाज की यह संकीर्णता ही उसके संकोचन का कारण बनी हुई है, आज भी।

उनका सारा जीवन युद्ध, संधि-करण और राजनीति में ही व्यतीत हुआ। पर उनकी राजनीति धर्मनीति के पीछे चलने वाली थी। अपने गुरु ब्रह्मेन्द्र स्वामी, जो तपस्वी संन्यासी थे से प्राय: वे राज्य विषयक परामर्श लिया करते थे। कभी कोई विशेष उलझन होती तब भी वे उन्हीं से मार्गदर्शन पाया करते थे।

२२ अप्रैल, १७४० में पेशवा बाजीराव का देहावसान हुआ। उनकी मृत्यु पर महाराष्ट्र पति को वैसा ही शोक हुआ जैसा महामात्य चाणक्य की मृत्यु पर सम्राट बिन्दुसार को हुआ था। इतिहास पुरुष बाजीराव का जीवन भर का उद्योग काल की परिधि में बाँधा नहीं जा सका वे आज भी उतने ही अनुकरणीय हैं।

जिनका शरीर नहीं चरित्र सुन्दर था—
महाराजा रणजीत सिंह

पंजाब के एक शहर में महाराजा रणजीत सिंह की सवारी निकल रही थी। रास्ते में हाथी पर बैठे हुए महाराजा के सिर पर एक पत्थर आ कर लगा और अगले ही क्षण आस-पास के सैनिकों ने एक बालक को पकड़ा। जो इस शोभायात्रा से बेखबर होकर सड़क के किनारे लगे बेर के पेड़ से फल गिराने के लिए पत्थर फेंक रहा था।

सैनिकों ने राज दरबार में उस बालक को उपस्थित किया। वह बहुत डर रहा था और महाराज के सिर पर पट्टी बँधी हुई थी। सैनिकों ने शोभायात्रा के समय घटित घटना का विवरण कहा। महाराजा ने फैसला दिया" जब पेड़ भी पत्थर फेंकने पर फल देता है तो मैं ही इसे दण्ड क्यों दूँ। इसने मुझे लक्ष्य कर तो पत्थर फेंका नहीं था, भूल से वह लग गया। इसमें बालक का कोई दोष नहीं है उसे खुशकर वापस भेज दो।"

महाराजा रणजीत सिंह के इस फैसले पर सबको आश्चर्य हुआ और सुखद हर्ष भी। उनकी क्षमाशीलता के ऐसे कई किस्से सुने जाते हैं। वे उतने ही क्षमाशील थे जितने कि वीर। क्षमा ही तो वीरता का भूषण कहा गया है। अपने प्रति भूल से या जानबूझ कर भी अपराध करने वालों को क्षमा कर देना।

महाराजा रणजीत सिंह शरीर से बिल्कुल भी आकर्षक नहीं थे। उनका कद छोटा था। चेहरा चेचक के दागों से भरा हुआ और एक आँख भी नहीं थी। इतने कुरूप व्यक्ति की प्रतिष्ठा भी भारत के इतिहास में अति सुन्दर वीर के रूप में हुई है। वस्तुत: सौन्दर्य का शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह तो व्यक्तित्व और चरित्र का ही अंग है। नाटे कद के व्यक्ति में ऊँचा और लम्बा हृदय, नियति ने एक आँख छीन ली परन्तु सूझ-बूझ और नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि के रूप में संसार का अद्वितीय नेत्र उनके पास था। उनका चेहरा चेचक के दाग से बड़ा भद्दा लगता था परन्तु उस पर देदीप्यमान दिव्य-गुणों की आभा अच्छे-अच्छे चेहरों को मात दे देती थी और इस नैसर्गिक सौंदर्य को प्राप्त किया था उन्होंने अपने समझदार पिता से। पालन-पोषण में उनके पिता ने इस ओर विशेष ध्यान दिया था। वह भी जन्म से ही कुरूप होने के कारण।

१७८० में पंजाब की एक रियासत के अधिपति महाराजा महासिंह के यहाँ उनका जन्म हुआ। जन्म के

समय उनका शरीर बड़ा बैडौल और कुरूप था । लोगों की आम धारणा थी कि एक राजकुमार को सुन्दर होना चाहिए । इसलिए राजपरिवार के अन्य सदस्यों और सर्वसाधारण को स्वाभाविक ही क्षोभ तथा चिन्ता हुई । जिसे उन्होंने महाराज महासिंह के सामने व्यक्त किया । महासिंह को दुःख तो था । परन्तु इतना नहीं । उनकी तो मान्यता थी कि कोई भी व्यक्ति चेहरे-मोहरे से सुन्दर नहीं कहा जाना चाहिए बल्कि सुन्दरता का मापदण्ड तो उसका पराक्रम, शौर्य और साहस समझना चाहिए । सहानुभूति जताने और राजकुमार के कुरूप होने की अपनी व्यथा कहने के लिए दरबार के कुछ लोग उनके पास पहुँचे तो उन्होंने ललकार कर कहा-"मुझे इस बात का जरा भी दुःख नहीं है कि मेरा बेटा सुन्दर नहीं हैं । पुरुष का पुरुषार्थी और पराक्रमी होना ही उसका सुन्दर होना है और मैं अपने बेटे को निश्चय ही ऐसा बनाऊँगा ।"

राजकुमार के कुछ बड़ा होने पर महाराज महासिंह सचमुच ही अपने पुत्र को सौंदर्यशाली बनाने में जुट गये । वे रणजीतसिंह को घोड़े पर बिठाकर घुमाने ले जाते, घुड़सवारी करवाते, निशाना सिखाते और बन्दूक चलाना सिखाते । रणजीत सिंह को उन्होंने ऐसे वातावरण में रखा जो वीरता और साहस की प्रेरणा देता था । रात को सोते समय भी महासिंह अपने लाड़ले को राम-लक्ष्मण की शौर्य कथायें सुनाया करते थे ।

ऐसा करने का उनका एक दूसरा उद्देश्य भी था । पंजाब उस समय कई छोटी-बड़ी रियासतों में बँटा हुआ था । कुल मिलाकर बारह राज्य थे । जो आपस में लड़मर कर ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहते थे । सिक्ख जाति सदा से बहादुर और देश-भक्ति की परम्पराओं का पालन करती रही है । गुरु गोविन्द सिंह ने पूरे सिक्ख समाज का जो सैनिकीकरण किया उससे बड़े-बड़े साम्राज्य तक भय खाते थे परन्तु बाद में इस सशक्त संगठन को भी फूट और वैमनस्य के संक्रामक रोग ने ग्रसित कर लिया । जिसके परिणामस्वरूप पूरा पंजाब छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और उन सबकी शक्ति क्षीण होने लगी ।

महाराजा महासिंह बुद्धिमान और विचारशील भी थे । उन दिनों अँग्रेज और मुगल सेनाओं की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ जिस प्रकार सिक्ख जनता और भारतीय जन-जीवन को संत्रस्त किया करती थीं उसे देखकर उनका मन बड़ा व्यथित होता । भारतीय समाज में घुस आये इन विकारों को दूर करने की ठान कर महासिंह ने सर्वप्रथम पंजाब में एक संगठित राज्य का स्वप्न देखा । उसे साकार करने के लिए प्रयत्न भी किया । अपने पुत्र रणजीत सिंह को वीर योद्धा के रूप में तैयार करने की साधना उन्हीं प्रयत्नों की एक कड़ी थी ।

रणजीत सिंह को युद्ध-विद्या में निष्णात करने के साथ उन्होंने अपने पुत्र के चरित्रगठन की ओर भी ध्यान दिया क्योंकि जन स्तर पर प्राप्त की गई सफलतायें ऐसा व्यक्ति ही तो स्थाई रख सकता है । अन्यथा इस ओर कोई ध्यान न देने वाला उन सफलताओं के साथ अहंकारी और अभिमानी ही बनता है । व्यक्तिगत रूप से पुत्र को सच्चा सौन्दर्य प्रदान करने के लिए तथा उसे सामाजिक हितों के लिए उपयोगी बनाने हेतु महाराजा महासिंह ने अनथक प्रयत्न किया ।

सन् १७९२ में उनका देहान्त हो गया । उस समय रणजीत सिंह की आयु बारह वर्ष की ही थी । भारत राष्ट्र का भावी उद्धारक असमय में ही अनाथ हो गया । परन्तु माता ने सूझ-बूझ से काम लिया और रणजीत को अपने संरक्षण में लेकर इसी उम्र में राजगद्दी सौंप दी । राजकाज देखने के लिए उन्होंने अपने एक विश्वासपात्र दरबारी लखपत राय को दीवान नियुक्त कर दिया रणजीत सिंह का राज्याभिषेक हुए अधिक समय नहीं हुआ था कि राज परिवार के सभी सदस्य उन्हें अपने हाथों का खिलौना बनाने के लिए तरह-तरह की योजनायें रचने लगे । उन्होंने तथा उनकी माता ने बड़ी सावधानी बरती और उन षड्यंत्रों को विफल किया ।

कुछ वर्षों बाद शाहजमाँ नाम का एक महत्वाकांक्षी युवक अफगानिस्तान की राजगद्दी पर बैठा । उसने सुना कि पंजाब जैसे धनधान्य सम्पन्न प्रांत के सीमांत क्षेत्र का राजा एक किशोर-युवक है तो उसके मुँह में पानी भर आया और रणजीत सिंह के राज्य को जीतने के लिए लाहौर पर आक्रमण कर दिया । इस आसन्न संकट काल में राजमहल के षड्यन्त्र भी खुलकर बाहर आये । सत्रह अठारह वर्ष के अवयस्क रणजीत सिंह के सम्मुख विकट समस्या उठ खड़ी हुई । जिसका समाधान अपने बस का नहीं लगा ।

परन्तु रणजीत सिंह ने धैर्य से काम लिया । इस संकट काल में उनकी बचपन की शिक्षा काम आई । माता के परामर्श और स्वयं की सूझ-बूझ से उन्होंने स्वयं को स्वतंत्र राजा घोषित कर दिया और सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये । शाहजमाँ के पास काफी बड़ी सेना थी और रणजीत सिंह के पास गिनेचुने किन्तु राजभक्त सिपाही । सेना का नेतृत्व उन्होंने स्वयं सम्हाला और शाहजमाँ का डटकर मुकाबला किया । आततायी सत्ता लोलुपता को विशुद्ध राष्ट्रभक्ति के हाथों पराजित होना पड़ा । शाहजमाँ लाहौर छोड़कर भागा और महाराज रणजीत सिंह ने शत्रु के प्रति उदारता का व्यवहार किया । उन्होंने युद्ध के दौरान नदी में डूब गई शाहजमाँ की तोपें हथियार और छीना गया गोला बारूद वापस कर दिया । अफगान-सरदार को इस विचित्र-व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ । उसका हृदय भी परास्त हो गया परन्तु पंजाब विजय की लालसा अभी मिटी नहीं थी । अगली बार पूरी तैयारी के साथ आने की खिसियानी धमकी देकर वह अफगानिस्तान लौट गया ।

इस युद्ध के कारण महाराजा रणजीत सिंह का आत्म विश्वास बढ़ गया । उन्होंने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया । माँ ने पिता की उस चिरपालित इच्छा के सम्बन्ध

में बताया जिसके अनुसार वे पंजाब को एक राष्ट्र के रूप में उदय होते देखना चाहते थे । उनके मन में भी राष्ट्र-शक्ति के संगठन की प्रेरणायें उठा करती थीं । अपने विश्वासपात्र सैनिकों को लेकर उन्होंने आस-पास के छोटे-छोटे राज्यों का विलीनीकरण और संघराज्य की स्थापना का अभियान छेड़ा ।

इस विजय यात्रा में उन्हें अकल्पित सफलता मिली । इन छोटे-छोटे राज्यों ने जल्दी ही हथियार डाल दिये और महाराजा रणजीत सिंह की अधीनता स्वीकार कर ली । एक विशाल-राज्य की सुरक्षा के लिए एक सशक्त और आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस सेना भी चाहिए । एक ओर से अँग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का भय था तो दूसरी ओर अफगानिस्तान के महत्वाकांक्षी राजा शाहजमाँ का । इन दोनों सम्भावित शत्रुओं से रक्षा का प्रबन्ध करने के लिए उन्होंने अपनी सेनाओं का विस्तार करना आरम्भ किया । पंजाब की उर्वरा भूमि तो सोना उगलती ही थी । इसीलिए व्यय की कोई खास चिन्ता नहीं थी ।

उस समय जब वे अपनी सेनाओं का गठन कर रहे थे अँग्रेजी सरकार ने एक बड़े साम्राज्य को हस्तगत करने के प्रयत्न किये परन्तु वे सब विफल हुए । अँग्रेजों को मुँह की खानी पड़ी । अब वे महाराजा रणजीत सिंह से भय खाने लगे । उन्हें अपना मित्र बनाने के लिए प्रस्ताव रखा परिणामस्वरूप १८०९ में अमृतसर में दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों में संधिवार्ता हुई और अँग्रेजों तथा सिक्खों में समझौता हुआ ।

हृदय से तो महाराजा रणजीत सिंह नहीं चाहते थे कि एक विदेशी शासन को अपना मित्र बनायें, परन्तु सैन्य-शक्ति कमजोर होने के कारण समझौता करना ही उचित समझा । अमृतसर की संधि के अनुसार महाराजा रणजीत सिंह से यह वचन लिया कि वे पूर्व दिशा की ओर अपना राज्य न बढ़ावें । इसके बदले में अँग्रेज जनरल एलार्ड और कोर्ट की सहायता से उन्होंने अपनी सेनाओं के आधुनिकीकरण का प्रस्ताव रखा । यह काम पूरा होने के बाद वे अपने वायदे के अनुसार पूर्व में तो नहीं बढ़े परन्तु पश्चिम और उत्तर दिशा में कई क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया ।

सन् १८०९ में अफगानिस्तान का बादशाह शाहजमाँ उनके पास आया । वह इस बार खाली हाथ तथा अकेला था । कारण कि उसे गद्दी से उतार दिया गया था । महाराजा रणजीतसिंह की दयालुता और उदारता के गुणों के बारे में सुनकर वह उनके पास आया था । रणजीत सिंह ने उसकी सहायता की जिसके बदले में निर्वासित शाह ने कोहेनूर हीरा भेंट में दिया । इधर उनका एक राष्ट्र-अभियान जारी रहा । धीरे-धीरे उन्होंने अटक, कंगाड़ा, मुलतान, कश्मीर और पेशावर को भी अपने राज्य में मिला लिया ।

इतने बड़े साम्राज्य के अधिष्ठाता और कुशल शासक होते हुए भी महाराजा रणजीत सिंह एकदम अनपढ़ थे । फिर भी उन्होंने पढ़े-लिखे और उच्च शिक्षितों से अधिक काम किया और सफल हुए । इस सफलता का श्रेय उनके उच्च विचार, महान जीवन और उत्कृष्ट चरित्र को ही दिया जाना चाहिए । वे एक साथ वीर योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ और उदार धर्मप्राण महामानव थे । युद्ध क्षेत्र में उन्होंने सदैव आगे रहकर अपनी सेनाओं का पथ प्रदर्शन तथा उत्साहवर्द्धन किया । पिता से सुनी हुई कहानियों द्वारा उन्होंने राजनीति के मर्म को बहुत गहराई से समझा था ।

निष्ठावान सिक्ख होते हुए भी धर्म और सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से उन्होंने कभी पक्षपात नहीं किया । साथ ही उनमें प्रतिभाओं को समझने और पहचानने की भी अच्छी क्षमता थी । सिक्ख, हिन्दू और मुसलमान सभी सम्प्रदाय के व्यक्तियों का वे उचित सम्मान करते और हर जाति के प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को आगे बढ़ने का मौका देते थे । उनके राजदरबार में मुसलमानों को भी वही स्थान था जो उनके सहधर्मी हिन्दुओं का । लोक-सेवा के लिए रात-रात जागने वाला यह महामानव २७ जून, १८३९ को सदा के लिये सो गया । उन्होंने आजीवन संघर्ष करते हुए राष्ट्रीयता और एकता की भावना को मूर्तिमान किया वह आज के हर स्वाधीन भारतीय के लिए अनुकरणीय है ।

मनका : मनका फेर

एक बार महाराजा रणजीत सिंह एमन बुर्ज में बैठे हुए माला फेर रहे थे । उनके समीप ही फकीर अजीजुद्दीन भी तसबीह लिये बैठे थे । महाराजा रणजीतसिंह हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार मनके अन्दर की ओर फेर रहे थे और फकीर साहब मुस्लिम मान्यता के अनुसार बाहर की ओर ।

महाराजा को न जाने क्या हुआ कि उन्होंने अजीजुद्दीन से पूछा –शाह साहब ! मनके अन्दर की ओर फेरना चाहिए या बाहर की ओर ? ।

शाह साहब बड़ी मुश्किल में फँसे । यदि अन्दर की ओर कहते हैं तो बात धर्म के विरुद्ध होती है और यदि बाहर की ओर कहते हैं तो महाराज के क्रोधित होने का भय था ।

लेकिन शाह साहब भी कम न थे । साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे । ऐसे गुर उन्हें खूब आते थे । सो बात बनाते हुए बोले "माला फेरने के दो उद्देश्य होते हैं । एक तो अपने दुर्गुणों को बाहर निकालना तथा दूसरा अच्छाइयों को ग्रहण करना । महाराज को सदैव अच्छी बात, अच्छी योजनायें तथा अच्छे काम करने का विचार रहता है । अतः आप मनके अन्दर की ओर फेरते हैं और मैं मन की मलिनताओं को बाहर निकालने की बात सोचा करता हूँ । अतः मैं मनके बाहर की ओर फेरता हूँ ।" समन्वय तथा दूसरों में अच्छाई देखने की इस उक्ति ने सभी को पुलकित कर दिया ।

संस्कृति की आन पर शहीद–

हरीसिंह नलवा

संध्या का समय था। शिशिर का ठिठुरा देने वाला जाड़ा गिर रहा था। निविड़ वन में रावी के तट पर चार-पाँच साधु बैठे धूनि ताप रहे थे। साथ ही साथ वे बातें भी करते जा रहे थे निजी जीवन से सम्बन्धित, राज्य समाज की स्थिति परिस्थितियों पर इतने में ही पास बह रही नदी के जल में कुछ आहट सुनायी दी। सरिता भी मानो ठण्ड में ठिठुरती हुई निःशब्द बही जा रही थी। यह आहट पानी बहने से अलग ढंग की थी –सो चारों की दृष्टि उधर को अनायास ही घूम गयी। उनकी बातें करना भी बंद हो गया। भयानक ठण्ड में मनुष्य तो अपने घर में दुबका बैठेगा वह क्यों नदी में तैरकर मृत्यु को आमंत्रण देगा। परन्तु वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। नदी के पानी से जैसे कोई निकला हो और तट पर आ गया हो–ऐसा लग रहा था परन्तु कुछ दिखाई नहीं देता था। कुछ क्षण तक मौन किन्तु हृदय की धड़कनें रोककर वे प्रतीक्षा करते रहे। पता नहीं क्या बात है। प्रतीक्षा के बाद उन्होंने देखा एक मानवीकाया जो दिखने में किशोर की लग रही थी नदी तट से उसी ओर आ रही है।

शायद कोई दुर्घटना हो गयी होगी जिसमें भाग्य का धनी वह किशोर बच गया है। बन सके तो इसकी मदद करनी चाहिए। किशोर आग जलते देख वहाँ आ गया और अपने कपड़े निचोड़ कर बदन सुखाने लगा। साधुओं में से एक ने पूछा-"क्या बात है बेटा ?"

"लाहौर जा रहा था बाबा, महाराजा साहब से मिलने के लिये।" क्या "हरीसिंह नलवा" नाम है तुम्हारा ?

कोई विपदा आ पड़ी है क्या-उसी साधु ने पूछा जो महाराज से फरियाद करनी है और वह नलवा का मुँह ताकते लगा।

"विपदा ! यह विपदा नहीं है क्या कि देश और धर्म विदेशी–विधर्मी जातियों के हाथों लुट रहा है।"

"सो तो बेटा महाराज अपने ढंग से कोशिश कर ही रहे हैं। तुम क्या फरियाद करोगे उनसे इस विषय में महाराज इस बात को खूब अच्छी तरह जानते हैं।"

"मैं फरियाद नहीं करूँगा बाबा" निश्चयात्मक दृढ़ स्वरों में नलवा बोला "इस काम में उनका हाथ बँटाऊँगा।"

"अच्छा" चारों के मुँह से एक आश्चर्य भरा शब्द निकल गया। फिर उनमें से एक बोला "तो तुम अपनी इच्छा पूरी ही समझो।"

"कैसे" नलवा ने प्रश्न किया।

"कल बसंत पञ्चमी है। महाराजा रणजीतसिंह लाहौर में एक अच्छा दरबार लगाते हैं और उस दरबार में दूर-दूर से आये लोग अपने करतब दिखाते हैं। तुम भी अच्छे नौजवान हो ही। कोई ऐसा कमाल कर दिखाना जो महाराज तुम्हें अपनी सेना में भर्ती कर लें। अन्यथा इस उमर में तो किसी को भी सैनिक बनाकर नहीं रखते।"

तन पर के गीले कपड़े सुखाकर उत्साही और देश भक्ति की भावनाओं से भरे हुए नलवा रात भर में लाहौर जा पहुँचे। लाहौर की स्थिति ही उस समय बसंती रंग से रँगी हुई थी। पीले फूल, पीला अन्न, पीले परिधान और सब कुछ पीला ही पीला। महाराजा रणजीतसिंह का दरबार लगा तो शहर की जनता उमड़ आयी उस मैदान के आस-पास जहाँ शरीर सामर्थ्य की प्रदर्शन प्रतिस्पर्धा होनी थी। हरिसिंह नलवा घुड़सवारी, शस्त्र सञ्चालन, मल्लयुद्ध और तीरंदाजी में सबसे आगे निकल गया। किसी भी खिलाड़ी ने एक साथ इतने कीर्तिमान नहीं बनाये थे। महाराजा रणजीतसिंह ने नलवा को छाती से लगाकर चूम लिया और उन्हें सेना में उच्च पद प्रदान किया। हरिसिंह अपने जीवन की साध पूरी होती अनुभव कर रहे थे। परिवार का परिवेश, माता-पिता के संस्कार और घर का वातावरण उनके जीवन में यह साध पैदा करने का उचित ही कारण था। उनके पिता गुरदयाल सिंह अमृतसर के निवासी थे। वे सुक्रयकिया रियासत के सेनापति थे। गुरदयालसिंह की वीरता से प्रसन्न होकर तत्कालीन महाराजा ने उन्हें लाहौर के निकट एक अच्छी जागीर इनाम में दी।

गुरुदयाल के परिवार में ही १७९१ ई० में हरिसिंह का जन्म हुआ। उनका पालन-पोषण क्षात्र परम्परा और देशभक्ति से भरे वातावरण में हुआ। शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी घर पर ही हुआ परन्तु उस समय जबकि वे मात्र सात वर्ष के थे देवयोग से गुरुदयालसिंह का देहान्त हो गया। घर में हरिसिंह को संरक्षण देने वाली रह गयीं अकेली माता धर्मकौर। जागीर का प्रबन्ध और घर-परिवार की देखभाल उनके बस से बाहर की बात थी सो वे अपने पुत्र को लेकर भाई के पास चली गयीं। गाँव की खुली हवा में पेड़ों के तले और खेत की मेंड़ों पर हरिसिंह वय के अगले चरण चढ़ने लगे।

उनके मामा जी वीरता और बहादुरी में क्षेत्र भर में अनूठे थे। जिन गुणों का आधिक्य हो वे ही गुण अपने आश्रितों में भी बढ़ाने की प्रबल इच्छा होती है। मामा ने उन्हें तीर, तलवार, घुड़सवारी और नेजाबाजी सिखायी। माँ-पिता और पितामह की वीरता भरी कहानियाँ सुनायी करती थीं माँ और मामा ने मिलकर पुत्र, भानजे में वीरता शौर्य के प्रेरणांकुर बोये। जो अनुकूल स्थिति पाकर दिनों दिन बढ़ते गये। उस समय विदेशी-विधर्मी, आततायी शासकों के अत्याचारों की कहानियाँ घर-घर सुनी जाती

थीं । यह एक तथ्यपूर्ण बात है कि बलवान और शक्तिशाली व्यक्ति यदि संस्कारवान भी होगा तो अनीति और अन्याय की घटनायें सुनकर उसका खून खौल ही उठेगा ।

एक बार की बात है हरिसिंह नलवा अपने कुछ साथियों के साथ जंगल में घूम रहे थे । घूमते-घूमते उन्होंने पास वाले खण्डहर में किसी का करुण क्रंदन सुना । नारी कण्ठ की चीत्कार थी-सुनकर नलवा अपने साथियों सहित उसी दिशा में चल पड़े । जाकर देखा कोई युवती जिसके बाल अस्त-व्यस्त है रो रही है । नलवा ने पूछा तो वह बोली-तुम क्या करोगे मेरा दुख जानकर । उसे दूर करने का उपाय करने की सामर्थ्य हो तुममें तो ही पूछो । अन्यथा व्यर्थ हँसी करने से ही क्या फायदा, भैया ।

नलवा ने कहा-अब तो तुमने मुझे भैया कह दिया है बहिन । तुम्हें कहना ही पड़ेगा । मैं अपनी माँ की सौंगंध खाकर कहता हूँ कि तुम्हारा दुःख दूर करने के लिए जब तक साँस में साँस बाकी है संघर्ष करूँगा ।

उस युवती ने कहा-अब मेरे साथ जो हुआ उसे मिटाने का तो कोई उपाय नहीं है भाई पर हाँ कुछ कर सको तो इतना जरूर करना कि विदेशियों द्वारा बहिनों को सताया और अपमानित न होना पड़े । यह काम सरल नहीं है ।

युवती ने अपनी व्यथा हरिसिंह नलवा के अन्तःकरण में उड़ेल दी और नलवा ने इस सम्बन्ध में अपनी मुँह बोली बहिन से ही परामर्श किया । निश्चयात्मक स्थिति में आकर नलवा उसी शाम चल दिया महाराज रणजीत सिंह की सेना में भर्ती होने के लिए । ताकि धर्म और संस्कृति पर आक्रमण करने वाले असुरों को परास्त किया जा सके कुचला जा सके ।

पंजाब में सिक्खों की शक्ति बढ़ती जा रही थी । महाराजा रणजीतसिंह के नेतृत्व में धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए कृत संकल्प सिक्ख संगठित होते जा रहे थे । यह संगठन प्रतिदिन भारतीय धर्म और संस्कृति के लिए सुदृढ़ रक्षा पंक्ति बनता जा रहा था, वहीं मुस्लिम और विदेशी शक्तियों के लिए आतंक और खतरे का कारण भी बन रहा था । इसलिए मुलतान के नवाब मुजफ्फर खाँ ने इस रक्षा-पंक्ति को तोड़ने और सैनिक संगठन को छिन्न-भिन्न करने के लिए कसूर के नवाब कुतबुद्दीन से साँठ-गाँठ की तथा १८०७ में पंजाब पर आक्रमण कर दिया । सिक्ख सेनाओं ने भी डटकर मुकाबला किया । हरिसिंह नलवा ने उस युद्ध में महत्वपूर्ण भाग लिया । युद्ध क्षेत्र का कोई अनुभव न होने के कारण महाराज रणजीतसिंह ने पहले तो उन्हें इस भयंकर युद्ध में भाग न लेने के लिए कहा । परन्तु नलवा ने अपनी वाक्‌चातुरी से शीघ्र ही महाराज को मना लिया । इस युद्ध में कसूरी नवाब ने सिक्ख सेनाओं के विरोधी मोर्चे का मुकाबला किया था । हरिसिंह नलवा ने मुगल सेनापति कुतुबुद्दीन को गिरफ्तार कर महाराजा रणजीतसिंह के सामने पेश किया । सेनापति के गिरफ्तार हो जाने से पठानों का मनोबल टूट गया और विजयश्री सिक्खों के पक्ष में रही ।

परन्तु अभी एक और मोर्चा बाकी था, मुलतान का । अपने साथी की दुर्गति के समाचार पहले ही मुजफ्फर खाँ तक पहुँच चुके थे । सिक्खों के पास साधन और शस्त्र भले ही पठानों की अपेक्षा कम हों परन्तु उनका आत्म विश्वास और मनोबल पठानों की कुटिल कामनायें अपूरित कर देने के लिए पर्याप्त है । मुजफ्फर यह भली-भाँति समझ गया । इसलिए वह कूटनीति और छल-युद्ध से अपना बचाव करता रहा । छह बार सिक्ख सेनाओं को लौट जाना पड़ा । सातवीं बार जब सिक्खों ने मुलतान पर घेरा डाला तो उनकी सेना में हैजा फैल गया । तुरन्त इस पार या उस पार का निश्चय कर नलवा अपने सहयोगियों सहित किले में घुस गये और अन्ततः विजयी होकर लौटे ।

महाराज रणजीत सिंह ने हरिसिंह नलवा को एक बड़ी जागीर इनाम में दी । परन्तु नलवा की साधना स्थली तो युद्ध भूमि ही थी । १८१९ में नलवा काश्मीर के सूबेदार गवर्नर बने । इससे पूर्व वहाँ मुहम्मद जब्बार खाँ का राज्य था । जब्बार खाँ के शासन में हिन्दू जनता का जीवन हर घड़ी असुरक्षित और विपदा में रहता था । वह हिन्दुओं को पकड़-पकड़ कर झीलों और तलाबों में डुबो दिया करता था-केवल मनोरञ्जन के लिए ही उनकी बहू बेटियों को जब जी आये उठा मँगवाता और अपनी पशुता का शिकार बनाता । कुछ समझदार लोगों को जब यह पता चला कि हरिसिंह नलवा महाराज रणजीतसिंह के नेतृत्व में एक सशक्त संघराज्य स्थापित कर रहे हैं तो उन्होंने अपने प्रतिनिधि भेजे नलवा के पास । कश्मीरी हिन्दूओं की व्यथा सुनी न गयी नलवा से और वे महाराज की अनुमति से ३० हजार सिक्ख-सेनानियों को लेकर कश्मीर विजय के लिए चल दिये । सिख सेनाओं की उस समय इतनी धाक जमी हुई थी कि जब्बार खाँ सुनते ही भाग खड़ा हुआ ।

काश्मीर विजय के बाद जब नलवा को वहाँ का सूबेदार बनाया गया तो हिन्दु-मुसलमान दोनों ही वर्गों की जो भेदभाव रहित सेवा और व्यवस्था उन्होंने की उसे कश्मीरवासी बाद में भी याद करते रहे । १८२१ ई० में जब महाराज रणजीतसिंह ने उन्हें आगामी अभियान के लिए कश्मीर से बुलाया तो विदा करते समय वहाँ के लोग बिलख-बिलख कर रोने लगे । हरिसिंह नलवा ने आततायी राजाओं के राज्य तहस-नहस किये । उनके नेतृत्व में सिक्ख पेशावर तक पहुँचे ।

अंतिम समय नलवा बीमार पड़े थे तभी योजना बनी कि अगला किला पेशावर जीता जाय । सबसे उपयुक्त अवसर यही जान पड़ा । वैद्यों और हकीमों ने किसी से मिलना-जुलना तक बंद कर रखा था । परन्तु नलवा की ि

चिन्ता का कारण जितना अपना रोग नहीं था इतना था देश और धर्म को लग गया वह घुन । युद्ध कला के सफल पैंतरे चलाकर नलवा अपने सहयोगियों के साथ किले में घुस गये । विजयश्री निकट ही थी शत्रु की एक गोली आयी और नलवा का सीना छेद गयी । सिख सैनिकों को यह पता चला तो वे उन्हें सम्हालने के लिए दौड़े । नलवा के सीने में गोली लगी थी फिर भी वे घोड़े पर तन कर बैठ गये और अपने को बचाते हुए निकलने लगे । कुछ लोग उनके पीछे चलने लगे तो उन्होंने कड़क कर कहा-किला देखो !

उस समय भी जबकि उनकी देह निष्प्राण हो चुकी थी नलवा घोड़े पर तनकर बैठे हुए थे । वहीं युद्ध विराम हो गया और सिक्खों ने अपने वीर भाई को अन्तिम विदा दी । यह ३० अप्रैल, १८३७ की बात है ।

नर-केहरी हो तो नलवा जैसा

दस वर्ष का बालक एक दिन अपने गाँव में जयमल पत्ता की वीरगाथा का गीत सुन रहा था । गाने में इतना दर्द था कि सुकुमार बालक के अंतस्तल को पीड़ा से भर गया ।

वह गीत में इतना खो गया कि उसे समय स्थान तक का भान न रहा । वह अकबर के अन्याय का प्रतिकार लेने के लिये हुँकार कर उठा-"कहाँ है अकबर । मेरी कृपाण देना अभी उसको मातृभूमि को पददलित करने का मजा चखाता हूँ ।"

गाँव वालों ने बालक पकड़ कर झिंझोड़ा "क्या कहते हो ? क्या सपना देख रहे हो ?" तब उसे ज्ञात हुआ कि मैं गाना सुनकर उत्तेजित हो गया था । बालक के हृदय में जो पीड़ा उस गीत को सुनकर जागी थी वह फिर सोयी नहीं । दस वर्ष का बालक क्या करता उसकी बाल-बुद्धि में शत्रु के पंजों से अपने देश को छुड़ाने का कोई कारगर मार्ग दिखाई नहीं देता था । उसी पीड़ा ने उसे तपाकर कुन्दन बना दिया ।

अब बालक ने अपने आपको शक्ति सम्पन्न बनाना आरम्भ किया बिना शक्ति के अत्याचार का प्रतिकार करने की सोचना शेखचिल्ली का सपना ही था । बालक ने अपनी सामर्थ्य का विकास किया । शरीर को बलिष्ठ बनाया तलवार चलाने, घुड़सवारी करने तथा युद्ध कला में उसने पूरी निपुणता प्राप्त करली । सच है जब तक प्रयास नहीं किया जाता कुछ भी सम्भव नहीं होता पर जब प्रयास पूरे मनोयोग और सङ्कल्प के साथ किया जाता है तो सफलता की राह खुल जाती है । यही बालक आगे जाकर हरीसिंह नलवा के नाम से प्रसिद्ध हुआ । जिसके नाम से विदेशी आक्रमणकारी काँपते थे ।

युवावस्था जीवन का वसंत है । इसका सदुपयोग करने पर व्यक्ति बहुत कुछ कर जाता है । इस काल में पर्वतों का स्थान बदलने व नदी की राह मोड़ने जैसे असम्भव कार्य सम्भव बनाये जा सकते हैं । हरिसिंह ने इसका सदुपयोग किया । तेरह वर्ष की आयु में ही यह घर परिवार का सुख छोड़कर महाराजा रणजीत सिंह की सेना में भर्ती हो गया ।

हरिसिंह ने अपनी योग्यता के बलबूते महाराजा का विश्वास पा लिया । एक बार यह महाराजा के शिकार खेलने के कार्यक्रम में उनके साथ गया था । असावधान हरिसिंह पर शेर ने हमला कर दिया । हरिसिंह के पास शस्त्र निकालने का समय भी न था । हरिसिंह स्वयं भी शेर से कम साहसी न था । वह विचलित नहीं हुआ । उसने सिंह के जबड़े पकड़कर इतने जोर से दबाये कि वह तिलमिला उठा और पंजों से इसे चीरने को उद्यत हुआ पर हरिसिंह ने जबड़े नहीं छोड़े, इतने जोर से दबाए कि वह ठंडा हो गया ।

ऐसे समय यदि साहस से काम न लिया जाता तो मृत्यु तो होती ही साथ ही कायरता का कलंक भी लगता । उपहार में इसे सेनापति का पद मिला और संकटों से जूझने की अपार शक्ति भी मिली । इसी दिन इसको रणजीतसिंह ने नलवा (सिंह) की उपाधि दी ।

बचपन में रक्त में जो उबाल आया था, मातृभूमि को पद दलित और माँ-बहिनों के शील हरण का बदला चुकाने की सामर्थ्य अब उस बालक ने पाली थी । उसने सारा जीवन इन आततायियों से संघर्ष करने में बिताया । ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व उनके सामने उभारा कि वे इसके नाम से काँपने लगे ।

१८०७ में कसूर के किले पर नलवा के सेनापतित्व में आक्रमण किया गया । दस दिन तक तोपों की गोलाबारी से दुर्ग का बाल भी बाँका न हुआ । हरिसिंह ने देखा कि यों काम नहीं बनेगा । वह स्वयं मौत की पर्वाह न करके बरसते गोलों में दुर्ग की दीवार पर कुल्हाड़ी लेकर टूट पड़ा । पीछे सैनिक भी वैसा ही करने लगे । देखते-देखते बड़ा सा छेद हो गया । उसमें बारूद भरकर आग लगा दी । दीवार टूट गई । सिक्ख सेना को शानदार विजय मिली ।

कसूर के बाद मुलतान पर चढ़ाई की गई । इसमें नलवा बुरी तरह घायल होकर भी लड़ता रहा और विजयश्री वरण की । मुलतान का नवाब बड़ा ही धोखेबाज था । हार जाने पर हर्जाना देकर छूट जाता और फिर स्वतन्त्र हो जाता । इस प्रकार उसे सात बार इस सिंह ने हराया ।

नलवा ने गिन-गिनकर प्रतिशोध लिया । एक सुसंगठित स्वदेशी राज्य स्थापित करके आक्रमणकारियों को सदा के लिये भयभीत करने का काम इसने बड़ी कुशलता से किया ।

शक्ति का सदुपयोग करके वीरवर ने सदा के लिये अपना नाम अमर किया उसकी तलवार, बिजली की तरह चलती थी । इसके चलने से विनाश करने वालों को शिक्षा मिलती थी, नागरिक सुख की नींद सोते थे । मातृ-शक्ति का अपमान करने का साहस कोई नर-पशु नहीं कर पाता था ।

कश्मीर के सूबेदार के रूप में नलवा ने वहाँ के नागरिकों को इतना स्वस्थ व सुन्दर शासन दिया कि जब यह वहाँ से चला तो लोग रोने लगे । वहाँ अधिकाँश नागरिक मुसलमान थे । किसी को उसने धर्म परिवर्तन के लिये नहीं कहा । किसी की मजाल नहीं थी कि किसी माँ-बहन की ओर बुरी नजर से देखले । एक सच्चे क्षत्रिय के रूप में हरिसिंह नलवा ने बलवानों के सामने आदर्श प्रस्तुत किया ।

मिचनी के नवाब ने कामांध होकर रास्ते में जाती हुई एक डोली को लूट लिया और उसमें बैठी नवविवाहिता को अपनी वासना की भेंट चढ़ाने ही वाला था कि इसकी सूचना हरिसिंह को मिली । उसने नवाब पर आक्रमण करके उसे पकड़ लिया और तोप से उड़ा दिया ।

नलवा चाहता था कि व्यक्ति अपनी शक्ति और सामर्थ्य पर अंकुश रखे । उसे सन्मार्गगामी बनाए । पतन की राह पर न चलने दे । यदि कोई इस प्रकार के मार्ग पर चल पड़ा है तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति-सामर्थ्य बढ़ाकर उसे दण्ड दे ताकि भविष्य में कोई इस प्रकार का दुस्साहस न करे, समाज में अन्ध व्यवस्था न फैलाए ।

साहसी बुंचे

डॉ० एफ. बुंचे का नाम संसार के सभी विचारशील लोगों की आँखों के सामने उस समय आया जब उन्होंने अरबों और इसराइलियों के बीच चलने वाले युद्ध में मध्यस्थ का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न किया और लड़ाई की आग बुझाकर आशङ्काओं को सान्त्वना में बदल दिया ।

अमेरिकी प्रशासन में ये प्रथम नीग्रो थे जिन्होंने औपनिवेशिक मामलों में विशेषज्ञ का महत्त्वपूर्ण पद सम्भाला । सैनिक सूचना कार्यालय के बड़े पदाधिकारी रहे और विदेश-विभाग के सलाहकार नियुक्त हुए । सन् १९४९ में उनको अमेरिकी सरकार ने सहायक विदेश सचिव का पद लेने के लिए आमंत्रित किया पर वे निजी कारणों से उस समय उसे स्वीकार न कर सके ।

जिस प्रकार भारत में हरिजनों के प्रति ऊँच-नीच का भेद-भाव बरता जाता था वैसे ही अमेरिका में आमतौर से नीग्रो नस्ल के लोगों को गोरे लोग हेय दृष्टि से देखते है और उन्हें अपनी समानता के स्तर तक नहीं आने देते । कानून ने सुविधायें उन्हें दी है, पर व्यवहार में तो अभी भी उन पर बहुत थोड़ा अमल हो पाता है । कालेज में नीग्रो छात्रों के प्रवेश के प्रश्न को लेकर वहाँ अभी भी सत्याग्रह और प्रदर्शन करने पड़ते हैं । फिर जिस जमाने में डॉ० बुंचे को काम करना पड़ा वह भेदभाव की दृष्टि से और भी बुरा समय था । उनकी प्रगति के मार्ग हर प्रकार अवरुद्ध थे । फिर भी अपनी प्रतिभा-लगन और अध्यवसाय के बल पर कोई व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भी किस प्रकार प्रगति कर सकता है उसका उदाहरण उन्होंने उपस्थित कर ही दिया ।

डॉ० बुंचे १९०४ में एक अत्यन्त निर्धन परिवार में जन्मे । उनके पिता नाई का काम करके मुश्किल से रोटी कमाते थे । पितामह को तो गुलाम का जीवन बिताना पड़ा । अमेरिका में उस समय मनुष्यों को भी पशुओं की तरह खरीदा-बेचा जाता था और वैसा ही उनसे काम लिया जाता था । इन शोषकों के शिकार जो लाखों नीग्रो बने थे उन्हीं में से एक बुंचे के पितामह भी थे । ऐसे घर में जन्मा लड़का नाई के अतिरिक्त और कोई ऊँचा काम कर भी कैसे सकता था ।

दुर्भाग्य ने बुंचे को गुलाम और नाई का काम करने वाले पिछड़े वर्ग में अभावग्रस्त जन्म तो दिया ही, पर आगे भी अपनी खिलवाड़ बन्द न की । तेरह वर्ष की आयु होने से पहले माँ-बाप दोनों ही गुजर गये । बेचारा अनाथ बालक सर्वथा असहाय रह गया । पेट की ज्वाला को शान्त करना और जीवित रहना उसके लिए उन दिनों अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न थे । जीवन-मरण से युद्ध की घड़ी सामने आ पहुँचने पर भी बालक हारा नहीं, उसने अपना साहस समेटा और गली कूँचों में अखबार बेच कर किसी प्रकार रोटी भर के लिये पैसे कमाता रहा । कुछ और बड़ा हुआ तो छोटी-मोटी वैसी ही नौकरी करने लगा जैसी कि इस स्थिति के बच्चों को मिला करती है ।

बुंचे का दुर्भाग्य प्रचण्ड प्रकोप करके पीछे पड़ा था । अनेक कठिनाइयों का सामना उन्हें रोज ही करना पड़ता था । जो सोचते और करते उसमें आये दिन बाधाएँ उत्पन्न हो जातीं । फिर भी साहस का धनी यह नीग्रो युवक निराश न हुआ । आशा का संबल पकड़े घोर परिश्रम के सहारे उसने अपनी जीवन यात्रा जारी रखी । बचे समय में विद्याध्ययन जारी रखना उसका नित्य नियम था । ज्ञान की साधना को उसने अपना लक्ष्य माना और अध्ययन को प्राण प्रिय विषय मानकर उसके साधन जैसे भी जुट सकें जुटाता ही रहा ।

समय बहुत लगा पर एक दिन वह आ ही पहुँचा जब बुंचे ग्रेजुएट बने और इसके पश्चात् उन्होंने हारवार्ड विश्वविद्यालय से राजनीति में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करली । इतनी ऊँची शिक्षा प्राप्त करने वाले संसार के प्रथम नीग्रो थे डॉ० एफ. बुंचे ।

जातीय हीनता और काली चमड़ी के कारण पग-पग पर मिलने वाले उपहास और तिरस्कार की रत्ती भर भी परवाह न करते हुए उन्होंने अपना कार्य क्रम जारी रखा । समाज सेवा के लिये एक निस्पृह परमार्थी का जीवन बिताते रहे । अपने वर्ग और देश के लिये ही नहीं समस्त संसार के लिए उन्होंने सराहनीय सेवा कार्य किये उनकी चर्चा का न तो इन पंक्तियों में स्थान है और न उपयोग । महत्व कार्यों का नहीं उन गुणों का है जिनके कारण मनुष्य आगे बढ़ता है । बड़ी से बड़ी कठिनाइयों को परास्त करता हुआ अपने लिए प्रगति और आशा का मार्ग प्रशस्त करता है ।

परिस्थितियों का महत्व है या गुणों का ? इस प्रश्न का सही उत्तर देने के लिए डॉ० बुंचे का जीवन एक

चमचमाता उदाहरण है । उन्होंने असंख्य पिछड़े और अविकसित लोगों के सामने एक प्रेरणा के रूप में अपना जीवन रखा और मूक-वाणी से वह प्रतिपादित किया कि दुर्भाव का अस्तित्व आशा और अध्यवसाय की तुलना में नगण्य के बराबर है । साहस और सद्गुणों को अपनाकर कोई भी व्यक्ति विघ्न-बाधाओं को कुचलते हुए कितना भाग्य निर्माण कर सकता है ? इसका एक जीवित प्रमाण डॉ० बुंचे के जीवन को पढ़-समझकर सहज ही ज्ञात किया जा सकता है ।

सन् १९५० में उन्हें शान्ति प्रयत्नों के लिए विश्व-विख्यात नोबेल पुरस्कार मिला और उन्हें राष्ट्र-संघ के अण्डर सेक्रेटरी पद में सम्मिलित किया गया । बुंचे का जीवन-आदर्श सज्जनता, श्रमशीलता और आशा के रूप में निरन्तर बना रहा । एक क्षण के लिये उन्होंने इन विभूतियों को अपने से पृथक न होने दिया ।

न्यायशील नौशेरवाँ

पारसियों के इतिहास में नौशेरवाँ एक बहुत प्रसिद्ध और न्यायशील बादशाह हुआ है । उसके पिता 'कोबाद' के समय में फारस में 'मजदक' नाम के एक ढोंगी धर्म प्रचारक ने एक नया सम्प्रदाय अपने नाम से चलाया था । इसका सिद्धान्त था कि सब चीजें भगवान की हैं इससे किसी की चीज के ले लेने में कोई दोष नहीं है । मजदक बड़ा धूर्त था और उसने चालाकी से बादशाह को धोखे में डालकर अपना अनुयायी बना लिया । इसके फल स्वरूप राज्य में स्वार्थी और चालाक व्यक्तियों का जोर बढ़ गया और शासन व्यवस्था में बहुत सी खराबियाँ पैदा हो गईं ।

जब बादशाह 'कोबाद' की मृत्यु हुई तो सब सरदारों ने नौशेरवाँ से राजगद्दी पर बैठने को कहा । पर नौशेरवाँ शासन की अवस्था से असंतुष्ट था इसलिये उसने कहा-'मैं बादशाह बनना नहीं चाहता । इस समय राज्य में जैसी अँधेरगर्दी मची हुई है और लोग मनमाने काम कर रहे हैं, मैं उसे सहन नहीं कर सकता । इसके सुधार के लिये मुझे सख्ती करनी पड़ेगी और तब आप लोग बुरा मानेंगे । इसलिये यही अच्छा है कि आप किसी और को बादशाह बना लें ।'

सरदार-आपका कहना सच है कि राज्य की हालत खराब हो रही है और उसे सुधारने का उपाय न किया जायगा तो वह कुछ समय में नष्ट ही हो जायगा । इसलिये आप शासन भार ग्रहण करके खराबियों को दूर करने की व्यवस्था कीजिये । हम सब आपकी आज्ञा का पालन करेंगे ।

जब नौशेरवाँ बादशाह बन गया तो सबसे पहले उसने मजदक के अनुयायिओं पर पाबन्दी लगाने का निश्चय किया । पर मजदक तब तक राजगुरु की पदवी पर बैठा था और उसे इस बात का अहंकार था कि मेरे सामने कोई सर नहीं उठा सकता । एक दिन एक व्यक्ति रोता हुआ दरबार में आया और नौशेरवाँ से शिकायत की कि "कि एक चेले ने मेरी स्त्री को छीन लिया है और माँगने पर उलटी धमकी देता है । दुहाई है, मेरा न्याय किया जाय ।"

मजदक भी उस समय दरबार में उपस्थित था । नौशेरवाँ ने क्रोधपूर्वक कहा-"मजदक ! अब ऐसा अन्धेर अधिक समय तक नहीं चल सकता । इसी समय अपने चेले से इसकी स्त्री को वापस कराओ और अपने धर्म का प्रचार बन्द करो ।"

मजदक का अभिमान अभी दूर नहीं हुआ था । नौशेरवाँ की न्याययुक्त बात उसकी समझ में न आई और वह यह कहकर दरबार से चला गया कि "बादशाह को बाद के पुत्र को मुझे हुक्म देने का कोई अधिकार नहीं है ।" जब नौशेरवाँ ने देखा कि ये लोग सीधी तरह से न मानेंगे और सख्ती न की जायगी तो राज्य में विद्रोह खड़ा कर देंगे, तो उसने मजदक और उसके सब चेलों को तुरन्त पकड़ लेने की आज्ञा दी । उन सबको जेल में बन्द कर दिया गया और उन्होंने जिन लोगों की सम्पत्ति छीनी थी वह सब वापस करादी गई । मजदक को नौशेरवाँ ने प्राण दण्ड की आज्ञा दी, जिससे फिर कोई उसके शासन में अन्याय करने का साहस न करे ।

न्यायशील होने के साथ ही नौशेरवाँ दयालु भी बहुत था । इसके विषय में उसकी एक घटना प्रसिद्ध है कि उसने एक बहुत अच्छा ग्रंथ लिखा एक विद्वान ने, जो उससे मिलने को आया था, वह ग्रंथ देखा और उसमें कुछ अशुद्धियाँ बतलाई । नौशेरवाँ ने उसके बतलाये अनुसार उन अशुद्धियों को काटकर ठीक कर दिया । पर जब वह विद्वान चला गया तो उसने उसके बतलाये शब्दों को मिटा कर फिर पहले के शब्द ही लिख दिये । यह देखकर उसके एक मित्र को जो पास में बैठा सब हाल देख रहा था, बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उससे न रहा गया तो वह बादशाह से पूछ बैठा कि "यह आपने क्या किया ? अगर आप अपने शब्दों को ही ठीक समझते थे तो फिर विद्वान के सामने उनको काटने की क्या आवश्यकता थी ?"

नौशेरवाँ-मैं अच्छी तरह जानता था कि मैंने जो शब्द लिखे थे वे शुद्ध हैं । पर यदि उस समय विद्वान की बात न मानता तो उसके मन में दुःख होता । इसी कारण उस समय उसकी बात को स्वीकार कर लिया ।

एक बार रोम के बादशाह का राजदूत नौशेरवाँ की राजधानी में आया । वह महल की एक खिड़की के पास खड़ा होकर उसके नीचे लगे सुन्दर उपवन को देख रहा था । उसने देखा कि महल के चारों ओर बड़ा सुन्दर बाग लगा है, पर एक कोने में एक गन्दी सी झोंपड़ी बनी है । उसने पास ही खड़े हुये एक पारसी सरदार से इसका कारण पूछा तो मालूम हुआ कि जिस समय नौशेरवाँ इस महल को बनवाने लगा तो सब जमीन तो ठीक हो गई पर एक कोने में एक गरीब बुढ़िया की झोंपड़ी आ गई । जब राज्य कर्मचारियों के कहने से बुढ़िया ने झोंपड़ी खाली न

की तो स्वयं नौशेरवाँ ने जाकर उससे कहा कि बगीचे के बनने के लिये इस स्थान की आवश्यकता है, तू इसकी जितनी कीमत चाहे लेकर इसे बेच दे । पर जब वह बुढ़िया बेचने को राजी न हुई तो उससे कहा गया कि इस झोंपड़ी बजाय यहाँ एक सुन्दर मकान बना दिया जाय । पर इस पर भी बुढ़िया ने कहा कि यह झोंपड़ी मेरे परिवार वालों के स्मृति चिह्न की तरह है, मैं किसी प्रकार इसका नष्ट किया जाना सहन नहीं कर सकती । तब नौशेरवाँ ने यह कहकर कि चाहे मेरा महल अधूरा रह जाय, मैं जबर्दस्ती किसी की चीज पर कब्जा न करूँगा । इस झोंपड़ी को ज्यों का त्यों रहने दिया ।

रोम के राजदूत पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह कहने लगा कि अब तो इस झोंपड़ी के रहने से महल की सुन्दरता घटने के बजाय और बढ़ गई । महल तो कुछ वर्षों में पुराना और अन्त में खण्डहर हो ही जायगा, पर यह बुढ़िया की झोंपड़ी की कथा तो सदैव लोगों को सत्य और न्याय पर चलने की प्रेरणा देती रहेगी ।

यद्यपि अन्याय मूलक और अपहरणकारी होने के कारण नौशेरवाँ ने मजदक के सम्प्रदाय का उन्मूलन कर दिया था , पर वैसे वह सब धर्मों का आदर करता था । वह स्वयं पारसी धर्म को मानने वाला था और इसने उसका दूर-दूर तक प्रचार भी किया था, पर अपने राज्य में उसने ईसाई, यहूदी, हिन्दू सब मजहब वालों को स्वतंत्रता दे रखी थी । उसकी एक स्त्री ईसाई थी और वह महल में रहती हुई ईसाई धर्म का ही पालन करती थी । नौशेरवाँ ने बहुत सी संस्कृत की पुस्तकों का अनुवाद ईरान की भाषा में कराया था । एक बार रोम के बादशाह ने अपने देश के सात विद्वानों को किसी बात पर नाराज होकर देश निकाले का दण्ड दे दिया । वे आश्रय पाने के लिये नौशेरवाँ के पास आये । उसने उनको आश्रय ही नहीं दिया, वरन् यह देखकर कि उनके साथ अन्याय किया गया है, उसने रोम के बादशाह पर दबाव डाल कर उक्त दण्डाज्ञा को रद करा दिया ।

एक बार फारस में गीदड़ों की संख्या अधिक हो गई और उससे लोगों को तकलीफ होने लगी । नौशेरवाँ ने प्रधान गुरु को बुलाकर इसका कारण पूछा । उसने कहा कि "जब किसी देश में अन्याय होने लगता है तो गीदड़ बढ़ जाते हैं । तुम पता लगाओ कि तुम्हारे राज्य में कहीं अन्याय तो नहीं हो रहा है ।" नौशेरवाँ ने उसी समय इसकी जाँच करने के लिये सुयोग्य न्यायाधीशों की एक कमेटी नियुक्त की । उससे मालूम हुआ कि कितने ही प्रान्तीय शासक प्रजा पर अन्याय करते हैं । नौशेरवाँ ने उन सबको दण्ड देकर सर्वत्र न्याय की स्थापना की ।

नौशेरवाँ को, जो भी मिले उसी से कुछ न कुछ सीखने का स्वभाव हो गया था । अपने इस गुण के कारण ही उन्होंने अपने जीवन के स्वल्प काल में महत्त्वपूर्ण अनुभव अर्जित कर लिये थे ।

राजा नौशेरवाँ एक दिन वेष बदलकर कहीं जा रहे थे । मार्ग में उन्हें एक वृद्ध किसान मिला । किसान के बाल पक गये थे पर शरीर में जवानों जैसी चेतना विद्यमान थी । उसका रहस्य जानने की इच्छा से नौशेरवाँ ने पूछा- महानुभाव ! आपकी आयु कितनी होगी ?

वृद्ध ने मुस्कान भरी दृष्टि नौशेरवाँ पर डाली और हँसते हुये उत्तर दिया-"कुल ४ वर्ष ।" नौशेरवाँ ने सोचा बूढ़ा दिल्लगी कर रहा है पर सच-सच पूछने पर भी जब उसने ४ वर्ष ही आयु बताई तो उन्हें कुछ क्रोध आ गया । एक बार तो मन में आया कि उसे बता दूँ-"मैं साधारण व्यक्ति नहीं नौशेरवाँ हूँ ।" पर उन्होंने अपने विवेक को सम्भाला और विचार किया कि उत्तेजित हो उठने वाले व्यक्ति सच्चे जिज्ञासु नहीं हो सकते, किसी के ज्ञान का लाभ नहीं ले सकते, इसलिये उठे हुए क्रोध का उफान वहीं शान्त हो गया ।

अब नौशेरवाँ ने नये सिरे से पूछा-पितामह ! आपके बाल पक गये, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई लाठी लेकर चलते हैं मेरा अनुमान है आप ८० से कम के न होंगे फिर आप अपने को ४ वर्ष का कैसे बताते हैं ?

वृद्ध ने इस बार गम्भीर होकर कहा-आप ठीक कहते है मेरी आयु ८० वर्ष की है किन्तु मैंने ७६ वर्ष धन कमाने ब्याह शादी और बच्चे पैदा करने में बिताये, ऐसा जीवन तो कोई पशु भी जी सकता है, इसलिये उसे मैं मनुष्य की अपनी जिन्दगी नहीं किसी पशु की जिन्दगी मानता हूँ ।

इधर ४ वर्ष से समझ आई । अब मेरा मन ईश्वर उपासना, जप, तप, सेवा, सदाचार दया, करुणा, उदारता में लगा रहा है । इसलिये मैं अपने को ४ वर्ष का ही मानता हूँ । नौशेरवाँ वृद्ध का उत्तर सुनकर अति सन्तुष्ट हुये और प्रसन्नतापूर्वक अपने राजमहल लौटकर सादगी सेवा और सज्जनता का जीवन जीने लगे ।

'स्वतंत्रता या मृत्यु' के मंत्र दृष्टा-
पैट्रिक हेनरी

"जहाँ तक मेरा सवाल है मुझे आजादी चाहिए या फिर मौत" ये शब्द है अमेरिकन स्वतंत्रता संग्राम के क्रान्ति-दृष्टा पैट्रिक हेनरी के जिन्होंने अमेरिकी स्टेट्स को इंग्लैण्ड के औपनिवेशिक साम्राज्य से मुक्ति पाने के लिए उठ खड़े होने का आह्वान किया था ।

आज जिस देश को दुनिया का समृद्धतम देश माना जाता है वह कभी ब्रिटेन के आधीन एक उपनिवेश था । ब्रिटिश क्राउन के अधीन होने के कारण वहाँ की स्टेट्स अपने आंतरिक मामलों में ही स्वतंत्र थी बाहरी मामलों में उन्हें ग्रेट ब्रिटेन का ही मुँह जोहना पड़ता था । यह पराधीनता पैट्रिक हेनरी जैसे कुछ व्यक्तियों को असह्य थी । इन गिने-चुने लोगों ने वहाँ की जनता में ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिये तैयार किया ।

पैट्रिक हेनरी का जन्म १७३६ में वर्जीनिया प्रदेश में हुआ था जहाँ की मिट्टी और जलवायु तम्बाकू की खेती के लिये बहुत उपयुक्त है । आज उस प्रदेश में उगायी जाने वाली तम्बाकू की खेती कई अन्य देशों में भी होती है । उसे वर्जीनियन तम्बाकू कहा जाता है । इसमें धरती का क्या दोष यह तो मनुष्य की बुद्धि का फेर है कि वह उससे ऐसी नशीली वस्तुएँ उपजाता है नहीं तो वर्जीनिया ने हेनरी पैट्रिक जैसे देशभक्त को भी तो उपजाया था

उनके माता-पिता सम्पन्न कृषक थे । खेती से खूब आय होती थी पर श्रम भी कम नहीं करना पड़ता था । उन्हें तम्बाकू से बड़ी नफरत होती थी और उनके पिता तम्बाकू ही बोया करते थे क्योंकि वह अधिक आय देती थी । अत: उन्होंने खेती करने की बजाय पढ़-लिख कर बौद्धिक व्यवसाय करने का निश्चय किया ।

उन्होंने उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद अपनी स्टेट्स के न्यायालयों में वकालत करनी आरम्भ की । वे थोड़े ही दिनों में एक श्रेष्ठ वकील के रूप में प्रसिद्धि पा गये । वे ओजस्वी वक्ता भी थे । उन्होंने अपने को अपने धन्धे तक ही सीमित नहीं रखा वरन् जनजीवन की उस घुटन को भी महसूस किया जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के कारण उत्पन्न हुई थी । वकालत करने के पीछे भी उनका लक्ष्य अंधाधुन्ध पैसे कमाने का न होकर लोगों को न्याय दिलाना ही था । वे लोगों के मुकदमों की पैरवी करते-करते सारे अमेरिका के न्याय के लिये पैरवी करने के लिये प्रस्तुत हो गये ।

उत्तरी अमेरिका में बसे तेरह उपनिवेशों के निवासी लम्बे समय से ब्रिटेन के आधिपत्य से मुक्त होना चाहते थे हेनरी पैट्रिक जिस उपनिवेश-वर्जीनिया में रहते थे । वहाँ की जनता भी पराधीनता से मुक्ति पाने के लिये छटपटा रही थी । लेकिन सबसे बड़ी दिक्कत यह थी कि कोई भी उपनिवेश इतना शक्तिशाली नहीं था कि वह इस पराधीनता के जुए को उतार फेंके ।

पैट्रिक हेनरी ने अपने ओजस्वी भाषणों के द्वारा जनमानस में बसी हुई इस छटपटाहट को कर्मक्षेत्र में उतर पड़ने के लिये ललकारा । वर्जीनिया उपनिवेश में क्रान्ति का शंखनाद करने का श्रेय उन्हीं को जाता है । जनता को अन्याय के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिये तैयार करने में प्राणपण से जुटे तो परिणाम भी अच्छे सामने आये । शक्ति सम्पन्न ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आवाजें उठनी आरम्भ हुई । उनका यह वाक्य मुझे आजादी चाहिए या मौत यह वर्जीनिया के प्रत्येक व्यक्ति की आवाज बन गया ।

अन्याय और पराधीनता के विरुद्ध आक्रोश तो हर व्यक्ति के मन में होता है, उससे मुक्ति पाने के लिये छटपटाहट भी प्रत्येक हृदय में होती है पर सबको किसी एक सार्वजनिक हित के लिये सूत्रबद्ध करके, एक माला के रूप में पिरोने, उनका नेतृत्व करने का साहस विरले ही जुटा पाते हैं उन्हीं विरलों में से पैट्रिक हेनरी भी एक थे । उन्होंने अपने व्यवसाय की ओर से ध्यान हटाकर अपनी समूची शक्ति इसी स्वतंत्रता आन्दोलन के लिये नियोजित की ।

जन-क्रान्ति का जैसा उद्योग वर्जीनिया में पैट्रिक हेनरी कर रहे थे वैसा ही अन्य अमेरिकी उपनिवेशों के जन नायक कर रहे थे । एक अकेला उपनिवेश ब्रिटिश-शक्ति से लोहा लेने और अपने को उसकी पराधीनता से मुक्त करने में असमर्थ था सो इन जननायकों ने तेरहों उपनिवेशों को संघबद्ध होकर स्वतंत्रता संग्राम छेड़ने का निश्चय किया । १७७४ में सभी उपनिवेशों के जन नेताओं ने एक महाद्वीपीय सम्मेलन का आयोजन किया । इस सम्मेलन में उन्होंने एकजुट होकर इस पराधीनता के कलंक को धो डालने का दृढ़ निश्चय किया । सम्मेलन में वर्जीनिया का प्रतिनिधित्व पैट्रिक हेनरी ने किया ।

४ जुलाई, १७७६ के दिन तेरहों उपनिवेशों ने मिल कर संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थापना और उसकी स्वतंत्र प्रभुसत्ता की घोषणा की । यह दिन हेनरी जैसे देशभक्तों के सद्प्रयासों से ही देखने को मिला था । यद्यपि अमेरिका को स्वतंत्रता इस घोषणा के छह वर्ष बाद मिली पर सही अर्थों में देखा जाये तो उसका बीजारोपण वर्षों पूर्व हो चुका था ।

इस घोषणा के साथ ही इन तेरह उपनिवेशों ने तेरह राज्यों का रूप धारण कर लिया । ये सभी राज्य एक होकर जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्य से जूझ पड़े । छ वर्ष तक युद्ध चला और अन्त में अमेरिका की जनता की विजय हुई । अमेरिका स्वतंत्र देश बना । सभी राज्यों के प्रतिनिधियों की एक सभा फिलडेल्फिया में हुई, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान बनाया गया ।

स्वतंत्रता के संग्राम में पैट्रिक हेनरी ने वर्जीनिया राज्य का नेतृत्व किया पर जब स्वाधीनता मिली तो उन्होंने उस वर्जीनिया का गवर्नर अपने निकटतम सहयोगी को बनाया और वे स्वयं संसद सदस्य ही बने रहे । बाद में उन्हें वर्जीनिया का गवर्नर भी बनाया गया, पर यह सब जनता के प्रबल आग्रह पर ही हुआ । वे वर्षों तक वहाँ के गवर्नर रहे।

अपने समय में उन्होंने वर्जीनिया की जनता की बहुर्मुखी प्रगति के लिये पर्याप्त प्रयास किये । अपने राज्य के संविधान में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये । उस समय वर्जीनिया में जो आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक प्रगति हुई उसे आज भी याद किया जाता है और याद किया जाता है उनके उस व्यक्तित्व को ।

गवर्नर बन जाने पर भी वे सामान्य व्यक्ति से उसी प्रेम और आत्मीयता से मिलते थे जो आज के नेताओं में बहुत कम देखने को मिलती है । उन्हें सरकार की तरफ से जो गवर्नर निवास मिलने का प्रावधान था, वे उसमें कभी नहीं रहे वरन् अपने एक सामान्य से मकान में ही रहे । उनका रहन-सहन भी बहुत साधारण था । उन्हें जो वेतन मिलता था । उस वेतन का अधिकांश भाग वे ऐसे संस्थानों को दान दे दिया करते थे, जो लोकसेवा में लगे हुए थे ।

वे वर्षों तक वर्जीनिया के गवर्नर रहे पर कभी वे अपनी इच्छा से उस पद के लिये प्रत्याशी नहीं बने वरन् उनके दल के लोगों के आग्रह और प्रकारान्तर में जन आग्रह का सम्मान करने के लिये ही प्रत्याशी बने थे । गवर्नर पद को भी उन्होंने अपने देशवासियों की सेवा का एक अवसर मानकर ही ग्रहण किया था । उनकी कोई व्यक्तिगत एषणा इसके पीछे नहीं रही थी । १७९९ में जब उनका देहावसान हुआ तो वर्जीनिया के प्रत्येक व्यक्ति ने यह अनुभव किया कि उनका कोई स्वजन बिछुड़ गया है । हेनरी पैट्रिक की उदात्त देशभक्ति व राष्ट्रीयता की भावना अमेरिकावासियों के लिये ही नहीं विश्व के कई देश भक्तों की प्रेरणा-शक्ति बनी ।

कर्त्तव्यरत–वीर दुर्गादास

औरङ्गजेब के दरबार में जोधपुर के महाराज यशवन्त सिंह का प्रभाव बहुत बढ़ा हुआ था, उनकी वीरता और सत्य-निष्ठा के समक्ष सभी दरबारी सिर झुकाया करते थे । औरंगजेब को महाराज यशवन्त सिंह का यह प्रभाव सहन न होता था लेकिन कुछ कर सकने की उसकी हिम्मत न होती थी । वह महाराज जशवन्त सिंह से मन ही मन भयभीत रहता था । कायर कपट का सहारा लेता ही है । औरंगजेब ने भी लिया ।

औरंगजेब ने त्रिकोण चाल सोची वह यह कि यशवन्तसिंह को दरबार से बाहर रखकर लड़ाइयों में फँसाए रखा जाय । जिससे सम्पर्क में न रहने से दरबार में उनका प्रभाव स्वत: कम हो जायेगा दूसरे नितान्त युद्ध में लगे रहने से उनकी शक्ति कमजोर होगी और तब किसी न किसी लड़ाई में मारे ही जायेंगे । तीसरे उत्तराधिकारी नाबालिग होने से जोधपुर की गद्दी खाली हो जायगी जिसे मैं अपने अधिकार में ले लूँगा और राजकुमार अजीतसिंह को पालने के बहाने अपने पास रखकर ठिकाने लगवा दूँगा । हाय रे ! मनुष्य का स्वार्थ ! तू अपने आश्रयदाता को इस हद तक गिरा देता है कि वह मनुष्य से पिशाच तक बन जाता है । यही कारण है जो संसार के सत्पुरुष एक स्वर से तुझे दुत्कारते रहते हैं । तेरे वशीभूत होकर मनुष्य अन्यायपूर्वक जो कुछ संचय करता है वह सब एक दिन इसी धरती पर रह जाता है । यदि साथ कुछ जाता है तो उसका प्रभाव जो पाप बनकर नरक की ओर उसका नेतृत्व किया करता है ।

औरंगजेब ने अपनी दुरभिसंधि को कार्यान्वित किया और महाराज यशवन्तसिंह निरन्तर युद्धों में रत रहने लगे लेकिन तलवार का धनी वीर हर युद्ध में विजयी होता रहा । इससे उसका यश तथा प्रभाव और भी बढ़ गया । स्वार्थी औरंगजेब की चिन्ता और ईर्ष्या दोनों और बढ़ गई । अधम की विचार गति नीचे की ही ओर होती है । बादशाह विश्वासघात पर उतर आया । महाराज यशवन्तसिंह को काबुल की दुर्गम लड़ाई पर भेजकर उसके हमराह कुछ हत्यारे भी भेज दिये । काबुल के पठानों से बड़ा दुर्धर्ष संग्राम हुआ । विजय तो महाराज यशवन्तसिंह की ही हुई किन्तु इस बार वे बुरी तरह से घायल हो गये । पेशावर में जिस समय वे विश्राम कर रहे थे विश्वासघातियों ने छल से उन्हें मार डाला था । औरंगजेब ने चैन की साँस ली ।

महाराज यशवन्तसिंह के सरदारों में एक सरदार दुर्गादास भी थे । उन्होंने बादशाह की दुरभिसंधि समझ ली और जोधपुर के नाबालिग उत्तराधिकारी अजीतसिंह को लेकर निकल गये । दूसरे सरदारों ने समझाया कि किसी के दूसरे के उत्तराधिकार के लिये अपने पर संकट क्यों लेते हो ? बादशाह से मिल जाओ हो सकता है वह जोधपुर का शासन सूत्र तुम्हारे हाथों में देदे और तब हम सब सुख-चैन की जिन्दगी पा जायेंगे।

वीर दुर्गादास ने बातें सुनकर उन सबको धिक्कारा और कहा-''सुकाल में हम सब जिसकी छाया में विश्राम और सम्मान पाते रहे, आज दुष्काल में उसी के साथ विश्वासघात करने की सोचें । यह कहाँ की मनुष्यता है ? ऐसे अवसरवादी मनुष्य की आत्मा युग-युग तक नरक की ज्वाला में जला करती है । तुम लोग चाहो तो बादशाह के तलवे चाटकर सुख की जिन्दगी जी सकते हो किन्तु मैं तो राजकुमार अजीतसिंह की रक्षा में उसे लिये जंगलों और पहाड़ों पर मारा-मारा फिरूँगा और जोधपुर को बादशाह के हाथों में जाने से बचाऊँगा और इसी कर्त्तव्य की पूर्ति में अपना सारा जीवन लगा दूँगा ।'' सभी ने दुर्गादास की वाणी में सार देखा और उसके साथ हो लिये । अन्त में तब ही संन्यास लेकर काशी गए जब स्वाधीन अधिकारों सहित अजीतसिंह को जोधपुर की गद्दी पर अभिषिक्त कर दिया ।

संघर्ष, पुरुषार्थ और श्रम के प्रतीक–देवजी भीमजी

कोचीन के भिक्कू मुरलीधर नामक एक प्रख्यात और उदारमना व्यापारी के पास एक दस वर्षीय बालक आया । शोचनीय आर्थिक स्थिति और इस अबोध आयु में ही सिर से पिता का साया उठ जाने के कारण जीवनयापन के लिए कोई काम ढूँढ़ना अनिवार्य था । व्यापारी को बालक ने सारी स्थिति अपनी टूटी-फूटी शब्दावली में सुनाई । मुरलीधर ने द्रवित होकर उसे अपने यहाँ आश्रय दिया ।

बालक वर्णमाला और अक्षरों का थोड़ा सा ज्ञान रखता था । इसी पूँजी या क्षमता को अभ्यास द्वारा थोड़ा बढ़ाया और उसी व्यापारी के अधीन रहकर बहीखातों का काम सीख लिया और कुछ दिनों बाद कोचीन के ही एक और व्यवसायी के यहाँ लिखा-पढ़ी की नौकरी कर ली ।

यह असहाय बालक ही अध्यवसाय, परिश्रम और ईमानदारी के बल पर देवजी भीमजी के नाम से बहुत बड़ा उद्योगपति बन गया ।

सामान्य से भी बदतर असहाय स्थिति से ऊपर उठने वाले उदाहरण बहुत कम भी दीखते हैं और बहुत अधिक

सफल भी बहुत कम इसलिए कि परिस्थितियों में लोग साहस और धैर्य छोड़कर निराश और मृत जीवन जीने लगते हैं तथा जो धैर्य और प्रयत्न को अंगीकार कर लेते हैं उनके लिए वे ही परिस्थितियाँ वरदान सिद्ध होती हैं ।

देवजी भीमजी-दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों में से ही थे जिन्होंने अपने पुरुषार्थ के बल पर दुर्दैव की चुनौती को वरदान में परिणित कर लिया । लगभग पच्चीस वर्ष तक उन्होंने उक्त व्यापारी के यहाँ काम किया और अति सादगी पूर्ण जीवन बिताकर दो हजार रुपये की पूँजी जमा की । उनकी योग्यता देखकर दो अन्य व्यापारियों ने कपड़े के व्यवसाय में अपना साझीदार बना लिया । भिक्कू मुरलीधर उनका पूर्ववर्ती स्वामी सदैव उनका सहायक रहा । इसका कारण उनका विनम्र व्यवहार और ईमानदारी ही थी ।

तीन वर्ष तक कपड़े का व्यवसाय नुकसान देता रहा । व्यापारी क्षेत्र में कदम रखते ही इतनी अल्पावधि में घाटा उठाकर अपनी सारी जमा पूँजी गँवाकर भी निराश नहीं हुए । उनकी साझीदारी खत्म हो गयी और तीनों व्यक्ति अलग-अलग हो गये ।

देवजी भीमजी अपने पूर्व स्वामी भिक्कू मुरलीधर के पास सलाह लेने पहुँचे । मुरलीधर ने हार्दिक सहानुभूति दर्शायी और उनकी मदद की तथा नारियल के रेशों का व्यापार करने की सलाह दी । व्यापार के मूल सिद्धान्तों पर कायम रहते हुए कम मुनाफ़े पर ही अच्छा माल देने के कारण उनका धन्धा चल निकला और वे समृद्ध होते गये । १८६० में उन्होंने अपने कार्यक्रम का विस्तार किया और लेखन सामग्री तथा सोने, चाँदी का व्यवसाय भी शुरू कर दिया । अपने व्यवहार में सत्यनिष्ठ रहने के कारण केरल के सबसे प्रसिद्ध व्यापारी बन गए ।

अपने व्यावसायिक जीवन में निरन्तर उन्नत होने के साथ ही साथ उनमें समाजसेवा की रुचि भी विकसित होने लगी । उन्होंने व्यापारियों और धनी लोगों के लिए एक अत्योत्तम आदर्श रखा । धन-सम्पदा जब आवश्यकता से अधिक आने लगती है तो समझना चाहिए कि परमात्मा की लक्ष्मी की प्रसन्नता का लाभ इसलिए मिल रहा है कि अन्य जरूरतमन्द लोगों के लिए उसका उपयोग किया जाय । उपार्जन, शक्ति भर किया जाना चाहिए परन्तु उसे व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिए उपयोग में न लाकर अन्य औरों के लिए काम में लाना चाहिए । देवजी भीमजी अपनी बचपन की स्थिति को कभी भी न भुला सके । वे सदैव याद रखते कि एक अकिञ्चन स्थिति से ऊपर उठकर वे धनपति बने हैं । परमात्मा ने उन्हें इस काम के लिए इतना सम्पन्न बनाया है कि वे अपने जैसे अन्य दीनजनों की सेवा कर सकें ।

एक बार जब वे किसी कारणवश दूसरे प्रान्त में गए तो वहाँ एक प्रेस में पुस्तकें छपती हुई देखकर मन में सोचा कि केरल में तो अभी तक इस प्रकार का उद्योग किसी ने स्थापित नहीं किया है । क्यों न इस व्यवस्था को हाथ में लिया जाय ताकि सैकड़ों लोगों के लिए रोजगार की व्यवस्था हो सके और प्रेस के माध्यम से विशाल मात्रा में सामाजिक और धार्मिक साहित्य का प्रचार किया जा सके ताकि शिक्षित लोगों की मानसिक क्षुधा भी तृप्त हो सके । ग्रामीण तथा अर्ध-शिक्षित लोग जो अपनी धर्म-वृत्ति को तुष्ट करने के लिए बड़ी कठिनाई से धर्म-ग्रंथ जुटाकर उनका रसपान करते हैं-कि समस्याओं का आसान हल प्रस्तुत किया जा सके । केरल की मलयालम भाषा में धार्मिक पुस्तकें नितान्त अनुपलब्ध थीं फलस्वरूप पेशेवर पण्डित लोग धर्म ग्रन्थों का अधकचरा अनुवाद कर निर्धन ग्रामीणों का और भी शोषण करते ।

१८६५ में देवजी ने वेरी में लिथोग्राफिक पद्धति का प्रेस 'केरल मित्रम्' प्रेस के नाम से स्थापित किया । वहाँ से वे धार्मिक साहित्य के साथ-साथ ही अन्य बहुत सी महत्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित करने लगे । जिससे केरल निवासियों को प्रकाशन जगत् की गतिविधियों से परिचित होने तथा दुनिया की गति के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने का अवसर तथा प्रेरणा मिली ।

प्रेस खुलने के कुछ ही महीने बाद कोचीन सरकार ने उन्हें नोटिस दिया और प्रकाशन को सेन्सर लगा दिया । देवजी ने यह सेन्सर हटा लेने की प्रार्थना की परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला तो उन्होंने सेन्सर की अवहेलना कर साहित्य छापना आरम्भ कर दिया । फलस्वरूप सरकार ने आज्ञा न मानने के अपराध में प्रेस को सीलबन्द कर दिया । देवजी ने रेजीडेण्ट से अपील की । काम बन गया और प्रेस को सेन्सर मुक्त कर दिया गया ।

श्री देवजी ने तीन ईसाई सज्जनों की सहायता से एक और प्रेस खरीदकर-वेस्टर्न स्टार नाम का समाचार पत्र आरम्भ किया ।

उन्होंने अन्य अंगों की सहायता के लिए औद्योगिक कार्यक्रमों के साथ ही साथ दूसरे प्रभावशाली कदम भी उठाए । 'आचार संरक्षण कम्पनी' नाम की एक संस्था का गठन कर मकानहीन लोगों के लिए बहुत सी जमीन खरीद कर उनके नाम पट्टे कर दी और उन्हें रोजगार धन्धे से लगाया ।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सारी चल अचल सम्पत्ति 'देवजी भीमजी ट्रस्ट'-के नाम से एक लोकोपकारी संस्था का निर्माण कर उसे सौंप दी । उनका जीवन बहुत ही सादा था और ऐसे सादगीपूर्ण निर्वाह के बाद जो कुछ भी बचा उसे समाज को सौंप देने का अनुपम उदाहरण लोगों के सामने रखा ।

अपनी वसीयत करने के एक सप्ताह बाद ही उनका देहान्त हो गया । परन्तु जो लोग उनके जीवन से प्रभावित थे, उनके हृदय में वे सदैव जीवित रहे हैं । उनका चरित्र जन-जन को प्रेरणा देता रहेगा कि-आदमी साधारण और असहाय स्थिति से संघर्ष, साहस और सेवा बल पर किस प्रकार ऊपर उठ सकता है और कैसे समाज की-ईश्वर की क्रियात्मक पूजा कर सकता है ?

जिन्होंने सोते कुमायूँ को जगाया-

बद्रीदत्त वैष्णव

देश भर में स्वतन्त्रता पाने के लिए जन आन्दोलन और क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चल रही थीं पर बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के आरम्भ तक कुमायूँ का पर्वतीय आँचल इस हवा से अछूता था । इस क्षेत्र के भोले-भाले पर्वत पुत्रों को अपने जीवन की सामान्य आवश्यकताओं से ध्यान हटाकर देश व समाज के लिये कुछ करने की सुध नहीं थी । समय की हवा से अछूते इस क्षेत्र में क्रान्ति, असहयोग व समाज सुधार की ज्वाला सुलगाने का श्रेय श्री बद्रीदत्त वैष्णव को जाता है जो १९२१ के असहयोग आन्दोलन में कुमायूँ क्षेत्र के एकमात्र मिलिट्री पेंशनर थे ।

अल्मोड़ा से बाईस मील दूर, गाँव तोला के एक धर्म भीरू ब्राह्मण परिवार में १८७९ में जन्मे बद्रीदत्त वैष्णव को अपने पिता नारायणदास वैष्णव के हाथों अन्धविश्वास और धर्मभीरुता का जो दुर्वह दण्ड भोगना पड़ा इसकी कहानी बड़ी दुःखपूर्ण है । सन्त तुलसीदास की तरह उन्हें भी परित्यक्त बालक का जीवन जीना पड़ा था ।

ग्राम के जाने माने ज्योतिषी जिनके लिये अपने पोथी पत्रे एक तरह से खेत-खलिहान थे और अपने ज्योतिष सम्बन्धी मनगढ़न्त दाँव-पेच उसमें उगने वाली फसलने कुछ ग्रह शान्ति आदि के लालच से अश्लेषा नक्षत्रोत्पन्न बालक बद्रीदत्त के माता-पिता को बताया कि ऐसे समय में पैदा होने वाला बालक माता-पिता की मृत्यु का कारण बनता है ।

नारायण दास के दो पुत्र पहले ही जीवित थे सो वंश न चलने या बालक के प्रति विशेष मोह-माया होने का प्रश्न ही नहीं था और आगे भी सन्तान होने की सम्भावना भी समाप्त नहीं हुई थी, अतः उन्होंने इस तथाकथित अनिष्टकारी पुत्र का त्याग कर देना ही ठीक समझा । उन्होंने अपने पुत्र को थोड़े से धन के बदले एक पुरोहित को बेच दिया ।

इस अन्धविश्वास को कहाँ तक रोया जाय । इसने जितना अनिष्ट इस हिन्दू समाज का किया है उतना तो विदेशी-विधर्मी आक्रमणकारियों ने भी नहीं किया । हिन्दू समाज के लिए ही नहीं अन्धविश्वास तो हर धर्मावलम्बियों के लिये घातक सिद्ध हुआ है और हो रहा है । पुत्र अश्लेषा नक्षत्र में पैदा हुआ या धनिष्ठा में, इससे कोई अधिक अन्तर पड़ने वाला नहीं है । भला नक्षत्रों को किसी मनुष्य से क्या दुश्मनी हो सकती है और पृथ्वी से करोड़ों प्रकाश वर्ष दूर स्थित रहकर वे किसी पृथ्वीवासी का क्या अनिष्ट कर सकते हैं । किन्तु जो लोग इस अन्ध विश्वास के पीछे बैठे-बैठे खाना चाहते हैं । वे भला कब मानते हैं । उनकी मक्कारी का फल इस बालक को भोगना पड़ा ।

पुरोहित के घर बेच दिये जाने पर भी बालक बद्रीदत्त के दुर्भाग्य ने उसका पीछा नहीं छोड़ा । उन्हें अपने पास रखने के बाद ही पुरोहिताइन ने एक पुत्र को जन्म दे दिया । सन्तान न होने के कारण पुरोहित ने पराये बालक को अपनाया था पर अब अपना स्वयं का पुत्र हो जाने के बाद उन्हें पराये बालक को अपने पास रखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई और उन्हें पुनः पिता को सौंप दिया गया ।

माता-पिता और सन्तान के बीच अन्धविश्वास ने जो लक्ष्मण रेखा खींच दी थी उसे उनके माता-पिता कभी लाँघ नहीं पाये । उन्हें न माँ का स्नेह मिला, न पिता का दुलार । यों ही उपेक्षा सहते हुए वे बड़े हुए । उन्हें पढ़ने के लिए स्कूल नहीं भेजा गया ।

पग-पग पर उपेक्षा व तिरस्कार पाने के कारण बालक बद्रीदत्त का आत्म-सम्मान कराह उठा । उसने अपनी आन्तरिक चेतना से प्रेरणा पाकर एक दिन घर छोड़ दिया । कुछ नेपाली तीर्थयात्री काशी जा रहे थे । बालक ने सुन रखा था कि काशी शिक्षा व ज्ञान का केन्द्र है । अतः उन्होंने वहीं जाकर पढ़-लिखकर विद्वान बनने का निश्चय कर लिया ।

उन्होंने सोचा था कि कुछ योग्यता प्राप्त कर लेने के बाद उन्हें माता-पिता का प्यार मिल जायगा । यदि नहीं भी मिले तो वे अपना जीवन तो बना सकेंगे । जिस बालक को परिवार वालों को सहयोग नहीं मिला पर जिसने अपनी सहायता स्वयं करने का निश्चय कर लिया, उसका बनना सुनिश्चित सा हो जाता है । किन्तु इस ढंग का साहस थोड़े से ही व्यक्ति दिखाते हैं बाकी अधिकांश तो कुण्ठित होकर ही रह जाते हैं ।

बचपन में उन्होंने जो तिरस्कार व कष्ट-कठिनाइयाँ सही थीं उससे वे कष्टसहिष्णु हो गये थे तथा स्वयं अपनी राह बनाने की क्षमता पा गये थे । काशी में उन्होंने चार पाँच वर्ष तक संस्कृत का अध्ययन किया, जिससे उनका ज्ञान बढ़ा और जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाने में सहायता मिली ।

वाराणसी में जब प्लेग का प्रकोप हुआ तो वह अपने कुछ नेपाली सहपाठियों के काफिले के साथ अपने गाँव लौट आये । उन्होंने सोचा था चार-पाँच वर्ष के वियोग से माता-पिता के हृदय में सोया वात्सल्य जाग पड़ेगा तथा अपने शिक्षित और स्वस्थ पुत्र को देखकर वे हर्षित हो उठेंगे । किन्तु उनकी आशा के विपरीत उनके पिता ने अपने मरियल पुत्र को हृष्ट-पुष्ट दशा में लौटा देखकर उसे मूर्तियाँ चुराने वाले गिरोह का सदस्य समझ लिया तथा और भी उपेक्षा का व्यवहार किया । बद्रीदत्त के स्वाभिमान पर यह एक और चोट थी । वे इस चोट से तिलमिला उठे ।

उस बालक के मन में उस समाज के प्रति कितना आक्रोश उपजा होगा जिसे उसके माता-पिता ने एक ज्योतिषी की बेसिर-पैर की बातों पर विश्वास करके एक पुरोहित के हाथ बेच दिया, पुरोहित ने भी उसे तभी तक

अपनाया हो जब तक उसके कोई पुत्र उत्पन्न न हो गया हो, ऐसे स्वार्थी समाज के प्रति उसके मन में आक्रोश होना अस्वाभाविक नहीं होता किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उसी व्यक्ति ने अपने चार छोटे भाइयों को अपने खर्चे से पढ़ा-लिखाकर काम धन्धे से लगाया आगे चलकर उसने उसी समाज के हित के लिये अपने प्राणों की बाजी लगादी, जिसे उसने पग-पग पर दुत्कारा था। उस समाज से उसने घृणा नहीं की वरन् उसमें फैली उन कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों और विकृतियों से जूझना आरम्भ किया जो उन्हें दुःख देने का कारण बनी थीं।

इसका कारण उनका स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे क्रान्तिकारी, धर्म-सुधारक, समाज सुधारक से साक्षात्कार होना व उनके उपदेश से प्रभावित होना था। स्वामी जी जब वेदोक्त सिद्धान्तों का प्रचार करने वहाँ पधारे तब उन्होंने अपने मन की बात स्वामी जी को बतायी। संक्षेप में परिवार और समाज द्वारा मिले तिरस्कार का वर्णन भी उन्होंने किया। इस पर स्वामी जी ने उन्हें बताया कि जो कुछ तुम्हें समाज ने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में अनुदान दिया हैं वह हिमालय उसकी तुलना में यह तिरस्कार राई सदृश्य भी नहीं है। अतः उन अनुदानों को देखो जो तुम्हें मिले हैं। तिरस्कार को देखोगे तुम अपना भी अहित करोगे और समाज का भी। समाज के अनुदानों को पहले चुका लो, स्वामी जी के इस प्रकार के निर्देश ने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी।

वे बचपन में माता-पिता की रुखाई से त्रस्त हो आक्रोश में भरकर ब्रिटिश सेना में भर्ती हो गये थे। जब वे सेना में भर्ती हुए उन दिनों कुमायूँनी ब्राह्मणों की भर्ती बन्द थी तो वे वीरसिंह के छद्म क्षेत्रीय नाम से सेना में भर्ती हो गये।

सैनिक जीवन में उन्हें रंगून, माण्डले, लास्यो, छिदविन तथा मौलिन आदि छावनियों में रहना पड़ा था। वे अपनी सूझबूझ एवं कर्तव्य परायणता के कारण सामान्य सिपाही से फर्स्ट ग्रेड सिंगनलर पद तक पहुँच गये।

स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वे अब तक केवल पशु धर्म ही पाल रहे थे, अपने ही लिये जी रहे थे जो मनुष्य जैसे प्राणी की गरिमा के लिये उपयुक्त नहीं है। उन्हें मानव-धर्म पालना चाहिए, अपने लिये ही नहीं समाज के लिये जीना चाहिए। अपने सुख का ही नहीं समाज के सुख का भी ख्याल रखना चाहिए।

इसी दृष्टि को पाकर वे छुट्टियों में घर आये और अपने दो छोटे भाइयों को अपने साथ बर्मा ले गये। उन्हें पढ़ा-लिखाकर काम पर लगा दिया। वे स्वामी दयानन्द के सुधारवादी आन्दोलन से बहुत प्रभावित हुए थे। यदि इस प्रकार धार्मिक व सामाजिक रूढ़ियों व अन्धविश्वास को समाप्त किया जा सके तो पीछे आने वाली पीढ़ियों को उनका शिकार न होना पड़े। यह सोचकर वे स्वामी जी के बताये अनुसार समाज सुधार की प्रवृत्तियों का प्रचार प्रसार करने लगे। सेना की नौकरी करते हुए आंशिक रूप से और बाद में पूर्णकालिक रूप से वे इस कार्य में लगे रहे।

सेना की नौकरी से मुक्त होते ही उन्होंने धार्मिक पाखण्ड और अन्धविश्वास को मिटाने, सामाजिक कुरीतियों का कचरा जन मानस के मस्तिष्क से बुहारने के लिये अपने गाँव आ गये और धोली में मकान बनाकर रहने लगे। यहीं से उनका ध्येय समर्पित जीवन आरम्भ हुआ। वे गाँव-गाँव जाकर स्वामी जी के बताये हुए सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। उन्होंने अछूतों और महिलाओं के साथ किये जाने वाले अन्याय का खुलकर विरोध किया। उनके इस प्रचार से अन्धविश्वासी जनता व पाखण्डी लोग नाराज हुए किन्तु विवेकशील और नवयुवक उनका साथ देने लगे। इस प्रकार उनका सुधार कार्य चल निकला। ग्राम-ग्राम में एक विचार से प्रेरित होकर लोग शिक्षा व ज्ञान का प्रचार-प्रसार करने लगे। इस कार्य में श्री वैष्णव की भूमिका नायक जैसी रही।

सामाजिक कुरीतियों से जनता को मुक्त कराने के साथ-साथ उन्होंने अँग्रेजी शासन का भी विरोध किया, क्योंकि बिना राजनैतिक स्वतन्त्रता पाये राष्ट्र का सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं था। स्वयं उनके मार्ग-दर्शक स्वामी दयानन्द स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे।

सत्याग्रह और क्रान्तिकारी आन्दोलन की चिनगारियाँ उन दिनों देश में यत्र-तत्र फूट रही थीं। वैसी ही एक चिंगारी उन्होंने अपने क्षेत्र में भी पैदा की। अँग्रेजों द्वारा प्रदेश की जनता पर लादी गयी 'कुली प्रथा' से मुक्ति पाने के लिये उन्होंने प्रबल जन आन्दोलन छेड़ा। लोग कहते हैं कि फौज का सिपाही व ताँगे का घोड़ा दूसरा कोई काम नहीं कर सकते, पर उन्होंने इस उक्ति को निराधार सिद्ध कर दिखाया। उन्होंने जनहित का बहुत बड़ा काम किया।

जन आन्दोलन प्रायः उसी स्थिति में गति पकड़ते हैं जब उसके द्वारा जनता की किसी समस्या का समाधान होता हो। ग्रामीण और राजनैतिक चेतनारहित क्षेत्र में विशुद्ध रूप से देश की स्वतन्त्रता को लेकर एकदम कोई आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाना सम्भव नहीं होता है। इस बात को बद्रीदत्त वैष्णव भली-भाँति जानते थे अतः उन्होंने आन्दोलन का प्रारम्भिक चरण ऐसा रखा जिसमें हर व्यक्ति सम्मिलित हो सके, सहयोग दे सके।

उनके द्वारा संचालित इस आन्दोलन को देखकर अँग्रेज पदाधिकारी बौखला उठे। उन्होंने श्री वैष्णव पर राजद्रोह का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। वे १९२१ में पहली बार इस आन्दोलन के सिलसिले में गिरफ्तार किये गये थे। अल्मोड़ा की जिला अदालत में उन पर मुकदमा चलाया गया। उनके भाई मोतीराम भी इस आन्दोलन में उनके साथ थे। दोनों भाइयों को एक-एक वर्ष के कारावास की सजा दी गयी।

वे बरेली तथा फरीदाबाद जेल में रखे गये। उनके साथ प्रसिद्ध सत्याग्रही पं. बद्रीदत्त पाण्डे भी रहे थे। उन्होंने

अपनी पुस्तक में वैष्णव जी की वीरता व साहस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है ।

शरीर तो पहले ही वृद्ध और जर्जर हो चुका था । जेल की कठोर यन्त्रणा ने उसे और भी नकारा कर दिया पर उनकी उमंगें अभी भी नव-युवकों सी थीं । जेल से बाहर निकल कर वे पुनः जनजागरण में लग गये ताकि देश को शीघ्र विदेशी शासन से मुक्ति मिल सके । स्वतन्त्रता और समाज सुधार के क्षेत्र में उन्होंने अपनी आयु को देखते हुए जो कार्य किया है वह वृद्धों के लिये सीख और युवकों के लिये चुनौती जैसा है ।

उन्होंने अकेले ही इस आन्दोलन में भाग नहीं लिया था । वे स्वयं ही देशभक्त नहीं बने थे वरन् अपने परिवार के सदस्यों ने भी उनके चिह्नों पर चलना अपना गौरव समझा था । उनके पुत्र भी कर्म क्षेत्र में आ कूदे थे । १९४० के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के लिये उन्होंने अपना नाम महात्मा जी के पास भेजा था पर उनके स्वास्थ्य और आयु को देखते हुए उन्हें आज्ञा नहीं मिली । आज्ञा मिली उनके पुत्र विद्याधर वैष्णव को । विद्याधर वैष्णव ने अपने पिता के स्थान पर 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में भी भाग लिया । विद्याधर को इस आन्दोलन में भाग लेने के कारण पाँच वर्ष का कारावास भोगना पड़ा तथा उनके परिवार की सारी सम्पत्ति कुर्क करके नीलाम कर दी गयी । इस प्रकार पं. बद्रीदत्त वैष्णव ने अपनी मातृभूमि के लिये सर्वस्व समर्पित कर दिया ।

पुत्र जेल काट रहा था और वृद्ध अशक्त पिता जाने किस शक्ति के सहारे घर-घर जाकर आजादी का अलख जगा रहा था । उन बूढ़ी हड्डियों में जाने कहाँ से इतनी ताकत आ गयी थी कि वे घर-घर, गाँव-गाँव जाकर लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये विदेशी हुकूमत से टकरा जाने का आह्वान कर रहे थे । अँग्रेज सरकार ने उन्हें बन्दी बनाना चाहा पर उसके वृद्ध शरीर और जर्जर स्वास्थ्य को देखते हुए पकड़ कर छोड़ दिया गया । गाँधी जी की विदेशी शिष्या सरलाबेन ने उन्हें कौनसी व चनोदा के पास रखे गये सत्याग्रही परिवारों की देख-रेख का भार सौंप दिया ।

राष्ट्रीय स्वाभिमान के रक्षक–
बालाजी विश्वनाथ

पश्चिमी घाट के जंजीराबाद नामक प्रदेश का अधिपति कासिम अपनी बहु संख्यक पर असंगठित हिन्दू प्रजा पर मनमाने अत्याचार किया करता था । उसकी इस क्रूरता का प्रेरक दिल्ली पति औरंगजेब था । कासिम छत्रपति शिवाजी के समय से ही हिन्दुओं की अन्याय के विरुद्ध उठती हुई शक्ति को कुचलने का कुप्रयास करता रहता था ।

महाराष्ट्र में उन दिनों जागरण की लहर उठ रही थी । कान्होजी आँग्रे नामक एक महाराष्ट्रियन योद्धा ने थोड़े से नवयुवकों की सेना गठित कर तट प्रदेश पर अधिकार कर लिया । उसके अपने युद्ध पोतों और जाँबाज साथियों के कारण कासिम की नींद-हराम हो गयी थी । कान्होजी आँग्रे की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी । वह कासिम के अपनी हिन्दू प्रजा पर अत्याचार करने के मार्ग में बाधा बनता जा रहा था ।

कासिम और कान्होजी आँग्रे के बीच चलने वाले संघर्ष में चिपलून जिले के मीठ बन्दर नामक स्थान के नमक व्यापार के ठेकेदार और जिले के कर उगाहने के ठेकेदार युवक बालाजी ने अपने स्वधर्मी और देश के हित में संघर्ष करने वाले कान्होजी आँग्रे का पक्ष लिया । कासिम को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बहुत कुपित हुआ उसने बालाजी के भाई जनार्दन को हाथ पाँव बाँध कर संदूक में बन्द करके जीवित सागर में बहा दिया ।

ऐसी स्थिति में बालाजी का उस क्षेत्र में रहना सम्भव नहीं था । अतः वह सपरिवार वहाँ से भाग चले । यही व्यक्ति जो एक दिन कासिम के भय से अपनी प्राण प्रिय जन्म भूमि को छोड़ने को विवश हुआ था, आगे चलकर अपनी कार्य कुशलता, योग्यता, सूझबूझ तथा राष्ट्र निष्ठा के कारण महाराष्ट्र का यशस्वी पेशवा बना और उसने अपनी जन्म भूमि छोड़ते समय कासिम के अत्याचार से अपने क्षेत्र जनों को मुक्ति दिलाने की जो प्रतीक्षा की थी उसे पूरी करने में सफल हुआ ।

बालाजी का घराना जंजीराबाद के सिद्धी सरदार की आधीनता में अपने ग्राम श्री वर्द्धन पट्ट के परगने की मालगुजारी वसूल करने का काम किया करता था । बालाजी के पिता विश्वनाथ भट्ट का इस तहसीलदारी के कारण क्षेत्र में अच्छा मान था । पिता की मृत्यु के पश्चात बालाजी के ज्येष्ठ भ्राता जनार्दन भट्ट इस कार्य को करते थे । महत्वाकांक्षी बालाजी ने भाई के आश्रय में रहकर पैतृक व्यवसाय में हाथ बँटाने की अपेक्षा अपना स्वतन्त्र व्यवसाय व आधिपत्य जमाने के लिये चिपलूक जिले में प्रवजन किया । वे सपरिवार वहीं रहते थे तभी आँग्रे का पक्ष लेने के कारण उन्हें वहाँ से भागना पड़ा ।

मीठ बन्दर से चलकर वे बलयास ग्राम पहुँचे वहाँ उनके मित्र महादेव भानु रहते थे । वह भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिये बाहर जाना चाहते थे सो दोनों परिवार सतारा की ओर चल पड़े । किन्तु वे अधिक दूर नहीं जापाये थे कि कासिम के सैनिकों ने उन्हें पकड़कर अंजन वेल नामक दुर्ग में बन्द कर दिया । यहाँ पच्चीस दिन बड़े कष्ट में बिताने पर भी बालाजी और महादेव भानु निराश नहीं हुए । आशा ही परम बल के सहारे उन्होंने दुर्ग पति को अपने पक्ष में कर लिया और मुक्त हुए । मुक्ति के पश्चात् वे कैसे सास बाड़ पहुँचे और आबाजी पुरदरे की सहायता से महाराष्ट्र की राजधानी सतारा में महाराष्ट्र छत्रपति के सचिवालय के अधीन मालगुजारी वसूल करने वाले प्रमुख अधिकारी बने यह लम्बी कहानी है । जब वे मीठ बन्दर से भागे थे तब उनके

साथ उनका चार वर्षीय पुत्र बाजीराव भी था जो आगे चलकर उनका उत्तराधिकारी पेशवा बना ।

बालाजी जब महाराष्ट्र की राजधानी में राज्य के मालगुजारी वसूल करने वाले अधिकारी बने उन दिनों छत्र पति सिंहासन के लिये छत्रपति सम्भाजी के पुत्र शाहू और छत्रपति राजाराम के पुत्र शिवाजी की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का द्वन्द्व हो रहा था । छत्रपति राजाराम की पत्नी महारानी ताराबाई अपने पुत्र को छत्रपति बनाना चाहती थी किन्तु प्रधान सेना पति और अधिकांश सरदार न्याय सम्मत पक्ष-शाहू की ओर झुके होने के कारण शाहू ही छत्रपति बनाए गये । शाहू का छत्रपति बनाना उचित भी था । उनकी माता येसुबाई अब तक उन्हीं के कारण मुगल सम्राट के यहाँ नजरबन्द थी । स्वयं शाहू भी सोलह वर्ष तक नजरबन्द रहने के बाद मुक्त होकर महाराष्ट्र आये थे ।

बालाजी इस ओर से उदासीन रहकर अपना कार्य कर रहे थे । यद्यपि थे छोटे पद पर किन्तु उनकी बुद्धिमता आगे चलकर रंग लायेगी इसकी उन्हें भी आशा थी और छत्रपति भी उनमें छिपे व्यक्तित्व को समझ रहे थे ।

बालाजी का कार्य यों तो मालगुजारी वसूलने का था पर वे इस तक ही सीमित नहीं रहे । उनकी दृष्टि मात्र अधिकारी या कर्मचारी की ही न होकर उससे भी अधिक महत्व की थी । वे राष्ट्र की समृद्धि के लिये कृषकों की समृद्धि को अनिवार्य मानते थे । देश में उत्पादन बढ़ेगा तो खुशहाली अपने आप आयेगी । यह सोचकर उन्होंने खेती की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया । कृषकों को समुचित प्रोत्साहन व मार्गदर्शन देकर उन्होंने देश की समृद्धि को बढ़ाया । किसान उन्हें देवता की तरह मानने लगे । अब पहले की तरह मालगुजारी वसूलने के लिये सैनिकों व ज्यादा कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । कृषक अपने आप गुजारी कार्यालय में जमा करा जाते थे । किसी किसान को मालगुजारी न देने के कारण दण्डित करने का अवसर ही नहीं आता था।

इससे मालगुजारी की दर तो वहीं रही पर वसूली के लिये अधिक आदमियों को न लगाने के कारण उस राशि में प्रबन्ध व्यय रूपी कटौती बहुत कम हुई । इससे प्रधान सेनापति धनानन्दजी जाधव और छत्रपति शाहू बहुत प्रभावित हुए । धनानन्द जी जाधव की मृत्यु पर सम्पूर्ण राजस्व विभाग उन्हें सौंप दिया गया ।

बालाजी ने अपना प्रबन्ध कौशल व योग्यता तो राष्ट्रहित में दिखायी थी और इसी कारण उन्हें राजस्व विभाग का सर्वेसर्वा बना दिया गया था पर इसके कारण नव निर्वाचित प्रधान सेनापति चन्द्रसेन उनसे जलने लगा । आगे चल कर उसने उन्हें मारने का षड्यंत्र भी रचा और छत्रपति से द्रोह भी किया पर दूसरों के लिये कुआँ खोदने वाले को स्वयं उसमें गिरना पड़ता है उसी उक्ति के अनुसार चन्द्रसेन को अपना प्रधान सेनापति पद खोना पड़ा और बालाजी को प्रधान सेनापति पद मिल गया ।

बालाजी वीर और योग्य व्यक्ति थे । इनसे भी ऊपर उनकी विशेषता यह थी कि वे हिन्दू महाराष्ट्र को प्राणों से भी प्रिय मानते थे । वे जब प्रधान सेनापति बनाए गये उस समय महाराष्ट्र के सामन्तगण राष्ट्र का हित न सोचकर व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं में उलझने लगे थे । उन्हें पुन: एक सूत्र में बाँधने वाले कुशल राजनीतिज्ञ और वीर सेनापति की भूमिका उन्होंने बखूबी निभाई ।

कान्होजी आँग्रे और कोल्हापुर के राजा को हराकर छत्रपति साहू के पक्ष में करना और पेशवा भैरवपन्त पिंगले को उनकी कैद से मुक्त कराने का वीरता और चतुराईपूर्ण कार्य करके उन्होंने अपनी योग्यता प्रदर्शित की । उसका परिणाम यह हुआ कि वे पेशवा बना दिये गये । कभी सिन्धियों के डर से मारे-मारे फिरने वाले बालाजी जो आरम्भ में पेशवा के कार्यालय में मामूली क्लर्क की हैसियत से काम करते थे, अपनी राष्ट्र-निष्ठा और योग्यता के बल पर महाराष्ट्र के पेशवा पद पर अभिसिक्त हुए ।

कान्होजी आँग्रे को सैनिक सहायता देकर उन्होंने अपनी जन्मभूमि को सिन्धियों के आधिपत्य से मुक्त कराने की अपनी प्रतिज्ञा को भी पूर्ण कर लिया ।

पेशवा पद प्राप्ति में उनकी व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा का उतना हाथ नहीं था जितना उनकी योग्यता और उत्कट राष्ट्रीय तथा जातीय भावना का हाथ था । पेशवा बनने के बाद भी वे सुखोपभोग में नहीं डूब गये । प्राय: ऐसा होता है कि सामान्य स्थिति का व्यक्ति जब किसी उच्च पद पर पहुँच जाता है तो उसमें गर्व आ जाता है और वह कर्म-निष्ठ न रहकर विलासी बन जाता है किन्तु बालाजी ने ऐसी मूर्खता नहीं की ।

उच्च पद पर रहते हुए भी वे स्वभाव, व्यवहार व हृदय से छोटे लोगों के प्रति हमदर्द ही बने रहे थे । वे जब दिल्ली के मुगल शहंशाह फरुखशियर की प्रार्थना पर उसके साथ संधि कर उसे रक्षा का वचन देने के लिये ससैन्य दिल्ली जा रहे थे तब की बात है । उन्होंने अपने सेनाधिकारियों को आदेश दे रखे थे कि मार्ग में पड़ने वाले खेतों में से अन्न या घास का एक तिनका भी अपनी सैन्य द्वारा क्षतिग्रस्त नहीं होना चाहिए । किन्तु उनके एक अभिमानी सरदार मल्हारराव होल्कर ने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी वे अपने घोड़ों के लिये एक किसान की खड़ी फसल कटवा डाली साथ ही उसे मारा-पीटा भी ।

इस बात की सूचना जब बालाजी को लगी तो वे बड़े कुपित हुए इसलिये नहीं कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया गया है वरन् इसलिये कि गरीब आदमी का अहित किया गया है । अत: उन्होंने मल्हारराव की सारी सम्पति जब्त करके और किसान को उसकी फसल और मार-पीट का पूरा हर्जाना दे देने का निर्णय दे दिया । कृषक उनकी इस न्यायप्रियता पर बड़ा प्रसन्न हुआ । मल्हारराव की बुद्धि भी ठिकाने आ गयी । उसने भविष्य में ऐसा न करने

की शपथ खाते हुए उनसे क्षमा माँगी । पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने उसे क्षमा तो कर दिया पर दण्डस्वरूप उसका ओहदा घटा दिया । उनके इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ने उन्हें सामान्य व्यक्ति से ऊपर उठाकर पेशवा पद पर इसलिये जा बिठाया कि वे उसके उपयुक्त थे । उनसे गरीबों व दुर्बलों का रक्षण ही सम्भव था उन पर अत्याचार नहीं ।

मुगल सम्राट फर्रुखशियर के बेटे मुहम्मदशाह से हुई संधि के अनुसार बालाजी ने चतुरता पूर्वक न केवल मुगल साम्राज्य से अपने प्रदेश ही छीन लिये वरन् मुगल सम्राट का वीरतापूर्वक मुकाबला भी किया ।

सम्प्रदायवाद से आजीवन लड़ने वाले—
मजहरुल हक

सर सैयद अहमद खाँ ने किसी समय वार्तालाप में कहा था कि हिन्दू और मुसलमान हिन्दुस्तान की दो आँखें हैं । और दो में से एक भी न हो तो माँ का चेहरा बदसूरत हो जायगा । इसी प्रकार के विचार सभी राष्ट्रीय नेताओं ने भी व्यक्त किये हैं । पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना भी तब हिन्दू-मुस्लिम एकता और अखण्ड भारत के समर्थक थे । लेकिन ब्रिटिश सत्ता को यह कब सहन हो सकता था । उसकी तो नीति ही फूट डालो और राज करो की थी । किसी प्रकार वह अपनी इस नीति को सफल बना गये और कुछेक मुस्लिम नेताओं के मन में क्रमशः अलग प्रतिनिधित्व, अलग राज्य और अन्ततः देश विभाजन की बात भी पैदा कर गयी ।

स्वतन्त्रता से पूर्व हुआ मोपला विद्रोह, साम्प्रदायिक दंगे, उत्पात और उपद्रव सब अँग्रेजों के षड्यन्त्रों का ही परिणाम थे । परन्तु जिनके हृदय में अखण्ड देश-प्रेम का प्रवाह बह रहा था और जो लोग अँग्रेजों की इस नीति का मर्म समझते थे सतर्क और सचेत ही रहे । हालांकि बहकाने के प्रयास तो उनके लिए भी किये गये । लेकिन विवेक की आँख खुली रखने वाला सर्वत्र निश्चित दृढ़ और स्थिर ही रहता है ।

ऐसे ही स्थिर मति महामानव थे मौलाना मजहरुल हक । जिन्होंने कई अवसरों पर कहा कि हम हिन्दू हों या मुसलमान, सब एक ही नाव के यात्री हैं । डूबेंगे तो साथ और पार निकलेंगे तो एक साथ । घटना उन दिनों की है जब किराये के गुण्डों और विघ्नसंतोषी तत्वों द्वारा बिहार के कुछ क्षेत्रों में सांप्रदायिक दंगे करवाये गये । जन साधारण तो भावनाओं के बल पर जीती है-उसे कोई भी थोड़ा अच्छी बुरी दिशा में प्रवाहित कर दे तो तुरन्त बड़ा से बड़ा लाभदायक और प्रशंसनीय कार्य भी बन जाता है तथा अनर्थ भी हो जाता है । किसी ने हिन्दुओं में तो यह हवा छोड़ दी कि उनके धर्मग्रन्थों का अपमान किया जा रहा है और मुसलमानों में मस्जिद नापाक करने की बात फैला दी । यहाँ तक कि किसी ने सुअर का एक नवजात बच्चा परकोटे में फिकवा दिया । बस क्या था दोनों पक्ष अपनी चिरंतन आत्मीयता और भाई-चारे को भूल कर टूट पड़े एक दूसरे पर ।

जो लोग स्वजन सम्बन्धियों से भी अधिक घनिष्टता के सम्बन्ध रखे हुए थे, वे बिना किसी कारण दूसरों के बहकाने पर वैरी बन गये । पुलिस सिपाहियों और अधिकारियों की तत्परता से किसी प्रकार बड़ी मुश्किल से स्थिति को काबू किया गया । जब पूरी तरह शांति हो गयी तो मौलाना मजहरुल हक ने हिन्दूओं और मुसलमानों की एक सम्मिलित सभा आयोजित की । इसके पूर्व वे वैधानिक ढंग से सांप्रदायिक आवेग को कम करने में लगे हुए थे । लोगों में आत्मीयता और बन्धुत्व का भाव पूर्व स्तर का ही कायम हो जाय उद्देश्य था सभा का ।

हिन्दू-मुसलमान के झगड़े बाहर से शांत भले ही हो गये हो परन्तु आक्रोश तो पूर्ववत् ही बना रहा । फिर भी मौलाना हक का उस क्षेत्र पर इतना प्रभाव था कि आपस में एक दूसरे को घूरने और खा जाने वाली नजरों से देखने पर भी लोग इस सभा में आये । दोनों पक्ष के लोग सोच रहे थे कि मौलाना हमारी और बोलेंगे तथा दूसरे पक्ष को डाँटेंगे तथा दुतकारेंगे । अपने पक्ष में सुनने की उत्कण्ठा से सबकी नजरें सभामंच पर आसीन मौलाना हक के चेहरे पर टिकी हुई थीं । लेकिन जब उन्होंने आरम्भ किया तो दोनों पक्ष ही सकते में आ गये । मौलाना हक ने कहा-मैं जानता हूँ कि आप लोग बहकाने में हैं, गलती पर हैं । जब आप शांतचित्त हो कर विचार करेंगे तो आप को पता चलेगा कि हिन्दू और मुसलमान एक ही डाल के दो फूल हैं । एक ही माँ की दो आँखें हैं ।

श्रोताओं की आँखों से वैर प्रतिशोध पानी बनकर निकल गया । मौलाना हक की धीर गम्भीर वाणी सबके कलेजे को चीरती हृदय को बेधती अन्तरात्मा में प्रवेश कर गयी और जब कोई बात उस गहराई तक पहुँच जाती है तो बाह्य स्थिति यथावत् कैसे बनी रहेगी । लोगों की आँखों में अब प्रश्न झाँक रहे थे । कौन है जो हमें बहका रहा है, हमें लड़वाने में किसका स्वार्थ सिद्ध होता है और मंच से धारा प्रवाह धीर गम्भीर वाणी में यह भाव बह रहे थे-हम लोगों को फिरंगी सरकार आपस में लड़वाकर अपने पैर भारत में जमाये रखना चाहती है । हिन्दू और मुसलमान दो सगे भाइयों की तरह हैं । आपस में हमें लड़ना शोभा नहीं देता ।"

कहते हैं इस सभा के बाद वहाँ एकत्र हुए सभी लोग पूर्व के वैमनस्य भुलाकर हृदय से गले मिले थे । जिसकी वाणी में इतना पैनापन हो उसकी ~~हार्दिक~~ अंतरंग स्थिति का अनुमान लगा पाना बड़ा मुश्किल है ।

मौलाना मजहरुल हक का जन्म २२ दिसम्बर १८६६ ई० को पटना जिले के एक धर्मनिष्ठ मुस्लिम परिवार में हुआ था । इस्लाम और कुरान की शिक्षाओं को उन्होंने जितना आत्मसात् किया था वह यह सिद्ध करने के लिए

पर्याप्त था कि वह पैगम्बर मोहम्मद के निष्ठावान अनुयायी हैं । इस्लाम धर्म के अनुयायी आज भी उन्हें आदर्श रूप में मानते हैं और उन्हें देखकर यह सोच पाना भी मुश्किल है कि कोई धर्मनिष्ठ मुसलमान अपने मत और विचारों के प्रति कट्टरपन्थी तथा दुराग्रही होता है । लोगों में यह एक भ्रान्त-धारणा फैली हुई है कि मोहम्मद साहब ने इस्लाम की दीक्षा जैसे भी हो देने और हर तौर तरीके को अपना कर मुस्लिम संख्या में अभिवृद्धि करने का उपदेश दिया है । मौलाना हक की यह दृढ़ मान्यता थी कि इस्लाम में इस प्रकार की संकीर्णता और कठमुल्लापन को कोई स्थान नहीं है ।

मुस्लिम धर्म की वास्तविकता को समझ कर बड़ी कुशलतापूर्वक उन्होंने उसे अपने जीवन में उतारा । यह भी एक कटु सत्य है कि सांप्रदायिक वैमनस्य के विष बीज बोकर अँग्रेज इस देश में अपने पाँव और भी मजबूती से जमाना चाहते थे । लेकिन मौलाना हक ने अँग्रेजों की इस कूटनीति का बड़ी निर्भयता और साहस के साथ पर्दाफाश किया ।

उन दिनों जब भारतीय जनमानस में संप्रदायवाद के विषाणु फैलाये जा रहे थे मौलाना ने उन्हें रोकने और हटाने के लिए अपना जीवन लगा दिया । इस कार्य के विरोध में ये तत्व अवरोध बनकर मार्ग में आये थे जिनका कि इसमें स्वार्थ निहित था यह विरोध यहाँ तक बढ़ा कि उन्हें जान से मार देने की सैकड़ों बार धमकियाँ दी गयीं । उनकी सभाओं में ईंट और पत्थर फेंके गये तथा तरह-तरह के उत्पात मचे ।

लेकिन यह बड़े मजे की बात रही कि ज्यों-ज्यों उनका विरोध बढ़ता गया त्यों-त्यों वे इस कार्य में और भी अधिक मनोयोगपूर्वक लगते गये । वैसे तो उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र में स्वराज्य के उद्देश्य से ही प्रवेश किया था । वे काँग्रेस के सच्चे और लगनशील कार्यकर्ता थे । लेकिन जब उन्होंने देखा कि गोरी सरकार प्रतिष्ठित और प्रबुद्ध व्यक्तियों के अहं को विकृत कर अपना उल्लू सीधा करना चाहती है और इसी के लिए प्रयत्न भी कर रही है तो उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति के पथ को प्रशस्त करना ही उचित और न्यायसंगत समझा ।

उन्होंने इस क्षेत्र में कार्य भी इतना किया तथा उपलब्धियाँ भी इतनी रहीं उनकी कि मुख्य रूप से उन्हें सांप्रदायिक एकता के लिए ही स्मरण किया जाता है । सम्प्रदाय उन्मादियों ने उन्हें सर्वप्रथम प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाना चाहा । कई मुस्लिम सांप्रदायिक नेता और रईस उनके पास आये तथा प्रस्ताव रखा-''आप मुसलमानों को हिन्दुओं से बिलकुल अलग कर लीजिए और काँग्रेस छोड़कर लीग में आ जाइये । हम आपको लीग संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी नियुक्त करेंगे ।''

मौलाना का एक ही उत्तर होता-किसी माँ के दो बेटों में लालच देकर फूट पैदा करने की कोशिश की जाय तो मैं ऐसे बेवकूफ बेटों में से नहीं हूँ जो कुर्सी के लोभ में अपनी माँ का हृदय ही तोड़ दूँ ।''

बार-बार प्रयत्न किया गया कि वे अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रयोग उन तत्वों के स्वार्थ साधने में करें । परन्तु मौलाना तो यह चाहते ही नहीं थे कि मुझे किसी प्रकार का पद या अधिकार मिले । जब लोगों का अनुचित दबाव पड़ने लगा । रिश्ते और सम्बन्धों का दुहाई दी जाने लगी तो उन्होंने एक ठोस जबाव दिया । वाणी से नहीं कार्य से । उन्होंने पटना में सदाकत आश्रम खोला जिसका उद्देश्य था राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत युवक कार्यकर्ता तैयार करना इस आश्रम में हिन्दू और मुसलमान सभी वर्ग के छात्रों को प्रवेश दिया जाता था । धर्म-निष्ठा के साथ-साथ धर्म सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया जाता । इस प्रकार उन्होंने एक तीर से दो शिकार करने का प्रयत्न किया । पहला तो यह कि असांप्रदायिक पीढ़ी का निर्माण और दूसरा प्रलोभन देकर फुसलाने की कोशिश करने वाले नेताओं को अनकहा उत्तर ।

सांप्रदायिक-नेता उनकी दृढ़ता को समझ तो गये परन्तु हिम्मत उन्होंने भी नहीं हारी । लेकिन साहस जब दिग्भ्रान्त हो तो ओछे हथकण्डे ही सूझ पड़ते हैं और यहीं वह सत्य तथा औचित्य के हाथों पटकनी खा जाता है । एक बार कुछ लोगों ने उन्हें घेर लिया तथा जान से मारने की धमकी दी । आसपास कोई राहगीर भी आता-जाता नहीं था । सर्वथा एकांत और सुनसान रास्ता । धर्मोन्मादी उनसे कह रहे थे या तो वे इस बात का वचन दें कि भविष्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न नहीं करेंगे अथवा मरने से पहले खुदा को याद करें ।

सुनकर पहले तो हँसे मौलाना । गुण्डों को खुले छुरों की नोंक के सामने, साक्षात् मृत्यु को खड़ा जानकर भी मौलाना को हँसते हुए देख आश्चर्य हुआ । जब मौलाना ने कहा कि शौक से चाकू चलाओ, तो उन बदमाशों के बन्धन स्वयमेव ही ढीले पड़ गये छुरों पर से । कोई हानि नहीं पहुँचा पाये उन्हें और वहाँ से भाग खड़े हुये । उसके बाद देर तक मौलाना उस दिशा की ओर देखते रहे जिधर कि वे लोग भागे थे । आत्मबल के आगे बड़ी से बड़ी शत्रुता भी परास्त हो जाती है । मौलाना हक ने यह अनुभव किया और इस घटना के बाद वे और भी मनोयोग तथा उत्साह से अपना मिशन पूरा करने में लग गये ।

एक बार की घटना है कि सारन जिले में फरीदपुर ग्राम के निकट कुछ मुसलमानों ने बकरीद का प्रोग्राम बनाया । लीगी नेताओं ने उन्हें इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वे ईद पर गाय की कुरबानी दें । इससे हिन्दुओं

की धार्मिक भावना पर ठेस लगने का भय था । हक को जब यह पता चला तो वे अपने आवश्यक कार्य छोड़कर वहाँ गये तथा मुसलमानों को गौवध न करने के लिए समझाया । लेकिन वे लोग नहीं माने इधर मौलाना हक इस बात के लिए कृत संकल्प थे कि गौहत्या नहीं होने दूँगा । उन्होंने आमरण अनशन की घोषणा कर दी और तैयारी भी करने लगे । तब जा कर कहीं वहाँ के मुसलमानों ने गौहत्या का विचार त्यागा ।

इस प्रकार आजीवन हिन्दू मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्न करते हुए मौलाना मजहरुल हक जनवरी, १९३० को परमधाम चले गये । उनकी मृत्यु से हिन्दू मुस्लिम एकता का एक श्लाघनीय साधक उठ गया । उनके देहावसान का समाचार सुनकर लाखों लोगों के साथ महात्मा गाँधी भी रो उठे ।

विद्वान देशभक्त–

श्री श्यामकृष्ण वर्मा

पेरिस विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक ओर बहुत सी ऐसी अलमारियाँ पुस्तकों से भरी खड़ी हैं, जिन पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है श्री श्यामकृष्ण वर्मा ।

यह नाम उस भारतीय नररत्न का है जिसे भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का जनक माना जाता है और जो आजीवन विदेशों में रहकर देश की स्वतंत्रता के लिये कार्य करता रहा । उनके देहावसान के बाद उनकी इच्छा के अनुसार उनकी पत्नी ने वर्मा जी का विशाल पुस्तकालय पेरिस के विश्वविद्यालय को दान कर दिया और उक्त विश्वविद्यालय ने आभारस्वरूप उनकी स्मृति बनाये रखने के लिये उनका नाम अलमारियों पर लिखवा दिया ।

३१ मार्च, १९३० को जिस समय जिनेवा में उनका देहावसान हुआ उसके एक दिन पूर्व महाप्रयाण का आभास पाकर श्यामकृष्ण वर्मा ने अपनी पत्नी को बुलाकर कहा कि मेरे बाद मेरा पुस्तकालय पेरिस-विश्वविद्यालय को दे देना और मेरे नाम की धनराशि में से अधिकाश भाग शिक्षण-संस्थाओं को दान कर देना । निदान अपने स्वर्गीय पति की सदिच्छा की पूर्ति में श्रीमती वर्मा ने पुस्तकालय पेरिस विश्वविद्यालय को और धनराशि जिनेवा की अनेक शिक्षण संस्थाओं को दान कर स्वर्गीय आत्मा को सन्तोष दिया ।

श्रीश्यामकृष्ण वर्मा मूलरूप में एक विद्वान् तथा विद्या-प्रेमी व्यक्ति थे । उन्होंने अनेकानेक वर्षों तक परिश्रम करके संस्कृत, अँग्रेजी तथा अन्य अनेक भाषाओं में प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त किया था । उनका विदेशों में संस्कृत भाषा तथा उसके महनीय साहित्य की गरिमा का प्रचार और देश में सामान्य शिक्षा प्रचार द्वारा समाज सेवा करने का था । बम्बई में शिक्षा पूरी करने के बाद, इनके पिता ने चाहा कि लड़का अब अपने व्यावसायिक कार्यक्रमों में रुचि ले । उनके पिता उस समय बम्बई में व्यापार किया करते थे । किन्तु श्यामकृष्ण ने पिता को अपना जीवन ध्येय स्पष्ट बतला दिया । पिता यह जानकर कि उनका लड़का विद्या तथा ज्ञान का उपयोग पैसा कमाने में नहीं बल्कि शिक्षा प्रचार के द्वारा समाज की सेवा करने में करना चाहता है, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और अनुमति देकर वह सिद्ध कर दिया कि वे उन संकीर्ण एवं स्वार्थी पिताओं में से नहीं हैं जो बच्चों को समाज-सेवा के परमार्थ कार्यों से विरत कर केवल धन कमाने की दिशा में हठात् विवश कर दिया करते हैं ।

श्रीवर्मा ने संस्कृत का अध्ययन करने के साथ भारतीय शास्त्रों का इतना गहन अध्ययन किया कि उनके नूतनता से ओत-प्रोत प्रवचनों तथा लेखों ने तत्कालीन विद्वानों का ध्यान आकर्षित कर लिया था । उनमें युगपुरुष स्वामी दयानन्द जी भी थे । स्वामी दयानन्द जी वर्मा जी की विद्वता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें उसी समय का अप्रतिम् विद्वान निर्धारित कर लिया और जब । तब उन्हें अपने सम्पर्क में लाकर विचारों का आदान-प्रदान करने लगे ।

स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष से प्रमाणित होकर श्यामकृष्ण वर्मा विद्वानों के बीच दिन-दिन चमकने लगे । उन्हीं दिनों आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय में एक संस्कृत के प्राध्यापक की आवश्यकता हुई और उसके प्रधान ने भारत में स्वामी दयानन्द को उस सन्दर्भ में सहायता करने को लिखा । यद्यपि उस समय भी भारत में संस्कृत विद्वानों की कमी नहीं थी, तथापि स्वामी जी ने वर्मा जी को ही वहाँ भेजने के लिये उपयुक्त माना ।

श्यामकृष्ण वर्मा ने स्वामी दयानन्द जी के अनुरोध को अपने मन्तव्य की दिशा में एक अच्छा अवसर समझा । यह उनकी पहली विदेश यात्रा थी । आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय पहुँच कर श्री वर्मा जी केवल अध्यापन तक ही सीमित नहीं रहे । बल्कि उन्होंने वहाँ अध्ययन का क्रम भी चालू रक्खा । अपने इस अध्ययन क्रम में उन्होंने उक्त विश्वविद्यालय से बी० ए० की सम्मानपूर्ण उपाधि प्राप्त करने के साथ-साथ इंग्लैण्ड की धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का भी अध्ययन किया और पाया कि अँग्रेजों में देशभक्ति, प्रगतिशीलता, परिश्रम, समय एवं नियम पालन की दृढ़ता आदि के ऐसे अनेक गुण हैं जिनका प्रसार भारतीयों में होना नितान्त आवश्यक है । उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे जल्दी ही अपना प्रवास-पूरा करके देश जायेंगे और शिक्षा प्रसार के साथ-साथ अपने नये अनुभवों का भी प्रचार करेंगे ।

लन्दन-प्रवास में वर्मा जी अन्य अनेक विद्वानों के साथ श्री मैक्समूलर नामक विद्वान् के सम्पर्क में भी आये ।

उन्होंने इन विद्वान् महानुभाव में भारतीय धर्म के प्रति एक जिज्ञासा देखी पर साथ ही यह भी पाया कि वे भारतीय-धर्म तथा दर्शन के प्रति अधिक स्पष्ट तथा निस्सन्देह नहीं हैं । इसका कारण भी उन्होंने खोज निकाला वह था-मैक्समूलर का भारतीय धर्म-शास्त्रों का अध्ययन आधार संस्कृत न होकर विदेशी भाषायें तथा व्याख्यायें थीं, जो किसी प्रकार भी प्रामाणिक तथा असंदिग्ध नहीं मानी जा सकती थीं ।

श्री वर्मा जी ने श्री मैक्समूलर की इस कमी को दूर करने का विचार किया-क्योंकि उस दशा में हो सकता था कि उक्त जिज्ञासु विद्वान् पथ भ्रान्त हो जाता और भारतीय धर्म-शास्त्रों का विरोधी आलोचक बन जाता । ऐसी दशा में भारतीय धर्म की महिमा को तो हानि होती ही साथ ही उन जिज्ञासु का भी कल्याण न होता ।

निदान श्यामकृष्ण वर्मा ने मैक्समूलर से सम्पर्क बढ़ाया । संस्कृत में उनकी रुचि उत्पन्न की, पढ़ाया भी और वैदिक धर्म पर प्रकाश भी डाला । जिसका फल यह हुआ कि उनकी जिज्ञासा ठीक दिशा पाकर इतनी तीव्रता से फलीभूत हुई कि मैक्समूलर विशुद्ध रूप से वैदिक धर्म के प्रशंसक, संस्कृत के विद्वान् और वेदों के अन्वेषक बन गये । वेदों पर मैक्समूलर की खोजें संसार में सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं । वेदों पर श्रीमैक्समूलर का काम देख कर बहुत से विद्वान् तो उन्हें वेदों का उद्धारक कहने तक में अतिशयोक्ति नहीं मानते । यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो भी परोक्ष रूप से श्यामकृष्ण वर्मा को ही उसका श्रेय दिया जायेगा । श्रीवर्मा की प्रेरणा से मैक्समूलर ने जो वैदिक ज्ञान पाया उसका उन्होंने इंग्लैण्ड में खूब प्रचार किया जिससे विदेशों में भारतीय धर्म की महिमा स्थापित हो गई ।

श्यामकृष्ण वर्मा अपना प्रवास पूरा कर जब देश लौटे उस समय उन्होंने अनुभव किया कि उनके पास उतने पैसे की कमी है, जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये चाहिए । परिवार से पैसा लेना उन्हें उचित न लगा । अतएव कुछ दिनों के लिये वे वकालत के क्षेत्र में उतर गये । बम्बई हाइकोर्ट के बाद कुछ समय तक वे अजमेर में वकालत करते रहे । उसके बाद उन्होंने रतलाम तथा अनेक अन्य देशी रियासतों में दीवान तथा प्रशासन के अनेक ऊँचे पदों पर काम किया और जब देखा कि मतलब भर का पैसा हो गया तब सारे काम छोड़ कर लोक-हितकारी कार्यों के लिये इंग्लैण्ड चल पड़े ।

भारतीय स्वाधीनता तथा राजनीतिक सुधारों के लिये उन्होंने प्रयत्न एवं आन्दोलन आरम्भ किया तो इंग्लैण्ड के प्रतिगामी तथा भारत विरोधी तत्वों ने उन्हें हतोत्साह करने का प्रयत्न किया और उन्हें पराधीन देश का नागरिक कह-कह कर अपमानित किया । स्थान-स्थान पर इस अपमान की पुनरावृत्ति इतनी बार हुई कि श्यामकृष्ण वर्मा को अपने उद्देश्य पर एक बार फिर विचार करना पड़ा । वे दिनों, सप्ताहों तथा महीनों सोचते और मनन करते रहे और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पराधीन देश की विद्या, बुद्धि, बल, नैतिकता तथा धर्म को संसार में मान्यता नहीं मिल सकती और न वह अपने कल्याण के किन्हीं कार्यक्रमों को स्वतन्त्रतापूर्वक चला सकता है । देश की पराधीनता एक भयानक अभिशाप है और जब तक इसको दूर नहीं किया जायेगा, उत्थान अथवा कल्याण का स्वप्न देखना स्वप्न ही रह जायेगा । उन्होंने अपने पूर्व-निश्चित मन्तव्य को हृदय के निभृत कोण में निहित कर लिया और देश की स्वाधीनता के प्रयत्नों में लग गये ।

इस दिशा में सबसे पहला काम उन्होंने यह किया कि लन्दन में इण्डिया हाउस नाम से एक विशाल छात्रावास स्थापित किया । इसके पीछे उनका उद्देश्य था कि लन्दन के तरुण भारतीय छात्र एक स्थान पर साथ-साथ रह सकें, जिससे कि उनमें संगठन हो सके और भारतीयता का पूर्ण वातावरण बना रह सके । वे एक साथ बैठकर देश की स्वाधीनता पर विचार कर सकें और उसके लिये यदि कुछ करना चाहें तो सम्मिलित रूप से कर सकें ।

'इण्डिया हाउस' के पूरा होते ही लन्दन के सारे भारतीय छात्र उसमें आकर रहने लगे । वर्मा उनके बीच आते और उनमें देश-भक्ति तथा स्वतन्त्रता संघर्ष की भावनायें भरते । उनके सम्मुख कार्यक्रम तथा योजनायें रखते । श्री वर्मा की प्रेरणा से भारतीय छात्रों में ज्वलन्त देश-भक्ति का जागरण हो उठा और सब के सब संघर्ष में कूद पड़ने के लिये उतावले हो उठे । वर्मा ने अपनी कोई योजना चलाने से पूर्व लन्दन प्रवास को आये दादा भाई नौरोजी तथा काँग्रेस के संस्थापक श्री ह्यूम साहब से सम्पर्क स्थापित किया और उनके विचार जाने । श्री वर्मा ने पाया कि इन लोगों की योजनाएँ बड़ी ही मन्द तथा समझौतावादी हैं । श्री वर्मा का विचार था कि देश की स्वतन्त्रता शांतिपूर्ण ढंग से सम्भव नहीं । उसके लिये शस्त्र क्रांति की आवश्यकता है । संसार का कोई भी देश प्रबल शस्त्र-क्रान्ति के बिना स्वतन्त्र नहीं हुआ है और न अभिमानी अँग्रेज सरकार शांत प्रयत्नों द्वारा देश छोड़ने को तैयार होगी ।

मनुष्य को अपने विचारों में बड़ा विश्वास होता है । श्री वर्मा साहब को भी अपने विचारों में अखण्ड विश्वास था-उसका एक कारण यह भी था कि उस समय तक सारे देश शस्त्र-क्रान्ति के आधार पर ही स्वतंत्र हुये थे । शांतिपूर्ण आन्दोलन द्वारा भी यह सम्भव हो सकता है उस समय इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी । शांत-प्रयत्नों का यह प्रयोग नया तथा पहला था । यह बात दूसरी है कि आज उसकी शक्ति की प्रामाणिकता सिद्ध हो गई है और संसार किसी उद्देश्य के लिए आतंक के स्थान पर शांति का मार्ग अधिक उपयुक्त समझने लगा है ।

दादा भाई नौरोजी तथा ह्यूम साहब के विचारों से निराश होकर श्री वर्मा ने भारतीय छात्रों में क्रान्तिकारी भावनाएँ भरने तथा सभा-क्रान्ति की तैयारी करने की प्रेरणा देना शुरू कर दिया । साथ ही उन्होंने छात्रों को

अधिकाधिक आकर्षित करने के लिये, स्वामी दयानन्द, फार्बर्ड स्पेनर, छत्रपति शिवाजी तथा महाराणा प्रताप के नाम पर चार छात्र-वृत्तियों की योजना भी चलाई। छात्रावास में रहने तथा छात्र-वृत्ति पाने वाले विद्यार्थियों को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी-वह यह कि वे पढ़ लिख कर अँग्रेजों की नौकरी नहीं करेंगे और आजीवन देश की स्वाधीनता के लिये अपनी योग्यता तथा शक्ति का प्रयोग करते रहेंगे।

श्री वर्मा ने लन्दन में 'भारतीय होम लीग' की स्थापना की और 'इण्डियन गोशियालाजिस्ट' नाम की एक पत्रिका निकालना शुरू कर दिया। साथ ही ये प्रति वर्ष १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम की जयन्ती भी मनाने लगे। किन्तु जब उनका पत्र अधिक आग उगलने लगा तब इंग्लैण्ड सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करने की योजना बनाई। श्रीवर्मा ने अपना कार्यक्षेत्र बदल दिया। ये लन्दन से पेरिस चले गये और वहाँ से अपनी क्रान्तिकारी पत्रिका निकाल कर क्रान्ति की ज्वाला को हवा देने लगे। इसी समय क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए वीर सावरकर पर वारण्ट जारी हुआ। वे भी फ्रांस चले आये किन्तु फ्रांस सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर इंग्लैण्ड की सरकार को दे दिया। वर्मा ने फ्रांस सरकार के इस कार्य को उचित न समझा और उसकी आलोचना करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में सावरकर की गिरफ्तारी को चुनौती दी।

इस प्रकार फ्रांस से विरोध हो जाने पर वर्मा ने स्विट्जरलैण्ड में रहकर अपनी योजना आगे बढ़ाने का विचार बनाया। किन्तु तभी अत्यधिक काम का दबाव अस्थिरता से उनका स्वास्थ्य इतना खराब हो गया कि वे स्विटजरलैंड न जा सके और ३१ मार्च, १९३० में जिनेवा में उनका देहावसान हो गया। इन क्रान्ति के महान् उन्नायक श्री श्यामकृष्ण वर्मा का जन्म, १८५७ में कच्छ के निकट मांडवी नामक नगर में हुआ था। आज देश स्वतंत्र हो गया है और इस स्वतन्त्रता में वर्मा का कितना योगदान है इसको ठीक-ठीक नहीं आँका जा सकता, किन्तु देश की स्वाधीनता के लिए, किये गये उनके प्रयत्न तथा आत्मोत्सर्ग निःसन्देह बहुमूल्य तथा महत्वपूर्ण हैं जिसके लिये वे स्वतन्त्र भारत के सदा-सर्वदा श्रद्धा-पात्र बने रहेंगे।

जो अनीति से जूझ पड़ा-
अमर सिंह महतो परिवार

रतनसिंह दुनियाँ की निगाह में भले ही चरखारी का राजा था किन्तु अमरसिंह महतो की आँखों में उसका मोल फूटी कौड़ी के बराबर भी नहीं था। अनीति के हथियारों से सफलता भले ही उसे मिली हो किन्तु उसके कुकर्मों को कोई भूला न था। अधिकांश लोग बिगाड़ के भय से ऐसे कुकर्मी का तिरस्कार नहीं कर पाते चाहे मन में उसके प्रति कितनी ही घृणा क्यों न हो। अमरसिंह महतो उन लोगों में से नहीं थे, १८५७ में स्वतन्त्रता संग्राम हुआ। हमीरपुर जिले में महाराज परीक्षित उसमें जी जान से कूद पड़े थे। इस देशद्रोही रतनसिंह ने अपने चाचा परीक्षित के साथ विश्वासघात किया। अपने देश, देशवासियों तथा सगे चाचा के साथ विश्वासघात करने वाले स्वार्थी व्यक्ति को वे पशु ही मानते थे। अँग्रेजों को खुश करने के लिये उसने अपने चाचा के सेनापति के सीने में कीलें ठुकवा दीं। महाराज परीक्षित के समर्थकों को कड़ा दण्ड दिया।

अमरसिंह महतो हमीरपुर जिले के गोहाँड गाँव के खाते-पीते किसान थे। किसान क्या जमींदार ही कहना चाहिए। उनके पास ७०० बीघे जमीन थी। वे अपने घोड़े पर बैठकर कहीं जा रहे थे। राह में रतनसिंह की सवारी मिली। रतनसिंह को देखते ही उन्हें उसके दुष्कर्म चित्रपट की तरह उनके अन्तःपटल पर उभर आये। राजा परीक्षित के सेनापति वीरवार की गज भर छाती पर ठुकती कीलें और उन्हें देखकर हँसता हुआ निर्दयी रतनसिंह साकार हो उठे। रतनसिंह का वह क्रूर अट्टहास उनके कानों में गूँजने लगा। किस बेशर्मी के साथ उसने कहा था-"देखा रणवीर तुमने अँग्रेज बहादुर की हुकूमत के खिलाफ बगावत करने में राजा परीक्षित की सहायता की उसका अंजाम। चख लिया उसका स्वाद।" देश प्रेम के रंग में रंगे उस रणवीर ने घृणा से रतनसिंह की ओर थूक दिया। इस पर रतनसिंह और भी गरम हो उठा तथा उसके साथ मनमाना दुर्व्यवहार किया। यों तो अमरसिंह ने स्वभाव से विनम्र थे किन्तु उन्हें रतनसिंह को दिखाना था कि इस प्रकार के व्यक्ति सम्मान पाने के लायक नहीं होते। अमरसिंह ने तो उसे नमस्कार नहीं किया न घोड़े से ही उतरे वरन् उपेक्षापूर्वक उसके हाथी से आगे निकल गये। रतनसिंह उनके इस व्यवहार से जल-भुन गया। उसने अपने सैनिकों को गुप्त वेश में गोहाँड ग्राम पर चढ़ाई करके लूट लेने का आदेश दिया। वे लोग गाँव पर चढ़ आये।

अमरसिंह को पहले से ही इसकी आशंका थी। उन्होंने पूरी तैयारी कर रखी थी। रतनसिंह के सैनिक अपने साथ तोपें लाये थे। गाँव वालों के पास तोपें नहीं थीं। महतो जानते थे कि लड़ाई में न तोपों का महत्व है न घोड़ों का। जी जान से लड़ने वाला, बुद्धि बल साथ रखने वाला दल जीतता है। इमली के पेड़ काटकर उन्होंने तोपें बनवा रखी थीं। वे उतना न सही आधा काम तो देंगी ही। यह उनका विश्वास था। यदि हार भी गये तो यह भी जीत ही होगी। सत्य के लिये-आदर्श के लिये लड़ने में एक व्यक्ति हार भी जाय तो कोई बात नहीं दूसरे के लिये राह तो बनती है।

लकड़ी की तोपों का आकार व गोलों की मार ने रतनसिंह के सैनिकों के छक्के छुड़ा दिये। वे भागने ही वाले थे कि गाँव का एक व्यक्ति जो अमरसिंह से जलता था, वह उनसे जा मिला। तोपों का भेद खुलते ही उनका

साहस लौट आया । अधिक संख्या में होने तथा शस्त्रों से लैस होने के कारण वे जीत गये । उन्होंने गाँव को लूटा, अमरसिंह महतो को पकड़कर ले गये तथा चरखारी की जेल में बन्द कर दिया ।

शेर का बच्चा शेर ही होता है । अमरसिंह का पुत्र गणेश आयु में छोटा होते हुए भी साहस तथा अनीति से जूझने में कम नहीं था । वह पिता को छुड़ाने तथा रतनसिंह को उसके किये का परिणाम भुगताने के लिये तड़प रहा था ।

भाद्रपद माह में महतो को बन्दी बनाया गया था । आश्विन में पितृ अमावस्या के दिन अमरसिंह यह पर्व मना लेने के बाद ही अन्न जल ग्रहण करते थे । इस आयोजन के लिये उनकी पत्नी को चरखारी जाना पड़ा । वहाँ उसने अपने पति की जो दशा देखी तो उसे रोना आ गया । घर आकर उसने उनकी दशा गणेश को बताई । अब गणेश चुप कैसे रह सकता था । छोटा हुआ तो क्या हुआ । उसने प्रतिज्ञा की-पिताजी को छुड़ाये बिना तथा अन्यायी रतनसिंह को दण्ड दिये बिना मैं घर की देहरी पर कदम नहीं रखूँगा ।''

गणेश चल पड़ा । अपने साथ उसने अपना घोड़ा तथा कुछ धन लिया । सीधा वह स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी तौंत्या टोपे के पास पहुँचा । उसने तौंत्या टोपे को सारी बात बताई । रतनसिंह को दण्ड देने की प्रार्थना की । गणेश ने कहा-इसके लिये मुझे अपनी जमीन, घर, धन, जीवन सब कुछ न्योछावर क्यों न करना पड़े करूँगा । आप मेरी सहायता कीजिये ।

तौंत्या टोपे गणेश के साथ गोहाँड़ आये । गाँव तथा आसपास के गाँवों की जनता में रतनसिंह जैसे स्वार्थी राजा तथा अँग्रेजों के प्रति तीव्र घृणा थी । तौंत्या टोपे ने इन्हीं गाँववासियों की सेना तैयार की । उन्हें प्रशिक्षित किया । बारह गाँव के नवयुवक इस सेना में आ जुटे । लोगों के मन में अन्याय, अत्याचार से जूझने का उत्साह तो होता है किन्तु पहला कदम उठाने में सभी हिचकिचाते हैं । किसी एक ने आगे कदम रखा तो फिर सब चल पड़ते हैं । यही यहाँ हुआ । देखते ही अच्छी खासी सेना तैयार हो गई ।

२४ जनवरी, १८५८ के दिन इस थोड़े ही समय में प्रशिक्षित सेना ने गणेश महतो के नेतृत्व में चरखारी को जा घेरा । यह सैनिक जो खेतों में हल चलाते-चलाते आये थे । जिन्हें युद्ध का तथा मोर्चेबन्दी का कोई अनुभव नहीं था । चरखारी राज्य के वेतन भोगी प्रशिक्षित सैनिकों पर भारी पड़ने लगे ।

जन सहयोग का अनुपम उदाहरण इस घेरे में प्रस्तुत हुआ । इस तथ्य को उन अँग्रेजों ने भी स्वीकार किया जो यह कहते थे कि भारतवासी आजादी पाने के लायक नहीं हुए । समय पर रसद पहुँचाने में गाँव वाले मुस्तैद थे । घर वालों ने यह समझ लिया था कि हमारे घर का एक आदमी खेत पर नहीं जाकर समय की पुकार पर इस लड़ाई में गया है ।

रतनसिंह को लेने के देने पड़ गये । उसने अँग्रेजों से सहायता माँगी । अँग्रेज स्वयं फँसे हुए थे । उन्होंने मना कर दिया । दो महीने तक घेराबन्दी रही । रतनसिंह को घुटने टेकने पड़े । चरखारी पर क्रान्तिकारी सेना का अधिकार हो गया । अमरसिंह महतो स्वतन्त्र किये गये । तौंत्या टोपे को चरखारी कोष से तीन लाख रुपये तथा १४ तोपें भेंट की गईं ।

कुछ दिनों चरखारी पर अमरसिंह महतो का अधिकार रहा । तौंत्या टोपे लौट चुके थे । रतनसिंह अँग्रेजों के पास पहुँचा । अँग्रेजों की सहायता से उसने चरखारी पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया ।

आदर्शों के लिये जीवन अर्पित करने वाले अमरसिंह तथा गणेश महतो इस पराजय से निराश नहीं हुए । अपना सर्वस्व वे दाँव पर लगा चुके थे । वे कुछ दिनों गुप्त रहे । समय देखकर तौंत्या टोपे से जा मिले । पीछे से उनकी जमीन जायदाद सब अँग्रेजों ने जब्त करके नीलाम करदी । उन्हें उस क्षेत्र के लोगों के हृदयों में कितना ऊँचा स्थान मिला इसका सहज अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उनके मकान को जिस व्यक्ति ने खरीदा वह लोगों की भर्त्सना के कारण उसका उपभोग तक न कर सका ।

ये दोनों पिता पुत्र तौंत्या टोपे के दो हाथ बनकर रहे । नवम्बर, १८५८ को महारानी विक्टोरिया के राज्य की घोषणा होने से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य समाप्त हो गया । अमरसिंह तथा गणेश अपने गाँव लौट आये । पहले उनके पास जमीन थी-धन था किन्तु अब उससे भी बड़ी वस्तु उनके पास थी । आस-पास के गाँवों में इनका बड़ा आदर सम्मान होता था । धन का मूल्य तो होता है पर वह केवल साधन के रूप में । ये पिता, पुत्र भी उसे इतना ही महत्व देते थे । भगवान ने दो-दो हाथ दोनों को दिये हैं । इनके रहते भला धन का अभाव क्या खटकेगा ? १८५९ में अमरसिंह महतो का देहावसान हो गया ।

गणेश महतो काफी दिनों तक जीवित रहे । उनका विवाह बचपन में ही हो गया था । अपने परिवार को आदर्श ढंग से चलाते रहे । अपने बच्चों को भी वे यही शिक्षा देते रहे-''बेटा ! मनुष्य को धन-दौलत और ओहदे से मत तौलना । मनुष्य को नापने का गज है उसका चरित्र और उसके सद्विचार । यह मनुष्य योनि ही सबसे बड़ी सम्पदा है । इसे सार्थक करना चाहिए ।''

मनुष्य का आदर उसके सद्गुणों से हो धन-वैभव से नहीं । धन-वैभव से यदि उसका मूल्यांकन होने लग जाएगा तो समाज में अव्यवस्था फैल जायगी । इस मान्यता के मानने वाले गणेश महतो ने अपने शेष जीवन को इसी ध्येय के लिए समर्पित कर दिया कि समाज में ऐसी जाग्रति भरी जाय जिससे व्यक्ति सत्कार्यों का अभिनन्दन करना सीखे तथा दुष्कर्म करने वालों को प्रताड़ित किया जाय ताकि कोई भी व्यक्ति दुष्कर्म करने का दुस्साहस न कर सके ।

उनका विवाह पहले ही हो चुका था । बच्चे-बच्चियों का पालन-पोषण करने के साधन जुटाने के बाद

बचा हुआ समय वे इसी कार्य में लगाते थे । उनके इन प्रयासों का शुभ परिणाम यह हुआ कि उस क्षेत्र में अन्याय करने वालों का प्रतिकार करने की एक सामाजिक चेतना का उदय हुआ । सच है अनीति-अन्याय तभी तक फलता-फूलता है जब तक उसकी प्रताड़ना करने के लिये जनमानस को संगठित नहीं किया जाता । यदि गणेश महतो जैसे व्यक्ति इस प्रकार की चेतना जगाने के लिये निकल पड़े तो वह सहज हो जाय ।

महतो परिवार का यह उत्सर्ग व्यर्थ नहीं गया । अँग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा । रतनसिंह ने जिस स्वार्थ के वशीभूत हो अनीति का मार्ग पकड़ा वह स्वार्थ का साधन राज्य भी स्थायी न रहा उल्टे उसे करोड़ों देशवासियों की घृणा का पात्र बनना पड़ा । वह राज्य और सम्पदा पुनः देश की सम्पदा ही रही । अमरसिंह और गणेश महतो अपने इस सुकृत्य के द्वारा करोड़ों देशवासियों के श्रद्धा के पात्र ही नहीं बने वरन् आने वाली पीढ़ियों के प्रेरणास्रोत भी बने ।

शोषण के विरुद्ध बगावत करने वाले-
मौलवी अहमदुल्ला

सादिकपुर के मौलवी परिवार को अँग्रेज अपना शत्रु समझते थे । वह उसे सदैव नीचा दिखाने का प्रयत्न करते रहते थे । पर यह परिवार अपनी सम्पन्नता ही नहीं वरन् विद्वता के कारण सम्पूर्ण भारत के मुसलमानों की दृष्टि में सम्मान का स्थान प्राप्त किये हुए था । हजारों मुसलमान इस परिवार के शिष्य थे । इस परिवार के प्रमुख थे-मौलवी अहमदुल्ला ।

सीमा प्रान्त की पहाड़ियों में हिन्दुस्तानी मुसलमानों की छावनी कार्यरत थी जो अँग्रेजों को सदैव नाकों चने चबवाती रहती थी और इस छावनी का सञ्चालन करते थे मौलवी अहमदुल्ला । यह मौलवी १८४५ से १८७२ तक निरन्तर ब्रिटिश सरकार से लोहा लेने वाले आन्दोलन का नेतृत्व करते रहे । इस आन्दोलन को अँग्रेज इतिहासकारों ने 'बहावी आन्दोलन' का नाम दिया है । बाद में इसका रूप जमायत-उल-उलेमा तथा सीमा प्रांत के खुदाई-खिदमतगार आन्दोलन के नाम से लोकप्रिय हो गया ।

ब्रिटिश सरकार इस मौलवी परिवार के प्रत्येक सदस्य पर कड़ी दृष्टि रखती थी और शंका की दृष्टि से देखती थी । पर उसके प्रति जन साधारण की श्रद्धा को देखकर ब्रिटिश सरकार को कुछ भी करने का साहस न होता था । १८५२ में मौलवी साहब के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए कुछ आधार मिल गया ।

रावलपिण्डी छावनी के मुंशी का नाम था मुहम्मदवली । पुलिस के हाथ में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण पत्र आ गये जिनसे विदित होता था कि मौलवी साहब सतियाना ग्राम की विद्रोही छावनी को हथियार, रुपया और आदमी भेजकर सहायता करते रहते हैं । यह पत्र मुहम्मदवली के नाम लिखे गये थे ।

मुंशी मुहम्मदवली तथा उनके अन्य साथियों को दण्डित करके उस प्रकरण को समाप्त किया गया । सन् १८५७ में जब पटना का वातावरण भी उत्तेजित हो उठा तो तत्कालीन कमिश्नर टेलर ने उन्हें बन्दी बनाने का विचार किया । घर पर जाकर गिरफ्तार करना पुलिस के बश की बात न थी । अतः छल द्वारा उन्हें पकड़ने की बात तय की गई ।

१९ जून ,१८५७ को कमिश्नर ने मौलवी साहब तथा उनके साथियों को अपने घर बुलाने का निमन्त्रण भेजा गया । सन्देश वाहक ने सूचना दी कि कमिश्नर साहब नगर में शान्ति रखने के उपायों पर चर्चा करना चाहते हैं । योजना पूर्व आयोजित थी अतः उन्हें कमिश्नर साहब के घर पर ही गिरफ्तार कर लिया गया ।

अपने प्रिय देशभक्त नेता की गिरफ्तारी पटना की जनता सहन न कर सकी । ३ जुलाई, १८५७ को वह क्रान्तिकारी दिवस जब मुगल सम्राट का हरा झण्डा लेकर वहाँ के जन समूह ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया । एक सिख रेजीमेंट भेजकर भीड़ को तितर-बितर करने के आदेश दिये । जनसमूह ने डटकर मुकाबला किया ।

३० व्यक्तियों को उस भीड़ में से गिरफ्तार किया गया । मुकदमें चलाये गये और ८ व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई । उस समय भीड़ का नेतृत्व पीर अली कर रहे थे । जब वह फाँसी के तख्ते पर चढ़ने लगे तो उन्होंने कहा बहुत शीघ्र ही वह समय आने वाला है जब अँग्रेज इस देश से भगा दिये जायेंगे ।

मौलवी अहमदुल्ला बहुत समय तक नजर बन्द रहे । उनसे किसी को मिलने न दिया जाता था । वह तभी जेल से मुक्त हो पाये जब कमिश्नर टेलर की सेवायें समाप्त की गईं । सन् १८५७ की ज्वाला बुझाने के लिए ब्रिटिश सरकार ने लाखों भारतीयों का खून बहाया । सीमाप्रान्त विद्रोही छावनी की गतिविधियों में कोई अन्तर नहीं आया बल्कि उस समय क्रान्ति में भाग लेने वाले अनेक विद्रोही देशभक्तों के लिए वह छावनी आश्रय स्थल बन गई थी । अनेक विद्रोहियों ने अँग्रेजों की चौकियों तथा छावनियों को साफ करने में सफलता प्राप्त की ।

सरकारी गुप्तचर विद्रोही छावनियों का भेद प्राप्त करने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते थे । मई, १८६२ में पुलिस इन्सपेक्टर गज्जन खाँ ने करनाल में चार बंगाली मुसलमानों को गिरफ्तार कर लिया, जिनके पास कुछ स्वर्ण मुद्रायें तथा कागजात थे जिनसे सिद्ध हो रहा था कि सीमाप्रान्त की चारों विद्रोही छावनियों के लिये भेजे गये हैं । वह पत्र सांकेतिक भाषा में लिखे गये थे फिर भी पढ़ लिये गये । गज्जन खाँ ने अपने उच्च्व अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए अपने पुत्र को भी उन बंगाली मुसलमानों के साथ भेजकर सारी गतिविधियों का रहस्य जान लिया ।

सम्पूर्ण भारत में तलाशियाँ तथा गिरफ्तारियाँ की गई । मौलवी साहब के छोटे भाई याहिया अली को केस का मुख्य अभियुक्त माना गया । उन्हें फाँसी की सजा दी गई । हाई कोर्ट में अपील करने पर फाँसी का दण्ड आजीवन कारावास में बदल दिया गया । सरकार तो पूरे परिवार को तबाह करना चाहती थी, याहिया अली के साथ उनके ही परिवार के अबदुर्रहीम तथा इलाही बख्श को भी लम्बी सजायें दी गईं और उनकी सारी सम्पत्ति जब्त करली गई ।

मौलवी अहमदुल्ला भी मौका देख रहे थे । पटना में दमन नीति का उन्होंने कोई उत्तर न दिया । पर ३ सितम्बर, १८६३ को मौलवी साहब के नेतृत्व में छावनी के विद्रोहियों ने टोपी स्थित ब्रिटिश चौकी पर हमला कर दिया । सीमाप्रान्त के सभी पहाड़ी क्षेत्रों द्वारा मौलवी साहब को सहायता मिल गई सरकारी खजाने से करोड़ों रुपये खर्च हो गये, पर शान्ति की स्थापना फिर भी न हो सकी ।

सरकार ने अब प्रलोभन देकर पठान कबीलों को अपनी ओर मिलाना चाहा इसके लिए एक-एक व्यक्ति को कई हजार रुपये देकर अपनी ओर मिलाया । तब कहीं स्थिति पर काबू किया जा सका ।

सीमाप्रान्त का यह युद्ध अंग्रेजों को बहुत महँगा पड़ा । उन्होंने १८६५ में मौलवी को गिरफ्तार कर लिया । अब सरकार तोड़-फोड़ करके अपने पक्ष को प्रबल करना चाहती थी उसने मौलवी अहमदुल्ला के मुख्तार इलाही बख्श को रिहाई का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया और सरकारी गवाह बनाया । इलाही बक्श को मौलवी याहिया अली के साथ सजा दी गई थी ।

सरकार ने अपने गवाहों को डटे रहने के लिए बड़ी-बड़ी रकम दी । मौलवी साहब पर अनेक आरोप लगाये गये । सरकार यह सिद्ध करना चाहती थी कि उसके विरुद्ध युद्ध की योजनायें बनाई गई हैं, जन साधारण को युद्ध के लिए भड़काया गया है । सीमाप्रान्त की विद्रोही छावनियों को धन, जन और शस्त्रों से सहायता दी गई । कई-कई आरोप एक साथ लगाये गये । जब न्यायधीश उनके हाथ की कठपुतली थी तो देशभक्तों के साथ कभी न्याय हो सकेगा , यह सोचना ही व्यर्थ था । मौलवी साहब को फाँसी की सजा सुना दी गई । बहुत दौड़-धूप करने पर इतनी ही रियायत उनके साथ की गई कि उनके मृत्यु-दण्ड को आजीवन कारावास में बदल दिया गया ।

सारी अचल सम्पत्ति जब्त कर ली गई । चल सम्पत्ति को नीलाम किया गया । पुस्तकों का विशाल संग्रह नष्ट किया गया और उन्हें जिन्दगी के दिन काटने के लिये अंडमान भेज दिया गया । अंडमान की जेल में भी वह यही प्रयत्न करते रहते थे कि किसी प्रकार सीमाप्रान्त की छावनियों को मजबूत बनाया जा सके ।

पुलिस ने खोज-खोज कर उन व्यक्तियों को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया जिसका थोड़ा भी परिचय मौलवी साहब से था । लार्ड मेयो जो उस समय भारत के वाइसराय थे उन्होंने एक और चाल चली । देश के प्रमुख मुसलमान नेताओं को अपनी ओर मिलाकर ऐसे भाषण दिलवाये जो ब्रिटिश शासन की वफादारी प्रकट करते थे । मौलवी साहब भला यह क्यों सहन करते उन्होंने शेरअली नामक एक पठान से ८ फरवरी, १८७२ को लार्ड मेयो के अण्डमान आने पर उनकी हत्या करा दी । लार्ड मेयो जब मोटर बोट में चढ़ रहे थे मार डाले गये ।

भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने में जिन-जिन देशभक्तों ने अपनी सम्पत्ति, परिवार और प्राणों की आहुति दी उनमें से मौलवी अहमदुल्ला भी एक हैं । उनकी महत्वपूर्ण सेवाओं को देश कभी भी न भूल सकेगा ।

मनस्वी आइजन हावर

अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति ड्वाइट डी० आइजन हावर वस्तुतः एक योद्धा थे । उनके जीवन का अधिकांश समय सेना का अंग बनकर व्यतीत हुआ था । कठिनाइयों से जूझने में उन्हें मजा आता था । सैन्य क्षेत्र धैर्यपूर्वक और दूरदर्शिता के साथ हल करते थे । घबराहट और उतावली कभी किसी ने उनके चेहरे पर नहीं देखी । गुत्थी जितनी ही पेचीदा होती वे उतने ही अधिक सतर्क और गम्भीर देखे जाते । बड़े शिकार पर हमला करने से पूर्व सिंह जिस तरह अपने शरीर और मन को एकाग्र करके पैनी उछाल की तैयारी करता है उसी तरह वे बड़ी समस्याओं से निपटने के लिए अपना सारा मनोयोग एकत्रित करते थे ।

२४ सितम्बर, १९५५ को उन्हें भयंकर दौरा पड़ा था । डाक्टरों ने कई वर्ष तक पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी थी । पर वे थोड़ा सुधार होते ही फरवरी, १९५६ में होने वाले राष्ट्रपति चुनाव के लिए खड़े हो गये । कुछ दिन बाद इलिटिस रोग का आक्रमण हुआ और फलतः दूसरे ही दिन एक बहुत बड़ा आपरेशन हुआ । दो महीने बाद ही वे सेनफ्रांसिस्को में हुए रिपब्लिकन नेशनल अधिवेशन के मंच पर प्रमुख वक्ता के रूप में बोलते और राष्ट्रपति पद के लिए मनोनीत होते पाये गये ।

जो डाक्टर उन्हें मरणासन्न एवं जीवित मृतक कहते थे उन्होंने कुछ दिन बाद घोषित किया कि भयंकर बीमारियों को परास्त करके अब राष्ट्रपति पूर्ण स्वस्थ हो गये हैं । विज्ञप्ति के दो सप्ताह बाद ही एक समारोह में ठण्ड लग जाने से वे बीमार पड़े और डाक्टरों ने उन्हें कई मास बिस्तर में पड़े रहने योग्य बताया किन्तु दो सप्ताह बाद जब वे नारी सम्मेलन में भाग लेने पेरिस जा पहुँचे तो लोग सोचने लगे उनकी बीमारी कहीं मजाक तो नहीं ।

७० वर्ष की आयु में जबकि उनके कार्य काल का अन्तिम वर्ष था तब वे योरोप, अफ्रीका, एशिया के अनेकों महत्वपूर्ण सम्मेलनों में थकाने वाली लम्बी यात्रा पर जाते रहे और नौजवानों जैसे उत्साह के साथ गुत्थियों को सुलझाने में ऐड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहे ।

आइजनहावर किस मिट्टी के बने हैं । इसका विश्लेषण करने वाले ने बताया था कि पैतृक साहसिकता, कठोर

अनुशासन, दृढ़-निश्चय, मर मिटने की जीवट, धैर्य, अनुशासन, दृढ़ विवेक का मिश्रण, बीमारियों, कठिनाइयों और हँसी-खुशी के हलके-फुलकेपन की धातुओं को मिला जुलाकर विधाता ने उन्हें गढ़ा है ।

हृदय रोग के बार-बार होने वाले दौरे उन्हें तनिक भी विचलित न कर सके, वरन् जिन्दगी की हिफाजत के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक सतर्क समाधान अपनाने के लिए शिक्षा देने वाले अध्यापक बनकर रह गये । जवानी में पूरे पियक्कड़ और चेन स्मोकर थे । सिगरेट उनके होठों से छूटती न थी, पर जब उन्होंने जाना कि इससे उन्हें खतरा है तो एक बार ही जिन्दगी भर की संग्रहीत आदत को तिनके की तरह तोड़ कर फेंक दिया और फिर उन्होंने मुँह से नहीं लगाया । बार-बार उत्तेजित होने की उन्हें आदत थी, पर दिल के दौरों पर इसका बुरा प्रभाव पहुँचा, यह समझने के बाद उनने अपनी आदत यकायक सन्तों जैसी बना लीं । उनका शरीर भारी था, पर जब इसकी अनुपयोगिता समझ ली तो नपे-तुले आहार पर इस कदर दृढ़ हो गये कि भार फिर बढ़ा कभी नहीं, घटता ही गया ।

कामों का अत्यधिक दबाव और उलझनों का अम्बार लगा रहने पर भी वे पूरे आठ घंटा सोने के अभ्यस्त रहे । गोल्फ खेलना सम्भव न हो सका तो उसके देखने के लिए पहुँचते रहे । दवाएँ उन्होंने कम से कम खाईं । जब तक बिलकुल ही विवशता न आ गई तब तक उन्होंने औषधियों के प्रति उपेक्षा ही दिखाई ।

आइजन हावर अमरीका के राष्ट्रपति चुने गये । इस उपलक्ष्य में उन्हें देश-भर से लाखों उपहार मिले । इन उपहारों में एक मामूली झाड़ू भी थी । भेजने वाले ने लिखा था, "आपने अपने भाषण में कहा था कि यदि मैं चुन गया तो मेरा काम राज्यतन्त्र में व्याप्त गन्दगी को साफ करना होगा । मुझे विश्वास है कि मेरा यह नन्हा-सा उपहार आपको सदा आपके उस वचन की याद दिलाता रहेगा ।" इन उपहारों की प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति ने उस झाड़ू को ऊँचा उठाते हुये कहा-"यही है मेरा सर्वोत्तम उपहार । इसमें देश की आत्मा ने मुझसे सीधी बात-चीत की है ।"

स्वतन्त्र भारत के आधार स्तम्भ

स्वतन्त्र भारत के कीर्तिस्तम्भ

भारत एक ऐसा देश है जहाँ अनेकों धर्मों तथा अनेकों संस्कृतियों के अनुयायी रहते हैं । अपनी-अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं में आस्था रखते हुए भी सभी एक अखण्ड भारत के अभिन्न अंग हैं । भारत माता किसी धर्म विशेष की नहीं, हर धर्मानुयायी की आराध्य है । इस आराध्य की जब-जब उपेक्षा हुई है तथा साम्प्रदायिकता को प्रश्रय मिला है, देश की अखण्डता को खतरा पहुँचा है । विदेशी आततायियों को इस धरती पर चढ़ दौड़ने का अवसर इन्हीं विषम परिस्थितियों में मिला है । हजार वर्ष की गुलामी उस उपेक्षा की ही परिणति थी ।

पर ऐसे अवसर भी आये हैं जब समस्त भेद-भावों को भुलाकर माँ की लाज बचाने के लिए देश के हर वर्ग ने बढ़ी-चढ़ी कुर्बानी प्रस्तुत की है, चाहे वह सिक्ख रहा हो अथवा पारसी, हिन्दू रहा हो या मुसलमान । पिछला स्वतन्त्रता संग्राम इस बात का साक्षी है । देश को जब भी आवश्यकता पड़ी तो सम्प्रदाय एवं मजहब की दीवारों को तोड़कर हर वर्ग के व्यक्ति ने अविस्मरणीय त्याग एवं बलिदान का उदाहरण प्रस्तुत किया । इतिहास के पन्नों में जब भी उनकी गौरव गाथाएँ नेत्रों के समक्ष होकर गुजरती हैं, बरबस ही उनके प्रति हृदय में श्रद्धा उमड़ने लगती है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्र के वे सजग प्रहरी मरे नहीं, उनकी अमर-आत्माएँ हमारे इर्द-गिर्द ही मंडरा रही हैं, देशभक्ति की जीवन्त प्रेरणाएँ संचारित कर रही हैं । उनके जीवन के ऐतिहासिक संस्मरणों को बारम्बार दुहराने का मन करता है ।

हमें स्वतन्त्रता तभी मिल सकी जब सभी वर्गों के लोगों ने संगठित होकर अत्याचारों, समस्याओं के विरुद्ध संग्राम छेड़ा सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम सदा ही स्मृतिदायक बना रहेगा जिसमें सभी कौम के लोगों ने राष्ट्र हित में अपने प्राणों की बाजी लगा दी । नाना साहब, फिरोजशाह, तांत्या टोपे, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, सफजुल हुसैन, बरेली के बहादुर खान सबने मिलकर एक साथ ही अँग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया था साम्प्रदायिक सद्भावनाओं का यह प्रयास सचमुच अद्भुत था । सर्वविदित है कि इन सेनानियों के कुशल नेतृत्व में १८५७ के दौरान समस्त उत्तर प्रदेश में स्वाधीन शासन स्थापित किया गया था । उनकी संगठित शक्ति के समक्ष अंग्रेजों को अन्ततः उखड़ना ही पड़ा ।

१८५७ की क्रान्ति में शाहजादा फिरोजशाह का नाम अतुलनीय है । वह २० वर्ष की आयु में ही फकीर का वेश धारण करके भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ा था, लगातार १८ वर्षों तक वह अँग्रेजी सरकार से टक्कर लेता रहा तथा लक्ष्यनिष्ठ होकर कष्ट-कठिनाई झेलता रहा । अन्त में उसने १८७५ ई० में अत्यन्त गरीबी की समस्या से पीड़ित होकर अपना बलिदान प्रस्तुत किया।

उस पारसी महिला श्रीमती कामा के बलिदान को कौन भूल सकता है । जिसने लगातार ३५ वर्ष तक (१८८५-१९२०) स्वाधीनता की चिन्ता में अपने पारिवारिक सुख को भी तिलांजलि दे दी । शादी होने के कुछ दिन बाद ही सामाजिक कार्यों से च्युत करने के उद्देश्य से उन्हें लन्दन भेज दिया गया था, परन्तु वहाँ भी वे अपने उद्देश्य के प्रति समर्पित रही । बाद में उन्होंने पेरिस को अपना कार्यस्थल चुना तथा वहाँ 'वन्देमातरम्' पत्र के प्रकाशन से क्रान्ति की चिनगारी को फैलाने में सफल हुईं, राष्ट्र को तिरंगा झंडा उन्हीं की देन थी जो आज हम सब के गौरव का केन्द्र बना हुआ है ।

गुरुगोविन्द सिंह के 'पंच प्यारे' की तरह पंजाब के पाँच शेरों ने भारत की स्वतन्त्रता हेतु जो बलिदान प्रस्तुत किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता । वे पाँच शेर अजीतसिंह, करतारसिंह, गुरदत्तसिंह, भगतसिंह तथा उधमसिंह थे, जिन्होंने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे ।

अजीतसिंह लगातार भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ते रहे । १९०७ ई० में उन्हें जेल भी जाना पड़ा । सरकारी हस्तक्षेप के कारण १९०९ ई० में उन्हें देश छोड़ कर फारस, जर्मनी, ब्राजील आदि देशों में भटकना पड़ा । अन्ततः वे यूरोप पहुँचे तथा वहाँ काफी थक जाने के बावजूद आन्दोलन चलाते रहे । उन्हें टी०बी० हो चुकी थी, परन्तु प्रगति पथ के पथिक को शरीर की चिन्ता क्यों हो । जीवन की उनकी एक ही लालसा थी भारत को स्वतन्त्र रूप में देखना । सो पूरी भी हुयी । वे ठीक १४ अगस्त १९४७ को भारत पहुँचे तथा अगले ही दिन स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्र नागरिक कहलाने का सौभाग्य प्राप्त कर सके ।

करतारसिंह १७ वर्ष की आयु में ही सैनफ्रांसिस्को की गदर पार्टी में संलग्न हुए थे । विदेशी भूमि से ही लगातार स्वाधीनता संग्राम को तीव्रतर बनाने का प्रयास करते रहे । १९१४ ई० में वे भारत पधारे तथा अगले ही वर्ष अखिल भारतीय विद्रोह का आयोजन किया । इसके आरोप में उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई । सरकार द्वारा जब मृत्यु दण्ड के विरुद्ध अपील करने का प्रस्ताव उनके समक्ष रखा गया तो, उन्होंने कहा- "मेरे पास यदि एक से अधिक जीवन होता तो उनमें से प्रत्येक को अपने देश के लिए न्योछावर करना मेरे लिए बड़े सम्मान की बात होती ।"

गुरुदत्तसिंह १९०९ ई० में सिंगापुर से पंजाब लौटने पर स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल हुए । भेद-भाव पूर्ण अप्रवासी

कानून का उल्लंघन करने के उद्देश्य से उन्होंने १६५ साथियों के साथ जलमार्ग से कनाडा के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में संख्या ३७२ तक पहुँच गई थी । परन्तु तट पर पहुँचते ही वहाँ की सरकार ने उन्हें वापस लौटने का आदेश दिया। अन्ततः वे कलकत्ता वापस पहुँचे, परन्तु यहाँ उनका लाठी, बन्दूक से स्वागत किया गया । कितने ही लोग मारे गये । गुरुदत्तसिंह किसी तरह वहाँ से निकल सके ।

भगतसिंह का संग्राम में प्रवेश १९२४ ई० में हुआ । १९२८ ई० में उन्होंने भगवती चरण बोहरा के साथ समाज वादी रिपब्लिकन का कार्यभार सँभाला । क्रान्ति के संदेश को विश्व के कोने-कोने में पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होंने असेम्बली में बम फेंकने का दृढ़ कदम उठाया । पकड़े जाने पर कोर्ट में उनके बयान इस प्रकार थे- "हमारे बम फेंकने का उद्देश्य मानवता के विरोधी तत्वों के कान खोलना है । २३ मार्च, १९३१ को उन्हें फाँसी दी गई ।"

ऊधमसिंह का सरकार के नाम संदेश यह था कि- राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए मुझे जान भी देनी पड़े तो चिंता नहीं । बुढ़ापे तक इस अवसर की ताक में कौन बैठे मुझे तो जवानी में ही मरने की इच्छा है । उनसे नाम पूछा जाने पर वे "काम मुहम्मदसिंह आजाद" बताया करते, जो पंजाब के तीन प्रमुख सम्प्रदायों और उनके जीवन लक्ष्य- 'आजादी' का प्रतीक था । वस्तुतः स्वतन्त्रता सारी धर्म संस्कृतियों से उभर कर आने वाले भारत माता के सपूतों के बल पर हमें मिली है । उसे अखण्ड बनाये रखना हर नागरिक का मूलभूत कर्तव्य है ।

जिनकी अध्यात्म साधना सार्थक रही

सुभाष बोस

कटक-उड़ीसा के एक सम्पन्न वकील की पत्नी ने जब यह देखा कि उनका बेटा सुभाष एक धोती लपेटे जमीन पर सो रहा है । सहज वत्सल मातृहृदय ने चिंता उत्पन्न कर दी कि कहीं लड़के को कुछ हो न जाय तो प्यार से डाँटते हुए कहा- क्या पागल हो गये हो सुभाष, जमीन पर क्यों सो रहे हो ?

माँ हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि भी तो जमीन पर ही सोया करते थे । क्या उन्हें भी पागल समझती हो- बालक ने सरलतापूर्वक कह दिया ।

"नहीं बेटा । वे पागल थोड़े ही थे - वे तो महान् थे परन्तु तेरी उम्र भी अभी क्या है तू जमीन का कड़ापन नहीं सह सकेगा, बेटे ! मेरी बात मान, आ पलंग पर सोजा । माँ ने कहा और बिस्तर पर सोने का आग्रह करने लगी ।

माँ-बेटे की बातचीत सुनकर पास ही सो रहे जानकी नाथ बोस भी जाग गये। वे पूछने लगे-"क्या बात है ?"

"अरे यह अपना सुभ है न"- माँ ने कहा- "पता नहीं कब से पलंग पर से उठ कर जमीन पर सो रहा है । मैं उसे पुकार रही हूँ ।"

पिता ने पूछा यह किसने सिखाया बेटा जमीन पर सोना ।

"सिखाया किसने पिताजी । गुरुजी कह रहे थे कि हमारे ऋषि-मुनि महापुरुष थे और वे जमीन पर ही सोया करते थे, मैं भी महान बनूँगा पिताजी इसलिए जमीन पर सोता हूँ ।"

"ठीक है ठीक है। जमीन पर फिर सोया करना पहले माँ का कहना मान लो"- वकील साहब ने कहा और बालक सुभाष उठ कर माँ के आँचल में जाकर सो गया । जानकी नाथ बोस नींद की खुमारी में बालक की कोमल भावनाओं को नहीं पकड़ सके । जब सुबह हुई तो उन्होंने अपने बेटे को समझाया जमीन पर सोने से कोई महान नहीं बन जाता बेटा महान बनने का एक ही मार्ग है कठोर तप साधना और दुःखी-दरिद्रों की सेवा करना । जानकी नाथ जी अच्छे पढ़े-लिखे और आधुनिक विचारों के होने से भारतीय संस्कृति के मूल-तथ्यों को भी उपेक्षित करने में नहीं चूकते । इसे अन्ध-भक्ति का रूपांतरण कहें या चकाचौंध और ऐश्वर्य वैभव से भरी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव कि उन्होंने अपने पुत्र को भारत की सांस्कृतिक धारा से काट कर पश्चिमी सभ्यता के वातावरण में पालना पोसना चाहा । लेकिन उसे संयोग ही कहना चाहिए कि सुभाष को रेवेनशा कालजियल स्कूल में एक ऐसे अध्यापक मिले जो भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त थे । कुशाग्र बुद्धि सुभाष की अंतर्निहित प्रतिभा उनसे छुपी न रही और वे समय-समय पर उन्हें सांस्कृतिक या ऐतिहासिक गौरव गाथाएँ सुनाने लगे ।

सुभाषचन्द्र बोस पर अपने इन अध्यापक का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जब भी कभी वे सुनते शहर में कोई साधु महात्मा पधारे हैं तुरन्त उनका दर्शन करने के लिए दौड़ पड़ते । उन्हीं दिनों कटक में पधारे स्वामी विवेकानन्द । सुभाषचन्द्र बोस भी पहुँचे, उनके दर्शन को । प्रथम भेंट ने ही अध्यात्म का महानतम तथ्य उद्घाटित कर दिया । सुभाषचन्द्र बोस तब गीता, रामायण और वेदान्त के सिद्धान्तों का अध्ययन करने लगे थे । स्वामी जी से इन विषयों पर लम्बी चर्चा होती रही । सुभाषचन्द्र बोस ने स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होकर संन्यास दीक्षा की प्रार्थना की परन्तु उत्तर मिला "संन्यास के लिए तैयारी और अभ्यास की आवश्यकता है । साधना के प्राथमिक सोपान पूरे कर लो तब तुम्हारी अन्तरात्मा स्वयंमेव ही तुम्हें इस जीवन में दीक्षित कर देगी ।"

"इसके प्राथमिक सोपान कौन से हैं ?"

सेवा और सेवा-बस । इसी साधना का स्थूल अभ्यास तुम्हारी अगली सीढ़ी बन जायेगा । सेवा-शब्द से ही स्मृति

पटल पर अपने पिता का दिया हुआ उपदेश भी उभर उठा और वे तत्पर हो गये । अध्ययन और पठन-पाठन के बाद सुभाष बाबू सेवा के अवसर ही तलाश करते । धीरे-धीरे इस क्रम में अन्तर आया और सेवा-साधना प्रथम धर्म बन गयी ।

उन्हीं दिनों नगर में हैजा फैला । लोग धड़ाधड़ मरने लगे और आश्चर्य कि अपना प्राण-प्रिय लगने वाला परिजन भी ऐसे अवसर पर शत्रु की भाँति नजर आने लगा। हैजे के रोगी छूने से भी हैजा हो जाता है- इस तथ्य ने सारा संसार का मोह और कर्तव्य अपने तक सीमित कर दिया। नगर के गिने चुने डॉक्टर इस महामारी से लड़ने के लिए आगे आये परन्तु उन्हें सम्पन्न घरों की परिचर्या से अवकाश नहीं मिलता ।

सुभाषचन्द्र बोस ने अपने जीवन मंत्र को साधने का उपयुक्त अवसर पाया । मूलत: उनके अन्त:करण में आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना थी इसलिए सेवा कोई अहंकार भी नहीं होता था अपने और साथियों को लेकर उन्होंने निर्धन बस्तियों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । जिस घर में बेटा अपनी माँ को छूने से भी परहेज करता था उस घर को सुभाष ने अपने साथियों सहित मन्दिर माना और उसमें निवास कर रहे जीते जागते देवताओं की पूजा की । जिस घर में उन्हें कोई विलाप करता दिखाई पड़ता घुस जाते उसमें और रोगी को औषधि देने से लेकर उसका वमन साफ करने तक का दायित्व निभाते । इस रूप में लोगों ने उन्हें भगवान का दूत, भयहारी प्रभु का अवतार ही जाना । लोग उनकी प्रशंसा भी करने लगे । उनकी ख्याति भी फैलने लगी । सुभाष की पुकार भी मचने लगी ।

लेकिन सुभाष को कीर्ति की कामना नहीं थी । कामना थी किसी प्रकार यह संकट टल जाये । कीर्ति से निर्लिप्त होते हुए भी उनका बढ़ता प्रभाव हैदरअली नामक एक व्यक्ति को नहीं भाया । वह चाहता था कि इस मोहल्ले के सभी लोग मुझे सबसे महान समझें । इसलिये हैदर ने सुभाष और उनके साथियों को धमका दिया- खबरदार जो अब इस मोहल्ले में कदम भी रखा एक-एक की टाँगें तोड़ दूँगा ।

कोई और अवसर होता तो सुभाष हैदर को अवश्य ठीक करते परन्तु इस समय ध्यान लोगों की सेवा-सुश्रूषा पर देना था । इसलिए सुभाष की टोली ने उस मुहल्ले में कदम ही न रखा । दो चार दिन हुए । सुभाष बाबू अपने साथियों सहित पास वाले मोहल्ले में काम कर रहे थे । अचानक हैदर आया दौड़ता हुआ । जिसने कुछ दिन पहले अपना चेहरा भयावह बनाकर धमकी दी थी उस समय की मुखमुद्रा शायद ही भुलाई जा सके परन्तु अब उसके चेहरे पर दूसरे ही भाव थे । याचना और आर्तता के भाव । उस समय उसकी मुखमुद्रा देखकर यह कह पाना ही मुश्किल था कि यह व्यक्ति किसी को धमकी भी दे सकता है । हैदर ने सुभाष को देखते उनके पाँव पकड़ लिये- मेरे देवता सहायता करो मेरी । यदि आपने अभी भी मुझे क्षमा नहीं किया तो मेरा पूरा घर उजड़ जायेगा । सारी बात इत्मीनान से कहने के लिए धीरज बँधाकर सुभाष ने सब कुछ सुना और जाना कि हैदर पर क्या बीत रही है। कटु विगत को भुलाकर सुभाष ने अपने कुछ साथियों को उसके साथ भेज दिया । सेवा उपचार से हैदर का परिवार ठीक हो गया और वह सुभाष को जीवन भर देवता मानता रहा ।

महामारी का प्रकोप जब शांत हुआ तो आत्म-अवलोकन कर सुभाष बोस ने यह अनुभव किया कि संन्यास जीवन की पात्रता उन्होंने अर्जित कर ली है । उन्हें यह भी आवश्यक लगा कि अब किसी योग्य गुरु के मार्गदर्शन में साधना पथ पर अलग कदम बढ़ाया जाना चाहिए । घर पर रह कर तो वैराग्य नहीं पाया जा सकता है । उसे सिद्ध करने के लिए तो घर परिवार के मोह जाल से मुक्त होना ही पड़ेगा । योग्य गुरु की तलाश में सुभाष बाबू घर छोड़ कर चल दिये । माता-पिता को जब यह पता चला तो वे बड़े दु:खी हुए और उन्होंने सुभाष को खूब ढुँढ़वाया भी ।

लेकिन कुछ दिनों बाद वे स्वयं ही लौट आये । इस दौरान में उन्होंने काशी, वृन्दावन, मथुरा, हरिद्वार, गया आदि कई तीर्थ स्थानों पर भ्रमण कर लिया था योग्य गुरु को खोजने के लिए, उनके योग्य कोई संत गुरु तो नहीं मिला परन्तु उनकी खोज भी असफल नहीं रही । सच्चे सन्त की तलाश में उन्होंने कई आश्रम छान डाले परन्तु हर जगह यही लगा कि जो आध्यात्मिक प्रदीप उन्हें चाहिए वह यहाँ नहीं है । इन स्थानों पर आध्यात्मिकता तो ऊपरी आवरण नकाब भर बन कर रह गया है । कहीं गाँजे की चिलम चल रही है तो कहीं सुल्फा चरस खींची जा रही है । व्यभिचार, पाप, लूट, ठगी का पूरा मायाजाल सर्वत्र फैला है । इस यात्रा के दौरान उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का साहित्य पढ़ा । अध्ययन के बाद वे इस सत्य से परिचित हुए कि- साधक का सच्चा गुरु और विश्वस्त पथ-प्रदर्शक तो उसका अन्त:करण है, उसकी अन्त:प्रज्ञा है, उसी की शरण जाना चाहिए । अन्त:प्रज्ञा का प्रकाश पाने के लिए स्वाध्याय भी एक साधन है । गीता, रामायण आदि ग्रन्थ साधना के मार्ग पर आरूढ़ साधकों की अनुभूतियाँ ही हैं । स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा पाकर ही वे सेवा-साधना में प्रवृत्त हुए थे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने सच्चा गुरु भी पाया ।

गीताध्ययन-फिर उनका नित्य-कृत्य बन गया । इस ग्रन्थ का अध्ययन करते ही वे घर लौट पड़े । परिवार में रहकर, कर्तव्यों का पालन करते हुए भी आत्मा का ज्योतिर्मय प्रकाश पाया जा सकता है। बाद में गीता को सदैव अपने पास रखते । आजाद हिन्द सेना के अभियानों का नेतृत्व करते हुए भी उन्होंने गीता की प्रति अपने पास रखी और विश्वासपूर्वक कई अवसरों पर कहा कि मेरी प्रेरणा और शक्ति इस ग्रन्थ से नि:सृत होकर मुझ तक पहुँचती है ।

सुभाष बोस का भटकाव समाप्त हुआ । अपना इष्ट और उपास्य बाहर खोजने के बाद वे वहाँ से निराश हो अन्तर्जगत की ओर मुड़े । घर लौटने पर माँ को बड़ा दु:खी पाया । बिना कुछ कहे घर से चले जाने के शोक में वे बीमार हो गयीं थी । बड़े क्षुब्ध मन से कहा माँ ने- "सुभाष तूने मेरी मृत्यु के लिए जन्म लिया है ।"

"नहीं माँ- सुभाष बाबू ने अपनी माँ को आश्वासन देते हुए कहा मैं अपनी गलती पर था अब तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा । " लम्बी यात्रा में उन्हें कई दु:ख, तकलीफ भी सहने पड़े । कभी भूखे भी रहना पड़ा कभी पीने को पानी भी नहीं मिलता । इस प्रकार भूखे-प्यासे रहने के कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था । घर लौटते ही वे बीमार हो गये । कई माह तक बीमार पड़े रहे । धीरे-धीरे स्वस्थ हुए तो पढ़ाई आरम्भ कर दी अध्ययन और अभ्यास के लिए उन्हें बहुत कम समय मिला था फिर उन्होंने १९१५ ई० में एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की ।

अध्यात्म साधना के साथ-साथ दैवी गुणों-आध्यात्मिक विशिष्टताओं का विकास भी होता चल रहा था । उन दिनों प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रोफेसर ऊटन नाम के एक अंग्रेज अध्यापक थे । बात-बात में भारतवासियों का अपमान उनका स्वभाव बन गया था । कई भारतीय छात्रों को उनके मुख के सामने उन्होंने भारतीय संस्कृति और धर्म पर गन्दगी उछाली । सुभाष बाबू से यह सहन नहीं हुआ, वे बहस करने लगे और ऊटन से अपने शब्द वापस लेने के लिए कहने लगे परन्तु प्रोफेसर और नीचता पर उतर आये । सुभाष बाबू ने कसकर एक थप्पड़ लगा दिया। बलिष्ठ और शक्तिशाली हाथों से पड़ा करारा तमाचा गाल की अपेक्षा अहं पर अधिक चोट कर गया । इस अपराध में सुभाष बाबू और उनके कुछ समर्थकों को कॉलेज से निकाल दिया गया । स्वाभिमानी सुभाष ने कॉलेज छोड़ना मंजूर कर लिया पर अनीति के सम्मुख सिर न झुकाया ।

सन् १९१९ में उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की । अब तक उन्होंने अंग्रेजी शासन की अत्याचारी आतताई गतिविधियों का सजग अध्ययन कर लिया था और यह संकल्प किया अंग्रेजी शासन को भारत से खदेड़ कर ही दम लूँगा यही मेरा जीवन लक्ष्य है । पिताजी चाहते थे कि सुभाष बाबू विलायत जाकर पढ़ें और अच्छे पद पर आराम का जीवन बितायें । परन्तु स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार उनकी सेवा साधना अगले क्रम पर विकसित हो रही थी । सामाजिक सेवा का कर्तव्य भाव उन्हें पुकार रहा था । पिता से दृढ़तापूर्वक इन्कार करने के बाद भी वे इंग्लैण्ड गये और वहाँ से आइ० सी० एस० होकर लौटे । जब नौकरी का प्रश्न उठा तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया कि मैं नौकरी नहीं करूँगा । वह शासन तंत्र जो मेरी मातृभूमि के पैरों में जंजीर बना है का पुर्जा बनना उन्हें स्वीकार नहीं था । इसके बाद का उनका जीवन देश की एक लम्बी कहानी है । जिसका क्रमवार विवरण देने के लिए कई ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं फिर भी यह माना जाता है कि लिखी और प्रकाशित सामग्री पर्याप्त नहीं है ।

आजाद हिन्द सरकार के सूचना मंत्री एस० ए० अय्यर ने यह स्वीकार किया है कि उनका जीवन और पूरी दिनचर्या ईश्वर के प्रति अडिग निष्ठा तथा कर्मयोग के अनुसार संचालित हुआ करती थी । नेताजी ने पच्चीस माह तक पूर्वी एशिया में भारतीय मुक्ति आन्दोलन का नेतृत्व मिला । उनकी दृढ़ मान्यता है कि वे अपनी आस्थाओं को अडिग बनाते चलते ।

सिंगापुर में नेताजी अक्सर बहुत रात गये रामकृष्ण आश्रम से स्वामी जी को लाने के लिए कार भेजते । स्वामी जी के पास आधी-आधी रात तक बैठ कर वे आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा किया करते । सत्संग में स्फूर्त हो वे अपने अध्ययन कक्ष में चले जाते और भोर होने तक काम करते रहते थे ।

एस० ए० अय्यर ने लिखा है-"सभी चुनौतियों का सामना करने की शक्ति उन्होंने ईश्वर में अपनी अगाध निष्ठा से प्राप्त की थी । नेताजी के आकर्षक व्यक्तित्व और शक्ति शाली नेतृत्व का यह रहस्य था ।

माँ की महिमा के दर्शन

आजाद हिन्द फौज के संगठन के लिए सुभाषचन्द्र बोस एक बार बैंकाक भी गये । वहाँ पर्याप्त मात्रा में रहने वाले प्रवासी भारतियों ने उनका भव्य स्वागत किया । एक विशाल सभा में नेताजी ने परतन्त्र भारत की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए भारत भूमि की स्वतन्त्रता के लिए प्रवासी भारतीयों को प्रेरित किया । नेताजी का एक-एक शब्द इतना मार्मिक था कि उसने यहाँ भारतीयों को कुछ करने की प्रेरणा से उद्वेलित कर दिया । असंख्य प्रवासी भारतीयों ने भारतभूमि को स्वतन्त्र कराने का दृढ़ संकल्प लिया ।

नेताजी का उद्देश्य यहीं पूरा नहीं हो जाता था । उन्हें आजाद हिन्द फौज के संगठन के लिए धन की भी सख्त जरूरत थी । धन के अभाव में सेना के लिए अस्त्र-शस्त्र खरीदने में बाधा हो रही थी । परन्तु नेताजी समझ नहीं पा रहे थे कि इस बात को कैसे कहें ?

कुछ महिलाओं ने नेताजी के इस संकोच को समझ लिया । उन्होंने मंच पर आकर अपने आभूषण दान देने प्रारम्भ कर दिये । चार-छह महिलाओं ने भाव भीने स्वरों में अपनी यह श्रद्धांजलि अर्पित की फिर तो एक भव्य वातावरण ही बन गया । महिलाओं में यह होड़-सी लग गयी कि कौन पहले आकर अपने आभूषण दे । यहाँ तक कि बैंकाक की महिलाओं ने भी अपने गहने देने प्रारम्भ कर दिये ।

यह देखकर नेताजी भावाभिभूत हो गये । यह वही मंच था जहाँ कुछ दिनों पूर्व रासबिहारी बोस को बड़ा प्रयास करने के बाद भी एक हजार पौण्ड की राशि कठिनाई से ही प्राप्त हुई थी । नेताजी रुँधे हुए कण्ठ से बोले-"पुत्र कुपुत्र हो सकता है, माता कुमाता नहीं हो सकती । मुझे यहाँ निराश, दुःखी और लाचार देखकर सैकड़ों रूपों में मेरी माँ मेरी लाज छिपाने के लिए यहाँ भी आ गयीं । माँ के दो हाथों से ही मैंने अभी तक दुलार पाया था किन्तु आज तो माँ का ऐसा प्रेम मुझ पर उमड़ा है कि हजार हाथों से मेरी माँ मुझे दुलराते मेरा रूप सँवारने के लिए आ गयी है । भारत देश की आजादी के दर्शन मेरे भाग्य में बदे हैं या नहीं, मैं नहीं जानता । किन्तु आजादी के इस अभियान में मुझे माँ की महिमा के दर्शन हो गये, मैं सचमुच कृतार्थ हो गया ।" मातृ रूप की इस महिमा को सुनकर वहाँ उपस्थित प्रत्येक श्रोता की आँखें श्रद्धा से सजल हो उठीं ।

सर्वोपरि शक्ति मनुष्य

आजाद हिन्द सेना के लिये धन संग्रह किया जा रहा था । सुभाषचन्द्र बोस के आवाहन पर मलाया निवासी अपना सर्वस्व सौंप देने की होड़ में थे । ऐसी ही एक सभा में एक शाम नेताजी ने स्वर्णदान की अपील की । दूसरे दिन हजारों व्यक्तियों ने स्वर्णदान किया । एक व्यक्ति ने वहाँ पहुँचकर अपने घर का सारा सोना दान देते हुए नेताजी से कहा-क्या मेरी पात्रता इतनी तुच्छ है कि आप हमसे सोने की मिट्टी माँगते हैं ? क्या उससे बढ़ कर हमारे पास और कोई वस्तु नहीं ?

नेताजी उस शौर्य आग्रह को सुनकर गद्‌गद हो उठे । छलकते नेत्रों को रोककर उन्होंने कहा- आपमें से हर व्यक्ति देवता है और जहाँ देवता मिल जायें वहाँ धन की जरूरत नहीं रह जाती, आज से आप सब मेरे सेनापति और अब मैं एक सिपाही की तरह काम करूँगा ।

क्रान्ति धर्मी –

लाला हरदयाल

समय का धर्म गति है । इसी गति के साथ अभिन्न रूप से 'परिवर्तन' और 'क्रान्ति' शब्द जुड़े हुए हैं । भारत के राजनैतिक इतिहास को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि समय की गति का अनुसरण करने वाली क्रान्ति लाख दबाने पर भी दब नहीं सकी । क्योंकि वह उस युग की आवश्यकता थी । पंजाब में जब सरदार अजीत सिंह और लाला लाजपतराय को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जन-चेतना जगाने की गतिविधियों के संचालन के कारण 'ब्रिटिश रेग्युलेशन तीन के अन्तर्गत नजरबन्द कर दिया गया । पर इनके नजरबन्द किये जाने से क्रान्ति का पहिया जाम नहीं हो गया । क्रान्ति को नजरबन्द नहीं होना था, सो नहीं ही हुई । उसके स्थान पर कई क्रान्तिकारी नेता निकल आये । उन्हीं में से एक विख्यात नाम है-'लाला हरदयाल' का जिन्होंने विदेशों में रहते हुए समर्थ सशक्त क्रान्ति करने के उद्योग में महत्वपूर्ण सहायता दी थी ।

उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक के प्रारम्भिक वर्षों में, दिल्ली में जन्मे लाला हरदयाल को ईश्वर ने विलक्षण स्मरण शक्ति से विभूषित किया था । जिस बात को पढ़ लेते या सुन लेते वह उन्हें सदा के लिये याद हो जाती । यह अनुदान जिसे मिला हो उसके लिए विद्याध्ययन और विश्वविद्यालयों की डिग्रियाँ पाना सहज सरल होता है । साथ ही उन डिग्रियों के बल पर किसी भी कॉलेज या विश्वविद्यालय में उच्च पद पर आसीन हो सकना भी । किन्तु क्या ये अनुदान केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए मिलते हैं तो फिर इनसे व्यक्तिगत स्वार्थ साधना ही क्यों की जाय उनका उपयोग सार्वजनिक हित में क्यों न हो ।

लाला हरदयाल ने यह सोचते हुए अपनी इस विलक्षण स्मरणशक्ति का सदुपयोग अपने ही हित में नहीं राष्ट्र के हित में करना श्रेयस्कर समझा । उन्होंने आराम-तलबी न पसन्द करके सतत कर्मठता और कष्ट-कठिनाइयों का मार्ग चुना- राष्ट्रीय क्रान्ति का मार्ग । वे चाहते तो मजे से देश विदेश के किसी कॉलेज या विश्व-विद्यालय में मान्य प्रोफेसर या प्रिंसिपल के पद पर रहकर पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का लेखन किया करते । धन, मान और आराम सब उन्हें सहज सुलभ होता किन्तु उन्होंने इस ईश्वरीय अनुदान का महत्व समझा और उसका उपयोग वैसे ही महत्वपूर्ण कार्य में किया जहाँ किया जाना चाहिए ।

मेधावी छात्र होने के कारण उन्होंने एम० ए० में इतने अंक प्राप्त किये कि उन्हें उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड जाकर पढ़ने के लिए सरकारी छात्रवृत्ति मिली । उस छात्रवृत्ति से वे इंग्लैण्ड गये और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ने लगे । किन्तु उनकी यह पढ़ाई अधिक दिनों तक जारी न रह सकी । उन्होंने अन्तःकरण से आती आवाज को सुना-"तुम अकेले ही उच्च शिक्षा प्राप्त करके सम्पन्न और सुखी जीवनयापन कर लो इससे क्या होने वाला है । देश पराधीन है । देशवासी दुःखी और त्रस्त हैं । अकेले व्यक्ति की प्रगति, सुख और सम्मान तब तक बेमानी हैं जब तक वह जिस समाज में रहता है वह भी प्रगतिशील, सुखी और स्वतन्त्र नहीं होता ।" अतः उन्होंने व्यक्तिगत सुख साधन की अपेक्षा देश को स्वतन्त्र कराने के लिए काम करना उचित समझा और ऑक्सफोर्ड में चल रही पढ़ाई को छोड़कर अपने देश आ गये ।

उनके दिल्ली आने से पहले ही यह स्थान क्रान्तिकारी गतिविधियों का केन्द्र बनता जा रहा था । रास बिहारी बोस और मास्टर अमीरचन्द मिलकर भीतर ही भीतर क्रान्ति की आग सुलगा रहे थे । स्कूलों और व्यायामशालाओं के माध्यम से ऐसे कई युवक खोज कर

संगठित प्रशिक्षित भी किये जा सके थे जो समय आने पर प्राणों पर खेलकर भी ऐसे काम कर दिखायें जो अनगिनत देशवासियों के हृदय में देशभक्ति का ज्वार उमड़ाने में सहायक हो सकें । उन्होंने जब अपने मन की बात इन लोगों को बतायी तो मास्टर अमीरचन्द व रासबिहारी बोस ने उनका हार्दिक स्वागत किया और कुछ समय के लिए वे दिल्ली की क्रांतिकारी गतिविधियों के सूत्र संचालक ही बना दिये गये ।

हार्डिग्ज बम के केस के समय वे ही दिल्ली के क्रान्तिकारी संगठन के नेता थे । ब्रिटिश राजधानी कलकत्ता से बदल दिये जाने के उपलक्ष्य में २३ दिसम्बर को वायसराय लॉर्ड हार्डिग्ज की विराट और भव्य शोभायात्रा के पीछे अंग्रेज सरकार का यही उद्देश्य था कि भारतवासियों पर अपनी शक्ति और वैभव का सिक्का जमा दें किन्तु क्रान्तिकारियों ने उनके इस उद्देश्य को सफल नहीं होने दिया । लार्ड हार्डिग्ज का जुलूस जब चाँदनी चौक की ओर बढ़ा तभी एक भयंकर धमाके के कारण जुलूस में भगदड़ मच गयी । लार्ड हार्डिग्ज पर बम फैंका गया । वह तो बाल-बाल बच गया पर उसका ए० डी० सी० मारा गया था । रंग में भंग हो गया, महीनों की तैयारी और लाखों रुपयों का खर्च बेकार गया अंग्रेज सरकार का । लोगों के दिलों पर उनकी शक्ति और वैभव की धाक तो नहीं बैठी उलटे यह भावना पुष्ट हुई कि इन्हें भगाया भी जा सकता है ।

हार्डिग्ज बम केस के बाद जो गिरफ्तारियाँ हुईं उनमें लाला हरदयाल नहीं थे । वे क्रान्तिकारी आन्दोलन को गति देने के लिए विदेश जा पहुँचे क्योंकि यहाँ रहने पर उनका पकड़ा जाना सुनिश्चित था । इस केस में मास्टर अमीरचन्द, अवधबिहारी, भाई बालमुकुन्द और बसन्त कुमार विश्वास को फाँसी की सजा हुई और हनुमन्त सहाय और बलराज भल्ला को सात-सात वर्ष की कालेपानी की सजा हुई । क्रान्ति के सूत्र संचालक रासबिहारी बोस और लाला हरदयाल विदेश चले गये । वहीं से उन्होंने अपना यह स्वतन्त्र अभियान चलाया जो आगे चलकर गदर पार्टी और आजाद हिन्द सेना के रूप में सामने आया ।

इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय भी जब ब्रिटिश राज के अन्तर्गत जो विशाल साम्राज्य था उसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता था, जबकि अधिकांश भारतवासी ब्रिटिश राज्य को उखाड़ ही फैंकना असम्भव मानते थे, उस अन्धकार युग में भी कितने ही लोग ऐसे थे जो ब्रिटिश राज्य की समाप्ति को सुनिश्चित सा मानते हुए प्राण-पण से उसकी जड़ों में तेल डालने में लगे हुए थे । उन्हीं में से एक लाला हरदयाल भी थे । कहना न होगा कि आज भी जो लोग नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक क्रान्ति की बात करते हैं या उसके लिये अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को, अपनी भी आर्थिक प्रगति को बिसार कर युग परिवर्तन या सांस्कृतिक नैतिक पुनरुत्थान के अभियान में प्राण-पण से जुटे हैं । बहुत सम्भव है उसका भी वैसा ही सत्परिणाम देखने को मिले । जिसकी आज कल्पना ही नहीं की जा सकती । भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में इसे देखा जाय तो वह प्रभात आना सुनिश्चित है जिसकी आज के अन्धकार युग में सम्भावना दुष्कर प्रतीत होती है ।

लाला हरदयाल जब विदेश पहुँचे तो वहाँ भी उन्हें कई भारतवासी स्वदेश की स्वतन्त्रता का सुखद स्वप्न देखते हुए मिले । उस समय ऐसे कई भारतवासी विदेशों में रहकर भारत को स्वतन्त्र करने के लिये काम कर रहे थे । डा० पाण्डुरंग सदाशिव खान खोजे इसी उद्देश्य से विदेश गये थे । कई भारतीय सुरेन्द्रमोहन बोस, अधरचन्द 'लश्कर' खगेन दास, तारकनाथ दास तथा गिरीन मुखर्जी आदि प्रमुख थे । अच्छी तरह से अमेरिका में जमे हुये थे । पंजाब के प्रवासी भारतीयों ने अमेरिका में रहते हुए भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए बहुत काम किया था । खान खोजे की इण्डियन इण्डिपेन्डेंस की तरह 'हिन्दी एसोसियेशन' भी इसी अभियान में जुटी हुई थी । हिन्दी से उनका भाषा नहीं भारतवासी से तात्पर्य था यह जानकर सुखद आश्चर्य होता है कि उस समय के विदेशी पंजाबियों के मानस में राष्ट्रीयता की भावना थी । उसकी तुलना में आज की पृथक् खालिस्तान की माँग कितनी छोटी और ओछी लगती है।

लाला हरदयाल ने इस हिन्दी एसोसियेशन को 'गदर पार्टी' के रूप में विकसित किया। लालाजी बहुत सुन्दर व्याख्यान दे लेते थे । उन्होंने अमेरिका में भारतीय सभ्यता और भारतीय दर्शन पर ऐसे पांडित्यपूर्ण और हृदयग्राही भाषण दिये थे कि सुनने वाले दंग रह गये । अमेरिका वासी उनकी इस प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए । कई विद्यालयों की ओर से उनके पास भारतीय दर्शन के प्रोफेसर बनने के प्रस्ताव आये । जिन्हें स्वीकार करके वे विदेशों में सम्पन्न और सम्मानित जीवनयापन कर सकते थे। किन्तु वे इस उद्देश्य से तो विदेश नहीं गये थे । उनके हृदय-कुण्ड में तो कुछ दूसरी ही आग जल रही थी ।

उन्होंने वहाँ गदर-पार्टी का गठन किया जिसका उद्देश्य प्रवासी भारतीयों की सहायता से भारत में सफल विद्रोह करना था । वे इस पार्टी के मन्त्री थे । अध्यक्ष थे बाबा सोहन सिंह और उपाध्यक्ष थे बाबा केसर सिंह, कोषाध्यक्ष बने पं० काशीराम जोशी जो बाद में इसी विद्रोह के लिए भारत आये थे ।

गदर-पार्टी द्वारा "गदर" नामक एक पत्र का भी प्रकाशन किया गया । इस पत्र के सम्पादन में लाला हरदयाल ने अपनी बौद्धिक क्षमताओं का नियोजन किया । नवम्बर, १९१३ में गदर का पहला अंक प्रकाशित हुआ । इसी अंक में 'गदर' पत्र का उद्देश्य भी स्पष्ट किया गया था । १९१३ के पहले नवम्बर को भारतीय इतिहास

में एक नये युग का सूत्रपात होता है, क्योंकि आज विदेश में अपनी भारत की भाषा में अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध संग्राम का आरम्भ होता है । हमारे पत्र का नाम क्या है ? 'गदर'। हमारा कार्य क्या है ? 'गदर' । यह 'गदर' कहाँ होगा ? भारत में । कब होगा ? कुछ सालों में । क्यों होगा ? क्योंकि अब भारत की जनता ब्रिटिश राज्य के अत्याचार के जुए को झेलते-झेलते उकता चुकी है और वह उसे आगे झेल नहीं सकती ।

पत्र कई भारतीय भाषाओं में छपता था और दूर-दूर तक फैले हुए भारतवासियों को एक उद्देश्य-सूत्र में बाँधने का काम करता था । यह हांगकांग और सिंगापुर तक जाता था । सर्वत्र इसका स्वागत होता था । पंजाब में तो इसके सम्बन्ध में कई लोकगीत भी बन गये थे । पत्र के साथ ही संगठन का काम भी चलता था ।

स्थान-स्थान पर सभायें आयोजित की जाती थीं । इनके माध्यम से धन संग्रह का काम होता था । लोगों में अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिये कितना जोश था इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जब धनदान की बात आती थी तो लोग अपनी बैंक पास-बुकों को ही भेंट कर देते थे जिसका अर्थ होता था अपनी सारी सम्पदा का दान ।

गदर-पार्टी के उद्देश्य के पीछे मात्र जोश रहा हो सो बात नहीं । उसको लाला हरदयाल सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर चले थे । गदर-पार्टी का दृष्टिकोण राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय था । भारत के स्वतन्त्रता के लिये ही नहीं जहाँ कहीं भी उसके सदस्य रहते थे वे वहाँ यदि स्वतन्त्रता आन्दोलन चलता था तो उसमें पूरी-पूरी सहायता करने के भी कटिबद्ध थे ।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय विद्रोह का उपयुक्त समय समझकर १९१६ की २१ फरवरी क्रान्ति के लिए निर्दिष्ट हुई । इसमें बर्लिन की क्रान्तिकारी कमेटी और जर्मन सरकार का भी समुचित सहयोग लिया जाना था किन्तु क्रान्ति की यह योजना और तिथि गुप्त नहीं रह सकी । जिसके फलस्वरूप युद्ध सामग्री व क्रान्तिकारियों से भरे हुए जहाज तट पर लगते ही पकड़ लिये गये । क्रान्ति लगभग असफल हुई । पकड़े गये लोगों पर कई मुकद्मे चले, कइयों को फाँसी व जन्म कैद हुई ।

१९१४-१८ के बीच का क्रान्ति प्रयास असफल हुआ इसका यह अर्थ यह नहीं है कि वह निष्फल गया । यद्यपि तत्कालीन इतिहास लेखकों ने सत्य पर पर्दा डाला है । फिर भी जितने तथ्य उपलब्ध हैं वे भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं । लाल हरदयाल का अपना एक महत्व है जिसे भुलाया नहीं जा सकता । यह बात दूसरी है कि वे अपनी इस असफलता से निराश होकर सदा के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन से हाथ खींच गये पर अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में उन्होंने जो आदर्श प्रतिष्ठापित किये उनसे कई लोगों ने प्रेरणा ली । उनके अलग हो जाने पर भी क्रान्ति का प्रवाह तो बढ़ता ही गया और भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिली । राजनैतिक क्रान्ति के बाद क्रान्ति के अगले सोपानों पर भी हमें उसी प्रकार चढ़ना होगा । उसके लिये लाला हरदयाल का यह राष्ट्र प्रेम हमें बल देगा यह निश्चित है ।

स्वतन्त्रता संग्राम के क्रान्तिकारी—

शम्भुनाथ आजाद

मद्रास हाईकोर्ट के आस-पास सुबह से ही भीड़ एकत्रित होने लगी । छोटे-छोटे बच्चे तक अपने पिता की अंगुलियाँ पकड़े बड़ी उत्सुकता से बढ़ते चले जा रहे थे । आज शहर में चर्चा थी कि मद्रास बम-काण्ड के अपराधियों को सजाएँ सुनाई जायेंगी । प्रातः ९ बजे पुलिस की गाड़ी शम्भुनाथ आजाद तथा अन्य क्रान्तिकारियों को लेकर न्यायालय पहुँची । गाड़ी को देखते ही 'भारत माता की जय' 'देशभक्त अमर रहें' के नारों से आकाश गूँज उठा । देशभक्तों ने बाहर निकल कर उनके स्वर में स्वर मिलाया ।

न्यायालय के अन्दर का कमरा खचाखच भरा था फिर भी वातावरण एकदम शांत था । क्रान्तिकारियों के ओजस्वी चेहरों पर विशेष प्रकार की चमक थी । वकीलों तथा उपस्थित जनसमूह की दृष्टि देशभक्तों पर ही थी । निश्चित समय पर न्यायाधीश उपस्थित हुए । लोगों के मस्तिष्कों में अनेक प्रकार के विचार उठ रहे थे । सबके कान न्यायाधीश की ओर लग गए । उन्होंने बम-काण्ड की स्थिति का संक्षेप में वर्णन करते हुए क्रान्तिकारियों के भाग्य का निर्णय सुना दिया । शम्भुनाथ आजाद और प्रेमप्रकाश को आजीवन कारावास का दण्ड देकर काला पानी भेजने की व्यवस्था करदी गई ।

अन्य साथियों को सजा दी गई । निर्णय सुनाकर न्यायाधीश महोदय न्यायालय से ऐसे निकल रहे थे मानो अपने पुत्र का ही अन्तिम संस्कार कर लौटे हों ।

अपार जनसमूह अपनी सजल नेत्रों से क्रान्तिकारियों को एकटक देख रहा था । लोगों के मन में घोर निराशा थी, जबकि क्रान्तिकारियों के चेहरों पर तेज झलक रहा था । वे दृढ़ता के साथ पुलिस की लारी की ओर बढ़ रहे थे । भीड़ पुलिस के नियन्त्रण को तोड़कर अपने देशभक्तों के दर्शन हेतु आगे बढ़ रही थी । गाड़ी स्टार्ट हुई और सबकी आँखों से ओझल हो गई ।

अक्टूबर, १९२३ में अमृतसर में क्रान्तिकारियों की एक गुप्त बैठक हुई । उसमें दक्षिण भारत में क्रान्तिकारी आंदोलन के विस्तार पर विचार-विमर्श हुआ । बैठक में शम्भुनाथ आजाद, रोशनलाल, बन्तासिंह तथा गोविन्दराम

वर्मा उपस्थित थे । इसमें रोशनलाल और गोविन्दराम वर्मा की ही ऐसी स्थिति थी कि अपने घर से धन लाकर इस आंदोलन को गति प्रदान करें । शम्भुनाथ और बन्तासिंह तो योजनाओं को कार्यरूप में परिणित करने के प्रयत्न में ही सदैव व्यस्त रहते थे । इस समय अन्तर्प्रान्तीय षड्यन्त्र के सम्बन्ध में पुलिस काफी सतर्क थी । जगह-जगह देशभक्तों की धर पकड़ जारी थी । गुप्तचर विभाग भी बड़ा सक्रिय था ।

अप्रैल, १९३३ में उटकमण्ड में क्रान्तिकारियों ने एकत्रित होकर डकैती डालने की एक योजना तैयार की । २५ अप्रैल को नित्यानन्द और रतनम् ऊटी पहुँच गए । २६ अप्रैल की रात्रि को अन्य साथियों को भी प्रस्थान करना था । पहुँचने भर की देर थी उन्होंने सारी स्थिति का सूक्ष्म रूप से अध्ययन किया ।

संचार व्यवस्था अस्त-व्यस्त कर दी गई । बड़ी सतर्कता के साथ बैंक पर धावा बोल दिया गया । बैंक कर्मचारी भयभीत हो गये, लोग जान बचाकर भागने लगे । कुछ देशभक्त कर्मचारी अवश्य इस कांड को चुपचाप खड़े देखते रहे । बैंक लुट गई ।

बिजली की तरह यह खबर पूरे शहर में फैल गई । पुलिस ने आकर चारों ओर से रास्ता घेर लिया । नित्यानन्द और खुशीराम मेहता ईराडे स्टेशन पर पुलिस द्वारा बन्दी बना लिये गये । बन्तासिंह और बच्चूलाल पुलिस पर गोली चलाते हुए निकल भागे । शम्भुनाथ भी बाल-बाल बच गए ।

नित्यानन्द की गिरफ्तारी इस दल के लिए अभिशाप सिद्ध हुई । वह पुलिस का मुखबिर बन गया और उसने सारी गुप्त योजनाओं का भेद पुलिस को दे दिया । अब इन क्रान्तिकारियों के सम्मुख एक ही विकल्प था कि या तो वे अपने को पुलिस के हाथों में सौंप दें अथवा मद्रास छोड़कर अन्यत्र चले जायें । यह स्थान छोड़ने से पूर्व तय कर लिया कि जो रसायन सामग्री शेष है उससे बम बनाकर परीक्षण किया जाए और ऊटी बैंक डकैती के सिलसिले में गिरफ्तार साथियों को शीघ्र ही छुड़ाने की व्यवस्था की जाए ।

अन्तोगत्वा ३० अप्रैल, १९३३ को उन्होंने पुराना मकान छोड़कर तम्बे पट्टी स्ट्रीट में एक नया मकान लेकर केन्द्र की स्थापना की । थोड़े ही समय में बम बनकर तैयार हो गया । उसका परीक्षण रात्रि में ९ बजे रामपुरम् समुद्र तट पर किया गया । इसी परीक्षण में रोशनलाल को अपनी जान गँवानी पड़ी । अब पुलिस को अच्छी तरह मालूम हो गया कि क्रान्तिकारियों की गतिविधियों का केन्द्र मद्रास शहर ही है ।

४ मई, १९३३ समय दिन के ११ बजे का । क्रान्तिकारी अगली योजनाओं पर गुप्त मंत्रणा कर रहे थे । दरवाजा खटखटाने की आवाज सुनी गई । बराबर की खिड़की से झाँककर देखा मकान के पीछे हथियार बन्द पुलिस खड़ी थी । अब उनके पास बचने का तरीका ही कौन-सा था ? सभी क्रान्तिकारी सतर्क हो गये । गुप्त कागजात और ऊटी बैंक के नोट जलाकर राख कर दिये ताकि पुलिस के हाथ कुछ न लग सके । वे सभी हथियार लेकर मोर्चेबन्दी के लिए छत पर चढ़ गये ।

पुलिस ने क्रांतिकारियों को ऊपर देखा तो उन्होंने गोली चलाई, गोविन्दराम ने भी जबाब में अपनी रायफल से एक के बाद एक फायर करना शुरू कर दिया । सिपाहियों की संख्या बढ़ती जा रही थी । उन्होंने मकान को चारों ओर से घेर लिया । उसी समय उधर से ताजियों का जलूस निकला । पुलिस ने इस भीड़ का लाभ उठाया डाकू लूट रहे हैं अतः सबको पुलिस की मदद करनी चाहिए । भोली जनता को क्या मालूम था कि देशभक्तों को डाकू बताकर बन्दी बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। जनता ने पथराव शुरू कर दिया । भीड़ बढ़ने लगी । क्रान्तिकारियों ने गगनभेदी नारे लगाना शुरू कर दिया । अब जनता वस्तुस्थिति समझ चुकी थी । उसने पत्थर फेंकना बन्द कर दिया ।

यह मकान आस-पास के मकानों से ऊँचा था और छत पर भी २.५ फीट ऊँची जाली लगी हुई थी । क्रांतिकारियों ने छत पर लेटकर मोर्चा बनाया और डटकर सामना करने का निश्चय किया । दोनों ओर से गोलियाँ सनसना रही थीं । अंग्रेज अधिकारी अपनी सहायता के लिए पुलिस की टुकड़ियों को बढ़ाते जा रहे थे । मोर्चेबन्दी को सात घण्टे का समय हो गया था । जब क्रान्तिकारियों के पास सिर्फ ५ कारतूस ही शेष रह गये थे । उन्होंने सुलह के लिए सफेद कपड़ा दिखाया पर पुलिस ने इस विवशता का लाभ उठाकर और अधिक गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं ।

इच्छा न होते हुए भी क्रान्तिकारियों ने बम गिरा दिया । हाहाकार मच गया, चारों ओर विषैला धुआँ फैल गया, इसी धुँए में क्रान्तिकारियों ने अपना रास्ता खोजने का प्रयास किया । शम्भुनाथ एक छत से दूसरी छत पर और दूसरी से तीसरी पर कूदफाँद करते हुये गली में जा पहुँचे और भागने लगे । पुलिस ने पीछा किया । आजाद को एक चाल सूझी । उन्होंने नोटों के बन्डल फेंकने शुरू कर दिये । कुछ लोग तो लोभ में पड़कर सड़क पर नोट ढूँढ़ने लगे पर बाकी सिपाहियों ने उनका पीछा किया । वह पकड़े गए । हथकड़ी डाल दी गयीं । थोड़ी ही देर में हीरालाल कपूर को पकड़ लिया गया और दोनों ही क्रान्तिकारियों को जेल पहुँचाया गया । बाद में मद्रास बम कांड के नाम से मुकदमा चला ।

भारत को परतंत्रता की शृंखलाओं से मुक्त कराने में जिन क्रान्तिकारी देशभक्तों ने अपने सर पर कफन बाँधकर कदम बढ़ाये थे उनमें शम्भूनाथ आजाद को विस्मृत नहीं किया जा सकता । ऐसे निस्पृह सैनिक ही किसी देश की

धरोहर होते हैं । भारतमाता को भी अपने इस लाड़ले सपूत पर गर्व है । उन्होंने अपनी जान पर खेलकर मातृभूमि के ऋण को चुकाने में सफलता प्राप्त की और अपने उदाहरण द्वारा नवयुवकों को देशभक्ति की प्रेरणा दी ।

काकोरी काण्ड के शहीद

चन्द्र शेखर आजाद

९ अगस्त, १९२५ का ऐतिहासिक दिन । शाहजहाँपुर लखनऊ एक्सप्रेस काकोरी स्टेशन पर ठहरी । तब नवयुवकों ने द्वितीय श्रेणी के लखनऊ के टिकट लेकर डिब्बे में प्रवेश किया । स्टेशन से गाड़ी चली और सिंगनल के पास जाकर रुक गई । "अवश्य किसी ने जंजीर खींचकर गाड़ी रोकी है ।" एक यात्री ने कहा । तब दूसरा यात्री बोला-"शायद कोई मुसाफिर गाड़ी में चढ़ने से रह गया होगा ।"

तीनों नवयुवक गार्ड के डिब्बे में पहुँचे । हवाई फायर हुए । इस डिब्बे में सरकारी खजाने का बक्सा जा रहा था । यात्रियों को सचेत किया गया "खबरदार, किसी ने नीचे उतरने की हिम्मत की तो गोली मार दी जायगी । सरकारी खजाना लूटा जा रहा है ।" ऐसा कौन सा मुसाफिर था जो जलती आग में कूदने का प्रयास करता ।

यह सनसनीखेज डकैती ब्रिटिश सरकार के लिए एक चुनौती थी । इस काण्ड से संबन्धित व्यक्तियों को पकड़ने के लिए गुप्तचर विभाग के कर्मचारी चारों तरफ फैल गए थे । प्रदेश के मुख्य-मुख्य नगरों और स्टेशनों पर उनके फोटो चिपकाये गए और पकड़ने वालों को भारी इनाम देने की घोषणा भी की गई । २६ सितम्बर, १९२५ को काफी लोगों की गिरफ्तारियाँ हुई पर चन्द्रशेखर आजाद तथा उनके अन्य साथी न पकड़े जा सके ।

क्रान्तिकारी दल को सशक्त बनाने के लिये पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में डाके डाले गये । पहला डाका फतहपुर के गाँव में डाला गया पर सफलता हाथ न लगी । क्रान्तिकारी ऐसी धातु के बने न थे कि छोटी-छोटी असफलताओं से निराश हो जायें । एक के बाद दूसरे डाके डाले गए उसी श्रृंखला में यह काकोरी की डकैती भी थी ।

चन्द्रशेखर आजाद पुलिस से बचने के लिए साधुवेश में ओरछा चले गये । ओरछा स्टेशन के पास टिमरापुर गाँव है । गाँव के पास सांतार नदी है उसी के किनारे हनुमान जी का मन्दिर है । मन्दिर के पास कुटी बनाकर आजाद रहने लगे । इस समय इनका नाम हरिशंकर ब्रह्मचारी था । यह जंगली क्षेत्र था रात को कितने ही जंगली जानवर उस नदी में पानी पीने आते थे । अकेले उस कुटिया में रात निकालना साधारण बात न थी । फिर भी कई दिनों तक उस मन्दिर में सोते रहे । उन दिनों रियासतों में बन्दूकों पर लायसेन्स लेना आवश्यक न था । इसलिए उनकी सुरक्षा हेतु टिमरापुर गाँव के लोगों ने एक बन्दूक की भी व्यवस्था कर दी थी । बन्दूक मन्दिर में रखी रहती ।

ब्रह्मचारी अपनी तेजस्विता, मृदुलता और स्वभाव की सरलता के कारण उस क्षेत्र में लोकप्रिय होते जा रहे थे । वह रामायण का सस्वर पाठ करते और गाँव के बच्चों को पढ़ा दिया करते थे । उनकी गाँव के नम्बरदार चतुर ठाकुर से अच्छी घनिष्ठता हो गई थी । ठाकुर साहब तो ब्रह्मचारी जी को अपने सगे भाई से भी ज्यादा चाहने लगे थे । जो भी व्यक्ति ब्रह्मचारी जी से मिलने आता उसे सबसे पहले गाँव के ठाकुर से मिलना होता था, वही आगन्तुक के भोजन की व्यवस्था करते और दूध, लड्डू का नाश्ता कराते; फिर ब्रह्मचारी जी के पास संदेशा भेजते, कभी ब्रह्मचारी जी स्वयं आ जाते और कभी मन्दिर में अतिथि को बुला लेते । ब्रह्मचारी जी से मिलने के लिए कितने ही क्रान्तिकारी साथी, राजगुरु, सुखदेव, भगतसिंह, कुन्दनलाल, भगवानदास माहौर, विजय कुमार सिन्हा, रुद्रनारायण, सदाशिव राव और वैशम्पायन आदि आते रहते थे ।

शीघ्र ही सांतार नदी का किनारा क्रांतिकारी आंदोलन की गतिविधियों का केन्द्र बन गया । ब्रह्मचारी जी लगभग १८ माह तक क्षेत्र में रहकर क्रान्तिकारी दल का पुनर्गठन करते रहे । पर यह क्रम अधिक समय तक न चल सका । एक दिन एक जटाधारी बाबा कहीं से घूमते हुये वहाँ आ पहुँचे । उन्हें सांतार नदी के किनारे वाला वह स्थान बहुत पसंद आया । वह भी वहीं मन्दिर के प्रांगण में धूनी रमाकर रहने लगे । बाबा और ब्रह्मचारी जी के स्वभाव में जमीन आसमान का अन्तर था । बाबा उग्र स्वभाव के थे। एक दिन की बात बाबा की किसी ग्रामवासी से कहासुनी हो गयी । उन्होंने आव देखा न ताव बन्दूक उठाकर उसके प्राण हर लिए । बाबा जी पकड़े गये पुलिस का आना शुरू हो गया । ब्रह्मचारी जी तो पुलिस से बचने के लिए ही यहाँ अज्ञातवास कर रहे थे। वह बिना कुछ कहे सुने अन्यत्र चले गये । ग्रामवासी तथा ठाकुर परिवार उन्हें ढूंढ़ता रहा पर उनका कहीं पता न चला ।

अब ब्रह्मचारी जी अपने असली रूप में झाँसी आ गए थे । यहाँ वह मोटर चालक रामानंद के पास मोटर का कार्य करने लगे । आजाद के सारे कार्यों के पीछे क्रान्तिदल को सशक्त बनाकर देश को आजादी दिलाना ही प्रमुख उद्देश्य था । इसी समय मास्टर रुद्रनारायण के द्वारा इनका परिचय दतिया रियासत के दीवान नाहरसिंह से हुआ । दीवान साहब अच्छी तरह जानते थे आजाद के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारी पुरस्कार घोषित किया है। फिर भी

इन्होंने इस रहस्य का उद्घाटन अंत तक न किया । कुछ समय पश्चात् दीवान साहब को दतिया छोड़नी पड़ी ।

सन् १९२८ में आजाद के कहने पर उनके क्रान्तिकारी मित्र भगवान दास माहौर ने ग्वालियर में नाका चन्द्रबदनी पर एक मकान किराये से लिया । यहाँ भगतसिंह आजाद, विजयकुमार सिन्हा तथा माहौर आदि क्रान्तिकारी नेता एकत्रित होते और दल के संचालन के सम्बन्ध में समय-समय पर मंत्रणाएँ करते ।

आजाद का पूरा जीवन भारतीय स्वतन्त्रता के लिए क्रान्तिकारी ढंग से लड़ाई लड़ने की कहानी का जीवन है। जिसमें छोटी बड़ी अनेक घटनाएँ जुड़ी हुई हैं । ऊपर तो कुछ घटनाएँ मात्र उनके साहस और चातुर्य का परिचय देने के लिए दी गई हैं । ऐसी घटनाओं की एक सुविस्तृत शृंखला है जो बताती है कि उनमें बड़े से बड़े खतरों को साहसपूर्वक कन्धे पर उठाने तथा देश की आजादी के लिए कुछ भी कर गुजरने की उत्कट अभिलाषा थी । क्रान्तिकारी संगठन और उसके संचालन में उन्हें मूर्धन्य गिना जाता है और उनके दुस्साहस भरे अगणित संस्मरणों को देश भर में भाव विभोर श्रद्धा के साथ सुना जाता है ।

२७ फरवरी, १९३१ का दुर्दिन समय प्रात: १ बजे का । आजाद ने इन दिनों इलाहाबाद को अपने दल का केन्द्र बनाया था । किसी मुखबिर ने खबर दी कि आजाद अलफ्रेड पार्क में हैं फिर क्या था ? नाट बाबर ने पुलिस के साथ पार्क का घेरा डाल दिया । आधे घण्टे तक गोलियाँ चलती रहीं । आजाद ने पिस्तौल से मुकाबला किया । पुलिस अधीक्षक नाट बाबर की गोली आजाद की जाँघ में लगी । आजाद की गोली से नाट बाबर का दाहिना हाथ घायल हो गया और पिस्तौल गिर गई । नाट बाबर ने मौलश्री के पेड़ के पीछे शरण ली । जब जब नाट बाबर के शरीर का कोई अंग मौलश्री के पेड़ से बाहर दिखाई देता । आजाद का वार उस पर होता था । ठाकुर विशेसर सिंह ने समर हाउस की ओर से आजाद पर गोली चलाई और इसके उत्तर में आजाद की गोली ने उनका जबड़ा तोड़ दिया ।

इस कठिन संघर्ष से बच निकलना आजाद के लिए कठिन था । अत: उन्होंने अपनी गोली से अपनी जीवन लीला समाप्त कर ली । आजाद के शहीद हो जाने के बाद भी किसी अधिकारी और सिपाही की इतनी हिम्मत न हो रही थी कि वह लाश के पास जाये । जमीन पर पड़े जामुन के पत्ते उनके खून से तर हो गये थे ।

पहले तो आजाद की माँ को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि उनका पुत्र देश के काम आया होगा पर जब दिल्ली षड्यन्त्र से छूटने के पश्चात् विश्वनाथ वैशम्पायन क्रान्तिकारी की माँ के पास गये और दिल दहलाने वाली पूरी घटना सुनाई तो माँ के कण्ठ से यही निकला -"मेरा शेखर देश के काम आया, इससे अधिक किसी माँ के लिए गौरव की बात और क्या हो सकती है, वह शरीर से भले ही शहीद हुआ हो पर नाम से सदैव जीवित रहेगा ।"

स्वतन्त्रता की पावन-वेदी पर समर्पित इस शहीद का जन्म दिनांक २३ जुलाई को झाबुआ जिले के भावरा ग्राम में हुआ था । वह बचपन के १३ वर्षों तक अपने पिता पण्डित सीताराम तथा माता जगतरानी के साथ इसी गाँव में रहे । पढ़ने में उनकी तबियत न लगती थी । स्कूल के बहाने वह घर से निकल जाते और घने जंगल में अपने मित्रों के साथ थानेदार और डाकू का खेल खेलते रहते थे । तीर कमान और बंदूक चलाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था । आदिवासियों के साथ रहने के कारण ही वह तीर चलाने में बड़े कुशल हो गये थे । पिता चाहते थे कि बेटा संस्कृत का अध्ययन कर वेद का ज्ञाता और विद्वान बने पर वह घर छोड़कर स्वच्छन्द पक्षी की तरह उड़ जाना चाहते थे और एक दिन वह बिना सूचना के घर से चले गये । बाद का जीवन तो एक क्रान्तिकारी के रूप में सामने आया ।

उन्होंने जिस दिन आजादी के लिए अपने खून से होली खेली । उसके बहुत समय बाद टिमरापुर गाँव के ठाकुर परिवार तथा अन्य लोगों को यह पता चला कि मन्दिर के पास में रहने वाले ब्रह्मचारी कोई और नहीं वरन् चन्द्रशेखर आजाद ही थे तो उन सबने अश्रुपूरित नेत्रों से आजाद को मौन श्रद्धांजलि दी साथ ही अपने भाग्य को सराहा कि देशभक्त की सेवा करने, सम्पर्क में रहने और सहयोग प्रदान करने का उन्हें सौभाग्य मिला ।

सातार नदी तट पर स्थित वह कुटिया जैसी थी आज भी वैसी ही बनी हुई है । यहाँ का घाट मन्दिर पक्का बन गया है । कुटिया में आजाद का चित्र टँगा है जहाँ प्रतिवर्ष सैकड़ों नर-नारी उन्हें अपने श्रद्धा सुमन चढ़ाने जाते हैं । इसी तरह उनके जन्म स्थान भावरा की कुटिया भी सुरक्षित रखी गई है ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए दीर्घकाल तक सतत संघर्ष करने वाले और अपने प्राणों को भी भारत माता के चरणों मे न्योछावर करने वाले देशभक्तों की याद सदैव आती रहेगी और नयी पीढ़ी को राष्ट्रहित में अपनी सेवाएँ प्रदान करने के लिए संदेश देती रहेगी ।

रौद्रता के भीतर सहृदयता के अंकुर

भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम अपने वेग पर था । उग्रवादी तथा खून शान्त तरीकों के अतिरिक्त हिंसात्मक प्रतिकार पर भी उतर आया था । अंग्रेजों को अपनी दमन-नीति पर गर्व था- वे प्रदर्शित करने लगे थे कि भारतीय जवानों में कड़े प्रतिकार की क्षमता नहीं है । ऐसी स्थिति में शान्ति पूर्ण आन्दोलन तथा सहनशीलता पूर्ण प्रतिकार के साथ, शौर्य एवं उग्रता का नमूना भी उनके सामने रखना आवश्यक-सा लगा । उन परिस्थितियों में जो युवक उस

आन्दोलन में कूद पड़े- उनके कार्य को देखकर बड़े-बड़ों के हौसले पस्त हो गये । दहकते हुए अंगार जैसे उनके व्यक्तित्व का तेज सहन करना कठिन था । फिर भी उनके अन्तःकरण में मानवता, सहृदयता तथा भावनाशीलता के जो पावन स्रोत बहते थे- उनको देख सकने वाले गद-गद हो उठते थे । उनका मानवीय गुणों से पूरित अन्तःकरण ही वह प्रधान कारण था जो उन्हें अनर्थकारी विघटन से रोके रहा तथा उनके विद्वेष को भी रचनात्मक बनाये रहा ।

चन्द्रशेखर आजाद उस समय अखिल भारतीय स्तर के क्रान्तिकारी के रूप में सामने आ चुके थे । अंग्रेज सरकार उनकी खोज में थी और वे उन दिनों ओरछा के जंगलों में थे । तभी उन्हें सूचना मिली कि उनके क्रान्तिकारी स्वरूप के गठन में सहयोग देने वाले एक शिक्षक की बच्ची का विवाह होने वाला है ।

चन्द्रशेखर आजाद यों ही जोश में आकर मैदान में नहीं कूद पड़े थे । उन्होंने हर संभावित स्थिति के उपयुक्त योग्यता एकत्र की थी हर आवश्यक कार्य का प्रशिक्षण लिया था । उसी अभ्यास क्रम में उन्होंने मोटर चलाने तथा उसकी मरम्मत सम्बन्धी कुशलता भी प्राप्त की थी । यह अभ्यास उन्होंने झाँसी में 'दी हिन्दुस्तान मोटर वर्क्स' में किया था । उनके प्रशिक्षक इस्लाम धर्म के अनुयायी, सहृदय तथा राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत व्यक्ति थे। उन्हीं की लड़की की शादी होने वाली थी ।

उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले हर व्यक्ति को कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था । क्रान्तिकारियों के समर्थक होने का शक भी जिस पर हो, उसे तो सरकारी दरिन्दे अकारण ही परेशान किया करते थे । अस्तु, अधिकांश आर्थिक कठिनाइयों में ही रहते थे। फिर भी परस्पर सहयोग तथा अपने साहस एवं पुरुषार्थ के बल पर वे सदा मस्तक ऊँचा ही किये रहे । चन्द्रशेखर आजाद के उक्त प्रशिक्षक के भी सभी हितैषी उनके सहयोग के लिए एकत्र होकर कन्या के विवाह की व्यवस्था करने लगे ।

चन्द्रशेखर आजाद के कार्य और उनकी कठिन परिस्थितियों से सभी परिचित थे । अतः उनसे सहयोग लेने की किसी को कल्पना भी नहीं थी । किन्तु वे एक रात स्वयं उनके यहाँ पहुँच गये । उन्हें देखते ही उनके उस्ताद चौंके बोले 'क्यों आजाद खैरियत तो है?' आजाद को अचानक प्रकट होने से उन्हें चिन्ता हो गई थी, पता नहीं जब आजाद ने आने का कारण बतलाया तो चिंता का निवारण तो हुआ पर उन्होंने प्यार भरी डाँट भी दी । बोले "ऐसी स्थिति में तुम्हें अकारण आने की क्या आवश्यकता थी ? यहाँ जो लोग हैं वही क्या काफी नहीं हैं ? एक तुम्हारे बिना ही क्या काम रुकता था ।"

आजाद नम्रतापूर्वक उनकी बात सुनते रहे और फिर बोले-"उस्ताद जी मैं नाचीज किसी काबिल होऊँ या नहीं, मेरे किये कुछ हो या न हो, किन्तु बहिन की शादी के लिये मैं सहयोग करने का कोई प्रयास भी न करूँ इतना नीच तो मैं नहीं ही हूँ ।"

आजाद के नाम पर ब्रिटिश सरकार काँप रही थी, उनके पुरुषार्थ से देश में आग बरस रही थी, पर अपने शिक्षक के सामने उनके सीधे-सादे निश्छल शब्द उनके शुद्ध पवित्र अंतःकरण के प्रतीक थे । उस्ताद ने भी प्रेम के नाते अकारण खतरा न लेने के आग्रह से उनको मीठी झिड़की दी थी, पर आजाद के आग्रह के आगे वह पानी-पानी हो गये । चुपचाप अन्दर गये और कुछ रुपये लाकर उनके हाथ में दिये और बोले "काम तो तुम्हें देता हूँ पर अब और बात न सुनूँगा । यह रुपये ले जाओ- अपनी ओर से कुछ खर्च करने का न आग्रह करना और न प्रयास ही । यह मेरी आज्ञा है । यहाँ झाँसी की अपेक्षा ओरछा में घी काफी सस्ता है । वहाँ से दो टीन घी खरीद कर अपनी बहिन की शादी के लिए भेज देना । बस इतना ही कार्य तुम्हारे लिये बहुत है । बेटा तुम्हारा काम बड़ा है उसमें ही समय लगाओ ।" और आदेश प्राप्त करके, रुपये अन्टी में लेकर चन्द्रशेखर आजाद उसी रात वापस ओरछा के जंगलों में पहुँच गये ।

विवाह व्यवस्था अपने मार्ग पर चलती रही । घी की व्यवस्था चंद्रशेखर आजाद के हाथों में देने के बाद लोग उस तरफ से निश्चिंत हो गये । उन्हें विश्वास था कि आजाद किसी न किसी सूत्र से समय के अन्दर व्यवस्था कर ही देंगे । पर ऊपर से फौलाद की तरह कठोर, जरा से संदेह पर मनुष्य को गोली से उड़ा देने वाले चन्द्रशेखर आजाद के अन्तःकरण को शायद उनके निकटस्थ आत्मीय भी पूरी तरह न पहचान सके थे ।

उक्त घटना के एक सप्ताह के अन्दर ही एक रात्रि को फिर दरवाजा खटका । उस्ताद ने उठकर दरवाजा खोला तो देखा कंधे पर बहँगी पर दो टीन घी लिए चन्द्रशेखर आजाद खड़े हैं । पलक मारते उस्तादजी सब समझ गये । ओरछा से झाँसी तक घी स्वयं आजाद अपने कंधे पर लाये थे । सीधे रास्ते तो वैसे भी घी नहीं लाया जा सकता था । फिर आजाद को, जिन्हें पुलिस से लेकर गुप्तचर तक खोजते रहते थे- कितनी सावधानी से-बीहड़ जंगलों में होकर आना पड़ा होगा, यह समझते उन्हें देर न लगी । उनकी भावना पर हृदय भी उमड़ा, किन्तु खतरा लेने पर क्रोध भी आया । तुरन्त अन्दर करके दरवाजा बन्द किया और प्यार व रोषपूर्ण फटकार फिर निकल पड़ी ।

"आजाद तुम कितने लापरवाह आदमी हो ? और कोई साधन तुम्हें न मिला, किसी और तरीके से भेजना क्या सम्भव नहीं था तुम्हारे लिये ?" और आजाद का फिर वही नम्रता भरा अकाट्य प्रेम से भरा बेजोड़ उत्तर था "इस पवित्र कार्य में मुझे एक ही तो मौका मिला था उस्ताद जी, उसी को किसी और से करा लेता तो मेरा शरीर किस काम आता?"

''पर आजाद सोचो तो, देश को तुम्हारी कितनी आवश्यकता है- उसको भुलाकर ऐसा खिलवाड़ क्या शोभा देता है ? समय के अनुसार उपयोगिता का ध्यान भी तो रखना चाहिए ।'' आजाद उसी प्रकार सिर झुकाये खड़े रहे । जिस गले की कड़क लोगों की रूह कँपा देती थी- वही जैसे शहद में डुबोकर वाक्य निकाल रहा था । बोले ''उपयोगी-अनुपयोगी के स्थापन में मेरी बुद्धि काम नहीं कर पाती । मुझे ढालते समय मेरे रौद्र रूप के अन्दर किसी ने एक मनुष्यता का अंकुर भी जगा दिया है । वह भी तो अपनी खुराक, अपना हक माँगता है । उसकी उपेक्षा कर देने के बाद यह चलती-फिरती विध्वंसक मशीन देश के कितने काम आ सकेगी यह मैं नहीं समझता ?

अब उस्ताद से न रहा गया । बनावटी क्रोध बह गया । आजाद को उन्होंने गले लगा लिया और देर तक मूर्तिवत स्थिर से खड़े रह गये, केवल आँसू बह रहे थे । फिर भरे कंठ से बोले ''बेटा हमारा जमाना तो गया; अब तुम्हीं पर देश को आशा है तुम्हें देखकर हमें संतोष है कि आपत्तिकालीन धर्म के रूप में हमने जो तोड़-फोड़ स्वीकार की है- वह देश का अहित न कर सकेगी । जाओ भगवान तुम्हें सफल करें ।'' और चन्द्रशेखर आजाद उनके चरण छूकर पुन: लौट पड़े अपने कार्यक्षेत्र की ओर।

तथ्य साक्षी हैं-गुणों को हृदय में धारण करके तोड़-फोड़ भी स्वीकार करने वाले क्रान्तिकारी देश के निर्माण में बाधक कभी नहीं बने और शान्ति की दुहाई देने वाले अन्त:करण के हीन व्यक्तित्वों के कारनामे हमारे सामने रोज आया करते हैं, फिर भी नयी पीढ़ी को बनाने ढालने में हम उनके आन्तरिक गठन की उपेक्षा करके अपने मानसिक दिवालियेपन का नमूना प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

आदर्श का शुभारम्भ स्वयं से

लाहौर के एक मकान के कमरे में एक नवयुवक बैठा सूखी रोटियाँ चबा रहा था । उसकी कद-काँठी और चेहरे के हाव-भाव से कोई भी सहज अन्दाजा लगा सकता था कि वह बलिष्ठ और चरित्रवान है ।

उसे घेरे बैठे अन्य नवयुवक साथियों में से एक ने कहा '' क्यों जिद करते हैं पण्डित जी ?'' ''यह जिद नहीं किफायतशारी है ।''

''तो अब सूखी रोटियाँ चबाने का आपने नया नामकरण भी कर लिया ।''

''समझने की कोशिश करो रणजीत'' खा रहे युवक ने पूछने वाले को सम्बोधित करते हुए कहा । ''चलिए आप ही समझाइये ।''

दल की वर्तमान आर्थिक स्थिति के अनुरूप प्रत्येक सदस्य को दो आने भोजन के लिए मिलते हैं । एक आने की रोटियाँ और एक आने का गुड़ । पर मेरा पेट एक आने की रोटियों से नहीं भर सकता । इसी कारण समूचे दो आने की रोटियाँ खरीद खा रहा हूँ । आयी बात समझ में ।

''बिल्कुल नहीं सुनने वालों ने एक साथ कहा । ''दल के पास बहुत पैसा है ।''

''पर खाने के लिए नहीं'' बात काटते हुए नवयुवक ने कहा ।

''ठीक है पर आप हमारे प्रमुख हैं इसलिए आप यदि खाने में कुछ थोड़ा ज्यादा खर्च कर लें तो कोई एतराज नहीं । पर यहाँ तो मामला ही उलटा है । आप सूखी रोटियाँ चबाते हैं और हम सबको अपेक्षाकृत अच्छा भोजन मिल जाता है । यह नीति कब तक चलेगी ?''

''जब तक संगठन को जीवित रखना है ।'' अपने प्रति कठोरता, दूसरों के प्रति उदारता । ''संगठन के जिम्मेदार लोग जब तक इस नीति के अनुरूप व्यवहार करते हैं, तभी तक संगठन जीवित रहता है । सामूहिकता तभी बरकरार रह सकेगी जब तक किफायतशारी को अपनाया और महत्वाकांक्षाओं को ठुकराया जाता रहेगा ।''

''आ गए न आप घूम-फिरकर वहीं । सिद्धान्त सूर्य की तरह है, जब तक मानवीय जीवन के विभिन्न ग्रह उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, उसकी प्रेरणा के अनुरूप अपने को संचालित करते हैं तभी तक उनका अस्तित्व है । सिद्धान्त से विलग हुए कि अस्तित्व समाप्त हुआ ।''

''बड़प्पन सुविधा सम्बर्द्धन का नहीं सद्गुण सम्बर्द्धन का नाम है '' कहने वाले के स्वरों में पीड़ा थी । ''जिसने संगठन बनाया है उसे ही बिखरने का दर्द होता है । खूबसूरत माला के टूटने की सबसे अधिक पीड़ा माली को होती है । कहते-कहते गला भर आया ।''

साथियों ने एक स्वर से क्षमायाचना की । हमने आपकी किफायतशारी का मखौल उड़ाया इसके लिए माफी चाहते हैं । आप जो भी दण्ड दें, स्वीकारने के लिये तैयार हैं ।

''दण्ड नहीं अच्छाई का महत्व समझो और स्वीकारो। देश को हम सब लोगों से कितनी आशा है । हम क्रान्तिकारी माने जाते हैं एक बड़े परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हैं ।''

''क्रान्तिकारी का मतलब जानते हो ?'' कुछ चुप रहकर वह बोले जो वर्तमान में भी भविष्य में होने वाले परिवर्तन के अनुरूप जी रहा हो । जिसकी जिन्दगी के छोटे-छोटे क्रियाकलाप को देखकर हर कोई कह सके, अहा ऐसा होगा स्वर्णिम भविष्य जिसके लिए ये लोग प्रयासरत हैं ।''

हम सभी प्रतिज्ञा करते हैं पण्डित जी । सच आपकी शपथ, हम वैसे ही क्रान्तिकारी बनेंगे जैसे आप चाहते हैं ।

यह पण्डित जी थे, हिन्दुस्तान रिपब्लिकन आर्मी नामक क्रान्तिदल के कमाण्डर इन चीफ चन्द्रशेखर आजाद, जिनके आदर्शवादी जीवन ने अनेकों में प्राण फूँके ।

सर्वजयी आत्मीयता का प्रतिफल

एक साधारण परिवार के युवक ने विदेशी साम्राज्य-वादियों से टक्कर लेने की ठानी, वह क्रान्तिकारी बन बैठा । यों जवानी के जोश में-भावावेश में आकर दीपक पर पतंगे की तरह जल मरना एक बात थी और क्रान्ति का सफल संचालन दूसरी ।

इस युवक ने जो न विशेष पढ़ा-लिखा ही था, न उसका परिचय क्षेत्र ही विस्तृत था, न पर्याप्त धन तथा सम्मान उसे उत्तराधिकार में मिला था फिर भी वह वर्षों उन साम्राज्यवादियों को नाकों चने चबवाता रहा जिनके राज्य में कभी सूरज भी अस्त नहीं होता था । सरकार उसे जीवन भर पकड़ नहीं सकी । उसने अपने से अधिक पढ़े-लिखे तथा शक्तिशाली क्रान्तिकारियों का सफल नेतृत्व किया । इसके पीछे उसकी बहुत बड़ी सम्पदा-बहुत बड़ी सामर्थ्य-बहुत बड़ी प्रतिभा थी उसकी सर्वजयी आत्मीयता। आजाद जहाँ भी जाते वहीं अपनापन, प्रगाढ़ आत्मीयता जोड़ लेते थे ।

आजाद काकोरी काण्ड से फरार होकर झाँसी आ गये । झाँसी आने के बाद अपने अन्तिम समय-अल्फ्रेड पार्क में शहीद होने तक उनकी गतिविधियों का केन्द्र यही स्थान रहा । अंग्रेज सरकार ने इन्हें पकड़वाने के लिए हजारों रुपयों के इनाम घोषित किये पर क्या मजाल कि वे आजाद की छाया को भी पकड़ पाते ।

झाँसी में उनकी ठिकाना था मास्टर रुद्रनारायण का घर । उनकी आस-पास के गाँवों में तलाश होती और ये मजे से यहाँ रहते थे । इस परिवार के वे सहज ही अभिन्न सदस्य बन गये थे । पड़ोसी तक इन्हें मास्टर साहब के भाई समझते रहे । उनकी पत्नी के प्रिय देवर तथा बच्चों के प्रिय चाचा के रूप में आजाद परिवार की अमूल्य निधि बन गये थे । मास्टर रुद्रनारायण के लिए आजाद का पारिवारिक मूल्य उनके राजनैतिक मूल्यों से राई रत्ती कम नहीं था ।

झाँसी ही नहीं झाँसी और ओरछा के बीच सातार नदी के तट पर बसे ग्राम टिमरापुर के ठाकुर के छोटे भाई बनने में भी उन्हें विशेष समय नहीं लगा । झाँसी में रहना जब निरापद नहीं रहा तो उन्होंने इस नदी के तट पर अपना आसन जमाया । एक ब्रह्मचारी के छद्म वेश में आजाद यहाँ रहने लगे । मधुकरी वृत्ति से उदरपोषण होने लगा । उनकी रामायण की कथा कहने के ढंग तथा दृढ़ चरित्र से प्रभावित होकर गाँव के ठाकुर ने सदा के लिए इन्हें अपने परिवार का पूज्य बना लिया । अपने चार भाइयों पर उन्हें विश्वास नहीं था जितना आजाद पर हो गया । ठकुराइन की तिजूरी की चाबियाँ इनके यज्ञोपवीत में बँधी रहने लगीं ।

इसी ग्राम में बैठे-बैठे आजाद ने काकोरी केस के बिखरे क्रान्तिकारियों को एक सूत्र में पिरोकर संगठित रूप दिया । ठाकुर साहब के परिवार के सदस्य की तरह वे साइकिल पर दूसरे-तीसरे दिन झाँसी की दौड़ कर आते थे।

बहुसंख्यक क्रान्तिकारी अपने साथियों के विश्वास-घात के कारण पकड़े गये तथा दण्डित हुए । किन्तु आजाद के साथ ऐसा कभी नहीं हो सका । उनकी आत्मीयता ने दल के सभी दस्यों को अपना अंतरंग बना लिया था उनकी आत्मीयता इतनी विस्तृत थी कि जो भी उनके सम्पर्क में आता, उन्हें अपना मानने लगता था। उन्हें प्यार करने लगता था, उन पर विश्वास करने लगता था ।

ऐसी आत्मीयता के महान गुण को मनुष्य की सच्ची सम्पदा मानकर जिसने विकसित कर लिया, उसको अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता मिलकर रहती है । वह जिस क्षेत्र में जाता है, जिस काम में हाथ डालता है वहाँ सम्पदा उसके साथ दैवी शक्ति की तरह सहायक होती है। दूसरों का यह सहयोग मिलते देर नहीं लगती । आजाद की तरह हर कोई इसका विकास करके महान कार्य सम्पादित कर सकता है ।

महत्व व्यक्ति को नहीं आदर्शों को देना श्रेयस्कर है

सरदार भगतसिंह

शहीद भगतसिंह तथा उनके जाग्रत-प्राण साथियों ने लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला सान्डर्स का वध करके ले लिया था । उसके पश्चात् वे बड़ी दक्षता से अपने आपको छिपाने में सफल भी हो चुके थे । किन्तु भगतसिंह को जो आत्मसन्तोष मिलना चाहिए था वह नहीं मिल रहा था । उन्हें कहीं-कोई न कोई भूल नजर आ रही थी ।

हत्या करना तो क्रान्तिकारियों का आदर्श नहीं था । उनका आदर्श तो देशप्रेम की अग्नि को जन-जन के हृदय कुण्ड में प्रज्ज्वलित करना था । उनके इस आदर्श का, उनके इस उद्देश्य का स्पष्ट स्वरूप सान्डर्स वध से जन-मानस के सामने प्रस्तुत नहीं हो सका था । जिन लोगों में देश प्रेम की भावना थी वे तो उनके उद्देश्यों का परिचय पा सके थे । किन्तु ऐसे लोग थोड़े से ही थे । अधिकांश जनता के लिये तो यह कृत्य विशेष महत्व का नहीं था ।

सरदार भगतसिंह ने अपने अन्तर में झलकने वाले इस असन्तोष के सम्बन्ध में गहन चिन्तन किया तो उनके समक्ष यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के कृत्य से जनता

को जगाया नहीं जा सकता । आदर्शों को प्रमुखता देनी होगी चाहे उसके लिये हमें अपने जाँबाज साथियों का बलिदान ही क्यों न देना पड़े । तभी हम अपने आदर्शों का सच्चा स्वरूप देशवासियों के सामने रख सकेंगे । यह स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जा सका तो ये हत्यायें तथा विद्रोह-अपराध का उदाहरण बनकर रह जायेगा ।

अपनी प्रथम भूल को उन्होंने दूसरी बार सुधारा । उन्होंने ऐसेम्बली में बम फेंका, यह विस्फोट भर बनकर नहीं रहा । इस विस्फोट के माध्यम से उन्होंने अंग्रेज सरकार के कान खोल दिये तथा जनता की नींद को इस धमाके से तोड़ा । इस कृत्य की सफलता के लिये उन्होंने अपने उद्देश्यों का परिचय छापी हुई विज्ञप्तियों(पेम्फलेट्स) की वर्षा करके दिया । इनमें यह बताया गया था कि बहरों को जगाने के लिये आवाज की नहीं विस्फोट की आवश्यकता होती है । यह संकेत अंग्रेज सरकार की ओर था । परोक्ष में भारतवासियों को जगाने का लक्ष्य भी प्रमुख रहा था ?

बम विस्फोट से एसेम्बली में भगदड़ मच गई । सारा 'हॉल' धुएँ से भर गया था । इस प्रकार के विस्फोट की अंग्रेजों ने कल्पना तक नहीं की थी । ऐसी स्थिति में भगतसिंह अपने साथियों सहित बाहर निकल भाग सकते थे । इसके लिये प्रबन्ध पहले से ही किया जा चुका था । बाहर इनके भागने के लिये मोटरसाइकिल का प्रबन्ध था ।

भगतसिंह भागने के लिये नहीं आये थे । वे अपनी पहली भूल को दोहराना नहीं चाहते थे । उनका उद्देश्य जनता में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करना था । यह भावना जगाने के लिये उनका बलिदान आवश्यक था-उनका बन्दी होना आवश्यक था ताकि न्यायालय के सम्मुख वे अपने मन की बात कह सकें-अपने उस उद्देश्य को स्पष्ट कर सकें जिसके लिये उन्होंने हिंसा का औचित्य स्वीकार किया था ।

इन लोगों के बन्दी हो जाने के कारण क्रान्तिकारियों के प्रति जनमानस में नया आकर्षण और श्रद्धा भाव जागा। उसे इन कानून विरोधी कृत्यों के पीछे जो उद्देश्य- आदर्श छिपा था उसके दर्शन होने लगे थे । नवजागरण की एक लहर उठने लगी थी ।

भगतसिंह क्रान्तिकारियों के नेता थे। उनका जेल में बन्दी हो जाना इन लोगों को असह्य हुआ । इन क्रान्तिकारियों को खतरनाक कैदी समझ कर लाहौर के किले में रखा गया जो जेल भी थी व गुप्तचर विभाग का मुख्यालय भी । उसके अधिकारी अपने बन्दियों को भयंकर यन्त्रणा देने के लिए कुख्यात थे । इसके सबसे बड़े अधिकारी खान बहादुर अब्दुल अजीज ने इन देशभक्तों को अमानुषिक यंत्रणाएँ दीं । भगतसिंह तथा उनके साथी इन्हें हँसते-हँसते झेल गये । राष्ट्र की स्वतन्त्रता के आदर्श के सम्मुख शरीर को दी जाने वाली यह यन्त्रणा उनके लिये नगण्य सिद्ध हुई । मनुष्य को दुःख-कष्टों की अनुभूति अपनी भावनाओं से होती है । उन्हें इस यन्त्रणा में भी अद्भुत सुख मिल रहा था ।

इन दिनों न्यायालय में इन क्रान्तिकारियों के अभियोग पर विचार हो रहा था । इन्हें मृत्यु दण्ड से हल्का दण्ड तो मिलने वाला न था ।

क्रान्तिकारी जो भगतसिंह के बन्दी हो जाने से पहले ही क्षुब्ध थे । उन पर होने वाले अत्याचारों को सुनकर किसी भी शर्त पर इन्हें जेल से मुक्त कराने के लिए कृत संकल्प हो चुके थे, उसे पूरा करने के लिये उन्होंने तत्परता से तैयारियाँ आरम्भ कर दीं ।

तब तक भगतसिंह लाहौर की बोर्स्टल जेल में स्थानान्तरित कर दिये गये थे । उन पर लाहौर के न्यायालय में अभियोग चल रहा था । उसके लिये उन्हें नित्य बोर्स्टल जेल से सेन्ट्रल जेल तक मोटर लारी में बिठाकर लाया जाता था । इसी मार्ग पर इस मोटर लारी पर अधिकार करके इन सबको छुड़ाने की योजना बनाई गई । चन्द्रशेखर आजाद इस योजना के सूत्रधार थे ।

लाहौर में सारे भारत के प्रमुख क्रान्तिकारी एकत्रित हो गये । साइकिलों, मोटरसाइकिलों तथा मोटरगाड़ी का प्रबन्ध किया जा चुका था । उन्हें मुक्त कराने के पश्चात् रखने के लिये कई मकानों का प्रबन्ध भी किया जा चुका था । बम बनाये गये थे, पिस्तौलें तथा अन्य हथियार जुटा लिये गये थे । शहीद भगवती चरण इनमें से एक बम का परीक्षण करते हुए दिवंगत हुए थे ।

सरदार भगतसिंह इस तैयारी से अनभिज्ञ न थे । वे भी इसमें ऊपरी मन से सहमत हो चुके थे । समय, स्थान तथा कार्यक्रम का निर्धारण भी हो गया था । उसे क्रियान्वित करने के लिये भगतसिंह की सहमति भी मिल गई थी, किन्तु उनका उद्देश्य कुछ और ही था ।

जिस दिन यह सब होना था उस दिन उन्होंने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट किया । दो चार व्यक्तियों के पीछे इतने व्यक्तियों की जान जोखिम में डालना उन्हें उपयुक्त नहीं लगा था । वे जानते थे कि महत्व भगतसिंह को दिया जा रहा है, दिया जाना चाहिए राष्ट्र के स्वतन्त्रता आन्दोलन को । क्रान्तिकारियों को जेल से मुक्त कराने के चक्कर में आन्दोलन कमजोर पड़ जायेगा । इसलिये वे इस योजना को कार्यान्वित करना नहीं चाहते थे । उनकी झूठी सहमति के पीछे यह लक्ष्य था कि उस बहाने क्रान्तिकारियों की एकता दृढ़ हो जायेगी ।

जैसा कि भगतसिंह चाहते थे जिस असहमति की आशंका क्रान्तिकारियों ने कदापि नहीं थी, वही हुआ । बोर्स्टल जेल के द्वार पर जहाँ पुलिस की मोटर लारी बन्दियों को सेन्ट्रल जेल ले जाने को तैयार खड़ी थी ।

भगतसिंह छद्मवेश में खड़ी क्रान्तिकारियों के नेता को योजना कार्यान्वित करने का संकेत देने वाले थे, वैसा नहीं हुआ । भगतसिंह को जब लारी में बैठाने के लिए ले जाया गया तो उन्होंने संकेत दिया-"नहीं यह सब कुछ नहीं होगा ।" इस पर क्रान्तिकारी समझे कि आज कोई खतरा है अगले किसी दिन इस कार्य को पूरा किया जायेगा ।

दूसरे दिन जब एक व्यक्ति उनका मन्तव्य जानने के लिये जेल पहुँचा । उनसे मुलाकात हुई । उनसे मनाही का कारण पूछा गया तो उन्होंने बताया-"यह उचित नहीं होगा कि थोड़े से व्यक्तियों की जान बचाने के लिये हम कितने ही देशभक्तों का रक्त बहा दें । हम जिस उद्देश्य को लेकर अपना सब कुछ छोड़कर क्रान्ति पथ पर आये हैं यह इसकी आज्ञा नहीं देता। हम तो अपना कफन अपने ही सिर पर बाँधकर निकले हैं । महत्ता व्यक्ति की नहीं इस आदर्श की है । हमें ही श्रेय मिले या हमसे ही क्रान्ति होगी- देश स्वतन्त्र होगा यह तो हम लोग नहीं सोचते किन्तु यह कार्य हमें ऐसा ही सिद्ध करेगा । हमारे बलिदान से हमारे आदर्श को बल मिलेगा तो कल इसी जनसमुदाय में से सहस्रों भगतसिंह पैदा हो जायेंगे तथा भारत स्वाधीन होकर रहेगा ।"

क्रान्ति दृष्टा भगतसिंह के इन शब्दों में जो सत्य छिपा है, उसे काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता । समय की पुकार पर आज भी आदर्शों के लिये जीवन समर्पित करने की परम्परा बनाये रखना आवश्यक है ।

देश सेवक का वेतन

क्रान्तिकारी शहीद सरदार भगतसिंह एक खाते-पीते परिवार के पुत्र रत्न थे । किन्तु जब उन्होंने देश सेवा में पदार्पण किया और उपार्जन का विचार त्याग दिया तब उन्होंने अपने खर्च के लिये परिवार पर भी निर्भर न रहने का निश्चय कर लिया । कारण पूछने पर उन्होंने बतलाया कि वे परिवार के सिर पर बोझ बनकर देश सेवा करना पसन्द नहीं करते ।

निदान जिस समय १९२७ में पंजाब-बंगाल और उत्तर प्रदेश के क्रान्तिकारी नेताओं के बीच सम्पर्क स्थापित करने में व्यस्त थे, उनको आर्थिक कठिनाई का अनुभव हुआ। उन्होंने तत्कालीन कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रभावशील सदस्य श्री शार्दूलसिंह को कहलाया कि वे अपनी गुजर-बशर के लिये कुछ काम करना चाहते हैं। श्री शार्दूलसिंह ने अमृतसर कांग्रेस कार्यालय में काम करने के लिये डेढ़ सौ रुपये माहवार पर नियुक्त करा दिया किन्तु सरदार भगतसिंह ने बहुत कुछ कहने पर भी ३० रुपये मासिक से अधिक स्वीकार न किया और कहा-मैं तो देश की सेवा करने के लिए जीवित रहने का साधन चाहता हूँ न कि अधिक कमाई करके सुख के साथ जीवन बिताने के लिये । तीस रुपये मेरे गुजारे के लिये बहुत है ।

क्रांति की भावनात्मक वसीयत

धन सम्पदा की वसीयतों की तो बात आम है पर भावनाओं की वसीयत के उदाहरण भी देखने को मिल जाते हैं । सरदार भगतसिंह के होश सम्हालने से पहले ही उनके चाचा अँग्रेजी सरकार से विद्रोह करने के सिलसिले में फरार हो चुके थे । भगतसिंह को उसके बाद उनके दर्शन भी नहीं हो सके ।

भगत अपने प्रिय चाचा के चरण चिह्नों पर चलकर देश के लिये मर मिटे । मरते दम तक उनकी यही ख्वाहिश रही कि उनको अपने उस चाचा के दर्शन हो जाते जिन्होंने उन्हें देशभक्ति की प्रबल उमंगें अनदेखे सूत्रों से उन्हें सौंप दी थीं, भावनात्मक वसीयत के रूप में ।

सर्वस्व समर्पित करने वाले आहुत-आत्मा

महावीर सिंह

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद भारत में एक भीषण राजनैतिक चेतना की आँधी आयी । देश का बच्चा-बच्चा अँग्रेजों के प्रति आक्रोश से भर उठा । विदेशी सरकार की जड़ें हिलने लगीं । गोरा-शासन लंगड़ा उठा तो उसे बैसाखियों का सहारा देने का प्रयास किया गया । विप्लवी-जन भावनायें उबल कर सरकार के लिए कोई प्रकट अदम्य विद्रोह खड़ा न कर दे, इसलिए स्थान-स्थान पर अमन-सभायें कायम की गयीं । कमेटियाँ आम सभा आयोजित करतीं, जन सम्पर्क बनातीं और लोगों से शांत रहने की अपील करती थीं ।

ऐसी ही एक अमन कमेटी की सभा आयोजित हुई उत्तर प्रदेश के (तब संयुक्त प्रान्त) के एटा जनपद की कासगंज तहसील में । इस सभा में तहसील के सभी नागरिकों को बुलाकर एकत्रित किया गया । जो नहीं आना चाहते थे या आने में असमर्थ थे, लाख काम छोड़कर उन्हें भी सभा में उपस्थित होना पड़ा । कारण था- राजाज्ञा और उसके पालन के लिए सरकारी मशीनरी का दबाव । मन से बेमन से तहसील के सभी बूढ़े, बच्चे, युवा, किशोर स्त्री-पुरुष सभा में आये । इस सभा में बताया गया कि अँग्रेजी शासन भारत का कितना शुभचिन्तक है । एक मात्र अँग्रेज जाति ही ऐसी है जो इस देश का कल्याण कर सकती है और करने में जुटी हुई है ।

जो ना समझ थे उनके गले तो ये बातें उतरती जा रही थीं । राजभक्ति की मन्त्र-दीक्षा से दीक्षित ठेठ ग्रामीणों का हृदय अँग्रेजों को अपना भाग्य विधाता

अनुभव कर रहा था । हालांकि ऐसे लोगों की संख्या नगण्य थी । बहुलता ऐसे ही नागरिकों की थी जो अंग्रेजी-शासन की वास्तविकता को अच्छी तरह जानते थे और समझते थे कि यह सभा लोगों की भावनाओं को जीतने के लिए नहीं, वरन् उन पर राजशक्ति थोपने के लिए की जा रही है । जी चाहता था बस चले तो अभी इसके संयोजकों का गिरेबान पकड़ कर मंच से खींच लिया जाय । परन्तु राजदण्ड का भय उन्हें अपनी कुढ़न को व्यक्त करने से रोक रहा था । एक अधिकारी ने अपना भाषण समाप्त कर जैसे ही आसन ग्रहण किया । श्रोताओं की भीड़ में से एक किशोर कण्ठ की आवाज आयी-"महात्मा गांधी की जय" इसके बाद तो वहाँ उपस्थित सभी बच्चों और किशोरों ने नारे लगाये ।

सभा मंच पर जमे हुए वक्ता अधिकारी भौचक्के रह गये । आस-पास पहरा दे रही पुलिस ने भीड़ में घुसकर उस किशोर को गिरफ्तार कर लिया जिसने सर्व प्रथम महात्मा गाँधी की जय का उद्‌घोष किया था । इस अपराध में किशोर को आठ-दस बैंतें पड़ीं । निर्ममतापूर्वक की गयी पिटाई के कारण किशोर बेहाल हो गया । घर लौटा तो पिता ने गर्व से सीना फुलाकर कहा-मेरे प्यारे बच्चे मुझे तुझ पर नाज है ।

और इस प्रोत्साहन वाक्य ने बेंत की मार से पड़े नीले निशानों पर जो बुरी तरह जलन कर रहे थे, ठंडे मरहम का काम किया । यही किशोर आगे चलकर महान विप्लवी क्रान्तिकारी शहीद महावीर सिंह के नाम से विख्यात हुआ । महावीर सिंह का जन्म १९०४ में एटा जिले की कासगंज तहसील में हुआ था । उनके पिता कुँवर देवीसिंह वैद्यक के द्वारा अपना निर्वाह करते थे ।

कुँवर देवीसिंह अच्छे शिक्षित और जागरूक व्यक्ति होने के कारण उस समय की देशकाल की परिस्थितियों से अच्छी तरह परिचित थे । उनके हृदय में भी राष्ट्रभक्ति और स्वातन्त्र्य प्रेम की उत्कट लालसा हिलोरें मार रही थी । उन्होंने अपने पुत्र को भी उस मार्ग पर निर्विरोध बढ़ने दिया । सन्धिवेला में ऐसी आत्मायें जन्म लेती ही हैं जो अपनी सन्तान को पेट-प्रजनन की परिधि सीमा तोड़कर देश और समाज के लिए कुछ करने को उत्सुक बनाने में प्रयत्नशील रहती हैं । कुँवर देवीसिंह भी ऐसे ही युगीन महामानवों, लोक मंगल के साधकों में से एक थे । उन्होंने अपने पुत्र को तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप समाज की आवश्यकता तथा उसे पूरी करने में रत होने के लिए प्रशिक्षित किया ।

एटा के राजकीय हाईस्कूल में महावीरसिंह ने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की । विद्यार्थी जीवन में उन्होंने देशभक्ति और स्वाधीनता संग्राम की भूमिका निभाने का भी पाठ पढ़ा । वहाँ भी उनका विद्रोह और स्वाभिमान प्रकट हुए बिना न रहा । उन दिनों जब महावीर सिंह हाईस्कूल के छात्रावास में रह रहे थे, एटा में किसी राष्ट्रीय नेता का आगमन हुआ नेताओं की सभा में लोग उत्साहपूर्वक भाग लिया करते थे । फिर महावीरसिंह जैसे देशभक्त युवक जाने से कब चूकते । उन्होंने अपने कुछ साथियों के साथ सभा में जाने की योजना बनायी । इस योजना की खबर जैसे ही छात्रावास के अधीक्षक को मिली तत्काल प्राचार्य का आदेश निकलवा दिया कि उस समय सभी विद्यार्थी छात्रावास में उपस्थित रहें ।

महावीर सिंह को इस आदेश का पता चला तो बड़ा क्रोध आया । जान लिया कि छात्रावास तथा विद्यालय के राजभक्त अधिकारी और कर्मचारी उन्हें सभा में भाग नहीं लेने देना चाहते, सो विद्रोह और तत्जनित अवज्ञा का भाव यहाँ खुलकर सामने आया । महावीर सिंह ने तो दृढ़ निश्चय कर रखा था कि चाहे जो हो वे सभा में अवश्य जायेंगे । अपने इस निश्चय से उन्होंने आदेश प्रसारित करने वाले चपरासी तथा प्राचार्य को भी अवगत करा दिया। अधिकारियों ने इस पर शक्ति प्रयोग कर उन्हें रोकने का षड्‌यन्त्र रचा परन्तु सबकी आँख बचाकर वह ऐसे निकले किसी को खबर तक नहीं हुई ।

सभा से लौटने पर प्राचार्य ने उन पर अनुशासनहीनता और नियम भंग करने का आरोप लगाकर दण्डित किया । महावीर सिंह ने हर्ष के साथ दण्ड भोगा । उनकी दृष्टि में यह कार्य किंचित भी अनुशासन भंग नहीं था । वस्तुतः वह अनुशासन और प्रतिबन्ध अनुचित ही है जो पालनकर्त्ता को उसके कर्तव्यों से विमुख कर दें । नियम और व्यवस्था का प्रयोजन ही यह है कि उससे बँधकर व्यक्ति अधिकाधिक कुशलता पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन कर सके और जब वह व्यवस्था उस प्रयोजन की पूर्ति में अनापेक्षित और औचित्य विरोधी रुकावट पैदा करती है तो उसे तोड़ ही देना चाहिए । इस दण्ड ने महावीर सिंह को विद्रोही छात्रों का नेता बना दिया ।

हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त कर वे कानपुर के डी० ए० वी० कॉलेज में भर्ती हुए उस समय महात्मा गाँधी द्वारा संचालित प्रथम असहयोग आन्दोलन अँग्रेजों के लाठियों और दमन षड्‌यन्त्रों के बीच दब-सा गया था । विद्रोह की भावना क्षण भर के लिए भले ही दबा दी गयी हो परन्तु विद्रोह की आग अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी । नवयुवकों का गर्म खून दमन और आतंक का प्रत्युत्तर उसी भाषा में देने को कसमसा रहा था ।

ऐसे ही जोश और उत्साह की हवा से डी० ए० वी० कॉलेज भी अछूत नहीं रह गया था । महावीर सिंह यहाँ उसकी हवा के संस्पर्श में आये और उन्होंने क्रान्तिकारी का व्रत धारण कर लिया । कॉलेज में उन्हें प्रोफेसर मुंशीराम का संरक्षण मिला जिसकी छत्र-छाया में वे

अपनी गतिविधियाँ चलाते रहे । क्रान्तिकारी युवकों ने तब 'हिन्दुस्तान समाजवादी गणतंत्र सेना' का गुप्तरूप से संगठन किया था। इस सेना में चन्द्रशेखर, सरदार भगतसिंह, शचीन्द्र सान्याल जैसे विख्यात विप्लवी नेता थे। महावीर सिंह ने इन्हीं की जमात में भर्ती होकर क्रान्ति के माध्यम से अँग्रेजी शासन का तख्ता उलटने का लक्ष्य बनाया । कॉलेज से निकलते ही उन्होंने इस सेना की सक्रिय सदस्यता ग्रहण कर ली और चौबीसों घण्टे पार्टी को देने लगे ।

घर से पिता जी का संदेशा आया । महावीर सिंह को जल्दी अपने पास बुलाया था । वे घर गये तो पिताजी ने शादी का प्रस्ताव रखा । उन्हें नहीं पता था कि महावीर सिंह किसी गुप्त संगठन का सदस्य है । वस्तुस्थिति बताकर उन्होंने अपने पिता से कहा-मेरी तो शादी हो चुकी है अपने लक्ष्य से । अब घर-गृहस्थी के पचड़े में न पड़कर देशसेवा करने की इच्छा है । जिसके लिए आप इजाजत तो देंगे ही ।

आँखों में आँसू भरकर कुँवर देवीसिंह ने कहा-मुझे बड़ी खुशी है बेटे । परन्तु मेरी एक बात को याद रखना । देश की सेवा का जो रास्ता तुमने अख्तियार किया है, वह बड़ी तपस्या और कठिनता से भरा पड़ा है । लेकिन अब तुम उस पर चल ही दिये हो पीछे न मुड़ना । साथियों से विश्वासघात न करना और अपने बूढ़े पिता का ख्याल रखना ।

"पिताजी आप आशीर्वाद तो दे रहे हैं परन्तु आपकी आँखों से बहती आँसुओं की धारा बता रही है, कहीं आप मजबूरी के कारण तो यह सब नहीं कह रहे"- महावीर सिंह ने कहा ।

"नहीं बेटा ! ये तो हर्ष के आँसू हैं । जिस काम को करने के लिये मैं जिन्दगी भर सपने देखता रहा । वह तू कर रहा है तो मुझे कोई दुःख होगा पगले !"-देवीसिंह जी ने कहा और उनके मुँह पर खुशी नाच उठी । दुख था- तो सही-अपने बेटे के बिछुड़ने का । लाख कितने ही अच्छे उद्देश्यों के लिए अपना पुत्र विदा ले रहा हो परन्तु उस हृदय में जहाँ ममता, वात्सल्य ही वात्सल्य और प्यार ही प्यार भरा हो वह भला कैसे मानेगा ।

निकट रहने से पिता कहीं और दुःखी न हों इसलिए महावीर सिंह उनकी चरण रज अपने मस्तक से लगाकर चल दिये । चलते-चलते पिता ने उन्हें फिर पुकारा-"बेटा तुझे किसी चीज की जरूरत हो वह मुझ से मिल सके तो संकोच मत करना । यह सब कुछ तेरा है ।" मकान और सम्पत्ति की तरफ इशारा करते हुए कुँवर देवीसिंह ने कहा ।

"पिताजी मेरी तो कोई व्यक्तिगत आवश्यकता आकांक्षा है नहीं । मैंने अपना सब कुछ देश को सौंप दिया है । अब तो जो कुछ भी जरूरत होगी सब उसी की ।

"उसके लिये भी तू यह सब अपना समझना और देश के लिए अपने साथियों के लिए ही इन सबका उपयोग करना ।"

सर्वस्व समर्पण की दीक्षा लेकर महावीर सिंह ने उस जगह से प्रस्थान किया और पार्टी कार्यालय में जाकर पिता की प्रेरणा से अपने संकल्प की घोषणा की । पार्टी संगठन के लिए उस समय धन की आवश्यकता तो थी ही। वे दल के आदेशानुसार १९२७ में लाहौर गये और वहाँ पर 'हिन्दुस्तान समाजवादी गणतन्त्र सेना' का गठन किया । यह सारा काम उन्होंने छद्मवेश में- मोटर ड्राइवर के रूप में रहकर किया । क्रान्तिकारियों के इस संगठन की सूचना तब सरकार को मिल चुकी थी इसलिए छद्मवेश में रहना आवश्यक था । मोटर ड्राइवर के रूप में उन्होंने बड़े साहसिक कार्य किये । उस समय की व्यवस्था के अनुसार उनका स्वरूप तो गैरकानूनी था । परन्तु क्रान्तिकारियों का लक्ष्य ही तब इसी प्रकार का था। जनता में असन्तोष और प्रशासन में अव्यवस्था फैलाकर अँग्रेजी शासन की नींव कमजोर करना।

बाद में जब 'हिन्दुस्तान समाजवादी सेना' के सदस्य क्रान्तिकारियों की धर पकड़ आरम्भ हुई तो १९२९ में उन्हें भी गिरफ्तार कर लिया गया । राजद्रोह और अशान्ति फैलाने के कई अभियोग उन पर चलाये गये । यह सब तो महज नाटक ही था । सच बात तो यह थी कि सरकार इस खुले सिंह को स्वतन्त्र घूमते देखना पसन्द नहीं करती थी । इसलिए उन्हें लम्बे समय तक कारावास का दण्ड दिया गया । जेल के अधिकारी कैदियों से बड़ा दुर्व्यवहार करते थे । महावीर सिंह ने इसके विरोध में अपने साथियों सहित अनशन किया । उनका अनशन तुड़वाने के लिए प्रलोभन से लेकर बल प्रयोग तक सभी तरीके अजमाये गये परन्तु महावीरसिंह के दृढ़ निश्चयी स्वभाव के सम्मुख एक भी सफल न हो सका । अन्ततः विजय उन्हीं की हुई ।

सन् १९३० की ७ अक्टूबर को उन्हें आजन्म कैद की सजा सुनाई गयी । उन्हें क्रमशः लाहौर, मुलतान और मद्रास की जेलों में रखा गया । तीन वर्ष तक इस प्रकार स्थान बदल-बदल कर रखने के बाद उन्हें अण्डमान भेज दिया गया । भारत भूमि से आठ सौ मील दूर पोर्ट ब्लेयर का भयावह यन्त्रणा गृह । उसमें सीलन और बदबूदार कोठरी । भोजन के साथ कीड़े और कंकड़। पत्र, मुलाकात, समाचार पत्र सब कुछ बन्द । इन नारकीय यातनाओं को बंद करने के लिए महावीर सिंह ने आमरण अनशन किया । अधिकारीगण तो देशप्रेम में मतवाले इन अपराधियों को निर्जीव वस्तुओं से भी गया गुजरा समझते थे । मानवीय विरोध को पहचानने की क्षमता उनमें कहाँ से आती । उसी प्रकार और उससे अधिक निकृष्ट पशु व्यवहार किया जाता रहा । जिसके

परिणाम स्वरूप १७ मई, १९३३ को उनका देहान्त हो गया। इस अपराजित महामानव का जीवन युग सैनिकों के लिये भी प्रकाश दीप है ।

अमर शहीद-

रामप्रसाद बिस्मिल

फन्दे पर लटकाने की तारीख से पूर्व सन्ध्या को कैदी के लिए दूध आया । अब तक तो दूध आता नहीं था, ब्रिटिश सरकार के अनुग्रह का लाभ लेने का कभी मन नहीं हुआ तो अब भी क्यों उसकी कृपा प्राप्त की जाये सो उन्होंने कहा-"अब तो माँ का ही दूध पियूँगा ।" सुबह हुई स्नान आदि किया, सन्ध्या-वन्दन, जप-उपासना से निवृत हुए और अपने भाइयों के नाम एक लेख लिखा ।

फाँसी का समय हो गया था । उन्हें तख्ते की ओर ले जाया जाने लगा तो- वन्देमातरम् और भारत माता की जय उनका कण्ठ चीत्कार कर उठा । रास्ते में वे उच्च स्वरों से गीत गाते जा रहे थे -

मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे,
बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे ।
जब तक कि तन में जान, रगों में लहू रहे,
तेरा ही जिक्र और तेरी ही जुस्तजू रहे ।।

फाँसी घर के द्वार पर पहुँचकर उन्होंने उच्च कण्ठ से पुकारा-"मैं ब्रिटिश साम्राज्य का विनाश चाहता हूँ और फिर वेदमन्त्रों का पाठ करते हुए फाँसी के फन्दे पर झूल गये । जब उनकी देह निष्प्राण हो गई तो जनता ने उनके शव को लेकर बड़े सम्मान के साथ नगर भर में घुमाया और बड़ी धूमधाम से उनकी अन्त्येष्टि की गई ।

अनेकों लोग होते हैं, जो जीते-जी मौत से भी बदतर दुर्दशा में रहते हैं और कई एक होते हैं जो मरते भी हैं-तो जिन्दगी से बेहतर स्थिति में जा पहुँचते हैं । दूसरी श्रेणी के सूरमा कम ही होते हैं पर उनका होना मुश्किल नहीं है क्योंकि वे आदर्शों के लिए जीते हैं और आदर्शों के लिए ही अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर जाते हैं । ऊपर जिस नरपुंगव की मृत्यु-मृत्यु नहीं अमर जीवन में प्रवेश का जिक्र किया गया है, का नाम है रामप्रसाद 'बिस्मिल' । जिनका आदर्श था देशभक्ति, जिनका ध्येय था स्वतन्त्रता, जिनका परिवार था देशव्यापी और जिनकी माता थी मातृभूमि । यह उनके व्यक्तित्व का उच्चतम पहलू ही है । स्थूलदृष्टि से तो वे सामान्य मानवों जैसे ही थे ।

उनका जन्म ग्वालियर राज्य के रहनेवाले और शाहजहाँपुरम में आ बसे मुरलीधर जी के यहाँ ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष ११ संवत् १९५४ बिक्रमी को हुआ था । उनके पूर्वज जमींदार थे, परन्तु वक्त की मार ने परिवार की आर्थिक स्थिति को डगमगा दिया । इसलिए उनके पूर्वजों को अपना पैतृक आवास छोड़कर शाहजहाँपुर में आ बसना पड़ा था । रामप्रसाद जी को उनकी दादी का विशेष स्नेह मिला था, वे थे भी पहली सन्तान । इसीलिये बड़े-बूढ़ों का लाड़-प्यार मिलना स्वाभाविक ही था ।

सात वर्ष की आयु में सन् १९१४ में उन्हें पढ़ने के लिए स्थानीय पाठशाला में भर्ती कराया गया । वे बचपन से ही बड़े उद्दण्ड थे । कभी घर में बँधी गायों के थन से मुँह लगाकर दूध पीते तो कभी अपने संग-साथियों के साथ दिन भर घर से गायब रहते । पिता को पता चलता तो पिटाई भी हो जाया करती पर उससे उनकी चंचलता और उद्दण्डता में रत्ती भर भी फर्क नहीं आया । फर्क आया तब जब उनकी माताजी उन्हें अपने साथ मन्दिर ले जाने लगीं । मन्दिर में रोज सत्संग चलता और वहाँ सदाचार, नीति और चरित्र की शिक्षायें धर्म पुराणों की कथाओं द्वारा दी जातीं । इन शिक्षाओं का किशोर रामप्रसाद के हृदय पर बड़ा प्रभाव हुआ । उनकी चंचलता और उच्छृंखलता जाती रही तथा शैतान बालक कुछ ही दिनों में शरीफ और परिश्रमी बन गया ।

प्राइमरी शाला में अपनी शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उनका नाम मिशन स्कूल में लिखाया गया । यहाँ वे बड़े परिश्रम, मनोयोग और एकाग्रतापूर्वक पढ़ने लगे । इन्हीं दिनों उनकी मैत्री अपने ही समान परिश्रमी और लगनशील छात्र सुशीलचन्द्र सैन से हुई । उसके व्यक्तित्व का रामप्रसाद पर बड़ा प्रभाव हुआ सहपाठी सुशील का परिवार उस समय आर्य समाज की विचारधारा से अभिभूत था । सुशील ने उन्हें स्वामी दयानन्द का 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रन्थ दिया, जो आर्य समाजी विचारधारा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है । सत्यार्थ प्रकाश ने रामप्रसाद के जीवन को सर्वथा नई ही दिशा दी और वे संस्कृति के गौरवमय तथा गरिमामय स्वरूप से परिचित हुये । धर्म और अध्यात्म के विवेकसम्मत स्वरूप ने उनके मन को ऐसा रंग दिया कि वे तख्त पर एक कम्बल बिछाकर सोने लगे । रात्रि समय भोजन भी छोड़ दिया और भोजन में नमक का प्रयोग भी बन्द कर दिया । शुद्ध, सात्विक और ताजा भोजन तथा व्यायाम के साथ-साथ मानसिक और आत्मिक विकास का प्रयत्न उनका साधन बन गया । भारतीय दर्शन की आदि विचारधारा ने उन्हें इतना अभिभूत कर दिया कि नगर में जब कभी सुधारवादी और विवेक धर्म के अनुयायी महात्मागण आते तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि रामप्रसाद उन्हें सुनने या उनकी सेवा करने न जायें।

आर्य समाज और स्वामी दयानन्द के प्रति जब उनकी श्रद्धा इस कदर बढ़ने लगी तो घरवालों को लगा कि वे पटरी से हट रहे हैं और उन्होंने रामप्रसाद को आर्य समाज से विच्छेद करने के लिए कहा । पर उन्हें यह बात नहीं जंची थी, तब घर वाले दबाव डालने लगे । धुन के धनी और लगन के पक्के रामप्रसाद को विरत नहीं किया जा सका । एक दिन पिता ने कहा-"राम यदि तुम अपने मन की ही करना चाहते हो तो इस घर में तुम्हारे लिए कोई स्थान नहीं है ।

"ठीक है पिताजी-रामप्रसाद ने कहा- "मैं यह घर छोड़ दूँगा ।"

पिता ने तो सोचा था कि इस धमकी को सुनकर उनका बेटा उनकी बात मान लेगा पर आशा के प्रतिकूल जब यह उत्तर सुना तो वे भभक उठे और बोले-"तुम अभी ही इसी वक्त घर छोड़कर चले जाओ ।"

और सचमुच रामप्रसाद जैसे के तैसे ही घर से निकल गये । परिवार के लोगों ने सोचा कि नादान उमर का लड़का दुनिया की ठोकरें खाकर शाम तक ही वापस आ जायगा । परन्तु रामप्रसाद नहीं आये । थोड़ी चिन्ता तो हुई पर जी को कड़ा कर लिया । दूसरे दिन भी नहीं आये तो चिन्ता जरा बढ़ी और तीसरे दिन तो उसकी सीमा का कोई ठिकाना ही नहीं था । मुरलीधर जी अपने दो साथियों को साथ लेकर उन्हें खोजने निकले । उनके मिलने की सम्भावना किसी सत्संग में ही थी अतः उन्हीं-उन्हीं ठिकानों पर उन्हें खोजा भी गया । एक स्थान पर किसी प्रसिद्ध स्वामीजी का प्रवचन चल रहा था । पिता को रामप्रसाद प्रवचन पण्डाल के पास एक वृक्ष के नीचे खड़े प्रवचन सुनते दिखाई दिये, और उन्हें पकड़ कर घर लिवा ले गये ?"

माँ ने पूछा-"क्यों रे राम ! तू चला क्यों गया था ?"

"पिताजी ने तो कहा था ।" - रामप्रसाद का कहना था ।

"तो फिर आया क्यों ?"

"ये ही लाये भी हैं । इसीलिए ।"

"पर तू आर्य समाज न छोड़ेगा ? है न । "

"नहीं" - यह संक्षिप्त उत्तर था ।

घर आने के बाद पिताजी उन्हें स्कूल में अपने साथ लेकर गये और वहाँ के प्रधानाध्यापक से रामप्रसाद जी के सम्बन्ध में कई बातें कीं प्रधानाध्यापक ने उन्हें कई सुझाव दिये और उनको क्रियान्वित करते हुए मुरलीधर जी ने कभी अपने बेटे पर हाथ नहीं उठाया ।

पढ़ते समय ही रामप्रसाद जी क्रान्तिकारी नेताओं के सम्पर्क में आये । तद्विषयक साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया । अब वे यह सोचने लगे कि हमारा देश हमारा परिवार है और अपने परिवार के अधिकांश सदस्य दुःखी और खिन्न हैं । इन्हीं दिनों लखनऊ में काँग्रेस अधिवेशन होने जा रहा था। रामप्रसाद जी भी वहाँ गये और अधिवेशन की कार्यवाही देखी । सम्मेलन में हुई कुछ घटनाओं का रामप्रसाद जी पर अच्छा प्रभाव नहीं हुआ और वे क्रान्ति के द्वारा ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति को सम्भव देखने लगे । इस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक को युवकों ने एक बग्घी पर बिठाकर खुद के हाथों से खींचते हुए उनका स्वागत जुलूस निकाला था । युवा हृदय रामप्रसाद बिस्मिल ने लोकमान्य की चरणरज को अपने माथे से लगाया ।

लखनऊ में ही उन्हें पता चला कि क्रान्तिकारियों की एक गुप्त समिति भी है, जो लड़कर स्वतन्त्रता पाने में विश्वास करती है । इस समिति के नेता पं० गेंदालाल दीक्षित हैं । समिति के पास पर्याप्त साधन नहीं थे फिर भी उसके अन्य सदस्य सामर्थ्य के अनुसार क्रान्ति के विचारों का प्रचार कर रहे थे । गेंदालाल दीक्षित और उनके अन्य सहयोगी इस विचार की आग-जन-जन के मन में धधका देने के लिए प्रयत्न कर रहे थे । रामप्रसाद को जब इस बात का पता चला तो वे भी दल के सदस्य बन गये ।

इन्हीं दिनों समिति ने एक पुस्तक- 'अमरीका को स्वाधीनता कैसे मिली' छपवाई और उसे लोगों में वितरित किया । यह पुस्तक विस्फोटक और विचारोत्तेजक थी । संयुक्त प्रान्त सरकार को इसका पता चलते ही पुस्तक जब्त कर ली गई । तो भी पुस्तक की कई प्रतियाँ बच गयीं, जो दिल्ली काँग्रेस में बाँटी गयीं । दिल्ली की पुलिस को पता चला तो वहाँ भी पकड़ा-धकड़ी हुई । रामप्रसाद के पास लगभग दो सौ पुस्तकें थीं । वे किसी प्रकार अपने आपको बचा-छुपाकर वहाँ से निकल सके । इस घटना के बाद उत्साह कई गुना बढ़ गया था । इसी प्रकार वे एक बार अपने साथियों के साथ दिल्ली से शाहजहाँपुर जाते समय बाल-बाल बचे ।

उनकी गतिविधियों को बढ़ते देखकर उनकी गिरफ्तारी का वारण्ट जारी कर दिया गया तो रामप्रसाद भूमिगत हो गए । गुप्त रूप से क्रान्ति प्रचार और प्रखर साहित्य का सृजन प्रकाशन भी चलता रहा । निहिलिस्ट रहस्य का अनुवाद, मन की लहर, कैथराइन, स्वदेशी रंग आदि पुस्तकों का अनुवाद और लेखन किया । इस काम में उन्हें घाटा उठाना पड़ा पर घाटे की यहाँ किसे चिन्ता थी। चिन्ता थी तो अपना लक्ष्य प्राप्त करने की और वे उस दिशा में द्रुतगति से बढ़ते जा रहे थे ।

'बिस्मिल' नाम उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भ्रातृभाव से रखा था । उत्तर प्रदेश में तब क्रान्तिकारियों में उनकी ख्याति फैलती जा रही थी और बिस्मिल का सम्बन्ध शचीन्द्रनाथ सान्याल की उग्रवादी पार्टी 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसियेशन' से भी हो गया था और उसके सदस्य क्रान्तिवीरों द्वारा बड़ी-बड़ी योजनायें बनाई जा रही थीं । दल की आर्थिक आवश्यकतायें पूरी करने के लिए सरकारी खजानों और सम्पत्ति को लूटने का निश्चय किया गया ।

उन्हीं दिनों निश्चित किया गया कि सहारनपुर से लखनऊ तक जाने वाली गाड़ी को लूटा जाय । क्योंकि छोटी-मोटी डकैतियों में कम ही पैसा मिलता था जबकि उसकी तुलना में अधिक क्षति होती थी । अनुमान था कि ऐसी गाड़ी में कम से कम दस हजार रुपये तो जाते ही होंगे, अतः रामप्रसाद बिस्मिल के अतिरिक्त चन्द्रशेखर आजाद, राजेन्द्र लाहिड़ी, शचीन्द्रनाथ बख्शी, अशफाक

उल्ला खाँ, मुकुन्दलाल, केशव चक्रवर्ती, मुरारीलाल, बनवारीलाल मन्मंथनाथ गुप्त ने उस डकैती में भाग लेने का निर्णय लिया।

लूट की योजना बनाकर सभी क्रान्तिकारी ट्रेन में सवार हुए और रास्ते में ही जंजीर खींच कर गाड़ी रोक ली गई। उसमें बैठे सभी यात्री सहम गए और कुछ नीचे भी उतरने लगे। उन्हें आश्वत करने के साथ-साथ नीचे उतरने से भी रोका गया। गाड़ी में रखा लोहे का सन्दूक जिसमें माल रखा हुआ था, नीचे उतार लिया गया और उसे तोड़कर क्रान्तिकारियों द्वारा पैसा हथिया लिया गया था और वहाँ से चले गये। डकैती के समय इस बात का पूरा-पूरा प्रबन्ध किया गया था कि उसमें किसी भी प्रकार जन क्षति न पहुँचे और इसका बराबर ध्यान भी रखा गया था।

इस रेल डकैती का समाचार जब फैला तो सारे देश में बड़ी खलबली मच गई। पुलिस की सरगर्मी अब इतनी तेज हो गई थी कि लगता था वह क्रान्तिकारियों का मूलोच्छेदन ही कर डालना चाहती है। इस सिलसिले में स्थान-स्थान पर गिरफ्तारियाँ होने लगीं और धीरे-धीरे सभी क्रान्तिकारी- जिन्होंने काकोरी रेल डकैती में भाग लिया था गिरफ्तार कर लिए गये। रामप्रसाद बिस्मिल भी गिरफ्तार हुए और उन पर मुकदमा चला। बिस्मिल ने अपनी सफाई में कुछ नहीं कहा, कहने का अर्थ भी क्या था ? ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के दमन चक्र में किसी की सुनवाई होना तो मुमकिन था ही नहीं। बिस्मिल ने बड़ी वीरता के साथ अपने कृत्य को स्वीकार किया। इसके उपहार में मिला उन्हें मृत्युदण्ड। इनके साथ ही राजेन्द्र लाहिड़ी, तथा रोशनसिंह को भी फाँसी की सजा हुई। अशफाक उल्ला खाँ को गोरखपुर जेल में फाँसी दी गयी।

इन देशभक्तों को १९ दिसम्बर, १९२७ को फाँसी के फन्दे पर लटका दिया गया और वे भारत माता की जय कहते हुए मातृभूमि की गोदी में चिरनिद्रा में लीन हो गये लेकिन उनकी सहादत असंख्य देशभक्तों के लिए जागरण का शंखनाद बन गई।

स्वतन्त्रता संग्राम का बीज बोने वाला

खुदीराम बोस

जब कोई बड़ा कार्य सामने आता है तो लोग यह कह कर "हमारी शक्ति छोटी है, हमारी योग्यता कम है, हम अभाव ग्रस्त हैं, हमें समय नहीं मिलता, " प्रयास टाल देते हैं और सामाजिक या वैयक्तिक जीवन विकास की अवस्थाएँ रुकी पड़ी रह जाती हैं।

अपनी शक्ति सामर्थ्य और योग्यता को छोटा मानकर प्रयत्नों से मुख मोड़ना वस्तुतः बहाना मात्र है। अन्यथा मनुष्य जिस बीज से बना है, उसकी शक्ति और क्षमता का पारावार नहीं। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक न तो उसकी शक्ति कम होती है न सामर्थ्य। यदि कुछ घटता-बढ़ता है तो मनोबल और प्राणबल। यदि इन दोनों शक्तियों को चिरंजीव रखा जाये तो साधन, अल्पायु, सीमित शारीरिक क्षमताओं का व्यक्ति भी क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर सकता है।

किशोर क्रान्तिकारी खुदीराम बोस को ११ अगस्त, १९०८ को विभिन्न क्रान्तिकारी वारदातों के अभियोग में मुजफ्फरपुर जेल में फाँसी पर चढ़ा दिया गया। तब उसकी कुल आयु १८ वर्ष ८ माह और ८ दिन की ही हुई थी। इतनी अल्पायु में ब्रिटिश सामन्तशाही की नींव को धड़ाम करने वाले इस बालक में और कुछ था केवल अपने को छोटा और न्यून शक्ति समझने की आत्महीनता भर न थी। यही वह कमजोरी है जो मनुष्य को ऊपर उठने और कोई उल्लेखनीय कार्य करने से रोकती और बाधा पहुँचाती है।

खुदीराम का जन्म ३ दिसम्बर, १८८९ में हबीबपुर जिला मिदनापुर (बंगाल) में हुआ था। पिता त्रैलोक्यनाथ घोस नारानैल के तहसीलदार थे। माता का नाम लक्ष्मीप्रिया था। खुदीराम भाई-बहनों में सबसे छोटा था। वह अभी ७ वर्ष का ही था कि उसके माता और पिता दोनों का देहान्त हो गया। पालन-पोषण उसकी बहन-बहनोई ने किया तथापि वे एक प्रकार से संरक्षक मात्र रहे। अपने मूर्धन्य जीवन और गतिविधियों का विकास खुदीराम बोस ने स्वतः किया। इसके लिए उसके विचार और भावनाएँ ही मार्गदर्शक और अभिभावक रहीं।

बंगाल में बंग-भंग आंदोलन उठा, उस समय खुदीराम मिदनापुर के कॉलेजिएट स्कूल के छात्र थे। विद्यार्थी जीवन में उसमें रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि उसका स्वरूप राजनैतिक था पर सम्बन्ध विशुद्ध रूप से ऐसे समाज से था जिसमें वे पले और बड़े हुए थे। वे देख रहे थे कि भारतीयों को किस प्रकार कुचला दबाया और मानवोचित अधिकारों से वंचित किया जा रहा है। जहाँ अपनी भूलें थी उनके सुधार के लिए उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार-प्रसार, युवक-संघ को बढ़ाने का रचनात्मक कार्य प्रारम्भ किया। उनकी यह रचनात्मक कुशलता ही बड़े-बड़े क्रान्तिकारियों के लिए भी मार्ग दर्शक बन गई। लोगों ने अनुभव किया बाहरी शक्तियों को तभी मुँह तोड़ जवाब दिया जा सकता है जब अपनी शक्तियाँ संगठित और समर्थ हों। राजनीति में चमक यहीं से प्रारम्भ होती है।

सामान्य संगठन कार्यों से भावी जीवन की नींव बाँधने वाले बालक में केवल लगन ही नहीं दृढ़ता भी बढ़ती है इस बात का पता १९०६ में हीं चल गया। क्रान्तिकारी पर्चे

बाँटने के अभियोग में एक पुलिस कर्मचारी ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया । अदालत में प्यारे लाल नामक वकील ने पैरवी करनी चाही । उन्हें सम्बोधित कर बोस ने कहा "वकील साहब ! आप इस छोटे से कार्य में अपना बहुमूल्य समय नष्ट न कीजिए । मुझे फांसी होगी तो राष्ट्र में जीवन और जागृति ही आयेगी इसलिए आप मेरी चिन्ता न करें, अपना समय किसी बड़े कार्य में लगायें ।"

खुदीराम प्रतिदिन गीता का पाठ किया करते थे । उनके इन शब्दों में वही दर्शन प्रस्फुटित था जो गीता में-भगवान कृष्ण ने अर्जुन को समझाया था-"हे अर्जुन ! तू कर्म कर, फल की चिन्ता न कर, आत्मा अमर है उसका मोह न कर । न ही माया ममता के बन्धन में पड़कर श्रेयस्कर को तिलांजलि दे ।"

मजिस्ट्रेट ने छोटी उम्र का विचार कर खुदीराम बोस को रिहा कर दिया । उनकी दृढ़ता और वीरता की बहुत प्रशंसा हुई पर साथ ही अब उन पर पुलिस की कड़ी निगरानी रहने लगी । काँटों में उलझकर उनसे पीछे हटना भारतीय परम्परा के खिलाफ है । बोस उसका निर्वाह क्यों न करते ? कठिनाइयाँ आनी ही थीं । बड़ा उद्देश्य लेकर चले थे तो बड़ी मुसीबतों से कैसे छूटते ? मिदनापुर छोड़ना पड़ा पर अपने उद्देश्य की पूर्ति ही उनके जीवन का अन्तिम ध्येय बना रहा ।

इन दिनों कलकत्ता के सेशन जज किंग्सफोर्ड के अत्याचार बहुत बढ़ गये थे । राजनैतिक सत्याग्रहियों को मामूली कारणों को लेकर कठोर सजायें देना उनके बाँये हाथ का खेल हो गया था । 'युगान्तर', 'संध्या', 'हितवादी', 'वन्देमातरम्' नामक राष्ट्रवादी समाचार पत्रों के सम्पादकों को किंग्सफोर्ड उग्र राजनीतिक लेख लिखने के अपराध में कठोर दण्ड दे चुके थे । अत्याचार का मुँह बन्द करने के लिए लोगों ने छिटपुट प्रयत्न भी किए किन्तु उनकी शक्ति सामर्थ्य बड़ी थी, कम न थी, काबू में आना कोई आसान बात न थी । उसके लिए किसी न किसी कर्मठ योद्धा की जरूरत थी । कोई बुलन्द बलिदानी ही अत्याचार और अन्याय का मुँह मोड़ा करता है ।

खुदीराम बोस उसके लिए तैयार हुआ । किंग्सफोर्ड सुरक्षा की दृष्टि से मुजफ्फरपुर (बिहार) पदोन्नत करके भेज दिए गए पर जिसे अपने कर्त्तव्य को पूरा करना आता है उसके लिए कर्त्तव्य की एक और कसौटी भला क्या महत्व रखती है । अभी तक राजनीतिक हिंसाओं में रिवाल्वर का ही प्रयोग हुआ था । राष्ट्रवादी मोर्चा चाहता था कि ब्रिटिश गवर्नमेंण्ट विद्रोहियों की शक्ति भी अनुभव करे और भयभीत हो, बम फेंक कर किंग्सफोर्ड का प्राणान्त करने की योजना बनाई गई । बम लेकर कलकत्ता से मुजफ्फरपुर पहुँचने का दु:साहस किशोरों ने ही किया। एक तो खुदीराम थे ही दूसरा उन्हीं का साथी प्रफुल्ल चाकी था ।

बम फेंका गया किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर किन्तु दुर्भाग्य से उसमें किंग्सफोर्ड के स्थान पर अन्य कोई दो महिलाएँ थीं उनकी मृत्यु ही गयी । पुलिस की कठोर जाँच के कारण खुदीराम बच कर न जा सके । मोकामा स्टेशन पर प्रफुल्ल चाकी भी गिरफ्तार कर लिए गए । १९०८ में उनका मुकद्मा प्रारम्भ हो गया ।

वकीलों के समझाने पर भी खुदीराम ने अपनी सफाई देने से इन्कार कर दिया । मुकदमे के दौरान जब कॉर्टहुड ने खुदीराम से अपने कृत्य पर खेद प्रकट करने को कहा तो उसने तत्काल उत्तर दिया-"जिस तरह मैं अपनी सफाई नहीं दे सकता उसी तरह खेद प्रकट करना असम्भव है । मैं गीता पढ़ता हूँ और सदैव सच बोलता हूँ ।

विश्वास नहीं होता कि उसी खुदीराम ने गीता के कर्मवाद को इतना स्पष्ट कैसे समझा था कि सच मनुष्य का ध्येय है । पर यदि किसी महान कार्य की पूर्ति के लिए झूठ बोलना पड़े तो वह धर्मसंगत है । बोस जब पहली बार जेल गये थे और पर्चा बाँटने का अभियोग लगाया गया था तो उन्होंने कहा-"इनमें पर्चा देने वाला व्यक्ति एक भी नहीं है ।" जबकि सत्येन्द्र जिन्होंने इन्हें पर्चे दिये थे इनकी बगल में ही खड़े थे । वास्तव में सिद्धान्त की रक्षा के लिए दूसरी बार आत्म बलिदान के लिए ऐसा आचरण किया ताकि राष्ट्र की चेतना प्रखर हो उठे ।

छोटी आयु में थोड़ा समय मिला था, वह भी संघर्ष में गुजरा कि देश, धर्म और समाज का पुनरुद्धार हो तो अन्तिम समय वह अपने अभीष्ट से कैसे हट जाते। खुदीराम को फाँसी हो गई । बम फेंकने से एक सप्ताह पूर्व जब वे बड़ी सजधज के साथ जा रहे थे तो उनके एक मित्र पूरनचन्द राउत ने पूछा-"खुदीराम ! यार तू तो हमेशा सादगी से रहता था आज यह चमक-दमक कैसी ?" बोस ने मधुर मुस्कान के बीच कहा-"मित्र ! मेरी शादी हो रही है । यह तो पता नहीं कब, पर दावत अवश्य मिलगी ।"

खुदीराम फाँसी के समय ठीक वैसी ही सजावट में थे । जैसा दूल्हा बारात के समय सजा होता है । भय और निराशा की एक भी शिकन माथे पर न थी । दिन भर उनकी कोठरी राष्ट्रीय गीतों से गूँजती रही, पर वह सदैव गहरी नींद में सोये । आत्मा की अमरता पर उन्हें विश्वास था तो फिर मृत्यु जैसी घटना से वह क्यों घबराते । जेल में उनका वजन आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गया, उसका कारण था उनका कर्त्तव्य प्रेम ।

११ अगस्त को, जिस दिन उन्हें फाँसी होनी थी, प्रात: -काल जल्दी उठे । शरीर संवारा ऐसे जैसे वरयात्रा में जाना हो । हँसते हुए गए और वन्देमातरम् का जयघोष करते हुए फाँसी के तख्ते पर झूल गए । कर्त्तव्य-पालक का जन्म कर्तव्य के पालन के लिये हुआ था सो पूर्ण हुआ ।

परमात्मा भी आखिर कैसे चैन से बैठा रहता। खुदीराम बोस के बलिदान ने करोड़ों देशवासियों का हृदय झकझोर कर रख दिया उसने अपनी साधना से करोड़ों लोगों में जान फूँक दी। लोकमान्य तिलक ने अपने 'केशरी' में– 'देश का दुर्भाग्य' नामक शीर्षक से खुदीराम के त्याग पर श्रद्धांजलियाँ व्यक्त की थी जिसे पढ़कर सारा देश गर्म हो उठा था। तिलक उसी लेख के सम्बन्ध में ६ वर्ष के लिए देश से निकाल दिए गए थे।

किशोर क्रान्तिकारी खुदीराम बोस का जीवन वृत्त पढ़कर किसी को अविश्वास नहीं रह जाना चाहिए कि हमारी शक्ति और सामर्थ्य छोटी है। हर बच्चा, युवक या वृद्ध परमात्मा की एक शक्ति है, उसे क्रियाशील होने का अवसर दिया जाए तो किसी भी युग और परिस्थितियों में राजक्रान्ति की तरह उल्लेखनीय परिवर्तन किया जा सकता है।

शहादत की अद्वितीय मिशाल–
बन्दा वैरागी

फरवरी, १७१६ में लाहौर नगर में विशाल शाही सेना ने प्रवेश किया। अब्दुल खाँ के सेनापतित्व में यह सेना पंजाब के गुरदास नंगल को जीत कर लौटी थी। आठ सौ सिख सैनिकों को बन्दी बनाकर गधों और ऊँटों पर बिठाकर लाया गया था। बड़े अपमानपूर्ण तरीके से इन लोगों का जुलूस निकाला गया। बाँसों पर सिक्खों के कटे हुए सिर, जिनके बीच में मरे हुए बिल्लियाँ और कुत्ते तथा ऊँटों पर उलटे हुए बिठाये सिख थे। जुलूस के बीच में एक पिंजरा था और उसमें कैद थे वीर बन्दा वैरागी। पंजाब के इस शेर को खुला लाने की हिम्मत भी दो हजार शाही सिपाहियों में नहीं थी।

अप्रैल, १५७५ को लाहौर के शाह जफरिया खान ने अपनी आठ हजार सेना के साथ अब्दुल समद खाँ को गुरदास नंगल को जीतने के लिए भेजा था। गुरुदास नंगल के पास केवल आठ सौ सैनिक थे। जिन्होंने शाही फौज का आठ माह तक मुकाबला किया। परन्तु हजारों की संख्या में घेरा डाले शाही सेना का मुकाबला कब तक किया जा सकता था। गाँव की रसद समाप्त हो गयी तो सिपाहियों ने वृक्षों की छाल तथा सूखी हुई शाखायें कूट-कूट कर आटे की तरह फाँकना शुरू किया। भूखा क्या न करता के अनुसार सिक्खों ने गाँव के सारे पशु मारकर खा डाले फिर भी बन्दा वैरागी जीते दम तक लड़ने का उत्साह उनमें फूँकते रहे। मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम तथा धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए उनके सैनिक उस क्षण तक लड़ते रहे जब तक कि शरीर ने साथ दिया।

देशभक्त सिपाही भूख के कारण जल्दी ही अशक्त और अयोग्य होने लगे। कई सैनिकों को खून के दस्त होना शुरू हो गये। बहुत से बीमार पड़ गये। अन्त में आत्मसमर्पण का निर्णय लिया गया और उससे पूर्व यह दृढ़ संकल्प कि हम मरते दम तक अपने धर्म और संस्कृति के प्रति निष्ठा का त्याग नहीं करेंगे और सब किले से बाहर आ गये। इतने दिनों में शाहीसेना की संख्या आठ हजार से दो हजार मात्र ही रह गयी थी।

उन सिपाहियों को ही पाँवों में बेड़ियाँ और हथकड़ियाँ डालकर लाहौर लाया गया था। रास्ते में अब्दुल समद धर्म परिवर्तन करने के लिए कइयों को ललचाता बहलाता रहा और काटता-मारता भी रहा। परन्तु एक भी सिक्ख सैनिक न तो प्रलोभनों से आकृष्ट रहा और न कोई भी मारकाट व प्राण-दण्ड से भयभीत हुआ। देश, धर्म और संस्कृति की रक्षार्थ एक व्यक्ति के कहने पर कुछ सौ लोग ही सही मरने के लिए तैयार हो जायें तो निश्चित ही उनके प्रेरणा और अग्रज का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली तथा प्रामाणिक रहा होना चाहिये। जो कहा वह केवल मुँह से ही नहीं अपनी निष्ठा तथा प्रामाणिकता से व्यक्त हो तो साथियों पर भी वाँच्छित प्रभाव पड़ता है।

यह प्रामाणिकता बन्दा वैरागी ने अपनी संस्कृति पर आये संकट और उसके निवारणार्थ गुरुगोविन्द सिंह द्वारा चलाये जा रहे प्रयास से प्रभावित होकर उत्पन्न की थी इसके पूर्व वे एक संन्यासी थे और भजन ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करते थे।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कश्मीर के डोगरा राजपूत परिवार में जन्मे लक्ष्मण देव (बाद में बन्दा वैरागी) आरम्भ से देशधर्म और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अत्याचारी मुगल शासकों का अन्त करने की बातें सोचा करते थे। इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी किये परन्तु कोई विशेष सफलता नहीं मिली। अपनी सन्तान से मनुष्य अपने अधूरे सपने पूरे करने की आशा करता है। इसलिए रामदेव ने अपने पुत्र को बचपन से ही हथियार चलाने, घुड़सवारी करने और रणविद्या सिखाना आरम्भ कर दिया। बाल्यावस्था में ही किसी को उपयोगी दिशा में लगा दिया जाय तो प्रगति की सम्भावना दृढ़ बन जाती है। लक्ष्मण देव भी निष्णात सफलता की ओर उसी प्रकार अग्रसर होते गये।

एक दिन शिकार खेलते समय उन्होंने एक हरिणी पर तीर छोड़ा निशाना ठीक बैठा वह मर गयी। नीचे गिरते हरिणी के गर्भ में से दो बच्चे छिटक गये और कुछ समय बाद मर गये। इस घटना ने उन्हें इतना शोक ग्रस्त बना दिया कि उन्होंने तत्काल तीर कमान और तलवार आदि हथियारों को प्रणाम कर लिया। यही नहीं उन्होंने वैराग्य धारण करने का निश्चय भी कर लिया।

१६ वर्ष के लक्ष्मण देव घर बार छोड़कर सन्यासी बन गये और उन्होंने अपना नाम बदल कर माधवदास रख लिया । देश भर की तीर्थ यात्रा करते हुए भी वे नासिक के पास पंचवटी पहुँचे । हरिणी के शिकार की घटना और उससे वैराग्य धारण कर लेने के कारण लोग उन्हें असली नाम माधवदास, के नाम से कम बैरागी के नाम से अधिक जानने लगे थे । पंचवटी का रमणीक स्थान उनके मन भा गया और वहीं रहकर उन्होंने चौदह-पन्द्रह वर्ष तक कठोर तप किया । वहाँ उनकी बड़ी ख्याति फैली और हजारों लोग उनके शिष्य बनने के लिए आने लगे । वे लोक ख्याति से घबराने लगे । सामान्य जन तो अपना परिचय और प्रभाव क्षेत्र थोड़ा भी बढ़ते देख अति प्रसन्न हो उठते हैं । परन्तु महानता के साधक जानते हैं कि यह एक मीठा जहर है, जो उसकी साधना और उपलब्धि को चौपट करके रख देगा । बैरागी भी सोचकर पंचवटी छोड़कर पंजाब के दक्षिण प्रदेश चले आये ।

उन दिनों गुरु गोविन्दसिंह जन जागरण के लिए पंजाब और देश भर की यात्रा पर निकले थे । उन्हें जब बैरागी बाबा और उनके पूर्व-जीवन का पता चला तो सोचा कि प्रासंगिक घटनाओं से भावावेश में आकर मार्ग ही बदल देने वाले प्रतिभशाली योग्य व्यक्ति को उपयुक्त दिशा में आसानी से नियोजित किया जा सकता है ।

गुरु गोविन्दसिंह ने बैरागी बाबा से सम्पर्क साधा और उन्हें अपने विचारों तथा प्रयासों से अवगत कराया । धर्म का प्रचार ही नहीं उसकी सुरक्षा के लिए बलिदान करने की निष्ठा भी स्वयं में तथा लोगों में पैदा की जानी चाहिए । अत्याचार और अन्याय सहने की कायरता के स्थान पर उसका मुकाबला कर पराजित करने तथा उन्मूलन करने का प्रयत्न आवश्यक ही नहीं अनिवार्य धर्म कर्तव्य है । गुरुजी से चर्चा के द्वारा इन तथ्यों को सुनने के बाद बैरागी का सोया हुआ क्षात्र तेज, शौर्य और साहस के रूप में पुनः जाग उठा । गुरु गोविन्दसिंह के सम्मुख नतमस्तक होकर उन्होंने कहा- "मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है । आप जैसा कहेंगे, मैं तो आपका बन्दा हूँ । इस परिपूर्ण समर्पण की स्मृति बनी रहे इसलिये गुरुजी ने महन्त माधवदास बैरागी को उठाकर छाती से लगा लिया और धर्म दीक्षित करते हुए बन्दा बैरागी नाम दिया । यह नाम उन्हें आजीवन अपने गुरु के आदर्शों तथा उनके प्रति अपने समर्पण को स्मरण कराता रहा । नाम भी विचारशील व्यक्तियों के अपने अर्थ के अनुरूप प्रेरणायें प्रदान करता रहता है ।

गुरुजी से आशीर्वाद प्राप्त कर बन्दा बैरागी पंजाब के लिए रवाना होने लगे तो गुरु गोविन्दसिंह ने एक हुक्म नामा और २५ शिष्य दिये । इन जवानों को खालसा दल कहा गया । बन्दा बैरागी को सैन्य संगठन का काम सौंपा गया । हुक्मनामा भी इसी उद्देश्य से लिखा गया था। सिक्ख लोगों को गुरुजी का आदेश पढ़-पढ़कर सुनाया गया तथा सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए धन-संग्रह, जन-संग्रह और भाव-संग्रह किया जाने लगा । कुछ ही दिनों में अच्छी खासी सेना तैयार हो गयी । सभी सैनिक प्रखर निष्ठा और देशभक्ति की भावनाओं से भरे हुए थे । ये दो हृदय गत विभूतियाँ जिस व्यक्ति या संगठन के पास होती हैं वह अपनी सामर्थ्य से भी कई गुना अधिक कर दिखाता है । संख्या में बन्दा बैरागी की सेनायें भले ही कम हों परन्तु उक्त दोनों विशेषताओं के कारण अच्छी खासी सेना से भी अधिक लगता है ।

बन्दा बैरागी ने अपना पहला लक्ष्य बनाया सरहिंद के धर्मोन्मादी नवाब वजीर खाँ को । जिसने गुरु गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों को जिन्दा दीवार में चिनवाया था । रास्ते में शाहाबाद, मुस्तफाबाद, समाना आदि रियासतों को जीतते हुए सन् १७१० में खालसा सेना ने सरहिंद पर आक्रमण बोल ही दिया । रणकुशल और छल-बल में चतुर विशाल पठान सेना मुट्ठी भर खालसा सैनिकों के सामने टिकी नहीं । चौदह दिन की लड़ाई में ही सरहिंद पर बन्दा बैरागी का कब्जा हो गया ।

सरहिंद को विजय कर बन्दा बैरागी ने दुआबा के जलन्धर और माझा के इलाकों को भी जीत लिया और एक स्वदेशी राज्य का निर्माण कर लिया । अपने राज्य में उन्होंने गुरु गोविन्दसिंह के नाम के सिक्के चलाये । दिनों-दिन उनकी विजयवाहिनी आगे बढ़ती गई । पठानों और मुगलों को इससे बड़ी चिन्ता हुई । दिल्ली, अवध, इलाहाबाद, मुरादाबाद आदि के सुल्तानों ने एक स्थान पर अपनी सेनायें इकट्ठी कर १७१० में बन्दा बैरागी के राज्य पर हमला बोल दिया । परिस्थितियों और घटनाओं का ऐसा क्रम चला कि सिक्खों को अपनी राजधानी छोड़कर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी ।

परन्तु इसके बाद भी बन्दा बैरागी चुप नहीं बैठे उन्होंने पहाड़ी क्षेत्रों में ही सिख राज्य की स्थापना कर ली और पंजाब के बहुत से भागों पर केशरिया झण्डा फहरा दिया । इतिहास हार कर बैठ जाने वालों से नहीं असफल हो जाने के बाद फिर प्रयत्न करने वालों से बनता है । इसी कारण इतिहास के लेखकों ने बन्दा बैरागी को इतिहास का निर्माता कहा है ।

लाहौर के सूबेदार अब्दुल समद खाँ ने फिर बन्दा-बैरागी पर हमला बोला । जिसमें पूर्वोक्त कारणों से सिक्खों को आत्मसमर्पण करना पड़ा । उनकी हत्या भी बड़ी पाशविक यन्त्रणायें देकर की गयी परन्तु वे अन्त समय तक अपने निश्चय पर दृढ़ रहे । यहाँ तक कि जल्लाद ने उनके बच्चे को उनकी आँखों के सामने बड़ी निर्ममता से काटकर बच्चे की कलेजी तक मुँह में ठूँस दी थी । फिर भी वे अविचल ही रहे ।

केवल मुँह से इस्लाम कबूल कर लेने के लिए वे राजी न हुए, क्योंकि हृदय और वचन की समानता उच्च चरित्र की पहली शर्त है । इस पर उनकी हत्या के रोज सबसे पहले बाईं आँख फोड़ी गयी, फिर दायाँ पैर काटा

गया । दोनों हाथ काटने के बाद गरम चिमटें से उनकी बोटी-बोटी नोंच डाली गयी और यह क्रम तब तक जारी रहा जब तक कि वे जिन्दा रहे । जून, १७१६ में भयंकर यन्त्रणायें तथा यातनायें देकर उनकी हत्या की गयी । फिर भी संकल्प और निष्ठा के धनी बन्दा बैरागी के मुँह पर एक आत्मदीप्त मुस्कान खेलती रही और हृदय में अपने प्रभु और गुरु गोविन्दसिंह का स्मरण गूंजता रहा ।

अपने धर्म, संस्कृति और जन्म सिद्ध स्वत्व-स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए शहीद हो जाने वाले बन्दा बैरागी की सत्कीर्ति युगों-युगों के लिए अमर बन गयी । संसार ऐसे निष्ठावान भक्तों का नाम सदैव श्रद्धा के साथ लेता रहेगा । बन्दा बैरागी ने धर्म के लिए भी ही अपना अंग-अंग नुचवा लिया हो परन्तु उनके बलिदान ने आगे चलकर कई वीरों के अंग इतने गर्मा दिये हैं कि आतताइयों को उल्टे पाँव जान बचाकर भागना पड़ा ।

शरीर तो एक न एक दिन छूटना ही है । अच्छा हो अगर वह धर्म के लिए छूटे ।

एक और बाल्मीकि-

ठाकुर रोशनसिंह

अपने साथी की नियमित दिनचर्या, प्रातः चार बजे निद्रा त्याग तदनन्तर शौच, व्यायाम, स्नान, उपासना, हवन और तत्पश्चात् हिन्दी, उर्दू साहित्य और धार्मिक पुस्तकों का लम्बा स्वाध्याय क्रम कुछ ऐसा था कि जीवन के एक-एक क्षण का बड़ी सावधानी के साथ सदुपयोग करते देखकर काकोरी केस के एक क्रान्तिकारी अभियुक्त को बड़ा आश्चर्य हुआ और जब उन महाशय ने बंगला भाषा सीखने का क्रम चलाया और थोड़े ही दिनों में वे बंगला भाषा का सत्साहित्य भी पढ़ने लगे तो साथी से न रहा गया । वह पूछ ही बैठा-"ठाकुर साहब अब नयी भाषा सीखकर क्या करेंगे ।"

"क्यों अब क्या हो गया ।"

"आपको तो फाँसी पर चढ़ना है । आपको इससे हलकी सजा होने वाली है नहीं फिर इस स्वध्याय का सदुपयोग कब करेंगे ।"

"भाई जब तक जीवित हैं, साँस चलने के साथ ही कर्म भी चलता रहना चाहिए । इस जन्म में इसका लाभ नहीं मिल सकेगा यह सोचकर कर्म ही न करना तो बहुत बड़ी भूल होगी । इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में तो उसका लाभ मिलेगा और फिर आज ही तो फाँसी नहीं होने वाली है, तब तक भी तो इनसे बहुत कुछ लाभ उठाया जा सकता है ।"

अपने साथी को ऐसा तथ्यपूर्ण उत्तर देने और कर्ममय जीवन के प्रति ऐसी निष्ठा रखने वाले यह व्यक्ति थे ठाकुर रोशनसिंह, जिन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने कालिमायुक्त पूर्वार्द्ध को पूरी तरह धो-पोंछ दिया था । अन्तिम समय में ही सही उन्हें जो सच्ची राह दिखायी उस पर वे दृढ़ चरणों से चले ही नहीं तीव्रगति से दौड़े भी उनका यह साहस कम प्रशंसनीय नहीं है । नहीं तो सौ में से निन्यानवे व्यक्ति यह जानते हुए भी कि पिछला जीवन जैसा भी उन्होंने जिया वह गलत था पर अब सही मार्ग पा जाने पर भी वे उस पर चलने का साहस नहीं कर पाते । उनकी मनःस्थिति शायर गालिब की- सी हो जाती- 'जिन्दगी भर तो इश्के बुतां में गुजरी, अब मरते दम क्या खाक मुसलमाँ होंगे' और ऐसे व्यक्ति मनुष्य जीवन का लाभ पा सकने की स्थिति में होते हुए भी लाभ उठा नहीं पाते ।

ठाकुर रोशनसिंह काकोरी केस में फाँसी की सजा पाने वाले चार यशस्वी क्रान्तिकारियों में से एक होते हुए भी अपने तीन फाँसी पाने वाले साथियों से सर्वथा भिन्न प्रकार के व्यक्ति थे । क्रान्तिकारी तो डाके इसलिए डालते थे कि उन्हें अपनी गतिविधियों के लिए धन चाहिए था जो उनके पास था नहीं और दूसरे धनी-मानी लोग स्वेच्छा से इस कार्य में आर्थिक सहयोग देते नहीं थे सो वे देश के काम के लिए बलात् धन ले लेना विवशतापूर्ण औचित्य के रूप में स्वीकार लेते थे । किन्तु रोशनसिंह तो डाकू थे, शौकिया डाके डाला करते थे ।

उनका जन्म शाहजहाँपुर जिले के नवादा ग्राम में हुआ था, जहाँ के ठाकुर डाका डालने के लिये उस क्षेत्र भर में कुख्यात थे । नवादा ग्राम जिले का सबसे कुख्यात गाँव माना जाता था । मध्ययुगीन सामन्तशाही ने ठाकुरों में कुछ ऐसे दुर्गुण रूपी घुन लगा दिये थे जिनमें विलासिता और मुक्तहस्त खर्च करना मुख्य थे । इन्हीं दुर्गुणों के पाश में फँसे कुछ लोग धन व सुन्दर स्त्रियों के लिए डाकों का सहारा लिया करते थे । नवादा ग्राम के अधिकांश ठाकुर भी ऐसे ही थे ।

इसी ग्राम में रोशनसिंह जन्मे, पले और बड़े हुए । स्वाभाविक ही था कि उनके ऊपर संगति और ग्राम के अनीति तथा दुराचारपूर्ण वातावरण का प्रभाव पड़ता । रोशनसिंह में भी वे कमजोरियाँ उत्पन्न हो गयीं जो वहाँ के ठाकुरों में आम थीं । इससे उनकी अन्तःचेतना पर कुसंस्कारों की कालिमा-सी चढ़ती गयी । उन्हें पेशेवर तो नहीं पर शौकिया डाकू कहा जा सकता है ।

इसे संयोग ही कहना चाहिए कि वे पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' जैसे क्रान्तिकारी और सुधारक के सम्पर्क में आये । पण्डित जी कट्टर आर्य समाजी थे- सत्कर्मों और भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक । इनके सम्पर्क में आने से रोशनसिंह को ज्ञात हुआ कि वे आज तक जो कुछ करते आये गलत था ।

उनका सम्पर्क भी एक संयोग ही था । क्रान्तिकारी लोगों को जब अपनी अंग्रेज सरकार विरोधी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए सीधी राह से धन मिलता नहीं दिखा तो उन्होंने जबरदस्ती का मार्ग अपनाया– डाके डालकर धन जुटाने का निश्चय किया । किन्तु पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल के अतिरिक्त दल का कोई व्यक्ति इस काम का अनुभव नहीं रखता था । वे तो पण्डित गैंदालाल दीक्षित और ब्रह्मचारी नामक उनके दस्यु साथी के क्रान्तिकारी दल में रह चुके थे ।

प्रारम्भिक एक दो मौकों पर एक आध अनुभवी डाकू को साथ रखने का निश्चय किया गया । सौभाग्य से वे व्यक्ति ठाकुर रोशनसिंह ही थे–शरीर से तगड़े, बलिष्ठ और पक्के निशानेबाज ।

यों १९२१ में वे एक बार पकड़े जाने पर जेल में असहयोग आन्दोलन के अन्तर्गत बन्दी हुए कुछ सत्याग्रहियों के सम्पर्क में आये थे तभी से उनके मन में अच्छा बनने की उमंगें अंगड़ाइयाँ लेने लगी थीं । पर उनका आलस्य या कमजोरी कहें या किसी सचेतक का अभाव, वे उन उमंगों को जीवन में उतार न सके । उस बीज को सिंचन मिला पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' के सानिध्य से ।

पहले एक दो बार उन्हें साथ रखने पर जब 'बिस्मिल' ने देख लिया कि उनके साथी नवयुवक कुछ कम साहसी नहीं हैं तो उन्होंने रोशनसिंह को जवाब दे दिया । पर रोशनसिंह तो अब डाकू से क्रान्तिकारी बनने की तैयारी कर चुके थे । सो वे दल से विलग नहीं हुए वरन् उन्होंने अपने को सुधार कर अच्छा आदमी बनाने का प्रयास आरम्भ कर दिया ।

पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने उन्हें सदाचरण और धर्माचरण का पाठ पढ़ाया । उनके मन पर कुसंग और अनिष्टकारी वातावरण में रहने के कारण जो कुसंस्कार पड़ गये थे वे धीरे-धीरे धुलने लगे। हवन, पूजा, उपासना, स्वाध्याय और चिन्तन-मनन द्वारा उनके मन-मस्तिष्क में ज्ञानलोक फैलने लगा । वे अपने पहले के दुष्कर्मों का प्रायश्चित करने लगे । उन्होंने अपने शेष जीवन को स्वदेश के लिये समर्पित कर दिया । काकोरी ट्रेन डकैती के समय भी वे दल के साथ थे ।

२६ दिसम्बर, १९२५ में उन्हें भी मुख्य अभियुक्तों के साथ गिरफ्तार कर लिया । उन्होंने यही सोचकर जेल में कदम रखा था कि अपने पापों का प्रायश्चित यहाँ हो जायेगा । जेल में भी उनका पूजा, उपासना, हवन, स्वाध्याय और चिन्तन, ध्यान आदि का सात्विक क्रम चलता ही रहा था ।

यों तो उन पर भी वही अभियोग था जो काकोरी केस के अन्य अभियुक्तों पर था । पुलिस को उनके विगत जीवन के बारे में भी बहुत कुछ ज्ञात था कि वे पहले डाके डालते थे । पुलिस अधिकारी समझते थे कि उनमें डाकुओं वाली वे सभी चारित्रिक कमजोरियाँ विद्यमान होंगी । उनके सहारे वह उन्हें अन्य क्रान्तिकारियों की अपेक्षा आसानी से सरकारी गवाह या मुखबिर बना सकेगी । किन्तु उनका यह विश्वास गलत था कि वे अपनी जान बचाने के लिये सब कुछ उगल जायेंगे । वे एक भी शब्द मुँह से नहीं बोले, इस विषय में । उन्हें और भी कई प्रलोभन दिये पर वे भरमाने वाले नहीं थे । अब तक अज्ञानवश जो कुछ करते आये थे, उसे तो लौटाना सम्भव नहीं था पर अब वे अपने साथियों के साथ गद्दारी नहीं कर सकते थे न प्रकारान्तर में अपने देश के प्रति । उन्हें तो फक्र था कि वे भी किसी महान उद्देश्य के साथ जुड़कर श्रेय के भागी बन गये ।

उन्होंने पुलिस वालों से बात करना तक नापसन्द कर दिया । इससे पुलिस अधिकारी उनसे बहुत नाराज हुए । इस कारण उन्हें मुख्य अभियुक्तों में शामिल बताया गया । जबकि न तो वे दल में प्रमुख थे और न ही संगठन और योजना बनाने में उनका कोई हाथ ही रहा था । फिर भी उन्हें अपने आपको सुधारने के साहस का शुभ परिणाम तो मिलने ही वाला था सो उन्हें भी फाँसी की सजा सुनाई । उनके मुख से दो बार 'ॐ' शब्द की ध्वनि निकली । अपने साथियों से उन्होंने यही कहा–"मुझे फाँसी हुई इसका कोई गम नहीं, पर तुमने तो अभी जीवन का कुछ भी नहीं देखा ।"

अंग्रेज सरकार की अन्यायपरक नीति ने रोशनसिंह को अपने पुराने पापों का प्रायश्चित करने का पूरा अवसर दिया और उन्होंने भी उस अवसर पर बड़ी वीरता का परिचय दिया । यह वीरता भी अपने ढंग की अनौखी थी । पूरे आठ महीने तक वे फाँसी घर में रहे । उनकी स्थिति में कोई और आदमी होता तो पागल हो जाता या आत्म-हत्या कर लेता । उस आदमी की दयनीय स्थिति का अनुमान सहज नहीं लगाया जा सकता कि जिस आदमी को आठ महीने तक जीवन और मृत्यु के बीच अधर में लटका कर रखा जाय । पर वाह रे रोशनसिंह ! वे जीवन और मृत्यु से निरपेक्ष हो गये थे । उनके मन में वही उत्साह और निष्ठा फाँसी के फन्दे को चूमने तक रही । वही अँधेरे मुँह उठ जाना फिर शौचादि के अनन्तर व्यायाम, स्नान, उपासना आदि का क्रम चलता रहा जैसे कुछ होना ही न हो ।

१३ दिसम्बर, १९२७ को उन्होंने अपने मित्र को जो पत्र लिखा था, उससे उनकी मनःस्थिति का सच्चा परिचय मिल जाता है । पत्र में लिखा था–

"इस सप्ताह के भीतर ही फाँसी होगी ।

दो साल से मैं बाल-बच्चों से अलग हूँ । इस बीच ईश्वर भजन का खूब मौका मिला, इससे मेरा मोह छूट गया और कोई वासना बाकी न रही। मेरा पूरा विश्वास है कि दुनिया की कष्ट भरी यात्रा समाप्त कर मैं आराम की

जिन्दगी के लिये जा रहा हूँ । हमारे शास्त्रों में लिखा है कि जो आदमी धर्म युद्ध में प्राण देता है, उसकी वही गति होती है जो एकांत में रहकर तपस्या करने वाले की होती है ।" धन्य है वे हमारे धर्मशास्त्र और धन्य हैं वे व्यक्ति जो उनको अपने जीवन में आत्मसात करके क्या से क्या बन जाते हैं ।

१९ दिसम्बर, १९२७ को ठाकुर रोशनसिंह को इलाहाबाद जिला जेल में फाँसी हुई । फाँसी के दिन वे तैयार बैठे थे । गीता हाथ में लेकर वन्देमातरम् का जयघोष करते और 'ॐ' का स्मरण करते हुए वे फाँसी के फन्दे पर हँसते-हँसते झूल गये । उनका शव लेने के लिये जेल के बाहर हजारों व्यक्ति एकत्रित थे । लोग उनकी शव यात्रा को जुलूस का रूप देना चाहते थे पर सरकारी अधिकारियों ने इजाजत नहीं दी । वेदोक्त रीति से उनका अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ, जिसमें हजारों की संख्या में जनता उपस्थित थी सबकी आँखों में आँसू थे । कल का डाकू रोशनसिंह सन्मार्ग पर चलकर आज हजारों के लिये श्रद्धास्पद बन गया था, यह हमारा अध्यात्म विद्या और देवोपम संस्कृति का ही परिणाम था ।

महान क्रान्तिकारी देशभक्त– विनायक सावरकर

१ जुलाई, १९०९ के दिन मदन लाल ढींगरा नामक एक भारतीय युवक ने सर कर्जन वाइली नाम के अंग्रेज को लन्दन के जहाँगीर हॉल में हो रही एक सभा में गोली मार दी और उसका प्राणान्त हो गया । कर्जन वाइली लन्दन में रहने वाले भारतीय छात्रों पर जासूसी किया करता था और भारत की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न करने वाले भारतीयों की गतिविधियों की सूचना पुलिस को दिया करता था । क्रान्तिकारी युवक ढींगरा को यह सहन नहीं हुआ और उसने ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी में ही उसकी धज्जियाँ उड़ा दीं ।

उन दिनों इंग्लैण्ड में रह रहे भारतीयों तथा पढ़ने के उद्देश्य से गये भारतीय युवकों के दो दल थे । एक तो वे लोग थे जो देश को स्वतन्त्र कराने के लिए प्रयत्नशील थे दूसरे वे जो ब्रिटिश राजभक्ति जतलाकर सरकार की कृपा पाना चाहते थे । मदनलाल ढींगरा पर अभी अदालत में मुकदमा चल ही रहा था कि इस दूसरे राजभक्त दल ने हिंसात्मक कार्य के विरुद्ध एक निन्दा प्रस्ताव पारित कर अपनी राजभक्ति का प्रमाण देने की गरज से एक सभा आयोजित की । सभा में कई राष्ट्रभक्त भी उपस्थित थे । यह सभा कुछ अंग्रेज के इशारों पर चल रही थी । इस सभा में जो प्रस्ताव पारित होने जा रहा था उसे विनायक दामोदर सावरकर नामक एक राष्ट्रभक्त भारतीय युवक ने यह तर्क देकर रुकवा दिया कि मामला न्यायालय में विचाराधीन है, अतः प्रस्ताव पारित करने का मुकदमे पर गलत असर पड़ सकता है ।

जिन अंग्रेजों ने यह सभा आयोजित करवायी थी वे अपना खेल बिगड़ते देखकर सावरकर पर क्रोधित हो उठे । उनमें से एक उनके मुँह पर घूँसा मारने के लिए उद्यत हुआ और बोला-"ब्रिटिश घूँसे का मजा चखो, यह मुँह पर बड़ा फिट बैठता है ।" इसके पहले कि वह चोट करता एक भारतीय ने उसके सिर पर डन्डा मार दिया और बोला-"यह भारतीय डण्डा है तुम पहले इसका स्वाद तो चख लो ।"

इन परतन्त्र भारत के स्वतन्त्रता प्रेमी युवकों पर रश्क होता था जो ब्रिटिश शासन की नाक तले अपनी इस राष्ट्र भक्ति का परिचय देते थे । अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की तनिक भी परवाह नहीं की । उन्होंने उन्हें एक महान ध्येय को समर्पित कर दिया था किन्तु उनकी तुलना हम आज के स्वतन्त्र भारत के अपने स्वार्थ में बँधे भारतीयों से कर, जो अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए देश का बड़ा से बड़ा अहित करने से नहीं चूकते, तो बड़ा दुःख होता है और लज्जा भी आती है कि हम इतने बेगैरत कैसे हो गये कि उन लोगों के त्याग-बलिदानों को भूल गये जिनके त्याग, बलिदान एवं रक्त से इस आजादी का विनिमय हुआ था ।

अंग्रेजों की इस दुरभिसंधि को नाकाम करने वाले युवक विनायक सावरकर को पच्चीस वर्ष की आयु की भरी जवानी में क्रान्तिकारी विचारधारा, गतिविधियों तथा लेखनी के कारण पचपन वर्ष के काले पानी का दण्ड दिया गया । उन्होंने अपने जीवन के– जवानी के तीस वर्ष काले पानी की नारकीय यंत्रणाओं को भोगते हुए गुजारे । इस जीवन दानी के बलिदान को भुलाकर उसके बदले में मिली आजादी का मूल्य न समझना और राष्ट्रीय दायित्व से द्रोह करना कितनी बड़ी कृतघ्नता है ।

विनायक सावरकर का जन्म उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशक के प्रथम चरण में हुआ था। वे जब अल्पायु ही के थे कि अपने राष्ट्रभक्ति पूर्ण क्रिया-कलापों के कारण उन्हें ब्रिटिश हुकूमत ने फाँसी की सजा दे दी थी । बालक विनायक के मन पर इस घटना का बड़ा प्रभाव था । कोई व्यक्ति अपने देश के लिये प्राणोत्सर्ग भी कर सकता है यह भावना उन्हें बड़ी स्पृहणीय लगी थी ।

उनके परिवार का वातावरण भी उनमें जातीय और राष्ट्रीय स्वाभिमान जगाने में सहायक हुआ था । बचपन में अपनी माता के मुँह से छत्रपति शिवाजी की वीरता, साहस और देशप्रेम की जो गौरव-गाथायें विनायक ने सुनीं, उन्होंने उनके व्यक्तित्व को एक साँचा प्रदान कर दिया- आदर्शों के लिये बलिदान हो जाने वाले व्यक्तित्व का साँचा । बचपन में उन्हें जीवन का जो लक्ष्य मिला उसने

उन्हें वीरता, विद्वता, तेजस्विता, क्रान्तिदर्शिता और आदर्शवादिता की महिमाओं से मण्डित एक राष्ट्रीयता के रूप में यशस्वी बना दिया। भारत की स्वाधीनता के लिये उन्होंने जो योगदान दिया उसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा।

चाफेकर बन्धुओं को हुई फाँसी ने बालक विनायक और उनके बन्धु गणेश सावरकर को स्वातन्त्रता की लड़ाई में कूद पड़ने के लिए प्रेरित कर दिया। इस स्वातन्त्र्य यज्ञ में प्रथम आहुति उनके अग्रज गणेश सावरकर द्वारा दी गई। १९०९ में उन्हें राजद्रोहात्मक कवितायें रखने के अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया और बाद में ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध षड़यन्त्र रचने और युद्ध घोषणा करने के अपराध में आजन्म काले पानी की सजा दी गई। साथ ही उनकी सारी सम्पत्ति जब्त करने का भी आदेश ब्रिटिश शासन ने दिया।

ब्रिटिश शासन की शक्ति और सामर्थ्य के सामने विनायक और गणेश सावरकर जैसे युवकों की क्या तुलना थी, पर्वत के सामने राई जैसी ही, पर जहाँ नीति और न्याय के समर्थक की शक्ति की बात है वह राज्य शक्ति और सैन्य बल की परवाह नहीं करता। न्याय और नीति के साथ ईश्वरीय शक्ति होती है। इनके पक्ष में बड़ी से बड़ी ताकत से टकराने वालों को वह शक्ति मिलती भी है। अपनी इसी शक्ति के बल पर साधनहीन युवकों ने ब्रिटिश हुकूमत को चुनौती देने का साहस कर ही लिया।

विनायक सावरकर स्कूल में पढ़ते थे तभी उन्होंने बच्चों की एक समिति बनायी थी– 'राष्ट्रभक्त समूह'। इस समिति का काम ऐसे स्वयंसेवक तैयार करना था जो आगे चल कर आजादी की लड़ाई में भाग लें। आगे चलकर यही संस्था 'मित्र मेला' के रूप में परिवर्तित हो गयी। अब इसका क्रियात्मक पक्ष भी सामने आया। गणेश–पूजा और शिवाजी–उत्सव जैसे अभिनव पर्वों के आयोजनों पर साधारणजनों में देशभक्ति की भावनाओं का प्रचार करना और वह जोश उत्पन्न करना कि वे अपनी शक्ति को समझें और उसका प्रयोग करके विदेशी शासकों को देश के बाहर निकालने के लिय व्यापक क्रान्ति करें।

१९०२ में महारानी विक्टोरिया के देहावसान पर और एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक पर जो उत्सव भारतीय जनता ने मनाये, उस पर इन युवकों ने उन्हें बतलाया कि ये उत्सव उनकी पराधीनता के द्योतक हैं। यह राज्य-भक्ति देश-द्रोह की अभिव्यक्ति भर है। इनकी इस तथ्य पूर्ण बात का प्रभाव उस समय भले ही लोगों पर न पड़ा हो पर आगे चलकर उन्होंने इस सत्य को स्वीकार किया।

सावरकर जब फर्ग्युसन कॉलेज में प्रविष्ट हुए तो लोकमान्य तिलक से उनका सहज सम्पर्क जुड़ गया। लोकमान्य उनकी भावना और व्यक्तित्व की प्रखरता से बहुत प्रभावित हुए। उनकी 'मित्र–मेला' मण्डली, जिसका नाम अब 'अभिनव भारत' हो गया था, ने महाराष्ट्र में पहले ही विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की धूम मचा रखी थी। लोकमान्य तिलक तो ऐसे युवकों को खोजते फिरते थे।

१९०६ में बी० ए० पास करने पर लोकमान्य तिलक ने उन्हें श्याम जी कृष्ण वर्मा नामक प्रख्यात देशभक्त द्वारा भारतीय छात्रों को विदेश जाकर पढ़ने के लिए दी जाने वाली छात्रवृत्ति दिलवादी और वे इंग्लैण्ड पहुँच गये। ज्ञानार्जन और विद्योपार्जन के प्रति सावरकर पूरे तत्पर थे पर उसका उपयोग भी वे देश के लिए ही करना चाहते थे। इंग्लैण्ड से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद भारत आने पर उनके लिए ब्रिटिश शासन तंत्र में उच्च ओहदे, सम्मानित जीवन और अच्छा खासा वेतन मिलना सहज सम्भव था पर यह सब गुलामी की शर्त पर मिलता था और फिर सावरकर का निर्माण कुछ और ही ढंग से और ही मिट्टी से हुआ था। उनके लिये ये प्रलोभन तिनके की तरह तुच्छ थे। वे तो सरफरोशी की तमन्ना रखने वालों में थे। अपने स्वार्थ और सुख के लिये अन्याय, अनीति से समझौता करके झुक जाने वाले लोगों में से नहीं थे। यह आदर्शवादिता उनके लिये घाटे का सौदा नहीं रही, कितने ही विदेशों से पढ़कर भारत आये और सरकार के उच्च पदों पर रहे, ऐसे लोगों का आज कहीं नाम-निशान ही नहीं मिलता, वे भीड़ में खो गये हैं।

भारतीय युवकों में स्वदेश प्रेम और क्रान्तिधर्मिता उत्पन्न करने के लिए उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में '१८५७ के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास' नामक एक पुस्तक लिखी। ब्रिटिश सरकार ने यह पुस्तक इतनी खतरनाक समझी कि यह प्रकाशित होने के पहले ही जब्त घोषित कर दी गई। ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय से यह प्रचलित मान्यता कि ब्रिटेन में स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अधिकार प्राप्त है भी झूठी सिद्ध हो गयी। ब्रिटिश सरकार का यह कदम इंग्लैण्ड के सबसे बड़े समाचार पत्र 'लन्दन टाइम्स' को भी अशोभनीय लगा। इस प्रतिबन्ध के बाद भी गाई अल्ड्रेड नामक एक ब्रिटिश पत्रकार के सहयोग से इसका प्रकाशन किया गया। यह पुस्तक भारत भी पहुँची।

इस पुस्तक को जब्त करने के निर्णय से स्पष्ट हो जाता है कि सावरकर की लेखनी में कितना दम था। यह तथ्य विचारों की अद्‌भुत शक्ति का परिचायक भी है। सरकारी इस आज्ञा के उल्लंघन के फलस्वरूप सावरकर को बन्दी बना लिया गया। वे जब जहाज द्वारा भारत लाये जा रहे थे तो फ्रांस के मासेल्ज नगर के निकट उन्होंने मौका देखकर खतरनाक मछलियों और समुद्री जन्तुओं से भरे सागर में छलाँग लगाकर अद्‌भुत साहस का परिचय दिया। उनमें इस साहस का संचार आत्मा की अमरता की हमारी भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा ने ही किया था। उन्होंने तैरकर सागर भी पार कर लिया था पर ब्रिटिश

पुलिस उन्हें पुन: बन्दी बनाने में सफल हो गयी । फ्रांस सरकार ने इसमें हस्तक्षेप न करके अपने ही कानून का उल्लंघन किया ।

उन्हें ५५ वर्ष के काले पानी की सजा हुई । सावरकर को पूर्ण विश्वास था कि इतने लम्बे समय तक तो अंग्रेज सरकार भारत पर अधिकार जमाए रखने में सफल भी नहीं हो सकेगी । उनका अनुमान सही निकला उनको जेल भेजने के चौबीस वर्ष बाद ही अंग्रेजों को भारत से भाग खड़ा होना पड़ा। अपने ध्येय के प्रति सावरकर को कितना विश्वास था । यह ध्येयवृत्तियों के लिये उत्कृष्ट उदाहरण है ।

सावरकर ने अपने जीवन के तीस वर्ष अण्डमान द्वीप समूह की काले पानी जेल की काल कोठरी में बिताये । इस जेल की यंत्रणायें इतनी अमानुषिक थीं कि सुनकर उन पर सहज विश्वास नहीं होता । साथ ही इस बात पर भी विश्वास नहीं होता कि ऐसी नारकीय यंत्रणाओं को सहते हुए भी कोई व्यक्ति तीस वर्ष तक जीवित ही नहीं वरन् कार्यक्षम्य भी रह सकता है । यहाँ रहते हुए अपने देश सेवा के ध्येय को पूरा भी कर सकता है । पर यह सब असम्भव ही दीखने वाली बातें सावरकर ने सम्भव कर दिखाईं थीं। मनुष्य की अदम्य जिजीविषा किसी महान ध्येय के साथ मिलकर कैसा चमत्कार कर दिखाती है यह सावरकर के जेल जीवन में देखा जा सकता है।

यह वही अण्डमान की जेल थी जिसमें कितने ही राजनैतिक कैदी सावरकर के सामने आये और यहाँ की अमानुषिक दरिंदगियों से त्रस्त होकर मर गये, कितने ही पागल हो गये । सावरकर यह सब देखते-सुनते और सहते हुए भी अविचलित रहे । अण्डमान में तीस वर्ष की जेल काटने वाला आदमी सही सलामत लौट आये यह आश्चर्य की बात थी ।

जेल में भी वे निष्क्रिय नहीं रहे । वहाँ भी हिन्दी भाषा का प्रचार किया । १९३७ में जेल से छूटकर स्वदेश लौटने पर भी उनका देश सेवा का कार्य रुका नहीं । शरीर से जर्जर पर मन और आत्मा से सबल सावरकर अपने ढंग से देश का काम करते रहे । उनके विचारों में जातीय स्वाभिमान की जो प्रेरणायें विद्यमान हैं उन्हें यदि विशद् दृष्टिकोण से देखा जाय तो उनकी उपयोगिता आज भी दिखलाई देती है । तुष्टीकरण की नीति के वे उतने ही विरोधी थे जितने सुभाष बाबू ।

सावरकर एक प्रखर सिद्धान्तवादी व्यक्ति के रूप में सदा स्मरण किये जाते रहेंगे । आदर्शों की हत्या करके व्यक्तिगत स्वार्थ के स्तर पर समझौता करने की जो हवा आज चारों दिशाओं में चल पड़ी है, उसके विपरीत रुख में खड़े आदर्शवादियों के लिये उनका चरित्र एक दृढ़ पतवार का काम देने वाला है । १९६६ में इस महान क्रान्तिकारी उत्कृष्ट राष्ट्रवादी और प्रखर साहित्यकार के पार्थिव जीवन का अन्त हुआ ,पर अपने प्रेरक कर्तृत्व के रूप में वे आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं।

बाँध न पायीं, जिन्हें जेल की दीवारें भी

साम्राज्यवादी अंग्रेजों के घर इंग्लैण्ड की राजधानी में भारतीय युवकों की क्रान्तिकारी गतिविधियों का सूत्र संचालन करने और अंग्रेजों के नाकों दम करने वाले साहसी युवक को भारतीय न्यायालय ने आजन्म काले पानी की सजा दी । इस पर लोगों ने कहा-''पचास वर्ष की सजा बहुत अधिक होती है ।''

''पचास वर्ष की बात करते हो ? क्या इतने दिनों ये अंग्रेज हमारे यहाँ रहने वाले हैं ? कभी नहीं । ''

यही दृढ़मना युवक मार्च, १८९९ में अण्डमान द्वीप समूह में काले पानी की सजा काटने के लिये भेज दिया गया । लम्बी जेल यात्रा के बाद वह अण्डमान पहुँचा तब तक तो उसने तय कर लिया था कि उसे वहाँ जाकर क्या करना है । जहाज चलने के साथ ही उसका मस्तिष्क भी चलता रहता था । उसकी अपनी सारी योजना और सम्भावित गतिरोध और उनसे निपटने के सारे तरीके उसके उर्वर मस्तिष्क में उपज आये थे ।

उसके चिन्तनशील मस्तिष्क में यह बात पहले ही स्पष्ट हो चुकी थी कि अब अंग्रेज अधिक दिनों भारत पर शासन नहीं कर पायेंगे क्योंकि भारतवासी उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं । किन्तु उनके जाने के बाद जो ऐक्य उनसे विरोध करते समय बना था वह बना रहना सम्भव नहीं है । क्योंकि भारत जैसे विशाल देश के निवासी धर्म, रीति, रिवाजों तथा भाषागत विभिन्नता के कारण एक होकर सोच नहीं पायेंगे । जातिवाद, भाषावाद व सम्प्रदायवाद के काले नाग फन उठाने लगेंगे । ऐसी स्थिति में राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधे रखने के लिए भावनात्मक एक्य के लिए देश भर में एक राष्ट्रभाषा का होना आवश्यक है और वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है । अत: उन्होंने जेल में ही हिन्दी प्रचार करने का निश्चय कर लिया । इस निश्चय को उसने अनेकानेक कठिनाइयों असुविधाओं, विरोधों के अनन्तर भी पूरा कर दिखाया । यह युवक थे भारत के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विनायक दामोदर सावरकर जिन्होंने दस वर्ष तक अण्डमान जेल में रहकर वहाँ ९० प्रतिशत बन्दियों को हिन्दी सिखायी ।

अंग्रेजी ने अपने शासन के साथ ही साथ अपनी भाषा और संस्कृति भी भारतवासियों पर थोपी थी । अंग्रेजी भाषा व अंग्रेजी वेशभूषा के बौद्धिक परावलम्बन का जुआ उन्होंने भारतवासियों के कन्धों पर रख दिया था । यह मानसिक दासता उस राजनैतिक दासता से कम भयंकर नहीं थी । इससे उसी समय सावरकर ने जूझना आरम्भ कर दिया था ।

अण्डमान की जेल में जाते ही उन्होंने अण्डमान जेल स्थित बंदियों को साक्षर बनाने अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सिखाने का कार्य आरम्भ कर दिया । बन्दी जीवन की कष्ट, कठिनाइयों व अत्याचारों ने लोगों को इतना निराश बना दिया था कि उन्हें पढ़ने के लिये तैयार करने में भी सावरकर को बड़े धैर्य का परिचय देना पड़ा । कोई कहता-"भैया जाने कब यहाँ से मुक्ति मिलेगी तब तक तो हम मर खप ही जायेंगे ।" कोई कहता-"अब तक तो पंजाबी बोलता रहा हूँ अब हिन्दी पढ़कर क्या तीर मार लूँगा ।" कोई बुढ़ापे का रोना रोते-"पक्की हड्डियों पर क्या कच्ची मिट्टी का पैबन्द लगता है बेटे ।" इन सबके मन में उन्होंने अपनी युक्तियों व अपने आशावाद के कारण उत्साह उत्पन्न किया । वे लोग भी देखें कि यह तीस वर्ष का युवक यहाँ पचास वर्ष की जेल भोगने आया है । यहाँ से जायगा तब तक तो अस्सी का हो जाएगा फिर भी यह हँसता-मुस्कराता है और कहता है कि इतने वर्ष तक अंग्रेज भारत में रहेंगे भी नहीं और फिर हमें साक्षर बनाने के लिये कितना परिश्रम करता है । इसने जीवन के मर्म को समझा है हमें उसकी बात माननी चाहिए ।

सावरकर की कर्मनिष्ठा और उत्साह ने मरे हुये दिलों में आशा की संजीवनी की घुट्टी पिलाकर प्राण संचार किये और उनका शिक्षण क्रम तेजी से चलने लगा । अनपढ़ पढ़ने लगे । अहिन्दी भाषी हिन्दी सीखने लगे ।

उनकी इस सफलता पर जेल के अंग्रेज अधिकारी क्षुब्ध हो उठे । उन्होंने देखा कि यदि लोगों में उत्साह उत्पन्न हो गया और हिन्दी सीखकर वे हिन्दुस्तानी बन गये उनके बीच पड़ी हुई पंजाबी, गुजराती, मराठी, दक्षिण भारतीय की अदृश्य दीवारें उठ गयीं तो हमारी मुश्किल हो जायगी । भारत रूपी यह दैत्य जो अभी सोया हुआ है जाग पड़ेगा तो जाने क्या हो जायगा । अतः उन्होंने "फूट डालो और राज करो" की नीति के अनुसार काम करना आरम्भ कर दिया ।

थोड़े ही समय में सावरकर से पढ़ने वालों ने पढ़ने से इंकार कर दिया । सब लोग उनसे कतराने लगे । इसका कारण अधिकारियों द्वारा फैलाई गयी यह अफवाह थी कि वे बंगाली, सिन्धी, पंजाबी, मराठी आदि भाषा-भाषियों पर हिन्दी, जो कि थोड़े से लोगों की भाषा है, लादने के कुचक्र रच रहे हैं । इस पर बड़ा बखेड़ा उत्पन्न हो गया । कुछ लोग तो उनका प्रबल विरोध करने लगे । वे हिन्दी को समस्त भाषाओं से श्रेष्ठ कैसे मान लें । बंगाली कहते-"हमारी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध है कि हिन्दी में उनके अनुवाद होते हैं फिर उसे ही क्यों प्रमुख मान लिया जाय ? । इतने में मराठी बोल पड़ता-"मराठी क्या किसी से कम है ।" कोई कहता-"हिन्दी का तो अपना व्याकरण भी नहीं ।" इस प्रकार तरह-तरह के विरोध उठ खड़े हुए ।

इस विरोध का उत्तर एक-एक व्यक्ति को पृथक्-पृथक देने की अपेक्षा उन्होंने सब बन्दियों की एक सामूहिक सभा बुलाकर उसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया । पृथक्-पृथक् समझाने में कितना ही समय लग जाता और अनावश्यक गतिरोध उत्पन्न हो जाता । उन्होंने सब भाषाओं को अपने-अपने स्थान पर उपयुक्त मानते हुए हिन्दी को सबके बीच की सम्पर्क भाषा मान लेने के औचित्य को समझाया । साथ ही साथ उन्होंने इसकी व्यावहारिकता पर भी प्रकाश डालते हुए बताया कि हमारा देश भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों व भाषाओं वाले लोगों का होते हुए भी धर्म और संस्कृति के सूत्रों में बँधकर एक बना है वैसे ही हिन्दी को भी एकता का एक सूत्र मान लेना चाहिये ।

उनकी युक्ति युक्त बात लोगों के गले उतर गयी । वे हिन्दी पढ़ने के लिये तैयार हो गये । हाँ कुछ कठोर चनों की तरह गले नहीं वे विरोध करते रहे किन्तु उनकी आवाज अब नक्कारखाने में तूती की तरह अप्रभावी बन गयी । सावरकर का प्रयास सफल होता दिखाई देने लगा ।

अब समस्या आयी पुस्तकों की । जेल के कुछ सहृदय भारतीय अधिकारियों के सहयोग से कुछ पुस्तकें उपलब्ध हुईं । उनसे ज्ञान मन्दिर (पुस्तकालय) की स्थापना की गयी । किन्तु पढ़ने वालों की संख्या देखते हुए पुस्तकें बहुत कम थीं । उसका तरीका खोजा गया कि बंदी पैसा इकट्ठा करें और अवसर देखकर बाहर से पुस्तकें मँगालें । इन्हीं दिनों दीवान सिंह नामक एक व्यक्ति की मृत्यु हो गयी । पुस्तकें मँगाने का यह अच्छा बहाना था । कैदियों ने जो पैसा-पैसा जोड़ा था वह इकट्ठा किया गया । कोई दो सौ रुपये एकत्रित हुए । उन रुपयों से दिवंगत बंदी की स्मृति में पुस्तकें मँगायीं । सामान्य व्यक्ति के स्तर से लेकर उच्च साहित्यिक पुस्तकें भी मँगायी गयीं जिससे सभी स्तर के लोग लाभ उठा सकें ।

अब हिन्दी के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का शिक्षण भी आरम्भ किया गया । सम्पर्क भाषा बनी हिन्दी । तब लोगों की समझ में आ गया कि इसे सीखने से कितना लाभ हुआ । हिन्दी सीखने से परस्पर एक दूसरे की भाषा समझने, सीखने में बड़ी आसानी हो गयी ।

जेल से जिन व्यापारियों का सम्पर्क रहा करता था उन्हें भी सावरकर ने कहा-हिन्दी सीखने का प्रयास करो, अपने बच्चों को हिन्दी सिखाओ ताकि सरकार उनके लिये पाठशाला खोल सके । हिन्दुओं की राष्ट्रभाषा हिन्दी है । पंजाबी, गुजराती, मराठी बंगाली होते हुए भी जैसे हम हिन्दू हैं । वैसी ही धर्म की तरह भाषा को भी हमें सीखना चाहिए ।"

सावरकर को जेल में कोठाधिकारी बनाया गया । उन दिनों तेल व खली खरीदने के लिये जो व्यापारी आते, उन्हें

वे अपनी यह बात समझाना नहीं भूलते । यही नहीं उन्हें महाभारत, रामायण तथा अन्य महापुरुषों की जीवनियाँ भी पढ़ने के लिए देने लगे, जिन्हें पढ़कर वे लोग वापस उन्हें लौटा देते थे । इस प्रकार जेल की चहारदीवारी में लगाये गये ज्ञानरूपी वृक्ष के जब फूल आये तो उनका सौरभ उन सींखचों के बाहर भी विचरने लगा ।

किसी को बंदी बना देने से उसके क्रिया-कलाप रुकते नहीं । जिनमें कुछ कर गुजरने की भावना होती है तो वे पर्वतों को तोड़ कर भी राहें बना लेते हैं । बस लगन और धैर्य की आवश्यकता होती है । अंग्रेजों ने देखा कि यह सावरकर यदि खुला फिरता रहा तो आने क्या-क्या बखेड़े उत्पन्न करेगा इसलिये न्याय का गला घोंटकर उन्हें सुदूर काले पानी की सजा काटने भेज दिया पर वहाँ भी वे चुप नहीं बैठे ।

उन्होंने भारतवर्ष के क्रान्तिकारियों से भी सम्पर्क बनाये रखा । उनके इस जेल में चलाये गये साक्षरता आन्दोलन को इन क्रान्तिकारियों की सहायता मिलती रही थी । इस कार्य से दोहरा लाभ हुआ एक तो निरक्षर लोग साक्षर हो गये । उनके लिये ज्ञान प्राप्ति का मंगल द्वार खुल गया दूसरे राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार हो गया ।

जेल में उन्हें भी अन्य बंदियों की तरह कोल्हू चलाना पड़ता था, चक्की पीसनी पड़ती थी । भोजन ढंग का नहीं मिलता था । जलवायु तो पहले ही खराब थी ही । मलेरिया का भीषण प्रकोप होता था । इन सब बाधाओं को झेलते हुए भी उन्होंने अपने संकल्पों को साकार करने में कभी आलस्य नहीं किया । उन्हें जब भी समय मिलता अपना पढ़ाने का काम पकड़ लेते ।

दस वर्ष तक वे इन काल-कोठरियों में पाठशाला चलाते रहे- अपने ढंग की अनोखी पाठशाला जिसके लिये न समय था, न साधन और ऊपर से अंकुश लगा ही रहता । फिर भी दस वर्ष तक वे वहाँ रहे तो उन्होंने ९० प्रतिशत बन्दियों को साक्षर बना दिया । लोग कहते हैं, क्या करें परमार्थ का काम करने पर इतने व्यवधान सामने हैं इनके लिए यह उदाहरण अपर्याप्त नहीं । संकल्पों की कमी है और किसी की नहीं अन्यथा परमार्थ के काम में न समय बाधक बनता है न साधनों का अभाव ही ।

हाजिर जवाब में भविष्यवाणी

"दण्डित १९१० में, रिहाई १९६० में, इन शब्दों से अंकित तख्ती गले में लटकाये वीर सावरकर दोहरे आजीवन कारावास का दण्ड भोगने के लिये काले पानी की कोठरी में प्रविष्ट हो रहे थे । किन्तु न मुख म्लान, न मन में ग्लानि । आन्तरिक स्थिरता भी नहीं डगमगाई । पास खड़े जेल अधिकारी ने व्यंग्य किया-"घबराओ नहीं । ब्रिटिश सरकार पचास साल पूरे होते ही तुम्हें जरूर रिहा कर देगी ।" सावरकर ने उत्तर दिया- "किन्तु क्या स्वयं ब्रिटिश सरकार भारत में पचास साल टिकी रह सकेगी ?"

हृदय की विशालता

स्वातन्त्र्य संग्राम के वीर विनायक राव सावरकर की स्थावर संपत्ति अंग्रेजों ने राज-सात करायी थी । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात इस संपत्ति की वापसी के लिये प्रयत्न किये गये परन्तु किन्हीं नियमों आदि के कारण संपत्ति वापस नहीं हो सकी। इस पर एक मित्र ने सावरकर के समक्ष स्वतन्त्र भारत की व्यवस्था की आलोचना कर इसे शासकीय उपेक्षा बताया। ऐसा कहने से रोकते हुए वीर सावरकर ने कहा-"बन्धु, जाने भी दो, जब सागर, नदियों व हिमालय जैसी मूल्यवान सम्पत्तियों वाला देश मुझे वापस मिल गया है तो थोड़ी-सी सम्पत्ति को लेकर क्या झंझट में पड़ना ।"

सावरकर की यह सज्जनता व हृदय की विशालता देख उनके मित्र चुप हो गए ।

वीर बालक-

हकीकत राय

मुगल शासन काल में फारसी का महत्व एक राज-भाषा जितना था । फारसी पढ़ाने के लिये मौलवी लोग मदरसे तथा मकतब (पाठशाला) चलाते थे । स्यालकोट के एक ऐसे ही मकतब के मौलवी साहब कुछ देर के लिये बाहर गए तो बालकों ने हो-हल्ला करके मकतब सिर पर उठा लिया । सभी बालक इसमें भाग ले रहे थे केवल एक बालक इन सब उच्छृंखलताओं से अलग-थलग बैठा अपनी पुस्तक पढ़ने में मग्न था । यह बालक पढ़ने में सबसे आगे था इस कारण उससे कुछ मन्दबुद्धि मुसलमान लड़के जलते थे, दूसरा कारण इस बालक का हिन्दू होना था । उन्होंने उसे छेड़ने के लिये हिन्दू देवी-देवताओं को गालियाँ देना आरम्भ कर दिया । इस बालक को यह सहन नहीं हुआ ।

बालक अपनी माताजी को गीता, रामायण पढ़ते सुनता था । उसकी हिन्दू देवी-देवताओं पर बड़ी श्रद्धा थी। गीता तो उसे बड़ी प्रिय लगती थी । उसने उन्हें समझाया-"तुम हमारे देवी-देवताओं को गाली न दो । हम भी तुम्हारे पैगम्बर को गाली दें तो तुम्हें कैसा लगेगा ।"

इस पर वे और जोर से गालियाँ देने लगे । हिन्दू हकीकत को यह सहन न हो सका उसने भी अल्लाह को गालियाँ दीं ।

मौलवी के आने पर उन उच्छृंखल बालकों ने नमक मिर्च लगाकर हकीकत की शिकायत की । मौलवी यह सुनकर आग बबूला हो गया । उसने हकीकत को डाँटा । बालक के मन में शिक्षक के प्रति श्रद्धा थी पर वह सत्य

कहने का साहस रखता था । उसने प्रतिवाद किया व अपनी गलती नहीं मानी ।

मुसलमानों के शासन में एक हिन्दू उनके देवताओं को गाली देने का साहस करे ? यह मौलवी को सहन न हुआ । बात न्यायालय तक पहुँची । न्याय भी उन दिनों मुल्ला-मौलवी करते थे । बालक को मृत्यु दण्ड की सजा देने का निर्णय हुआ ।

मौलवी ने इस बालक को बहुत समझाया कि वह अपना धर्म छोड़कर मुसलमान बन जाय तो उसे जीवनदान ही नहीं बड़ा पद मिल जायगा । उसके माता-पिता ने भी समझाया "बेटा स्वीकार कर लो कम से कम तुम्हारी जान तो बच जायगी ।"

हकीकत ने मन में विचार किया । मृत्यु तो आज नहीं तो कल आएगी ही फिर धर्म और सत्य को छोड़कर क्यों जीवन की भीख माँगूं । माँ रोज गीता पढ़ती है उसमें लिखा है कि आत्मा पुराने कपड़े की तरह एक शरीर छोड़कर नये कपड़ों की तरह दूसरा शरीर धारण करती है । वह न तो आग में जलती है, न शस्त्रों से काटी जा सकती है । फिर मैं इस शरीर का क्यों मोह करूँ । उसने कहा- "आप व्यर्थ चिन्ता करते हैं, मैंने कोई अपराध नहीं किया है, मैं क्यों अपना धर्म त्याग दूँ ।"

एक अबोध बालक के आगे सारा राजतन्त्र हार रहा था । ज्यों-ज्यों बालक अपने निश्चय पर दृढ़ रहा त्यों-त्यों प्रलोभन भी बढ़ते गये । उसे सभी प्रकार के भय दिखाए गए । किन्तु हकीकत अपनी बात पर अटल था ।

सन् १९३४ बसंत पंचमी के दिन रावी नदी के किनारे इसे मृत्यु दण्ड देने के लिए ले जाया गया । वहाँ बड़ी भीड़ एकत्रित हो गई थी । जल्लाद हाथ में नंगी तलवार लिये खड़ा था । मुल्लाओं ने समझा कि अब डर जायगा- "बोलो जिन्दगी चाहते हो या मौत ।"

निर्भीक स्वर में हकीकत ने कहा-"आप न तो मुझे मौत दे सकते हैं न जिन्दगी । जो करना है करें ।"

सिर काटने का आदेश हुआ । क्रूरकर्मा जल्लाद के हाथ से भी तलवार छूट पड़ी, उसे भी दया आ गई पर हकीकत ने तलवार उठाकर उसे थमा दी व कहा कि तुम अपना कर्त्तव्य पूरा करो ।

तलवार चली, हकीकत का सिर कट गया । सत्य पर मिटने वाला यह वीर अमर होकर लाखों की जीवन प्रेरणा बन गया ।

स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रथम सैनिक-

मंगल पाण्डे

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये थे । शाहजहाँ के दरबार में सर टामस रो ने व्यापारिक सुविधाओं के लिए घुटनों के बल झुक कर निवेदन किया था । वही अंग्रेज १८५० तक भारत सम्राट बन बैठे । मुगल सम्राट उनके हाथों की कठपुतली भर रह गया । भारतीय जनता अंग्रेजों के इस कुचक्र को समझ नहीं पाई । उसे चेत तब हुआ जब राजनैतिक विजय के बाद उन्होंने सांस्कृतिक विजय करने की ठानी और वैसे ही प्रयास आरम्भ कर दिये ।

भारतीय जनमानस धर्म व संस्कृति से ही नियन्त्रित, संचालित रहा है । जब धर्म व संस्कृति पर चोट पड़ने लगी तो उन्हें चेत आया, वे क्षुब्ध हो उठे । भीतर ही भीतर विप्लव की पृष्ठभूमि बनने लगी । १८५७ में मंगल-पाण्डे नामक एक युवा सैनिक ने इस विप्लव को स्वर दिया । देखते ही देखते यह स्वर महाराग बनकर भारत के दिगदिगंत को प्रकम्पित करने लगा । अंग्रेजों के साम्राज्य की प्राचीरें ढहने लगीं ।

अंग्रेज इतिहासकार ने उस विस्फोट को अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है-"२९ मार्च, १८५७ को बैरकपुर की ३४वीं हिन्दुस्तानी बटालियन में असाधारण हलचल दिखाई दी । भारतीय हवलदार मेजर हाँफता हुआ अपने अंग्रेज अधिकारी के पास आया और यह खबर सुनाई कि एक दबंग सिपाही ने यह घोषणा कर दी है कि वह बागी है । वह बैरकों में क्रान्ति का प्रचार करता हुआ घूम रहा है । लैफ्टीनेण्ट घोड़े पर सवार होकर लाइन की ओर गया तो क्या देखता है कि एक जवान सिपाही जिसका नाम मंगल पाण्डे था, सिपाहियों में घूम-घूमकर यह प्रचार कर रहा है । "अंग्रेज सरकार हमारे धर्म का नाश कर रही है । हमें उसकी नौकरी छोड़ देनी चाहिए ।" वह यह घोषणा भी करता जा रहा था- "मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि जो भी अंग्रेज मेरे सामने आयेगा उसे गोली मार कर ढेर कर दूँगा ।"

बगावत का प्रचार कर ही रहा था कि अंग्रेज लैफ्टीनेण्ट उसके सामने जा पहुँचा । मंगल पाण्डे ने क्षण भर का विलम्ब किए बिना उस पर गोली दाग दी । अंग्रेज अफसर ने गोली बचाने के लिए घोड़े को मोड़ दिया । फलस्वरूप गोली घोड़े को लग गई और वह कूद कर दूर जा खड़ा हुआ । उसने दूर खड़े मंगल पाण्डे पर गोली चलाई वह खाली गयी । बिफरे सिंह की तरह मंगल पाण्डे उस पर टूट पड़ा व अपनी तलवार से उसे परमधाम पहुँचा दिया । लैफ्टीनेण्ट की सहायता के लिए एक अंग्रेज सार्जेण्ट मेजर दौड़कर आया उसका भी मंगल पाण्डे ने काम तमाम कर दिया ।

बीस भारतीय सिपाही मंगल पाण्डे की इस कारगुजारी को देखते रहे । मेजर जनरल भी यह वारदात देख रहा था, किन्तु न वह बीच में पड़ा न उसके आदेश को मानकर भारतीय सिपाहियों ने इस बिफरे शेर को ही पकड़ा । उनमें भी देशप्रेम व स्वधर्म रक्षण की उमंगें बलवती होने लगी थीं । ३४वीं पलटन के कर्नल व्हीलर ने भी उन्हें मंगल पाण्डे को पकड़ने का आदेश दिया पर उन्होंने अनसुना कर दिया ।

दोनों अंग्रेज मंगल पाण्डे की असिधारा के वार से मर चुके थे । दूसरे अंग्रेज खड़े-खड़े देख रहे थे । किसी में उसे पकड़ने का साहस शेष नहीं रहा था । भारतीय सिपाही आदेश मानने को तैयार नहीं थे । छोटे अफसर इस प्रकार उस काण्ड को हतप्रभ हो देख ही रहे थे कि तभी फौज का बड़ा अफसर वहाँ आया और उसने अंग्रेजों को उनकी कायरता पर धिक्कारा । तब वे संगठित होकर आगे बढ़े । पर मंगल पाण्डे बन्दी नहीं होना चाहता था । उसने अपनी ही बन्दूक का मुँह अपने सीने की ओर कर गोली दाग दी । किन्तु वह मर नहीं सका, पकड़ा गया ।

मंगल पाण्डे ने जिस क्रान्ति का शंख फूँका था उसके बीज कभी के भारतीय जनता व सैनिकों में पड़ चुके थे । उनकी अभिव्यक्ति भर होनी बाकी थी । ईसाई धर्म प्रसार के लिए अंग्रेज पादरियों की धड़ाधड़ नियुक्तियाँ होना तथा गाय व सुअर की चर्बी लगे कारतूसों का अंग्रेज सरकार द्वारा निर्माण कराया जाना, जिन्हें दाँतों से तोड़ना पड़ता था । ऐसे प्रत्यक्ष कारण थे जिनसे भारतीय जनमानस में विक्षोभ की लहर-सी फैल गई थी-। यही नहीं भारतीय रीति-रिवाजों में भी अंग्रेजों ने हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था । बिठूर के नाना साहब पेशवा व झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भी उनकी अन्यायपूर्ण नीति के शिकार हो चुके थे । पेशवा गुप्त रूप से क्रान्ति की अद्‌भुत योजना के ताने-बाने बुनकर उसके सुनियोजित ढंग से विस्फोट की ताक लगाये बैठा था ।

बैरकपुर के भारतीय सैनिकों में भी ऐसी ही बातों को लेकर रोष फैल चुका था । मंगल पाण्डे के इस साहसिक कृत्य से उस रोष का विस्फोट हो चुका था । अंग्रेज अब तक भारतवासियों को खरीदे हुए गुलाम समझते थे और उन्हीं के बल पर मुट्ठी भर अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति के सहारे इस विशाल देश पर साम्राज्य जमा लिया था किन्तु उन्होंने अब इनका दूसरा ही रूप देखा था । अपने धर्म पर आँच आते देखकर वे किस प्रकार बगावत कर सकते हैं। यह इस घटना ने स्पष्ट कर दिया था ।

मंगल पाण्डे को घायल अवस्था में बन्दी बना लिया गया । उसने अपना कार्य पूर्ण कर लिया था । एक क्रिया उसने की थी, उसकी प्रतिक्रिया भारतीय सैनिकों पर हो रही थी धीरे-धीरे ही सही, पर वह ठोस प्रभाव डाल रही थी और समय पाकर वह राष्ट्रव्यापी क्रान्ति के रूप में फूट पड़ी थी । कुछ दिन बाद उसका कोर्ट मार्शल किया गया, जिसमें उसे फाँसी की सजा सुनाई गयी, ताकि हिन्दुस्तानी सैनिक बगावत का परिणाम देखें । हिन्दुस्तानी सिपाहियों के प्रति अंग्रेज इतने सशंक हो उठे थे कि उन्हें फाँसी देने के लिए चार आदमी कलकत्ते से बुलाने पड़े थे। मंगल पाण्डे को भारतीय सिपाहियों के सामने फाँसी दी गई । अंग्रेजों ने आश्चर्य से देखा कि फाँसी के फन्दे को गले लगाते समय उसके चेहरे पर कोई शिकन नहीं थी- उदासी का कोई चिह्न नहीं था, वरन् वह झूमता हुआ फाँसी के तख्ते पर चढ़ा । उस समय उसके तरुण मुख मण्डल पर देशप्रेम की स्वर्णिम आभा चमक रही थी । उसकी निगाहें कह रही थीं कि तुम अब यहाँ राज्य नहीं कर सकते । उन्हें देखकर अंग्रेज सैनिक पदाधिकारी सहम उठे थे । मरने के पहले भी वह हिन्दुस्तानी सैनिकों को देश-धर्म की बलिवेदी पर प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा देता रहा था ।

मंगल पाण्डे का पार्थिव शरीर तो फाँसी पर झूल गया पर उसकी ये प्रेरणायें हजार गुना प्रबल होकर जनमानस को आन्दोलित करती रहीं । इसी के परिणामस्वरूप १८५७ की इतिहास प्रसिद्ध क्रान्ति हुई । एक दिन अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा । सच है कोई बलिदान व्यर्थ नहीं जाता-कोई सत्कार्य अप्रभावी नहीं होता ।

दृढ़ गर्जना

स्वतन्त्रता संग्राम के वीर सेनानी मंगल पाण्डे को तब तक फाँसी की सजा का आदेश सुनाया नहीं गया था । न्यायाधीश ने कहा-"तुमने राजद्रोह किया है अतः तुम्हें ब्रिटिश सरकार से क्षमा माँगनी चाहिए । मंगल पाण्डे ने दृढ़ता के साथ कहा-"मैं अंग्रेजों को इस देश का भाग्य विधाता नहीं मानता । वह अपने मुँह से राजा बनना चाहते हैं, तो बनते रहें । मैं उनसे अपने देश को मुक्त कराना चाहता हूँ और यदि यही मेरा अपराध है तो मैं प्रत्येक प्रकार का दण्ड स्वीकार करने को तैयार हूँ और दूसरे ही क्षण अंग्रेज न्यायाधीश ने उसे फाँसी की सजा सुना दी ।

जौरापुर का राजा बालक

उस समय देश में अंग्रेजों का शासन था । सन् १८५७ की क्रान्ति सम्पूर्ण भारत में फैली तो ऐसा लगने लगा कि अब तो इन क्रूर अत्याचारियों के शासन का सूर्य अस्त होगा भी तो इसी भारत भूमि पर ।

पूरे देश में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी । फिर हैदराबाद इस हवा से कैसे अछूता रह सकता था । यहाँ पर सर सालारजंग नामक दीवान राज्य का कार्य सँभाल रहा था । दीवान अंग्रेजों का दलाल था । उसे देशभक्तों को मृत्यु दण्ड देने में तनिक भी संकोच नहीं होता था । सालारजंग और निजाम अफजुलदौला देशभक्तों के साथ विश्वासघात कर रहे थे । उन्होंने कितने ही व्यक्तियों को पकड़वाकर अंग्रेज अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया था ।

हैदराबाद के निकट थी जौरापुर नामक एक छोटी-सी रियासत । राजा की मृत्यु हो गई तो राजकुमार को उसका उत्तराधिकारी बनाकर गद्दी पर बिठाया गया । उस बालक

की आयु अवश्य कम थी, पर वीरता, साहस, सूझबूझ और देशभक्ति में किसी से कम नहीं था ।

बालक राजा की शिक्षा-दीक्षा राष्ट्रीय वातावरण में हुई थी । इसके अतिरिक्त अपने माता-पिता के संस्कारों से भी वह प्रभावित था । बचपन से ही नाना साहब, ताँत्या टोपे और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की वीर गाथाएँ सुनता रहा था । अतः भय नाम की कोई वस्तु तो उसमें नाममात्र को न थी । वह तो उन राष्ट्रभक्तों की तरह स्वयं भी बनकर संसार के वीरों के मध्य अपना स्थान बनाना चाहता था ।

निजाम और दीवान की कुदृष्टि इस रियासत पर थी। वह इसे हड़प कर अपने अधिकार में करना चाहते थे । बालक राजा रुहेलखण्ड के रहने वाले रुहेल पठानों और अरब लोगों की सेना लाकर अंग्रेजों के छक्के छुड़ाने लगा । स्वभाव का सीधा-सादा वह बालक दीवान सालारजंग की चालाकियों को न समझकर उसके चक्कर में फँस गया । दीवान ने उसे गिरफ्तार कर अंग्रेजों को सौंप दिया ।

अनेक यातनाएँ तथा प्रलोभन देने के बाद भी उस बालक ने न तो क्षमा माँगी और न अपने साथियों का भेद ही बताया । अंग्रेज अधिकारी निडोल टेलर का उस बालक से बहुत प्रेम था । उसकी भी टेलर के प्रति अपार श्रद्धा थी । वह टेलर को अप्पा कहकर संबोधित करता था । टेलर को विश्वास था कि वह क्रान्तिकारियों का रहस्य जानने में सफलता प्राप्त कर लेगा । उसके बहुत पूछने पर भी बालक राजा ने यही उत्तर दिया ।

"अप्पा ! आपके प्रति मेरे हृदय में आज भी वही स्नेह तथा श्रद्धा है । पर यह तो आप जानते ही हैं कि यह मेरे देश का मामला है । मैं अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए देशभक्तों के साथ विश्वासघात नहीं कर सकता । जीवन में मृत्यु तो एक बार आती है । अंग्रेज अधिकारी भले ही मुझे फाँसी पर चढ़ा दें, उनके द्वारा दिये गये प्रत्येक दण्ड को सहर्ष स्वीकार करूँगा, पर विदेशियों का दास बनकर कायरतापूर्ण जीवन जीना पसन्द नहीं करूँगा।"

अपने द्वारा समझाने का भी जब उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ और उसने अंग्रेज रेजिडेन्ट से मिलने के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया तो टेलर को बहुत दुःख हुआ, पर एक दिन वह उस बालक के पास जेल में गया और अँग्रेजों द्वारा दिये गये मृत्यु दण्ड को सुना दिया ।

बालक राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई । मृत्यु दण्ड सुनकर भी मुस्कराहट । टेलर को आश्चर्य हुआ । टेलर ने उसकी प्रसन्नता का कारण जानना चाहा तो उसने यही उत्तर दिया ।

"अप्पा ! फाँसी और काले पानी की सजा से उतना कष्ट नहीं है जितना देशभक्तों के साथ विश्वासघात करने में, क्योंकि फाँसी पर चढ़कर तो हमें इसी जीवन में केवल एक ही बार कष्ट उठाना पड़ेगा । पर देशद्रोही बनने पर तो इस आत्मा को कई जन्मों तक कष्ट होगा क्योंकि इस पर राष्ट्र को धोखा देने का दोष लगा होगा । अतः ऐसे घृणित जीवन के जीने की अपेक्षा मैं मृत्यु को वरण करना अधिक अच्छा समझता हूँ ।"

"बेटा ! ऐसी स्थिति में मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ ?"

"यदि सहायता ही करना चाहते हैं तो आप ऐसी व्यवस्था कर दीजिए कि मैं तोप के मुँह से उड़ाया जाऊँ। मैं फाँसी को चोरों की सजा समझता हूँ । मैं चोर नहीं हूँ बल्कि देशभक्त हूँ । मेरा अपराध देशभक्ति है इसीलिए ही मुझे यह फाँसी की सजा दी जा रही है । यदि आपने तोप के मुँह से उड़ाने की सजा सरकार से दिलवाने की व्यवस्था की तो देखना यह बालक किस बहादुरी से 'भारत माता की जय' बोलकर शान्ति के साथ अपने जीवन को समाप्त करता है ।"

टेलर उस समय तो चला गया पर शान्त नहीं बैठा रहा । उसने जाकर बहुत दौड़-धूप की, तब कहीं मृत्यु दण्ड को काले पानी की सजा में बदला जा सका । पर वह यह न जानता था कि काले पानी की सजा को वह अपमानजनक मानता है । जैसे ही बालक को सजा के परिवर्तन की सूचना मिली तो उसके मुख से यही निकला, "टेलर अप्पा ने मेरे साथ यह क्या किया ? उन्हें शायद मालूम नहीं कि मेरा प्रत्येक सैनिक जेल और काले पानी की सजा को अपमानजनक और कायरतापूर्ण मानता है । फिर मैं तो उनका राजा हूँ । यदि जिऊँगा तो वीर की तरह और यदि मरने का समय आयेगा तो उसे भी वीरता के साथ वरण करूँगा ।"

बालक राजा को जब काले पानी की सजा के लिए ले जा रहे थे, तब उसने मजाक में ही पास बैठे एक अंग्रेज पुलिस अधिकारी की पिस्तौल ले ली और थोड़ी देर इधर-उधर पलट कर देखता रहा । मौका पाते ही उसने वह गोली अपने ऊपर दाग ली ।

उस वीर बालक ने अपने प्रण को पूरा कर दिखाया। आज भी सारा संसार उस बालक के साहस और शौर्य की सराहना करता है । जिस देश में ऐसे वीर और राष्ट्रभक्त जन्म लेते रहे हों उसे अधिक समय तक दासता का जीवन नहीं जीना पड़ता और एक दिन ऐसा आया भी जब देशवासियों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई ।

भारतीय सशस्त्र क्रान्ति के प्रथम नायक
वासुदेव बलवंत फड़के

गुरिल्ला पद्धति द्वारा लड़ाई लड़कर सीमित संख्या में होते हुए भी गुरिल्ले विशाल सेनाओं को भी छका सकते हैं । चीन की जनता ने इसी पद्धति से पूर्व सरकार का खात्मा किया था । अन्य देशों में भी जहाँ की जनता ने शस्त्रों से आततायी अत्याचारी शासन व्यवस्था का खात्मा किया यही युद्ध शैली अपनाई । हाल ही में वियतनाम और कम्बोडिया की मुक्ति का उदाहरण सामने है । इस रणनीति में नब्बे प्रतिशत गुरिल्ला पक्ष को जीतने की सम्भावना रहती है, अतः भारत में भी जिन दिनों अंग्रेजी राज था उन दिनों गुरिल्ला युद्ध द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयास चले । यह बात और है कि उन्हें सफलता नहीं मिल सकी । पर इतना निश्चित है कि अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिए इन निष्ठावान देशभक्तों ने भी बहुत बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका निबाही थी ।

जिन लोगों ने गुरिल्ला युद्ध के माध्यम से भारत की स्वतन्त्रता के लिए प्रयास किए उनमें से कइयों के तो नाम अज्ञात हैं । पर जिन लोगों के नाम स्मरण किए जाते हैं और यशोगान गाये जाते हैं उनमें सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है–महाराष्ट्र के वासुदेव बलवंत फड़के को । कहा जाता है कि १८५७ की सैनिक क्रान्ति के बाद ब्रिटिश सरकार किसी से बुरी तरह आतंकित और भयभीत थी तो वह थे वासुदेव बलवन्त फड़के और उनकी गुरिल्ला टुकड़ियाँ । यहाँ तक कि उनका पता देने वाले के लिए भी काफी इनाम घोषित किया गया था ।

महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में एक छोटा-सा गाँव है–शिरढोण । यह गाँव प्रकृति की गोद में बैठा एक नन्हा-सा शिशु लगता है । घाटियों के अलावा कोंकण प्रदेश वन और पर्वतों से भी घिरा हुआ है, वन और पर्वत ऐसे दुर्गम कि कोई व्यक्ति खो जाये तो वापस लौटने की राह भी न मिले । कुछ विशेष जातियाँ हैं जो वहाँ की मूल निवासी कही जाती हैं और इन वन-पर्वतों की इंच-इंच जमीन से परिचित हैं । ये जातियाँ लूटमार और डकैती का काम करती हैं तथा जरायमपेशा भी हैं- ऐसा लोग मानते हैं पर साथ ही स्वामिभक्त, मैत्री धर्म को आखिरी साँस तक निभाने वाले और विश्वासपात्र भी होते हैं । जो भी हो, इसी भूभाग में शिरढोण गाँव में ४ नवम्बर, १८४४ ई० को वासुदेव ने जन्म लिया । उनके पिता बलवंत राव उस क्षेत्र के सभी निवासियों द्वारा आदृत और सम्मानित व्यक्ति थे । कहा जाता है कि मुगल काल में उनके पूर्वज जागीरदार थे । उस समय का वैभव तो तब नहीं रहा था । लेकिन प्रतिष्ठा और सम्मान में वह कुल उसी स्थान पर बना रहा । इसका एक कारण यह भी था कि परदुःख कातरता शायद उस कुल के सभी सदस्यों को संस्कारों के रूप में विरासत से मिलती थी । कोई भी दुःखी या विपदा का मारा उस परिवार में जाकर शरण पा लेता था । इसलिए लूटमार और डकैती करने वाले जरायम पेशा जाति के लोग भी फड़के परिवार को वही आदर देते थे जो वहाँ के आम आदमी ।

फड़के की प्रारम्भिक शिक्षा मराठी भाषा में हुई और फिर उन्होंने थोड़ी बहुत अंग्रेजी भी पढ़ी । पर उनका मन पढ़ने-लिखने या स्कूल में नहीं लगता, शिरढोण क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा और रम्य घाटियाँ उन्हें अपने पास बुला लेतीं और वे घने जंगलों, घाटियों में घूमते रहते । वहाँ के देहाती और आदिवासी लोगों के बीच रहकर फड़के ने शरीर साधना की, खूब व्यायाम करने लगे और घुड़सवारी भी सीख ली । आगे की शिक्षा पूरी करने के लिए उन्हें पूना भेज दिया गया । उसी दौरान हुआ सन् १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम, जिसकी लपटें देश भर में फैलीं और जन-मानस को आन्दोलित कर गईं । अंग्रेज सरकार की जड़ें भी इस क्रान्ति से हिल उठीं । क्रान्तिकारियों की कुछ गलतियों और अंग्रेजी सेनाओं के आधुनिक साधनों-सामर्थ्यों के कारण यह क्रान्ति दबा दी गई और उसे सैनिक विद्रोह (गदर) का नाम दिया गया ताकि लोगों को उसकी स्मृति भी कोई अच्छे रूप में न रहे। सैनिक क्रान्ति तो विफल हो गई पर सरकार का भी यह दूसरा प्रयास सफल न हो सका ।

१८६० में फड़के बम्बई आ गये और वहाँ छोटी-मोटी नौकरियाँ करने लगे । तब उनका विवाह भी हो चुका था । पाँच वर्ष तक उन्हें इसी प्रकार अस्थाई नौकरियों से सन्तोष करना पड़ा तब कहीं जाकर उन्हें सैनिक वित्त विभाग में नौकरी मिली । तब तक फड़के पूर्ण वयस्क भी नहीं हो पाये थे, फिर भी वे सात-आठ वर्ष पूर्व घटी घटनाएँ सुनकर रोमांचित हो उठते । साथ ही यह भी अनुभव करते कि वस्तुतः अंग्रेज सरकार हमारे देश में अनाधिकारिक रूप से शासनारूढ़ है । उन्हीं दिनों उनके जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे उनका मन अंग्रेजों के प्रति घृणा से भर उठा और उनके उतावले खून ने सशस्त्र क्रान्ति का रास्ता अपनाना ठीक समझा ।

जिन दिनों वे सैनिक वित्त विभाग में नौकरी करते थे उन्हीं दिनों उनकी माँ बीमार हुई । फड़के के पास इसकी सूचना पहुँची और माँ की यह आकांक्षा थी कि वे अपने लाड़ले को आखिरी बार देखना चाहती थीं । उन्होंने अपनी विभागीय अधिकारी से इस प्रयोजन से छुट्टी माँगी । लेकिन गोरे अधिकारियों के लिए काले भारतीयों की भावनाओं का कोई मूल्य नहीं था । फड़के ने काफी अनुनय विनय की ताकि किसी प्रकार अधिकारीगण राजी हो सकें लेकिन उन्हें छुट्टी नहीं देना था और न ही दी ।

आखिर विक्षोभ और आक्रोश से भरकर वे बिना अनुमति लिए ही अपनी माँ को देखने चल पड़े पर यह जानकर वे धक्क से रह गये कि उनके आने से पूर्व ही माँ उन्हें याद करती दम तोड़ गई है ।

एक तो इस घटना ने फड़के को आक्रोश से भर दिया, दूसरे उस समय की देश काल की परिस्थितियों ने । उस समय १८५७ का स्वतंत्रता संग्राम लड़ा जा चुका था और अंग्रेजों ने अपनी शासन नीति में कुछ इस प्रकार का परिवर्तन किया था जिससे जनता परेशान हो उठी थी । इस नीति का आधार यह था कि लोग कमाने और गुजारा करने में ही इस प्रकार व्यस्त रहें कि उन्हें राजनीति के विषय में सोचने का अवसर ही न मिले । इस नीति के कारण देश के अधिकांश भागों में अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी और महाराष्ट्र में तो और भी भयावह ।

इन्हीं दिनों फड़के गणेश जोशी तथा महादेव गोविन्द रानाडे जैसी समाजसेवी विभूतियों के सम्पर्क में आये और उनके राजनैतिक विचारों से प्रभावित हुए । रानाडे का तो उन पर ऐसा प्रभाव हुआ कि वे प्रायः उनके प्रत्येक व्याख्यान में उपस्थित रहते थे । आखिर १८७२ में उन्होंने आरम्भ किया अपना राजनैतिक जीवन । तब से उन्होंने स्वतंत्रता के विचार को गाँव-गाँव पहुँचाने का कार्य आरम्भ किया । वे अपने व्याख्यानों का प्रचार, व्यवस्था और आयोजन सब कुछ स्वयं ही करते । जिस गाँव में कार्यक्रम रखना होता वहाँ वे सुबह से ही पहुँच जाते और थाली बजा-बजाकर अपने व्याख्यान की घोषणा करते । सन्ध्या समय, नियत समय, नियत स्थान पर जो प्रायः चौराहे होते अपने ओजस्वी भाषण देते । इस समय वे यही प्रयोजन पूरा करने में लगे हुए थे कि किसी प्रकार सामान्य जनता में अंग्रेज सरकार के प्रति आक्रोश उत्पन्न किया जाय । अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अगली सीढ़ी के लिए वे स्वयं को तैयार कर रहे थे, जिसमें उन्होंने शस्त्र चलाना, घुड़सवारी करना और अन्यान्य ऐसे अभ्यास करना आरम्भ किया जिससे कि भावी कार्यक्रमों को पूरा किया जा सके । उनके बलिष्ठ शरीर और ओजस्वी विचारों ने हर स्थान पर अपना प्रभाव दिखाया ।

राजनीति में उतरने के चार वर्ष बाद महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा । कोंकण प्रदेश की तो बड़ी बुरी दुर्दशा हुई, वहाँ की सारी हरियाली सूख गई और नदी-नाले भी जलकर भाप बन उड़ गये । आदमी और जानवर भूख के मारे मरने लगे । इस अकाल के साथ महामारी का प्रकोप भी हुआ और लोग गाँव छोड़कर भागने लगे । अंग्रेज सरकार ने जिन हरे-भरे प्रदेशों से अपने राजकोषों को खूब भरा था, इस विकट परिस्थिति में वहीं की जनता की तकलीफों से मुँह फेर लिया । ऐसे समय में फड़के ने जनता का आह्वान किया-"लोगों को भूखों मरते चुपचाप देखने वाली सरकार को हम कब तक स्वीकार करेंगे । मरना वैसे भी है तो क्यों न बहादुरी की मौत मरा जाय ।" इस आह्वान को सुनकर, मौत को सामने खड़ा देखते हुए भी लोग आँखें मूँदकर उसे झुठलाने की कोशिश करने लगे ।

आह्वान को सुना वहाँ की मूल निवासी जातियों ने जिन्हें रोमोशि, धनगर और मांग कहा जाता है । इनके स्वभाव और पेशे का जिक्र आरंभ में कुछांश किया जा चुका है । फड़के ने उन्हें अपने साथ लिया और बताया कि हम पेट पालने के लिए, सबकी पीर हरने के लिए, सरकार को लूटेंगे और उस यहाँ से उखाड़ेंगे ताकि हम सब इज्जत की जिन्दगी बसर कर सकें । फड़के का उन पर प्रभाव तो था ही । अतः उन्होंने दो सौ हट्टे-कट्टे जवानों को चुना और एक सैनिक दल बनाया । इन दो सौ जवानों को भाले और तलवार के साथ बन्दूक चलाने का भी प्रशिक्षण दिया गया । २१ फरवरी, १८७९ को एक प्रकार से उन्होंने परिवार से संन्यास ले लिया और पत्नी को घर भेजकर एक गाँव के पास गुफा में जाकर रहने लगे । अब आगे का कार्यक्रम तय किया गया । उन लोगों को लूटना जिन्होंने अंग्रेजों की कृपा दृष्टि से गरीब जनता का खून चूस-चूस कर अपनी तिजोरियाँ भरी हैं । इस लूट से गुरिल्ला टुकड़ियों के खर्च की व्यवस्था भी बनाई जाती और सैनिकों को आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस करने का प्रबन्ध भी किया जाता । यह दल एकदम इतना सक्रिय हो गया कि महीने भर के अन्दर इसने कई गाँवों में जमीदारों शोषणकर्ताओं को लूटा, यही नहीं पुलिस थानों को भी नहीं बख्शा ।

सेना और पुलिस चौकन्नी हो गई । इधर फड़के ने पूना का सरकारी खजाना लूटने की योजना बनाई । लोग तो समझ रहे थे कि ये साधारण डकैत होंगे पर जब फड़के ने अपने घोषणा पत्र का सार्वजनिक प्रकाशन किया तो जनता दंग रह गई और सरकार भयभीत हो उठी । इस घोषणा पत्र में गुरिल्ला लड़ाई द्वारा अंग्रेजी सरकार को भारत से खदेड़ने तथा क्रान्तिकारी सरकार बनाने का विचार दर्शन और कार्यक्रम था । पुलिस अधिकारियों ने फड़के को गिरफ्तार करने तथा उनकी टुकड़ी को नष्ट करने का अभियान एक होशियार मेजर डेनियल को सौंपा । डेनियल अपने साथ के सैनिक लेकर कोंकण प्रदेश के गाँव-गाँव में फैल गये और वहाँ के निवासियों को तंग करने लगे ।

पुलिस और सेना ने फड़के को जीवित या मृत पकड़ने वाले के लिए इनाम का इश्तहार छापकर गाँव-गाँव में चिपकाया और वहाँ पर अपने तम्बू ताने । पर उन्हें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि दो चार दिनों बाद ही

फड़के की क्रान्तिकारी सरकार ने बम्बई के गवर्नर, पूना के मैजिस्ट्रेट, सेशन जज और अन्य अंग्रेज पुलिस अधिकारियों के सर काट कर लाने वालों के लिए इनाम की घोषणा के इश्तहार उन सभी गाँवों में चिपकवा दिये।

किसी प्रकार मेजर डेनियल को यह पता लग गया कि फड़के तथा उनके साथी तुलसी की घाटी में हैं। मेजर ने अपने विश्वसनीय जाँबाज सैनिकों को लेकर तुलसी घाटी को घेरा। फड़के तथा उनके साथियों को जैसे ही पता चला उन्होंने मुठभेड़ की और डेनियल को पीछे हटना पड़ा। उसने कई बार प्रयत्न किए पर सफलता नहीं मिली। गुरिल्ला-दल के पास सीमित मात्रा में ही मैगजीन हुआ करती थी। अतः लम्बे संघर्ष में दुर्भाग्यवश वह समाप्त हो गई और इस बार फड़के के साथियों को पीछे हटना पड़ा। इसके बाद फड़के कुछ समय तक शान्त रहे क्योंकि उनकी शक्ति का काफी ह्रास हुआ था। इस शान्तिकाल में उन्होंने अपनी सेना का पुनर्गठन किया और पुनः सक्रिय हो गये। पुलिस और सेना को थोड़ा चैन मिला था कि फिर उसकी नींद हराम हो गई और मेजर डेनियल को ही फड़के से निबटने का दायित्व सौंपा गया।

२० जुलाई, १८७९ की रात। फड़के एक बौद्ध मठ में विश्राम कर रहे थे। किसी प्रकार डेनियल को इसका पता चल गया और उसने फड़के को जाकर गिरफ्तार कर लिया। उन पर देशद्रोह का मुकदमा चला, मृत्यु दण्ड की संभावना थी पर एक विख्यात वकील महादेव आप्टे ने उनकी पैरवी कर मृत्यु दण्ड को काले पानी में बदलवा दिया। वहाँ भी उन्होंने जेल से भागने का प्रयास किया परन्तु असफल रहे। वहाँ कुछ दिनों बाद उन्हें क्षय रोग हो गया और १७ फरवरी, १८८३ को सशस्त्र क्रान्ति का यह प्रथम नायक सदा के लिए सो गया।

महान जनसेवक–

लाला लाजपतराय

जन-कल्याण और देशहित में अपना सर्वस्व बलिदान कर देने वाले महान पुरुषों में पंजाब केसरी लाला लाजपत राय का एक विशिष्ट स्थान है। लाला लाजपतराय एक निर्धन परिवार के व्यक्ति थे। किन्तु आगे चलकर अपने अध्यवसाय के बल पर उन्होंने विद्या प्राप्त की, एक सफल वकील बने और खूब धन कमाया। लेकिन बाद में उन्होंने अपनी सारी विद्या, बुद्धि और सम्पत्ति देश-जाति के जागरण में ही लगा दी। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे सदा सादे और सामान्य ढंग से ही रहते रहे। सारे सुखों और सारी सम्भावनाओं को छोड़कर वे आजीवन देश-धर्म की सेवा करते रहे और अन्त में स्वाधीनता के प्रयत्न में उन्होंने अपने प्राण तक उत्सर्ग कर दिये। लाला लाजपत राय का त्याग, बलिदान और जन-सेवा के कार्य सदा-सर्वदा स्मरणीय बने रहेंगे।

काँग्रेस के माध्यम से देश की सेवा करने के अतिरिक्त लाला लाजपतराय ने जनहित की अन्य और भी दिशाओं में अपनी सेवायें समर्पित की हैं। पंजाब डी. ए. वी. कॉलिज और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार में लाला लाजपतराय का प्रमुख हाथ रहा है। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा का प्रसार करने के साथ-साथ एक राधाकृष्ण हाईस्कूल की स्थापना कराई और इन शिक्षा-संस्थाओं में अवैतनिक अध्यापन कार्य भी किया।

सामान्य शिक्षा प्रसार के साथ-साथ उन्होंने स्त्रियों और अछूत बालकों के लिए भी अनेक पाठशालाएँ स्थापित कराईं और उनका व्यय भी अपने पास से दिया। अछूतों के उद्धार और सुधार के लिए उन्होंने न केवल प्रचार ही किया बल्कि चालीस हजार रुपये नकद अनुदान देकर अपनी सच्ची सेवा भावना प्रकट की। उन्होंने एक अखिल भारतीय अछूतोद्धार कमेटी बनाई और उसके कार्यकर्त्ताओं की सहायता से अछूतों की सेवा के कार्यक्रम चलाये। गुरुकुल काँगड़ी में अछूतों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाकर उनकी समस्याओं पर विचार किया।

काँग्रेस द्वारा हिन्दू हितों की रक्षा न होते देखकर लाला लाजपतराय ने हिन्दू महासभा की स्थापना की और बहुत समय तक उसकी अध्यक्षता करते रहे। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंजाब शिक्षा संघ, तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स' आदि संस्थाओं की भी स्थापना की। जिस समय वे काँग्रेस मिशन पर इंग्लैण्ड गये उस समय उन्होंने योरोप के अन्य देशों में भारतीय हित का प्रचार करने के साथ-साथ 'इण्डियन इन्फारमेशन ब्यूरो' की स्थापना की और 'यंग इण्डिया' एवं 'पोलिटिकल फ्यूचर ऑफ इण्डिया' आदि अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं।

लाला लाजपतराय ने भारतीय स्वतन्त्रता के हित में असहयोग, स्वदेशी, बहिष्कार आदि सभी आन्दोलनों में भाग लिया, जिसके कारण उन्हें न केवल देश की जेलों में वर्षों तक यातना सहनी पड़ी अपितु देश निकाला पाकर मांडले की नारकीय जेलों में रहना पड़ा।

बंग-भंग आन्दोलन के समय लाला लाजपतराय ने अपने प्रचार द्वारा सारे देश में आग ही लगा दी और उसके बाद तो साइमन कमीशन के बहिष्कार आन्दोलन में उन्होंने पुलिस की लाठियों का लक्ष्य बनकर अपने प्राण ही दे दिये।

इस प्रकार देश-जाति के हित में अपना जीवन और प्राण उत्सर्ग करने वाले लाला लाजपतराय ने उत्तर भारत के अकाल, राजपूताना के दुर्भिक्ष और कांगड़ा के भूकम्प के समय जो सेवाएँ कीं उसके लिए तो शत्रु सरकार ने भी उनकी प्रशंसा की थी। उन्होंने आपत्ति पीड़ितों की सेवा-सहायता में दिन-रात एक कर दिया और तब तक चैन की श्वास न ली जब तक जनता का कष्ट दूर न हो गया। इस प्रकार जनसेवा में अपना सर्वस्व दे देने वाले लाला लाजपतराय हमारी सबकी श्रद्धा के पात्र हैं।

स्वतंत्रता संग्राम का नन्हा सैनिक –

योगेन्द्रनाथ

'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन पार्टी' की चटगाँव शाखा ने स्थानीय शस्त्रागार पर आक्रमण करने व उस पर अधिकार करके चटगाँव में एक ऐसा शौर्यपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करने की योजना बनाई जिससे स्वतंत्रता आन्दोलन को बल मिले, अंग्रेज भयभीत हों और दूसरे क्रान्तिकारियों के हौसले बुलन्द हो जायें।

दल के सबसे छोटे किन्तु सक्रिय सदस्य योगेन्द्र का उस अभियान में भाग लेने वाले सदस्यों में नाम नहीं था। उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ। उसे कम आयु का समझकर दल के नेता सूर्यसेन जिन्हें दल के लोग 'मास्टर दा' के नाम से पुकारते थे, ने उसे जान पर खेलने वाले काम के उपयुक्त न समझा था। मास्टर दा ने यह निर्णय सोच-समझकर ही किया था किन्तु योगेन्द्र यह कब समझता था। देशप्रेम की वारुणी पीकर उसकी रक्त वाहिनियों में जो ज्वार आयु परिपक्व होने के पूर्व ही उठ खड़ा हुआ था वह भला कब रुकने वाला था। उससे यह निर्णय अपनी निष्ठा का-भावना का अपमान लग रहा था। उसने निश्चय कर लिया कि वह भी इस अभियान में भाग लेगा।

योगेन्द्र की उम्र भी क्या थी। अभी उसे चौदहवाँ वर्ष लगा था। स्थानीय हाईस्कूल में वह नवीं कक्षा में पढ़ता था। बाल सुलभ चंचलता और हठ अभी गया नहीं था। किन्तु वह इस आयु में भी पूरा निडर, निर्भीक था। उसी कारण उसे जरा-सी चूक पर जान से हाथ धो बैठने वाला यह अभियान भी एक खेल ही लग रहा था जो खिलौनों की पिस्तौलों-बन्दूकों से नहीं सच्ची पिस्तौलों व बन्दूकों से खेला जाने वाला था।

वह अपने दल मे 'टेगरा' के नाम से जाना जाता था। उसकी अल्पायु और नटखटपन के कारण दल के अन्य सदस्यों ने उसे यह नाम दे दिया था। यों दल के सदस्य अनन्तसिंह, गणेश घोष, अम्बिका चक्रवर्ती, लोकनाथ, प्रीतिलता, कल्पना दत्त आदि सब किशोर ही थे। दल के नेता सूर्यसेन को छोड़कर शेष की आयु १७-१८ वर्ष के आसपास ही थी। वह सबसे कम आयु का था।

बालकों को जैसा वातावरण मिलता है, वे वैसा ही बन जाते हैं। बंग भूमि इन दिनों क्रान्तिकारियों की भरपूर फसल उगा रही थी। उसके बड़े भाई परिवार का खर्च चलाने के लिए व्यवसाय करते थे। मंझले लोकनाथ क्रान्ति दल के मुख्य सदस्य थे। उन्हीं का अनुकरण यह भी कर रहा था ऐसी स्थिति में वह अपने आपको देश का नन्हा सिपाही समझने लगा और उसके हृदय में अपने आपको आजादी के लिए न्यौछावर करने की उमंगें उठने लगें तो आश्चर्य की बात ही क्या? इस आयु में व्यक्तित्व का जितना निर्माण होता है उतना फिर नहीं। अतः राष्ट्र निर्माण व समाज के निर्माण का आधार नयी पौध से ही आरम्भ होना चाहिए। इसके लिए पारिवारिक वातावरण को वैसा बनाना भी आवश्यक होता है।

योगेन्द्र के भाई लोकनाथ का नाम अभियान दल में भाग लेने वालों में से था। अतः वह अपने भाई की निगरानी करने लगा। लोकनाथ निश्चित समय पर योजना के कार्यान्वयन के लिए चला तो योगेन्द्र भी उसके पीछे चल दिया। वे लोग काँग्रेस हाउस में एकत्रित हुए जहाँ मास्टर दा ने उन्हें भावी युद्ध सम्बन्धी निर्देश दिये। नन्हें टेगरा को वहाँ आया देखकर वे कुछ देर तक सोच में पड़ गये, उसे साथ ले जायें या न ले जायें। अन्त में उसे वापस भेजना खतरनाक समझकर साथ लेना ही उचित समझा गया क्योंकि बालक की भावनाओं पर चोट पड़ने पर वह अपने अपरिपक्व मस्तिष्क से जाने क्या प्रतिक्रिया कर बैठे। इस प्रकार योगेन्द्र भी उस अभियान में सम्मिलित कर लिया गया। उसे लूटे हुए हथियार समेटने का काम सौंपा गया।

सत्तर क्रान्तिकारियों के इस दल में जिसमें अधिकांश अल्पवयस्क ही थे, ने चटगाँव के शस्त्रागार पर आक्रमण कर दिया। चार दलों में बँटकर वे अपनी योजना को मूर्तरूप देने लगे। लोकनाथ, निर्मल सेन, गणेश घोष तथा अम्बिका चक्रवर्ती ये अपने-अपने दल के नायक थे। १८ अप्रैल, १९३० को अल्प संख्या में होते हुए भी थोड़े से हथियारों से लैस इन क्रान्तिकारियों ने चटगाँव शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया। अंग्रेज सरकार के हथियारबन्द प्रशिक्षित सैनिक इनके आगे हार गये क्योंकि एक ओर वेतन भोगी रक्षक थे तो दूसरी ओर सिर पर कफन बाँध कर निकले देशभक्त।

शस्त्रागार पर अधिकार करने के पश्चात क्रान्तिकारियों ने रेल, डाक, तार, टेलीफोन व्यवस्था भंग कर चटगाँव का शेष भारत से सम्बन्ध तोड़ दिया। अब चटगाँव अंग्रेजों के आधिपत्य से बाहर था। वहाँ क्रान्तिकारी दल का अधिकार था।

अंग्रेज सरकार के अधिकारियों को जब इस बात की सूचना मिली तो वे हतप्रभ रह गये । सारे देश में तहलका मच गया । शस्त्रागार में जितने हथियार क्रान्तिकारियों के काम लायक थे वे उन्हें ले गये और शेष गोला, बारूद को उन्होंने आग के भेंट कर दिया । ब्रिटिश सरकार ने चटगाँव उनसे वापस लेने के लिए एक बड़ी सेना भेजी ।

इतनी बड़ी सेना से जूझने के क्रान्तिकारियों ने उपयुक्त स्थान जलालाबाद की पहाड़ियों पर मोर्चा लगाया। ब्रिटिश सेना ने जलालाबाद की पहाड़ियों को घेर लिया। क्रान्तिकारी इसके लिए तैयार ही थे । २२ अप्रैल, १९३० के दिन वह ऐतिहासिक युद्ध हुआ जिसमें योगेन्द्र की अपनी मनोकामना पूर्ण हुई, बड़ा ही विषम संग्राम था । एक ओर मुट्ठी भर युवक और दूसरी ओर ब्रिटिश सेना के खूँख्वार अंग्रेज सिपाही । फिर भी जमकर युद्ध हुआ । क्रान्तिकारी एक-एक करके धराशायी होते जा रहे थे । पहले ही दौर में योगेन्द्र को गोली लग गई । फिर भी उसने न होश खोया न साहस । वह चौदह वर्ष का किशोर रायफल कन्धा से अड़ाये मोर्चे पर डटा रहा। अपने साथियों का सफाया होते देखकर क्रान्तिकारी एक-एक करके क्रान्ति की वह्नि को और भी उग्र करने के लिए सुरक्षित स्थल की ओर खिसकने लगे । जो लोग घायल थे वे मोर्चे पर डटे रहे । योगेन्द्र के घाव से बराबर रक्त रिस रहा था फिर भी वह गोलियाँ चलाता ही रहा । अन्त में जब डटे हुए घायल लोग भी बच निकलने के लिए पीछे हटने लगे तब तक घायल योगेन्द्र में उठने की शक्ति भी नहीं थी । अत: वह मोर्चे पर ही डटा रहा और उसने उस आजादी की भावना को प्रज्वलित रखने के लिए अपनी बलि दे दी जो मनुष्य का प्रथम अधिकार है ।

उस युद्ध में कितने ही क्रान्तिकारी मारे गये थे । उनसे दुगने फौजी सिपाही मरे थे । बहुत अधिक रक्त बह जाने के कारण अपने अन्तिम क्षणों में योगेन्द्र को जोरों की प्यास लग आई थी । वह अपने भाई से पानी माँगने को ही था कि उसे अपने 'मास्टर दा' की वह बात याद आ गई- "क्रान्तिकारी को किसी प्रकार की कमजोरी नहीं दिखानी चाहिए ।" और वह चुप लगा गया ।

मातृभूमि का वह नन्हा वीर सिपाही मरकर अमर हो गया । उसका यह बलिदानी जीवन किशोरों, युवकों को बताता है कि देश और समाज की भीषणतम समस्याओं से जूझने के लिए उन्हें सभी प्रकार के बलिदान देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। राजनैतिक स्वतंत्रता भारत पा चुका है किन्तु अभी आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए देश को ऐसे कितने ही सिपाही चाहिए ।

अत्याचार से लड़ने वाले-

चापेकर बन्धु

सन् १९०७ में पूना में प्लेग महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ । देखते ही देखते हजारों मरने लगे । उन्हें जलाने तथा गाढ़ने के लिए आदमी तक नहीं मिलते थे ।

पहले तो अंग्रेज शासनकर्ताओं ने इस ओर कोई ध्यान न दिया । जब यह भीषण रूप धारण कर गई तो उन्होंने जनता को झूठी दिलासा देने के लिये एक प्लेग निवारक समिति का गठन किया । इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया एक अंग्रेज अफसर वाल्टर रेण्ड को । यह व्यक्ति भारतीय जनता के प्रति दुर्व्यवहार करने में पहले ही से कुख्यात था । प्लेग निवारक समिति का तो एक नाम था । रेण्ड को अपनी निर्दयता दिखाने का एक और अवसर मिला। वह स्वयं सैनिकों की टोली के साथ नगर में भ्रमण करता तथा लोगों के घर में घुसकर हर किसी को पकड़ कर अस्पताल भेज देता । रोगियों को घर वालों की सेवा से वंचित कर उन्हें अस्पताल में डलवा देता । वहाँ न तो कोई उपचार होता न सेवा-सुश्रूषा ही । परिणाम यह होता कि वे समय से पहले ही मर जाते । रेण्ड जैसे निरंकुश, निर्दय नर-पशु के नेतृत्व में अंग्रेज सिपाहियों को मनमानी करने का अवसर मिला । उन्होंने प्लेग निवारण के नाम पर सैकड़ों घरों को लूटा, लोगों को पीटा तथा स्त्रियों से दुर्व्यव्हार किया ।

इस खुले अनाचार और निरंकुशता से भारतीय जनता में बहुत रोष फैला। नवयुवकों का खून खौलने लगा । मुट्ठी भर विदेशी हमारे देश में मनमाना अत्याचार करते रहें और वे कान में तेल डाले बैठे रहें यह कैसे सम्भव था आतताई चाहे कितना ही समर्थ क्यों न हो उसका प्रतिकार करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है । नवयुवकों का एक संगठन इस दुर्व्यवहार का बदला लेने के लिए गठित किया गया । इस संगठन के प्राण थे दामोदर, बालकृष्ण तथा बसुदेव चापेकर ।

ये तीनों भाई पूना के पास चिंचवाड़ ग्राम के हरिभाऊ नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण के पुत्र थे । तीनों भाइयों में अपूर्व स्नेह था । सन् १८८३ में आजादी के महान बलिदानी वासुदेव बलवन्त फड़के का अंग्रेजी जेल में अमानवीय अत्याचार सहते हुए देहान्त हो गया । इन तीनों भाइयों को इस बलिदान से इसी राह पर चलने की प्रेरणा मिली ।

सन् १८५७ की क्रान्ति के असफल हो जाने तथा क्रान्तिकारियों के साथ किए हुए दुर्व्यवहार तथा

हत्याकाण्ड को देखकर जनता काँप उठी थी । लोगों ने अंग्रेजी शासन को मिटना असम्भव मान लिया था । फड़के के प्रयास तथा बलिदान से लोगों में नया उत्साह जागा था ।

चाफेकर बन्धुओं ने एक मत होकर अपनी आहुति राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के यज्ञ में देने का संकल्प कर लिया । उन्होंने बचपन में जो धार्मिक ग्रन्थ पढ़े थे उससे उनके हृदय में देशप्रेम की ज्वाला जलने लगी थी, फड़के के बलिदान ने उसमें घी डाला । रही सही कमी रेण्ड के कुकृत्यों ने पूरी कर दी । अब ये अपना सब काम छोड़कर युवकों का एक संगठन बनाने में लग गए । करीब ३०० युवक इस संगठन के सदस्य बने ।

दामोदर पन्त चाफेकर, जो सब में बड़े थे, उन्होंने देखा कि इस छोटे से संगठन से तो इतनी बड़ी हुकूमत से नहीं लड़ा जा सकता है । इसके लिए सेना का सहयोग मिल जाय तो हम सफल हो सकते हैं । उसने सेना में भर्ती होने का प्रयास किया । वह इसमें सफल नहीं हो सका । नर-केसरी फड़के ने अपने थोड़े से साथियों के साथ ही अंग्रेजों को नाकों चने चबवा दिये थे, इस कारण मराठों को सेना में भर्ती करने के पहले पूरी जाँच-पड़ताल होती थी । दामोदर पन्त को सेना में स्थान नहीं मिला ।

लोकमान्य तिलक 'मराठा' व 'केसरी' के माध्यम से अंग्रेजी शासन को बुरी तरह लताड़ रहे थे । जनता में भी कुछ करने की हिम्मत आने लगी थी । १२ जून को शिवाजी की वर्षगाँठ पर विट्ठल मन्दिर पर हुई सभा में लोकमान्य तिलक ने रेण्ड के अत्याचारों की तीव्र भर्त्सना की । उनका भाषण सुनने के लिए यह युवक मण्डली भी उपस्थित थी । दामोदर चाफेकर ने भी उस सभा में भाषण दिया। तिलक ने देखा कि इसके हृदय में देशप्रेम की आग जल रही है । यह युवक कुछ करने का साहस रखता है । सभा की समाप्ति पर तिलक ने दामोदर पन्त को लक्ष्य करके कहा- 'पूना के लोगों में पुरुषत्व है ही नहीं अन्यथा रेण्ड की क्या मजाल थी कि हमारे घरों में घुस जाय ।' दामोदर को यह बात लग गई । वह रेण्ड का नाम ही धरती से मिटाने को तुल गया ।

चाफेकर बन्धु उन लोगों में से नहीं थे जो जमाने की हाँ में हाँ मिलाकर अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति करते हैं तथा अन्याय को आश्रय देते हैं । वह जमाने को बदलने वालों में से थे । पहले भी इन लोगों ने बम्बई में पहरों के बीच विक्टोरिया की प्रतिमा को कोलतार पोत करके जन-जाग्रति से अंग्रेजों को अवगत कराया था ।

चाफेकर बन्धु रेण्ड को दण्ड देने के लिए कटिबद्ध थे । दामोदर ने गोली चलाने का भार अपने पर लिया और बालकृष्ण व वसुदेव को सूचना देने के लिये गुप्तचरी का काम सौंपा गया । ये लोग इसी ताक में रहने लगे कि कब अवसर हाथ लगे और रेण्ड को मारा जाय ।

रेण्ड को इसकी भनक पड़ चुकी थी । उसने अपना निवास बदल दिया था । एक सरकारी अफसर और इन साधनहीन अल्प वयस्क युवकों का मुकाबला था । उसके भेदिये यत्र-तत्र फैले हुए थे और इनको कदम-कदम पर विश्वासघात का धोखा था । सहयोग की आशा सँजोये हाथ पर हाथ रखे बैठे रहे तो जीवन बीत जायेगा और कुछ होगा नहीं । यह सोचकर इन थोड़े से नवयुवकों ने ही अपने देश और जाति के गौरव को कलंकित करने वाले रेण्ड को दण्ड देने के लिए जान हथेली पर रख ली ।

२२ जून को विक्टोरिया की हीरक जयन्ती मनाने के लिये शहर में एक विशेष समारोह आयोजित किया गया । समारोह से लौटते हुए रेण्ड तथा डोवर शायर एवं रेजीमेण्ट के लेफ्टीनेण्ट चार्ल्स इगर्टन दामोदर चाफेकर की गोली के शिकार हुए । आततायियों को दण्ड देने वालों के इतिहास में एक पृष्ठ और जुड़ गया ।

इस काण्ड को सुनकर अंग्रेज बौखला गये समारोह का सारा रंग धुल-पुँछ गया । भारतीय जनता में उत्साह की एक लहर दौड़ गई । मारने वाले की खोज होने लगी बीस हजार रुपये के लोभ में इनके ही दल के एक युवक ने इन्हें पकड़वा दिया ।

इन पर मुकदमा चला । दामोदर ने अपराध स्वीकार कर लिया । इन्हें फाँसी की सजा दी गई । फाँसी के फन्दे को चूमते समय इनकी आयु केवल २७ वर्ष की थी । विवाहित पत्नी तथा एक पुत्र को छोड़कर यह देशभक्त हँसते-हँसते अपने देश पर निछावर हो गया ।

बालकृष्ण व वसुदेव ने दामोदर को पकड़वाने वाले गणेश शंकर द्रविड़ तथा उसके अन्य दो विश्वासघाती साथियों को अपने इस कुकर्म का फल भुगता दिया । वे भी इनकी गोली का शिकार होकर रेण्ड के पथ के पथिक बने। देशद्रोहियों को दण्ड देने के बाद इन्होंने स्वयं को पुलिस के हवाले कर दिया । इन पर हत्या का मुकदमा चला और इन्हें भी फाँसी की सजा हुई ।

चाफेकर बन्धुओं के बलिदान के दूरगामी परिणाम हुए । जनता में विश्वास जागा, विदेशी अत्याचारियों से लड़ने की प्रेरणा मिली, बलिदानों की परम्परा चलती ही रही । विवश होकर अंग्रेजों को भागना पड़ा । ऐसे वीरों का बलिदान नित्य पथ पर बढ़ने की प्रेरणा देता रहेगा और इस पथ के राही आदर्शों के लिए जान पर खेलते रहेंगे ।

मातृभूमि पर सर्वस्व निछावर करने वाले-

रोशनलाल मेहरा

'मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए न जाने कितने लोग सुख-सुविधाओं को ठोकर मारकर मृत्यु को गले लगा रहे हैं । मुझे और मेरे परिवार को भी इस पुनीत कर्म में योगदान देना चाहिए । देश के लिए कुछ न कर पाये तो हमारा जीवन व्यर्थ है !' ये विचार श्रीमती ललिता देवी के मन को निरन्तर मथा करते थे । परन्तु पति तो बस अपनी कपड़ों की दुकान में ही मग्न थे । उन्हें देशहित जैसे कार्यों में कोई रुचि न थी । 'रामजी लाभ दें' इसी में वे अपने जीवन की सार्थकता मानते थे ।

पति परिवार का भरण-पोषण कर ही रहे हैं, मुझे अपनी शक्ति का सदुपयोग स्वतंत्रता संग्राम में करना चाहिए, यह सोचकर उन्होंने क्रान्तिकारियों से सम्पर्क बनाना प्रारम्भ कर दिया । धीरे-धीरे बंगाल की क्रान्तिकारी संस्था 'अनुशीलन-समिति' से उनके सम्बन्ध घनिष्ठ होते गये । वे क्रान्तिकारियों को जी खोल कर आर्थिक सहायता दिया करती थीं तथा अन्य विविध प्रकार से उनके कार्यों में सहयोग देती थीं

एक बार श्रीमती ललिता देवी आसन्न प्रसवा थीं । उन्होंने निश्चय किया कि पुत्र हो या पुत्री उसे देश रक्षा के लिए दे देंगी । 'गर्भावस्था में माता के आचार-विचारों का गर्भस्थ शिशु पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है' यह वे भली-भाँति जानती थीं । मदालसा का उदाहरण उनके सम्मुख था । इन्होंने इस पूरी अवधि में निरन्तर क्रान्तिकारी साहित्य तथा भारत की वीर गाथाएँ पढ़ीं । माता का अभिप्राय जन्म से पूर्व ही शिशु पर वीरता और साहस के संस्कार डालना था ।

सम्वत् १९७१ अगहन सुदी पूर्णमासी को उन्होंने सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा गया-रोशनलाल । बड़ा होकर यह बालक सचमुच माँ के नाम को-भारतमाता के वीर सुपुत्रों के नाम को 'रोशन' करने वाला ही निकला ।

माता ने इनके मन में शौर्य, पराक्रम और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना बचपन में ही भर दी थी । वे क्रान्तिकारी शहीदों की जानकारियाँ सहज सुबोध कथाओं के रूप में बालक रोशनलाल को सुनातीं और पूछती-'क्या तू भी इन जैसा बनेगा ?' छोटा बालक सीना तानकर कहता 'हाँ' और फिर सोचते-सोचते माता के आँचल में सो जाता ।

धीरे-धीरे रोशनलाल बड़े होते गये । उन्होने हाई-स्कूल तक शिक्षा प्राप्त की । अंग्रेज 'काले गुलाम' बनाने की शिक्षा प्रणाली ही देश में विकसित कर रहे थे । अतएव उन्हें ऐसी शिक्षा के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई, और आगे की शिक्षा उन्होंने छोड़ दी ।

इसी मध्य सन् १९२८ में माता का स्वर्गवास हो गया । मरते समय भी उन्होंने पुत्र को आदेश दिया कि वह पूरी तरह से स्वयं को देश की रक्षा के लिए समर्पित कर दे । जननी की इच्छा पूरी करने के लिए वह १५ वर्षीय किशोर पूरी तरह से जुट पड़ा ।

१९३० में रोशनलाल क्रान्तिकारी पार्टी के सक्रिय सदस्य बन गये । यद्यपि वे अमृतसर में रहते थे तथापि पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंगाल आदि के क्रान्तिकारियों से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखते थे ।

उन दिनों सरकार तथा पुलिस जनता पर बड़ा अत्याचार करती थी । यदि उसे यह पता लग जाता कि अमुक व्यक्ति क्रान्तिकारी दल या देश की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्नशील अन्य किसी दल से सम्बन्धित है, तो उसके पीछे निरन्तर जासूस लगे रहते थे और किसी न किसी बहाने से जेल में बन्द करा देते थे । स्वतन्त्रता संग्राम से सम्बन्धित किसी भी गोष्ठी, किसी भी समिति के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्यवाही की जाती थी । अतएव क्रान्तिकारी संगठन सरकार की आँखों में धूल झोंक कर गुप्त रूप से ही अपनी गोष्ठियाँ किया करते थे ।

श्री रोशनलाल ने भी उपर्युक्त मार्ग को अपनाया । उन्होंने संगठन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए एक मकान किराये पर लिया । यों सामान्यतः देखने पर यह विद्यालय जैसा लगता था, परन्तु वास्तव में यह क्रान्तिकारियों का गुप्त अड्डा था । उनके विविध कार्यों की रूपरेखा यहीं तैयार होती थी ।

१९३०-१९३१ के असहयोग आन्दोलन के समय अमृतसर की कोतवाली काँग्रेस सत्याग्रहियों पर निरन्तर कहर ढा रही थी। अपने भाइयों पर होता अन्याय, अत्याचार देखकर रोशनलाल से रहा न गया और उन्होंने सर्वसम्मति से कोतवाली पर बम फेंकने का निर्णय पास कराया । वे बर्बर अधिकारियों को सचेत करना चाहते थे कि हम खून का बदला खून से लेना भी जानते हैं । रोशन ने अपने साथी उमाशंकर की सहायता से बम फेंका जिससे कोतवाली को काफी हानि हुई । पुलिस पता-लगाकर थक गई कि ऐसा दुस्साहस करने वाला, जान-बूझकर मौत की कामना करने वाला आखिर कौन है, परन्तु असफल ही रही ।

श्री रोशनलाल मेहरा ने अपनी विचारशीलता से समय-समय पर दल को लाभान्वित कराया । क्रान्तिकारियों को धन की आवश्यकता होती थी तो वे

डकैती डाल लिया करते थे । रोशनलाल व्यक्तिगत घरों पर डकैतियों के सख्त विरोधी थे । उनका मत था कि इससे जनता का अहित तो होता ही है साथ ही संगठन को भी विशेष लाभ नहीं होता । धन तो पर्याप्त रूप में मिल नहीं पाता-हाँ पुलिस से मुठभेड़ का डर अवश्य रहता है । इस कार्य में दल के कुछ साथी भी खोने पड़ते हैं । अतएव उन्होंने साथियों को यह मंत्रणा दी कि भविष्य में न ही कोई डकैती डाले, न डकैती के कार्यों में सहयोग दे ।

उस समय लगभग पूर भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह की व्यापक चिंगारी विद्यमान थी । तथापि कुछ एक प्रान्त बिल्कुल शान्त भी थे । रोशनलाल ने एक मीटिंग में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि मद्रास प्रान्त में लम्बे समय से कोई भी क्रान्तिकारी संगठन कार्य नहीं कर रहा है, फलतः वहाँ अंग्रेज शासक बड़े चैन और घमण्ड के साथ बार-बार यह घोषणा करते हैं कि उनके प्रान्त की जनता सबसे अधिक राजभक्त है । यह हमारे लिए चुनौती और लज्जा की बात है । अतएव शीघ्र ही मद्रास पहुँच वहाँ की सोई हुई जनता को जगाना आवश्यक है । रोशनलाल की यह महत्वपूर्ण राय सर्वसम्मति से स्वीकृति हुई । रोशनलाल सदैव-सदैव को अपना घर-परिवार छोड़कर शम्भूनाथ आजाद, सीतानाथ डे आदि कुछ साथियों के साथ मद्रास पहुँच गये ।

अंग्रेजों को यह बताने के लिए कि अब भारतवर्ष जाग उठा है और उनकी तानाशाही अधिक न चल पायेगी, इन्होंने मद्रास के गवर्नर पर बम फेंकने का निश्चय किया । उनके साथी ने सुझाव दिया कि बंगाल का गवर्नर भी वहीं आ रहा है अतएव दोनों पर एक साथ बम फेंके जायें ।

इसी मध्य इनके संगठन के पास धन की कमी हो गई । अन्य कोई व्यवस्था न हो पाने पर क्रान्तिकारियों ने ऊटी बैंक को लूटने का निश्चय किया तथापि रोशनलाल इसके पक्ष में न थे उनका कथन था कि यह कदम घातक है तथा उससे पुलिस को हमारे संगठन का पता चल जाने का भय है, पर धन का इतना अभाव था कि साथियों ने एक न सुनी और वे ऊटी के लिए रवाना हो गये ।

डकैती सम्पन्न तो हुई परन्तु शम्भुनाथ आजाद को छोड़कर अन्य लोग गिरफ्तार कर लिए गये । शम्भुनाथ रुपया लेकर मद्रास आ गये । रोशनलाल ने जब आजाद के साथियों की गिरफ्तारी का समाचार सुना तो उन्हें बड़ी ठेस पहुँची और उन्होंने सबसे पहले ऊटी काण्ड में गिरफ्तार साथियों को जेल से छुड़ाकर लाने का ही निश्चय किया ।

पुलिस के चंगुल से साथियों को छुड़ाकर लाना कोई साधारण कार्य न था । इसके लिए असीम साहस और अच्छे हथियारों की आवश्यकता थी । रोशनलाल ने बम बनाने का निश्चय किया । उन्होंने बम का मसाला तो बना लिया । अब समस्या खड़ी हुई कि उसे प्रयोग करके कैसे देखा जाये क्योंकि मद्रास जैसे नये अपरिचित स्थान पर बम के खोल ढलवा पाना खतरे से खाली न था । अतएव चूड़ीदार मद्रासी लोटों को ही बम के खोल के रूप में प्रयोग करने का निश्चय किया गया ।

श्री रोशनलाल ने बम तैयार किया तथा मद्रास बन्दरगाह की पूर्वी दिशा में रामपुरम् क्षेत्र के समुद्र तट पर रात्रि के आठ बजे बम परीक्षण का निश्चय किया । घातकता के कारण वे यह प्रयोग किसी अन्य को करने देने को तैयार न थे । १ मई, १९३३ को रात्रि निश्चित समय पर रोशनलाल अपने साथियों के साथ समुद्र तट पर पहुँचे । सागर की उत्ताल तरंगें भयंकर गर्जन कर रही थीं । कोई बाहर का व्यक्ति न आ जाय इस आशंका से दो साथी पश्चिमी दिशा में चौकसी करने लगे । भयंकर काली रात्रि में रोशनलाल हाथ में बम लिए समुद्र के किनारे बढ़ते ही जा रहे थे । सहसा एक ओर जोर का धमाका हुआ । पलभर को आकाश में बिजली-सी कौंध गई फिर चारों ओर धुआँ ही धुआँ छा गया ।

रोशनलाल के तीनों साथी उनके वापस लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे । भीषण विस्फोट की ध्वनि के कारण रामपुरम् क्षेत्र की जनता तथा पुलिस उस ओर दौड़ पड़ी थी । पूर्वी क्षेत्र पर तैनात साथी ने सोचा कि रोशनलाल पश्चिमी क्षेत्र की ओर गये होंगे । अतएव तीनों साथी घर लौट आये । लेकिन अब वे चार न थे । यह मालूम होते ही कि रोशनलाल वापस नहीं आये एक साथी श्री इन्द्रसिंह मुनि मद्रासी का छद्मवेश बनाकर घटनास्थल की ओर दौड़ गये ।

वहाँ उन्होंने बड़ा करुण दृश्य देखा । गिरजाघर के सामने पुलिस के सख्त पहरे में रोशनलाल का क्षतविक्षत शरीर पड़ा था । दाहिना हाथ शरीर से पृथक् हो चुका था । बम के टुकड़े शरीर में गहराई से प्रवेश कर गये थे तथा स्थान-स्थान से रक्त निकल रहा था । पुलिस के पहरे से लाना उन्हें सम्भव न जान पड़ा अतः इन्द्रसिंह लौट आये ।

रोशनलाल की साँस अभी मन्द गति से चल रही थी। उन्हें मद्रास के सार्वजनिक अस्पताल में भेजा गया । एक-दो बार होश आने पर उन्होंने पानी माँगा पर अधिकारी यही कहते रहे कि पहले अपना और अपने मित्रों का पता बता दो तभी पानी देंगे । वह वीर पुरुष प्यास से तड़फता रहा, परन्तु मरते समय तक भी उसने संगठन का कोई भेद न दिया । रात्रि के बारह बजे उनके प्राण-पखेरू उड़ गये ।

बाद में सरकारी रसायन विशेषज्ञ ने अपनी रिपोर्ट देते हुये कहा था कि संभवतः रोशनलाल का पैर फिसल गया और उनके गिरने से बम का विस्फोट हो गया ।

इस प्रकार रोशनलाल आजीवन मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील रहे । जब से वे क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हुए तभी से साधारण मोटे वस्त्र पहनना, मोटा भोजन खाना तथा भूमि पर सोना प्रारम्भ कर दिया । उनका कहना था- "गरीब भारत में हम क्रान्तिकारियों को उतना ही खाना-पहनना है जिसके बिना जीवित रहना संभव न हो ।"

वस्तुत: कोई भी व्यक्ति हो, कोई भी संगठन हो, वह तभी सफल हो सकता है जब कि समय, शक्ति, चिन्तन, विचारधारा, कर्तृत्व सभी लक्ष्यपूर्ति में संयोजित कर दिए जायें । हर समय कार्यकर्त्ता के मन में 'गरज' की भाँति अपना उद्देश्य गूँजता रहे तथा 'करना चाहिए' के स्थान पर 'किया है' बताने को वह आतुर रहे ।

अकेले एक मिशन-

पं० काशीराम जोशी

अम्बाला जिला (पंजाब) के गाँव मडौली कलाँ में आज एक बहार आ गई है । पंडित गंगाराम की चौपाल इस बहार से भर उठी है । हजारों नर-नारी यहाँ आ जुटे हैं । इस बहार का कारण था तेरह वर्ष से बिछुड़ा उनका बेटा काशीराम ।

गाँव की गलियों में घूमते-खेलते फिरने वाले बालक काशी पटियाला के स्कूल से मैट्रिक पास करके नौकरी के लिए घूम-घूम कर जूतियों के तले घिसा देने वाले काशी को आज तेरह वर्ष बाद गाँव के लोगों ने एक नये रूप में देखा । बचपन में जो कहता था- "मैं पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बनूँगा । देश की सेवा करूँगा ।" उसका यह अरमान पूरा हो चुका था । अमेरिका में उसका लाखों का व्यापार चलता था । यही नहीं सात समन्दर पार करके वह अपने देश को विदेशियों के पंजों से मुक्त कराने आया था। अकेला नहीं अपने कई साथियों के साथ एक सुनियोजित ढंग से विद्रोह करने के लिए आया था ।

उसकी बोली से आग बरस रही थी- "भाइयो ! गुलामी की जिन्दगी से इज्जत की मौत बेहतर है । भारत माँ आज विदेशी शासन में जकड़ी सिसक रही है । हमें उसे मुक्त कराने में जुट जाना है । यह वही पंजाब है जहाँ वीर नलवा और गुरु गोविन्दसिंह जन्मे थे । हकीकत और भाई मतिदास जैसे बलिदानी जन्मे थे । उन्हीं पाँच नदियों का अमृत हमने पिया है । हमें जीना है तो उसी शान के साथ जीना है नहीं तो उसी शान के साथ मर जाना है ।

पिता, चाचा, भाई तथा बेटा आश्चर्य से इस आग के पुतले को देख रहे थे । जो कभी राख में दबा पड़ा था । जिसे कभी वे पहचान नहीं पाये थे आज वही धधक कर दावानल उपस्थित करने को तत्पर हो रहा था । वह कहता जा रहा था- "इच्छा तो बहुत थी कि कुछ दिन यहाँ रहूँ, पर क्या करूँ, यहाँ जिस उद्देश्य से आया हूँ वह पहला कर्तव्य है । अब इजाजत दीजिए ।"

यह क्या तेरह बरस में वापस आये और तीन घण्टे भी रुक नहीं सके । घर वालों की आँखों से आँसू बह निकले । नन्हें किशोर पुत्र के माथे पर हाथ फेर, चाचा तथा पिता के चरण स्पर्श करके यह आजादी का दीवाना चल पड़ा । अब वह पहले आजादी का सिपाही था, बाद में पिता-पुत्र तथा और कुछ । उसका कर्तव्य उसे एक रात भी अपने घर नहीं बिता पाने को विवश कर रहा था ।

पं० काशीराम जोशी १८९९ में मैट्रिक पास करके अम्बाला में नौकरी करने लगे थे पर उन्हें इससे सन्तोष नहीं हो सका । वे हाँगकाँग चले गये । हाँगकाँग से वे अमेरिका चले गये । वहाँ ओरेगान स्टेट लकड़ी के व्यापार का केन्द्र थी । ओरेगान स्टेट के पोर्टलैण्ड नगर के समीप सेंट जान नामक कस्बे की एक आरा मिल में ये काम करने लगे । मजदूर से वे मेट बने और प्रगति करते हुए वे लकड़ी के नामी व्यापारी बन गये । इनका लाखों रुपयों का कारोबार चलने लगा ।

जब उन्होंने पर्याप्त सम्पदा अर्जित कर ली तो उन्हें उसके सदुपयोग की फिक्र हुई । इस सम्पदा को अर्जित करने का प्रयोजन भी उनका यही था कि किसी महत्वपूर्ण कार्य में इसका उपयोग होगा । सम्पत्ति पर साँप बनकर बैठने तथा उसे अपने तथा अपने परिवार तक ही सीमित रखने के छोटे दृष्टिकोण से वे सर्वथा मुक्त थे । उन्हीं दिनों इतिहास प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह इनके पास पहुँचे । सरदार जी को इनसे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी । गदर पार्टी को उन्होंने अपना तन-मन-धन सब समर्पित करने की घोषणा कर दी ।

इनका सेंटजान का ठिकाना उसी दिन से राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया । यहाँ प्राय: देशभक्तों की गोष्ठियाँ होने लगीं । सोहन सिंह भकना, हरनाम सिंह टुण्डी, उधम सिंह कसेल, रामरक्खा सड़ोआ आदि व्यक्ति एकत्रित होकर चर्चा करते तथा अपने देश भारत को राजनैतिक दासता से मुक्त कराने की योजनाएँ बनाते ।

पण्डित जी ने अमेरिका में भारत की स्वतन्त्रता के लिए सहयोग देने वाले भारतीयों के ऐसे संगठन बनाने आरम्भ कर दिये । इन संगठनों के लिए विदेशों से तथा अमेरिका से प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं यथा 'स्वदेश सेवक', 'परदेशी खालसा', 'फ्री हिन्दुस्तान' आदि मँगाते । इन्हें पढ़कर लोगों में देश के प्रति उत्सर्ग के विचार पनपते । जापान से मौलवी बरकतुल्ला का साहित्य तथा योरोप से श्रीमती कामा का साहित्य भी उन्होंने मँगवा कर संगठनों में वितरित किया । इस प्रकार विचार-क्रान्ति का प्रथम अभियान चल पड़ा ।

प्रथम विश्व युद्ध के आसार दिखाई पड़ने लगे थे । अब यह कोई सक्रिय कदम उठाना चाहते थे । इस स्वर्ण अवसर को हाथ से जाने देने के पक्ष में नहीं थे । भारत में एक सुनियोजित विद्रोह की रूपरेखा इनके मष्तिष्क में चक्कर काट रही थी। इसी का परिणाम गदर पार्टी के रूप में परिलक्षित हुआ । सन् १९११ में पोर्टलैण्ड में भारतीयों की एक विशाल सभा बुलाई गई । इसमें 'हिन्दुस्तान एसोसिएशन ऑफ पैसिफिक कोस्ट' नामक संगठन का जन्म हुआ । पण्डित काशीराम को इसका कोषाध्यक्ष चुना गया । मन्त्री बने जी. डी. कुमार तथा अध्यक्ष सोहनसिंह मकना चुने गये ।

संगठन बनने की देर थी कि इसकी शाखाएँ खुलने लगीं । संगठन का काम आँधी-तूफान की गति से प्रगति करने लगा । २५ मार्च, १९१३ में लाला हरदयाल, पण्डित जी के निमंत्रण पर सेंटजान आये । उन्होंने पण्डित जी के प्रयत्नों की सराहना की । पण्डित जी ने अपना सर्वस्व इस संगठन को समर्पित कर दिया था। अधिकांश खर्च पण्डित जी अपनी जेब से देते थे। पिरथी सिंह आजाद का कथन नितान्त सत्य है- "पण्डित जी स्वयं एक गदर पार्टी थे ।"

संघ का पत्र 'गदर' प्रकाशित होने लगा । सरदार अजीतसिंह तथा सरदार करतारसिंह सरावा उसमें काम करने लगे । पण्डित जी ने इस काम को हाथ में लिया तो पूरे मनोयोग से किया । सन् १९१४ में तो वे गदर पार्टी ही बनकर रह गये थे । उनकी सारी प्रतिभा इसी में नियोजित हो गई । इसी का यह परिणाम था कि अमेरिका के अंचल में बसे छः हजार भारतीयों में से पाँच हजार एक सूत्र में बँध गये ।

जुलाई, १९१४ में प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया । गदर पार्टी जिस अवसर की ताक में थी, वह अवसर आ पहुँचा था । गदर पार्टी का अधिवेशन हुआ जिसमें पाँच हजार भारतीय एकत्रित हुए । 'करो या मरो' का निर्णय लिया गया । पार्टी के प्रमुख नेता भारत के लिए रवाना हो गये ।

इन लोगों में अपार जोश था । प्रत्येक व्यक्ति सबसे पहले भारत पहुँचने को उत्सुक था । अंग्रेजी सरकार इन गतिविधियों से बेखबर नहीं थी । न्याय को ताक पर रखकर उसने देश की धरती पर पाँव रखने के पहले ही अधिकांश गदर करने वालों को बन्दरगाहों पर ही बिना किसी अपराध के बन्दी बना लिया । इस गैर कानूनी हरकत का अनुमान तक इन्हें नहीं था । इस कुकृत्य से विश्व राजनीति में अंग्रेजों का मुँह काला हो गया ।

पण्डित काशीराम तथा करतार सिंह सरावा व्यापारी के रूप में पृथक्-पृथक् जहाजों से भारत पहुँचे । इन्हें गिरफ्तार करने में विदेशी शासन सफल न हो सका । भारत आकर इन्होंने देखा कि यहाँ तो सारी योजना ही चौपट हो चुकी है । फिर भी उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा । पार्टी के नेताओं का फिर से चुनाव किया गया । अपनी कम आयु के बावजूद भी संगठन कुशलता तथा परिस्थितियों के अनुरूप क्रिया-कलाप अपनाने में चतुर करतार सिंह सरावा को नेता बनाया गया ।

पहला कदम फौजी शस्त्रागार पर कब्जा करने का था । मियाँ मीर तथा फिरोजपुर छावनी के शस्त्रागारों पर अधिकार करने का काम पण्डितजी ने अपने लिये चुना । सभी क्रान्तिकारी २९ नवम्बर को फिरोजपुर नगर के बाहर जलालाबाद वाली सड़क पर एकत्रित हुए । इस दिन जिस व्यक्ति ने शस्त्रास्त्र जुटाने का वादा किया था वह पूरा नहीं कर पाया । इस प्रकार यह काम कुछ दिनों के लिए टाल दिया गया ।

सभी व्यक्ति अपने-अपने स्थानों के लिए रवाना हुए । सब लोग ताँगों में सवार थे । शहर के पास पुलिस के एक दस्ते ने इन्हें रोका । सबने अपने को अलग-अलग मुसाफिर बताया । इन्सपेक्टर ने जाँच करने के लिए एक व्यक्ति के मुँह पर जोरदार थप्पड़ मारा । सब खून का- सा घूँट पीकर रह गये पर गाँधीसिंह कतर भत्र से न रहा गया। उन्होंने उस इन्सपेक्टर को गोली मार दी । पुलिस में भगदड़ मच गई । दोनों ओर से मोर्चे बाँधकर गोलियाँ चलने लगीं । कई साथी बचकर निकल गये । पुलिस को सहायता मिल गई । सात क्रान्तिकारी बन्दी बना लिए गये । पण्डित जी उनमें से एक थे ।

पण्डित जी सफलता में न तो हर्ष से पागल हो जाते थे और न असफल होने पर सिर धुनने लगते थे । यह धैर्य ही उन्हें इतना बड़ा विद्रोह संचालित करने के लिए तैयार कर सका था । जब वे गिरफ्तार हो गये तो उनके मन में न कोई निराशा उत्पन्न हुई न चेहरे पर उदासी झलकी ।

न्याय और वह भी क्रान्तिकारियों के साथ करना जाय यह तो अंग्रेजी शासन की नीति ही नहीं थी । फिर विश्व युद्ध का समय था । न्याय के नाम पर आतंक जमाने की नीति चल रही थी । विद्रोहियों को कड़ी से कड़ी सजा देकर देश प्रेम की भावना के दबा देने के उद्देश्य से इन सातों व्यक्तियों को फाँसी की सजा दी गई ।

सातों अभियुक्तों को सम्राट के विरुद्ध बगावत का अपराधी सिद्ध किया गया । फैसले में पण्डित जी को इस दल का नेता माना गया । इनकी सारी सम्पदा जो लगभग चालीस हजार थी, कुर्क कराने का आदेश दे दिया ।

सब कुछ दाँव पर लगाकर भी निराश नहीं होने वाले पण्डित जी ने यह फैसला बड़े धीरज से सुना । उन्होंने कहा- "मुझे प्रसन्नता है कि अधिक देश सेवा करने का अवसर न सही पर मातृभूमि पर प्राण न्योछावर करने का

--- ---

सौभाग्य तो मिल ही गया ।" उन्हें फैसले को सुनकर शान्ति मिली । उन्होंने सजा को सहज रूप में स्वीकार किया ।

एक देशभक्त के लिए इससे बड़ा सौभाग्य और हो भी क्या सकता था ? इतना साहस नहीं होता तो वे इस क्षेत्र में उतर ही कैसे सकते थे ? आदर्शवादिता भौतिक दृष्टिकोण से तो घाटे का सौदा ही है । यह जानते हुए भी इस पथ पर चलने वाले चलते हैं तथा भौतिक उपलब्धियों के पीछे भागने वालों की अपेक्षा घाटे में नहीं रहते । इन्हें आत्म सन्तोष का सुख मिलता है तथा जो अपना दृष्टिकोण संकुचित रखते हैं उन्हें जीवन भर इस सच्चे सुख से वंचित रहना पड़ता है तथा उनकी आत्मा सदा उन्हें प्रताड़ित करती रहती हैं ।

पण्डित जी अपने कार्यों से इतिहास में अमर हो गये । यदि वे जीवन में आदर्शवादिता की ओर उन्मुख नहीं होते तो आज उन्हें कोई जानता तक नहीं । ऐसे कई व्यक्ति जन्मे व मर गये, जिन्हें किसी ने याद नहीं किया, उनके जीवनवृत्त से किसी के मन में, आत्मा में मानवता की सेवा, राष्ट्र देवता की उपासना की ललक उत्पन्न नहीं हुई । मनुष्य जीवन पाकर भी वे उसे सार्थक नहीं कर सके थे । ऐसी भूल विवेकशील पण्डित जी कैसे कर सकते थे । उन्होंने जिन हाथों से उपार्जन किया उन्हीं से उसका सदुपयोग भी किया ।

ऐसे ही कुशल शिल्पियों ने राष्ट्र मन्दिर के भव्य भवन का निर्माण किया, उसमें राष्ट्र देवता की मूर्ति स्थापित की, उसमें प्राण भरे, जो सदा सर्वदा छोटे-छोटे मनुष्यों को महान देश भक्त बनने की प्रेरणा, प्रकाश व साहस देता रहेगा ।

अमर शहीद-पिंगले

फाँसी देने के पूर्व सजा पाने वाले से पूछा गया- 'आपकी अन्तिम इच्छा क्या है ? आप कहें तो उसे पूरी की जा सकती है ।'

मृत्यु के अतिथि ने इस प्रकार हँसकर कहा जैसे फाँसी न दी जा रही हो खेल के मैदान में उतर रहे हों- "जंजीर खुलवा दीजिए ताकि दो मिनट ईश्वर का स्मरण कर सकूँ ।"

जंजीरें खुलवा दी गईं । उसने बड़ी शान्ति से ईश्वर का स्मरण किया । फिर बिना किसी रंजो-मलाल के स्वयं फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया और फन्दा गले में पहन लिया । जैसे एक सफर समाप्त कर दूसरे की तैयारी की जा रही हो, इसी निर्विकार भाव से वह मौत की माला पहन चुका था ।

यह फाँसी का फन्दा हँसते-हँसते गले में पहनने वाले और कोई नहीं अमर शहीद विष्णु गणेश पिंगले थे, जिन्हें भारतीय जीवन दर्शन में वर्णित आत्मा की अमरता पर पूर्ण विश्वास था । तभी उन्होंने जीवन और मृत्यु दोनों को एक-दूसरे का पूरक माना ।

इनका जन्म पूना के एक पहाड़ी ग्राम में हुआ था । बचपन से ही ये स्वाभिमान तथा निडर थे । सब बालक जब खेलकूद में मग्न रहते थे । ये अकेले में बैठे चिन्तन किया करते थे । इन्हें अपने विचारों पर दृढ़तापूर्वक चलने की आदत उसी समय से थी ।

पढ़ने के साथ-साथ इन्हें अपने देश के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होने लगा इनके रक्त में उबाल आने लगा । अपनी मातृभूमि को इस दासता से छुड़ाने के लिए वे अपने मन ही मन चिन्तन किया करते थे ।

अध्ययन काल में ही उन्होंने अन्य देशों के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का अध्ययन किया । उन्होंने इस साहित्य के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाला कि भारत को आजाद करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति अनिवार्य है ।

भारतीय धर्मग्रन्थों में गीता उन्हें बड़ी प्रिय थी । गीता ने ही उन्हें निष्काम कर्म की ओर उन्मुख किया । आत्मा के सम्बन्ध में उनको गीता के माध्यम से जो ज्ञान मिला उससे उन्हें बड़ी शक्ति मिली । सुख-दुःख को समान भाव से ग्रहण करते हुए अपना कर्तव्य करते रहने की प्रेरणा मिली । अध्ययन काल में कुछ दिनों तक वे साधु वेश धारण कर देश के कई भागों में घूमे । देशवासियों की दुर्दशा देखकर वे बड़े दुःखी हुए । अपने भाइयों पर जो अत्याचार विदेशियों ने किये थे, उसे सुन-सुनकर उनकी राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग करने की भावना और उग्र हो गई।

अपने साथियों तथा परिचितों से उन्होंने इस कुशासन के विरुद्ध संघर्ष करने की बात कही । उन लोगों ने यह तो स्वीकार किया कि हम जिस स्थिति में हैं वह है तो बुरी पर हम कर भी क्या सकते हैं । वे अपने पारिवारिक तथा व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठने की सोच ही नहीं सकते थे।

भारत में शिक्षा पूरी कर लेने के बाद इनके घरवालों ने उन्हें इंजीनियरिंग की उच्च शिक्षा पाने के लिए अमेरिका भेजा । वहाँ जाकर भी उन्हें इसी दुर्दशा के दर्शन हुए । गुलाम देश के नागरिक होने के कारण वहाँ भी भारतीयों को सम्मान नहीं मिलता था । वहाँ के भारतवासियों ने 'गदर पार्टी' नामक एक संस्था स्थापित कर रखी थी, जिसका उद्देश्य सशस्त्र क्रान्ति करके भारत को मुक्त कराना था । वहाँ उन्होंने उस पार्टी को और भी शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया ।

हृदय कुण्ड में अग्नि तो देशप्रेम की जल रही थी और स्वयं को इंजीनियर बनाकर उन्हें कौन-सा सुख मिलने वाला था । इस कारण वे इस चक्कर से निकल भागे। वे प्रथम विश्व युद्ध के पहले ही अमेरिका से भारत लौट आए।

यहाँ आने पर उन्होंने क्रान्ति की तैयारी करनी आरम्भ कर दी । उन्होंने बंगाल तथा पंजाब और महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियों से मिलकर अपनी तैयारी अन्दर ही अन्दर करते रहना आरम्भ कर दिया । उपयुक्त अवसर आते ही सभी छावनियों पर कब्जा कर लेने की योजना थी ।

प्रथम महायुद्ध आरम्भ होते ही इन्हें वह अवसर मिल गया । उन्होंने अपने साथियों को सचेत कर दिया । पंजाब में करतार सिंह सराबा, डॉ. माथुर सिंह, बंगाल में रास बिहारी बोस तथा शचीन्द्र नाथ सान्याल इनके साथ मिले हुए ही थे । २१ फरवरी, १९१५ को सभी छावनियों पर अधिकार कर लेने की योजना बना ली गई ।

करतारसिंह सराबा के साथ इन्होंने मेरठ, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, बनारस आदि छावनियों का दौरा किया । इनमें से एक साथी कृपालसिंह ने लोभ के वशीभूत होकर इसका भण्डाफोड़ कर दिया । सरकार सचेत हो गई और सर्वत्र गिरफ्तारियाँ आरम्भ कर दी गईं ।

पिंगले इस विश्वासघात से कुछ देर के लिए दुःखी अवश्य हुए पर हताश नहीं हुए । उन्होंने अपना कार्यक्रम जारी रखा तथा विद्रोह की तिथि अनिश्चित समय के लिए आगे बढ़ा दी ।

उन्होंने एक नए मुसलमान मित्र पर भरोसा किया जिसका परिणाम दुःखदायी हुआ । वे वाराणसी से दस बड़े बम लेकर पुनः मेरठ लौट रहे थे कि उस मित्र ने उन्हें गिरफ्तार करा दिया । उनके सहित जितने भी क्रान्तिकारी गिरफ्तार हुए थे, सभी पर मुकदमा चलाया गया । उनमें से सात को मृत्युदण्ड की सजा दी गई । मृत्युदण्ड की सजा पाने वालों में इनके अतिरिक्त करतारसिंह सराबा, जगतसिंह, हरनामसिंह, सुमेरसिंह, बख्शीससिंह तथा सुरेन्द्रसिंह थे ।

पिंगले को इस निर्णय पर कोई दुःख नहीं हुआ वरन् वे तो प्रसन्न थे कि उनका उपयोग देश के हित में हुआ । अपने इस बलिदान को वे निरर्थक नहीं समझते थे । उन्हें विश्वास था कि जिस दिन बलिदानों की यह संख्या पूरी हो जायगी उस दिन यह देश स्वतंत्र हो जायगा ।

उनके बलिदानों की जो प्रतिक्रिया पीछे आने वाली पीढ़ी पर होगी उसका सहज अनुमान वे कर चुके थे । जहाँ पर चिंगारी जलती है वहीं वह हवा के झोंके से बढ़कर दावानल बन जाती है । एक दीपक की लौ से अनेकों दीपक जलाकर प्रकाश किया जाता है । उन्होंने अपने बलिदान को ऐसी ही प्रक्रिया माना ।

सात नवम्बर का वह दिन आया जब ये सात आजादी के दीवाने फाँसी के फन्दों पर लटकने निकले । उस समय का दृश्य निराशाजनक नहीं था । इनके साथियों ने इन्हें गीत गाकर विदा किया-जैसे स्वतंत्रता को ब्याहने बारात चढ़कर जा रही हो ।

पिंगले का दैनिक क्रम इस दिन भी नहीं टूटा था । सुबह उठकर व्यायाम-स्नान किया । उसी प्रकार उपासना की ।

इस बलिदानी का बलिदान पीछे कई देशभक्तों के लिए प्रेरणा बन गया । दीवानगी की एक ऐसी हवा चली कि लोग अपने स्वार्थों को भुलाकर देश के लिए सर्वस्व समर्पित कर गये ।

राजनैतिक क्रान्ति हो जाने के बाद सामाजिक क्रान्ति भी अब ऐसी ही एक अनिवार्यता के रूप में आ उपस्थित हुई है, जो कितने ही ऐसे बलिदानों की माँग कर रही है । आत्मा की अमरता के ऐसे उदाहरण फिर प्रस्तुत करने का समय आ गया है ।

अमर शहीद डॉ. मथुरासिंह

भारतीय स्वाधीनता संग्राम को और अधिक तीव्र करने के लिए तथा विदेशी सरकारों एवं जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए देश के कई सपूत उन दिनों बाहरी देशों में जाया करते थे । डॉ. मथुरासिंह भी रूस जाने वाले थे । उन्होंने प्रस्थान किया ही था कि किसी ब्रिटिश गुप्तचर को इसका पता चल गया और उन्हें लाहौर लाया गया । उन दिनों जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के कर्णधार डायर का वहाँ शासन था । दमन, अत्याचार और अन्याय का बोलबाला था इन दिनों । ऐसी दशा में न्याय और रियायत की आशा ही कैसे की जा सकती थी ?

डॉ. मथुरासिंह को राजद्रोह के अपराध में फाँसी की सजा सुनाई गई । १७ मार्च, १९१७ को फाँसी होनी थी और उसके एक दिन पूर्व डॉ. मथुरासिंह का छोटा भाई उनके पास आकर बिलख-बिलखकर रोया । डॉक्टर साहब ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा- "छिः पगले ! रो रहा है । दूसरों के लिए जान देना तो सिक्खों के लिये बहुत पुरानी परिपाटी हो गई है । तुम्हें तो गर्व करना चाहिए कि तुम्हारा भाई अपने देश के लिए अपनी जान न्योछावर कर रहा है ।"

इस दृश्य को देखकर जेल अधिकारी भी आश्चर्यचकित रह गये । एक मात्र बड़े भाई का साया सर से उठते देखकर छोटे भाई का दुःखी होना स्वाभाविक था । डायरशाही के पुर्जों ने शायद छोटे भाई के आँसुओं से पसीज कर अपने निर्णय पर पुनर्विचार किया होगा ।

एक अधिकारी इस निर्णय पर पहुँचा और बोला- "यदि तुम अपने किए के लिए क्षमा माँग लो और आगे से ऐसी गलती न करने का वचन दो तो सरकार तुम्हारी सजा कम कर सकती है ।"

"परन्तु मैंने क्षमा माँगने जैसा काम ही क्या किया है । " डॉक्टर साहब ने कहा ।

"तुमने अभी दुनिया में देखा ही क्या है मथुरासिंह । इस अवसर को हाथ से मत खोओ ।"

मथुरासिंह इस पर आग बबूला हो उठे और बोले- "मुझे फाँसी हो रही है । तुम समझते हो क्या मैं इससे दुःखी हूँ । नहीं, मुझे तो बड़ी खुशी और गर्व है कि मैंने विप्लव को सफल बनाने के लिए मुझसे जो कुछ हो सका है, किया है ।"

— —

और इस दृढ़ निश्चयी शूरमा ने बड़ी शान के साथ अगले दिन फाँसी का फन्दा चूम लिया। देश के लिए कई वीरों ने अपनी आत्माहुति दे दी, उन्हीं की श्रेणी में डॉक्टर मथुरासिंह भी अग्रिम पंक्ति में जा बैठे। ३४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने जो साहस, लगन और देश प्रेम का परिचय दिया वह अन्यत्र कहीं मिलना दुर्लभ है।

डॉक्टर मथुरा सिंह का जन्म झेलम जिले के ढुटियाला गाँव में सन् १८८३ में हुआ। परिवार की स्थिति बहुत सामान्य थी। उन्हें कठिन से कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा परन्तु मजाल कि चेहरे पर थोड़ी-सी शिकन भी आ जाये। गरीब और विपन्न परिवारों में ही अक्सर विभूतियाँ पलती हैं। सामान्य रूप से विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में कई प्रकार की कठिनाइयों और अवरोधों का सामना करना पड़ सकता है। जिन्हें सहते हुए उनकी उपेक्षा कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रशिक्षण ऐसे ही परिवारों में मिलना संभव है।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा गाँव में हुई। परिवार ने उनके विकास हेतु बाद में शहर भेजा परन्तु हाईस्कूल तक ही वे पढ़ पाये। डॉक्टर मथुरासिंह को चिकित्सा विज्ञान में असाधारण लगाव था। परिवार की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उन्हें डॉक्टरी पढ़ा सके। हाईस्कूल भी वे बड़ी मुश्किल से कर पाये थे। परन्तु लगन और श्रम के आगे दैन्य और दरिद्रता क्या अवरोध पैदा कर सकते हैं। डॉक्टर मथुरासिंह ने नौशेरा छावनी में नौकरी कर ली और चिकित्सा विज्ञान का स्वयं ही अध्ययन करने लगे। इस विषय में उन्होंने कई डॉक्टरों का भी सहयोग लिया।

मधुर, नम्र और शिष्ट व्यवहार से किसी को भी अपने वश में किया जा सकता है। दूसरों को सम्मान देने का स्वभाव हर किसी का सहयोग उपलब्ध करा सकता है। ऐसे कई डॉक्टर जो अपने कार्य में तो अति कुशल थे परन्तु दूसरों को सहयोग देने के लिए कभी तैयार नहीं हुए, डॉक्टर साहब ने अपनी नम्रता और सेवा भाव की चातुरी से उनका अनुग्रह भी प्राप्त किया।

स्वाध्याय और सहयोग के बल पर उन्होंने अपने कार्य में बड़ी दक्षता प्राप्त कर ली, परन्तु उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। कहते हैं उस समय उनके क्षेत्र में जितने भी कुशल डॉक्टर थे उनका सहयोग मथुरासिंह ने प्राप्त कर लिया था। अब वे चिकित्सा विज्ञान के उच्च अध्ययन हेतु विदेश जाने की तैयारी करने लगे। कुछ ही दिनों बाद वे अमेरिका रवाना भी हो गये।

उनकी यह यात्रा भी बड़ी आकस्मिक रही। वे संयोग से सभी प्रकार के पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त हो चुके थे। पत्नी और पुत्री का आकस्मिक निधन उन्हें कुछ समय को व्यथित अवश्य कर गया, परन्तु मनस्वी मथुरासिंह ने तुरन्त ही अपनी मनोदशा सुधार ली। इस वेदना को परमात्मा का मंगल विधान समझ कर वे सह गये। अमेरिका जाते वक्त रास्ते में ही अर्थाभाव के कारण उन्हें चीन के शंघाई शहर में उतर जाना पड़ा। वहाँ वे चिकित्सा कार्य करने लगे। उस समय वहाँ चिकित्सकों की बड़ी कमी थी। डॉक्टर साहब ने काफी पैसा कमाया।

कुछ पैसा इकट्ठा हुआ तो वे अमेरिका की बजाय कनाडा के लिए रवाना हुए। कुछ कारणों से उन्हें शीघ्र ही वापस लौटना पड़ा। उस समय कनाडा के एक बन्दरगाह से 'कामा गाटा मारू' नामक जहाज भारत रवाना हो रहा था। उस जहाज में अस्त्र-शस्त्रों से लैस, उत्साही और साहसी क्रान्तिकारी भरे हुए थे। उसी में डॉक्टर साहब भी चढ़ गये। क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आकर उन्होंने भी देश सेवा का संकल्प ले लिया। भारत वापस आने पर वे कलकत्ता से अमृतसर आये। तत्कालीन राजनैतिक वातावरण का अध्ययन कर वे बड़े क्षुब्ध हुए और शस्त्र क्रान्तिकारियों को संगठनबद्ध करने का कार्य करने लगे। उनके दल में अमेरिका से वापस लौटे भारतीय भी आकर शामिल होने लगे। संगठन दिनों दिन सुदृढ़ होता गया।

धीरे-धीरे देश भर में इस क्रान्तिकारी संस्था के सदस्य फैल गये और गुप्त रूप से सभी स्थानों पर एक ही दिन इन्कलाब छेड़ देने का निश्चय कर लिया। पुलिस को इस संगठन की बू पहले ही लग गई थी। वह इस संगठन की गतिविधियों और सदस्यों का पता चलाने का प्रयास जी जान से कर रही थी। डॉ. मथुरासिंह के संगठन के कुछ सदस्य पुलिस से मिल गये। पुलिस सूचना पाकर सदस्यों की धर-पकड़ करने लगी। एक क्रान्ति होने से पहले ही विफल हो गयी। डॉ. मथुरासिंह तो पुलिस की आँखों में धूल झोंक काबुल पहुँच गये। उन दिनों वहाँ राजा महेन्द्र प्रताप ने भारत की अस्थाई सरकार घोषित कर रखी थी। डॉक्टर साहब उनसे जाकर मिले।

राजा महेन्द्रप्रताप ने उन्हें रूस जाने की सलाह दी परन्तु दुर्भाग्य से वे रास्ते में ही पकड़े गये।

अमर शहीद–शिवराम राजगुरु

स्वातंत्र्य-यज्ञ में अपना सर्वस्व तन, मन, धन व प्राण आहूत करने वाले नर पुंगवों में अमर शहीद राजगुरु का नाम अग्रिम पंक्ति में आता है। सरदार भगतसिंह और सुखदेव के साथ हँसते-हँसते फाँसी के फन्दे को चूमने का गौरव उन्हें भी मिला था। इन तीनों देशभक्तों के प्रति

भारतीय जनमानस में जो श्रद्धा व सम्मान की भावना थी उसे देखते हुए भावी जनाक्रोश की फुफकारती, उफनती वेगवान सरिता की कल्पना से ही अंग्रेज अधिकारी सशंक हो उठे तथा उन्हें निर्धारित समय से बारह घण्टे पूर्व ही फाँसी दे दी, जबकि ब्रिटिश शासन में चोर, डाकू व हत्यारों को भी रात्रि के समय फाँसी नहीं दी जाती थी । किन्तु इन्हें रात्रि में ही फाँसी दी गई ।

राजगुरु ने अपने यौवन के शुभारम्भ के साथ ही इस पथ पर अपने पग बढ़ा दिये थे । पराधीन, पददलित व अपमानित रहने की अपेक्षा उन्होंने अन्याय से संघर्ष करना ही अभीष्ट समझा । उन्होंने अपने जीवन का एक ही ध्येय बना लिया । वह ध्येय था भारत माता को परतन्त्रता की कारा से मुक्ति दिलाना और अपने आपको इस प्रयोजन में बलिदान कर देना ।

तत्कालीन क्रान्तिकारियों के दल में राजगुरु की तरह ही अनेकानेक युवक भिन्न-भिन्न सरिताओं के सागर में आ मिलने की तरह ही आ जुटे थे । भावनाएँ सबकी देश के लिए प्राणार्पण की थीं । किन्तु योग्यताएँ व क्षमताएँ तो एक-सी नहीं थीं । दलनायक चन्द्रशेखर आजाद थे । वे किसी भी क्रान्तिकारी को अपने काम कराने के लिए कहने से पहले उसकी योग्यता-क्षमता को भी देखते थे । यहीं राजु रु भगतसिंह से पिछड़ जाते थे । भगतसिंह उनसे हर दृष्टि में बीस थे किन्त राजगुरु की निष्कपट व बलिदान की उत्कट कामना को यह सह्य नहीं हो पाता था ।

साइमन कमीशन के आगमन पर लाहौर में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में जनता ने उसका विरोध किया । शासन की तरफ से विरोध प्रदर्शन के अवसर पर निहत्थी जनता पर लाठियाँ बरसाई गईं। इस नृशंस लाठी वर्षा में लाला लाजपत राय लाठियों की मार सहते-सहते गिर पड़े। वे इतनी बुरी तरह पीटे गये थे कि उनका प्राणान्त हो गया। शान्तिवादी तो इस क्रूरता को चुपचाप सह गये किन्तु क्रान्तिकारियों के लिए यह असह्य था । उन्होंने उसका बदला लेने का निश्चय किया । यह निश्चय पुलिस अधिकारी सांडर्स का वध करना था । इसको क्रियान्वित करने के लिए भगतसिंह को चुना गया ।

राजगुरु भी इस 'एक्शन' के समय उनके साथ थे । निश्चित समय पर भी पंजाब केसरी लाला लाजपत राय की हत्या का कारण वह पुलिस अधिकारी पुलिस स्टेशन से बाहर नहीं निकला तो राजगुरु अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सके । वे दलनायक आजाद से बोले- "अन्दर जाकर ही मार आऊँ" आजाद को उनकी यह अधीरता बहुत अखरी । यह अधीरता राजगुरु के उत्कट देशप्रेम व निर्भयता की प्रतीक थी । महान उद्देश्य के साथ बँधकर सामान्य व्यक्ति भी कितना निर्भय और साहसी हो सकता है इसका यह ज्वलंत उदाहरण है ।

सांडर्स वध के समय भी राजगुरु पहले वार करने से नहीं चूके । भगतसिंह वार करें इससे पहले ही उन्होंने मोटरसाइकिल पर चढ़ने को उद्यत सांडर्स को अपनी गोली का निशाना बना दिया । गोली उसकी कनपटी पर लगी । सत्कार्यों में भी स्पर्द्धा हो सकती है । राजगुरु भगतसिंह से स्पर्धा ही करते थे ।

अपनी इस स्पर्धा के कारण उन्हें बार-बार आजाद की डाँट सहनी पड़ी थी व अपने साथियों के सामने लज्जित होना पड़ता था । किन्तु उन्होंने कभी अपना अपमान नहीं समझा । उन्हें तो बस यही दुःख होता था कि उन्हें देश के लिए कुछ करने का अवसर क्यों नहीं दिया जाता ।

उनकी यह स्पर्धा केवल आवेश नहीं थी । वे क्रान्तिकारी बनने के पहले अपने आप को भावी परिस्थितियों में दृढ़ रहने के लिए शरीर, मन व आत्मा से तैयार कर चुके थे । एक समय की बात है उन्होंने भोजन बनाते समय चूल्हे में सड़ासी का मुँह रख दिया । जब वह तपकर लाल हो गई तो उसे पकड़ कर अपने सीने पर दागने लगे । गर्म लोहे से दागे जाने की शारीरिक यंत्रणा को बिना आह किये सह रहे थे । दो बार वे ऐसा कर चुके थे तीसरी बार साथियों का ध्यान उनकी ओर गया तो उन्हें रोका और पूछा गया- "यह क्या कर रहे हो ? "कुछ नहीं, देख रहा था कि शारीरिक यंत्रणाएँ क्या मुझे इस पथ पर आने वाली किसी भी स्थिति में विचलित तो नहीं कर देंगी ।" यह उनका सीधा-सा उत्तर था ।

संसद में बम फेंकने की योजना बनी तो भगतसिंह के साथ उन्हें भेजने की बजाय बटुकेश्वर दत्त को भेजने का निर्णय किया गया । राजगुरु इस निश्चय पर चोट खाये साँप की तरह फुफकार उठे । अपनी देशभक्ति व अपनी समर्पण भावना पर एक चोट समझकर उन्होंने खूब प्रतिवाद किया । इस निश्चय में केवल आजाद ही परिवर्तन कर सकते थे । वे कोटला मैदान में हुई गुप्त मंत्रणा के पश्चात् झाँसी के लिए प्रस्थान कर चुके थे । राजगुरु को उसके लिए आजाद के पास झाँसी जाना पड़ा किन्तु आजाद ने उनकी बात नहीं मानी । यही नहीं उन्हें झिड़कियाँ भी सहनी पड़ीं । उनका उनके सरल-निश्छल चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । उन्हें तो यही मलाल था कि उन्हें क्यों नहीं अवसर दिया जाता सरफरोशी का ।

महाराष्ट्र के एक निर्धन परिवार में जन्मे शिवराम राजगुरु का यह अनोखा व्यक्तित्व यह बताता है कि युग की पुकार सुनकर अपने आपको किसी प्रयोजन विशेष के लिए समर्पित कर देने की स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा को दबाया न जाय तो हर स्थिति का, हर वर्ग का व्यक्ति श्रेष्ठ पथ का पथिक बन कर गौरवान्वित हो सकता है ।

संसद में बम विस्फोट के पश्चात् भगतसिंह व बटुकेश्वर दत्त स्वेच्छा से बन्दी हो गये क्योंकि उन्हें बताया था कि क्रान्तिकारियों का दल जो क्रियाकलाप करता है उसके पीछे उनका उद्देश्य क्या है ? इनके पकड़े जाने के बाद गिरफ्तारियों का ताँता लग गया । पुलिस चाक चौकन्द हो गई । सुखदेव, जयगोपाल, किशोरीलाल, हंसराज, शिववर्मा आदि क्रान्तिकारी पकड़े गये । बाद में राजगुरु भी पूना में पकड़ लिए गये । उन पर लाहौर षड्यंत्र केस चलाया गया । इस केस में सुखदेव, भगतसिंह व राजगुरु को फाँसी की सजा दी जाने का फैसला कर दिया गया । अन्य कई क्रान्तिकारियों को आजन्म काले पानी की सजा दी गई थी ।

न्यायालय में ७ अक्टूबर, १९३० के दिन जब यह फैसला हुआ तो न्यायाधीश ने अभियुक्तों की उपस्थिति को ठीक नहीं समझा क्योंकि एक साथ इतने लोगों को फाँसी व आजन्म कारावास की सजा सुनाने की जनता पर प्रतिक्रिया हो सकती थी । अतः उन्हें पृथक्-पृथक् बुलाकर फैसला सुनाया गया ।

फैसला सुनने के लिए सर्वप्रथम राजगुरु को ही बुलाया गया । मातृभूमि के लिए प्राण दण्ड पाने वालों में वह भगतसिंह के पीछे नहीं रहे थे । यह जानकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा । न्यायालय में ही उन्होंने 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा पुरजोर आवाज में बुलन्द किया । इससे जज ने क्रुद्ध हो उन्हें चुप रहने का आदेश दिया । तो वे दुगने जोर से नारा बुलन्द करने लगे । पुलिस बड़ी कठिनाई से उन्हें फाँसी की कोठरी तक ले जा सकी । उनकी उत्कट अभिलाषा पूर्ण हो गई। वे फाँसी के फन्दे को चूमकर अमर हो गये । वे धन्य हैं जो इस निर्भयता, निश्छल व प्रखरता से दीप्त जीवन जीते हैं और मर कर भी अमर बनकर पीछे वालों को मनुष्य जीवन सफल कर जाने का पथ दरशा जाते हैं ।

देश प्रेम और धर्म निष्ठा के अनूठे प्रतीक—

अशफाक उल्ला

"तुम्हारी इस प्रकार की प्रवृत्तियों को देखकर बहुतों को संदेह होता है कि कहीं तुम इस्लाम त्याग कर शुद्धि न करा लो, पर तुम्हारा हृदय किसी प्रकार अशुद्ध नहीं था फिर तुम शुद्धि किसकी कराते ? तुम्हारी इस प्रकार की प्रगति ने मेरे हृदय पर पूर्ण विजय पाली । बहुधा मित्र मण्डली में बात छिड़ती कि कहीं मुसलमान पर विश्वास करके धोखा न खा जाना ।"

"तुम्हारी जीत हुई मुझमें-तुममें कोई भेद नहीं रह गया । बहुधा मैंने तुमने एक थाली में भोजन किया । मेरे हृदय से यह विचार ही जाता रहा कि हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद है ....।" ये हृदयोदगार हैं प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पं. रामप्रसाद बिस्मिल के, जो उन्होंने गोंडा जेल के फाँसी घर में बैठ कर लिखे थे अपने निकट सहयोगी क्रान्तिवीर अशफाक उल्ला के सम्बन्ध में ।

पं. रामप्रसाद बिस्मिल जब क्रान्तिकारी आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिये युवकों में देशभक्ति की भावना जगाने और समझ में आ जाये तो उनसे सहयोग लेने के उद्देश्य से शाहजहाँपुर आये तो एक मुसलमान युवक उनसे भेंट करने को बड़ा उत्सुक जान पड़ा । यह युवक और कोई नहीं अशफाक उल्ला ही थे जिनके हृदय में देश प्रेम की आग पहले से ही धधक रही थी । पं. रामप्रसाद बिस्मिल को भी ऐसे ही युवकों की खोज थी और अशफाक उल्ला को भी ऐसे ही मार्गदर्शक की । समय की पुकार की प्रतिध्वनियाँ एक ही व्यक्ति के हृदय में गूँजती हों सो बात नहीं है । जाग्रत अन्तःकरण में तो वह अपने आप ही प्रतिध्वनित होती रहती हैं ।

पं. रामप्रसाद बिस्मिल ने उनकी बातों का उत्तर उपेक्षापूर्वक दिया । इससे अशफाक उल्ला को बड़ा दुःख हुआ । पं रामप्रसाद 'बिस्मिल' कट्टर आर्यसमाजी थे वे मुसलमानों का शुद्धिकरण किया करते थे । आर्य समाज मन्दिर उनका निवास हुआ करता था और अशफाक उल्ला एक कट्टर मुसलमान परिवार के सदस्य थे । इसी कारण उन्होंने अशफाक की उपेक्षा की थी, पर वह भी निराश होने वाले युवक नहीं थे । उन्होंने अपने आचरण और व्यवहार द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि मजहब आदमी-आदमी के बीच दीवार नहीं बन सकता ।

कट्टर आर्य समाजी और कट्टर मुसलमान युवक का यह असम्भव दिखने वाला मेल सम्भव हुआ । 'बिस्मिल' उनसे अपने छोटे भाई की तरह स्नेह रखने लगे । अशफाक बिना किसी संकोच और दुराग्रह के उनसे मिलने के लिए आर्य समाज मन्दिर आया करते थे । घण्टों वहाँ रहा करते थे । इनके लिए हिन्दू और मुसलमान होने का अर्थ मात्र उपासनादिक विधियों में थोड़ा अन्तर मात्र था। यह व्यक्तिगत आस्था देश और समाज की एक इकाई होने के नाते पारस्परिक विभेद का कारण बनना ही नहीं चाहिए

शाहजहाँपुर में जब भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुये अशफाक ने इन दंगों को रोकने में सफलता प्राप्त की । पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने हिन्दू परिवारों में से कुछ ऐसे सुलझे हुए विचारों के युवकों का दल संगठित किया जिसका काम ऐसे दंगों को रोकना था। अशफाक ने वैसे

ही कुछ मुस्लिम युवकों का दल संगठित किया । इन दोनों टोलियों ने समय-समय पर उठ खड़े होने वाले दंगों की चिंगारी को भयंकर आग बनने से पहले ही बुझा दिया । हर नगर और गाँव में यदि ऐसे अशफाक पैदा हो जायें तो मजहबी झगड़े देखने को भी नहीं मिलें ।

अशफाक को अपनी उस मातृभूमि से बेइन्तिहाँ मुहब्बत थी जिसके हवा, पानी और मिट्टी से उनकी बलिष्ठ और सुदृढ़ काया और फौलादी मन का निर्माण हुआ था । वे अपनी इस स्वर्गादपि गरीयसी मातृभूमि को पराधीन कैसे देख सकते थे ? अशफाक ने बुजदिल होकर जीना नहीं सीखा था । उन्हीं के शब्दों में-

बुजदिलों ही को सदा मौत से डरते देखा ।
गो कि सौ बार उन्हें रोज ही मरते देखा ।।
मौत से वीर को हमने नहीं डरते देखा ।
मौत को जब एक बार आना है तो डरना क्या है ?
हम सदा खेल ही समझा किए, मरना क्या है ?
वतन हमेशा रहे शादकाम और आजाद ।।
हमारा क्या है अगर हम रहें या न रहें ।।

जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है । जो अशफाक की तरह जिन्दगी का यह अर्थ समझ लेते हैं उन्हें व्यक्तिगत शौक-मौज और खाने-पहनने की छोटी-छोटी एषणाएँ बाँधे नहीं रख सकतीं । वे समय की पुकार पर तन, मन, धन न्योछावर कर देते है ।

भारतीय क्रान्तिकारियों में अशफाक न होते तो पिछली पीढ़ियाँ एक बहुत बड़ी प्रेरणा से वंचित रह जातीं । किस प्रकार एक युवक जाति व धर्म की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर देश के लिए बलिदान हो सकता है । ऐसा एक अकेला उदाहरण है । अशफाक उल्ला का भारतीय क्रान्तिकारियों में । मातृभूमि के प्रति निष्ठा और भक्ति का जो चरमोत्कर्ष उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में देखने को मिलता है वह स्पृहणीय एवं अनुकरणीय ही नहीं वन्दनीय भी है ।

उन्हीं की एक हिन्दी कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं-

हे मातृभूमि तेरी सेवा किया करूँगा ।
फाँसी मिले मुझे या हो जन्म कैद मेरी ।
वीणा बजा-बजा कर तेरा भजन करूँगा ।।

उत्सर्ग की इस भावना का एक कण भी आज का भारतीय नवयुवक अपने हृदय में रख सके तो हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ, समस्याएँ न रहकर खेल बन जायें।

अशफाक उल्ला को काकोरी षड्यंत्र के अभियुक्त के रूप में फाँसी की सजा मिली थी । न्यायाधीश ने जब उन्हें फाँसी की सजा सुनाई तो उनका सीना गर्व से फूल गया । उनकी वह हसरत पूरी हो गई कि उन्हें जिन्दादिलों की तरह शानदार मौत मिले । जो पैदा हुआ है उसका मरना तो सुनिश्चित है पर अशफाक ने जैसी मौत पाई थी वह उनके साथियों के लिए ईर्ष्या और भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का विषय थी ।

१९ दिसम्बर, १९२७ को फैजाबाद जेल में कुरान शरीफ का बस्ता कंधे पर लटकाये हुए 'लवेक' कहते और कलमा पढ़ते हुए अशफाक उल्ला मुस्कराते हुए फाँसी के तख्ते के पास पहुँचे व उसका चुम्बन लिया और उपस्थित जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए बोले- "मेरे हाथ इन्सानी खून से नहीं रंगे । मेरे ऊपर जो इल्जाम लगाया गया, वह गलत है । खुदा के यहाँ मेरा इन्साफ होगा ।" और वे फाँसी के फन्दे पर झूल गये । आस्तिकता और राष्ट्र-प्रेम के ऐसे उदाहरण बहुत कम देखने को मिलते हैं । देश-भक्ति और ईश्वर विश्वास के सहारे आदमी कितना अभय प्राप्त कर सकता है, यह अशफाक की शहादत में स्पष्ट देखा जा सकता है ।

उनके भाई-बन्धुओं के आग्रह पर उनका शव शाहजहाँपुर लाया गया, मार्ग में लखनऊ स्टेशन पर उनके अन्तिम दर्शन के लिए लोग उमड़ पड़े थे । जिन थोड़े से लोगों को उनके अन्तिम दर्शन मिले वे मृत्यु के दस घण्टे बाद भी उनके मुख-मण्डल पर विराजती शान्ति और माधुर्य को देख विस्मित रह गये । जैसे खेल-खेल में ही सो गया हो कोई जीवन क्रीड़ा का खिलाड़ी ।

काकोरी रेल डकैती के अवसर पर अशफाक उल्ला की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही थी, यद्यपि उन्होंने सरकारी खजाने की डकैती का विरोध किया था । इसमें पकड़े जाने का भय अधिक था । क्रान्तिकारी कोई डाकू तो थे नहीं । उन्हें अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए धन चाहिए था जो उनके पास था नहीं और दूसरे लोग उन्हें यों ही देश के नाम पर धन नहीं देते थे । अतः विवश होकर उन्हें यह मार्ग अपनाना पड़ता था ।

जब रेल खजाने की डकैती की योजना बनी तो उन्होंने विरोध किया, किन्तु जब उनका विरोध कारगार नहीं हुआ तो तो वे उसे सफल बनाने में जुट गये । इससे उनकी सामूहिकता की भावना का सहज ही अन्दाज लग जाता है । उन्होंने विरोध किसी भय से नहीं किया था वरन् बुद्धि से किया था और यदि उनकी बात मान ली जाती तो शायद दल के इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाने का अवसर नहीं आता ।

ऐक्शन के समय भी सबसे महत्वपूर्ण काम उनका तब आया जब खजाने की पेटी को तोड़ना था । डकैती में मिले खजाने के सन्दूक को तोड़कर जब धन निकालने की बात आई तो तोड़ने में कोई सफल नहीं हुआ । छोटा-सा सुराख अवश्य हुआ पर उससे रुपया निकालना सम्भव नहीं था, किसी भी तरह । तब अशफाक की बलिष्ठ काया ही काम आई । वे पहरे पर खड़े थे । उन्होंने सबको असफल होते देखकर अपनी माउजर पिस्तौल अपने साथी के हाथ में थमाई और उस सन्दूक पर पिल पड़े । थोड़ी देर में सूराख बड़ा हो गया ।

डकैती के बाद भी ये अपने साथियों में सबसे तेज निकले। उन्हें पता था कि सरकार तुरन्त ही पकड़ा-धकड़ी करेगी सो वे घर ही नहीं गये और घर से आधे मील दूर एक गन्ने के खेत में छिप गये । रात को उनका खाना भी वहीं पहुँच जाता था ।

जब धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुईं तो वे बिहार चले गये और वहाँ डाल्टनगंज में दस महीने तक एक सरकारी दफ्तर में काम पर लगे रहे । यह उनकी चतुराई का ही परिणाम था । पर वे वहाँ पर रहकर कलम घिसाई में कुछ भी सार नहीं समझते थे और चाहते थे कि किसी छद्म नाम से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बहाने विदेश चले जायें । यही सोचकर वे दिल्ली आये । वहाँ उन्हीं के गाँव व जाति के एक सहपाठी मित्र ने उन्हें पकड़वा दिया ।

जेल में भी सरकारी गवाह बन जाने के लिए बहुत समझाया गया । इस काम में माहिर एक मुसलमान उच्चाधिकारी को उन्हें समझाने के लिए भेजा गया । अंग्रेज 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर ही तो अपना आसन जमाये हुए थे भारत वर्ष पर । उन्होंने भारतवासियों को कभी भारतवासी की दृष्टि से नहीं सोचने दिया । वरन् वे तो उन्हें हिन्दू, मुसलमान, सिख, हरिजन आदि फिरकों में बाँटकर अपना उल्लू सीधा करते रहे । पर भला अशफाक उल्ला जैसे देशभक्त पर उनकी वह मोहिनी माया कैसे चल सकती थी । अतः उनके प्रयास व्यर्थ ही गये । समझाने वाले सुपरिण्टेडेण्ट पुलिस ने उन्हें बार-बार कहा कि यह सब हिन्दुओं का फसाद है वे यहाँ अपना राज्य जमाना चाहते हैं । मुसलमानों को उनके फेर में नहीं पड़ना चाहिए । इस पर अशफाक झुँझलाकर बोले- "हिन्दू-राज किसी भी तरह ब्रिटिश राज से अच्छा ही होगा हमारे लिए ।"

अशफाक उल्ला का जन्म शाहजहाँपुर के एक प्रसिद्ध पठान परिवार में हुआ था । उनके बड़े भाई भोपाल राज्य में किसी उच्च पद पर नियुक्त थे । उनके पास एक लाइसेंसशुदा बन्दूक भी थी । अशफाक ने इसी से निशानेबाजी सीखी थी जो बाद में बहुत काम आयी । साथ ही उन्हें कन्धे पर बन्दूक रखने की आदत भी थी । जब कभी क्रान्तिकारी कामों के लिए छिपाकर बन्दूक ले जानी होती तो अशफाक उसे खुले रूप में कन्धे पर लेकर चल पड़ते और पीछे-पीछे उनके साथी । दिखने में भी उनका गोरा चिट्टा कद्दावर शरीर किसी कुँवर साहब या नवाब जैसा था । किसी के शक की गुंजायश ही नहीं रहती थी ऐसे व्यक्ति पर ।

हाईस्कूल तक पढ़ाई करने के बाद वे क्रान्तिकारी आन्दोलन में लगे तो फिर आगे पढ़ाई हो ही नहीं सकी। घर वालों ने, माता पिता व भाइयों ने बहुत समझाया, मना किया पर वे अपने निश्चय पर अटल रहे । इस निश्चय पर वे अन्त तक अटल ही रहे । किसी प्रकार का लोभ उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर पाया और न फाँसी का फन्दा ही ।

अशफाक ने संयम सदाचार और उचित आहार-विहार के द्वारा शरीर साधना भी की थी तो शुभ विचारों से अपने मन और आत्मा को भी परिपुष्ट किया था । जेल में बिना नागा कुरान शरीफ का पाठ करते, नमाज पढ़ते और रमजान में रोजे रखते । धर्म निष्ठा और देश-प्रेम उनकी आत्म-शक्ति के अजस्र स्रोत थे, जिसके बल पर वे फाँसी के फन्दे को गले में डालते हुये भी मुस्करा सकते थे । राष्ट्रीय एकता और बलिदान की जो अनूठी मिसाल शहीद अशफाक ने कायम की है वह आज के नवयुवकों को आर्थिक, सामाजिक और नैतिक क्रान्ति के लिए बल प्रदान करती रहेगी ।

अनूठे देश प्रेमी क्रान्तिकारी—
बन्तासिंह

सन् १९२९ में पंजाब के होशियारपुर जिले में मलड़ी गाँव का युवक- बन्तासिंह नौकरी की तलाश में अमृतसर आया । टहलसिंह पीतम नामक एक सरदार जी के मोटर के कारखाने में उसे नौकरी मिल गई । वह वहाँ मोटर मेकेनिक और ड्राइवर का काम सीख कर लॉरी चलाने लगा ।

टहलसिंह पीतम खाली मोटर कारखाने के मालिक ही नहीं, भारत को स्वतंत्र कराने के उद्देश्य से गठित की गई नवयुवकों की क्रान्तिकारी संस्था 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट एसोसिएशन' के सदस्य भी थे । उन्होंने इस युवक को केवल मोटर मेकेनिक व ड्राइवर का काम ही नहीं सिखाया वरन् अपने क्रान्तिकारी कामों का राजदार भी बना लिया । फिर तो इस युवक का हृदय आजादी की भावनाओं से कुछ ऐसा परवान चढ़ा कि उसे ज्यादा दिनों तक मोटर लॉरी नहीं चलानी पड़ी और न वह सामान्य मोटर ड्राइवर की गुमनाम जिन्दगी जीकर समाप्त हो गया वरन् वह क्रान्तिकारी आन्दोलन का सेनानी बनकर अपना नाम चिरस्मरणीय बना गया ।

इनका आरम्भिक काम पार्टी की मोटर कार से फरार क्रान्तिकारियों को, पार्टी के हथियारों व विस्फोटक पदार्थों को और गोपनीय साहित्य को इधर-उधर पहुँचाना था । १९३० में क्रान्तिकारियों द्वारा दिल्ली में डाली गई राजनैतिक डकैती में इस युवक को भी बन्दी बनाकर लाहौर के किले में भयंकर यातनाएँ दी गईं । कोई कच्चे दिल का होता तो वह जेल से छूटते ही क्रान्ति और देश-प्रेम को सदा के लिए नमस्कार कर गया होता । पर यह युवक जब सबूत के अभाव में लाहौर की कुख्यात जेल से मुक्त किया गया तो वह दुगुने जोश से क्रान्तिकारी गतिविधियों में भाग लेने लगा । .

देश प्रेम की आग जो दिल में लगी थी वह बुझाये न बुझी । वे एक वर्ष बाद ही १९३१ में पार्टी के सरकार विरोधी पर्चे बाँटते हुए फिर पकड़ गये । फिर शारीरिक यंत्रणा का भयंकर दौर चला । मारते-मारते उसके केश तक उखाड़ दिये गये पर यह युवक तो जैसे दुःख-सुख की अनुभूतियों से ऊपर उठ गया था किसी पहुँचे हुए योगी की तरह । वह जब अंग्रेजी दासता की चक्की में पिसते अपने देशवासियों के दुःख-दर्द की बात सोचता तो उसे अपने दुख साधारण लगते और वह सह जाता । वस्तुतः वह 'स्व' से 'पर' की ओर चल पड़ा था ।

एक वर्ष तक लाहौर की बोरस्टल जेल में उसका सम्पर्क अपने ही जैसे अन्य देशभक्तों से रहा । इन लोगों को सरकारी प्रेस में काम करना पड़ता था । वहाँ एक सिविल और मिलिट्री गजट में यह पढ़ने को मिला- "दक्षिण की जनता शान्तिप्रिय और राजभक्त है ।" यह वाक्य इन लोगों के लिए चुनौती बन गया ।

१९३२ में जब बन्तासिंह एक वर्ष की जेल काटकर बाहर निकले तो उन्हें अपने कई साथी, जिनमें सीतानाथ डे, रोशनलाल मेहरा, गोबिन्दराम बहल, छविदत्त वैद्य, शम्भुनाथ पाठक आदि थे, मिल गये । अब उन्होंने इस वाक्य की चुनौती को स्वीकार कर दक्षिण भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने का निश्चय किया ।

अप्रैल १९३३ तक तीन बार में यह सम्पूर्ण दल दक्षिण भारत पहुँच गया । रामविलास शर्मा नामक एक युवक अभी लाहौर में ही था जिसके पास दक्षिण भारत की क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कई हजार रुपया, हथियार व बम आदि थे । दुर्भाग्य से वह ब्रिटिश गुप्तचरों द्वारा पकड़ लिया गया। हिम्मत वाला न होने के कारण वह सरकार का मुखबिर बन गया और उसने सारा भेद खोल दिया । पार्टी को पैसों की कमी व बिखराव का सामना करना पड़ा ।

आर्थिक स्थिति सुधारने की गरज से २८ अप्रैल, १९३३ को बन्तासिंह के नेतृत्व में ऊटी बैंक में डाका डाला गया । यह बड़े दुस्साहस का कार्य था । दिन के बारह बजे मुख्य बाजार में स्थिति ऊटी बैंक के कार्यालय पर डाका डाल सकना बन्तासिंह जैसे साहसी क्रान्तिकारी के लिए ही सम्भव था । बन्तासिंह ने भीड़ से घिरी मोटर टैक्सी को निकाल कर नीलगिरी की पहाड़ियों की ओर निकल भागने में चालन कौशल का जो परिचय दिया वह अनूठा ही था ।

इस एक्शन के बाद ये लोग मीलों पैदल चलकर ईरोड स्टेशन पहुँचे । सी. आई. डी. के लोग सादे वेश में वहीं से इनके पीछे पड़ गये थे । यह भाग-दौड़ खूब चली । बड़ी देर में बन्तासिंह को पुलिस पकड़ने में सफल हुई ।

क्रान्तिकारी जीवन में यह सब होता ही है । ७ जुलाई, १९३३ को उन्हें ३८ वर्ष की सजा सुनाई गई । उन्हें बिल्लारी सेण्ट्रल जेल में भेजा गया । वहाँ उन्हें फाँसी की कोठरी में रखा गया । वहाँ उनके साथ प्रेम प्रकाश मुनी नामक एक व्यक्ति और था । जेल का अंग्रेज सुपरिण्टेण्डेण्ट बहुत निर्दयी था । यह दोनों साथी उसे अपनी इस क्रूरता का मजा चखाना चाहते थे ।

जेल में भी यह लोग चुप नहीं बैठे थे । वहीं जेम्स नाम का एक जेल वार्डन था, जिसे इन दोनों ने देशभक्ति की शिक्षा दी और पार्टी के लिए कार्य करने को राजी कर लिया । उसकी सहायता से ये दोनों एक दिन जेल से निकल भागे । यह इनके देश-प्रेम का ही प्रभाव था कि वे जेम्स को अपना सहयोगी बना सके थे । बाद में जब जेम्स पकड़ा गया तो उसने सारा अपराध अपने सिर पर ले लिया। उसे सात वर्ष का कारावास भोगने का दण्ड मिला ।

बन्तासिंह जैसे नवयुवकों की राष्ट्रीय भावना बड़ी उत्कट थी । भगतसिंह व चन्द्रशेखर आजाद इनके आदर्श थे । इनकी वीरता और कष्ट-सहिष्णुता तथा सरफरोशी की तो दाद देनी पड़ेगी । यह भावना हमारे युवाओं को आज भी बहुत कुछ प्रेरणा प्रकाश दे सकती है । किन्तु क्रान्ति का पथ कुछ ऐसा टेढ़ा है कि उस पर हर व्यक्ति नहीं चल सकता था और न हर व्यक्ति उनकी सहायता ही कर सकता था पर अब तक का क्रान्ति का पथ यही था । गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन अभी सत्यता की कसौटी पर कसा ही जा रहा था ।

बन्ता सिंह और मुनी फिर गिरफ्तार कर लिए गये । उन्हें अण्डमान जेल भेजा गया । ऊटी बैंक डकैती केस के तीन अभियुक्तों के अतिरिक्त शेष सब यहाँ पहुँच चुके थे । जहाँ चार सौ के लगभग क्रान्तिकारी पहले से सजा काट रहे थे । यहाँ भी ये लोग चुप नहीं बैठे रहे । १९३७ में इन्होंने रिहाई के लिए आमरण अनशन किया । इसकी समाप्ति के बाद उन्हें अन्य थोड़े से बन्दियों के साथ लाहौर जेल में भेजा गया जहाँ १९३७ में उन्हें मुक्ति मिली ।

१९३९ में टाटानगर के एक कारखाने में श्रमिक हड़ताल के समय वे श्रमिकों का नेतृत्व कर रहे थे । कारखाने के मालिक ने अपने गुण्डों द्वारा उन्हें ट्रक के नीचे कुचलवा कर मार डाला । इस प्रकार एक अन्याय अनीति का विरोधी शहीद हो गया ।

भारत माता के वीर पुजारी--

ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी

कलकत्ता के गोरा बाजार में एक अंग्रेज अपना डंडा घुमाता हुआ बड़ी मस्ती से चला जा रहा था । जो भी भारतीय, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या बालक, के सिर पर डंडे का प्रहार कर देता । वह कहता जा रहा था- ले पचास, ले इक्यावन पता नहीं वह कहाँ तक पहुँचना चाहता था । घर से निकलने के बाद इक्यावन व्यक्तियों को तो वह डंडा जमा चुका था ।

उस गोरे अंग्रेज के पीछे ही चल रहा था एक बंगाली किशोर जतीन। वह अभी ही एक गली से निकल कर आया था। अंग्रेज को गिनती गिन कर डण्डा मारते हुये देखा तो यकायक तो समझ में नहीं आया परन्तु जब यह अच्छी तरह जान लिया कि चूँकि गोरों का राज है इसलिए वे चाहे जो मनमानी कर सकते हैं तो कुछ ही क्षण हुए होंगे पीछे चलते हुये कि जतीन से रहा न गया। वह दौड़ कर डण्डेबाज के पास पहुँचा और एक जोर का धक्का दिया गोरा गिर पड़ा। जतीन ने उसके हाथ से डन्डा छीन लिया और उसी के सिर पर कसकर मारते हुए कहा– ले तिरेपन।"

आस-पास बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई। अपना अधिकार मद भूलकर अंग्रेज ऐसा भागा कि पीछे मुड़कर तक नहीं देखा। उस समय अंग्रेजों से बातें करने में भी लोग डरते थे। पता नहीं गोरे मालिक कब खफा हो जायें। ऐसे युग में किसी किशोर द्वारा इतना प्रबल प्रतिरोध अदम्य साहस का ही काम था। जतीन कोई जन्मजात ही साहसी पैदा नहीं हुआ था। बचपन में तो वह चूहों से भी डर जाया करता था, परन्तु पाँच वर्ष की आयु में ही दुर्दैव के प्रकोप और संघर्षमय परिस्थितियों ने उसे साहसी बना दिया था।

जन्म के पाँच साल बाद ही पिता का स्वर्गवास हो गया। उसके कुछ ही दिनों उपरान्त माँ भी चल बसीं। जतीन का पालन-पोषण उसके मामा के यहाँ हुआ। मामा और नाना अपनी बेटी की अन्तिम निशानी समझकर उसे बड़े लाड़-प्यार से रखते थे। फिर भी जिसका पूरा नाम ज्योतिन्द्र मुखर्जी था– अपने माता-पिता को भूल नहीं सका। निदान उसका ध्यान बटाया गया और पड़ौस के बच्चों को जतीन को साथ खिलाने के लिए कहा गया। उस समय आस-पास के सभी बच्चे कसरत करने जाया करते थे, अखाड़े में कुश्तियाँ भी चलतीं। जतीन भी उन बच्चों के साथ जाने लगा। दण्ड बैठक और कसरत कुश्ती में उसका मन अच्छी तरह लगा। व्यायाम और शारीरिक गठन के प्रति यह जागरूकता इतनी विकसित हो गयी कि जतीन ने किशोरावस्था में ही घुड़सवारी, तैराकी और लाठी तथा तलवार चलाना अच्छी प्रकार सीख लिया।

बल संवर्धन की प्रक्रिया मनुष्य को सहज ही आत्म विश्वासी बना देती है और वह सभी भयों से मुक्त हो जाता है। भयमुक्ति की सिद्धि ही साधक में साहस का संचार भी कर देती है। जतीन के नाना-मामा ने माता-पिता को भुलाने के लिए इस ओर प्रवृत्त किया तो वह डरपोक से साहसी और दुर्बल से सबल बन गया। पाँच सात वर्ष पूर्व जो जतीन घर से बाहर के व्यक्ति की उपस्थिति से भी झेंप जाता था, वही जतीन दूर देश के आक्रमक शासक वर्ग के लोगों को भी इस प्रकार ललकार सकता था। प्रगति की दिशा में उठाया गया कोई भी कदम व्यर्थ नहीं जाता। वह व्यक्ति के आत्मविकास में किसी न किसी प्रकार का सहायक ही सिद्ध होता है।

जतीन की शिक्षा-दीक्षा भी चलती रही। वहाँ भी गोरे अंग्रेज बच्चों की ज्यादतियाँ सहन करने के बजाय उन्हें पटखनी देने में ही मजा आता था। अंग्रेजों के प्रति घृणा से भर उठने का एक बड़ा कारण और भी था। सन् १९०५ की बात है, प्रिंस ऑफ वेल्स उन दिनों भारत आये हुए थे। कलकत्ता में उनकी सवारी निकलने जा रही थी। हजारों नर-नारी फुटपाथों पर जमा थे। एक गली के नुक्कड़ पर एक बग्घी खड़ी थी जिसमें कुछ महिलाएँ थीं। उन औरतों को परेशान करने के लिए पाँच छः गोरे युवक बग्घी की छत पर चढ़ गये और औरतों के मुँह के सामने पाँव लटकाकर बैठे सीटियाँ बजाने लगे। जतीन भी सामने फुटपाथ पर खड़ा था। औरतों के साथ उनके परिवार वाले भी थे परन्तु वे डर के कारण कुछ भी नहीं कह रहे थे। जतीन ने देखा और उससे नारी-जाति का, भारतीय समाज की मातृ-शक्ति का यह अपमान सहा नहीं गया। वह तुरन्त लपका और छत पर छहों गोरे युवकों के बीच चढ़ गया। इस अप्रत्याशित घटना से युवक सहम गये। वे कुछ समझने की स्थिति में आयें इसके पूर्व जतीन ने सबको बग्घी की छत से गिरा दिया।

उन सबने जतीन को पीटने और मजा चखाने की कोशिश की तथा धमकियाँ भी दीं परन्तु वह अप्रभावित ही रहा और बड़ी निडरता के साथ उनकी पिटाई करता रहा। निदान गोरे युवक अपमान का घूँट पीकर रह गये और भाग खड़े हुए। इस घटना के कुछ ही समय की बात है कि जतीन रेल से रानाघाट जा रहा था। उसके पास वाले डिब्बे में एक वृद्ध अपनी बेटी के साथ बैठा हुआ था। रास्ते में दो अंग्रेज उसी डिब्बे में चढ़े और लड़की के आस-पास बैठ गये। हालांकि डिब्बा काफी खाली था। वे लड़की के पास खिसककर उसे भींचने लगे। बेचारा वृद्ध व्यक्ति उनके सामने गिड़-गिड़ाने लगा परन्तु अधिकार मद से उन्मत्त गोरे आदमियों पर इसका कोई असर नहीं हुआ।

दूसरे स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो जतीन नीचे उतरा और सारा दृश्य देखा। वह समझ गया कि बात क्या है और लपककर उस डिब्बे में चढ़ गया। गोरे लोग अभी भी वही हरकतें कर रहे थे। डिब्बे में बैठे अन्य दूसरे यात्री बीच में बोलकर आपत्ति मोल नहीं लेना चाहते थे। परन्तु जतीन जो अन्याय और गर्वोन्मत्त के अनाचार के खिलाफ कोई भी खतरा उठाने का साहस रखता था, उन दोनों गोरों के पास गया और जोर से घूँसे मारे। गोरे फर्श पर लुढ़क गये।

अनाचारी पागलपन की हरकतों को चुपचाप सहते रहने से दुष्ट की उन्मत्तता भड़कती है । इन कृत्यों के प्रति उदासीनता आग में घी का काम करती है । जतीन इस तथ्य को बहुत अच्छी तरह समझता था इसी कारण उसने अपनी आँखों के सामने कभी न होने योग्य काम नहीं होने दिया ।

शरीर बल और सामर्थ्य की सार्थकता भी तो यही है । दुर्बल और पीड़ित व्यक्ति की अनाचारी और प्रमत्त आततायी से रक्षा करना ही शक्तिशाली का धर्म है । यह निष्ठा उसके व्यक्तित्व में चार चाँद लगा देती है । परन्तु अक्सर देखा यही गया है कि अच्छे-अच्छे लोग भी ऐसे अवसरों पर किनारा काट जाते हैं । जतीन में यह बात नहीं थी । इसीलिए भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में उसे चिरकाल तक याद किया जाता रहेगा ।

जतीन-ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी के जीवन का पूर्वार्द्ध इसी प्रकार बीता । अपनी सत्ता, अपना राज और अपने अधिकार के गर्व में अंग्रेज लोग निरपराध भारतीय जनता पर अत्याचार करते रहते थे । जतीन अपनी उपस्थिति में ऐसा होते देखकर बिना आगा-पीछा सोचे-विचारे बीच में कूद पड़ते थे और अंग्रेजों को ऐसी सीख देते कि उन्हें जीवनभर याद रहती । भले ही वह कोई सिपाही हो या अफसर । एक बार वे दार्जिलिंग जा रहे थे । जिस ट्रेन में वे सफर कर रहे थे उसी में चार अफसरों की देखरेख में एक सैनिक टुकड़ी भी जा रही थी । रेल के स्टेशनों पर उतरकर ये लोग बड़ी शान के साथ टहलते और यात्रियों को परेशान करने का मजा लेते ।

एक स्टेशन पर जतीन अपने बीमार सहयात्री के लिए पानी लेने उतरा । पानी का लोटा भरकर वह डिब्बे की ओर चल ही रहा था कि एक अफसर उससे टकरा गया। इस कारण जतीन के लोटे से थोड़ा-सा पानी गिर गया। अंग्रेज ने कसकर उसकी पीठ पर अपनी छड़ी भी जमा दी। जतीन ने उस समय तो कुछ नहीं कहा । पानी का लोटा रोगी साथी तक पहुँचाकर वे वापस आये और उस अंग्रेज अफसर की कलाई पकड़ कर मरोड़ दी । अन्य गोरे युवकों ने भी जतीन पर आक्रमण किया परन्तु उनके तेज तर्रार और बलिष्ठ बदन के सामने किसी की भी न चली । इस बात पर तो मुकदमा भी चला था परन्तु अंग्रेज न्यायाधीश ने पहली ही सुनवायी में उसे खारिज कर दिया क्योंकि इससे भारतीय नागरिकों का टूटा हुआ मनोबल बढ़ जाने की संभावना थी ।

ऐसी अनगिनत घटनाएँ हैं जो जतीन के स्वाभिमानी व्यक्तित्व से परिचित कराती हैं । अब उनकी साहसिकता देश-भक्ति में परिणित होने लगी । किशोरावस्था में ही वे भगिनी निवेदिता के संपर्क में आये। भगिनी ने इस स्वाभिमानी, साहसी और पराक्रमी वीर को स्वामी विवेकानंद के सामने प्रस्तुत किया। स्वामी जी ने इस होनहार किशोर की प्रशंसा की और प्रोत्साहित किया कि उन जैसे निडर लोग ही देश को आततायी अंग्रेजी शासन के पंजे से मुक्त करवायेंगे ।

स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा और प्रोत्साहन पाकर वे राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों में भाग लेने लगे । बाद में आध्यात्मिक जागरण के प्रणेता, राष्ट्रवाद के मसीहा और क्रान्तिकारी अरविंद घोष के सम्पर्क में आकर उन्होंने राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की पतली धारा को तेज बहाव में बदला । श्री अरविंद ने देश के युवकों को आह्वान किया और कहा कि- "भारत जमीन का एक टुकड़ा नहीं, यहाँ की भूमि हमारी माता है । सिन्धु, हिमालय विस्तीर्ण भारत देश की भूमि हमारा जननी और माँ है । मातृ-सत्ता के रूप में ही हमें इसकी प्रतिष्ठापना करनी होगी ।"

जतीन ने इन विचारों को पूरी तरह अपने हृदय में बिठा लिया और वे क्रान्ति दृष्टा अरविन्द के निकटतम सम्पर्क में आते गये । इन दोनों महामानवों में गुरु शिष्य का सा सम्पर्क स्थापित हो गया । अरविंद अपने सभी साथियों से अधिक विश्वास जतीन पर करते थे । अपनी आशा आकांक्षाओं को पूरी करने की सामर्थ्य उन्हें इन्हीं में दीख पड़ी थी । राजनीति के आकाश पर जब अरविंद का सितारा सूर्य की भाँति चमकने लगा तो उन्होंने अपनी बाह्य गतिविधियों को समेटकर तपश्चर्या द्वारा जनमानस के आलोड़न की राह ली । जिस समय उन्होंने पाण्डिचेरी जाने का निर्णय लिया तो उनके साथी बड़े क्षुब्ध और निराश हुए । वे अनुभव करने लगे कि "हम अब नेतृत्व विहीन हो गये हैं । " किसके मार्गदर्शन में अब काम करेंगे यह समस्या उन्हें कचोटने लगी ।

अपनी व्यथा और समस्या को सभी साथियों ने अरविंद के सामने रखा तो समाधान मिला- मैं जा रहा हूँ परन्तु इसके कारण तुम लोगों को चिन्तित नहीं होना चाहिए और न ही निराश । क्योंकि अब तुम्हें एक योग्य, साहसी, वीर और देशभक्त नेता का अनुशासन मिलेगा और वह नेता है ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी । जतीन को ही तुम अपना नेता मानो ।"

अरविंद के निर्णय से उनके व्यक्तित्व को पूजने वाले जतीन का भी व्यथित होना स्वाभाविक था । उन्होंने भी अपने नेता के साथ जाने की इच्छा व्यक्त की तो प्रेरणा मिली- हर मोर्चे पर जूझने के लिए सभी साथियों को अलग-अलग उत्तरदायित्व सौंपना और निभाना आवश्यक है । महाभारत के अर्जुन की तरह स्वातंत्र्य समर में अनीति के विरुद्ध नीति और अन्याय के खिलाफ न्याय की लड़ाई पर मोर्चा लेना ही जतीन की निर्धारित साधना है । जतीन

के अन्तःकरण ने प्रतिपादन को स्वीकार किया और क्रान्तिकारियों का नेतृत्व सम्हाला ।

योगी अरविंद उन्हें बाद में भी कर्मयोगी कहकर प्रोत्साहित करते रहे । स्वयं जतीन भी अपने को कर्मयोग की भट्टी में तपाकर इस योग्य बन गये थे कि वे अपने साथियों के विश्वासपात्र और बड़े भाई समझे जाते रहे। उनके एक अतरंग सहयोगी ने अपने दादा का रेखाचित्र बनाते हुए लिखा है । हम उन्हें बस 'दादा' कहते थे । वे अपने जमाने के सबसे अद्वितीय व्यक्ति थे ।

योगीराज अरविंद के अज्ञातवास में जाते ही विदेशी शासकों की षड्यन्त्र भरी बंग-भंग योजना सामने आयी । इस दुरभिसन्धि को विफल बनाने के लिए जनता ने सम्मिलित प्रतिरोध करने की ठानी । क्रान्तिकारियों ने इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया । उस समय जनता में विदेशी शासकों के प्रति विद्रोह का भाव अपने चरम-बिन्दु पर था । देश भर में आंदोलन चला । ज्यों-ज्यों आंदोलन जोर पकड़ता गया सरकार का दमन चक्र भी क्रूर और दानवी होता गया ।

जन भावनाओं का दमन वह भी आतंक के बल पर कोई भी सरकार सफल नहीं रही है । इतिहास इस बात का साक्षी है । मन की पाशविक प्रक्रिया विद्रोह की आग को कुछ क्षणों के लिये भले ही कम कर दे, परन्तु वह अन्दर ही अन्दर तो सुलगती रहती है और जब विस्फोट होता है तो बड़ी से बड़ी संहारक शक्तियाँ और साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं ।

शताब्दियों से भारतीय समाज पर किये जाने वाले अत्याचारों की भी प्रतिक्रिया अन्दर ही अन्दर सुलगती रही और बंग-भंग योजना का प्रतिरोध करते समय फूट पड़ी । उस समय देश का बच्चा-बच्चा आततायी के सामने खुल कर मुकाबला करने के लिए आ खड़ा हुआ । निःसंदेह उनके प्रेरणा-स्रोत यही क्रान्तिकारी रहे थे जो लुक-छुप कर अपनी देशमाता की बेड़ियाँ काट फेंकने के प्रयास कर रहे थे । जतीन और उनके साथियों ने इस हवा में अपनी गतिविधियाँ और भी तेज कीं । सरकार भी उन लोगों के पीछे हाथ धोकर पड़ गयी ।

सरकारी जासूसों ने मानिकतला में अरविन्द का बम कारखाना पकड़ लिया और उन पर मुकदमा चलाया । उनके कई साथी पकड़े गये, जतीन भी गिरफ्तार हुए और उन्हें जेल में ठूँस दिया गया ।

पन्द्रह महीनों तक उन्हें जेल में तरह-तरह की यंत्रणायें दीं । परन्तु जतीन ने स्वाभिमान के साथ अपना सिर ऊँचा रखा और इन यंत्रणाओं की पीड़ा में कभी मुँह से उफ तक नहीं किया और न ही क्रान्तिकारियों के गुप्त संगठन के लिए जुबान खोली । यंत्रणाएँ देने वाले अधिकारी परेशान हो गये और उन्होंने दूसरी युक्ति से काम लिया, मुकदमे में सरकारी गवाह बनाने, खूब सारा इनाम देने, अच्छी नौकरी दिलवाने और सरकार से मैडल प्रदान करने का प्रलोभन दिया परन्तु जतीन के लिए तो जैसे ये सब कुछ बेकार था ।

एक प्रेम-योगी भक्त जिस प्रकार अपने आराध्य इष्टदेव के लिए किसी भी सिद्धि-प्रलोभन को ठुकरा देता है, जतीन भी अपने इष्टदेव के लिए प्रलोभनों को दुत्कारते हुए ठुकराते चले गये । अविचल और चुप रहकर किसी भी प्रकार का बयान या स्वीकारोक्ति न देने के कारण पुलिस उनके खिलाफ कोई भी अभियोग सिद्ध नहीं कर पायी । इसलिये न्यायाधीश ने उन्हें २१ फरवरी, १९११ को रिहा कर दिया ।

अब जतीन ने भूमिगत रहकर अपनी गतिविधियाँ चलाना आरम्भ किया । उन्होंने एक व्यापारिक फर्म खोल ली और पुलिस की निगाह में दुनियादार बन गये । उन अधिकारियों को जो उनके कारण बड़े चिंतित रहते थे थोड़ी राहत मिली । परन्तु जतीन तो इस सबकी आड़ में उग्र विचारों वाले लोगों से संपर्क साध रहे थे ।

भूमिगत रहकर ही उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम की दो सूत्री योजना बनाई । जिसके पहले सूत्र में भारतीय जनता को मातृभूमि के प्रति उत्कट प्रेम करने और विदेशी शासन का जूआ उतार फेंकने के लिए प्रेरित करने की व्यापक योजना थी। दूसरे सूत्र में उन विदेशी-इंग्लैण्ड विरोधी-भारतीय क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखने वाले राष्ट्रों से सहायता प्राप्त करने की योजना थी । इन दोनों कार्यक्रमों पर उन्होंने तत्काल अमल किया और सन् १९०६ में ही विदेश में बसे भारतीय लोगों तथा वहाँ की सरकारों से संपर्क साधना आरम्भ किया ।

जतीन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि खूब सोच विचार करने के बाद बनाई गई योजना को वे तुरन्त क्रियान्वित कर डालते थे । इस विशेषता ने उन्हें बड़ी-बड़ी सफलताओं का उपहार दिया । कई प्रतिभाशाली और समर्थ लोग भी योजनाएँ बनाकर ठण्डे पड़ जाते हैं, शायद वे नहीं जानते कि इस प्रकार वे अपनी क्रिया शक्ति और उत्साह को शिथिल बनाये दे रहे हैं ।

जतीन ने क्रान्तिकारियों के प्रतिनिधियों को जर्मनी, रूस, अमेरिका और कई यूरोपीय देशों में भेजा । वे स्वयं भी कई अधिकारियों से मिले । इस सम्पर्क अभियान में उन्होंने काफी शस्त्र सहायता प्राप्त की और आर्थिक सहयोग भी मिला ।

इस सहायता और स्वयं बनाये शस्त्रास्त्रों द्वारा जतीन और उनके साथियों ने युवकों को जो देशभक्तिपूर्ण भावनाओं से भरे हुए थे- प्रशिक्षित करना आरम्भ कर दिया और साथ ही सशस्त्र क्रान्ति का बिगुल भी बजाया। इस क्रान्ति को सफल बनाने के लिए विदेशों में कई संगठन बनाये गये थे जो गुप्त रूप से धन, सूचनाएँ और शस्त्रास्त्र- कलकत्ता में इसी उद्देश्य से खोली गयी

'हेरी एण्ड कम्पनी' नामक आयात-निर्यात कम्पनी के माध्यम से यहाँ भेजते रहते थे ।

२१ फरवरी, १९१५ को विद्रोह की पहली मुहिम चलायी गयी । रासबिहारी बोस ने फोर्ट विलियम के सैनिकों को अपनी ओर मिला लिया । देशभर के क्रान्तिकारियों को इसकी सूचना दे दी गयी । किन्तु बोस के ही एक साथी ने धोखा दिया और सारी योजना विफल हुई । पुलिस ने षड्यन्त्रकारियों को गिरफ्तार कर लिया बोस तो भाग निकले परन्तु जतीन के ही एक अनन्य सहयोगी एम. एन. राय पकड़ लिये गये । जतीन किसी भी प्रकार अपने इस बायें हाथ को गँवाना नहीं चाहते थे । इसलिए उन्होंने बड़े साहस से काम लिया और अपने साथी को छुड़वा लिया । उस समय पुलिस बड़ी सरगर्मी से उनकी तलाश कर रही थी । एम. एन. राय को छुड़वा लेने में जतीन का ही हाथ था यह जानकर पता चला कि वे कलकत्ता में ही हैं । उस समय वे इस मुस्तैदी और सतर्कता के साथ अपने काम में लगे हुये थे कि किसी को भी अब तक उनके बारे में ऐसी शंका नहीं हुई ।

पुलिस खोजने को कदम उठाये इसके पूर्व ही वे कलकत्ता की सीमा से बाहर निकल गये । उस समय कुछ विदेशी जहाजों द्वारा गोला-बारूद भी आने वाला था इसके लिए भी उनका पहुँचना जरूरी था । इस जहाज से माल उतारने के लिए वे उड़ीसा पहुँचे और बालासोर में ठहरे जो काप्टीपाड़ा के निकट है । कलकत्ता पुलिस को इसका सुराग मिल गया कि जतीन अपने साथियों सहित उड़ीसा पहुँच गये हैं और वह पुलिस सूँघती-सूँघती काप्टीपाड़ा पहुँच गयी ।

जिस समय पुलिस उनके निवास स्थान पर पहुँची वे वहाँ नहीं थे तो सभी सिपाही चारों और दौड़ाये गये और गाँवों में भी यह खबर फैला दी कि कुछ भयंकर डाकू निकल भागे हैं । ८ सितम्बर, १९१५ को आखिर पुलिस से मुठभेड़ हो ही गयी और वे शहीद हो गये । यद्यपि उनके साथियों ने उन्हें बचकर भाग निकलने के लिए कहा परन्तु जतीन ने कहा- ''हम उस वीर परम्परा के अनुयायी हैं जिसके अनुसार सब लोगों को खतरे में छोड़कर स्वयं भाग निकलना घोर पाप है ।''

निःसन्देह इस भ्रामक-प्रचार के कारण जतीन को मार देने में ग्रामीण लोगों ने भी सहयोग दिया कि वे भयंकर डाकू हैं । बाद में जब उन लोगों को पता चला कि यह आदमी मुक्ति का मसीहा था तो उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ ।

ज्योतिन्द्र नाथ मुखर्जी को लोग जतीन के नाम से ही जानते हैं । वे एक ऐसे युग में, ऐसे सत्पुरुष के रूप में सामने आये जब देश को उनकी बहुत आवश्यकता थी। मातृभूमि को आराध्य मानकर, ईश्वर समझकर उसकी पूजा करने वाले ज्योतिन्द्र सच्चे आस्तिक और ईश्वर भक्त के रूप सदैव याद किये जाते रहेंगे ।

शौर्य और पराक्रम के प्रतीक बाघा जतीन्द्र

स्वाभिमानी जतीन्द्रनाथ मुखर्जी अच्छे डील-डौल के स्वामी थे, हृष्ट-पुष्ट काया और शक्तिशाली भुजाओं के मालिक थे ,साथ ही साथ उनमें साहस भी गजब का था। इसी कारण उनका नाम बाघा जतिन पड़ा था । बाघा नाम पड़ने की एक रोचक कहानी है । इन दिनों वे अपनी माँ के साथ मामा के गाँव में रहते थे । ननिहाल एक छोटा-सा गाँव था जिसके आस-पास घने वन भी थे। उन वनों में व्याघ्र, चीते और शेर आदि हिंस्र पशु खूब थे ।

वे किसी काम-काज और दायित्व से तो मुक्त ही थे । एक ही काम था पढ़ना-लिखना और मौज-मजे उड़ाना । अक्सर वे मनोरंजन के लिए जंगल में निकल जाया करते थे । एक बार उन्होंने चीते के बच्चे देखे और मन रीझ गया कि इन्हें पालना चाहिए । बस फिर क्या था, वे चीते के तीन बच्चे जंगल में से पकड़ लाये और घर आ गये । माँ ने देखा तो यतीन्द्र को एक डाँट पिलाई और बड़ी मुश्किल से चीते के बच्चों को वापस जंगल में रखवाने के लिए राजी किया ।

एक और दूसरी घटना है । मामा के गाँव कोया के पास वाले वन में कोई बाघ नरभक्षी हो गया था । जिस हिंसक पशु की डाढ़ में मनुष्य का खून लग गया हो वह फिर दूसरे जानवरों को अपना आहार बनाना पसन्द नहीं करता । इसलिए वह नरभक्षी बाघ आये दिन गाँव में घुस कर लोगों के बच्चे उठा ले जाता, इक्के-दुक्के कोई आदमी मिल जाता तो उसे भी मार डालता । गाँव वाले बड़े त्रस्त हो उठे और यतीन्द्रनाथ से यह सब देखा नहीं गया । एक दिन वे बिना कोई हथियार लिए निकल पड़े- नरभक्षी बाघ का शिकार करने हेतु । कुछ दूर जाने पर ही बाघ दिखाई दिया । बाघ ने भी उन्हें देखा और झपट पड़ा। यतीन्द्र बाबू एक शक्तिशाली और बलवान काया के स्वामी तो थे ही । वे भी बाघ से जूझ पड़े और दोनों की खूब कुश्ती हुई । बाघ ने बड़ी कोशिश की कि यतीन्द्र को मार डाले और अपना आहार बना ले पर उसकी एक न चली और यतीन्द्र बाबू ने बड़े साहसपूर्वक बाघ का काम तमाम कर दिया । इस कुश्तम-पछाड़ में उन्हें बड़ी चोटें आयीं और महीनों तक उन्हें अस्पताल में रहना पड़ा पर इस घटना ने उन्हें पूरे क्षेत्र भर में विख्यात कर दिया । खाली हाथ नरभक्षी बाघ का शिकार करने के कारण उनका नाम बाघा जतीन्द्र पड़ गया ।

राजनैतिक और सामाजिक क्रान्ति के सूत्रसंचालक-

मास्टर अमीरचंद्र

जैसा कि उन दिनों की सामान्य परम्परा थी, उनका विवाह बचपन में ही छोटी आयु में हो गया था । उन्हें तब इतनी समझ ही नहीं थी कि वे विवाह जैसे महत्वपूर्ण संस्कार के दायित्वों और उपयोगिता को समझ सकें या अपना मत प्रकट कर सकें । उनके लिए तो यह भी एक तमाशा भर था । बैण्ड बाजे, भोज, बारात, घुड़चढ़ी, बिनोली, सप्तपदी, सुन्दर-सुन्दर-सजीले-भड़कीले वस्त्र, भीड़-भाड़ और उत्सव उनके बाल मन को कौतूहल मात्र लगे थे और जैसा उनके माता-पिता कहते गये थे वे करते गये थे और इस प्रकार खाने-खेलने की आयु में ही वे परिवार वाले हो गये थे ।

विधि का विधान कुछ ऐसा था कि युवावस्था में ही उनकी सहधर्मिणी दिवंगत हो गई तो लोगों ने उन्हें दूसरा तमाशा करने के लिए प्रेरित किया किन्तु अब तो वे बच्चे नहीं थे । समझते थे सब कुछ, अतः वे बोले- "जब स्त्रियों का पुनर्विवाह नहीं होता तो मुझे क्या अधिकार कि मैं पुनर्विवाह कर लूँ । विधवाओं का विवाह प्रचलित हो तो मेरा विवाह करना न्यायसंगत है ।"

लोगों ने समझाया-"कैसी बातें करते हो । अभी तो तुम्हें लड़का बच्चा भी नहीं हुआ । पच्चीस वर्ष की उम्र ही क्या उम्र होती है । क्या जीवन भर अकेले ही रहोगे ? औरतें तो औरतें हैं उन्हें मर्दों का बराबरी का हक कैसे मिल सकता है ?"

"मैं दोनों को बराबर समझता हूँ । हमारे देश में भी पहले स्त्रियों को पुरुषों के समान ही माना जाता था । मैं तो समता के इस मानवीय अधिकार का हनन नहीं कर सकता । मेरी मृत्यु हो जाती तो मेरी पत्नी को जीवन भर अकेला ही रहना पड़ता- वैधव्य काटना पड़ता तो मैं कैसे पुनर्विवाह कर लूँ ।"

समता के मानवीय अधिकार के ये पक्षधर थे दिल्ली नगर निवासी मास्टर अमीरचन्द्र, जिन्हें भारतवर्ष के महान क्रान्तिकारियों में माना जाता है । २३ दिसम्बर, १९१२ के दिन लार्ड हार्डिंग्ज पर बम फेंकने के षड्यंत्र के अपराध में उन्हें ८ मई, १९१५ को दिल्ली में भाई बालमुकुन्द और अवधबिहारी के साथ फाँसी की सजा दी गई । ये भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के वे रत्न हैं जिनकी कांति आज भी क्षीण नहीं हुई है और न भविष्य में होगी ।

क्रान्ति को मास्टर साहब ने अपने धर्म के रूप में स्वीकारा था । वे राजनैतिक क्रान्तिकारी के रूप में तो स्मरणीय हैं ही, उन्होंने सामाजिक क्रान्ति भी कम नहीं की । पिताजी अच्छे सम्पन्न व्यक्ति थे । भाई आदि कोई उत्तराधिकारी था नहीं उनकी सम्पदा का, पत्नी युवावस्था में ही उन्हें पारिवारिक दायित्वों से मुक्त कर गई थी । अब उनके पास पूरा जीवन था और पिता की पर्याप्त सम्पत्ति भी थी । इनका सदुपयोग क्या हो ? इस सम्बन्ध में विचारने पर उन्हें दो ही मार्ग नजर आये एक तो सामाजिक क्रान्ति और दूसरा राजनैतिक क्रान्ति, इन्हीं को उन्होंने पिता और पत्नी का श्राद्ध समझा ।

उन्होंने विधवा सभा नामक एक संस्था का गठन किया, जिसका उद्देश्य विधवाओं की आर्थिक स्थिति सुधारना, समाज में उन्हें सम्मानित स्थान दिलाना और विधवा-विवाह का प्रचलन करना था । उन्होंने कई आदर्शवादी नवयुवकों और विधुरों को विधवा-विवाह करने के लिए तैयार किया और विधवा-विवाह सम्पन्न करवाये । उन्होंने इसी उद्देश्य से एक पत्रिका का प्रकाशन भी किया ।

उस समय विवाह तथा भोज आदि के अवसरों पर जनसामान्य में वेश्याओं का नाच कराने का रिवाज प्रचलित था । इससे धन हानि और चरित्र हानि दोनों ही होती थी । मास्टर साहब ने इस अविवेकपूर्ण प्रचलन को बन्द करने के लिए बहुत काम किया । सार्वजनिक क्षेत्र में उनके द्वारा किए गये ये शक्तिभर प्रयास अपनी कम अहमियत नहीं रखते उस समय के संदर्भ में ।

मास्टर अमीरचंद का जन्म सन् १८६९ में हुआ था । आपके पिता हुकुमचन्द हैदराबाद दक्षिण रियासत की लेजिस्लेटिव असेम्बली के सेक्रेटरी थे। उनकी कानूनी जानकारी इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि कहते हैं उनकी लिखी हुई पुस्तकें वकीलों और बैरिस्टरों के लिए पाठ्य-पुस्तक के रूप में प्रयुक्त होती थीं । वे कई बार राज्य की ओर से ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया से मिलने भी गये थे ।

ऐसे रियासती और ब्रिटिश साम्राज्यवादी रंग में रंगे हुए पिता के पुत्र का इस प्रकार क्रान्तिकारी हो जाना एक आश्चर्य की बात थी । उनका अपना राष्ट्रवादी और समाजवादी दृष्टिकोण ही था कि वे अपने पिता की तरह किसी स्टेट के दीवान या ब्रिटिश साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी बनने की अपेक्षा क्रान्तिकारी और समाज सुधारक बने । उन्होंने अपने अकेले की प्रगति की ओर ध्यान देने की बजाय देश और समाज के सामान्य जन की प्रगति की ओर ध्यान केन्द्रित किया ।

उन्होंने दिल्ली के मिशन स्कूल और मिशन कॉलेज में शिक्षा ग्रहण करने के बाद वहीं के एक स्कूल में अध्यापक बनना पसंद किया । उनके पिता ने उन्हें बहुत समझाया कि वे अध्यापकी का काम करने की बजाय किसी राजा या अंग्रेज सरकार की सेवा में रहकर उच्च पद

प्राप्त करें पर वे तो अपनी अध्यापकी में स्वार्थ और परमार्थ दोनों की साधना करना चाहते थे । अध्यापक के काम में उन्हें इतनी आय हो जाती थी कि उनका खर्च भी चल सके और कभी-कभार किसी जरूरतमन्द की सहायता भी कर सकें ।

इन्हीं दिनों पता चला कि संस्कृत स्कूल नामक एक विद्यालय बन्द होने जा रहा है तो उन्होंने मिशन स्कूल का अच्छा वेतन छोड़कर उसका प्रशासक प्रधानाध्यापक बनना स्वीकार कर लिया अल्प वेतन में । उनके पुण्य प्रयास से बन्द होता संस्कृत स्कूल पुनः चल निकला । जब दिल्ली में रामजस स्कूल खुला तो उसमें भी उन्होंने अवैतनिक अध्यापक का काम किया । इसी कारण उनके नाम के साथ 'मास्टर' का सम्मानसूचक विशेषण जुड़ गया । शिक्षा प्रसार में ही वे सामाजिक और राजनीतिक जागरण के बीजांकुर देखते थे । अतः मास्टरी उनके लिये पेट पालने का साधन नहीं आत्मा की भूख मिटाने जैसा, ईश्वरोपासना जैसा सुकृत्य था । अध्यापक वर्ग के लिए उनका यह जीवन गौरव की वस्तु भी है और प्रेरणा का स्रोत भी ।

अंग्रेज साम्राज्य के प्रतिनिधियों और पदाधिकारियों ने समझा था १८५७ की क्रान्ति का दमन हो जाने के कारण भारतीय जनता हार मान गई है । उसकी क्रान्ति की शक्ति समाप्त हो चुकी है किन्तु यह उनकी भूल थी । क्रान्ति कभी समाप्त नहीं हो सकती । रात्रि के बाद सूर्योदय सुनिश्चित है, इस तथ्य को जानने वाले क्रान्तिधर्मी जाग्रत विवेक पुरुष सूर्योदय होने से पूर्व ही प्रभात फेरी करने लगते हैं । उनका 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई' का रव जाने कितनों को ही नव प्रभात के आगमन के साथ ही अपना जीवन क्रम चला देने के लिए जाग्रत कर देता है ।

राख में दबी चिंगारी की तरह १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन के रूप में वह फिर भड़की । उस आन्दोलन को दबाने के सरकारी प्रयासों के समानान्तर वहाँ क्रान्तिकारियों की गुप्त गतिविधियाँ तेज होती गईं । १९१२ में वायसराय की भव्य शोभायात्रा पर फेंके गये बम और उनके भयंकर विस्फोट ने इस तथ्य को उजागर करके रख दिया कि अन्धकार में भी प्रकाश के सूजेता बैठे रहते हैं और उनकी विद्युत प्रभाएँ जब प्रकट होती हैं तो लोग चमत्कृत रह जाते हैं ।

इतिहास दोहराता है अपने आपको । दिल्ली की पुरानी सैन्ट्रल जेल से थोड़ी ही दूर जिस स्थान पर कप्तान हडसन ने १८५७ में मुगल शहजादों-मिर्जा मुगल, मिर्जा खिजर सुल्तान और मिर्जा अबूबकर को गोली का निशाना बनाया था, जिस स्थान पर शाही खानदान के इक्कीस व्यक्तियों को फाँसी दी थी, उसी स्थान पर १९१५ में मास्टर अमीरचन्द, भाई बालमुकुन्द और अवध बिहारी नामक भारत माँ के लाड़लों ने हँसते-हँसते फाँसी के फन्दों को चूमा । क्रान्ति का एक निखरा हुआ रूप और सामने आया इस दिन ।

मास्टर अमीरचन्द का यह बलिदान एक सामयिक जोश मात्र नहीं था । वे वर्षों से लोगों में स्वाधीनता की भावना का नवोन्मेष करने के लिए व्यापक, व्यवस्थित और योजनाबद्ध तरीके से इस दिशा में काम करते आ रहे थे । १९०७ में जब दिल्ली में ट्राम चली तो उन्होंने अपने साथियों सहित उसका विरोध किया, क्योंकि ट्राम चलाने वाली कम्पनी विदेशी थी, साथ ही इससे ब्रिटिश शासन के पाँव मजबूत होते थे ।

बंग-भंग के आन्दोलन के साथ ही स्वदेशी आन्दोलन चला तो दिल्ली नगर में उसका पृष्ठपोषण करने वाले मास्टर जी ही थे । उन्हीं के प्रयासों से किनारी बाजार में स्वदेशी स्टोर खुला और वे शिक्षा के क्षेत्र के साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र में भी उतर आये ।

स्वदेशी स्टोर तो एक शुभारंभ था । लोगों में स्वदेश प्रेम की भावनाएँ जगाने और विदेशी दासता का जुआ उतार फेंकने की उमंग, उत्साह और संकल्प जगाने के लिए उन्हें नेशनल वाचनालय खोलना पड़ा, जहाँ देश-भक्तिपूर्ण साहित्य रखा जाता था । यों ऐसी थोड़ी-सी पुस्तकें और राष्ट्रीय नेताओं के चित्र स्वदेशी स्टोर में भी रखे गये थे, पर वे पर्याप्त नहीं थे । इसीलिये इस नेशनल वाचनालय की स्थापना करनी पड़ी थी ।

वाचनालय स्थापना के साथ ही उनके सामने दो समस्यायें आयीं । एक तो लोगों को वाचनालय में पढ़ने आने की रुचि व अभ्यास ही नहीं था और दूसरी बात यह थी कि हिन्दी-उर्दू में ऐसे साहित्य की भी बहुत कमी थी जो कि पाठकों के दिल में देश-भक्ति और क्रान्ति का जोश उत्पन्न कर सके । सरकार तो ऐसे कार्यों के विरुद्ध थी ही । घर-घर जाकर लोगों को पुस्तकें देने और लाने का काम और उन्हें उनके सहारे वाचनालय में आकर पढ़ने के लिए तैयार करने का काम भी मास्टर साहब और उनके साथियों को करना पड़ा । धीरे-धीरे लोगों को वाचनालय में आकर विचारोत्तेजक और देश-भक्तिपूर्ण साहित्य पढ़ने की आदत पड़ने लगी ।

अब तक हिन्दी-उर्दू में दो प्रकार का साहित्य ही मुख्य था । एक तो बाजारू जो घटिया और कुरुचिपूर्ण था, दूसरा धर्म और भक्ति का जो क्रान्तिकारी भावनाएँ जगाने के लिए उपयुक्त नहीं था । सो उन्हें अभीष्ट साहित्य प्रकाशन का काम भी स्वयं ही करना पड़ा । नेशनल वाचनालय की ओर से कुछ पुस्तकें छापी गईं । किन्तु यह क्रम भी आगे नहीं चल सका क्योंकि सरकार ऐसे

प्रकाशकों और मुद्रकों को परेशान करती थी जो देश-भक्तिपूर्ण साहित्य छापते थे । 'आफताब' पत्र और 'आफताब' प्रेस को सरकार द्वारा बन्द कर दिए जाने पर तो यह भय और भी गहरा हो गया और मुद्रकों ने नेशनल वाचनालय की पुस्तकें छापने से पूरी तरह इन्कार कर दिया।

अब क्या किया जाय ? प्रेस वाले पुस्तकें छापने को तैयार नहीं और इसका अर्थ था अपने काम को बन्द कर देना, जिसे वे किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं करना चाहते थे । अतः उन्होंने अपना प्रेस खोल लिया-नेशनल प्रेस । पर समस्याओं का अन्त यहाँ भी नहीं हुआ । सरकार की कोप दृष्टि के शिकार नेशनल प्रेस में हर कोई अपना छपाई का काम करवाने से डरता था और केवल नेशनल वाचनालय की पुस्तकों से प्रेस का पेट नहीं भरता था । इस कारण गणेशलाल खास्ता के सम्पादकत्व में मास्टर जी ने 'आकाश' नाम का देशभक्तिपूर्ण पत्र निकाला ।

नेशनल प्रेस में भी उन्होंने अपनी पैतृक पूँजी लगाई थी । पहले ही नेशनल वाचनालय में वे उसका बड़ा अंश लगा चुके थे । पत्रकारिता और विशेषकर निष्पक्ष और सरकार विरोधी-स्वतंत्रता समर्थक पत्रों का प्रकाशन तो घाटे का सौदा था ही । आदर्शवादी मास्टर साहब पत्र में विज्ञापन छापने के भी विरुद्ध थे । स्वाभाविक ही था पत्र घाटे में चलता । वे इस घाटे का पेट भरने के लिए स्वयं नौकरी करते और अपनी निजी पूँजी से उसे पूरा करते और सम्पादन का श्रेय दूसरे सहयोगियों को देते ।

चन्दा माँग कर घाटे को पूरा करना भी एक तरीका था पर वे जब तक अपने पास पैसा है तब तक दूसरे से न माँगने की नीति के समर्थक थे । पहले स्वयं को लुटाने के बाद ही कोई दूसरे से चन्दा माँगने का अधिकारी होता है- यह सोचकर वे घाटे को सहते रहे।

वे स्वामी रामतीर्थ के ओजस्वी भाषणों से बहुत प्रभावित थे । उन्हें उनके अध्यात्म में वे सब तत्व दिखाई पड़ते थे जो उस समय के समाज-शरीर के विकास के लिए आवश्यक थे । उनके भाषणों का एक संग्रह भी प्रकाशित किया, 'ईश्वर उपलब्धि अरण्यों में' के नाम से ।

१९०९ में उन्होंने एक स्वदेशी प्रदर्शनी का आयोजन किया। जिसमें देश भर के व्यावसायिक, कला, कौशल और हस्तशिल्प की वस्तुओं की दुकानें लगाई गयीं थी । इसका उद्घाटन लाला लाजपत राय करने वाले थे । उनके इस आगमन से प्रदर्शनी की कार्यकारिणी समिति आर्थिक लाभ उठाना चाहती थी । उन्होंने उनके भाषण सुनने वालों के लिए प्रवेश शुल्क रखा । आदर्शवादी मास्टर जी को यह औचित्यपूर्ण नहीं लगा सो वे स्वयं भी उनके भाषण सुनने से वंचित रहे ।

१९११ में अंग्रेजों ने अपनी राजधानी कलकत्ता से दिल्ली बदल दी । जनता पर रौब गालिब करने के लिए तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग्ज ने २३ दिसम्बर, १९१२ के दिन एक विशाल शोभायात्रा निकालने की योजना बनाई । यह सब बड़ी तैयारी और योजना के साथ हुआ, पर उनकी इस योजना के समानान्तर मास्टर अमीरचन्द, रास बिहारी बोस, भाई मुकुन्दी लाल आदि भी अपनी योजना बना चुके थे इस रोग को समाप्त करने के लिए ।

निश्चित दिन निश्चित समय पर ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि का जुलूस निकला, अपनी शान के अनुरूप ही । आखिर था भी किसका जुलूस-उस सम्राट के प्रतिनिधि का जिसके राज्य में सूर्यास्त कभी नहीं होता था । भारत के राजे, महाराजे तथा नवाब ही नहीं आस-पास के द्वीपों के प्रतिनिधि भी अपनी पूरी शान के साथ उपस्थित थे । जनता भी तमाशबीन की तरह यह सब देख रही थी, किन्तु यह क्या ! चाँदनी चौक की ओर बढ़ते हुए जुलूस में एक भयंकर धमाके के साथ ही भगदड़ मच गई । सम्राट के प्रतिनिधि पर बम फेंका गया था । चंद क्रांतिकारियों द्वारा महामहिम सम्राट और उसके प्रतिनिधि के अन्याय, अत्याचार पूर्ण शासन के विरोध में भारतीय जनता की तरफ से यह एक बड़ा जोरदार और प्रत्यक्ष प्रदर्शन था । पुलिस विभाग ने इस षड्यन्त्र का पता लगाने और इसके मुखिया को पकड़ने के लिए जमीन-आसमान एक कर दिया, पर मास्टर अमीरचन्द और उनके संगी-साथी ऐसे गायब हुए कि महीनों तक पुलिस को कुछ भी पता नहीं लगा, पर धीरे-धीरे कई शहरों में उन्होंने छोटे-मोटे कार्यकर्त्ताओं को पकड़ा और उनको धमकाकर तथा यन्त्रणा देकर कुछ भेद की बातें मालूम कीं । तब कहीं जाकर मास्टर अमीरचन्द और उनके मुख्य साथी पुलिस की गिरफ्त में आ सके । यद्यपि अदालत में फिर भी पुलिस मास्टर साहब का दोष पूरी तरह सिद्ध नहीं कर सकी, पर मुकदमे के महत्व को देखते हुये और जनता की भावनाओं को दबाने के उद्देश्य से सभी अभियुक्तों को कठोर दण्ड दिया गया । मास्टर अमीरचन्द अपने दो देशभक्त मित्रों सहित फाँसी के तख्ते पर झूल गये पर उन्होंने अन्तिम क्षण में भी 'भारत माता की जय' का नारा लगाते हुए भी अपनी जीवन लीला समाप्त की।

मास्टर अमीरचन्द जैसे देशभक्त समाज-सेवियों और समाज सुधारकों की आज इस देश की बड़ी आवश्यकता है।

एक और भगतसिंह-

हेमूकलानी

पुराने सक्खर (सिन्ध) में एक विख्यात कलानी परिवार रहता था । गरीब किसान किन्तु देश-भक्त परिवार। इसी परिवार का एक बारह-तेरह वर्ष का किशोर अपने एक

कमरे में स्टूल पर खड़ा था । ऊपर एक रस्सी का फन्दा झूल रहा था । किशोर ने फन्दा गले में पहन लिया । देखने से लगता था शायद वह आत्महत्या का प्रयास कर रहा है।

अचानक पिता ने कमरे में प्रवेश किया । देखा तो हक्का-बक्का रह गया । दौड़कर अपने बेटे को स्टूल से उतारा और गले से लगा लिया । गदगद कंठ से पूछा- ''क्या हुआ बेटा ! यह क्या कर रहा था ।''

''कुछ नहीं पिताजी ''- किशोर ने सहज मुस्कान लुटाते हुए कहा ।

''फिर यह सब क्या नाटक है ?''- पिता ने उसी आश्चर्य से पूछा ?

''फाँसी लगने पर कैसा महसूस होता है, मैं यह देख रहा था ।''

''फाँसी ! तुझे फाँसी कौन लगायेगा मेरे बच्चे !''

''आखिर मुझे भी एक दिन फाँसी पर चढ़ना होगा । अपने देश के लिए, आजादी के लिये, शहीदे आजम भगतसिंह की तरह''- गौरव के साथ सीना फुलाकर एक ही साँस में किशोर ने यह कह दिया और पिता ने अपने लाड़ले को छाती से भींच लिया ।

इस किशोर का नाम था -हेमूकलानी । इस घटना के तीन-चार वर्ष बाद ही सचमुच वह फाँसी के फन्दे पर झूल गया ब्रिटिश राज के सक्रिय विरोध के अपराध में ।

अपने आदर्श शहीदे आजम का चेहरा उसकी आँखों के आगे रह-रहकर घूम जाता और मन में तरह-तरह के संकल्प- विकल्प उठते । मैं भी देश की स्वतंत्रता के लिये, जातीय गौरव के लिए हँसते-हँसते फाँसी का फन्दा चूम लूँगा, मेरा बलिदान ही जीवन को सार्थक बनायेगा । पुण्य-भूमि भारत पर अंग्रेजी राज को अधिक नहीं चलने दिया जा सकता । सात वर्ष की आयु में हेमूकलानी को डी. ए. वी. स्कूल में भर्ती करा दिया गया । छठी कक्षा पासकर जब वह तिलक म्युनिसिपल हाईस्कूल में भर्ती हुआ तो पता चला कि अपने जन्म-सिद्ध अधिकार आजादी के लिए भगतसिंह फाँसी पर चढ़ गए ।

२३ मार्च, १९३९ को भगतसिंह और उसके साथियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया । तब तक देश में पर्याप्त राष्ट्रीय चेतना आ चुकी थी । जनसाधारण में यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया था कि अंग्रेजी शासन अब किसी प्रकार का समझौता न करने पर आमादा है तथा इधर शासक वर्ग में यह धारणा बल पकड़ती जा रही थी कि अब किसी भी प्रकार ज्यादा दिन टिके रहना मुश्किल है । बच्चे-बच्चे के मन में आततायी गोरी सरकार को उखाड़ फेंकने की भावना जोर पकड़ने लगी थी ।

किशोर हेमू भी इन सब घटनाओं से अप्रभावित कैसे रह सकता था? उस समय तक महात्मा गाँधी का सत्याग्रह आन्दोलन भी चलकर स्थगित हो चुका था । आन्दोलन स्थगित होने की घोषणा सुनकर हेमू बड़ा क्षुब्ध हुआ । उसके बाल मन में अंग्रेजों को शक्ति के बल पर, ईंट का जवाब पत्थर से देकर खदेड़ने की बात जम चुकी थी ।

हेमू ने सोचा स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा का निवास हो सकता है । इसके लिए शरीर को बलवान और पुष्ट बनाना बहुत जरूरी है । अतः अपने गाँव के कृष्ण मण्डल जिमखाने में वह व्यायाम व उसकी प्रतियोगिताओं में भाग लेने लगा । इन सब बातों में उसका खूब मन लगा। कोई भी ध्येय चुनकर उसके प्रति समर्पित हो जाने से साधन जुटाने और श्रम करने में न तो थकान आती है और न ही असफलता मिलती है । हेमू कलानी ने प्रतियोगिताओं में निरन्तर विजयश्री का वरण किया ।

हेमू अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण 'स्वराज्य मण्डल' नामक गुप्त संस्था के सम्पर्क में आया । इसके सूत्रधार थे डॉक्टर मंघाराम । संस्था का लक्ष्य था भारत में ब्रिटिश राज्य का अन्त । इसकी एक विद्यार्थी शाखा भी गठित की गई जिसका नेतृत्व भार हेमूकलानी को सौंपा गया । विद्यार्थियों और नवयुवकों ने अपने दल का नाम रखा 'स्वराज्य सेना ।' पुष्ट शरीर, बलिष्ठ भुजाएँ, ऊँची और मजबूत कद-काठी तथा आकर्षक चेहरे वाले हेमू में नेता के सभी गुण मौजूद थे । एकान्त के क्षणों में वह 'भगतसिंह' की भाव-भंगिमाओं का अभ्यास करता रहता ।

८ अगस्त, १९४२ को बम्बई के काँग्रेस अधिवेशन में अंग्रेजो ! भारत छोड़ो, प्रस्ताव पारित हुआ । दूसरे दिन भोर में ही महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मौलाना आजाद जैसे चोटी के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया फिर भी प्रस्ताव के अनुसार कार्यक्रम क्रियान्वित किया जाने लगा । काँग्रेस के आन्दोलन की बागडोर डॉ. लोहिया, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन और श्रीमती अरुणा, आसफ अली जैसे युग नेताओं ने सम्हाली । गाँधी, नेहरू, मौलाना आजाद और सरदार पटेल की गिरफ्तारी से सारे देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गई ।

गाँव-गाँव सुलग उठा । जगह-जगह से 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' की आवाज उठने लगी । सरकार ने बड़ी तेजी से दमन चक्र चलाया । निहत्थी और अहिंसक जनता पर गोली-लाठी की बौछारें होने लगीं। भारतीय देश-भक्तों ने सब कुछ सहा । फिर भी आततायी सरकार के नारकीय अत्याचार उस आवाज को दबा नहीं पाये । उसी वर्ष के २३ अक्टूबर की बात है, भारत छोड़ो आन्दोलन अपने शिखर पर था। क्रान्तिकारियों के दमन के लिए अस्त्र-शस्त्रों से लैस एक सैनिक रेलगाड़ी सक्खर जा रही थी । हेमू को इस बात की खबर लगी । उसने अपने दो साथियों को साथ लिया और नगर सीमा के बाहर जा पहुँचा- रेल की पटरियाँ उखाड़ने । उस समय पुलिस बड़ी सतर्क थी । तीनों साथी पटरियों की एकाध ही फिशप्लेट उखाड़ पाये थे कि हथौड़ी की आवाज गश्त देते हुए पुलिस के जवानों ने सुन ली ।

आवाज सुनकर पुलिस दौड़ी आई । हेमू ने अपने साथियों को भाग जाने के लिये कहा । आरम्भ में तो उन्होंने साथ छोड़ने से इन्कार कर दिया पर हेमू ने जोर देकर कहा तो वे भाग गये । वह अकेला पकड़ा गया ।

गिरफ्तारी के बाद उसे कठोर यन्त्रणाएँ दी गईं । पूछा गया उसके साथियों का नाम पता परन्तु हेमू उन यन्त्रणाओं को चुपचाप सहता रहा और सारा अपराध अपने सर ले लिया । पुलिस को लगा कि यह किसी गुप्त क्रान्तिकारी संस्था की करामात हो सकती है परन्तु वह हेमू के होठों पर स्वराष्ट्र सेना और स्वराज्य मण्डल का एक शब्द भी नहीं ला सकी ।

अदालती कार्यवाही शुरू हुई । १८ वर्ष के इस तरुण किशोर पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया गया । दया का स्वाँग भरने के लिए हेमू को वकील की सुविधा लेने की छूट दी गई परन्तु उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया । अदालत ने पूछा- 'तुमने किसलिए यह अपराध किया?'

"अपने जन्म सिद्ध अधिकार को प्राप्त करने के लिए।"

"क्या तुम अपनी गलती के लिए पछता रहे हो ?" न्यायाधीश ने पूछा ।

"नहीं , मुझे गर्व है । अफसोस भी है कि मैं असफल हो गया । "

न्यायाधीश ने कहा- "तुम्हें यह कार्य करने के लिए किसने कहा ?"

"मेरी आत्मा ने ।"

"क्यों ?"

"अंग्रेज सेना अस्त्र-शस्त्र की मदद से स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानियों को कुचल सकती है तो उन शस्त्रों को नष्ट करना अनुचित नहीं है ।"- हेमू ने दृढ़ता के साथ कहा ।

जिसकी नस-नस में माटी का गौरव समा गया हो उसे बदला नहीं जा सकता । इसीलिए सैनिक अदालत ने उसे आजीवन कारावास का दण्ड सुना दिया । परन्तु हैदराबाद स्थित सैनिक मुख्यालय के कमाण्डर लार्ड रिचर्डसन ने इस दण्ड को मृत्यु-दण्ड में बदल दिया ।

मृत्यु की वह मुदित मन से प्रतीक्षा करने लगा । फैसला सुनाने से दण्ड मिलने तक उसका वजन लगभग ८ पौण्ड बढ़ गया । २१ जनवरी, १९४३ को उसे फाँसी घर की ओर ले जाया गया । "भारत माता की जय-इन्क्लाब जिन्दाबाद" के नारे लगाता हुआ हेमू फाँसी घर की ओर चल पड़ा । जब उससे अंतिम इच्छा पूछी गई और पूरी की जाने का आश्वासन मिला तो वचनबद्ध जिला मजिस्ट्रेट को भी 'भारत माता की जय' जय बोलनी पड़ी थी ।

विप्लवी वीर–

भाई बालमुकुन्द

अछूतों की छाया पड़ जाने पर भी जिन दिनों घर में चूल्हे-चौके तक पहुँचने के लिए दसियों प्रायश्चित-अनुष्ठान करने पड़ते हों, उन दिनों किसी उच्च कुल के व्यक्ति का अछूत बस्तियों में रहना, अछूतों के पास बैठना और उनके बीमार पड़ने पर उनकी सेवा-सुश्रूषा करना लोक-निन्दा का कारण ही बन सकता था और इसी कारण पंजाब के बेटे बालमुकुन्द को भी जाति निष्कासन जैसे दण्ड देने पर लोग विचार कर रहे हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

विचार करना इसलिए आवश्यक था कि भाई बाल-मुकुन्द जी जिस परिवार और जिस वंश से सम्बन्ध रखते थे परम्परागत रूप से वह लोक श्रद्धा का भाजन और जन आदर का पात्र था । वह भी इसलिए कि उनके पूर्वजों ने समाज और जाति के लिए एक से एक बढ़-चढ़कर बलिदान प्रस्तुत किए थे । सिक्ख गुरु तेगबहादुर ने जब देश की आन-बान की रक्षा के लिए बलिदान और उत्सर्ग की भावना रखने वाले धर्मवीरों से शीशदान का आह्वान किया, उस समय अपना सिर भी देने के लिये आगे आने वालों में एक थे-मतिराम जी ।

मतिराम जी तथा उनकी सन्तानों को सभी से भाई का सम्बोधन मिला था । इसे कहना चाहिए समाज की ओर से मिलने वाली उपाधि । उन्हीं सन्तानों की परम्परा में एक थे बालमुकुन्द जी । इसलिए जब तक बात नहाने-धोने से ही पूरी हो जाती हो तब तक यह अपराध कर्म क्षम्य भी था परन्तु जब साथ-साथ उठने-बैठने और साथ-साथ खाने-पीने भी लगे तो धर्म और संस्कृति के ठेकेदारों के लिए बात अवश्य विचारणीय हो गई ।

यद्यपि सिक्ख समुदाय में ऊँच-नीच और जातिवाद मूलक भेदभाव इतना चिन्तनीय नहीं था फिर भी जिस क्षेत्र में वे रहते थे वहाँ के हिन्दू ब्राह्मण और उच्च जाति के लोग जो भाईजी को भी उच्च वर्ण का मानते थे, यह कैसे सहन कर सकते थे । उस समय भाईजी लाला लाजपत राय के निर्दिष्ट मार्गदर्शन में अछूतोद्धार के लिये काम कर रहे थे ।

लेकिन कुछ ही दिनों में उन्होंने अपनी जीवन दिशा बदल दी और पूर्णतया भारत माता की उस पुकार को सुनने और पूरा करने के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया जो देश के कोने-कोने से आ रही थी । स्वतंत्रता के जन्मसिद्ध अधिकार को उन्होंने अपना लक्ष्य बनाया और उस अधिकार पर अपने खूनी पंजे जमाये बैठी अंग्रेजी सरकार से संघर्ष के मार्ग पर चल पड़े । अन्त तक वे इसी मार्ग से इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते रहे और

लड़ते-लड़ते शहीद हो गये । जिस समय उन्हें फाँसी की सजा दी गई उस समय उन्होंने बड़े आत्मसंतोष और आत्मगौरव के साथ कहा था-"इसी दिल्ली में एक दिन मेरे पूर्व पुरुष भाई मतिरामजी ने मुगलों से लोहा लेने के लिए अपने शरीर को आरे से चिरवाया था । इसी पवित्र भूमि पर आज मैं भारत माता के पाँवों में पड़ी अंग्रेजों की गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे रहा हूँ ।"

भारत माँ की दासता की जंजीरों को काटने के लिये शहीद हुए इस अमर सेनानी का जन्म १८५५ ई. में झेलम के तट पर अवस्थित ग्राम चकवाल में हुआ था । उनका परिवार आर्थिक दृष्टि से खासा सम्पन्न भी नहीं था तो दीन दरिद्र भी नहीं । परिवार का निर्वाह आसानी से और साधारण ढंग से सरलतापूर्वक चलता रहता । घर में दो भाई थे, एक विधवा बहिन थी जो अपने पति का देहान्त हो जाने के बाद पिता के घर ही आकर रहने लगी थी । इस छोटे से सीमित परिवार में भाई जी का लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार के साथ चलता रहा ।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा चकवाल में ही सम्पन्न हुई । माध्यमिक कक्षाओं के बाद लाहौर के डी. ए. वी. कॉलेज से हाईस्कूल और बी. ए. की परीक्षाएँ पास कीं । अध्ययनशील और परिश्रमी स्वभाव के होने के कारण वे अपनी कक्षाओं में सदैव ही अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते रहे । सन् १९१० में लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज से उन्होंने बी. टी. की परीक्षा में भी पूरे प्रान्त भर में द्वितीय स्थान प्राप्त किया । बी. टी. की परीक्षा पास करने के बाद वे ऐबटाबाद के एल्बर्ट विक्टर एंग्लो संस्कृत हाईस्कूल में अध्यापक हो गये ।

अध्यापन काल में ही उन्होंने समाज सेवा का उपरोक्त कार्य आरम्भ किया, परन्तु जब वे बनबाहा के बरसाती नाले की गुफाओं में रहने वाले एक साधु तपसीराम जी के संपर्क में आये तो देश भक्ति का रुका हुआ बाँध जैसे फूट कर बह निकला । साधु तपसीराम एक अच्छे खाते-पीते जमींदार परिवार के व्यक्ति थे । भगवान का दिया सब कुछ था उनके पास, परन्तु देश-सेवा की उमंग ने उन्हें सब कुछ छोड़-छुड़ाकर संन्यासी बना दिया और यों भभूत रमाकर अपने हृदय की चिंगारी और दूसरे हृदयों तक पहुँचाने में लग गये ।

उनके निकट संपर्क से वह चिंगारी भाई जी के हृदय में भी प्रवेश कर गई और भाईजी नौकरी छोड़कर आ कूदे विप्लवी आन्दोलन में । अब तक तो उनका कार्यक्षेत्र मात्र पंजाब प्रान्त ही था परन्तु अब सारा देश और एक अर्थ में सारा विश्व बन गया । क्योंकि समूची मानवता की पुकार थी यह- "विश्व का आध्यात्मिक नेतृत्व करने में समर्थ भारतवर्ष आजाद हो ।" मास्टर अमीरचन्द ने लाला हनुमन्त सहाय तथा महात्मा हंसराज के सुपुत्र श्री बलराज जैसे नेताओं के नेतृत्व में रहकर अपने विप्लवी हृदय की आग को क्रान्ति की दिशा दी ।

भाईजी को नौकरी छोड़कर विप्लवी आन्दोलन में भाग लेता देखकर परिवार के सदस्यों को चिन्ता हुई और उन्होंने अपने इस प्रिय आत्मीय को घर परिवार से ही बाँधे रखने के लिए जाना माना पैंतरा अपनाया। उनके भाई जयरामदास जी ने मणिगाँव की एक सुन्दर कन्या रामरक्खी से भाईजी का विवाह कर दिया । परन्तु यह दाँव सफल न रहा । देश सेवा के लिए कृत संकल्प आजादी के दीवाने भाईजी को सुन्दर पत्नी का मोह न बाँध सका । पंजाब से निकल कर वे सीधे दिल्ली आये, यहाँ उन्होंने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी अवध बिहारी के साथ क्रान्तिकारी पर्चों और पुस्तिकाओं के प्रकाशन तथा वितरण का काम सम्हाला । ऐसे पर्चे रोज हजारों की संख्या में निकलते । वितरण व्यवस्था ऐसी चाक-चौबन्द रखी गई थी कि ये पर्चे देहरादून, कसौली, अम्बाला, फिरोजपुर, लाहौर जैसे बड़े-बड़े और दूर-दूर के नगरों तक पहुँच जाते लेकिन कानों-कान किसी को खबर तक नहीं होती यद्यपि अंग्रेजी सरकार इन पर्चों से परेशान अवश्य थी ।

इन्हीं दिनों भाईजी ने रासबिहारी बोस के साथ बम बनाने का अभ्यास किया । दिसम्बर, १९१२ में वायसराय की दिल्ली में सवारी निकलनी थी । तब भारत की राजधानी भी कलकत्ता से बदलकर दिल्ली आ रही थी । उस समय क्रान्तिकारियों की ओर से निश्चित यह किया गया कि इस अवसर पर वायसराय को बम से उड़ा दिया जाय । इस निश्चय को कार्यरूप में परिणित करने की तैयारियाँ हुई और उधर ऐसे किसी भी खतरे से वायसराय की सुरक्षा की भी व्यवस्था की गई ।

दोनों ही पक्ष अपनी तैयारियाँ पूरी कर चुके थे । २३ दिसम्बर को जैसे ही वायसराय की सवारी निकली, सारा काम योजनाबद्ध ढंग से चलता रहा । सवारी का जुलूस मीलों लम्बा था । जैसे ही वह चाँदनी चौक के फव्वारे के निकट पहुँचा लार्ड हार्डिंग के हाथी पर एक बम आकर गिरा । संयोगवश लार्ड हार्डिंग तो बच गये परन्तु अंग्रेज सरकार आतंकित हो गई । इतनी सुदृढ़ और किलेबन्दी जैसी व्यवस्था को बेधकर भी यह कृत्य आतंककारी ही था। बम फेंकने वाले दो युवा क्रान्तिकारियों में से एक स्वयं भाईजी भी थे । यद्यपि इस घटना के बाद भाईजी गुप्त रूप से काम करने लगे थे परन्तु खुफिया पुलिस सूँघते-सूँघते उन तक आखिर पहुँच ही गई और १६ फरवरी, १९१४ को उन्हें वर्षभर से भी अधिक समय के बाद गिरफ्तार कर लिया गया ।

उस समय वे जोधपुर में थे । दिल्ली का चूका वार जोधपुर में और भी मुस्तैदी से दोहराया जाने वाला था । उन दिनों वायसराय का वहाँ आगमन होने वाला था, परन्तु इसके पूर्व ही वे गिरफ्तार कर लिए गये । परिणाम जो होना था वही हुआ । बिना सफाई का मौका दिये उन्हें ८ मई, १९१५ को फाँसी दे दी गई और यह अजेय विप्लवी वीर हँसते-हँसते अपनी वीरोचित मर्यादा के अनुसार फाँसी का फन्दा चूम गया और दिखा गया एक ऐसी अनन्त राह जिस पर कितने ही चलकर अमर हो गए और कितनों को अभी चलना शेष है ।

जो राष्ट्रहित में बलिदान हो गये--

सूफी अम्बा प्रसाद

''सूफी साहब चलिए आपका समय हो गया ।'' जेलर ने मृत्यु दण्ड देने के लिए बन्दी को पुकारा। कोठरी खोली । बन्दी पद्मासन लगाये बैठा था नीरव, निस्पन्द, निष्प्राण । शरीर को वस्त्रों की तरह त्याग देने वाले ये जीवन्त आत्मा थे – देशभक्त सूफी अम्बाप्रसाद । भारत में इनका रहना कठिन हो गया था । इनके यहाँ रहने से इन्हें प्राण-दण्ड से कम सजा अंग्रेज देने वाले नहीं थे । अतः इनके मित्रों ने इनसे विदेश जाने का आग्रह किया तो ये ईरान चल गये । प्रथम विश्व युद्ध में वे ईरान की तरफ से लड़े । अंग्रेजों ने इन्हें पकड़ लिया । सैनिक न्यायालय ने इन्हें गोली मारने की सजा सुनाई । सूफी साहब उनके गोली मारने से पहले ही अपना नश्वर शरीर छोड़ गये ।

पानी की धारा के साथ तो जड़ तिनका भी बह लेता है किन्तु प्रवाह के विपरीत तैरने का साहस मछली ही कर सकती है । समय के साथ चलने वाले तो बहुत होते हैं पर समय को बदलने का प्रयास जीवित-जाग्रत आत्माएँ ही कर पाती हैं । जिनकी आत्मा सोई हुई है– उस पर अज्ञान का आवरण पड़ा हुआ, वे विवेकहीन मनुष्य पशु तुल्य जीवन ही जीते रहते हैं । सूफी अम्बाप्रसाद समय की धारा को पलटने वाले जीवित जागृत आत्माओं की कोटि में गिने जाते हैं ।

भारतवर्ष अंग्रेजी दासता की चक्की में पिसा जा रहा था। साधारण जनता को जमींदार लूटते थे और अंग्रेज भी लूटते थे । इस दुहरी मार से भारतवासी बुरी तरह तड़प रहे थे । सामान्य जन जीवन नारकीय हो चला था । सूफी अम्बाप्रसाद को यह स्थिति सह्य नहीं हो सकी । इस अन्याय से देशवासियों को छुड़ाने के लिए उनकी आत्मा तड़फ उठी । ऐसी ही अनेकों जीवित-जागृत आत्माओं का पुण्य प्रताप है भारतवर्ष की जनता आजादी की साँस ले सकी है ।

इनका जन्म मुरादाबाद में १८६२ में हुआ । ये पैदा हुए तब भी इनके एक ही हाथ था । इस एक बायें हाथ से ही उन्होंने आगे चलकर ऐसे जौहर दिखाए जिन्हें देखकर दो हाथ वाले भी दाँतों तले अँगुली दबाते थे । 'जैम उल इदुम' उर्दू पत्र के सम्पादक के रूप में वे एक नक्षत्र की तरह भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के आकाश में उदित हुए। वे अच्छे लेखक थे । उनकी लेखनी तलवार की मार करती थी ।

उन्होंने देखा कि मेरे देशवासी किस प्रकार अत्याचारों से पीड़ित हैं । अंग्रेज हम पर शासन ही नहीं करते हमें नीचा समझते हैं । विद्वता, प्रतिभा तथा योग्यता सम्पन्न भारतीय की भी अंग्रेजी की तुलना में कोई कद्र नहीं होती। सड़क पर चलने, रेल में बैठने जैसे सामान्य नागरिक अधिकार तक में असमानता बरती जाती है । भारतवासी इतना सहते हुये भी चुप हैं, जागते नहीं, प्रतिकार के लिए उठ खड़े नहीं होते । उन्हें जगाने का माध्यम उन्होंने पत्रकारिता चुना ।

पत्रकारिता का क्षेत्र उन दिनों आज की तरह पैसा कमाने का साधन नहीं था । न तो विज्ञापन की मोटी-मोटी रकमें उन दिनों प्राप्त होती थीं , न सरकार से संरक्षण ही मिलता था । सरकार तो ऐसे पत्रों की जानी दुश्मन थी जो भारतवासियों में देश-प्रेम जगाते थे । इस प्रकार के पत्र-पत्रिकाओं का अभाव ही था । इस प्रकार के गिने-चुने पत्रकार थे जिनकी आर्थिक स्थिति बड़ी कमजोर होती थी। वस्तुतः यह एक परमार्थपरक कार्य था जिसमें हानि उठाने की ही सम्भावना थी, लाभ का तो सवाल ही नहीं उठता था । अम्बाप्रसाद जी ने इसी काम को अपनाया ।

इनकी लेखनी क्या चलती थी तलवार चलती थी । विदेशी शासन तथा जमींदारों पर इसकी मार बहुत भयानक होती थी । इस प्रकार के खतरनाक पत्रकार को सरकार कैसे खुला छोड़ सकती थी । 'जैम उल इदुम' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर इन पर सरकार ने राजद्रोह का अभियोग लगाया । न्यायालय ने इन्हें डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास की सजा दी ।

सजा की अवधि समाप्त हुई तो रजवाड़ों ने इनके ऊपर अनुचित हस्तक्षेप करने का मुकदमा दायर किया । विदेशी सरकार तो यही चाहती थी कि सूफी जेल में ही सड़ता रहे। इस अभियोग में इन्हें छः वर्ष का सश्रम कारावास दिया गया । सूफी तो यह सब सहने को तैयार होकर ही मैदान में कूदे थे । वे जानते थे कि सत्य कहने वाले को यातनाएँ तो मिलेंगी ही । वे सोचते ''ईसा को भी ऐसी ही सच्ची बात कहने के कारण सूली पर चढ़ना पड़ा था, पर उनका यह बलिदान निरर्थक नहीं गया । मेरी यातनाएँ भी निरर्थक नहीं जायेंगी । इनका परिणाम शुभ होगा । भारतवर्ष को स्वाधीनता दिलाने में ऐसे कितने ही बलिदान देने पड़ेंगे । जेल तो साधारण बात है ।

हैदराबाद का निजाम इनकी विद्वता का कायल था। जब इनकी सजा पूरी हो गई तो इनसे अपने यहाँ रह जाने का आग्रह किया। निजाम ने उन्हें दो सौ रुपये प्रतिमाह देने का प्रस्ताव किया। उसने तो इनके रहने के लिये मकान तक बनवा दिया था। सूफी इस प्रकार जीवन जीना नहीं चाहते थे। आत्मा का हनन करके शारीरिक सुख सुविधा के लिए अपने आपको पतित कर लेना उन्हें स्वीकार नहीं था। उन्होंने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। अंग्रेज सरकार इन्हें एक हजार रुपये मासिक वेतन पर अपने जासूसी विभाग में रखना चाहती थी। सरकार के वेतनभोगी होने का अर्थ था राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग के जीवन का अन्त। उन दिनों एक हजार रुपये बहुत बड़ी रकम थी। इतनी बड़ी रकम ठुकरा देना उस आदर्शवादी के लिए साधारण बात थी। वे कहा करते थे "अपने ही स्वार्थों के लिए तो पशु भी जी लेता है। मनुष्य होकर जो दूसरों के दुःख-दर्द का ध्यान न रखे तो वह बिना सींग-पूँछ का जानवर ही तो है।"

इन सब प्रलोभनों से कभी उनका चित्त डाँवाडोल नहीं हुआ। उन्होंने जेल से छूटते ही इतिहास प्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार अजीतसिंह के साथ मिलकर पेशवा उर्दू पत्र निकाला। इस पत्र ने जन-जागरण की बहुत बड़ी कमी पूरी की।

'पेशवा' के माध्यम से इन क्रान्तिकारियों की आवाज जन-जन के अन्तर में सोई मर्दानगी, आदर्शवादिता तथा राष्ट्रप्रेम जगा रही थी। इन्हीं दिनों लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट दिया। इस निर्णय के विरोध में देशव्यापी आन्दोलन हुआ। इस आन्दोलन को भड़काने में 'पेशवा' बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

एक ओर अंग्रेजी हुकूमत थी जिसके पास बहुत बड़ी सेना, धन-दौलत, शासन-तन्त्र, पुलिस, शस्त्रास्त्र आदि सब साधन थे। दूसरी तरफ कुछ गिने-चुने साधनहीन मनुष्य थे जिनके साथ सचाई की सेना, आदर्शों की धन-दौलत तथा राष्ट्र यज्ञ में आहुति देने की अदम्य लालसा थी। ऐसे ही गिने-चुने सिरफिरों के अगुआ सूफी जी थे। भारतीय जनता सो रही थी। उसे जगाना था। उसकी इस नींद का लाभ उठाकर ही अंग्रेज भारत पर शासन कर रहे थे।

लाहौर के आर्य होटल में एक विराट सभा का आयोजन किया गया। सरकार ने पंजाब के नौ जिलों के लिए एक कानून पास किया था जो जनहित की दृष्टि से अनुचित था। सभा में सरदार अजीतसिंह इस कानून के विरोध में आग उगलने वाली वाणी में भाषण दे रहे थे। सोए सिंह भी यह हुंकार सुनकर जागने लगे थे। इसी समय अंग्रेज पुलिस ने होटल को घेर लिया। उपस्थित जन समुदाय में भय की एक लहर दौड़ आई थी। सूफी जी ने लपककर होटल का दरवाजा बन्द कर दिया तथा चट्टान की तरह अड़ गये। अंग्रेज ऑफीसर को उन्होंने इस प्रकार निहत्थी भीड़ पर चढ़ आने के लिए डाँटा। जब तक सभा चली अंग्रेज अफसर का साहस न हो सका कि वह सभा की कार्यवाही रुकवा देता।

अन्यायी चाहे कितना ही सबल क्यों न हो वह जरा से प्रतिरोध से भी भय खाने लगता है। अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध सरदार अजीतसिंह तथा सूफी अम्बाप्रसाद के दल 'भारतमाता' ने जब मोर्चाबन्दी शुरू की तो वे बौखला उठे। क्योंकि सच्ची शक्ति उनके पास नहीं थी। सच्चाई तथा न्याय यदि उनके साथ होता तो उन्हें इन थोड़े से देश-भक्तों से भय खाने की आवश्यकता नहीं थी। सच पूछा जाय तो अंग्रेज इनके मुकाबले में बहुत कमजोर सिद्ध हुए थे।

सूफी जी इस तथ्य से परिचित थे कि साधन तथा प्रभुत्व अपने आप में महान नहीं वरन् उनका सदुपयोग करके ही उन्हें महत्ता दिलाई जा सकती है। मनुष्य की प्रतिभा तथा योग्यता की भी यही स्थिति है। सदुपयोग एक अनिवार्य शर्त है। उन्होंने अपनी लेखनी का उपयोग एक महान प्रयोजन के लिए किया। सूफी जी अपने स्वार्थ के लिए ही लिखते तो वे काफी धन कमा सकते थे, अच्छा पद पा सकते थे पर उन्होंने उन्हें सामने आये हुए ठुकरा दिया। इसी का परिणाम है कि वे आज एक प्रेरक अमर चरित्र के रूप में याद किए जाते हैं।

सूफी जी ने 'पेशवा' के माध्यम से वह हवा बहाई कि उससे चिंगारियाँ दावानल बनने लगीं। जनता जागने लगी। उनके सम्पादकीय बेजोड़ होते थे। 'पेशवा' की पुरानी फाइलें देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी लेखनी में कैसा जादू था?

अंग्रेज सरकार हाथ धोकर इन लोगों के पीछे पड़ गई। इनको पकड़ने के लिए जाल बिछाये जाने लगे। किसी भी मूल्य पर अंग्रेज सरकार इन्हें खुला नहीं छोड़ना चाहती थी। जितना शीघ्र हो सके इन्हें बन्दी बनाना चाहती थी। बन्दी बनाने के बाद मृत्यु दण्ड या फाँसी की सजा इन्हें दी जाती। ये बन्दी होना नहीं चाहते थे। गुप्त वेश में नेपाल जा पहुँचे। नेपाल गवर्नर ने इन्हें आश्रय दिया।

एक ही हाथ के होते हुए भी सूफी जी जो लिपियाँ लिखने में समर्थ थे लिख लेते थे। उन्हें अपने एक हाथ का अभाव कभी खटकाता नहीं। वे मजाक में कहा करते थे- "१८५७ की लड़ाई में एक हाथ कट गया था सो इस जन्म में एक ही रह गया।"

उनका यह जोश तथा देश-प्रेम केवल लेखन तथा भाषण देने तक ही सीमित नहीं रहा। वे अव्वल दर्जे के

संवाददाता तथा गुप्तचर भी थे । सन् १९१९ की बात है । अम्बाला का कमिश्नर जनता पर बहुत अत्याचार करता था । ये गूँगे-बहरे बनकर उसके यहाँ नौकरी करने लगे । उन्हें खाने की मेज पर मक्खियाँ उड़ाने का काम दिया गया । उस समय प्राय: वह कमिश्नर अपने सहायकों से परामर्श करता था । इसकी रिपोर्ट 'अमृत बाजार पत्रिका' के लिए वे भेज देते थे । कई महीने तक वे गूँगे-बहरे बनकर उसकी आँखों में धूल झोंकते रहे । कमिश्नर अपनी इन बातों को पत्रिका में देखकर हैरान होता था । सूफी साहब पर वह कभी शक न कर सका ।

भारत में रहना कठिन हो गया तो वे ईरान चले गये । ईरान में उन्होंने 'आबे हयात' पत्र का सम्पादन किया । वहाँ रहकर भी आप भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में सहायता देते रहे । उनके देश-भक्ति पूर्ण व्यक्तित्व से भारत ही नहीं ईरान को भी लाभ हुआ । सूफी जी वहाँ भी लोकप्रिय नेता बन गये । सूफी जी के जीवन से यह सिद्ध हो गया कि सच्चाई और न्याय, आदर्श तथा लोकमंगल का क्षेत्र देश की सीमा से बँधा नहीं है । आदर्शों के लिए जीवन अर्पित करने वालों की सर्वत्र अपेक्षा है । जहाँ भी ऐसे सच्चे मानव रहेंगे वहाँ की जनता को लाभ ही मिलेगा।

ईरान में रहते हुए वे प्रथम विश्व युद्ध में ईरान के पक्ष में लड़े । इनके प्रति वहाँ के लोगों में बड़ी श्रद्धा थी, वे उन्हें अपने पथ प्रदर्शक मानते थे ।

उद्देश्य के लिए संसार भर की खाक छानने वाले क्रान्तिवीर

सरदारअजीतसिंह

"पगड़ी संभाल ओ जट्टा, पगड़ी संभाल रे ।" यह गीत बहुत लोगों ने सुना होगा पर उसका इतिहास थोड़े ही आदमी जानते होंगे । इसे लिखा था बाँके दयाल ने और उस पर परवाने की तरह जल मरने वाले थे सरदार अजीतसिंह । महान शहीद सरदार भगतसिंह के चाचा अजीतसिंह ।

तप:पूत शहीदों के जीवन-दीपक से यही प्रकाश फूटता है-"मेरे प्यारे देशवासियों, पगड़ी की रक्षा अर्थात् देश, धर्म और जातीय गौरव की रक्षा के लिए तिल-तिल जलना पड़ता है । फफोले पड़े हों तो भी चलना पड़ता है । जीवन-साधना की सफलता तो उसे ही मिलती है जो निष्काम, नि:स्वार्थ भाव से और यश-कामना से अत्यन्त दूर रहकर केवल ऊँचा लक्ष्य देखता है, ऊँचा लक्ष्य सोचता है और ऊँचे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपना जीवन न्योछावर कर देता है ।"

आदर्शों के पुनरुद्धार और पुनरुत्थान के लिए संघर्ष करना ही पड़ता है । तब स्वदेश के सम्मुख स्वाधीनता प्राप्ति का महान लक्ष्य आ खड़ा हुआ था । सरदार अजीतसिंह ऐसे ही संक्रान्ति काल में जालन्धर जिले के खटकड़लां ग्राम में जन्मे ।

जिन दिनों उनकी प्रारंभिक शिक्षा लाहौर में पूरी हुई तो उन्होंने कहा- "मैं उस महान संस्कृति का अध्ययन करूँगा- जिसका एक अंश लेकर गुरुओं ने पंथ का सिरजन किया ।" वे बनारस जाकर संस्कृत की उच्च शिक्षा पाना चाहते थे पर घरवालों की इच्छा के आगे झुककर वे बरेली कानून पढ़ने चले गये । यहीं से उनके हृदय में देश-प्रेम की ज्वाला उमड़ी, तीव्र हुई और किसी के रोके न रुकी, जब तक कि वह अपना अभीष्ट नहीं पा गई ।

'**कर्मण्येवाधिकारस्ते**' के आदर्श को मानने वाले इस कर्मयोगी से एक बार एक मित्र ने कहा-"सरदार ! अंग्रेजी हुकूमत से पेश पाना बड़ा कठिन है । क्यों अपने सुख, चैन और जिन्दगी को दाँव पर लगाते हो ।" सरदार ने तुरन्त उत्तर दिया- "भाई जी ! मर्दाने देश और जाति के उद्धार के लिए मर मिटना जानते हैं । हम देश और जाति के उद्धार के मर मिटेंगे, सफलता मिलेगी या नहीं यह मेरा परमात्मा जाने ।"

१९०६ में ब्रिटिश सरकार ने उपनिवेश अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार किसानों पर भारी प्रतिबन्ध लगाये गये । बंगाल के विभाजन से वैसे ही देशवासी विक्षुब्ध थे, अब तो लोगों के दिल जलने लगे । यही समय था नवयुवकों की परख का । परिस्थिति आने पर ही तो पौरुष की परीक्षा होती है ।

सरदार अजीतसिंह ने 'भारत माता सोसायटी' की सक्रिय सदस्यता स्वीकार की और स्थान-स्थान पर जोशीले भाषणों से लोगों को विद्रोह के लिए भड़काने लगे । चारों ओर क्रान्ति की आग धधक उठी । लाला लाजपतराय के साथ उन्हें भी बन्दी बनाकर मांडले की जेल में भेज दिया गया । कुछ महीने बाद उन्हें छोड़ दिया गया पर मुक्त होते ही वह फिर 'भारत माता सोसायटी' के कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। 'दण्ड और दमन से अजीतसिंह घबड़ा कर शान्त हो जायगा'- सरकार की यह धारणा निर्मूल सिद्ध हुई । 'पेशवा' नामक समाचार पत्र निकाल कर उन्होंने क्रान्ति की ज्वाला को और भी तीव्र किया । बाद में यह पत्र जब्त कर लिया गया तो अजीतसिंह अपने दोनों भाइयों और अन्य साथियों के साथ अन्य नामों से अखबार निकालते रहे ।

इधर गवर्नमेन्ट उन पर मुकदमा चलाने की योजना बनाने लगी तो अजीतसिंह ने अपने जीवन की लम्बी कीमत अनुभव की । सार्मवशाही के शिकंजे में पड़कर

उन्हें शहीद होने में कोई आपत्ति न थी पर उन्होंने अनुभव किया कि केवल जोश से ही काम न चलेगा, हमें होश के साथ काम करना पड़ेगा ताकि वर्तमान आन्दोलन अपनी मंजिल की ओर निरन्तर गतिमान रहे । लक्ष्य प्राप्ति के लिए नियोजित व्यवस्था बनाने का अजीतसिंह का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए बड़ी शिक्षा है । जो लोग स्थिति का अनुमान लगाकर उचित जवाबी शक्ति लगाते हैं, वे ही जीतते हैं । त्याग और बलिदान को व्यर्थ न जाने देना वस्तुतः बड़ी समझदारी की बात है । अजीतसिंह ने वही किया । इसके पूर्व कि वे पकड़े जायें अपने दो साथियों के साथ वे ईरान चले गये ।

उस समय ईरान भी अंग्रेजी शासन में था । वहाँ के शिराज नगर से अजीतसिंह ने फारसी में अखबार निकाला। उद्देश्य एक ही था- अंग्रेजी उपनिवेशवाद पर चोट करना और भारत के समर्थन में पक्ष मजबूत करना। सरकार बेखबर न रही । गिरफ्तारी का वारण्ट निकाल दिया गया जिसमें इनके साथी अम्बाप्रसाद तो गिरफ्तार हो गये और फाँसी के तख्ते पर चढ़कर शहीद हो गये पर अजीतसिंह एक व्यापारी की कृपा से तुर्की चले गये । तुर्की में वहाँ के शासक मुस्तफा कमालपाशा से मिले और भारतीय स्वाधीनता के लिए चर्चा की, फिर वहाँ से आस्ट्रिया तथा आस्ट्रिया से जर्मनी चले गये । जहाँ भी गये उनका एक ही उद्देश्य रहा-शक्ति संगठित करना या विदेशी समर्थन लेकर अंग्रेजों को भारत-भूमि से हटने के लिए मजबूर करना ।

'जिन खोजा तिन पाइयाँ' -वाली कहावत प्रसिद्ध है । खाली हाथ बैठने से तो कुछ भी नहीं मिलता पर यदि अभीष्ट की दिशा में प्रतिदिन एक पग भी बढ़ा जाता है तो वर्ष में ३६५ कदम मंजिल कम हो जाती है । सरदार अजीतसिंह यही लगन धारण किए हुए निरन्तर प्रयत्नशील रहे । जर्मनी में भारतीय युद्धबन्दियों को भग्न इमारत के पत्थरों की तरह एकत्रित किया और उनको लेकर 'भारतीय मुक्ति सेना' संगठित की । इस कार्य से उनकी संगठन शक्ति में गहरी पैठ व अथक परिश्रम दृष्टिगोचर होता है । किसी कार्य के लिए सामान्य बुद्धि, व्यक्तित्व और योग्यता वाले बहुत आदमी एकत्रित हो जाते हैं तो वही एक बड़ी शक्ति बन जाते हैं । यह बात दूसरी थी कि जर्मनी परास्त हुआ और उन्हें ब्राजील भाग जाना पड़ा । ब्राजील से सरदार अजीतसिंह अमेरिका गये जहाँ वह एक सूती कारखाने में मैनेजर, पत्रकार और प्रोफेसर होकर तीन दिशाओं से संघर्ष की तैयारी करने लगे । एक का उद्देश्य धन अर्जित करना था दूसरे का भारतीय स्वातंत्र्य की विचारधारा फैलाना और तीसरे का उद्देश्य नियोजित समर्थन पाना ।

इस बीच जालन्धर में उनके घरवालों को उनका पता चल गया । उनको बुलाने के लिए घर से कई पत्र भेजे पर सरदार आखिर आत्मनिष्ठा के धनी थे । उन्होंने यहीं निश्चय किया कि मातृभूमि पर तभी पैर रखूँगा जब वह अंग्रेजी परतंत्रता से पूर्ण मुक्त हो जायेगी । यह सरदार की ज्वलंत निष्ठा ही थी कि सरदार भगतसिंह को फाँसी हुई, उनकी पत्नी, बच्चे अपने पति और पिता को देखने के लिए तड़पते रहे पर उन्होंने हर बार यही कहा- "बड़े वरदान, बड़ी तपस्या से मिलते हैं । त्याग और बलिदान देते हुए जिनके चेहरों पर शिकन नहीं आती वे एक दिन जरूर सफलता के द्वार तक पहुँचते हैं । यदि मेरा विश्वास सच है तो उसी दिन अपनी धरती पर पैर रखूँगा जब वह विदेशी शासन से स्वतंत्र हो जायेगी ।"

अमेरिका में कुछ काम बनता न दिखाई दिया तो अजीतसिंह बँधकर बैठने वाले न थे, वे ब्राजील के रास्ते फ्रांस और फिर वहाँ से इटली पहुँचकर मुसोलिनी से मिले। वहाँ उन्होंने 'भारतीय स्वतंत्रता समिति' बनायी और उसे 'आजाद हिन्दुस्तान सेना' का कार्य सौंपा, बाद में नेताजी सुभाषचंद्र बोस से मिलने पर उसे आजाद हिन्द फौज में विलय कर दिया ।

रोम रेडियो से उन्होंने 'आजाद हिन्द रेडियो' के नाम से वक्तव्य और समाचार प्रसारित कर भारतीय जनता में स्वतंत्रता के लिए क्रान्ति फैलाने और विश्व जनमत को भारतवासियों के पक्ष में लाने का जोरदार कार्य किया । इस कार्य की प्रशंसा स्वयं गांधी जी ने भी की थी । परन्तु दुर्भाग्य पीछा छोड़ने वाला न था । इटली परास्त हुआ और उन्हें उत्तरी इटली भागने के लिए विवश होना पड़ा । २ मई, १९४५ को वे उत्तरी इटली में मित्र राष्ट्र की सेनाओं द्वारा बन्दी बना लिए गये और उन्हें मर्मान्तक पीड़ा दी गई।

इधर जब भारत में अंतरिम सरकार की स्थापना हुई तो नेहरू जी के प्रयत्नों से उन्हें मुक्त किया गया । ४० वर्ष तक विदेशों में भारतीय स्वतंत्रता की अलख जगाने वाला योगी पुनः मातृभूमि के दर्शन कर सका पर जब वह यहाँ आये तब तक उनकी सारी शक्तियाँ समाप्त हो चुकी थीं । शरीर भी सेवा के योग्य न रहा था ।

१५ अगस्त के दिन जब स्वतंत्रता का सूर्य उदय हो रहा था तो देश-प्रेम के परवाने अजीतसिंह ने अपनी इहलीला समाप्त की । वह जिस उद्देश्य के लिए आये थे वह पूरा हो गया था । मरते समय उन्होंने दोनों हाथ जोड़े और कहा- " ऐ रब तैनूँ लाख-लाख धन्यवादां कि तैनू साडी साधना नूँ सिद्धि दे दी" (हे परमात्मा! तुझे लाख-लाख धन्यवाद कि तूने मेरी साधना को सिद्धि दे दी)। यह कहकर उन्होंने अपनी आँख मूँदलीं । सरदार अजीतसिंह चले गये पर उनकी निष्ठा आज भी जीवित है

और यह अनुप्रेरणा प्रदान करती है-महान् उद्देश्यों की पूर्ति मेरे देशवासियो ! ऐसी ही लगन, तत्परता, त्याग और निष्ठा होती है ।

निष्ठावान क्रान्तिकारी-

बटुकेश्वर दत्त

१९२९ का जून मास । दिल्ली के आल इण्डिया मेडीकल इन्स्टीट्यूट के वार्ड में भगतसिंह के साथी बटुकेश्वर दत्त को गम्भीर रूप से बीमार होने के कारण भर्ती कराये गये । शहीदे आजम की वृद्धा माँ अपने दूसरे भगतसिंह को देखने आईं । उन्होंने अपने पुत्र का सिर अपनी गोद में उठा लिया और सहलाने लगीं । आँखों से अश्रुकण बह निकले । अब उनका दूसरा बेटा भी मौत के पास जा रहा था और वे बेबस थीं ।

बटुकेश्वर दत्त यद्यपि भगतसिंह के सहोदर भाई नहीं थे परन्तु विद्यादेवी के लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था । सन् १९२९ में हुए बम काण्ड के कर्णधार भगतसिंह और दत्त ये ही दो वीर तो थे । भगतसिंह तो फाँसी पर चढ़कर शहीद हो गये परन्तु बटुकेश्वर दत्त अभी बहुत कुछ करना चाहते थे, इसलिए बच रहे । परन्तु इस क्रान्तिकारी को स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बड़े दुर्दिन देखने पड़े ।

उस समय संसद में सार्वजनिक सुरक्षा बिल पर चर्चा चल रही थी । बैठक में मोतीलाल नेहरू, मदनमोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना आदि नेता उपस्थित थे । बिल पास हो गया- इसकी घोषणा हो रही थी कि दर्शक-दीर्घा से कोई चीज उछली और जोर का धमाका हुआ । हाल धुँए से भर गया । संसद सदस्य इधर-उधर छुप गये कि फिर दूसरा धमाका हुआ । अब भगदड़ मच गई । पुलिस अधिकारी दर्शकदीर्घा की ओर भागे । भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के हाथों में पिस्तौल देखकर वे एक क्षण ठिठक गये परन्तु दूसरे ही क्षण दोनों ने पिस्तौल फेंक दी और आत्मसमर्पण कर दिया ।

भगतसिंह और दत्त ने समर्पण करने की योजना पहले से ही बना ली थी । कुछ लोग इससे सहमत नहीं थे । परन्तु भगतसिंह ने फाँसी पर चढ़ने की कसम खाई थी । वे चाहते थे कि उनका बलिदान हो । देश के लिए किया गया बलिदान कभी व्यर्थ नहीं जाता । ईसा सूली पर चढ़कर भी अमर हो गये । वस्तुत: बलिदान से कोई मरता नहीं बल्कि अमर हो जाता है । परन्तु भगतसिंह के मन में अमर होने का लोभ नहीं था । उनका विचार तो यह था कि यह बलिदान देश के युवकों में एक जोश और उबाल ला देगा वास्तव में हुआ भी यही । भगतसिंह के फाँसी चढ़ जाने के बाद जो जोश पैदा हुआ वह अद्वितीय था ।

समर्पण करते हुए बटुकेश्वर दत्त तथा भगतसिंह ने लाल रंग के कुछ पर्चे भी संसद के सभाकक्ष में फेंके थे । जिन पर लिखा था- "बहरी अंग्रेज सरकार को सुनाने के लिये धमाकों की जरूरत है । हम आज का यह कार्य सर्वथा उचित समझते हैं । एक ओर सरकार सार्वजनिक सुरक्षा बिल तथा औद्योगिक विधेयक प्रस्तुत कर रही है तथा दूसरी ओर मजदूर नेताओं को पकड़ रही है । क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि हवा का रुख किधर है । हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी ने बहुत सोच-विचार कर यह कदम उठाया है ताकि इस नाटक का अन्त किया जा सके ।"

अंग्रेजी दासता और शोषण का अन्त अपनी आँखों से देखने के लिए बटुकेश्वर दत्त जीवित रहे । शहीद हो जाने के कारण भगतसिंह तो इतने प्रसिद्ध हो गये कि गाँधीजी भी एक बार फीके पड़ने लगे परंतु बटुकेश्वर दत्त ने स्वयं को अँधेरे में ही रखना उचित समझा । तत्कालीन परिस्थितियों में यह सर्वथा उचित भी था । उस समय उनकी आयु २९ वर्ष की रही होगी। लेकिन क्रान्तिकारी गतिविधियों में होश सँभालते ही वे भाग लेने लगे थे । कानपुर में शिक्षा प्राप्त करते हुए दत्त योगेश चटर्जी के सम्पर्क में आये । श्री चटर्जी उन दिनों कानपुर में ही सक्रिय थे । संगठन की बैठक में भाग लेना तथा काम करना उन्होंने तभी से आरम्भ कर दिया था । भगतसिंह भी बलवन्तसिंह के नाम से कानपुर आये हुए थे । वहीं पर ये दोनों क्रान्तिकारी घनिष्ठ मित्र बने ।

बम फेंकने में गिरफ्तार होने के बाद दोनों को अलग-अलग जेल में भेजा गया । परन्तु बाद में दोनों ही साथियों को लाहौर लाया गया । जेल में होने वाले अमानवीय व्यवहार तथा पाशविक अत्याचार के विरोध में दत्त की प्रेरणा से सभी क्रान्तिकारियों ने भूख हड़ताल की । अनशन लम्बे समय तक चला । इसी हड़ताल में ६८ दिन तक भूखे रहकर यतीन्द्रनाथ दास तो चल बसे । बटुकेश्वर दत्त की दशा भी खराब होने लगी । श्री दास की मृत्यु हो जाने पर जनता में बड़ा रोष फैला । महात्मा गाँधी ने इसी वर्ष को राजनैतिक जाग्रति का प्रमुख वर्ष कहा । 'यंग इण्डिया' में उन्होंने लिखा- "देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में १९२९ का वर्ष बहुत महत्वपूर्ण समझा जायगा, क्योंकि इसी वर्ष के मध्य में जो भी भारी राजनीतिक जाग्रति हुई है वह उसके पूर्व कभी नहीं देखी गई ।"

शहीद भगतसिंह के बलिदान और यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से देश में क्रान्तिकारी वातावरण तैयार हुआ । इसी शृंखला में २३ दिसम्बर, १९२९ को वायसराय की स्पेशल ट्रेन को बम से उड़ाने का प्रयास किया गया । यद्यपि यह प्रयास सफल नहीं हो सका फिर भी भारत की आत्मा इन गतिविधियों में बोलने लगी थी ।

इधर लाहौर में सभी क्रान्तिकारियों को एक साथ रखना खतरनाक समझा गया । उस समय भूख हड़ताल भी टूट चुकी थी । बटुकेश्वर दत्त को लाहौर से मद्रास भेज दिया गया, फिर वहाँ से अण्डमान ले जाया गया ।

वहाँ भारतीय कैदियों की बहुत बुरी दशा थी । सात सौ कोठरियों में अधिकांश क्रान्तिकारी ही भरे थे । सबने मिलकर वहाँ भी भूख हड़ताल की । बाद में दत्त और उनके साथियों को रिहा कर दिया गया तथा बंगाल, उत्तर-प्रदेश और पंजाब क्षेत्रों में जाने पर पाबन्दी लगा दी गई । लेकिन देशभक्त कभी चुप नहीं बैठ सकता । दत्त ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र पटना बनाया । वहीं से वे लोगों को प्रेरित करते रहे और गुपचुप काम करते रहे ।

१९४२ में महात्मा गाँधी ने भारत-छोड़ो आन्दोलन चलाया । अहिंसावादियों के साथ-साथ उग्रवादी नेताओं को भी पकड़ा जाने लगा । बटुकेश्वर दत्त भी गिरफ्तार कर लिए गए । सरकार इनसे इतनी आतंकित थी कि आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद सब लोगों को रिहा कर दिया परन्तु दत्त को नहीं छोड़ा । उन्हें पटना में नजरबन्द रखा गया ।

१५ अगस्त, १९४७ को क्रान्तिकारियों की चिर साध पूरी हुई । बटुकेश्वर दत्त को लगा कि अभी तो बहुत कुछ किया जाना है । स्वराज्य प्राप्त कर लेने के बाद देश का पुनर्निर्माण अभी बाकी है । एक अर्थ में यह कार्य स्वतंत्रता-प्राप्ति से भी अधिक श्रमसाध्य है । लाल किले पर तिरंगा तो फहराने लगा परन्तु सच्ची खुशी तो भारतीय जनता की खुशहाल स्थिति देखकर ही होनी है । क्रान्तिकारियों ने जिस भारत का सपना देखा था वह अभी तक अधूरा ही है । स्वतंत्रता के २५ वर्ष बाद भी उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सका। दत्त की आत्मा तड़पती रही।

वे तिल-तिल कर घुलने लगे । सरकार ने उन्हें पेंशन देनी चाही परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया । कर्तव्य का कोई पुरस्कार लेना उसकी महत्ता को नष्ट करना है । यह सोचकर दत्त ने कह दिया-''इन्कलाब अभी पूरा नहीं हुआ । अंग्रेजी शासन से मुक्त होने के बाद देश में समता और एकता का वातावरण बनाना हमारा लक्ष्य होना चाहिए । मैं साधारण जनता में से हूँ, राष्ट्र की जो सेवा मेरे द्वारा हो सकी उसका पुरस्कार मैं नहीं चाहता ।''

१९६९ में वे बीमार हुए । क्रमशः बिहार और भारत सरकार ने उनकी चिकित्सा करवाई परन्तु अन्ततः वे बचाए नहीं जा सके । २० जुलाई, १९७१ को उनका देहान्त हो गया । वे आजीवन मूक रहकर देश के लिए कार्य करत रहे और मरकर अमर हो गये ।

जाति अभिमानी-
सुरेन्द्र नाथ बनर्जी

उस समय तक समस्त भारत में चार व्यक्ति ही सिविल सर्विस (आई. सी. एस.) की परीक्षा पास करके मैजिस्ट्रेट, कलक्टर आदि उच्च पदों के योग्य माने गये थे । श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी भी उनमें से एक थे । उनको सिलहट (आसाम) में असिस्टेण्ट डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट नियुक्त किया गया । भारतवासियों को तो अपने एक देशवासी के इतना उच्च पद पाने से बड़ी प्रसन्नता हुई, पर जो ऐंग्लो इण्डियन और अँग्रेज भारतवासियों को नीचा समझकर आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे, वे इससे जल- भुन गये । दुर्भाग्य से सिलहट का डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट सदर लैण्ड इसी मनोवृत्ति का व्यक्ति था और उसने आरम्भ से ही सुरेन्द बाबू के साथ रूखा व्यवहार करना और बात-बात में गलती निकालना आरंभ कर दिया । इधर ये भी अपनी जातीयता के अभिमानी थे और इस बात के लिये हरगिज तैयार न थे कि भारतवासियों को हीनता की दृष्टि से देखा जाय या उसके साथ उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया जाय । परिणाम यह हुआ कि दो-चार महीने में ही उनकी सदर लैण्ड साहब के साथ ठन गई ।

यद्यपि सुरेन्द्र बाबू में योग्यता की कमी न थी और वे अंग्रेज मैजिस्ट्रेट के मुकाबले में अधिक सफलता प्राप्त करके दिखा रहे थे, पर उच्च अधिकारी से वैमनस्य रहने के कारण उनको पग-पग पर कठिनाई सहन करनी पड़ने लगी और अन्त में दो वर्ष के भीतर ही वे उक्त सरकारी नौकरी से हटा दिये गये । इस प्रकार जातीय पक्षपात के शिकार होने वाले ये सर्वप्रथम भारतीय उच्च पदाधिकारी थे, जिसकी चर्चा आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व बहुत दिनों तक देश-विदेशों में सुनाई पड़ती रही थी । श्री ए. ओ. ह्यूम जैसे अंग्रेज ने जो स्वयं एक वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी थे, इस घटना पर विचार करके कहा था-''भारतवर्ष की अंग्रेज नौकरशाही सदैव इस बात की चेष्टा में रहती है कि शाही नौकरी का भवन भारतीयों के प्रवेश से दूषित न होने पाये । इसी नीति का शिकार सुरेन्द्र बाबू को होना पड़ा है ।''

सुरेन्द्र बाबू का जन्म बंगाल के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण परिवार में हुआ था । उनके पिता कलकत्ते के एक प्रसिद्ध डॉक्टर थे । उन्होंने सात वर्ष की आयु में ही सुरेन्द्र बाबू को ऐसे स्कूल में दाखिल कराया जिसमें प्रायः सभी बालक ऐंग्लो इण्डियन थे नाम लिखाते समय इनको अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं आता था, पर स्कूल में सब लड़कों के अंग्रेजी में ही बात करने के कारण उन्हें थोड़े ही समय में उसका अच्छा अभ्यास हो गया । पढ़ने में ये इतने

लगनशील और स्वावलम्बी थे कि स्वयं उद्योग करके अंग्रेजी ही नहीं लैटिन भाषा का भी सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लिया । कॉलेज में पढ़ते समय अंग्रेज प्रोफेसर मि. जान साइमन भी इनकी परिश्रमशीलता को देखकर बड़े प्रसन्न रहते थे । जब इन्होंने बी. ए. की परीक्षा उच्चश्रेणी में पास कर ली तो सबसे पहले ही, जैसा कि वे निश्चय कर चुके थे, आगे पढ़ने के लिये उन्नीस वर्ष की आयु में ही वे इंगलैण्ड पहुँच गये । वहाँ भी शिक्षा-संस्था वालों ने इनकी आयु अधिक मानकर इन्हें भर्ती करने से इन्कार कर दिया । इस विषय में भी इनको अंग्रेज अधिकारियों से छह महीने तक जोरदार संघर्ष और बहुत अधिक लिखा-पढ़ी करनी पड़ी तब कहीं जाकर परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल सकी ।

जब सरकारी नौकरी से पृथक् हो गये तो ये दुबारा इंगलैण्ड गये ताकि भारतीय अधिकारियों के अन्याय की शिकायत वहाँ के अधिकारियों के समक्ष उपस्थित करें पर जब जातीयता के आधार पर वहाँ भी गोरे लोगों का ही पक्ष लिया गया, तो उन्होंने अपना विचार बिल्कुल बदल दिया और अपने देश में जातीय-भाव की वृद्धि करके शासन पर जनता का नियंत्रण स्थापित किया जाना ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया । इसके लिए वे एक वर्ष तक इंगलैण्ड में ही ठहरे रहे और योरोप के राजनीतिक साहित्य और इतिहास का गहरा अध्ययन किया । उनको मेजिनी के सिद्धान्त विशेष रूप से पसन्द आये यद्यपि उसकी सशस्त्र क्रान्ति के मत को उन्होंने कभी मान्य नहीं किया । वे वैध आन्दोलन करके राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के पक्ष में थे । अपने भावी कार्यक्रम पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा-

''मैंने पहले ही उस कार्य का कुछ विचार कर लिया था जो जीवन में मेरी प्रतीक्षा कर रहा था । मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यह अन्याय मुझे केवल इसलिए सहना पड़ा कि मैं भारतीय था । मैं एक ऐसे समाज का सदस्य था जिसमें कोई संगठन नहीं है, जिसका एक सार्वजनिक मत नहीं है और जिसका अपने देश के शासन में कोई अधिकार व महत्व नहीं है । युवावस्था के जोश में मुझे यही प्रतीत हुआ कि हम लोग इस समय अपने देश में ही दास, लकड़ी काटने वाले या बोझा ढोने वाले कुली बना दिये गये हैं । जो कुछ अन्याय मेरे साथ किया गया वह हमारे समाज व देशवासियों की नितान्त शक्तिहीनता का द्योतक था । मैंने निश्चय किया कि इस अवस्था में देशवासियों की सहायता अवश्य करनी चाहिए । जिस प्रकार मृत्यु का परिणाम अधिक उच्च जीवन होता है, मेरी असफलता का भी वैसा ही परिणाम हुआ ।''

भारतवर्ष लौटते ही उन्होंने शिक्षा प्रचार में ध्यान देना आरम्भ किया । उनकी मान्यता थी कि अच्छी शिक्षा ही देशोन्नति की पहली सीढ़ी है । संयोग से उसी समय महान समाजसेवक पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने उनसे अपने 'मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट' में शिक्षक का कार्य करने को कहा । यहाँ पर यद्यपि उनको २००) रुपये मासिक ही मिलता था जो असिस्टेन्ट मैजिस्ट्रेट की अपेक्षा आधा ही था, पर सुरेन्द्र बाबू को अधिक खुशी इस बात की थी कि इस कार्य में वे नवयुवकों के सम्पर्क में रहकर उनमें समाज-सेवा तथा देश-भक्ति की भावना उत्पन्न कर सकते थे । सन् १८८२ में उन्होंने स्वयं एक संस्था स्थापित की, जो बाद में रियन कॉलेज के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिसमें से सन् १९१२ तक उन्होंने हजारों विद्यार्थियों को सुयोग्य नागरिक बनाकर निकाला ।

राजनीतिक जीवन का आरम्भ

शासन सुधार की दृष्टि से सुरेन्द्र बाबू ने 'इण्डियन एसोसिएशन' की स्थापना की थी । उस समय ब्रिटिश सरकार नहीं चाहती थी कि भारतवासी इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में सम्मिलित होकर भारत के शासन कार्य में भाग लेने लगें । उसने एक नियम बनाया कि परीक्षा में सम्मिलित हो सकने की आयु जो पहले २१ वर्ष की थी अब १९ ही रहेगी । यदि यह मान लिया जाता तो किसी भारतवासी का उसमें शामिल हो सकना कठिन था। इसके विरुद्ध 'इण्डियन एसोसियेशन' ने जोरदार आन्दोलन उठाया और अपना प्रतिनिधि इंगलैण्ड भेजकर पार्लियामेण्ट के सामने इस प्रश्न को उपस्थित कराया । इसके फल से १९ वर्ष वाला नियम रोक दिया गया और सिविल सर्विस वालों को और भी कई सुविधाएँ दी गईं ।

इसी प्रकार जब सरकार ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' बनाकर देशी भाषाओं के अखबारों का दमन करना चाहा तो सुरेन्द्र बाबू ने उसके विरुद्ध बड़ा जोरदार आन्दोलन शुरू किया । भारत के अंग्रेज शासकों ने तो उनको हर तरह से दबाने की चेष्टा की, पर उन्होंने फौरन इंगलैण्ड के प्रधानमंत्री. मि. ग्लैडस्टन का दरवाजा खटखटाया, जो स्वयं बड़े उदार सिद्धान्तों के व्यक्ति थे । परिणाम यह हुआ कि दो-चार वर्ष बाद ही नये वायसराय लार्ड रिपन के आने पर वह कानून रद्द कर दिया गया ।

पत्र सम्पादन

सुरेन्द्रनाथ जहाँ एक बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री तथा उच्चकोटि के वक्ता थे, वहाँ उनकी तीसरी विशेषता सम्पादन कला में दक्षता भी थी । उन्होंने 'बंगाली' नाम का प्रसिद्ध दैनिक ४३ वर्ष तक प्रकाशित और सम्पादित किया। उसके सम्बन्ध में भारत के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा ने कहा था- 'सम्पादन की दृष्टि

से सुरेन्द्रनाथ का स्थान बहुत ऊँचा था और उन्होंने सदैव पत्र की महत्ता और उच्चता को कायम रखा । अपने विरोधियों के प्रति भी उन्होंने कभी अन्याययुक्त विचार प्रकट नहीं किए और न कभी प्रान्तीयता के संकीर्ण घेरे में ही अपने पत्र को आबद्ध होने दिया ।'' एक अन्य आलोचक ने लिखा था-बंगाली के लेखों में सदैव भारतीयता की भावना ही प्रकट होती थी ।'' सुरेन्द्रनाथ पर बंगाली के एक लेख के कारण सन् १८८३ में हाईकोर्ट की मान-हानि का मुकदमा चलाया गया । एक जज ने किसी मुकदमे में शालिग्राम की मूर्ति को कोर्ट में मँगाया था । इस पर सुरेन्द्र बाबू ने लिखा- ''जिस मूर्ति को हम भगवान के रूप में पूजते हैं उसे अदालत में मँगाना बड़ा अनुचित है और ऐसे जज को देश के सर्वोच्च न्यायालय में नियुक्त करना गलती है ।'' इस मुकदमे में उनको दो महीने की कैद की सजा दी गई, जिससे उनका नाम चारों तरफ फैल गया । सार्वजनिक मामले में सजा पाने वाले वे सम्भवतः प्रथम सम्पादक थे । इसके १३ वर्ष बाद लोकमान्य तिलक को भी ऐसे ही मामले में सजा हुई थी ।

समाज-सुधार के क्षेत्र में

सुरेन्द्रबाबू का मुख्य कार्यक्षेत्र राजनीति ही था, पर समाज सुधार की तरफ भी उन्हें युवावस्था से ही आकर्षण था । पं. ईश्वरचन्द विद्यासागर के विधवा विवाह आन्दोलन से वे बहुत प्रभावित हुए थे, यद्यपि उनके पितामह पुरानी विचारधारा के सनातनी होने से इसके विरुद्ध थे पर पिता डॉ. दुर्गाचरण बनर्जी इसके पक्षपाती थे। सुरेन्द्रबाबू ने अपनी 'आत्म कथा' में लिखा है कि अपनी किशोरावस्था में ही मैं चिल्लाने लगता था कि इस महापुरुष का सन्देश कब पूरा होगा और अब अपनी जीवन सन्ध्या में भी मैं उसी प्रकार पुकार रहा हूँ । दूसरा आन्दोलन 'जिसमें उन्होंने भाग लिया' श्री प्यारेचरण सरकार का था । उस समय बंगाल के नवयुवकों की दशा बहुत पतित हो उठी थी और वे अंग्रेजी रहन-सहन की नकल करना ही सबसे बड़ा काम समझते थे । फैशन बदलने को तो लोगों ने बड़ा दोष नहीं माना, पर जब योरोपियनों की देखा-देखी उनमें मद्यपान की प्रवृति भी बढ़ने लगी तब समाज-हितैषी सज्जन वृन्द चौकन्ने हुए सुरेन्द बाबू भी नवयुवकों में शुद्ध जीवन का प्रचार करने लगे और फिर एक शिक्षक की हैसियत से आजन्म उसे करते रहे ।

काँग्रेस के निर्माण कर्त्ता-

सुरेन्द्रबाबू को एक दृष्टि से कांग्रेस का संस्थापक कहा जाता है । जैसा कहा जा चुका है कि भारतीय शासन में सुधार कराने के उद्देश्य से उन्होंने 'इण्डियन ऐसोसियेशन' की स्थापना की थी और १८८४ में उसको इतनी सफलता प्राप्त हो गई कि उससे प्रेरणा लेकर मि. ह्यूम और उमेशचन्द्र बनर्जी आदि ने काँग्रेस की स्थापना की । सुरेन्द्रबाबू आरम्भ से ही इस कार्य में सम्मिलित रहे और बहुत वर्षों तक तो उसके मुख्य संचालक वही बने रहे । उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में १८९४ के पूना में होने वाले काँग्रेस अधिवेशन का समापन अध्यक्ष उनको ही बनाया गया । उसमें उनका भाषण इतना प्रभावशाली और भावनात्मक था कि जिसकी बड़ी सराहना हुई । जब अन्तिम दिन वे अधिवेशन का समापन करने उठे तो लोगों में उत्साह की एक लहर दौड़ गई और वे एक अभूतपूर्व जोश में आकर सुरेन्द्र बाबू की जय-जयकार करने लगे । इस दृश्य को देखकर सुरेन्द्रबाबू का हृदय भी भाव-विह्वल हो उठा और उसी अवसर पर उन्होंने उच्च कण्ठ से घोषणा की -

''अगर मैं इसी क्षण तक जीवित रहूँ और इसके बाद तुरन्त ही मेरी मृत्यु आ पहुँचे तो भी मैं अपने को सबसे अधिक प्रसन्न मनुष्य समझूँगा । मेरी आयु चाहे लम्बी हो या छोटी ही रह जाय तो भी इस समय समस्त भारतवर्ष से एकत्रित इन प्रतिनिधियों के सम्मुख परमात्मा को साक्षी मानकर यह घोषित करता हूँ कि मेरा जीवन उन अभिलाषाओं को पूरा करने में ही व्यतीत होगा जिनको हमारे राष्ट्र ने उद्‌घोषित किया है ।''

यद्यपि अन्तिम दिनों में काँग्रेस में नर्म और गर्म दल का मतभेद खड़ा हो जाने से जनता का भाव परिवर्तन हो गया और अनेक व्यक्ति नर्म दलों वालों को 'सरकार परस्त' कहने लग गये । सुरेन्द्रबाबू नर्म दल के माने हुए नेता थे, इसलिए उनका सम्मान भी पूर्वापेक्षा काफी घट गया, फिर भी वे वैध उपायों से काम लेकर देश की सेवा करते रहने के अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहे और विभिन्न रूपों में समाज और राष्ट्र की प्रगति के लिए प्रयत्न करते रहे। उनकी निष्काम सेवायें आने वाली पीढ़ी को प्रकाश ही देंगी ।

राष्ट्रसेवी-आचार्य गिडवानी जी

आचार्य गिडवानी करॉंची में विदेशी वस्त्र की दुकानों के आगे पिकेटिंग कर रहे थे । एक तो उनकी दुर्बल काया और ऊपर से जून माह की भयंकर गर्मी, कड़ी धूप में उन्हें खड़े-खड़े बड़ी देर हो गई थी । उनकी धर्म-पत्नी गंगा बहिन ने आकर उनसे कहा-''अब आप घर जाओ। आपको धूप में खड़े-खड़े बहुत देर हो गई है । वहाँ बच्चों की देखभाल करना । अब मेरी बारी है, मैं पिकेटिंग करूँगी ।''

"अच्छी बात है, पर क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम दोनों ही पिकेटिंग करें।" गिडवानी जी ने अपने मन की बात कही। तभी निकट खड़े मित्र बोल पड़े- और बच्चों की देखभाल कौन करेगा ?"

'भारतमाता !' गिडवानी जी का सहज-सा उत्तर था।

इस प्रकार के व्यक्तित्व को जिसके मन में भारत माँ के प्रति यह निष्ठा थी, ब्रिटिश सरकार भयंकर समझती थी। यही कारण था कि आचार्य गिडवानी को जिनके लिए इस देश में भी और विदेश में भी किसी शिक्षण संस्थान का कुलपति या वैदेशिक राजदूत का पद पा सकना सहज था, देश की स्वतंत्रता के लिए सरकारी जेल में रहकर रस्सियाँ बुनने जैसा शारीरिक श्रमसाध्य कार्य करना पड़ा जो उनके व्यक्तित्व को देखते हुए नितान्त तुच्छ था पर सदुद्देश्य के लिए वे यह सब अपना गौरव मानते थे।

आचार्य गिडवानी के सम्बन्ध में हिन्दी के जाने माने साहित्य साधक बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने एक रेखा चित्र में लिखा है-

"मैदान निवासियों के लिए कभी-कभी पर्वत यात्रा करना अति आवश्यक है। जो लोग नीची सतह पर रहते हैं, उन्हें यदाकदा उच्च भूमि पर जाकर प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण करना चाहिए। भौतिक जगत की यह बात विचारों के जगत के लिए भी कही जा सकती है। साधारण आदमियों को, जो विचारों की निचली सतह पर रहते हैं, उच्च विचार वाले सज्जनों का सत्संग उतना ही आवश्यक है, जितना कि मैदान निवासियों के लिए पर्वत यात्रा।

जब-जब आचार्य गिडवानी जी से मिलने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है, तब-तब उपर्युक्त कथन की सत्यता हमारी समझ में आती रही है। उनके वार्तालाप में वही आनन्द आता है जो शीतल मन्द समीर के सेवन में। उनकी विचारधारा निर्मल-निर्झर के कल-कल निनाद की याद दिलाती है। उनका मस्तिष्क दलबन्दी के कोलाहल से उतना ही ऊँचा उठा रहता है, जितना गिरि-श्रृंग आस-पास की भूमि से। उनका सत्संग एक प्रकार का स्वास्थ्य-लाभ है, जहाँ का सांस्कृतिक वातावरण क्षुद्र विचारों के कीटाणुओं के लिए घातक है। इसीलिए हमारे हृदय में दो आकांक्षाएँ बराबर बनी रहती हैं- "एक तो आपातकाल में कहीं पर्वत यात्रा की जाय और दूसरी गिडवानी जी जैसे सुसंस्कृत व्यक्तित्व का सत्संग।"

उच्च विचार और उच्च व्यवहार के फलों से लदे जिस व्यक्तित्व की सुखद छाया में आपत्काल में दो घड़ी सुस्ताकर क्लान्ति मिटाने और नूतन बल पाने वाली बात श्री चतुर्वेदी जी ने कही है वह अप्रमाणिक नहीं मानी जा सकती। ऐसे व्यक्तित्व के धनी मानव, समाज का सबसे बड़ा धन होते हैं।

ऐसे व्यक्तित्व सम्पन्न गिडवानी जी (असूदमल टेकचन्द गिडवानी) का जन्म ११ सितम्बर, १८९० में हैदराबाद (सिन्ध) में हुआ था। शिक्षा-संस्कृति की दृष्टि से इस नगर का अपना वैशिष्ट्य है। गिडवानी जी तो इसकी तुलना ऑक्सफोर्ड से करते थे। उनके बाबा सिन्धी भाषा के कवि थे और सिन्ध के मीर लोगों के आश्रय में रहते थे। पिता एन. डब्ल्यू. रेल्वे में स्टेशन मास्टर थे। इससे उन्हें बचपन में अपने पिताजी के एक से दूसरे स्टेशन पर स्थानान्तरण के कारण घूमने को खूब मिला। पैंतीस वर्ष रेल्वे की सेवा करने के बाद उनके पिता जी को कुल सत्ताईस रुपया महीना की पेंशन मिली तो उन्हें पहली बार यह बात बुरी तरह खटकी कि वे पराधीन देश के नागरिक हैं। समय आने पर उन्होंने परतंत्रता के इस जुये को उतार फेंकने वाले आन्दोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

नवलराय हीराचन्द स्कूल से माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद वे कॉलेज में भर्ती हुए। सिन्ध कॉलेज कराँची से उन्होंने एम. ए. किया। विद्यार्थी जीवन में ही वे युवक संगठनों में सम्मिलित होकर देश व समाज के लिए कुछ कर सकने की योग्यता अर्जित करते रहे और एम. ए. करने के बाद कोई अच्छा-सा अधिकारी पद पाने या किसी कॉलेज में प्रोफेसर बनने की बजाय उन्होंने दूसरा ही मार्ग चुना, कष्ट-कण्टकों व खतरों से भरा हुआ मार्ग।

वे जीवन का अर्थ 'एडवेंचर' से लेते थे गिडवानी जी अच्छे कार्य के लिए बड़े से बड़ा खतरा उठाने में भी हिचकिचाते नहीं थे।

सौभाग्य से उन्हें गंगा बहिन जैसी धर्मपत्नी मिल गई, जो उनके इस सत्साहसी व्यक्तित्व के साथ तालमेल बिठा सकीं या उन्होंने धर्मपत्नी को अपने अनुरूप ढाल लिया था। दोनों ही बातें सम्भव हैं। इतना स्पष्ट है कि परिवार उनके लिए समाज सेवा के मार्ग में बन्धन नहीं बना। गंगा बहिन और गिडवानी जी एक और एक मिलकर ग्यारह होने वाली उक्ति को चरितार्थ कर गये।

एम. ए. करने पर वे आई. सी. एस. परीक्षा पास करने के लिए ऑक्सफोर्ड भी गये। यहाँ उनकी भेंट हसन शहीद सुहरावर्दी से हुई। उनसे परिचय होने के बाद उनके क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव गिडिवानी जी पर भी पड़ा और वे आई. सी. एस. न करके ऑक्सफोर्ड में पढ़ने लगे। यहीं उन्होंने इटली को स्वतंत्र कराने के ध्येय पथ पर जीवन समर्पित करने वाले देशभक्त मेजिनी की जीवनी पढ़ी। उसका स्थायी प्रभाव उनके मन पर हुआ। एम. ए. करके स्वदेश लौटने पर वे प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कॉलेज में कुछ समय के लिए प्रोफेसर रहे पर उनके देशभक्तिपूर्ण विचारों ने अधिक दिनों तक उन्हें वहाँ बँधने न दिया। तत्पश्चात् वे थोड़े दिनों बीकानेर महाराज के प्राईवेट सेक्रेटरी रहे पर वहाँ भी देश के लिए कुछ न कर सकने की स्थिति में स्वयं को पाने के कारण उसे भी छोड़ बैठे। कहने का अर्थ यह है कि उन्होंने कई स्थानों पर नौकरी

की, पर जहाँ कहीं भी उनकी निर्धारित राष्ट्रीय और सामाजिक भूमिका के निर्वाह में नौकरी बाधक होने लगी तो वहीं उन्होंने उससे नमस्कार कर लिया ।

मेयो कॉलेज अजमेर और रामजस कॉलेज, दिल्ली में क्रमश: प्राध्यापक और प्राचार्य रहते हुए अन्तत: १९२० में उन्होंने इस्तीफा देकर असहयोग आन्दोलन में खुल्लम्-खुल्ला भाग लिया । इससे पूर्व भी वे राष्ट्रीय गतिविधियों में बराबर भाग लेते रहे थे ।

जब गिडवानी जी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के कारण नाभा जेल की छोटी-सी कोठरी में रखे गये थे तब उनका स्वास्थ्य आश्चर्यजनक रूप से गिरता चला गया । काया दुर्बल तो पहले ही थी काल कोठरी ने उसे और भी क्षीण बना दिया । उनका तीस पौण्ड वजन घट गया था । ऐसी स्थिति में भी उनका और उनकी धर्मपत्नी गंगा बहिन का धैर्य अतुलनीय था ।

रामजस कॉलेज में प्राचार्य पद से हटने के बाद उनका कार्यक्षेत्र बना गुजरात विद्यापीठ । गुजरात विद्यापीठ में उन्होंने वर्षों तक सेवाएँ समर्पित कीं । वे एक आदर्श आचार्य थे । वे किसी एक संस्थान के होकर नहीं रहे । जहाँ किसी को उनकी आवश्यकता अनुभव हुई या स्वयं उन्हें ऐसा लगा तो वे वहाँ पहुँच गये । शिक्षा क्षेत्र में उनका योगदान अविस्मरणीय ही माना जायेगा ।

महात्मा गांधी ने उन्हें प्रेम महाविद्यालय, वृन्दावन का अध्यक्ष बनाकर भेजा । वे वहाँ पर दो वर्ष तक रहे । आपके सद्प्रयत्नों से प्रेम महाविद्यालय में एक नया जीवन का संचार हो गया । उसकी कार्यकारिणी समिति में कांग्रेस की प्रधानता स्थापित करने का श्रेय आप ही को है ।

गिडवानी जी एमर्सन के बड़े भक्त थे । एमर्सन के कितने ही वाक्य उन्हें कण्ठस्थ थे । उनके समकालीन नेताओं में ऐसे लोग बहुत कम थे जो स्वतंत्र ढंग से विचार कर सकते थे । उनका एक बहुत बड़ा गुण यह भी था कि वे अपनी मौलिक विचार-शक्ति को कभी बिसराते नहीं थे।

एक समय की बात है । कहीं पर एक अंग्रेज विद्वान का भाषण था । वे उनका भाषण सुनने गये । वहाँ आपसे भी बोलने के लिए अनुरोध किया गया । वे बोले, बहुत अच्छा बोले । अंग्रेज वक्ता तो उनसे बड़े प्रभावित हुये और पूछने लगे- "आपने बर्ट्रेण्ड रसेल की हाल में छपी शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ी हैं ?" गिडवानी जी बोले - "नहीं तो ।" उन अंग्रेज महाशय को आश्चर्य हुआ कि जो बात रसेल ने इन पुस्तकों में कही थी वही गिडवानी जी ने अपने भाषण में भी कही ।

गिडवानी जी की व्याख्यान शैली उच्चकोटि की थी और स्वर बड़ा कर्णप्रिय था । उनके व्याख्यानों में मानसिक भोजन का काफी मसाला रहता था। उनकी वक्तृत्व-शक्ति अनूठी थी ।

गिडवानी जी कहीं में भी प्रसन्न रहना जानते थे । वृन्दावन में उनका स्वास्थ्य् प्राय: अच्छा नहीं रहता था । वहाँ के आस-पास का वातावरण अनुदार विचारों के साथ-साथ मलेरिया के कीटाणुओं से भी भरापूरा था । वे कई बार बीमार पड़े । मित्रों ने आग्रह किया, "आप इस स्थान को छोड़कर चले जाइए ।" पर उनका एक ही उत्तर था । "जहाँ परिस्थितियों ने मुझे ला पटका है वहीं मेरा कर्म क्षेत्र है, वह नहीं जहाँ मैं जाना चाहता हूँ।"

वृन्दावन के अनेक कष्टों के बीच में भी उन्होंने अपने लिये आकर्षण खोज लिया था, वह था वृन्दावन का सन्ध्याकालीन दृश्य और सूर्यास्त । वे कहा करते थे, "मेरे सब कष्टों के लिए ये दृश्य मानो पुरस्कार हैं।" जो इस प्रकार की उच्चाशययुक्त कल्पनाओं में रमा रहता हो उसे कष्ट अधिक सालता भी तो कैसे ?

गिडवानी जी सिंधी भाषा के अच्छे लेखक थे । उन्होंने कई पुस्तकें लिखकर सिंधी भाषा के साहित्य को समृद्ध बनाया । साहित्य सेवा, शिक्षा सेवा और समाज सेवा की अविकल मन्दाकिनी उनके जीवन में बहती रहकर मानस को उससे आप्लावित करती रही है ।

सन्त समागम और उनकी सेवा की कामना संतों की परिभाषा आकांक्षाओं में गिनी जाती थीं पर उनकी संतों की परिभाषा क्रान्तिकारी थी, आधुनिक थी। उनकी दृष्टि में जो श्रेष्ठ सन्त थे और जिनके साथ वे दो-दो महीने रहना चाहते थे वे थे-ब्रजेन्द्रनाथ शील, साधु टी. एल. वासवानी और सी. एफ. एण्ड्रूज ।

ऐसा मधुर और प्रखर व्यक्तित्व था गिडवानी जी का जो प्रेरक भी है और प्रशंसनीय भी ।

देशबन्धु चितरंजन दास

अंग्रेजों के शासनकाल में धनोपार्जन की दृष्टि से सबसे बड़ा पेशा वकील-बैरिस्टर का समझा जाता था । उस समय चोटी के वकील एक हजार रुपया प्रतिदिन तक मेहनताना वसूल करते थे । इसका आशय यह है कि वे आजकल के हिसाब से दस-बारह हजार रुपया प्रतिदिन पा जाते थे । ऐसे लोगों में पं. मोतीलाल नेहरू और श्री चितरंजन दास का नाम उस समय सबसे अधिक प्रसिद्ध था । लोग कहते थे कि जिस समय महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन में शामिल होकर दास बाबू ने बैरिस्टरी को छोड़ा उस समय उनकी मासिक आय पचास हजार तक पहुँच गई थी। उनकी श्रेणी के एक-एक वकील अपनी मृत्यु के पश्चात् एक-एक करोड़ तक की सम्पत्ति उत्तराधिकार में छोड़ गये थे पर दास बाबू ही थे जिन्होंने सबसे अधिक आमदनी करने पर भी अपने पीछे कुछ नहीं छोड़ा, मरते समय अपना मकान भी अस्पताल

बनाने को दे गये, ऐसे आदर्श त्याग के उदाहरण संसार में कम ही मिल सकेंगे ।

यों तो दास बाबू (१८७० से १९२५) को देशसेवा और परोपकार की लगन प्रारम्भ से ही थी । अपने ऊपर कर्ज हो जाने पर भी राष्ट्रीय कार्यों में वे मुक्तहस्त होकर सहायता करते रहते थे । उनकी यह विशेषता जनता को तब विदित हुई जब उन्होंने श्री अरविन्द घोष के मुकदमे की पैरवी का भार ग्रहण किया । अरविन्द घोष को भारतवर्ष के सबसे बड़े षड़यन्त्र-अभियोग 'मानिकतल्ला बम केस' में फाँसा गया था । इसमें बम बनाने का कारखाना स्थापित करने और बम चलाकर दो अंग्रेज स्त्रियों को मार देने के अभियोग में ३६ बंगाली युवकों को पकड़ा गया था और इतना विस्फोटक पदार्थ तलाशी में मिला था, जिससे एक छोटा शहर पूरी तरह उड़ा दिया जाय । सरकार ने इस सबकी जड़ अरविन्द को ही बतलाया और इस बात की पूरी कोशिश की कि उनको प्राण-दण्ड दिया जाय । अरविन्द के पास एक पैसा भी न था जिससे व मुकदमे की पैरवी करा सकें, क्योंकि वे तो अपना सर्वस्व ही स्वाधीनता देवी की वेदी पर होम चुके थे । ऐसे अवसर पर देशबन्धु चितरंजन दास आगे बढ़े और मुकदमे का पूरा भार अपने ऊपर ले लिया और मुकदमा भी ऐसा भयंकर तथा कठिन जिसमें उनको अपना सब काम छोड़कर प्रतिदिन रात के बारह बजे तक परिश्रम करना पड़ता था। इस प्रकार लगातार महीनों तक हद के दर्जे का उद्योग करने के पश्चात् दास बाबू सरकारी जाल को छिन्न-भिन्न करके अरविन्द घोष का उद्धार कर सके ।

उनके इस महान त्याग पर प्रकाश डालते हुए एक लेखक ने कहा है- "चितरंजन ने अपने मुवक्किल को बचाने के लिए बड़ी मेहनत की । उन्होंने इस मुकदमे में अपनी सारी बुद्धि और शक्ति लगा दी तथा अपना पक्ष सशक्त करने के लिए तत्सम्बन्धी सभी कानूनों और फैसलों का अध्ययन किया । दस महीने तक चितरंजन ने अरविन्द के मुकदमे में रात-दिन एक कर दिया । उन्होंने इस मुकदमे को न केवल बिना किसी प्रकार की फीस के स्वीकार किया, बल्कि इसके कारण उनको अपनी घोड़ा-गाड़ी बेच देनी पड़ी तथा कर्ज लेकर काम चलाना पड़ा । उनकी आमदनी बिल्कुल बन्द हो गई थी । जबकि खर्चे ज्यों के त्यों बने हुये थे । जिस समय मुकदमा खत्म हुआ उन पर लगभग पचास हजार का ऋण हो चुका था ।"

इस प्रकार एक देश सेवक की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व दाँव पर लगा देने वाले दास बाबू जैसा दूसरा उदाहरण मिल सकना कठिन है । उनका मुकाबला सर्व शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार से था, जिसने राज विद्रोहियों को कड़ी से कड़ी सजा दिलाने के लिए पानी की तरह रुपया बहाया था, पर तो भी वह दास बाबू की निस्वार्थ उदारता और कर्तव्य पालन के मुकाबले में सफल मनोरथ न हो सकी । मुकदमे का फैसला करने वाले अंग्रेज जज मि. बीच क्राफ्ट ने स्वयं अपने फैसले में लिखा- "अरविन्द ही वह अभियुक्त थे जिन्हें दण्ड दिलाने के लिए सरकार सबसे अधिक इच्छुक थी अगर वे इसमें न होते तो यह मुकदमा कभी का खत्म हो गया होता ।"

धन के विषय में दास बाबू की यह निस्पृह भावना तथा उचित कार्य के लिए उसे मुक्त हस्त से खर्च करना सदा से उनका स्वभाव रहा था । उनके पिता भी अपनी अत्यधिक उदारता के कारण कुछ अभियुक्तों के जमानतदार बन गये थे । जिसके कारण उन पर तीस चालीस-हजार रुपये की देनदारी आ गई और उनको दिवालिया हो जाना पड़ा । इसके पश्चात् जब दास बाबू २३ वर्ष की आयु में विलायत से बैरिस्टरी की परीक्षा पास करके आये और उनकी वकालत चलने लगी तो सबसे पहले उन्होंने इस कर्ज को ही चुकाया, यद्यपि दिवालिया कानून के अनुसार उन पर ऋण चुकाने का कोई दायित्व न था । जब बाबू विपिन चन्द्र पाल ने राष्ट्रीय प्रचार कार्य के लिए 'न्यू इण्डिया' पत्र का संचालन भार लिया तब भी देशबन्धु दास ही उनके सबसे बड़े सहायक बनकर सामने आये । इसका वर्णन करते हुए पाल बाबू ने कहा था-

"जब प्रारंभिक मालिकों के लिए 'न्यू इण्डिया' का भार सँभालना कठिन हो गया तो चितरंजन दास उसकी सहायतार्थ आगे बढ़े । कानूनी बन्धन के कारण वे स्वयं तो उसके डाइरेक्टर नहीं बन सकते थे पर अपने मित्रों को आगे लाकर एक 'ज्वाइण्ट स्टॉक कम्पनी' की स्थापना कराई जिससे पत्र फिर चलने लग गया । लगभग बीस वर्ष तक इस प्रकार मैं और चितरंजन दास सच्चे सहयोगी के रूप में देश-सेवा करते रहे । मैं काम करता था और वे मेरे-जीवन निर्वाह की व्यवस्था करते थे ।

अपने इस कार्य द्वारा दास बाबू ने उन लोगों का पर्दाफाश कर दिया जो अपने कारोबार, नौकरी अथवा गृहस्थी के बन्धनों का बहाना बताकर सेवाकार्य में सहयोग नहीं करते ? दास बाबू के ऊपर अपनी वकालत का इतना कार्य भार और अभियुक्तों का उत्तरदायित्व रहता था कि वे न तो देश के कार्यों के लिए अधिक समय दे सकते थे न अधिक खतरा उठा सकते थे, पर फिर भी वे धन और आवश्यक सलाह-मशविरा द्वारा ऐसे कार्यों में बराबर सहयोग देते रहते थे ।

इस प्रकार दास बाबू आरम्भ से ही परिस्थिति के अनुसार देश के कार्यों में बराबर, जिस प्रकार संभव हो

सका, भाग लेते रहे। १९०५ में जब बंग-भंग के आन्दोलन के फलस्वरूप समस्त देश में राजनैतिक हलचल बहुत बढ़ गई तो सरकार ने एक 'सर्क्युलर' निकाला कि स्कूल-कॉलेजों के छात्र राजनैतिक आन्दोलनों में भाग न लें अन्यथा वे दण्डित किए जायेंगे। इस आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण अनेक छात्रों पर जुर्माना किया गया और कुछ को बेंत भी लगाये गये। यह देखकर देश के नेता कलकत्ता में एक राष्ट्रीय कॉलेज खोलने का विचार करने लगे, पर इतने बड़े आयोजन के लिए उस समय साधन मिल सकना सहज न था तब दास बाबू अग्रसर हुए और अपने परिचित एक धनी सज्जन से एक लाख रुपया लेकर राष्ट्रीय शिक्षा परिषद (नेशनल कौंसिल ऑफ एजुकेशन) की स्थापना करा दी। फिर जब राष्ट्रीय कॉलेज के प्रिंसीपल पद के लिए किसी उच्चकोटि के विद्वान की आवश्यकता हुई तब भी उन्होंने श्री अरविन्द घोष को जो उस समय बड़ौदा के 'गायकवाड़ कॉलेज' में ७५०) रुपये मासिक पर वाइस प्रिंसीपल के पद पर कार्य कर रहे थे, प्रेरणा देकर कलकत्ता बुला लिया। राष्ट्रीय कॉलेज में उनको केवल १५० रुपये दिये जाते थे।

सन् १९१७ में 'होम रूल आन्दोलन' के जोर पकड़ने पर उनको उसमें प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उसी अवसर पर उनको 'बंगाल प्रादेशिक राजनैतिक सम्मेलन' का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उनके नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते हुये बंगाल के पुराने नेता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने भविष्यवाणी कर दी कि "श्री दास शीघ्र ही भारत के अत्यन्त लोकप्रिय और विश्वासपात्र नेता बनने वाले हैं।"

इस कान्फ्रेंस में दास बाबू ने जो भाषण दिया वह भी इस बात का प्रतीक था कि यद्यपि वे राजनीति में प्रवेश कर रहे हैं, पर उनका लक्ष्य आधुनिक कूटनीति और अपने स्वार्थों की रक्षा करना नहीं वरन् भारत के आध्यात्मिक आदर्शों पर ही चलना है। अपने भाषण में उन्होंने कहा–

"अपने देश में विदेशी राज्यविस्तार होने के साथ-साथ हमने योरोप की कुछ बुराइयों को अपना लिया है और हम अपने प्राचीन आडम्बर रहित जीवन को त्यागकर सुख और विलासिता के जीवन की ओर अग्रसर होते जा रहे हैं। अगर विचार किया जाय तो हमारे सभी राजनैतिक आन्दोलन यथार्थता से दूर हैं क्योंकि इनमें उन लोगों का कोई हाथ नहीं, जो इस देश की असली रीढ़ हैं।" यहाँ उनका आशय सामान्य जनता से था, जिसके नाम पर सब आन्दोलन उठाये जाते हैं पर उनका लाभ प्राय: शक्तिशाली और सम्पन्न वर्ग के लोग ही उठाते हैं। दास बाबू का यह भाषण इतना मार्मिक था कि बंगाल के तत्कालीन गर्वनर लार्ड रोनाल्डरो ने अपनी एक पुस्तक 'दी हार्ट आफ आर्यावर्त' में उसकी चर्चा करते हुये लिखा था–

"श्री दास ने जो कुछ कहा, वह वास्तव में एक मिशनरी के उत्साह से कहा गया था। योरोपीय स्वर्ण-पशु (दिखावटी आदर्शों) की उन्होंने धज्जियाँ उड़ाकर रख दीं और एक ऋषि के समान अपने देशवासियों को सच्ची प्रगति का मार्ग दिखलाया।"

ऐसे ही उद्‌गार उन्होंने उस समय प्रकट किए जब भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रमुख रूप से कार्य करने के फलस्वरूप श्रीमती एनीबीसेण्ट को ब्रिटिश सरकार ने गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिया। इस कार्यवाही की आलोचना करते हुये दास बाबू ने एक सार्वजनिक सभा में कहा–

"मैं नहीं समझता कि मानवता के देवता का गला केवल एक बार ही घोंटा गया है। अत्याचारियों ने मानवता का गला बार-बार घोंटा है। मानवता पर होने वाला प्रत्येक आघात उसके तन में ठोकी गई एक नई कील के समान है।"

देशबन्धु दास केवल कानून के ही बहुत बड़े जानकार नहीं थे, वे उच्चकोटि के साहित्य प्रेमी और भक्त भी थे। उन्होंने 'सागर संगीत' नामक एक महत्वपूर्ण काव्यग्रन्थ लिखा था, जिसका अनुवाद कुछ वर्ष पश्चात् श्री अरविन्द घोष ने अंग्रेजी में कविता के रूप में ही किया। इसके अतिरिक्त उनके 'अन्तर्यामी,' 'किशोर-किशोरी' 'माला' आदि कई-काव्य संग्रह प्रकाशित हुये, जिनको जनता ने बहुत पसन्द किया। अंग्रेजी के एक प्रसिद्ध विद्वान 'जान अलेक्जैण्डर चैपमैन' ने दास बाबू की रचनाओं की बड़ी प्रशंसा की और उनमें से कुछ का अनुवाद भी किया। उन्होंने दास बाबू की एक-एक रचना पर विचार करते हुए लिखा–"देशबन्धु के विचारानुसार संगीत और जीवन दोनों एक हैं। संगीत जीवन है और जीवन संगीत। निस्संदेह संगीत उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव, और वह मानव की दिव्यता का प्रमाण है।"

दास बाबू देश की स्वाधीनता के लिए गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन में शामिल अवश्य हुए और उसको सफल बनाने में उन्होंने अपना धन और ज्ञान ही नहीं लगा दिया वरन् अपना स्वास्थ्य और प्राण भी अर्पित कर दिये, फिर भी आपकी विचारधारा में स्वतंत्र चिन्तन का अस्तित्व सदैव बना रहा। जब चौरा-चौरी हत्याकाण्ड से क्षुब्ध होकर महात्मा गाँधी ने देश भर में सत्याग्रह को रोक दिया तब देशबन्धु बड़े असन्तुष्ट हुये और उन्होंने कहा— 'बारदोली के सार्वजनिक अवज्ञा आन्दोलन को रोकने के लिए महात्मा जी के पास जो कुछ भी कारण रहा हो, पर बंगाल में स्वयंसेवकों का काम रोकने के लिए कोई आधार नहीं था। यहाँ स्वयंसेवकों ने अपने प्रयत्नों द्वारा सरकार को लगभग पंगु बना दिया था, पर अब उनके कुछ भी कार्य करने पर प्रतिबन्ध लग गया। यह दूसरी बार महात्मा जी ने परिस्थिति को उलझाया है।'

फिर जब उनको महात्मा जी तथा उनके कुछ विशेष अनुयायियों का कौंसिल बायकाट का प्रोग्राम पसन्द न आया तो उन्होंने 'स्वराज्य पार्टी' का निर्माण किया। जब विरोधियों ने उनको 'काँग्रेस का विद्रोही' कहकर बदनाम करने की चेष्टा की तो उन्होंने उत्तर दिया- "क्या मैं विद्रोही हूँ ? यदि मुझे ऐसा जान पड़े कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए काँग्रेस अथवा भारत की किसी भी दूसरी संस्था का विरोध करना आवश्यक है तो मैं अवश्य उसके प्रति विद्रोह करूँगा। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि काँग्रेस से भी अधिक पवित्र एक और चीज है और वह है- भारतीय जनता की स्वतंत्रता।"

पर उनका 'जनता की स्वतंत्रता' वाला उद्देश्य भी एक और आधार पर टिका हुआ था और वह था भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा। उन्होंने गाँधी जी से स्पष्ट कह दिया था कि "मैं राजनीतिक आन्दोलन में इसीलिए शामिल हुआ हूँ क्योंकि उसे धर्म का अंग समझता हूँ।" हम सबको धर्म के इस बुद्धि संभव स्वरूप को समझकर आचरण करना चाहिए।

राष्ट्रभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त

अंग्रेजी शासन काल में और अब स्वाधीन भारत में भी मोटर गाड़ी के नम्बर प्लेट अंग्रेजी में लिखे जाने का नियम है। शायद इसका कारण यह हो कि अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन चुकी है और संसार भर के यात्रियों को उसकी संख्या पढ़ने का थोड़ा बहुत अभ्यास होता ही है। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि मार्गों में पहरा देने वाले पुलिस वालों को अंग्रेजी अंकों की जानकारी कराई जाती है और वे उसके नम्बरों को चलती मोटर में भी देख सकते हैं। कुछ भी हो ये विदेशी अंक बहुत समय से देशभक्तों और मातृभाषा भक्तों को खटकते रहते थे। वे सोचते थे कि अपने देश में भी जब हम अपनी भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नहीं कर सकते तो अन्य लोग उसे क्यों महत्व देंगे ? ऐसे व्यक्तियों में बनारस के बाबू शिवप्रसाद गुप्त सर्वप्रथम थे जिन्होंने इस विचार को कार्यरूप में परिणित किया। उन्होंने आज से चालीस वर्ष पहले मोटर पर हिन्दी का नम्बर लगाया। इस पर उन पर मुकदमा चलाया गया और अदालत ने दोषी ठहराकर एक रुपया जुर्माना कर दिया पर एक रुपया जुर्माना देने के बजाय आप सैकड़ों रुपया खर्च करके हिन्दी के अधिकार के लिए हाईकोर्ट तक लड़े। इसी प्रकार आप बैंकों के चेक पर भी हिन्दी में हस्ताक्षर करते थे और जो बड़ी-बड़ी बैंकें हिन्दी हस्ताक्षरों पर एतराज करती थीं उनसे सम्बन्ध नहीं रखते थे।

हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति के ऐसे अनन्य उपासक बाबू शिवप्रसाद गुप्त (१८८३-१९४८) पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक बहुत बड़े जमींदार वंश में जन्मे थे। उनके मुकाबले का रईस उस समय बनारस और दूर-दूर तक नहीं था और इसके लिए उनके चाचा मोतीचन्द को सरकार ने 'राजा' और 'सर' (नाइट) के दोनों खिताब दिये थे, पर उनके भतीजे शिवप्रसाद अपने चाचा से उलटे मार्ग पर चले और इसके फलस्वरूप उनको तीन बार जेल की और जुर्माने की सजाएँ भोगनी पड़ीं। पर आज बहुत समय बीत जाने पर जब राजा मोतीचन्द का नाम शायद बनारस के कुछ लोग ही जानते होंगे शिवप्रसाद जी का यश पूर्ववत स्थिर है और रहेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि बाबू शिवप्रसाद बहुत बड़े धनी थे, पर उनका नाम धन की अधिकता के कारण प्रसिद्ध नहीं था। उस समय भी कलकत्ता और बम्बई में तथा अन्य नगरों में भी अनेक व्यवसाई और राजा तथा ताल्लुकेदार उनसे बहुत अधिक धनवान थे, पर भारतीय जनता न तब उनका नाम जानती थी और न आज कोई उनको याद करता है पर बाबू शिवप्रसाद ने अपना अधिकांश धन देश-सेवा, समाजसेवा और मातृभाषा सेवा के लिए खर्च कर दिया, अनेक व्यक्तियों को तरह-तरह से सहायता देकर देश-सेवा के मार्ग पर आगे बढ़ाया। इन्हीं सब प्रशंसनीय कार्यों और गुणों के लिये आज भी उनको याद किया जाता है यद्यपि भारतवर्ष में इस बीच में हजारों बड़े-बड़े धनी होकर गुजर चुके हैं पर उनमें अभी तक हमको कुछ ही ऐसे दिखलाई पड़े हैं, जिनकी तुलना बाबू शिवप्रसाद से की जा सकती है।

राजनीति में प्रवेश

वे विद्यार्थी अवस्था से ही राजनैतिक आन्दोलन की तरफ आकर्षित हो गये थे और १९१२-१३ में ही जब उनकी आयु मुश्किल से तीस वर्ष की होगी, राजनीतिक कार्यकर्ताओं को सहायता देने लगे थे। उन्हीं दिनों उन्होंने सुप्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ 'भारत में अंग्रेजी राज्य' के लेखक पं. सुन्दरलाल जी को 'जापान की राष्ट्रीय प्रगति का इतिहास' लिखने के लिए काफी आर्थिक सहायता दी तथा बड़े-बड़े प्रामाणिक और महत्वपूर्ण अंग्रेजी के ग्रन्थ मँगाकर उन्हें दिये। यह इतिहास बड़े परिश्रमपूर्वक लिखा गया था, पर लेखक और प्रकाशक में किसी साहित्यिक विषयक सिद्धान्त पर मतभेद हो जाने से सदा के लिए खटाई में पड़ा गया।

वैसे वे इससे बहुत पहले से ही राजनीति में भाग लेने लग गये थे। १९०४ में उन्होंने बम्बई के काँग्रेस अधिवेशन में भाग लिया था, अगले वर्ष (१९०५) उसका अधिवेशन बनारस में ही हुआ और गुप्त जी ने उसमें स्वयंसेवक बनकर कार्य किया। जब देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन ने जोर पकड़ा और लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय,

बाबू विपिन चन्द (लाल-बाल-पाल) की जय-जयकार होने लगी तो गुप्त जी भी उसी पार्टी में सम्मिलित हो गये। यह कुछ आश्चर्य की ही बात थी, क्योंकि धनवान लोगों के देशभक्त और समाज-सुधारक हो जाने पर भी उनको अपने धन का भय बना ही रहता है। पर शिवप्रसाद जी इसके अपवाद थे। वे इस मामले में बड़े-बड़े नेताओं से भी दो कदम आगे थे। १९२८ में जब कलकत्ता काँग्रेस के अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता और औपनिवेशिक स्वराज का मतभेद उपस्थित हुआ तो महात्मा जी औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार कर लेने के पक्ष में थे, पर शिवप्रसाद जी अन्य स्वतंत्रतावादियों के साथ इसके विरुद्ध थे। गाँधी जी के कट्टर अनुयायी होते हुये भी वे इस मामले पर उनसे झगड़ पड़े।

वे भारतीय स्वतंत्रता के कितने जबरदस्त पक्षपाती थे यह उनके मनोभावों से कभी-कभी प्रकट हो जाता था। एक बार जब वे दिल्ली में सेठ गोविन्ददास जी के साथ पार्लियामेन्ट भवन और सेक्रेटेरियट के सामने से निकल रहे थे तो कहने लगे-"आप जानते हैं कि स्वराज्य प्राप्त होने पर यदि मेरी चली तो सबसे पहले मैं क्या करूँगा ?" फिर कहने लगे- "तोप से इन इमारतों को उड़वा दूँगा, क्योंकि ये हमारी गुलामी के इतिहास की द्योतक रहेंगी।" इसी प्रकार जब गोविन्ददास जी स्वराज्य पार्टी की तरफ से केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लिए उम्मीदवार हुए और एक दिन गुप्तजी से उनका सामना हो गया तो वे अपने दोनों हाथों से अपने गालों को थपथपाते हुए कहने लगे- "गोविन्ददास जी ! आप वहाँ जाकर बादशाह और उसके कुटुम्बियों के प्रति वफादारी की शपथ कैसे लेंगे?" वे पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय में यहाँ तक दृढ़ थे कि जब काँग्रेस ने कौंसिल प्रवेश का प्रस्ताव पास कर दिया, तो गुप्त जी ने काँग्रेस की सदस्यता त्याग दी और उससे सम्बन्धित सब पदों से इस्तीफा दे दिया।

समाज सुधार की लगन

पुराने लोगों में जाति-पाँत के नियमों तथा रूढ़ियों के पालन के सम्बन्ध में जितनी कट्टरता होती थी, वह सर्वविदित है। अब से पचास-साठ वर्ष पहले वह आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक थी, फिर शिवप्रसाद गुप्त का घराना बहुत प्राचीन और वैभवशाली होने के कारण अग्रवाल समाज में बड़ा सम्मानित था। सन् १९१९ में गुप्त जी बीमारी के कारण अपनी बी. ए. की पढ़ाई छोड़कर इलाज कराने दिल्ली गये और वहाँ से चिकित्सक की सलाह से जलवायु बदलने मंसूरी चले गये। वे मंसूरी में ही थे कि उनके एक मित्र लक्ष्मीचन्द जी अग्रवाल शिक्षा प्राप्त करके विदेश से लौटकर काशी आये। 'काशी अग्रवाल स्पोर्ट्स क्लब' के अठारह युवकों ने एक प्रीतिभोज में उनके साथ खाना खा लिया। जब इस बात की खबर बिरादरी वालों को लगी तो वे बहुत बिगड़े और उन युवकों के खिलाफ एक जोरदार आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इसका पता चलने पर गुप्त जी मंसूरी से बनारस लौट आये और स्वयं भी उन युवकों के साथ खाने-पीने लगे। अंत में उन सबको जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, पर गुप्त जी ने इस बात की कभी परवाह नहीं की और बराबर विदेश यात्रा का समर्थन करते रहे।

इतना ही नहीं वे स्वयं दो बार विदेश भ्रमण के लिये गये और कभी कोई प्रायश्चित आदि नहीं किया। वास्तव में वे स्वभावतः स्वतंत्र प्रकृति के थे और जिस कार्य को उचित समझ लेते थे। उसको बिना किसी संकोच और हिचक के करते थे। यह मनोवृत्ति सुधारकों के लिये आवश्यक है। हम सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक किसी भी क्षेत्र में सुधार क्यों न करना चाहें, हमारे भीतर अपने सिद्धान्तों के प्रति किसी भी विरोध अथवा हानि को सहने का साहस होना आवश्यक है। गुप्त जी में अपने सिद्धान्त पर डटे रहने का बहुत बड़ा गुण था और इसके लिए उन्होंने अनेक बार बहुत हानि भी उठाई। काशी में दंगा हो जाने पर जब नगरवासियों पर सामूहिक जुर्माना किया गया तो आपने उसे अन्यायपूर्ण समझकर उसका विरोध किया और स्वयं उसे देने से इन्कार कर दिया। इस पर थोड़े से रुपयों के लिए पुलिस ने उनकी कई हजार की मोटर जब्त करके नीलाम कर दी, पर आपने जुर्माना राजी से अदा न किया।

गुप्तजी की दानशीलता बहुत अधिक थी। यद्यपि अब भी देश में मंदिर, धर्मशाला, धर्मोत्सवों में लाखों रुपया खर्च कर डालने वाले धनियों की कमी नहीं है, पर उनका दान विचारपूर्ण और देश तथा समाज की दृष्टि से हितकारी ही होता था। केवल नाम कमाने या शौक को पूरा करने के लिए उन्होंने कभी दान नहीं किया। इसके विपरीत वे अधिकांश दान इस प्रकार करते कि उसका उनके इष्ट-मित्रों तक को पता नहीं चलता था। एक जानकार व्यक्ति के कथनानुसार काशी विद्यापीठ व उसका पुस्तकालय, श्री भगवानदास स्वाध्यायपीठ, भारत मंदिर, ज्ञान मण्डल, 'आज' दैनिक पत्र आदि के संस्थापन और संचालन में ही उन्होंने बीस लाख रुपये के लगभग खर्च किया था। इसके अतिरिक्त लोकसेवा के पचासों कार्यों में से दस-दस, पाँच-पाँच हजार रुपया देते ही रहते थे। कितने ही गरीब विद्यार्थियों को उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त करने में पूरी सहायता दी, कुछ को तो विदेश जाकर पढ़ने का भी खर्च दिया। उनकी उदारता इस सम्बन्ध में ऐसी थी कि जो लोग उनका विरोध करते थे वे भी उनसे सहायता प्राप्त कर लेते थे। जितने बड़े

दान उन्होंने प्रकट रूप में दिये वे अपने नाम से न देकर अन्य लोगों के नाम से ही दिए ।

गुप्त जी बड़े विद्याव्यसनी थे । यद्यपि वे स्वयं बहुत अधिक अध्ययन नहीं कर सके थे, पर अपने पुस्तकालय में देश-विदेश की सुन्दर और बहुमूल्य पुस्तकें एकत्रित करते रहते थे । इस कार्य में उन्होंने लाखों रुपया खर्च कर दिया और उनका पुस्तकालय ऐसा महत्वपूर्ण बन गया जैसा किसी बड़े विद्यालय का हो सकता था । बहुत से विद्वान अध्ययन के लिए इन पुस्तकों को लेकर लाभ उठाते थे । बाद में आपने इस विशाल संग्रह का एक बड़ा भाग काशी विद्यापीठ को दे दिया, जिसमें ३-४ लाख रुपया मूल्य की २६ हजार पुस्तकें थीं ।

गुप्त जी का बनवाया भारत माता का मंदिर भी अपूर्व है, जिसकी तुलना का मन्दिर भारत में एक भी नहीं है । इस मंदिर में मूर्ति के स्थान पर भारतवर्ष का ३० फुट लम्बा और लगभग इतना ही चौड़ा संगमरमर का बना मानचित्र स्थापित किया गया है जिसके दर्शन से देश की एक दिव्य झाँकी मिल जाती है । यह एक ऐसा मंदिर है जिसमें सभी धर्मों और सम्प्रदायों के व्यक्ति एकत्रित होकर राष्ट्र-माता के सम्मुख मस्तक झुका सकते हैं ।

श्री शिवप्रसाद गुप्त का समस्त जीवन इसी प्रकार की लोकोपकारी प्रवृत्तियों में व्यतीत हुआ । वे स्वयं तो यथाशक्ति देशसेवा और समाजसेवा करते ही रहते थे, साथ ही अन्य देशसेवकों की सेवा करने में भी उनको बड़ा सुख मिलता था काशी में बाहर से आने वाले सभी नेता उनके 'सेवा-उपवन' में पहुँच जाते तो गुप्त जी उनको बिना भोजन या जलपान कराये आने नहीं देते थे। प्रत्येक व्यक्ति के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना, सहायता करना उनका स्वभाव हो गया था । इसी से हमको कहना पड़ता है कि देश में धनी तो बहुत हैं, पर शिवप्रसाद जी की तरह अपने धन को सार्थक करने वाले थोड़े ही हैं अगर हमारा धनिक वर्ग उनके चरित्र से उचित प्रेरणा ले सके तो यह देश का बहुत बड़ा सौभाग्य होगा ।

आजन्म देशसेवी–
विजयसिंह 'पथिक'

"पथिक काम करने वाला व्यक्ति है । अन्य सब बातें करते हैं । वह बहादुर सैनिक है ।" महात्मा गाँधी की यह टिप्पणी विजयसिंह पथिक का सच्चा परिचय देने के लिए पर्याप्त है ।

आज तो हम प्रति वर्ष स्वतंत्रता दिवस मनाते हैं । हमें स्वतंत्र हुए कई वर्ष हो चुके हैं किन्तु विजयसिंह 'पथिक' जिस समय जन्मे थे उस समय आजादी का नाम लेना सिरफिरों का काम था । कई लोग अंग्रेजों के प्रभुत्व को समाप्त कर सकना असम्भव मानते थे, कई उनके भय से स्वतंत्रता समर्थक सभाओं में भाग तक नहीं लेते थे कि कहीं किसी सरकारी कर्मचारी की निगाह में आ गये या किसी ने शिकायत कर दी तो जेल जाना पड़ेगा । पीछे से बाल-बच्चों का क्या होगा ? ऐसे समय में जब अन्धकार घनीभूत होकर अपना आधिपत्य जमाए हो, विरले ही प्रकाश की कामना कर उठ खड़े हो पाते हैं । उन्हीं विरलों में एक 'पथिक' भी थे ।

राजस्थान में स्वतन्त्रता की ज्योति जलाने का श्रेय उन्हें कम नहीं जाता । उत्तर-प्रदेश में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपना सारा जीवन राजस्थान के मेवाड़ तथा अजमेर क्षेत्र की जनता को जगाने में खपा दिया । इन सोये हुए लोगों में जाग्रति लाने के लिए उन्होंने कम प्रयास नहीं किए । बिजोलिया-सत्याग्रह के सूत्रधार तथा राजस्थान सेवा संघ के संस्थापक के रूप में उनके राष्ट्रीय व सामाजिक कर्तृत्व की किंवदन्तियाँ आज भी राजस्थान की उस विकट पर्वतीय भूमि के वासियों में साश्चर्य कही-सुनी जाती हैं ।

उनका जन्म उत्तर-प्रदेश के बुलन्दशहर जिले के गुनावली गाँव में हुआ था । उनका असली नाम भूपसिंह था। विजयसिंह नाम बाद में उन्होंने रख लिया था । 'पथिक' उनका उपनाम था जो उनके सतत् कर्मशील होने का परिचायक है । नाम के बदलने के पीछे भी एक कहानी जुड़ी हुई है । १९०७ में जब युवक भूपसिंह की मसें भीगीं ही थीं, तन-मन पर यौवन की लुनाई चढ़ी ही थी कि उनका सम्पर्क क्रान्तिकारियों से हो गया था । अतः उन्होंने अपनी जवानी देश-सेवा करके ही सार्थक करने की ठान ली।

किंग्सफोर्ड की गाड़ी पर बम फैंकने के अपराध में भूपसिंह को भी पकड़ा गया था किन्तु प्रमाणों के अभाव में उन्हें छोड़ दिया गया । तभी से उन्होंने अपना नाम बदल कर विजयसिंह रख लिया ।

इनकी माता 'कँवल' बड़ी साहसी व जीवट वाली महिला थीं । १८५७ की क्रान्ति में उन्होंने बड़ी वीरता के साथ फिरंगियों को नाकों चने चबवाये थे । उन्होंने अपने पुत्र का निर्माण भी उसी तरह किया कि वह अपने जीवन में उनके अधूरे काम को पूरा कर सके । उन्होंने बाल्यावस्था में ही उनके कोमल मन-मस्तिष्क पर साहस, नैतिकता, देश-भक्ति, सूझ-बूझ, समाज-सेवा और कर्मठता आदि सद्गुणों के संस्कार डाले । देश व समाज के लिए बलिदान करने की भावनाएँ जगाने वाली ऐसी माताएँ जहाँ हों वहाँ 'पथिक' जैसे लोकसेवियों का निर्माण होना असम्भव नहीं होता ।

बचपन से उनके मन-मस्तिष्क पर पड़े इन सुसंस्कारों का प्रभाव भी वैसा ही हुआ जैसी उनकी वीर प्रसूता माता ने चाहा था, यों स्कूली शिक्षा उन्हें नहीं के बराबर मिली थी किन्तु उन्होंने निरन्तर सजगता व जिज्ञासा के बल पर संसार में बिखरे ज्ञान रूपी मणि-मुक्ताओं को समेटकर अपने ज्ञान भण्डार को समृद्ध बना लिया था । यही नहीं स्वाध्याय के सहारे उन्होंने राजनीतिशास्त्र में विद्वता भी प्राप्त कर ली थी ।

१९१४ में हुए क्रान्तिकारी सम्मेलन में उन्हें राजस्थान के अजमेर तथा नसीराबाद क्षेत्र पर अधिकार करने का दुष्कर काम सौंपा गया । वीर परिवार से सम्बन्धित होने के कारण अस्त्र-शस्त्र संचालन की कला तो उन्हें पैतृक गुण के रूप में मिली ही थी । उन्होंने अजमेर के वन प्रान्तों में जाकर अपना डेरा जमाया तथा उत्साही क्रान्तिकारी युवकों का एक सुदृढ़ संगठन बना लिया । एक बार अजमेर के कमिश्नर की पाँच सौ सिपाहियों की टुकड़ी के साथ वे जमकर लड़े भी । अन्त में कमिश्नर ने उनसे समझौता कर लिया था ।

यहीं आकर उनके विचारों में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आया । उन्होंने भावना के साथ बुद्धि का समन्वय आरम्भ किया । जब तक जनता को अपने दायित्वों व अधिकारों का भान नहीं हो जाता तब तक इस प्रकार की लड़ाई लड़ने में उन्हें कोई लाभ नजर नहीं आया । जनता जब अपने अधिकारों को पाने के लिए सजग हो जायगी तब अंग्रेजों से लड़ना व देशी राजाओं के वर्चस्व को समाप्त करना सहज हो जाएगा । अतः उन्होंने इसी दिशा में काम करना आरम्भ कर दिया ।

उन्होंने देखा कि राजस्थान की गरीब जनता राजाओं और जागीरदारों के पाँवों तले रौंदी जा रही है । राजा ही नहीं छोटे-छोटे जागीरदार भी उन पर मनमाना अत्याचार करते हैं । प्रजा इसे अपना दुर्भाग्य मानकर स्वीकार कर लेती है । प्रतिकार, विरोध का प्रयास ही नहीं करती ।

उन्होंने अपने जन-जागरण के कार्य का शंखनाद यहीं से किया । सामन्ती अत्याचारों व शोषण ने आन्दोलन की पूर्व पीठिका तो तैयार कर ही रखी थी । ऐसे ही समय वे बिजोलिया पहुँचे । उन्होंने किसानों को संगठित होकर आन्दोलन करने की सलाह दी तथा आगे रहकर आन्दोलन का नेतृत्व करने का बीड़ा उठाया । उनके ओजस्वी भाषणों से आग बरसती थी । इस अग्नि में किसानों की भीरुता जल जाती, उनमें शोषण व अत्याचार से संघर्ष करने की शक्ति जाग उठती थी ।

उनकी प्रेरणा से बिजोलिया में जबरदस्त कृषक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । राजा तथा उसके समर्थक आन्दोलन को कुचलने के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति अपना रहे थे । विजयसिंह 'पथिक' के तो वे प्राणों के ग्राहक बन गये थे । उनकी कष्ट-कठिनाइयों का कोई ठिकाना नहीं था । प्रतिपक्षी लोग जबरदस्ती मनमाना सरकारी ऋण, लगान व चन्दा उगाहने पर तुले हुए थे । किन्तु उनकी एक न चली । सामन्तवाद को जनमत के समक्ष घुटने टेकने पड़े थे ।

बिजोलिया के संघर्ष की सफलता ने किसानों और सामान्यजनों में एक नया आत्मविश्वास जगाया था । यह राजस्थान के संघर्ष का प्रतीक बन गया था । अब जनता को यह विश्वास हो गया था कि सच्ची शक्ति थोड़े से प्रभुता सम्पन्न लोगों के हाथों में नहीं वरन् उनके हाथों में है । इस आन्दोलन की सफलता से प्रभावित होकर गाँधी जी ने उन्हें अपने पास बम्बई बुलाया था ।

'पथिक' जी को अपने जैसे कितने ही समाजसेवी देशभक्त उत्पन्न करने का श्रेय भी कम नहीं जाता । उनका विश्वास था कि समाज में एक वर्ग ऐसा होना चाहिए जो देश व समाज के लिए ही अपना सारा जीवन, अपनी सारी शक्ति- सामर्थ्य नियोजित करे । इस बलिदानी परम्परा का निर्वाह उन्होंने स्वयं भी किया तथा अपने साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वाले अन्य कितने ही सैनिकों का निर्माण भी किया ।

उसी समाज में से जिसके अधिकांश व्यक्ति प्रजा राज्य की जय बोलने में भी भावी अनिष्ट की शंका-कुशंकाओं से ग्रस्त हो हिचकिचाते थे, उन्होंने ऐसे व्यक्तित्व खोज निकाले जो परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न हो सकें । ऐसे ही जनसेवियों की एक टोली का गठन उन्होंने 'राजस्थान सेवा संघ' के नाम से किया । यह संघ अपने क्रिया कलापों के कारण सारे मेवाड़ तथा अजमेर क्षेत्र में विख्यात हुआ । इस संघ ने समाज को कितने ही निस्पृह कार्यकर्त्ता दिये ।

राजस्थान सेवा संघ का उदय हुआ तो देशी रजवाड़े अपने सामने खड़ी होने वाली इस जन शक्ति से भयभीत हो उठे। अंग्रेज सरकार भी इन गतिविधियों से त्रस्त थी। उन्होंने संघ में फूट डालने के कितने ही प्रयास किए जो वर्षों तक असफल रहे। देश भक्तों की, लोक सेवियों की जमात अपने उद्देश्यों पर आरूढ़ रही किन्तु बाद में कुछ ऐसे तत्व इसमें सक्रिय हो गये कि उन्होंने संघ में फूट उत्पन्न कर दी जो उसके अन्त का कारण बनी।

संघ की समाप्ति पर वे निराश नहीं हुए । उन्होंने एक सैनिक की तरह दृढ़मना पथिक बनकर चलना सीखा था । उन्होंने मजदूरों का नेतृत्व अपने हाथ में लिया । वे तत्कालीन बी. बी. एण्ड सी. आई. रेल्वे मजदूर यूनियन के सम्मानित अध्यक्ष बनाये गये । इन्हीं दिनों १९२७ में लाहौर काँग्रेस में पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य निर्धारित किया गया,

'पथिक' जी पूरी तरह उसी लक्ष्य को पाने के लिए जुट गये । 'पथिक' जी द्वारा रचित कविताओं ने उन दिनों राजस्थानी जन समुदाय में प्रबल जाग्रति उत्पन्न करने का कार्य भी किया । साहित्यिक क्षमताओं से किस प्रकार जन मानस को एक महान उद्देश्य के लिए उद्बोधन देकर अभीष्ट प्रयोजन के लिए सन्नद्ध किया जा सकता है उसका यह अनुपम उदाहरण था ।

सामान्य कृषक आन्दोलन से आरम्भ होकर उनका यह जन जागरण का यह अभियान देशी राजाओं को भारतीय गणतंत्र में मिलाने के लिए बाध्य करने तक चला । प्रबल शुभारम्भ उस आन्दोलन का परिणाम था जो उन्होंने बिजोलिया में किया था । वे अब सेनानायक बनकर अपने दायित्वों का निर्वाह करने में जुट पड़े थे ।

'पथिक' जी पूरे सिद्धान्तवादी थे । राजनैतिक स्वतंत्रता को ही वे चरम लक्ष्य मानकर नहीं चले थे वरन् वे तो भारतीय जनमानस में नागरिकता, नैतिकता व राष्ट्रीयता की प्रबल भावनाएँ, निष्ठाएँ जगाना चाहते थे । यही कारण था कि भारत के स्वतंत्र हो जाने पर अधिकांश जननेता राजनीति में उलझकर रह गये पर वे इस पंक से दूर ही रहे । उन्होंने देखा कि उन्हीं के साथ स्वतंत्रता पाने के लिये संघर्ष करने वाले साथी सत्तारूढ़ होकर लक्ष्य भ्रष्ट हो रहे हैं तो वे बड़े खिन्न हुए । उन्हें तो संघर्ष अब भी करना था । उनकी लड़ाई अभी समाप्त नहीं हुई थी । अपनी स्वार्थवृत्तियों व संकीर्णताओं से अभी भी जनमानस को मुक्त करना था । अतः वे परिस्थितियों की चिन्ता किए बिना ही आदर्शों व सामाजिक पुनरुत्थान के लिए संघर्ष करते रहे ।

१९५४ में इस महान आत्मा ने अपनी इहलीला समाप्त की । उनकी आत्मा आज भी हमें उनके अधूरे स्वप्नों को पूरे करने के लिए झकझोरती रहती है । हम भले ही अपनी विवेक की आँखों पर स्वार्थ का पर्दा डालकर देख न पाते हों किन्तु हमारी आन्तरिक चेतना उन शब्दों को सुनती है ।

पेशावर विद्रोह प्रणेता –

चन्द्रसिंह गढ़वाली

३० अप्रैल, १९३० की बात है । पेशावर के किस्सा-खानी बाजार में एक विशाल जनसभा हो रही थी । चर्खेवाला तिरंगा झण्डा मंच पर लहरा रहा था । हजारों की संख्या में आजादी समर्थक पठान लोग यहाँ एकत्रित थे। सभा में सम्मिलित होने वालों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में स्त्री, पुरुष और बच्चे अपने-अपने मकानों के झरोखों, छज्जों व खिड़कियों से दोनों तरफ की तैयारियों को देख रहे थे । निकट भविष्य में क्या घटने जा रहा है इसकी उत्सुकता उनके चेहरों से स्पष्ट झलक रही थी ।

पेशावर उन दिनों एक प्रसिद्ध सैनिक छावनी था । सरकार ने जनसभा को कुचलने के लिए पूरा प्रबन्ध कर रखा था । रायल गढ़वाल रेजीमेंट के सैनिक समय पड़ने पर लाठियाँ व गोलियाँ बरसाने के लिए तैनात किए हुए थे। किन्तु अंग्रेज सरकार को क्या पता था कि आज के दिन भारतीय सैनिक कुछ दूसरी ही वीरता दिखाएँगे ।

भीड़ बढ़ती ही जा रही थी, साथ ही दर्शकों की उत्सुकता और कप्तान रिकेट की आतुरता । कप्तान रिकेट यहाँ तैनात गढ़वाली सैनिक टुकड़ी का कप्तान था । अंग्रेज सैनिक अधिकारियों के लिए तो उन दिनों सत्याग्रहियों व स्वतंत्रता समर्थक निहत्थी जनता पर दमन चक्र चलाना एक सामान्य बात हो चली थी । कप्तान यह सब देखकर लाल-पीला हो उठा । उसने कड़ककर आदेश दिया-' 'गढ़वाली बटालियन एडवांस! (गढ़वाली पलटन आगे बढ़ो) । उसके इस आदेश का प्रतिउत्तर जन समुदाय ने 'महात्मा गाँधी की जय' और 'अल्ला हो अकबर' के नारों से दिया ।

तभी एक गोरे अर्दली ने कप्तान को एक कागज थमाया जिसमें उच्च अधिकारियों द्वारा गोली चलाने का आदेश दिया गया था । उसे पढ़ते ही दाँत पीसते हुए हुए उसने आदेश दिया-"गढ़वाली थ्री राउण्ड फायर" (गढ़वाली तीन बार गोली चलाओ) । किन्तु उसके इस आदेश की कोई प्रतिक्रिया सैनिकों पर नहीं हुई । एक तेजस्वी गढ़वाली हवलदार अपने स्थान से आगे बढ़ आया और उसके कड़ककर आदेश दिया- "गढ़वाली सीज फायर।" (गढ़वाली गोली मत दागो) । इस आदेश का सुनना था कि सब सैनिकों ने अपनी राइफलें जमीन पर रख दीं ।

यह विद्रोह इस बात का प्रतीक था कि व्यक्ति अपने पेट की खातिर नौकरी करते हुए अपने ही निरपराध देशवासियों पर गोली नहीं चला सकता । सैनिक भी पहले भारतीय हैं और फिर अंग्रेज सरकार के वेतन भोगी सैनिक। वे अपने देश के लिए मर मिटने को तैयार हैं । महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन का यह भी एक स्वरूप था । इस छोटे से विद्रोह में भावी क्रान्ति की महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि छिपी थी । इसी घटना ने सुभाष चन्द्र बोस के मस्तिष्क में आजाद हिन्द सेना की प्रेरणा भरी थी । यही छोटा-सा बीज १९४२ में वृक्ष रूप में परिणित हुआ था और ३००० गढ़वाली सिपाहियों ने आजाद हिन्द सेना में भर्ती होकर विदेशी-सत्ता को उखाड़ फेंकने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया था ।

इस विद्रोह के प्रणेता चन्द्रसिह गढ़वाली थे । ये गढ़वाल के एक कृषक परिवार में उत्पन्न हुए थे । थोड़ा पढ़-लिखकर वे सेना में भर्ती हो गये । प्रथम विश्व युद्ध में वीरता प्रदर्शन के कारण उन्हें कई पदक मिले व उन्हें हवलदार बना दिया गया । आर्यसमाज जैसी समाज सुधारक संस्था के सम्पर्क में आकर उनके हृदय में स्वदेश प्रेम और आस्तिकता की भावनाएँ उत्पन्न हुई । उसे महात्मा गाँधी की अहिंसा नीति ने और भी गहरा रंग दे दिया । वह अब इस बात को समझने लगे थे कि विदेशी सरकार की सेना में नौकरी करते हुये अपने ही देशवासियों द्वारा चलाए जा रहे स्वतंत्रता आन्दोलन को कुचलना वीरता नहीं देशद्रोह है । उन्होंने अपने इस विचार का प्रचार अपने साथी सैनिकों में भी किया । उसके फलस्वरूप गढ़वाल रायफल्स के ६० सैनिकों व अफसरों ने अपने स्तीफे लिखकर रख लिए थे । उन्हें वे जल्दी ही उच्च अधिकारियों को देने वाले थे ।

इसी बीच यह आम सभा होने की बात जानकारी में आई । गढ़वाली राइफल्स के सैनिकों ने उसके पूर्व ही २२ अप्रैल को इस विषय पर विचार-विमर्श किया जिसमें निर्णय लिया गया कि चाहे सिर ही कटाना पड़े निहत्थे स्त्री-पुरुषों व अबोध बालकों पर वे हथियार नहीं उठायेंगे । उसी निश्चय की परिणति उस दिन हुई ।

पेशावर काण्ड के इस सैनिक सत्याग्रह के अनन्तर उन सब सैनिकों को बन्दी बना लिया गया और उन पर अभियोग चलाया गया । मुकदमे की पैरवी पेशावर के सांस्कृतिक व बौद्धिक नैता बैरिस्टर मुकन्दी लाल ने की और उन्हें बचाने का पूरा-पूरा प्रयास किया । उस मुकद्मे में हवलदार चन्द्रसिंह गढ़वाली को आजन्म कैद व अन्य सैनिकों को २ से ८ वर्ष तक की जेल की सजा दी गई ।

बैरिस्टर मुकन्दी लाल का कथन है-"श्री चन्द्रसिंह गढ़वाली का हम यथायोग्य सम्मान करते हैं । वह एक महान पुरुष हैं । आजाद हिन्द फौज का बीज बोने वाला वही है । पेशावर काण्ड का नतीजा यह हुआ कि अंग्रेज समझ गये कि भारतीय सेना में यह विचार गढ़वाली सैनिकों ने पहले-पहल पैदा किया। विदेशियों के लिए अपनों के खिलाफ नहीं लड़ना चाहिए ।"

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इस घटना का अपना एक अहम् स्थान है । यों स्वतंत्रता दिलाने का श्रेय असहयोग आन्दोलन को मिला । किन्तु क्रान्तिकारियों विशेषकर वीर सुभाषचन्द्र बोस द्वारा किए गये प्रयास यथा आजाद हिन्द सेना के गठन, स्वतंत्र भारत सरकार की स्थापना आदि तथ्यों का भी स्वतंत्रता प्राप्ति में कम हाथ नहीं था । यह विद्रोह भी उसी की एक कड़ी या उसका जनक कहा जाय तो अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा । अब तक अंग्रेज भारतीय सैनिकों पर विश्वास करते आये थे । १८५७ के विद्रोह ने उस विश्वास को तोड़ा था और १९२३ के इस असहयोग ने तो उन्हें यह प्रतीति ही करा दी थी कि अब वे अधिक दिनों तक यहाँ अपने पाँव टिकाए नहीं रख सकते ।

इस विद्रोह में गाँधी जी के असहयोग व सुभाष की क्रान्ति दोनों के दर्शन होते हैं उन वीरों का वह साहस निश्चय ही सराहनीय है । उस साहस को हम भूल नहीं सकते । आज स्वतंत्रता पा लेने के इतने वर्ष बाद भी हमारे देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव खलता है । अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए देश व अपने देशवासी भाइयों का बहुत बड़ा अहित करते हुए हम शरमाते नहीं । जबकि आज हमारी अपनी सरकार है, हमारे चुने हुए प्रतिनिधि देश का शासन सूत्र सम्हालते हैं फिर भी वह नैतिक सामर्थ्य हमें हासिल करनी बाकी है जो एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिकों में होनी चाहिए । उसे पाने के संकल्प को पूरा करने में उन सैनिकों का यह साहस, निष्ठा व भावना हमें बल प्रदान करेगी ।

स्वातंत्र्य यज्ञ के अमर होता-

पं. रामनाथ

"भारत में ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हो गये । बहुत ऊँची चोटियाँ, बहुत ऊँचे मनुष्य । किन्तु आम जनता का स्तर नीचा ही रहा । मुझे योरोप का दर्शन इससे भिन्न लगता है । योरोप में ऊँचे पहाड़ शायद कम ही हैं, लेकिन आम जनता का स्तर ऊँचा है- जो हमारे यहाँ है उससे ऊँचा । तो आध्यात्मिक दृष्टि से सोचने के लिए भी यह चीज सामने आती है ।

मैंने कई बार कहा है कि आगे जो युग है वह युग सेवकत्व का है, नेतृत्व का नहीं । इसलिये कोई एक ऊँचा मनुष्य हो और बाकी सब लोग नीचे हों, उस मनुष्य की जय-जयकार चले और उसके कारण लोगों का थोड़ा उत्थान हो तो वह पर्याप्त नहीं है । इसके आगे यह करना होगा कि सारे समाज का चित्त ऊपर उठाएँ । वह भले उतना न उठे, जितना एक व्यक्ति का उठा था, फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी और मैंने कहा कि चित्त ऊपर उठाने में, एक प्रेरणा से प्रेरित समूह काम करेगा तो आसानी होगी।"

आचार्य विनोबा भावे के उपरोक्त तथ्य निरूपण की सत्यता और उनके दिशा-निर्देश की उपादेयता निर्विवाद रूप से सत्य लगती है विचारणीय प्रश्न है कि हमारे देश में एक व्यक्ति का चरित्र इतना ऊँचा कैसे हो जाता है जबकि समाज का स्तर नीचा रहता है । इसके पीछे एक

कारण यह है कि किसी भी महान कार्य का श्रेय थोड़े से नेताओं को तो खूब दे देने की हम भारतवासियों की पुरानी आदत है और जो उनके सहयोगी रहे थे, उनको भूल जाने की आदत है । स्वतंत्रता संग्राम की बात को ही लें तो कितने ही ऐसे लोगों के बारे में हमें थोड़ा-सा ज्ञात नहीं है जिन्होंने यथा-शक्ति, यथा सामर्थ्य इस संग्राम में भाग लिया था और सच पूछा जाय तो संग्राम तो सिपाहियों के बल पर ही लड़ा जाता है। लेकिन हमारी नजर सिपाहियों पर नहीं सेनानायक पर जाती है । थोड़े से व्यक्तियों को 'हीरो' बना दिया जाता है और सामान्य व्यक्ति को 'जीरो' मान लिया जाता है । सामान्य जनता कहाँ से प्रेरणा प्राप्त करे- किसे अपना आदर्श चुने । ऐसे व्यक्ति बहुत कम नजर आते हैं । 'युग निर्माण योजना' पत्रिका का एक लक्ष्य ऐसे चरित्रों को प्रकाश में लाना भी रहा है ताकि जन सामान्य का चित्त ऊपर उठाने के लिये वे उत्प्रेरक का कार्य कर सकें ।

पं. रामनाथ शर्मा ऐसे ही व्यक्तित्व हैं जो यह बतलाते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक की हैसियत से वे किस दृढ़ता, किस वीरता और साहस के साथ अपने मोर्चे पर डटे रहे । उत्तर प्रदेश के कानपुर जिले के बिल्हौर कस्बे के मुहल्ला अवस्थियान में पं. सद्धन राम के घर की स्थिति ठीक वैसी ही थी जैसी लंका में विभीषण की । अंग्रेजों के कृपा पात्र जमींदार फौज के सूबेदार, जमीदारों के एजेन्ट और पुलिस के दलालों के बीच यह अकेला ही आजादी परस्त घर था । पं. सद्धन लाल शुक्ल नेत्रहीन थे । उन्हीं के पुत्र रामनाथ और रामलाल ने आजादी के लिए अंग्रेज सरकार के विरुद्ध लड़े गये संग्राम में बढ़-चढ़कर भाग लिया ।

पं. रामनाथ अपने मामा की सहायता से थोड़ा-सा पढ़-लिखकर मुरादाबाद में रेल्वे कार्यालय में नौकरी करने लगे थे । एक सामान्य स्थिति के व्यक्ति के लिये इतने से संतुष्ट हो जाना पर्याप्त था । यों परिवार के पास पर्याप्त कृषि योग्य भूमि तथा बाग थे । पर उन दिनों कृषि कोई विशेष लाभदायक व्यवसाय नहीं था । आरम्भ में वे अपने इस जीवन से लगभग सन्तुष्ट ही थे पर एक दिन जब उन्होंने बंकिम बाबू के आनन्द मठ उपन्यास को पढ़ा तो उनका यह संतोष असंतोष में परिवर्तित हो गया । जब भारत माता पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी हुई हो तो हम संतुष्ट कैसे बैठ सकते हैं अतः उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण के लिये कार्य करना आरम्भ कर दिया। अपने मिलने-जुलने वाले लोगों और पास-पड़ोसियों में संगठन, स्वाभिमान और देश-भक्ति की भावनाएँ उभारने के कारण उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ा ।

यह सर मुंडाते ही ओले गिरने जैसा दुर्योग था । कोई और होता तो वह अपने जनजागरण के कार्य को यहीं पर रोक देता पर पं. रामनाथ किसी भी शुभ कार्य को आरम्भ करके मार्ग की बाधाओं से विचलित हो जाने वाले ढुलमुल लोगों में से नहीं थे । अतः उन्होंने इस स्थिति में भी श्रेय पथ से विचलित होना ठीक नहीं समझा। नौकरी छूट जाने से परिवार को भयंकर अर्थ-संकट भोगना पड़ा । पिता नेत्र हीन थे, छोटा भाई पढ़ रहा था और वे बेकार हो गये थे इसका अर्थ यह था कि परिवार में कमाऊ एक भी नहीं रहा था । मुहल्ले के अंग्रेजी सरकार परस्त लोगों ने उनका उपहास उड़ाना आरम्भ कर दिया- "चले देश-भक्ति के उपदेश देने अब बच्चू को पता चलेगा ।" पर उन्हें क्या पता कि आदर्शों के पथ पर चलने वालों के लिये आपदाओं के शूल भी फूल का सा मजा देते हैं ।

घर के रईस तो थे नहीं । परिवार की गाड़ी भी खींचनी थी और देश का काम भी करना था सो उन्होंने कानपुर के जिला बोर्ड द्वारा चलायी जाने वाली प्राथमिक पाठशाला के लिये दस रुपये माहवार वेतन पर अध्यापक बनना स्वीकार कर लिया।

अध्यापक के रूप में उन्हें वेतन तो बहुत कम मिलता था पर कार्यक्षेत्र काफी बड़ा मिल गया था, कार्य करने के लिए । इस बात की उन्हें प्रसन्नता थी । यह उनकी आशावादी दृष्टि ही थी जो विषम परिस्थितियों में भी उपयोगी क्षेत्र ढूँढ निकालती थी । वे जहाँ भी जाते ग्रामीण जनता को संगठित करते, व्यायामशालाएँ चलाते और उनमें आने वाले युवकों में देशभक्ति की भावनाएँ उत्पन्न करते । गाँव की चौपाल में बैठकर ग्रामवासियों को देश की बातें बताते और उनमें राष्ट्र-भक्ति उपजाने का प्रयास करते । उनका यह प्रचार कार्य अंग्रेज सरकार परस्त अधिकारियों को फूटी आँखों नहीं सुहाता था। इस कारण उन्हें अधिक समय तक एक स्थान पर टिकने नहीं दिया जाता था । उनका जल्दी-जल्दी स्थानान्तरण कर दिया जाता था ।

वे जब सिंधोली ग्राम में अध्यापक थे तब तो उन्हें अपने स्वाभिमान के कारण नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा । उनके स्कूल का निरीक्षण करने आये हुए एक एंग्लो इण्डियन एस. डी. एम. ने उन्हें विद्यार्थियों के सामने ही 'इडियट' कह दिया । शासक वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण लोगों को तो अपने मातहत काम करने वाले हिन्दुस्तानियों से इसी प्रकार की भाषा में बात करने की आदत पड़ गयी थी पर अपने ही छात्रों के सामने उनके यों गाली सह लेने का प्रभाव उन पर क्या पड़ेगा ? यह सोचकर पं. रामनाथ के लिये इस गाली का उत्तर देना आवश्यक हो गया था। उन्होंने कक्षा का दरवाजा बन्द करके एंग्लो इण्डियन एस. डी. एम. की अच्छी तरह धुनाई की ताकि वह किसी भारतीय के साथ बदतमीजी से पेश न आये और छात्रों में भी अन्यायी से प्रतिकार लेने के भावनाएँ उत्पन्न हों और वे स्वराज्य के लिये लड़ सकें ।

स्वाभिमान रक्षार्थ उठाये गये इस साहसिक कदम की जो प्रतिक्रिया होनी थी वह होकर रही । उन्हें नौकरी से हटा दिया गया । पं. रामनाथ के सामने यह बात पहले से ही स्पष्ट हो गयी थी कि विदेशी सरकार का विरोध और उसकी नौकरी ये दोनों कार्य एक साथ चल सकने सम्भव नहीं हैं । अतः आजीविका का कोई स्वतन्त्र साधन बना लेना जरूरी है । इसकी तैयारी वे पहले से ही कर रहे थे । उन्होंने अध्यापकी करते हुए वैद्यक सीख ली थी। परिवार के भरण-पोषण और छोटे भाई की पढ़ाई को चलाते रहने के लिए अब वे इसी पर निर्भर रहने लगे । उन दिनों ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सकों की कमी भी थी । इस प्रकार उन्होंने आजीविका के साधन और सेवा को एक साथ जोड़ लिया । उनका यह व्यवसाय आगे चलकर कांग्रेस के लिये स्वयंसेवक व कार्यकर्ताओं का निर्माण करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ था ।

१९११ में जब ब्रिटिश ताज के उत्तराधिकारी-प्रिंस आफ वेल्स दिल्ली आये तो वे उनके सामने बुनकरों के हाथ की बनी खद्दर की टोपी पहनकर गये । इस पर उन्हें ५१ रुपये जुर्माने के देने पड़े थे । आरम्भ में जो लोग उनके स्वदेश प्रेम को पागलपन की संज्ञा देते थे अब उसमें कुछ तथ्य देखने लगे थे और वे भी उनकी पीछे चलने को तैयार हो गये ।

उनके भाई रामलाल भी उन्हीं के पद चिह्नों पर चलने लगे थे । कहना न होगा कि उनके देशप्रेम से कई युवकों ने प्रेरणा ग्रहण की थी । १९२९ तक तो उन्होंने बिल्हौर तहसील में काँग्रेस कमेटी की स्थापना कर ली थी । दस बारह वर्ष तक वे इसके मन्त्री रहे । वे उत्तर प्रदेश व अखिल भारतीय काँग्रेस के प्रतिनिधि चुने जाते रहे थे । उन्होंने अपने क्षेत्र के युवकों का एक दल कांग्रेस के कार्य के लिये तैयार कर लिया था । यह उनके कुशल प्रचारक और संगठनकर्ता व्यक्तित्व का ही कमाल था । कानपुर जिले में उनकी तहसील की काँग्रेस कमेटी ही प्रदेश भर की पहली तहसील काँग्रेस कमेटी थी जिसके पास २००० से भी अधिक काँग्रेस सेवादल के गणवेशधारी स्वयंसेवक थे । अपने परिवार का भरण पोषण, भाई की शिक्षा का प्रबन्ध आदि करते हुए भी उन्होंने देशसेवा का यह अनुकरणीय उदाहरण लोगों के सामने रखा था । एक तहसील में ही दो हजार स्वयंसेवकों का संगठन खड़ा कर लेना कोई सामान्य बात नहीं थी ।

उनके इन स्वयंसेवकों का प्रदर्शन कई रैलियों में हुआ था । १९३० में विट्ठल भाई पटेल जब वायसराय की कौंसिल से त्याग पत्र देकर कानपुर आये थे तो उनका स्वागत भी इसी स्वयंसेवक दल ने किया था ।

भारत को स्वतंत्र कराने के लिये हुए जन जागरण और जन आन्दोलन में पारिवारिक जिम्मेदारियों से लदा-फदा कोई व्यक्ति कितना काम कर सकता है यह देखना हो तो पं. रामनाथ के कार्यों के द्वारा देखा जा सकता है । उन्होंने कई बार जेलयात्रायें भी की थीं । १९२१ में उन्हें स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिये जेल जाना पड़ा था। १९३० में वे पुनः पकड़े गये और तीन-तीन धाराओं के अन्तर्गत उन्हें छह-छह महीने की तीन सजाएँ कानपुर व गोरखपुर जेल में भोगनी पड़ीं ।

कानपुर जिले के ग्रामीण क्षेत्र में उन्होंने जाग्रति पैदा की वह मात्र राजनैतिक न होकर आर्थिक भी थी । वहाँ के कृषकों को संगठित करके उन्होंने लगानबन्दी आन्दोलन चलाया था । सरकारी अधिकारी पहले ही उनके काँग्रेस में कार्य करने के कारण खीझे हुए थे । अब इस आन्दोलन के कारण कानपुर के जिलाधीश ने उनकी समस्त पैतृक कृषि योग्य भूमि व आम के बाग जब्त कर लिये । इनकी कीमत उस समय २०,००० रुपये के लगभग थी। इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में छोटी भूमिका से आरम्भ करके वे सर्वस्व समर्पण की उच्च स्थिति तक पहुँच गये ।

अपनी पत्नी श्रीमती श्यामादेवी को भी उन्होंने अपने विचारों के अनुरूप ढाल लिया था । उन्होंने भी देश के प्रति अपनी जिम्मेदारी को महसूस किया और हर प्रकार के कष्ट-कठिनाइयों को हँसते-मुस्कराते सहा । उन्हें पुलिस के डण्डों की ऐसी मार भी खानी पड़ी कि वह जब तक जीवित रहीं बादलों के आगमन के साथ ही उनकी चोटें हरी हो जातीं -पोर-पोर दर्द कर उठता, उसके साथ ही साकार हो उठती विदेशी सरकार की बर्बरता ।

पं. रामनाथ अपने दोनों पुत्रों- देवदत्त शर्मा व कृष्ण दत्त शर्मा को ठीक से पढ़ा-लिखा भी न सके । किन्तु अपने उच्चाशयी पिता के राष्ट्र-समर्पित जीवन से उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिला । उनमें वह क्षमता उत्पन्न हुई कि वे बिना सहारे के अपनी मंजिल आप पा सकें ।

पं. जवाहरलाल नेहरू तथा रफी अहमद किदवई जैसे चोटी के नेताओं से पण्डित जी का सीधा सम्पर्क था । वे लोग उन्हें खूब मानते थे और ऐसे सहयोगियों के सहारे ही उनके नाम रोशन हुये थे । सच पूछा जाय तो उन्हें ऐवरेस्ट की तरह ऊँचा उठाने में ऐसे ही लोगों का हाथ रहा था ।

१९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह का मौसम आया तो परिवार के तीनों मुख्य सदस्यों पं. रामनाथ उनके भाई रामलाल और पुत्र देवदत्त शर्मा ने भाग लिया । पकड़े तीनों गये, पर सजा युवक देवदत्त को ही हुई । पं. रामनाथ की अवस्था को देखते हुए उन्हें जेल में नहीं रखा गया । १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में भी पूरा का पूरा परिवार कूदा था । जब समय की पुकार ही 'करो या मरो' की ध्वनि के रूप में गूँज रही थी तो फिर कोई चुप कैसे

बैठ सकता था । इस बार उन्होंने यह ध्यान अवश्य रखा कि वे पकड़े नहीं जायें ताकि सत्याग्रह के लिये सत्याग्रहियों की कमी न पड़े । भूमिगत रहकर व नित नये सत्याग्रही गढ़-गढ़ कर सरकार की जेलें भरते रहे थे ।

स्वतन्त्रता के यज्ञ में अपने परिवार के प्रथम होता बने थे पं. रामनाथ। आरम्भ में छोटी-छोटी आहुतियाँ देते-देते आगे चलकर तो उन्होंने अपने सारे परिवार को ही युग धर्म पालन में लगा दिया था । उन्होंने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये जो कुछ किया वह आज भी उतना ही प्रेरक है जितना उस समय था । आज भी सत्याग्रह की आवश्यकता है । अंग्रेज स्वार्थी थे इसलिए बुरे थे । उन्हें हम इसीलिये भगाना चाहते थे । आज वही स्वार्थ, वही संकीर्णता हमारे भीतर आ घुसी है- हमारे जन जीवन में समायी हुई है, आज अनैतिकता के, अंग्रेजियत के विरुद्ध उससे भी बड़ा संग्राम लड़ना है । इस संग्राम के लिये कितने ही पं. रामनाथ चाहिए । जो अपनी समूची सामर्थ्य इस दिशा में लगा दें ।

खेत, बाग आदि तो सरकार ने १९३० में ही छीन लिये थे । वृद्धावस्था में सहारा देने वाला पुत्र भी स्वतन्त्रता संग्राम में जूझ रहा था । ऐसी स्थिति में पण्डित जी को बड़ा ही अभावग्रस्त जीवन जीना पड़ा पर उन्हें इस बात की प्रसन्नता रही कि वे केवल अपने लिये ही नहीं जिये । १९५३ में जब उनका देहावसान हुआ तो घर में कफन के लिये भी पैसा न था पर उन्होंने देश के लिये जो कुछ किया था उसकी संतोषपूर्ण आभा उनके चेहरे पर खिल रही थी। उनका अन्तिम संस्कार उसी के अनुरूप हुआ । युग धर्म पालन के लिये ऐसे सिपाहियों की आज भी देश को आवश्यकता है ।

स्वतन्त्रता के अमर पुजारी-
श्री रासबिहारी बोस

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के अग्रणी, कर्णधार तथा भारत में क्रान्तिकारी दलों के संगठक और नेता, साथ ही अन्य देशों में भारत की आजादी का नारा देने वाले, भारत माता के सपूत रासबिहारी बोस की उत्कट देशभक्ति का परिचय आज की नई पीढ़ी को बहुत कम होगा । स्व० बोस अपनी निजी पारिवारिक परिस्थितियों की उपेक्षा कर ब्रिटिश शासन की सतत् घात से बचते हुए जीवनपर्यन्त भारतीय स्वाधीनता के लिये संघर्षरत रहे और अन्तिम दिनों में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को अपना उत्तराधिकार सौंपकर मानो उनकी आत्मा ने यह सन्तोष पाया कि आजादी का जो दीपक उन्होंने प्रज्वलित किया है उसे नेताजी बुझने न देंगे ।

महाविप्लवी रासबिहारी बोस का सारा जीवन त्याग और बलिदान की एक रोमांचकारी कहानी है । भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में जिन महावीरों का पथ प्रदर्शन और योगदान मिला है, उन नायकों में रासबिहारी का स्थान सर्वोच्च है। सन् १८५७ के बाद स्व. बोस ही पहले क्रांतिकारी नेता थे जिन्होंने भारतीय सैनिकों को संगठित कर, ब्रिटिश-साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के लिये सशस्त्र क्रान्ति का आयोजन किया था और जिनका क्रान्तिकारी संगठन झेलम से लेकर गंगा के डेल्टा और ब्रह्मा की सीमा तक फैला था । उनमें राणाप्रताप के समान शूरता, शिवाजी के समान रण-कुशलता, चाणक्य के समान कूटनीतिज्ञता और स्वामी विवेकानन्द के समान आत्मबल था ।

स्व० रासबिहारी बोस का जन्म १८८६ की २५ मई को बंगाल के एक सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था । उनके पिता विनोद बिहारी बोस पटना के एक सरकारी प्रेस में क्लर्क थे और राष्ट्रीय विचारधारा से प्रभावित भी । पिता के गुणों की बालक रासबिहारी पर छाप पड़ी और उनमें भी राजनीतिक जाग्रति उत्पन्न हुई । शिक्षण समाप्त करके, उन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज में नौकरी करली और फिर वहाँ से वन-शोध-संस्थान, देहरादून चले आये । उनके हृदय में क्रान्तिकारी ज्वाला जल रही थी, अतएव उनका यहाँ के कार्य में मन नहीं लगा ।

उन्होंने प्रथम उत्तर-भारत का पंजाब से लेकर बंगाल तक दौरा किया और सभी छोटे-छोटे गुप्त क्रान्तिकारी संगठनों से एक होकर स्वाधीनता की लड़ाई के लिए आह्वान किया । उनके ही श्रम और प्रयत्नों से क्रान्तिकारियों का केन्द्रीय संगठन बना ।

उसी समय अमेरिका में भी भारत की आजादी का अलख जगाने के लिए गदर-पार्टी का गठन हो चुका था, अतएव बोस ने सेना में क्रान्ति-विचारों को जगाने के लिए क्रान्तिकारी साहित्य वितरित करने की योजना बनाई । तदनुसार 'लिबर्टी' नाम से असंख्य पर्चे लाहौर से कलकत्ता तक सेना के साथ-साथ जनता में भी बाँटे गए और सन् १९१२ में राजकीय समारोह के साथ दिल्ली में प्रवेश करते समय भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिंग्ज के ऊपर बम प्रहार कर ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया था । आपने भारत में सन् १९१५ तक के अल्प समय में क्रान्तिकारी संगठन में जिस योग्यता का परिचय दिया और जिस ढंग से सारी तैयारी की थी, उसकी झलक ऐंडीसन कमेटी की रिपोर्ट और माइकेल ओ डायर के लेखों में देखी जा सकती है ।

कुछ देश-द्रोहियों की मुखबिरी के कारण १९१२ में सशस्त्र-क्रान्ति के अपने प्रयत्नों में असफलता के बाद रासबिहारी को स्वदेश छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा ।

जून १९१५ में तमाम सरकारी पुलिस और गुप्तचरों की आँखों में धूल झोंककर राजा पी. एन. टैगोर के नाम से वे जापान पहुँचे। वहाँ से वे शंघाई गए और चीनी ऐजेंसियों के माध्यम से उन्होंने जर्मन शस्त्रास्त्र भारत भेजने का प्रयत्न किया। किन्तु यह कार्यक्रम सफल न हो सका। तब वे पुन: टोकियो वापस आ गए। यहाँ पर आपकी पंजाब केसरी लाला लाजपतराय से भेंट हुई और उनकी सहायता से आपने भारत को अंग्रेजी दासता से मुक्त कराने के लिए योजना बनाई। जापानी भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी १९१५ की १५ नवम्बर को टोकियो में एक विशाल सभा का आयोजन करके भारत की आजादी के पक्ष में जोरदार भाषण दिया।

उस भाषण के बाद ब्रिटिश दूतावास को पता चला कि पी. एन. टैगोर के नाम से जापान आने वाला और कोई नहीं स्वयं रासबिहारी बोस हैं। जब ब्रिटिश दूतावास ने जापान सरकार पर दबाव डालना शुरू किया कि वह लालाजी तथा बोस को पकड़कर उन्हें सौंप दें। इसी बीच लालाजी अमेरिका चले गये और बोस वहीं रह गये। थोड़े ही समय बाद अन्य भारतीय साथियों ने भी जापान छोड़ दिया। अब रासबिहारी बोस अकेले रह गये थे।

जब ब्रिटेन के दबाव पर जापान सरकार ने आदेश जारी किया कि यदि भारतीय क्रान्तिकारी रासबिहारी बोस २ दिसम्बर, १९१५ तक जापान नहीं छोड़ते हैं तो उन्हें पकड़कर ब्रिटिश सरकार को सौंप दिया जायेगा, तब वे जापान के लौह पुरुष मित्सूरी तोयामा के पास गये। तोयामा राष्ट्रों की स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे और विभिन्न देशों के क्रान्तिकारियों को शरण देते रहते थे। उन्होंने चीन के जन नेता डॉ. सन-यात-सेन को भी आश्रय प्रदान किया था। वह रासबिहारी के खिलाफ आदेश को रद्द कराने के प्रयत्न में लग गये।

जापान के राष्ट्रीय समाचार-पत्रों ने बोस के समर्थन में जोरदार आवाज उठाई। अतएव उन्हें जापानी बुद्धि-जीवियों का प्रबल समर्थन मिला किन्तु जापानी विदेश विभाग जनमत और प्रेस के सम्मुख नहीं झुका। ऐसे समय में जापान के एक बड़े होटल के स्वामी एजो सौमा उनसे मिले और उन्हें अपने होटल में छिपा दिया। ये एजो सौमा और उनकी पत्नी श्रीमती सौमा एक व्यवसायी ही नहीं बल्कि सक्रिय सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यकर्ता भी थे अनेकों महत्वपूर्ण आन्दोलनों में भाग लिया था।

अप्रैल, १९१६ को लगभग साढ़े चार माह बाद तोयामा तथा कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों के प्रयास से बोस के खिलाफ उक्त आदेश वापस ले लिया गया। प्रतिबंध हट जाने के बाद भी डर बना ही रहा। अतएव स्थायी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए तोयामा ने सौमा दम्पत्ति को सुझाव दिया कि वे अपनी बड़ी पुत्री तोशिको का विवाह बोस के साथ कर दें। श्रीमती सौमा इस मिश्रित विवाह पर चौंकी। अन्त में उन दोनों ने इसका निर्णय अपनी पुत्री पर छोड़ दिया। कुमारी तोशिको ने अपनी सहमति व्यक्त की और दोनों प्रणय सूत्र में बँध गए।

श्रीमती तोशिको ने जापानी नागरिकता के मिलने तक लगभग छह वर्ष पति के साथ शत्रु के एजेन्टों की नजरों से बचते हुए अनेकों कष्ट झेले और उनकी रक्षा की। सन् १९२३ में जापान की नागरिकता मिलने पर उन्हें कुछ राहत मिली। विवाह के आठ वर्ष बाद श्रीमती तोशिको की मृत्यु हो गई। बोस के एक पुत्र तथा पुत्री पैदा हुई थी। पुत्र द्वितीय महायुद्ध के दौरान ओकीनावा के टैंकयुद्ध में मारा गया तथा पुत्री श्रीमती हिंगु जी अभी जीवित हैं और टोकियों में रह रही हैं। श्रीमती हिंगु जी ने अभी तक भारत नहीं देखा है, किन्तु उनकी बड़ी पुत्री सन् १९६९ के गणतंत्र-दिवस पर दिल्ली आई थीं। श्रीमती हिंगुजी के पास अपने स्वर्गीय पिता से सम्बन्धित अनेक बहुमूल्य पुस्तकें, कागजात, फोटोग्राफ आदि आज भी सुरक्षित हैं।

तमाम कष्टों और आपत्तियों के बावजूद श्री रासबिहारी बोस भारत को आजाद कराने के प्रयत्न में लगे रहे। जापानी जनमत तक अपने विचार पहुँचाने के लिए उन्होंने जापानी भाषा सीखना शुरू किया और चार माह में ही उन्होंने उस भाषा पर अधिकार कर लिया। तब एक पत्रकार का जीवन आपने ग्रहण किया और न्यू एशिया नामक एक पत्र का प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया। अपनी नुकीली कलम और चुटीली भाषा के माध्यम से उन्होंने जापानी भाषा में १४ पुस्तकें भी लिखीं, जो रवीन्द्र काव्यानुवाद, लोक कथा, भगवद्गीता, रामायण, संस्कृति और भारतीय स्वाधीनता संग्राम से सम्बन्धित हैं। वे अपनी रचनाओं के माध्यम से जापानियों के हृदय-सम्राट बन गये। इनके व्यवहार से जापानी युवक इतने प्रभावित हुये कि वे उन्हें 'दादा' 'बड़े भाई' (शीन-सा) से सम्बोधित करते थे। उन्होंने टोकियो में एक होटल भी खोला था, जो भारतीयों के सभास्थल का काम करता था। वे टोकियो में प्रतिवर्ष 'जलियाँवाला बाग दिवस' मनाकर शहीदों को श्रद्धा-सुमन अर्पित किया करते थे। उन्होंने चीन के क्रान्तिकारी नेता डा. सन-यात-सेन को बीस हजार जापानी मुद्रा की आर्थिक सहायता भी की थी।

जब गुरुदेव रवीन्द्र अपनी विश्व-यात्रा के दौरान जापान पहुँचे तो वे रासबिहारी बोस द्वारा किये गये सराहनीय कार्यों से अति प्रभावित हुए। गुरुदेव उनके निवास-स्थान पर भी गए और सभी पारिवारिक जनों से मिले। श्रद्धेय गुरुदेव के हृदय में बोस के लिए बहुत ही

सम्मान था । यह बात तब और भी सिद्ध हो गई, जब स्वदेश लौटने पर पूज्य गुरुदेव को मालूम हुआ कि जापान में भयंकर भूकम्प आने से रासबिहारी का मकान तहस-नहस हो गया है, तो उन्होंने ब्रिटिश शासन की नाराजगी की परवाह न करते हुए छह सौ रुपये की आर्थिक सहायता बोस को भेज दी थी ।

रासबिहारी बोस वास्तव में जापान में एक गैर सरकारी राजदूत की भूमिका अदा कर रहे थे । उनके सम्पर्क में जो भी आता, वह मुग्ध हो जाता था । उन्होंने सन् १९२६ में 'पान एशियन लीग' की स्थापना की, जिसके वे स्वयं अध्यक्ष थे । भारत के स्वतंत्रता-संघर्ष को और तेज करने के लिए उन्होंने दो बार कोरिया की भी यात्रा की थी और सन् १९३७ में आपने 'इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स लीग' की स्थापना भी की ।

सन् १९३९ में जब द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ तो वे अपनी शक्ति संगठित करने में व्यस्त हो गये । ८ दिसम्बर १९४१ को जब जापान ने पर्लहार्बर पर आक्रमण करके मित्र-राष्ट्रों के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया, तो इनकी खुशी का ठिकाना न रहा । इन्हें अपनी सफलता दृष्टिगोचर होने लगी । उन्होंने टोकियो में भारतीयों का एक सम्मेलन बुलाया और अपनी बात समझाई कि अब हमें अपना देश आजाद करने का अच्छा मौका है, जिसे सबने हृदय से स्वीकार कर लिया और आजादी के लिए संघर्षबद्ध होने का प्रण किया । ठीक युद्ध-घोषणा के अठारहवें दिन टोकियो के भारतीयों के संगठन 'इण्डियन इण्डिपेन्डेन्स लीग' ने भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया । जापानी मंत्रिमंडल ने भी लीग की वैधानिकता को स्वीकार कर सरकारी स्तर पर मान्यता प्रदान कर दी। लीग का प्रधान कार्यालय टोकियो का एक होटल बना ।

इतना सब होने पर भी भारत से काफी दिनों तक बाहर रहने के कारण आप अनुभव करने लगे थे कि भारतवासी उन्हें भूल चुके हैं। अतः किसी भारतीय नवयुवक नेता की तलाश में आप जुट गए । इसके लिए आपने गुप्त रूप से वीर सावरकर के द्वारा सुभाषचन्द्र बोस को अपना सम्वाद भेजा । जापानी सैनिकों द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में बंदी बनाये गये भारतीय सैनिकों को संगठित कर आपने 'आजाद हिन्द सेना' का गठन किया । साथ ही साथ पूर्वी एशिया में निवास करने वाले बीस लाख भारतीयों के धन-जन की रक्षा की। सन् १९४२ में जब भारत में 'करो या मरो' का नारा बुलन्द किया तो रासबिहारी बोस के नेतृत्वों में उन भारतीयों ने भी बगावत का झन्डा बुलन्द किया। आपने तमाम नागरिकों एवं सैनिकों के सामने आई. एन. ए. के सर्वोच्च सेनाध्यक्ष के नाते बहुत ही जोरदार शब्दों में भाषण देकर अपना कार्यक्रम उनके आगे रखा । बाद में जब सुभाष बाबू वहाँ पहुँचे तो एक समारोह में १९४३ की ४ जुलाई को आजाद हिन्द सेना की सर्वोच्च कमान उन्हें सौंप दी।

आजाद हिन्द सेना की कमान सौंपते हुये रासबिहारी बोस ने कहा था-"मित्रो और सैनिक साथियो ! आज मैं आप सबकी उपस्थिति में देशसेवक सुभाषचन्द्र बोस को आई. एन. ए. का सेनाध्यक्ष नियुक्त करता हूँ । मैं वृद्ध हो चला हूँ । सुभाष बोस आई. एन. ए का कुशल नेतृत्व करने में सक्षम होंगे, यही कामना करता हूँ ।"

इस अवसर पर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने शपथ लेते हुए कहा- "भारतीय जनता वर्तमान तथा पिछले महायुद्ध में रासबिहारी बोस के कार्यों से भली-भाँति परिचित है । उन्होंने मुझ पर जो गुरुतर भार रखा है, उसे जीवन के अन्तिम क्षणों तक निभाने की प्राणपण से कोशिश करूँगा । हम सब लोग अब भी उनके ही संरक्षण में काम करना पसन्द करेंगे । अतएव उनसे आजाद हिन्द सेना का सर्वोच्च सलाहकार बने रहने की नम्र प्रार्थना करता हूँ ।"

कैसा शानदार दृश्य था यह महान त्याग और बलिदान की परम्परा का !

२१ अक्टूबर, १९४३ को आजाद हिन्द सरकार की विधिवत् स्थापना हुई, जिसके आप सर्वोच्च सलाहकार थे। आपके नेतृत्व तथा अनुभवी सलाह का सम्बल पाकर आजाद हिन्द सरकार अपने उद्देश्य की ओर आगे ही बढ़ती गयी किन्तु देश का दुर्भाग्य था कि वे देश को स्वतंत्र नहीं देख सके । निरन्तर कार्य करते रहने के कारण आपका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता चला गया । अतएव उन्हें टोकियो वापस जाकर बिस्तर पकड़ना पड़ा ।

जापान की पराजय और आजाद हिन्द सेना के आत्म-समर्पण के पहले २१ जनवरी, १९४५ को दो-दो महाक्रान्तियों के पुजारी रासबिहारी बोस ने सदैव के लिए आँखें मूँद लीं, उनकी मृत्यु की घोषणा राजकीय ढंग से की गयी थी और जापान के सम्राट ने अन्तिम संस्कार के लिए शाही सवारी भेजी थी । जापान सरकार ने गैर सरकारी लोगों को दिया जाने वाला सर्वोच्च सम्मान सेकण्ड क्लास आर्डर से भी उन्हें अलंकृत किया था ।

अमर बलिदानी-

भगवती चरण वोहरा

२८ मई, १९३० के अस्ताचलगामी दिवाकर का मुख-मण्डल भी कुछ वैसा ही रक्ताभ हो उठा था । रावी की गिरती-उठती लहरों में उसका लोहित प्रतिबिम्ब कुछ वैसा ही लग रहा था जैसा उसके तट प्रदेश में क्षत-विक्षत शरीर से बहती रक्त धाराओं की पीड़ा से और आसन्न मृत्यु के भय से नहीं पर अपने साथियों को छुड़ाने के अभियान में सम्मिलित न हो सकने की वेदना लिए भारत माँ की गोद में पड़ा उसका लाड़ला सपूत । उसका एक साथी रावी के जल में तौलिया भिगो लाया था और उसके मुँह में पानी टपका रहा था ।

तभी दो साथी और आ पहुँचे उसे खोजते हुए । उन्हें देखकर बोला-"तुम आ गये अच्छा हुआ । आजाद भी आते तो उन्हें देख लेता ।"

"भैया इस समय घर पर नहीं हैं नहीं तो अवश्य आते ।"

"कोई बात नहीं ।"

साथियों ने आमने-सामने से अपनी भुजायें जोड़कर उसे उठाने का यत्न किया । शरीर के हिलते ही उसके मुख से चीख निकल गयी । स्ट्रेचर या खाट के बिना काम चलने वाला नहीं है, यह सोच कर रुँधे गले से एक साथी बोला-"हम अभी खाट लेकर आते हैं घबराना नहीं ।" जो आदमी जीवन भर संकटों से खेलता रहा हो भला व मृत्यु के क्षणों में क्या घबरायेगा पर साथियों के हृदय में उमड़ती वेदना ने उन्हें सोच-विचार कर कुछ कह सकने की स्थिति में भी कहाँ रखा था ।

"तुम समझते हो मैं डर रहा हूँ ? यही दुःख है कि मैं भगतसिंह को छुड़ाने में सहयोग न दे सकूँगा । काश ! यह मृत्यु दो दिन बाद होती ।" यह बात वह व्यक्ति कह रहा था जिसकी एक पूरी कलाई और दूसरे हाथ की पाँचों अँगुलियाँ उड़ चुकी थीं । उनके चेहरे और पेट के गहरे घावों से रक्त बह रहा था । यह व्यक्ति थे शहीद भगवती चरण वोहरा जिनका सारा जीवन भारतवर्ष को अंग्रेजों के आधिपत्य से छुड़ाने के लिए संघर्ष करने में बीता था । भगतसिंह और साथियों को जेल से छुड़ाने के लिए बनाये गये बमों का परीक्षण करते हुए उनके हाथ में ही बम विस्फोट हो जाने के कारण उनकी यह स्थिति हुई थी । उनके जो साथी खाट या स्ट्रेचर लेने के लिए लाहौर नगर के लिए रवाना हुए थे उनके जाने के कोई आध घण्टे बाद उनके प्राण-पखेरू उड़ गये । इस निर्जन वन प्रान्तर में उनको इस असहाय दशा में प्राण त्यागते हुये देखकर उनकी रक्षा में सन्नद्ध साथी बिलख-बिलख कर रो पड़ा ।

शहीद भगवती चरण की मृत्यु जिन परिस्थितियों में हुई थी उन्हें देखते हुये, चाहते हुए भी उनका सार्वजनिक रूप से अन्तिम संस्कार भी नहीं किया जा सका, यहाँ तक कि उनकी पत्नी दुर्गा देवी, जो क्रान्तिकारियों में दुर्गा भाभी के नाम से जानी जाती थीं, भी उनका अन्तिम दर्शन नहीं कर सकीं । क्योंकि ये सब लोग भगतसिंह को लाहौर जेल से मुक्त कराने की योजना को पूरी करने में लगे हुए थे । ऐसी स्थिति में उनका सार्वजनिक रूप से अन्तिम संस्कार करना भी सरकारी गुप्तचरों के लिए बहुत बड़ा सूत्र बन सकता था । अतः उनके तीन साथियों ने मिलकर उनके शव को रावी की लहरों को समर्पित कर दिया ।

वे मूक रहकर ही देश-सेवा करने का परम सौभाग्य लिखा कर लाये थे । यही कारण है कि उनके साथियों को भरपूर नाम मिला और यश भी पर वे अपनी मृत्यु की तरह ही अनजाने-अनचीन्हे रहे । उनके साथी स्ट्रेचर और प्राथमिक उपचार की सामग्री लेकर पहुँचे तब तक तो उन्हें प्राण त्यागे कोई तीन घण्टे हो चुके थे ।

भगवती चरण पंजाब के एक खाते पीते गुजराती ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे । उनके पिता शिवचरण वोहरा रेल्वे कम्पनी में उच्च पद पर थे । सरकार ने उन्हें रायबहादुर की उपाधि दी थी । अपनी सर्विस से रिटायर होने के बाद वे आगरा से लाहौर आकर बस गये थे पंजाब की जलवायु और माटी का पूरा रंग भगवती बाबू पर चढ़ा था । डीलडौल में वे अच्छे-खासे पहलवान लगते थे । इसी कारण भगतसिंह इन्हें कभी- कभार हँसी में 'मोटा' भी कह दिया करते थे । छह फुट तक पहुँचा हुआ कद, दोहरा कसरती बदन, चुस्त-दुरुस्त, रंग गंदुभी और गम्भीर भरा हुआ चेहरा उनको आकर्षक व्यक्तित्व का भी स्वामी बनाने को पर्याप्त था ।

लाला लाजपतराय का नेशनल कॉलेज उन दिनों देश भक्ति के रँग में रँगे युवकों के लिए तीर्थ स्थल बना हुआ था । भगवती चरण भी इसी कॉलेज के छात्र थे । जवानी का जोश तन-मन में बसा था पर यह जोश आदर्शोन्मुख था । इस जवानी को देश की स्वतन्त्रता के लिए न्यौछावर कर देना ही उनकी तमन्ना थी । इसी नेशनल कॉलेज में भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, यशपाल, हीरानन्द, सच्चिदानन्द वात्स्यायन, वैशम्पायन आदि क्रान्तिकारी पढ़े थे । भगवती चरण इनसे सीनियर थे ।

देश-भक्ति की उमंग तो बचपन से ही थी । इन्टर पास करने के बाद ही उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया था । पिताजी लाख मना करते रहे पर वे मान ही कैसे सकते थे । रायबहादुर शिवचरण का बेटा क्रान्तिकारी बन गया था समय की पुकार सुनकर के । बचपन में ही विवाह भी कर दिया था माता-पिता ने इनके न चाहते हुए भी, पर यह सब बाधायें उन्हें अपने उद्देश्य से भटका न सकीं ।

वे स्वयं तो क्रान्तिकारी बने ही बने, साथ ही उन्होंने अपनी पत्नी को भी क्रान्तिकारिणी बना डाला । ग्यारह वर्ष की दुर्गा को बारह-तेरह के भगवती चरण ब्याह कर लाये थे तब वह हिन्दी लिख-पढ़ लेती थी । रामायण, भागवत, बाँच लेतीं थी । भगवती चरण ने देखा कि उनके विचारों को पत्नी तब तक समझ नहीं पायेगी जब तक कि वह पढ़ लिख न जाये । उनके क्रान्तिकारी आन्दोलन में लगे रहना उसे तब तक अच्छा भी नहीं लगेगा और ऐसी दशा में उससे सहयोग मिलना सम्भव भी न होगा । अतः उन्होंने अपनी पत्नी को स्वयं पढ़ाना आरम्भ किया । पत्नी भी सुलझे विचारों की थी । एक पुत्र उत्पन्न हो जाने पर भी उन्होंने पढ़ाई जारी रखी और १९२६ में पंजाब

विश्वविद्यालय से 'प्रभाकर' परीक्षा पास करके लाहौर के 'महिला कॉलेज' में प्राध्यापिका बन गयीं ।

वे अपने जीवन का ध्येय पत्नी को समझाने में सफल हुए । दुर्गा भाभी ने समझ लिया कि उनके पतिदेव ने देशप्रेम की प्रबल भावनाओं से प्रेरित होकर जो काम हाथ में लिया है उसमें जेल, फरारी, मृत्यु और फाँसी की क्षण-क्षण सम्भावना है। अतः परिवार की सारी जिम्मेदारियाँ उन्हें ही निभानी हैं। वे उनके काम में बाधक नहीं सहायक बनीं, उसका बहुत कुछ श्रेय भगवती चरण भाई की बुद्धिमत्ता को ही जाता है ।

देश के प्रति उत्सर्ग की जो भावना उनके हृदय में थी उस पर उनके क्रान्तिकारी दल के कुछ सदस्यों के मन में अविश्वास भी उठा । उस अविश्वास को मिटाने के लिए उन्हें कठोर परीक्षाओं से गुजरना पड़ा था । किसी ने उन्हें पुलिस का जासूस समझ लिया । इसकी शंका दल के सभी सदस्यों के लिए सिर दर्द बन गयी । भगवती भाई अपने प्रति रखे जाने वाले इस अविश्वास से दुःखी तो हुए पर उन्होंने क्रान्ति के कामों से हाथ नहीं खींचा । यहाँ तक कि दल के कुछ सदस्यों ने उन्हें जान से मार देने का निर्णय भी ले लिया था । पर वे अविचलित भाव से अपना काम करते रहे थे । अविश्वास की क्रिया की कोई गलत प्रतिक्रिया उनके मन में नहीं हुई । अन्त में उनके धैर्य और सच्चाई ने दल वालों का विश्वास जीत लिया ।

उन्होंने तन, मन और धन तीनों देश पर न्योछावर किये थे । उनके दल 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सेना' के सदस्यों में से वे ही ऐसे थे जो विवाहित थे । आर्थिक दृष्टि से भी वे ही ऐसे थे जो क्रान्तिकारी क्रियाकलापों के लिए आर्थिक सहायता दे सकते थे । उन्होंने इस कार्य के लिए कभी हाथ नहीं खींचा । उनका घर क्रान्तिकारियों के लिये आश्रय स्थल, उनकी पत्नी उनके साथियों के लिए अन्नपूर्णा और उनका बैंक-बैलेंस सदा क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए कोष बना रहा था ।

पंजाब के उत्साही नवयुवकों के दल में वे वरिष्ठ थे । उनके सम्बन्ध उन पुराने क्रान्तिकारियों से भी थे जिन्होंने गुप्त रूप से 'हिन्दुस्तान कम्युनिस्ट पार्टी' का गठन किया था । वे चाहते थे कि क्रान्तिकारी गतिविधियाँ कुछ इस तेजी से हों कि अंग्रेजों के कान खुल जायें और जनता में भी जागरण की एक लहर उत्पन्न हो जाय । इसके लिए वे अपने पास से काफी धन भी देते थे ।

उनका अपना खर्च बहुत कम था । एक पैसा भी वे फालतू खर्च नहीं करते थे । खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने की इस सादगी के कारण ही वे दल को इतनी आर्थिक सहायता दे सके, जबकि वे कोई व्यापार, धन्धा या नौकरी नहीं करते थे । उनके इसी मुक्त हस्त दान को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें खुफिया पुलिस का आदमी समझ लिया था । किन्तु उन्होंने अपने आत्मीय व्यवहार से दल के सभी सदस्यों के हृदय जीत रखे थे सो यह संदेह अधिक प्रभावी न हो सका ।

१९२८ में साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करते हुए भगवती भाई ने भी लाठियाँ खाई थीं । लाला लाजपत राय की मृत्यु के उपरान्त उनका बदला लेने के लिए साण्डर्स वध के पश्चात् भगतसिंह आदि को सुरक्षित रूप से बाहर निकालने में भी उनका और दुर्गा भाभी का प्रमुख हाथ रहा था । उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि दल का सूत्र संचालन और योजना बनाने में वे सबसे आगे रहते थे । पर श्रेय लेने में सबसे पीछे रहते थे, यही कारण था, कि वे प्रकाश में बहुत कम आये ।

'मेरठ षड्यन्त्र' से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें वर्षों फरार रहना पड़ा था । फरारी के दिनों में उनके घर की बार-बार तलाशियाँ ली जाती रहीं । महीनों पत्नी बच्चों से दूर रहना पड़ा था और दूर रहते हुए भी पत्नी के माध्यम से दल की प्रत्येक गतिविधियों में पूरा-पूरा सहयोग देना, कम त्याग और बलिदान का काम नहीं था । उनकी अनुपस्थिति में उनके परिवार वालों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उन्हें भुक्तभोगी ही जान सकता है ।

ऐसेम्बली में बम फेंकने के कारण भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त को बन्दी बनाकर लाहौर की जेल में रखा गया था । वहाँ उनके साथ बहुत बुरा व्यवहार होता था । उनके बाद भी कई क्रान्तिकारियों को पकड़ा गया था । वे सब भी लाहौर की जेल में ही रखे गये थे । भगतसिंह को जेल से छुड़ाने के लिए आजाद और भगवतीचरण वोहरा ने मिलकर योजना बनाई थी कि बोर्स्टल जेल से पुलिस लॉरी में भगतसिंह को सेन्ट्रल जेल लाते समय, लारी पर आक्रमण करके उसे छुड़ा लिया जाय । पुलिस की नजरों से बचते हुए उन्होंने भगतसिंह को छुड़ाने की पूरी योजना बना ली थी । इसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए बम बनाये गए थे, जिनका परीक्षण करते हुए भगवती चरण वोहरा शहीद हुए थे । बाद में भगतसिंह के मना कर देने पर छुड़ाने की योजना को क्रियान्वित नहीं किया जा सका ।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में क्रान्तिकारी आन्दोलन की भूमिका किसी अन्य आन्दोलन से कम महत्वपूर्ण नहीं रही थी । इस आन्दोलन को गति देने वालों में भगवती चरण वोहरा का नाम क्रान्तिकारियों की सूची में शीर्षस्थ स्थान पर आता है । उनके इस बलिदान का मूल्य चुकाना अभी शेष है ।

राष्ट्र की स्वतंत्रता को समर्पित—

बारहट परिवार

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में क्रान्तिकारी आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है । यह बात दूसरी है कि आजादी

लाने का श्रेय उन्हें नहीं मिला पर इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रान्तिकारियों के बलिदान व्यर्थ गये अथवा राष्ट्र के प्रति उत्सर्ग की निष्ठा उनके असहयोग आन्दोलन के सत्याग्रहियों से कम थी ।

विदेशी शासन या एक तंत्र से मुक्ति पाने का अब तक का जो प्रचलित मार्ग था वह सशस्त्र क्रान्ति का ही मार्ग था । भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए इस प्रचलित मार्ग का अनुसरण करके सैकड़ों युवकों ने अपनी समस्त व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं व सुख-सुविधाओं को त्यागकर देश के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी दी । यह बात दूसरी है कि उनका चिंतन महात्मा गाँधी की तरह मौलिक और भारतीय जीवन दर्शन के साथ समग्र रूप से तादात्म्य स्थापित करके चलने वाला नहीं था और न ही सारी की सारी जनता उन के पथ पर चल सकती थी । यही कारण था कि भारत की आजादी का श्रेय उन्हें नहीं मिल सका । किन्तु उनकी राष्ट्रनिष्ठा और उत्कट देश-भक्ति करोड़ों लोगों के दिलों में वह तूफान उत्पन्न करने में उतनी ही महत्वपूर्ण रही थी जितना कि गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन ।

देखा जाय तो गाँधी जी का अहिंसक आन्दोलन उस समय इतिहास के गर्भ में ही था उसकी सत्यता अभी संदिग्ध ही थी सो पारम्परिक मार्ग पर चलने वाले क्रान्तिकारियों की महत्ता स्वीकारे बिना कोई मार्ग अहिंसावादियों के लिए भी उस समय नहीं हो सकता था । कोई व्यक्ति अपने देश के लिए अपने कितने सुख न्यौछावर कर सकता है यह क्रान्तिकारियों के जीवन में स्पष्ट ही देखा जा सकता है जो अत्यधिक प्रेरक है । ऐसे ही एक विस्मृत क्रान्तिवीर की बात हम बताने जा रहे हैं, जोरावर सिंह बारहट तथा उनके परिवार के बारे में ।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द में क्रान्तिकारी भावना अत्यन्त उग्र हो गयी थी । गाँधी जी का नाम तब तक भारत के क्षितिज पर उदित भी नहीं हुआ था । इसी भावना से प्रेरित होकर राजस्थान का एक बारहट परिवार इस क्रान्ति की लहर में बहकर अपना सर्वस्व दाँव पर लगा बैठा ।

भाट, चारण अथवा बारहट मध्यकालीन सामन्त युग की एक विशिष्ट जाति थी जिसका काम काव्य-रचना करना और युद्ध के समय अपनी ओजपूर्ण कविताओं से वीरों का उत्साहवर्द्धन करना था । कवि चन्द्रवरदायी इसी वंश में हुए थे । केसरीसिंह बारहट और उनके अनुज जोरावरसिंह बारहट की रगों में उसी वंश का रक्त बह रहा था । भावनाओं का ज्वार भी कुछ कम नहीं था । केसरीसिंह बारहट की उदयपुर व कोटा राज्य में बड़ी प्रतिष्ठा थी सो उनके अनुज जोरावरसिंह को जोधपुर नरेश बहुत मानते थे । इनको बड़ी-बड़ी जागीरें मिली हुई थीं । शाहपुरा में जोरावरसिंह की हवेली और जागीर थी । जोधपुर महाराजा ने उनकी योग्यता से प्रभावित होकर महारानी के महलों का प्रबन्धक नियुक्त किया था ।

अकबर और औरंगजेब के दाँत खट्टे करने और स्वाधीनता के ध्वज को उठाये रखने वाले वीरों के वंशज देशी राजाओं को तो विलासिता ने अकर्मण्य बना दिया था पर उनको वीर बनाने वाले इन वीरों का हृदय अभी वीरत्व की भावनाओं से रिक्त नहीं हुआ था । केसरी सिंह बारहट को जब यह पता चला कि रास बिहारी बोस नामक क्रान्तिकारी भारत में सशस्त्र क्रान्ति की योजना बना कर उसे कार्यरूप में परिणित करने जा रहे हैं तो उन्होंने अपने पुत्र प्रतापसिंह व अनुज जोरावर सिंह व जामाता ईश्वर दास आसिया को उनके पास भेजा ।

ये लोग रास बिहारी बोस के दाहिने हाथ मास्टर अमीरचन्द से मिले । मास्टर अमीरचन्द ने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाकर राजनैतिक व सामाजिक क्रान्ति के क्षेत्र में अत्यधिक महत्वपूर्ण काम किया था । बाद में उन्हें वायसराय लार्ड हार्डिंग्ज पर बम फेंकने के अपराध में तीन अन्य साथियों के साथ फाँसी पर लटका दिया गया ।

इन तीनों युवकों का परिचय जब रासबिहारी बोस से कराया गया था तो उन्होंने कहा था-"देश भर में ठाकुर केसरी सिंह बारहट ऐसे क्रान्तिकारी देशभक्त हैं, जिन्होंने अपने को ही नहीं अपने भाई, पुत्र व जामाता को भी मातृभूमि की बलिवेदी पर आहुति देने के लिये भेजा है ।"

केसरी सिंह बारहट रास बिहारी बोस के अनन्य सहयोगी थे । उनके पिताजी ने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्याम जी कृष्ण वर्मा को उदयपुर नरेश महाराणा सज्जन सिंह से कहकर मेवाड़ का प्रधानमंत्री नियुक्त कराया था । स्पष्ट था क्रान्ति और देश-प्रेम की भावनाएँ केसरी सिंह व जोरावर सिंह को पैतृक विरासत में मिली थीं ।

जोरावरसिंह व प्रतापसिंह ने २३ दिसम्बर, १९१२ को अंग्रेजी राज्य की राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाने व उद्‌घाटन रूप में बड़ी शान से लाखों रुपया खर्च करके जो वायसराय की सवारी निकाली गयी थी, उस पर बम फेंकने के कार्य में भाग लिया था ।

पुलिस ने क्रान्तिकारियों को पकड़ने में पर्याप्त तेजी बरती पर उस समय कोई पकड़ा न जा सका । जोरावर सिंह व प्रताप सिंह मास्टर अमीरचन्द से क्रान्ति सम्बन्धी शिक्षण प्राप्त करके राजस्थान चले गये । वहाँ क्रान्ति की आग सुलगाना उनका काम था । उन्होंने कुछ देश-भक्त ठाकुरों को इसके लिये तैयार भी कर लिया था ।

वायसराय पर बम फेंकने के सिलसिले में उन्हें पुनः दिल्ली बुलाया गया था । विस्फोट के बाद वे कई दिनों

तक दिल्ली में ही छिपे रहे । फिर पैदल ही राजस्थान के लिये रवाना हुए क्योंकि रेलों आदि साधनों पर पुलिस व गुप्तचर विभाग की कड़ी निगरानी थी । यमुना नदी उन्हें तैर कर पार करनी पड़ी । दूसरे किनारे पर पहुँचने पर संदेह में दो पुलिसमैन इनके पीछे पड़ गये । यहाँ जोरावर सिंह को अपने हाथ बताने पड़े । अपनी तलवार से उन दोनों को यमलोक पहुँचा दिया ।

हार्डिंग्ज बम-काण्ड को सरकार ने बड़ी गम्भीरता-पूर्वक लिया । धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई । रासबिहारी बोस व जोरावरसिंह बारहट को छोड़कर शेष सभी क्रान्तिकारी गिरफ्तार कर लिये गये । रासबिहारी जापान चले गये । वहाँ उन्होंने 'आजाद हिन्द सैना' का गठन किया । प्रताप सिंह बारहट को अंग्रेजी सरकार ने बरेली जेल में इतनी अमानुषिक यंत्रणाएँ दीं कि उनका प्राणान्त हो गया । केसरी सिंह बारहट को आरा षड़यन्त्र केस में बीस वर्ष की सजा दी गयी । प्रताप सिंह को अनेकानेक प्रलोभन दिये गये कि वह षड्यन्त्र का सारा भेद बता दे तो उसके पिता को जेल से मुक्त कर दिया जायगा, उनकी जागीर भी लौटा दी जायगी तथा चाचा पर से वारन्ट हटा दिया जायेगा, पर वीर प्रतापसिंह ने मरना स्वीकार कर लिया, राष्ट्र के साथ गद्दारी नहीं ।

जोरावरसिंह और उनके भाई की जागीर जब्त कर ली गयी थी । उन्होंने अपने जीवन का ध्येय घर-घर जाकर क्रान्ति का अलख जगाना तथा अंग्रेज सरकार की आँखों में धूल झोंकते रहना बना लिया। वे जब तक जीवित रहे सरकार उन्हें पकड़ नहीं सकी ।

एक बार उदयपुर के रेजिडेन्ट ने इन्हें पकड़ भी लिया पर उनके व्यवहार से उसके संदेह की तनिक-सी पुष्टि नहीं हुई । रेजीडेण्ट ने देशी रियासतों के कई जिम्मेदार भारतीय अफसरों से उनकी शिनाख्त करवायी । वे लोग इस देश- भक्त से इतने प्रभावित थे कि वे भी सही बात नहीं कह सके। उन्हें छोड़ दिया गया ।

जोरावरसिंह बारहट के मित्रों का कहना है कि वायसराय पर बम उन्हीं ने फेंका था । क्रान्तिकारियों के कार्य इतने गुप्त होते थे कि इस सत्य का पता नहीं चल सका । सरकार ने बसन्त विस्वास को बम फेंकने का अपराधी माना है । सम्भवत: उसने जोरावर सिंह को बचाने के लिए ऐसा कहा हो । कुछ भी हो जो त्याग और बलिदान उन्होंने देश के लिये किया था वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

जोरावर सिंह ने संन्यासी के रूप में अपना फरारी जीवन ही नहीं काटा वरन् एक सच्चे संन्यासी की तरह उन्होंने गाँव-गाँव जाकर धर्म का प्रचार किया तथा लोगों में देश-भक्ति की भावनाएँ उत्पन्न कीं । फरारी का जीवन कितना कष्टपूर्ण और अनिश्चितता का जीवन होता है । यह तो कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है । यह जीवन जोरावर सिंह ने स्वेच्छा से वरण किया था । अपने सुख सुविधायुक्त जीवन को देश की स्वतन्त्रता के लिये तिनके की तरह त्यागने वाला उनका यह व्यक्तित्व हमारे युवकों के लिये आज भी प्रेरणा का स्रोत बन सकता है । बारहट परिवार का भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है उसने उनके नाम को अमर कर दिया है ।

क्रान्तिवीर रामचरण लाल

सन् १९०८ । जिला कारावास एटा के भेंट कक्ष में एक चालीस वर्षीय महिला सजल नयनों से अपने कलेजे के टुकड़े की आशा लिए बेंच पर बैठी थी । जेल के दो वार्डर उसके ज्येष्ठ पुत्र को उस तक छोड़ गये । उसने अपने लाल को एक नजर से देखा । माँ की आँखें क्षण भर में ही उसकी देह पर अंकित अमानुषिक यन्त्रणाओं की कहानी को पढ़ गयीं । जिसे जरा-सा ज्वर आने पर वह रात भर उसके सिरहाने बैठकर काट देती थी । वही माँ अपने पुत्र की यह दशा देखकर रो पड़ी । पुलिस की मार से उसके शरीर पर जहाँ-तहाँ नील पड़ गये थे ।

माँ को अपने पुत्र की दुर्दशा पर शोक था और पुत्र को अपनी जननी की इस अधीरता पर रोष । वह पारिवारिक मोह बन्धनों व शारीरिक सुख-दु:खों से बहुत ऊपर उठ चुका था । उसने अपनी माता से कहा- "तुम रो रही हो माँ ! तुम यही सोच लेना कि मैं तुम्हारी कोख से जन्मा ही नहीं । जिनके बेटे होते ही नहीं या भरी जवानी में उठकर चल देते हैं वे भी तो सन्तोष करती हैं फिर तुम्हारा मैं अकेला ही पुत्र तो नहीं हूँ ।"

यह युवक थे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी रामचरण लाल, जिन पर सत्र न्यायाधीश, एटा के न्यायालय में भारतीय दण्ड विधान की धारा १२१ ए, १२० बी व १२४ ए के अन्तर्गत अभियोग चल रहा था । यह अभियोग साप्ताहिक 'स्वराज्य' में प्रकाशित उनकी एक राष्ट्रीय कविता तथा अन्य स्वराज्य समर्थक क्रिया-कलापों के आधार पर चलाया गया था । अब उनके लिए अपनी माता के आँसुओं से अधिक महत्व भारत माता के आँसुओं का था ।

अँग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकने के प्रयासों का आरम्भ १८५७ से आरम्भ हुआ तो फिर वह रुका नहीं । चाहे सशस्त्र क्रान्ति का प्रयास हो या असहयोग आन्दोलन का मार्ग हो, दोनों दो मार्गों से होती हुई अन्याय का प्रतिकार करने, उसे समूल नष्ट कर देने की यह भाव सरिता इन दो गंगा-जमुना के प्रवाहों की तरह अविरल रूप से बहती हुई जनमानस को जगाती झकझोरती रही । जनमानस में अन्याय से जूझने की जो शक्ति उन दिनों दिखाई पड़ी थी आज वह उतने प्रबल रूप में कहीं देखने को नहीं मिलती । यह कम आश्चर्य की बात नहीं ।

स्वातन्त्र्य युद्ध में किस प्रकार व्यक्तिगत लोभ-मोह और पारिवारिक मोह बन्धनों के क्षुद्र-पाशों को तोड़कर भारतवासी अंग्रेजी साम्राज्य से लोहा लेने के लिए उठ खड़े हुए थे, यह कम महत्वपूर्ण नहीं । यह युवक रामचरण लाल भला इस बहती गंगा में हाथ धोने से कब चूकता ।

एटा जनपद की कासगंज तहसील के नगला डरू ग्राम में जन्मे रामचरण लाल के पिता गंगाराम की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सामान्य थी । बालक रामचरण के प्रगति पथ में परिवार की यह निर्धनता बाधक नहीं हुई थी । विद्याध्ययन की उत्कट कामना की डोर से बँधे वे कौतोर ग्राम की प्राथमिक पाठशाला से एटा और अलीगढ़ की शिक्षण संस्थाओं में पहुँचे । अलीगढ़ में उन्होंने इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की । उन्हीं दिनों बंग-भंग को लेकर सारे भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन की एक लहर-सी चल पड़ी थी । वे भी इस लहर से अछूते नहीं रह सके । इस राह पर चलकर वे अंग्रेजी शासन की आँखों के काँटे बन गये । शासन का दमन चक्र उन्हें एटा सत्र न्यायालय तक ले गया। उन्हें तीनों धाराओं को तोड़ने के दण्डस्वरूप दस-दस वर्ष का कारावास दिया गया । यह तीनों सजाएँ एक साथ चलकर एक साथ समाप्त होने वाली थी ।

माता-पिता सोच रहे थे । ज्येष्ठ पुत्र है । इन्टर तक पढ़ चुका है । (उन दिनों इन्टर पास कर लेना साधारण बात नहीं थी।) कहीं नौकरी करके परिवार की आर्थिक दशा सुधारेगा । वे उसके लिये सुन्दर-सी बहू की तलाश में भी थे । किन्तु रामचरण लाल ने तो दूसरा ही मार्ग पकड़ा था। समय की पुकार-युग की आवश्यकता को स्वीकारते व मातृभूमि के लिए सर्वस्व न्योछावर करते हुए वे आजादी की बलिवेदी पर चढ़ गये ।

पहले पहल उन्हें एटा जेल में रखा गया । वहाँ से स्थानान्तरित होकर वे फतेहगढ़ केन्द्रीय जेल व अलीपुर (कलकत्ता) की जेल में पहुँचे । अन्त में उन्हें अण्डमान की जेल भेज दिया गया । अण्डमान जेल की वे काल कोठरियाँ अपने साथ उन दिनों के नृशंस अत्याचार, क्रूरता व यन्त्रणा की स्मृति लिए आज भी विद्यमान हैं । यहाँ के बन्दियों को इतनी यन्त्रणाएँ दी जाती थीं कि पत्थर भी पिघल जाये ।

यहाँ के राजनैतिक बन्दियों को भी अन्य बन्दियों की तरह ही रखा जाता था । उनके साथ पशुवत् व्यवहार किया जाता था । असह्य शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणाएँ दी जाती थीं । इन्हीं की तरह रामचरण लाल को भी कोल्हू खींचना पड़ता था । क्रूर यातनाएँ सहनी पड़ती थीं । एक क्रान्तिकारी, नन्दलाल बोस ने तो इन यातनाओं से परित्राण पाने के लिए विवश हो आत्महत्या कर ली थी ।

क्रान्तिकारियों के साथ होने वाले इस अमानवीय व्यवहार से भारतवासी लगभग अनभिज्ञ ही थे । सुदूर बंगाल की खाड़ी में स्थित इन द्वीपों के समाचार यहाँ तक बहुत कम पहुँच पाते थे । यही कारण था कि इसे काला पानी की सजा कहा जाता था । रामचरण यहाँ भी चुप नहीं बैठे । उन्होंने एक वार्डर से मिलकर काले पानी की इन काल कोठरियों की क्रूर यातना-कथा को गुप्त रूप से कलकत्ता राष्ट्रवादी पत्रकार मोती लाल घोष के पास भेज दी । जिसे उन्होंने 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित किया । क्रान्तिकारियों की इस दशा का वर्णन पढ़कर अंग्रेजों के प्रति भारतवासियों के मन में घोर घृणा उत्पन्न हुई, जिसने स्वतन्त्रता यज्ञ में घृताहुति का काम किया।

अण्डमान की जेल का वर्णन 'अमृत बाजार पत्रिका' में प्रकाशित हो जाने से अँग्रेज सरकार बहुत बौखलायी । जाँच के बाद उस वार्डर को सेवा मुक्त कर दिया गया । जिसने उनकी सहायता की थी। उस वार्ड की आर्थिक सहायता उन्होंने पत्रकार घोष से करवायी ।

चार वर्ष तक अण्डमान की नारकीय यन्त्रणाएँ सहने के बाद उनका स्थानान्तर नागपुर जेल में किया गया । यहाँ भी वे जेल में होने वाले अमानवीय व्यवहारों के विरोध में असहयोग व जेल के नियमों की अवहेलना करते रहे । जिसके कारण उनकी सजा में छहमहीने की वृद्धि कर दी गयी ।

१९१८ में उनकी कारावास से मुक्ति हुई । दस वर्ष की क्रूर यन्त्रणाएँ भोगकर भी उनकी देश-भक्ति का ज्वार ठण्डा नहीं हुआ था । उसमें वही तूफानी गति विद्यमान थी जो आरम्भ में होती है । दिल्ली में रहकर उन्होंने 'काँग्रेस' व 'फतह' नामक दो दैनिक अखबारों का सम्पादन किया। वहाँ से वे जबलपुर गये वहाँ 'तिलक' नामक सम्पादन किया। समाचार पत्रों के माध्यम से वे भारतीय जनमानस को झकझोर कर स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़ने के लिए तैयार करते रहे । वे जनसभाओं में भी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आलोचनात्मक भाषण दिया करते थे । पुलिस उनकी टोह में रहा करती थी । पुलिस के चंगुल से बचाने के लिए उनके मित्रों ने उन्हें नागपुर भेज दिया । यह अच्छा ही हुआ । उनको जीवित तथा मृत पकड़ लाने के लिए पंजाब सरकार ने थोड़े ही दिनों बाद भारी इनाम घोषित किया । तब तक वे 'कर्मवीर' के सम्पादक माखन लाल चतुर्वेदी के आग्रह पर पाण्डिचेरी पहुँच चुके थे, वह प्रदेश फ्रांस के अधिकार में था ।

वहाँ रहकर भी उन्होंने अंग्रेजी शासन विरोधी क्रिया-कलापों में कोई कमी नहीं आने दी । वहाँ वे अधिक स्वतन्त्रता से अपना कार्य कर सकते थे । अंग्रेजी शासन का कोई भय नहीं था । कानपुर व मेरठ में हुए षड्यन्त्रों के पीछे उनका पूरा-पूरा हाथ था । काँग्रेस के कानपुर अधिवेशन में उनकी ओर से एक विज्ञप्ति वितरित की गयी थी । जिसमें सत्ता से खुला संघर्ष करने का आह्वान किया गया था । मेरठ के षड्यन्त्र में मानवेन्द्रनाथ राय के साथ

उनका भी नाम जुड़ा हुआ था। किन्तु पाण्डिचेरी में होने के कारण उन पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सका।

पाण्डिचेरी के गवर्नर को अंग्रेजों ने इन्हें हिन्द चीन भेज देने के लिए सहमत कर लिया था किन्तु वहाँ की व्यवस्थापिका सभा के अध्यक्ष श्री गोबरे से उनके परिवार जैसे सम्बन्ध होने के कारण उनके हस्तक्षेप से उनका यह निर्वासन रुक गया। यही नहीं गोबरे परिवार से उन्हें समय-समय पर पर्याप्त संरक्षण मिलता ही रहा।

उनका सारा जीवन भारत को आजाद कराने के लक्ष्य से अभिन्न रूप से जुड़ चुका था कि वे इसके अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकते थे। उनकी सक्रियता भारत तक ही नहीं अन्य देशों तक भी विस्तृत हुई थी। उनका सम्पर्क अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दलों से भी था।

वे विदेशी दासता के साथ-साथ सामाजिक विषमता के भी घोर विरोधी थे। मद्रास व मदुरा के पत्रों से उनके आग उगलने वाले लेख निकलते रहते थे, जिनसे भारतीय जनता में इन बेड़ियों को तोड़ फेंकने का साहस जाग्रत होता था।

वे केवल संघर्षशील योद्धा ही नहीं कुशल सर्जक भी थे। वे एक सफल लेखक थे। उनके लेखक बनने के पीछे अपने पांडित्य प्रदर्शन का उद्देश्य नहीं था वरन् उनका लेखन एक महत्वपूर्ण कार्य के लिए नियोजित था। उनके लेख उन दिनों पत्रिकाओं में छपते रहते थे। उन्होंने अपनी आजीविका चलाने के लिये कई अंग्रेजी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी किया।

दस वर्ष तक जेल की नारकीय यन्त्रणाएँ सहते हुए उनका स्वास्थ्य जर्जर हो चुका था। अपने जीवन की गाड़ी को वे अपने महान उद्देश्य की संकल्प शक्ति से ही खींचे जा रहे थे। उनका सारा जीवन मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्त कराने के कष्टपूर्ण प्रयासों व क्रान्ति के कण्टकाकीर्ण पथ पर चलते हुए ही व्यतीत हुए। पल भर भी वे कभी चैन से नहीं बैठे। आर्थिक व स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यक्तिगत समस्याएँ उन्हें घेरे ही रहीं फिर भी वे एक धीर-वीर सैनिक की तरह अपने स्थान पर डटे ही रहे।

सन् १९३० में उनके पाँव में कील का घाव हो गया। जो गेगरिन में परिणित हो गया। उन्होंने मद्रास आकर उसकी चिकित्सा करवायी। वहीं उन्हें ब्रिटिश पुलिस ने बन्दी बना लिया। अस्पताल में उन पर कड़ा पहरा रहता था। रोग के बढ़ जाने के कारण उनकी टाँग काटनी पड़ी इसी दौरान १९३१ में उनकी मृत्यु हो गयी। उनका यह जीवन-वृत्त भारतवासियों को आज भी अनीति व अनाचार से संघर्ष करने के लिए उनकी तरह जीवन समर्पित करने की प्रेरणा देता रहेगा।

अत्याचार के विरुद्ध सतत् संघर्षशील—

मुकुंदीलाल

राह चलते नागरिकों को अकारण ही परेशान करना उन दिनों अंग्रेज अधिकारियों तथा पुलिस वालों का नित्य धर्म बन गया था। बेचारी जनता इन अत्याचारों का विरोध करना तो दूर कुछ कर भी नहीं सकती थी। क्योंकि सदियों से चली आ रही पराधीनता ने उसका मनोबल तोड़ दिया था और टूटे हुए मनोबल के व्यक्ति हों या समाज उस असह्य परिस्थितियों में भी विवश होना जीवित रहने का आदी बना देता है, जीवित तो क्या कहा जाय उसे मरा हुआ ही कहा जाना चाहिए। क्योंकि वह जीवन कोई जीवन नहीं है। जो स्वयं की रक्षा भी न कर सके। एक तो खोया हुआ आत्मसम्मान और टूटा हुआ मनोबल मनुष्य को पंगु बना देता है, दूसरी ओर अपने अस्तित्व तथा मानवीय सत्ता का भान उसे निरन्तर टीसता रहता है। वास्तव में ऐसे व्यक्ति किस मनोव्यथा से गुजरते होंगे—"यह न तो कहा जा सकता है और न ही कल्पना की जा सकती है।"

समाज में जब अनाचार और अत्याचार के विरोध की क्षमता और सामर्थ्य नहीं रहती है तो उस पक्ष के दुस्साहसी होने की संभावना बनती है। उन लोगों के लिए उदासीनता अपरोक्ष प्रोत्साहन की प्रेरणा ही बन जाती है और अनाचार का कुचक्र दूनी गति से घूमने लगता है। परन्तु समाज में तब ऐसे जागरूक व्यक्तियों का भी उदय होता है जो अनाचार और अत्याचार का प्रबल विरोध करने के लिए उठ खड़े होते हैं। समाज को उसके दुस्साहस का सामना करने के लिए खड़ा करते हैं।

अत्याचार और अनाचार सहनशक्ति की सीमा से बाहर हो जाते हैं तो संघर्षशील व्यक्तियों की क्रोधाग्नि में अन्यायी, आततायी झुलसकर खाक हो जाते हैं। ऐसे ही जागरूक मस्तिष्क के एक युवक मुकुन्दीलाल ने आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व इटावा जिले के औरैया ग्राम में अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये। बाद में तो ज्यों-ज्यों उनकी चर्चा फैली देश भर में बिखरे हुए कई क्रान्तिकारियों ने उनसे सम्पर्क साधा और विदेशी सत्ता के विरुद्ध-मोर्चे पर तैनात कर दिया।

मुकुन्दीलाल क्षेत्र के सर्वाधिक सम्पन्न जमींदार परिवार के लाड़ले पुत्र थे। पिता का अच्छा अलग से कारोबार भी था- काफी जमीन और जमा हुआ व्यापार। कुल मिलाकर ऐश्वर्य सम्पन्न पारिवारिक स्थिति! माता-पिता ने सुनिश्चित और सुखी भविष्य के लिये ही शायद पढ़ाया-लिखाया नहीं था। शिक्षा के सम्बन्ध में एक आम धारणा है स्कूल भेजने का अर्थ कोई अच्छी नौकरी

दिलवाने की आकांक्षा, पर बालक मुकुन्दीलाल को बचपन से खेलना, कुश्ती लड़ना, कसरत करना, दण्ड-बैठक लगाना और मुगदर घुमाना अच्छा लगता था। इसी कारण खाने-पीने और सोने के बाद जो भी समय बचता था वह इन्हीं कामों में जाता। शारीरिक व्यायाम के प्रति इसी रुझान ने सुन्दर सुगठित देहयष्टि और बलवान माँसपेशियाँ बना दीं।

गाँव के लोगों पर अंग्रेजों को कोड़े और हण्टर बरसाते जब भी देखा हृदय तड़प उठा। आखिर ये लोग इन्सान होकर मनुष्य के प्रति पशुओं से भी गया बीता व्यवहार क्यों करते हैं। इसे सहने वाले भी कैसे कायर हैं? चाहे तो इन लोगों की अक्ल मिनट भर में ठिकाने लगा दें? परन्तु इन्हें देखते ही भय से थरथरा उठते हैं। बालक मुकुन्दीलाल गहरे मनोविश्लेषण में नहीं उतर सकते थे और उनके हृदय में उठने वाले प्रश्न निरुत्तर ही रह जाते। अपने प्रश्नों का समाधान, मिले या न मिले परन्तु एक आक्रोश भरता गया हृदय में और जब वह सीमा से बाहर हुआ तो फूट पड़ा। यौवन की वय ही ऐसी होती है जिसमें उत्साह, जोश और साहस जैसी वीरता और पराक्रम की भावनायें उद्दाम लहराती हैं। किशोरावस्था की देहलीज पारकर मुकुन्दी लाल ने जैसे ही युवावस्था में प्रवेश किया, निरपराध मनुष्यों पर होने वाले अत्याचार और अन्याय का विरोध करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी।

अन्याय के प्रतिरोध की भावना मुकुन्दीलाल के मानवीय हृदय से उद्‌भूत हुई थी। दो चार अवसरों पर मुकुन्दीलाल ने पुलिस अधिकारियों का विरोध भी किया और अंग्रेजों को भी ललकारा। आततायियों का अहं आहत हो उठा। उन्हें लगा यह ललकार अंग्रेज शासन और जाति के गाल पर एक करारा तमाचा है। जिसका दमन करना ही चाहिए अन्यथा ये एक कण्ठ से उठी विरोध में यह आवाज हजारों कण्ठों से समवेत स्वरों में गूँजने लगेगी।

अब अधिकारियों का सारा ध्यान मुकुन्दीलाल पर केन्द्रित हो गया। परिजनों और शुभचिन्तकों ने गलती स्वीकार करने तथा क्षमा माँगने का परामर्श दिया परन्तु मुकुन्दीलाल को तो परामर्श इस प्रकार लगा- यह सांसारिक दृष्टि से भले ही लाभदायक हो परन्तु इस प्रकार तो मेरे स्वयं के ही पाँवों से आत्मा कुचली जायेगी। उन्होंने दृढ़तापूर्वक परामर्श मानने से इन्कार कर दिया और बरागाँव में आने वाले अत्याचारी अधिकारियों से मुकाबला लेते रहे।

परिजनों और शुभचिन्तकों ने युवक मुकुन्दीलाल को बहुभाँति समझाया कि इस प्रकार तुम अपने जीवन के लिये स्वयं ही खतरा पैदा कर रहे हो। तो मुकुन्दीलाल ने उत्तर दिया- खतरे में जीने से ही तो शान है। खतरे से सुरक्षित रहने का प्रयत्न करने वालों के लिए इस संसार में इन्च भर की जगह नहीं है। उसे तो एक ऐसी कोठरी में खाने-पीने का पर्याप्त सामान इकट्ठा रखकर बैठ जाना चाहिए जिसमें कोई दरवाजा नहीं हो।

पिता ने समझा- बेटे को कोई बहका रहा है। अन्यथा यह छोटा-सा अपरिपक्व बुद्धि का व्यक्ति इस प्रकार की गम्भीर बातें कैसे कर सकता है? उन्होंने कहा- "बेटा तुम किसी के सिखाने में न आओ। लोग तो बहका कर अलग हो जाते हैं। बीच में नुकसान तुम्हें ही उठाना पड़ेगा।"

"मुझे कोई नहीं सिखाता पिताजी! मैं तो खुद ही जो ठीक देखता व समझ रहा हूँ वह कह और कर रहा हूँ।"

बेटे की जिरह से वह भी घबरा गये थे। मुकुन्दीलाल यह मानने को तैयार ही नहीं था कि जो कुछ करना वह चाह रहा है वह गलत है। किस्मत के भरोसे छोड़कर पिता यह कहते उठ गये- "ठीक है बेटा तुझे जो रुचे वही कर।"

उन दिनों कतिपय लोगों ने राष्ट्रीय चेतना के जागरण का शंख फूँका था। मुकुन्दीलाल अभी गाँव की सीमा से ही बाहर नहीं पहुँच पाये थे फिर भी वे अपने ढंग से लोगों को यह समझाने में लगे हुये थे कि अंग्रेज जो कुछ कर रहे हैं वह अनुचित है और उसका विरोध किया जाना चाहिए। उसे हमें कदापि सहन नहीं करना चाहिए। लोगों को अन्याय और अत्याचार के विरोध में तैयार करने के अभियान में उन्हें काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

परन्तु वे बलवान होने के साथ-साथ सुदृढ़ आत्मशक्ति सम्पन्न भी थे। यह उन्हें वरदान के रूप में मिली थी बल और शक्ति। जिस व्यक्ति को ये वरदान के रूप में मिलती हैं उसका उपयोग तो सार्वजनिक सुरक्षा और कल्याण के कार्यों में ही होना चाहिए। मात्र अहंकार प्रदर्शन या अन्य औरों पर रौब जमाने के लिये उसका उपयोग तो दुरुपयोग ही कहा जायगा। मकुन्दीलाल जी ने इन्हीं आदर्श प्रेरणाओं से प्रेरित होकर के नागरिक जीवन को भयभीत करने वाले तत्वों का दमन करने के लिए अपनी शक्ति साधना की उपलब्धियों का उपयोग करने की ठानी।

एक बार की बात है। मुकुन्दीलाल जी अपने किसी रिश्तेदार के यहाँ ब्याह-शादी में गये। उस समय पहला विश्व युद्ध चल रहा था। अंग्रेजी सेनायें जर्मनी फौजों के आगे घुटने टेकती चली जा रही थीं। मेहमानों में इसी विषय पर चर्चा चली तो मुकुन्दीलाल जी ने कुछ रोषपूर्ण स्वरों में अंग्रेजों की निन्दा करते हुये इस पर प्रसन्नता व्यक्त

की । उन मेहमानों में ही प्रभुदयाल पाण्डे नाम के एक सज्जन भी आये थे- जो उन दिनों चल रही क्रान्तिकारी गतिविधियों में सक्रिय भाग लेते थे । मुकुन्दीलाल जी का आक्रोश सुनकर उन्होंने इनसे सम्पर्क बढ़ाया और औरैया तहसील में अंग्रेज विरोधी संगठन तैयार करने के लिये प्रेरित किया । तब क्रान्तिकारियों के विख्यात नेता पं. गैंदालाल दीक्षित भी औरैया के पास ही किसी स्कूल में अध्यापक थे । मुकुन्दीलाल जी ने पाण्डेय जी की प्रेरणा से उनसे भी सम्पर्क बनाया और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध खड़े समग्र युवा मोर्चे पर आ डटे ।

पहले उनकी पुलिस अधिकारियों तथा अंग्रेजों से ही यदा-कदा झड़प या मुठभेड़ हो जाया करती थी परन्तु अब वे अपने देश में उनके अस्तित्व और सत्ता को ही चुनौती देने के लिए कमर कसकर आगे आ गये । पहले जहाँ वे अपने आपको अकेला पा रहे थे वहीं अब उनके साथ कई उत्साही सहयोगियों का विश्वास चल भी आ जुटा । मुकुन्दीलाल जी ने दीक्षित जी के साथ मिलकर एक दल तैयार कर लिया । संगठन को मजबूत बनाने के लिए धन की आवश्यकता हुई तो भारतीय जनता से अन्यायपूर्वक लूटा गया धन अंग्रेजों से वापस छीनने की प्रक्रिया चल पड़ी ।

इधर अंग्रेज अधिकारियों को यह पता चल गया कि मुकुन्दीलाल किसी क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गये हैं तो वह इनके पीछे हाथ धोकर पड़ गयी । उस समय उनका घर क्रान्तिकारियों का अड्डा बन गया था । पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार करने के लिये कई बार छापे मारे परंतु वह असफल ही रही । मुकुन्दीलाल जी इतनी सफाई के साथ बच निकलते कि लोग दंग रह जाते थे ।

तभी दीक्षित जी ने अंग्रेज अधिकारियों को आतंकित करने के लिए एक योजना बनायी । शत्रु की साम, दाम, दण्ड, भेद की नीतियों से पराजित करना ही क्रान्तिकारियों द्वारा अपनाया मार्ग था । परन्तु दुर्भाग्य से इस योजना का पता पुलिस को चल गया । गैंदालालजी दीक्षित और मुकुन्दीलाल जी तथा उनके कई साथी पकड़े गये । इन सब पर मुकदमा चलाया गया अन्य सदस्यों के साथ इन्हें भी लम्बी सजा हुई ।

सात वर्ष तक कारावास में रहने के बाद वे बाहर आये तो पुन: सक्रिय हो गये । अब उनके पास कुछ नहीं बचा था । माता-पिता तो पहले ही गुजर चुके थे । जमींदारी और जमीन-जायदाद भी चौपट हो गयी परन्तु उन्हें तो किसी प्रकार की चिन्ता भी न हुई । उसी प्रकार निश्चिन्त भाव से मनोयोग के साथ अपने कार्य में डटे रहे।

स्वतन्त्रता-संग्राम का यह वीर कुछ ही समय बाहर रह पाया था कि पुलिस ने उन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया । काकोरी केस में पकड़े गये क्रान्तिकारियों के साथ जाना पड़ा । इस बार तो उन्हें स्वतन्त्रता मिलने तक कारावास भोगना पड़ा । जेल के सींखचों में बन्द मुकुन्दीलाल ५८ वर्ष की आयु में बाहर आये और तब तक उनका लक्ष्य-आततायी विदेशी शासन समाप्त हो चुका था ।

अक्टूबर, १९७२ में उनका देहान्त हुआ । परन्तु उन्हें संतोष था कि जिस अन्याय और अत्याचार को समाप्त करने के लिये उन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया वह उनके जीते जी दम तोड़ गया था । मुकुन्दीलाल को संतोष था मरने से पूर्व अपने जीवन की उपलब्धियों पर कि जो कुछ वे अपने देश और समाज के लिए कर सके सार्थक रहा । जनता से उन्होंने कभी अपनी सेवाओं का प्रतिदान नहीं चाहा ।

बहते रहे उत्सर्ग के निर्झर ऐसे ही–

बशेशर नाथ

गोलियों से छलनी तथा खून से लथपथ एक युवक को पुलिस अपनी मोटर गाड़ी में लादकर लाहौर अस्पताल में लायी । युवक को मूर्छा आ गई थी । यह युवक बन्दी था । इस पर राजद्रोह के कई आरोप थे ।

मध्यम कद के इस गठे शरीर वाले युवक को पहचानने में उन्हें तनिक भी समय न लगा । पहचान के साथ ही उसकी सहनशक्ति का स्मरण भी उन्हें आया । यों तो वे उसे संगीनों की नोंक से गोद-गोद कर भी जो उगलवाना चाहते थे वह नहीं उगलवा सकते थे ।

उन्होंने युवक के मर्मस्थल पर भावनात्मक आघात पहुँचाने का मार्ग चुना । पुलिस के रिकॉर्ड में उसका पूरा जीवनवृत्त अंकित था । उसकी माँ को बुलाया गया । यह खबर सुनकर कि उसका इकलौता पुत्र मृत्यु-शैय्या पर अस्पताल में पड़ा है तो वह तुरन्त उनके साथ मोटर गाड़ी में बैठकर चल दीं ।

अपने हृदय के इस एक अंश के लिये उस जननी ने क्या-क्या कष्ट नहीं सहे- कौन-कौन से अभाव नहीं देखे। उसे अपने जीवन में ही छिनने की आशंका ने उसे कँपा दिया । क्या बुढ़ापे की यह लाठी भी टूट जायेगी और वह बे सहारा हो जायेगी ।

इन्हीं कुशंकाओं से लदी यह वृद्धा जब अस्पताल पहुँची तो उसके पुत्र की मूर्छा टूट चुकी थी । वह अपने पुत्र को इस अवस्था में देखकर रो पड़ी । आँसू अपना बाँध तोड़कर बह निकले । आज तक उसने अपने श्रम व सहनशक्ति से जो कहानी लिखी थी वह इन अश्रुबिन्दुओं से धुलती जान पड़ती थी ।

पुलिस अधिकारियों ने युवक की माता को एक तरफ ले जाकर समझाया । "माँ जी तुम्हारा बेटा बहुत घायल हो चुका है । इसको बचाना चाहती हैं तो हमारी राय मान

लो । इसे हम बचा लेंगे । बाद में उसे विलायत भेजकर ऊँची पढ़ाई का प्रबन्ध भी किया जा सकता है । फिर ऊँची नौकरी भी मिल जायगी । यदि यह अपने साथियों के नाम बता दे तभी यह सब हो सकता है । नहीं बताने पर यह कुछ ही समय का मेहमान है, उचित इलाज के अभाव में दम तोड़ देगा ।

माँ के हृदय की पीड़ा माँ ही जानती है । यह तीन वर्ष का था तभी तो उसके पिता का देहान्त हो चुका था । उसी के सहारे वह आज तक वैधव्य का वीरान जीवन काट सकी थी । इसके पालन-पोषण के लिए उसने क्या-क्या नहीं किया ? घर की आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर थी । अपने रक्त और पसीने से उसने इस पौधे को सींचा था । वह जानती थी कि किन कठिनाइयों और अभावों के रहते हुए भी उसने अपने पुत्र को पढ़ाया था । इन दिनों वह लाहौर डी. ए. वी. कॉलेज में पढ़ रहा था ।

बेटे के प्राण बचाने के लिये वह सब कुछ कर सकती थी । पुलिस अधिकारियों ने उसे सुझाया कि वह अपने पुत्र पर इस बात का दबाव डाले कि वह अपने साथियों के नाम बता दे।

वृद्धा ने अपने बीस वर्षीय पुत्र के पाँव पकड़ लिए, कहने लगी- "बेटा इनका कहना मान ले ।" जिस माँ के ऋण-भार से उसका रोम-रोम दबा था । वही आज उससे भीख माँग रही थी- गिड़गिड़ा रही थी । आँचल पसार रही थी ।

युवक माँ की सेवा में सारा जीवन लगा सकता था किन्तु उसने अपनी मातृभूमि की सेवा में जीवन उत्सर्ग करने को- युग धर्म समझकर अंगीकार कर चुका था । माँ के आँसू उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकते थे । प्राणों का मोह उसे नहीं था ।

उसे माँ से सीधा 'ना' कहना उचित नहीं लगा । उसने पुलिस अधिकारियों को कहा- "मैं सब कुछ बता दूँगा पहले मेरी माँ को मुझसे दूर ले जाओ । मुझसे उसका यह रुदन देखा नहीं जाता ।" पुलिस अधिकारियों को अपना स्वप्न सत्य होता हुआ दीखा । उन्होंने सोचा अब तो यह सारा भेद खोल देगा । उन्होंने उसकी वृद्धा माता को अपने घर पहुँचाने की व्यवस्था कर दी ।

युवक की माता को रवाना करने के तुरन्त बाद उन्होंने युवक से कहा- "अब अपने साथियों के नाम तथा षड्यन्त्रका भेद बता दो ।" युवक बोला-"मैंने बयान देने का वचन दिया है मैं उसे तोड़ूँगा नहीं किन्तु मैं किसी भारतीय मजिस्ट्रेट के समक्ष ही अपना बयान दूँगा, इन लोगों ने तुरन्त भारतीय न्यायाधिकारी को बयान लेने की व्यवस्था कर दी।

भारतीय न्यायाधिकारी ने आकर कुर्सी पर बैठते हुए कहा-"बशेशरनाथ ! मैं भारतीय मजिस्ट्रेट हूँ । तुम्हारी इच्छा पर उपस्थित हुआ है । अपने बयान दो ।" यह बशेशरनाथ नामक युवक भगतसिंह तथा उनके साथियों पर लाहौर के शाही किले में किये गये पुलिस अधिकारियों के अमानुषिक अत्याचार का बदला लेते हुए इतना घायल हुआ था । उसने कहा- "मजिस्ट्रेट साहब ! मैं एकान्त में बयान देना चाहता हूँ ।"

न्यायाधिकारी के इंगित पर पुलिस अधिकारी कमरे से बाहर निकल गये तब बशेशरनाथ ने कहा- "श्रीमान् पहले दरवाजा बन्द कर लीजिये फिर मेरा बयान अंकित कर लीजिये। " मजिस्ट्रेट ने दरवाजा बन्द कर दिया । युवक की शारीरिक दशा बिगड़ती जा रही थी, उसने न्यायाधिकारी को अपना बयान देना आरम्भ किया । "श्रीमान् मैं भारतवर्ष में पैदा हुआ । सामान्य भारतीय नागरिक की तरह मैं भी निर्धन हूँ । मेरी विधवा माँ ने अपने जेवर बेचकर तथा लोगों के घर पर काम करके मेरा पालन-पोषण किया। यही नहीं मुझे कॉलेज में पढ़ाने तक का साहस उसने किया । आज वह बेसहारा हो रही है । किन्तु जब सारे गाँव में ही आग लगी हो तो अपने घर पर ही पानी डालने से क्या लाभ ? उसी को बुझाने में सबको लगना चाहिए । हमारा देश आज परतन्त्र है । यह परतन्त्रता जब तक नहीं मिटती, तब तक विकास के सपने भी देखे नहीं जा सकते- समाज सुधार की बात सोची नहीं जा सकती । यही सोचकर मैंने स्वयं को स्वतन्त्रता की इस बलिवेदी पर बलिदान किया है । आप हिन्दुस्तानी हैं मजिस्ट्रेट साहब ! जरा पास आइये मेरे हृदय पर हाथ रखिये ।" मजिस्ट्रेट ने अपना काँपता हाथ उसकी क्षीण पड़ती धड़कन पर रख दिया । "मेरा समय अब समाप्त हो रहा है । गीता में लिखा है आत्मा अपने वस्त्रों की तरह शरीर बदलती रहती है । मेरा यह शरीर अब अधिक समय नहीं रहेगा । मैं मर रहा हूँ मरना और जीना अपने उद्देश्यों और आदर्शों का होता है। मेरा भी उद्देश्य था भारत को आजाद करने में अपने आपको समर्पित कर देना । वह पूरा हो गया । मुझे खुशी है कि मैं मनुष्य के जन्म सिद्ध अधिकार के लिए मर रहा हूँ । भारत की स्वतन्त्रता का उद्देश्य ही मेरा एकमात्र साथी है जो पृथक्-पृथक् रूपों में प्रकट हुआ है । इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं है ।"

मजिस्ट्रेट की आँखों में आँसू आ गये, गला रुँध गया थोड़े ही समय बाद बशेशरनाथ के प्राण-पखेरू उड़ गये व्यक्तिगत हितों की संकीर्ण गली को त्यागकर उत्सर्ग का राजमार्ग चुनने वाले ये वीर स्वतन्त्र भारत के नागरिकों के हृदय में समाज सेवा की उमंगें उत्पन्न करते रहेंगे, जो कि स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रगति की दिशा में दूसरा चरण है ।

आजादी के दीवाने–
हेमचन्द्र दास

अपने देश को विदशी दासता से मुक्त कराने के लिये ज्ञात-अज्ञात कितने ही युवकों ने अपनी जान की बाजी लगा दी । सुख-सुविधाओं, लौकिक एषणाओं के प्रबल आकर्षण से स्वयं को मुक्त करके वे समय की पुकार पर सर्वस्व राष्ट्र हित दाँव पर लगाने में हिचकिचाए नहीं । ऐसे क्रान्तिकारियों का योगदान भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कम नहीं रहा । उन्हीं में से एक थे हेमचन्द्र दास कानूनगो-अलीपुर काण्ड के प्रमुख षड्यन्त्रकारी ।

हेमचन्द्र दास का जन्म सन् १८७१ में बंगाल के मिदनापुर के एक मध्यमवर्गीय जमींदार परिवार में हुआ था । उनके पिता खेतरदास का अपने गाँव में अच्छा सम्मान था । प्रारम्भिक शिक्षा उनकी अपने गाँव की पाठशाला में ही हुई । वहाँ से– मिदनापुर कालेज से ही उन्होंने इन्टर की परीक्षा पास की । उनके पिता उन्हें डॉक्टर बनाना चाहते थे किन्तु वे कलाकार बनना चाहते थे । पिता की आज्ञा मानकर वे कलकत्ता के तत्कालीन केम्पबेल मेडीकल कॉलेज तथा वर्तमान सर नील रतन सरकार कॉलेज में प्रविष्ट हुए किन्तु उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि इस विषय में अपनी रुचि नहीं है। उसमें सिर खपाने की अपेक्षा तो पिताजी को अपना स्पष्ट अभिप्राय कह देना ही उचित है ।

उन्होंने अपने पिता को अपनी इच्छा बताई तो उन्होंने उन्हें अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने की आज्ञा दे दी । अब वे कलकत्ता आर्ट्स स्कूल में प्रविष्ट हुए तथा वहाँ की शिक्षा पूरी करके मिदनापुर कॉलेज में ड्राइंग के अध्यापक बन गये । थोड़े दिन अध्यापन कार्य करते रहे किन्तु अंग्रेज सरकार द्वारा चलाये जा रहे कॉलेज में अधिक दिनों तक अध्यापन कार्य नहीं कर सके । उनके भीतर ही भीतर एक क्रान्तिकारी जन्म लेता जा रहा था, जिससे वे स्वयं भी अनभिज्ञ थे ।

कॉलेज की अध्यापकी छोड़कर वे चित्रकला साधना में प्रवृत्त हुये । उसमें शीघ्र ही उन्हें सफलता मिलने लगी । उनके चित्रों की प्रशंसा होने लगी । उनका स्टुडियो लोगों की भीड़ से भरा रहने लगा । किन्तु हेमचन्द्र के लिये तो नई राहें खुली पड़ी थीं । उन्हें प्रसिद्धि कलाकार के रूप में नहीं क्रान्तिकारी के रूप में मिलने वाली थी ।

इन्हीं दिनों उनका सम्पर्क क्रान्तिकारी संगठन के युवकों से हुआ । वे इन क्रान्तिकारी गतिविधियों से अत्यधिक प्रभावित हुए । मिदनापुर में उन दिनों आनन्द मठ नाम से गुप्त क्रान्तिकारी दल चलता था । उन लोगों को हेमचन्द्र काम के आदमी लगे । इस दल का सूत्र संचालन अरविन्द व बारीन्द्र घोष के मामा सत्येन्द्र नाथ बसु किया करते थे । उन्होंने इनका परिचय अपने दोनों भान्जों से करवाया । फिर वही हुआ जो दीवानों के मिल बैठने पर होता है ।

उस समय बंगाल में ऐसे कितने ही गुप्त दल संगठित हो चुके थे । किन्तु उनमें पारस्परिक परिचय व संबद्धता का अभाव था । इस कारण मन में देश के लिये बहुत कुछ कर गुजरने की साध भीतर ही भीतर उमड़ती-घुमड़ती रहती थी उसे कोई दिशा नहीं मिल पाती थी । न वे ऐसा कोई 'एक्शन' ही लेने में समर्थ थे। यदि कोई 'एक्शन' लिया जा सकता तो इन दलों का परिचय भी एक दूसरे से हो जाता व भविष्य के लिये कुछ रास्ता भी बन जाता ।

गुप्त संगठनों को इस स्थिति से उबारने के लिये हेम चन्द्र दास के मस्तिष्क में एक योजना ने जन्म लिया । उन्होंने विदेश जाकर गुप्त संगठनों की क्रिया-पद्धति तथा बम बनाने का तरीका सीखने की ठानी । उन्होंने अपना यह विचार अपने साथियों को बताया । उन्हें विचार तो पसन्द आ गया लेकिन समस्या विदेश यात्रा के लिए धन जुटाने की आ खड़ी हुई । इस सम्बन्ध में कोई भी कुछ सहायता करने में समर्थ नहीं था । किन्तु हेमचन्द्र केवल धन के अभाव में इस योजना को अपूर्ण नहीं रखना चाहते थे । उन्होंने इसके लिये अपनी जमींदारी का थोड़ा-सा भाग बेचकर इतना धन प्राप्त कर लिया जिससे विदेश जाकर संगठन पद्धति तथा विस्फोटकों की निर्माण प्रक्रिया का ज्ञान पाया जा सके । लौटते समय कुछ शस्त्रास्त्र लाने का भी उनका विचार बन गया ।

स्वयं ही धन जुटाकर बिना किसी से सहायता माँगे वे जुलाई १९०६ में विदेश के लिये रवाना हो गये । सबसे पहले वे फ्रान्स की राजधानी पेरिस पहुँचे। उन्होंने यहाँ विदेश यात्रा के खर्च का अनुमान लगाया था वह गलत बैठा । वे जितने पैसे यहाँ से ले गये थे वे तो पेरिस में ही समाप्त हो गये । अब तक वे किसी क्रान्तिकारी संगठन से सम्पर्क ही नहीं बना सके थे । अब परायी धरती पर वे किस से सहायता माँगें । तब उन्हें ध्यान आया कि लन्दन में रहने वाले भारतीय श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा उनकी सहायता कर सकते हैं । उन्होंने श्याम जी वर्मा को पत्र लिखा ।

श्याम जी कृष्ण वर्मा ने उन्हें आर्थिक सहायता देकर लन्दन बुला लिया तथा उन्हें 'इण्डिया हाउस' का मैनेजर बना दिया । यहाँ पर भी उन्हें जमकर काम करने का मौका नहीं मिला । वे अपने घर पर ही विस्फोटकों का परीक्षण करने लगे किन्तु ब्रिटिश गुप्तचरों की सरगर्मियों के कारण उन्हें शीघ्र ही फ्रांस लौटना पड़ा ।

फ्रांस लौटने पर पेरिस में उनकी भेंट सरदारसिंह रेवा भाई राना नामक देशभक्त से हुई जो फ्रांस में रहते हुए भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान देते रहते थे । वे भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे ।

प्रवासी भारतीयों व क्रान्तिकारियों को वे पूरी-पूरी सहायता देते थे । उन्हीं ने हेमचन्द्र दास का परिचय मदाम भीखा जी कामा नामक प्रख्यात भारतीय महिला से कराया ।

मदाम कामा का फ्रांस के क्रान्तिकारी संगठनों से अच्छा परिचय था । उन्हीं ने उनका परिचय क्रान्तिकारी संगठनकर्ताओं से कराया जिससे उनका अभिप्राय पूरा हुआ। उन्होंने बम बनाने की जितनी भी विधियाँ थीं उनका ज्ञान प्राप्त किया । उक्त विषयक जो भी पुस्तक उन्हें मिलती उसके महत्वपूर्ण सूत्र के बारे में उनका ज्ञान तब तक की वैज्ञानिक जानकारियों तक पहुँच गया था । अपना काम पूरा होते ही वे १९०७ में भारत लौट आये ।

रूसी तथा फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों से उन्होंने जो विधियाँ सीखीं थीं उन्हें एक पुस्तकाकार में लिपिबद्ध कर लिया । मानिक तल्ला मकान की तलाशी लेने पर जब यह हस्तलिखित पुस्तक सरकार के हाथ लगी तो अधिकारी लोग इसमें वर्णित वैज्ञानिक विस्फोटक पद्धतियों को पढ़कर चकित रह गये ।

योरोप प्रवास से लौटने पर उन्होंने श्री अरविन्द घोष के भाई बारीन्द्र घोष से साथ मिलकर युगांतर दल की स्थापना की तथा बम बनाने के रसायन जुटाने व बम बनाने का पूरा काम उन्होंने अपने हाथ में ले लिया । वे कलकत्ता के गोपी मोहन दत्त लेन के एक किराये के मकान में तथा नव कृष्ण स्ट्रीट स्थित अपने मकान में उल्हास कर दत्त को साथ लेकर बम बनाया करते थे ।

उनके बनाये गये पहले बम का प्रयोग चन्द्रनगर के फ्रांसिसी मेयर पर किया गया, जो अंग्रेज अधिकारियों के कहने में आकर क्रान्तिकारियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाये रहता था । दुर्भाग्य से वह बम विस्फोट में मर नहीं सका किन्तु उस विस्फोट से क्रान्तिकारी संगठनों को एक होने की प्रेरणा अवश्य मिली ।

बम बनाने के सम्बन्ध में हेमचन्द्र दास कानूनगो बहुत प्रवीण हो गये थे । उनके दल ने कलकत्ता के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट को समाप्त करने की योजना बनायी । क्योंकि किंग्सफोर्ड ने अगस्त, १९०४ से लेकर मार्च, १९०८ तक देशभक्तिपूर्ण कार्य करने वालों को कठोर सजाएँ दी थीं ।

किंग्सफोर्ड को समाप्त करने के लिए हेमचन्द्र दास के उर्वर मस्तिष्क ने बड़ी अच्छी योजना बनायी जिससे कि साँप भी मर जाय व लाठी भी न टूटे । उन्होंने १२०० पृष्ठों की एक बम पुस्तक उसके लिए बनायी । इस कानूनी पुस्तक के बीच के छह सौ पृष्ठों को काटकर एक चौकोर गड्ढा बनाया गया जिसमें पिकरिक एसिड का उसी नाम का एक टिन का डिब्बा रखा गया । पुस्तक को खोलने के लिये उसके फीते काटने पड़ते थे । इन फीतों को काटते ही भयंकर विस्फोट होता और किंग्सफोर्ड मर जाता । पर उसका भाग्य प्रबल था । पुस्तक उसके हाथ में आयी उसने समझा उसके किसी मित्र ने उसी की पुस्तक लौटायी है । अतः उसे बिना खोले ही अलमारी में रख दिया ।

इस पुस्तक का रहस्य अलीपुर षड्यन्त्र केस की सुनवाई के दौरान खुला तो उस पुस्तक को बड़ी सावधानी से खोला गया । उसके स्प्रिंग तक जंग भी खा चुके थे । किन्तु यह उनके आला दर्जे के दिमाग की एक हैरत अंग्रेज करामात थी जिसे देखकर अंग्रेज लोग भी भारतीयों के बुद्धि कौशल का लोहा मान गये । उन्हें देखकर अपना वहाँ पर रह पाना असम्भव लगने लगा ।

उनके बनाये गये अन्तिम बम वे थे जिन्हें प्रफुल्ल चन्द्र चाकी तथा खुदीराम बोस ने मुजफ्फरपुर में प्रयुक्त किये ३० अप्रैल, १९०८ को ये बम फेंके गये थे । उन धमाकों ने अंग्रेजों के कान खोल दिये थे । उन्होंने बड़ी तत्परता से कलकत्ता व आस-पास के अधिकांश क्रान्तिकारियों को पकड़ लिया और उन पर मुकदमा चला ।

हेमचन्द्र भी उनमें सम्मिलित थे उन्होंने व सत्येन्द्र नाथ बसु ने सरकारी गवाह बन गये नरेन्द्र गोस्वामी को समाप्त करने की गुप्त योजना बनायी । बारीन्द्र घोष, जो बाहर थे, ने पिस्तौलें उन तक पहुँचायीं । बारीन्द्र की योजना तो जेल तोड़कर भागने की थी । इसीलिए उन्होंने हथियार भेजे थे । किन्तु उसे असम्भव जान इन्होंने वे पिस्तौलें सत्येन्द्र नाथ बसु व कन्हाई लाल दत्त को दे दीं और उन्होंने नरेन्द्र गोस्वामी को देशद्रोह का मजा चखा दिया ।

अलीपुर काण्ड के फैसले के अनुसार उन्हें आजन्म कारावास की सजा दी गयी । उन्हें अण्डमान भेज दिया गया। यहाँ उन्होंने वे सब यातनाएँ सहीं जो काले पानी की सजा के दौरान दी जाती थीं । वहाँ उन्होंने दस वर्ष बिताये तथा १९१९ में मौन्टेग्यू चेम्सफोर्ड योजना के अनुसार बन्दियों की आम रिहाई के समय उन्हें भी मुक्त किया गया।

काले पानी की सजा काट कर आने के बाद वे पुनः राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने लगे । किन्तु दस वर्ष तक शरीर असह्य यन्त्रणाओं का भार सहते-सहते लगभग टूट चुका था । अतः अब वे उस जोश-खरोश के साथ काम नहीं कर पाये । अन्त में १९५१ में उनका देहान्त हो गया । सारा जीवन राष्ट्र के लिए समर्पित करने वाले इस अमर क्रान्तिकारी का जीवन हमारे देश के नवयुवकों को युगधर्म पालने के लिये आह्वान करता है ।

यशस्वी क्रान्तिकारी–

बाबू कुँअरसिंह

सात समन्दर पार से आये गोरे व्यापारी भारतीय राजाओं की फूट और अहमन्यता से लाभ उठाकर भारत के शासक बन गये । इस तथ्य को देर से ही सही पर

भारतीय राजाओं ने समझा और संगठित होकर क्रान्ति की योजना बनाई, उसके लिए भीतर ही भीतर पुरजोर तैयारियाँ कीं । भाग्य कुछ विपरीत था इसलिए क्रान्ति समय के पूर्व ही फूट पड़ी और अंग्रेजों को सम्हलने का अवसर मिल गया । फिर भी क्रान्ति जबरदस्त हुई । अंग्रेजी साम्राज्य की नींवें हिल गयीं । आरम्भ में तो उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था । समय से पूर्व फूट पड़ने वाला यह क्रान्ति का ज्वालामुखी तब भी अंग्रेजी राज्य को भूमिसात कर देता यदि उसके सिपाही अनुभवी और कुशल होते । क्रान्तिकारियों में चतुर और अनुभवी व्यक्ति थोड़े से ही देखने में आये । यदि दूसरे भी उन्हीं जैसा पराक्रम, युद्ध कौशल व सूझ-बूझ दिखाते तो बहुत सम्भव था पाँसा पलट ही जाता । उन थोड़े से क्रान्तिकारियों में जिन्होंने अपने स्वल्प साधनों से ही अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये, अंग्रेजों की उनके सामने एक न चली, बिहार केसरी बाबू कुँअरसिंह भी उनमें से एक थे ।

बाबू कुँअरसिंह बिहार के शाहबाद जिले के जगदीशपुर नामक जागीर के अधिपति थे । उनके पिता बाबू जादासिंह अन्य जागीरदारों की तरह प्रजा पर अत्याचार नहीं करते थे । लगान आदि की बसूली के समय प्रजा के साथ कठोरता का बर्ताव करने के पक्ष में वे कतई नहीं थे । इस कारण कई किसानों पर तो वर्षों की बसूली चढ़ी रहती थी। उनकी इस दयालुता का कुछ लोग नाजायज लाभ भी उठाते थे और चाहकर लगान नहीं देते थे, पर उनके पीछे बाबू जादासिंह सबके साथ ज्यादती नहीं करना चाहते थे । आय भले ही पूरी नहीं पड़ती हो प्रजा के हित के कार्यों में वे किसी प्रकार की कटौती नहीं करना चाहते थे । वे स्वयं भी अन्य जागीरदारों की तरह शान-शौकत से रहते, मनमाना खर्च करते । परिणाम यह होता कि उनका खजाना सदा खाली ही रहता ।

उन्हीं का उत्तराधिकार बाबू कुँअरसिंह को मिला। उनके पिता ने अपनी प्रजा के साथ जो उदारता बरती थी उस परम्परा को उन्होंने ने भी उसी तरह निभाया इससे प्रजा में उनका मान और लोकप्रियता तो बढ़ती ही पर साथ ही रियासत पर कर्ज भार भी बढ़ता जाता था ।

शान-शौकत से रहना, खुले हाथों से खर्च करना, अपनी मान-मर्यादा पर आवश्यकता से अधिक खर्च करना तथा जरा-जरा-सी बात पर अपनी हेठी हो जाने की चिन्ता करना- उस समय के छोटे-से-छोटे जागीरदार से लेकर बड़े-से-बड़े राजा की कमजोरी थी । इस कमजोरी से बाबू कुँअरसिंह भी मुक्त नहीं थे और राजाओं व जागीरदारों से वे इस दृष्टि से तो भिन्न नहीं थे पर भिन्न थे इस दृष्टि से कि उनमें राष्ट्रीयता व परमार्थ की भावना अन्य जागीरदारों व राजाओं से कहीं अधिक थी । उनकी इन भावनाओं ने आगे चलकर उन्हें स्वतन्त्रता संग्राम के यशस्वी सैनिक बनाकर इतिहास में अमर कर दिया ।

अपनी प्रजा को अपनी सन्तान की तरह प्यार करने और उसकी भलाई के लिए कर्ज लेकर भी काम करने के कारण प्रजा उन्हें बाबू कहती थी, जिसका भोजपुरी में अर्थ होता पिता । दीन-दुःखियों की सहायता करने में वे सदा आगे रहते थे । उसी प्रकार अपनी आन-बान और शान में भी वे अपने से बड़े-बड़े जागीरदारों से भी टक्कर ले लेते थे । मालगुजारी बसूलने में सख्ती नहीं की जाय तो खजाने में बराबर पैसा नहीं आता । खर्च तो घटता नहीं बढ़ता ही जाता था अतः उनकी रियासत पर कोई अठारह लाख का कर्ज हो गया था । इस कर्ज का कारण यह भी था कि उनका इकलौता पुत्र जवानी में ही मर गया था और पौत्र था वह अर्धविक्षिप्त था सो उन्हें रियासत की इतनी चिन्ता भी नहीं थी । वे यही सोचते थे कि प्रजा की रियासत है फिर उनके हित के लिए कर्ज का सहारा लेना ही क्या बुरा है ।

१८५७ की क्रान्ति हुई तब बाबू कुँअरसिंह ७६ वर्ष के हो चुके थे । इस आयु में भी उन्होंने जिस वीरता, साहस और युद्ध कौशल का परिचय दिया वैसा यदि सभी क्रान्तिकारी दिखाते तो विजय उन्हीं के हाथ रहती। इस क्रान्ति में उनकी अपनी एक अनूठी भूमिका रही है । कहाँ तो ७६ वर्ष के बाबू कुँअर सिंह अंग्रेजों से कभी प्रकट और कभी छापामार युद्ध करते हुए क्रान्ति को सफल बनाने के लिए प्राणपण से जुटे हुए थे, बड़ी-बड़ी अंग्रेजी सेना उनसे पार नहीं पा रही थी और कहाँ मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के पुत्र जिनके पास बड़ी-सी सेना थी, दिल्ली की रक्षा नहीं कर सके ।

क्रान्ति की आग भीतर ही भीतर सुलग रही थी । अंग्रेजों से न जनता संतुष्ट थी, न राजा, महाराजा व छोटे-छोटे जागीरदार ही सुखी थे, हिन्दू और मुसलमान एक होकर इस तीसरी हुकूमत को भारत से हटाने के लिए कटिबद्ध हो रहे थे । फकीरों और साधुओं द्वारा घर-घर, गाँव-गाँव जाकर आजादी का अलख जगाया जा रहा था । दिल्ली, आगरा, मेरठ, झाँसी, कानपुर इसके केन्द्र थे । पूरे उत्तर भारत में यह आग राख में दबी-ढकी दावानल बनने का प्रयास कर रही थी ।

बाबू कुँअरसिंह को इसका पता चला तो उनका स्वतन्त्रता प्रिय हृदय इसके लिए मचल उठा । यद्यपि उनकी अंग्रेज अधिकारियों से अच्छी मित्रता थी तथा अंग्रेज सरकार ने उनकी रियासत का प्रबन्ध भी अपने हाथ में ले रखा था पर जहाँ देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न था वे पीछे रहने वाले कहाँ थे । उन्हें अपने व्यक्तिगत हितों की उतनी चिंता थी भी कहाँ ।

ये भी इस बहती गंगा में हाथ धोने की मानसिक तैयारी कर चुके थे । अतः वे तीर्थयात्रा के बहाने जगदीशपुर से निकले और बिठूर पहुँच नाना साहब पेशवा के पास जिन्होंने और उनके अभिन्न मित्र अजीमुल्ला ने इस क्रान्ति की पूरी योजना तैयार की थी । नाना साहब कुँअरसिंह से मिलकर बड़े प्रसन्न हुए । उन्हें एक और समर्थ सहायक मिल गया बाबू साहब के रूप में । बिठूर से निकलकर ये कई तीर्थस्थलों का भ्रमण करते हुए कई महीनों में वापस जगदीशपुर पहुँच गये ।

यद्यपि उन्होंने नाना साहब से मिलने की बात को यथासम्भव गुप्त ही रखा था पर उनके किसी विश्वासघाती द्वारा यह सूचना अंग्रेज अधिकारियों तक पहुँच चुकी थी अतः वे सतर्क हो गये। ढाई वर्ष पहले उन्होंने जगदीशपुर जागीर का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया था, वह किसी पूर्व सूचना के बिना बाबू कुँअरसिंह को लौटा दिया। अंग्रेजों ने उनके कर्ज के हिस्से में इन ढाई वर्षों में एक भी पैसा नहीं चुकाया था जबकि शर्त के अनुसार आय में से प्रबन्ध का खर्च काटकर शेष कर्ज चुकाने में खर्च होना चाहिए था पर अंग्रेज समर्थ थे वे कुछ भी कर सकते थे। उनकी इस अनीति से बाबू कुँअरसिंह बड़े रुष्ट हुए और क्रान्ति के भड़कते ही उन्हें उखाड़ फेंकने की तैयारी में लग गये ।

१८ जून, १८५७ को पटना कमिश्नरी के सभी जागीरदारों की सभा वहाँ के कमिश्नर ने बुलायी पर बाबू कुँअरसिंह वहाँ नहीं गये । इस पर मौलवी अजीमुद्दीन नामक डिप्टी कलेक्टर को २ जुलाई, १८५७ को उन्हें पटना कमिश्नर के पास हाजिर करने के लिए भेजा पर वे गये ही नहीं । जगदीशपुर में क्रान्ति की योजनाएँ बनने लगीं । गया का जमींदार अब्दुल करीम खाँ भी इन्हीं दिनों जगदीशपुर आया । वह भी उनके साथ मिलकर क्रान्ति में सहयोग देने को तैयार हो गया । दुर्भाग्य से कुँअरसिंह का भतीजा रिपुभंजन सिंह घर का भेदिया बनकर यह सूचनाएँ अंग्रेजों को देता रहा । पर जो आग लग चुकी थी उसे बुझाना अंग्रेजों के बस का रोग नहीं था ।

२५ जुलाई, १८८७ के दिन दानापुर छावनी की ७ व ८ नम्बर की पलटन ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के पीछे बाबू कुँअरसिंह के निकटतम सहयोगी रहे कृष्ण सिंह और रणदलन सिंह का हाथ था । ये विद्रोही सिपाही इन दोनों के साथ सोन नदी पार करके आरा जा पहुँचे जहाँ कुँअर सिंह अपनी पूर्व योजना के अनुसार वहाँ उपस्थित थे, अपने सैनिकों के साथ ।

इन लोगों ने देखते ही देखते आरा स्थित अंग्रेजी सेना को मार भगाया । आरा पर क्रान्तिकारियों का अधिकार हो गया । सेना की कमान अब ७६ वर्षीय अनुभवी वीर योद्धा कुँअरसिंह के हाथ में थी । २९ जुलाई को गागों के युद्ध में अंग्रेजी सेना का कप्तान मारा गया । ५०० गोरे सिपाहियों में ५० ही जीवित बचे । मैदान कुँअरसिंह के हाथ रहा ।

२ अगस्त को बीबीगंज के संघर्ष में विन्सेंट आयार से भिड़कर भी कुँअर सिंह अपने रण कौशल के बल पर अपने सैनिकों को बचाकर निकल भागने में सफल हुए । बाबू कुँअरसिंह ने अपनी प्रजा के साथ जिस उदारता का व्यवहार किया था उसका सुफल उन्हें इस समय मिला । उन्हें सैनिकों की कमी न रही । हजारों की संख्या में अवैतनिक सैनिक अपने नायक का साथ देने को तैयार हो गये । उनके छोटे भाई अमरसिंह जो पहले किसी बात पर उनसे रुष्ट हो गये थे अपने वीर भाई की सहायता करने के लिए आ पहुँचे । बाबू कुँअरसिंह का हौसला दुगना हो गया ।

जगदीशपुर अब उनका गढ़ बना, पर आपसी फूट के कारण यह गढ़ टूटा । हरेकृष्ण सिंह को कुँअर सिंह द्वारा अपने छोटे भाई अमरसिंह को सेनापति बनाना अखरा । इसी का परिणाम जगदीशपुर की पराजय थी ।

इस पराजय से कुँअरसिंह हताश होने वाले नहीं थे । उन्होंने छापामार युद्ध प्रणाली अपनाते हुए शक्ति संग्रह करने का निश्चय किया । सहसराम की पहाड़ियों में रहकर अंग्रेजों को नाकों चने चबवाए । कुँअरसिंह वहाँ से रीवा पहुँचे महाराज से स्वतन्त्रता संग्राम के लिए १०,००० रुपये खिराज में वसूले । वहाँ से लखनऊ पहुँचे । नबाव लखनऊ ने १२,००० रुपये की सहायता दी और अवध के नबाव ने १६,००० की सहायता दिलवायी, साथ ही उन्हें आजमगढ़ का शासक नियुक्त किया ।

२१ मार्च, १८५७ को चार हजार सैनिकों के साथ मिलमेन नामक अंग्रेज सेनापति को बुरी तरह हराया । बनारस का कर्नल डेम्स चढ़कर आया तो उसने भी वैसी ही मार खायी । ६ अप्रैल, १८५८ को मसिना के युद्ध में लार्ड मार्ककार को हराकर उसका रसद व गोला बारूद छीन लिया ।

तीन-तीन अंग्रेज सेनापतियों को हराकर यह बूढ़ा शेर जगदीशपुर की ओर पलट पड़ा, नयी शक्ति के साथ हारी बाजी को पुनः जीतने । मार्ग में उन्हें लुगार्ड व ब्रिगेडियर डगलस से उन्हें भिड़ना पड़ा । उन्हें छकाते हुए वे जगदीश पुर की सीमा में आये पर गंगा पार आने पर उनके खवास की छोटी-सी छत्र खींचने की भूल पर अंग्रेजी सेना को उनके हाथी को लक्ष्य कर तोप का गोला फेंकने का मौका मिल गया । लक्ष्य कर फेंके गये गोले के विस्फोट से ही उनका खवास और रणदलनसिंह नामक साथी उड़ गये । उनका एक हाथ और एक पाँव बुरी तरह जख्मी हुए । घाव खतरनाक था । उनके जगदीशपुर आने पर अमरसिंह भी वहाँ आ गये । हरेकृष्ण सिंह, जो अब तक अपने किये पर पछता रहे थे वे भी अमरसिंह से आ मिले। सबने मिलकर लिगार्ड की सेना को वह ऐतिहासिक पराजय दी कि पराजित अंग्रेज सैनिक अनुशासन तोड़कर तालाबों व कुँओं में कूदकर जान बचाने लगे । यह अंग्रेजों के लिए बड़ी लज्जाजनक पराजय थी ।

इस विजय के बाद २६ अप्रैल, १८५८ को कुँअर सिंह का देहान्त हुआ । उनके बाद उनके उत्तराधिकारी अमर सिंह ने क्रान्ति यज्ञ जारी रखा । उन्होंने तो अपनी आँखों के सामने क्रान्ति का सफल रूप ही देखा । बिहार केसरी कुँअर सिंह की वीरता और देशभक्ति उन्हें अमर बना गयी है ।

आततायी से निपटने वाला–

सरदार ऊधमसिंह

सन् १९१८ को जलियाँवाला बाग में निरपराध भारतीय जनता की एक सभा पर गोलियों की वर्षा की गई । माइकेल ओ डायर तब पंजाब का गवर्नर था। यह दानवीय कृत्य इतिहास के काले पृष्ठों पर लिखा गया । इस समय कितने ही व्यक्ति मारे गये, कितने ही घायल हो गए । उस भीड़ में एक बालक भी था । बारह वर्ष का यह बालक सरदार ऊधमसिंह गोलियाँ चलाने वाले पर बहुत कुपित हुआ । उसने कहा–"मैं भी इसको मारूँगा ।"

प्रतिशोध की यह अग्नि उसके हृदय-कुण्ड में लगातार बाइस वर्षों तक जलती रही । हर समय उसको यही लगा रहता था कि मुझे उस हत्यारे को दण्ड देना है जिसने मेरे भाइयों को इस प्रकार गोलियों से भूनकर रख दिया है ।

ऊधम सिंह इंजीनियर बना। दैनिक कृत्य सम्पन्न करते, पढ़ते-लिखते उसे अपना मिशन याद रहता । वह इस अवसर में था कि जो ओ डायर यह हत्याकाण्ड कराके इंग्लैण्ड भाग गया है, जब भी भारत वापस आएगा, तभी उसको उसे दण्ड देने का अवसर मिलेगा ।

इस प्रकार प्रतीक्षा करते-करते जब उसका धैर्य जवाब दे गया तो वह आगे पढ़ने का बहाना बनाकर इंग्लैण्ड ही चला गया । उस समय इंग्लैण्ड में देशभक्तों का एक अच्छा संगठन हो चुका था । ऊधमसिंह इसी घात में रहता था कि कब ओ डायर से भेंट हो । इतने बड़े शहर में एक व्यक्ति को पाना बड़ा कठिन होता है । वह किसी सार्वजनिक आयोजन की प्रतीक्षा में था ।

१३ मार्च, १९४० को यह प्रतीक्षा समाप्त हुई । यह दिन भारतीय गौरव के दिनों में चिरस्मरणीय रहेगा । लन्दन के केक्सटन हॉल में रायल सेन्ट्रल एसोसियेशन सोसायटी व ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन के संयोजन में एक सार्वजनिक सभा हुई । इसमें सर माइकेल ओ डायर का भी भाषण था। जिसकी पूर्व सूचना प्रसारित कर दी गई थी । सरदार ऊधम सिंह को लगा कि अब उसका स्वप्न साकार होने ही वाला है ।

यों देखा जाय तो किसी का प्राण-हरण कोई अच्छी बात नहीं है किन्तु कोई व्यक्ति ऐसा क्रूर कर्म करे और शासन द्वारा उसका दण्ड उसे न दिया जाय तो उससे हत्यारों को प्रोत्साहन मिलता है । भारतवर्ष में ऐसा करने वाले को सरकार भले ही दण्ड न दे पर भारतवासी दे सकते हैं । जिससे भविष्य में कोई ऐसा कुकर्म का साहस न करे ।

वह जाकर मंच के सामने वाली कुर्सी पर बैठ गया । माइकेल ओ डायर जिसके गवर्नर पद पर रहते हुए पंजाब में जलियाँवाला गोली-काण्ड हुआ था, भाषण देने खड़ा हुआ । वह अपने स्थान से उठ खड़ा हुआ उसे अपने रिवाल्वर का निशाना बनाकर सरदार ने तीन वार किये । ओ डायर धराशायी हो गया, उसका वहीं प्राणान्त हो गया। दो अन्य व्यक्ति बाल-बाल बचे ।

सरदार ऊधम सिंह को पकड़ लिया गया और जेल भेज दिया गया । उनके सिर से बहुत बड़ा बोझ हट गया । अब न्यायालय उसे मृत्यु-दण्ड की सजा ही तो देगा । ऐसी मौत किसे नसीब होती है । देशभक्त देश जाति के गर्व की रक्षा के लिये मृत्यु को गले लगाते ही हैं ।

"मैंने अंग्रेजों के शासन के नालदार जूतों के नीचे अपने देशवासियों को रौंदे जाते देखा है। मैंने इसका विरोध अपने ढंग से किया है । मुझे इसका पश्चाताप नहीं है । मौत का डर तो उसी दिन मेरे मन से हट गया था जब बाइस वर्ष पहले जलियाँवाला बाग में सैकड़ों बेगुनाह भारतवासियों को मैंने शहीद होते देखा था । भारतवासी अब गुलाम नहीं रह सकते । मैं अदालत से दया नहीं कठोर-दण्ड चाहता हूँ ।" यह थे अदालत के सामने उनके बयान । उन्होंने मृत्यु दण्ड सहर्ष स्वीकार किया ।

भारतीय संस्कृति की मर्यादाएँ

ब्रिटिश न्यायालय के कटघरे में नर-नाहर ऊधमसिंह खड़े थे । न्यायाधीश ने प्रश्न किया- "नौजवान, क्या तुम अपने बचाव के लिए वकीलों की सहायता लेना चाहते हो?" उत्तर मिला- नहीं ! प्रश्नों का सिलसिला चल ही रहा था कि एक युवती भीड़ को चीरती हुए न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित हुई और न्यायाधीश से बोलने की अनुमति लेकर उसने बड़े कातर स्वर में ऊधमसिंह से पूछा कि जब तुम्हारी रिवाल्वर में तीन गोलियाँ शेष थीं, तो तुमने मुझ पर गोली चलाकर निकलने की कोशिश क्यों नहीं की? तुम्हारे पास एक लम्बा चाकू भी था । ऊधमसिंह ने अत्यन्त शिष्टता और विनम्रता से उसे उत्तर दिया- "बहिन, हम भारतीय हैं । स्त्री पर हाथ उठाना भारतीय संस्कृति नहीं है । इसीलिए मैंने रिवाल्वर फेंक दिया था और अपने चाकू को भी जेब में विश्राम करने दिया था । यदि आपके स्थान पर कोई पुरुष होता, तो वह अवश्य गोलियों का निशाना बन जाता ।"

न्यायालय ने ऊधमसिंह को मृत्युदंड सुनाया और १२ जून, १९४० को उस नर-नाहर ने प्रसन्न चित्त से "वंदे मातरम्" कहा और फाँसी का हार अपने गले में पहन लिया ।

विस्मृत क्रान्तिवीर–

पं. गैंदालाल दीक्षित

पति पर मृत्यु की छाया मण्डराते देखकर पत्नी के धैर्य का बाँध टूट गया । वह रोने लगी। अपनी पत्नी को इस प्रकार रोते देख पति ने कहा–"तुम रोती हो तो रोओ, किन्तु आखिर इस रोने से भी क्या मिलने वाला है । दुःख तो मुझे भी है । मैंने जिस बात का व्रत लिया था उसमें कितना निभा पाया? मर तो मैं रहा हूँ पर जिस कारण मैं मर रहा हूँ वह पूरा कहाँ हुआ । मैं यह देखकर मर रहा हूँ, कि मैंने जो कुछ किया वह छिन्न-भिन्न हो गया । मुझे दुःख है कि मातृभूमि पर अत्याचार करने वाले से बदला नहीं ले सका, जो मन की बात थी वह मन में ही रह गयी । मेरा यह शरीर नष्ट हो जायगा । मैं मोक्ष नहीं चाहता । मैं तो चाहता हूँ कि बार-बार इस धरती पर जन्म लूँ और बार-बार इसी के लिये मरूँ । ऐसा तब तक करता रहूँ जब तक कि देश गुलामी की जंजीरों से छूट न जाए ।"

ये अन्तिम शब्द थे मातृभूमि पर बलिदान हो जाने वाले देशभक्त क्रान्तिकारी पं. गैंदालाल दीक्षित के । जिन्हें इस असहाय और अजानी अवस्था में मरना पड़ा कि उस समय उनके पास न कोई शिष्य था न साथी, न कुटुम्बीजन न पत्नी न कोई मित्र ही । सरकारी अस्पताल के लावारिस बीमार के रूप में २१ दिसम्बर, १९२० को इस क्रान्तिकारी का अन्तिम संस्कार सम्पन्न हुआ, अस्पताल के मेहतरों द्वारा, किसी ने आँसू नहीं बहाये, श्रद्धांजलियाँ अर्पित नहीं की। न किसी ने शहीदों की चिताओं पर गाया जाने वाला गीत ही गाया । किन्तु जो वतन के लिये अपने सिर पर कफन बाँधकर निकलते हैं उन्हें अपने इस दुःखद अन्त पर कोई मलाल नहीं होता ।

देश को अंग्रेजी दासता से मुक्ति दिलाने के लिये कितने ही क्रान्तिकारियों ने अपनी सुख-सुविधाओं और उससे भी अधिक अपनी भावी प्रगति की सम्भावनाओं को ठुकराकर उस पथ का वरण किया जिस पर फाँसी, जेल, आजीवन कारावास, दुःख, अभाव और यन्त्रणाओं का साम्राज्य था । कुछ प्रयास संगठित रूप से चले तो कुछ छुटपुट रूप से । किन्तु वे सब क्रान्तिकारी जो प्रकाश में आये या गैंदालाल दीक्षित की तरह अप्रकाशित ही रह गये, वस्तुतः युग की पुकार को सुनकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर युग धर्म पालने वाली सजग आत्माएँ ही थीं ।

पं. गैंदालाल दीक्षित ने अपने क्रान्तिकारी संगठन को अन्य क्रान्तिकारी संगठनों से जोड़ने का प्रयास तो किया पर वे उसमें सफल नहीं हो सके । उनका यह प्रयास छुटपुट आन्दोलन बनकर रह गया । किन्तु इतने से ही उसका महत्व कम नहीं हो जाता । क्रान्ति एक व्यक्ति या उसके थोड़े से साथियों के द्वारा सम्पादित हो जाय यह आवश्यक नहीं । उसके लिये तो कई पीढ़ियाँ खप जाती हैं । रामप्रसाद 'बिस्मिल' व मुकुन्दीलाल जैसे क्रान्तिकारी उनके द्वारा ही बनाये गये थे । उनके इस बलिदान ने उन्हें बड़ी शक्ति दी थी ।

पण्डित गैंदालाल दीक्षित का जन्म आगरा जिले के बटेश्वर ग्राम में ३० नवम्बर, १८९० को हुआ था । पैदा होते ही व मातृ-सुख से वंचित हो गये । उनकी ताई ने उनका पालन-पोषण किया ।

परिवार की स्थिति साधारण ही थी । किसी तरह उन्होंने इण्टर पास किया जो उस समय को देखते हुए काफी महत्वपूर्ण बात थी । इण्टर पढ़े-लिखे लोग उन दिनों अच्छे-अच्छे पदों पर थे । उनकी आगे पढ़ने की इच्छा थी पर घर की खस्ता हालत इसकी इजाजत नहीं देती थी । अतः इन्टर पास करके वे अध्यापक बन गये ।

एक सामान्य परिवार के व्यक्ति के लिये इन्टर तक पढ़ जाना और अध्यापक की अच्छी-भली नौकरी पा जाना एक प्रकार से जिन्दगी की नाव के किनारे लग जाने जैसा ही काम था । पर डी. ए. वी. स्कूल में कार्य करते हुए व आर्य समाज जैसी क्रान्तिकारी संस्था के सम्पर्क में रहते हुए देश-भक्ति की भावना से ओत-प्रोत हृदय वाले दीक्षित जी के लिये इसी ढर्रे से बने रहना सम्भव नहीं था । हृदय की आग तो समय की हवा का झोंका पाकर भभक उठने को तैयार बैठी थी ।

बंगाल और महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी आन्दोलन की चर्चाएँ सुन-सुनकर तो उनके युवा रक्त में उबाल आये बिना नहीं रहा । वे इसी विचार में रहते थे कि किसी न किसी प्रकार इन क्रान्तिकारी संगठनों से सम्पर्क साधा जाय और मातृभूमि को विदेशी दासता से मुक्ति दिलायी जाय । किन्तु उन्हें इस सम्बन्ध में कोई सूत्र हाथ नहीं लगा । सशस्त्र क्रान्ति का यह पथ एक प्रकार यों अनुपयुक्त ठहरता था कि गुप्त रूप से संचालित होने वाली इन गतिविधियों को न तो सामान्य व्यक्ति समझ सकता था, न भाग ले सकता और न ही इनसे व्यापक स्तर पर संगठन का हो सकना भी सम्भव था । किन्तु इनमें से जब कोई देश के नाम पर हँसते-हँसते फाँसी के फन्दे को चूमता था तो उससे जन-जन का अन्तःस्थल को झकझोर उठता था। कहना न होगा कि देश-भक्ति की प्रबल उमंगें जगाने की दिशा में यह असहयोग व सत्याग्रह से भी अधिक प्रभावी था।

बाहरी क्रान्तिकारी संगठनों से सम्पर्क करने के लिये वे अधिक दिनों तक चुप नहीं बैठ सकते थे । उन्होंने अपने ढंग से क्रान्ति की मशाल जलाने का निश्चय करके एक समिति बनायी जिसका नाम 'शिवाजी समिति' रखा गया । इस समिति का उद्देश्य देश को स्वतन्त्र कराना था ।

उन्होंने सोचा कि पढ़े-लिखे लोगों से इस सम्बन्ध में समुचित सहायता मिलेगी किन्तु वैसा हुआ नहीं । जिन लोगों के सम्पर्क में वे आये उनमें प्रायः सभी इसी प्रकार के थे जो पढ़-लिखकर उच्च पद पाने या धन कमाने के ही चक्कर में रहते थे । उन्हें अपने पिछड़े हुए क्षेत्र के पढ़े-लिखे लोगों के इस दृष्टिकोण को जानकर बड़ा दुःख हुआ कि पढ़े-लिखे लोग उन्नति से अभिप्राय अपनी व्यक्तिगत उन्नति ही समझते हैं, देश व समाज की नहीं । उनका यह नितान्त व्यक्तिवादी दृष्टिकोण गैंदालाल दीक्षित को बहुत अखरा और वे ऐसे लोगों की ओर से निराश हो गये ।

भावना का जहाँ तक प्रश्न है देश को स्वतन्त्र कराने के लिय सर्वस्व दाँव पर लगा देना उनके लिये बायें हाथ का खेल था पर योजनाबद्ध काम करने में वे कुछ आवश्यकता से अधिक जल्दबाज थे । वे प्रयास करते तो पढ़े-लिखे लोगों में से भी कुछ सहायक बना सकते थे, थोड़े प्रयास से ।

पढ़े-लिखे लोगों से हटकर उनका ध्यान चम्बल के बीहड़ों में बसने वाले डाकुओं की ओर गया । यदि उनमें से कुछ लोग ही उनके सहायक बन जायें तो काम बन सकता है । वे उनके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। ये डाकू लोग मरने मारने में डरते नहीं साथ ही निशाना बाँधकर गोलियाँ चलाने और मोर्चेबन्दी के मामले में भी पक्के होते हैं । उनकी सहायता मिल जाये तो उन्हें धन की भी किल्लत नहीं रहेगी । जब जितना चाहेंगे डाका डालकर धन जुटा लिया करेंगे ।

यों डाकू भी मनुष्य होते हैं । बाल्मीकि भी एक डाकू ही थे जो आगे चलकर ऋषि बन गये थे । सुधरकर तो वे भी अच्छे आदमी बन सकते हैं पर यह कोई एक दिन में या कुछ महीनों में सम्भव नहीं होता । साथ ही उनके मन में भी अच्छे बनने का संकल्प जागे तब की बात है । उनकी बुरी आदतें और अपराधी वृत्ति एकदम समाप्त नहीं हो सकती । न ही सब डाकू बाल्मीकि बन सकते हैं।

इस प्रयास में उन्हें पहले तो सफलता मिली । ब्रह्मचारी नाम का एक साहसी और जीवट वाला डाकू उनका सहायक बन गया । वह हर समय प्राण हथेली पर रखकर सशस्त्र क्रान्ति का काम किया करता था । वह भी पहले डाकू ही पर अब वह देश के काम आकर अपने पापों का प्रायश्चित करना चाहने लगा था ।

डाकुओं को क्रान्तिकारी बनाने के क्रम के साथ ही पं. गैंदालाल दीक्षित ने कुछ विद्यार्थियों को भी क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिये तैयार किया था। जिनके नेता पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' और औरैया के मुकुन्दीलाल आदि थे। जिन पर बाद में गैंदालाल दीक्षित को जेल से छुड़ाने के असफल प्रयास के सिलसिले में मैनपुरी षड्यन्त्र के नाम से केस चलाया गया था। इस टोली का नाम 'मातृवेदी' रखा गया ।

पण्डित गैंदालाल यदि डाकुओं को क्रान्तिकारी बनाने के फेर में न पड़ते और युवकों को ही संगठित करके कुछ काम करते तो बहुत सम्भव था वे इतने शीघ्र पकड़े नहीं जाते पर वे तो समझे थे जिस प्रकार ब्रह्मचारी उनका दाहिना हाथ बन गया है वैसे ही और डाकू भी उनके साथ निष्ठावान बने रहेंगे । किन्तु वैसा नहीं हो सका । एक डाकू पुलिस से मिल गया । उसी के कारण वे पकड़े गये ।

मुखबिर बन गये डाकू ने पुलिस वालों को उनके दल के सम्बन्ध में पूरी सूचना दे दी थी । मुठभेड़ के समय दल के कई लोग मारे गये, कई भाग गये। ब्रह्मचारी और पण्डित गैंदालाल पकड़े गये ।

ग्वालियर जेल में उन्हें न तो ठीक से खाना मिलता था और न ही किसी प्रकार की कोई सुविधा ही । क्योंकि डाकुओं के साथ पकड़े जाने पर उन्हें भी डाकू ही समझा गया था । अस्वास्थ्यकर वातावरण, अपर्याप्त भोजन व कठोर श्रम करने के कारण उन्हें टी. बी. हो गयी ।

उनके शिष्यों – 'मातृवेदी' टोली के युवकों ने उन्हें छुड़ाने के लिये योजना बनायी । किन्तु वह भी सफल नहीं हुई । योजना कार्यान्वित होने के पहले ही उनमें से एक लड़का मुखबिर बन गया । उनमें से अधिकांश पकड़े गये, केवल पण्डित रामप्रसाद 'बिस्मिल' बच निकले । इन युवकों पर मैनपुरी षड्यन्त्र केस चला । उन्हीं के पकड़े जाने पर पण्डित गैंदालाल के क्रान्तिकारी होने का पता चला और उन्हें ग्वालियर जेल से मैनपुरी लाया गया । यहाँ से वे युक्तिपूर्वक जेल से भाग निकले । किन्तु घर जाने पर घरवालों ने भी पुलिस के भय से उन्हें अधिक दिनों अपने पास नहीं रखा । क्योंकि इस पिछड़े इलाके के लोग देश और क्रान्ति का अर्थ ही नहीं जानते थे । उनकी नजर में तो वे अपराधी थे । पुलिस उनके पीछे पड़ी थी । सो उन्हें अपने जर्जर शरीर को लेकर दिल्ली भाग जाना पड़ा ।

वहाँ अपने को अनपढ़ बताकर एक प्याऊ में पानी पिलाने की नौकरी करते हुए स्वास्थ्य लाभ का प्रयास किया पर सफल न हो सके । फरारी का जीवन और ऊपर से बीमार शरीर। हारकर अपने एक विश्वासी मित्र को पत्र लिखा । वे मित्र पण्डित गैंदालाल की पत्नी को साथ लेकर आये । उन्होंने शक्ति भर प्रयास किया उन्हें बचाने का, पर जब कुछ सम्भव नहीं हो सका तो उन्हें छद्म नाम से सरकारी अस्पताल में भर्ती करा दिया गया । उनकी पत्नी ने तो बहुतेरा चाहा कि पति की सेवा करें पर उनके रिश्तेदारों ने मना किया, पुलिस द्वारा पकड़े जाने का भय दिखाया । अतः विवश हो उन्हें अकेला ही छोड़ देना पड़ा। वे अकेले और अनाम स्थिति में लावारिश की तरह मरे । एक क्रान्तिकारी का यह दुःखद अन्त हुआ ।

असफलता के खण्डहरों पर सफलता के प्रासादों की नीवें रखी जाती हैं । उनकी इस असफलता ने भावी क्रान्तिकारियों को जो आधार दिया था उनका अपना महत्व है । पं. रामप्रसाद 'बिस्मिल' जैसे क्रान्तिकारी उन्हीं की देन थे ।

भारतीय शौर्य परम्परा के प्रतीक–

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह

युद्ध अच्छी बात है ! इस कथन से कोई सहमत नहीं हो सकता । फिर भी युद्ध होते हैं और कभी-कभी तो युद्ध लड़ना अनिवार्य-सा हो जाता है । युद्ध के विनाश को रोकने और दूसरे देश की लोलुपता को लगाम देने के लिए प्रतियुद्ध स्वीकार करना दूसरे देश के लिए आवश्यक हो जाता है । भारतवर्ष जैसे शान्तिप्रिय देश को भी अपने पिछले वर्षों में चार-चार युद्ध लड़ने पड़े हैं । इन युद्धों में भारतीय वीरों ने जिस वीरता का परिचय दिया वह हमारे लिए गौरव की बात है ।

शान्ति और अहिंसा का अर्थ कायरता नहीं होता । रक्षा के लिए उठाया गया शस्त्र अपने साथ पशुता नहीं वरन् पशुता को दबाने वाला नैतिक साहस भी साथ रखता है । यह पिछले दो भारत-पाक संघर्षों में देखा जा चुका है ।

अगस्त, १९६५ की बात है । उड़ी-पूँछ क्षेत्र की चौकी पर युद्ध विराम रेखा के इस पार हमारे भारतीय सैनिक और सेनाधिकारी बातचीत करने में व्यस्त थे । तभी पास के डबरोट गाँव का वाहा मोहम्मद दीन इस ओर दौड़ता हुआ आया । उसने बताया कि वह अभी-अभी सादे लिबास में कुछ लोगों को बेतार पर जोर-जोर से बोलते हुए कहीं सन्देश भेजते हुए देखकर आ रहा है । उसे सन्देह है कि ये लोग पाकिस्तानी सैनिक गुप्तचर हैं ।

इस बात की सूचना तुरन्त हैड क्वार्टर को भेज दी गयी। वहाँ के ऑफीसर ने अन्य अधिकारियों से विचार-विमर्श करके कप्तान चन्द्र नारायण सिंह को एक दस्ते के साथ इस बात की सचाई का पता लगाने के लिए जाने का आदेश दिया। कप्तान चन्द्रनारायण सिंह इसके लिए तैयार बैठे थे ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष ने जो उपलब्धियाँ और सफलतायें पायी हैं उनमें सर्वाधिक गौरवपूर्ण ही है हमारे जवानों की वीरता और राष्ट्र-भक्ति । कप्तान चन्द्रनारायण सिंह को दो मील दूर उत्तर-पश्चिम की पहाड़ी के पीछे जाकर पता करना था कि क्या गोल-माल है ?

आदेश मिलने के साथ ही भारतीय सैनिकों की यह टुकड़ी अपने कप्तान के साथ चल पड़ी । एक तो बरसात का मौसम ऊपर से पहाड़ी इलाका । जाने मार्ग में कब कौन-सा जन्तु आ जाय । हिंसक जन्तुओं की ही बात नहीं थी । इन दिनों साँप, बिच्छुओं की भी बहुतायत होती है । टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों पर चलते हुए, झाड़-झंखाड़ों में उलझते, नदी-नालों को फलाँगते हुए ये लोग बढ़ते गये ।

पहाड़ी की ढलान पर पहुँचना था कि ऊपर से मशीन गन से चलायी गयी गोलियों और मोर्टारों के गोलों ने उनका स्वागत किया । कप्तान ने अपने सैनिकों को रुकने का आदेश दिया । स्थिति बड़ी विषम थी । ये लोग नीचे थे । पाकिस्तानी सैनिक पहाड़ी पर थे । वे इन पर आसानी से गोलियाँ बरसा सकते थे, जबकि इनके द्वारा चलायी गयी गोलियों की पहुँच वहाँ तक नहीं हो सकती थी ।

उन्होंने अपने गिने-चुने सिपाहियों को दो भागों में बाँट कर दायें-बायें होकर गोलियों की मार के क्षेत्र से परे रहकर मोर्चा सम्हाल कर आगे बढ़ने का आदेश दिया । उनके चार्ज के आदेश पर भारतीय सैनिकों की राइफलें गरज उठीं । उधर से भी उनका उत्तर मिला पर कप्तान सिंह ने देखा कि इस गोलाबारी का कोई अर्थ निकलने वाला नहीं है और फिर उनके पास गोला बारूद भी कम था सैनिक भी कम थे । अतः उन्होंने अपने सैनिकों को रोक दिया । रात को जब दुश्मन सो जाय तब आक्रमण करने की बात तय रही ।

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह अनुभवी सैनिक थे । अपने देश की शान्ति भंग करने और उसके प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने की पाकिस्तानी शासकों की नापाक हरकतों ने उन्हें क्रोध से भर दिया था । भारत आत्म-रक्षार्थ लड़ रहा था, आक्रमण के लिए नहीं ।

इस पहाड़ी के पीछे जो पाकिस्तानी सैनिकों का जमाव था वहीं से काश्मीर में घुसपैठिये भेजे जाते थे । कप्तानसिंह यह स्थान उनसे जीतने की मन ही मन योजना बनाते हुए समय की प्रतीक्षा कर रहे थे । यह बात साफ जाहिर थी कि पाकिस्तानी सैनिक संख्या और शस्त्रास्त्रों की दृष्टि से उनके साथियों की अपेक्षा कई गुने शक्तिशाली थे । किन्तु उनमें राष्ट्र-रक्षा की वह भावना नहीं थी जो हमारे सैनिकों में थी । इस बात का पता उन्हें था ।

रात्रि को भारतीय सैनिकों ने रेंगते हुए आगे बढ़ना आरम्भ किया ताकि पाकिस्तानी सैनिकों को उनके आक्रमण का पता ही न चल पाये पर रात्रि की निस्तब्धता में जरा-सी आवाज भी बहुत ऊँची लगती है सो पाकिस्तानी सैनिकों को इस बात का पता चल गया । उन्होंने गोलाबारी करना आरम्भ कर दिया । फिर भी रात के अन्धेरे का लाभ हमारे सैनिकों को भरपूर मिला । जब वे दुश्मन की चौकी से पचास गज दूर रह गये तब कप्तान ने गोली चलाने का आदेश दिया ।

भारतीय सैनिकों की राइफलें गरज उठीं । उसका उत्तर दुश्मन ने मोर्टार से गोलों को फैंक कर दिया । कप्तान सिंह सबसे आगे थे । उन्होंने अपने साथियों को आगे बढ़ने

का आदेश दिया । 'रुको नहीं' 'आगे बढ़ो' वे जानते थे कि एक-एक क्षण मूल्यवान है । जो पहले मारता है वह जीतता है ।

भारतीय सैनिक आगे बढ़ते ही चले गये । उनका नायक उनके आगे चल रहा था । अपने नायक की वीरता और निर्भयता ने उनके ह्रदय में अपूर्व जोश भर दिया था । चोर की तरह पहाड़ी के पीछे छिपे बैठे पाकिस्तानी सैनिकों में से कुछ के मरते ही बहुत से भाग खड़े हुए । कप्तान सिंह और उनके साथी उन्हें अच्छा मजा चखा रहे थे । मृतकों व घायलों के अतिरिक्त केवल एक पाकिस्तानी सैनिक मशीनगन लेकर मोर्चे पर डटा हुआ था शेष सब सिर पर पाँव रखकर भाग चुके थे ।

वस्तुत: युद्ध में भी भावनायें व नैतिकता ही विजय का मुख्य कारण होता है । पाक सैनिकों के पास कोई उच्च भावना या आदर्श तो था नहीं । वे तो पेट के खातिर सैनिक बनकर मोर्चे पर आ गये थे । उन्हें अपनी जान की चिन्ता थी । इसके विपरीत भारतीय सैनिक देश-प्रेम और राष्ट्र-रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग को भी हँसी खेल मानते थे । कप्तान सिंह ने देखा कि एक पाकिस्तानी सैनिक मशीनगन सम्हाले हुए मोर्चे पर डटा हुआ है तो उनसे न रहा गया । प्रथम तो उन्होंने उसे ललकारा और फिर आगे बढ़ गये उसकी मशीनगन से निकली गोलियों ने उनके सीने को छेद कर रख दिया । गिरते-गिरते भी उन्होंने अपने साथियों को आदेश दिया- 'आगे बढ़ो'

अपने नायक के बलिदान ने उन्हें दुगुने जोश में भर दिया । भूखे शेरों की तरह लपक पड़े । मशीनगनधारी से अब न रहा गया वह मशीनगन छोड़कर भाग खड़ा हुआ, पर भागता कहाँ भारतीय सैनिकों की रायफलों से निकली गोलियों न उसे भूनकर रख दिया ।

कप्तान चन्द्रनारायण सिंह ने बलिदान देकर भी पाकिस्तानियों पर विजय की । उनकी इस वीरता ने उनके सैनिकों के मन में अपने प्रिय नायक की मृत्यु का बदला लेने के लिए प्राणों पर खेल जाने की प्रेरणा दी । इस मुहिम में उन्हें विजय के साथ ढेर से हथियार व गोला बारूद भी मिला । इस विजय का मूल्य कप्तान सिंह ने अपने प्राणों से चुकाया था ।

एक संघर्षशील व्यक्तित्व-

त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती

अपने जीवन के तीस वर्ष और वह भी जवानी में जेल की काल कोठरियों में काटे हों। वह या तो कुख्यात अपराधी हो सकता है या फिर कोई देशभक्त । देशभक्त होने की स्थिति में उस व्यक्ति को जीवनदानी कहना ही उचित होगा जिसने जिन्दगी के बेहतरीन तीस वर्ष देश को आजाद कराने के लिये जेल की काल कोठरियों में बिताये हों। त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती एक ऐसे ही जीवनदानी थे ।

अपने देश को आजाद कराने के लिये जिन देशभक्तों ने अपनी जवानी में अपनी समस्त महत्वाकांक्षाओं को त्याग कर एक ही ध्येय अपनाया था उसे पूरी तरह निभाया था, उनके हम चिरऋणी हैं । उस ऋण से उऋण होने का एक ही मार्ग है कि आजादी के बाद स्वराज्य और सुराज्य की स्थापना के लिये हम भी उन्हीं लोगों की तरह अपनी व्यक्तिगत सुखाकांक्षाओं से ऊपर उठें।

पूर्वी बंगाल के मेमनसिंह जिले के किशोरगंज सब डिवीजन के एक ग्राम में, सन् १८८८ में जन्मे त्रैलोक्य नाथ चक्रवर्ती का जीवन इस कार्य में हमारा मार्गदर्शक बन सकता है। जो आजादी के लिये विदेशी-सत्ता से संघर्ष करने में बंगाल सबसे आगे रहा है । वे जब पढ़ते थे तभी से उनके मन में देश के लिये बलिदान देने की तमन्नाएँ उठने लगीं थीं । भावनाओं का ज्वार तो उनके युवा ह्रदय में प्रबल वेग से उमड़ रहा था । मार्ग की आवश्यकता थी सो बंगाल के तत्कालीन क्रान्तिकारी दल- 'अनुशीलन दल' ने दिखाया और वे स्वतंत्रता के लिए लड़े जाने वाले लम्बे संग्राम के एक स्थायी सैनिक बन गये ।

त्रैलोक्यनाथ पढ़ने-लिखने में बहुत तेज थे सदा कक्षा में प्रथम आते थे । मन लगाकर पढ़ने का ही यह परिणाम था । चाहते भी थे कि वे खूब पढ़ें पर जब घर में आग लगी हो तो कोई व्यक्ति उसे बुझाने के अतिरिक्त और कोई बात सोच ही कैसे सकता है । भारत को स्वतन्त्र कराना उस समय ऐसा ही एक अहम् सवाल था । अत: उन्हें पढ़ाई के स्थान पर आजादी की लड़ाई को प्राथमिकता देनी पड़ी । अपने कैरियर से अधिक महत्व देश के भविष्य को देना पड़ा ।

१९०८ में जब वे ढाका के निकट गिरफ्तार हुए तो इन्टर की परीक्षा निकट ही थी । वे परीक्षा दे पाते तो बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होते, पर ऐसा नहीं कर पाने पर भी वे जीवन की परीक्षा में तो बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुये हैं- इससे इन्कार नहीं किया जा सकता । बारस्याल षड्यंत्र केस में उन्हें आजन्म काले पानी की सजा का दण्ड दिया गया ।

१९१६ में उन्हें अण्डमान की काल-कोठरियों में नारकीय यंत्रणाएँ सहने के लिये भेज दिया गया । पन्द्रह वर्ष तक वे वहाँ पर रहे। अण्डमान की जेल में रहने का अर्थ होता है जिन्दगी भर के लिये टूट जाना । फिर कैसे कोई व्यक्ति पन्द्रह वर्ष वहाँ बिताने के बाद भी पूरे बयासी वर्ष तक जी सका और जेल से मुक्त होने के बाद भी पाकिस्तानी सरकार से बंगालवासियों के अधिकारों के

लिये लड़ सका ? यह रहस्य कोई शरीर विज्ञानी नहीं सुलझा सकता ।

अण्डमान द्वीप यों भी भारतवर्ष से अलग बहुत दूर सागर के बीच में है । उसकी जलवायु इतनी विषम है कि वहाँ पर रहना स्वास्थ्य के लिये बहुत हानिकारक होता है । अब तो वहाँ आबादी भी हो गयी है पर उन दिनों तो वहाँ बहुत ही कम लोग रहते थे । फिर वहाँ की कालकोठरियों में क्रान्तिकारियों के साथ भी खतरनाक अपराधियों जैसा ही कठोर व्यवहार किया जाता था । कठोर श्रम कराया जाता था और जिसे पशु भी न खाये ऐसा खाना दिया जाता था । दिन में आठ घण्टे कोल्हू पेरने की हाड़-तोड़ मेहनत करने पर खाने को सड़े आटे की रोटियाँ और कीड़ों वाले चावलों का भात मिलता था ।

शिकायत करने पर कोई सुनने वाला नहीं था । जेल अधिकारी शिकायत करने वाले को बहुत बुरा दण्ड देते थे । ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति कैसे जीवित रह सकता है और अपने शारीरिक मानसिक संतुलन को बनाए रख सकता है ? यह बहुत जीवट का काम था और आत्मिक शक्ति और मनोबल के सहारे ही कोई ऐसा कर सकता था । त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती इसे सजा नहीं तपस्या मानते थे और यह विश्वास करते थे कि उनकी इस तपस्या के परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता मिलेगी ।

स्वातंत्र्य वीर सावरकर तथा गुरुमुख सिंह जैसे क्रान्तिकारी उनके साथ रहे थे। 'संघे शक्ति कलियुगे' के मन्त्रानुसार इन लोगों ने वहाँ भी संगठन शक्ति के बल पर रचनात्मक कार्य किया और जेल अधिकारियों को उनकी उचित माँगों को मानने के लिये बाध्य भी किया ।

वीर सावरकर के सहयोगी के रूप में उन्होंने जेल में ही हिन्दी भाषा के प्रचार का कार्य अपनाया । वे स्वयं भी हिन्दी नहीं जानते थे । सावरकर से हिन्दी सीखने वाले पहले व्यक्ति थे । वे यह मानते थे कि शिक्षा केवल स्कूलों में ही नहीं पायी जाती । जीवन में हर परिस्थिति में, हर स्थान पर कुछ न कुछ सीखा जा सकता है, सिखाया जा सकता है । फिर चाहे जेल की दीवारें हों या काले-पानी की काल-कोठरियाँ, वहाँ भी मनस्वी और कर्मनिष्ठ चुप नहीं बैठते ।

परतंत्र भारत में भी वे स्वतन्त्र भारत की बातें सोचा करते थे । उन्हें पूरा विश्वास था कि अब जब देश की जनता जाग गयी है, अंग्रेज सरकार अधिक दिनों तक भारत को पराधीन नहीं रख सकती । भारत के स्वतन्त्र होने के साथ ही उनके दायित्वों की इतिश्री नहीं हो जायगी । इस विशाल देश को एक सूत्र में बाँधने के लिये एक भाषा का होना बहुत आवश्यक होगा । यह भाषा हिन्दी ही हो सकती है । अतः इस भाषा के प्रचार का कार्य उन्होंने सावरकर के साथ वहीं काले पानी की जेल में ही आरम्भ कर दिया । आरम्भ में इस कार्य में कुछ बाधाएँ आयीं पर वे लोग उन पर विजय पाते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते ही रहे । उसके सम्मिलित प्रयास से २०० से भी अधिक बंदियों ने वहाँ पर हिन्दी भाषा सीखी ।

ये लोग वहाँ भी चुप नहीं बैठे तो सरकार ने उन्हें वहाँ से भी हटाने की बात सोच ली। त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती को अण्डमान से हटाकर माण्डले की जेल में रखा गया, जहाँ १९२५-२६ में वे नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के साथ भी रहे । १९३२-३३ में वे मद्रास जेल में रहे । यहाँ उन्होंने अपनी व्यवस्थित दिनचर्या अपनाकर अण्डमान जेल में बिगड़े हुए स्वास्थ्य को बहुत कुछ सुधार लिया । यों परिस्थितियाँ यहाँ भी कुछ भी अनुकूल नहीं थीं पर वह भी तो उन लोगों में से नहीं थे जो परिस्थितियों का रोना रोया करते हैं ।

१९३४ में वे अवसर पाकर जेल से फरार होने में सफल हो गये । उन्होंने जेल से निकलने के बाद अपना नाम भी 'शशिकांत' रख लिया ताकि सरकारी पुलिस व गुप्तचरों का ध्यान उनकी ओर से हट जाए । वे उन्हें झाँसा देने में सफल हो गये ।

चक्रवर्ती जी की तपस्या पूरी हुई । १९४७ में अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना ही पड़ा । उनकी जन्मभूमि पूर्वी पाकिस्तान के क्षेत्र में आयी । पश्चिमी पाकिस्तान के अल्पसंख्यक हिन्दुओं को शरण देने के लिये तो भारत सरकार तैयार थी पर पूर्वी पाकिस्तान के अल्पसंख्यकों को वह यहाँ शरण देने के लिए विधिवत् तैयार नहीं थी । ऐसी स्थिति में उन्होंने वहीं रहकर अपने अल्पसंख्यक भाइयों की सेवा करना अपना लक्ष्य बनाया । उनका कहना था- "सच्चे देशभक्त को यह शोभा नहीं देता कि वह अपना देश छोड़ दे । सारे भारत की स्वाधीनता के लिये लड़ने के बावजूद मेरा पूर्वी बंगाल से सम्बन्ध है, इसलिये अन्तिम श्वास तक पूर्वी पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के लिये न्याय व अधिकारों की प्राप्ति के लिये संघर्ष करना मेरा कर्तव्य है। मेरा कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ है ।"

श्री चक्रवर्ती ने पाकिस्तान सोशलिस्ट पार्टी की नींव डाली । यह पार्टी सम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र को एक मानने वाले विवेकशील व्यक्तियों का अपना दल बन गयी । इस दल को संकीर्णमना सम्प्रदायवादी राष्ट्रपति जनरल अयूब, जो वास्तव में एक तानाशाह थे, ने १९५८ में इस पर प्रतिबंध लगा दिया । श्री चक्रवर्ती १९५४ से ५८ तक वहाँ की विधान सभा के सदस्य रहे ।

पूर्वी पाकिस्तान में इस्लामपरस्त सरकार ने वहाँ के अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर जो अत्याचार किये और उन्हें वहाँ से भाग खड़े होने को विवश किया । उनकी सम्पत्ति को शत्रु सम्पत्ति घोषित किया । यह सब अन्याय था । अन्याय से संघर्ष करना त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती का धर्म था सो वे भारत के स्वतन्त्र होने से पहले अंग्रेज सरकार से और तत्पश्चात् विखण्डित भारत की पाकिस्तान सरकार से संघर्ष करते रहे ।

उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था । खादी की श्वेत साधारण वेशभूषा में वे सादगी और सज्जनता के प्रतीक लगते थे । उनके आन्तरिक व्यक्तित्व की परिचायक थी उनकी यह वेशभूषा । बंगलादेश के स्वतन्त्र होने का पूर्वाभास उन्हें हो गया था । यह कहना असत्य न होगा कि इस सम्भावना को साकार करने के लिये नींव भरने का कार्य उन्हीं जैसे लोगों ने किया था ।

उनकी इन गतिविधियों को देखते हुए- पाकिस्तान सरकार ने भी उन्हें वर्षों तक नजरबन्द बनाये रखा यह भी एक विचित्र संयोग था कि वे १९७० में तीन महीने के लिये भारत आये और यहीं १ अगस्त, १९७० को दिल्ली में उनका देहावसान हो गया । भारत भ्रमण के लिये वे चौदह वर्ष तक पाकिस्तान सरकार से स्वीकृति लेने के लिये प्रयत्नशील रहे पर स्वीकृति भी उस समय मिली कि वे पुनः पाकिस्तान लौट ही न सके और उसके दो वर्ष बाद तो उस धरती से पाकिस्तान का नाम ही उठ गया । उनका यह संघर्षशील व्यक्तित्व अन्याय, अनीति से जीवनपर्यन्त जूझने की अनूठी कहानी है जो प्रेरक भी है और रोमांचक भी ।

असहयोग के आद्य प्रवर्तक—

बाबा रामसिंह

महाराज रणजीतसिंह की फौज में एक बीस वर्षीय उत्साही देशभक्त नौजवान भर्ती हुआ । हृदय में राष्ट्रप्रेम का ज्वार लहरा रहा था । दिल्ली में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज्य था । रणजीतसिंह के साहस और शौर्य से भयभीत रहने के कारण पंजाब तो विदेशी सत्ताधीशों के कुचक्र से अछूता ही रहा था परन्तु इतने बड़े राज्य पर ललचायी दृष्टि तो थी ही ।

उधर महाराजा की फौज में कई प्रकार की कुरीतियाँ, जिनके कारण बड़े-बड़े साम्राज्य ध्वस्त होते रहे हैं देखी जा रही थीं । सिक्ख फौज की शक्ति तेजी से क्षीण होती जा रही थी । महाराजा रणजीतसिंह की दी हुई जागीरों पर ऐशो आराम की जिंदगी जीते हुए सरदार अपना चरित्र खोने लगे थे । अपने अन्तिम दिनों में महाराज भी उतने शक्तिशाली नहीं रहे थे । फौज और सरकार दोनों ही ईर्ष्या और फूट की शिकार हो चुकी थी ।

ऐसी स्थिति में उक्त नौजवान रामसिंह उदात्त आदर्श के प्रतीक कहे जा सकते हैं । फौज में उन्हें भाई रामसिंह के नाम से जाना जाता था । सामान्य सैनिकों में वे बड़े ही सम्मानित थे परन्तु उनकी निर्भीक आलोचना से सैनिक अधिकारियों की आँख में वे सदा ही खटकते रहे । सन् १८३९ में महाराजा रणजीतसिंह का देहान्त हो गया । उनके मरते ही राज्याधिकारियों की ईर्ष्या और सत्ता लिप्सा फूट पड़ी । उनको ऐसा कोई योग्य उत्तराधिकारी नहीं मिल सका जिसने उतने बड़े साम्राज्य का कुशलता से संचालन किया हो ।

फलस्वरूप अगले छह सालों में पंजाब की सात सरकारें बदलीं । समूचा शासन तन्त्र लड़खड़ा गया । युवक रामसिंह ने इससे खिन्न होकर सेना की नौकरी छोड़ दी और १८४५ में नौकरी छोड़कर अपने गाँव आ गये । यहाँ जीवकोपार्जन के लिए उन्होंने एक किराने की दुकान खोल ली ।

प्रत्यक्ष में रामसिंह सार्वजनिक जीवन से विरत होने लगे परन्तु उनका वास्तविक देश-भक्त अब एक नयी दिशा में मोड़ ले रहा था । किराने की दुकान पर उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से बँधकर बहुत से लोगों ने देश सेवा की प्रेरणा पायी । परम्परागत सिक्ख वेषभूषा और मुख-मण्डल पर चमकती हुई ईश्वर-निष्ठा की दीप्ति ने उनके व्यक्तित्व को एक उत्कृष्ट, प्रभावशाली और तेजस्वी स्वरूप प्रदान किया । यहाँ पर वे आगन्तुकों को धर्मोपदेश की शैली में राष्ट्रभक्ति की शिक्षा देते । लोगों के हृदय में उनके प्रति अगाध स्नेह और सम्मान बस गया । जिसके कारण वे सर्व साधारण में 'बाबा' के नाम से लोकप्रिय हो गये । उनकी पत्नी और पुत्री भी दिन भर दुकान का काम सम्हालती । दुकान का काम तो नाम भर को था । वस्तुतः बाबा इसके माध्यम से लोगों को विशेषकर युवा वर्ग को नयी जीवन-दिशा देते थे। दुकान पर आगन्तुकों के खान-पान और रहने के लिये 'गुरु का लंगर' चलने लगा।

पंजाब में उस समय महाराज दलीपसिंह का राज्य चल रहा था । अंग्रेजों ने पंजाब पर आक्रमण कर दिया । परिणाम वही हुआ । पंजाब का विशाल साम्राज्य अंग्रेजों के हाथ में चला गया । अंग्रेजों की चाल में आकर महाराज दलीप इंग्लैण्ड चले गये और बाद में वे ईसाई भी हो गये ।

इतना सब कुछ होने पर भी पंजाब को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं हुई । जिन सिक्ख धर्मानुयायियों ने मुगल सत्ता के दाँत खट्टे किए थे । गुरु गोविन्द सिंह के युग की सिक्ख जाति का जोश ठण्डा हो चुका था । अंग्रेज सरकार ने क्षेत्रीय रियासतों को कायम रख के सिक्ख नेताओं को अपनी ओर फोड़ लिया था । रस्मो-धर्म निभाने और अपनी जागीर को बनाये रखने के लिए अंग्रेज अधिकारियों की खुशामद करते रहना ही उनका काम था ।

बाबा रामसिंह के लिए यह सब असह्य था । सिक्ख सरदारों की भ्रष्टता और सिक्ख-पन्थ की गौरवशाली परम्परा दोनों की तुलना करते हुए उनका हृदय एक साथ क्षोभ और आक्रोश से भर उठता । क्षोभ और आक्रोश भरी इसी मनःस्थिति में उन्होंने विशुद्ध वीरों की सेना गठित करने की आवश्यकता अनुभव की । अंग्रेजी दासता से मुक्त होने के लिए उनका हृदय छटपटाने लगा ।

अपने इस विचार को तुरन्त कार्यरूप में परिणित करने के लिए बाबा ने स्वतन्त्रता का महत्व धर्म ग्रन्थों के दृष्टान्त-उदाहरण दे देकर प्रचारित करना आरम्भ कर दिया। सिख जाति में जो मूर्च्छा फैल रही थी उससे वह धीरे-धीरे जागने लगी। इन्हीं दिनों १८५७ का स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा गया। बाबा इसे सफल होते देखना चाहते थे परन्तु उसकी सफलता में उन्हें विश्वास नहीं था। कारण यह था कि जनता में जब तक क्रोध की तड़प न पैदा हो जाय किसी भी शक्तिशाली 'सरकार के प्रति विद्रोह' सफल नहीं हो सकता। जन-आक्रोश को भड़काने के लिये वे चरित्र की उत्कृष्टता और शक्ति को आवश्यक मानते थे। दुर्भाग्य से तत्कालीन जनता इन सद्गुणों से वंचित थी और बाबा के पास भी जनशक्ति का लगभग अभाव ही था। फलस्वरूप उन्होंने इस संग्राम में भाग नहीं लिया।

क्रान्ति की असफलता ने बाबा के सामने क्रान्ति दर्शन के नये-नये आयाम प्रस्तुत किये। उन्होंने अपनी गति-विधियों को और अधिक बल दिया। बाबा ने अपने अनुयायियों को संगठित करने के लिए- 'नामधारी पन्थ' की घोषणा की।

तीन वर्षों में ही बाबा के अनुयायियों की संख्या साठ हजार हो गयी। उनके अनुयायी सीधी पगड़ी बाँधते, सफेद खद्दर के कपड़े पहनते, तलवार रखने की तो मनाही थी इसलिए एक टकुआ रखते। नामधारियों के लिए माँस और शराब वर्जित थे। उस समय जबकि पूरे पंजाब में इनका प्रचलन आम हो गया था, नामधारी अलग ही दीखते। अनेक शिष्यों ने इस पन्थ को अपनी सारी सम्पदा अर्पित कर दी। बहुत से धनाढ्य और जागीरदार अपनी जमीन-जायदादें बेचकर नामधारी पन्थ में सम्मिलित हो गये। उत्तरोत्तर यह पथ गति पकड़ता गया। फलस्वरूप अगले दस वर्षों में इनकी संख्या तीन लाख से भी ऊपर हो गयी।

अब बाबा ने अपने शिष्यों के लिए अगला कार्यक्रम रखा। अंग्रेजी स्कूलों की संख्या दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। जहाँ भारतीय संस्कृति और धर्म से विमुख करने वाली पतनकारी शिक्षापद्धति का बोलबाला था। नामधारियों ने जगह-जगह अपने स्कूल खोले जहाँ मातृभाषा में शिक्षा दी जाती और राष्ट्रीयता तथा देशप्रेम की भावनाएँ बालकों में कूट-कूट कर भरी जाने लगीं। विश्व के इतिहास में बाबा ने पहली बार नये प्रकार का रचनात्मक विरोध किया। सरकारी डाकखानों और रेलों का भी बहिष्कार किया जाने लगा। इतना ही नहीं इस पंथ के लोगों ने अपनी एक अलग डाक व्यवस्था बना ली। शासन तन्त्र के समान ही डाक व्यवस्था इतनी दक्षता से चलाई जाने लगी कि सरकार भी दंग रह गयी। महात्मा गाँधी द्वारा सन् १९२१ में चलाया जाने वाला असहयोग आन्दोलन भी इतना सफल नहीं रहा होगा जितना कि बाबा द्वारा चलाये जाने वाला यह आन्दोलन। इसमें मात्र नाम का ही अन्तर रहा कि महात्मा गाँधी ने अपने आन्दोलन का नामकरण कर दिया। परन्तु असहयोग आन्दोलन के आद्य-प्रवर्तक के रूप में बाबा रामसिंह स्वयमेव ही प्रतिष्ठित हैं।

सारे नामधारी सिखों ने वर्षों तक अंग्रेजी अदालतों और अन्य दूसरी सरकार संस्थाओं का बहिष्कार किये रखा। न्याय और अन्य प्रकार की सार्वजनिक व्यवस्थाओं के लिए जगह-जगह पंचायतें कायम कर ली गयीं। जहाँ इस प्रकार के आपसी विवादों का निपटारा किया जाता। रूस, नेपाल, कश्मीर और काबुल में उन्होंने अपने दूतावास कायम कर लिए। बाबा का यह आन्दोलन धार्मिक पृष्ठभूमि पर चलाया जा रहा था और उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि धर्म-सत्ता की शक्ति राज्य-सत्ता की शक्ति से किसी भी प्रकार कम नहीं है वरन् उससे ज्यादा बढ़-चढ़ कर ही है।

बाबा ने नामधारियों के सैनिक प्रशिक्षण का भी क्रम बनाया। कई सैनिक शिक्षण पाने के लिए कश्मीर की फौज में भरती हो गये। इस प्रकार आम लोगों में विदेशी शासन के प्रति नफरत पैदा होने लगी। पर अंग्रेज शासन बाबा के प्रभाव को देखते हुए उनके विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा पा रहा था। नामधारी पन्थ का धार्मिक स्वरूप जन-आस्था का प्रतीक बन चुका था। इधर पुलिस अधिकारी बार-बार सरकार को यह चेतावनी दे रहे थे कि यह संस्था सन् १८५७ के विप्लव से भी ज्यादा खतरनाक स्थिति पैदा कर देगी।

अन्ततः पुलिस अधिकारियों की यह आशंका सत्य सिद्ध हुई। नामधारी सूत्रों ने विद्रोह की घोषणा कर दी थी। बूचड़खानों में प्रतिदिन कई हजार गायें कटतीं। १८७१ में नामधारियों ने अमृतसर के बूचड़खानों पर हमला बोल दिया। इस मौके का फायदा उठाकर सरकार ने बाबा जी को गिरफ्तार कर लिया। अब तो कूके और भी भड़क उठे। मलोह और मलेर कूटला रियासत के नवाब पर हमला बोल दिया। उनकी योजना थी कि इन रियासतों से हथियार लूटकर बड़े पैमाने पर क्रान्ति की जाय। परन्तु यह योजना अंग्रेजों की कुटिल नीति के कारण असफल रही। इस विद्रोह को दबाने के लिए कड़ा दमन चक्र चलाया गया। लुधियाना में कई क्रान्तिकारी नामधारियों को तोपों के सिरों पर बाँधकर पाशविक तरीके से मरवा दिया गया। १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम के बाद का यह दूसरा संग्राम भी बुरी तरह विफल हुआ।

बाबा जी को बिना मुकदमा चलाये ही देश-निर्वासन की सजा दी गयी और वे बर्मा भेज दिये गये। नामधारी फिर भी हिम्मत नहीं हारे। उनकी संख्या बढ़ती ही गयी। बर्मा से बाबाजी डाक आदि के माध्यम से अपने सन्देश भेजते रहे। जिन्हें उनके शिष्य देश के विभिन्न

इलाकों में पहुँचाते रहे । कुछ सिक्ख विदेश भी गये ताकि वहाँ से मदद पा सकें ।

परन्तु पहले विफल प्रयास के बाद इतना सशक्त कदम नहीं उठाया जा सका । १८८५ में बाबा जी का देहान्त हो गया फिर भी आत्मा की अमरता में विश्वास रखने वाले कूके, बाबा को सदैव अपने आस-पास जानकर संघर्ष करते रहे । परन्तु बाबा का साहस और शौर्य किसी प्रकार विफल नहीं कहा जा सकता । उन्होंने लाखों निरुद्देश्य मनुष्यों के जीवन को नयी दिशा दी । जिसके कारण वे सहज ही महामानव की पंक्ति में गिने जाते हैं ।

वीर सेनानी—

सुखवीर सिंह और मथुरादास

सितम्बर १९६५ । पाकिस्तान द्वारा भारत की पवित्र भूमि पर आक्रमण, सीमा पर घमासान युद्ध जारी था । बर्की मोर्चे पर शत्रु की चौकी को अपने कब्जे में करने का काम ले० सुखवीर सिंह को सौंपा गया । सुखवीर के नेतृत्व में भारतीय जवान शेर की तरह आगे बढ़ते जा रहे थे । दुश्मन की तोपें गोले बरसा रही थीं ।

अचानक एक गोला सुखवीर के साथी पर गिरा । वह अपने साथी को उठाकर जैसे ही आगे बढ़े कि उनके सीने में गोली आकर लगी और वह वहीं गिर गये। उनके साथियों ने तुरन्त उठाकर चिकित्सालय ले जाने की तैयारी की पर उस सपूत ने जाने से मना कर दिया उसने अपने घाव पर स्वयं ही पट्टी बाँध ली और तोपों को पीछे ढकेलते हुये तूफानी गति से आगे बढ़ने लगे । शरीर से रक्त की धारा प्रवाहित हो रही थी । पर सुखवीर के पास इतना समय नहीं था कि अपने शरीर से निकलने वाले रक्त को देखें और एक क्षण रुक कर उसके उपचार की बात सोचें।

उसके सामने केवल एक ही लक्ष्य था । उसी की धुन पर सवार थी कि किसी प्रकार शत्रु की चौकी को कब्जे में करके उस पर तिरंगा झण्डा फहराया जाये ।

ले० सुखवीर सिंह के अपने प्राणों के मोह को त्याग कर शत्रु सैनिकों को पीछे खदेड़ दिया और जिस चौकी को कब्जे में करने का आदेश दिया था, उस पर कब्जा करके अपना झंडा फहरा दिया । लहराते हुये तिरंगे ध्वज को देखकर उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । वह भारत माँ का लाड़ला सदैव के लिए उसकी गोदी में सो गया ।

चण्डी की पर्वत माला से संत मथुरादास को डोली में लिटाकर कनखल के 'रामकृष्ण सेवा आश्रम' में लाया गया । स्वास्थ्य उनका अधिक खराब था । उठना-बैठना तक मुश्किल था । चिकित्सकों द्वारा जाँच करने पर पता लगा कि उनकी जाँघ तथा पेट में मवाद भरा है दोनों ही बुरी तरह पक गये ।

उन्हें आपरेशन टेबिल पर लिटाया गया और क्लोरोफार्म सुँघाने के लिए उपकरण लाकर नाक के पास रखे । उन्होंने देखा तो डॉक्टर से पूछा । डॉक्टर ने उत्तर दिया, "महात्मा जी! यह क्लोरोफार्म है, इसके सूँघने से बेहोशी आ जायेगी और आपका आपरेशन आसानी से किया जा सकेगा आपको किसी प्रकार का कष्ट भी न होगा ।"

संत ने कहा " इन सब वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं । इसे उठाकर रख दीजिये और आप आपरेशन कीजिये । मेरे आपरेशन में शरीर का कोई हिस्सा न हिलेगा और न डुलेगा आप अच्छी तरह अपना कार्य कर सकेंगे, डॉक्टर को संत की बात माननी पड़ी । डॉक्टर ने चाकू उठाकर संत की जाँघ में लगभग एक फुट लम्बा चीरा लगा दिया । उसमें मवाद ही मवाद भरा हुआ था । लगभग एक बाल्टी मवाद निकला ।

एक चीरे से काम न चला तो दूसरे स्थान पर भी उतना ही बड़ा एक चीरा और लगाना पड़ा, पर संत टस से मस न हुये उनके मुँह से किसी ने आह तक न सुनी । मवाद निकालने के बाद घाव पर पट्टी बाँधी गई । सारा काम समाप्त हो जाने पर वह अन्यत्र जाने को तैयार हो गये । चिकित्सकों तथा अन्य व्यक्तियों के विशेष आग्रह पर वह कुछ दिनों के लिये वहाँ रुकने को तैयार हुए । व्यक्ति अपने ध्यान को एकाग्र करके असहनीय पीड़ा को भी सहन कर सकता है ।

उत्कट देशभक्ति के प्रतीक महामानव

युग-दृष्टा राजर्षि–गोखले

श्री गोपालकृष्ण गोखले के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए महात्मा गाँधी ने लिखा है–लोकसेवकों को कैसा होना चाहिए, इसकी जो कल्पना मूर्ति मैंने अपने मन में बसा रखी है उस आदर्श के साकार स्वरूप श्री गोखले थे । वे स्फटिक जैसे निर्मल, गाय जैसे सरल, सिंह जैसे शूर थे । उदारता इतनी अधिक थी कि उसे दोष भी माना जा सकता है । मुझे उनके व्यक्तित्व में कहीं रत्ती भर भी दोष नहीं दीख पड़ा । मेरी दृष्टि से राज-नेताओं के क्षेत्र में वे एक आदर्श व्यक्ति थे ।

ओछे व्यक्तित्व के मनुष्य कभी बड़े काम नहीं कर सकते । जिस चतुरता के बल पर वे नामवरी और सफलता कमाने की आशा लगाते हैं, अन्त में वही उन्हें धोखा देती है । ओछापन देर तक छिप नहीं सकता और जब वह प्रकट होता है तो अपने ही पराये बन जाते हैं और वे लोग जो आरम्भ में उनकी प्रशंसा किया करते थे वे ही अन्त में निन्दक, असहयोगी बन जाते हैं । यों सीमित दायरे में जीवन क्रम रखने वाले को भी वैयक्तिक सफलताओं के लिए उदात्त दृष्टिकोण ही रखना अपेक्षित है पर जिसे सार्वजनिक क्षेत्र में काम करना हो उसे ओछापन छोड़कर उदारता और साधुता का ही अवलम्बन करना चाहिए । व्यक्तिगत उत्कृष्टता के अभाव में मनुष्य के सारे गुण निरर्थक सिद्ध होते हैं । विशेषतया सार्वजनिक कार्यकर्त्ता की सफलता तो संदिग्ध ही हो जाती है । धूर्तता के बल पर कोई व्यक्ति लोकनेता के पद पर देर तक आसानी से नहीं रह सकता, भले ही वह किसी प्रकार उसे कुछ समय के लिए प्राप्त करने में सफल हो जाय ।

गाँधीजी जौहरी थे । वे मनुष्यों को परखते थे । गुणों के आधार पर नहीं, व्यक्तित्व के आधार पर, गोखले को उसने परखा तो खरा पाया और सच्चे मन से उनके अनुयायी हो गए । वे उन्हें अपने राजनैतिक गुरु के रूप में मानते थे और अपनी गतिविधि निर्धारित करने में उनसे बहुत प्रकाश ग्रहण करते थे ।

ऋषि शब्द की व्याख्या करते हुए यही कहा जा सकता है कि मानव जीवन की समस्याओं पर जो समग्र रूप से विचार कर सके, युग के अनुरूप अपना कर्तव्य निर्धारित कर सके, गिरों को उठाने के लिए जिसके मन में तड़पन उठती हो और स्वयं तपस्वी जीवन बिताते हुए दूसरों को सुखी बनाने का प्रयत्न करे वह ऋषि है । काका कालेलकर ने पिछले दिनों भारत में जन्मी विभूतियों में से देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रानाडे, अण्णासाहब पटवर्धन, स्वामी विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती, स्वामी श्रद्धानन्द, गोखले, गाँधी, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, एनी बेसेण्ट आदि महामानवों को ऋषि श्रेणी में गिना है । गोखले सचमुच इसी श्रेणी के ऋषि हुए हैं ।

वे सच्चे ब्राह्मण थे । राजनीति में धर्म का प्रवेश उन्होंने आवश्यक माना और इसके लिए अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न करते रहे । एक बार एक संन्यासी उनके पास आए और ब्राह्मण होने की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करने लगे । गोखले ने उत्तर दिया यदि किसी वंश में जन्म लेने के कारण मुझे श्रेष्ठ माना जाय तो ऐसी श्रेष्ठता को दूर से ही मेरा नमस्कार है । मनुष्य गुणों में श्रेष्ठ बन सकता है फिर चाहे वह किसी देश, जाति या वर्ग का क्यों न हो । गोखले ब्राह्मण कुल में जन्मे थे पर उनकी श्रेष्ठता जन्म में नहीं कर्म में सन्निहित थी ।

उस महामनीषी ने गरीबी जन्मजात ईश्वरीय वरदान के रूप में पायी और उसे वे आजीवन प्रेमपूर्वक छाती से लगाये रहे । महाराष्ट्र के रत्नगिरी ,जिले के एक छोटे से गाँव में वे जन्मे थे । छोटी आयु में ही पिताजी का स्वर्गवास हो गया । विधवा माता, चार बहिनें और दो भाई सात प्राणियों के गुजारे के लिए कोई साधन न था तो उनके बड़े भाई को पढ़ाई छोड़कर १५) मासिक की नौकरी करनी पड़ी । उदार बड़े भाई ने अपने छोटे भाई की पढ़ाई बन्द न होने दी । उसे कोल्हापुर पढ़ने भेजा और उस १५) में से सात रुपये में पूरे परिवार का खर्च चलाकर आठ रुपये गोखले को पढ़ाई का खर्च देते । गरीबी ने उन्हें अनेकों गुण दिये । अमीरों के बच्चे पैसे का मूल्य नहीं समझ पाते और सुविधाओं की अधिकता के कारण व्यक्तित्व को विकसित करने वाली विशेषताओं से वंचित रह जाते हैं । गरीबी से उत्पन्न कठिनाइयाँ मनस्वी व्यक्ति को सतर्क, कर्मठ और सद्गुणी भी बनाती हैं । उनसे दब तो वे लोग जाते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति की तरह मानसिक स्थिति और भी दयनीय होती है ।

अच्छी श्रेणी में उन्होंने बी० ए० पास किया । उस जमाने में उच्च शिक्षा तो नाममात्र की थी । इतने पढ़े लोगों को ऊँची सरकारी नौकरी या धन कमाने के अनेकों मार्ग खुले हुए थे । पर गोखले ने तो विद्या किसी और ही उद्देश्य के लिए पढ़ी थी । वे उसे नर नारायण की सेवा का एक साधन बनाना चाहते थे । उनके जैसे ही भावनाशील व्रतधारी लोगों ने मिलकर अशिक्षा दूर करने के लिए 'दक्षिण शिक्षा समिति' स्थापित की । उसके आजीवन सदस्यों को ३५) मासिक पर, सदा काम करते रहने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी । गोखले उसके सदस्य बने और समिति द्वारा संचालित फर्गुसन कॉलेज में बीस वर्ष तक निष्ठापूर्वक अध्यापन करते हुए, देश सेवा के लिए नई पौध बनाने में लगे रहे । लोकमान्य तिलक के स्तीफा दे देने पर उन्हें गणित भी पढ़ाना पड़ा, यों राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि विषयों को वे पहले पढ़ाते थे ।

परिस्थितियों ने कॉलेज के बाहर भी उनकी सेवाओं की आवश्यकता अनुभव की और उनका क्षेत्र धीरे-धीरे समाज सेवा, पत्रकारिता और राजनीतिक दिशा में अग्रसर होने लगा । अनेक पत्रों में वे नवचेतना उत्पन्न करने वाले लेख लिखा करते और कुछ ही दिनों में 'राष्ट्रसभा समाचार' का सम्पादन भार भी उन्हीं पर आ पड़ा । न्यायमूर्ति रानाडे द्वारा स्थापित 'सार्वजनिक संस्था' के मन्त्री चुने गये । कार्यभार की अधिकता देखते हुए रानाडे से १५०) मासिक वेतन लेने का अनुरोध किया पर उन्होंने २२ वर्ष की आयु में ३५) में काम चलाते रहने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका उल्लंघन करना उचित न समझा और अनुरोध को अस्वीकार करते हुए स्वल्प वेतन पर गरीबी के साथ गुजर करते रहे ।

लोकसेवा में अपना जीवन उत्सर्ग करने वाले जन-सेवकों की निर्वाह व्यवस्था करने के लिए 'सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसायटी' की स्थापना की । एक से एक आदर्शवादी और राजनैतिक संन्यासी उस आश्रय से व्यक्तिगत जीवन की आर्थिक समस्याओं से निश्चिन्त होकर जनसाधारण के काम में जुट गये । कहना न होगा कि सोसाइटी के सदस्यों ने भाषण, लेखन, कला, रचनात्मक कार्य द्वारा जनजीवन में नव-जागरण की ऐसी आग फूँकी जो राजनैतिक पराधीनता समाप्त होने तक कभी बुझने न पाई ।

राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने प्रवेश किया तो अपनी सूझ-बूझ, प्रतिभा और व्यक्तित्व के बल पर आशाजनक कार्य कर दिखाया । राष्ट्रीय महासभा कॉंग्रेस में प्रवेश करके उन्होंने उसका संगठन मजबूत किया, शक्ति बढ़ाई और उसे सही दिशा में तेजी से बढ़ाया जिस पर चलते हुए 'स्वराज्य' को प्राप्त करने के लिए पथ प्रशस्त हो सके । बम्बई प्रान्तीय कॉंग्रेस के मन्त्री, फिर कॉंग्रेस महासमिति के संयुक्त मंत्री बने और १९०५ में अ० भा० कॉंग्रेस के बनारस अधिवेशन में वे अध्यक्ष चुने गये । दक्षिण अफ्रीका से गाँधीजी को निमन्त्रण देकर उन्होंने भारत बुलाया और उनके हाथ में जननेतृत्व सौंपने की अन्तर्भूमिका बड़ी कुशलता से उन्होंने पूरी की ।

भारत में प्लेग, हैजा फैला तो पीड़ितों की सहायता के लिए जी जान से जुटे रहे । उस समय भयानक दुर्भिक्ष में क्षुधार्तों के लिए उन्होंने कुछ उठा न रखा । बंग-भंग आन्दोलन और तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन में उन्होंने आगे बढ़कर भाग लिया । दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा वहाँ के भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध गाँधी जी द्वारा आरम्भ किए अभियान में सहायता करने वे अफ्रीका पहुँचे और ब्रिटिश सरकार को भारत के प्रति उदार नीति बरतने की प्रेरणा देने के लिए कई बार इंग्लैण्ड की यात्रा की । बम्बई धारा सभा के सदस्य निर्वाचित हुए और पीछे दिल्ली की केन्द्रीय सभा के सदस्य भी चुन लिए गये । अँग्रेजी सरकार द्वारा भारत के दोहन का वे निरन्तर भण्डाफोड़ करते और उस प्रयत्न में लगे रहे कि भारतीय जनता को सरकार द्वारा उपयोगी कार्यों का अधिकाधिक लाभ मिले । उस समय की परिस्थितियों में सरकार को झुकाने के लिए जितना कुछ सम्भव था वे नरम और गरम तरीके अपनाकर भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में संघर्ष करते रहे । जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ उन्होंने डटकर विरोध करने में भी संकोच न किया । उस समय के वायसराय लार्ड कर्जन उन्हें अपना 'समवयस्क' प्रतिद्वन्द्वी माना करते और कहा करते थे,'उनके सम्पर्क में अब तक जितने भी मनुष्य आये, उनमें गोखले ही सबसे अधिक मजबूत और बलवान हैं ।''

''जो मिले उसे प्राप्त करो और आगे के लिए संघर्ष जारी रखो'' उस समय की राजनीति का यही केन्द्र बिन्दु था जो परिस्थितियों को देखते हुए उचित भी था । ब्रिटिश सरकार पर भरसक दबाव डालकर उन्होंने मार्ले-मिण्टो सुधार घोषणा कराई, जिसके अन्तर्गत भारत को कुछ अधिक अधिकार मिले । दक्षिण अफ्रीका में गाँधी-स्मट्स समझौता उन्होंने कराया और भारतीयों को कुछ राहत मिली । कॉंग्रेस के नरम और गरम दलों में समझौता करा सकना उनकी ही सूझ-बूझ का फल था । वे लड़ना जानते पर जहाँ समझौते का अवसर आता उससे चूकते न थे । देश के कोने-कोने में भ्रमण करके उन्होंने राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने वाले असंख्य भाषण दिये । देश को संगठित करने और भावनात्मक एकता उत्पन्न करने के लिए उनके प्रयास निरन्तर चलते रहे । उन्होंने भारत के एक सच्चे देशभक्त के रूप में जीवन का प्रत्येक दिन लोकहित के लिए अर्पित करने में ही सौभाग्य समझा ।

व्यक्तिगत जीवन की तरह ही वे सार्वजनिक जीवन में भी ईमानदार थे । ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक बयान में उन्होंने एक बार ऐसे आरोप लगाये जो पीछे जाँच करने पर असत्य निकले । अपनी गलती के लिए उन्होंने सार्वजनिक रूप से खेद प्रकट किया । यों उस समय के नेता उनके इस माफी माँगने से रुष्ट हुए और कुछ समय तक वे साथियों द्वारा उपेक्षित होने पर एकाकी पड़ गये, पर इसका उन्हें जरा भी दुःख न हुआ । सच्चाई उनकी दृष्टि में सबसे बड़ी बात थी । राजनीतिक लाभों के लिए वे सच्चाई की उपेक्षा नहीं कर सकते थे । उनकी राजनीति में धर्म के लिए प्रमुख स्थान था ।

गोखले ने राष्ट्रीय कार्यों के लिए प्रचुर धन एकत्रित किया और उसका विभिन्न कार्यक्रमों में उपयोग भी हुआ । पर उनके व्यक्तिगत जीवन के लिए फर्गुसन कॉलेज से सेवा निवृत्त होने पर जो २४) मासिक पेन्शन मिलती थी, वही पर्याप्त हो जाती । जिस गरीबी से उन्होंने जीवन आरम्भ किया उसे ही उन्होंने जीवन भर अपनाये रखा और केन्द्रीय सभा की सदस्यता आदि से कभी कुछ अतिरिक्त आय हो जाती तो उसे जरूरतमन्दों को उदारतापूर्वक दे डालते । गोपाल कृष्ण गोखले राजनेता के रूप में प्रख्यात हैं पर वस्तुतः वे एक ऋषि थे । सच्चे ब्राह्मण की तरह उन्होंने जनता जनार्दन की उपासना के लिए विश्व मानव को सत्य

शिवं सुन्दरम् से समलंकृत करने की आराधना के लिए अहर्निशि निष्ठापूर्वक कार्य किया। ऋषि ऐसे ही लोगों को तो कहते हैं—वेश में नहीं कर्म में उनका ऋषित्व देखा और परखा जा सकता था। ऐसी ही विभूतियों से इस महान देश का मस्तक ऊँचा होता चला जाता है और आगे होता रहेगा।

सत्य की रक्षा

गोपालकृष्ण गोखले तब विद्यार्थी थे। एक दिन की बात है कि कक्षा अध्यापक ने गणित का एक प्रश्न पूछा—प्रश्न थोड़ा कठिन था इसलिये कोई भी विद्यार्थी उसे हल नहीं कर पाया।

एक गोपाल कृष्ण ऐसे विद्यार्थी थे जिन्होंने प्रश्न का सही उत्तर बता दिया। उससे अध्यापक को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने इसके लिए गोपाल कृष्ण को पुरस्कृत भी किया। किन्तु पुरस्कार प्राप्त करने के साथ ही उनकी मानसिक बेचैनी और अशान्ति बढ़ती ही गई। घर पहुँचकर तो उनकी अशान्ति और भी तीव्र हो उठी। रात कठिनाई से बिता पाये उन्हें अच्छी तरह नींद भी नहीं आई।

गोपाल कृष्ण दूसरे दिन विद्यालय पहुँचे और सीधे अध्यापक के कमरे की ओर चले गये। पुरस्कार वापस करते हुए बालक गोखले ने निवेदन किया—गुरुजी! इस पुरस्कार का अधिकारी मैं नहीं उत्तर तो मैंने दूसरे विद्यार्थी से पूछकर बताया था। इसलिये यह पुरस्कार तो उसे ही मिलना चाहिए।

अध्यापक महोदय ने गोपाल के इस साहस की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने सब विद्यार्थियों को एकत्रित करके समझाया—जो लोग सत्य से विमुख आचरण करते हैं उनकी झूठ पकड़ में न भी आये तो भी इसी तरह अशान्ति होती है जैसे गोपाल कृष्ण गोखले को हुई।

लेकिन फिर भी पुरस्कार गोपाल कृष्ण गोखले को ही लौटाते हुए अध्यापक ने कहा—इस पर अब तुम्हारा वास्तविक अधिकार हो गया है क्योंकि तुमने सत्य की रक्षा की है।

कृतज्ञता के प्रतीक

गाँधीजी के राजनैतिक गुरु देशमान्य गोपाल कृष्ण गोखले बचपन में बहुत गरीब थे। जैसे-तैसे स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद जब कॉलेज की पढ़ाई का समय आया तो खर्चे का प्रश्न उपस्थित हुआ। गोखले के बड़े भाई गोविन्दराम को अपने छोटे भाई की योग्यता और प्रतिभा पर पूरा विश्वास था। उन्होंने कहा—"मैं मेहनत-मजदूरी करके भी छोटे भाई को अवश्य पढ़ाऊँगा।" बड़े भाई की पत्नी ने देवर के लिये अपने गहने तक बेचकर प्रारम्भिक फीस आदि का प्रबन्ध किया और उन्हें राजाराम कॉलेज कोल्हापुर में दाखिल कर दिया।

बड़े भाई गोविन्दराव उस समय १५) रुपये प्रतिमास कमाते थे। उसमें से ७) वे छोटे भाई को मासिक खर्च के लिये नियमित रूप से भेज देते थे। गोखले इन रुपयों में बड़ी किफायतदारी से अपना निर्वाह करते थे। बी॰ए॰ हो जाने पर गोखले जी को ३५) रुपये मासिक पर एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल गई। इस वेतन में से वे प्रतिमास २०) रुपये अपने भाई को नियमित रूप से भेजने लगे। वे जीवन भर अपने भाई-भाभी के त्याग और उपकार को नहीं भूले थे। ऐसे थे गाँधी जी के गुरु श्री गोपाल कृष्ण गोखले।

बचत करके काम चलाया

पढ़ाई के दिनों में गोखले को गुजारे के लिए बहुत कम पैसे मिलते थे। अकेले भाई ही उनकी सहायता करने वाले थे। एक दिन गोखले का धनी मित्र कहीं से नाटक के दो टिकट ले आया और उन्हें भी नाटक दिखाने ले गया। दूसरे दिन शाम को फिर आया तो उनसे उस टिकट के पैसे माँगने लगा। गोखले को अपने मित्र के स्वार्थपूर्ण व्यवहार पर बड़ा खेद हुआ, साथ ही आश्चर्य भी।

गोखले ने मित्र से तो कुछ भी न कहा। जितने पैसे उसने माँगे, उन्होंने चुपचाप निकालकर दे दिये। अब आखिर इस आकस्मिक व्यय के लिये अपने अन्य आवश्यक खर्चों में कटौती करनी थी। संकोचवश भाई को पत्र लिखकर और पैसे न माँगा सके। अतः कितने ही दिनों तक गली में लगे नगरपालिका के लैम्प के प्रकाश में अपनी पढ़ाई करनी पड़ी और इस प्रकार उन्होंने शाम को लालटेन में जलने वाले तेल की बचत कर ली।

जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नूतन गति दी

गुरु गोलवलकर

प्रस्तावित द्विराष्ट्र के सिद्धान्त के समय से ही विभाजन के पूर्व से ही पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किये जाने लगे थे। १९४७ के मार्च महीने में तो स्थिति इतनी भीषण हो गयी थी कि केवल अमृतसर में ही लूटमार, आगजनी और हत्याओं के ९९४ मामले दर्ज कराये गये। करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट कर दी गयी और रावलपिण्डी, लाहौर, गुजरांवाला आदि स्थानों पर हिन्दुओं के मौहल्ले जला दिये गये। ऐसे समय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं के स्वयंसेवकों ने पीड़ित जनों को यथासम्भव सुरक्षा की। उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने से लेकर अन्न-वस्त्र, दवाइयाँ आदि देने के लिए स्वयंसेवकों के जत्थे के जत्थे गये। आग बुझाने के लिए अग्निशामक दल बनाये गये और लोगों को आत्मरक्षा के लिए प्रशिक्षित किया गया।

१० अगस्त, १९४७ को विभाजन की जब विधिवत् घोषणा कर दी गयी। पाकिस्तान में हिन्दुओं पर किये जाने वाले नृशंस अत्याचारों ने और भी वीभत्स रूप धारण कर

लिया। उस समय उपलब्ध सभी स्वयंसेवकों को अल्प संख्यकों की सुरक्षा के लिए झोंक दिया गया। कहना नहीं होगा कि उन्मादग्रस्त साम्प्रदायिक तत्वों के हाथों कई स्वयंसेवक भी वीरगति को प्राप्त हुए।

उन्हीं दिनों कश्मीर का वातावरण भी बिगड़ा । पाकिस्तान का निर्माण होते ही कई कबायली कश्मीर में घुस आये। रियासत में इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वह कबालियों का सामना कर सके । ऐसे समय में संघ के स्वयंसेवक आगे आये और उन्होंने पाकिस्तानी आक्रमणों का सामना किया। कश्मीर की सरकार से मदद माँगी और भारतीय सेना ने जम्मू-कश्मीर की सहायता का निश्चय किया। भारतीय सेना के विमान जम्मू के जिस अड्डे पर उतरते थे वह हवाई अड्डा बहुत छोटा था और वहाँ विमान उतर नहीं सकते थे अतः संघ के पाँच सौ स्वयंसेवकों ने रात दिन एक कर बिना कुछ लिए केवल सात दिन में ही विमान अड्डे को विमान उतारने योग्य बड़ा बना दिया। स्वयंसेवकों की इस सेवा लगन को भारत सरकार के एजेण्ट जनरल कुँवर दिलीप सिंह ने मुक्त-कण्ठ से सराहा।

कश्मीर को कबायलियों के आक्रमण और पाकिस्तानी शिंकजों से मुक्त कराने में सैकड़ों स्वयंसेवक शहीद हुए। इसके अतिरिक्त सन् १९४७ में भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ताओं ने गुरुजी के निर्देश पर दिल्ली में भी सराहनीय सेवायें कीं। पूर्वी पंजाब का बँटवारा तो हो ही चुका था। लीगी तत्व इसके बाद दिल्ली में भी गड़बड़ी फैलाना चाहते थे और इसके लिए षड्यन्त्रकारी योजनायें बनायीं पर संघ के स्वयंसेवकों ने उनका पर्दाफाश ही नहीं किया उन षड्यन्त्रों को विफल करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। कहा जाता है कि उस समय पाकिस्तान का इरादा दिल्ली के लाल किले पर हरा झण्डा फहराने का था। यदि स्वयंसेवकों ने इस षड्यन्त्र का भण्डाफोड़ न किया होता तो कहा नहीं जा सकता कि आज भारत की क्या तस्वीर होती, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की ओर से यह सूचना सरदार पटेल को दी गयी थी और भारत सरकार समय पर सतर्क हो गयी।

३० जनवरी, १९४८ को दिल्ली के बिरला भवन में सायंकाल प्रार्थना सभा के लिए जाते समय गाँधीजी को किसी ने गोली मार दी। उस समय गुरुजी मद्रास में थे। तुरन्त वे वहाँ से नागपुर पहुँचे और देश भर में फैली राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की शाखाओं को तेरह दिन तक बन्द रखकर शोक मनाने का आदेश दिया। महात्मा गाँधी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उन्होंने कहा वर्तमान काल के सर्वाधिक आदरणीय महान विभूति की ऐसी नृशंस हत्या असाधारण पाशविक घटना है। मुझे इससे असह्य दुःख हुआ है और यह बात तो और भी शर्मनाक है कि ऐसा कुकृत्य करने वाला व्यक्ति हमारा ही देश बन्धु है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का सिर इस स्थिति में शोकाकुल अवस्था में लज्जा से झुक जायेगा। हत्यारे ने राष्ट्र को अगम्य क्षति पहुँचायी है और उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जाना चाहिए।

इस हत्या का सम्बन्ध संघ से जोड़ा गया और तरह-तरह के भ्रामक समाचार फैलाये गये। गुरुजी ने देश भर की शाखाओं को ऐसी परिस्थिति में शांत रहने के लिए तार द्वारा संदेश भेजे। गुंडा तत्व इस हत्या का सम्बन्ध संघ से जोड़कर स्वयंसेवकों पर अत्याचार करने लगे। गुरुजी स्वयंसेवकों को शांति तथा धैर्यपूर्वक यह सब सहन करने के लिए कहते रहे।

लेकिन देशभक्त और राष्ट्रवादी तत्वों को विस्मय तो उस समय हुआ जब एक दिन रात को बारह बजे गुरुजी के नाम पर वारण्ट जारीकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उस समय कुछेक स्वयंसेवक ही उनके साथ थे। जिनसे गुरुजी ने कहा-घबड़ाने की कोई बात नहीं है। कुछ दिनों में ही संदेह का यह पटल गल जायेगा और हम लोग निष्कलंक बाहर आयेंगे। तब तक हम पर अनेकों अत्याचार होंगे पर हमें उन्हें धैर्य और शांति के साथ सहना है। हमें पूरे संयम से रहना है और तभी हम स्वयंसेवक की कसौटी पर खरे उतरेंगे।

गुरुजी को महात्मा गाँधी की हत्या के एक अभियुक्त के रूप में कारागार में डाल दिया। जिस दिन उन्हें गिरफ्तार किया गया, उसके दूसरे दिन ही संघ को अवैध घोषित कर दिया गया। इसका कारण यह बताया गया था कि संघ हिंसा में विश्वास रखने वाली एक फासिस्ट संस्था है और उसकी हिंसा वृत्ति के शिकार अनेकों व्यक्ति हुए हैं। संघ की इसी वृत्ति के कारण देश से महात्मा गाँधी के नेतृत्व का साया उठ गया है।

इस घोषणा के बाद भी गुरुजी ने कानून और सरकार में आस्था व्यक्त करते हुए जेल से ही एक व्यक्तव्य दिया, जिसका सारांश इस प्रकार है-"सरकार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को अवैध घोषित कर उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। अतः प्रतिबन्ध हटाये जाने तक मैं संघ को विसर्जित करता हूँ। लेकिन सरकार ने संघ पर जो आरोप लगाये हैं, उन्हें मैं अस्वीकार करता हूँ।"

गुरुजी का यह वक्तव्य सर्वप्रथम एक पाकिस्तानी अखबार ने छापा था। कुछ दिनों बाद सरकार ने गुरुजी पर लगाया गया वह अभियोग वापस ले लिया, जिसमें उन्हें गाँधीजी की हत्या के षड्यन्त्र में भागीदार माना था और उन्हें नागपुर जेल में नजरबन्द कर दिया था। जेल में गुरुजी और सरदार पटेल तथा पं० नेहरू के बीच पत्र-व्यवहार चला। गुरुजी की ओर से लिखे गये पत्रों में संघ पर लगाये गये प्रतिबन्ध का अनौचित्य सिद्ध किया गया था। लेकिन इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। वस्तुतः पं० नेहरू तथा सरदार पटेल चाहते थे कि संघ का कॉंग्रेस में विलय हो जाये। इस आशय के पत्र पटेल ने लिखे भी थे। पर गुरुजी का कहना था कि संघ किसी राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए काम नहीं कर रहा है, उसका उद्देश्य तो भारतीय जनता में राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास

करना और उन्हें सुदृढ़ बनाना है । परन्तु बात इस प्रकार बनती न देख गुरुजी ने लिखा–संघ पर लगाये गये आरोप झूठे हैं यह सिद्ध हो चुका है या तो उन्हें वापस लेकर संघ पर से प्रतिबन्ध हटाया जाना चाहिए अथवा उन आरोपों को न्यायालय में सिद्ध करना चाहिए । सरकार इस प्रस्ताव को भी टाल गयी । वार्तालाप और विचार-विनिमय की सभी पहल विफल हुईं और गुरुजी को एक बार पुन: 'बंगाल प्रिजनर्स ऐक्ट' के अनुसार नागपुर जेल में कैद कर दिया गया ।

अब गुरुजी ने राष्ट्रव्यापी आन्दोलन की योजना बनायी और सत्याग्रह का आह्वान हुआ । इस आह्वान को सुनकर शहरों और गाँवों के स्वयंसेवक अपना घर परिवार तथा निजी काम-धन्धा छोड़कर, पढ़ाई-लिखाई त्याग कर सत्याग्रह आरम्भ होने की तिथि की घोषणा का इन्तजार करने लगे । जब तिथि की घोषणा हुई तो हजारों स्वयं-सेवक अपने ही देश में सत्याग्रह के समरांगण में कूद पड़े । बताया जाता है कि उस समय कोई अस्सी हजार स्वयंसेवक गिरफ्तार हुए । उन्हें कड़ाके की सर्दी में नदियों में फेंका गया और तरह-तरह की यातनायें दी गयीं । कई सत्याग्रहियों ने इसका विरोध करने के लिए भूख हड़ताल की ।

आम जनता ने भी संघ पर लगा प्रतिबन्ध हटाने के पक्ष में आन्दोलन किया और कई नगरों में बड़े-बड़े जुलूस निकाले । लेकिन यह सब इतने शान्त, अनुशासन और व्यवस्थित ढंग से होता था कि संघ की विचारधारा से मतभेद रखने वाले प्रख्यात सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण ने भी कहा–"राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अनुशासन-प्रियता, चारित्र्य-दृढ़ता और प्रेम सचमुच ही प्रशंसनीय है । संघ ने समाज के लिए पर्याप्त ठोस काम किया है । इसीलिए वह अभी तक टिका हुआ है । कानून से हम उसे बन्द नहीं कर सकेंगे ।"

काँग्रेस के ही एक वयोवृद्ध नेता डॉक्टर भगवानदास ने संघ पर लगी पाबन्दी को हटाने की माँग की थी और यही नहीं इसके लिए उन्होंने एक पत्र छपवा कर बाँटा भी था ।

प्रख्यात नेताओं की राय, जनता की माँग और सत्याग्रह के परिणामस्वरूप संघ और सरकार के बीच समझौते के प्रयत्न होने लगे । इन प्रयत्नों के आरम्भ होते ही संघ की ओर से आन्दोलन स्थगित करने की घोषणा कर दी गयी । कई नेताओं की मध्यस्थता और लम्बी समझौता वार्ताओं के परिणामस्वरूप ११ जुलाई, १९४९ को संघ पर लगाया प्रतिबन्ध हटा दिया गया । अगले दिन गुरुजी बैतूल जेल से रिहा हुए । पत्रकारों ने उनसे सरकार के पिछले रवैये के बारे में जानना चाहा तो उन्होंने कहा कि मेरा विश्वास सही निकला, जिस सत्ता ने प्रतिबन्ध लगाया था उसी ने उसे वापस भी ले लिया है और इसके आगे अठारह मास तक भोगी जेल यातनाओं के सम्बन्ध में बिना कोई कटुता व्यक्त किये बोले–"संघबन्दी के इस मामले को अब यहीं समाप्त कर दीजिए । दाँत यदि जीभ को काट ले या टाँग-टाँग से लड़ पड़े तो हम न दाँत को तोड़ देते हैं और न टाँगों को काट डालते हैं । जिन्होंने हम पर अन्याय किया है । वे अपने ही तो हैं और एक घर में रहने वाले सदस्यों में क्या कभी मन-मुटाव नहीं होता।"

कितना उदार था उनका दृष्टिकोण और कितनी उच्च थी उनकी भावनायें । अठारह महीने की जेल यात्रा के बाद जब वे नागपुर स्टेशन पर उतरे तो तीस हजार लोगों ने उनका स्वागत किया और भी कई अन्य स्थानों पर उनका अभिनन्दन हुआ । सरदार पटेल ने उन्हें अपनी शुभ कामनायें भेजते हुए लिखा–"संघ से प्रतिबन्ध हटा लेने पर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है, इसका अनुमान वे ही लोग लगा सकते हैं जो उस समय मेरे पास थे । मैं अपनी शुभ-कामनायें भेजता हूँ ।"

इन्हीं दिनों गुरुजी का दिल्ली आना हुआ । पं० नेहरू गुरुजी की उस प्रतिक्रिया से बड़े प्रभावित हुए थे । जो उन्होंने जेल से छूटने के बाद पत्रकारों के पूछने पर व्यक्त की थी । उनकी दृष्टि में गुरुजी का स्थान काफी ऊँचा हो गया था । अत: वे गुरुजी से दो बार मिले और इन दोनों मुलाकातों में गुरुजी तथा पं० नेहरू ने देश की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझा ।

अँग्रेजों के राज्य में गायें कटती थीं–यह तो इतना आपत्तिजनक नहीं था क्योंकि उन्हें हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं से लेना-देना ही क्या ? पर वही परम्परा स्वतन्त्र भारत में भी चलती रहे–यह अनुचित ही कहा जाना चाहिए । इस विषय की ओर सर्वप्रथम ध्यान आकर्षित किया । गुरुजी ने और अन्य हिन्दू नेताओं ने मिलकर सरकार से निवेदन किया तो उत्तर मिला कि भारत सरकार धर्म निरपेक्ष है और वह इस विषय में कुछ नहीं कर सकती ।

निदान आन्दोलन का निश्चय करना पड़ा । वस्तुत: गुरुजी के मुख से धर्मप्राण हिन्दू जनता की वाणी इन शब्दों में मुखर हुई थी–"गो वंश की रक्षा न केवल आर्थिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण है वरन् यह हमारे देश की सांस्कृतिक थाती और राष्ट्रीय एकता का भी प्रतीक है । सरकार तक इस आवाज को पहुँचाने के लिए हस्ताक्षर आन्दोलन चलाने का निर्णय किया गया । यह कदम गोपाष्टमी से उठाया गया । लगभग एक माह के भीतर करोड़ों लोगों के हस्ताक्षर एकत्र किये गये । इसके लिए जनमत जगाने हेतु स्थान-स्थान पर प्रदर्शन किये गये, जुलूस निकाले और गाँव-गाँव संदेश भेजे गये । इस अभियान का व्यापक प्रभाव हुआ और विरोध भी कम नहीं हुआ ।

देशभर के विभिन्न क्षेत्रों से एकत्र किये गये हस्ताक्षर जब राष्ट्रपतिजी को दिये गये तो उन्होंने सरकार को सहानभूतिपूर्ण रवैया–अपनाने की सलाह देनें का आश्वासन दिया । कुछ प्रान्तों में तो गो हत्या बन्द हो गयी । अत: गोवध बन्दी आन्दोलन को स्थगित नहीं किया गया ।

१९५४ में प्रयाग के कुम्भ मेले में भी पं० नेहरू को लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षरों से युक्त यह माँग पत्र दिया गया कि लोकतान्त्रिक पद्धति से हम यह माँग करते हैं कि संसद में प्रस्तुत गोहत्या बन्दी विधेयक का आप समर्थन करें। गोवध की अनुमति देने वाला व्यक्ति हमारा प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

देश पर संकट के समय

१९६२ में चीन ने भारत पर अकस्मात हमला किया। इससे पूर्व भारत और चीन के सम्बन्ध बड़े मैत्रीपूर्ण थे। हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा लोगों की जबान पर था। चीन की ओर से यह आशा ही नहीं की जा सकती थी और भारत भी युद्ध के लिए तैयार नहीं था। फिर भी भारत के वीर सेनानियों ने सीमा पर मोर्चा सम्हाला, लेकिन ऐसे समय में आन्तरिक मोर्चों पर भी तो खतरा रहता है। उससे निबटने के लिए क्या-क्या किया जाये?

ऐसे विषम और अप्रत्याशित संकट के समय गुरुजी ने संघ के स्वयंसेवकों को तैयार किया। भारत सरकार को पूर्ण सहयोग देने की घोषणा की। स्वयंसेवकों ने जिस तत्परता, अनुशासन और निष्ठा के साथ द्वितीय रक्षा पंक्ति का काम किया उससे पं० नेहरू भी बड़े प्रभावित हुए और यही कारण था कि २६ जनवरी, १९६२ को दिल्ली संघ शाखा के पथ संचालन में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया। इसके लिए कौंग्रेसी नेताओं ने पं० नेहरू की कड़ी आलोचना की तो नेहरू जी ने आलोचकों को उत्तर देते हुए कहा–"आप लोग संघ से मतभेद रख सकते हैं परन्तु संघ की, संघ के स्वयंसेवक की राष्ट्रभक्ति पर संदेह नहीं कर सकते।" यह उत्तर सुनकर आलोचक चुप रह गये।

इस युद्ध के तीन वर्ष बाद सितम्बर १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर हमला किया। उस समय भारत के प्रधानमंत्री थे श्री लालबहादुर शास्त्री जो किसी भी राष्ट्रीय समस्या पर सभी मतभेद रखने वालों से भेदभाव भुलाकर उनकी राय जानने के बाद निर्णय लेने वाले नेता थे। शास्त्री जी ने ऐसी परिस्थिति में सभी राष्ट्रवादी नेताओं को आमंत्रित किया। इनमें गुरु गोलवलकर भी थे। गुरुजी को देखकर वहाँ उपस्थित कतिपय कम्युनिस्ट नेता रुष्ट से दिखाई देने लगे परन्तु शास्त्री जी के यह कहने पर कि संघ की राष्ट्र भक्ति असंदिग्ध है–उन्हें चुप रह जाना पड़ा।

सब लोग अपना मत व्यक्त कर चुके तो गुरुजी ने अपना निश्चयात्मक मत व्यक्त करते हुए कहा–विभाजन के समय जब देश को विषम परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा था तब संघ ने देश की रक्षा के लिए जितना सम्भव हो सका प्रयत्न किया। उसी निष्ठा से सन् १९६२ में भी संघ ने राष्ट्र देवता के मन्दिर में अपना आराधना दीप जलाया। अब पुन: देश पर संकट के बादल छाये हैं तो शत्रु का प्रतिकार करने के लिए हम प्राणपण से तैयार हैं। जिस मोर्चे पर खड़ा होने के लिए कोई तैयार न हो उस स्थान पर मैं और मेरे स्वयंसेवक खड़े होंगे। मीटिंग में उपस्थित सभी नेतागण गुरुजी के इस संकल्प को सुनकर स्तब्ध रह गये और सचमुच में ही संघ ने इस संकल्प को साकार कर दिखाया। स्मरणीय है पूरे युद्धकाल में दिल्ली के आवागमन संचालन की व्यवस्था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ सेवकों ने ही सम्हाली थी।

इसके बाद दिसम्बर, १९७१ में जब पाकिस्तान ने पुन: भारत पर हमला किया और बंगला देश के लिए प्रधान-मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने जो कदम उठाये, उस अभियान का स्वागत गुरुजी ने किया। इस युद्ध में भी गुरुजी ने संघ के स्वयंसेवकों को जनता के सहयोग और सरकार की सहायता के लिए झोंक दिया।

महाप्रयाण

अनवरत श्रम और अहर्निश प्रवास से गुरुजी का शरीर अब थक चला था। इन्हीं दिनों उन्हें कैंसर जैसे महारोग ने आ घेरा। टाटा मेमोरियल अस्पताल में सफल ऑपरेशन से वे स्वस्थ हुये किन्तु १९७२ में पुन: कैंसर की गाँठ निकल आयी, चिकित्सा की गयी और डॉक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम की सलाह दी पर उनकी कामना थी बिस्तर पर लेटे-लेटे मरने से तो बेहतर है काम करते हुये मरा जाय। ५ जून, १९७३ को राष्ट्र की सेवा करते हुये राष्ट्र मन्दिर के इस पुजारी ने महाप्रयाण किया।

छोटी-छोटी बातों से महात्मा बने–
गाँधीजी

महापुरुषों के चरित्र की एक विशेषता होती है कि उनकी महानता छोटे कामों और छोटी-छोटी बातों में भी व्यक्त होती है। सतर्कता और निष्ठा उनके छोटे-छोटे कार्यों में भी व्यक्त होती है साथ ही साधारण कार्यों में भी वे अपने आदर्शों को समन्वित कर लेते हैं। महात्मा गाँधी के जीवन चरित्र का यदि हम अध्ययन करें तो विदित होगा कि उन्होंने अपने जीवन में जितनी बड़ी उपलब्धियाँ अर्जित कीं और उन उपलब्धियों को अर्जित करने में जिस आदर्श-निष्ठा का वे परिचय देते रहे, उतनी ही आदर्श निष्ठा उन्होंने साधारण कार्यों में भी समाविष्ट की।

जन भावनाओं का आदर करना उनका एक विशिष्ट गुण था। न केवल आदर करना वरन् छोटे से छोटे बच्चे की भावना को भी हमेशा महत्त्व देते रहते थे। सन् १९१५ की बात है–बम्बई में कौंग्रेस अधिवेशन चल रहा था। गाँधीजी अपने साथियों सहित, मारवाड़ी विद्यालय में ठहरे हुए थे। एक दिन उन्हें कहीं जाना था। डेस्क पर रखी सभी चीजें उन्होंने सम्हालकर रख दीं। इसी बीच काका कालेलकर ने देखा कि वे कोई चीज ढूँढ़ रहे हैं और उसके न मिलने से बड़े परेशान से दिखाई दे रहे हैं। काका कालेलकर वहीं मौजूद थे उन्होंने पूछा कि क्या गुम गया है तो गाँधीजी ने बताया–'एक छोटी सी पेन्सिल है जो मिल नहीं रही है।'

काका कालेलकर अपनी जेब से एक पेन्सिल निकाली और गाँधी जी को देते हुए कहा कि–" उसे जाने दीजिये। आप इससे अपना काम चला लेना।"

गाँधीजी ने काका साहब की पेन्सिल लेने से मना करते हुए बोले "नहीं–नहीं । मुझे वह छोटी सी पेन्सिल ही चाहिए, उसे मैं खो नहीं सकता । वह पेन्सिल मुझे मद्रास स्टेशन पर एक लड़के ने दी थी । कितने प्यार से लाया था वह ? उसे मैं कैसे खो सकता हूँ ।" और थोड़ी देर बाद जब वह दो इंच से भी छोटी पेन्सिल मिल गयी तब कहीं बापू को चैन मिला ।

वे स्वयं सादगी से रहते थे, इसलिए नहीं कि उनके पास पैसों का अभाव था वरन् इसलिए कि वे समाज के सामने समाजसेवी को कैसा होना चाहिए इसकी एक मिसाल पेश करना चाहते थे । रचनात्मक कार्यक्रमों के लिए लोग हृदय खोलकर उन्हें अनुदान देते थे और उसकी पाई-पाई को वे बड़े यत्नपूर्वक सम्हाल कर रखते थे । इसी तरह की एक घटना है । तब गाँधीजी हरिजन फण्ड के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहे थे । इसके लिए वे जहाँ कहीं भी जाते अपने साथ एक पेटी लेकर जाते और जनसभाओं में भाषण समाप्त हो जाने के बाद लोगों से हरिजन फण्ड के लिए चन्दा माँगते ।

एक गाँव में गाँधीजी गये । वहाँ सभी से भाषण देने के बाद उन्होंने इसी प्रकार चन्दा माँगा । लोग आते और उनके हाथ में पैसे रखकर अपने स्थान पर जा बैठते । गाँधीजी का हाथ जब पैसों से भर जाता तो वे उन पैसों को अपनी पेटी में डाल लेते । एक बार पेटी में पैसे डालते समय एक पैसा हाथ से गिर गया । लोगों की बड़ी भीड़ थी । पर वे पैसे लेना रोककर वह गिरा हुआ पैसा खोजने लगे । लोगों ने कहा-"आप उस पैसे को रहने दीजिए, हम उस पैसे के बदले में रुपया देते हैं ।" और कई लोगों ने अपना हाथ आगे बढ़ाया । पर गाँधीजी ने कहा–यह पैसा राष्ट्र का धन है । अगर मैं इसको गँवाता हूँ तो राष्ट्र के प्रति गद्दार होता हूँ । वह पैसा हरिजनों का धन है, मेरा नहीं इसलिए जब तक पैसा नहीं, मिलेगा तब तक मैं यहाँ से हटूँगा नहीं । अगर आपको रुपया देना है तो वह पैसा मिल जाने के बाद दीजिये और गाँधीजी ने वह पैसा मिल जाने के बाद ही लोगों से चन्दा लिया ।

लोगों को प्रेम और आत्मीयता से सही रास्ते पर किस प्रकार लाया जा सकता है–यह कोई गाँधीजी से सीखे ? उन्होंने अपने आश्रमवासी शिष्यों को कड़े अनुशासन में रखने की शिक्षा दी थी और कभी कोई गलती भी कर जाता तो वे गल्ती करने वाले को कुछ कहने की अपेक्षा अपनी उस गलती और कमजोरी को मानते थे । एक बार की बात है बापू ने आश्रमवासियों को किसी काम के लिए मना कर दिया । आश्रम के कुछ विद्यार्थियों ने फिर भी वह काम चुपके से कर लिया लेकिन बात अधिक देर तक छुपी न रही । उन्होंने सब विद्यार्थियों को इकट्ठा किया और पूछा कि–प्रतिबन्धित कार्य किन–किन छात्रों ने किया है ? कोई नहीं बोला । डर के मारे सब चुप रहे । इस पर बापू को बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने कहा "अवश्य ही मुझमें कोई दोष होगा जिससे तुम लोग सच कहने में डरते हो ।" और यह कहकर उन्होंने तड़ातड़ अपने ही गाल पर तीन तमाचे मार लिये । आश्रम के विद्यार्थियों पर इसका यह प्रभाव हुआ कि जिन्होंने गलती की थी उन्होंने अपनी गलती स्वीकार कर ली ?

स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रवेश करने के कई वर्षों बाद तक गाँधीजी अपनी परम्परागत पोशाक पहना करते थे । लोग कहते हैं कि उन्होंने केवल एक धोती इसलिए पहनना आरम्भ किया कि वे लोगों पर अपनी सादगी का प्रभाव छोड़ सकें । पर वस्तुस्थिति कुछ और ही थी । उन्होंने अपना वेश एक यात्रा-अनुभव से प्रेरित होकर कम किया । उस समय गाँधीजी उड़ीसा की यात्रा कर रहे थे । यात्रा में उन्होंने एक ऐसी गरीब स्त्री को देखा जो फटा हुआ मैला कपड़ा पहने थी । कपड़ा भी बहुत छोटा था–इतना छोटा कि उससे केवल आधा शरीर ही ढका जा सके । गाँधीजी ने उस स्त्री से कहा–बहिन तुम अपने कपड़े धोती क्यों नहीं । इतना आलस्य क्यों करती हो कि कपड़े मैले हो जायें ।"

उस स्त्री ने सलज्ज दृष्टि से बापू की ओर देखा और कहा–"इसमें आलस्य की बात नहीं है श्रीमान ! मेरे पास इसके अलावा कोई दूसरा कपड़ा नहीं है जिसे पहनकर मैं इसे धो सकूँ ।" उस स्त्री का यह कथन सुनकर गाँधीजी की आत्मा द्रवित हो उठी और वे मन ही मन कह उठे–"हाय ! आज मेरी भारत माता के पास पहनने को चिथड़े तक नहीं हैं ।" उसी समय गाँधीजी ने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक देश स्वतन्त्र नहीं हो जाता और गरीब से गरीब आदमी को भी देह ढकने के लिए पर्याप्त कपड़ा नहीं मिलता तब तक मैं कपड़े नहीं पहनूँगा । लाज ढकने के लिए मेरे पास एक लंगोटी रहना ही काफी होगा ।" और गाँधीजी ने उसी समय अपनी परम्परागत पोशाक का परित्याग कर दिया ।

राष्ट्रपिता हो जाने के बाद भी वे अपना प्रत्येक कार्य स्वयं के ही हाथों से करते थे । काम को ही पूजा समझने वाले बापू के लिए टट्टी साफ करने और बर्तन माँजने सरीखे कामों में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था । यह गुण उन्होंने प्रारम्भ से ही भलीभाँति विकसित कर लिया था । सन् १९०९ की बात है । अफ्रीका में सत्याग्रह आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाकर वे किसी कार्य से लन्दन गये थे । लन्दन में कई भारतीय नवयुवक पढ़ते थे । उनके प्रवास के समय भारतीय छात्रों ने एक समारोह का आयोजन किया । उस समारोह में पहले भोजन और फिर भाषण का कार्यक्रम रखा गया । इसके अध्यक्ष बनाये गये गाँधीजी ने भोज में भी शामिल होना स्वीकार कर लिया पर शर्त यह रखी कि भोज में माँस नहीं रखा जायगा । युवकों ने शर्त मान ली और एक हॉल किराये पर लेकर भोजन का प्रबन्ध करने लगे ।

छात्रों ने सारा काम अपने ही हाथों से किया । इसी बीच गाँधीजी भी वहाँ पहुँच गये और चुपचाप बर्तन माँजने लगे । वहाँ उपस्थित विद्यार्थियों में से उन्हें कोई भी

नहीं पहचानता था । गाँधीजी बिना अपना परिचय दिये आरम्भ से आखिर तक बर्तन माँजने में लगे रहे । जब सारी तैयारियाँ हो गयीं तो सभा के उपप्रधान वहाँ आये, वे गाँधीजी को पहचानते थे । पहचान कर उन्होंने जैसे ही विद्यार्थियों को उनका परिचय दिया विद्यार्थी दंग रह गये । छात्रों ने गाँधीजी को लाख यह काम करने से रोका पर उन्होंने काम नहीं ही छोड़ा । इसी प्रकार से आश्रम में भी बापू ने स्वयं के आचरण द्वारा वहाँ के कार्यकर्ताओं को दैनिक जीवनचर्या में स्वावलम्बी बनना सिखाया था । मौखिक रूप से उन्होंने किसी से नहीं कहा कि अपना काम अपने हाथ से करें बल्कि जिस तरह की रीति-नीति उन्होंने अपनायी उससे स्वभावत: ही सब लोग यह नियम अपनाने के लिए बाध्य से हुए ।

गाँधीजी स्वयं प्रत्येक कार्य अपने हाथों से करते थे । और किसी भी दशा में वे इस नियम में व्यतिक्रम नहीं आने देते थे । एक बार उन्होंने रात को देर तक काम किया और सुबह आटा पीसते रहे । थकान और नींद में हुई कमी के कारण उनके सिर में दर्द होने लगा । इसके बाद पानी भरना था । आश्रमवासियों ने कहा—आप आराम करें । पानी हम भर लेंगे । पर बापू नहीं माने और कुँए की जगत पर जाकर खड़े हो गये । आश्रमवासियों ने पहले ही सब बर्तन हथिया लिये थे तो गाँधीजी दौड़े गये और आश्रम को ढूँढ़ मारा । जब कुछ नहीं मिला तो एक कोने में पड़ा हुआ बच्चों के नहाने का टब ही उठा लाये और उसी में पानी भरने लगे ।

अपनी निन्दा का अत्यन्त सहज भाव से सुनने या उसकी ओर कोई ध्यान देकर निन्दक को अपना बना लेने की कला में भी बापू ने बड़ी महारथ प्राप्त की थी । एक बार की घटना है । गाँधीजी लन्दन जा रहे थे । रास्ते में उनका परिचय एक अँग्रेज से हो गया वह अँग्रेज गाँधीजी का कट्टर विरोधी था । बात-बात में वह उन्हें खरी-खोटी सुनाया करता था । एक दिन उसने गाँधीजी पर कुछ व्यंग्य पूर्ण कवितायें लिखीं और गाँधीजी के पास ले गया । गाँधीजी ने उन कविताओं को सरसरी निगाह से देखा और देखकर रद्दी की टोकरी में फेंक दिया । इससे पूर्व उन्होंने वह पिन निकाल ली जो उन कविताओं को नत्थी करने के लिए लगायी गयी थी । उक्त अँग्रेज ने गाँधी को ऐसा करते देखकर कहा—'इसमें कुछ सार भी है । पढ़कर तो जरा देख लीजिए ।'

'हाँ'—गाँधीजी ने कहा—'सार था वह तो मैंने पहले ही निकाल कर रख लिया है । कहते समय उनके चेहरे पर कोई भी विकार नहीं था । उक्त अँग्रेज ने भी सोचा था कि इन कविताओं को पढ़कर गाँधीजी नाराज हो उठेंगे तथा उसे बुरा-भला कहेंगे और मुझे गाँधीजी की आलोचना करने के लिए एक और नया विषय मिल जायगा । पर गाँधीजी के निर्द्वन्द्व भाव ने उस पर कुछ और ही प्रभाव डाला ।

इसी तरह का एक संस्मरण काका साहब कालेलकर ने भी लिखा है—'अजमेर के एक आर्यसमाजी मित्र बापू के बड़े आलोचक थे । वे उनके विचारों की प्राय: निन्दा किया करते थे और कहा करते थे कि मैं उनकी भेंट गाँधीजी से करा दूँ ताकि वे बापू को खरी-खरी सुना सकें । मैं उन्हें हाँ तो कर देता था पर मन में डरता भी था । संयोग से एक दिन गाँधीजी अजमेर से गुजरे और हम लोग उनका दर्शन करने के लिए अजमेर स्टेशन पर गये । वे मित्र भी वहाँ पहुँचे और बापू के सामने ही परिचय के लिए कहने लगे तो मैंने डरते-डरते गाँधीजी से उनका परिचय करा दिया । मित्र डिब्बे के अन्दर पहुँचे और खड़े-खड़े अपनी बौछार शुरू की । बापू सुनते रहे । उन्हें कुछ कहने का अवसर ही न मिला । गाड़ी ने सीटी दी । मित्र की बात अधूरी रह गयी और वे स्टेशन पर उतर गये । मैं बापू के साथ ट्रेन में आगे तक गया । अपने मित्र के अक्खड़पन पर मैं मन ही मन झेंप रहा था । बापू से क्षमा माँगते हुए मैं बोला—"बापू मैं जानता था कि यह आपको खरी-खोटी सुनाकर दु:खी करेगा मगर" मैं अपनी बात पूरी करूँ इससे पहले ही गाँधीजी ने कहा—'लेकिन मुझे तो दु:ख इस बात का है कि अधिक समय नहीं मिल पाया । नहीं तो मैं उनकी बातें और भी सुनता । उन्हें पूरा समय देता ।'

गाँधीजी से सम्बन्धित ऐसी अनेकों घटनायें प्रसिद्ध हैं जिन्हें जानकर लगता है कि महानता अर्जित करना आसान नहीं है तो कठिन भी नहीं है । जो लोग छोटी-छोटी बातों को भी सजगता से और कामों को पूरे कौशल से करने का अभ्यास डाल लें, वे न केवल प्रशंसनीय ख्याति अर्जित कर लेते हैं वरन् लोकश्रद्धा भी प्राप्त करते हैं । गाँधीजी ने अपने लिए छोटी-छोटी कई मर्यादायें और कई नियम बना रखे थे । उन मर्यादाओं और नियमों के अन्तर्गत रहते हुए ही वे अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा किसी भी कारण से उन नियमों का टूटना सहन नहीं करते थे । उनके जीवन से सम्बन्धित वह घटना तो प्रसिद्ध ही है जब वे एक दिन शाम की प्रार्थना भूल गये थे और थक जाने के कारण सो गये थे । जागने पर जब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई तो उन्हें बड़ा पछतावा हुआ और इसके लिए अपने आपको दण्डित किया ।

आदर्श सिद्धान्तवादिता

गाँधीजी उन दिनों डरबन में थे । सत्याग्रह चल रहा था । कस्तूरबा को बार-बार रक्तस्राव हो रहा था । ऐसी स्थिति में गाँधीजी पूर्ण मनोयोग से राष्ट्र को अपनी सेवायें नहीं दे पा रहे थे । एक चिकित्सक ने नश्तर लगवाने का परामर्श दिया । बिना बेहोश किये ही नश्तर लगाया गया । पीड़ा तो बहुत हुई पर 'बा' ने उसे सहन किया ।

देख-रेख के लिये 'बा' को उसी चिकित्सक के घर पर रखा गया । कुछ स्थिति सुधरने पर चिकित्सक ने बापू को जाने की आज्ञा दे दी और [illegible] अपनी पत्नी को वहीं छोड़कर जोहान्सबर्ग चले आ[illegible] । बाद में बापू को पता चला कि 'बा' को इतनी क[illegible]ोरी है कि वह उठ-बैठ

नहीं पातीं । कभी-कभी कमजोरी के कारण बेहोशी भी आ जाती है । चिकित्सक ने बापू से टेलीफोन पर बात करते हुये कहा-"आपकी पत्नी का स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है अतः मैं उन्हें माँस का शोरबा तथा 'बीफ टी' देना चाहता हूँ आप आज्ञा दीजिए ।

बापू का उत्तर था "इस सम्बन्ध में मैं आज्ञा नहीं दे सकता । 'बा' स्वतन्त्र हैं यदि उसकी इच्छा हो तो आप शौक से दे सकते हैं ।"

डॉक्टर बार-बार माँसाहार पर जा रहे थे । पर बापू इसके लिये किसी भी शर्त पर तैयार नहीं हुए । बापू ने चिकित्सक से कहा "यदि मेरी पत्नी माँस के शोरबे के बिना मर भी जाये तो मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं है । मैं तो यह आवश्यक समझता हूँ कि पहले उसकी राय लेनी चाहिए ।"

चिकित्सक ने कहा "आप तो बड़े निष्ठुर पति प्रतीत होते हैं । आपकी पत्नी जब तक मेरी देख-रेख में है तब तक आपकी नहीं मेरी चलेगी । माँस ही नहीं उसकी जीवन रक्षा के लिये मुझे जो उचित होगा दूँगा । आप की यह सिद्धान्तवादिता मेरी समझ में नहीं आई । यदि आप ऐसा नहीं चाहते तो अपनी पत्नी को अन्यत्र ले जा सकते हैं । मेरे ही घर में उनकी जीवन लीला समाप्त हो यह मैं नहीं चाहता ।"

बापू अपनी पत्नी के पास गये उनकी स्थिति बड़ी खराब थी । ऐसे में कुछ बात करना भी कठिन था फिर भी हिम्मत करके उन्होंने अपना उद्देश्य उनके सम्मुख रख ही दिया । 'बा' ने कहा "मैं माँस का शोरबा किसी भी स्थिति में लेने को तैयार नहीं हूँ । यह मनुष्य शरीर बार-बार तो मिलता नहीं । मेरे लिए किसी जीवधारी की हिंसा की जाये यह मुझे सहन नहीं । आपकी गोद में ही मेरी जीवनलीला समाप्त हो जाये बस यही इच्छा है ।"

बापू 'बा' के दृढ़ विचारों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुये । यद्यपि उस समय 'बा' की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उन्हें कहीं ले जाया जाये । उनका दुर्बल शरीर हलका-सा धक्का भी सहन करने को तैयार न था ।

पानी बरस रहा था । स्टेशन पास ही था । डरबन से फिनिक्स तक रेलगाड़ी से जाना था और फिनिक्स से ढाई मील पैदल का रास्ता था । खतरा उस पैदल रास्ते में ही था । उन्होंने वेस्ट को संदेश भेजकर स्टेशन पर एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और ६ मजदूरों की व्यवस्था करने के लिए कहा ।

निश्चित समय पर मजदूर पहुँच गये और डोली बनाकर स्टेशन से आश्रम तक ले गये । बापू को ईश्वर पर विश्वास था फिर भी चिंता की रेखायें उनके चेहरे पर देखी जा सकती थीं । 'बा' ने कहा-"आप मेरी ओर से निश्चिन्त हो जाइये, मुझे मार्ग में कुछ भी होने वाला नहीं है ।"

बापू की प्राकृतिक चिकित्सा तथा 'बा' के परहेज के संयुक्त प्रयासों से उनका दुर्बल शरीर पुनः पनपने लगा । रक्त-स्राव भी बन्द हो गया और कुछ दिन में पूर्व की तरह उन्हें स्वास्थ्य लाभ मिला । 'बा' से जनमानस की जो सेवा करानी थी, उसके लिए उनका जीवन आवश्यक था किन्तु उसके लिए आदर्शों व सिद्धान्तों को त्यागना कदाचित् उचित न था । गाँधीजी व 'बा' की निष्ठा से उनकी रक्षा होकर रही ।

आदत को व्यवस्थित बनाये रखना

महात्मा गाँधी के जीवन से व्यक्तियों ने जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्रेरणा ली है । महात्मा का जीवन एकांगी नहीं सर्वांगीण होना चाहिए । श्रेष्ठ व्यक्तियों के जीवन की छोटी घटनायें भी जीवन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं । महात्मा गाँधी का जीवनक्रम भी कुछ ऐसा ही ढला था । प्रस्तुत छोटी-सी घटना भी इसी प्रकार अपने आप में महत्त्वपूर्ण शिक्षण लिये हुए है ।

गाँधीजी इलाहाबाद गये । वहाँ वह आनन्द भवन में मेहमान के रूप में ठहरे हुए थे । उनके कार्य निर्धारित समय पर हुआ करते थे । दैनिक कार्यों के बीच भी जहाँ सम्भव होता था वह बात-चीत, परामर्श आदि के द्वारा लोगों को लाभान्वित किया करते थे । प्रातःकालीन दातौन, कुल्ला, मुँह धोने के समय भी उक्त क्रम चलाने की सुविधा रहती थी । अस्तु, पं० जवाहर लाल नेहरू बापू से चर्चा करने उस समय पहुँच गये । बापू हँसते बात करते हुए अपना कार्य भी करते जा रहे थे ।

अचानक बापू बोल पड़े-"अरे राम, राम! भाई जवाहर! तुमने बात-चीत में गड़बड़ करा दी ।" जवाहर लाल जी प्रश्न भरी दृष्टि से बापू की ओर देखने लगे । उन्हें कोई गड़बड़ी के चिह्न कहीं दिख नहीं रहे थे । बापू कहीं परिहास तो नहीं कर रहे हैं ? किन्तु बापू के चेहरे पर गम्भीरता आ गई थी । हाथ में खाली लोटा लिये उनकी ओर देखते हुए बोले-"तुम्हारी बात-चीत में मैं पानी का ध्यान भूल गया और मुँह पूरा धुलने के पूर्व सारा पानी समाप्त हो गया ।"

इतना सुनते ही जवाहर लाल जी खुलकर हँस पड़े । बोले-"बापू आप भी कमाल करते हैं । आप गंगा-यमुना के तट पर बैठे हैं, कहीं रेगिस्तान में थोड़े ही हैं । यहाँ पानी की क्या कमी है जो आप एक लोटा पानी का सोच करते हैं ।" सामान्य दृष्टि से बात ठीक ही थी । घटना को देखते हुए इतनी छोटी बात को महत्व देना बचपना ही कहा जावेगा । किन्तु इस घटना को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों का दृष्टिकोण घटनाओं को देखने का और ही होता है । जिसे समझकर अपने को समझदार समझने वालों को अपनी विचारहीनता का पता लग जाता है ।

बापू नेहरू जी की बात सुनकर और गम्भीर हो गये । बोले-"अन्य कोई न समझे किन्तु तुम में तो मेरे

दृष्टिकोण को समझने की क्षमता होनी चाहिए ।'' नेहरू जी का हास्य रुक गया । वह जिज्ञासु की तरह सुनने को तत्पर हो गये । बापू बोले–''मूल्य एक लोटा पानी का भले न हो, सन्तुलित स्वभाव का तो है । मैं एक लोटा पानी से रोज मुँह धो लेता हूँ, आज अधिक लेना पड़ा तो कुछ बड़ी बात नहीं । किन्तु यदि इस वृत्ति की उपेक्षा की, अपनी असावधानी की आदत को बढ़ने दिया तो जीवन में वह सभी स्थानों पर हस्तक्षेप करेगी । निर्धारित मात्रा में पानी से मुँह न धो सकना बढ़ती हुई असावधानी का प्रतीक है । इसी नाते वह चिन्तनीय है । अपने अंदर के दुर्गुणों पर कड़ी निगाह रखना विकास के लिए आवश्यक है ।''

बात नेहरू जी की समझ में आई । किन्तु बापू की बात अभी पूरी नहीं हुई थी । बोले–''जवाहर तुमसे एक सैद्धान्तिक भूल और हुई है । बताओ क्या ?'' जवाहर लाल जी पुनः चुप रह गये । बापू ने पुनः स्पष्ट किया–''हमने पानी समाप्त होने को क्यों महत्व दिया, यह न समझ पाना एक बात थी । मुँह धोने के लिए और पानी की आवश्यकता स्वाभाविक थी । किन्तु यह कहना कि पानी की कमी नहीं है अतः खर्च अनियन्त्रित किया जावे, भूल है । कोई वस्तु तुम्हारे पास ईश्वर की कृपा से प्रचुर मात्रा में है–इसी कारण हम उसके व्यय करने की कोई सीमा न बनायें यह भारी भूल है । व्यवस्था सन्तुलित उपयोग से बनती है । सन्तुलित होना प्रकृति का नियम है । समृद्धि के नाम पर असन्तुलित होने का अर्थ है, अभाव को निमन्त्रण देना । अपनी सन्तुलित आवश्यकता से अधिक व्यय करना अनैतिकता है । श्रेष्ठ व्यक्ति के लिये अशोभनीय है ।''

सच्चा जन-सेवक

सेवक और स्वामी में यों तो विशेष अन्तर नहीं है । पर जो स्वेच्छया सेवा को अपना जीवन पथ मानकर अपनाते हैं वे सेव्य के प्रति विनम्र होते हैं । यही कारण है कि महात्मा गाँधी ने जब से जनसेवा का व्रत लिया जन–सामान्य के समान ही औसत स्तरीय जीवन भी ढालना आरम्भ कर दिया और उस स्थिति तक वे औसत स्तर की सुविधाओं में जीने लगे, जिससे कि उन्हें आम जनता से अलग कर पाना कठिन हो गया । मार्च, १९१९ की घटना है गाँधीजी बिहार में काम कर रहे थे । तभी वायसराय ने आवश्यक चर्चा के लिये उन्हें बुलाया । बापू ने दिल्ली रवाना होने की तैयारियाँ कीं । उनके साथियों ने कहा–''वायसराय ने बुलाया है, अतः आप हवाई जहाज से जायें तो ठीक रहेगा।''

गाँधीजी ने यह कहकर इस सलाह को मानने से इन्कार कर दिया कि जिस सवारी में करोड़ों लोग सफर नहीं कर सकते, उसमें मैं कैसे बैठूँ ? जबकि रेलगाड़ी से भी मैं पहुँच सकता हूँ और उन्होंने मनु बहिन को अपने साथ चलने को बोलते हुए कहा–मेरे साथ सिर्फ तुम ही चलोगी । सामान कम से कम लेना और टिकट तीसरे दर्जे का ।

मनु बहिन ने कम से कम सामान लिया, पर डिब्बा ऐसा चुना जिसमें दो भाग थे । एक भाग में उन्होंने सामान रखा और दूसरे में बापू के सोने-बैठने की व्यवस्था । पटना से गाड़ी सुबह नौ बजे रवाना हुई । रास्ते में हर स्टेशन पर लोग गाँधीजी के दर्शन के लिये इकट्ठे होते अतः मनु बहिन ने उनके आराम की भी उपयुक्त व्यवस्था की । गर्मी के दिन थे और गाँधीजी उन दिनों दस बजे भोजन किया करते थे । भोजन तैयार करने के बाद मनु बहिन गाँधीजी के पास आयीं । उन्होंने पूछा– ''कहाँ थीं ?''

''उधर खाना तैयार कर रही थी ।'' मनु बहन ने कहा ।

''जरा खिड़की के बाहर झाँकना तो ।'' गाँधीजी बोले । मनु बहिन ने झाँककर देखा कि कई लोग दरवाजा पकड़ कर लटकते हुए यात्रा कर रहे थे । गाँधीजी क्या देखने के लिये कह रहे थे ? मनु समझ गयी थीं । तब गाँधीजी ने कहा–''इस दूसरे कमरे के लिये तुमने कहा था।''

'हाँ' मनु बोली । ''मेरा विचार था इसी कमरे में काम करूँगी तो आपको तकलीफ होगी''

मेरी तकलीफ की तो तुमने चिन्ता कर ली, पर उन यात्रियों के बारे में कुछ क्यों नहीं सोचा जो लटकते हुए सफर कर रहे हैं ।

गाँधीजी ने मनु बहिन को और भी झिड़का उन्हें अपनी गलती और गाँधीजी की तकलीफ का इतना अहसास हुआ कि आँखों से आँसू बहने लगे । उसे रोते देखकर बापू ने समझाया–''अच्छा रोओ मत । भविष्य में ध्यान रखना और अगले स्टेशन पर स्टेशन मास्टर को अवश्य सूचित करना । ''

मनु बहिन ने गाँधीजी की आज्ञा पालन करते हुए सामान एक ही स्थान पर रख दिया और अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो स्टेशन मास्टर को इसकी सूचना दे दी । स्टेशन मास्टर को अजीब-सा लगा, वे गाँधीजी के पास आये और बोले–''मैं इस गाड़ी में एक और डिब्बा लगवाये देता हूँ । आप आराम से सफर कीजिये ।

गाँधीजी ने स्टेशन मास्टर को फटकारते हुए कहा–''जिस चीज की आवश्यकता न हो उसका उपयोग हिंसा है । आप सुविधाओं का दुरुपयोग करवाना चाहते हैं ।''

स्टेशन मास्टर ठगे रह गये । तब फिर गाँधीजी ने कहा–''आप दूसरा डिब्बा तो लगवा ही दें, पर यात्रियों के के लिये यह कम्पार्टमेण्ट भी खोल दें ताकि लोग आराम से सफर कर सकें ।

गाँधीजी औसत नागरिक की सुविधाओं से जरा भी अधिक सुविधाओं का उपयोग नहीं करना चाहते थे और इसी आदर्श को जन-सेवा की आवश्यक शर्त समझते थे ।

जनसेवा का प्रमाण तीसरे दर्जे का सफर

जब चम्पारन (बिहार) के कुछ प्रतिनिधियों ने गाँधीजी के पास जाकर अपनी कष्ट गाथा सुनाई कि किस प्रकार निलहे (नील का व्यापार करने वाले) गोरे उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करते हैं और मारने-पीटने का भय दिखाकर उनके खेतों की पैदावार छीन लेते हैं, तब उन्होंने सत्याग्रह द्वारा इस अन्याय का प्रतिकार करने की सलाह दी पर उस समय तक इस देश में कहीं सत्याग्रह का प्रयोग नहीं किया गया था और लोग इस सम्बन्ध में अनजान थे। इसलिये इसका कार्यभार गाँधीजी को स्वयं ही ग्रहण करना पड़ा। चम्पारन पहुँचकर उन्होंने देखा कि गाँवों की हालत वास्तव में बड़ी दयनीय हो रही है। हजारों व्यक्तियों को भरपेट अन्न और तन ढकने को मोटा कपड़ा भी नहीं मिलता। निलहे गोरे अपने लाभ के लिए किसानों से जबरदस्ती कुल जमीन के तीसरे या पाँचवें भाग में नील की खेती कराते थे, यद्यपि वे इस प्रकार अच्छी जमीन में नील पैदा करना हानिकारक मानते थे। पर बड़े जमींदार और सरकारी अफसर गोरों के सहायक थे, इसलिये जो किसान गोरों की आज्ञा मानने से इन्कार करते थे उन पर मनमाना जुल्म किया जाता था।

इसके साथ ही गाँधीजी ने देखा कि किसान एक तरफ तो निलहे गोरों के अत्याचारों से पीड़ित हैं और दूसरी तरफ उनमें स्वयं इस प्रकार के दोष-दुर्गुण मौजूद हैं, जिनके कारण उनकी हालत और भी गिरती चली जाती है। अशिक्षा, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, गन्दगी आदि हानिकारक प्रवृत्तियाँ उनके रहे-सहे साधनों को भी समाप्त करती जाती हैं। यह देखकर उन्होंने स्वयं तो राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ किया और अपने कुछ विश्वस्त कार्यकर्त्ताओं को प्रचारार्थ बुलाया। इनमें से ज्यादातर व्यक्ति गाँधीजी के आश्रम में रहने वाले गुजराती थे। इसी कार्य के लिए बम्बई से अवन्तिकाबाई गोखले को बुलाया, जो यद्यपि अभी तक गाँधीजी से एकाध बार ही मिली थीं और जो अभी चर्खा और खद्दर से भी सम्बन्धित नहीं थीं। पर गाँधीजी उनकी सेवा-भावना को समझते थे। वह नर्स के काम की विधिवत शिक्षा प्राप्त कर चुकी थीं, विदेश यात्रा कर आने से छुआछूत के विषय में उदार-विचार रखती थीं और हिन्दी बोलने का भी काफी अभ्यास था।

जिस दिन अवन्तिकाबाई को मोतिहारी (चम्पारन का सदर मुकाम) पहुँचना था, लोगों ने कहा–अवन्तिकाबाई तो सदैव दूसरे दर्जे में यात्रा करती हैं अब भी उसी में आयेंगी। गाँधीजी ने कहा अगर वे तीसरे दर्जे में आयेंगी तो उन्हें यहाँ रखूँगा, वर्ना बम्बई ही वापस भेज दूँगा। वहाँ गाड़ी रात के एक बजे मोतिहारी स्टेशन पर आई। वहाँ गाँधीजी के सबसे छोटे पुत्र देवदास गाँधी मौजूद थे, क्योंकि वे ही अकेले अवन्तिकाबाई को पहचानते थे। देवदास ने उनको पहले और दूसरे दर्जे के डिब्बों में ढूँढ़ा लेकिन कहीं पता न लगा, तब वे निराश होकर डेरे पर वापस आये और खबर दी कि अवन्तिकाबाई इस गाड़ी से नहीं आईं। यह सुनकर सब लोग हँसने लगे, क्योंकि वे दोनों पति-पत्नी पहले ही आकर एक कमरे में ठहर गये थे। यात्रा उन्होंने तीसरी श्रेणी में की थी। गाँधीजी की परख गलत नहीं थी।

उन्होंने दूसरे ही दिन अवन्तिकाबाई को बड़हरवा गाँव में जाकर कार्यारम्भ का आदेश दिया। इस पर कस्तूरबा ने कहा कि "ये आज ही आई हैं और कल दीवाली है। अच्छा हो दीवाली मनाकर गाँव जायें। कितने ही लोग तो १०-१५ दिन से यहाँ ठहरे हुए हैं।" गाँधीजी ने कहा– "मैंने उनको महत्वपूर्ण कार्य के लिये ही बम्बई का सब काम-काज छोड़कर यहाँ बुलाया है। उनका हरेक क्षण कीमती है। अवन्तिकाबाई दूसरे ही दिन उस दूरवर्ती गाँव में पहुँच गईं और उस विकट देहात में छह महीने तक ग्रामीणों की सेवा, शिक्षा और मार्ग-दर्शन करती रहीं। उन्होंने बम्बई की सब सुख-सुविधाओं को भुला दिया और उन ग्रामीणों में इस तरह घुल-मिल गईं कि वे उन्हें सचमुच 'माता' की तरह ही मानने लग गये।

अहिंसात्मक मनोभाव का चमत्कार

महात्मा गाँधी के पुत्र मणिलाल एक भयंकर काल ज्वर से पीड़ित थे। ज्वर कभी भी कम होने का नाम ही न लेता था। इसके साथ ही सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। कई दिन बीत गये तो गाँधीजी और कस्तूरबा दोनों को ही चिन्ता होने लगी, अब तो बिना किसी चिकित्सक को दिखाये काम चलने वाला नहीं था। घर पर एक चिकित्सक को बुलवाया गया। चिकित्सक ने भली-भाँति उसके शरीर का परीक्षण करके कहा "गाँधी जी! आपके बच्चे के इलाज में अब औषधियाँ काम नहीं कर सकतीं, अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोरबा देना ही अच्छा है।

गाँधीजी चिकित्सक की बात सुनकर चौंके उन्होंने बड़ी आश्चर्यमुद्रा में कहा "डॉक्टर साहब! मेरा परिवार तो शाकाहारी है। मैं इन दोनों वस्तुओं में से एक भी वस्तु नहीं दे सकता यदि सम्भव हो तो कोई दूसरी ही वस्तु बताइये।"

डॉक्टर ने उत्तर दिया "तुम नहीं जानते कि रोगी की स्थिति कितनी दयनीय है, बचना मुश्किल है। रोगी मृत्यु से जूझ रहा है हाँ, दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है पर उससे पोषण पूरा नहीं होता।"

गाँधीजी ने कहा "डॉक्टर साहब! आपका कथन सत्य है, पर मेरा तो विश्वास धर्म में है और इन वस्तुओं का उपयोग मेरी दृष्टि में हिंसा होगा। फिर मैं बीमारी की स्थिति में भी बच्चे को कैसे दे सकता हूँ? मैं तो यह

समझता हूँ कि हर व्यक्ति के धैर्य की परीक्षा संकट की ऐसी ही घड़ियों में होती है । उचित हो अथवा अनुचित पर मैं तो इसे धार्मिक दृष्टि से ही देखता हूँ और यह भी जानता हूँ कि व्यक्ति को माँस-भक्षी नहीं होना चाहिए । खैर, डॉक्टर साहब ! इन बातों को जाने दीजिये । जीवन के साधनों की भी सीमा होती है । मैं आपका इलाज तो अब करा नहीं सकता । पर मुझे नाड़ी और हृदय-गति देखना नहीं आता है । मैं यह चाहता हूँ कि समय-समय पर आप मेरे यहाँ आते रहें और इसकी शारीरिक जाँच करके शरीर में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों की मुझे जानकारी कराते रहें तो आपकी बड़ी कृपा होगी । आशा है आप अपने मूल्यवान समय का एक भाग यहाँ भी देते रहेंगे ।''

डॉक्टर समय-समय पर रोगी की जाँच करने का आश्वासन देकर चले गये । अब गाँधीजी ने अपने बच्चे मणिलाल की 'जल चिकित्सा' प्रारम्भ की, पर कुछ लाभ न देखकर वे एक क्षण को घबड़ा गये, उनके मन में उथल-पुथल मचने लगी पर गाँधीजी आसानी से अपने दृढ़ निश्चय को बदलने वाले न थे । उन्होंने एक चादर पानी में भिगोई और उसे निचोड़कर सिर से लेकर पैर तक लपेट दिया । सिर पर भीगा तौलिया रखकर ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये । पसीना न आने के कारण ही ज्वर कम नहीं हो रहा था । शरीर बहुत ही गर्म था । थोड़ी ही देर बाद उन्होंने देखा कि मणिलाल का शरीर पसीने से तर हो गया है और माथे पर भी पसीने की कुछ बूँदें चमकने लगी हैं ज्वर भी पहले से कम हो गया था । आशा के विपरीत एकदम इतना बड़ा परिवर्तन । गाँधीजी को अपने प्रयत्नों पर बड़ी प्रसन्नता हुई । कस्तूरबा जो पिछले दिनों से अपने बच्चे की सेवा करते-करते उदासीन सी रहने लगी थीं उन्हें अब बचने की आशा दिखाई देने लगी । गाँधी जी ने मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया ।

डॉक्टर ने अन्ततः यह स्वीकार ही किया कि चिकित्सा के नाम पर की जाने वाली हिंसा न तो आवश्यक ही है और न अमोघ है । बिना हिंसा का सहारा लिये भी रोगी अच्छे किये जा सकते हैं और अपेक्षाकृत कम समय तथा कम खर्च में ।

प्रलोभन से बचाव

बैरिस्टरी की शिक्षा पाने, गाँधीजी विलायत गये हुए थे । वहाँ एक वृद्धा उनकी परिचित थी । वह उन्हें यदा-कदा आमन्त्रित करती । वृद्धा के यहाँ एक युवती रहती थी । गाँधीजी ने यह देखा कि वृद्धा इस प्रयास में रहती है कि युवती और ये परस्पर घुलें-मिलें । इस हेतु एकान्त में भी उन्हें छोड़ देती ।

गाँधीजी किसी को भ्रम में नहीं रखना चाहते थे, पर संकोची स्वभाव के कारण अपने विवाहित होने की बात भी न कह पाते । इसलिए उन्होंने एक पत्र में वस्तुस्थिति लिखकर वृद्धा को पत्र भेज दिया ।

लौटती डाक से ही वृद्धा का उत्तर मिला–''इतने खुले दिल से पत्र लिखने के लिए धन्यवाद । हम दोनों खुश हुईं, हँसी भीं । हमारी मैत्री पूर्ववत रहेगी । अगले रविवार को आप आमन्त्रित हैं । हम प्रतीक्षा करेंगी ।''

सदुपयोग की कला

गाँधीजी के सामने डाक का ढेर लगा था । वह आये हुए प्रत्येक पत्र को ध्यान से पढ़ते जाते और जो हिस्सा कोरा होता उसे कैंची से काटकर अलग रख लेते । एक सज्जन वहीं पास में बैठे थे और बहुत देर से गाँधीजी को कतरते देख रहे थे । उन्होंने बहुत आश्चर्य से पूछा–''मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप इन कतरनों को एक ओर एकत्रित कर क्यों रखते जा रहे हैं ? इनका क्या उपयोग है ? ''

''मुझे जब पत्रों के उत्तर देने होते हैं तब मैं इन्हीं कतरनों का उपयोग करता हूँ । यदि ऐसा न करूँ तो यह कागज बेकार हो जायेंगे और इससे दो प्रकार की हानियाँ होंगी, एक तो अनावश्यक खर्च की वृद्धि हो जायेगी और दूसरे राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट होगी । किसी देश में जितनी वस्तुएँ होती हैं वह सब उस देश की सम्पत्ति मानी जानी चाहिए । हमारा देश निर्धन है । ऐसी स्थिति में हमें धन का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए ।''

गरीब-अमीर का अन्तर

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था–''अहिंसात्मक स्वराज्य की कुंजी आर्थिक समानता है । हमारा उद्देश्य देश के मुट्ठी भर धन-कुबेरों को नीचे लाना और करोड़ों भूखे-नंगों को ऊपर उठाना है । स्वतन्त्र भारत में जबकि सबको समान अधिकार है, नई दिल्ली के भव्य भवनों और गरीब मजदूरों की झोंपड़ियों का अन्तर एक दिन भी नहीं चल सकेगा । अगर जनहित के लिए स्वेच्छापूर्वक उस वैभव, उस अधिकार का त्याग नहीं किया गया तो निश्चय ही एक दिन भयंकर हिंसात्मक क्रान्ति होकर रहेगी ।''

गाँधीजी के प्रेरणा स्रोत

जिन व्यक्तियों से महात्मा गाँधी अपने जीवन काल में प्रभावित हुए, बम्बई के एक विख्यात व्यापारी रायचन्द भाई भी उनमें से ही एक थे । वे बम्बई में हीरे-जवाहरात का व्यापार किया करते थे ।

एक व्यापारी से सौदा किया कि अमुक तिथि तक अमुक भाव में वह व्यापारी रायचन्द भाई को इतने हीरे दे देगा । व्यापारी और रायचन्द भाई ने लिखित स्टाम्प पर हस्ताक्षर कर दिये ।

संयोग से हीरों के भाव बढ़ने लगे इतने बढ़ गये कि समझौते के अनुसार वह व्यापारी रायचन्द भाई को जवाहरात दे तो उसे अपना मकान और जमीन-जायदाद सब कुछ बेचनी पड़े ।

रायचन्द भाई को इस बात का पता चला तो वे व्यापारी की दुकान पर पहुँचे । उन्हें देखते ही

व्यापारी चिन्तित हो उठा और बोला--आपके सौदे के लिए मैं स्वयं चिन्तित हूँ । चाहे जो हो वर्तमान भाव के अनुसार मैं आपको घाटे के रुपये अवश्य दे दूँगा, आप चिन्ता न करें ।

रायचन्द भाई ने कहा--"नहीं भाई तुम्हें परेशान होने की आवश्यकता नहीं है । तुम्हारी चिन्ता से मैं भी चिन्तित हूँ । हम दोनों की चिन्ता का कारण है यह लिखा-पढ़ी उसे ही समाप्त कर दिया जाय तो हम दोनों की चिन्ता ही नष्ट हो जायगी ।"

व्यापारी ने कहा- नहीं-नहीं । यह तो व्यापारिक ईमानदारी के सिद्धान्तों से विपरीत बात हुई । मैं आपको दो दिन के अन्दर सारा रुपया अवश्य चुका दूँगा ।

परन्तु रायचन्द भाई नहीं माने और कागज टुकड़े-टुकड़े करते हुए बोले--"इस लिखा-पढ़ी से तुम बँध गये थे ना किन्तु मैं तुम्हारी परिस्थिति को जानता हूँ । इन कागजों के अनुसार मेरे चालीस-पचास हजार रुपये तुम पर निकलते हैं परन्तु ये रुपये मैं तुमसे नहीं लूँगा । रायचन्द दूध पी सकता है खून नहीं ।"

दूसरे की परिस्थिति देखकर ही सच्ची सहानुभूति से लाभ उठाना व्यापार का श्रेष्ठतम आदर्श है ।

कोई काम छोटा या बड़ा नहीं होता

मगनबाड़ी आश्रम में एक दिन महात्मा गाँधी ने यह योजना बनायी कि सबके जूठे बरतन बारी-बारी से दो-तीन व्यक्ति माँजा करें । इससे आश्रमवासियों में प्रेमभाव बढ़ेगा तथा एक-दूसरे के बरतन माँजने से जो घृणा होती है वह मिट जायेगी । इस कार्य का महत्व भी एक आश्रमवासी को बताया तो उसके गले यह बात न उतरी । उक्त आश्रमवासी कहने लगे--"सबके जूठे बरतन माँजने से अव्यवस्था होने का डर है ।"

गाँधी जी ने कहा- "अव्यवस्था का निराकरण कर व्यवस्था लाना हमारा काम है । सबसे पहले मेरी और बा की बारी है ।" इसके तुरन्त बाद गाँधीजी और बा बरतन मलने में लग गये । अन्य आश्रमवासियों ने जब यह देखा तो उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा और वे भी उनके साथ हो गये । तब गाँधीजी ने कहा- "इस काम को लोग छोटा समझकर करने में डरते हैं । जबकि कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं है । छोटा या बड़ा तो दृष्टिकोण होता है ।"

सदुपयोग करना सीखें

बापू का उस दिन मौन व्रत था । वे प्रातःकाल आश्रम के बच्चों को साथ लेकर टहलने गए ।

रास्ते में एक तीन इंच लम्बा सुई का टुकड़ा पड़ा दिखाई दिया । गाँधीजी ने एक छोटी लड़की से उसे उठा लेने का इशारा किया ।

लड़की ने उसे उठा तो लिया पर उलट-पुलट कर देखने पर उसे निरर्थक पाया और आगे चलकर फेंक दिया ।

शाम को मौन टूटा तो गाँधीजी ने लड़की से वह टुकड़ा माँगा । पर वह तो उसे निरर्थक समझकर फेंक चुकी थी । गाँधीजी नाराज हुए और ढूँढ़ लाने के लिए उसे भेजा ।

टुकड़ा मिल गया और उसे साफ करके गाँधीजी ने सूत काता और कहा- "वस्तुओं का पूरा सदुपयोग करने की आदत सभी को डालनी चाहिए । बर्बादी हम तनिक भी न करें ।"

सजा तुझे नहीं मुझे भोगनी चाहिए

दक्षिण अफ्रीका के फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थियों को गाँधीजी कई-कई दिन का अस्वाद व्रत कराते थे । कुछ विद्यार्थी पहले तो लम्बा व्रत ले लेते और बाद में उनका संकल्प कमजोर पड़ने लगता । ऐसे विद्यार्थियों को वे कड़ाई से नियम पालन करने के लिए कहते ।

एक बार देवदास गाँधी आठ दिन का अस्वाद व्रत लेकर बीच में ही तोड़ने लगे । नमक पड़ी कढ़ी बनी थी और वे उसके लिये अड़ बैठे । गाँधीजी ने लाख मनाया पर माने नहीं । उलटे रोने लगे । गाँधीजी ने विचार किया वे भी तो कुछ दिन पहले देवदास की तरह ही संकल्प तोड़ देते थे । बेटे का क्या दोष ? दोष मेरा है । दण्ड मुझे मिलना चाहिए । अतः वे जोर-जोर से अपने ही गालों पर तमाचे मारने लगे । "देवदास यह मेरी ही भूल का परिणाम है जो तू मचल रहा है । सजा तुझे नहीं मुझे भोगनी चाहिए ।"

गाँधीजी के इस व्यवहार का देवदास पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे व्रत पर दृढ़ हो गये ।

हृदय परिवर्तन इस तरह

गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था । ब्रिटिश सरकार भी गाँधीजी के नये-नये आन्दोलनों से तंग आ गई थी । एक अँग्रेज अधिकारी ने तो क्रोध में यहाँ तक कह दिया "यदि मुझे गाँधी अभी कहीं मिल जाय तो मैं उसे गोली से उड़ा दूँ ।"

बात छिपने वाली न थी, गाँधी जी को भी सुनने को मिल गई । वह दूसरे दिन सुबह ही उस अँग्रेज के बँगले पर अकेले ही पहुँच गये । उस समय वह अँग्रेज सो रहा था, जगने पर गाँधीजी की भेंट हुई उन्होंने कहा--"मैं गाँधी हूँ । आपने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है । आपकी प्रतिज्ञा आसानी से पूर्ण हो सके अतः मैं यहाँ तक अकेला ही चला आया हूँ । अब आपको अपना काम करने में सुविधा होगी ।" इतना सुनकर अँग्रेज पानी-पानी हो गया । मारने की कौन कहे उसके मुख से कोई अपशब्द तक न निकला । उसका हृदय उसी समय बदल गया और बाद को तो वह गाँधीजी का परमभक्त बन गया ।

वचन-भंग सबसे बड़ा पाप

इंगलैण्ड के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर भोज था । उसमें गाँधीजी भी आमन्त्रित थे । नियत समय पर गाँधीजी पहुँच गये । भोज में एकत्रित सभी व्यक्ति उच्च प्रतिभा और

सम्मान वाले व्यक्ति थे । भोजन परोसा गया । उन्होंने देखा भोजन की थाली में माँस है तो वे उठकर खड़े हो गये और खाने से इन्कार कर दिया । लोग आश्चर्यचकित रह गये । तभी एक अँग्रेज ने कहा–माँस खाने से क्या होता है ? गाँधीजी बोले–माँ को दिये गये वचन को तोड़ना ही क्या कम पाप है, जो मैं माँसाहार के पाप पर विचार करूँ ।

संयम का प्रभाव

कस्तूरबा उन दिनों अस्वस्थ थीं । स्वास्थ्य सुधारने के कितने ही प्रयत्न हो चुके थे पर सभी निष्फल गये । एक दिन गाँधीजी ने दाल और नमक छोड़ने की सलाह दी । अपनी बात के समर्थन में स्वास्थ्य सम्बन्धी साहित्य के कुछ अंश भी पढ़कर सुनाये पर 'बा' उनकी बात मानने को तैयार नहीं हुईं । उन्होंने झुँझलाते हुए कहा–"आप मेरे इतने पीछे पड़े हैं दाल और नमक तो आप भी नहीं छोड़ सकते ।"

गाँधीजी को यह बात चुभ गयी, अच्छी बात है तुम नहीं छोड़ना चाहतीं तो मत छोड़ो मैंने आज से एक वर्ष के लिये दोनों ही वस्तुयें छोड़ दीं । गाँधीजी को 'बा' के प्रति प्रेम व्यक्त करने का यह अपूर्व अवसर मिला था, इसे वह सहज छोड़ना नहीं चाहते थे । उन्होंने कहा यदि मैं अस्वस्थ होता और मेरा चिकित्सक इस प्रकार का परहेज करने के लिये कहता तो मैं खुशी-खुशी तैयार हो जाता ।

गाँधीजी की एक साल तक नमक और दाल छोड़ने की प्रतिज्ञा ने कस्तूरबा को यह समझाने में सफलता प्राप्त की कि संयम से कुछ भी कठिन नहीं वरन् सरल है और लाभदायक भी ।

ईश्वर पर भरोसा

गाँधीजी उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में थे । उनके साथ जर्मनी के निवासी कैलन बैक रहते थे । दोनों में अच्छी मित्रता थी । वहाँ के पठानों को गाँधीजी की नीति पसन्द न आई तो वह नाराज हो गये । कुछ व्यक्तियों ने पठानों के कान और भर दिये ।

कैलन बैक को ऐसा अनुभव हुआ कि वह पठान कभी भी गाँधीजी पर आक्रमण कर सकते हैं, अतः उन्होंने गाँधीजी की सुरक्षा हेतु एक रिवाल्वर की व्यवस्था कर ली गाँधी जी के साथ कैलन बैक को जहाँ– कहीं जाना होता वह अपने कोट की जेब में रिवाल्वर छिपाकर ले जाते । गाँधी जी को इस सम्बन्ध में तनिक भी जानकारी न थी ।

एक दिन अचानक गाँधीजी की दृष्टि कैलन बैक के कोट में रखी रिवाल्वर पर पड़ी । उन्होंने पूछा 'इतना तो बताइये कि यह रिवाल्वर आप अपनी जेब में क्यों रखते हैं ?'

"मुझे ज्ञात हुआ है कि कुछ पठान आपसे रुष्ट हो गये हैं । पता नहीं कब आप पर आक्रमण कर दें । "

"अच्छा ! तो आप मेरी रक्षा उनसे करना चाहते हैं ।"

"इरादा तो यही है ।" फिर तो मैं निश्चिन्त हो गया कि मेरी रक्षा का दायित्व अब तक ईश्वर के हाथ में था और अब आप उसे अपने हाथ में ले रहे हैं । जब तक आप जीवित हैं तब तक मेरा बाल-बाँका नहीं हो सकता । यह भी खूब रही । आप ने मेरे प्रति मैत्री और आत्मीयता का भाव रखने के कारण ईश्वर के अधिकार को छीनने का साहस किया"

कैलन बैक अब क्या कहते । उन्होंने रिवाल्वर निकाल कर बाहर फेंक दिया ।

भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता

भारतीय संस्कृति पर लेख लिखने के लिए गाँधी जी ने कलम उठाई । उन्होंने प्रथम वाक्य लिखा–"भारत की संस्कृति से तुलना करने वाली विश्व की कोई भी संस्कृति नहीं है ।" पहला ही वाक्य पूरा लिख पाये थे कि कलम रुक गई । अभी तो बहुत कुछ लिखना शेष था । अब बार-बार उस वाक्य पर ही उनकी दृष्टि जाने लगी वे स्तब्ध हो गये । और कुछ लिखने के स्थान पर उनके नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी ।

गाँधीजी से उनकी आत्मा ने पूछा–"तुम तो सत्याग्रही हो, फिर क्या सोचकर अपनी संस्कृति की इतनी प्रशंसा करने लगे । क्या तुम्हें ध्यान नहीं कि देश के लाखों अस्पृश्य नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं । इनसे अच्छी स्थिति तो पशु-पक्षियों की है । फिर यह तुमने कैसे लिख दिया कि इस संस्कृति की समानता विश्व की अन्य कोई संस्कृति नहीं कर सकती ।" और बाद को भारतीय संस्कृति की महिमा पर लेख लिखने का विचार ही छोड़ दिया ।

बचपन के गुरु

स्वराज्य आन्दोलन के दिनों की बात है । राजकोट में कठियावाड़ राज्य प्रजा परिषद का अधिवेशन हो रहा था । बापू अन्य नेताओं के साथ मंच पर बैठे थे । तब ही उनकी दृष्टि दूरी पर बैठे एक वृद्ध पर पड़ी । वे गाँधीजी को कुछ जाने-पहचाने से लगे । स्मरण शक्ति पर जरा जोर देने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि ये तो मेरे बचपन के अध्यापक हैं ।

बापू शीघ्र ही मंच से उतरकर उनके पास गये और प्रणाम करके उनके चरणों के समीप बैठ गये । गुरुजी से उन्होंने परिवार की कुशल-क्षेम पूछी । जब काफी समय बीत गया तो गुरुजी ने बापू से कहा–"अब आप मंच पर पधारिये । नेतागण आपकी प्रतीक्षा कर रहे होंगे ।" बापू बोले–"नहीं–नहीं मैं यहीं पर ठीक हूँ । अब मैं मंच पर नहीं जाना चाहता । यहीं बैठकर सारा कार्य देखूँगा । आप चिंता न कीजिये ।" सभा समाप्त होने पर वे चलने लगे तो अध्यापक ने गद्‌गद् होकर आशीर्वाद दिया–"जो व्यक्ति तुम जैसा अहंकार रहित हो, महान कहलाने का अधिकारी वही हो सकता है । "

ऐसे थे गाँधी जी

बेतिया में कोई कार्यक्रम था । बिहार का एक किसान भी गाँधीजी को देखना चाहता था सो वह भी बेतिया के लिये चल पड़ा ।

किसान की कल्पना में महात्मा गाँधी का बढ़ा-चढ़ा स्वरूप था । वे विलायती कपड़े पहनते होंगे । बड़े डील-डौल वाले होंगे । फर्स्ट क्लास में चलते होंगे । राजाओं-महाराजाओं का-सा भोजन करते होंगे । उस बेचारे को क्या पता था कि सच्चे सेवक अपना जीवन महत्वाकांक्षाओं से नहीं विनयशीलता, सेवा-भाव, लगन और सादगी से सजाते हैं ।

किसान रेलगाड़ी में सवार हुआ । थर्ड क्लास के डिब्बे । कई आदमी बैठे थे उन्हीं के बीच एक सज्जन लेटे थे । काफी थके जान पड़ते थे । किसान ने हाथ पकड़ कर उन्हें उठाते हुए कहा-"उठकर बैठें ऐसे लेटे हो जैसे तुम्हारे बाप की गाड़ी है ।"

वह महाशय उठ बैठे । उन्हें इस तरह उठाये जाने से न तो खिन्नता थी न द्वेष-भाव । अब किसान मजे से बैठ गया और छेड़ ही तो दी तान उसने "धन-धन गाँधीजी महाराज दु:खियों का दु:ख मिटाने वाले ।" उधर डिब्बे के सब लोग मुस्कराते रहे । बेतिया में गाड़ी रुकी तो लोग गाँधीजी को उतारने दौड़े । उनकी जय-जयकार से स्टेशन गूँज उठा । किसान बेचारा यह देखकरा स्तब्ध रह गया कि जिस व्यक्ति को उसने हाथ से उठाकर बैठा दिया वही गाँधीजी थे ।

अन्याय के विरोध की शक्ति

स्वतन्त्रता मिलने के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगों की हवा चल पड़ी थी । एक दिन शाम को किसी कार्यकर्त्ता ने आकर गाँधीजी को कोई दर्दनाक बात बताई । अब तो उन्हें बहुत दु:ख हुआ । वे बोले-"इस तरह इन घटनाओं का अन्त होने वाला नहीं है । अब मुझे उपवास रखना ही पड़ेगा ।" और दूसरे ही दिन से गाँधीजी ने उपवास-व्रत ले लिया ।

अगले दिन शाम को कुछ कार्यकर्त्ता गाँधीजी से भेंट करने गये तो उन्होंने गाँधीजी को बहुत ही प्रसन्न पाया । वे सोच रहे थे कि जब व्रत शुरू किया है तब तो इन्हें कुछ उदास होना चाहिए था । आखिर वह पूछ ही बैठे "गाँधीजी ! आज आप इतने प्रसन्न क्यों नजर आ रहे हैं ?"

गाँधीजी ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया-"कल तक मैं अन्याय की बातें सुनता था और चुप हो जाता था । पर आज से अन्याय का विरोध करने की शक्ति भी मुझमें आ गई है और अब मैंने अन्याय का सामना करने का संकल्प भी कर लिया है । मेरे लिये इससे अधिक प्रसन्नता की बात और क्या हो सकती है ।"

अपव्यय की वृत्ति कितनी घातक

महात्मा गाँधी से एक मारवाड़ी सेठ भेंट के लिये आये । वह बड़ी-सी पगड़ी बाँधे थे और मारवाड़ी वेशभूषा में थे । बात-चीत के बीच उन्होंने पूछा-"गाँधीजी ! आपके नाम पर लोग देशभर में गाँधी टोपी पहनते हैं और आप इसका इस्तेमाल ही नहीं करते ऐसा क्यों ?"

गाँधीजी मुस्कराते हुए बोले-"आपका कहना बिल्कुल ठीक है, पर आप अपनी पगड़ी को उतारकर तो देखिये, इसमें कम से कम बीस टोपियाँ बन सकती हैं । जब बीस टोपियों के बराबर कपड़ा आप जैसे धनी व्यक्ति अपनी पगड़ी में लगा सकते हैं, तो बेचारी उन्नीस आदमियों को नंगे सिर रहना ही पड़ेगा । उन्हीं उन्नीस आदमियों में मैं भी एक हूँ ।"

गाँधीजी का उत्तर सुनकर सेठजी को कुछ कहते न बना । वह चुप हो गये, पर गाँधीजी ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा-"अपव्यय, संचय की वृत्ति अन्य व्यक्तियों को अपने हिस्से से वंचित कर देती है ।" तो मेरे जैसे अनेक व्यक्तियों को टोपी से वंचित रहकर उस संचय की पूर्ति करनी पड़ती है ।

कठिनाइयों से जूझने वाले-

अब्राहम लिंकन

सन् १८१६ केन्टू-की हार्डिन काउन्टी स्थित कुटी में रहने वाला एक निर्धन परिवार । परिवार के चार सदस्य पिता-थामस लिंकन, माता नैन्सी हैंक्स, नौ वर्षीय पुत्री और सात वर्षीय पुत्र एब । कुछ परिस्थितियों ने इस परिवार को अपना निवास स्थान छोड़ने के लिये विवश किया । उत्तर-पश्चिम के जंगल की ओर यह चारों चल पड़े । जंगल बीहड़ था, कुल्हाड़े से मार्ग बनाना पड़ता था । भोजन का कोई साधन न होने के कारण थामस लिंकन अपनी बन्दूक से शिकार करते और सबका निर्वाह उसी से होता था ।

इण्डियाना की जैन्ट्रविले बस्ती में पहुँचकर एब ने कुटिया का निर्माण किया । बिस्तर के स्थान पर सूखे पत्ते बिछा लिये गये । इसके अतिरिक्त सामान के नाम पर उस कुटिया में स्टूल, मेज और धर्म ग्रन्थ बाइबिल ही देखी जा सकती थी । एब अपनी माता से अधिक स्नेह करता था पर अधिक समय उसकी देख-रेख में एब का पालन पोषण न हो सका क्योंकि वह शीघ्र ही परलोकगामी हो गई । एब माता के विछोह पर बहुत रोया, बाद को उसने इण्डियाना से बाहर की दुनिया को भी देखना शुरू किया ।

अब पढ़ाई के प्रति उसकी रुचि बढ़ती जा रही थी, पर निर्धन पिता साधन जुटाने में असमर्थ था । ऐसी विवशता के बीच उसने गरीबी और दुर्भाग्य को कोसने की अपेक्षा सूझ-बूझ और परिश्रमशीलता को ही वरण किया । वह अपने परिचित व्यक्तियों तथा विभिन्न पुस्तकालयों से पुस्तकें ले आता था और पढ़कर समय पर वापस कर आता, पर एक बार एक पुस्तक उससे खराब हो गई तो बदले में तीन दिन मजदूरी करके उसकी कीमत चुकाई । ऐसा स्वाभिमानी बालक था वह एब ।

कुछ दिनों पश्चात् उसका विवाह एक विधवा से हो गया । उसने अपने तीन बच्चों के साथ परिवार में प्रवेश किया । एब की पत्नी बड़े अच्छे स्वभाव की थी वह अपने

पति को सदैव अधिक से अधिक पुस्तकों का अध्ययन करने के लिये प्रेरित करती रहती थी । वह यही समझाती कि जिस कार्य का प्रारम्भ करो, अनेकानेक आपत्तियाँ आ जाने पर भी उसे बीच में न छोड़ो । आपत्तियाँ तो मनुष्य की परीक्षा लेने के लिये आया करती हैं । फिर उनसे घबराने की क्या आवश्यकता ? पत्नी के प्रति एब की श्रद्धा बढ़ती ही जा रही थी ।

एब को कहीं वाशिंगटन की जीवनी पढ़ने को मिल गई । पुस्तक बड़ी प्रेरणाप्रद थी । वह अमेरिका के राष्ट्रपति बनने का स्वप्न देखने लगा । यदि कोई व्यक्ति किसी कार्य की पूर्ति हेतु जुट जाता है । तो प्रारम्भ में लगने वाला स्वप्न भी एक दिन पूर्ण होकर रहता है । एब के साथ भी तो यही हुआ । वह दिन में किसानों के साथ खेत में काम करता, पौधे लगाता, लकड़ी फाड़ता और रात्रि का समय स्वाध्याय में लगाता था ।

उस समय एब की आयु केवल १८ वर्ष की थी । एक दुकान पर नौकरी लग गई । नौकरी में उसका मन कम ही लगता था पर जीविका उपार्जन के लिए भी तो कुछ करना जरूरी था । वहाँ से १५ मील दूर न्यायालय लगता । न्यायाधीश दोनों पक्ष के वकीलों की दलीलें सुनकर निर्णय दिया करते । एब को जब कभी समय मिलता १५ मील दौड़ा जाता और मुकदमों की कार्यवाही सुनता । वकीलों की बहस सुनने में उसे बड़ा आनन्द आता था । वह गाँव की दुकान पर काम करते हुए भी कानून की पुस्तकें पढ़ने लगा ।

एक वकील हत्यारे के पक्ष में बहस कर रहा था और एक से एक बढ़कर दलीलें प्रस्तुत कर रहा था । एब ने प्रथम बार ही ऐसी बहस सुनी थी । न्यायालय का समय समाप्त हुआ तो एब उस वकील से हाथ मिलाने और प्रशंसा करने के लिये आगे बढ़ा, वह वकील बिना हाथ मिलाये उपेक्षा से ही आगे बढ़ गया । इस तरह अनेक उपेक्षाएँ और अपमान एब को अपने जीवन में सहन करने पड़े, पर वह घबराया नहीं, बाधाओं के सामने झुका नहीं ।

एब प्रगति की राह पर निरन्तर बढ़ता जा रहा था । अब वह आटा चक्की तथा दूकान का व्यवस्थापक बन गया । आस-पास चारों ओर उसकी ख्याति 'ईमानदार' एब के नाम से बढ़ती जा रही थी । यदि उसके पास किसी ग्राहक का कुछ रह जाता या पैसों में भूल हो जाती तो वह कई मील पैदल जाकर पैसे लौटाता । एब का जन्म किसी धनी परिवार में तो हुआ न था और न उसे किसी व्यवसाय का विशेष ज्ञान था, ऐसी स्थिति में उसे जैसा काम मिल जाता उसी में लगन के साथ जुट जाता ।

साक्य कबीले के सरदार ब्लैकहोल के साथ युद्ध छिड़ जाने पर सैनिकों की भर्ती शुरू हो गई । एब की नियुक्ति सैनिक कम्पनी के कप्तान के पद पर हो गई और वह भी युद्ध भूमि में पहुँच गये । वहाँ वह अपने कष्टों को भूलकर दूसरों की सेवा में लगे रहते और अपने साथियों की अधिक चिन्ता करते थे । यही कारण था कि उनके मित्र और स्नेही बढ़ते जा रहे थे ।

युद्ध की समाप्ति पर अनेक साथियों ने राज्य सभा का चुनाव लड़ने का परामर्श दिया पर एब यह समझने लगे मानो उनका मजाक किया जा रहा है क्योंकि अब तक उनमें पूर्णरूप से आत्मविश्वास नहीं जग पाया था । वे चुनाव में सम्मिलित हुये पर सफलता उनसे दूर ही रही । असफलता के पश्चात् निराश होना या उस कार्य को छोड़ देना उन्होंने सीखा न था । वह हर असफलता से शिक्षा ग्रहण करने वाले थे । वह बारीकी से असफलता प्रदान करने वाली परिस्थितियों का अध्ययन करते और फिर उन्हें दूर करने का प्रयास करते थे ।

दूसरी बार चुनाव आया तो वह पुनः प्रत्याशी बने इस बार वह जनता की कठिनाइयों को ईमानदारी से अनुभव करने लगे । पर इस समय उनके पास इतने पैसे तक न थे कि नया सूट बनवाते । आखिर इस आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने उधार पैसे लेकर की । अब राजनीति उनका कार्य-क्षेत्र था । वकालत की पुस्तकें पढ़कर वह पूरी तरह से वकील बन गये थे । सत्य पक्ष पर आधारित मुकदमों को ही वह लेते थे । न्यूओर्लियन्स जाने पर उन्होंने देखा कि काले रंग के अनेक स्त्री-पुरुष जंजीरों में भेड़-बकरियों की तरह से बँधे हुए हैं और उन दासों को मंडियों में बेचने ले जाया जा रहा है । मानवता के साथ यह दुर्व्यवहार उन्हें बहुत अखरा और उन्होंने दास व्यापार के उन्मूलन की दिशा में भरसक प्रयत्न किया ।

सन् १८६० का वर्ष एब के जीवन में बड़े महत्व का था क्योंकि ए० डगलस को परास्त कर अमेरिका जैसे विशाल देश के राष्ट्रपति बनने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ । एक ओर इतना बड़ा पद उन्हें मिला तो दूसरी ओर अनेक आन्तरिक समस्याएँ थीं, जिनका सुलझना भी बड़ा आवश्यक था । बहुत से दक्षिणी राज्यों ने संघ से अलग होने की घोषणा कर दी । कई युद्ध हुये पर एब ने संघ की रक्षा का नारा लगाया । हजारों युवक एक ही आवाज पर एब के पीछे चलने को तैयार हो गये । बचपन में एब के नाम से पुकारा जाने वाला वह युवक अब्राहम लिंकन के नाम से सम्पूर्ण विश्व में ख्याति प्राप्त कर चुका था ।

लिंकन की सेवाओं का ही यह प्रभाव था कि वह दूसरी बार राष्ट्रपति चुने गये । उनकी वैचारिक दृढ़ता और आत्मविश्वास सफलता पर सफलता दिलाते जा रहे थे । उन्होंने सत्य पर आरूढ़ रहने के अपने निश्चय को दुहराया और कहा 'गृहयुद्ध के समाप्त हो जाने पर मेरा कार्य समाप्त हो जायेगा' और हुआ भी यही । जनरल ली के आत्मसमर्पण के पाँच दिन पश्चात् जब लिंकन फोर्ड थियेटर में खेल देखने गये तो एक देशद्रोही ने उनके पीछे से गोली मारकर जीवन लीला समाप्त कर दी ।

लिंकन के द्वारा उठाया गया कार्य समाप्त हो चुका था । पुनर्निर्माण के युग का आरम्भ हो रहा था । उन्होंने

जिस ईमानदारी, योग्यता और साहस के साथ राष्ट्र का नेतृत्व किया वह राजनेताओं के लिये प्रकाश-स्तम्भ के समान है।

सफलता का मूल्य

एक नौजवान नदी के किनारे पर बैठा मछलियाँ पकड़ने की कोशिश कर रहा था। पानी में तट पर छोटी-छोटी सुनहरी मछलियाँ दिखाई पड़तीं तो वह दौड़ता और पानी में हाथ डालता और वापस आ जाता। क्योंकि इतनी देर में तो मछलियाँ वापस भाग जाती थीं। उसके पास मछली पकड़ने के उपकरण भी नहीं थे। न उसने इनकी आवश्यकता समझी थी। शायद उसकी दृष्टि में उनका कोई उपयोग था भी नहीं। इनके अभाव में वह बार-बार प्रयत्न करता, खाली हाथ लौटता रहा और निराश होकर तट के किनारे आकर बैठ गया।

एक मछुआ जो बहुत देर से उसे देख रहा था पास आया और बोला-भाई! मछलियाँ पकड़ने के साधन नहीं होंगे तो तुम कभी अपने इरादे पूरे नहीं कर सकोगे और उसने नौजवान को कील-काँटा, छड़ी और चारा दिया। उसने काँटे में चारा फँसाया और नदी के पानी में डोर से बाँधकर फेंक दिया। अब वह यह सोचता हुआ निश्चिन्त-सा बैठा था कि ढेर सारी मछलियाँ स्वयं ही फँस जायेंगी। घण्टा भर बीत गया। सूरज पश्चिम की ओर ढलने लगा था। नौजवान ने कील-काँटा पानी से निकाला और देखा तो आश्चर्यचकित रह गया। एक भी मछली काँटे में नहीं फँसी थी। उसे लगा मछुए ने उसे गलत बात कही है। वह दौड़ा हुआ मछुए के पास गया और शिकायत भरे स्वर में बोला कि तुमने मुझे अन्धेरे में रखा है। एक भी मछली नहीं फँसी है।

सारी बात जान लेने के बाद मछुए ने समझाया कि 'दोस्त मछली केवल उपकरणों से ही नहीं पकड़ी जाती। कील-काँटा पानी में डालकर निरन्तर सजग रहना पड़ता है और बार-बार प्रयत्न करना पड़ता है।'

मछुए की यह शिक्षा उसे गुरुमन्त्र-सी लगी और उसने अपने व्यावहारिक जीवन में भी इसे उतारा अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह नौजवान बार-बार असफल होकर भी निराश न होते हुए प्रयत्नशील रहने के कारण संसार के एक बहुत बड़े और सर्वाधिक समृद्ध देश का राष्ट्रपति बना, उस नौजवान का नाम था-'अब्राहम लिंकन।'

लिंकन जब राष्ट्रपति बने तो वे अक्सर इस घटना का उल्लेख किया करते थे। एक बार उनके किसी मित्र ने उनसे पूछा- "जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए क्या करना पड़ता है?"

उन्होंने उत्तर दिया -"सफलता प्राप्त करने के लिये उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। बिना मूल्य चुकाये कोई भी चीज प्राप्त नहीं की जा सकती। मंजिल तक पहुँचने के लिये पहले से मार्ग की जानकारी होना आवश्यक है।"

"मार्ग तो खैर मैं जानता हूँ परन्तु आप मूल्य के बारे में बताइये।"

"मार्ग जानते ही उसका मूल्य भी मालूम हो जाता है" लिंकन बोले-"मार्ग जानने के बाद सफलता तक पहुँचने के लिये उस मार्ग पर चलने का साहस और धैर्य सफलता की कीमत है। जीवन का मार्गदर्शन करने वाले सैंकड़ों तत्व दुनिया में मिलते हैं। परन्तु ये सब कील-काँटे की तरह हैं। बिना प्रयत्न किये इनका कोई मूल्य नहीं। इनका होना भर अपर्याप्त है, निरर्थक है। यही नहीं हानिकारक भी है। केवल इतने पर ही आस लगाये बैठे रहने से अवसरवादी तत्व पास में जो कुछ होता है वह भी छीन भागते हैं। कील-काँटे के साथ जिस तरह प्रयत्न और धैर्य की आवश्यकता है उसी प्रकार मार्ग और साधनों के साथ-साथ साहस और धैर्य भी जुड़ा होना चाहिए।"

लिंकन का यह निचोड़ कितना सारगर्भित है। मार्ग-दर्शन देने वाली, रास्ते के अवरोध, कठिनाइयाँ और संघर्ष बताने वाली शक्तियाँ तो बहुत हैं और वे बड़ी सहजता से उपलब्ध भी हैं परन्तु कमी तो हममें हैं जो उस दिशा में चलने का प्रयत्न करने से ही घबराते हैं। प्रयत्न न करने और जल्दी ही निराश होकर बैठ जाने से हम इन शक्तियों और ईश्वर प्रदत्त सुविधाओं का लाभ नहीं उठा सकेंगे। इस कृपणता को त्यागकर सफलता का मूल्य चुकाने के लिये जितनी जल्दी उन्नत हुआ जा सकेगा हम अपने उद्देश्य की ओर उतने ही शीघ्र बढ़ने लगेंगे।

अविचल निष्ठा और ईमानदारी

अब्राहम लिंकन जो अमेरिका के सर्वाधिक प्रसिद्ध राष्ट्रपति रहे तथा जिन्होंने अमेरिकी इतिहास में कई स्वर्णिम पृष्ठ जोड़े-को आरम्भ में कोई भी काम नहीं आता था तथा न ही उनमें कोई योग्यता थी। पूँजी के रूप में उनके पास कुछ था तो केवल कार्य के प्रति अविचल निष्ठा तथा ईमानदारी। इन गुणों को लेकर ही वे जीविकोपार्जन के क्षेत्र में उतरे। धन्धा तो उन्हें कोई आता नहीं था और न ही उनके पास एक पैसा भी था अतः जो भी काम उनके सामने आता वही वे करने लगे।

प्रारम्भ में साल भर तक वे किसानों के साथ मजदूरी करते रहे। उन दिनों बारह घण्टे का कार्य दिन समझा जाता था। अतः वे सुबह से लेकर शाम तक किसानों के साथ काम करते रहते। मजदूरी तो जमकर की नहीं जा सकती। मालिक लोग जब तक जरूरत होती है तभी तक मजदूरी करवाते हैं और काम समाप्त होने पर छुट्टी कर देते हैं। लिंकन को भी इसी प्रकार यत्र-तत्र मजदूरी की

तलाश में भटकते रहना पड़ा । कभी वे एक किसान के यहाँ काम करते और कभी दूसरे के यहाँ ।

एक बार उन्हें तथा उनके सौतेले भाई को किसी ने नाव बनाकर दी और उस नाव को नदी द्वारा न्यूऔर्लियन्स लाने ले जाने के लिए नौकर रख लिया । लिंकन ने अपना कार्य बड़ी मेहनत और दायित्व निष्ठा के साथ पूरा किया । इससे नावों का मालिक जिसका नाम ओफ्फुट था बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने लिंकन को न्यूसलेम में अपनी चक्की तथा एक दुकान का प्रमुख कर्मचारी बना दिया । लिंकन अपने ग्राहकों के साथ पूरी ईमानदारी और विनम्रता से पेश आते थे । एक बार उन्होंने किसी ग्राहक स्त्री को सवा आठ रुपये का सामान बेचा । हिसाब करने के बाद उक्त स्त्री ने सवा आठ रुपये चुका दिये और कैशमीमो लेकर चली गयी । शाम को जब सारी बिक्री का हिसाब किया गया तो लिंकन ने पाया कि वह स्त्री चार आने अधिक दे गयी ।

लिंकन ने तुरन्त पता देखा और दुकान बन्द कर उस पते पर जाने लगे । वह स्त्री दुकान से लगभग चार मील दूरी पर रहती थी । लिंकन चार मील पैदल गये और उस स्त्री को चार आने वापस कर क्षमा माँगने के बाद पैदल ही वापस लौटे । चार आने वापस करने के लिए लिंकन को इतनी दूर आया देखकर वह स्त्री चकित तो हुई ही उनकी ईमानदारी से प्रभावित हुए बिना भी न रही ।

इसी प्रकार एक बार उन्होंने किसी ग्राहक को पाव भर चाय बेची । ग्राहक चाय लेकर चला गया । बाद में दूसरे ग्राहक को सामान तोलते समय उन्होंने देखा कि पूर्व ग्राहक को पाव भर चाय तौलते समय उन्होंने आधा पाव का बाट ही रखा था । उस ग्राहक को निबटाने के बाद लिंकन आधा पाव चाय लेकर तुरन्त उस ग्राहक के पास गये तथा बाकी की चाय देकर आये ।

जीवन निर्वाह के लिये मजदूरी करते हुए भी लिंकन पढ़ते रहे तथा अपनी योग्यता बढ़ाते रहे । अपनी ईमानदारी के कारण वे काफी लोकप्रिय हो गये थे । ऑफ्फुट की दुकान पर काम करते हुए ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया । अपने सद्व्यवहार तथा ईमानदारी से उन्होंने न्यूसलेम में अपने कई मित्र बना लिये थे और जब वे राज्य संसद के चुनाव में खड़े हुए तो वह मित्र ही उनकी पूँजी थे । लोग कहा करते थे कि "लिंकन के पास और कुछ नहीं केवल बहुत सारे मित्र हैं ।" यद्यपि इस चुनाव में उनकी हार हुई थी लेकिन वोट से हारने वाले लिंकन मन से तो अपराजित ही रहे । वे तब तक संघर्ष करते रहे जब तक सफल न हुए ।

इस सफलता का रहस्य स्वयं लिंकन के शब्दों में कार्य के प्रति निष्ठा और ईमानदारी ही था । राष्ट्रपति बनने पर जब उन्होंने दास प्रथा का अन्त कर दिया तब भी उन्हें इसी बात का सन्तोष था कि वे अपना वचन पूरा कर सके ।

उदारमना की उदारता

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने अत्यन्त निर्धन और अभावग्रस्त परिवार में जन्म लेकर अपने चरित्र, पुरुषार्थ और अध्यवसाय से इतनी उन्नति की । निरन्तर की प्रयत्नशीलता, सच्चाई और निर्धारित लक्ष्य के प्रति निष्ठा ऐसे सद्गुण हैं जो मनुष्य को कहीं से कहीं ले पहुँचते हैं । गुणों का अभाव, आलस्य, निराशा और हीन मनोवृत्ति के लोग जीवनभर जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं, आगे बढ़ना तो दूर कई बार वे इन्हीं दुर्गुणों के कारण नीचे गिरने लगते हैं, जो आगे बढ़े हैं उन्होंने ज्ञात या अज्ञात रूप से अपना निर्माण अवश्य किया है । अपने को गिरी मानसिक स्थिति में रखकर कोई व्यक्ति उन्नति कर सका हो और उस उन्नति को स्थिर रख सका हो ऐसा देखा नहीं गया । प्रगति का एक सुनिश्चित मूल्य है–आत्मनिर्माण । अब्राहम लिंकन ने यह मूल्य चुकाया और वे एक महापुरुष की भाँति इतिहास के पृष्ठों में अमर हैं । उन्हें संसार में बहुत दिन तक याद किया जायगा ।

वे नौकरी करते हुए पढ़ते भी जाते थे । धीरे–धीरे उन्होंने वकालत तक पास कर ली । वे ईमानदार वकील के नाम से विख्यात थे । वे कोई ऐसा मुकदमा नहीं लेते थे जिसकी सच्चाई में उन्हें तनिक भी अविश्वास हो । एक झूठे मुकदमे में दो युवक बन्दी बनाये गये और उन्हें फाँसी की सजा मिलने की सम्भावना थी, पर वस्तुतः युवक निर्दोष थे । लिंकन ने उनका मुकदमा लड़ा, उन्हें जिताया और उनकी गरीबी को देखते हुए फीस भी नहीं ली । ऐसी थी उनकी उदारता ।

लिंकन ने राजनीति में प्रवेश किया तो इसी उद्देश्य से कि दास–प्रथा का अन्त कराने के लिए कानून बनाया जाय । एक बार उन्होंने एक काली स्त्री को जंजीरों में कसी हुई घसीटे जाते देखा था । वह गुलाम थी, उसके मालिक उसे कहीं ले जा रहे थे और यातनाएँ दे रहे थे । वह आर्त क्रन्दन कर रही थी । इस बर्बरता पर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि दास–प्रथा का अन्त कराके ही दम लेंगे । राजनीति में उन्होंने प्रवेश किया, चुनाव लड़े और संसद सदस्य बने । गुलाम प्रथा को लेकर दक्षिण अमेरिका के साथ गृह युद्ध आरम्भ हो गया । लिंकन उस वक्त राष्ट्रपति थे । उन्होंने ७५००० स्वयं सेवकों की जनता से माँग की । उनकी यह माँग पूरी हुई । युद्ध लड़ा गया और संघ की विजय हुई । उन्होंने युद्ध संचालन का कार्य भी बुद्धिमत्ता के साथ पूरा किया ।

एक बार फौज से चौबीस जवान सेना छोड़कर भाग निकले । पकड़े जाने पर कोर्टमार्शल ने उन्हें गोली से उड़ाने का हुक्म दिया । लिंकन को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने मृत्यु दण्ड को रोका और कहा–अमेरिका में

पहले ही दुःख के आँसू बहाने वाली विधवाएँ बहुत हैं, मैं उनकी संख्या में और वृद्धि नहीं करना चाहता। इन्हें मारकर जमीन में गाड़ देने की अपेक्षा यह अच्छा है कि इन्हें जमीन के ऊपर रहने और काम करने दिया जाय।

दास प्रथा के उन्मूलन की घोषणा करते हुए लिंकन ने कहा—"मैंने अपने भगवान के सामने शपथ ली थी कि दास प्रथा को समाप्त करूँगा। प्रभु को धन्यवाद है कि वह साधना पूरी हो गई।" दूसरी बार जब वे फिर राष्ट्रपति चुने गये तो पद ग्रहण करते समय उन्होंने कहा— "हमें किसी के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए। उदारता ही मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है। हम संकीर्ण नहीं दूरदर्शी बनें और सबके दुःखों को अपना दुःख मानें।"युद्ध हो चुका अब हमारा काम है कि जर्जरित राष्ट्र के घावों पर मरहम पट्टी लगावें।"

लिंकन निष्ठा की मूर्ति थे। वे आदर्श के लिए जिए और उसी के लिए मर गये। वे अपने पैरों खड़े हुए, आप ही उठे, आगे बढ़े और वहाँ तक पहुँचे, जहाँ तक पहुँचना उनकी स्थिति के लोग असम्भव मानते हैं और आरम्भ से ही निराश होकर चुप बैठे रहते हैं।

भूल को कर्त्तव्य की सजगता से सुधारो

द्वितीय महायुद्ध चल रहा था। अमेरिकी सेना काफी क्षतिग्रस्त हुई, किन्तु कर्त्तव्यपरायण अमेरिकी सैनिकों का हौसला कम न हुआ।

विलियम स्काट नामक एक सिपाही उस युद्ध में लड़ रहा था। एक दिन उसे लम्बी पैदल यात्रा करनी पड़ी। अपनी रेजिमेण्ट में लौटने पर वह थककर चकनाचूर हो गया था, फिर भी सैनिकों की कमी थी इसलिये उसने रात की ड्यूटी भी स्वीकार कर ली।

उसका एक साथी बीमार हो गया था। उसके हृदय में सहानुभूति जाग पड़ी—स्काट ने अपने साथी से कहा—मित्र मैं केवल थका हूँ इसलिये मुझे कुछ भय नहीं है, थोड़ा अधिक थक जाऊँगा यही तो होगा पर तुम्हारा जीवन तो बहुमूल्य है। आज आराम करने से कल तक अच्छे हो जाओगे। लाओ तुम्हारी ड्यूटी भी मैं ही पूरी किये देता हूँ।

स्काट ने वह भी ड्यूटी दी पर अन्तिम क्षण थकान ने बुरी तरह आक्रमण किया। स्काट सो गया और जाँच के समय पकड़ा गया। सैनिक न्यायालय ने उसे गोली से उड़ा देने की सजा दी।

भावनायें उदात्त होते हुए भी मनुष्य जीवन की जटिलतायें तंग करती हैं और सच्चे सेवा-भावी, लोगों को भी स्काट की तरह दंड भुगतना पड़ जाता है। पर सच्चाई की अपनी महत्ता ही अनोखी है। कठिन परिस्थितियों में भी वह शान्ति और सन्तोष प्रदान करती रहती है। स्काट भी मृत्यु दंड से विचलित न हुआ। उसे इस बात का संतोष था कि उसने मानवीय कर्त्तव्य का पालन करने का प्रयास तो किया। भूल स्वाभाविक है उसके लिये दुःख क्यों किया जाय? हाँ, उसे यह दुःख अवश्य था कि वह अपने कर्त्तव्य को जिसे उसने स्वेच्छा से ग्रहण किया था ईमानदारी और जागरूकता के साथ पूरा न कर सका।

इसी दुःख में चिन्तित स्काट अपनी जेल-कोठरी में बैठा था। उस दिन राष्ट्रपति लिंकन सैनिक टुकड़ियों का निरीक्षण कर रहे थे। उन्हें स्काट से भी भेंट करने का अवसर मिला। लिंकन ने पूछा—जवान! तुम्हें गोली नहीं मारी जायेगी, पर तुम्हारे कारण सेना को जो तकलीफ हुई, उसका ऋण चुका सकोगे क्या?

स्काट ने अनुमान लगाया उसकी कुल जायदाद जो कई हजार रुपये की थी। उसने राष्ट्रपति से कहा—मैं यह सारी जायदाद छोड़ने के लिये तैयार हूँ।

लिंकन हँसे और स्काट के कंधे पर हाथ रखकर उन्होंने कहा—"स्काट कर्त्तव्य की चूक का ऋण धन और जायदाद से नहीं चुकाया जा सकता। तुमने जो भूल की है और जिसके कारण पराजय की परिस्थिति बनने वाली थी उसका प्रायश्चित सिर्फ एक तरह से हो सकता है, तुम प्रतिज्ञा करो कि वैसी भूल दुबारा न होने दोगे। कर्त्तव्य में चूक न होने देने का संकल्प पूरा कर सके तो तुम पिछली भूल से उऋण समझे जाओगे।"

स्काट की सजा रद्द कर दी गई। उसने इस क्षमा का अनुचित उपयोग नहीं किया। सच्चे हृदय से वह फिर युद्ध भूमि में जा डटा। घमासान युद्ध और जीवन के खतरे के बीच भी कर्त्तव्य का दिया जलता रहा। थका पर सोया नहीं, भूखा हुआ, बिना खाये लड़ता रहा। कठिन से कठिन स्थिति में भी उसने अपनी सुविधा और सुरक्षा की परवाह न की, अब कर्त्तव्य पालन ही उसका इष्ट था।

कुछ समय ही बीता था एक दिन पता चला स्काट युद्ध में लड़ते हुए बुरी तरह घायल हो गया। मरने से पूर्व उसने राष्ट्रपति लिंकन को पत्र लिखा—"आपको जो वचन दिया था संतोष है, उसे पूरा कर इस संसार से विदा हो रहा हूँ।"

स्वावलम्बन ही प्रगति का रहस्य

अब्राहम लिंकन चुनाव जीत गये। बधाई देने वाले व्यक्तियों का अपार समूह उमड़ पड़ा उनके निवास स्थान की ओर। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ तथा धनी मानी व्यक्ति पहुँचे उनके पास। उस समय वह अपनी गाय का दूध निकाल रहे थे। उनके इस कार्य को देखकर लोगों में कानाफूसी होने लगी। एक बोला "इतने बड़े नेता होकर भी छोटे-छोटे कामों को यह खुद करते हैं।" तब तक दूसरा बोल पड़ा—"बात बड़ी अजीब है इस व्यस्तता के बीच भी यह इन कार्यों के लिये समय कहाँ से निकाल लेते हैं?"

बड़े आश्चर्य से अब्राहम लिंकन के इस कार्य को आगन्तुकों के द्वारा देखा गया । लोगों को मौन खड़े देखकर उन्होंने संकेत से बैठने के लिये कहा । तब तक गाय दुहने का कार्य समाप्त हो चुका था ।

एक सज्जन ने बड़ी उत्सुकता से पूछा–" आप अमेरिका जैसे देश के इतने बड़े नेता हैं फिर गाय दुहने के इस छोटे कार्य को स्वयं करने में आपको लज्जा नहीं आती ?"

"लज्जा आती है बुरे कार्य करने में । अपने कार्य को स्वयं करने में लज्जा कैसी ? मैं तो किसी काम को छोटा या बड़ा समझता नहीं । अधिक व्यस्तता या समयाभाव के कारण जब लोगों ने अपना काम दूसरों के सुपुर्द कर दिया तो वह काम छोटा माना जाने लगा । यदि कोई व्यक्ति मेरी प्रगति का रहस्य पूछे तो मैं उससे कहूँगा कि स्वावलम्बन की इस आदत ने ही मुझे आज यहाँ तक पहुँचा दिया है ।"

स्वावलम्बी महापुरुष

एक दुबला-पतला बालक लकड़ियाँ काट रहा था । परिश्रम और पसीने से उसकी देह लथपथ थी, किन्तु वह बड़ी तल्लीनता से अपने काम में जुटा रहा । फिर उठा खाना पकाया । घर की झाड़ू लगाने से लेकर पानी ढोने तक का काम उसने अपने हाथों से किया था । फिर उसे दिन ढलते ही नींद आना स्वाभाविक था । किन्तु जीवन में सफलता की इच्छा रखने वाले व्यक्ति आराम नहीं, श्रम से आलस्य नहीं उद्योग से प्रेम करते हैं । ऐसा लगता है कि इस बच्चे ने भी यह निश्चय कर लिया था कि उसे बड़ा आदमी बनना है इसलिए अभी वह चारपाई पर नहीं गया, उसने दीपक जलाया और पढ़ने बैठ गया ।

एक दिन ब्लैक स्टोन की एक पुस्तक पढ़ने की इच्छा हुई । यह प्रत्येक बड़े लेखक के आदर्शों को अपनाता था इसलिए गुण-संचय की उसे धुन हो गई थी पर वह पुस्तक मिलती कैसे ? वहाँ से चार मील दूर एक लाइब्रेरी से पुस्तक मिल सकती थी । "चार मील कौन जाय ? " थका देने वाली कुत्सा बच्चे के जीवन में न थी वह तो तुरन्त चल पड़ा । लौटते समय रास्ते में ही पुस्तक पढ़ डाली । दुबारा घर पढ़कर लौटा दी ।

सतत् कर्मरत यही छोटा-सा बालक एक दिन अमेरिका का राष्ट्रपति बना और अब्राहम लिंकन के नाम से विख्यात हुआ ।

कार्यों का परिणाम

अब्राहम लिंकन के एक मित्र ने समाचार-पत्र की एक कटिंग उनके सामने रखते हुये कहा "देखिये न ! लोग किस तरह से आपकी आलोचना करने लगे हैं और आप चुप्पी ही साधे बैठे हैं क्यों न इसका प्रतिवाद आप भी समाचार पत्र को भिजवा दीजिए ।"

अमेरिका के महान राष्ट्रपति लिंकन का साधारण-सा उत्तर था, मेरे प्यारे दोस्त । यदि मैं आलोचकों की हर आलोचना को देखूँ और उनके उत्तर छपाने का प्रयास करूँ तो राष्ट्र के महत्वपूर्ण कार्य करने का समय शेष न रहेगा । यह तो आप सब जानते हैं कि अच्छे ढंग से राष्ट्र की सेवा सम्भवत: मैं करता हूँ, यदि मेरे कार्यों के परिणाम देश की जनता के हित में निकलते हैं तो आलोचकों की बातें स्वत: ही निरर्थक सिद्ध हो जायेंगी और यदि लोक-कल्याण की भावना पूर्ण नहीं होती, देशवासियों को सुख और सुविधाएँ नहीं मिल पातीं तो मैं क्या देवता भी आकर मेरे कार्यों का पक्ष लेते तो भी कोई उस बात को सुनने के लिए तैयार न होगा ।"

मित्रता का प्रभाव

अब्राहम लिंकन से उनके मन्त्रियों ने कहा–"आप शत्रुओं के साथ नम्रता का व्यवहार क्यों करते हैं ? इनका तो सफाया ही कर देना चाहिए ।"

लिंकन ने कहा–"मैं इनका सफाया ही कर रहा हूँ । सिर्फ मेरे और आपके तरीके सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर है । मैं इनकी गरदन काटने की अपेक्षा इनको मित्र बनाकर इनका स्वरूप ही बदले दे रहा हूँ ।"

सरलता और सादगी की प्रतिमूर्ति

एक बार एक बालिका ने अब्राहम लिंकन को उनका चित्र अपने हाथ से बनाकर भेजा जिसमें दाढ़ी थी । इससे पूर्व वे दाढ़ी नहीं रखाते थे । साथ में सुझाव भी भेजा "क्योंकि आप लम्बे हैं एवं देखने में दुबले लगते हैं । यदि आप दाढ़ी रख लें तो आपके व्यक्तित्व में और निखार आवेगा । इससे आप के पद की गरिमा भी कम नहीं होगी ।"

बालिका का सुझाव पसन्द आया, उन्होंने दाढ़ी बढ़ाना आरम्भ कर दिया । बहुत समय बाद जब लड़की से उनकी भेंट अचानक हुई तो उन्हें उसके सुझाव की बात याद आई ।

लिंकन भले ही अमेरिका के सर्वोच्च पद पर थे किन्तु थे सरल और सादा । छोटों के सुझावों का वे सम्मान करते और उन्हें क्रियान्वित भी करते थे ।

स्वावलम्बन से बढ़कर और कुछ नहीं

अब्राहम लिंकन दैनिक कामों से निवृत्त होकर सुबह ही सुबह अपने जूतों पर पालिश कर रहे थे । उनका एक मित्र आया । एक राष्ट्रपति को अपने जूतों पर पालिश करते देखा तो उसे लगा उसकी आँखें धोखा खा रही हैं । आखिर उस पर न रहा गया तो बोला–"लिंकन ! यह क्या करते हो ? तुम्हें अपने जूतों पर स्वयं पालिश करनी पड़ती है ?"

"तो क्या तुम दूसरों के जूतों पर पालिश करते हो" लिंकन ने कहा ।

इस बात पर कुछ देर के लिए कमरा कहकहों से गूँज उठा ।

मित्र ने कहा "मैं तो जूतों पर पालिश स्वयं न करके दूसरों से करवा लेता हूँ ।"

"मेरी समझ में दूसरों के जूतों पर पालिश करने से भी यह बुरी बात है कि अपने जूतों पर किसी मनुष्य से पालिश करवाई जाये । इतने छोटे-छोटे कार्यों के लिए हमें दूसरों पर आश्रित नहीं रहना चाहिए ।"

लिंकन की बात सुनकर मित्र के पास उत्तर के लिए अब शेष ही क्या रह गया था ? उनके मित्र ने भी अपना काम अपने हाथ से करने का संकल्प किया ।

झगड़ा नहीं सुलह-समझौता

अमरीका के दो किसानों में खेत की सीमा के बारे में झगड़ा उठ खड़ा हुआ । एक किसान अब्राहम लिंकन को अपना वकील बनाने के लिए उनके घर पहुँचा । लिंकन ने उससे कहा, "दोनों इस प्रकार झगड़ते रहोगे तो पीढ़ियों तक यह झगड़ा चलता ही रहेगा । तुम्हारा विरोधी भी मुझे ही अपना वकील बनाने आया है । मेरी एक सलाह है । दोनों मेरे इस कार्यालय में बैठो । मैं भोजन करने जाता हूँ । जब तक मैं लौटकर आऊँ तब तक तुम आपस में बात-चीत करके कोई समाधान कर लो ।"

अब्राहम लिंकन देर तक जानबूझ कर नहीं लौटे । किसानों ने आपस में बातचीत शुरू कर दी । दिन ढलने पर लिंकन लौट आये । उन्होंने देखा कि दोनों किसानों ने बातचीत के बाद सुलह कर ली है ।

पुरुषार्थी व्यक्तित्व

उन दिनों कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी । एक अमेरिकन युवक नाव में बैठकर नदी पार कर रहा था । उसे एक जमींदार के यहाँ मजदूरी करने के बदले कानूनी ज्ञान सीखने का अवसर मिला था । वह उसे खोना नहीं चाहता था, सो वह एक क्षण गँवाये बिना जमींदार के यहाँ चल दिया ।

नदी में बर्फ के टुकड़े बह गये थे । एक बड़ी-सी बर्फ की चट्टान टकराई और नाव टूटकर चकनाचूर हो गई । युवक के हाथ में केवल खेने के काम आने वाला चप्पू रह गया । वह किसी तरह नदी पार करके निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचा ।

जंगल में ईंधन काटकर लाने और पानी भरने का कठोर काम उसे करना पड़ता था, पढ़ाई में लगने पर उसने हिम्मत नहीं हारी । पढ़ता ही रहा और एक दिन प्रसिद्ध वकील बन गया ।

यह वकील अन्ततः अमेरिका का राष्ट्रपति बना । नाम उसका था अब्राहम लिंकन । वह सदा यही कहता रहा सफलताएँ कठोर पुरुषार्थ के बिना नहीं पाई जा सकती ।

कटुता नहीं मधुरता

अब्राहम लिंकन के युद्धमन्त्री एडविन स्टेन्टन ने एक जनरल को एक कड़ा पत्र लिखा जिसने कभी उसे गालियाँ दी थीं । वह पत्र उसने अब्राहम लिंकन को पढ़कर सुनाया । उन्होंने उसकी लेखन शैली की प्रशंसा करते हुए कहा "बहुत खूब स्टेन्टन ! तुमने बड़ा अच्छा पत्र लिखा है ।"

स्टेन्टन उस पत्र को मोड़कर लिफाफे में रखने लगा तो लिंकन ने उससे पूछा "अब तुम इस पत्र का क्या करोगे ?" "उसे भेज रहा हूँ ।" "नहीं इसे भेजने की आवश्यकता नहीं इसे फाइल कर दो ।" लिंकन बोले – "इस प्रकार कटुता बढ़ती है और समय आने पर उसे स्वयं अपनी गलती ज्ञात हो जायेगी तथा तुम्हारा मूल्य बढ़ जायेगा ।"

असफलताओं से सीख

अब्राहम लिंकन से एक बार उनके जन्मदिन पर एक पत्रकार ने पूछा आप साधारण मनुष्य से राष्ट्रपति बने इस सफलता का रहस्य क्या है ? लिंकन बोले मैंने अपनी जीवन की पग-पग पर परीक्षा की । हर असफलता से कुछ सीखा, सँभला और नये रास्ते बनाता चला गया ।

सद्‌गृहस्थ राजनीतिज्ञ—

पं० जवाहर लाल नेहरू

नेहरू जी बचपन में बड़े नटखट स्वभाव के थे । एक दिन वे ऊपर के कमरे में ऊधम मचा रहे थे । उछल-कूद के कारण उनके पिता पं० मोतीलाल नेहरू का ध्यान अपने काम से हट गया । इस कारण उन्होंने अपने पुत्र को नीचे बुलाया और डाँटकर पूछा—"ऊधम क्यों मचा रहे हो ?"

जवाहरलाल जी अपने पिता से बहुत डरते भी थे । इस डाँट को सुनकर सकपका गये और हकलाते हुए बहाना बनाने लगे—"जी जी वो नौकर जो ऊपर के कमरे का दरवाजा खोल गया था न बगीचे में से एक बन्दर भीतर घुस आया सब गड़बड़ कर गया...पिताजी ।"

पिताजी इस बहाने को सुनकर मुस्करा उठे, अपने लाड़ले के शरारती और भयमिश्रित चेहरे को देखकर हँसते हुए कहा—"तो भगा दिया न उस बन्दर को ।"

"जी हाँ परन्तु वह भागकर कहाँ जायगा, पास के ही एक पेड़ पर चढ़ गया है ।" पिता समझ चुके थे कि वह बन्दर कोई पशु नहीं उनका ही बेटा जवाहरलाल है । बोले—"हूँ तो ऐसे बन्दर को मैं रस्सी से बाँधकर रखूँगा ।" और उन्होंने अपने बच्चे को रस्सी से बाँध दिया । जवाहर चुपचाप टुकुर-टुकुर देखते रहे ।

लेकिन उनका नटखटपना नहीं छूटा । जवान होने तक स्कूल के सहपाठी और कॉलेज के अध्यापक उनकी शिकायत लेकर आते और पिता अपने बेटे को उसी प्रकार प्यार भरा दण्ड देते । एक दिन उन्होंने देखा कि वे बड़े हो गये हैं । कद में भी बराबर । जवानी में भर्राता हुआ ।

फिर भी बाँधना तो था ही । लेकिन अब की बार उन्होंने रस्सी से नहीं सत्रह वर्षीय कमला के पवित्र आँचल से बाँध दिया । नेहरू पति बन गये और कमला उनकी पत्नी । दोनों पति-पत्नी को भौतिक धरातल की सभी सुख-सुविधायें उपलब्ध थीं । मोतीलाल जी का विश्वास था कि इस उत्कृष्ट वैभव को पाकर कोई भी पुत्र अपने को गौरवान्वित अनुभव करेगा और सचमुच ही उनके लाड़ले का मस्तक गर्व से ऊँचा हो उठा । बाल सुलभ चपलता यौवन के उत्साह और कर्मशीलता में बदल गयी । कमला- सी सुगृहणी पत्नी पाकर नेहरू जी को लगा सारे संसार का सुख उन पर न्योछावर हो गया ।

आनन्द भवन की अपार सम्पदा, कमला-सी कमनीय पत्नी, पिता का विवेकपूर्ण स्नेह इन सबने मिलकर नेहरू को स्वर्गीय सुख प्रदान किया । परन्तु वे सन्तुष्ट नहीं हुए । लगा कहीं रीतापन है तभी आनन्द भवन में एक बालिका का क्रन्दन गूँज उठा । कमला ने फूल-सी कोमल और सुन्दर इन्दिरा को जन्म दिया था और नेहरू जी चौंक उठे । उन्होंने अपनी आकुलता को समझा और दिशा मिल गयी ।

नेहरू जी अपनी पुत्री इन्दिरा, पत्नी कमला एवं आनन्द भवन के सामीप्य और सुखोपभोग को तिलांजलि देकर कर्मक्षेत्र में आ डटे । कमला मन मसोस कर रह गयीं । जब उसे अपने पति और इन्दिरा को पिता का सान्निध्य भोगना था उन्हीं क्षणों में जवाहर दूर हो गये । प्रेम से अधिक महत्वपूर्ण और वरणीय कर्त्तव्य लगा था । अकेले भोगे जाने वाले सुख-वैभव की अपेक्षा उन्हें करोड़ों लोगों की आजादी आवश्यक लगी ।

जिसके शरीर पर दिन भर में कितनी ही बार अलग-अलग कीमती पोशाक पहनी जातीं वही जवाहर अब मोटी खादी पहनते थे । जिसके ऐश्वर्य-सुख को देखकर कई धनी मानी व्यक्तियों को ईर्ष्या होने लगती, वही नेहरू सीलन और बदबू भरी जेल की कोठरियों में जमीन पर सोने लगे । थालियों का भोजन, नमक मिर्च या मिठाई के जरा भी कम तेज होने से कष्ट प्राप्त जवाहर को खुश करने के लिए कुत्तों को फेंक दिया जाता था, वही वैभव विलास में पला राजकुमार कई दिनों तक उपवास करने लगा, दीखने में मोटी खादी, जमीन का बिस्तर और भूख-प्यास कितना असह्य कष्टकर लगता है, परन्तु नेहरू ने इन्हें स्वेच्छा से वरण किया ।

पिता मोतीलाल तड़प उठे । पहले उन्होंने अपने पुत्र को समझाया, लाख मना करने पर भी नहीं माने तो विवश मौन होकर सब कुछ देखते रह जाना पड़ा । उनकी यह तपस्या रंग लाई और पं० मोतीलाल भी उसी मार्ग के पथिक बन गये । बेटी इन्दिरा भी अपने पिता की अनुगामिनी बनी ।

नेहरू जी के चेहरे पर एक तेज आलोकित हो उठा । इस अभिजात पुरुष ने देशहित के लिये स्वयं को तपस्या की आग में झोंककर निखार लिया । पत्नी कमला को आरम्भ में यह सब कष्टकर लगा, परन्तु अपने पति के महान उद्देश्य को समझने के बाद उन्होंने भी अपने व्यक्तिगत सुख को तिलांजलि दे दी और वह भी अपने पति की पूर्ण सहयोगिनी बन गयी ।

कमला नेहरू के इस निष्ठाभाव का प्रमाण है-एक घटना । पं० नेहरू का अधिकांश समय उन दिनों जेलों में बीतता था और कमला नेहरू का अस्पताल में । वे बीमार रहने लगी थीं । रुग्ण इतनी कि लगता था इस बीमारी से शायद ही बचें । नेहरू जी को इस स्थिति का पता जेल में चला और उन्होंने विचार किया-जिस महिला ने अपने अधिकार सुख को देश और समाज के लिए तिलांजलि दे दी, मैं भी उसे कभी सन्तुष्ट नहीं कर पाया, इतना भी साथ नहीं रह सका कि उसे आभास हो मैं एक गृहस्थ व्यक्ति हूँ । अब अन्त समय में किसी भी प्रकार उसे यह अधिकार सुख उपलब्ध कराया जाना चाहिए और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो वे अपनी पत्नी के समीप जाकर रहेंगे ।

ब्रिटिश सरकार से इस आशय का निवेदन किया सरकार ने शर्त लगायी कि यदि वे राजनीति से संन्यास ले लें तो उन्हें कमला के पास रहने की इजाजत दी जा सकती है । नेहरूजी अजीब धर्म संकट में पड़ गये ।

समाचार फैला कि पं० नेहरू ने ब्रिटिश सरकार की यह शर्त स्वीकार कर ली है और वे राजनीति से संयास ले रहे हैं । यह समाचार आग की तरह देश भर में फैल गया । नेहरू का उस समय तक देश की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान बन चुका था । अस्पताल में रोग-शय्या पर पड़ी कमला नेहरू तक भी यह खबर पहुँची और वे अस्फुट किन्तु दृढ़ स्वरों में कह उठीं-''उनसे कह देना कि इसकी हरगिज आवश्यकता नहीं है । सरकार को वे इस प्रकार का कोई आश्वासन न दें ।''

नेहरू जी तक उनकी पत्नी का यह संदेश भिजवा दिया और उन्होंने अधिकारपूर्वक कहे गये इन शब्दों पर ही अमल किया । आखिर वे चाहते भी तो यही थे कि कमला नेहरू को अपने पत्नीत्व का अभिनव सुख मिले । बरसों से वह मौन रहकर नेहरू जी को घर परिवार से विमुख होते देख रही थीं । इसका परिणाम कहीं उलटा न हो इसी कारण तो उन्होंने यह निर्णय किया था । परन्तु उनकी भ्रांति टूट गयी, उन्हें आभास हुआ कि कमला नेहरू उनके चरण चिह्नों पर नहीं-नहीं । उनके साथ-साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही हैं ।

क्रूर काल ने कुछ ही दिनों बाद कमला को नेहरू जी से छीन लिया । नेहरू उद्विग्न हो उठे । तप त्याग की अग्नि से कंचन हुई जीवन सहचरी जब प्रेरणा स्रोत बनकर आगे आई थी तभी भगवान ने उसे उठा लिया । किन्तु नेहरू ने इसे प्राकृतिक विधान का मंगलमय परिणाम जानकर ही सन्तोष कर लिया । वस्तुतः उनकी यह विचार प्रक्रिया सही भी थी । अभी तक तो कमला का पार्थिव शरीर उन्हें प्रेरणा

दे रहा था, परन्तु अब उसकी आत्मा नेहरू की आत्मा में आकर एकाकार हो गयी थी। ये प्रेरणायें उनकी रग-रग में समा गयीं। कमला ने नेहरू के जीवन और हृदय पर एकाधिकार शासन किया था। उनकी यही पत्नीव्रत निष्ठा जवाहर को कमला से तादात्म्य कर गयी।

पत्नी से दूर रहते हुए भी उन्होंने आदर्श पत्नीव्रत धर्म निबाहा। कमला नेहरू का देहान्त हो जाने के बाद उन्हें कई व्यक्तियों और सम्बन्धियों ने दूसरा विवाह करने की सलाह दी परन्तु नेहरू जी ने उस सलाह को अस्वीकार दिया। जब स्वजनों की ओर से दबाव दिया जाने लगा तो उन्होंने एकटूक जवाब दिया–"कोई भी भारतीय पति यह नहीं चाहता कि उसके मरने के बाद उसकी पत्नी किसी और कीजीवन संगिनी बने। स्त्रियों की भावना भी इसी प्रकार की होती है। मैं दूसरे विवाह के सम्बन्ध में सोचना भी अपनी पत्नी की आत्मा से बेवफाई करने के बराबर मानता हूँ।"

इस उत्तर में पत्नी के प्रति कितनी निष्ठा छुपी हुई है। नेहरूजी के घोर विरोधियों तक ने उनकी इस दाम्पत्य-निष्ठा की मुक्त-कण्ठ से सराहना की है। नेहरू परिवार का ही विरोध करने वाले डॉ० राममनोहर लोहिया ने उनके देहान्त हो जाने पर कहा था कि "वे एक सद्गृहस्थ राजनीतिज्ञ थे।" चक्रवर्ती राज गोपालाचारी भी इस अवसर पर कह उठे "वृद्धावस्था में भी नेहरू जी में युवकों जैसी क्रियाशक्ति मौजूद थी। उनका राजनैतिक स्वरूप चाहे जो रहा हो परन्तु उनकी पत्नीव्रत निष्ठा और दाम्पत्य जीवन प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है।"

नेहरू जी का कथन बिल्कुल ठीक था कि स्त्रियों की भावनाएँ भी कुछ इसी प्रकार की होती हैं। इसलिए मैं दूसरे विवाह के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकता क्योंकि इससे कमला के प्रति वफादारी नहीं निभा सकूँगा।

इतिहास में सती महिलाओं और पतिव्रता स्त्रियों की घटनायें तथा कहानियाँ एक से एक बढ़ी-चढ़ी सुनी हैं। लेकिन नेहरू जैसे पत्नीव्रत पुरुष की कहानी अद्वितीय है। लोग जानते थे और मानते थे कि नेहरू एक नास्तिक व्यक्ति हैं। परन्तु किसे मालूम था कि वे सत्ताईस साल से अपनी पत्नी की अस्थि-राख बिना किसी को कुछ भी बताये अपने सिराहने रखकर सोया करते थे। भावना और प्रेम से बढ़कर कोई धर्म नहीं।

जो लोग नेहरू को नास्तिक मानते और कहते हैं भूल करते हैं। इतना जरूर था कि वे धर्म के आडम्बर और प्रदर्शन से सर्वथा दूर रहे। एकान्त के क्षणों में गीता का अध्ययन और अध्यात्म चिन्तन में रत जीवन सुखों का राष्ट्रहित में त्याग, सेवा और परोपकार के लिए समर्पित व्यक्ति यदि नास्तिक है तो फिर इस दुनिया में आस्तिक व्यक्ति कहीं नहीं मिल सकता।

किसी ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है–"सूर्य के सात रंगों की समन्वित आभा की भाँति उनका व्यक्तित्व अद्भुत था और उन रंगों में मधुवर्षी हरा रंग था-पत्नी के प्रति अगाध स्नेह।"

जीवन कला के कलाकार

भारत सरकार के फिल्म डिवीजन ने 'हमारे मन्त्री' नाम से एक वृत्तचित्र बनाया था, जिसमें पं० जवाहरलाल नेहरू की दिनचर्या, कार्यक्षमता, श्रमशीलता, चुस्ती-फुर्ती स्वास्थ्य, सतर्कता और निस्पृहता आदि उन गुणों का दिग्दर्शन कराया था; जिनके आधार पर वे उतना अधिक कार्य करने और इतने ऊँचे पद का उत्तरदायित्व भली प्रकार वहन कर सकने में समर्थ हो सके।

नेहरूजी की दिनचर्या मशीन की तरह पूर्णतया नियमित और व्यवस्थित थी। वे प्राय: ५ घण्टे सोते थे और शेष सारे समय अपने व्यस्त कार्यक्रम में लगे रहते थे। व्यक्तिगत कार्यों को वे फुर्ती से निपटाते थे ताकि अधिक समय अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों के निर्वाह में लगा सकें।

चुस्ती और फुर्ती उनका विशेष गुण था। स्टेनो से जब वे पत्रों का उत्तर लिखाते थे तो औसतन वे एक मिनट में १२४ शब्द बोलते थे। कभी उत्तेजना में आ जायें तो वह चाल २०१ तक जा पहुँचती थी। उनके पास महत्वपूर्ण तार व पत्रों की संख्या लगभग डेढ़ हजार रहती थी वे सभी को सावधानी से पढ़ते, देखते और गम्भीरतापूर्वक उत्तर लिखाते थे। चुनाव के दिनों उन्होंने तीन-तीन सौ मील की यात्राएँ लगातार हफ्तों तक की हैं और बहुत बार उन्होंने पन्द्रह-बीस सभाओं तक में भाषण दिये हैं फिर भी कभी उन्होंने थकान की शिकायत नहीं की और न कभी बीमार पड़े।

उनकी इस क्षमता के आधार मूल गुण थे–नियमितता, मिताहार, तत्परता, निश्चिन्तता, निश्छलता और कर्त्तव्य-निष्ठा। समय का एक क्षण भी बेकार नहीं गँवाते थे। दिनचर्या ऐसी नपी-तुली और व्यवस्थित रहती थी कि बेकार की बातों और बेकार के कार्यों में एक क्षण भी नष्ट न हो। जो काम करना उसे पूरी चुस्ती, मुस्तैदी और तन्मयता के साथ करना–इस गुण ने उनकी कार्यशक्ति कई गुनी बढ़ा दी थी। दूसरे लोग जबकि उतने समय में बहुत कम काम कर पाते थे, ढीले हाथ और उदास मन से किसी प्रकार समय काटते हुए बहुत समय में थोड़ा काम कर पाते थे, तब पं० नेहरू उतने ही समय में अपनी फुर्ती और मुस्तैदी के कारण दूसरे साथियों की तुलना में दस गुना अधिक काम निबटा देते थे।

वे भरपेट भोजन कभी भी नहीं करते थे। पेट को खाली रखते थे ताकि आलस्य न आये, पेट पर अनावश्यक वजन न पड़े और पाचन-क्रिया में गड़बड़ी उत्पन्न न हो। वे शौच-स्नान के उपरान्त नियमित व्यायाम का क्रम अवश्य पूरा करते थे। व्यायामों में उन्हें सर्वांगासन जैसे योगासन अधिक अनुकूल पड़ते थे।

बहुत उत्तरदायित्वों और समस्याओं में उलझे रहने पर भी वे उन्हें अपने ऊपर हावी नहीं होने देते थे। चिन्तित

उन्हें कभी नहीं देखा गया । निराशा क्या होती है, यह उन्होंने जाना ही नहीं । कठिन से कठिन और विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में मानसिक सन्तुलन बनाये रहना और समाधान क्या हो सकता है ? इसका शांतचित्त से खोज करना उनकी मानसिक विशेषता थी । यही कारण था कि वे बिना उलझन में फँसे दुरूह समस्याओं के हल निकालने में सफल होते रहे । जो हल नहीं निकले उन असफलताओं में भी उन्होंने खिलाड़ी की मनोभूमि कायम रखी । दुःखी या खीजते, कोसते उन्हें कभी किसी ने नहीं पाया ।

व्यक्तिगत द्वेष, अहंकार और लोभ, स्वार्थ से वे कोसों ऊँचे थे । साथियों पर कभी-कभी वे झल्ला भी पड़ते थे, पर वह आवेश एक क्षण भर का ही होता था । द्वेष या दुराव छू भी नहीं गया था । वे साथियों को सच्चे मन से प्यार करते थे फलतः जिन्हें खरी-खोटी सुननी पड़ती वे भी न तो बुरा मानते थे और न अपना अपमान अनुभव करते थे । जो भी उनके सम्पर्क में आया वह प्रेम के बन्धनों में जीवन भर के लिए बँधकर रह गया । देश-भक्ति, लोक-मंगल की कामना, कर्तव्यनिष्ठा का स्तर सदा इतना ऊँचा रहा कि व्यक्तिगत लोभ, मोह और अहंकार के प्रवेश की पहुँच वहाँ तक हो ही नहीं सकी । पं० नेहरू का पद, सम्मान और उत्तरदायित्व बहुत ऊँचा था और उससे भी ऊँचा था उनका महान चरित्र एवं व्यक्तित्व ।

साहसी नेहरू

१९२४ में प्रयाग में हुए अर्ध कुम्भ की बात है । संगम स्थल की गहराई देखते हुए सरकारी अधिकारियों ने वहाँ स्नान करने पर प्रतिबंध लगा दिया । स्नानार्थी लाखों यात्रियों ने अधिकारियों से निवेदन किया पर व्यर्थ । अँग्रेज सरकार के अधिकारी भला जनता की बात क्यों मानते ।

स्नानार्थियों को भीड़ रोकने के लिये शस्त्रधारी, डण्डेधारी पुलिस की व्यवस्था बनाई गयी थी । मालवीय जी ने स्नानार्थियों और अधिकारियों में समझौता करने का प्रयास किया । इस प्रयास में चार घंटे लग गये पर फल कुछ नहीं निकला । तभी एक युवक पुलिस के घेरे को चीरता हुआ गंगा में जा कूदा । उसके साथ ही दूसरा फिर तीसरा और देखते ही देखते सब लोग स्नान करने लगे । पुलिस ताकती रह गयी । पहले-पहले गंगा में कूदने वाले प्रथम युवक थे पं० जवाहरलाल नेहरू ।

कमला नेहरू की त्यागशीलता

जब कमला नेहरू बीमार दशा में स्विट्जरलैण्ड में थीं, नेहरू जी उनके पास थे । भारत से तार गया–शीघ्र चले आओ । भारत माता के लाल माँ की बेड़ियों को काटने के लिये तुम्हें आह्वान करते हैं । तार पढ़कर जवाहरलाल की आँखों के सामने अँधेरा-सा छा गया । एक तरफ पत्नी मरणासन्न और दूसरी ओर भारत माता की पुकार । किंकर्तव्यविमूढ़ हो चिंतामग्न हो गये । कमला ने पति को अन्यमनस्क देख पूछा–चिन्तित क्यों हो ? उत्तर मिला–कुछ नहीं । कमला बोली–"बात कुछ अवश्य है । आप कभी किसी बात को मुझसे नहीं छिपाते फिर आज चोरी क्यों ?" जवाहर ने मौन तोड़कर स्पष्ट कर ही दिया कि एक ओर तुम इस दशा में हो, दूसरी ओर भारत माता का आह्वान है । यदि तुम्हारे मोह में तुम्हारे पास रहता हूँ तो दुनिया कहेगी कि कैसा स्वार्थी है जवाहर, चालीस करोड़ जनता की परवाह न कर मायाजाल में फँस गया और यदि जाता हूँ तो तुम कहोगी कि अन्त समय में भी साथ नहीं दिया । उत्तर मिला–नहीं प्राणनाथ ! तुम चिन्ता न करो । मैं ठीक हो जाऊँगी । तुमको माता स्वरूप रानी ने कमला के लिये नहीं, अपितु चालीस कोटि भारत माता के पुत्रों की पराधीनता की बेड़ियों को विछिन्न करने के लिये जन्म दिया है । तुम्हें अविलम्ब भारत चले जाना चाहिए ।

कितनी त्याग की भावना थी इस उत्तर में ! जवाहर आये निज देश की गुलामी छुड़ाने और उधर चिरसंगिनी कमला इस दुनिया से सदा के लिये चल बसी ।

नेहरू की संवेदनशीलता

पंडित जवाहरलाल नेहरू कार से कहीं जा रहे थे । खिड़की से सिर बाहर निकाल कर देखा कि एक लड़का बस से टकराकर सड़क पर गिर पड़ा है और खून से लथपथ है ।

पंडितजी ने अपनी कार रुकवाई और उस लड़के के पास गये । वहाँ पर काफी लोग उस लड़के को घेरे खड़े थे पंडितजी को देखते ही उन्होंने जय-जयकार शुरू कर दी । वह पास में खड़े लोगों पर बरस पड़े "जय-जय क्या चिल्ला रहे हो, तुम्हें इस बच्चे को अस्पताल ले जाते हुए शर्म आ रही है" इतना कह उन्होंने अपनी कार में उस लड़के को लिटाया और अस्पताल ले गये इसके बाद ही वह पूर्व निर्धारित स्थान की ओर रवाना हुये ।

प्रामाणिकता हो तो गंगाधर शास्त्री जैसी

दो मित्र आपस में बातें करते हुए चले जा रहे थे । एक कह रहा था–"व्यक्तित्व यदि प्रामाणिक हो, तो सहयोग-सहकार मिलने में किसी को कोई कठिनाई नहीं होती ।"

"किन्तु" दूसरा मित्र कुछ कहते-कहते रुक गया ।

'किन्तु क्या ? क्या तुम मेरी बातों से सहमत नहीं हो ?"

"सहमत तो हूँ, पर जो स्वयं अपनी आँखों से देख रहा हूँ उसे कैसे झुठला दूँ ।"

"क्या देख रहे हो ?"–मित्र ने प्रश्न किया ।

"क्या तुमने सदाशिव के बारे में नहीं सुना । किस प्रकार लोगों की आँखों में धूल झोंक कर पैसे ऐंठ रहा है । आजकल तो उसकी चाँदी है । पाँचों अँगुलियाँ घी में हैं । कभी-कभी तो मैं भी सोचता हूँ कि क्यों न उसी का

रास्ता अपना लूँ ? कम से कम मौज-मस्ती की जिन्दगी तो कटे । दिन भर का पसीना बहाकर बस उतना उपार्जित कर पाता हूँ, जिससे किसी प्रकार खींचतान कर परिवार का गुजर चल पाता है । दूसरी तरफ सदाशिव को देखो । काम न धाम, फिर भी अमीरी जैसे ऐश ! कितना पक्षपाती है भगवान । एक तो श्रम कर-करके मर रहा है और दूसरा हाथ तक नहीं हिलाता व कमाता रहता है ।

"भगवान को दोष तुम दो, दोस्त ! मुझे तो अपना सौभाग्य मानना चाहिए कि हम परिश्रम की कमाई खाते हैं और मुफ्त के माल को हाथ भी नहीं लगाते । सारी बीमारियाँ मुफ्त के माल के साथ ही जुड़ी होती हैं । सबसे अधिक रोगी और बीमार ऐसे ही लोग होते हैं, क्योंकि वे पसीना बहाने से जी जो चुराते हैं । अनैतिक कमाई के कारण समाज में अपमान और अनादर होता है सो अलग और कोई फिर क्या तुम्हें नहीं मालूम काठ की हाँडी चूल्हे में एक ही बार चढ़ती है ।"

"हाँ, मालूम तो है और यह भी जानता हूँ कि ऐसे लोगों के झाँसे में व्यक्ति एक बार से दूसरी बार नहीं आता, भले ही दूसरी बार वह सही ही क्यों न हो, क्योंकि उसने अपनी प्रामाणिकता जो खो दी ।"

"बिल्कुल ठीक कहा । क्या तुमने भेड़िये और बालक की वह कहानी नहीं सुनी, जिसमें बालक प्रतिदिन झूठमूठ भेड़िया-भेड़िया चिल्लाकर किसानों को इकट्ठा कर मजा लेता और एक बार जब भेड़िये से सचमुच सामना हो गया, तो उसकी चीख-पुकार से भी कोई मदद के लिये नहीं आया । वह जान गँवा बैठा, क्योंकि किसान उसे मसखरा बालक समझ बैठे थे । अतः मित्र अप्रामाणिकता की हानियों को समझने की कोशिश करो ।"

"क्या तुमने काशी के शासकीय संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य श्री गंगाधर शास्त्री के बारे में नहीं सुना है ?"

नाम तो कुछ परिचित-सा जान पड़ता है, पर इससे अधिक कुछ विशेष उनके बारे में मालूम नहीं । तनिक उन पर प्रकाश डालने की कोशिश करोगे ?

"अवश्य-अवश्य । मैं उन्हें अत्यन्त निकट से जानता हूँ । कई बार निजी रूप से भी मिल चुका हूँ । अतिशय शालीन और नम्र प्रकृति के व्यक्ति हैं । कथनी और करनी में काया और छाया जैसी समानता । किसी को भी वचन दे दिया, वे उसे समय पर पूरा करते हैं । जो कहते हैं, वही करते भी हैं अन्दर और बाहर कोई असमानता नहीं । जो बात मन में है, उसी को वे प्रकट करते और तदनुरूप करते भी हैं । इन्हीं गुणों के कारण तो समाज में उनका सम्मान और प्रतिष्ठा है और मितव्ययिता की तो बात ही क्या ? ऐसा प्रतीत होगा, मानो प्राचीनकाल के किसी अपरिग्रही ऋषि से साक्षात्कार हो गया हो ।

"कुछ और विस्तार से बताने की कृपा करो ।"

"हाँ १८९७ की घटना है । एक दरिद्र ब्राह्मण के मन में विशाल यज्ञायोजन की इच्छा हुई, पर वह स्वयं और अपने परिवार का मुश्किल से ही किसी प्रकार गुजारा कर पाता था । पैतृक सम्पदा कुछ थी नहीं । नित कुँआ खोदने और पानी पीने जैसी स्थिति थी, फिर इतना विशाल यज्ञ कैसे सम्पन्न हो । बहुत विचार करने के बाद उसके मन में एक उपाय सूझा–काशी संस्कृत कॉलेज के आचार्य गंगाधर शास्त्री के पास चला जाय । वही इस संदर्भ में सहायता कर सकते हैं । उनकी सज्जनता और सहृदयता की प्रशंसा उसने भी सुन रखी थी, सो एक दिन वह उनके घर पहुँच गया । समस्या बतायी, पर शास्त्री जी तो स्वयं छोटे से वेतन में अपना, अपने परिवार का निर्वाह कर रहे थे । फिर छोटी-मोटी रकम की बात होती, तो कहीं से प्रबन्ध भी कर देते, किन्तु ब्राह्मण की योजना तो विशाल आयोजन की थी, जो उनके बूते के बाहर की बात थी । मगर कुछ सोचकर उन्होंने हाँ कर दी । ब्राह्मण तैयारी में जुट पड़ा और शास्त्री जी ने पूरे क्षेत्र में यह ऐलान करवा दिया कि एक विशाल यज्ञायोजन हेतु जनता की सेवायें तन, मन, धन से अपेक्षित हैं । आपके सहयोग के बिना यह सफल नहीं हो सकता । एक ब्राह्मण की प्रतिज्ञा का सवाल है । आशा है–आप सब इस क्षेत्र में कोताही नहीं करेंगे । इतना ऐलान करवाना था कि दूसरे ही दिन से उनके घर के सामने दानदाताओं का ताँता लग गया । कई दिनों तक यह क्रम चलता रहा । काफी बड़ी राशि दान में आ गयी । फिर भी दान-दाताओं की कतार लगी रहती ।

शास्त्री जी ने जब यह महसूस किया कि अपेक्षित धन एकत्र हो गया है और इतने से यज्ञ की सफलता में कोई कमी नहीं पड़ने वाली है, तो उन्होंने कातर भाव से विनीत होकर दाताओं से आग्रह किया कि "बड़ी विवशतापूर्वक कहना पड़ रहा है कि जितने धन की आवश्यकता थी, वह जमा हो गया है । अब और की जरूरत नहीं रही । अतः शेष लोगों की सेवायें बाद में आवश्यकता पड़ने पर ले ली जायेंगी । आशा है मुझे क्षमा करेंगे ।" इस घोषणा के बाद लोग बेमन से वहाँ से चल पड़े । उन्हें दुःख इस बात का था कि वह सुपात्र को सत्प्रयोजन के लिये सहायता करने से वे चूक गये, पर गंगाधर शास्त्री के बार-बार समझाने पर उनकी पीड़ा कुछ हलकी हुई । बाद में नेपाल नरेश ने भी अपने यहाँ ऐसे ही यज्ञ सम्पन्न करने के लिये उन्हें आमन्त्रित किया । वे गये और इस प्रकार के अनेक यज्ञ सम्पादित किये । दान-दक्षिणा के रूप में वहाँ उन्हें जो कुछ भी धन प्राप्त हुआ, उसे वहाँ एक पाठशाला के निर्माण के लिये दान कर दिया । स्वयं के लिये उस राशि से एक फूटी कौड़ी भी नहीं रखी । इसे प्रामाणिकता कहते हैं, मित्र ! व्यक्ति प्रामाणिक हो तो गंगाधर शास्त्री की तरह ।

सखा ने समर्थन में सिर हिलाया और कहा "आज इसीलिए हर व्यक्ति एक-दूसरे को शंकित दृष्टि से देखता है, क्योंकि उसके आचरण और व्यवहार में जमीन आसमान का अन्तर होता है । अभी जो कुछ कहा, दूसरे ही क्षण उसके विपरीत आचरण । प्रामाणिकता के अभाव

में कोई किसी की सहायता करने से भी हिचकिचाता है । हमें भी श्री गंगाधर शास्त्री की तरह बनने की कोशिश करनी चाहिए, मित्र ।'' यह संकल्प लेकर दोनों मित्र अपने-अपने घर गये । सचमुच प्रामाणिकता सबके द्वारा सराही जाती है ।

उत्कट देशभक्ति के प्रतीक

राव तुलाराम

असफलताएँ जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में आती हैं वैसे ही देश व समाज के जीवन में भी आती हैं और वे सफलता का प्रथम सोपान बनकर अपनी भूमिका निभा जाती हैं । हम जब इनका मूल्य आँकने बैठते हैं तो प्राय: सफलताओं पर ध्यान केन्द्रित कर बैठते हैं और असफलता के रूप में आयी उन घटनाओं का मूल्यांकन करना भूल जाते हैं । १८५७ की क्रान्ति के बारे में भी हमारे कुछ ऐसे ही विचार हो सकते हैं पर ये सही नहीं हैं ।

१८५७ के संग्राम के सेनानी का मूल्य असहयोग के किसी सेनानी से कम आँकना उनके साथ अन्याय करना ही होगा । युग के संदर्भ में उनकी भूमिकाएँ भी उतनी ही महत्वपूर्ण थीं जितनी बाद वालों की रहीं । अतीत के गर्भ में दबे उन स्वतन्त्रता के दीवानों का व्यक्तित्व व कर्तृत्व हमारे लिये आज भी प्रेरणा का स्रोत बन सकता है । ऐसे ही एक सेनानी की बात हम करने जा रहे हैं, राव तुलाराम की, जिन्होंने हरियाणा में इसका नेतृत्व किया ।

राव तुलाराम ९ दिसम्बर, १८२५ में रेवाड़ी के राज परिवार में जन्मे । सुख-सुविधाएँ और हास-विलास के साधनों की सुलभता ने अधिकांश व्यक्तियों को स्वकेन्द्रित और अकर्मण्य बनाया है । अँग्रेज इस तथ्य को अच्छी तरह जानते थे अत: उन्होंने देशी राजाओं के राज्यों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर उन्हें इन्हीं सब पतन के जंजालों में उलझाकर वर्चस्वहीन बना दिया था । किन्तु तब उन्हें बड़ी ठोकर लगी । १८५७ की क्रांति के पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण था । किन्तु राव तुलाराम के सामने ऐसी कोई दिक्कत नहीं थी । वह तो विशुद्ध रूप से देशप्रेम से ही प्रेरित हो इस संग्राम में कूदे थे ।

जिस नवयुवक को दैहिक सुखोपभोग के समस्त साधन उपलब्ध हों वह फिर क्रान्ति और देशप्रेम की बातें कैसे करने लगा, जबकि उसकी तरह अन्यान्य राजकुमार तो इन्हीं से उलझे हुए थे । इस परिवर्तन का श्रेय उनकी अध्यात्म दृष्टि को जाता है जो अपने कुलगुरु से मिली थी । स्मरण रहे १८५७ की क्रान्ति में गुप्त प्रचार का काम समाज के इसी वर्ग ने किया था ।

अँग्रेज अपना राज्य स्थापित करके ही चुप नहीं रह गये थे । उनका पहला हमला तो भारत की भूमि पर हुआ था और वे अपनी भेदनीति के कारण उसमें सफल भी हो गये पर उनका अगला हमला भारतीयों के धर्म और उनकी संस्कृति पर था, यदि वे इसमें सफल हो जाते तो फिर उन्हें यह सोने की चिड़िया छोड़नी न पड़ती । पर इस दूसरे हमले से भारत का जनमानस आन्दोलित हो उठा था । यह कहना कि १८५७ की क्रान्ति थोड़े से राजाओं का विद्रोह था सरासर गलत होगा । इस क्रान्ति के जन्म के मूल में धर्म संस्कृति पर होने वाला आक्रमण ही था । तभी तो सैनिक, साधु-संन्यासी और सामान्य प्रजाजनों ने भी इसे अपनी लड़ाई मानकर इसे जारी रखा था । अँग्रेज इतिहासकारों ने इसे विप्लव की संज्ञा देकर सत्य पर परदा डालने का प्रयास किया है । वस्तुत: यह आंशिक रूप से राजनैतिक और आंशिक रूप से धर्मयुद्ध था ।

राव तुलाराम कुशल प्रशासक व योग्य सेनानी थे । इस तथ्य को उनके बड़े भाई कृष्ण गोपाल राव भली प्रकार जानते थे । बड़े भाई ने इस युद्ध में रेवाड़ी का मोर्चा अपने छोटे भाई को सम्हलाया । और स्वयं मेरठ की कमान सम्हालने जा पहुँचे राव तुलाराम ने रेवाड़ी का प्रबन्ध हाथ में आते ही भारत माँ की बेड़ियाँ तोड़ फेंकने के कार्य में जी जान से जुट पड़ने का निश्चय कर लिया ।

रेवाड़ी एक छोटी-सी रियासत थी । एक रियासत के छोटे से अधिपति की क्या हिम्मत थी कि वह एक ऐसे साम्राज्य को चुनौती दे जिसमें कभी सूर्य अस्त ही नहीं होता । किन्तु यहाँ स्मरणीय तथ्य यह है कि इस बार देशी राजाओं ने संगठन की शक्ति को समझा था, साथ ही देश धर्म को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के ऊपर स्थान दिया था । राव तुलाराम की शक्ति भी ये उदात्त भावनाएँ ही थीं ।

क्रान्ति की बारूद में आग समय के पहले पड़ जाने पर भी अँग्रेजों को छठी का दूध याद आ गया था । क्रान्ति का बिगुल बजते ही राव तुलाराम ने गुड़गाँव मेकर्नल फोर्ड की अँग्रेज सेना की ओर रुख किया । कर्नल फोर्ड व उसके सैनिक इन देशभक्तों के आगे ठहर न सके । इस लड़ाई में उन्हें रसद, गोला बारूद की प्राप्ति भी हुई । अब तो उन्होंने रेवाड़ी के निकट की अँग्रेजी-छावनी का भी सफाया कर उस पर अधिकार कर लिया ।

गोकुलगढ़ में तोपें ढालने व टकसाल आरम्भ करके उन्होंने दिल्ली और आसपास के देशभक्त क्रान्तिकारियों की धन व शस्त्रास्त्र से सहायता की । १६ नवम्बर को नसीबपुरा में इनका मुकाबला कर्नल जोरार्ड से हुआ । अँग्रेजी सेना के पास तोपें, गोला-बारूद व सैनिक संख्या अधिक होने के बावजूद भी वे इन अल्प प्रशिक्षित देशभक्तों के सामने नहीं ठहर सके । कर्नल जोरार्ड व उसके बहुत से सैनिक राव तुलाराम व उनके साथियों के द्वारा मारे गये । किन्तु दूसरे ही दिन पंजाब व राजस्थान के देशी राज्यों की सेनाएँ अँग्रेजों की मदद

के लिये आ पहुँचीं । उनसे हुए संग्राम में वे बुरी तरह घायल हुए । उनके साथियों ने उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया ।

इस पराजय से राव तुलाराम निराश नहीं हुए । देशव्यापी क्रान्ति में एक स्थान पर हुई पराजय का उनके लिये कोई अर्थ नहीं था और फिर वे इस संग्राम में कूदे तो सब आगा-पीछा सोचकर ही कूदे थे । देश और धर्म के लिये मरे तो स्वर्ग और जीवित रहे तो विजय श्री का वरण, इस भावना ने उन्हें निराश होने का अवसर ही नहीं दिया ।

उन्होंने अपनी बची-खुची शक्ति को एकत्रित किया और हजार कष्ट-कठिनाइयों को सहते हुए भी आजादी की लड़ाई को जारी रखने के लिये कालपी के निकट तौंत्याटोपे से जा मिले ।

इस समय उस क्रान्ति के स्तम्भ एक-एक करके टूटते जा रहे थे । नाना साहब और तौंत्याटोपे भी इस स्थिति में नहीं थे कि इसको सफल बना सकें । समय के पूर्व भिन्न-भिन्न समय में भिन्न स्थानों पर क्रान्ति फूटने का कारण उसमें वह शक्ति नहीं रही जो यकायक विस्फोट में हो सकती थी फिर भी राव तुलाराम निराश नहीं हुए । वे अँग्रेजी सरकार की आँखों में धूल झोंकते हुए भारत की भावी स्वतन्त्र सरकार के राजदूत बनकर विदेशी सरकारों से सहायता लेने के लिये भारत से बाहर निकले । वहाँ पुन: शक्ति संगठित करने का प्रयास किया । बचकर भारत से भाग निकलने वाले क्रान्तिकारियों को उन्होंने संगठित भी किया पर वे उनसे कुछ काम ले पातें, उसके पूर्व उनका देहान्त हो गया । उनकी देशभक्ति की यह भावना भारत की नयी पीढ़ी को व्यक्तिगत सुखों से ऊपर उठकर राष्ट्र के जीवन-मरण के प्रश्नों को सुलझाने की प्रेरणा देती रहेगी ।

जिन्होंने जनता को नया स्वर दिया-

ठाकुर दयानन्द

सन् १९०५ में जब राष्ट्रीय नेताओं ने स्वदेशी अपनाने का आह्वान किया तो भारतीय देशभक्तों में, लाख अच्छी हो पर विदेशी वस्तु परित्याज्य और कितनी भी बुरी हो पर अपने देश की चीज अच्छी, इस विचारधारा ने लाखों व्यक्तियों के आन्तरिक और बाहरी जीवन में उथल-पुथल मचा दी । उस समय तो राजनैतिक आन्दोलन बड़ी तेजी से भड़का पर शीघ्र ही उसका जोश ठण्डा पड़ने लगा । यह आन्दोलन कुछ ही समय में शान्त भले ही पड़ गया हो पर इसका प्रभाव चिरस्थायी हुआ ।

जो भावनाशील लोग इस आन्दोलन के प्रवाह में बह गये थे उन्होंने बहना ही स्वीकार किया । बंगाल के एक शासकीय कार्यालय में कार्यरत एक कर्मचारी ने देश-प्रेम की भावना में अपनी नौकरी छोड़ दी और राष्ट्रीयता तथा भारतीयता के प्रति स्वयं को समर्पित कर दिया । युवक का चिन्तन दूसरी ही दिशा में चल रहा था । वह सोचता था वर्षों की गुलामी ने भारतीय जनमानस को इस बुरी तरह दिवालिया बना दिया है कि वह अपने गौरवशाली सांस्कृतिक मूल्यों को भी भूलता जा रहा है । कई शताब्दियों के इस्लामी राज्य ने भारतीय जनता को अपनी संस्कृति के प्रति उतना उदासीन नहीं बनाया जितना कि लगभग १०० वर्ष के ब्रिटिश राज्य ने । युवक इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब तक भारतीय जनता के हृदय में भारतीय जीवन मूल्यों के प्रति आस्था को पुनर्जाग्रत नहीं किया जाता तब तक स्वदेश प्रेम का स्थायी आधार नहीं बनेगा ।

स्वदेशी आन्दोलन जब ठण्डा पड़ गया तो कई विचारशील व्यक्तियों ने भी इस स्थिति को अनुभव किया । वे भी सोचने लगे कि हम लोग अपने जातीय महत्व और गौरव को शनै:-शनै भूलते जा रहे हैं । विस्मृति का यह गम्भीर रोग अपनी सीमा पर पहुँच गया है अगर थोड़े समय और ऐसा चलता रहा तो भारत में ब्रिटिश राज के पैर स्थायी रूप से जड़ें जमा लेंगे । अत: मूर्धन्य नेताओं का ध्यान सांस्कृतिक पुनर्जागरण की ओर भी गया । कई लोग अभियान स्तर के प्रयास में जुटे, सभाएँ होतीं, संगठन खड़े किये जाने लगे, जन-सम्पर्क आरम्भ हुआ और जन-साधारण को भाँति-भाँति के तरीकों से अपने सांस्कृतिक गौरव का स्मरण कराया जाने लगा ।

पर वह युवक जिसकी आयु मुश्किल से तीस वर्ष रही होगी-अपने लिए भिन्न रास्ता बना रहा था । वह आसाम के सिलचर नगर में गया और वहाँ से तीन मील दूर पहाड़ी जगह पर एक आश्रम की स्थापना की । जिसका नाम रखा-अरुणाचल आश्रम । अन्य लोग जहाँ सभायें आयोजित कर भाषणों द्वारा सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कार्य वैचारिक धरातल पर कर रहे थे, वहीं इस युवक ने विचार से भी अधिक गहरे प्रभावित करने वाली भावनाओं के तार छेड़े । आश्रम में नित्य प्रति संकीर्तन चलता और उनके माध्यम से लोगों की भावनायें जगायी जातीं । संकीर्तन और भजन गायन से किसको परहेज होता सो सभी वर्ग के लोग आश्रम आते । युवक की वाणी में ऐसा जादू था कि वह हर किसी के हृदय को छू जाती और मन में ऐसी टीस कि सुनने वालों के अन्दर तक घुसती जाती । यही कारण था कि आश्रम में आने वाले युवक धीरे-धीरे देश और जाति के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने की भावना से संन्यास लेने लगे । इस प्रकार जन जागरण का विशेष प्रयोजन पूरा करने के लिए धर्म के माध्यम से ही आगे पग बढ़ाने वाले अरुणाचल आश्रम के संस्थापक का नाम था ठाकुर दयानन्द । जिन्होंने आगे चलकर जब स्वतन्त्रता आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो एक से एक तपे हुए स्वतन्त्रता सेनानी देश को दिये ।

अरुणाचल आश्रम में भगवान शंकर और महाकाली की प्रतिमा स्थापित की गयी थी और उसकी अध्यक्षा स्वामी विवेकानन्द की शिष्या भगिनी निवेदिता को बनाया गया। सिस्टर निवेदिता उस समय भारत में स्त्री शिक्षा और समाज सेवा का कार्य कर रही थीं तथा युवकों को राष्ट्र प्रेम और देशभक्ति की प्रेरणा भी देती। आश्रम में हर वर्ग और हर स्थिति के व्यक्ति को आने तथा मिशन का कार्य करने की छूट थी। लिंग और जाति भेद के कारण किसी से असमानता का व्यवहार नहीं किया जाता था। इस कारण ठाकुर दयानन्द के इस प्रयास की सामाजिक और विचारशील धार्मिक नेताओं ने भी सराहना की।

आश्रम यों तो संकीर्तन का केन्द्र और धर्म प्रचार का कार्य करता दिखाई देता था। पर मूलत: वहाँ से जो प्रवृत्तियाँ चलती थीं वे राष्ट्रीयता के जागरण और लोगों में स्वतन्त्रता प्राप्ति की भावना जगाने का ही प्रयोजन पूरा करती थीं। इस मिशन की कार्यप्रणाली बहुत कुछ बंकिम बाबू के उपन्याय 'आनन्दमठ' की तरह थी, आनन्दमठ उपन्यास ने अपने समय में स्वतन्त्रता आन्दोलन को जो बल दिया वह एक संगठन से भी अधिक है। इसमें एक ऐसे संन्यासी दल की कहानी है जो किसी घने जंगल में गुहा बनाकर रहता है और विदेशी शासकों को मातृभूमि से खदेड़ देने का प्रयत्न करता है।

अरुणाचल आश्रम के कार्यकर्त्ता कुछ दिनों बाद गाँव-गाँव में भ्रमण करने लगे और प्रचार तथा संगठन बनाने लगे। उनके भजनों से सांस्कृतिक जागरण की ध्वनि सुनकर अँग्रेज अधिकारियों को शंका होने लगी कि ठाकुर दयानन्द कहीं 'आनन्द मठ' की योजना को कार्यान्वित करने में तो नहीं लगे हैं, इसकी जाँच करने के लिए जासूस भी लगाये गये पर सारा काम इतने सुनियोजित ढंग से चलता रहा कि अँग्रेजों को उन पर हाथ डालने का मौका भी नहीं आया।

लेकिन अधिकारियों को तो जैसे विश्वास हो गया था। इसलिए सरकार ने अरुणाचल आश्रम के आस-पास पुलिस का पहरा लगा दिया। वे आश्रम से सम्बन्धित लोगों को भी तरह-तरह से डराने-धमकाने लगे। शासकीय कर्मचारियों पर आश्रम से कोई सम्बन्ध न रखने के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उनका आना जाना भी रोक दिया गया पर आश्रमवासी इससे न तो विचलित हुए और न भयभीत। वे अपना काम पूर्ववत करते रहे। अँग्रेज सरकार ने जब आश्रम के कार्यकर्त्ताओं को परेशान करना आरम्भ किया तो सन् १९११ में ठाकुर दयानन्द ने घोषणा की कि सरकार हम पर जो दोष लगा रही है और हम पर अत्याचार कर रही है उससे मजबूर होकर हम भी यह घोषणा करते हैं कि उसे हम अपना शासन नहीं मानते। आश्रमवासी उससे परेशान होकर जो कदम उठायें उसकी जिम्मेदारी शासक वर्ग पर ही होगी।

इस घोषणा से सरकारी अधिकारियों का रोष और बढ़ गया तथा ८ जुलाई, १९१२ को पुलिस के एक बड़े दल ने आश्रम पर धावा बोल दिया। आश्रमवासियों ने पुलिस वालों का प्रतिरोध नहीं किया तो भी शीघ्र ही पुलिस के सिपाहियों ने गिरफ्तार कर लिया और उन्हें बन्दूक के कुन्दों तथा संगीनों से बहुत मारा। महात्मा गाँधी ने इससे आठ वर्ष बाद असहयोग का शंखनाद किया था पर ठाकुर दयानन्द ने जैसे उसी समय असहयोग का एक उदाहरण प्रस्तुत किया। आक्रमण उन पर भी हुआ और उनकी रक्षा करते हुए माता मैत्रेयी की हड्डी टूट गयी।

सब मिलाकर लगभग ६० व्यक्ति गिरफ्तार किये गये। जिन्हें शाम तक थाने में रखा गया। उनमें से ४५ को छोड़ दिया गया और शेष पर मुकदमा चलाया गया जिनमें ठाकुर दयानन्द भी थे। ठाकुर दयानन्द ने अदालत में भी बयान देने से इन्कार कर दिया और वहाँ भी असहयोग किया। उन्होंने इतना ही कहा-"अभी तक सरकार ने हमारी शिकायतों पर ध्यान न देकर पक्षपात किया है। इसलिए मुझे अपना बचाव के लिए कुछ नहीं कहना।"

ठाकुर दयानन्द के अन्य शिष्यों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया और उन्होंने भी अपने बचाव में कुछ नहीं कहा। जब किसी ने अपने बचाव में कुछ नहीं कहा तो फैसला करने में क्या लगता था। अँग्रेज न्यायाधीश ने ठाकुर दयानन्द को डेढ़-डेढ़ वर्ष की और शेष व्यक्तियों को तीन महीने से लेकर एक वर्ष तक की सजा दी। जेल जाते समय उन्होंने अपने अनुयायियों को धैर्य बँधाते हुए कहा-"जिन लोगों में आध्यात्मिक शक्ति का विकास हो चुका है, उनकी गति को कोई नहीं रोक सकता। यहाँ तक कि भगवान भी।"

उनके शिष्यों को आतंककारी कार्यों का भय नहीं था वरन् अपने गुरु पर आयी इस विपत्ति का दु:ख था। लेकिन वे हाथ पर हाथ रख कर बैठे नहीं रहे। कुछ समय बाद, अरुणाचल आश्रम के कार्यकर्त्ता पुन: संगठित होकर अपना कार्यक्रम चलाने लगे। अब जगह-जगह कीर्तन यज्ञ होते। पबना नगर के एक कार्यकर्त्ता ने अपने यहाँ सात दिन अखण्ड कीर्तन चलाया। इससे वहाँ के अधिकारियों में बड़ी खलबली और चिन्ता फैली। उन्होंने किसी तरह कीर्तन मण्डली को वहाँ से हटाया।

राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत करने के साथ-साथ अरुणाचल मिशन की दूसरी विशेषता थी समाज सुधार के कार्यक्रम। उस समय ऊँच-नीच, बाल-विवाह, सती प्रथा आदि कितनी ही कुरीतियाँ समाज को घुन की तरह चाटे जा रही थीं। स्वामी जी द्वारा चलाये गये कीर्तन कार्यक्रमों द्वारा सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन से चेतना जाग्रत हुई।

इसके साथ ही ठाकुर दयानन्द ने सामाजिक विचारधारा भी समाज को दी और अरुणाचल मिशन की विचार और कार्यपद्धति को स्पष्ट करते हुए मिशन की एक पत्रिका में लिखा-एक नवीन शक्ति प्राप्त करके संन्यासियों

का एक दल कार्य सिद्धि के लिए उद्यत होगा । अनेक युवक साधनारत होकर अग्रसर होंगे । भारत जाग्रत होगा, समस्त विश्व में धर्म का राज्य स्थापित करने के लिए अब नया प्रकाश और नवीन आनन्द लेकर नया युग आ रहा है । भारतवासी क्षुद्र होकर नहीं रहेंगे वरन् सारे विश्व में एक विराट और उदार सभ्यता का प्रचार करेंगे ।

इस प्रकार विश्वधर्म और विश्व मैत्री का संदेश देते हुए ठाकुर दयानन्द ने सन् १९३१ में महाप्रयाण किया । उन्होंने भारतीय जनता को नवजागरण का संदेश देते हुए विश्वधर्म का जो उदार स्वरूप विचारशील व्यक्तियों के सम्मुख रखा आज भी जन-जन के लिए प्रेरणास्रोत का कार्य कर रहा है ।

दास बाबू की दानशीलता

श्री चितरंजनदास के पिता श्री भुवन मोहन सिर से पैर तक कर्ज में डूबे हुये थे । वे स्वयं एक अच्छे वकील थे और काफी आमदनी थी पर अत्यन्त उदार और उग्र स्वभाव के कारण उन्होंने दूसरे कितने ही लोगों की देनदारी स्वीकार कर ली थी । एक बार अपने क्लर्क की प्रार्थना पर वे किसी व्यक्ति के जमानतदार हो गये, पर वह धोखेबाज आदमी निकला और भुवन मोहन पर उसके ३० हजार रुपये की देनदारी आ गई । जिस समय दास बाबू ने वकालत आरम्भ की ये सारे ऋण, पिता-पुत्र दोनों के नाम लिख दिये गये । कुछ लोग तो अपना रुपया वसूल करने अदालत तक जा पहुँचे । इस कारण भुवन मोहन और चितरंजन दोनों को दिवालिया घोषित कर दिया गया और १६ जून, १८९६ को उनकी जायदाद और माल-असबाब पर सरकारी कब्जा हो गया ।

चार साल से भी अधिक समय तक दास बाबू को अपने बड़े परिवार का भरण-पोषण करने के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा । कलकत्ता हाईकोर्ट के बड़े-बड़े वकील प्रायः दीवानी मुकदमे ही करते हैं । पर इस क्षेत्र में वकालत चल निकलने और सफलता मिलने में काफी देर भी लगती है । दास बाबू की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वे इतने दिन प्रतीक्षा कर सकें । इसलिये उनको फौजदारी मुकदमे भी लेने पड़ते थे और उनकी पैरवी के लिये जिलों की छोटी अदालतों में जाना पड़ता था । जब अन्य सब वकील अपनी घोड़ागाड़ी (उस समय तक मोटरें नहीं चली थीं) में बैठकर हाईकोर्ट जाते थे तब दास बाबू ट्राम द्वारा जाते और वहाँ से पैदल घर आते । इतना ही नहीं उनको अनेक बार अपनी हैसियत के बैरिस्टरों की अपेक्षा कम फीस स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ता था ।

उस समय दास बाबू की आर्थिक दशा कितनी खराब थी इस सम्बन्ध में नाटौर के महाराज ने एक बार एक घटना सुनाई थी । उनकी चितरंजन से घनिष्ठ मित्रता थी और वे उनके यहाँ प्रायः आते-जाते रहते थे । एक बार जब महाराज उनके यहाँ पहुँचे तो देखा कि चितरंजन उदास और अकेले बैठे हैं । कुछ समय बाद जब फिर वे वहाँ गये तो उनको पहले की अपेक्षा बहुत प्रसन्न पाया । इसका कारण यह था कि उनको एक ऐसा मुकदमा मिल गया था जिसमें ३०० रु० फीस मिलने वाली थी । महाराज एक बड़े मुकदमे के लिये इतनी छोटी रकम देखकर आश्चर्य करने लगे पर दास बाबू ने उसे कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया था, क्योंकि उन दिनों उनके पास घर के दैनिक खर्चों के लिये भी पैसा न था ।

पर इतना होने पर भी दास बाबू के हृदय में न किसी प्रकार की दीनता आई थी और न वे धन को अनुचित महत्व देने लगे थे । उनको अपने ऊपर लगे 'दिवालिया' के कलंक को मिटाने की भी बड़ी चिन्ता थी और कुछ वर्षों बाद जब उनकी बैरिस्टरी अच्छी तरह चल निकली तो उन्होंने कानूनी तौर पर बाध्य न होने पर भी तमाम कर्जदारों का एक-एक पैसा चुका दिया । इतना ही नहीं जो लोग कर्ज का रुपया लेने न आये अथवा जिन्होंने मित्रतावश लेने से इन्कार किया उनके नाम का रुपया अदालत में जमा कराके अपना तथा अपने पिता का नाम दिवालियों की सूची से कटवा दिया ।

इस तरह का आर्थिक संकट सहन करने पर भी दास बाबू की उदारता और त्यागवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आया था । इस दृष्टि से कहा जाय तो वे अपने पिता के 'योग्य उत्तराधिकारी' थे । इतना अन्तर अवश्य था कि जहाँ उनके पिता ने धूर्त लोगों के फन्दे में फँसकर घाटा उठाया, वहाँ दास बाबू ने ऐसे कार्यों में धन व्यय किया जिनसे उनका नाम चिरस्थायी हो गया और वे लोगों की दृष्टि में पूजनीय बन गये ।

ऋण-मुक्ति

चितरंजन दास के पिता दस लाख रुपया कर्ज छोड़कर मरे थे । नवयुवक दास ने निश्चय किया कि वे सब का कर्ज चुकावेंगे । कर्ज रिश्तेदारों का था । सभी आसूदा थे इसलिए लड़के की परेशानी को देखते हुए कर्ज वापस नहीं लेना चाहते थे पर दासबाबू भी किसी का ऋण रखना अपनी बेइज्जती समझते थे । वे जो कमाते गये, अदालत में जमा करते गये । बाद में उन्होंने विज्ञापन प्रकाशित कराया कि जिनका कर्ज हो वह अपना पैसा ले जायें । बहुत दिनों वह पैसा जमा रहा तब उन्होंने ढूँढ़-ढूँढ़कर कर्जदारों का पता लगाया उनका हिसाब चुकता किया । हालांकि लोगों को यह विश्वास नहीं था कि अपना पैसा वापस आयेगा । परन्तु बाबू चितरंजन दास ने वह सब अदा किया ।

–

किसी व्यक्ति की बेइज्जती यह है कि वह अनिवार्य आपत्ति के अवसर को छोड़कर अपना खर्च बढ़ाकर उसके लिए कर्ज ले और उससे भी बड़ी बेइज्जती यह है कि होते हुए भी ऋण चुकाने में आनाकानी करे। चित्तरंजदास ने अपने लिए निर्धनता निमन्त्रण करके भी ऋण मुक्त होना अपना कर्त्तव्य समझा। यही आदर्श हर ईमानदार व्यक्ति का होना चाहिए।

समय पर सहायता

एक बार एक वृद्ध ने, कोठी से निकलते हुए किसी भद्र पुरुष से पूछा–"क्या आप मुझे इस कोठी के स्वामी से मिला देंगे।"

"क्या काम है उनसे, मुझसे कहिये?" भद्र-पुरुष ने कहा।

"मेरी बेटी का विवाह है। तीन सौ रुपये चाहिए, हुजूर! यदि उनसे मिल गये तो मैं अपनी बेटी का विवाह कर सकूँगा।" गरीब वृद्ध ने कहा।

आओ मेरे साथ। और भद्र-पुरुष वृद्ध को कार में अपने साथ बैठाकर ले गया। थोड़ी दूर जाकर कार रुकी। भद्र-पुरुष उतरे और सामने खड़ी बिल्डिंग में प्रवेश कर गये। जाते-जाते वह वृद्ध को भी पास के एक बरामदे में बैठने को कह गये।

थोड़ी ही देर बाद एक चपरासी बरामदे में आया और वृद्ध को पाँच सौ रुपये सँभालवाते हुये बोला–"भाई! यह पाँच सौ रुपये हैं। तीन सौ में अपनी बेटी का विवाह करना और बाकी दो सौ से विवाह के बाद कोई ऐसा धन्धा कर लेना, जिससे आगे की जीविका चलती रहे।"

वृद्ध ने रुपये तो ले लिये, किन्तु बोला–"भाई! मुझे उस कोठी के स्वामी तो मिले ही नहीं।"

अभी-अभी जिनके साथ कार में बैठकर आप इस दफ्तर में आये हैं, वे ही हैं उस कोठी के स्वामी बाबू चितरंजनदास!" चपरासी ने कहा।

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

आज से लगभग १०० साल पूर्व इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कालेज में टूर्नामेण्ट के खेल हो रहे थे। उसके प्रबन्धक प्रोफेसर हिल नामक एक अँग्रेज थे। उन्होंने जगह-जगह पुलिस के जवान तैनात किए थे, ताकि कोई गड़बड़ी न होने पाए। कॉलेज के छात्रों की राय थी कि हम विद्यार्थी ही सारा प्रबन्ध करेंगे, पुलिस न बुलाई जाए पर हिल साहब न माने।

खेल शुरू होने ही वाला था कि एक विद्यार्थी मैदान के एक ओर से दूसरी ओर जाने लगा। मि० हिल पास ही खड़े थे। उन्होंने एक पुलिस वाले से कहा–'इस सुअर से कहो कि यहाँ से हट जाए।' नजदीक ही खड़े एक नवयुवक को यह बहुत बुरा लगा, पर प्रोफेसर का लिहाज कर वह चुप रहा। थोड़ी देर बाद दूसरा लड़का खेल देखने की उत्सुकता से मैदान में घुस आया। पुलिस वाले ने उसे गालियाँ दीं और धक्के देकर बाहर निकालने लगा। अब उस नवयुवक से न रहा गया। पुलिस वाले को डाँटकर बोला–"क्यों धक्के दे रहे हो? बच्चा है खड़ा रहने दो।" पुलिस वाला अपने बीच में दूसरे का दखल न सह सका। वह नवयुवक से उलझ पड़ा। नवयुवक को जोश आ गया। उसने पास खड़े आदमी के हाथ से लाठी छीन ली और पुलिस वाले को धमकाते हुए बोला–"खबरदार। अब और कुछ बोले तो इसी डण्डे से सिर फोड़ दूँगा।"

उन दिनों पुलिस का बड़ा दबदबा था। उससे झगड़ा मोल लेना आसान नहीं था। अँग्रेज अफसर पुलिस के खिलाफ कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होते थे। वे भारतीयों को बड़ी नीची निगाह से देखते थे। हिल भी एक अँग्रेज थे। उन्होंने भारतीय विद्यार्थियों के राय की परवाह न करके पुलिस बुलाई थी। वह नवयुवक अपने कॉलेज की क्रिकेट टीम का कप्तान था। उसके दिल में अँग्रेज और अँग्रेजी शासन के खिलाफ विद्रोह की आग सुलग रही थी। उसके ही एक अदना नौकर-एक मामूली सिपाही के हाथों अपने भाई का अपमान वह न सह सका और पुलिस वाले से भिड़ने को तैयार हो गया।

वह नवयुवक और कोई नहीं, स्वयं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन थे। उनके मन में अपने देश और अपने देशवासियों के लिए इतना गौरव था कि जिसकी बराबरी कोई नहीं कर सकता। आखिर उस अँग्रेज अफसर को टंडन जी के इस साहसपूर्ण एवं धीरोदात्त कदम के आगे झुकना पड़ा और उन्होंने टंडन जी से क्षमा-याचना करते हुए उन्हें शांत किया।

एक बार वे इलाहाबाद म्यूनिसिपल बोर्ड के सभापति चुने गये। उस समय जब गवर्नर लखनऊ से इलाहाबाद आते, तब उनके नहाने के तालाब में पीने का पानी भरा जाता था। इसका इन्तजाम म्यूनिसिपल बोर्ड करती थी। उस साल जब गवर्नर साहब आये तब इलाहाबाद में पानी की बेहद कमी थी। लोगों को बड़ी मुश्किल से पीने का पानी मिल पाता था। टंडन जी से जब तालाब में पानी भरवाने को कहा गया तो वे बड़ी उलझन में पड़ गये। एक ओर जनता की प्यास बुझाने के लिए पानी की जरूरत थी, दूसरी ओर गवर्नर साहब को तालाब में तैरने के लिए पानी चाहिए था। टंडन जी ने प्यासी जनता का पक्ष लिया। उन्होंने गवर्नर का तालाब भरने से साफ इन्कार कर दिया। सरकार की ओर से उन पर काफी दबाव डाला गया पर वे अपने निर्णय से नहीं हटे।

टंडन जी का जन्म सन् १८८२ में इलाहाबाद में हुआ था। बचपन में प्रथम उन्होंने फारसी पढ़ी। कुछ दिनों बाद अँग्रेजी पढ़ने के लिए हाईस्कूल में भर्ती किए गये। वे पढ़ने में बड़े तेज थे। एक बार मास्टर साहब ने कक्षा में कुछ हिन्दी के वाक्य अँग्रेजी में अनुवाद करने के लिए दिये। उन्होंने बड़ी जल्दी अनुवाद करके कापी मास्टर साहब के

टेबल पर रख दी । मास्टर साहब को शक हुआ कि लड़के ने शरारत के कारण बिना अनुवाद किए ही कापी दे दी है । उन्होंने गुस्से से कापी जमीन पर फेंक दी । टंडन जी ने कापी दुबारा टेबल पर रख दी । जब मास्टर साहब ने उसे देखा तो सब अनुवाद ठीक निकला । उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । उस दिन से मास्टर साहब उन्हें बहुत मानने लगे । स्कूल की पढ़ाई पूरी करके उन्होंने म्योर सेण्ट्रल कालेज से बी० ए० पास किया । बाद में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की और वकालत करते हुए उन्होंने एम० ए० भी पास किया ।

टंडन जी अपमान जरा भी सहन नहीं कर सकते थे । वे जब वकालत कर रहे थे, तब नाभा–नरेश ने उन्हें अपने राज्य का मंत्री बनाया । इस जिम्मेदारी को उन्होंने बड़ी कुशलता से निबाहा । नाभा-नरेश उनके काम से बड़े खुश थे । एक बार उन्हें जरूरी काम से इलाहाबाद जाना था । उन्होंने राजा साहब से छुट्टी माँगी पर उन्होंने इन्कार कर दिया । इसे टंडन जी ने अपना अपमान समझा और वे उसी समय त्यागपत्र देकर इलाहाबाद चले आये । बाद में राजा साहब ने उन्हें बुलाने का काफी प्रयत्न किया पर वे नहीं गये तो नहीं ही गये ।

सच्चाई और ईमानदारी टंडन जी के स्वभाव की दो बड़ी विशेषतायें थीं । उनके समय में मैट्रिक की परीक्षा में सोलह साल से कम आयु का विद्यार्थी नहीं बैठ सकता था । उनके लड़के की उम्र सोलह साल से कम थी । स्कूल के प्राध्यापक ने कहला भेजा कि यदि आप लिखकर दें कि आपके लड़के कि आयु सोलह साल की है, तो यह परीक्षा में बैठ सकेगा । टंडन जी ने जवाब दिया–"मेरा लड़का भले ही इस साल परीक्षा में न बैठे, पर मैं झूठा बयान नहीं दूँगा ।"

टंडन जी का अधिकांश समय सार्वजनिक सेवा कार्यों में व्यतीत होता था । इससे वे जमकर वकालत नहीं कर पाते थे । आमदनी का कोई दूसरा जरिया नहीं था । इसलिए उन्हें हमेशा आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता था । घर का खर्च जैसे-तैसे पूरा कर पाते । ऐसे समय वे म्युनिसिपल बोर्ड के अध्यक्ष चुने गए । उन दिनों दूसरे अध्यक्ष घूस ले लेकर लाखों रुपये कमाते थे पर टंडन जी ने भूलकर भी वैसी आमदनी की इच्छा नहीं की । बल्कि उन्होंने अपने निजी खर्च में कई प्रकार से कटौती की । वे जूते की जगह खड़ाऊँ पहनने लगे । घर से म्युनिसिपल ऑफिस चार मील दूर था, किन्तु वे बिना किसी सवारी के वहाँ से पैदल ही आया–जाया करते थे ।

टंडन जी को एक बार जो बात जँच जाती थी, उसे वे कभी छोड़ते नहीं थे । जब देश में स्वदेशी का आन्दोलन चला, तब विदेशी कपड़ों का जोरदार बहिष्कार हुआ । इससे देश का करोड़ों रुपया विदेशों में जाने से बच गया । चीनी भी उस समय बाहर से आती थी । उसके लिए भी देश का बहुत-सा धन दूसरे देशों में चला जाता था । टंडन जी को यह बात अखर गई और उन्होंने उसी समय से विदेशी वस्त्र और चीनी का व्यवहार बन्द कर दिया ।

ऐसी ही एक दूसरी घटना है । एक शहर में कसाईखाना खुलने वाला था । वहाँ के कुछ नागरिक उनके पास आये । नागरिकों ने उनसे कसाईखाना रोकने में मदद माँगी । उनकी समझ में यह बात नहीं आई कि जब उस शहर में माँस खाने वाले कम हैं, तब यहाँ कसाईखाना क्यों खुल रहा है ? नागरिकों ने बताया कि वहाँ गायें माँस के लिए नहीं, बल्कि चमड़े के लिए काटी जायेंगी । आस-पास के इलाके में जानवर बहुत सस्ते मिलते हैं । चमड़े के व्यापार में इस समय बहुत मुनाफा है । चमड़े के लिए गायों की हत्या की बात सुनकर टंडन जी को बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने उस दिन से चमड़े की जगह कपड़े के जूते पहनने शुरू किए । ये जूते पहनकर वे हाईकोर्ट में भी जाते थे । उनके मित्र इन जूतों का मजाक उड़ाते थे पर टंडन जी जीवन भर कपड़े के ही जूते पहनते रहे ।

टंडन जी प्राकृतिक चिकित्सा के बड़े समर्थक थे । बीमारी में टंडन जी को डॉक्टरी दवा कराना बिल्कुल पसंद नहीं था । इसके लिए वे खतरा मोल लेने को भी तैयार रहते । एक बार उनका लड़का मलेरिया से बीमार पड़ा । उन्होंने उसे गीली चादर में लपेटकर रखने का प्रयोग शुरू किया । लड़का धीरे-धीरे काफी कमजोर हो गया, फिर भी बुखार दूर नहीं हुआ । वैसी हालत में प्राण जाने का खतरा था, फिर भी प्राकृतिक इलाज पर उनका विश्वास जमा रहा और अन्ततः उन्हीं की प्राकृतिक चिकित्सा से लड़का स्वस्थ हो गया ।

टंडन जी भोजन के विषय में भी नये-नये प्रयोग करते रहते थे । कुछ दिनों तक वे गेहूँ का कच्चे आटा सानकर खाते रहे और कुछ दिनों तक उन्होंने गेहूँ की रोटियाँ, धूप में सुखाकर खाईं । नमक और शक्कर न खाने का व्रत तो उन्होंने जीवन भर निभाया । इससे उनके विचारों की दृढ़ता और टेक निभाने के स्वभाव का पता लगता है ।

पंजाब के 'जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड' के बाद काँग्रेस की जो जाँच-समिति बनी थी, टंडन जी उसके एक मुख्य सदस्य थे । असहयोग आन्दोलन के समय उन्होंने अपनी वकालत छोड़ दी । नमक सत्याग्रह के दिनों में वे अपने प्रान्त के डिक्टेक्टर बनाए गए । वे काफी अरसे तक काँग्रेस कार्य समिति के सामान्य सदस्य रहे । काँग्रेस की नीति निर्धारित करते समय उनकी सलाह हमेशा ली जाती थी । वे अपने प्रदेश अर्थात् उत्तर प्रदेश की विधान सभा के अध्यक्ष चुने गए थे । इस पद पर वे जब तक रहे, किसी दल को उनकी ईमानदारी पर शक करने का मौका नहीं मिला । एक बार वे काँग्रेस महासभा के सभापति भी चुने गये थे । सभापति के नाते काँग्रेस को संगठित और क्रियाशील बनाने के लिए उन्होंने अथक प्रयास किया । देश

की आजादी की लड़ाई में वे कई बार जेल गए और घोर यातनाएँ सहन की ।

टंडन जी हिन्दी के प्राण थे । उन्होंने इसकी जो सेवा की वह सदा अमर रहेगी । वे मानते थे कि हिन्दी हमारी संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक है । उनके प्रयत्न का ही यह फल है कि आज भी हिन्दी सेवा, देश सेवा का एक अंग मानी जाती है । हिन्दी को वे राष्ट्र की एकता का साधन समझते थे । इसकी उन्नति के लिए उन्होंने हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की स्थापना की । वे शुरू से इसके प्रधानमंत्री थे । वे इसके सभापति भी बनाये गए थे । वे सम्मेलन के कार्यों में ऐसे लगे रहते कि लोग सम्मेलन को टंडन जी का मानते थे और टंडन जी सम्मेलन के कहलाते थे । उनकी लगातार कोशिशों का ही फल है कि आज हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा बन सकी है । सारे देश में हिन्दी-प्रचार के लिए उन्होंने बड़ा प्रयत्न किया ।

सन् १९५० की बात है । साहित्यकारों ने टंडन जी को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने की योजना बनाई । टंडन जी उन दिनों दिल्ली में थे । उन्हें इस आयोजन की सूचना दी गई तब उन्होंने अभिनन्दन लेना अस्वीकार करते हुए आयोजकों को लिखा कि व्यर्थ के कार्यों में अपनी शक्ति क्यों गँवाते हैं, मुझे इसमें कोई रुचि नहीं ।

यह थे महापुरुष टंडन जी जिन्होंने अपने ही लिए अभिनन्दन को व्यर्थ की संज्ञा दी और एक हैं आज के लोलुप साहित्यकार और राजनेता जो स्वयं ही अपने अभिनन्दन के लिए कितने ही प्रपंच रचते हैं ।

राजर्षि टंडन जी १ जुलाई, १९६२ को इस संसार को छोड़कर विदा हो गये । मृत्यु के पहले टंडन जी कई साल तक रोग-शैय्या पर पड़े रहे । रोग-शैय्या पर वे उन्हें अपने देश की भलाई की चिन्ता लगी रहती थी । राजर्षि ने बचपन से सच्चाई, ईमानदारी, निर्भीकता एवं दृढ़ता का जो रास्ता एक बार अपनाया, उसे जीवन भर नहीं छोड़ा । धन्य है, ऐसा महापुरुष जिसे पाकर धन्यता भी धन्य हो गई ।

लोकमंगल के लिए सर्वस्व समर्पण भी कम

लोक सेवक मण्डल (सर्वेण्ट्स आफ पीपुल्स सोसायटी) के सभापति लाला लाजपतराय का देहावसान हो गया । तब उस स्थान की पूर्ति की समस्या आ गई । बहुत ही कम आजीविका में योग्य व्यक्ति का मिलना कठिन ही नहीं असम्भव दीख रहा था ।

यह खबर श्री टन्डन जी को मिली तो उन्होंने अपना तेरह सौ मासिक का पंजाब नेशनल बैंक की लाहौर शाखा का मैनेजर पद त्याग दिया और लोकसेवक मण्डल के सभापति बन गये । गाँधीजी ने पूछा-आपको इस अपार धन-हानि का कोई दुःख नहीं हुआ ? टंडन जी ने भरे गले से उत्तर दिया-बापू लोकमंगल के लिए धन तो क्या जीवन भी उत्सर्ग कर दिया जाये तो वह थोड़ा है ।

नैतिकता की राह

उन दिनों राशन का बड़ा कन्ट्रोल था । राशन कार्ड पर सीमित गेहूँ मिलता था । पुरुषोत्तम दास टण्डन के घर में हजारों का ताँता लगा रहता । उतने राशन से काम न चलता । फलतः वे ज्वार-बाजरा जैसे खुले बाजार में मिलने वाले सस्ते अनाज लेकर काम चलाते ।

एक बार कई बड़े नेता अफसर उनके मेहमान थे । वे सभी को ज्वार-बाजरे की रोटी परोसी गई । उन्हें चकित देखकर टण्डन जी ने स्वयं कहा-"ब्लैक का अनैतिक तरीका अपना कर आप लोगों को गेहूँ खिलाने की अपेक्षा ईमानदारी ने यही उपाय सुझाया जो अभ्यस्त भोजन के रूप में आपके सामने है ।"

सफलता-असफलता में समान-दृष्टि

राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन उन दिनों बीमार थे । उन्हें देखने के लिए उनके एक पुराने सहपाठी मित्र प्रयाग गये । तब राजर्षि ने बातों ही बातों में अपना एक संस्मरण सुनाया-किसी समय मैं देशी रियासतों में राजाओं का सुधार करने के लिए एक आदर्श योजना बना रहा था ताकि यह दिखाने का अवसर मिले कि भारतीय अँग्रेजों से अच्छा शासन कर सकता है । इसी उद्देश्य के लिये बनायी गयी योजना को क्रियान्वित करने हेतु मैंने नामी रियासत में नौकरी की परन्तु मैं असफल रहा ।

उनके मित्र ने कहा-"यह तो बड़ा अच्छा रहा ।"

"यही तो मैं भी कहना चाहता था । अँग्रेजों के कारण मैं असफल हुआ तो मैंने अपना ध्यान अँग्रेजों को यहाँ से हटाने में लगाया । ईश्वर के प्रति मैं धन्यवाद से भर गया हूँ । नाभा में सफल होने पर सम्भव था कि मैं कूपमण्डूक बना रह जाता । इस असफलता ने मेरे लिए सफलता और साधना का नया द्वार खोल दिया"-टण्डन जी बोले । अपने कार्यों में मिली सफलता-असफलता के प्रति सृजनात्मक दृष्टि भर अपनाने से ही वे राजर्षि उपाधि के अधिकारी सिद्ध होते रहे ।

राष्ट्रीय सेवाव्रती महान वैज्ञानिक-

प्रफुल्ल चन्द्र राय

इंग्लैण्ड से रसायन विज्ञान की उच्च परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् जब प्रफुल्ल बाबू भारत वापस आकर जीविकोपार्जन का कोई कार्य ढूँढ़ने लगे तो उनके प्रेसीडेन्सी कॉलेज में सहायक प्रोफेसर की जगह मिली, जिसका वेतन २५० रुपया मासिक था । वे जानते थे कि उनकी योग्यता के जो अँग्रेज इस देश में शिक्षक का कार्य करने को आते हैं, उनको केन्द्रीय सेवा में नियुक्त करके

एक हजार से भी अधिक वेतन दिया जाता है । ऐसी दशा में अपने को २५० रुपया की प्रान्तीय सेवा की नौकरी दिया जाना उनको सरासर अन्याय जान पड़ा । उस अन्याय का प्रतिकार करने के लिए उन्होंने सीधे शिक्षा विभाग के अध्यक्ष क्राफ्ट साहब से इसकी शिकायत की । उन्होंने किसी प्रकार की सहानुभूति दर्शानी तो दूर स्पष्ट शब्दों में कहा कि आपको कोई इस बात के लिए बाध्य नहीं करता कि आप इस नौकरी को स्वीकार ही करें । यदि आप अपनी योग्यता को इतनी अधिक समझते हैं तो कहीं भी वैसा कार्य करके दिखा सकते हैं ।" उपयुक्त अवसर न देखकर उस समय प्रफुल्ल बाबू ने इस अपमान को तो सहन कर लिया, पर अपने मन में निश्चय कर लिया कि अवसर पाते ही अपनी योग्यता को प्रदर्शित करके इस गर्वोक्ति का उत्तर अवश्य देंगे ।

इसके पश्चात् वे प्रेसीडेन्सी कॉलेज की नौकरी और विज्ञान सम्बन्धी नई-नई खोजें करते रहे । उनका मुख्य कार्य अपने युवक शिष्यों को रसायन विज्ञान के क्षेत्र में व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना था । इसके लिए वे उनको केवल कॉलेज में पढ़ाते ही न थे, वरन् जो होनहार छात्र आर्थिक कारणों से आगे बढ़ने में असमर्थ होते थे, उनकी आर्थिक सहायता भी करते थे । इसलिए अपना खर्च अत्यन्त कम रखने पर भी उनके पास कुछ बचता न था । उन्हें क्राफ्ट साहब की चुनौती का ख्याल बराबर बना रहा और सन् १९०६ में केवल ८०० रुपया लगाकर 'बंगाल केमिकल एण्ड फार्मास्यूटिकल वर्क्स' की स्थापना की । इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि आर्थिक दृष्टि से असमर्थ छात्र उस कारखाने में कुछ काम करके जीवन निर्वाह में सहायता प्राप्त कर सकें ।

आरम्भ में यह ८०० रुपये की पूँजी वाला कारखाना नाममात्र को ही था, पर प्रफुल्ल बाबू द्वारा आविष्कृत प्रभावशाली दवाओं और उनके सद्व्यवहार से इसकी दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी और दस बारह वर्ष में ही यह एक बहुत बड़े कारखाने के रूप में परिणत हो गया जिसका वार्षिक व्यय लाखों रुपया था । इसके द्वारा पचासों युवक विद्यार्थियों को कॉलेज में अध्ययन करने का साधन प्राप्त हो गया । जिनमें से अनेक आगे चलकर प्रसिद्ध वैज्ञानिक बने । प्रफुल्ल बाबू विद्यार्थियों की प्रायः इस बात के लिए भर्त्सना किया करते थे कि सब नौकरी के लिए ही दौड़ते हैं, किसी उद्योग-धन्धे या कारोबार की तरफ ध्यान नहीं देते । जिसमें अपनी तथा देश की उन्नति की सम्भावनायें अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती हैं । उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से बंगाली युवकों का ध्यान इधर गया और उसके पश्चात् कुछ वर्षों में वहाँ रासायनिक पदार्थों के कारखानों की काफी वृद्धि हुई ।

प्रफुल्ल बाबू ने यद्यपि विदेश में शिक्षा पाई थी और वे भारतवर्ष के एक प्रसिद्ध कॉलेज के प्रोफेसर थे, पर वे थे एक सच्चे सन्त । हमारे देशवासी अभी तक गेरुआ वस्त्र धारण करने वालों और जटाजूट रखने वालों को ही साधु-महात्मा समझते हैं, पर वास्तव में ऐसे महात्मा प्रफुल्ल बाबू की साधुता के आगे नगण्य हैं । अपनी योग्यताओं और परिश्रमशीलता के फल से उनका वेतन कुछ ही दिनों में एक हजार मासिक के लगभग हो गया था और वैज्ञानिक आविष्कारों से भी काफी आय हो जाती थी, पर वे उसमें से अपने लिए केवल ४० रुपया मासिक खर्च करते थे । शेष सब जरूरतमन्दों को दान कर देते थे, जिनमें से अधिकांश विज्ञान के छात्र ही थे ।

वे कहा करते थे 'मेरी जरूरतें ही क्या हैं ।' उन्होंने विज्ञान की साधना और परोपकार के ख्याल से विवाह ही नहीं किया था और बहुत ही मामूली ढंग से जीवन निर्वाह करते थे । यद्यपि उनकी गिनती संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों में थी और विदेशों के बड़े वैज्ञानिक भी उनके सामने बड़ी नम्रता से आकर बैठते थे, पर उनका रहन-सहन सदा वैसा ही अति सामान्य बना रहा । वे जो धोती पहनते थे वह घुटनों से कुछ ही नीची होती थी, ऊपर एक बन्द गले का कोट लटका लेते थे जिसे देखकर फैशनेबल लोग तो अपनी हँसी नहीं रोकते थे ।

वे और लोगों की तरह कहते ही न थे वरन् सबसे पहले स्वयं करके दिखाते थे । जब बंगाल में भीषण बाढ़ आई तो अन्य नेता जहाँ एकाध सहानुभूति सूचक बयान निकालकर और दो चार सौ रुपया चन्दा इकट्ठा करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे, वहाँ आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय अपने विद्यार्थियों के दल को लेकर घटना-स्थल पर पहुँचते और सब तरह की कठिनाइयों का मुकाबला करके पीड़ितों की सहायता करते । उनके इस वास्तविक सेवाभाव को देखकर लोगों ने उनकी अपील पर सौ की जगह हजार चन्दा दिया और बड़े सम्पन्न घरों के युवक सेवा करने को आगे आ गये ।

इसी प्रकार जब महात्मा गाँधी ने खद्दर चर्खा का प्रचार आरम्भ किया तब पहले आचार्य राय उससे अलग रहे । पर जब उन्होंने अच्छी तरह विचार करके तर्क और प्रमाणों के आधार पर उनकी उपयोगिता को समझ लिया तब वे स्वयं क्रियात्मक रूप में करने लगे । देश भर में बड़े जोर-शोर के साथ उसका आन्दोलन किया और बंगाल में उसको बहुत अधिक लोकप्रिय बना दिया ।

इसी प्रकार जब तक अपने प्रेसीडेन्सी कॉलेज में काम किया तो अपने को उसी में पूरी तरह खपा दिया । सभी विद्यार्थी आपको केवल अपना शिक्षक ही नहीं वरन् परम शुभचिन्तक, सहायक और सखा भी मानते थे । सन् १९१६ में जब आप कॉलेज को छोड़कर यूनिवर्सिटी के साइन्स कॉलेज में जाने लगे तो विद्यार्थियों ने आपको मान-पत्र देते हुए कहा कि–'आपने जो कार्य करके दिखाये हैं वे साधारण नहीं हैं । आप जीवन भर हमारे मार्गदर्शक, तत्व चिन्तक और मित्र रहे हैं । हमको तो आप प्राचीन भारतीय गुरुओं के अवतार की तरह जान पड़ते हैं । प्राचीन भारत की आध्यात्मिकता के आप में

प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं । आपने सदैव सच्ची सलाह, सूचना और गरीब विद्यार्थियों की धन से भी जिस प्रकार सहायता की है वह वर्णनातीत है ।

प्रफुल्ल बाबू जब इसका उत्तर देने को खड़े हुए तो भावावेश में उनका शरीर काँपने लगा और उन्होंने कहा–"मैंने इस कॉलेज में जो एक मन्द ज्योति प्रज्ज्वलित की है विद्यार्थियों के आगे आने वाले दल उसको प्रज्ज्वलित रखेंगे, बढ़ते-बढ़ते वह हमारी समस्त मातृभूमि को प्रभावित कर देगी । सम्भवतः आप में से बहुत लोग जानते होंगे कि दुनियादार जिसे धन समझते हैं मैंने उसकी तनिक भी परवाह नहीं की है । तो भी अगर कोई मुझसे पूछे कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज में इतने बरस काम करते हुए तुमने जो पूँजी इकट्ठी की है तो मैं इसका उत्तर रोम की एक प्राचीन महिला कार्नेलिया के शब्दों में दूँगा । कार्नेलिया से मिलने एक बड़े घर की स्त्री आई । वह अपने आभूषण और रत्न आदि दिखलाकर अपना बड़प्पन दिखलाने लगी । अन्त में उसने कार्नेलिया से कहा–" तुम्हारे रत्न आभूषण कहाँ हैं ?" थोड़ी ही देर में कार्नेलिया के दो पुत्र स्कूल से पढ़कर आ गये और उनकी ओर देखते हुए सगर्व उसने कहा–'मेरे आभूषण और रत्न ये ही हैं ।' मैं भी कार्नेलिया की तरफ अपने एकनिष्ठ होकर कार्य करने वाले अनेक शिष्यों की तरफ अँगुली उठाकर कह सकता हूँ कि मेरा माल खजाना यही हैं ।

"भाइयो ! यह सोचना कि मैं प्रेसीडेंसी कॉलेज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर रहा हूँ, एक असम्भव बात है । मेरे हृदय में एकत्रित समस्त संस्मरण इसी के आस-पास लिपटे हुए हैं । इसकी रसायनशाला का कोना-कोना और ईंट-चूना तक मेरे लिये बड़े-बड़े संस्मरणों से युक्त प्रतीत होता है । जब मैं याद करता हूँ कि प्रेसीडेन्सी कॉलेज की उपसंस्था 'हेयर स्कूल' में मैं चार वर्ष तक पढ़ा था और उसके पश्चात् चार वर्ष इसके विज्ञान विभाग में विद्यार्थी के रूप में रहा था तो मुझे मालूम पड़ता है कि मेरा सम्बन्ध तुम्हारे कॉलेज के साथ ३५ वर्ष लम्बा है । जब मेरे पार्थिव जीवन का अन्त होगा तब भी मेरी अन्तिम इच्छा यही होगी कि मेरी एक मुट्ठी राख इस पवित्र भूमि पर कहीं रख दी जाय ।

इस प्रकार प्रफुल्ल बाबू ने अपना तन-मन-धन सर्वस्व मातृभूमि की सेवा और उसे ऊँचा उठाने में लगा दिया । उन्होंने जीवन भर अध्ययन, मनन, खोज, शोध करके जो कुछ प्राप्त किया वह सब कुछ भारतीय राष्ट्र और समाज के उत्थान में ही लगाया । अपने समस्त अध्ययन के रूप में जो ग्रन्थ–'हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास' उन्होंने लिखा वह भी इस देश के प्राचीन वैज्ञानिक-सिद्धान्तों की कीर्ति बढ़ाने वाला है । यह ग्रन्थ अपने क्षेत्र में अपूर्व और स्थाई महत्त्व रखने वाला माना जाता है और १०० वर्ष पहले लिखा जाने पर भी आज तक भारत ही नहीं विदेशों के साइन्स कॉलेजों तक में पाठ्य-पुस्तक की तरह काम में लाया जाता है ।

प्रफुल्ल बाबू भारतवर्ष को सच्चे अर्थों में महान बनाने के पक्षपाती थे । सन् १९२३ में उन्होंने गुजरात विद्यापीठ का उद्घाटन करते हुए कहा था–"किसी भी देश के निवासी अपने ही प्रयत्न और पराक्रम से ऊँचा उठते हैं । हमको भी स्वराज्य लेना है, वह अपनी कमाई का ही होना चाहिए । जो स्वराज्य भारी परिश्रम और उद्योग से मिला हो तभी उसका महत्व है । अगर कोई हमको स्वराज्य भेंट की तरह प्रदान करे तो उसका मूल्य एक दमड़ी भी नहीं होगा ।"

हमको अपने प्रयत्न को देखते हुए स्वराज्य जल्दी मिल गया । पर वह हमारे प्रयत्नों से ही मिला है इसमें सन्देह नहीं । हम चाहें तो आगे चलकर उसे अधिक पूर्ण और पक्का बना सकते हैं । खेद इतना ही है कि वे उसे न देख सके और उसके मिलने के तीन वर्ष पूर्व ही अर्थात् सन् १९४४ में प्रफुल्ल बाबू की प्रबल आत्मा ८३ वर्ष पुराने और दुर्बल शरीर को छोड़कर परलोक को प्रयाण कर गई । वे देश सेवा के लिए स्वेच्छा से जिन्दगी भर कुंवारे और ब्रह्मचारी रहे । इसलिये अपने पीछे कोई सन्तान तो नहीं छोड़ गये, पर सन्तान से बढ़कर ऐसे अनेक घनिष्ठ और सुयोग्य शिष्य अवश्य छोड़ गये हैं जो अपनी तथा अपने गुरु की कीर्ति को देश में बढ़ाते जाते हैं सन् १९२३ से १९३७ तक उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के साइन्स कॉलेज में वैतनिक रूप से काम किया, पर वह समस्त वेतन जो लगभग दो लाख रुपया होगा विश्वविद्यालय को ही विज्ञान की उन्नति के लिए दान कर दिया । उन्होंने अपने जीवन में स्वदेशी उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए अनेक व्यापारिक योजनाओं में सहयोग दिया था, उससे उनके पास जितना रुपया एकत्रित हुआ उसका आधा भाग 'साधारण ब्राह्मी समाज' को समाज सुधार के कामों के लिए दे दिया । उनके पास आर्थिक सहायता के लिए जितने विद्यार्थी जाते थे, उनमें से उन्होंने किसी को निराश करके नहीं लौटाया । वे दानवीर थे पर अपने दानीपन का अभिमान उनको छू भी नहीं गया था । वे कहा करते थे कि मेरे दान का कोई महत्व नहीं । यह धन का दान तो सब दानों में घटिया होता है । सर्वश्रेष्ठ दान तो सहानुभूति रखना, प्रेम भरे शब्द कहना, प्रसन्नता प्रदान करना, हितकारी सम्मति देना, थके हुए को विश्राम देना है । इनकी तुलना धनदान कभी नहीं कर सकता । प्रफुल्ल बाबू स्वयं एक गरीब की तरह रहते हुए जीवन भर सब प्रकार के दान करते रहे । यही मानव सेवा उनकी सबसे बड़ी विशेषता है ।

जिनका धर्म ही अन्याय से लड़ना है--

रानाडे

अँग्रेजों के शासन से भारत ने मुक्ति पा ली थी, पर उसका एक भू-खण्ड 'गोवा' पुर्तगालियों के अधिकार में रह गया। अँग्रेज तथा पुर्तगालियों ने लगभग साथ ही भारत के भू-खण्डों पर अधिकार करना प्रारम्भ किया था। अँग्रेजों के जाने के साथ ही उन्हें भी उस भाग को मुक्त कर देना चाहिए था, किन्तु उन्होंने तो उलटे गोवावासियों पर अत्याचार करके उन्हें कुछ बोलने से भी वंचित कर दिया।

गोवावासी भय से चुप थे तथा पुर्तगाली उसे उनकी शान्ति तथा सहमति कहकर अपना शासन बनाये रखने के लिये संसार के राष्ट्रों के आगे दलीलें दिया करते थे। ऐसे समय में गोवावासियों का मनोबल बढ़ाया जाना पहली आवश्यकता थी।

इस प्रयोग की सिद्धि के लिये राष्ट्रभक्त साहसी भारतीय नागरिकों ने गोवा में प्रवेश करके-वहाँ की नागरिकता प्राप्त कर स्थानीय नागरिकों के मनोबल को जगाने का कार्य प्रारम्भ किया। उसी के फलस्वरूप गोवा में मुक्ति आन्दोलन तीव्रता पकड़ सका। अन्यथा क्रूर पुर्तगालियों का दमन तथा शोषण गोवा पर न जाने कब तक छाया रहता ?

अपने आपको संकट में डालकर गोवा मुक्ति हेतु प्रयास करने वालों में वीर मोहन रानाडे भी अग्रणी थे। उन्होंने जिस वीरता, शूरता तथा सूझ-बूझ का परिचय दिया वह अविस्मरणीय रहेगा। राष्ट्र हित में अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए उनका त्याग एवं कष्ट सहन की कहानी अपने आप में बड़ी प्रेरक तथा गौरवमय है।

श्री रानाडे जब गोवा में प्रवेश पाने में छद्मवेश से सफल हो गये तो उनके सामने प्रश्न उठा कि किस प्रकार कार्य प्रारम्भ किया जाये ? हिम्मत हारी जनता को जगाने तथा संगठित करने के लिये किस दिशा से प्रयास प्रारम्भ किया जावे। उन्हें लगा कि कोई स्थूल कार्यक्रम चालू करने के लिये नागरिकों के अन्तःकरणों में स्फुरणा पैदा की जानी चाहिए। उनमें स्वयं एक लहर उठे, उत्साह जागे, तभी स्थूल कार्यक्रम सार्थक हो सकेंगे।

यह सोचकर उन्होंने शिक्षक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। हिन्दी, मराठी शिक्षक का स्वरूप तो उनके सिद्धान्त का प्रतीक मात्र था। वह तो वास्तव में बड़े पैमाने पर लोकशिक्षण के लिये सम्बद्ध हुए थे। उन्होंने उनके लिए विभिन्न प्रकार से कार्य किये। समाज, देश तथा संसार के सम्बन्ध में जानकारी जिन्हें नहीं ऐसे नागरिक कुछ कर सकेंगे, इसकी आशा उन्हें भ्रान्ति ही लगी उसके लिये व्यक्ति को शिक्षित होना भी आवश्यक है। केवल किशोरों की ही शिक्षा इस दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। जिन्हें सीधे-सीधे संघर्ष में प्रवेश करना है, प्रत्यक्ष भाग लेना है ऐसे प्रौढ़ वर्ग को भी शिक्षित होना चाहिए। अस्तु, उन्होंने प्रौढ़ शिक्षण के लिये घर-घर, गाँव-गाँव जाकर कार्य करना प्रारम्भ किया। सक्रिय सहयोगियों के सहयोग से कार्य तेजी से गति पकड़ने लगा।

दूसरा पक्ष लोगों की भावनायें जगाने का था। उसके लिये उन्होंने भूदान पदयात्रा का भी कार्य संचालन किया। इस माध्यम से उन्होंने लोकशिक्षण एवं भाव-जागरण का कार्य वृहद् रूप में सम्पन्न किया। उनके प्रयासों में सिद्धान्त का बल था, वाणी में अन्तःकरण की तड़प थी। उनके द्वारा प्रसारित प्रेरणा प्रवाह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। उनके शिक्षण से प्रभावित लोगों ने उन्हें 'रानाडे गुरुजी' के सम्मानास्पद सम्बोधन से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया। लोकशिक्षण के इस कार्य के साथ वह उपयुक्त साथियों के चुनने तथा संगठन का भी कार्य करते गये। इस प्रकार पुर्तगाली दमन चक्र के विरुद्ध प्रत्यक्ष संघर्ष के उपयुक्त भूमिकायें बढ़ती तथा पुष्ट होती गईं।

इस प्रकार आधारभूत तैयार पूरी हो जाने पर वीर रानाडे ने सीधे संघर्ष का कार्य प्रारम्भ कर दिया। उनके हर कदम के साथ समग्र योजना होती थी व हर चोट में जन-सहयोग की प्रबलता तथा सूझ-बूझ का पैनापन होता था। मोहन रानाडे के कारनामों से एक ओर पुर्तगाली अधिकारी बौखला उठे, तो दूसरी ओर मुक्ति आन्दोलनकारियों में जोश भर उठा। इसी शृंखला में दादरा नागर हवेली काण्ड ने तो गोवा में हलचल मचा दी। २७ जुलाई, १९५४ को वीर मोहन के सफल नेतृत्व में उक्त हवेली पर उनके साथियों ने आक्रमण किया। बात की बात में वहाँ के पुर्तगाली अधिकारियों को बन्दी बनाकर उसे पुर्तगाल के नियन्त्रण से मुक्त करा लिया।

वक्त घटना से गोवा के पुर्तगाली अधिकारी खीझ उठे। वीर रानाडे को जीवित या मृत पकड़वाने के दस हजार रुपये का इनाम घोषित कर दिया गया। किन्तु जो व्यक्ति सीधा मोर्चा लेने के लिये ही कृत संकल्प हो उन पर इस प्रकार की कार्यवाहियों का क्या असर होता ? 'रानाडे गुरु' तो गुरुद्रोण की तरह 'शास्त्रादपि शरादपि' के लिये तैयार थे। उन्होंने सैनिक वेश तथा शस्त्रास्त्रों का उपयोग प्रारम्भ कर दिया। उसका सबसे बड़ा अस्त्र तो जाग्रत जन-चेतना थी तथा सबसे बड़ा कवच जन-सद्भावना। पुर्तगालियों की खीझ, धमकी, कार्यवाही कुछ भी उनके कार्यों को रोकने में समर्थ न हो सकी। उनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई।

सफलतायें मिलती गईं, हौसले बढ़ते रहे और ९५ अक्टूबर, १९५५ को उनके दल ने एक भारी साहसिक अभियान कर डाला। 'बेटिन' पुलिस केन्द्र पर पुर्तगाली शासन का महत्वपूर्ण अस्त्र-शस्त्रों का भण्डार था। उस पर इन पुंगवों ने छापा मारा। सुनियोजित अभियान, आत्माहुति की भावना से ओत-प्रोत हर सैनिक, फिर सफलता तो मिलनी ही थी। शस्त्र-भण्डार पर उनका अधिकार हो

गया । किन्तु अपनी परवाह न करके भी साथियों को उत्साहित करने तथा संचालन के लिये आगे बढ़कर कार्य करते हुए वीर रानाडे घायल होकर गिर पड़े । अब समस्या थी कि अधिकार में आये भण्डार को अपने सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया जावे अथवा नेता की रक्षा का प्रयास किया जाये । साथी उनकी ओर बढ़े, किन्तु उन्हें आदेशात्मक स्वर ने रोक दिया । भारतीय वीर परम्परा के उपयुक्त ही निर्देश रानाडे ने दिया–"पहले अस्त्र-शस्त्रों को अपने स्थान पर ले जाने की व्यवस्था करें, तब तक मुझे ईश्वर सहारे छोड़ दें ।" और अनुशासनबद्ध साथी फुर्ती के साथ अधिकृत शस्त्रास्त्रों को सुरक्षित स्थान पर रखकर लौटे तब तक वीर रानाडे पुर्तगालियों के हाथ पड़ चुके थे ।

पुर्तगालियों के साथ एक संघर्ष का दौर पूरा होकर दूसरा प्रारम्भ हुआ । अब भारतीय देशभक्त की निष्ठा, सहिष्णुता तथा धैर्य का मुकाबला पुर्तगाली अधिकारियों की क्रूरता, दुष्टता तथा अत्याचारों से था । किन्तु वहाँ भी पहले ही की तरह पुर्तगाली शासक हर कदम पर मुँह की खाते गये । स्वदेश प्रेम और सद्भावना ने अनैतिक कष्टों से अप्रभावित रहकर श्रेष्ठता प्रमाणित की ।

२९ दिसम्बर को सैनिक अदालत ने उन्हें २८ वर्ष की कठोर कैद का दण्ड सुनाया । उनके व्यक्तित्व से भयभीत अधिकारियों ने सुरक्षा के नाम पर तीन वर्ष तक उन्हें किसी भी तरह के प्रतिबन्ध में रखने की विशेष घोषणा की । लोग समझते थे कि वह इस भीषण दण्ड से काँप उठेंगे किन्तु उनकी आत्मविश्वास पूर्ण मुस्कराहट ने उनके सारे स्वप्नों को काटकर फेंक दिया । उनकी शान्त हँसी जैसे चुनौती देकर कह रही थी "इस संसार में दुष्टता कभी भी स्थिर होकर नहीं रह सकी, असुरता से देवत्व की आयु अधिक है । तुम समाप्त हो जाओगे और मैं रहूँगा–इसी प्रकार हँसता–मुस्कराता हुआ"

साढ़े पाँच वर्ष तक उन्हें एकान्त में यन्त्रणा दी गई । फिर ६ माह तक बेड़ियाँ डालकर रखा गया । पर रानाडे भी किसी कच्ची मिट्टी के बने नहीं थे । उन्होंने अपनी निगरानी करने वाले अफ्रीकियों से जल्दी ही सद्भाव बना लिया । रक्षक उनके प्रति आत्मीयता अनुभव करने लगे तथा पुर्तगालियों की करतूतों का वर्णन सुनकर उनके मन में भी प्रतिक्रियायें उठने लगीं ।

क्रुद्ध होकर अधिकारियों ने रानाडे को पुर्तगाल की सबसे खराब जेल में भेज दिया । उन्हें राजनैतिक बन्दी भी नहीं माना गया । निर्धारित संख्या से दुगने-तिगुने तक कैदियों से भरी कोठरियों में उन्हें रहना पड़ा । निकृष्ट भोजन तथा डॉक्टरी सुविधा लगभग नहीं के बराबर थी । इस स्थिति के प्रति भी रानाडे ने कोई खीझ प्रकट नहीं की–कोई कमजोरी नहीं दिखाई । अधिकारियों के सामने उनकी दृढ़ता पूर्ववत थी । किन्तु बन्दियों के प्रति उनका समाज-सेवी हृदय अपना प्यार उड़ेलने लगा । वह उनके प्रति सद्भावना व्यक्त करते, उनकी माँगों के साथ अपनी सहानुभूति तथा सहयोग देते रहते थे । उत्कृष्ट व्यक्तित्व अपने आप में पूरा होता है । उत्कृष्ट व्यक्तित्व का धनी व्यक्ति जहाँ भी रहता है, सम्मानित तथा प्रिय बनकर रहता है । उनकी कोठरी के बन्दी उनके साथ घुल-मिल गये । उन्हें परस्पर प्रेम से जेल यन्त्रणायें फीकी लगने लगीं तथा अधिकारियों के अनैतिक दबाव का भय कम होने लगा । भारतीय पानी यहाँ भी खरा उतर रहा था । जेल अधिकारियों ने भी रानाडे को सबके साथ, त्रास देने के लिए रखा था, किन्तु उलटे उन्हें त्रास होने लगा । उनका क्रोध रानाडे के साथ उस कोठरी के कैदियों पर भी बरसने लगा । अनेक प्रकार की ज्यादतियाँ होने लगीं, हाथापाई तक नौबत आने लगी । जेल डायरेक्टर ने उनके सहित उनकी कोठरी के तमाम कैदियों की पिटाई भी की । किन्तु इन नृशंस तरीकों पर उतर कर भी न तो वह उन्हें भयभीत कर सके और न ही अपनी सैद्धान्तिक हारों को छिपा सके ।

वीर मोहन रानाडे १३ वर्ष तक पुर्तगाली अधिकारियों के राक्षसी शिंकजे में रहे । वैसे यदि सन् १९६२ में बन्दियों के आदान-प्रदान की सूची में उनका नाम भूल से न छूट गया होता तो वह तभी छूट जाते । किन्तु शायद पुर्तगालियों को भारतीय शौर्य, साहस तथा दृढ़ता का अधिक परिचय मिलना आवश्यक था । इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सम्भवतः श्री रानाडे को अधिक समय तक रहना पड़ा । रानाडे उसी मस्त मुस्कराहट के साथ स्वदेश लौट आये । भारतीय जनता की पुकार एवं भारत सरकार के प्रयासों से जेल से छूटकर भी उन्हें कोई उतावली नहीं हुई । वे रोम में रुककर एक दूसरे सेनानी श्री डा० मास्कर हंस की मुक्ति का प्रयास करने लगे । डा० टेली मास्कर हंस भी पुर्तगाल में बन्दी थे तथा पहले बम्बई से प्रकाशित पुर्तगाली भाषा के साप्ताहिक 'रिसर्च गोवा' के सम्पादक थे । उनको भी मुक्त कराने का प्रयास भी सफल रहा । पकड़े जाकर जेल जाने पर भी तथा जेल से मुक्ति पाने पर भी वीर रानाडे ने दुःख-सुख की तुलना में कर्त्तव्य का ही महत्व देकर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की थी ।

अभेद आदर—निर्विकार न्याय

इस युग में भी जबकि बुद्धि-विकास तेजी से हो रहा है लोगों में ऊँच-नीच, छूत-अछूत, छोटे-बड़े का भाव देख कर हर विचारशील व्यक्ति को कष्ट होता है । उस परिस्थिति में तो और भी जबकि सामाजिक न्याय के लिये भी पक्षपात होता है । साधारण कर्मचारी से लेकर बड़े-बड़े पदाधिकारी और न्यायाधीशों में भी इस तरह की प्रवंचना देखने में आती है तो उन महापुरुषों की यादें उभर आती हैं जिन्होंने कर्त्तव्य-परायणता से अपने पद को सम्मानित किया, आज की तरह उस पर कलंक का टीका नहीं लगाया ।

बम्बई हाईकोर्ट के जज गोविन्द रानाडे को कौन नहीं जानता । पर इसके लिए नहीं कि वे अँग्रेजी युग के सम्मानीय जज थे वरन् इसलिये कि उन्होंने अपने पद को

अपेक्षा कर्तव्यपालन को उच्च माना और उसकी पूर्ति में कभी हिचक न होने दी ।

एक बार की बात है–'रानाडे साहब अपने कमरे में पुस्तक पढ़ रहे थे, उस समय कोई अत्यन्त दीन और वेष-भूषा से दरिद्र व्यक्ति उनसे मिलने गया । अफसरों के लिये इतना ही काफी होता है, अपने पास से किसी को भगा देने के लिये । कोई अपना मित्र, सम्बन्धी, प्रियजन हो तो सरकारी काम को भी अवहेलना कर सकते हैं, पर न्याय के लिये हर आम की बात गौर से सुन लेना अब शान के खिलाफ माना जाता है ।

रानाडे इस दृष्टि से निर्विकार थे । उन्होंने अपने चपरासी से कहा–"उस व्यक्ति को आदरपूर्वक भीतर ले आओ ।" कोई छोटी जाति का आदमी था । नमस्कार कर एक ओर खड़ा हो गया । कहने लगा–"हुजूर! मेरी एक प्रार्थना है ।"

"सो तो मैं सुनूँगा ।" जज साहब ने सौम्य शब्दों में कहा–"पहले आप कुर्सी पर बैठिये ।"

"हुजूर मैं छोटी जाति का आदमी हूँ, आपके सामने कैसे बैठ जाऊँ, यों ही खड़े-खड़े अर्ज कर देता हूँ ।"

रानाडे जानते थे इनके साथ हर जगह उपेक्षापूर्ण बर्ताव होता है, इसीलिये वह यहाँ भी डर रहा है । उनके लिए यही बड़ा दुःख था कि मनुष्य, मनुष्य में भेद जताकर उसका अनादर करता है । परिस्थितियों से किसी को हीन स्थिति मिली तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उन्हें दुत्कारा जाय और सामाजिक न्याय से वंचित रखा जाय । भेद किया जाय तो हर व्यक्ति दूसरे से छोटा है । तब चाहे जो चाहे जिसका अनादर कर सकता है । ऐसा होने लगे तो संसार में प्रेम, आत्मीयता और आदर का लेशमात्र स्थान न बचे ।

जज साहब ने उसे पहले आग्रहपूर्वक कुर्सी पर बैठाया और फिर अपनी बात कहने के लिए पूछा ।

बम्बई नगरपालिका के विरुद्ध अभियोग था । साधारण व्यक्ति होने के कारण कोई सुनवाई न हुई थी, वरन् उसे जहाँ गया डाँट-फटकार ही मिली थी । आजकल वैसा नहीं तो बहानेबाजी, रिश्वतखोरी की बातें चलती हैं, दोनों एक-सी हैं । फिर जितना ऊपर बढ़ो सुनवाई की सम्भावना भी उतनी ही मन्द पड़ती जाती है ।

जज साहब ने सारी बात ध्यान से सुनी और कहा–"मैं सब कुछ आज ही ठीक कर दूँगा ।" आश्वासन पाकर उस दीन-जन की आँखें भर आईं । जज साहब ने उसी दिन उस बेचारे का वर्षों का रुका काम निबटाया । यह भी हिदायत दी कि किसी को निम्न वर्ग वाले को, अशिक्षित या अछूत मानकर उपेक्षित और न्याय से वंचित न किया जाय ।

जज साहब की यह आदर्शवादिता यदि आज के पदाधिकारियों में होती तो भारतीय लोकतन्त्र उजागर हो जाता ।

मितव्ययी न्यायाधीश

जस्टिस रानाडे के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना है । एक बार वे अपने नौकर को बाजार से सामान मँगाने के लिए भेज रहे थे । वे नौकर से हर एक चीज का दाम पूछते जाते थे और जितने सामान की आवश्यकता थी उसकी तौल तथा रुपया, आने-पैसों में उसकी कीमत एक कागज पर नोट करते जाते थे । पर्चा तैयार कर नौकर को भेज दिया इसी बीच उनके एक मित्र जो स्वयं भी जज थे, वहाँ पहुँच गये । मामूली सामान का पर्चा बनाते देखकर उन्होंने आश्चर्य से पूछा–"सर आपको इसकी क्या आवश्यकता है ।" रानाडे ने कहा–"भाई मैं जज होऊँ या कोई और जो घर के खर्च का हिसाब नहीं रखते उन पर सदा ही कर्ज बना रहता है ।" अँग्रेज जज उनकी इस बात से बड़ा प्रभावित हुआ और स्वयं ने भी वैसा ही करना शुरू कर दिया ।

ताकि अनुशासन भंग न हो

न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के पास किसी मित्र ने कीमती हापुस आमों का टोकरा भेजा । भोजन के समय श्रीमती रमाबाई रानाडे आम ले आईं । उन्होंने चाकू से आम काटकर तीन फाँकें पति को दीं । तीन फाँकें खाकर रानाडे बोले–"बस अब नहीं चाहिए ।" क्यों और लीजिए न ! क्या स्वादिष्ट नहीं हैं । "स्वादिष्ट तो हैं, पर इससे अधिक खाना मेरे स्वाद के अनुशासन से बाहर होगा ।" रानाडे कहते गये ये आम कीमती हैं । मैं इन्हें उतना ही खाना चाहता हूँ, जितने से जीभ की आदत न बिगड़े और जितना मैं खरीदकर भी खा सकूँ । किसी ने भेंट किये हैं, इसलिए ज्यादा खा लेना अनुशासन बिगाड़ना होगा ।"

उदार हृदय

एक बार पूना के सरकारी जज श्री मदनकृष्ण की पत्नी का देहान्त हो गया । जज साहब हरिजन थे । यद्यपि दाह-संस्कार में शरीक होने वालों में रूढ़िवादिता की कुछ हिचकिचाहट-सी थी । फिर भी शर्मा-शर्मी आ ही गये ।

पत्नी की मृत्यु के ठीक १५ दिन बाद स्वयं जज साहब का देहान्त हो गया । अब समस्या दाह-संस्कार की सामने आयी । लोग यह सोचकर नहीं आये कि एक बार धर्म बिगाड़ लिया सो बिगाड़ लिया । अब की बार हम धर्म न बिगाड़ेंगे परिणाम यह हुआ कि कोई भी न आया और लाश घण्टों रखी रही ।

उस समय न्यायमूर्ति महादेव रानाडे स्वयं भी जज थे, जो कि उसी दिन दौरे से लौटकर आये थे ।

जैसे ही उन्हें जज साहब के देहान्त के बारे में मालूम हुआ, वे फौरन वहाँ पहुँचे । उन्होंने मुर्दे को उठाने की व्यवस्था स्वयं ही की ।

यह था हृदय की भावनात्मक एकता के प्रश्न का हल, जिसका कि जाति-पाँति के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

पाप का धन

एक न्यायाधीश सरकारी काम पर पैदल ही सतारा जिले का दौरा कर रहे थे । उन्होंने अपनी पत्नी को संदेश दिया था कि पीछे घोड़ा गाड़ी से आ जाना ।

मार्ग में एक अमराई में बढ़िया आम दिखायी दिये । न्यायाधीश की पत्नी की इच्छानुसार गाड़ीवान ने कुछ आम पेड़ से तोड़े । संयोगवश एक बड़ा आम उनके हाथ पर आ गिरा और उनका सोने का कंगन टूट गया । टूटे हुए कंगन का एक टुकड़ा भी नहीं मिल पाया । जिसके कारण उन्हें बड़ा पछतावा रहा ।

पड़ाव पर आकर न्यायाधीश की पत्नी ने सारी कहानी पतिदेव को सुनायी । न्यायाधीश कहने लगे–ठीक ही हुआ । बिना अधिकार के पराया माल प्राप्त करने का यही परिणाम होना चाहिए । भविष्य में इस प्रकार की मनोवृत्ति से दूर रखने के लिए प्रभु ने यह दण्ड दिया है । तुम्हारे अपराध की थोड़ी-सी सजा मुझे भी मिल गयी है । मेरा भी चाकू कहीं खो गया है । पाप की कौड़ी पुण्य का सोना भी खींच लेती है ।

ये न्यायाधीश थे श्री महादेव गोविन्द रानाडे जो केवल दूसरों के मुकदमों के फैसले ही नहीं करते थे वरन् अपने और अपने स्वजनों के क्रिया-कलापों का भी विवेकपूर्ण तरीके से निरीक्षण करते हुए उस न्यायाधीश को नहीं बिसारते थे जो इस संसार का स्वामी है । यह सब पर दया भी करता है और उन्हें उनके कर्मों के अनुसार दण्ड भी देता है ।

सुधार के लिये इतनी सहिष्णुता

श्री महादेव गोविन्द रानाडे के एक मित्र थे श्री कुण्टे । ये दोनों एक साथ पढ़े थे और इसलिए एक प्रकार से लँगोटिया यार थे । बड़े हो जाने पर भी दोनों में घनिष्ठ मित्रता बनी रही । पर सन् १८८५ में जब लार्ड रिपन ने भारतवासियों को स्वायत्त-शासन (नगर पालिका) का अधिकार दिया तो उसके चुनाव के समय दोनों में मतभेद हो गया । श्री रानाडे तो उसमें अधिकाधिक संख्या में भारतीय सदस्य रखे जाने के पक्ष में थे और कुण्टे महोदय उसमें अँग्रेज अफसरों का बहुमत रखने के समर्थक थे । एक दिन रानाडे ने कुण्टे को उनकी अँग्रेज परस्त नीति के लिये फटकारा तो वे उनसे क्रुद्ध हो गये और बहुत खुले तौर पर जोर-शोर के साथ अँग्रेज अफसरों के चुने जाने का प्रचार करने लगे । वे प्राय: सभा किया करते और उनमें रानाडे पर तरह-तरह के आक्षेप करते हुए हिन्दुस्तानियों के चुनाव का विरोध किया करते । रानाडे को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि हम लोग आपस में ही लड़कर अँग्रेजों को अपने ऊपर हँसने का मौका दे रहे हैं । इसलिये उन्होंने इस झगड़े का अन्त करने का निश्चय किया और सन्ध्या के समय स्वयं ही कुण्टे की सभा में चले गये । उस दिन भी कुण्टे ने इन पर खूब आक्षेप किये पर इसकी कुछ परवाह न करके भाषण समाप्त होने पर वे उनके पास गये । कुण्टे ने नाराजगी से अपना मुँह दूसरी तरफ फेर लिया । पर वे उसके और भी पास चले गये और जबरदस्ती बातें करने लगे । फिर इन्होंने कुण्टे से अपनी गाड़ी में बैठकर चलने के लिये कहा, तो कुण्टे ने उसे अस्वीकार कर दिया । इसके बाद जब कुण्टे अपनी गाड़ी में जाकर बैठे तो ये भी उसी गाड़ी में जा बैठे और कहा–"यदि आप मेरी गाड़ी पर नहीं चल सकते तो मैं आपकी गाड़ी पर चलूँगा ।" कहना अनावश्यक है कि मार्ग में दोनों में जो वार्तालाप हुआ उससे कुण्टे महोदय ठिकाने आ गये और उन्होंने अँग्रेज अफसरों का पक्ष लेना छोड़ दिया ।

सेवा एवं मानवता की मूर्ति–

महामना मालवीय जी

"जब तक मैं इस मकान में हूँ तब तक ये गरीब आदमी इसी प्रकार यहाँ आते रहेंगे । मुझे भारत ही नहीं संसार भर के गरीबों से सहानुभूति है । मुझे उनसे हार्दिक प्रेम है । अपने घर आने को मैं इनकी कृपा मानता हूँ । इनको घर बैठे देखने का अवसर पाकर मैं देश के विषय में बहुत-सी बातें समझ लेता हूँ ।"

ये शब्द थे महामना मदनमोहन मालवीय जी के, जो उन्होंने अपने पुत्र श्री गोविन्द मालवीय की इस शिकायत पर कहे थे कि बैठक में ऐसे बहुत से आदमी बिना पूछे चले आते हैं, जिनके पैर धूल से सने होते हैं और कपड़े निहायत गंदे रहते हैं मुझे इनका आना बिल्कुल पसंद नहीं, मैं इनके आने पर प्रतिबंध लगा दूँगा ।

पं० मदनमोहन मालवीय एक पूर्ण धार्मिक व्यक्ति थे किन्तु उनकी धर्म-भावना में घृणा नहीं प्रेम की प्रधानता थी । उन्हें किसी से मिलने, बात करने में संकोच नहीं होता था ।

पं० मदनमोहन मालवीय सनातन धर्म के साकार रूप थे । धर्म की अनुभूति उनके रोम-रोम में भरी हुई थी । उन्हें अपने ब्राह्मणत्व पर स्वयं ही बहुत श्रद्धा थी । वे अपने ब्राह्मण संस्कारों को किसी भी स्थिति अथवा अवसर पर त्यागने को तैयार नहीं थे । धार्मिक नियमों की रक्षा और उनके पालन को वे जीवन का सबसे बड़ा कर्तव्य मानते थे ।

उनका कथन था–"धर्म वह शक्तिशाली तत्व है जिसको अपनाने से बड़े से बड़े पतित हृदय का अनुराग भी महामना बन सकता है । मुझे अपने धर्म पर अनन्त श्रद्धा है । धर्म मेरा जीवन और प्राण है । मैं जीवन की सारी सुख-सुविधायें, यहाँ तक कि परिवार और प्रेमीजनों तक को धर्म पर न्योछावर कर सकता हूँ ।"

महामना मालवीय जी का यह कथन केवल मात्र ही न था बल्कि उसका एक-एक शब्द उनके दैनिक जीवन में कदम-कदम पर परिलक्षित होता था। वे हिन्दू, हिन्दी और हिन्दुस्तान के पूर्ण उपासक थे और जीवन भर इन्हीं के लिए काम करते हुए, इन्हीं के लिए मर-मिटे।

महामना मालवीय जी को अपने देश-भारत की दो कमियाँ बहुत खटकती थीं। एक अविद्या और दूसरी निर्धनता। वे बनारस के एक परम प्रतिष्ठित व्यक्ति और उस तीर्थ के सर्वमान्य नेता थे। जहाँ काशी की जनता उन्हें देवता के समान पूजती थी, वहाँ काशी नरेश उन्हें गुरु के समान मानते थे।

मालवीय जी का यह प्रभाव केवल इसलिए नहीं था कि वे एक अद्वितीय ब्राह्मण थे बल्कि उनका सारा सम्मान उनकी उन समाज सेवाओं पर निर्भर था जो समय-समय पर वे करते रहते थे।

पं० मदनमोहन मालवीय पोंगापंथी धार्मिक नहीं थे। उनके धर्म में सत्य और संयम का समन्वय रहता था। यद्यपि वे अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे और उसके लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को सदैव तत्पर रहा करते थे तथापि जो धार्मिक नियम रूढ़ि बनकर देश, जाति अथवा समाज को हानि पहुँचाने लगते थे उनका त्याग कर देने में उन्हें जरा भी संकोच न होता था। इसका प्रमाण उन्होंने अछूतों और दलित वर्ग के प्रति सेवा भावना से दिया।

गरीबी और गरीबों के प्रति महामना मालवीय जी का प्रेम सर्वविदित था। किसी गरीब को देखकर तत्काल उनका हृदय करुणा से भर जाता था और वे उसकी यथासम्भव सहायता किया करते थे। काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी विशाल संस्था के संस्थापक और उसके उपकुलपति होने पर भी वे अपने व्यक्तिगत जीवन में एक साधारण भारतीय नागरिक की तरह ही रहते थे। वे अपने जीवन पर एक सामान्य नागरिक की औसत आय से अधिक कभी खर्च नहीं करते थे और न कभी ऐसे बड़े प्रीतिभोजों में शामिल होते थे, जिनमें ऐसी वस्तुएँ खाने के लिए बनी हों जो भारत के एक सामान्य नागरिक को आसानी से न मिल सकें।

वे ऐसे अपव्ययी एवं बहुव्ययी प्रीतिभोजों का बहिष्कार ही नहीं बल्कि उनकी इन शब्दों में निन्दा भी करते थे-"जहाँ तुम्हारे घर में हजारों-लाखों तुम्हारे भाई आधे पेट भोजन की पीड़ा सह रहे हों वहाँ इस प्रकार के विविध व्यंजनों से परिपूर्ण बड़े-बड़े प्रीतिभोज अशोभनीय ही नहीं बल्कि निंदास्पद भी हैं।" इस प्रकार के अपव्ययी प्रीतिभोजों को चलाने और रहन-सहन पर बेतहाशा खर्च करने वाले देश के गरीबों के प्रति सहानुभूति दिखलाकर दुःख प्रकट करते हैं, तब मुझे ऐसा लगता है कि जैसे वे गरीब भारतीय जनता का उपहास करते हैं। जिसको कष्ट का एक काँटा नहीं चुभा, जिसने गरीबी के दर्द का कोई अनुभव नहीं किया वह गरीबों से सच्ची सहानुभूति किस प्रकार रख सकता है? उनका दुःख दूर करने के लिए क्या कर सकता है? गरीब जनता के नेताओं को अमीरों की जिन्दगी बिताने और विलासपूर्वक रहने का क्या अधिकार है? मैं किसी अमीर को गरीबों का नेता मानने को तैयार नहीं हूँ। गरीबों का नेता तो उन्हीं की तरह अभावों को अंगीकार करने वाला होना चाहिए।

वे द्वार पर आए गरीबों के प्रति नेताओं का विषमतापूर्ण व्यवहार पर आँसू बहाते हुए कहा करते थे- "यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि आप देश के नेता जनता से दूर सजे हुए बँगलों और वातानुकूल कोठियों में बैठकर उसकी गरीबी पर विचार-विमर्श करते हैं, सोफों पर पड़े-पड़े उसका उपाय सोचा करते हैं। अपने चाँदी जैसे चमकते कपड़ों को गरीबों के स्पर्श से बचाते हैं और अपने कमरे में बिछी कालीनों को किसी आगन्तुक गरीब के पैरों से मैला होने देने में संकोच करते हैं। यह कैसा नेतृत्व है, यह कैसी हिमायत है? जिसने गरीबों का अभिशाप नहीं देखा उसकी आहों-कराहों को नहीं सुना वह भला गरीब जनता का नेतृत्व कैसे कर सकता है? आज तो देश को ऐसे नेताओं, ऐसे सेवकों की आवश्यकता है जिनके हृदय देश के प्रति करुणा से भरे रहते, जिनके आँसू गरीबों की पद-धूलि के लिए सदैव आँखों से भरे रहते हों और जिनका हृदय स्वभावतः अमीरी और आरामपूर्ण जिन्दगी से घृणा रखता हो। मैं भगवान से नित्य यही प्रार्थना करता हूँ कि हे करुणाकर जगदीश! तू मेरे हृदय में गरीबों के प्रति इतनी दया, इतना प्रेम भर कि मैं अपने अस्तित्व को उनकी सेवा में विसर्जित कर दूँ और देश को ऐसे नायक दे जो समाज की आवश्यकता, उसकी पीड़ा और परेशानी को ठीक-ठीक अनुभूत कर सकें।"

महामना का 'मानवतामय व्यक्तित्व धर्म की उदात्त पृष्ठभूमि पर विकसित हुआ था। यद्यपि नित्य-प्रति पूजा-पाठ करना मालवीय जी की दिनचर्या का एक विशेष अंग था। जब तक वे नियमित रूप से पूजा न कर लेते थे जीवन के नये दिन का कोई कार्य प्रारम्भ न करते थे, किन्तु मानवता की सेवा करना वे व्यक्तिगत पूजा-उपासना से भी अधिक बड़ा धर्म समझते थे। इसका प्रमाण उन्होंने उस समय दिया जबकि एक बार प्रयाग में प्लेग फैला। अभागे नर-नारी कीड़े-मकोड़ों की तरह मरने लगे। मित्र-पड़ोसी, सगे-सम्बन्धी तक एक-दूसरे को असहाय दशा में छोड़कर भागने लगे थे। किन्तु यह मानवता के सच्चे पुजारी श्री महामना ही थे जिन्होंने उस आपत्तिकाल में अपने जीवन के सारे प्राणप्रिय कार्यक्रमों एवं कर्मकांड छोड़कर तड़पती हुई मानवता की सेवा में अपने जीवन को दाँव पर लगा दिया था। वे घर-घर, गली-गली पैदल दवाओं तथा स्वयंसेवकों को लिए हुए, दिन-रात घूमते रहते थे और खोज-खोजकर रोगियों के घर जाते। उन्हें दवा देते, उनकी सेवा-सुश्रूषा करते, उनके मल-मूत्र साफ करते और अपने हाथों से उनके निवास स्थान तथा कपड़ों को धोते थे। अपने इस सेवा कार्य में वे नहाना-धोना, पूजा-

पाठ तथा खाना-पीना सब कुछ भूल गये । कब दिन निकला ? कब रात हुई ? इसका पता ही न रहता था ।

उदारचेता मालवीय जी स्वयंसेवकों से ऊपर का काम तो ले लेते थे किन्तु रोग के प्रभाव के भय से उन्हें रोगियों के पास न आने देते थे । जब उनके भक्तजन उनसे यह कहा करते थे कि आप दूसरों को रोगियों के पास रोग के संक्रमण के भय से तो जाने नहीं देते किन्तु स्वयं उनका मल-मूत्र तक साफ करते हैं । आप देश, जाति की अमूल्य निधि हैं, क्या आपको रोग की शंका नहीं होती ? तब उनका यही उत्तर होता था कि एक तो मैं अपने सेवा कार्यों में किसी का साझा नहीं करना चाहता, दूसरे मेरे हृदय में इस त्रस्त मानवता के लिए इतनी तीव्र आग जल रही है कि मेरे पास रोग के कीटाणु आकर स्वयं भस्म हो जायेंगे और यदि इनकी सेवा करता-करता मैं स्वयं मर जाऊँ तो भी अपने मानव-जीवन को धन्य समझूँगा ।

यह थी महामना मालवीय जी की सेवा-भावना जिसके लिए वे अपना तन, मन और धन सब कुछ न्योछावर करते रहते थे । उनके धर्म का ध्येय मोक्ष अथवा निर्वाण न होकर मानवता की सेवा मात्र था । जिसको वे जीवन भर सच्चाई के साथ निभाते हुए एक दिन उसी मार्ग पर चलते-चलते परम तत्व में विलीन हो गए ।

कहना न होगा कि धर्म के अभाव में कोई मनुष्य सच्चा मनुष्य नहीं बन सकता और बिना सेवा-भाव के धर्म का कोई महत्व नहीं ।

सिद्धान्तनिष्ठा

कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह ने 'हिन्दुस्तान' नामक पत्र आरम्भ किया ही था कि उसके लिए सुयोग्य सम्पादक की आवश्यकता सामने आ खड़ी हुई । उन्हीं दिनों मदनमोहन मालवीय कॉलेज की शिक्षा समाप्त करके निकले ही थे और अध्यापन का कार्य करने लगे थे । पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेखों एवं भाषणों से राजा साहब बहुत प्रभावित हुए और उन्हें हिन्दुस्तान के सम्पादन के लिए आमन्त्रित किया ।

मालवीय जी उन दिनों आर्थिक तंगी में थे । तब अध्यापकों को वेतन भी कम मिलता था । राजा साहब उन्हें ढाई सौ रुपये मासिक देना चाहते थे, जो आज की दृष्टि से कई हजार के लगभग होता था । सम्मान का पद भी था और आर्थिक दृष्टि से आकर्षक भी, पर महामना के सामने एक कठिनाई थी कि राजा साहब शराब पीते थे और उन्हें शराब से घोर घृणा थी । यह भिन्नता किस प्रकार मिटेगी, यह बात उन्हें असमंजस में डाले थी ।

सम्पादन का उत्तरदायित्व लेने की शर्तें तय करते समय मालवीय जी ने स्पष्ट कह दिया कि राजा साहब नशे की हालत में उनसे न मिलें । यह शर्त उन्होंने स्वीकार कर ली । बहुत दिन तक निभी भी, पर एक दिन नशे की हालत में ही वे मालवीय जी के कार्यालय पर भेंट करने आ पहुँचे ।

आदर्श और स्वाभिमान को प्रधान मानने वाले महामना मालवीय जी स्तीफा देकर वापस लौट आये और लाख कहने पर भी उस उत्तरदायित्व को फिर से नहीं स्वीकारा । राजा साहब पर मालवीय जी की आदर्शवादिता का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनका वेतन ढाई सौ रुपये मासिक वकालत पढ़ने की छात्रवृत्ति के रूप में उन्हें वे सतत भेजते रहे ।

परीक्षा

पं० मदनमोहन मालवीय बम्बई में ठहरे हुये थे । रात्रि के समय बम्बई के प्रसिद्ध विद्वान पं० रमापति मिश्र उनसे मिलने के लिये आये । मिश्र जी बोले—"मालवीय जी ! मैंने तो अपने में काफी सहनशीलता बढ़ाली है, आप चाहें तो सौ गाली देकर देख लीजिए मुझे क्रोध नहीं आयेगा ।" मालवीय जी हँसते हुए बोले—"मिश्र जी ! आपकी बात तो ठीक है पर क्रोध की परीक्षा तो सौ गाली देने के बाद होगी । उससे पूर्व ही पहली गाली में मेरा मुँह गन्दा हो जायेगा ।" मालवीय जी के इस उत्तर को सुनकर मिश्र जी नत-मस्तक हो गये ।

मानवीय भावना

एक लड़का दौड़ता हुआ डॉक्टर के पास पहुँचा और उनसे अत्यधिक आग्रह करके एक रोगी को दिखाने ले गया । डॉक्टर ने देखा-सड़क पर एक कुत्ता घायल पड़ा है, उसी के इलाज के लिये उसे लाया गया है । इस पर डॉक्टर बहुत झल्लाया, पर लड़का भी अपनी आन पर पूरा था । उसने कहा-मनुष्य के समान ही कुत्ते को भी कष्ट होता है । हम मनुष्यों का ही दुःख दूर करें और दूसरे प्राणियों का नहीं, क्या यह उचित है ? डॉक्टर की झेंप मिटी और उसने कुत्ते का उपचार किया । कुछ दिन में वह कुत्ता अच्छा भी हो गया । इस सहृदय बालक का नाम था-महामना मदनमोहन मालवीय ।

कर्त्तव्य पालन

मदनमोहन मालवीय किसी अँग्रेजी अफसर से मिलने जा रहे थे । अभी थोड़ी ही दूर पहुँचे थे कि रास्ते में पड़ी हुई एक निर्धन स्त्री दिखाई दी । उसके पाँव में घाव हो गये थे । मक्खियाँ काट रही थीं । इससे उसे असह्य वेदना हो रही थी ।

मालवीय जी ने अपनी घोड़ागाड़ी रुकवाई । स्वयं उतरे और उस स्त्री को उठाकर गाड़ी में बैठाकर अस्पताल की ओर चल पड़े । एक युवक ने यह देखा तो दौड़ा-दौड़ा आया और बोला पण्डित जी इस स्त्री को लाइये मैं अस्पताल पहुँचा देता हूँ आप किसी आवश्यक कार्य में जा रहे हैं वहाँ जाइये । आपका समय ज्यादा मूल्यवान है ।

मालवीय जी ने कहा—"यह कार्य ज्यादा आवश्यक है, मैं उसी के लिये जिन्दा हूँ ।" यह कहकर उन्होंने गाड़ी आगे बढ़वाई और उस स्त्री को स्वयं अस्पताल पहुँचाकर आये ।

कल्याणकारी दान

एक बार एक सेठजी स्वयं महामना मालवीय जी के पास अपने यहाँ विवाह पर आयोजित विशाल भोज में सम्मिलित होने का निमन्त्रण देने के लिए पहुँचे । महामना जी ने उनके इस निमन्त्रण को इन विनम्र किन्तु मर्मस्पर्शी शब्दों में अस्वीकार कर दिया–"यह आपकी कृपा है जो मुझे अकिंचन के पास स्वयं निमन्त्रण देने पधारे किन्तु जब तक मेरे इस देश में, मेरे हजारों-लाखों भाई आधे पेट रह कर दिन काट रहे हों, तो मैं विविध व्यंजनों से परिपूर्ण बड़े भोजों में कैसे सम्मिलित हो सकता हूँ । ये सुस्वादु पदार्थ मेरे गले कैसे उतर सकते हैं । क्या भोजन मात्र से ही यश मिलता है । यश अर्जन का आप कोई अच्छा तरीका नहीं सोच सकते ?

महामना जी की यह मर्मयुक्त बात सुन सेठजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भोज में व्यय होने वाला सारा धन गरीबों के कल्याणार्थ दान दे दिया ।

भागवत्-कथा-वाचन

जयपुर के अग्रवाल महाविद्यालय भवन में अ० भा० आयुर्वेद सम्मेलन हो रहा था । महामना मालवीय जी को अध्यक्षता करनी थी । उन दिनों देशी रजवाड़े किसी राष्ट्रीय विचार वाले को अपने क्षेत्र में प्रवेश न करने देते थे । अस्तु, मालवीय जी के जुलूस एवं भाषण पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया ।

मालवीय जी ने पैंतरा बदला उन्होंने भागवत कथा कहना आरम्भ कर दिया जो पूरे दो घण्टे चली । जनता मन्त्र मुग्ध रह गई ।

समाचार राजमहल पहुँचा तो राजा ने मालवीय जी को कथा सुनाने उन्हें राजमहल में आमन्त्रित किया । बड़े ध्यान से उन्होंने कथा सुनी । इसके उपरान्त हिन्दू विश्व- विद्यालय के लिए राज्यकोष से लाखों रुपये की सहायता भी दी गई ।

सेवा धर्म

गुजराँवाला का खालसा कॉलेज–जहाँ मार्शल लॉ के दिनों में अँग्रेज सैनिकों ने निर्दयतापूर्वक गोलियाँ बरसाई थीं । देखने के लिये महामना मालवीय जी, पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द तथा श्री व्यंकटेश नारायण तिवारी गये थे । जून की दोपहर सूर्य आग बरसा रहा था । तिवारी जी के अलावा तीनों नेताओं के पास छाते थे । तिवारी जी को बिना छाते के देख महामना उनके सिर पर छाता लगाकर चलने लगे । ज्यों-ज्यों तिवारी उनके छाते से दूर भागते, त्यों-त्यों मालवीय जी उनके पास ही आते जाते । तिवारी जी से न रहा गया । बोले–"महाराज आप मुझे पाप का भागी क्यों बना रहे हैं ? " महामना ने उत्तर दिया–"तुम उस सेवा-समिति के मन्त्री हो, जिसका सभापति मैं हूँ । क्या मुझे सेवा के धर्म से बिल्कुल वंचित करना चाहते हो ? तुम जनता की सेवा कर रहे हो, तुम्हारी सेवा कर मैं पुण्य का भागी होना चाहता हूँ ।"

अद्भुत याचक

रक्षाबन्धन का पुनीत पर्व । बीकानेर नरेश का दरबार लगा हुआ था । राजद्वार पर ब्राह्मणों की लम्बी कतार थी । उन्हीं ब्राह्मणों के मध्य मालवीय भी एक नारियल लिये खड़े थे । शनैः-शनैः कतार छोटी होती जा रही थी । प्रत्येक ब्राह्मण, नरेश के पास जाकर राखी बाँधता और दक्षिणा के रूप में एक रुपया प्राप्त कर खुशी-खुशी घर लौटता जा रहा था ।

मालवीय जी का नम्बर आया तो वे नरेश के समक्ष पहुँचे राखी बाँधी, नारियल भेंट किया और संस्कृत में स्वरचित आशीर्वाद दिया । नरेश के मन में इस विद्वान ब्राह्मण का परिचय जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई । जब उन्हें मालूम हुआ कि यह तो मालवीय जी हैं तो वह बहुत प्रसन्न हुए और अपने भाग्य की मन ही मन सराहना करने लगे । मालवीय जी ने विश्वविद्यालय की रसीद बही उनके सामने रख दी । उन्होंने भी तत्काल एक सहस्र मुद्रा लिखकर हस्ताक्षर कर दिये । नरेश अच्छी तरह जानते थे कि मालवीय जी द्वारा संचित किया हुआ सारा द्रव्य विश्वविद्यालय के निर्माण कार्यों में ही व्यय होने वाला है ।

मालवीय जी ने विश्वविद्यालय की समूची रूपरेखा नरेश के सम्मुख रखी । उस पर सम्भावित व्यय तथा समाज को होने वाला लाभ भी बताया तो नरेश मुग्ध हो गये और सोचने लगे इतने बड़े कार्य में एक सहस्र मुद्राओं से क्या होने वाला है, उन्होंने पूर्व लिखित राशि पर दो शून्य और बढ़ा दिये, साथ ही अपने कोषाध्यक्ष को एक लाख मुद्राएँ देने का आदेश प्रदान किया ।

युग की पुकार

मालवीय जी चाहते थे कि हरिजन भाई हिन्दू धर्म के ही एक अंग बने रहें । यदि ब्राह्मणों के द्वारा उन्हें भी मन्त्र दीक्षा दी जा सके तो ये भी अपने को सहयोगी मानते रहेंगे और देश को स्वतन्त्र कराने में उनसे जो बन पड़ेगा उसे करने में पीछे न रहेंगे । इस आशय से उन्होंने देश के विभिन्न भागों से प्रकांड पण्डितों को आमन्त्रित किया ।

ओरियन्टल महाविद्यालय के सभा भवन में सभा का आयोजन किया गया । कार्यवाही प्रारम्भ हुई । प्रारम्भ में ही मालवीय जी ने बड़े ही नम्र शब्दों में अपनी बात कही और उपस्थित विद्वानों से यह निवेदन किया कि इस समस्या को युग की पुकार समझकर अपने-अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें ।

पं० प्रथमनाथ तर्क भूषण जैसे पण्डितों ने उनका समर्थन किया । वहाँ कितने ही कट्टर ब्राह्मणों ने उनके प्रयत्न को निन्दनीय ठहराया । एक सज्जन ने उनके प्रयास

की आलोचना करते हुए यहाँ तक विरोध प्रकट किया कि मालवीय जी को इन कार्यों से नरकगामी होना पड़ेगा ।

इतना सुनकर मालवीय जी हँस पड़े उन्होंने कहा–"सज्जनों यदि हिन्दू धर्म के उत्थान और उसकी एकता बनाये रखने के लिये मुझे एक बार नहीं हजार बार नरक जाना पड़े फिर भी मैं वहाँ के कष्टों को भोगने के लिये सहर्ष तैयार हूँ । इस समय तो आपको हमारा समर्थन करना चाहिए ।" अब उनकी आलोचना करने की किसी में हिम्मत न थी ।

सरलता की प्रतिमूर्ति–

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

घटना उस समय की है जब प्रसिद्ध राष्ट्रीय समाचार पत्र 'लीडर' के सम्पादक थे श्री सी० वाई० चिंतामणि । वे पत्रकारिता के माध्यम से जन जागरण की मुहिम चलाने के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लिया करते थे । इस सिलसिले में उनसे मिलने के लिए कई राजनेता भी आया करते थे । चिंतामणि जी का स्वभाव था कि जब वे गम्भीर लेखन में व्यस्त रहते थे तो उस समय बीच में किसी का आना या बातचीत करना उन्हें बहुत अखरता था । उस दिन भी चिंतामणि जी लीडर का सम्पादकीय अग्रलेख लिख रहे थे और चपरासी को आदेश दे रखा था कि वह किसी को अन्दर न आने दे । चपरासी गेट पर बैठा–किसी भी आने वाले को चिंतामणि जी के आदेश से अवगत करा देता और उसे दरवाजे पर ही रोक देता ।

कुछ ही देर बाद एक सादा कुरता और धोती पहने एक भद्र पुरुष वहाँ आये । गेट पर चपरासी ने संपादक के कक्ष में जाने से रोका तो भद्र पुरुष ने अपना विजिटिंग कार्ड उसके हाथ में थमा दिया और कहा–"इसे चिंतामणि जी को दे आओ और उनकी आज्ञा पूछ लो ।"

चपरासी ने उस भद्र पुरुष को अपरिचय भरे भाव से देखा और कहा–"क्षमा करना साहब, साहब का हुक्म है कि मैं भी उनसे किसी के बारे में बात न करूँ" ।

"अच्छा तो तुम यह कार्ड उनकी मेज पर रखकर ही आ जाना । वे जब कभी इसे देखेंगे तो मुझे बुला लेंगे । मुझे उनसे बहुत ही जरूरी बात करनी है ।" भद्र पुरुष ने कहा ।

चपरासी ने उस भद्र पुरुष को कई बार चिंतामणि जी के साथ देखा था और वह यह भी जानता था कि चिन्तामणि जी से इनके अन्तरंग सम्बन्ध हैं । वह कार्ड ले जाकर उनकी टेबिल पर रख आया । चिंतामणि जी इतने तन्मय होकर लिख रहे थे कि उन्हें चपरासी के आने का आभास भी नहीं हुआ था ।

जाड़े का मौसम था । बाहर बरामदे में कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी । राजेन्द्र बाबू को सर्दी मालूम पड़ने लगी । उन्होंने देखा कि नीचे मुख्यद्वार पर कुछ कर्मचारी सूखी लकड़ियाँ और पत्तियाँ जलाकर आग ताप रहे हैं । भद्र पुरुष उठे, नीचे उतरे और नौकरों के बीच बैठकर आग तापने लगे । यही नहीं, वे कर्मचारियों से जो भृत्य वर्ग के थे उन्हीं की बोली में, उनके गाँव, उनके परिवार और उनकी खेती के बारे में पूछने लगे । वे लोग भी उन्हें आत्मीय समझकर बड़े आनन्द से बातें करने लगे ।

करीब घण्टा भर बीत गया । चिंतामणि जी का अग्रलेख समाप्त हुआ और उन्होंने कागजों पर झुका हुआ सिर उठाया तथा हाथ में पकड़ी हुई कलम एक ओर रखी तनाव दूर करने के लिए हाथों को कन्धों से पीछे ले जाकर जरा ताना ही था कि उनकी दृष्टि मेज पर पड़े हुए उस कार्ड पर गयी जिसे चपरासी रख गया था । उन्होंने तुरन्त चपरासी को बुलाया और पूछा–"इन साहब को कितनी देर हो गयी और उन्हें कहाँ बिठाया है ?"

चपरासी ने सहज भाव से बताया–"करीब घण्टा भर हो गया उन्हें आये । कुछ देर तक तो वे मेरी बगल की बैंच पर बैठ रहे फिर बाद में जहाँ अलाव जल रहा है, वहाँ जाकर बैठ गये हैं ।" यह सुनते ही चिंतामणि जी उठे और दौड़े हुये उस भद्रपुरुष के पास पहुँचे–"बाबूजी क्षमा करना । आपको कष्ट हुआ, चलिये ।" और बाबूजी कहने लगे–"अरे ! इसमें मुझे क्या कष्ट हुआ । यहाँ सर्दी थी, इसलिए मैं अलाव के पास चला गया और मेरा समय उन लोगों से बातें करते हुए बड़े आनन्द के साथ बीता । साथ ही मुझे उन लोगों से इस जिले के गाँवों के जन–जीवन की बहुत–सी नई बातें मालूम हुईं ।" इस प्रकार सरलता से उत्तर देने वाले भद्र पुरुष और बाबूजी थे डा० राजेन्द्र प्रसाद जो स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने । जिस समय की बात है उस समय बाबूजी काँग्रेस अध्यक्ष थे और उन दिनों काँग्रेस अध्यक्ष की उतनी ही प्रतिष्ठा थी जितनी कि अँग्रेज गवर्नर की होती थी इतने ऊँचे पद पर रहते हुए भी बाबूजी को गर्व का भाव छू भी नहीं गया था ।

कथ्य और तथ्य–भूल और आत्मविश्वास

विद्यालय में आज छात्रों का अच्छा खासा जमघट जमा हो रहा था । कई दिनों तक अवकाश रहने के बाद आज विद्यालय खुल रहा था । हफ्तों पूर्व परीक्षायें निबटी थीं और आज के दिन वे छात्र भी विद्यालय में उपस्थित थे जो कई–कई दिनों तक अनुपस्थित रहते थे । कारण था–आज परीक्षाफल घोषित होने वाला था । वर्ष भर की मेहनत और परिश्रम अथवा लापरवाही, आलस्य या उच्छृंखलता का प्रतिफल सुनने के लिए शायद सभी उत्सुक थे । पता नहीं दुर्भाग्यवश मेहनत और परिश्रम करने वाले छात्र भी इस परीक्षा में असफल हो जायें इसलिए मेहनती छात्रों की छाती भी धुक–धुक कर रही थी और जिन विद्यार्थियों को अपनी अतीत का पता था वे भी यह आशा दृष्टि लेकर इकट्ठे हुए थे कि शायद अकस्मात किस्मत साथ दे जाय ।

इस प्रकार दोनों ही तरह के छात्र अधीरता लिए समय से पूर्व ही एक-एक कर इकट्ठे हो गये । समय हुआ-विद्यालय शुरू होने का घण्टा बजा । प्रार्थना के बाद सभी परीक्षाफल की लिस्ट लेकर कक्षाओं में पहुँचे ।

और कुछ क्षणों बाद ही अध्यापक भी परीक्षाफल की लिस्ट लेकर कक्षाओं में आ गये । परीक्षा परिणाम घोषित हुए तो अनिश्चितता का वातावरण तो छँट गया परन्तु किन्हीं चेहरों पर प्रसन्नता नाच उठी और किन्हीं पर निराशा व पश्चाताप ।

इसके बावजूद भी एक कक्षा में विचित्र स्थिति उत्पन्न हुई । परीक्षाफल घोषित हो जाने के बाद एक छात्र ने उठकर पूछ ही लिया कि साहब मेरा नाम क्यों नहीं आया ?

छात्र के इस प्रश्न पर कक्षा में बैठे सभी विद्यार्थी खिलखिला कर हँस उठे । वे भी अपने चेहरे पर मुस्कान को जब्त नहीं कर सके, जो अपना नाम उत्तीर्ण छात्रों में न आने पर उदास हुए बैठे थे । अध्यापक ने कहा-''नाम नहीं आया तो स्पष्ट है कि तुम अनुत्तीर्ण हो गये हो ।''

''नहीं ऐसा नहीं हो सकता-'' छात्र ने कहा ।

''ऐसा क्यों नहीं हो सकता''-शिक्षक ने सहृदयता के साथ कहा- 'मैं जानता हूँ कि तुम परिश्रमी और अध्ययनशील छात्र हो । परन्तु इस वर्ष परीक्षा के पूर्व ही तुम्हारे स्वास्थ्य का बिगड़ना तुम्हारे परीक्षाफल के लिए घातक सिद्ध हुआ है ।''

''भले ही मेरा स्वास्थ्य खराब हो गया हो । परन्तु मैं मेहनत से पढ़ा हूँ और फेल नहीं हो सकता''-विद्यार्थी ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा ।

अध्यापक समझे कि लड़का जिद कर रहा है, अतः उन्होंने जरा कठोर हो कर कहा-''बैठ जाओ ।''

''नहीं बैठूँगा । मेरे परीक्षाफल की पुनः जाँच होनी चाहिए ।''

शिक्षक महोदय को इस पर और भी गुस्सा आ गया । वे बोले-''बैठते हो या नहीं । अन्यथा तुम्हें दण्डित किया जायगा ।''

''भले ही दण्डित किया जाय । परन्तु मेरा विश्वास है कि मैं फेल नहीं हुआ हूँ । रिजल्ट फिर से देखा जाना चाहिए । मैं पूरी मेहनत और ईमानदारी के साथ पूरे साल पढ़ा हूँ । परीक्षा का नक्शा मेरी आँखों के सामने है और मुझे अपने उत्तरों पर पूरा विश्वास है ।''

आचार्य ने पाँच रुपये जुर्माना कर दिया । फिर भी छात्र नहीं बैठा । निदान जुर्माना बढ़ाया गया-दस रुपये हो गया फिर भी विद्यार्थी की जिद जहाँ की तहाँ । जुर्माना पचास रुपये तक बढ़ गया लेकिन छात्र टस से मस नहीं हुआ । इस विवाद से पूरे विद्यालय में हंगामा मच गया ।

बात प्राचार्य तक पहुँची । उन्होंने सोचा कि क्यों अपनी जिद पर अड़े रहा जाय । सम्भव है कार्यालय में ही भूल हो गयी हो । अन्यथा इतने आत्मविश्वास और दृढ़ता के साथ कौन अपनी बात पर अड़ा रहेगा । फलतः परीक्षाफल की पुनः जाँच की गयी और पता चला कि लिपिक की भूल से ही उस छात्र का नाम उत्तीर्ण छात्रों की लिस्ट में चढ़ने से रह गया है अन्यथा वह सबसे अधिक अंकों से उत्तीर्ण है । भूल सुधार में उस छात्र को उत्तीर्ण घोषित किया गया और विद्यार्थी के आत्मविश्वास को सराहा भी गया । यह छात्र थे भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद । मनोयोग और श्रमशीलता के बल पर अर्जित आत्मविश्वास की नींव पर खड़ा उनका व्यक्तित्व आगे भी महानता के मार्ग पर लोगों को इसी प्रकार प्रेरित करता रहा ।

पुरुषार्थ का प्रतीक-राजेन्द्र सेवा आश्रम

बिहार के सारण जिले में भैरवा एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन है, जहाँ से करीब दो मील की दूरी पर अनुग्रह नगर बसा हुआ है । यह स्थान जो १९ वर्ष पूर्व बिल्कुल उजाड़ और वीरान था और लोगों के लिए दिन में भी भय का कारण बना रहता था, वह आज राजेन्द्र सेवा आश्रम के कारण बहुचर्चित है और लोगों के लिए एक तीर्थ स्थान-सा बन गया है । कुष्ठ सेवा के लिए निर्मित यह आश्रम अब विशाल भवनों में विकसित हो गया है और इसकी करीब ३० एकड़ जमीन पर कृषि और बागवानी का काम होता है । आश्रम की व्यवस्था २४ लोग सँभाल रहे हैं ।

सन् १९५३ में जब बाबा राघवदास की प्रेरणा और सलाह पर श्री जगदीश दीन इस जगह पर कुष्ठ रोगियों की सेवा करने पहुँचे थे, तब तक यहाँ कोई आश्रम नहीं बना था । श्री जगदीश दीन ने अपनी सेवा-कामना और अर्जित अनुभवों के आधार पर यहाँ कुष्ठ रोगियों के बीच दवा बाँटना शुरू किया । तब उनके पास आश्रम बनाने के लिये न तो पर्याप्त धन था और न ही इस चिकित्सा में उन्हें कोई विशेष प्रशिक्षण प्राप्त था । परन्तु लगन और सेवा भावना से उन्होंने यह काम उठाया था, इसलिए वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया चूँकि यह इलाका गरीब है और यहाँ पर कुष्ठ रोगी अधिक पाये जाते हैं, इसलिए कुष्ठ निवारण के लिए यहाँ एक चिकित्सालय की नितान्त आवश्यकता थी । श्री जगदीश दीन ने सभी गाँवों से चिकित्सालय के निर्माण के लिये धन एकत्रित किया । आज भी इसका व्यय स्थानीय आर्थिक सहायता से चल रहा है । सरकार से केवल ५० हजार रुपये वार्षिक अनुदान के रूप में प्राप्त होता है । गाँव पंचायतें समय-समय पर आश्रम की सहायता के लिए धन एकत्र करती हैं और अन्य कई तरह से सहयोग देती रहती हैं ।

आश्रम में ६ पक्की इमारतें हैं, जिनमें रोगियों के कमरे, उद्योगशाला, बालवाड़ी, प्रयोगशाला और अतिथि शाला शामिल हैं । कई कुष्ठ रोगी यहाँ पर अपना इलाज करवा रहे हैं । चिकित्सालय में यद्यपि एक ही प्रमुख चिकित्सक है, लेकिन उनकी सहायता के लिये ३-४ अन्य डॉक्टर हैं, जो विभिन्न रोगों के विशेषज्ञ हैं और

अपना आधा समय रोगियों की चिकित्सा के लिये निःशुल्क देते हैं । स्त्री-पुरुष और बच्चों के लिये अलग-अलग कमरे हैं और एक वार्ड केवल उन रोगियों का है, जिनसे रोग की छूत का भय अधिक है । सप्ताह में तीन बार बाहरी रोगियों के लिए अस्पताल खुला रहता है और अनुमानतः ३०० बाहरी रोगियों को सप्ताह भर में इलाज मिलता है । आश्रम के १२ अन्य छोटे केन्द्र हैं जो विभिन्न गाँवों में कुष्ठ रोगियों को दवा बाँटा करते हैं और इस प्रकार सुदूर गाँवों में बसे करीब १८ हजार रोगियों की भी इस आश्रम के द्वारा सेवा हो रही है । आश्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पर रोगियों का इलाज दवा से कम और मन से अधिक होता है । कुष्ठ रोगियों के मन से हीन भावना और घृणा से देखे जाने की लज्जा को खत्म करने के मनोवैज्ञानिक प्रयास किये जाते हैं एवं भविष्य में कुष्ठ रोग को समाप्त करने की योजना भी बन रही है ।

सन् १९५५ में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस आश्रम का शिलान्यास किया था, तभी से इसका नाम राजेन्द्र सेवा आश्रम पड़ा । इसके बाद सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण और डा० अनुग्रह नारायण इस आश्रम के विकास में प्रयत्नशील रहे । इस आश्रम में रोगी एवं स्वस्थ सबको ग्रामोद्योगों का प्रशिक्षण भी दिया जाता है ताकि वे प्रतिष्ठापूर्वक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर सकें ।

आश्रम के कार्यकर्त्ताओं द्वारा कृषकों को कृषि उद्योग की उन्नति के लिए नवीनतम कृषि-विधियों की प्रदर्शनी का आयोजन किया जाता है । आश्रम का जीवन सांस्कृतिक आयोजनों से भी ओतप्रोत है, जिनमें रोगी और स्वस्थ सभी लोग सम्मिलित होते हैं और इस कारण आश्रम में आकर्षण और प्रसन्नता का वातावरण बना रहता है ।

धन का सदुपयोग

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद एक बार कई राज्यों का दौरा करके राँची (बिहार) पहुँचे । वहाँ उनके पैर में दर्द होने लगा । पता चला कि उनके जूते के तले घिस गये हैं और उनमें उभरी कीलें उन्हें चुभती हैं ।

राष्ट्रपति के शिविर से 'अहिंसक चर्मालय केन्द्र' दस मील था । उनके सचिव तुरन्त ही वहाँ से नया जोड़ा खरीद लाये । जूता पहनते हुए राजेन्द्र बाबू ने कीमत पूछी जवाब मिला-"उन्नीस रुपये" । राजेन्द्र बाबू विचार में पड़ गये । कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा-" पर गत वर्ष ऐसे जूते ग्यारह रुपये में लिये थे । " सचिव ने कहा-"जी हाँ, ग्यारह रुपये वाले भी वहाँ थे, पर वे इनसे कमजोर थे । यह जोड़ा अधिक मुलायम चमड़े का है ।" राजेन्द्र बाबू को इस पर सन्तोष नहीं हुआ वे कहने लगे-"यदि ग्यारह रुपये वाले जोड़े से काम चलता हो तो उन्नीस रुपये क्यों खर्च किये जायें ? और मेरे पैर तो कड़े जूते पहनने के अभ्यस्त हैं । अतः तुम ये लौटाकर ग्यारह रुपये वाला जोड़ा ले आओ ।" सचिव राष्ट्रपति के स्वभाव से परिचित थे, अतः वे जूते लौटाने को तैयार हो गये । इतने में राष्ट्रपति जी ने पूछा-"इतनी दूर कैसे जाओगे ?" जी, मोटर में चला जाऊँगा ।" सचिव ने कहा ।" यह तो उचित नहीं । जितने रुपये तुम जूते खरीदने में बचाओगे, उतने पेट्रोल में चले जायेंगे । सो ये जूते अभी तो तुम यहीं रहने दो । हमें यहाँ तीन दिन रहना है । इस बीच उधर जाने वाले किसी आदमी द्वारा इन्हें बदलवा देंगे ।" राजेन्द्र बाबू का उत्तर था ।

बड़ा नाम ही नहीं बड़ा काम भी

भूकम्प-रिलीफ का काम उत्तर बिहार में देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद की देखरेख में बड़े जोरशोर से चल रहा था । कुछ लोग प्रोफेसर बलदेव नारायण जी के नेतृत्व में दरभंगा में काम कर रहे थे, उनमें एक डा० राम बहादुर सिंह भी थे । राजेन्द्र बाबू कार्य का निरीक्षण करने हेतु दरभंगा पहुँचे । वहाँ से लौटते समय साथ में डा० राम बहादुर सिंह को भी ले लिया । दोनों आदमी साथ ही साथ ट्रेन में बैठे । दिन के लगभग ३ बजे होंगे । गाड़ी धीरे-धीरे सरकती हुई सोनपुर स्टेशन पर आ पहुँची । बैसाख का महीना था, सूर्य मानो आग उगल रहा था । सारा संसार तप्त होकर जल रहा था । कहीं भी थोड़ा चैन नहीं । यात्रियों का प्यास के मारे गला सूख रहा था ।

सोनपुर स्टेशन बड़ा स्टेशन पड़ता है । यहाँ ट्रेन को काफी लम्बे समय तक रुकना होता है । ज्यों ही ट्रेन रुकी-सबकी नजर बाहर की ओर थी । सब लोगों की एक आवाज थी-पानी पांड़े पानी चाहिए, पानी पांड़े पानी चाहिए । पर पानी पांड़े का कहीं भी पता नहीं । नल में भी पानी नहीं था जिससे लोग अपनी प्यास बुझाते ।

इसी बीच राजेन्द्र बाबू अपने डिब्बे से गायब । डा० राम बहादुर यह भी नहीं देख सके, कि कब वे वहाँ से चले गये । अपने समीप उन्हें न पाकर उन्होंने अनुमान लगाया कि कहीं पानी पीने चले गये हों । कुछ देर बाद क्या देखते हैं कि राजेन्द्र बाबू एक बाल्टी में पानी और दूसरे हाथ में लोटा लिये हुए यह आवाज लगा रहे हैं, "पानी पिओगे बाबू ?" लोग उन्हें देख-देख कर ये कह रहे थे, "ऐ पानी पांड़े हमें पानी पिलाओ ।" जहाँ से भी आवाज आती वहाँ दौड़-दौड़ कर पानी पिला रहे थे । देशरत्न को आवश्यकता के समय केवल कार्य की चिन्ता थी, अपनी पद, प्रतिष्ठा और सम्मान का उन्हें तनिक भी ध्यान न था ।

सादगी और सरलता

राजेन्द्र बाबू उन दिनों राष्ट्रपति तो नहीं पर देश के अग्रणी नेता अवश्य थे । उन्हें इलाहाबाद पं० नेहरू से मिलने जाना था । निश्चित ट्रेन पर उन्हें लेने के लिए कितने ही व्यक्ति पहुँचे, पर वे उन्हें असाधारण सादगी के कारण पहचान न सके । निदान वापस लौट आये ।

राजेन्द्र बाबू इक्के पर बैठकर आनन्द भवन पहुँचे। रात अधिक हो गयी थी। लोगों को जगाने की अपेक्षा उन्होंने यही उचित समझा कि दरवाजे के बाहर खुले फर्श पर सोया जाय सो, सो भी गये।

रात्रि के अन्तिम पहर जब उन्हें दमे की खाँसी उभरी तो पं० नेहरू ने आवाज पहचानी और उतरकर नीचे आये। राजेन्द्र बाबू की इस सादगी और सज्जनता से उनकी आँखें भर आईं।

दायित्व का निर्वाह

परिवार के सारे उत्तरदायित्व अपने अग्रज श्री महेन्द्र प्रसाद पर छोड़कर राजेन्द्र प्रसाद देश सेवा में लग गये। वकालत छोड़ देने के कारण घर की आर्थिक स्थिति में तो अन्तर आया ही था कि अचानक बड़े भाई का स्वर्गवास हो गया। अब तो और भी हालत बिगड़ी। परिवार की सारी व्यवस्था बड़े भाई ही किया करते थे, राजेन्द्र बाबू को इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी नहीं थी। परिवार ऋण ग्रस्त हो गया था कई महाजनों का। सब लोगों ने राजेन्द्र बाबू से तकाजा किया परन्तु घर में इतना पैसा था नहीं कि सभी कर्जदारों को निपटाया जा सके।

बाबूजी ने फिर भी देश सेवा में किसी प्रकार का व्यतिक्रम न आने दिया। ऋण उतारने के लिए उन्होंने तीन चौथाई संपत्ति बेच दी और कर्ज चुकाया। इस प्रकार उन्होंने धैर्यपूर्वक सारा ऋण अदा कर दिया। कोई और व्यक्ति होता तो उन परिस्थितियों में अपना सन्तुलन खो बैठता।

आश्चर्यजनक स्मरण-शक्ति

काँग्रेस कार्यकारिणी के प्रधान सदस्य परेशान थे। वह रिपोर्ट नहीं मिल रही थी जिसके आधार पर महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित करने के लिए कार्यकारिणी की विशेष बैठक बुलाई गयी थी। स्वतन्त्रता आन्दोलन का समय था, जबकि हर कदम ठीक समय पर उठाना अत्यधिक आवश्यक था। बिना आधार के कार्य आगे कैसे बढ़े।

अचानक ध्यान आया कि वह रिपोर्ट महात्मा गाँधी तथा डा० राजेन्द्र प्रसाद पढ़ चुके हैं। राजेन्द्र बाबू वरिष्ठ नेताओं पं० नेहरू, आचार्य कृपलानी, मौलाना आजाद आदि के साथ चर्चा कर रहे थे। उनसे पूछा गया तो बोले 'हाँ मैं पढ़ चुका हूँ और आवश्यक हो तो उसे बोलकर पुनः नोट करा सकता हूँ।'

लोगों को विश्वास न हुआ कि इतनी लम्बी रिपोर्ट एक बार पढ़ने के बाद ज्यों की त्यों लिखाई जा सकती है, किन्तु और कोई चारा न था। खोज के साथ-साथ पुनर्लेखन भी आरम्भ कर दिया गया।

राजेन्द्र बाबू सौ से भी अधिक पृष्ठ लिखा चुके तब वह रिपोर्ट भी मिल गयी। कौतूहल वश लोगों ने मिलान किया तो कहीं भी अन्तर न मिला। लोग आश्चर्यचकित रह गये। पंडित नेहरू ने प्रशंसा भरे स्वर में पूछा "ऐसा आला दिमाग कहाँ से पाया राजेन्द्र बाबू ? और देशरत्न की चिरपरिचित सौम्य मुस्कान से उत्तर मिला। "यह दिमाग दूध से बना है अण्डे से नहीं।"

उदारता की मूर्ति

बात १९३७ की है। पटना जंक्शन पर गाड़ी रुकी। तीसरी दर्जे के डिब्बे में लगभग पैंतालीस-पचास साल का एक व्यक्ति सवार हुआ और उसका एक साथी भी। उसी डिब्बे में कॉलिज के पाँच-छह छात्र भी आ गये। जाड़े का मौसम था। उस व्यक्ति ने मोटा कम्बल ओढ़ रखा था। बेतरतीब सिर के बाल और घनी खिचड़ी मूँछों से वह भोजपुरी किसान प्रतीत होता था। छात्रगण उस व्यक्ति का मजाक उड़ाने लगे। इसी समय डिब्बे में टिकट चेकर आया। टिकट किसी छात्र के पास न था। इस पर टिकट चेकर छात्रों को भला-बुरा कहने लगा। अब उस व्यक्ति से न रहा गया। उसने टिकट चेकर से कहा-"आप बेकार इन बच्चों को भला-बुरा कह रहे हैं। अपना चार्ज ले लीजिये और आपको चाहिए ही क्या ?"

छात्रों की समझ में नहीं आ रहा था कि एक अजनबी व्यक्ति ने, जिसका उन्होंने मजाक उड़ाया था, ऐसा क्यों किया। गाड़ी अगले स्टेशन पर रुकी। सारा प्लेटफार्म 'देशरत्न की जय', 'राजेन्द्र बाबू की जय' के नारों से गूँज उठा। छात्रों को काटो तो खून नहीं। उन्हें अब पता चला कि वे राजेन्द्र बाबू हैं और दूसरे उनके सेक्रेटरी श्री मथुरा प्रसाद।

स्वागत के लिए आये लोगों की ओर से हटकर राजेन्द्रबाबू छात्रों की ओर मुड़े और स्नेहपूर्वक एक-एक की पीठ थपथपाते हुए बोले "परेशानी की कोई बात नहीं। इस समय आपकी उम्र ही ऐसी है। उसका यही तकाजा है। जाइये, खुश रहिये, खूब पढ़िये और देश का काम कीजिये।'

भारतीय परम्परा के आधुनिक ऋषि–

डॉ० राधाकृष्णन्

सन् १९४७ में डॉ० राधाकृष्णन् ने भगवद्गीता पर एक अद्वितीय टीका लिखी। पुस्तक को प्रेस में देने से पूर्व उन्होंने यह निश्चिय किया कि यह ग्रन्थ धर्म, अध्यात्म और राजनीति के संगम व्यक्तित्व वाले, महात्मा गाँधी को समर्पित की जाय। समर्पण के लिए उन्होंने गाँधी जी से अनुमति लेना भी आवश्यक समझा और पुस्तक लेकर पहुँचे उनके पास। महात्मा गाँधी ने भगवद्गीता पर लिखा गया ग्रन्थ देखे बिना ही कहा-मेरा विश्वास है कि आपने

कोई अयुक्त बात नहीं लिखी होगी । लेकिन इसके लिए अनुमति लेने आये हैं तो मैं चाहता हूँ कि आप मेरी कुछ जिज्ञासाओं का समाधान करें ।

डॉक्टर साहब गाँधीजी के मुख से यह वचन सुनकर जरा संकोच में पड़ने लगे । ऐसा देखकर बापू ने कहा–देखिये । आप संकोच मत कीजिए । दरअसल इस समय मैं अर्जुन की भूमिका में हूँ और आप कृष्ण की तरह दिखाई दे रहे हैं । मेरी इन जिज्ञासाओं का समाधान आप ही कर सकते हैं ।

किसी तरह डॉक्टर साहब गाँधीजी की जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए तैयार हुए और फिर दोनों में चर्चायें चलीं । डॉक्टर साहब के उत्तरों से गाँधीजी संतुष्ट हुए और उन्होंने भगवद्गीता पर लिखा गया ग्रन्थ सहर्ष स्वीकार कर लिया । भगवद्गीता भाष्य से पूर्व भी उनकी अनेकों कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं । उन कृतियों ने केवल भारतीय बौद्धिक प्रतिभाओं को ही सन्तुष्ट नहीं किया वरन् विदेशों में भी भारतीय दर्शन का ऐसा डंका बजाया कि विदेशी विद्वान और दार्शनिक बुद्धिजीवी सभी हतप्रभ रह गये ।

"उन्होंने भारतीय विचार भूमि पर खड़े होकर विश्व के सम्मुख भारतीय समतावाद को उद्घाटित किया । इस दृष्टि से उन्होंने न केवल दर्शन को एक नयी दिशा दी वरन् अशान्त विश्व को शान्ति का मार्ग दिखाने का प्रयत्न किया"– एक विख्यात पत्रकार द्वारा कहे गये ये शब्द उनके कृतित्व की चिन्मय झाँकी प्रस्तुत करते हैं । एक दार्शनिक के रूप में, एक अध्यापक के रूप में, एक स्वतन्त्रता सेनानी के रूप में और एक राजनेता के रूप में वे इन महान विभूतियों में सिरमौर कहे जा सकते हैं । स्वामी विवेकानन्द के बाद भारतीय दर्शन की कीर्ति पताका विश्व भर में फहराने वाला कोई व्यक्तित्व खोजा जाय तो अनायास ही दृष्टि डॉक्टर राधाकृष्णन् की ओर केन्द्रित हो जाती है ।

मद्रास शहर से चालीस मील दूर तिरुत्तरी गाँव है । उसी गाँव में उनके पूर्वज सर्वपल्लि से चलकर आये थे । चूँकि उनका पेशा पुरोहिताई था, सर्वपल्लि में इस पेशे से ठीक प्रकार निर्वाह नहीं हो पाता था इसलिए उनके पूर्वज आजीविका की खोज में तिरुपति की ओर चल दिये । तिरुपति से कुछ ही दूर इस गाँव में आकर वे ठहर गये इसी ब्राह्मण वंश में वीर स्वामी उय्या पुरोहिताई के साथ अध्यापक का कार्य करते थे । डॉ० राधाकृष्णन् ने उनके परिवार में पुत्र बनकर ५ सितम्बर, १८८८ ई० को जन्म लिया ।

कहा जा चुका है कि डॉक्टर राधाकृष्णन् के पूर्वजों ने आजीविका की खोज में सर्वपल्लि से चलकर तिरुत्तरी आये थे और यहीं बस गये थे । यहाँ उन्हें निर्वाहोपयोगी आवश्यक उपार्जन होने लगा । सन्तोषी ब्राह्मण परिवार ने और अधिक की आकांक्षा ले कर दौड़ न लगाई, जो मिला उसी में सन्तोष कर लिया और इसी कारण उनका परिवार सम्पन्न और धनवान तो नहीं हो सका लेकिन अभावग्रस्त और सर्वथा निर्धन भी नहीं रहा ।

बारह वर्ष की आयु तक वे अपने गाँव में ही रहे । धर्मशास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान पिता के सानिध्य में रहकर अक्षर ज्ञान प्राप्त किया तथा शास्त्रों का अध्ययन भी । परिवार ने उन्हें भले ही कोई भौतिक सम्पदा न दी हो, परन्तु धर्म- निष्ठा, जिज्ञासा, ईश्वर अनुरक्ति तथा धर्मानुराग की जो भावनायें विरासत में दीं वे ही उन्हें एक सामान्य बालक से महान दार्शनिक और आदर्श राष्ट्रपति तक पहुँचा सकीं । श्री वीरस्वामी अपने पुत्र को आवश्यक शस्त्राभ्यास और अक्षरज्ञान प्राप्त कराने के बाद आगे की शिक्षा का प्रबन्ध करने लगे । उन्हीं दिनों श्री वीरस्वामी ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आये । मिशनरियों द्वारा चलाई जाने वाली पाठशालाओं और शिक्षालयों में प्रवेश दिलाना उन्होंने उपयुक्त समझा । इसका एक कारण यह भी था कि राधाकृष्णन् भारतीय धर्म शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के साथ-साथ ईसाई धर्म और पाश्चात्य जीवन दर्शन का परिचय भी प्राप्त कर सकें ।

वैल्लोर के वूरहीज कॉलेज में एफ० ए० की शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् मद्रास आये और वहाँ के क्रिश्चियन कॉलेज में भरती रहे । उन दिनों ईसाई शिक्षण संस्थाओं का एकमात्र उद्देश्य था छात्रों के मन में हिन्दू धर्म तथा भारतीय संस्कृति के प्रति घृणा-वितृष्णा उपजाना तथा ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगना था । राधाकृष्णन् के सामने भी ऐसी परिस्थितियाँ आईं जब उनकी आस्थाओं पर चोट पहुँचती परन्तु उनका व्यक्तित्व उस पक्की मूर्ति के समान बन गया था जो कितनी ही आँधियाँ और कितनी ही तूफान आने पर निखरती है ।

इन परिस्थितियों के साथ डॉक्टर राधाकृष्णन को आर्थिक समस्याओं ने भी परेशान रखा । बाहर का निवास, शहर का खर्च और महँगी शिक्षा तथा परिवार की आर्थिक स्थिति में कहीं तालमेल नहीं बैठ रहा था परन्तु उन्होंने फूँक-फूँक कर कदम रखते हुए शिक्षा और ज्ञान साधना को भी एक पवित्र तपश्चर्या बना लिया । वो अपने से नीची कक्षाओं के छात्रों को ट्यूशन पर पढ़ाते । उन्हीं दिनों मद्रास में स्वामी विवेकानन्द का आगमन हुआ । उनके प्रवचनों ने युवक राधाकृष्णन् को बड़ा प्रभावित किया और धर्म के प्रति उनकी निष्ठा, जिज्ञासा व विचार पूर्ण हो गये । स्वामी विवेकानन्द के प्रवचनों का प्रभाव स्वीकार करते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है–"उनके अद्भुत साहस और अद्भुत वाग्मिता ने हिन्दू धर्म के प्रति मेरे उस अभिभाव को जाग्रत किया जिस पर ईसाई मिशनरियों द्वारा बार-बार आघात किया जा रहा था ।"

स्वामी विवेकानन्द से ही प्रभावित होकर उन्होंने बी० ए० के बाद भी दर्शनशास्त्र ही लिया । एम० ए० में शोध

विषय के लिए उन्होंने वेदान्त को चुना और इस विषय पर उच्च कोटि का शोध निबन्ध लिख कर एम० ए० पास किया । जिस समय उन्होंने एम० ए० पास किया तब उनकी आयु मात्र २० वर्ष की थी । इस निबन्ध को देखकर उनके अध्यापक श्री ए० जी० हाग ने अलग से एक प्रमाण पत्र भी दिया था ।

उसी वर्ष सन् १९०८ में उनकी नियुक्ति मद्रास प्रेसिडेन्सी कॉलेज में हो गयी । वे तर्कशास्त्र के अध्यापक (असि० प्रोफेसर) बनकर छात्रों को यह विषय पढ़ाने लगे । पढ़ाने के साथ-साथ पढ़ने का क्रम भी जारी रहा । उन्होंने अपनी एक मंजिल बना ली थी—विश्व में भारतीय तत्वदर्शन का परिचय देना । यह लक्ष्य उन्होंने उसी समय निर्धारित कर लिया था जब वे शैशव से किशोरवस्था को पार कर ही रहे थे । उस समय क्रिश्चियन मिशन के स्कूल कॉलेजों में हिन्दू धार्मिक धारणाओं तथा आस्थाओं पर आक्षेप तथा कुठाराघात किये जाते । सुनकर डॉक्टर राधाकृष्णन् का हृदय दहल उठता था । यथावस्था वे अध्यापकों द्वारा किये गये प्रश्नों के समुचित उत्तर भी देते, उन उत्तरों को सुनकर अध्यापकों के मुँह बन्द हो जाते । परन्तु इससे क्या असर पड़ना था । समूची मिशन व्यवस्था ही हिन्दू आस्थाओं की जड़ें खोदने के लिए विनिर्मित की गई थी । एक कॉलेज एक कक्षा में एक अकेले छात्र का प्रतिकार कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता था । लेकिन इस वातावरण ने डॉ० राधाकृष्णन् के हृदय में हिन्दू धर्म और भारतीय तत्वदर्शन के प्रति अटूट आस्थाएँ तो जाग्रत कर ही दीं और वे कृत संकल्प हो उठे—उन आस्थाओं को साकार रूप देने के लिए ।

मद्रास प्रेसीडेन्सी कॉलज से डॉ० राधाकृष्णन् ने ऐसी व्याख्यान शैली अपनायी कि कक्षाओं में आवारा कहे जाने वाले प्राय: अनुपस्थित रहने वाले छात्र भी नियत रूप से कक्षाओं में देखे जाने लगे । उनके व्याख्यान प्रभावोत्पादक वाग्धारा में तो बहते ही थे, शब्दों के यथोचित समन्वय श्रोताओं को विषय से सम्बन्धित अनेकानेक जानकारियाँ देते चलते । यह क्षमता समय, श्रम और साहस की थी और इसे अर्जित करने में युवा प्रोफेसर को धैर्यपूर्वक अनवरत अध्यवसाय करना पड़ा होगा ।

डॉ० राधाकृष्णन् अपनी क्षमताओं के सम्बन्ध में आश्वस्त थे, उनके प्रति आत्मविश्वास भी पर्याप्त अर्जित कर चुके थे और उन क्षमताओं के विकास पर भी उनका पूरा-पूरा ध्यान था । क्षमताओं के अर्जनपूर्वक वे अपनी शक्तियों का यथाचेष्टा लाभ अन्य औरों को उठाने देने के लिए भी कम सतर्क नहीं थे । यही कारण है कि उन्होंने अध्ययन के साथ-साथ लेखन कार्य भी आरम्भ किया । १९१८ और १९२० में क्रमश: उनकी दो कृतियाँ प्रकाशित हुईं दि फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा दि रीजन ऑफ रिलीजन इन कोरेम्पथेरी फिलॉसफी । इन पुस्तकों के प्रकाशन ने डॉक्टर राधाकृष्णन् की प्रतिभा का परिचय दिया । पूर्वी तथा पाश्चात्य दर्शन दोनों में उनकी गहरी पैठ और गहन अध्ययन का निचोड़ इन पुस्तकों में उद्भूत हुआ । विदेशों में उनकी ये कृतियाँ काफी पसन्द की गयीं ।

१९२६ ई० में हैदराबाद विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित विश्व दर्शनशास्त्र सम्मेलन में उन्हें आमंत्रित किया गया । वहाँ देश-विदेश के कई दार्शनिक उपस्थित थे । डा० राधाकृष्णन् के व्याख्यानों को सुनकर सब उनका लोहा मान गये । यही कारण था कि उन्हें शिकागो के हसकल कॉलेज में भाषण देने के लिए भी आमंत्रित किया गया । तब तक उनकी तीन चार कृतियाँ और प्रकाशित हुईं । इण्डियन फिलासफी तथा 'दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ' ने तो उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का व्यक्ति बना दिया था । 'दि हिन्दू व्यू आफ लाइफ' १९२६ में ऑक्सफोर्ड के मेनचेस्टर कॉलेज में जीवन का हिन्दू दृष्टिकोण विषय पर दिये गये व्याख्यानों के लिए उन्हें विशेष आग्रहपूर्वक निमंत्रित किया था ।

धोती और पगड़ी पहनने, अत्यन्त सादा वेश-भूषा और सरल रहन-सहन रखने वाले डा० राधाकृष्णन् जब मेनचेस्टर कॉलेज में व्याख्यान देने जाते तो अनायास ही स्वामी विवेकानन्द की विजय यात्रा का स्मरण हो जाता है । यह भी उल्लेखनीय है कि उस जमाने में विदेश जाकर शिक्षा प्राप्त करना बड़े गौरव की बात मानी जाती थी । लेकिन डा० राधाकृष्णन् को ऐसा अवसर तो नहीं मिला । फिर भी उन्हें विदेशों में जाकर पढ़ाने का ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, जिसके लिए वहाँ के बुद्धिजीवी और प्राध्यापक विद्वान सभी नतमस्तक हो उठे । व्याख्यानमाला में उनके व्याख्यानों को सुनकर प्रख्यात पत्रकार डा० जैम्स ने अपने पत्र दि हर्बर्ट जर्नल में लिखा था "भारत से बाहर हमारे विद्यालय में सर्वप्रथम व्याख्यान देकर आपने हमारा गौरव बढ़ाया है ।"

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में भी उनके व्याख्यान हुए । वहाँ के प्रतिपादनों को सुनकर बुद्धिजीवियों ने एक मत से यह स्वीकार किया था कि "प्रो० राधाकृष्णन् का ज्ञान अत्यन्त गम्भीर और विस्तृत है । भारतीय और पश्चिमी दोनों दर्शनों के वे महापण्डित हैं । राधाकृष्णन् हिन्दू धर्म के सर्वसमर्थक प्रसिद्ध विद्वान हैं । हम लोगों को हिन्दू धर्म के विषय में उनसे ज्यादा अच्छे ढंग से अन्य कोई और नहीं बता सकता ।" इन्हीं दिनों डा० राधाकृष्णन् ऑक्सफोर्ड के मेनेचेस्टर कॉलेज में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन का विभागाध्यक्ष बनाने के लिए भी पेशकश की गयी । अमेरिका के तथा ब्रिटेन के विभिन्न विश्वविद्यालयों में विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देने के साथ डा० राधाकृष्णन् चर्च और गिरजाघरों में भी बुलाये जाते । वे वहाँ जाते और धर्म तथा अध्यात्म के गहन आधारभूत तथ्यों का उद्घाटन करते । जर्मनी के कई विश्वविद्यालयों में भी उनकी व्याख्यान मालाएँ चलीं और विदेशों में भारत का एक नया गौरव मण्डित स्वरूप उजागर हुआ ।

१९१८ तक वे विभिन्न विश्वविद्यालयों में उच्च पदों पर आसीन रहे । इस बीच उन्हें व्याख्यानों के लिए विदेशों से निमंत्रण मिलते रहते थे । सन् १९३१ से १९३५ तक वे आन्ध्र विश्वविद्यालय के कुलपति रहे । १९३१ में ही वे इण्टर नेशनल इण्टेलेकचुअल कोऑपरेशन कमेटी' अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धिक सहयोग समिति के सदस्य बने । यह समिति राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिक सहयोग की स्थापना के लिए गठित की थी । इस समिति के सदस्य रहते हुए उनका परिचय कई विदेशी प्रतिभाओं से हुआ । प्राय: सभी लोग उनकी वाग्मिता और सहृदयता से प्रभावित होते थे ।

वस्तुत: व्यवहार क्षेत्र में वाक-कौशल का ही प्रभाव नहीं होता वरन् प्रभाव तो उत्पन्न करती है व्यक्ति के हृदय में अपने उद्देश्यों के लिए कसक । डा० राधाकृष्णन् का एकमात्र उद्देश्य था सन्तप्त मानवता को शान्ति की शीतलता प्रदान करना । इस उद्देश्य के लिए उनके हृदय में निरन्तर एक टीस-सी उठा करती थी । इस टीस का प्रभाव कहना चाहिए कि लौह हृदय स्टालिन-हजारों खून जिसकी आँखों के सामने हो चुके थे-भी जब डा० राधाकृष्णन् को रूस के राजदूत के रूप में विदा करने लगे तो उनकी भी आँखें नम हो उठीं ।

वे १९४९ से १९५२ तक रूस में भारत के राजदूत रहे थे । इससे पूर्व वे बनारस विश्वविद्यालय के मानद कुलपति तथा भारतीय विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष पदों को सुशोभित कर चुके थे । पीड़ित मानवता के प्रति वे इतने दु:खित थे कि उस भावना ने उन्हें सर्वथा निर्भीक और स्पष्टवादी बना दिया था । यहाँ तक कि रूस के जनजीवन के सम्बन्ध में कई तथ्य बड़ी निर्भीकता के साथ रखे और अपनी सद्भावनायें भी प्रकट कीं । जिस समय राधाकृष्णन् रूस से विदा होने लगे तो स्टालिन से उनकी अन्तिम मुलाकात का जिक्र करते हुए प्रत्यक्षदर्शियों का कहना है कि स्टालिन की आँखें सूजी हुई और लाल थीं । राधाकृष्णन् ने स्टालिन के गालों पर हाथ फेरा और उनकी पीठ को थपथपाया । स्टालिन ने कहा-"आप पहले व्यक्ति हैं जिसने मुझे मनुष्य समझकर व्यवहार किया । आप हम सबको छोड़ कर जा रहे हैं-इसका मुझे भारी दु:ख है ।" यह कहते स्टालिन की आँखें सजल हो उठी थीं ।

१९५२ में भारतीय संविधान के अधीन वयस्क मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ । इसी वर्ष डा० राधाकृष्णन् निर्विरोध उपराष्ट्रपति चुने गये तथा बाबू राजेन्द्र प्रसाद राष्ट्रपति । पाँच वर्ष बाद वे पुन: उपराष्ट्रपति चुने गये । १९६२ में बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने रुग्णावस्था के कारण राष्ट्रपति पद से अवकाश ले लिया और उनके स्थान पर डा० राधाकृष्णन् राष्ट्रपति बने । यद्यपि इससे पूर्व ही वे राष्ट्रपति का सारा काम-काज सम्भालने लगे थे । डा० राजेन्द्र प्रसाद १९५६ में ही भयंकर रूप से बीमार हो गये थे । उनकी अक्षमता की दशा में सारा काम-काज डा० राधाकृष्णन् ही चलाते, यद्यपि वे रहे पुराने स्थान पर ही ।

१९६२ में राष्ट्रपति होते ही देश पर चीनी आक्रमण हुआ । इस समय डा० राधाकृष्णन् को एक अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ा । इस अग्नि परीक्षा से गुजरने के बाद उन्होंने अफगानिस्तान, ईरान, अमेरिका, इंग्लैण्ड, सोवियत संघ और आयरलैण्ड की यात्रायें कीं और वे यात्रायें पर्याप्त सफल रहीं । डा० राधाकृष्णन् का राष्ट्रपतित्व काल नि:सन्देह रूप से अनेक चुनौतियों से घिरा हुआ था । चीनी आक्रमण, लज्जा जनक पराजय, जनता पर सरकार का क्षीण होता प्रभाव, शासन तंत्र की फूट देश के विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ते उत्पात आदि कई समस्यायें खड़ी हुई लेकिन डा० राधाकृष्णन् ने बड़े धैर्यपूर्वक उन समस्याओं से उभरने के भरसक प्रयत्न किये ।

१९६७ में डा० राधाकृष्णन ने पुन: राष्ट्रपति के लिए खड़े होने से इन्कार कर दिया । वे भारतीय राजनीति और व्यवस्था से क्षुब्ध हो उठे थे । उनकी यह व्यथा २५ फरवरी, १९६७ को गणतन्त्र दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश में व्यक्त हुयी । उन्होंने आशा व्यक्त की कि-"वर्तमान संकट का सामना करने के लिए पूर्ण अन्तिम परिवर्तन अनिवार्य है । हमें आवश्यकता है ऐसे नैतिक जागरण की जिससे अधिक से अधिक लोगों का सहयोग हम प्राप्त कर सकें ।"

भारतीय राजनीति से संन्यास लेने के बाद वे अपने घर मद्रास ही रहने लगे । जीवन के अन्तिम दिनों में उनका हृदय देश में घटने वाली घटनाओं के बारे में सुन कर रो उठा था । १७ अप्रैल, १९७५ को पक्षाघात से उनका देहान्त हो गया । वे भले ही न रहे हों परन्तु मानवता के लिए उनकी सेवायें भारतीय संस्कृति का तुमुल घोष और उनका चिन्तन साहित्य उन्हें अमर बनाये रहने में समर्थ है ।

हिन्दू-धर्म किसी अन्य धर्म का अपमान नहीं करता

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जब एक छोटे ईसाई स्कूल में पढ़ते थे तभी से हिन्दू धर्म के प्रति ईसाई अध्यापकों के द्वेष पूर्ण उद्गारों को सुनते आये थे । स्कूल में लड़कों को 'बाइबिल' तो पढ़ाई ही जाती थी पर बात-बात में हिन्दू धर्म की हँसी उड़ाना भी ईसाई पादरियों का नित्यकर्म बन गया था । बालक राधाकृष्णन् को यह बुरा तो लगता था पर धर्म के रहस्यों से अनजान होने के कारण वे अधिक बोल नहीं सकते थे । फिर भी इन बातें से उनका मन धर्म के स्वरूप की तरफ आकर्षित हो गया और वे इस विषय की पुस्तकों को पढ़कर उन पर विचार करने लगे । उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ीं और उनसे उनको निश्चय हो गया कि हिन्दू धर्म ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिक सारयुक्त और उपयुक्त है । अब वे ईसाई पादरियों की बातें चुपचाप न सुन लेते थे, वरन् कभी-कभी अपना असन्तोष भी प्रकट कर देते थे, वे ईसाई धर्म की निन्दा

नहीं करते थे, वरन् पादरियों की दोषदर्शी मनोवृत्ति की ही आलोचना करते थे । जब कोई पादरी उनके सामने हिन्दू धर्म की निन्दा करता तो वे कहने लगते–

"पादरी महोदय ! आपका धर्म दूसरे धर्मों की निन्दा करना ही सिखाता है क्या ?"

पादरी उत्तर देते–"और हिन्दू धर्म ? क्या दूसरों की प्रशंसा करता है ?"

"हाँ, वह कभी दूसरों के धर्म को बुरा नहीं कहता । भगवद्गीता में भगवान कृष्ण ने यही कहा है कि किसी भी देव की उपासना करने से मेरी ही उपासना होती है और मैं उसका प्रतिफल देता हूँ । ये विभिन्न मजहब और सम्प्रदाय उन अनेक रास्तों की तरह हैं जो विभिन्न दिशाओं से आकर एक ही केन्द्र पर मिल जाते हैं । इनमें से किसी को सच्चा और अन्यों को झूठा कहना उचित नहीं ।"

जब कभी कोई पादरी हिन्दू रीति-रिवाजों की आलोचना करता तो वे कहते–

"पादरी साहब ! हो सकता है आप हमारे इन रीति-रिवाजों का महत्व न समझें, किन्तु चिरकाल से चली आ रही इन्हीं प्रथाओं ने हमारे विश्वास और श्रद्धा को स्थिर रखा है, जो धर्म का मूल है । मेरे देश का एक साधारण किसान भी, जो इन्हीं विश्वासों के साथ अपना जीवनयापन करता है, आज के विज्ञान की चकाचौंध से पागल बने किसी भी पाश्चात्य देश के अपने को ज्ञान सम्पन्न कहने वाले व्यक्ति से अधिक धार्मिक है । अधकचरे विज्ञान ने तो आज करोड़ों पाश्चात्यजनों की श्रद्धा को ऐसा निर्बल बना दिया है कि वे किसी भी धर्म के विश्वासी और अनुयायी नहीं रह पाते । इस प्रकार धर्म बल से रहित व्यक्ति क्या कभी सच्चा सुख पा सकता है ? आप निश्चय समझ लें कि भारतवर्ष के जिन तपस्वियों और आचार्यों ने संसार को ऐसी महान संस्कृति दी और उसका लाभ बिना धर्म और सम्प्रदाय के भेद-भाव के मानव मात्र को पहुँचाया उनको कभी धर्म शून्य नहीं कहा जा सकता ?"

एक दिन आया जब इसी नवयुवक का लिखा 'भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास' योरोप और अमरीका में प्रसिद्ध हो गया और ऑक्सफोर्ड (इंग्लैण्ड) संसार प्रसिद्ध विश्वविद्यालय ने इनको बुलाकर अपने यहाँ दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर बनाया । वहाँ पर उनको बड़े-बड़े पादरियों द्वारा गिरजाघरों में भाषण करने बुलाया जाता । उस समय भी वे सब धर्मों की अच्छाइयाँ दिखाते हुए अन्त में डंके की चोट पर यही कहते–"यद्यपि हमारे देश में अनेक अन्धविश्वास हैं और उन्होंने बहुत अहित भी किया है, तो भी मैं यह कहने को तैयार हूँ कि हमारे सामान्य देशवासियों में सच्ची धार्मिकता पाई जाती है ।"

संवेदना-सहानुभूति की प्रतिमूर्ति

राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जब रूस में भारतीय राजदूत होकर मास्को में रहते थे, तब एक बार उन्होंने स्टालिन से कहा–"भारत के महान सम्राट संग्राम में विजय पाकर भिक्षु बन गये थे । कौन जाने शायद आप भी उसी प्रशस्त मार्ग पर चल पड़ें ।"

स्टालिन ने उत्तर दिया था–"हाँ कई बार चमत्कारी घटनाएँ भी हो जाती हैं । ऐसा चमत्कार भी सम्भव तो है ही ।"

रूस से विदा लेते हुए डा० राधाकृष्णन् जब स्टालिन से मिलने गये, तो विदा लेते हुए स्टालिन के सिर पर हाथ रखा, तो स्टालिन ने भीगी आँखों से विदा देते हुए कहा–"आप प्रथम व्यक्ति हैं, जो मुझसे मानव-सा व्यवहार करते हैं, शेष सब राजदूत तो मुझे दैत्य मानकर दूर रहते हैं । मुझे अब अधिक दिन नहीं जीना, ईश्वर आपको चिरायु करे ।" इस सम्वाद के छह महीने बाद स्टालिन ने शरीर छोड़ दिया ।

जिन्होंने हर क्षेत्र में अनूठा काम किया–राजाजी

राजाजी उन दिनों केन्द्रीय सरकार में गृह मन्त्री थे । एक दिन उनके कोई परिचित के साथ प्रसिद्ध जैन विद्वान पं० गोविन्द राम शास्त्री आये । शास्त्री जी ने महान सन्त तिरुवल्लुवर की एक रचना का हिन्दी में पद्यानुवाद किया था । मूल ग्रन्थ तमिल में था । अनुवाद कहीं मूल ग्रन्थ से अलग तो नहीं जा रहा है । इस बात को परखने के लिए शास्त्री जी उनके पास आये थे । राजाजी उस समय काफी व्यस्त थे इसलिये दस मिनट का समय ही मिला । इस दौरान शास्त्री जी से कुछ अंशों का सस्वर पाठ करने के लिए कहा गया । पाठ शुरू हुआ तो वे विभोर होकर सुनने लगे । दस मिनट कब हुए कुछ पता ही नहीं चला, फिर बीस-तीस, लगभग एक घण्टा हो गया । राजाजी इतने भाव-विभोर हो गये कि उन्हें समय का ध्यान न रहा । ध्यान तो तब आया जबकि शास्त्री जी ने ही कुछ सोचकर पाठ रोका । अध्यात्म और भक्ति भाव में इस प्रकार डूब जाने वाले, स्वयं को और समय को भी भूल जाने वाले राजाजी अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन में इतने जागरूक तथा सावधान रहे हैं कि उन्होंने परिस्थितियों का अध्ययन कर समय से पहले ही जो बातें कही थीं वस्तुतः सत्य सिद्ध हुईं । यह उनकी दूरदर्शी बुद्धि और चिन्तनशील मस्तिष्क की प्रदत्त विशेषता थी ।

महात्मा गाँधी और अन्य नेता जब देश-विभाजन न होने देने के लिये बड़ी-बड़ी बातें कर रहे थे तब राजाजी ने तत्कालीन परिस्थितियों और राजनेताओं की मनोवृत्तियों का अध्ययन कर कहा था कि चाहे जो हो जाये पाकिस्तान बनने की सम्भावना को समाप्त करना किसी के

चस की बात नहीं है । उस समय कई लोगों ने राजा जी की बात का मजाक उड़ाया था । परन्तु उस समय सब आश्चर्यचकित रह गये जब पाकिस्तान बनने, पंजाब और बंगाल का विभाजन होने की योजना दोनों पक्षों ने स्वीकार कर ली और उसे मूर्त रूप देने का भी निश्चय कर लिया । देश की ओर नेताओं की चल रही गतिविधियों के दुष्परिणामों से उन्होंने कई बार अवगत कराया । भारतीय जब हिन्दी चीनी भाई-भाई का नारा लगा रहे थे और एक-दूसरे के गले में हाथ डाले शान्ति, मैत्री का रेतीला वायदा कर रहे थे तो राजाजी ने इस दोस्ती को बहुत थोड़े समय तक कायम रहने वाली और अन्त में शत्रुता में बदल जाने वाली कहा था । उस समय भी उनकी बातों को उपहासास्पद कहा गया । परन्तु सच वे ही निकलीं ।

अपनी प्रतिभा और बौद्धिक क्षमता से देश और समाज को समय-समय पर सावधान करते रहने वाले चक्रवर्ती राज गोपालाचारी का जन्म तमिलनाडु के एक ग्रामीण मुंसिफ परिवार में ८ दिसम्बर, १८७७ ई० को हुआ । अपनी योग्यता, लगन, कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बल पर वे निरन्तर आगे बढ़ते गये और भारत के अन्तिम तथा सर्वप्रथम गवर्नर जनरल बने । भारत सरकार से मतभेद होते हुए भी उन्हें स्वतन्त्र देश के सर्वोच्च अलंकरण भारत रत्न से सम्मानित किया गया ।

जन्म से ही वे काफी कमजोर थे, दुबले-पतले और कमजोर-बीमार राजगोपाल के सम्बन्ध में उनकी माता ने आशंका प्रकट की कि यह थोड़े बहुत समय तक भी जीवित रहेगा या नहीं । पिता ने उस समय विश्वास व्यक्त किया था कि राज गोपाल थोड़े बहुत समय तक नहीं पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहेगा और यह भी साधारण मनुष्यों की तरह नहीं महामानव और प्रतिभावान विभूतियों की तरह । उनका यह विश्वास कुछ अन्तर से एकदम सही निकला । वे महामानव तो बने ही जीये भी अपने पिता के विश्वास से कुछ ही कम वर्षों तक । यदि उन्हें प्राणलेवा श्वास रोग नहीं होता तो पूरे सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक आयु तक जीवित रहते । फिर भी इस खतरनाक बीमारी का बोझ उठाते हुए ९५ वर्ष देख लिये जबकि भारत का औसत आदमी मुश्किल से ६०-७० साल तक जीता है ।

इस जीवन शक्ति का समूचा श्रेय उनके आहार-विहार, श्रम, उत्साह, सेवा-निष्ठा और निस्पृहता को ही दिया जाना चाहिए । दीर्घ जीवन का मुख्य आधार ये सद्गुण ही तो हैं और राजाजी ने तो बचपन से ही अपना जीवन इस प्रकार साधा था कि जिसके बल पर आर्यऋषि तो मृत्यु को भी जीत चुके थे । राजाजी भारतीय संस्कृति और जीवन-पद्धति के कट्टर अनुयायी थे । खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन, वेषभूषा सभी इस देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप था । हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार यशपाल जैन ने उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है—"उन्हें देखकर भारत के प्राचीन ऋषि मुनियों की स्मृति हो जाती है । धोती-कुर्ता पहने, सरल और सौम्य व्यक्तित्व के धनी, चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान लिये राजा जी जब भी किसी से मिलते तो उनके सन्त और साधु स्वभाव के सम्मुख हर किसी को नत- मस्तक हो जाना पड़ता था ।"

सांस्कृतिक परम्पराओं का निष्ठापूर्वक अनुसरण करते हुए भी ये कभी अन्धानुयायी नहीं बने । परिस्थिति दोष से अविवेकजन्य परम्पराओं और कुरीतियों का उन्होंने डटकर मुकाबला किया । संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा और श्रद्धा एकदम परिष्कृत थी । भारतीय समाज की बुराइयों और दुष्प्रवृत्तियों का उन्होंने कभी संस्कृति के नाम पर समर्थन नहीं किया, जिन्हें तत्कालीन और अर्वाचीन रूढ़िवादी लोग भी धर्मसम्मत मानते हैं । यही कारण है कि उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन एक समाज सुधारक के रूप में आरम्भ किया । जब महात्मा गाँधी अफ्रीका में रंगभेद के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे । दुनिया में गाँधीजी को जानने वालों की संख्या भी अधिक नहीं थी । तब तो भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में उनका पदार्पण भी नहीं था । उस समय उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के सन्धिकाल में राजाजी ने वर्ण और जातिभेद के विरुद्ध आवाज उठायी । भगवान को किसी की सम्पत्ति और अपना व्यक्तिगत अधिकार समझने वाले कट्टरपन्थी लोगों को उन परम्पराओं के दुष्परिणामों से सावधान किया जिसे वे धर्म का आधार बनाकर गले से चिपटाये हुए थे । राजाजी ने सर्वप्रथम हरिजनोद्धार के लिए योजनाबद्ध प्रयास किये और जातिवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन चलाया और हरिजनों के मन्दिर प्रवेश की माँग उठायी ।

इसके कारण उन्हें पुरातनपन्थी ब्राह्मणों और सवर्ण हिन्दुओं का कोपभाजन भी बनना पड़ा । स्थिति यहाँ तक पहुँची कि सन् १९१४ में जब उनके पिता का देहान्त हुआ तो कोई भी कर्मकाण्डी ब्राह्मण उनका मरणोत्तर संस्कार करवाने के लिए तैयार नहीं हुआ । इस हालत में भी वे अपने मार्ग से नहीं हटे ।

अपने विचारों और विश्वासों में आस्था और निष्ठा तो उनके स्वभाव का अविच्छिन्न अंग बन गया था । दूसरों की कही हुई बातें भी जब उनकी समझ में आ जातीं तो वे दृढ़तापूर्वक उसे भी क्रियान्वित कर डालते । हरिजनोद्धार का कार्यक्रम और आन्दोलन भी उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का एक भाषण सुनकर चलाया था । जो स्वामी जी ने उस कॉलेज में दिया था जिसमें कि राजाजी पढ़ते थे । हिन्दू समाज की बुराइयों के सम्बन्ध में बताते हुए स्वामी जी ने उन्हें दूर करने की आवश्यकता बताई थी और कानून के विद्यार्थी राज गोपालाचारी इस अन्धे सामाजिक कानून के क्षेत्र में कूद पड़े । हरिजनोद्धार के लिए तो उन्होंने सदैव ही प्रयत्न किया और रूढ़िवादीजनों के विरोध के बावजूद भी अपने प्रयासों में किसी प्रकार शिथिलता न आने दी । सन् १९०८ में जब वे मद्रास प्रान्त के मुख्यमन्त्री बने तो सबसे पहले उन्होंने हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का वैधानिक अधिकार दिलवाया ।

शराब के विरुद्ध भी सर्वप्रथम उन्होंने ही आन्दोलन छेड़ा। उनके नशाबन्दी के विचारों से गाँधीजी ने भी प्रेरणा प्राप्त की थी और इसे एक राष्ट्रीय आवश्यकता मानकर जोरदार आन्दोलन चलाया। राजाजी ने उस समय जबकि वे मद्रास के मुख्यमन्त्री थे शराबबन्दी का कानून बनवाया था। मद्यपान के वे आजीवन कट्टर विरोधी रहे और इस प्रश्न पर अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति का भी विरोध किया। जब मद्रास की करुणानिधि सरकार ने शराबबन्दी तोड़ी तो वे बहुत क्रोधित हो उठे थे और इसी प्रश्न पर उन्होंने करुणानिधि सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया था।

स्कूल जीवन में वे ही उस समय चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर राजनीति के क्षेत्र में आये। उस समय वे सबसे अधिक प्रभावित थे लोकमान्य तिलक से। उनके भाषणों तथा विचारों को सुन-पढ़कर राजाजी ने अनुभव किया कि स्वतन्त्रता भारतीय समाज की प्रथम आवश्यकता है। वे अपने स्वभाव के अनुरूप ही राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। १९२० में जब भारत के राजनीतिक आकाश में गाँधीजी का उदय हुआ तो राजाजी भी उनके साथ हो गये। गाँधीजी के साथ होने से पूर्व उन्होंने काफी समय तक गाँधीजी के कार्यों और सिद्धान्तों का अध्ययन किया। देश के लिए लाभदायक समझकर वे गाँधीजी के निष्ठावान समर्थक बन गये और सारे दक्षिण भारत में काँग्रेस का संगठन कर डाला।

गाँधीजी भी राजाजी को अपने सबसे अधिक योग्य अनुयायियों में से एक समझते थे। उन पर गाँधीजी को इतना विश्वास था कि वे हर प्रश्न पर कोई भी विचार या राय उनसे पूछकर ही दिया करते थे। यहाँ तक कि कलकत्ता-काँग्रेस अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव भी मात्र राजाजी के समर्थन सहयोग के कारण रखा। इस विश्वास का कारण था उनकी बौद्धिक कुशाग्रता। सर्वसाधारण और आम-कार्यकर्त्ता को भी राजाजी के बुद्धि कौशल पर इतना विश्वास था कि उस समय मतदान के वक्त, प्रस्ताव के समर्थन में राजाजी सहमत हैं यह जानकर ही अपना वोट दे दिया था। अन्यथा कलकत्ता काँग्रेस में असहयोग प्रस्ताव का विरोध तो चितरंजन दास तथा मोतीलाल नेहरू जैसे नेताजी तक ने किया था।

राजाजी काँग्रेस संगठन तथा राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे। सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा परन्तु वे तो आरम्भ से ही निर्भयता के उपासक थे। उन्होंने सदा ही सत्य और औचित्य का समर्थन किया। जो सच था उसे बिना लाग लपेट कह दिया। जो उचित लगा वह तुरन्त कर डाला। यहाँ तक उन्होंने अपने आराध्य और श्रद्धेय गाँधीजी तक की चिन्ता नहीं की। उनके प्रति राजाजी के हृदय में असीम अनुराग और अगाध श्रद्धा थी परन्तु किसी प्रश्न पर मतभेद हुआ तो उसे निर्भय होकर स्पष्ट कहने में कभी संकोच नहीं किया। इस बात की उन्होंने कतई चिन्ता नहीं की कि कही हुई बात की क्या प्रतिक्रिया होगी। राजनीति जैसे टेढ़े-मेढ़े क्षेत्र में इतना स्पष्टवादी और खरा आदमी कोई नहीं हुआ, जिसने खुलकर अपना मतभेद व्यक्त किया हो और अपने नेता तथा अगुओं की भी आलोचना की हो। गाँधीजी के बाद तो राजाजी को अपने इसी स्वभाव के कारण काँग्रेस छोड़ देनी पड़ी कि वे अनौचित्य को कभी देख और सह नहीं सकते थे। उनके विरोध में हुँकार कर उठ खड़े होते थे।

अनौचित्य का विरोध करने में वे कभी पीछे नहीं हटे तो औचित्य का समर्थन करने में कभी पीछे नहीं रहे। इस शताब्दी के तीसरे दशक में काँग्रेस में दो विचारों ने जन्म लिया। एक पक्ष चाहता था कि काँग्रेस को चुनाव लड़ना चाहिए और दूसरा दल चाहता था कि असहयोग जारी रखा जाय। पहले पक्ष के समर्थक थे मोतीलाल नेहरू, चितरंजन दास और सत्यमूर्ति जैसे प्रतिष्ठित नेता और दूसरे पक्ष में अकेले प्रवक्ता थे राजा जी। १९३८ के काँग्रेस अधिवेशन में पहला पक्ष विजयी हुआ और चुनाव लड़ने का फैसला किया गया। अब अनुशासन का प्रश्न उठा खड़ा हुआ। बहुमत से निर्णय हो जाने पर उसे क्रियान्वित तो करना ही था। औचित्य का तकाजा था किसी भी प्रकार दल में फूट न पड़ने दी जाय और उसके लिए अपने मतभेद को भुलाकर अनुशासन का पालन किया जाये। राजाजी ने अपना हठ छोड़ दिया और काँग्रेस के चुनाव लड़ने के निर्णय का खुलकर समर्थन किया।

अनुशासन–दलीय हित में हो या सामाजिक, हर दृष्टि से अनिवार्य है। राजाजी ने इस अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए स्वयं भी चुनाव लड़ा और उसी वर्ष मद्रास के मुख्यमन्त्री भी बन गये। उस समय जब वे कुशल प्रशासक के रूप में देश भर में विख्यात हो रहे थे तो काँग्रेस ने सभी पदों के त्याग का अभियान छेड़ा और सर्वप्रथम इस्तीफा देने वालों में से थे राजाजी। अनुशासननिष्ठा ने उन्हें सदैव निस्पृह बनाये रखा। उन्होंने प्रशासन व्यवस्था के कई उच्च पदों पर रहकर काम किया और जब उन्हें छोड़ा तो इतनी निश्चिन्तता के साथ कि उसके तुरन्त बाद–"यह व्यक्ति अमुक पद पर था"–कहना मुश्किल हो गया।

१९३८ में वे मद्रास के मुख्यमन्त्री पद से त्यागपत्र देकर उसी सहजता के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। १९४७ में वे स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल बने और १९५० में यह पद छोड़कर वापस अपने घर मद्रास चले आये। मद्रास आये अभी उन्हें अधिक समय नहीं हुआ था कि उन्हें पं० बंगाल का राज्यपाल बनाकर भेज दिया गया फिर गृहमन्त्री बने। नये संविधान के अन्तर्गत चुनाव हुए तो उन्हें मद्रास का मुख्यमन्त्री बनाया गया। इतने सारे महत्वपूर्ण पदों पर काम करने के बाद भी उन्हें कुर्सी का मोह कभी नहीं रहा।

राजनीति में इतने व्यस्त होते हुए भी उनके व्यक्तित्व का एक दूसरा पहलू भी है और वह है उनका साहित्यकार। राजनीति में भाग लेने के साथ-साथ उन्होंने साहित्य को भी दिशा दी। वे अँग्रेजी और तमिल भाषा के

वे सिद्धहस्त लेखक थे । रामायण और महाभारत पर लिखे उनके चक्रवर्ती तिरुमगन (रामायण) तथा व्यासर विरन्दु (महाभारत) भारतीय भाषा साहित्य की अनमोल निधियाँ मानी जाती हैं । इन कृतियों का अन्य भाषाओं में भी अनुवाद हुआ, जिनका सभी क्षेत्रों में स्वागत किया गया । हिन्दी में राजाजी की कृतियाँ दशरथ नन्दन श्री राम तथा महाभारत-कथा के नाम से प्रकाशित हुई हैं । सामयिक समस्याओं पर वे 'स्वराज्य' में भी लिखते । उन्होंने साहित्य के माध्यम से आदर्शवाद के व्यावहारिक स्वरूप को उद्‌घटित किया है । नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अनुसंधानों में उनकी गहन रुचि रही है ।

संसार के प्राचीन तथा अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान की धाराओं का अद्‌भुत समन्वय उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों को उपलब्ध कराया है । वे व्यापक प्रतिभा के धनी थे । जिस क्षेत्र में भी जिस विद्या को भी उन्होंने स्पर्श किया, उसमें गहराई तक पैठते गये और मणि-मुक्ता खोज लाये जो संस्कृति और सभ्यता के लिए वरदान बन गयी ।

राजाजी भीड़ में रहे हों या एकान्त में, राष्ट्रपति भवन में निवास किया हो राजभवन में, गाँधीजी के साथ उनके समर्थक या उनसे दूर और उनके विरोधी बनकर जहाँ भी रहे उनके व्यक्तित्व में एक विचित्र अनूठापन रहा । यश, प्रतिष्ठा, श्रेय और विरोध हर परिस्थितियों में वे अविचलित रहे । जीवन में हजारों कड़वे घूँट पीकर भी वे मीठे ही बने रहे ।

जिन्होंने राजनीति को राष्ट्र सेवा का माध्यम बनाया

रफी अहमद किदवई

स्वतंत्र भारत के लोकतंत्रात्मक गणराज्य के विगत वर्षों का लेखा-जोखा करने बैठते हैं कि हमने क्या खोया है और क्या पाया है इन पिछले वर्षों में, तो बरबस हमें उन जननेताओं का अभाव जिन्हें काल ने राष्ट्र के हाथों से छीन लिया, बुरी तरह खलने लग जाता है । यों राजनेता और जननेता तो इस देश में बहुत हुए पर ऐसे राजनेता और जननेता अँगुलियों पर गिनने जितने ही हुए हैं जिनके व्यक्तित्व में राष्ट्र के करोड़ों नागरिक अपनी-अपनी जीवन मरण की समस्याओं का समुचित हल पा लेने के सम्बन्ध में पूरी तरह आश्वस्त थे । आज उन थोड़े से नररत्नों का अभाव हमें बुरी तरह खलता है और भीतर से एक दीर्घ निःश्वास-सा उठ खड़ा होता है । इस निश्वास का स्वर होता है काश आज वे होते !

आज के इस स्पर्धा से व्यस्त और अभावों से त्रस्त जन-जीवन में जब आदमी को घण्टों लाइन में खड़े रहने के बाद भी पूरा राशन नहीं मिलता । बाजार में चीजों के दर्शन ही नहीं होते । कभी गेहूँ गायब तो कभी चीनी । कभी वनस्पति भी गायब तो कभी मिट्टी का तेल । इस विषम और विकट परिस्थिति में मुँह से निकलता है काश ! आज किदवई साहब होते– भारत के सफलतम खाद्य मंत्री– रफी अहमद किदवई ।

खादी की ढीली-ढीली अचकन, खादी का ही चौड़े पाँयचे का पाजामा और सिर पर खादी या फर की गर्म टोपी उनके शरीर पर उसी प्रकार खिलती थी जैसे गोल भरे चेहरे पर आठों पहर खिलने वाली आत्मीयता भरी सहज मुस्कान । सिर पर टोपी और होठों पर मुस्कान यह उनके व्यक्तित्व के अनिवार्यतम प्रतीक थे । इस साधारण से दीखने वाले व्यक्ति ने जो असाधारण करतब अपने जीवन में कर दिखाये थे उन्हें भुला देना कृतघ्नता ही होगी ।

राजनेता उनके समय में भी थे, उन्हें राजनेता की बजाय जननेता कहना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि उनमें से अधिकांश को राजनीति में लाने वाली प्रेरक शक्ति जनता का दुःख-दर्द थी । राजनेता आज भी हैं पर वे अब जन नेता नहीं रहे क्योंकि जनता के दुःख-दर्द और राष्ट्र के हित के साथ एकात्म भाव स्थापित करने वाली चारित्रिक शक्ति को लोग खोते चले जा रहे हैं जो रफी साहब के चरित्र और व्यक्तित्व में देखने को मिलती थी । यह शक्ति मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति होती है । आज व्यक्ति, देश और समाज के सामने जो अनेकानेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं उन्हें सुलझाने के लिये उस शक्ति का उपजना बहुत आवश्यक है जो किदवई साहब की शक्ति थी ।

उनका जन्म सन् १८९८ में हुआ था । २४ वर्ष की आयु में अलीगढ़ से बी० ए० करके वे कानून की परीक्षा पास करने की तैयारियाँ कर ही रहे थे कि देश में असहयोग आन्दोलन की लहर उठ खड़ी हुई । असहयोग आन्दोलन का स्वरूप इतना विशाल था कि इसमें छोटे से छोटे और बड़े से बड़े भारतवासी के लिये करने को बहुत कुछ था । वह इसमें अपनी मनचाही भूमिका खोज सकता था । कहना न होगा कि उस समय हर भारतवासी के मन में यह तूफान उठ खड़ा था कि अँग्रेज भारत छोड़कर चले जायें । अब तक उस तूफान को सार्वजनिक अभिव्यक्ति का मार्ग खुला नहीं था । असहयोग के सिद्धान्त ने वह मार्ग सुझा दिया तो भावनाशील युवक रफी अहमद के पाँव भी अनायास उस मार्ग पर चल निकले । कानून की पढ़ाई धरी की धरी रह गयी । यह वह प्रथम अवसर था जब उन्होंने इस सत्य को जाना कि अपने व्यक्तिगत हित को अधिकतम लोगों के हित में विसर्जित कर देने में भी एक सुख मिलता है । साथ ही वे यह भी जान गये कि यही प्रगति का सच्चा मार्ग भी है ।

पं० मोतीलाल नेहरू उन दिनों काँग्रेस के माने हुए नेताओं में से थे । उन्हें युवक रफी अहमद का प्रखर व्यक्तित्व कुछ ऐसा भाया कि उन्होंने उन्हें अपना निजी सचिव बना लिया । यहाँ उन्हें एक कठिन परीक्षा के दौर से गुजरना पड़ा । आनन्द भवन का यह वैभव-विलास और नेहरू परिवार का ऐश्वर्य और रफी साहब की सादगी के

बीच रस्साकसी चलने लगी । वे एक आम हिन्दुस्तानी की तरह रहना चाहते थे । इस्लाम की सादगी और भारतीय जीवन दर्शन का अपरिग्रह उनके व्यक्तित्व में दूध और पानी की तरह एकाकार हो गया था ।

एक मुसलमान किस प्रकार अपने मजहब व रहन-सहन के प्रति एकनिष्ठ रहते हुए भारत और भारतीयता के प्रति एकनिष्ठ रह सकता है, वे इस सत्य की जीती-जागती मूरत थे । हमारे देश की विविधता में एकता वाली सच्चाई को उन्होंने मूर्तरूप दिया ।

अँग्रेजी वेशभूषा को उन्होंने आपत्तिकालीन स्थिति की तरह जीवन में केवल दो बार ही स्वीकार किया था । एक बार तो राजनीतिक कार्यकर्त्ता के रूप में पुलिस को चकमा देने के लिये और दूसरी बार मन्त्री पद पर आसीन होने के बाद जब उन्हें अपने आपको छिपाकर वस्तुस्थिति का ज्ञान करने की आवश्यकता पड़ी तब । नंगे सिर रहना भी उन्हें कतई पसंद नहीं था । उन्हें अपनी पारम्परिक वेशभूषा, सादगी और शालीनता से कितना मोह था यह उनके वेश विन्यास से प्रकट हो जाता था ।

परम्पराओं को कहाँ महत्व दिया जाना चाहिए और कहाँ नहीं इस मामले में वे पूरे विवेकशील थे । विचारों से वे पूरे क्रान्तिकारी थे । किसी भी बात को चाहे वह कितने ही बड़े व्यक्ति ने क्यों न कही हो वे स्व-विवेक की कसौटी पर कसे बिना नहीं मानते थे । जिसे वे अपने आन्तरिक विवेक से सही मान लेते थे तो उसे किसी के आग्रह पर त्यागना सीखा ही नहीं था । वे मंत्री पद पर रहे, वर्षों तक रहे पर जहाँ मानवता और मन्त्रित्व के बीच संघर्ष की स्थिति आ जाती वहाँ वे मानवता के पक्षधर बन जाते थे । यह उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी जो किसी भी लोकतंत्र के मन्त्री का अनिवार्य गुण होना चाहिए । उन्होंने अपना स्वार्थ कभी देखा नहीं । देश और देशवासियों के हित में ही वे अपना हित देखते थे ।

स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा । उन्होंने दस वर्ष से भी अधिक समय देश को स्वतन्त्र कराने के लिये जेल में गुजारा । बत्तीस वर्ष की आयु में वे लोकसभा के सदस्य बने तत्पश्चात् स्वराज्य दल के मुख्य सचेतक रहे । नमक सत्याग्रह में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी । रायबरेली क्षेत्र में विदेशी सरकार को कर नहीं देने के लिये आन्दोलन चलाया ।

व्यक्तित्व, लगन और कर्मठता के धनी रफी साहब को काँग्रेस के बड़े नेताओं में से एक बनने में कोई अधिक देर नहीं लगी । १९३१ में वे उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) काँग्रेस कमेटी के महासचिव और १९३५ में उसके अध्यक्ष बनाये गये । १९३७ में प्रदेश में काँग्रेस को जिताने में उनका बड़ा हाथ रहा पर मजे की बात यह रही कि काँग्रेस के अन्य सदस्यों को चुनाव जिताने के कार्य में वे इतने व्यस्त रहे कि अपने क्षेत्र में प्रचार ही नहीं कर पाये । परिणाम यह हुआ कि वे हार गये । कुछ समय पश्चात् वे उपचुनाव में खड़े हुए और विजयी होकर राजस्व मंत्री बने ।

वे राजनेता होते हुए भी राजनीति को व्यक्तिगत स्वार्थ साधना का हेतु बनाने को निन्दनीय मानते थे धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में भी उनके विचार उसी प्रकार विवेकयुक्त थे । इस्लाम में आस्था रखते हुए भी वे उसकी हर बात को आँख मींचकर मान लेने वाले नहीं थे । उनका विवाह इक्कीस वर्ष की आयु में ही हो गया था । उनकी एकमात्र सन्तान, एक पुत्र सात वर्ष की आयु में चल बसा । उसके बाद पत्नी से कोई संतान नहीं हुई । इस पर लोगों ने उन्हें दूसरा विवाह करने की राय दी पर वे इसे गलत मानकर अस्वीकार करते रहे । लोगों ने शरियत का उल्लेख करते हुए उन्हें राय भी दी कि हमारे मजहब में चार निकाह जायज हैं पर वे मजहब से अधिक महत्व स्त्री पुरुष के समानता के अधिकार को देते थे । एक स्त्री, दो पुरुषों से विवाह नहीं करती तो पुरुष को इसका क्या अधिकार । अतः वे अन्त तक मजहब के नाम पर अन्याय से सहमत नहीं हुए, उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया ।

अपनी अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध कोई काम करना उन्हें स्वीकार नहीं होता था । १९३९ में जब नेताजी सुभाषचन्द्र बोस गाँधीजी के न चाहते हुये भी काँग्रेस अध्यक्ष पद के लिये खड़े हुए तो उन्होंने अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर उनका समर्थन किया । स्मरण रखने की बात है कि उन दिनों वे प्रदेश के मंत्रिमण्डल में थे । उनका यह कदम उनके मन्त्री पद के लिये घातक हो सकता था पर उन्होंने कभी ऐसी बातों की चिन्ता नहीं की । मन्त्री पद उनकी मानवता का मुहताज रहा पर वे कभी उसके मुहताज नहीं रहे ।

व्यक्ति में योग्यता हो, वह कर्मठ हो, व्यवहार कुशल हो, नीतिज्ञ हो पर इतना ही पर्याप्त नहीं है यदि उसमें नैतिक और चारित्रिक बल न हो । देश के वर्तमान नेताओं में इन दोनों गुणों का ह्रास हो गया है । इस कारण वे देश की समस्याओं को सुलझाने के बजाय अपने स्वार्थ साधन में ही योग्यता, कर्मठता व अन्य गुणों का दुरुपयोग कर रहे हैं नहीं तो वे भी किदवई साहब की तरह वैसे चमत्कार दिखा सकते थे जो उन्होंने केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रहते हुए दिखाये थे । वे दो बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हुए । पहली बार वे परिवहन और संचार मन्त्री बने और दूसरी बार खाद्य व कृषि मन्त्री । इन दोनों अवसरों पर उन्होंने जो साहसपूर्ण कदम उठाये वे मिसाल बनकर रह गये हैं ।

परिवहन व संचारमन्त्री के रूप में उन्होंने समस्त डाक तार कर्मचारियों को साप्ताहिक अवकाश देने की व्यवस्था की जो प्रायः असम्भव लग रही थी । ठीक उसी प्रकार नागपुर होते हुए दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई व मद्रास को जोड़ने वाली रात्रिकालीन डाकसेवा प्रारम्भ की जिसके सम्बन्ध में भी लोगों के ऐसे ही विचार थे ।

कृषि व खाद्यमन्त्री के रूप में उन्होंने जो सेवा की उसे आज तक लोग याद करते हैं । उन्होंने अपने समय की खाद्यान्न समस्या को जिस प्रकार सुलझाया, जिस प्रकार सब कन्ट्रोल तोड़ दिये वैसा स्वतन्त्र भारत के इतिहास में आज तक नहीं हुआ । लोग उनके इस कार्य को चमत्कार की संज्ञा देते हैं ।

सच पूछा जाय तो यह उनकी ईमानदारी, निष्ठा, कार्यकुशलता व सूझबूझ का फल था । उनकी कार्यप्रणाली में आरामतलबी और गैर जिम्मेदारी को कोई स्थान नहीं था । वे अपने को जनता का सेवक मानते थे । जनता ने उनके कंधों पर जिस दायित्व का भार रखा था उसे भी वे बखूबी जानते थे और स्वीकारते थे । उन्हें देश की समस्याओं को सुलझाने के लिये हेलीकाप्टर और विदेशी कारों में दौरे करने की और पुलिस और गुप्तचरों की फौज अपने साथ लिये फिरने की कभी आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई । जैसा कि आजकल के अधिकांश मन्त्री करते हैं । जनता के प्रतिनिधि को जनता के बीच जाने से भय क्यों ? और यदि वे भय अनुभव करते हैं तो निश्चय ही वे जिनके प्रतिनिधि हैं उनके विश्वास की रक्षा करने में असमर्थ रहे हैं । किदवई साहब की यही मान्यता थी । उन्होंने खाद्य समस्या को सुलझाने के लिये कई बार देशव्यापी दौरा किया पर उनका यह दौरा दूसरे ही ढंग का था । स्थान-स्थान पर वे जनता से, व्यापारियों से मंत्रियों तथा जनप्रतिनिधियों से प्रकट रूप से भी मिले तो वस्तुस्थिति को जानने के लिये छद्म रूप में भी निकले ।

वे मोटर कार की बजाय रेलगाड़ी के तीसरे दर्जे में साधारण वेशभूषा में बिना किसी पूर्व सूचना के सफर करते । उनके साथ चलने वालों को पता ही नहीं चलता था कि उनके साथ जो साधारण-सा आदमी सफर कर रहा है वह भारत का खाद्य मंत्री है । इससे उन्हें वास्तविक स्थिति जानने में भरपूर सहायता मिलती थी । वे कई नगरों में वेश बदल कर घूमे थे । उन्होंने कई व्यापारियों से अनाज के भाव पूछे थे, उनसे सौदा किया था तब उन्हें पता ही न था कि वे केन्द्रीय खाद्य मन्त्री से भाव-ताव कर रहे थे । अपनी इस विलक्षण सूझबूझ व कार्यपद्धति के कारण वे खाद्यान्नों के कृत्रिम संकट को समाप्त करने में आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए थे ।

बम्बई की बात है । वे फटी कमीज और मैला-सा नेकर पहनकर एक घरेलू कर्मचारी के रूप में एक कारखाने में पहुँचे और भिन्न-भिन्न कतारों में खड़े होकर वहाँ की कार्य-पद्धति का निरीक्षण किया । इस निरीक्षण में दोषी पाये गये पाँच कर्मचारियों को उन्होंने बाद में काम ठीक न करने के कारण सजा दी । यह था उनका मन्त्री पद के निर्वाह का तरीका । उनकी यह निष्ठा राजनेताओं के लिये आदर्श उपस्थित करती है ।

वे वर्षों तक उत्तर प्रदेश के मन्त्रिमण्डल में रहे । दो बार केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रहे । इस बीच उनके घर का द्वार हर मिलने वाले के लिये खुला रहता था । सुरक्षा में नियुक्त किये गये पुलिस कर्मचारियों को उन्होंने स्पष्ट निर्देश दे रखे थे कि कोई भी आदमी किसी भी समय उनसे मिल सकता है । वे इसके लिये किसी को रोकें नहीं । उनका स्वभाव बड़ा सरल था । छोटे-बड़े का भेद करना उन्होंने कभी सीखा नहीं । उनसे मिलने वाला हर व्यक्ति उनके बारे में एक ही राय लेकर लौटता था कि वे देवता पुरुष थे । आत्मीयता भरी मुस्कान उनके चेहरे पर सदा खेलती रहती थी जो हर आगन्तुक का सहज भाव से स्वागत करती थी ।

उनकी सादगी और निरभिमानिता ने उन्हें राजनेता के रूप में जो लोकप्रियता दिलायी थी वह प्रचार से सम्भव नहीं थी । राजनेता के रूप में देश और देशवासियों के प्रति उनकी जो एकान्तिक निष्ठा थी वह किसी भी व्यक्ति के दबाव की परवाह नहीं करती थी । जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति के क्षेत्र में आत्मा की आवाज का अनुसरण करने वाला व्यक्ति सफल नहीं होता । किदवई साहब का जीवन उनकी इस मिथ्या धारणा का उत्तर देने के लिये पर्याप्त है ।

उन्होंने अकेले ने जिस असम्भव कार्यों को सम्भव किया वे एक व्यक्ति के नहीं एक संस्था के कार्य थे पर उनके अपराजेय साहस, नीति-निष्ठा और विलक्षण सूझबूझ ने वे सब कार्य अकेले ही सम्पादित करवा दिये ।

२४ अक्टूबर, १९५४ को उनका देहावसान हो गया । दिल्ली में एक सभा में भाषण करते ही उनकी तबीयत खराब हुई और घर लौटते ही वे सदा के लिये चल बसे । अपनी अमर यादगार छोड़कर कि ऐसे भी राजनेता होते हैं ।

आपकी बेटी मेरी बेटी है

रफी अहमद किदवई साहब के एक मित्र की पुत्री का विवाह था । उनसे किदवई साहब का राजनैतिक विरोध था । बोल-चाल तक न थी । यहाँ तक कि उन्होंने किदवई साहब को विवाह में आमन्त्रित तक न किया । किन्तु वे स्वयं ही वहाँ पहुँचे और कन्या को आशीर्वाद दिया ।

उन सज्जन ने जब रफी साहब को वहाँ देखा, तो पश्चाताप, आत्मग्लानि तथा स्नेह का ऐसा स्रोत उमड़ा कि वे रफी साहब के गले से लिपट गये और क्षमा-याचना की । रफी साहब विनम्र स्वर में इतना ही बोले "हमारा आपका राजनैतिक मतभेद हो सकता है । किन्तु यह तो घर का मामला है । आपकी बेटी, मेरी बेटी है ।" इस घटना से आपस का वह मनमुटाव भी समाप्त हो गया ।

नेता नहीं खिदमतगार

स्वर्गीय रफी अहमद किदवई के पास कुछ सज्जन अपने किसी कार्यवश पहुँचे । सामान्य शिष्टाचार के पश्चात् उन्होंने पूछा—"कहिए मैं क्या सेवा कर सकता हूँ आपकी ?"

आगन्तुक बोले "देखिये हमारा सम्मेलन निकट ही है और हमें अभी तक टेलीफोन नहीं मिला है, इससे बड़ी असुविधा है और आने वालों की संख्या बहुत है । सो यदि आप ट्रेन में एक विशेष बोगी और लगवा दें तो बहुत सुविधा हो जायेगी और आप भी सम्मेलन में जाने की अवश्य कृपा करेंगे । टेलीफून लग गया । नियत समय पर ट्रेन में विशेष बोगी की सुविधा भी मिल गई । किन्तु तीसरी बात के उत्तर में उन्होंने कहा "सम्मेलन वगैरह से तो मैं दूर ही रहता हूँ । मैं नेता नहीं हूँ । खिदमतगार हूँ । मुझे तो इसी काम के लिए रहने दीजिए ।"

मानव रत्न—

लाल बहादुर शास्त्री

सन् १९२१ । असहयोग आन्दोलन का बिगुल बज उठा । भावनाशील लोग समय की पुकार सुनकर लाखों की संख्या में रणक्षेत्र में जा कूदे । विद्यार्थियों ने विद्यालय छोड़ दिये, कर्मचारियों ने काम करना छोड़ दिया, न्यायालय बन्द पड़ गये, किसानों ने लगान देना बन्द कर दिया, रेल, तार, डाक सेवा का उपयोग बन्द हो गया । विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया ।

सोलह वर्ष के एक किशोर की आत्मा भी युग की पुकार सुनकर अधीर हो उठी । वह जानता था कि विद्यालय छोड़ने से उस का ही नहीं उसकी विधवा माँ का भविष्य भी अन्धकारमय हो जायेगा । पिता जिसे मझधार में छोड़ गये थे अब बेटा भी आन्दोलन करने लगा यह जानकर वह कितनी दुःखी होगी । रिश्तेदार तो पहले ही उसकी देशभक्ति को खतरनाक कहते रहे हैं । ये विवशताएँ उसके मार्ग में बाधा बनकर खड़ी थीं फिर भी जीत अन्तःकरण की आवाज की हुई वह अध्यापक के सम्मुख जा खड़ा हुआ । "गुरुजी अब आज्ञा दीजिये ।" अध्यापक इस किशोर की भावनाओं को समझते थे और घर की स्थिति भी जानते थे । उन्होंने समझाया "बेटा हाईस्कूल परीक्षा में कुछ महीने रहे हैं । परिश्रम करके तुम अच्छी डिवीजन से पास हो जाओगे तो माँ को सहारा हो जाएगा ।" किशोर ने गुरुजी की बात सुनी पर वह रुक न सका । अपने तथा अपनी बेसहारा माँ के हितों को देशहितों पर बलिदान करके असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाला यही किशोर एक दिन भारत का प्रधानमन्त्री बना । अन्य राष्ट्रों के नेताओं ने आश्चर्य से सुना कि भारत के प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री के पास अपना घर का मकान भी नहीं, जिन्होंने प्रधानमन्त्री बनकर किश्तों पर कार खरीदी । महामन्त्री चाणक्य जैसा ही यह एक अनुपम उदाहरण था ।

शास्त्रीजी न तो बड़े बाप के बेटे थे, न किसी के सहयोग ने ही उन्हें इस पद तक पहुँचने में सहायता की थी । उनके मानवीय सद्गुणों व कर्मठता ने ही उन्हें इस महान पद पर पहुँचाया था ।

शास्त्रीजी का जन्म २ अक्टूबर, १९०४ में मुगल सराय में हुआ । इनके पिता श्री शारदा प्रसाद एक शिक्षक थे । अल्पायु में ही पिता का देहावसान हो गया । बचपन से ही इनकी अग्नि परीक्षा आरम्भ हो चुकी थी, घर की आर्थिक स्थिति बहुत ही कमजोर थी तथा सहारे के नाम पर केवल माता रामदुलारी का सहारा था । पितृहीन बालक ने अपने आप एक सहारा खोज लिया । यह सहारा था पुण्य–सलिला गंगा का । गंगा ने उन्हें तैरना सिखाया, जीवन के उतार-चढ़ावों में साहसी बने रहने का पाठ पढ़ाया और अपनी ही तरह निर्मल, निष्कलुष बने रहने की सामर्थ्य प्रदान की ।

बारह वर्ष की आयु में वे अपने साथियों के साथ गंगा पार मेला देखने गये । वापस लौटने के लिये उनके पास नाव वाले को देने के पैसे नहीं थे । आधा मील गंगा का पाट उन्होंने तैरकर पार किया जिसे अच्छी खासे पहलवान भी नहीं कर पाते थे । परिस्थितियों से जूझना वे बचपन से ही सीखने लगे थे । साधन का अभाव प्रगति में बाधक नहीं होता यह प्रेरणा उन्हें बचपन से ही मिल चुकी थी ।

पढ़ने के लिये वे नाना के घर रहे, फिर मौसा के घर रहे किन्तु परावलम्बन को उन्होंने कभी नहीं अपनाया । उन्होंने अपनी स्थिति को स्वीकार तो किया कि उनके पिता नहीं हैं पर यह स्वीकारोक्ति उन्हें सदाचारी, परिश्रमशील तथा ईमानदार बनाये रही ।

शास्त्रीजी तीव्र बुद्धि नहीं थे वे कक्षा में यदा-कदा ही प्रथम आये । इसके पीछे उनका परिश्रम ही था । वे मन लगाकर पढ़ते थे–परिश्रम करते थे । इसी का शुभ परिणाम था कि वे हिन्दी विद्यापीठ से 'शास्त्री' परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर सके । उनका प्रमुख विषय दर्शन था ।

पारिवारिक स्थिति साधारण होते हुए भी लालबहादुर शास्त्री ने अपना लक्ष्य साधारण नहीं रखा । ऐसी परिस्थितियों में कोई अन्य साधारण साहस वाला आदमी होता तो हाईस्कूल पास करके कहीं नौकरी खोज लेता, कहीं क्लर्क या अध्यापक बन जाता । शास्त्रीजी ने एक सच्चे देशभक्त की भूमिका निभाने में इस स्थिति को कभी बाधा के रूप में नहीं माना ।

पढ़ाई समाप्त करने के बाद यदि वे स्वयं को अकिंचन मानते तो कोई नौकरी खोजते पर उन्हें अपने देशवासियों की सेवा करनी थी । रोटी का सवाल अवश्य सामने था । उसे पूरा करने की तैयारी वे बचपन से ही कर चुके थे । अपनी आवश्यकता वे कम से कम रखते थे । अपना सारा काम हाथ से कर लेते थे । उन्होंने लोकसेवा संघ में अपने मित्र अलगूराय चौधरी के साथ अछूतोद्धार का काम आरम्भ किया । इनकी लगन, श्रम तथा तत्परता से लाला लाजपतराय बड़े प्रभावित हुए, वे इस संघ के आजीवन सदस्य बना दिये गये । उन्हें सात रुपये भत्ता मिलता यह बाद में सौ रुपये हो गया, जिसे वे घर वालों को दे देते थे ।

सन् १९२७ में उनका विवाह ललिता देवी के साथ हुआ । शास्त्री जी ने अपने जीवन का ध्येय उनको

बताया। अपने पति के इस ध्येय को ललिता देवी ने अपना ध्येय मान लिया। शास्त्रीजी की देश-जाति के लिये जो उपयोगिता थी उसे श्रीमती ललिता देवी ने स्वीकार किया तथा उनके उद्देश्य में सहायक बनीं। पत्नी का सहयोग पाकर जहाँ वे पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निश्चिन्त हो गये वहाँ ललिता देवी अपने पति की महानता के आगे श्रद्धाभूत हो उठी।

शास्त्री जी को जो भी काम दिया जाता उसे वे पूरे मनोयोग से ईश्वर की उपासना की तरह करते। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी महत्ता स्वीकार की जाने लगी। बड़े-बड़े नेता इन पर विश्वास करने और कॉंग्रेस के माने हुए नेताओं में गिने जाने लगे। इनकी प्रगति का आधार परिश्रमशीलता, कर्म के प्रति निष्ठा और मनोयोग था।

आदर्शों के प्रति इनका आग्रह निरन्तर पुष्ट होता गया। जब ये नैनी जेल में थे उनकी पुत्री सख्त बीमार हो गई। पैरोल पर छूटने के लिए यह लिखित आश्वासन देना पड़ता था कि वे इस अवधि में किसी आन्दोलन में भाग नहीं लेंगे। यद्यपि वे किसी आन्दोलन में भाग नहीं लेने वाले थे फिर भी लिखकर देना अनुचित मानते थे। इस कारण वे अपनी पुत्री को देखने का विचार स्थगित कर चुके थे। जेलर को उन्हें बिना शपथ लिखाए ही छुट्टी देनी पड़ी।

अपनी आवश्यकताओं के प्रति उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। जेल के जीवन में जहाँ अन्य लोग छोटी-छोटी चीजों के लिए जेल अधिकारियों से प्रार्थना करते थे, वहाँ शास्त्रीजी स्वयं के हिस्से की वस्तु भी दूसरे को देकर प्रसन्न होते थे। अपना लैम्प एक साथी को देकर उन्होंने कडुये तेल के दिये के सामने टालस्टाय का 'अन्ना कैरेनिना' पढ़ डाला था। जेल जीवन उन्होंने एक तपस्या समझकर बिताया। उन्हें देखकर जेल के अधिकारी तथा सहयात्री आश्चर्य करते थे कि जेल में भी इनका जीवन एक व्यवस्थित क्रम से चलता रहता है। इस काल में उन्होंने कितने ही ग्रन्थ पढ़े। जेल में ही उन्होंने 'मेडम क्यूरी' की जीवनी लिखी।

आजादी के आन्दोलन में शास्त्रीजी की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही थी। वर्षों जेल में रहे। रात-दिन श्रम करते रहे। जेल में रहे या खुले में उनका यह श्रम चलता ही रहा। आन्दोलन के नेतृत्व में, जन-जागरण के प्रयासों में, संगठन में जहाँ भी उनका हाथ लगा वहाँ-वहाँ काम बना, बिगड़ा नहीं। उसका कारण यह था कि उन्होंने अपने काम की चिन्ता की, नाम की चिन्ता नहीं की। अन्य नेताओं से आगे बढ़ने का एकमात्र कारण यही था कि इन्होंने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा कोई रखी ही नहीं।

दुबला, पतला, ठिगना साधारण-सा दीखने वाला यह लौहपुरुष अपने कठोर परिश्रम, निष्ठा, विश्वास के कारण उत्तरप्रदेश मन्त्रिमण्डल में संसदीय सचिव बनाया गया। उत्तरप्रदेश मन्त्रिमण्डल में जब ये गृहमन्त्री पद पर थे तब कॉंग्रेस के महामन्त्री बनाये गये। इनका एक ऐसा व्यक्तित्व बन गया था कि इन्हें आपत्तिकालीन स्थिति में कोई काम सौंपा जा सकता था। सौंपे काम की सफलता निश्चित थी।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में रेल मन्त्री के रूप में इन्होंने बड़ा अच्छा काम किया। दो रेल दुर्घटनाओं के कारण इन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। इसके विरोध में हजारों तार आये पर उन्होंने फिर इस पद को स्वीकार नहीं किया। इस त्याग ने उनकी महत्ता को और बढ़ा दिया।

एक साधारण नागरिक के दायित्व को वहन करने में ईमानदारी बरतने का शुभ परिणाम यह हुआ कि भारत को एक ईमानदार नेता, एक ईमानदारी प्रधानमन्त्री मिल सका। पद का कभी मोह शास्त्रीजी को नहीं रहा। वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ईमानदार रहे। उन्होंने राष्ट्र के पैसे को अपने उपयोग में लेने को सोचा तक नहीं। सदा वे अपने को एक साधारण आदमी जनता का सेवक मानते रहे। उनकी ईमानदारी ने ही उन्हें रेलमन्त्री पद से स्तीफा देने को मजबूर किया। उनकी ईमानदारी ही थी जिसने कामराज योजना के अन्तर्गत सबसे पहले अपना पद छोड़ा।

श्री नेहरू के मरने के बाद भारतीय तथा विदेशी शास्त्रीजी को आरम्भ में उस रूप में स्वीकार नहीं कर पाये, जिस रूप में नेहरू को किया जाता था किन्तु अपने अठारह महीनों के अल्प समय में उस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया।

भारत पाकिस्तान युद्ध के समय भारत का जो स्वरूप दुनिया के लोगों ने देखा और शास्त्रीजी की ललकार सुनी वे जानते हैं कि इस नन्हे से कलेवर में कितनी सशक्त आत्मा बैठी हुई है।

इनका जीवन कर्ममय रहा। कभी-कभी तो ये काम में इतने लीन रहते थे कि भोजन करना तक भूल जाते थे। कर्मक्षेत्र में शिथिल होते इन्हें कभी नहीं देखा गया। असम्भव दीखने वाला कार्य जब शास्त्रीजी को दिया गया तो उनके परिश्रम ने उसे सहज सम्भव बना दिया, शास्त्री जी ने अपने एक-एक क्षण को कर्म करने में बिताया।

शास्त्रीजी जब प्रधानमंत्री बने तो उनका कुछ ऐसा व्यवहार रहा कि विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते थे। लोकप्रियता का यह गुण उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन से ही विकसित करना आरम्भ कर दिया था। कॉंग्रेस में आपसी मतभेद दूर करने में इनके सानी का कोई दूसरा न था। राजनीति सरोवर के पंकज, शास्त्रीजी सदा राजनैतिक छल-छद्मों से दूर रहे।

सन् १९६५ में हुई ताशकन्द वार्ता की समाप्ति पर यह सूचना सुनकर विश्व का प्रत्येक नागरिक रो पड़ा कि एक महान व्यक्ति अब हमारे बीच नहीं रहा।

मरने पर अपने उत्तराधिकारियों के लिये कोई तो मकान, जमीन-जायदाद, धन-दौलत छोड़ जाते हैं पर शास्त्री जी ने कभी स्वयं को अपने परिवार तक सीमित

नहीं रखा । वे सारे देश के थे । अपने परिवार व परिजनों के लिये आदर्श जीवन जीने की महान पूँजी छोड़ गये ।

अपने आप बढ़ो, विकसो, बड़े बनो

लालबहादुर शास्त्री ने अपने १८ माह के प्रधानमन्त्रित्व काल में वह यश व श्रेय प्राप्त कर लिया जो संसार का कोई भी नेता नहीं पा सका । शास्त्रीजी एक साधारण परिवार के थे । वह स्वयं बढ़े, विकसे और बड़े बने । आत्मावलम्बन की शक्ति ही उनके जीवन में दृढ़ता बनकर विकसित हुई थी ।

यही गुरुमन्त्र उन्होंने अपने सन्तान को भी दिया । एक बार उनसे किसी मित्र ने प्रश्न किया "आप अपने बच्चों को थोड़ा सहारा देते तो वे भी आज अच्छे स्थानों पर होते ?" शास्त्रीजी ने हँसकर बोले-"अवश्य होते, पर उनमें योग्यता न होती । जो स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास के साथ बढ़ता है, उसकी योग्यता, दृढ़ता, कर्मठता, साहस और कर्त्तव्य भावना अदम्य होती है ।"

उन्होंने कहा-"फूल कहीं भी हो वह खिलेगा ही । बगीचे में हो, जंगल में हो या कमरे में, बिना खिले उसे मुक्ति नहीं । बगीचे का फूल पालतू फूल है, उसकी चिन्ता स्वयं उसे नहीं रहती । जंगल का फूल इतना चिन्ता मुक्त नहीं, उसे अपना पोषण आप जुटाना पड़ता है, अपना निखार आप करना पड़ता है । कहते हैं कि इसीलिए खिलता भी वह मन्दगति से है । सौरभ भी धीरे-धीरे बिखेरता है । किन्तु सुगन्ध उसकी बड़ी तीखी होती है । काफी दूर तक वह अपनी मंजिल तय करती है । जंगल का फूल यद्यपि अपने आकार में छोटा होता है और कई बार वह पूरा खिल भी नहीं पाता है तो भी अपनी सुगन्ध में वह दूसरे फूलों से हल्का नहीं पड़ता वजनी ही होता है ।"

यह सिद्धान्त मनुष्य के विकास में भी लागू है । दूसरों का सहारा लेकर बहुत ऊँचे पहुँचे हुए लोगों में न तो साहस, दृढ़ता होती है और न वे 'गट्स' होते हैं, जो अपने आप विकसित हुये व्यक्ति में स्थायी रूप से होते हैं । सफलता की मंजिल भले ही देर से मिले पर अपने पैरों की गई यात्रा, विकास यात्रा अधिक विश्वस्त होती है । मोटर, रेल का सहारा लेकर बढ़ने में जहाँ शीघ्र पहुँचना सम्भव है वहाँ अनियमित होना, रास्ते में टूट-फूट, लेट होना और बिगड़ जाना भी सम्भव है । पद यात्रा से अधिक विश्वस्तता सहारे की यात्राओं में नहीं, भले उसमें कुछ अधिक सुविधा हो ।

संसार में कार्य करने के लिए स्वयं का विश्वासपात्र बनना आवश्यक है । आत्मशक्तियों पर जो जितना अधिक विश्वास करता है, वह उतना ही सफल और बड़ा आदमी बनता है । वाशिंगटन एक मामूली सिपाही से अमेरिका की स्वतन्त्रता का प्रतिस्थापक बना । अमेरिका के प्रायः सभी राष्ट्रपति अत्यन्त छोटी अवस्था से स्वयं विकसित हुये । नैपोलियन फ्रान्स का एक छोटा-सा सिपाही था, वह स्वयं बढ़कर सेनापति बना । एक अस्पताल में साधारण प्यून से बढ़ते-बढ़ते राष्ट्रपति बनने वाले सनयात सेन को कोई नहीं भूल सकता । इन महापुरुषों ने 'मन्त्र यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती ।' जिसने अपने आप पर विश्वास किया उसने सिद्धि सफलता पाई कहावत को चरितार्थ किया है ।

कारडिनल लिखते हैं-"हर व्यक्ति के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जिनका बुद्धिमानी से उपयोग करके मनुष्य बिना भाग्य की प्रतीक्षा किये बड़ी सफलतायें प्राप्त कर सकता है ।"

नेल्सन की कहानियाँ अँग्रेज बड़े प्रेम से पढ़ते हैं और आत्मविश्वास की शक्ति की व्याख्या करते समय उसके उदाहरण देते हैं । नेल्सन कहा करता था-"अविश्वास के लिये मेरे जीवन में कोई स्थान नहीं है । मैं जहाँ जुट जाता हूँ, वहाँ सफलता निश्चित रहती है । जिसके पास दृढ़ और अडिग आत्मविश्वास और साहस है, वह निश्चय ही अपना भाग्य निर्माण करता है ।"

श्रीयुत् नाना भाई थोपड़े, व्यापार के क्षेत्र में बम्बई के अब्दुल भाई करीम, शिक्षा के क्षेत्र में सुबोध चन्द्र राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, व्यावसायिक प्रगति के लिए सेमुअल एण्ट्रून आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, इन्होंने कठिनाइयों और अगर-मगर की परवाह किये बिना आत्मशक्तियों को जीवन क्षेत्र में उतारा और मनुष्य-शक्ति को सार्थक सिद्ध कर दिखाया ।

बहुत से लोग कहा करते हैं-'यदि मैं स्वतन्त्र होता और मेरे पीछे बाल-बच्चों का झगड़ा न होता, मेरी शिक्षा इतनी होती, मुझे इतनी पूँजी मिल गई होती तो मैं बहुत काम कर सकता था । परन्तु यह उनकी निर्बलता है । बड़ा काम करने के लिए न बाल-बच्चे रुकावट हैं और न धनाभाव । परिस्थितियाँ संसार के न्यूनाधिक एक जैसी ही हैं । जिन्हें रुकावट समझा जाता है, वे समस्यायें ही सफल व्यक्तियों की प्रेरक बनी हैं । कई महामानवों ने तो जेल में भी बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं । सोच-समझ के साथ जीवन के प्रत्येक दिन को अमूल्य मानकर अपने मन को ऊँची अवस्था में ले जाने को अपने आप प्रयत्न करते हैं । उनकी थोड़ी-सी सफलता भी चिरस्थाई, सन्तोषदायक और व्यावहारिक होती है ।

अपने आप बढ़ने में सच्चाई और ईमानदारी रहती है , मनुष्य की वह बड़ी शक्ति है, इससे उसका हृदय खुला रहता है, वह किसी भी समय अपने आपको व्यक्त कर सकता है । वह घबराता नहीं, परेशान भी नहीं होता । यह कष्ट तो परावलम्बियों को ही होते हैं । जो दूसरों के सहारे उठता है उसे बात-बात पर गिर जाने का भी भय बना रहता है । सच्चे लोग अपने गुण, अपनी प्रतिभा और अपने

सौन्दर्य के बारे में नहीं सोचते । अपनी इस सरल अबोधता के कारण वे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, उनके हृदय में विश्वास, प्रेम और प्रतिष्ठा का स्थान पाते हैं, यह सफलता ही किसी बड़ी से बड़ी सम्पन्नता जैसी सुखदायक होती है ।

अपने भाग्य को स्वयं बन जाने की राह देखना भूल ही नहीं, मूर्खता भी है । यह संसार इतना व्यस्त है कि लोगों को अपनी परवाह से ही फुरसत नहीं । यदि कोई थोड़ा सा सहारा देकर आगे बढ़ा भी दे और उतनी योग्यता न हो तो फिर पश्चाताप, अपमान और अवनति का ही मुख देखना पड़ता है । स्वयं ही मौलिक सूझ–बूझ और परिश्रम से बनाये हुए भाग्य में इस तरह की कोई आशंका नहीं रहती, क्योंकि वैसी स्थिति में अयोग्य सिद्ध होने का कोई कारण ही नहीं होता । जितनी योग्यता बढ़ती चले सफलता की मंजिल उतनी ही प्राप्त करता चले, रास्ता सबके लिए खुला है, उस पर चलकर कितना पार कर सकता है, यह व्यक्ति की अपनी लगन, साहस और विश्वास पर निर्भर है ।

शास्त्रकारों ने पुरुषार्थियों की स्थान–स्थान पर वन्दना की है । कोई महानुभाव लिखते हैं–

धीमन्तो वन्द्य चरिता मन्यन्ते पौरुषं महत् ।
अशक्ता पौरुषं कर्तुं क्लीवा दैवमुपासते ।।

अर्थात्– बुद्धिमान व्यक्तियों ने सदैव व्यक्ति के उत्थान के लिए पुरुषार्थ को प्रधान माना है । भाग्य और देवों से उन्नति के मार्ग खोजने वाले नपुंसक पुरुषार्थविहीन व्यक्तियों की विद्वज्जन निन्दा करते हैं ।

हर मनुष्य को परमात्मा ने अपार शारीरिक शक्तियाँ दी हैं । बुद्धि भी सब में कुछ न कुछ होती है, संसार इतना बड़ा है कि ढूंढ़ने से इच्छित परिस्थितियों का अम्बार मिल सकता है । यहाँ अभाव किसी वस्तु का नहीं, कुछ सच्ची बात है तो यह है कि सब कुछ ढूंढ़ने वाले को मिलता है । जो स्वयं कुछ करता है, वह पाता है । जो चलता है, वही लक्ष्य तक पहुँचता है । सोना–सोना चिल्लाने से पास रखा हुआ सोना भी हाथों में नहीं आ जाता । उसे उठाने के लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है । सफलता के हर क्षेत्र में यह सिद्धान्त अटल है । दूसरा बड़ा नहीं बनाता, मनुष्य अपने प्रयत्नों के अनुरूप ही परिणाम उपलब्ध करता है । यह सृष्टि का अकाट्य नियम है ।

उल्लास के बिना उत्सर्ग क्या ?

महात्मा गाँधी का नमक कानून तोड़ने वाला सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ तब की बात है–राष्ट्रीय नेता जेलों में ठूँसे जा रहे थे । श्री लालबहादुर शास्त्री के भी पकड़े जाने की पूरी सम्भावना थी ।

एक दिन उन्होंने एक जेल-यात्री कार्यकर्ता के स्त्री, बच्चों को रोते हुये देखा तो उन्हें ऐसा लगा कि इससे त्याग और बलिदान का वर्चस्व घटता है कहीं हम भी जेल गये तो ? निश्चित है कि अम्माजी, धर्मपत्नी ललिता और हमारे अन्य सब लोग भी ऐसे ही रोयेंगे । शास्त्रीजी को यह कल्पना भी अच्छी नहीं लगी । उन्होंने जितना विचार किया उतना ही लगा कि रोने–धोने से तो सेवा और त्याग की गरिमा ही कम होती है । उन्होंने निश्चय किया वे अपने घर में ऐसा नहीं होने देंगे ।

सायंकाल भोजन के लिए बैठे शास्त्रीजी ने अम्मा को बुलाया, ललिता शास्त्री पहले से ही वहाँ उपस्थित थीं उत्सुकतावश बच्चे भी आ गये । उपयुक्त समय देखकर शास्त्रीजी ने अपनी माताजी से प्रश्न किया–अम्मा बताओ यदि कोई युवक किसी महिला की रक्षा करते हुए मारा जाये, कोई युवक हिम्मत कर डकैतों से भिड़ जाये और उसमें जख्मी हो जाये, समाज के उत्थान के लिये किसी गृहस्थ से निवृत्त व्यक्ति को वानप्रस्थ लेना पड़ जाये, किसी सामाजिक बुराई के प्रतिरोध में किसी युवक को बहिष्कृत कर दिया जाये, इन दिनों सारे देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन चल रहा है उसमें किसी सत्याग्रही को जेल जाना पड़ जाये तो क्या उसके घर वालों को यह उचित है कि वे रोयें–धोयें और त्याग, बलिदान एवं स्वस्थ सामाजिक परम्पराओं की स्थापना का मूल्य घटायें ?

माताजी शास्त्रीजी के भाव ताड़ गईं बोलीं–बेटे! त्याग और बलिदान के आदर्शों से ही धर्म संस्कृतियाँ, समाज और राष्ट्र जिन्दा रहते हैं कौन अभागा होगा जो इन्हें बुरा कहेगा पर मोह–ममता का भी तो अपना स्थान है यदि प्रियास्पद को कष्ट होगा, इस कल्पना से कोई स्वजन, सम्बन्धी रो पड़े तो उसका बुरा नहीं मानना चाहिए ।

शास्त्रीजी चूकने वाले नहीं थे, उन्होंने कहा–चलो यह मान लें कि आत्मभाव का प्रदर्शन बुरा नहीं पर उन रोने–धोने वालों के बीच में घर के वह सुकुमार बच्चे भी तो होते हैं जिन्हें आगे चलकर समाज और राष्ट्र के नेतृत्व की बागडोर सम्भालनी होती है जो उस समय आदर्श की महत्ता नहीं समझ पाते । वे यदि माता-पिता और बड़ों को रोते–बिलखते देखेंगे तो क्या उनमें भय पैदा नहीं होगा । इस मोह बन्धनों से नवागत पीढ़ी में आशंका की भावना नहीं पैदा होती ? यदि हाँ तो क्यों न ऐसे अवसरों पर–त्याग और बलिदान का आदर्श प्रस्तुत करने वाले का स्वागत हँस–हँस कर किया जाये, प्रसन्नता अनुभव की जाये और उनका अभिनन्दन गीत गाकर किया जाये ताकि ऐसे कार्यों के प्रति बच्चों में स्वाभिमान और अनुकरण का भाव जाग्रत हो ।

तुम ठीक कहते हो बेटा ! माँ ने स्वीकार कर लिया तब शास्त्रीजी ने खाना खाया और आवश्यक काम से बाहर निकले । जैसी कि आशंका थी वे पकड़ लिये गये । घर के लोगों ने सुना तो सबकी छाती स्वाभिमान से ऊँची उठ गई, घर में न तो कोई रोया और न किसी ने दिल छोटा किया । ललिता शास्त्री उनसे मिलने जेल गईं, उनसे शास्त्रीजी की बात भी नहीं हो पाई तो भी जो सुख, जो

सन्तोष और स्वाभिमान उन्होंने उस समय अनुभव किया वह शायद उन्होंने श्री शास्त्री जी के प्रधानमन्त्रित्व काल में भी न पाया होगा ।

शास्त्रीजी की सिद्धान्तनिष्ठा

जब स्वराज्य आन्दोलन का शंख बजा तो सामान्य ही नहीं विपन्न परिस्थितियों से जूझकर समृद्धि की ओर बढ़ रहे शास्त्रीजी ने भी अपनी जीवन दिशा बदली और महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आये । गाँधीजी शास्त्रीजी की सिद्धान्तनिष्ठा और आदर्शवादिता, लोकसेवा की भावना से बड़े प्रभावित हुए । एक दिन उन्होंने शास्त्रीजी को बुलाकर कहा–"देखो लालबहादुर, तुममें लोकसेवा की उद्दाम भावना है । परन्तु इस मार्ग पर धन सम्पत्ति एक ऐसी बाधा है जिसकी चमक से चौंधियाकर आदमी लोकसेवा की बात भूल जाता है और उसे परिग्रह ही परिग्रह सूझता है । इसलिए लोकसेवकों को अपरिग्रह का व्रत लेना चाहिए ।"

शास्त्रीजी ने तत्काल यह प्रतिज्ञा की कि–"मैं गृह और सम्पत्ति अर्जित नहीं करूँगा तथा ईश्वर पर दृढ़ आस्था रखते हुए जीवन बीमा भी नहीं कराऊँगा ।"

प्रतिज्ञा लेकर तोड़ने वाले तो अनेकों हैं परन्तु शास्त्रीजी ने यह प्रतिज्ञा जीवन भर निबाही । यहाँ तक कि जब वे प्रधानमन्त्री बने तब भी उनके पास अपना कोई निजी मकान नहीं था ।

जीवन में कई अवसर आये जब परिग्रह उन्हें पथ-विचलित करने के लिए खड़ा हो गया । यद्यपि वे अवसर दूसरे लोगों द्वारा ही खड़े किये गये थे, परन्तु शास्त्रीजी बड़ी होशियारी से उन अवसरों के चंगुल में फँसने से बच निकलते । ऐसा ही एक अवसर सन् १९३६ ई० में आया । तब वे इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य चुने गये थे । इस बोर्ड के सदस्य होने के नाते वे इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट के सदस्य भी बने । यह ट्रस्ट जमीनों के प्लाट बनाता तथा उन्हें बेचा करता था । एक बार ट्रस्ट ने टैगोर टाउन मोहल्ले में निर्माण कार्य के लिए आधा-आधा एकड़ के प्लाट बनाये और कम मूल्य पर बेचने का सिद्धान्त तय किया ।

शास्त्रीजी ने उस समय कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद से बाहर थे । उनके एक मित्र ने इन प्लाटों में से एक प्लाट शास्त्रीजी के लिए तथा एक अपने लिए खरीदना चाहा, परन्तु बोर्ड के नियमों के अनुसार ट्रस्ट का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं कर सकता था । उक्त सदस्य ने कमिश्नर साहब से सम्पर्क साधकर शास्त्रीजी के लिए विशेष छूट माँग ली साथ ही उनके लिए भी छूट मिल गयी । उन्होंने एक-एक प्लाट दोनों के लिए खरीद लिये ।

कुछ दिनों बाद शास्त्रीजी प्रवास से वापस लौटे । लौटते ही मित्र महोदय ने यह सम्वाद इस आशा के साथ सुनाया कि शास्त्रीजी प्रसन्न होंगे । परन्तु शास्त्रीजी तो प्रसन्न होने के स्थान पर आहत हो उठे और बोले तुमने यह ठीक नहीं किया ।

शास्त्रीजी को इस प्रकार दुःखी होते देख कर उक्त सदस्य उन्हें शान्त कराने का प्रयत्न करने लगे और बताने लगे कि कमिश्नर साहब से इजाजत मिल जाने के बाद प्लाट खरीदने में कोई आपत्ति नहीं है । परन्तु शास्त्रीजी को यह कब सहन होने वाला था–आपत्ति हो या न हो । परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए । नियमों और सिद्धान्तों को तोड़ना सर्वथा अनुचित है और इसका प्रायश्चित यही है कि तुम मेरे प्लाट सहित अपना प्लाट भी ट्रस्ट को वापस कर दो ।

इन्होंने प्लाट वापस कराकर ही चैन लिया । उन्हीं दिनों ट्रस्ट की मीटिंग हुई । ट्रस्टियों को दोनों प्लाट वापस होने की बात ज्ञात थी । इसे सराहनीय आदर्शवादिता की संज्ञा देकर सभी ट्रस्टियों ने शास्त्रीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की । शास्त्रीजी ने बात को मजाक में टालते हुए कहा–"भाई आप प्लाट वापस करने में कौन-सा आदर्शवाद मानते हैं । मैंने तो बापू को जो वचन दिया था उसे ही पूरा किया है और ट्रस्टी की हैसियत से ट्रस्ट द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को खरीदना भी कौन-सा अच्छा काम है ।"

शास्त्रीजी की दूरदर्शिता

सन् १९४९ । उन दिनों लालबहादुर शास्त्री उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री थे , एक दिन लोक निर्माण विभाग के कुछ कर्मचारी उनके निवास स्थान पर कूलर लगाने आये । बच्चों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब की बार गर्मियाँ अच्छी तरह गुजर जायेंगी ।

जब शाम को शास्त्री जी घर आये तो उन्हें पता चला कि कूलर लगाया जा रहा है उन्होंने तुरन्त विभागीय कर्मचारियों को टेलीफोन पर मना कर दिया । पत्नी ने कहा–"जो सुविधा बिना माँगे मिल रही है उसके लिए मना करने की क्या आवश्यकता है ?"

यह आवश्यक नहीं कि मैं मन्त्री पद पर सदा रहूँगा, फिर इससे आदत बिगड़ जायेगी । कल लड़कियों की शादी करनी है मान लो विवाहोपरान्त इस तरह की सुविधायें न मिलीं तो उन्हें कष्ट ही होगा । जाने किस स्थिति में उन्हें रहना पड़े । शास्त्री जी ने कहा ।

शास्त्रीजी ने उस समय कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद से बाहर थे । उनके एक मित्र ने इन प्लाटों में से एक प्लाट शास्त्रीजी के लिए तथा एक अपने लिए खरीदना चाहा, परन्तु बोर्ड के नियमों के अनुसार ट्रस्ट का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं कर सकता था । उक्त सदस्य ने कमिश्नर साहब से सम्पर्क साधकर शास्त्रीजी के लिए विशेष छूट माँग ली साथ ही उनके लिए भी छूट मिल गयी । उन्होंने एक-एक प्लाट दोनों के लिए खरीद लिये ।

कुछ दिनों बाद शास्त्रीजी प्रवास से वापस लौटे । लौटते ही मित्र महोदय ने यह सम्वाद इस आशा के साथ

सुनाया कि शास्त्रीजी प्रसन्न होंगे । परन्तु शास्त्रीजी तो प्रसन्न होने के स्थान पर आहत हो उठे और बोले तुमने यह ठीक नहीं किया ।

शास्त्रीजी को इस प्रकार दु:खी होते देखकर उक्त सदस्य उन्हें शान्त कराने का प्रयत्न करने लगे और बताने लगे कि कमिश्नर साहब से इजाजत मिल जाने के बाद प्लाट खरीदने में कोई आपत्ति नहीं है । परन्तु शास्त्रीजी को यह कब सहन होने वाला था-"आपत्ति हो या न हो । परन्तु तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था । नियमों और सिद्धान्तों को तोड़ना सर्वथा अनुचित है और इसका प्रायश्चित यही है कि तुम मेरे प्लाट सहित अपना प्लाट भी ट्रस्ट को वापस कर दो ।"

इन्होंने प्लाट वापस कराकर ही चैन लिया । उन्हीं दिनों ट्रस्ट की मीटिंग हुई । ट्रस्टियों को दोनों प्लाट वापस होने की बात ज्ञात थी । इसे सराहनीय आदर्शवादिता की संज्ञा देकर सभी ट्रस्टियों ने शास्त्रीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की । शास्त्रीजी ने बात को मजाक में टालते हुए कहा-"भाई आप प्लाट वापस करने में कौन-सा आदर्शवाद मानते हैं । मैंने तो बापू को जो वचन दिया था उसे ही पूरा किया है और ट्रस्टी की हैसियत से ट्रस्ट द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को खरीदना भी कौन-सा अच्छा काम है ।"

शास्त्रीजी की दूरदर्शिता

सन् १९४९ । उन दिनों लालबहादुर शास्त्री उत्तर प्रदेश सरकार के गृहमन्त्री थे , एक दिन लोकनिर्माण विभाग के कुछ कर्मचारी उनके निवास स्थान पर कूलर लगाने आये । बच्चों को बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब की बार गर्मियाँ अच्छी तरह गुजर जायेंगी ।

जब शाम को शास्त्रीजी घर आये तो उन्हें पता चला कि कूलर लगाया जा रहा है उन्होंने तुरन्त विभागीय कर्मचारियों को टेलीफोन पर मना कर दिया । पत्नी ने कहा-"जो सुविधा बिना माँगे मिल रही है उसके लिए मना करने की क्या आवश्यकता है ?"

'यह आवश्यक नहीं कि मैं मन्त्री पद पर सदा रहूँगा, फिर इससे आदत बिगड़ जायेगी । कल लड़कियों की शादी करनी है मान लो विवाहोपरान्त इस तरह की सुविधाएँ न मिलीं तो उन्हें कष्ट ही होगा । जाने किस स्थिति में उन्हें रहना पड़े । शास्त्रीजी ने कहा ।

जो हो वही दिखलायें--

प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्रीजी की पत्नी श्रीमती शास्त्री ने अपने जीवन के रोचक प्रसंग सुनाते हुये बताया-

जब मैं पहली बार अपने पति के साथ रूस यात्रा के लिए तैयार हुई तो मुझे बड़ा डर लग रहा था । मैं सोच रही थी कि मैं सीधी-साधी भारतीय गृहणी हूँ । राजनीति का मुझे ज्ञान नहीं, विदेशी तौर-तरीको का पता नहीं । कहीं मुझसे कोई ऐसे प्रश्न न किए जायें जिनका उत्तर मैं ठीक से न दे पाऊँ और तब मेरे पति अथवा देश का गौरव कुछ घटे अथवा उनकी हँसी हो ।

किन्तु फिर मैंने यह निश्चय करके अपना डर दूर कर लिया कि मैं एक महान देश के प्रधानमन्त्री की पत्नी के रूप में अपने को पोज ही नहीं करूँगी । मैं तो सबके सामने अपने को एक साधारण भारतीय गृहणी के रूप में रखूँगी ।

मैंने वहाँ जाकर अपने को एक गृहणी के रूप में ही पेश किया । वहाँ के अच्छे लोगों ने मुझसे घर-गृहस्थी के विषय में ही बातचीत की । जिसका उत्तर देकर मैंने सबको सन्तुष्ट कर दिया । इस प्रकार मैंने एक बहूमूल्य अनुभव यह पाया कि मनुष्य वास्तव में जो कुछ है यदि उसी रूप में दूसरों के सामने अपने को पेश करे तो उसे कोई असुविधा नहीं होती और उसकी सच्ची सरलता उपहास का विषय न बनकर स्नेह एवं श्रद्धा का विषय बनती है ।

सादगी की मिसाल-शास्त्रीजी

लालबहादुर शास्त्री के मन्त्रीत्व काल में देशी-विदेशी अतिथियों का ताँता लगा ही रहता था । कितने ही व्यक्ति राजनीतिक परामर्श हेतु आते । तो कोई अपनी कठिनाइयों के हल हेतु उपस्थित होते । सर्दी के दिन थे । लोकनिर्माण विभाग के कर्मचारियों ने शास्त्री जी के कमरे में एक कीमती कालीन लाकर बिछा दिया ।

शास्त्रीजी ने यह कालीन देखा तो विरोध करते हुए कहा-"जिस वस्तु के बिना कार्य चल सकता है उसे खरीदने की क्या आवश्यकता ?" उस कालीन को अपने कमरे से निकलवा दिया ।

शास्त्रीजी का जीवन बड़ा सादगीपूर्ण था । धन संचय करना तो उन्होंने कभी सीखा ही न था । अपने वेतन का बहुत बड़ा भाग अभावग्रस्त लोगों में सहायता हेतु वितरित कर देते थे । यही कारण है कि वर्षों तक मन्त्री पद पर रहने तथा १८ माह प्रधानमन्त्री जैसे उच्च पद पर रहते हुए भी निजी निवास की कोई व्यवस्था न कर सके । शास्त्रीजी की इससे बड़ी महानता और क्या हो सकती है ।

मितव्ययी शास्त्रीजी

राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री को लन्दन जाना था । उनके पास कोट दो ही थे । उनमें से एक में काफी बड़ा छेद हो गया था ।

शास्त्रीजी के निजी सचिव श्री वेंकटरमण ने नया कोट सिला लेने का आग्रह किया पर शास्त्रीजी ने इन्कार कर दिया । फिर भी वेंकटरमण खरीद लाये और दर्जी को बुलवा लिया जब कोट का नाप लिया जाने लगा तो शास्त्रीजी हँसकर बोले-"इस समय तो इसी पुराने कोट को पलटवा लो । नहीं ठीक जमा तो दूसरा सिलवा लूँगा ।" जब कोट दर्जी के यहाँ से आया तो कोट की

मरम्मत का पता तक नहीं चला । तब शास्त्रीजी ने कहा–"जब कोट की मरम्मत का पता हमें नहीं चल पा रहा है, तो सम्मेलन में भाग लेने वाले क्या पहचानेंगे ?"

और वे उसी कोट को पहनकर राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन में भाग लेने के लिये गये । ऐसी थी शास्त्रीजी की सादगी ।

समय के पाबन्द

समय के पाबन्द और घड़ी की सुई के साथ चलने वाले स्वर्गीय लालबहादुर तब रेलमन्त्री थे । वे सरदार नगर में हो रहे एक सम्मेलन में जा रहे थे । मार्ग में एक गाँव पड़ता था । उस गाँव से जब वे गुजर रहे थे तो कुछ ग्रामीणों ने उनकी कार रोक ली ।

पूछा गया कि "क्या बात है ।" तो ग्रामीणों ने कहा "एक गरीब किसान की औरत की प्रसूति का समय निकट है । कोई वाहन मिल नहीं रहा है और उसे पास के शहर भिजवाना है यदि आप इस गाड़ी में उसे ले जाने दें तो अच्छा है ।"

"नहीं यह गाड़ी एक सरकारी काम से सरदार नगर जा रही है–शास्त्रीजी के ही किसी सहयात्री ने तत्काल उत्तर दिया" तो ग्रामीणों ने अनुनय करते हुए कहा "जी उसे भी सरदार नगर ही ले जाना है ।"

बात को अनसुनी करते हुए सहयात्री अधिकारियों ने गाड़ी चलाने को कहा लेकिन शास्त्रीजी तुरन्त ही गाड़ी से नीचे उतर पड़े और बोले–ले आओ उस बहिन को अपनी गाड़ी से मैं उसे समीपस्थ शहर पहुँचा दूँगा ।

इस पर उनके साथी ने कहा श्रीमान देर होती जा रही है और आप अभी यहीं खड़े हैं वे लोग घण्टे भर से पहले नहीं आयेंगे ।

न आने दो । पर सम्मेलन से ज्यादा महत्वपूर्ण है वह बहिन । हम एक जनसेवक कहलाते हुए भी ऐसे नाजुक मौकों पर मुकर जायें तो इससे बड़ी आत्म प्रवंचना और क्या होगी–शास्त्रीजी ने कहा और उस स्त्री को सरदारपुर पहुँचाकर ही माने ।

सहनशीलता की परीक्षा ही सही

शास्त्री जी के ताशकन्द जाने और वहाँ से फिर जीवित न लौटने के कुछ दिन पहले की बात है । शास्त्री जी भोजन करने बैठे । उनका मनपसन्द भोजन बना था–खिचड़ी और आलू का भर्ता । पर स्वाद कहाँ से आये नमक ही जो नहीं था उनमें ।

शास्त्रीजी बड़े प्रेम से उस अस्वाद भोजन को खाते रहे । चेहरे पर कोई अप्रिय रेखा तक नहीं उभरी । जब ललिता जी ने भोजन करते समय खिचड़ी और भर्ता चखा तो उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई । उन्होंने शास्त्रीजी से अपनी भूली की क्षमा माँगी तो वे हँसते हुए बोले–"भूल में ही सही हमारी सहनशीलता की परीक्षा तो हो गयी ।"

मैं नींव का पत्थर बनना चाहता हूँ

श्री लालबहादुर शास्त्री से एक बार उनके मित्र ने पूछा–"आप हमेशा प्रशंसा से दूर रहा करते हैं, स्वागत-सत्कार के कार्यक्रमों को टाला करते हैं । आखिर क्यों ?"

शास्त्रीजी ने हँसकर बोले–"भाई, इसका कारण यह है कि एक बार लाजपतराय जी ने मुझसे कहा था–लालबहादुर, ताजमहल बनाने में दो प्रकार के पत्थरों का उपयोग हुआ है । एक तो बहुमूल्य संगमरमर, जिसका उपयोग गुम्बज के लिए और यत्र-तत्र किया गया है । दूसरा एक साधारण पत्थर जिसका ताजमहल की नींव में उपयोग किया गया है और जिसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता । हमें जीवन में इस दूसरे प्रकार के पत्थर का ही अनुकरण करना चाहिए । अपनी प्रसिद्धि, प्रशंसा और आदर-सत्कार से हमेशा दूर रहना चाहिए । बस ! उनकी यह सीख मेरे मन में पैठ गयी है और मैं उस नींव के पत्थर का ही अपने जीवन में अनुकरण करता रहता हूँ ।"

व्यवहार कुशलता

लालबहादुर शास्त्री जब केन्द्रीय मन्त्री थे तब उनकी कोठी ऐसी थी जिसके दो दरवाजे थे एक जनपथ रोड की ओर था दूसरा अकबर रोड की ओर ।

एक दिन सिर पर लकड़ी का बोझ रखे कुछ मजदूर स्त्रियाँ इधर आयीं और चक्कर से बचने के लिये शास्त्रीजी के बँगले से घुस पड़ीं ।

उन्हें देखा तो चौकीदार बिगड़ खड़ा हुआ । वह उन्हें वापस लौटाने लगा तो शास्त्रीजी आ गये । स्थिति समझते देर न लगी । चौकीदार को शान्त करते हुए उन्होंने कहा–"देखो इनके सिर पर कितना बोझ है यदि इन्हें यहाँ से निकल जाने में थोड़ी राहत होती है तो तुम इन्हें क्यों रोकते हो ?"

भारतीय जीवन दर्शन के साधक–

डॉ० सम्पूर्णानन्द

डॉ० सम्पूर्णानन्द उन दिनों मुख्यमंत्री थे । एक दिन प्रान्तीय विधान सभा के विधायक तथा एक उपमंत्री उनके पास पहुँचे और अपने क्षेत्र की स्थानीय समस्याओं के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे । डॉ० साहब ने दोनों की बातें विस्तारपूर्वक सुनीं और जान लिया कि वे लोग जो कुछ कह रहे हैं वह संकुचित स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर ही कह रहे हैं । उन्होंने तुरन्त निर्णय लिया और आगन्तुक राजनेताओं को उससे अवगत करा दिया । परन्तु विधायक और मंत्री महोदय को इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ उन्होंने अपनी बात को फिर से दोहराया ।

डॉ० साहब हाँ–हूँ करते रहे । इतने पर भी वे लोग उनका इशारा नहीं समझे तो पास में पड़ी हुई पुस्तक

उठाकर पढ़ने लगे । पास में ही बैठे एक सज्जन ने उन दोनों व्यक्तियों को समझाया कि डॉ० साहब ने अपना निर्णय दे दिया है । फिर भी वे अपनी बात करते रहे । डॉ० साहब ने खीजते हुए कहा–आप बार-बार कह रहे हैं परन्तु मैं इससे अपनी राय में परिवर्तन थोड़े ही कर लूँगा ।"

क्षेत्रीय और संकीर्ण हितों को पूरा करवाने के लिए डॉ० साहब के सम्बन्धों का उपयोग करने वालों से उन्हें जितनी चिढ़ होती थी उतनी शायद ही अन्य प्रकार के व्यक्तियों से होती होगी । डॉ० साहब ऐसी ही चारित्रिक विशेषताओं के स्वामी थे । राजनीति, साहित्य और धर्मदर्शन के क्षेत्र में अपनी योग्यता, निष्ठा और श्रम के बल पर उन्होंने आश्चर्यजनक प्रगति की, उन्हें समाज ने पर्याप्त सम्मान और प्रतिष्ठा भी प्रदान की परन्तु इन सब उपलब्धियों के बीच भी वे जल में कमल के समान निर्लिप्त ही रहे । उन्होंने अपने पद और सम्मान का उपयोग कभी भी व्यक्तिगत सुखों के लिए नहीं किया ।

किसी भी प्रतिष्ठित पद पर पहुँचने के बाद सामान्य व्यक्ति प्रायः अपने सुख-साधनों की अभिवृद्धि में ही लग जाते हैं परन्तु डॉ० साहब इस आदत से सर्वथा परे थे । उन्होंने कभी कुछ नहीं लिया और न ही सम्पत्ति संचय की ओर ध्यान दिया । मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र देने के समय उनके पास अपना निजी मकान तक नहीं था । इतने अलिप्त और अपरिग्रही महामानव बिरले ही मिलते हैं ।

डॉक्टर साहब का जन्म काशी के एक सम्पन्न परिवार में हुआ । उनका परिवार अच्छी स्थिति में था इसलिए उनकी शिक्षा के प्रति आरम्भ से ही ध्यान दिया गया और उससे भी अधिक ध्यान दिया गया उनके चरित्र निर्माण की ओर । मानवीय सद्गुणों के धारण और अभिवर्द्धन के प्रति उन्हें आरम्भ से ही प्रेरित किया जाता रहा है । इसी कारण उन्होंने सैद्धान्तिक धरातल पर अपने व्यक्तित्व का इस प्रकार गठन किया कि लोगों ने उन्हें कर्मयोग संयासी कहकर पुकारना शुरू कर दिया । वास्तव में वे इस सम्बोधन के सर्वथा योग्य थे भी ।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल० टी० की परीक्षायें उत्तीर्ण कीं ।

उच्च प्रतिष्ठित घराने से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें अच्छी संस्थाओं में सेवा का निमन्त्रण मिला । परन्तु उन्होंने शिक्षा जगत को ही अपना कर्मक्षेत्र चुना । महाराजा महेन्द्र प्रताप द्वारा संस्थापित प्रेम महाविद्यालय में वे शिक्षक के पद पर नियुक्त हुए और अध्यापक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया ।

अध्यापन कार्य का चयन करते समय उनकी यही धारणा थी कि वे ऐसी नयी पीढ़ी का निर्माण करने के लिए प्रयत्न करें जो विशुद्ध रूप से भारतीय हो । उस समय देश गुलाम था, यहाँ के युवक भी दासता और पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित होकर भारतीय परम्परा और संस्कृति को भूलते जा रहे थे । ऐसे समय संस्कृति पर छाये संकट के बादलों को दूर करने के लिए उनका भाव प्रेरित निश्चय, संकल्प उनके भारतीय संस्कृति के अनन्य अनुराग का परिचायक ही है । भारतीय जीवन के प्रति अटूट विश्वास ही उनके जीवन का प्रधान बिन्दु है । शिक्षा के माध्यम से ही नहीं साहित्य के माध्यम से भी उन्होंने भारतीय संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा का कार्य किया ।

अपनी आस्था को व्यक्त करते हुए डॉ० साहब ने एक स्थान पर लिखा है–"सभ्यता और संस्कृति का उदय सबसे पहले आर्यों में ही हुआ और प्राचीनकाल में तपस्वियों, ऋषियों और मुनियों ने ही सर्वप्रथम मानव जाति को आत्मज्ञान का मार्ग दिखाया ।"

अध्यापन का व्यवसाय चुनकर के युवा पीढ़ी में भारतीय परम्पराओं और मान्यताओं के प्रति निष्ठा पैदा करना चाहते थे । बाद में भी उनके जीवन की समस्त गतिविधियाँ इसी बिन्दु के इर्द-गिर्द घूमती रहीं और वे उदार मानवीय सभ्यता का प्रचार करते रहे ।

प्रेम महाविद्यालय के बाद उन्होंने १९१५ से १९१८ तक इन्दौर के राजकुमार कॉलेज में तथा उसके बाद डूँगर कॉलेज, बीकानेर में अध्यापन किया । बाद में वे स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े और कई बार जेल यात्राएँ भी कीं । जेलों में ही उनका साहित्यकार जागा और उन्होंने कलम उठाई । इसके पूर्व वे कवितायें भी लिखा करते थे परन्तु साहित्य में उन्होंने पूर्णतया प्रवेश तो राजनीतिक जीवन आरम्भ करने के बाद ही किया । अध्ययनशील स्वभाव ने उन्हें विशेष साहित्यिक प्रतिभा प्रदान की और इस प्रतिभा का उपयोग भी उन्होंने भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में किया । 'दर्शन और जीवन' चिद्विलास, आर्यों का आदि देश, गणेश, हिन्दू विवाह में कन्यादान–आदि कई ग्रन्थ उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की अनुपम कृतियाँ हैं ।

पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उन्होंने बड़ी सफलतायें प्राप्त कीं । लम्बे समय तक वे 'आज' दैनिक और 'जागरण' तथा 'मर्यादा' मासिक के सम्पादक रहे । ज्यों-ज्यों उनकी प्रतिभा विकसित होती गयी त्यों-त्यों वे एक एकाकी बनते चले गये । आरम्भ में उनकी पत्नी स्वर्गवासी हुई बाद में उनकी एक पुत्री तथा पुत्र भी चल बसे । परन्तु डॉक्टर साहब ने इन आधिदैविक विपत्तियों को धैर्यपूर्वक सहन किया । यह मानकर कि परमात्मा इन्हें भी किसी न किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए भेज रहा है और वे इस विश्वास के बल पर निश्चल बने रहे । सच है ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास व्यक्ति को कठिनाइयों तथा विपत्तियों की घड़ियों में भी वह धैर्य प्रदान करता है, जिसके बल पर वह प्रतिकूल परिस्थितियों को भी आसानी से सह लेता है ।

अपने व्यक्तित्व की इसी विशेषता के बल पर उन्होंने भारतीय संस्कृति के महासागर में से मणिमुक्ता चुन-चुन कर निकाले । कोई भी लक्ष्य निर्धारित करने वाले मनुष्य को अनिवार्य रूप से परिश्रमशील तथा सादगी पसन्द होना

पड़ता है चूँकि डा० साहब के सामने भी एक लक्ष्य था भारत का सांस्कृतिक पुनरुत्थान इसलिए उन्होंने भी इन शर्तों को निष्ठा और उत्साहपूर्वक पूरा किया । वे प्रातः चार बजे उठ जाया करते और रात्रि के बारह बजे तक व्यस्त रहते । समय की पाबन्दी और अशिथिल व्यस्तता उनकी दिनचर्या की अपरिहार्य विशेषतायें रही हैं ।

दूसरी अनिवार्य शर्त के अनुरूप उन्होंने सादगी का भी वरण किया । समय पर जो मिल गया खा लिया और साधारण से साधारण कपड़ा भी पहन लिया । यद्यपि उन्हें किन्हीं भी वस्तुओं का अभाव नहीं था फिर भी उन्होंने सादा और सरल जीवन जिया क्योंकि बाहरी रखरखाव, फैशन, श्रृंगार में ही समय व्यतीत कर देने वाला व्यक्ति अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल कहाँ हो पाते हैं ।

राजनीति में भी उन्होंने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रवेश किया और प्रशासन के कई महत्वपूर्ण पदों पर रहते हुए देश की सेवा की । सन् १९३८ में वे उत्तरप्रदेश मंत्रिमंडल के शिक्षामंत्री बने । बाद में स्वतन्त्र भारत की उत्तर प्रदेश सरकार के मुख्यमंत्री भी रहे । इन उत्तरदायित्व पूर्ण पदों पर रहते हुए भी अपने दल के ही लोगों से भारतीय संस्कृति को आघात पहुँचाने वाली नीतियों से कभी समझौता नहीं किया । पिछले दिनों हिन्दी के प्रश्न पर उनके मतभेद ने ही उन्हें सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति बना दिया था ।

भारतीय संस्कृति के अनन्य पोषक होते हुए भी उन्होंने उन परम्पराओं का कभी समर्थन नहीं किया जिन्होंने देश और समाज को अपार हानि पहुँचाई थी तथा जिनका आधार केवल अन्धविश्वास मात्र था । ब्राह्मण और जातिवाद के खिलाफ उन्होंने कलम उठाई और जो तर्कपूर्ण विचार दिये उससे ब्राह्मण समाज में खलबली पैदा हो गयी । ब्राह्मणत्व का आधार जन्म और वंश नहीं कर्म और स्वभाव मानते हुए उन्होंने 'ब्राह्मण सावधान' पुस्तक में लिखा-जन्म अयोग्य ब्राह्मण ही शुद्ध ब्राह्मणत्व के आह्वान को गलत ढंग से आत्मनिन्दा समझने की मूर्खता करता है । यह कट्टरपन्थी ब्राह्मणों का ही प्रसाद था कि तुलसी को काशी के बाहर रहना पड़ा । दयानन्द को दम्भी पण्डितों और कठमुल्लाओं की यह नगरी छोड़नी पड़ी ।'' इस कथन की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई परन्तु उन्होंने बड़ी निडरता के साथ अपना मत प्रतिपादित किया । उनकी दृष्टि में संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में स्वार्थी तथा संकुचित मनोवृत्ति के लोगों द्वारा हस्तक्षेप के कारण उत्पन्न हुई इन प्रवृत्तियों को दूर करना आवश्यक हो गया था ।

अन्धविश्वास के विरोध और स्वस्थ परम्पराओं का समर्थन उन्होंने अपनी स्वयं की विवेक बुद्धि के आधार पर ही किया । यही कारण है कि उन्हें राजनायक, साहित्यकार, सामाजिक कार्यकर्ता और शिक्षा शास्त्री की अपेक्षा एक दार्शनिक के आधार पर अधिक प्रतिष्ठा मिली है । तार्किकता की प्रधानता उनके दर्शन को सर्वथा एक नया रंग दे गयी है । उन्होंने संसार की विभिन्न विचार-धाराओं का अध्ययन किया और न्याय तथा व्यवस्था की स्थापना के लिए समाजवाद को सर्वाधिक समर्थ पाया । परन्तु समाजवाद की आत्मा में भी उन्होंने भारतीय अध्यात्म के दर्शन हुए और उसकी उद्भवस्थली भारतभूमि ही दिखाई दी । समाजवाद की जो व्याख्या उन्होंने की है वह कोई विदेशी आयातित सिद्धान्त नहीं वरन् विशुद्ध भारतीय चिंतनधारा है । इसी कारण एक बार महात्मा गाँधी ने स्वयं उनसे कहा था ''ऐसा लगता है कि समाजवादी होते हुए भी तुम वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते हो ।''

डॉक्टर साहब ने स्वीकार करते हुए भारतीय समाजवाद को ही यहाँ की भूमि और समाज के अनुकूल बताया था ।

उनके जीवन की और भी सबसे बड़ी विशेषता है स्वानुभूतियों पर विश्वास । भारतीय संस्कृति के प्रति उन्होंने केवल विश्वास ही नहीं किया वरन् उनकी सत्यता को परखा भी सही । योग और तन्त्र जैसी साधना पद्धतियों में वे बहुत गहराई तक उतरे और उसके बाद प्राप्त निष्कर्षों को उन्होंने सर्वसाधारण के सामने रखा । स्वयं उन्होंने यह स्वीकार करते हुए लिखा है-''मैंने योग और ज्ञान पर स्वानुभूति के प्रकाश में ही लिखा है इसलिए वह सब मेरे दृढ़ विश्वास की अभिव्यंजना ही है ।'' उनके परिवार में कई योगी महात्मा आया करते थे, वे स्वयं भी अनेकों बार संत पुरुषों के पास गये और इस विषय में उनका परामर्श प्राप्त किया ।

भारतीय जीवन के समग्र साधक होने के नाते ही वे स्वतन्त्रता-सैनिक, मुख्यमंत्री, राज्यपाल, अध्यापक, वेदशास्त्र, मर्मज्ञ, योगाभ्यासी, समाज-सुधारक, साहित्यकार, हिन्दी के प्रबल प्रचारक आदि अनेक रूपों में सामने आये । उनका जीवन बौद्धिक अनुशासन के अगणित संघर्षों की कहानी है । जिस बात को अच्छा और वरणीय समझ लिया उसे अंत तक पूरी करने का प्रयत्न उन्होंने आजीवन किया । हिन्दी का प्रश्न हो या समाजवाद का, विश्वास और अंधविश्वास, परम्परायें और अन्ध-परम्परायें सभी के निर्धारण में उन्होंने विवेक और नीर-क्षीर विषयक बुद्धि के बल पर अनुशासित और नियमबद्ध ढंग से अपना पक्ष सामने रखा तथा लाख विरोध सहने के बावजूद भी औचित्य के समर्थन से मुँह नहीं मोड़ा ।

समाज के हर क्षेत्र में सक्रिय होने के बावजूद भी वे आत्म-प्रशंसा से कोसों दूर रहे । अपने आरम्भिक कर्म-क्षेत्र के प्रति उनकी अनुरक्ति किंचित भी कम नहीं हुई । काशी विद्यापीठ से उनका शुरू से ही सम्बन्ध रहा । यह सम्बन्ध उनके शिक्षा प्रेम का ही प्रमाण है । सरस्वती के इस वरद पुत्र का देहान्त ९ जनवरी, १९६९ को हुआ ।

कर्मयोग के उपदेष्टा–

लोकमान्य तिलक

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में भारत वर्ष में प्लेग की संक्रामक वृद्धि का प्रकोप बड़ी तीव्रता से दिखाई दिया था । यह बीमारी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को इस प्रकार उड़कर लगती थी कि बड़े-बड़े साहसी इसके नाम से काँपते थे । कलकत्ता जैसा सबसे बड़ा नगर इसके आतंक से कुछ समय के लिए उजाड़ हो गया था और उसकी रक्षा के लिए सेना की सहायता लेनी पड़ी थी । इसी व्याधि का आक्रमण जब पूना शहर पर हुआ तो वहाँ की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई । इसकी व्यवस्था के लिए जो गोरे अफसर और सिपाही वहाँ नियुक्त किये गये थे उनका व्यवहार जनता के साथ कठोर और अपमान-पूर्ण था, जिससे प्लेग के साथ ये सरकारी कर्मचारी जनता को और भी बड़ी बीमारी की तरह जान पड़ने लगे । यह असन्तोष का भाव इतना अधिक फैल गया कि दो युवकों ने 'रैण्ड' नामक अँग्रेज अफसर को पिस्तौल से मार दिया ।

इस घटना से अँग्रेज अधिकारी क्रुद्ध हो उठे और चारों ओर दमन की धूम मचा दी । जिससे जनता घबरा उठी । सरकार की इस नीति का विरोध किया तिलक ने साथ ही दमन करने वाले अधिकारियों को दोषी ठहराया । उस पर सरकार ने तिलक को मानहानि का दोषी बतलाकर गिरफ्तार कर लिया और मनचाही कार्यवाही करके १८ महीनों की कड़ी कैद की सजा सुना दी । जेल में उन्हें अनेक प्रकार की यातनायें दी गयीं, उनसे सब प्रकार का कार्य कराया गया और खाने को खराब भोजन दिया गया । जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर हुआ परिणामतः वे बीमार हो गये । यह समाचार जब प्रकाशित हुआ तो भारत ही नहीं इंग्लैण्ड में भी उसका विरोध किया गया और मैक्समूलर, सर विलियम हंटर, विलियम केन, दादा भाई नौरोजी जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इंग्लैण्ड की सरकार से कहा कि तिलक के समान विद्वान व्यक्ति के साथ इस प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाना कलंक की बात होगी । इन सब प्रभावशाली सज्जनों के प्रयास से अन्त में तिलक को एक वर्ष बाद छोड़ दिया गया ।

श्री बालगंगाधर तिलक (सन् १८५६-१९२०) ने प्रारम्भ से ही जनता की सेवा का व्रत ले रखा था । सन् १८७९ में बी० ए० तथा एल-एल० बी० की परीक्षा पास कर लेने पर घर वाले तथा इष्ट मित्र यह आशा सँजोए बैठे थे कि वे अब वकालत में खूब पैसा कमाएँगे और वंश के गौरव तथा वैभव की वृद्धि करेंगे । किन्तु तिलक कुछ और ही करना चाहते थे । उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सेवायें एक शिक्षा संस्थान के निर्माण के लिए अर्पित कर दीं । इसके परिणामस्वरूप सन् १८८० में 'न्यू इंगलिश स्कूल' और उसके चार-पाँच वर्ष बाद 'फर्ग्युसन कॉलेज' की स्थापना की गई । यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि महाराष्ट्र में जो उल्लेखनीय जन-जाग्रति और सामाजिक उत्थान की योजनाएँ हुई उनका श्रेय मुख्यतः इन दो शिक्षा संस्थाओं से पढ़कर निकलने वाले विद्यार्थियों को ही है ।

लोकमान्य तिलक ने जन-जाग्रति का कार्यक्रम पूरा करने के उद्देश्य से महाराष्ट्र में दो राष्ट्रीय त्यौहारों का प्रचलन किया । इनमें से एक था 'गणपति उत्सव' और दूसरा था 'शिवाजी जयन्ती' गणपति की मान्यता महाराष्ट्र में प्राचीनकाल से है और उस त्यौहार को पुराने ढंग से बराबर मनाया जाता था । तिलक जी ने बंगाल की दुर्गापूजा की तरह उसे एक सप्ताह तक पूजने और साथ में तरह-तरह के राष्ट्रीय तथा सामाजिक महत्व के कार्यक्रम सम्मिलित कर उसे लोकशिक्षण का माध्यम बना दिया । शिवाजी महाराज का उदाहरण तो राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनुपम है ही । उन्होंने विदेशियों के आक्रमण से स्वधर्म और स्वदेश की रक्षा के लिए ही आजन्म कार्य किया । इन उत्सवों के कारण दो-तीन वर्षों में ही ऐसी जन-जाग्रति हुई कि सरकार उससे डरने लग गई और उसने ऐसी चाल चली कि पूना और बम्बई में भयंकर हिन्दू मुस्लिम दंगे प्रारम्भ हो गए । सरकार ने इसका दोषारोपण 'शिवाजी जयन्ती' पर किया कि उसी के कारण मुसलमान रुष्ट हो गए और हिन्दुओं से लड़ बैठे । पर तिलक जी उनकी इस प्रकार की चाल से विचलित नहीं हुए । बल्कि निर्भीक होकर उन्होंने अपने पत्र 'केसरी' साप्ताहिक में लिखा–

मैं समझता हूँ कि इन झगड़ों का कारण सरकार ही है । उसकी पक्षपातपूर्ण नीति के कारण दंगों की शुरूआत होती है । देश में इस समय हिन्दू-मुस्लिम द्वेष के बीज बोये जा रहे हैं । लार्ड डफरिन की भेद नीति ही इन दंगों का मूल है ।''

वे राष्ट्रीयता का महत्व समझते थे और ऐसी सामयिक घटनाओं तथा दस-बीस व्यक्तियों के मारे जाने से घबरा कर पीछे कदम रखने वालों में से नहीं थे । यद्यपि बम्बई में मुस्लिम-गुण्डों द्वारा हिन्दुओं की अधिक हानि हुई थी तो भी तिलक जी ने अपने अनुयायियों को ऐसी बातों से आतंकित न होने का उपदेश दिया, उन्हें ढाँढ़स बँधाया– ''यदि मुसलमान पशुता एवं अमानुषिक कृत्यों पर तुल गये हैं तो तुम्हें भी तत्काल रक्तपात और अनुचित उपायों का आलम्बन नहीं करना चाहिए । संगठन में शक्ति निहित होती है । संगठन द्वारा अपने को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयास करो । जब तुम शक्तिशाली हो जाओगे तो दंगे होंगे ही नहीं ।''

लोकमान्य तिलक का यह कथन समय आने पर सत्य सिद्ध हुआ । सरकार की भेदनीति ने जब मुस्लिम लोगों को महत्त्व देकर हिन्दू-मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त स्वीकार किया तो सन् १९२० के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे भयंकर रूप से भड़क उठे थे । उनमें प्रारम्भ में तो हिन्दुओं को हानि उठानी पड़ी, पर एक दो

बार में जब वे ऐसी घटनाओं के लिए संगठित होकर गुण्डों का मुकाबला करने लगे तो उपद्रवियों का उत्साह टूट गया और फिर दंगे स्वयमेव ही कम होते चले गये।

इस प्रकार सरकार से तिलक जी का संघर्ष बढ़ता ही गया। वे सामाजिक तथा राष्ट्रीय प्रगति के लिए जनता को तरह–तरह से प्रेरणा देते थे और विदेशी सरकार को इसमें अपनी जड़ कटती जान पड़ती थी। इसलिए सन् १९०७–०८ में तिलक जी ने काँग्रेस को सरकार के मुकाबले में क्रान्तिकारी कार्यक्रम अपनाने की प्रेरणा दी तो सरकार बौखला गई और उसने उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर छह वर्ष के देश निकाले का दण्ड दे दिया। उसका स्पष्ट आशय यही था कि जब तक वे भारतीय जनता के निकट रहेंगे तब तक उनका व्यक्तित्व सर्वसाधारण को प्रभावित करता ही रहेगा। इसलिए उनको बर्मा की माँडले जेल में रखा गया, जहाँ न कोई उनकी भाषा समझने वाला था और न उनसे किसी प्रकार परिचित। सरकार के उद्देश्य को समझकर लोकमान्य ने भी अपना ध्यान सब तरफ से हटाकर 'गीता' का अध्ययन आरम्भ कर दिया और छ वर्ष में उसका एक प्रेरणाप्रद भाष्य तैयार किया और जिससे भारतीय जनता स्वयं ही कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा प्राप्त करती रह सकती थी।

'श्री भागवद्‌गीता' सत् सिद्धान्तों की कैसी अपूर्व खान है, इसको विद्वान लोग भली प्रकार जानते हैं। कहने को तो यह सात सौ श्लोकों की एक छोटी–सी धार्मिक पुस्तक है, जिसका लाखों व्यक्ति हर रोज पाठ भी कर लेते हैं पर उनमें मानव कर्त्तव्यों का इस खूबी से निरूपण किया गया है कि प्रत्येक देश, काल, परिस्थिति में लोगों का सही मार्ग दर्शन कर सकती है। यही कारण था कि सन् १९०५ से आरम्भ होने वाले स्वाधीनता आन्दोलन में भी विद्वानों ने उसका सहारा लिया और अरविन्द, तिलक, गाँधी, विनोबा आदि जैसे महान विचारकों ने उसके सिद्धान्तों की समयानुकूल व्याख्या करके भारतीय जनता को अपने न्यायपूर्ण अधिकारों के संघर्ष में निर्भय बना दिया। लोकमान्य का गीता रहस्य उनके जेल से छुटकारे के बाद जब प्रकाशित हुआ तो उसका प्रचार आँधी तूफान की तरह बढ़ा और आज कई वर्ष हो जाने पर भी उसके महत्व में कमी नहीं हुई है।

लोकमान्य तिलक यद्यपि कट्टर धार्मिक हिन्दू थे और राजनीति की तरह धर्म की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहते थे, पर वे हानिकारक रूढ़ियों के समर्थक न थे। लोकमान्य के जीवन में धार्मिकता, सामाजिकता और राजनीति का इस प्रकार समन्वय हुआ था कि वर्तमान युग में वह भारतीय जनता के लिए सबसे बड़ा आदर्श थे।

महान उद्देश्य के लिए पत्नियाँ भी आत्मोत्सर्ग करें

"मैं आ गया हूँ।"

"आप आ गये"–बिस्तर पर रुग्णावस्था में पड़ी सत्यभामा ने आँखों को खोलने का असफल प्रयास करते हुए कहा।

हाँ सत्यभामा! तुमसे मिलने के लिए सरकार ने मुझे बिना शर्त रिहा कर दिया। आँख खोलकर जरा इधर तो देखो–सत्यभामा के प्रति पति ने कहा।

"ठीक ही हुआ कि आप आ गये। मन में आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। भगवान बहुत दयालु हैं उसने मेरी पुकार सुन ली।"

"अच्छा! सत्यभामा तुमने मुझे पहचान लिया है।"

"हाँ पहचानूँगी क्यों नहीं"–अचेतावस्था में भी अपने पति की आवाज को पहचान लेने की स्वीकारोक्ति में कहा–"मैंने आपकी आवाज पहचान ली है। मेरे माथे पर आपने यह जो अपना हाथ रखा है यह भी पहचाना, सब कुछ पहचाना है। कितने कमजोर हो गये आप। यात्रा के कारण आपके पाँव थक गये होंगे, उन्हें मेरी ओर इधर कर दीजिए ताकि मैं आपकी चरण सेवा कर सकूँ।"

"नहीं सत्यभामा नहीं" सत्यभामा के पति ने कहा–"इसकी कोई जरूरत नहीं। मैं बिल्कुल ठीक हूँ अब तुम भी जल्दी ठीक हो जाओ।"

"क्यों नहीं अब आप आ गये हैं तो मैं अवश्य ठीक हो जाऊँगी" सत्यभामा ने कहा और अपने पुत्रियों को पुकारने लगी।

"क्यों क्या चाहिए तुम्हें ? मुझे बताओ।"

"मुझे क्या चाहिए। मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए। आपको छोड़कर और क्या चाहूँगी। आपको हम सबसे अधिक आजादी प्रिय है यह और अधिक सुखद स्थिति चाहिए।"

यह सब बातें सत्यभामा बाई स्वप्न में कर रही थी। रुग्ण शैय्या पर पड़ी हुई अपनी अन्तिम घड़ियों में देश निर्वासित पति लोकमान्य तिलक को अपने सन्निकट देखकर।

सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक को छह वर्ष के लिये देश निर्वासन की सजा दी गयी थी। उन दिनों उनकी धर्मपत्नी मधुमेह की बीमारी से चिन्ताजनक स्थिति में थी दूसरी ओर लोकमान्य माण्डले की जेल में देश निर्वासन की भयानक सजा काट रहे थे। यह उनकी तीसरी जेल यात्रा थी। पत्नी अस्वस्थ–दाम्पत्य जीवन में दोनों की अगाध निष्ठा और प्रगाढ़ प्रेम फिर भी प्रेम अपने लक्ष्य पूर्ति के कार्य में बाधक नहीं बनता।

पुरुष का मनोबल ऊँचा उठा रहे इसका अधिकांश श्रेय पत्नियों को ही दिया जाना चाहिए और वस्तुतः वे अपने आत्मिक एवं उत्कृष्ट प्रेम के माध्यम से अपने पति में प्रेरणा, उत्साह और साहस भरती रहती हैं । दाम्पत्य की सार्थकता यही है ।

तिलक ने स्वातन्त्र्य समर में जो अपराजय साहस और दृढ़ता बनाये रखी उसकी प्रेरणा उनकी धर्मपत्नी सत्यभामा से ही मिली । जिन्होंने अस्वस्थ होते हुए भी तिलक से सदैव यही कहा कि-आप लोकमान्य हैं । जनता आपको अपना नेता मानती है इसलिए आपकी अणुमात्र निर्बलता भी सर्वसाधारण पर पहाड़ बनकर गिरेगी जिससे राष्ट्र का आत्मसम्मान कुचल जायगा ।

तिलक की गिरफ्तारी से देश का वातावरण बहुत प्रक्षुब्ध हो उठा था । यह अपने ढंग का एक ऐसा राजनीतिक अभियोग था जिसमें पहली बार किसी जनप्रिय, देशभक्त और सामान्य नेता को गिरफ्तार किया गया हो । जब उनको देश निर्वासन की सजा सुनायी गयी तो उनके अनुयायियों तथा मित्रों के साथ ही उनकी पत्नी सत्यभामा बाई को भी बड़ा दुःख हुआ । परन्तु सत्यभामा ने जो उद्‌गार व्यक्त किये वे इस बात का द्योतक हैं कि अपने पति के लक्ष्य के प्रति ईमानदारी से वे कितनी संतुष्ट थीं । उन्होंने कहा-"जूरी के निर्णय से क्या होता है । ईश्वर की सत्ता न्यायालय से भी ऊँची शक्ति है । उसकी इच्छा है कि जिस लक्ष्य के लिए वे प्रयत्नशील हैं । उनकी पूर्ति में उनकी स्वतन्त्र रहने की अपेक्षा उनका कष्ट सहना ज्यादा सहायक है ।"

श्रीमती सत्यभामा ५१ वर्ष जीवित रहीं और तिलक की जीवनसंगिनी के रूप में ४१ वर्ष तक उनका साथ रहा । जिसमें तिलक अधिकांशतः स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान बाहर जेल में रहे । प्रत्यक्षतः दम्पत्ति साथ भले ही न रहे हो परन्तु जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तिलक आतुर थे उनकी पत्नी भी प्राणपण से उनकी साथी-सहयोगी बनी रही ।

सत्यभामा का विवाह दस वर्ष की अल्पायु में ही सोलह वर्षीय बाल गंगाधर के साथ हो गया । तत्कालीन दहेज प्रथा के अनुसार तिलक से जब पूछा गया कि-दहेज में तुम्हें क्या चाहिए । ?

तिलक ने तब रुपये और वस्त्राभूषणों के स्थान पर पढ़ने योग्य पुस्तकें माँगीं । अबोध बालिका के मन पर इसका परोक्ष प्रभाव पड़ा और वे सोचती रहीं कि पति के रूप में उन्हें एक देव पुरुष मिला है । आगे चलकर उनके जीवन में इसी घटना का परिणाम परिलक्षित होता है । वे जब सत्रह अठारह वर्ष की रही होंगी । तभी तिलक ने बी० ए० पास करने के बाद एल-एल० बी० की परीक्षा पास कर ली थी । इस सफलता पर उनके चाचा प्रसन्न ही नहीं हुए अपने भतीजे के भावी सुखमय पारिवारिक जीवन के बारे में भी बहुत कुछ सोचने लगे ।

वे सोचते अब मेरा भतीजा बाल गंगाधर वकील या उच्च अधिकारी बनकर पर्याप्त धन और मान अर्जित करेगा । परन्तु तिलक तो बहुत पहले ही अपना जीवन राष्ट्रीय आन्दोलन को समर्पित करने का संकल्प ले चुके थे । इस संकल्प के अनुरूप तिलक के साथ-साथ सत्यभामा ने भी अपने व्यक्तित्व को ढाल लिया था । उसी समय की एक घटना है । जिस दिन बाल गंगाधर की एल-एल० बी० परीक्षा का परिणाम घोषित हुआ उनके चाचा का आनन्द बहुगुणित विस्तार पा उठा । उन्होंने अपने भतीजे की पत्नी को एक कीमती साड़ी खरीद कर दी । सत्यभामा ने कहा 'इतनी कीमती साड़ी पहनना इस दरिद्र देश की स्त्री को, कम से कम मुझे तो शोभा नहीं देता ।' इस पर तिलक के चाचा और बधाई देने के लिए आई महिलाओं ने कहा-अब तो तुम्हारे पति बहुत बड़े वकील होंगे । सरकार में उनकी बड़ी इज्जत होगी तब फिर उनके साथ-साथ तुम भी सम्मान प्राप्त करोगी । उसी सम्मान के लिये यह साड़ी लायी गयी है ।

तिलक भी वहीं उपस्थित थे । तत्काल उन्होंने दो टूक जवाब दिया-"सरकारी नौकर बनकर गुलामों और 'जी हुजूरों' की संख्या बढ़ाने के लिये मैंने ऊँची शिक्षा नहीं ली है । बल्कि मैं अपनी शिक्षा द्वारा देशवासियों में स्वातन्त्र्य भावना और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न कर स्वराज्य शाही के लिए उन्हें प्रेरित करूँगा । इस निश्चय की पूर्ति के लिए समाज को शिक्षित करना पड़ेगा और इसी कारण मैंने शिक्षक बनने का फैसला किया है । ऐसी स्थिति में धन, मान तथा सम्मान की अभिलाषा करना व्यर्थ है । सत्यभामा को अभी से ही ऐसी कीमती साड़ी पहनने का मोह टालना मेरे विचार से उचित ही है ।"

लोकमान्य तिलक ने जैसा कहा वैसा ही किया और वे अत्यल्प वेतन पर चिपलूणकर द्वारा संस्थापित 'न्यू इंगलिश स्कूल' में शिक्षक बन गए । १८८१ में साझेदारी से 'केसरी' का सम्पादन और प्रकाशन आरम्भ किया । आगे चलकर इस पत्र की सभी जिम्मेदारियाँ उन्होंने अपने ऊपर ले लीं । केसरी के सम्पादन और प्रकाशन के साथ-साथ उनका सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन व्यापक होता गया और ज्यों-ज्यों वे अपने इस अभियान में अधिक जुटते गये त्यों-त्यों पारिवारिक जीवन से दूर हटते गये । ऐसी स्थिति में सत्यभामा बाई ने खीझने और ऊब उठने की अपेक्षा बड़े धैर्य का परिचय दिया । उन्होंने अपना कर्त्तव्य समझकर उसे बड़ी दक्षता के साथ पूरा किया । वस्तुतः जनजागरण के लिए काम करने में निरन्तर लगे रहने का अवसर देने का अधिकांश श्रेय सत्यभामा बाई को ही है, घर की जिम्मेदारी से मुक्त

रहकर राष्ट्रकार्य करने की सुविधा श्रीमती सत्यभामा निरन्तर देती रहीं ।

महान उद्देश्यों के प्रति संकल्पनिष्ठ और उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्नशील महामानवों का दाम्पत्य भी महान और विलक्षण होता है तथा उनकी पत्नियाँ परोक्ष में रहते हुए भी महान होती हैं ।

गौरी व्रत

एक बार किसी ने लोकमान्य तिलक से पूछा–"भारत में स्त्रियाँ अच्छा वर पाने के लिए गौरी व्रत करती हैं, लेकिन पुरुषों के लिए ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं है ?" उत्तर मिला–"भारत की स्त्रियाँ सभी अच्छी हैं–कठिनाई केवल अच्छे पुरुष ढूँढ़ने की है । इसीलिए स्त्रियों को गौरी व्रत की सहायता लेनी पड़ती है । उपवास आदि विश्व भर में भारत की स्त्रियाँ ही सबसे ज्यादा करती हैं ।

दृढ़ निश्चयी बालक

अध्यापक ने देखा कक्ष गन्दा पड़ा था । छात्रों ने कुछ चीजें खाकर छिलके वहीं फेंक दिये थे । उन्होंने सबको अपनी-अपनी सीटों की सफाई करने को कहा । सब लड़कों ने सफाई की पर एक लड़का यों ही बैठा रहा । अध्यापक ने उसे डाँटा–"तुम सफाई क्यों नहीं करते ।"

"जब मैंने सीट गन्दी की ही नहीं तो साफ क्यों करूँ ।" छात्र ने निर्भीकता से उत्तर दिया । अध्यापक ने उसे दोबारा कहा, सफाई करने के लिये । किन्तु वह अपनी बात पर अटल रहा । बात आगे बढ़ी । पिता से शिकायत की गयी । अन्त में अध्यापक को पता चला कि यह छात्र अन्य छात्रों से भिन्न है । गलत काम और जोर-जबरदस्ती उसके साथ नहीं चल सकती । यह छात्र थे लोकमान्य तिलक ।

दूसरों को अधिक अपनों को कम

"बेटा ले ये दो टुकड़े मिठाई के हैं । इनमें से यह बड़ा टुकड़ा तू स्वयं खा लेना और छोटा टुकड़ा अपने साथी को दे देना ।" "अच्छा माँ" और वह बालक दोनों टुकड़े लेकर बाहर आ गया अपने साथी के पास । साथी को मिठाई का बड़ा टुकड़ा देकर छोटा स्वयं खाने लगा । माँ यह सब जंगले में से देख रही थी, उसने आवाज देकर बालक को बुलाया । "क्यों रे ! मैंने तुझसे बड़ा टुकड़ा खुद खाने और छोटा उस बच्चे को देने के लिए कहा था, किन्तु तूने छोटा स्वयं खाकर बड़ा उसे क्यों दिया ?" वह बालक सहज बोली में बोला माताजी ! दूसरों को अधिक देने और अपने लिए कम से कम लेने में मुझे अधिक आनन्द आता है ।" यह बालक था–बाल गंगाधर तिलक । माताजी गम्भीर हो गईं । वह बहुत देर विचार करती रहीं बालक की इन उदार भावनाओं के सम्बन्ध में ।

परिणाम से बेखबर

लोकमान्य तिलक को छह वर्ष के कारावास की सजा देने के लिए ले जाया जा रहा था । दूसरी श्रेणी में एक बर्थ पर तिलक और उनके सामने साथ वाले दोनों सैनिक अधिकारी बैठे थे ।

रात के नौ बजे । तिलक का सोने का समय हो गया । पगड़ी, अँगरखा और दुपट्टा उतार करके सोने की तैयारी करने लगे । पाँच मिनट में ही उन्हें गहरी नींद आ गयी ।

सुबह पाँच बजे वे सोकर उठे । उतनी गहरी नींद लेते देखकर अधिकारियों को आश्चर्य हुआ । पूछा–"आप जानते हैं कि आपको कहाँ ले जाया जा रहा है और वहाँ क्या सजा दी जायगी । फिर भी इतनी निश्चिन्ततापूर्वक कैसे सो सके ।"

तिलक ने कहा–"यह जानने की मुझे क्या आवश्यकता है । परिणाम को जानकर ही मैं इस क्षेत्र में आया हूँ । चिन्ता होती तो इस क्षेत्र में प्रविष्ट ही क्यों होता ?"

सबसे बढ़कर पूजा

लोकमान्य तिलक काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के लिये लखनऊ आये । लखनऊ काँग्रेस में कार्यक्रम अत्यन्त व्यस्त था, क्योंकि इसके दौरान विभिन्न दलों और गुटों में एकता स्थापित करने के लिये बातचीत हुई थी । अधिवेशन में एक दिन लोकमान्य बहुत तड़के से व्यस्त रहे और दोपहर तक एक क्षण के लिये भी अवकाश न पा सके । बड़ी कठिनाई से उन्हें भोजन के लिए उठाया जा सका । भोजन के समय परोसने वाले स्वयंसेवक ने कहा–"महाराज ! आज तो आपको बिना पूजा किये ही भोजन करना पड़ा ।" लोकमान्य गम्भीर हो गये । बोले–"अभी तक जो हम कर रहे थे, क्या वह पूजा नहीं थी ? क्या घन्टी-शंख बजाना और चन्दन घिसना ही पूजा है ? समाज-सेवा से बढ़कर और कौन-सी पूजा हो सकती है ?"

कर्त्तव्य-निष्ठा

पूना में उन दिनों भयंकर प्लेग फैला था । लोकमान्य तिलक का बड़ा पुत्र प्लेग से पीड़ित हो गया । पुत्र की दशा चिन्ताजनक होने के बावजूद तिलक 'केसरी' के अंक का अधूरा काम पूरा करने के लिए कार्यालय जाने को तैयार हो गये । किसी ने उन्हें टोका, "लड़का मौत से जूझ रहा है, अगर आज आप कार्यालय न जाये तो क्या काम न चलेगा ?"

गम्भीर एवं संयत स्वर में तिलक ने उत्तर दिया, "सारा महाराष्ट्र 'केसरी' की प्रतीक्षा में बैठा है, तब न जाकर भला कैसे काम चलेगा ?"

रिश्वत देने की अपेक्षा जातिच्युत होना भला

लोकमान्य तिलक विदेश जाना चाहते थे । उन दिनों समुद्र-यात्रा का पण्डिताऊ निषेध था । जो जाता जातिच्युत कर दिया जाता । बचाव का एक ही रास्ता था-काशी के पंडितों द्वारा किसी कारण दी गई छूट व्यवस्था ।

तिलक ने अच्छा समझा कि जातिच्युत के झंझट में पड़ने की अपेक्षा पंडितों से व्यवस्था लिखवा ली जाये । वे इसके लिए काशी गये भी ।

वहाँ उनसे इसके लिए पाँच हजार माँगे गये । तिलक यह कहते हुए लौट आये-"रिश्वत देने की अपेक्षा तो जातिच्युत होना भला"

वे बिना व्यवस्था के ही विदेश चले गये ।

बाद की चिन्ता

लोकमान्य तिलक अपने भविष्य के विषय में कभी विचार नहीं करते थे । उन्होंने अपनी भरी जवानी में पूना में न्यू इंगलिश स्कूल नामक एक विद्यालय की स्थापना की थी । उसमें कार्य करते हुए वे वेतन के रूप में अपने निर्वाह के लिये केवल तीस रुपये लेते थे । एक दिन उनके एक मित्र ने कहा-"इतनी छोटी-सी राशि में से तो आप अपने देहावसान के बाद शरीर के दाह संस्कार के लिये भी कुछ नहीं बचा सकेंगे ।" तिलक जी ने धीरे-गम्भीर स्वर में कहा-"इसकी चिन्ता समाज को होनी चाहिए । यदि लोगों को ठीक प्रतीत होगा तो वे देह की अग्नि संस्कार कर देंगे ।"

निडरता की मूर्ति

सन् १९१६ की २३ जुलाई को लोकमान्य तिलक की ६० वीं वर्षगाँठ थी । पूना में हीरक जयन्ती मनाने की तैयारियाँ धूमधाम से की गईं । लोग अपने प्रिय नेता का जन्म दिन मनाने के लिये हजारों की संख्या में एकत्र हुये ।

बड़े ही मधुर वातावरण में गीत, वाद्य, भाषण आदि चल रहे थे तभी स्टेज पर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट दिखाई दिये । ब्रिटिश हुकूमत में एक पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आज के एक आई० जी० से बढ़कर ताकत रखता था । उसे रंगमंच पर चढ़ते देखकर लोगों के होश गुम हो गये ।

किन्तु तिलक निश्छल, शान्त और प्रसन्न मुद्रा में ही बैठे रहे । पुलिस कप्तान ने उनके हाथ में एक कागज दिया जिसमें सरकार के खिलाफ भाषण देने पर उनसे चालीस हजार के जमानत व मुचलके माँगे गये थे । न देने पर जेल भेजने की धमकी भी थी । कोई और होता तो घबड़ा जाता पर कर्मयोगी तिलक ने कागज हाथ में लिया और जेब के हवाले कर दिया । थोड़ी ही देर में कार्यक्रम फिर यथावत् चलने लगा । ऐसा लगा मानो उनके साथ कोई घटना ही न घटी हो ।

देश को महाशक्ति बनाने वाले–

माओ-त्से-तुंग

अब से पचास-साठ वर्ष पूर्व विश्व के नक्शे पर चीन का नाम जरा भी नहीं था । कहीं कभी चर्चा भी चलती इस देश की तो लोग यह कहकर तुरन्त चर्चा रोक देते कि यह तो अफीमचियों और आलसियों का देश है । एक बार चीन में एक भयंकर अकाल पड़ा । लोग भूख के मारे मरने लगे । विश्व के उदार और धनी देशों ने चीनी जनता को भूख की मौत से बचाने के लिए अनाज से भरा हुआ एक जहाज भेजने का निश्चय किया ।

जहाज जब रवाना हुआ और इसकी खबर चीनी जनता को मिली तो यहाँ के लोगों ने निश्चय किया कि हम मर जायेंगे, पर विदेशी सहायता स्वीकार नहीं करेंगे । सहायता भेजने वाले राष्ट्रों के नेताओं ने चीनी जनता की यह स्वाभिमान भरी घोषणा सुनी तो हतप्रभ रह गये । एक समय के अफीमची, नशेबाज, काहिल और सुस्त कही जाने वाली जनता में ऐसा मनोबल कहाँ से जाग्रत हो गया ? इसका श्रेय दिया जाता है आधुनिक चीन के निर्माता माओ-त्से-तुंग को । माओ-त्से-तुंग अपने जीवन काल में विश्व के सर्वाधिक विवादास्पद व्यक्ति रहे । जितना यह सही है उतना ही यह सही है कि उन्होंने अपना सारा जीवन विश्व की सर्वाधिक आबादी वाले देश चीन का नवीन कायाकल्प करने में लगा दिया और एक बड़ी सीमा तक वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल भी हुए ।

चीनी जनता द्वारा चलाये गये मुक्ति संघर्ष के दौरान माओ को लगातार बीहड़, भयानक और विशाल जंगलों में रहना पड़ा, खाइयों, खन्दकों तथा ऊँचे पर्वतों और गुफाओं में अपने परिवार को बसाना पड़ा । कड़-कड़ाती ठण्ड और झुलसा देने वाली गर्मी तथा घनघोर बारिश में तूफानी थपेड़ों को सहते हुए उन्होंने अपने नेतृत्व को सार्थक किया और मुक्ति सेना को आगे बढ़ाया । सामने नदियाँ बहती थीं, वन और पर्वत थे तथा पीछे रहती थी बुर्जुआवादी, शासनतंत्र की सफेद सेना । इस अभियान के दौरान वर्ष भर में माओ को बारह प्रदेशों की पैदल यात्रा करनी पड़ी । लगभग सात हजार मील जमीन उन्होंने नापी और चौबीस

नदियों को पार किया । यही नहीं इस अभियान में उन्होंने अपने दो प्राणप्रिय बच्चों का मोह भी छोड़ा और यूनान पहाड़ी के छोटे से गाँव में एक अपरिचित महिला के पास अपने बच्चों को छोड़ा । यूनाई गाँव की उस स्त्री से माओ तथा उनकी पत्नी का इतना ही परिचय था कि वह उनके बीमार बच्चों के हाल पूछने आयी थी और सारी स्थिति से अवगत होकर बच्चों को अपने पास छोड़ जाने का प्रस्ताव कर बैठी थी ।

संसार में सबसे ज्यादा आबादी वाले देश में क्रान्ति का इतना सफल संचालक और फिर देश का नया निर्माण करने वाले माओ-त्से-तुंग का जन्म १९ नवम्बर सन् १८९३ को हुआ था । उनके पिता मध्यवर्गीय किसान थे पर और अन्य लोगों से उनकी माली हालत अच्छी थी । पर परिवार पर कर्ज काफी चढ़ा हुआ था । उस कर्ज को चुकाने के लिए माओ के पिता शून-शेन को काफी समय तक सिपाही की नौकरी करनी पड़ी थी । सिपाही की नौकरी करते हुए जो वेतन मिलता उसी वेतन में से गुजारा करना पड़ता उसी में से कर्ज की किस्तें भी चुकाना पड़तीं । फलस्वरूप परिवार को काफी समय तक आर्थिक तंगियों का सामना करना पड़ा । शून-सेन ने जहाँ तक सम्भव था माओ को पढ़ाया और फिर परिवार की निर्वाह व्यवस्था जुटाने के लिए माओ को खेतों में काम करने पर लगा दिया । माओ का पढ़ने-लिखने में खूब मन लगता था इसलिए स्वेच्छा से उन्होंने तब भी पढ़ना जारी रखा । लेकिन गाँव में छोटी कक्षाओं तक ही पढ़ने की व्यवस्था थी इसलिए १३ वर्ष की आयु में ही माओ की स्कूली शिक्षा समाप्त हो गयी । माओ फिर भी अब्राहिम लिंकन की तरह अपने पड़ोसियों और पढ़े-लिखे लोगों के पास से माँग-माँग कर किताबें पढ़ते रहे ।

स्कूल छोड़ने के साल भर बाद ही शून-शेन ने माओ का विवाह कर दिया । माओ की पत्नी उनसे आयु में छह वर्ष बड़ी थी और माओ ने जीवन भर कभी उसे देखा तक नहीं । शादी के बाद खेत में काम करते हुए भी माओ ने अपना अध्ययन जारी रखा । उन्हें कहानियाँ खूब अच्छी लगतीं । खासकर ऐसी कहानियाँ जिनमें किसानों पर बड़े जुल्म ढाये जाते और किसान उनका प्रतिकार करते थे । उनके स्वाध्याय से ही माओ के मन में यह विचार उठा कि बाहर की दुनिया भी देखनी चाहिए और वे खेती की तरफ से ध्यान हटाकर अक्सर आस-पास के गाँवों में तथा शहरों में निकल जाते और वहाँ के जीवन का निकट से अध्ययन करते । शून-शेन ने जब देखा कि माओ का मन खेती में कम लगता है और वह शहरी जीवन की ओर आकृष्ट हो रहा है, उन्होंने अपने लड़के को चावल के एक व्यापारी के यहाँ काम पर रख दिया ।

माओ ने समझा कि इस प्रकार उन्हें जीवन के नये अनुभव प्राप्त करने के लिए विशेष सुविधा रहेगी पर चावल के उस व्यापारी के यहाँ उन्हें अपनी उम्मीद पूरी होती न दिखाई दी । अतः उन्होंने वहाँ की नौकरी छोड़ दी । और छुटपुट मजदूरी करते हुए एक अच्छे स्कूल में भर्ती होने की बात सोचने लगे । उन्हीं दिनों माओ के मामा अपनी बहन से मिलने के लिए आये हुए थे । वे स्वयं एक स्कूल चलाते थे । जहाँ अच्छी शिक्षा का प्रबन्ध था । माओ ने अपनी माँ के द्वारा मामा से यह बात कहा मामा अपने स्कूल में रखने के लिए राजी हो गये और माओ अपने मामा के गाँव तुंगे तैशान जो वहाँ से कुल सोलह मील दूर था, चले गये । तुंगे तैशान आकर माओ ने नये सिरे से अपनी पढ़ाई आरम्भ की । उन्होंने विश्व के महान नेताओं की जीवनियों का अध्ययन किया तथा स्कूली किताबों के अलावा दूसरे विषयों की पुस्तकें भी खोजकर पढ़ डालीं ।

स्कूल में उनके अधिकांश सहपाठी जमींदारों के लड़के थे । माओ अपना रहन-सहन अपनी आमदनी के अनुसार ही रखते थे । उनकी सादगी जमींदार पुत्रों की निगाह में फटेहाल थी और जमींदार पुत्र इस फटेहाली का बड़ा मजाक उड़ाते थे । माओ को इस बात से बुरा तो लगता था । पर वे यह जानकर सन्तोष कर लेते थे कि उनके कई साथी तथा पास-पड़ोस के लड़के तो इससे भी गया-गुजरा जीवन बिताते हैं । एक ओर वे देखते थे कि गरीबों के लड़के न बढ़िया वस्त्र पहन पाते थे और न ठीक ढंग का खाना ही खा पाते थे वहीं जमींदार के पुत्र बड़े ऐश आराम और ठाठ-बाट से रहते थे । उन्होंने यह भी देखा कि मजदूर किसान बड़ी मेहनत से खेती करते और जमींदारों के आदमी निर्दयतापूर्वक उनकी खून पसीने से प्राप्त धन को लूट लेते थे । वे अपने मालिकों के लिए मौज-मजे के साधन जुटाते थे । माओ के विचार से यह व्यवस्था अन्याय और अत्याचारपूर्ण थी । उन्होंने निश्चय किया कि जीवन में आगे चलकर वे इस व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन के लिए प्रयास करेंगे ।

सन् १९११ में माओ-त्से-तुंग जूनियर कॉलेज में भर्ती हुए । इसी वर्ष सनयात सेन ने चीन में गणराज्य की स्थापना की थी । माओ उन दिनों सनायात सेन से बड़े प्रभावित थे । माओ ही क्या देश की समूची गरीब जनता ने सनयात सेन को अपनी आकांक्षाओं का प्रतीक बनाया था । माओ उस वर्ष कुमिंगतांग सेना में भर्ती हो गये । यद्यपि उन्होंने सैनिक जीवन आरम्भ करते हुए कोई लड़ाई नहीं लड़ी पर इसके बाद का समय उनके लिए काफी महत्वपूर्ण रहा, यों कहें कि माओ के अगले जीवन की आधारशिला रखने वाले साबित हुए । उन दिनों वे रात दिन पढ़ने-लिखने में गुजारते थे । यहाँ तक कि खाना खाते समय भी उनके हाथ में किताब छूटती नहीं थी । इन्हीं दिनों वे नीतिशास्त्र के प्रोफेसर सर जंग-ची के सम्पर्क में

आये । माओ पर उनके सम्पर्क का अच्छा प्रभाव पड़ा और इसका लाभ भी उन्होंने उठाया ।

शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उनके सामने यह प्रश्न था कि कौन–सा क्षेत्र अपनायें ? उन्होंने बिना आगा–पीछा सोचे पीकिंग की दिशा पकड़ी और पीकिंग विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी में एक साधारण-सी नौकरी कर ली । यदि वे चाहते तो दूसरी नौकरी भी कर सकते थे । पर उन्होंने यही नौकरी इसलिए पसन्द कि यहाँ रहकर वे अपनी ज्ञान क्षुधा को और अच्छे रूप में पूरी कर सकते थे । उस समय पेकिंग विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष थे लि–ता–चू जिन्होंने चीनी साम्यवादी दल की स्थापना की थी । लि–ता–चू के सम्पर्क में आकर ही माओ ने साम्यवादी विचारधारा की दीक्षा प्राप्त की थी । इन्हीं दिनों उनकी मान्यताओं में मँजाव और दृष्टिकोण में विस्तार आया तथा नेतृत्व की क्षमता आयी ।

रूस में जब अक्टूबर–क्रान्ति हुई तो उसका प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा । चीन भी इससे अछूता नहीं रहा । उन्हीं दिनों चीन में पहली बार छात्र आन्दोलन हुआ । प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद चीन के निरन्तर अपमान और उसके प्रदेशों की छीना झपटी से चीनी जनता में क्षोभ की लहर व्याप गयी । ४ मई १९१९ को चीन में बड़े उग्र प्रदर्शन हुए । जुलाई १९२१ में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की पहली गुप्त कॉंग्रेस शंघाई में हुयी जिसमें माओ सहित १२ अन्य प्रतिनिधियों ने भाग लिया । चीनी साम्यवादी आन्दोलन की नींव यहीं पर रखी गयी ।

एक वर्ष में माओ की पार्टी में कुल ४०० सदस्य बन सके । जनवरी १९२४ में उन्होंने सनयात सेन की पार्टी कुमिंतांग की पहली कॉंग्रेस में भाग लिया तथा पार्टी की केन्द्रीय, कार्यसमिति के सदस्य बन गये । कार्यसमिति के सदस्य बनते ही माओ ने चीन के शत्रुतत्वों, कुटिल इरादे से काम कर रही विदेशी शक्तियों तथा जमींदारों के विरुद्ध जोर–शोर से संगठनात्मक मोर्चाबंदी आरम्भ कर दी । लेकिन कुछ ही दिनों बाद परिस्थितिवश माओ ने पेकिंग छोड़ दी और अपने प्रदेश चले गये । उन्होंने गाँवों में जा कर किसानों को संगठित करने का अभियान चलाया । इस दौरान माओ पाँच वर्ष तक शहरी जीवन से लगभग कटे हुये रहे । पाँच वर्ष के भीतर उन्होंने किसानों और क्रान्तिकारियों को भली–भाँति संगठित कर लिया ।

चीन में क्रान्तिकारियों का संगठन कर लेने के बाद माओ ने १९३५ में लांग–मार्च का आह्वान किया । जिसका उद्देश्य चीन में मजदूरों और किसानों का शासन स्थापित करना तथा जमींदारों और सामन्तों का उन्मूलन करना था । इस लांग–मार्च में लगभग एक लाख व्यक्ति सम्मिलित हुए थे । लेकिन लांग–मार्च के कार्यकर्त्ताओं और योद्धाओं को अपने आन्दोलन और क्रान्तिकारी प्रयासों में इतनी कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा कि अन्त तक केवल ७०० व्यक्ति ही रह गये थे । १९४५ तक माओ को दोहरे मोर्चे पर लड़ना पड़ा । एक तो देश में ही विद्यमान प्रतिक्रियावादियों से तथा बाहर जापानी साम्राज्यवादियों से । द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के बाद माओ को अपना स्वप्न साकार करने में सफलता मिली जब जून १९४९ में माओ के नेतृत्व में चीनी सर्वहारा ने सत्ता ग्रहण की ।

लेकिन यह तो मंजिल का पड़ाव भर था । अभी राष्ट्र के पुनर्निर्माण का कार्य बाकी पड़ा था । उन्होंने देश की युवा शक्ति का आह्वान किया । तथा राष्ट्रीय-पुनर्निर्माण का एक कार्यक्रम बनाया जिसके मुख्य आधार इस प्रकार हैं–विदेशी सहायता को कम कर राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा, सहज तकनीकी ज्ञान का विकास और गरीब को समान वितरण द्वारा खुशहाली के लक्ष्य की ओर बढ़ाना– विदेशी सहायता के आश्रित न रहना भर ही नहीं उसे नकार भी देना सुदृढ़ राष्ट्रनीति का परिचायक है । सहज टेक्नोलॉजी के विकास का अर्थ यह है कि एकदम सभी को विशेषज्ञ बनाना इतना अनिवार्य न समझा जाय कि प्रत्येक विशेषज्ञ के लिए ढेरों रुपया और समय खराब करना पड़े । इस प्रणाली की मिसाल यह है कि चीन में डॉक्टर बनने के लिए छह मास की ट्रेनिंग ही दी जाती है । सामान्यतः मामूली से रोग हैं जिनके कारण लोग बीमार पड़ते हैं और सामान्य रोग से गृहस्थ व्यक्तियों का इलाज करने के लिए जटिल शिक्षा की क्या आवश्यकता है । खास रोगों के इलाज में यहाँ कुछ व्यक्तियों को ट्रेण्ड किया जाता है । बाकी को सामान्य उपचार का प्रशिक्षण ही दिया जाता है ।

इस प्रकार माओ जब तक जीवित रहे चीन को विकसित और शक्तिशाली देशों की पंक्ति में खड़ा करने के लिए प्रयत्न करते रहे । उनके मार्गदर्शन और चीनी जनता की कर्मठता का ही यह सत्परिणाम है कि चीन आज दुनिया की छठवीं महाशक्ति बना हुआ है सन् १९७६ में माओ का देहान्त हो गया पर वहाँ की जनता ने अपने प्रिय राष्ट्रनेता के मार्गदर्शन में चलते रहने का ही निश्चय किया ।

आत्मबल सम्पन्न पुरुषार्थियों के प्रेरणाप्रद प्रसंग

ब्रिटिश सेनापति नेल्सन अपनी सेना के साथ नील नदी के इस पार खड़ा रणनीति का निर्धारण कर रहा था । ब्रिटिश जंगी बेड़े के अनेकों सैन्याधिकारियों की आँखों में आशंका व निराशा छायी थी, लेकिन नेल्सन की आँखें अद्भुत आत्मविश्वास और साहस से चमक रही थीं । कप्तान ने सहसा मौन भंग किया व बोल उठा–''अगर हमारी जीत हो गयी तो दुनिया दंग रह जायेगी ।''

नेल्सन ने तीखी नजर से कप्तान को देखा और कहा–"अगर से तुम्हारा क्या तात्पर्य है," सकपकाये अधिकारी ने जवाब दिया–"मेरा मतलब है कि दुश्मन हमसे कहीं ज्यादा ताकतवर है । उसके पास अधिक सेना है । हथियार भी आधुनिकतम हैं । ऐसे में हमारी जीत भाग्य पर निर्भर है ।" नेल्सन ने गम्भीर और दृढ़ स्वर में कहा–कप्तान ! हमारी जीत का भाग्य से कोई सम्बन्ध नहीं है । हम जीतेंगे और अवश्य जीतेंगे । हम भाग्य के सहारे नहीं बल्कि अपनी बहादुरी, साहस व निष्ठा के बल पर जीतेंगे ।

सेनापति के इन आत्मविश्वास भरे शब्दों ने प्रत्येक सैनिक के अन्दर प्राण भर दिया । एक नवीन स्फूर्ति लेकर वे आगे बढ़े, विश्वास और साहस के साथ लड़े और अल्पबल वाले पराक्रमियों की उस विजय को देखकर सारा संसार चकित रह गया ।

आत्मविश्वास वह अमोघ अस्त्र है जो मनुष्य से असम्भव काम करा लेता है । यदि शरीरबल है, साधन है एवं सहयोग भी है, परन्तु आत्मविश्वास नहीं तो ऐसे प्रयास अंधे-लँगड़े, काने, कुबड़े ही होते हैं–ऐसे व्यक्तियों को कभी सफलता नहीं मिलती । अपनी सत्ता पर–अपनी क्षमता पर विश्वास रखने वाला बाहरी सहायता की कभी अपेक्षा नहीं करता और न ही दुर्भाग्य का रोना रोता है ।

कोलम्बस नई दुनिया का पता लगाकर अमेरिका से स्पेन वापस पहुँचा । स्पेन के राजा ने उसकी इस असाधारण सफलता पर उसके सम्मान में एक भोज का आयोजन किया । जिसमें सभी प्रमुख सभासद-सामन्त आदि आमंत्रित थे । दूसरी ओर उपस्थित समुदाय में सामंतों के एक बहुसंख्य गुट को कोलम्बस से ईर्ष्या भी थी, इसी कारण वे बीच-बीच में व्यंग्य बाण भी छोड़ रहे थे । कोलम्बस से जब उसकी सफलता का कारण पूछा गया एवं उद्बोधन हेतु आमंत्रित किया गया, तब उसने एक कौतुक से अपने भाषण को आरम्भ किया । उसने कहा–"भाइयो ! आपके कौतुहलों का समाधान देने से पूर्व मैं आपके समक्ष एक तमाशा दिखाता हूँ । मेरे हाथ में यह अण्डा है । आप में से जो भी इसे मेज पर सीधा खड़ा कर देगा, वह सबसे अधिक बुद्धिमान माना जायेगा ।"

एक-एक करके सबने प्रयास किया, पर अण्डा खड़ा ही न हुआ । सबकी खूब हँसी हुई । अन्त में एक सामन्त ने कहा–"तो फिर आप ही इसे खड़ा करके दिखा दीजिए ।" कोलम्बस ने अण्डे का एक सिरा झटके से तोड़ा व अण्डा सीधा खड़ा हो गया । सभी सामन्त चिल्ला उठे इसमें कौन-सी बड़ी बात है । यह तो हम भी कर सकते थे । कोलम्बस ने कहा कर सकते थे तो किया क्यों नहीं ? जो लोग कहा करते हैं वे किया नहीं करते एवं जो करते हैं वे गाल न बजाकर कर ही दिखाते हैं ।

सामन्तों ने शर्मिन्दा हो कोलम्बस के वर्चस्व एवं पुरुषार्थ को माना तथा उसकी अमेरिका की खोज की प्रशंसा की ।

आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति अपनी प्रसुप्त शक्तियों को पहचानते, जगाते हैं व आगे बढ़ते चले जाते हैं । शेष बहिर्मुखी मात्र तमाशा देखते रहते हैं ।

नेपोलियन एक ऐसा ही आत्मविश्वास मनोबल का धनी युवक था, जिसने पाँच वर्ष की आयु में माता से शत्रु के आतंक व अपने राष्ट्र कार्सिका की गुलामी की कहानी सुनकर संकल्प किया था कि मैं अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र कराके रहूँगा । किशोरवस्था से ही उसने अपने संकल्प को साकार रूप देना आरम्भ किया, लगन तथा परिश्रम पर केवल वह सेना की टुकड़ी का नायक और फिर फ्रांस का सर्वेसर्वा और अन्त में विश्व विजेता बन गया । आल्पस की गगनचुम्बी बर्फ ढकी चोटियों की तलहटी में खड़े सैनिकों के समक्ष उसने ही आत्मविश्वास से भरे शब्दों में कहा था–"रौंद दो इन बर्फीली चोटियों को । ये कभी भी पुरुषार्थियों के मार्ग में बाधक नहीं बन सकतीं ।" उसके इन शब्दों ने सैनिकों पर जादू कर दिया व वे असम्भव को भी सम्भव बनाकर आल्पस पर्वत को चुनौती देते रास्ता बनाते निकल गये ।

चोर डाकू तक जब बुरे कामों के लिये स्वयं को जान की बाजी पर लगाकर जूझ जाते हैं तो असमंजस यह होता है कि सच्चाई के लिए संघर्ष करने वालों का सत्साहस क्यों चुप बैठा रह जाता है ।

एक बार राजा फ्रैडरिक द्वितीय अपने महल में रात्रि के अन्तिम प्रहर में शयन कक्ष में लेटे थे तो सहसा उनकी दृष्टि खिड़की से बाहर गयी । उन्होंने देखा-एक व्यक्ति सीढ़ी खड़ा करने का प्रयास कर रहा है पर घण्टाघर पर लगी घड़ी तक पहुँच नहीं पाता व सीढ़ी फिसलने लगती है । थोड़ी देर तक वे उसके प्रयासों को देखते रहे । फिर बाहर आकर पूछा–"तुम कौन हो–इस समय क्या कर रहे हो ।" चोर ने जो राजा के महल की घड़ी चुराने आया था, बिना घबराये आत्मविश्वास भरे शब्दों में कहा–मैं शाही घड़ीसाज हूँ । घड़ी की मरम्मत व सफाई के लिये निकालना है । रात्रि को तो निकालना आसान है । दिन में यहाँ आवागमन अधिक रहता है । इसलिए आया था–पर सहायक साथ नहीं ला पाया । राजा ने कहा मैं सीढ़ी पकड़ता हूँ, तुम चढ़ो व घड़ी उतारो । कुछ ही मिनटों में वह घड़ी उतारकर राजा को धन्यवाद देते प्रणाम करते हुए विदा हो गया ।

अगले दिन पता चला राजा के महल से घड़ी चोरी चली गयी । राजा को रात की सारी बात याद हो आयी । उसने सुरक्षा दल द्वारा तैयार की गयी रिपोर्ट पर लिखा–"चोर अपने आत्मविश्वास, साहस, प्रत्युत्पन्नमति व राजा की सहायता के कारण इस कार्य में सफल हुआ ।"

अपने आप पर विश्वास कर आशा का संचार व विश्वास खोकर निराश हो जाना उसी प्रकार है जैसे

दीपक को जलाना एवं फूँक मारकर बुझा देना । महाभारत युद्ध में कर्ण की पराजय मात्र इसी कारण हुई कि उसके आत्मविश्वास को गिराने वाला उसका सारथी शल्य अर्जुन से हुए युद्ध में उसके साथ था । वह पाण्डवों से वचनबद्ध होने के नाते मात्र यही कहता रहा कि "कर्ण ! तुम अर्जुन से नहीं जीत सकते । उसके गाण्डीव के समक्ष तुम्हारी धनुर्विद्या का कौशल व्यर्थ है । बराबर कहे गये इन वचनों ने कर्ण का मनोबल इस प्रकार गिराया कि वह अपने कौशल का उपयोग करने के पूर्व ही मारा गया ।"

दूसरी ओर आशा का संचार व प्रोत्साहन किस प्रकार विजय में सहायक होता है उसका प्रमाण इस घटना से मिलता है । एक सेनापति ने अपने सैनिकों को निराश स्थिति में देखते ही सोचा कि इनमें मनोबल का संचार न किया तो संख्या में अधिक होने पर भी हार का मुँह देखना पड़ेगा । उसने सेना को रास्ते में एक मन्दिर के सामने रोका व कहा–"आओ । इस देवता का आशीर्वाद लेते हैं व सिक्का फैंककर देखते हैं कि हम हारेंगे या जीतेंगे । यदि चित होगा तो हमारी जीत सुनिश्चित है पट होगा तो हार ।" सबने मूर्ति को प्रणाम किया । सेनापति ने सिक्का फेंका । सबने उत्सुकता से देखा–चित था । चारों ओर हर्ष ध्वनि होने लगी –"अब देवता का आशीर्वाद मिल गया है, हम जीतेंगे–जरूर जीतेंगे ।" सेना युद्धस्थल पर पहुँची व शत्रुओं को परास्त कर लौटी । लौटते में मन्दिर फिर पड़ा । सेनानायकों ने कहा–देवता को फिर प्रणाम करलें–इन्हीं के आशीष से हम जीते हैं । सेनापति ने हँसते हुए कहा– हम आत्म देवता के आशीर्वाद से विजयी हुए हैं, इतना कहकर उसने सिक्का उन्हें दिखाया जो दोनों ओर से एक समान था ।

वस्तुत: जीवन में सफलता–असफलता का रहस्य यही है । मनोबल, आत्मविश्वास मनुष्य से असम्भव पुरुषार्थ करा लेता है । जबकि सब कुछ होते हुए भी इस क्षमता के न जाग पाने से जीवन संग्राम में पराजय का मुँह देखना पड़ता है । इसीलिए कहा गया है–"**मन के हारे हार है मन के जीते जीत ।**"

महान योद्धा–नेल्सन

२९ दिसम्बर १७५८ । इंग्लैण्ड के नारकोफ जिले में बर्नहैम थार्प ग्राम के रेक्टर एडमंड नेल्सन के घर आठवाँ बालक जन्मा तो उन्हें कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई वरन् दु:ख हुआ कि वह थोड़ी–सी आय में इतने बालकों का गुजर बसर कैसे करेगा ?

बालक इतना दुबला था कि हाथ में लेते हुए भी डर लगता था । उसके सिर में दर्द और शरीर में रोग बना ही रहता था । ऐसे में बचपन में ही माँ चल बसी । पिता पर आठ बच्चों का भार पड़ा तो वह खिन्न रहने लगा । उसका जीवन एक बेगार हो गया । वह तो भला हो उसके मामा का कि उसने इस बालक के पालन–पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया जिससे पिता का भार कुछ हल्का हो गया । मामा को भी इस क्षीण शरीर, रोगी बालक से कुछ विशेष आशा न थी ।

बालक दुबला–पतला होने के कारण सबकी उपेक्षा का पात्र बनता जा रहा था । उसे अपनी यह उपेक्षा अच्छी न लगी । उसने प्रारम्भिक शिक्षा के साथ–साथ अपने मानवीय गुणों का विकास करना आरम्भ कर दिया । उसके साहसपूर्ण कार्यों से परिवार में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगी । जोखिम के काम में वह आगा–पीछा नहीं करता था । एक बार यह घूमता–घूमता प्रकृति की गोद में दूर निकल गया । नानी देर होती देख इसे ढूँढने आई तो देखा कि एक नदी के पास अकेला बैठा है । उसने पूछा–"तुम्हें यहाँ डर नहीं लगता।" बालक बोला–"मैंने डर को कभी नहीं देखा वह कैसा होता है ?" अपने इसी गुण के कारण यह बालक हॉरेश्यो नेल्सन आगे जाकर एक महान योद्धा तथा अपने देश के गौरव को अक्षुण्ण रखने वाला सेनानी बना ।

मामा की आर्थिक स्थिति भी कुछ विशेष अच्छी नहीं थी । बारह वर्ष की आयु में ही नेल्सन को जहाज पर नौकरी करनी पड़ी । इसे अपने जहाज पर पहुँचने के लिये बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । बारह वर्ष के बालक की वहाँ कौन सुनता ? उन दिनों जहाज की नौकरी में न तो अधिक अर्थ लाभ ही होता था न मान–सम्मान ही मिलता था । नेल्सन को जहाज के कप्तान ने यही राय दी कि वह काम छोड़ दे किन्तु उसे अपने आप पर विश्वास था । वह एक ही जगह रहना उचित समझता था भटकना नहीं चाहता था ।

नेल्सन ने अपने प्रारम्भिक काल से ही समुद्री यात्राओं के दौरान तट तथा गहराई का सूक्ष्म अध्ययन किया जो आगे जाकर उसके लिए बड़ा सहायक हुआ । उसका आशावादी दृष्टिकोण ही उसकी प्रगति में सहायक बना ।

सन् १७७३ में एक दल उत्तरी ध्रुव की खोज में जाने वाला था । उसके लिये जहाज की आवश्यकता थी तथा कुशल मल्लाह भी चाहिए थे । नेल्सन को समुद्र व स्थल की जानकारी करने व जोखिम के काम करने में बड़ी दिलचस्पी थी । उसने उस जहाज पर नियुक्त होने के लिये निवेदन किया जो स्वीकार हो गया । इस यात्रा में नेल्सन का साहस सबके लिये वरदान सिद्ध हुआ ।

नेल्सन के अपने गुणों के कारण इंग्लैण्ड के नौ सैनिक अधिकारी इससे बहुत प्रभावित थे । २१ वर्ष की आयु में ही वह उच्च नौसैनिक अफसर के पद पर पहुँच गया था । उसे सैंटजुआन किले पर आक्रमण करने के लिये भेजा गया । यह किला बड़ी अस्वास्थ्यकर स्थिति में था ।

इसने विजय तो प्राप्त करली पर वहाँ की सड़ती लाशें व अस्वास्थ्यकर जलवायु से इसके बहुत से सैनिक मर गये। नेल्सन ने इसे अपने जीवन का पाठ मानकर उससे शिक्षा ली।

जिस बालक से उसके परिवार वालों को कोई आशा नहीं थी वही बालक जब युवा हुआ तो अपने साहस, लगन व आत्मविश्वास के बल पर वह सारे इंग्लैण्ड का विश्वासपात्र बना। जहाँ भी कार्य में असफलता की आशंका होती वहाँ नेल्सन को भेजा जाता और वह सफल होकर ही लौटता। वह एक दिन साधारण नाविक के रूप में ब्रिटिश नौसेना में प्रविष्ट हुआ था और एक दिन इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े का कप्तान नियुक्त किया गया।

नेल्सन की इस द्रुत प्रगति का कारण उसके मानवीय गुणों के विकास का प्रयास था। साहस तो उसमें कूट-कूट कर भरा था। वह जो काम करता था कितनी दृढ़ निष्ठा से करता था वह उसके इस पत्र से स्पष्ट हो जाता है जो उसने अपने कमांडर-इन-चीफ को लिखा था-"हम सैंटक्रूज पर अधिकार क्यों न कर सके। इसकी बात मैं न चलाऊँगा। जो कुछ सम्भव था मैंने किया पर फल कुछ न हुआ। आज मैं सारी सैना का नायक हूँ। कल मेरे गले में जयमाला होगी अथवा मैं संसार में न हूँगा।" यह पत्र लिखकर उसने अपने पुत्र तथा पत्नी को भी सन्देश भेज दिये कि वह विजयश्री वरण न कर सकें, मृत्यु ही उसे वरले, तो वे क्या करें? ऐसी दृढ़-निष्ठा ही सफलता दिलाती है।

फ्रांसीसी जहाजी बेड़े पर आक्रमण करने सम्बन्धी मन्त्रणा हो रही थी। कप्तान बेरी ने नेल्सन से पूछा-"यदि हम जीत गये तो संसार क्या कहेगा? नेल्सन ने इसके उत्तर में कहा-"इस विषय में 'यदि' है ही नहीं। हम जीतेंगे यह निश्चित है, कहानी सुनाने को कौन जीवित रहेगा यह दूसरा प्रश्न है।" कर्म के प्रति यह निष्ठा ही नेल्सन की विजय का कारण थी। नेल्सन की मान्यता थी कि जो व्यक्ति सफलता का दृढ़ निश्चय कर लेता है और पूरे मनोयोग से उसमें जुट जाता है तो असफल हो ही नहीं सकता।

फ्रांसीसी जहाज 'ओरियंट' में आग लग गई। मस्तूल उड़ गया। सैनिक समुद्र में कूद पड़े। शत्रु के सैनिक होते हुये भी उन ७० सैनिकों को नेल्सन ने बचाया। नेल्सन में शत्रु सैनिकों के जीवन के प्रति भी ममत्व था। बन्दी सैनिकों के प्रति भी उसका व्यवहार मानवीय ही रहा।

अपने अधीन काम करने वाले सैनिकों तथा अफसरों के साथ उसका व्यवहार परिवार जैसा था। उनकी कठिनाइयों की ओर उसका ध्यान रहता था। उनकी प्रगति के लिये वह कमांडर-इन-चीफ को लिखा करता था। अपने उच्च अधिकारियों का वह सम्मान किया करता था। इस व्यवहार के कारण वह सबका 'अपना आदमी' हो गया था। उसको कई बार बचाने के लिये उसके सैनिकों ने अपनी मृत्यु को स्वीकार किया था। यथायोग्य व्यवहार का यह गुण उसे एक महान योद्धा तथा सफल सेनानायक बनाने में सहायक हुआ था। उसके उच्चाधिकारी उससे प्रसन्न रहे तथा उसके सैनिक उसके लिये प्राणोत्सर्ग तक करने को तत्पर रहे। सैनिक जीवन की रुखाई को नेल्सन के स्वभाव ने मिटा दिया था।

'ओरियंट' के मस्तूल के लट्ठों से कप्तान हैलोबेल ने शवपेटी बनाकर नेल्सन को भेंट की तथा आग्रह किया कि नेल्सन के लिये इसे प्रयुक्त किया जाय। नेल्सन ने अपने परिवार के मना करने पर भी स्वीकार किया व बहुत प्रसन्न हुआ। परिवार के लोग इस अशुभ वस्तु को नहीं रखना चाहते थे पर नेल्सन अपने सहयोगी की भेंट का सम्मान करता था। युद्ध-कर्म में जीवन व्यतीत करते हुए भी हृदय पक्ष को इतना सजीव रखने के गुण के कारण ही नेल्सन अपने सैनिकों का 'अपना' बन सका था।

सैंटक्रूज के युद्ध में उसका दाहिना हाथ कट चुका था, अंग-भंग हो जाना एक सेनानायक के लिये बहुत बड़ा दुर्भाग्य था। यह उसी का साहस था कि इस अंग-भंग को सहज रूप में स्वीकार कर ले तथा यह कहे "अभी तो मेरा बाँया हाथ व टाँगें शेष हैं।" राजा को भी उसने लिख दिया कि उसके स्थान पर किसी अन्य समर्थ व्यक्ति को नियुक्त करें ताकि राष्ट्र की सेवा ठीक प्रकार से हो सके।

नेल्सन की योग्यता देखते हुए उसे उसी पद पर रखा गया तथा एक हाथ से नेल्सन ने नेपोलियन जैसे विश्व प्रसिद्ध योद्धा से टक्कर ली तथा वीरता के क्षेत्र में एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि मनुष्य के एक अंग कट जाने पर या अपंग होने पर भी यदि वह अपने आप पर विश्वास रखे तो अपने ध्येय में सफल हो सकता है।

नेल्सन का सारा जीवन सागर की लहरों पर ही व्यतीत हुआ। जहाज पर रहने वालों का स्वास्थ्य क्षीण होता जाता है यह नेल्सन के साथ भी हुआ। वह कुछ समय के लिये स्वास्थ्य सुधार के लिये अपने देश लौटता पर कुछ ही महीनों के बाद फिर उसके लिये कहीं न कहीं युद्ध छिड़ ही जाता और उसे फिर अपने देश व जाति के गौरव की रक्षार्थ अपने स्वास्थ्य सुधार को बीच में ही रोक लेना पड़ता था।

हाथ और आँख देकर भी हिम्मत न हारने वाला नेल्सन

नेल्सन ने अपनी सेवा और शौर्य के कारण छोटी अवस्था में उच्च अधिकारियों का ध्यान आकर्षित किया और एक साधारण सैनिक से महत्त्वपूर्ण ऑफीसर बना दिया गया।

अभी उसकी आयु कुल २० वर्ष की ही थी एक सैनिक कमाण्डर ने आकर उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा—नेल्सन ! तुम्हारे शौर्य और कठिनाइयों में भी दृढ़ रहने की भावना से प्रभावित होकर सरकार ने तुम्हारी योग्यता का ध्यान किये बिना ही महत्त्वपूर्ण कार्य दिया है । तुम्हारे गुण ही सर्वोच्च योग्यता हैं हमारा विश्वास है तुम यह कार्य कुशलतापूर्वक पूरा कर सकोगे ।

इसके बाद उसे समुद्री-डाकुओं से ब्रिटिश सम्पत्ति की रक्षा करने भेजा गया । वह जहाज का सेनापति बनकर गया और सफलता पाकर लौटा । अभी वह लौट भी न पाया था कि उसे फ्राँसीसी द्वीप कोर्सिका पर आक्रमण करने की आज्ञा दी गई । एक दिन भी विश्राम किये बिना वह युद्ध के लिए तैयार हो गया । अन्य पदाधिकारियों ने कहा—"तुम्हें विश्राम भी नहीं दिया गया और फिर युद्ध की आज्ञा दे दी गई क्या तुम इसका विरोध नहीं करोगे ?" तो नेल्सन ने हँसकर कहा—मेरे लिये काम ही विश्राम है जिस दिन मेरे शरीर का रक्त ठण्डा पड़ जायेगा उस दिन मैं मृत्यु पसन्द करूँगा पर मक्खी मारना कदापि स्वीकार न करूँगा ।

नेल्सन ने कोर्सिका पर चढ़ाई कर दी और विजयी बनकर लौटा, सचमुच जिनके शरीरों की चमक नष्ट नहीं होती जीवन में वही नेल्सन की तरह सफलता पाते हैं ।

इस युद्ध में विजय तो मिली पर नेल्सन की दाहिनी आँख लेकर । इसी समय शान्ताक्रूज पर स्पेन ने आक्रमण कर दिया उससे निबटने के लिये ब्रिटिश सैन्याधिकारियों से पूछा गया—कौन है जो इस युद्ध में स्वेच्छा से जाना चाहता है । जब सब सैनिक विचार-मंथन में ग्रस्त थे तब नेल्सन आगे बढ़कर आया और उसने फिर युद्ध किया इस बार उसका दाहिना हाथ बेकार हो गया पर विजय-श्री उसके गले यह कहकर लगी—"सैनिक जब तक तुम्हारा मनोबल स्थिर है तब तक मैं तुम्हारा ही वरण करूँगी—भले ही तुम्हारा धड़ भी शरीर से अलग हो जाये ?"

इसके बाद हुआ विश्वविख्यात ट्रेफलगर का युद्ध । इस युद्ध में नेल्सन को जहाज के एक पुल पर सबसे खतरनाक स्थान पर तैनात किया गया । फ्रांस और स्पेन दोनों ने मिलकर चढ़ाई कर दी और ब्रिटिश बेड़े के पैर उखाड़ दिये । ट्रेफलगर में घमासान युद्ध हुआ ।

युद्ध चल रहा था तब उसे आज्ञा दी गई कि उस स्थान पर दुश्मन का आक्रमण होने वाला है, वह स्थान छोड़कर पीछे हट जाओ । लेकिन नेल्सन ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया ।

नेल्सन ड्यूटी पर खड़ा था तभी एक गोली उसको लगी । सिपाही उसे उठाकर पीछे ले जाना चाहते थे पर उसने सोचा यदि अन्य सिपाहियों को मेरे मर जाने की सूचना मिली तो उनका उत्साह ठण्डा पड़ जायेगा और हार हो जायेगी । उसने कड़ककर कहा जब तक विजय की सूचना नहीं मिलती मैं मुर्दा हो जाऊँ तो भी मुझे ऐसे ही खड़ा रहने दिया जाय ।

और सचमुच एक बार फिर विजय आई और जब उसकी सूचना उसे मिल गई तभी उसका प्राणान्त हुआ ।

जिन्होंने निःशस्त्र उपनिवेशवाद से संघर्ष किया—

डॉ० जगन

दक्षिण अमेरीका स्थित एकमात्र ब्रिटिश उपनिवेश ब्रिटिश गायना । अँग्रेज सरकार किसी न किसी तरह वहाँ बने रहने के लिए तरह-तरह के नाटक रचती रहती थी । इन्हीं नाटक स्वाँगों की शृंखला में सन् १९५३ में आम चुनाव सम्पन्न कराये गये । शायद वे लोग इस भुलावे में थे कि ब्रिटिश गायना की जनता उन्हें अब भी चाहती होगी इसलिए वे अपनी विजय के प्रति बड़े आशान्वित थे । परन्तु गायना द्वीप के लोगों में पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी दिनों-दिन लोकप्रिय होती जा रही थी । शक्ति भर काम करने के बाद जिन्हें पेट भर भोजन नहीं मिलता हो उनके लिए न्याय का आश्वासन भी प्रारम्भ हो तो पर्याप्त रहता है ।

सन् १९५३ के अप्रैल मास में उपनिवेश गायना की २४ सीटों पर चुनाव लड़ा गया । इस चुनाव में जनमत ने पीपुल्स प्रोग्रेसिव पार्टी का साथ दिया । इस दल को २४ में से १८ सीटें मिलीं । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए तो एकदम यह अप्रत्याशित था इसलिए उसने जनमत को अपने खिलाफ जाने से रोकने के लिए ओछे हथकण्डे अपनाना आरम्भ कर दिया । इस दल के ही ३३ वर्षीय डॉ० छेदी जगन ब्रिटिश गायना के महामंत्री चुने गये । वे इस पद का उत्तरदायित्व सम्हालें इसके पूर्व ही संविधान, संसद और चुनाव सब निरस्त कर दिये गये ।

प्रोग्रेसिव पार्टी ने जनभावनाओं को दमन करने के विरोध में आन्दोलन छेड़ा । आरम्भ में तो उसे दबाने के लिए प्रयास किये गये । पुलिस और वहीं की सेवा की मदद से दमन जारी रहा । परन्तु सरकार इस प्रकार अपने प्रयासों में सफल न हो सकी । ब्रिटिश गायना में चल रही राजनीतिक गतिविधियों के समाचार इंग्लैण्ड पहुँचे तो वहाँ से सहायता के लिए १६०० सैनिक और चार जंगी जहाज भेजे गये । दुनिया भर के स्वतन्त्रता प्रेमी देशों ने इस कृत्य की निन्दा की परन्तु उपनिवेश सचिव भी आलिबर लिटिलटन ने घोषणा की कि—हम राष्ट्रमण्डल में एक और जनवादी राज्य की स्थापना नहीं होने देंगे ।

पीपुल्स पार्टी की महामंत्राणी डॉ० जेनेट जगन ने आह्वान किया कि—"हमारे देश पर विदेशियों ने आक्रमण किया । जनता मुकाबले के लिए तैयार हो इसके पूर्व ही

तो स्थिति बदल चुकी थी ।'' ब्रिटिश गायना की विचारधारा और शासननीति से ब्रिटिश शासकों को उतना खतरा नहीं था जितना कि डॉ० छेदी जगन से । उस समय वे अपनी पत्नी सहित गायना के नागरिकों को उनका न्यायिक अधिकार दिलवाने का प्रयत्न कर रहे थे ।

डॉ० जगन अमेरिका में शिक्षा प्राप्त कर गायना में प्रैक्टिस करने वाले दाँतों के एक डॉक्टर थे । जब से उन्होंने इस ब्रिटिश उपनिवेश को अपना कार्य क्षेत्र चुना तभी से यहाँ के जन-जीवन और श्रमजीवी वर्ग को बड़ी बुरी तरह लुटते देखा । उस समय गायना के औद्योगिक क्षेत्र में तीन बड़ी कम्पनियों का एकाधिकार था । जो निरापद अपना शोषण चक्र चला रही थीं । उन दिनों एक घटना ऐसी घटी जिसने डॉ० जगन को एकदम परिवर्तित कर दिया । एक बार शाम के समय वे अपनी दुकान बन्द कर घर जा रहे थे । इसी वक्त श्रमिकों की भी छुट्टी हुई । रास्ते चलते कई मजदूर मिल मालिकों को गालियाँ देते जा रहे थे । डॉ० जगन ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु एक मजदूर जिसका भूख के कारण बड़ा बुरा हाल था, बेहोश होकर गिर पड़ा । अन्य श्रमिक भी उनके आस-पास आकर खड़े हो गये । बेचारे वे भी क्या कर सकते थे । सारी स्थिति जान कर डॉ० जगन ने आवश्यक मदद की ।

इस घटना ने उनके मन में धन लोलुप पूँजीपतियों के प्रति घृणा का भाव भर दिया । ब्रिटिश गायना का प्रमुख उद्योग चीनी और चावल की खेती है और कृषि पर मुख्यतः चन्द पूँजीपतियों का नियंत्रण है । पूँजीपतियों ने देश की सारी अर्थव्यवस्था और राजनीतिक व्यवस्था पर अपना नियंत्रण कर रखा है । ये लोग अपने ही लाभ और स्वार्थ की बात सोचते हैं । इस कारण देश में घोर निर्धनता है । कारखानों के मजदूर कम्पनियों के मालिकों की दया पर निर्भर हैं । किसानों के पास तो अपनी निज की जमीन भी नहीं है । वे केंचुली मारकर बैठे धन्ना सेठों के दास हैं । देश में अधिकांशतया बेकारी और गरीबी है । डॉ० जगन ने अपने देश के जन-जीवन की इस दशा का निकट से अध्ययन किया और पाया कि श्रमिक यदि अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने के लिये तैयार हो जायें तो इन सब दुःस्थितियों का निवारण हो सकता है ।

उस समय गायना का शिक्षा तंत्र पादरियों के हाथ में था । सरकार से उन्हें वित्तीय सहायता मिलती थी और चर्च स्कूल चलाते थे ऐसी स्थिति में जबकि शासन को पूँजीपतियों और जनता का शोषण करने वालों से लाभ मिलता है तो वह क्यों उनके खिलाफ कोई भी खतरे की सम्भावना पैदा करेगी । निसन्देह धर्म का भी यहाँ वही स्वरूप समझाया गया जो दानदाताओं के हित में रहा हो ।

डॉ० जगन ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में इन सब अव्यवस्थाओं को दूर करने का वचन दिया था और जब जनता ने उनका साथ दिया तो उन बातों को क्रियान्वित करने के लिए कदम भी उठाये । परन्तु वे कुछ कर सके इसके पूर्व ही उन्हें अपदस्थ कर दिया ।

परन्तु इससे गायना भर के प्रजावादी लोग, पीपुल्स वर्कर्स तथा जगन दम्पत्ति किंचित भी निराश नहीं हुए । लगता था इस स्थिति के लिए वे पहले से ही तैयार थे । सच भी है संसार में कोई सुधार निर्विरोध सम्पन्न नहीं होते । डॉ० जगन ने अपने प्रयासों द्वारा अनुयायियों से अहिंसात्मक विरोध करने के लिए कहा । यद्यपि कई युवक और उत्साही कार्यकर्ता उग्र विरोध के लिए भी तैयार हो रहे थे परन्तु डॉ० जगन ने उन्हें शान्त रहने के लिए समझाया और कहा कि इससे तो अपने ही देश का जन-धन नष्ट होगा ।

शान्ति और अहिंसा के इस उपासक की तस्वीर दुनिया के सामने खतरनाक और खूनी कम्युनिस्ट के रूप में रखी गयी । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने यह प्रचार किया कि डॉ० जगन अपनी पत्नी के बहकावे में आकर कम्युनिस्ट सत्ता की स्थापना का स्वप्न देख रहे हैं । उनके पूर्व जीवन के सम्बन्ध में मनगढ़न्त बातों का प्रचार किया गया ।

पति-पत्नी डॉ० छेदी जगन तथा श्रीमती जेनेट जगन पर आरोप लगाया गया कि १९४७ में उन्होंने विधान मण्डल का सदस्य बनने पर चीनी की मिलों में हड़ताल करवाई और इसके परिणामस्वरूप जो उपद्रव मचा उसमें ५ श्रमिक मारे गये । यही नहीं वे १९५१ में रूसी साम्यवादियों से मिलने भी गये । ये सब बातें उन्हें कम्युनिस्ट सिद्ध करने के लिये कही गयी थीं ।

इतना सब होने पर भी ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार क्यों नहीं किया इस बात से संसार के कई देशों के राजनीतिज्ञों ने इस प्रचार पर विश्वास नहीं किया । उनके देश में तो उपनिवेशवादी सरकार के दमन चक्र ने वहाँ की जनता में सर्वाधिक लोकप्रिय जननेता बना दिया । वहाँ की जनता ने उनसे अगाध प्रेम और अटूट विश्वास किया । गाँधीजी के बाद अपने देश में इतना सघन लोक विश्वास प्राप्त करने वाले नेता डॉ० छेदी जगन ही कहे जा सकते हैं । अँग्रेज सरकार ने लोकमानस में बनी हुई उनकी तस्वीर को तोड़ने का कितनी ही बार प्रयत्न किया किन्तु सफलता कभी न मिली क्योंकि वह उनकी स्वयं उपार्जित लोकराशि रही है ।

दमन और शक्ति के बल पर कुछ समय के लिए सरकार राष्ट्र की आवाज को दबाये रखने में भले ही सफल हो गयी हो परन्तु अधिक समय तक यह स्थिति बनी न रह सकी । ब्रिटिश सरकार ने एक बार फिर चुनाव कराये । इस बार पीपुल्स पार्टी का विघटन हो गया था । इसी कारण सरकार को यह विश्वास हुआ था कि डॉ० जगन अबकी बार तो पराजित हो ही जायेंगे । सरकार से उनके एक पुराने साथी लिंडन फोरनेस बर्नहम पार्टी से अलग हो गये थे ।

पिछले चुनावों को भी चार वर्ष हो गये थे परन्तु पार्टी विघटन का डॉ० जगन पर कोई असर नहीं हुआ और अन्ततः जनता ने उन्हें ही अपना एकमात्र विश्वासपात्र नेता चुना ।

किसान पुत्र से राष्ट्रपति पद तक– च्यांग-काई-शेक

अर्धरात्रि का समय था । बाहर घटाटोप अँधेरा और अन्दर दीपक का टिमटिमाता प्रकाश । सारी दुनिया निद्रा देवी की गोद में विश्राम कर रही थी और जापान के एक छोटे से कस्बे में दो चीनी युवक क्रान्ति की योजना बना रहे थे । उस समय प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था । इन दो युवकों में से एक तो था सैनिक जो जापान के लिए लड़ रहा था और दूसरा था क्रान्तिकारी जो चीन में गणतन्त्रात्मक राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना का स्वप्न सँजोये उत्साही देशभक्त युवकों को टटोलता फिर रहा था । सैनिक उक्त क्रान्तिकारी से प्रेरणा प्राप्त कर अपने देश की जनता को लोकतन्त्र और राष्ट्रीय शासन देने के लिए युद्ध के मोर्चे पर से बीच में ही लौट आया था । उस समय पलायन करने वाले सैनिकों की खैर नहीं थी । फिर भी अपने प्रेरणा स्रोत और मार्गदर्शक के निर्देश अनुसार युवक ने यह खतरे से भरा कदम उठाया था । इन दोनों युवकों में सैनिक थे–च्यांग–काई–शेक और उनके प्रेरणा स्रोत थे डा० सनयात सेन । जिन्होंने सर्वप्रथम चीनी–क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार की और जीते जी उसे सफल बनाया । अपने जीवन काल में ही क्रान्ति का सफल आयोजन कराने वाले च्यांग–काई–शेक कई संघर्षों का सामना कर निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़े थे ।

मध्य चीन के चीक्यांग नामक स्थान पर बसने वाले एक निर्धन किसान परिवार में सन् १८८७ में च्यांग–काई–शेक का जन्म हुआ । उनके पिता के पास बहुत थोड़ी जमीन थी । जिससे गुजारा मुश्किल से ही चलता था । आर्थिक अभाव और पारिवारिक कठिनाइयों ने भी च्यांग–काई–शेक के विकास में कोई बाधा नहीं डाली और वे स्वाभाविक रूप से पलने–बढ़ने लगे । गरीबी के कारण च्यांग–काई–शेक की शिक्षा–दीक्षा भी कोई खास नहीं हुई । उन्हें किशोरावस्था में ही रोजगार की तलाश के लिए भटकना पड़ा । चीन में उस समय बेकारी और गरीबी का राज्य था । चारों ओर जवान युवक, वृद्ध, पुरुष अपनी दीन दुर्दशा लेकर फालतू घूमते रहते । काम की तलाश में बच्चों को भी भागना पड़ता । च्यांग को भी अपने अन्य समस्तरीय परिवारों के सदस्यों की तरह रोजगार की तलाश में भाग–दौड़ करनी पड़ी ।

तभी प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ और वे जापानी सेना में भर्ती हो गये । स्वदेश छोड़ना पड़ा किन्तु आर्थिक चिन्तायें इतनी नहीं रहीं । सैनिक प्रशिक्षण के दौरान उन्होंने कई अस्त्र–शस्त्रों का संचालन तथा युद्ध विद्या के पैतरें सीख लिए । घर पर माता–पिता खेती–बारी सम्हालते थे और युद्ध पर मोर्चा च्यांग । सेना में भर्ती होने का एक मात्र कारण आर्थिक परेशानियाँ ही थीं फिर भी सैनिक जीवन का अभ्यास उनके भविष्य में बड़ा काम आया । दृढ़ निश्चय, अनुशासन और संगठन शक्ति का उदय तथा विकास उनके सैन्य जीवन की ही देन है ।

चार साढ़े चार वर्ष तक सेना में रहे होंगे कि उन्हें पता चला चीन का एक युवक सनयात–सेन वहाँ की दुःस्थिति सुधारने और उसके लिए पूर्णरूप से जिम्मेदार विदेशी शासक को बदलने के लिए प्रयत्न कर रहे थे । चूँकि उनका स्वयं का जीवन भी चीन की व्यवस्था के कटु–अनुभवों का भुक्त भोगी था । इस व्यवस्था के प्रति उनमें तीव्र आक्रोश भी था इसलिए डॉ० सनयात सेन के समाचार और प्रयासों के सम्बन्ध में सुनकर च्यांग ने एक नयी प्रेरणा प्राप्त की ।

अपने लिए तो सभी जीते हैं । स्वयं की परिस्थितियों, अभावों और कष्ट–कठिनाइयों को दूर करने के लिए हर कोई प्रयास करता है । मैं भी इसी प्रकार की अन्धी दौड़ में भाग लूँ तो क्या खास बात हुई । च्यांग के अन्तःकरण में मानवीय विद्यमान भावनाओं ने बल पकड़ा और वे सोचने लगे–सेना में भर्ती होकर तो मैंने अपने ही परिवार की कठिनाइयों को दूर किया है । पारिवारिक अभावों को दूर कर देना ही पर्याप्त नहीं है वरन् विदेशी शासन के शोषण चक्र को बन्दकर सर्वसाधारण को जीवनयापन की सुविधायें तथा स्वातन्त्र्य सुख की परिस्थितियाँ लाना आवश्यक है । च्यांग स्वयं को इस विचार के क्रियान्वित करने हेतु तैयार करने में लग गये ।

तभी डॉ० सनयात सेन का आगमन जापान में हुआ और च्यांग ने उनसे सम्पर्क साधा । डॉ० सनयात सेन उत्साही और देशभक्त युवक के विचारों, भावनाओं तथा निष्ठा से बड़े प्रभावित हुए । उन्होंने च्यांग को अपना सहयोगी बना लिया और चीन में क्रान्ति द्वारा स्वाधीनता लाने के प्रयासों में जुट गये । डॉ० सनयात तो विदेशों में घूम–घूमकर क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे । च्यांग को वहीं रहकर जन–जागरण का कार्य सौंपा । फलस्वरूप उनकी प्रतिष्ठा ख्याति बढ़ने लगी । स्वाधीनतापरक कार्यक्रमों के सूत्रधार होने के कारण वे सरकार की दृष्टि में भी आये और पुलिस तथा विदेशी शासन के पिट्ठू उनके पीछे पड़ गये । च्यांग इधर–उधर छुपते फिरे और स्वयं को पकड़ से बचाये रहे । कई अवसरों पर जब वे बुरी तरह फँस गये थे कहीं से बचने का कोई रास्ता नहीं था । ऐसे समय पर उन्होंने धैर्य और सूझबूझ से काम लिया तथा बड़ी कुशलतापूर्वक आततायी तन्त्र से

अपने को बचा ले गये । स्वयं को सरकार की पकड़ में आने से बचाने के साथ-साथ वे अपना काम भी बड़ी तत्परता से पूरा कर रहे थे ।

निष्ठा और साहस के धनी च्यांग पर डॉ० सनयात सेन का विश्वास बढ़ता ही गया । उनकी गणना क्रान्तिकारियों तथा सनयात सेन के प्रमुख सहयोगियों में होने लगी थी । चीन की पीपुल्स पार्टी में भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान बन चुका था । सनयात सेन के जीवन काल में ही वे पीपुल्स पार्टी के केन्द्रीय कार्यसमिति के सदस्य भी चुने जा चुके थे । एक के बाद एक बड़े महत्व के उत्तरदायित्व उन्हें सौंपे गये और उन सभी को सफलतापूर्वक निबाहा ।

ज्यों-ज्यों उनकी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि फैलती रही त्यों-त्यों विदेशी शासन भी उनसे भय खाने लगा । प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाने से लेकर उन्हें गिरफ्तार करने और मरवा देने तक अनेकों प्रयास किये गये । प्रलोभनों को ठुकराकर और षड्यन्त्रों से बचकर च्यांग ने अपने लक्ष्य और कार्य के प्रति अटूट निष्ठा का परिचय दिया । च्यांग की इसी निष्ठा और लगन ने उन्हें डॉ० सनयात सेन का उत्तराधिकारी बनाया । अक्टूबर, १९११ में च्यांग की क्रान्ति के सफल हो जाने पर वे चीन की जनता के सामने खुलकर आये और स्वाधीनता का शंख फूँकने लगे ।

च्यांग की क्रान्ति से विदेशी शासकों का मनोबल बुरी तरह टूट चुका था । च्यांग तथा सनयात सेन का स्वतन्त्रता अभियान इस कारण और भी सफलतापूर्वक चलने लगा परन्तु सरकार ने अपनी दमन नीति को रंचमात्र भी ढीला नहीं किया । इसके बावजूद भी च्यांग तथा उनके सहयोगी निर्भयतापूर्वक कार्य में लगे रहे । च्यांग की क्रान्ति सफलता ने उनका मनोबल और आत्मविश्वास साधारण रूप से ऊँचा उठा दिया था । निष्ठा और धैर्य के साथ परिस्थितियों और प्रतिकूलताओं के प्रति निर्भयता भी जन्म ले लेती है तो व्यक्ति हो या समाज द्रुतगति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने लगता है । ऐसी स्थिति में वह प्राप्त परिस्थितियों से बिना घबराये और हार माने डटकर मुकाबला करता है, उन पर विजय प्राप्त करता है ।

च्यांग की क्रान्ति से विदेशी शासकों का मनोबल तो टूटा ही था वे बौखला भी गये । परिणामस्वरूप अन्धाधुन्ध कार्यवाहियाँ चलने लगीं । पकड़-धकड़ और सख्ती पहले से कहीं ज्यादा और कस दी गयी थी परन्तु दमन कभी भी जनता की आकांक्षाओं को कुचल नहीं सकता है । कुछ काल के लिए जन आक्रोश ठण्डा भले ही पड़ जाय पर अन्दर ही अन्दर सुलगता रहता है और अवसर पाकर भड़क उठता है ।

एक दूसरी स्थिति भी होती है । जिसमें दमन का परिणाम प्रतिक्रिया उतने ही वेग से उठती है । यह स्थिति जागरूक और उत्साही जन समाज में ही उत्पन्न होती है । चीन का तत्कालीन समाज भी च्यांग-काई-शेक, डा० सनयात सेन और उनके क्रान्तिकारी संगठन के प्रयासों से पूरी तरह जाग उठा था । विश्व में होने वाली घटनाओं ने उनमें साहस और आत्मविश्वास भी पैदा कर दिया था फलस्वरूप स्वाधीनता आन्दोलन अपनी धुरी पर और गतिमान हुआ । क्रान्ति का पहिया तेजी से घूमने लगा ।

तभी चीनी स्वाधीनता संग्राम को एक अपूरणीय क्षति हुई । सन् १९२५ में डा० सनयात सेन का देहान्त हो गया । पार्टी ने अपना नेता तथा क्रान्तिकारियों ने अपना अगुआ खो दिया । कुछ समय तक पार्टी के कार्यकर्त्ता इसी उधेड़बुन में रहे कि नेतृत्व के अभाव में किस प्रकार आन्दोलन आगे बढ़ाया जाये । नेता की तलाश में सभी की आँखें च्यांग-काई-शेक पर जा टिकीं और च्यांग सनयात सेन के योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुए । उन्होंने स्वतः स्वयं अपना नेता मानने और हर क्षेत्र में आगे बढ़ने, विदेशी दासता को परास्त करने का आह्वान किया । च्यांग अपने गुणों और कार्यों के कारण युवकों के प्रिय पात्र तो थे ही । लोगों ने उनके आह्वान को सुना और च्यांग के व्यक्तिगत जीवन से प्रभावित होकर आगे भी आये । किसी भी क्रान्तिकारी या जनसेवा के विचार मात्र ही आदर्श नहीं बनते । कार्यक्रम, योजनायें और सुझाव देने वाले तो सैकड़ों नहीं हजारों हैं परन्तु उनकी प्रेरणायें उनके स्वयं की जीवन में दिखाई न देने से बलहीन ही रही हैं । च्यांग ने आरम्भ से ही देश और समाज के लिए व्यक्तिगत तथा पारिवारिक हितों का बलिदान किया था । परिणामस्वरूप उनकी पुकार में भी वह शक्ति पैदा हुई जिसने लाखों-करोड़ों निष्प्राण शरीरों को झिंझोड़ कर खड़ा कर दिया ।

अन्ततः स्वाधीनता संग्राम सफल हुआ और १९२८ में चीन आजाद हो गया । च्यांग-काई-शेक चीन की राष्ट्रवादी सरकार के राष्ट्रपति बने । अब उनके सामने एक और बड़ा काम था वह था विभाजित चीन के एकीकरण का । बिखरी हुई चीनी जनशक्ति आपस की ही बातों में उलझकर नष्ट हो जाती थी फलस्वरूप उसे हर कोई दबा देता और शासक बन बैठता था । इतिहास के इस महत्त्वपूर्ण सूत्र को पकड़ कर उन्होंने चीन के एकीकरण की योजना बनायी और उसे भी उत्साह तथा साहसपूर्वक क्रियान्वित किया ।

सन् १९३८ तक च्यांग ने चीन के एकीकरण का जबरदस्त काम किया । इसके लिए उन्हें दुनिया की कई शक्तियों से मतभेद तथा शत्रुता मोल लेनी पड़ी । तभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनके कारण वे चारों ओर निराशा से घिर गये । जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी निराश न होने वाले च्यांग अपने कुछ साथियों से मतभेद हो जाने के कारण राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र देकर टोकियो-जापान चले गये । अभी उनके सामने

काफी काम पड़ा था जिसे पूरा करने के लिए चीन की जनता, उसके प्रतिनिधियों और विरोधियों तक का सहयोग वांछनीय था। कुछ लोगों द्वारा उन्हें बिल्कुल भी सहा नहीं गया परिणामस्वरूप विरोधियों को सन्तुष्ट करने के लिए वे अज्ञातवास में चले गये। टोकियो जाने की किसी को खबर ही नहीं हुई।

१९३१ से ३९ के दौरान जापानी सेनाओं ने चीन पर कई बार आक्रमण किया। प्रारम्भ में ही जब उन्होंने जापानी हमलों के समाचार सुने तो वे चुप ही नहीं बैठ सके और दुनिया के सामने खुलकर आ गये। इस संकट काल से निबटने के लिए विरोधियों ने भी मतभेद भुलाकर च्यांग को राष्ट्रीय नेता के रूप में स्वीकार कर लिया। वे चीनी सेनाओं के जनरल बने और इस बहादुरी तथा वीरता से जापानी हमलों का मुकाबला किया कि प्रतिपक्षी शत्रु को हारकर चुप बैठ जाना पड़ा। इस विजय ने उन्हें चीनी जनता का सर्वाधिक लोकप्रिय जननेता बना दिया। सन् १९४३ में उन्हें चीन का राष्ट्रपति चुना गया।

इससे पूर्व वे कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में इस उत्तरदायित्व को सम्हाल रहे थे। च्यांक–काई–शेक को अपने देश की जनता से असीम प्यार रहा है। उसके सुख के लिए उन्होंने बिना थके, विश्राम किये बारह–तेरह घण्टे तक परिश्रम किया। उनके राष्ट्रपतित्व काल में ही देश में कम्युनिस्टों का दबाव बढ़ता गया। माओ–त्से–तुंग आदि के नेतृत्व में एक जबरदस्त आँधी आयी और चीन की राष्ट्रवादी सरकार का पतन हो गया।

च्यांग–काई–शेक २१ जनवरी, १९४९ को अपनी मातृभूमि छोड़कर फारमोसा चले गये। यह चीन का ही एक भाग है जहाँ आज भी उनके नेतृत्व में संस्थापित लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था चल रही है। वे विश्वयुद्ध के समय से ही महानता को प्राप्त करने वाले चार व्यक्तियों में से एक माने जाते हैं।

च्यांग–काई–शेक ने अपने जीवन के माध्यम से विश्व के उन व्यक्तियों के सामने एक अनुकरणीय आदर्श रखा जो स्वयं अपनी तथा अपने परिवार की चिन्ताओं में ही व्यस्त रहते हैं और उन्हें पूरा करने के लिए ही मरते–खपते रहते हैं।

पुरुषार्थी गारफील्ड

डाँट सुनकर वह सहम गया। फटी–फटी आँखों से कुछ देर उसकी ओर देखता रहा, जिसकी अँगुलियों में थमी कलम उसका भाग्य लिख रही थी। तो क्या इन्सान का भाग्य किसी की मुट्ठी में कैद रहता है? पर वह तो दिन भर हड्डी तोड़ परिश्रम करता है, तब कहीं एक दो नहीं पूरे तीस दिन के बाद उसे मजदूरी मिलती है। तब उसके भाग्य की सृजेता उसकी मजबूत बाँहें हैं, उसकी श्रम शक्ति है अथवा कोई और? जबाब विचारों के जाल में उलझ कर रह गया। हाथ में आया बरखास्तगी का हुक्मनामा, जिसे लेकर वह चल पड़ा जिन्दगी की अनजानी राहों की ओर।

रह–रह कर उसके मन में सवाल उभरता "भाग्य बड़ा है या पुरुषार्थ" कभी–कभी ऐसा भी होता है कि अपने ही अन्दर से सवाल फूटते हैं फिर अपने ही मन के अनेकों कोनों से जबाव झाँकने लगते हैं, निकलते हैं, एक दूसरे पर झपटते हैं। बड़ी गहमा–गहमी के बाद किसी को जीत मिलती है। उसकी भी हालत कुछ ऐसी ही थी। उधेड़–बुन में पड़ा वह सोच रहा था क्या किया जाय? कहाँ जाना चाहिए।

खैर जैसे–तैसे एक नाटक कम्पनी में काम करने लगा वह। दो–तीन ड्रामों में सफल भी हुआ। कम्पनी के डाइरेक्टर ने उसे प्रमुख एक्टर की भूमिका सौंपी। उस दिन काफी खुश हुआ सोचा चलो इस बार पुरुषार्थ जीता। किन्तु कुछ ही दिनों बाद किसी बात पर नाटक कम्पनी वाले ने भी निकाल दिया। यह घटना उसे अन्दर तक हिला गई। सोचने पर विवश हुआ अरे नहीं भाग्य ही सब कुछ है पुरुषार्थ की कहाँ चल पाती है? पर वह जो पुरुषार्थ का पुजारी रहा है अपने इष्ट की पूजा करना छोड़ दे।

'नहीं' इस दृढ़ निश्चय के साथ वह फिर चल पड़ा। इस बार उसने मल्लाह का काम हाथ में सँभाला। नया–नया था, नाव चलाना भली प्रकार कैसे जानता? कई बार डूबते–डूबते बचा। कहीं साथियों को ही ले डूबता तो अदालत और जेल की हवा खानी पड़ती, इसलिए पहले ही समझदारी का काम किया। नाव छूट गई। नाव बेचकर चौकीदारी कर ली। मित्र मिलते और उपहास करते हुए इस चौकीदार से हँसकर पूछते–कहो भाई यह चौकीदारी कितने दिन चलेगी। युवक उनसे कहता जब तक कोई पदोन्नति न हो। इस बेचारे की पदोन्नति तो तब से होती जब कोई करता और हाँ! एक दिन जाँच करने वाले सिपाही ने उसे अयोग्य ठहराकर चौकीदारी से भी निकाल दिया। अभाव उसकी सम्पत्ति थी, विपत्ति उसकी सहचरी। इस सबके बाद पुरुषार्थ के प्रति उसकी निष्ठा बरकरार थी। मित्र–परिचितों के ताने–उलाहने के साथ यह और मजबूत हो जाती। निरन्तर की असफलताओं के बाद उसने एक ही ध्येय बनाया था पुरुषार्थ जीवन के सौभाग्य की सृष्टि करता है इसे स्वयं जीवनव्यापी प्रयोग से सिद्ध करना है।

इस बार काफी भटकना पड़ा। आखिर में एक छोटे स्कूल में सामान्य शिक्षक की जगह मिल गई। पढ़ाता भी था

पढ़ता भी था । अपने समय के प्रत्येक अंश को सदुपयोग करने की अनूठी कला भी सीखता । अपने मित्रों में बैठकर पुरुषार्थ से सौभाग्यों की सृष्टि वाली बात कहता तो सभी हँस पड़ते । हरेक कहता यहाँ से निकाले न जाओ यही बहुत ।

इस बार वह निकाला नहीं गया स्वयं निकला, सेना में नौकरी करने के लिए विद्यालय से जाँच रिपोर्ट माँगी गई तो वहाँ के हैडमास्टर ने लिख भेजा नेक, परिश्रमशील परिस्थितियों से न घबराने वाला युवक । सेना में कप्तान बना । वहाँ से उसने अपने मित्र को पत्र लिखा "पुरुषार्थ तो बरगद का बीज है । दिखने में छोटा लगता है तनिक गहरे पड़ता है और देर से अंकुरित होता है । मेरे पुरुषार्थ ने अंकुर देने आरम्भ कर दिये हैं, विकसित होने पर तो पूरे अमेरिका को छाया देगा ।"

सचमुच यह पुरुषार्थ का अंकुरण था । सेना से वह लोकसेवा के क्षेत्र में उतरा । राजनीतिक अभिरुचियों, जन सम्पर्क, व्यवहार कौशल सभी ने एकमत होकर उसे अमेरिका का प्रेसीडेण्ट बनाया । मजदूर से राष्ट्राध्यक्ष तक की यात्रा करने वाला यह व्यक्ति था गारफील्ड । यदि पुरुषार्थ का बीज जन-जन के जीवन में अंकुरित हो सके तो सब न केवल सौभाग्यों की सृष्टि कर सकेंगे, बल्कि अनेकों को छाया देकर कृतार्थ भी ।

जिन्हें देशभक्ति के पुरस्कार में मृत्युदण्ड मिला–

कैप्टन तनामा

टोकियो स्थित रूसी दूतावास में वहाँ के एक रूसी सैनिक सलाहकार ने सेण्ट पिट्सवर्ग एक लिफाफा भेजा । घटना २०वीं शताब्दी के आरम्भिक दशक की है । पैकेट में जो कागज रखे हुए थे वे बड़े सामरिक महत्त्व के थे । उसमें जापानियों द्वारा की गयी सुरक्षात्मक तैयारियों का पूरा तरीका तथा ब्यौरा था और उस समय रूस जापान पर अपना प्रभुत्व जमाने की योजना और व्यवस्था बना रहा था । सैनिक सलाहकार ने उस पैकेट के साथ जो पत्र भेजा था उसमें लिखा गया था कि ये सारे विवरण कैप्टेन तनामा से प्राप्त हुए हैं । वही तनामा जिसने बदनामी के भय से रूस छोड़ दिया था तथा यही नहीं रूस के लिए जापान में जासूसी करने का वचन दिया था । यद्यपि तनामा जापान की ओर से रूस में नियुक्त राजदूत के सैनिक सलाहकार थे । परन्तु परिस्थितियों तथा घटनाओं ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि उन्हें रूस छोड़ने तथा अपने देश की ही गुप्त तैयारियों का विवरण रूस भेजने का कार्य करना पड़ा ।

कैप्टेन तनामा एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे । उनका कद सामान्य जापानियों की तरह ठिगना नहीं वरन् छह फुट ऊँचा था । उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन, व्यवहार और वार्तालाप किसी संभ्रान्त कुल का सदस्य होने की घोषणा करते थे और सचमुच थे भी वे संभ्रान्त पिता की संतान । उनके पिता जापान के तत्कालीन सम्राट मिकाडो के निजी सचिव थे । एक राजपरिवार से सम्बन्धित होने के कारण तनामा के व्यक्तित्व से मोहक शालीनता और चुम्बकीय आकर्षण टपक पड़ता था ।

अपनी निर्धारित फौजी वेशभूषा पहनने के बाद तो उनके व्यक्तित्व की प्रभावोत्पादक क्षमता और भी कई गुना बढ़ जाती थी । रूस के अधिकारीगण जब उनके सम्पर्क में आये तो उन्हें सन्देह होने लगा कि हो न हो तनामा कोई जापानी गुप्तचर है । उनकी बातचीत जितनी सौम्य और शालीन होती थी उतनी ही नपी-तुली और सतर्क सावधान भी हुआ करती । फिर भी उनके व्यक्तित्व में तो ऐसा आकर्षण था जिससे साधारण कर्मचारी से लेकर उच्च अधिकारी और राज्य परिवार के सदस्यों तक ने उनसे मैत्री सम्पर्क बनाये । अच्छे-अच्छे अधिकारियों में उनका उठना बैठना देखकर तो रूसी अधिकारियों का माथा और भी ठनका । क्योंकि इससे कभी भी कोई भी गुप्त कार्यों और योजनाओं की सूचना तनामा के माध्यम से जापान पहुँचने की सम्भावना रहती थी । इसीलिए रूस के शासन तन्त्र को तनामा के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए विवश कर दिया ।

इस उद्देश्य से प्रयास किये गये । परन्तु उनमें सफलता मिलना तो दूर उल्टा सिरदर्द पैदा होने लगता । तनामा को भगाने के उद्देश्य से भेजा गया व्यक्ति उल्टा उनका प्रशंसक बनकर लौटता था और इस तथ्य को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करता एवं स्वीकार करने का आग्रह भी करता कि तनामा जैसे व्यक्ति को रूस में स्थायी रूप से रहने का प्रबन्ध करना चाहिए । किसी भी देश में किसी भी व्यक्ति ने इतना व्यापक और इतना सघन आच्छादन नहीं किया अपने व्यक्तित्व का जितना कि तनामा ने ।

उन दिनों रूसी सेना के गुप्तचर विभाग में प्रमुख पद पर थे जनरल यब्लोंस्को । जापान से युद्ध की सम्भावनायें दिनोंदिन नजदीक आती जा रही थीं । सभी अधिकारियों तथा सेनाध्यक्षों के लिए यह बड़ी चिन्ता की बात थी और ये सभी लोग विश्वास करते थे कि यब्लोन्सको जो अपने फन के उस्ताद हैं, साम-दाम, दण्ड, भेद कोई भी तरीका आजमाकर वे अपना मन्तव्य पूरा कराने में सक्षम हैं । इसलिए सुनियोजित ढंग से तनामा को रूस के बाहर करने का कार्यभार उन्हें ही सौंपा गया । यब्लोसको ने सभी साधारण उपाय आजमा लेने के बाद कूटनीतिक कौशल का सहारा लिया । राजनीति में सुरा और सुंदरी का प्रयोग सदा से होता रहा है । अन्य साधारण उपायों की अपेक्षा ये दोनों उपाय अधिक कारगर हैं । यब्लोन्सको ने एक सुन्दर

अभिनेत्री इल्तिन्सकाया को अपना मन्तव्य पूरा करने के लिए नियुक्त किया । उन्होंने इस अभिनेत्री को भारी पारिश्रमिक देकर इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह उनके संकेत पर काम करेगी ।

इल्तिन्सकाया ने बड़े सहज ढंग से तनामा से परिचय किया और उन पर अपने रूप का जादू चला दिया । तनामा इस अद्वितीय सुन्दरी के रूपजाल में फँस गये । परिचय सम्पर्क में बदला और सम्पर्क के बाद मुलाकातों का नित्य क्रम चला । रूसी अधिकारी जब इसके लिए पूर्णतया आश्वस्त हो गये कि तनामा इल्तिन्सकाया की मुट्ठी में आ गये हैं तो उन्होंने पैंतरे बदले ।

एक शाम मास्को के एक समृद्ध होटल में तनामा अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा में बैठे थे । इसी होटल में प्राय: वे प्रतिदिन मिला करते थे और प्राय: थोड़ी बहुत आगे-पीछे दोनों आ जाते थे । साथ बैठ कर खाते, साथ बैठकर मनोरंजन करते और चर्चायें चलती रहतीं । इस दिन जब तनामा की प्रेयसी निर्धारित स्थान पर आकर बैठी तो उसका चेहरा चिंतित–सा था । लगता था कोई गम्भीर समस्या आ खड़ी हुई है जिससे इल्तिन्सकाया का चेहरा पीला पड़ गया है । तनामा ने चिंता का कारण पूछते हुए कहा–क्या बात है । आज तुम कुछ परेशान–सी दीख रही हो ।

"नहीं तो कोई बात नहीं है," बात को टालते हुए से इल्तिन्सकाया बोली ।

तनामा ने जोर दिया तो उसने कहा–"और कोई कारण नहीं है । मेरा सिर्फ इतना कहना है कि जितना शीघ्र हो सके हम लोगों को विवाह कर लेना चाहिए ।"

"परन्तु मैंने तो कभी यहाँ तक सोचा नहीं है । मैं तुम्हें एक मित्र की भाँति ही मानता रहा हूँ । आज एकाएक तुम यह प्रस्ताव क्यों रख रही हो ।"

"तुम्हें मेरे प्रस्ताव को मान ही लेना चाहिए क्योंकि मैं अब माँ बनने वाली हूँ"– इल्तिन्सकाया ने रहस्योद्घाटन किया ।

"लेकिन मैं तो कभी उस स्तर तक नहीं गिरा । बच्चा मेरा कैसे हो सकता है–" तनामा इस रहस्योद्घाटन से विस्मित हुए । स्पष्ट था कि जिसे वे अपनी प्रेयसी समझ कर पवित्र हृदय से प्रेम करते रहे वह इतनी पतिता निकली ।

भले ही तुम्हारी बात सच हो । परन्तु मैं जो कह रही हूँ यह भी सच है और उससे बड़ा सच है क्योंकि लोग इसका पिता तुम्हें ही ठहरायेंगे । सब जानते हैं कि हम और तुम एक साथ बैठा करते हैं, मनोरंजन किया करते हैं, साथ-साथ खाते पीते हैं ।

"मैं विवाह नहीं कर सकूँगा इल्यिन्ससकाया"–"तो मैं तुम्हें बदनाम कर दूँगी"–इल्यितन्सकाया ने धमकी दी और यह धमकी काम कर गयी । तनामा विवाह के लिए तो तैयार नहीं हुए परन्तु उनके चेहरे पर चिंता और परेशानी के भाव झलकने लगे थे और वह अभिनेत्री जो अभी तक प्रेम का नाटक कर रही थी वहाँ से उठकर चली गयी ।

तनामा एक छलावे में आ गये थे । उस समय जनरल यब्लोन्सको भी जो उनमें घनिष्ठ मित्र बन चुके थे और बेचारे तनामा उन्हें अपना शुभचिंतक मित्र समझ बैठे थे जबकि यब्लोन्स्को के ही बुने जाल में वो फँस चुके थे । उस समय होटल से निकलकर उन्होंने अपने इसी मित्र को फोन किया और यथाशीघ्र मिलना चाहा । तनामा का फोन सुनते ही यब्लोन्सको सब कुछ समझ चुके थे । जैसी कि उन्होंने आशा की थी सब कुछ उसी प्रकार घटित हुआ था और तनामा इस सम्बन्ध में उनकी अविलम्ब सहायता चाहते थे ।

जैसा चाहा तो वैसा ही रास्ता मिल गया हो तो फिर देरी किस बात की ? येब्लोन्स्को ने तनामा को उसी स्थिति में आने के लिए कह दिया और उनके आने का इंतजार करने लगे । तनामा से पूरी घटना सुनने के बाद उन्होंने पूछा--अब तुम क्या सोचते हो । क्या किया जाना चाहिए ?

जनरल मैं डरपोक नहीं । मैं कलंक से भी नहीं घबराता । लेकिन परिवार की प्रतिष्ठा का मुझे ध्यान आता है तो उसके लिए मैं बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को भी तैयार हूँ । यदि मैं आत्महत्या भी करना चाहूँ तो बिना किसी हिचकिचाहट के कर सकता हूँ परन्तु इसके समाचार यदि जापान तक पहुँचे और मेरे माता-पिता को पता चला तो वे इस धक्के को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे । जनरल मैं आपसे उपयुक्त सलाह और मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए आया हूँ ।"

"ठीक है एक रास्ता तुम्हारे लिए पहले से ही तैयार है चाहो तो उस पर चलकर तुम अपनी समस्या का समाधान कर सकते हो । परन्तु उसके लिए कुछ कुर्बानी करनी पड़ेगी ।"

"कुर्बानी, मैं सब कुछ कुर्बान कर सकता हूँ"–तनामा ने समझा कि समस्या के समाधान हेतु कुछ रुपये की आवश्यकता होगी शायद इसलिए उन्होंने पूछा–"कितने रूबल चाहिए" ।

रूबल नहीं–यब्लोन्सको ने कहा–कुछ शर्तें हैं जिनको तुम्हें पूरा करना पड़ेगा ।

शर्तें–तनामा को थोड़ा अप्रत्याशित सा लगा फिर भी उन्होंने पूछा–"क्या शर्तें ?"

'तुम पहले तो रूस छोड़ दो । बदनामी से बचने के लिए यह तो तुम भी जरूरी महसूस करते ही होगे ।'

"हाँ हाँ ! क्यों नहीं ? यह तो बहुत जरूरी है और, दूसरे यह कि तुम्हें जापान में रहकर वहाँ के सैनिक रहस्यों का पता लगाना होगा । टोकियो में रहकर तुम्हें रूस के लिए गुप्तचरी का काम करना पड़ेगा ।"

अंतिम बात ने तनामा की आँखें खोल दी थीं। उन्होंने जान लिया कि जो कुछ भी हुआ है वह सब एक सुनियोजित षड्यन्त्र के अनुसार हुआ है। उन्हें इस स्थिति की कल्पना भी नहीं थी और इस समय जब दो में से एक का चुनाव करना था–बदनामी से भय मुक्ति या देश की सुरक्षा तो पलड़ा देश का ही भारी लग रहा था। काफी सोच विचार करने के बाद उन्होंने जनरल की शर्तें मंजूर कर लीं। उन्होंने कहा–''जनरल मुझे ये शर्तें मंजूर हैं।''

बस तो फिर अपने आपको बदनामी के भय से भी मुक्त समझो। अगले दिन ही तनामा ने सेंट पीटर्सबर्ग छोड़ दिया। रूस के अधिकारी अब जापान विजय को निरापद समझकर तैयारियाँ करने लगे। उन्हें तनामा से भी कुछ महत्त्वपूर्ण सुराग हाथ लगने की आशा थी और वे प्रतीक्षा करते रहे थे लम्बे दिनों तक कि अब तनामा का भेजा हुआ कोई सूत्र उन तक पहुँचे।

बहुत दिनों तक इंतजार करने के बाद भी जब कोई सूचना या सन्देश नहीं मिला तो उन्होंने आशा ही छोड़ दी। सोचने लगे कि हो सकता है टोकियो पहुँचकर तनामा ने जासूसी करना पसंद न किया हो। लेकिन तभी वह पैकेट मिला जिसकी आरम्भ में चर्चा की जा चुकी है। उस पैकेट में सामरिक महत्त्व के कागज थे और इसके साथ ही यह सूचना भी कि ये कागजात तनामा द्वारा प्राप्त हुए हैं। यह और भी लाभ की प्रामाणिक बात थी। क्योंकि तनामा की जापान के राजपरिवार में गहरी पहुँच थी और किसी भी रहस्य सूत्र से वे अनभिज्ञ नहीं थे।

आरम्भ में तो रूसी अधिकारियों को कई कारणों से यकीन नहीं आया कि तनामा ने सही जानकारी भेजी है लेकिन बाद में समाचार आया था के कैप्टेन तनामा को जापानी सरकार के युद्ध कार्यालय से युद्ध सम्बन्धी कागज चुराते समय पकड़ लिया है और उस पर यह अभियोग लगाया गया कि वह दुश्मन के लिए जासूसी कर रहा है तथा इस अपराध के दण्डस्वरूप उसे तुरन्त ही मार डाला गया। बाद में तनामा के पिता ने भी आत्महत्या कर ली।

इस समाचार ने रूसी अधिकारियों को पूरी तरह आश्वस्त कर दिया उन सूचनाओं के प्रति जो तनामा द्वारा भेजी गयी थीं। सन् १९०४ में यलू नदी के तट पर जापानी और रूसी सेनाओं में भयानक युद्ध छिड़ा। रूसियों को पूरी आशा थी विजय उनकी ही होगी। लेकिन इस आशा से विपरीत रूसियों का पीछे हटना पड़ा। रूस बड़ी बुरी तरह हारा। तो क्या तनामा ने गलत सूचनायें दी थीं–परन्तु उसे तो मृत्युदण्ड दिया गया था।

जनरल येब्लोन्सको के सामने बड़ी अजीब गुत्थियाँ और वे सब सुलझायीं एक युद्ध बंदी सैनिक अधिकारी ने। उसने बताया कि–जनरल तनामा को सम्राट ने विशेष रूप से सम्मानित किया है। देश की प्रतिष्ठा बचाने के लिए, मरणोपरान्त–मृत्युदण्ड देने के बाद और मृत्यु दण्ड इसलिए दिया गया था ताकि रूसियों को इस बात का विश्वास हो जाये कि जो सूचनायें भेजी गयी हैं वे यद्यपि गलत और भटकाने वाली थीं परन्तु वे सही हैं।

यब्लोन्सको को लगा कि तनामा आखिर उसे अँधेरे में रखने में सफल हो गये हैं। उन्होंने अपनी देशभक्ति के पुरस्कार में स्वेच्छा से मृत्युदण्ड का वरण कर लिया और उन्हीं के कारण जापान की विजय हुई। जबकि जापान के पास रूसियों की अपेक्षा अधिक शक्ति और सामर्थ्य नहीं थी फिर भी स्वदेश प्रेम की अशेष–भावना–जिसके आगे बड़ी-बड़ी शक्तियाँ घुटने टेक देती हैं–जापानियों के पास थी और उसी कारण पासा उनकी ओर ही उलटा।

वस्तुतः दो राष्ट्रों के युद्ध में सैन्यशक्ति, उनकी संहार क्षमता नहीं जीतती वरन् जीतती है उस राष्ट्र के नागरिकों की देशभक्ति, स्वातन्त्र्य प्रेम और मातृभूमि पर बलिदान होने की साहसिकता। इसी प्रकार कोई देश इसलिए ऊँचा नहीं उठता कि उसके पास कल-कारखानों का अम्बार और प्राकृतिक साधनों का भण्डार है वरन् इसलिए उन्नत होता है कि उसके नागरिकों में राष्ट्र देवता के प्रति अगाध निष्ठा है, अटूट प्रेम है और अक्षय कर्म–शक्ति। निष्ठावान नागरिक ही किसी राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। कैप्टन तनामा ने अपने राष्ट्रीयहित के लिए स्वयं के प्राणों की बाजी लगा देने का साहस किया और उसने अपने देश का मस्तक गर्वोन्नत किया। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि तनामा को घाटे में रहना पड़ा हो, उसे मृत्यु के बदले मिला अगर जीवन और देशवासियों की श्रद्धा–पूजा। बाद में जब कुर्बानी का यह प्रकरण सामने आया तो देशवासियों के हृदय तनामा के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा भाव से भर गये।

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री–

एडवर्ड हीथ

ब्रिटेन में १८ जून को चुनाव परिणाम की घोषणा हुई। ५४ वर्ष पूर्व समुद्र तटवर्तीय कट में जन्मे एडवर्ड रिचर्ड जार्ज हीथ को प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिल गया। ८१ वर्षीय वृद्ध पिता को अपने पुत्र के प्रधानमंत्री बनने का जैसे ही समाचार मिला वैसे ही प्रसन्नता के साथ उन्होंने आसपास खड़े लोगों से कहा 'सचमुच आज मेरा स्वप्न पूरा हो गया। जब हीथ १६ वर्ष का था तब किसी ने कहा था कि वह एक न एक दिन प्रधानमंत्री अवश्य बनेगा।'

ब्रिटिश समाज में जहाँ वर्ग–भेद की भावनाएँ अपनी पराकाष्ठा पर हों वहाँ बढ़ई के लड़के को अपनी प्रगति के लिए कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। हीथ किशोरावस्था से ही सस्ती लोकप्रियता से दूर रहने लगे थे। इन्हें अपने साथियों और परिचितों से जो सम्मान मिला वह इसलिए नहीं कि यह सम्पन्न परिवार में जन्मे थे वरन् इसलिए कि उनमें विचारों की दृढ़ता तथा परिश्रमशीलता जैसे अद्भुत गुण थे।

पब्लिक स्कूलों में पढ़ने का अवसर इन्हें कहाँ मिला था ? घर में इतना पैसा कहाँ से आया ? अतः ऑक्सफोर्ड के बैलियोल कॉलेज में छात्रवृत्ति के बल पर प्रवेश मिला। नाम था छात्रवृत्ति का, पर इसका रूप मजदूरी जैसा था। हीथ प्रार्थना के समय गिरिजाघरों में बाजा बजाता और उसके पारिश्रमिक रूप से प्राप्त धनराशि से पढ़ाई-लिखाई तथा खाने-पीने का खर्च चलाता था।

संगीत की उन स्वर लहरियों के बीच भविष्य की अनेक योजनाएँ बनती बिगड़ती थीं। अनेक महत्त्वाकांक्षाएँ उठतीं और फिर विलीन हो जातीं। हीथ अवसर का उपयोग करना अच्छी तरह जानते थे। नाजीवाद और फासीवाद की चुनौतियों के कारण महायुद्ध की विकराल लपटें दूर देशों तक को प्रभावित कर रही थीं। इस युद्ध से ब्रिटेन को भी खतरा था। आखिर मातृभूमि पर आये संकट को हीथ चुपचाप बैठकर कैसे देख सकते थे ? उन्होंने देश सेवा हेतु सैन्य विभाग को अपनी सेवाएँ समर्पित कर दीं। सैन्य संघर्ष में उन्होंने विषम से विषम परिस्थितियों का प्रसन्नता तथा उल्लासपूर्वक सामना करना सीखा। आने वाली किसी भी कठिनाई से वह विचलित नहीं हुए और एक दिन स्थल सेना के लेफ्टिनेण्ट कर्नल पद पर पहुँच गये।

युद्ध समाप्त हो गया, हीथ का सैनिक जीवन भी उसके साथ समाप्त हुआ पर उससे प्राप्त अनुभव उन्हें राजनीतिक जीवन में आज भी काम दे रहे हैं। वह जानते हैं कि शक्तियों को केन्द्रित करके बड़े से बड़े कार्यों में किस प्रकार सफलता प्राप्त की जा सकती है। महायुद्ध समाप्त हो जाने के पाँच वर्ष बाद हीथ का राजनीतिक जीवन प्रारम्भ हुआ। इस बीच वे पत्रकार तथा बैंक कर्मचारी भी रहे। आने वाली कठिनाई का दृढ़ता से सामना करना उनके जीवन का प्रमुख अंग बन चुका था अतः अनेक व्यवसायों का अनुभव इन पाँच वर्षों में उन्हें प्राप्त हो गया

सन् १९५०। ब्रिटेन में आम चुनाव की जोरदार तैयारियाँ। स्थान-स्थान पर राजनीतिक चर्चाएँ। हीथ ने सोचा कि आक्सफोर्ड में जो धुँधली और अस्पष्ट योजनाएँ बनाईं थीं उन पर गहरा रंग भरने का समय अब आया है। यदि आज थोड़ी असावधानी की गई तो वर्षों के बाद आया हुआ अवसर हाथ से निकल जायेगा और एक बार गया अवसर फिर जल्दी कहाँ लौटता है। वह दक्षिण लंदन चुनाव-क्षेत्र से अनुदार दल के प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़े और सफल हुये।

हीथ जिस रूप में भी सामने आये, ऐसे कार्य करके दिखाये कि लोग उनकी प्रतिभा से प्रभावित हुये बिना न रह सके। उन्होंने अपने दल के बड़े से बड़े नेता का विश्वास प्राप्त कर लिया था इसीलिए वे एक के बाद दूसरे महत्त्वपूर्ण पदों पर बढ़ते चले गये। उन्हें श्रममंत्री बनाया गया और बाद में व्यापार मंत्रालय का अध्यक्ष। व्यापार मंत्री बनने पर उन्होंने यूरोप की साझामंडी में ब्रिटेन की सदस्यता के प्रश्न को उठाया। इस प्रश्न को उठाने वाले हीथ ही प्रथम व्यापार-मंत्री थे। फ्रांस के राष्ट्रपति ने यद्यपि पूरी शक्ति के साथ इस प्रश्न का विरोध किया पर उन्हें यह कहना पड़ा 'आज नहीं तो फिर, हीथ के नेतृत्व में ब्रिटेन साझामंडी में आकर रहेगा।'

हीथ संसद में अपने विरोधियों के प्रश्नों का उत्तर भी बड़ी विद्वता तथा कुशलता के साथ देते थे। सन् १९६४ के आम चुनाव के बाद जबकि श्रमिक दल की विजय हो चुकी थी अनुदार दल के सम्मुख नेतृत्व के लिए दो व्यक्ति थे। एक रेजिनाल्ड माडलिंग और दूसरे एडवर्ड हीथ। राजनीतिज्ञों की धारणानुसार माडलिंग के नेतृत्व से दल को अधिक लाभ था। क्योंकि यह अनुभवी और लोकप्रिय व्यक्ति थे। पावेल के अश्वेत विरोधी अभियान के कारण अनुदार दल विघटित होता जा रहा था। हीथ के विरोध में पावेल की शक्ति बढ़ती जा रही थी। इसके साथ ही विल्सन का व्यक्तित्व हीथ के लिए चुनौती था। इन विषम परिस्थितियों में अनुदार दल का नेतृत्व करने का अवसर हीथ को मिला, पर उन्होंने अपनी सूझबूझ, परिश्रमशीलता, दृढ़ता और धैर्य से काम लेकर लोगों पर अपने व्यक्तित्व की छाप डाली।

हीथ जब विल्सन को अपदस्थ करने की तैयारियाँ कर रहे थे उस समय अनेक टोरियों का ही यह विश्वास था कि अपने नेता की अपेक्षा विल्सन अच्छे प्रधानमंत्री हैं। विल्सन के व्यक्तित्व में ऐसा जादू है कि वे जन सम्पर्क के द्वारा मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना बना लेते हैं। इसके विपरीत हीथ मिलने-जुलने में कतराते हैं। हीथ को ललित कलाओं से प्रेम है। धर्म में आस्था है। उन्होंने कुछ महीनों के प्रयत्न के बाद ही यह दिखा दिया कि व्यक्ति भले ही किसी जाति में जन्म ले, साधन-सुविधाओं की भले ही कमी हो पर अपनी परिश्रमशीलता, ईमानदारी, सूझबूझ और अवसर का सदुपयोग, ऐसे मानवीय गुण हैं, जिनको विकसित करके एक बढ़ई का साधनहीन पुत्र ब्रिटेन जैसे देश का प्रधानमंत्री बन सकता है।

गिनि बिसाऊ का स्वातंत्र्य स्रष्टा–

एमिलकार कब्राल

पुर्तगाल के भूतपूर्व सालाजार के रिश्तेदार जनरल ऐंटोनियो स्पिनोला–गिनी बिसाऊ राज्य के अन्तिम उपनिवेशवादी प्रशासक ने गिनी बिसाऊ के राष्ट्रवादियों का दमन करने के लिये दोहरी चाल चली। एक ओर तो उसने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सरगर्मियाँ तेज कीं दूसरी ओर सुधारों का ढकोसला रचा। किन्तु उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली। तब उसने दूसरी ही चाल चली गिनीबिसाऊ के स्वतंत्रता सेनानी, सिद्धान्तशास्त्री व मार्गदर्शक एमिलकार कब्राल की हत्या कराने की। वह

समझता था कि कब्राल की हत्या के बाद स्वतन्त्रता पाने के लिये गठित की गयी सेना, जो अब पुर्तगाली साम्राज्यवादियों के लिये सिरदर्द बन चुकी थी, की गतिविधियाँ कमजोर पड़ जाएँगी और पुर्तगाली शासन सुदृढ़ हो जाएगा। अधिक न सही तो कम से कम दस बीस वर्ष तक तो ये गिनि बिसाऊ में बने रह सकेंगे।

जनरल स्पिनोला एमिलकार कब्राल की हत्या करने में तो सफल हो गया पर जिस प्रयोजन से उसने कब्राल की हत्या करवायी थी वह पूरा न हो सका। क्रान्ति के सेना नायक के मरने से क्रान्ति रुकी नहीं।। २० जनवरी, १९७३ को कब्राल की हत्या हुई और उसके ठीक आठ महीने बाद ही राष्ट्रवादियों ने गिनी बिसाऊ से पुर्तगालियों को भगा दिया। सितम्बर, १९७३ के अन्तिम सप्ताह में पाँच सौ वर्ष पुराने पुर्तगाली उपनिवेश की समाप्ति हुई और एक स्वतंत्र राष्ट्र का उदय हुआ। कब्राल का स्वप्न साकार होकर रहा।

देश की इस आजादी के इक्कीस वर्ष पूर्व एमिलकार कब्राल लिस्बन विश्वविद्यालय से कृषिशास्त्र का स्नातक बनकर स्वदेश लौटा था तब वह राष्ट्रवादी आन्दोलन का सेनानी नहीं वरन् उपनिवेशी शासन का एक साधारण कर्मचारी था। उसे कार्य सौंपा गया था जनगणना करने का।

मध्यम वर्ग के एक अफ्रीकी परिवार में जन्मे एमिलकार कब्राल को छात्रवृत्ति के सहारे पुर्तगाल जाकर लिस्बन विश्वविद्यालय में पढ़ने का अवसर मिला था। एक सामान्य मध्यवित्त परिवार के युवक को योरोपीय विश्वविद्यालय की डिग्री और तत्पश्चात् अच्छी सरकारी नौकरी के बाद और क्या चाहिए था। यह स्थिति किसी सामान्य युवक के लिये संतोषजनक सिद्ध हो सकती थी। पर कब्राल कुछ दूसरे ही ढंग से सोचने वाला युवक था। उसे अपनी ही सुख-सुविधाओं और उन्नति की कामना नहीं थी। वह इतना स्वार्थी और संकीर्ण भला कैसे बन सकता था।

जनगणना का कार्य करते हुए उसे अपने देशवासियों की दयनीय दशा देखने को मिली तो फिर उसके लिये सरकारी नौकरी करते रहना सम्भव न हो सका। उसने अपने बारे में लिखा है–"अब मैंने अपनी आँखों से जनता का शोषण देखा। मैंने देखा कि मेरे देश के ग्रामवासियों को विवाह-मृत्यु आदि पर ही नहीं पारम्परिक उत्सवों पर भी सरकार को कर देना पड़ता है, लेकिन देश के प्रशासन, राजनीति और अर्थव्यवस्था में उनके लिये छोटा से छोटा स्थान भी नहीं है।"

अपने देशवासियों की इस दशा पर उसे बड़ा दुःख हुआ। चौदह हजार वर्ग मील क्षेत्रफल वाले गिनी बिसाऊ में न तो कोई रेलमार्ग था और न ही कोई बड़ा कल-कारखाना केवल राजधानी बिसाऊ में एक कारखाना था जिसमें केवल ३०० श्रमिक काम करते थे। मूँगफली और उसके तेल के निर्यात व्यापार पर ४,००० पुर्तगाली अधिकार किये हुए थे। ये मुट्ठी भर पुर्तगाली गोरे सात लाख अफ्रीकियों का शोषण कर रहे थे। इन लोगों के लिये खेती और मजदूरी के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था।

सर्वत्र निरक्षरता का साम्राज्य छाया हुआ था। ९० प्रतिशत लोग निरक्षर थे। पूरे राज्य में केवल एक हाईस्कूल तथा चार-पाँच प्राइमरी स्कूल थे। पुर्तगाली सरकार नाममात्र को सुधार और कल्याण का ढकोसला रच दिया करती थी बाकी तो उनका जो शोषण क्रम चलता था वह चल ही रहा था।

कब्राल ने सोचा उसकी पढ़ाई, उसकी जवानी और उसका यह जीवन यदि अपने देश के लिये नहीं लग सका तो उसकी सार्थकता क्या होगी? लाखों लोग पुर्तगाली शोषण में चक्की पीसते रहें और वह भी उन्हीं शोषकों की गुलामी करके कुत्ते की तरह उनके सामने दुम हिलाता रहे यह तो पशु से भी बदतर जीवन होगा। नहीं वह अपने देशवासी भाइयों में जागरण का शंख फूँकेगा। चाहे उसे सारा जीवन ही क्यों न बलिदान करना पड़े वह अपने देश की स्वतंत्रता के लिये काम करेगा।

१९५६ में कब्राल ने थोड़े से उत्साही नवयुवकों का एक राष्ट्रवादी दल गठित किया। उसका नाम रखा गया गिनी और केपवर्ड की स्वाधीनता के लिये अफ्रीकी दल जिसका संक्षिप्त नाम है पी० ए० आई० जी० सी०। आरम्भ में इसका कार्य छुटपुट श्रमिक आन्दोलनों व हड़तालों के माध्यम से जन-जागरण करना था। आगे चलकर यही दल गिनी बिसाऊ का समर्थ राष्ट्रवादी दल बना और उसने पुर्तगालियों को गिनी बिसाऊ से बाहर खदेड़ने में सफलता पायी।

दल के गठित हुए कुछ ही वर्ष हुए थे कि गोदी कर्मचारियों की हड़ताल के सिलसिले में गोरी सरकार ने ५० अफ्रीकियों को गोलियों से भूनकर रख दिया। इस घटना से कब्राल ने शिक्षा ली। नगरों से नहीं गाँवों से, जहाँ पुर्तगाली सरकार की पहुँच कम है। निर्जन जंगलों में जहाँ आत्मरक्षा सम्भव है अपनी क्रान्ति के गढ़ बनाए जायें।

यह काम कोई हँसी खेल नहीं था। किसानों को क्रान्ति में साझीदार बनाना सहज कार्य नहीं था और फिर ऐसी स्थिति में तो यह और भी कठिन था जब पुर्तगाली दमन चक्र तेजी से चल रहा हो। कब्राल और उसके साथियों को बड़े दुःख सहने पड़े। कई वर्षों तक वह पड़ोसी देश गिनी की राजधानी कोनाक्री में राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के लिये स्कूल चलाता रहा। स्कूल क्या था नगर के बाहर दो कमरों की एक छोटी-सी कुटिया जहाँ बैठकर कब्राल ने गिनी बिसाऊ को स्वतन्त्र कराने की सारी योजना गढ़ी, कार्यकर्त्ता तैयार किये थे। ये कार्यकर्त्ता गिनी बिसाऊ के ग्रामीण अंचलों में जाकर स्वतन्त्रता की ज्योति जलाया करते थे।

उसकी युद्ध पद्धति छापामार पद्धति थी। शठे शाठ्यम समाचरेत् की रीति-नीति अपनाने वाले कब्राल ने

पुर्तगालियों की राज्य लिप्सा को पूरी तरह समझा था । वे खुले आन्दोलनों और असहयोग आन्दोलन की भाषा नहीं समझते थे । उन्हें तो शस्त्रों की भाषा में ही समझाना पड़ता था । इसलिए कब्राल ने विदेशी सरकारों से शस्त्रास्त्रों की सहायता भी ली । साम्यवादियों से भी उसे हथियार मिले थे । इसी कारण पुर्तगाली उसे साम्यवादियों का दलाल भी कहा करते पर वह था वस्तुतः राष्ट्रवादी–विशुद्ध राष्ट्रवादी ।

पुर्तगालियों के विरुद्ध लड़ते हुए भी उसे पुर्तगालियों से कोई घृणा नहीं थी । छापामार संगठन का सेनानी होते हुए भी वह लुकाछिपी के इस खेल को सामयिक आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देता था । उसने अपने दल को निर्देश दे रखे थे–अपने देश की जनता से कुछ भी मत छिपाओ, उससे झूठ मत बोलो, अपनी असफलताओं पर पर्दा मत डालो और यह दावा भी मत करो कि चुटकी बजाते ही विजयी हो जाओगे ।

एक वीर राष्ट्रवादी में जो गुण और जो सूझ-बूझ होनी चाहिए, कब्राल उसका धनी था । पुर्तगाली शोषण ने जनता में यह माद्दा तो उत्पन्न कर ही रखा था कि कोई सेनानी आगे आये तो वे उसके पीछे चलकर स्वतंत्र हो जायें । फिर भी एक सशक्त उपनिवेशवादी सरकार से टक्कर लेना कोई हँसी–खेल नहीं था । सत्ता अपने आप में एक सामर्थ्य होती है और फिर गिनी बिसाऊ वासी अशिक्षा और गरीबी से घिरे हुए जो थे ।

गिनी की राजधानी के बाहर कुटिया बनाकर चार वर्ष तक राष्ट्र देवता की साधना करते हुए तपस्वी कब्राल ने पुर्तगाली सरकार के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति करने की शक्ति संगठन कर ली । १९६२ में यह दल छापामार युद्ध के लिये तैयार हो गया । १९६७-६८ में इस संगठन ने गिनी बिसाऊ और केपवर्ड द्वीप समूह के आधे से भी अधिक भाग पर कब्जा कर लिया । पुर्तगाली सरकार को इसकी आशंका ही नहीं थी । वे तो अफ्रीकियों को निरे मिट्टी के माधो समझते थे । अब उसे पता चला कि कब्राल ने उनमें प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है ।

पी० ए० आई० जी० सी० के पास अब सात सौ से भी अधिक राष्ट्रभक्त नवयुवक सैनिक तैयार हो गये थे । कब्राल के नेतृत्व में इस संगठन ने सरकार के समानान्तर शिक्षा प्रसार का कार्य अपने हाथ में लिया । गाँव-गाँव में स्कूल खोले गये जहाँ अक्षर ज्ञान के साथ गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण भी दिया जाता था । छापामार सेना की वृद्धि में ये स्कूल बड़े उपयोगी सिद्ध हुए ।

स्कूलों के साथ ही नयी न्याय व्यवस्था भी लागू की गयी ताकि क्रान्ति के पश्चात् अराजकता न उत्पन्न हो जाय । एमिलकार कब्राल गिनी बिसाऊ के इस स्वतंत्रता आंदोलन का सेनानी ही नहीं सिद्धान्तशास्त्री व मार्गदर्शक भी था । यह उसके त्याग-बलिदान से परिपूर्ण जीवन और कुशल नेतृत्व का ही सुपरिणाम था कि उसकी हत्या के बाद भी दल में कोई फूट न पड़ी, न कार्य में किसी प्रकार शिथिलता आने पायी और वह अपने उद्देश्य में सफल हो गया ।

उपनिवेशवादी पुर्तगाली सरकार कब्राल के संगठन की बढ़ती हुई छापामार गतिविधियों को चुपचाप देखती नहीं रही । उसने भी कम जोर नहीं लगाया । सात हजार छापामारों को कुचलने के लिये उसने तीस हजार सैनिक गिनि बिसाऊ भेजे । थल, जल और वायु सेना तीनों का उपयोग किया गया । अमेरिका से मिले एफ-८४ और बी-२६ बमवर्षकों से नापाम बम गिराकर पुर्तगाली वायुसेना ने गाँव के गाँव भूनकर रख दिये । कब्राल और उसके सहयोगी इस भयंकर गोलाबारी के बीच विमान भेदी तोपों साथे ईंट का जवाब पत्थर से देते रहे ।

जो भूभाग छापामार राष्ट्रवादियों के हाथ आ गया था वहाँ प्रशासन और नागरिक व्यवस्था जमाने की ओर भी कब्राल ने पूरा ध्यान दिया । गिनी बिसाऊ के निवासियों के लिये यह सुख सूर्य के उदय जैसा सुहाना अनुभव था । अब तक वे पुर्तगाली व्यापारियों द्वारा लूटे जाते रहे थे । अब उन्हें अपने खेतों में उपजायी फसल का पूरा मूल्य मिलने लगा था ।

ग्रामीण क्षेत्रों को छापामार राष्ट्रवादियों के कब्जे से मुक्त कराने के लिये नये प्रशासक जनरल स्पिनोला की नियुक्ति हुई । उसने ही कब्राल की हत्या करवायी । कब्राल की हत्या के लिये कुछ भाड़े के टट्टू स्वातंत्र्य सेना में भर्ती कराए गये । उन्होंने मौका देखकर २० जनवरी, १९७३ को उसकी हत्या कर दी । हत्यारे पी० ए० आई० जी० सी० द्वारा पकड़ लिये गये उन्हें बाद में मृत्युदण्ड दिया गया ।

कब्राल देश हित में बलिदान हो गया पर उसका अपना स्वप्न भी साकार होकर रहा । देश की स्वाधीनता के लिये समर्पित यह जीवन विश्व इतिहास की एक अमूल्य निधि है । उनका जीवन हर देश में हर नवयुवक के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है ।

एडमण्ड जी० रास का अनूठा साहस

राजनीति के क्षेत्र में "काजल की कोठरी में कैसे हू सयानो जाय" की कहावत चरितार्थ होते हुए यत्र-तत्र देखी जा रही है । कुर्सी और पद पाने के लिये नैतिक सिद्धान्तों को बाला ए ताक रखकर अन्तःकरण की सद्प्रेरणाओं की अवहेलना करने की अनेकानेक कहानियों के निपट मरुस्थलों के बीच कुछ ऐसे भी मरुद्यान से प्रसंग सुखद आश्चर्य बनकर सामने आते हैं, तब अपने अन्तःकरण की प्रेरणाओं, नीति व न्याय की रक्षा के लिये कोई साहस का धनी अपना वर्चस्व दाँव पर लगाकर यह सिद्ध कर जाता है कि यह 'काजल की कोठरी' हर किसी को कलंकित नहीं कर सकती । मानवीय उच्चादर्शों व न्याय पक्ष की रक्षा करते हुए पद और राजनीतिक जीवन को क्षुद्र तिनके की तरह छोड़ सकता है ।

अमेरिका के इतिहास में एक ऐसी ही घटना हो चुकी है । इसके नायक थे, एडमन्ड जी० रास, कन्सास के सिनेटर । कंसास के सिनेटर जिम लेन के आत्महत्या कर लेने पर उसके रिक्त हुए स्थान पर रास को चुना गया था । यह जिमलेन की उस लिंकन समर्थक नीति के पक्के विरोधी थे जिसके अनुसार दक्षिणी स्टेट्स के गृहयुद्ध में पराजित हो जाने पर उनके साथ उदारता बरतना आवश्यक था । सिनेटर रास आरम्भ से ही डैमोक्रेटिक दल के विरोधी थे । वह कंसास की 'स्वतन्त्र राज्य सेना' में भी रह चुके थे जो दास प्रथा के समर्थकों से लड़ने के लिये गठित की गयी थी ।

रास का जिमलेन के स्थान पर चुना जाना तत्कालीन राष्ट्रपति एन्ड्रू जानसन के विरोधी सिनेटरों, जिनका कि उस समय सीनेट में बहुमत था और वे अपने इस बहुमत के बल पर लिंकन की मानवीय सद्भावनाओं से युक्त नीतियों पर चलने वाले तत्कालीन राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की तैयारियाँ कर रहे थे, के लिये प्रसन्नता का विषय था । अब सीनेट में जानसन के एक समर्थक के स्थान पर विरोधी आ रहा था ।

उन दिनों राष्ट्रपति और रिपब्लिकनों के बीच बड़ी ही खींचतान चल रही थी । इस खींचतान का आरम्भ गृहयुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद ही हो गया था । गृहयुद्ध की इस आपसी कड़ुवाहट को मिटाने के लिये राष्ट्रपति लिंकन ने गृहयुद्ध में परास्त दक्षिणी स्टेट्स के साथ उदार-नीति बरतने का निर्णय लिया था । उनके समय में ही उनकी इस नीति का विरोध रिपब्लिकन उग्रवादी कर चुके थे । वे चाहते थे कि दक्षिणी राज्यों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जो एक जीता हुआ देश हारे हुए देश के साथ करता है । किन्तु मानवतावादी लिंकन ने गृहयुद्ध को भी दास प्रथा जैसे अहम् मानवीय प्रश्न को लेकर दृढ़ता से स्वीकार किया था । अब वे उसी दृढ़ता से दक्षिणी स्टेट्स के साथ भी सद्भावनापूर्ण व्यवहार करते हुए उन्हें संघ में वही समान स्थान दिलाने को तैयार थे ।

दुर्भाग्य से उनकी हत्या हो गई और उनका स्वप्न पूरा नहीं हो सका । उसके पश्चात् राष्ट्रपति बने एन्ड्रू जानसन जो लिंकन की उदारनीतियों के पक्के समर्थक थे । उन्होंने स्वयं दक्षिणी स्टेट टेनेसी के सिनेटर होते हुए, दक्षिणी नीति का विरोध करते हुए संघ से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने पर भी संघ में ही रहकर अपनी निष्ठा का परिचय दिया था । किन्तु उग्रवादी सिनेटरों ने उनकी यह निष्ठा वाली साहसिकता भुलाकर उनका विरोध करना आरम्भ कर दिया । लिंकन की प्रसिद्धि व दबंगपन से जो विरोध दबा हुआ था वे उनके समय में विकट होकर उभर आया । उन्होंने अपने हठ पर अड़कर अमेरिकी राज्य प्रणाली में भी राष्ट्रपति की महत्ता को कम किया जाना अभीष्ट था ।

उन लोगों ने एक-एक करके ऐसे विधेयक पारित किये जो संविधान विरोधी थे । दक्षिणी राज्यों के साथ कठोरता का व्यवहार करने व वहाँ पर सैनिक शासन जैसी स्थिति बनाये रखने के उद्देश्य से पारित किये गये इन विधेयकों को राष्ट्रपति एन्ड्रू जानसन ने कार्यपालिका के काम में बेमतलब का दखल देने वाला बताकर उन्हें वापस कर दिया, अनुमोदन नहीं किया । इस पर उन सिनेटरों ने बहुमत के बल पर उन्हें बिना राष्ट्रपति के अनुमोदन के ही कानून बना देना चाहा । किन्तु नियमानुसार वे बिना राष्ट्रपति के अनुमोदन किये उन्हें कानून नहीं बना सकते थे । राष्ट्रपति के निषेध को उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता था । अतः उग्र रिपब्लिकन सदस्य राष्ट्रपति पर इतने कुपित हुए कि विवेक व नीति का साथ छोड़ वे उन पर महाभियोग चलाने की तैयारी करने लगे । किन्तु उनके साथ एक बहुत बड़ी समस्या यह थी कि सदन में उनका दो तिहाई बहुमत नहीं था, जिसके बल पर वे महाभियोग चलाकर राष्ट्रपति को अपदस्थ कर अपने क्रोध को दिखा सकते ।

अब सीनेट में पक्का दो तिहाई बहुमत पाने के लिये राजनीतिक छल-छद्मों का वही दौर चला जो आमतौर पर आज सभी जगह देखने को मिलता है और जिसने उसे 'काजल की कोठरी' बना दिया है । यहाँ देश की प्रगति, समृद्धि या देशवासियों की हित की बात तो कुछ थी नहीं मात्र अपने बे-सिर पैर के मत को दक्षिणी स्टेट्स पर थोपने व अपनी बात मनवाकर रहने का मूढ़ हठ मात्र था । उसके लिये रिपब्लिकन दल ने सब तरफ के जोड़-तोड़ बिठाये । राष्ट्रपति एन्ड्रू जानसन के समर्थक एक सेनेटर को अत्यन्त सन्देहास्पद उपायों द्वारा अपदस्थ कर दिया गया । फिर राष्ट्रपति के निषेध की परवाह न करते हुए नेब्रास्का को अमरीकी संघ में सम्मिलित करके दो विरोधी सदस्य बढ़ा लिये । कोलेरेडो को भी इसी प्रकार सदस्य बनाने का प्रयास किया किन्तु वहाँ की जनता का समर्थन नहीं मिलने से वहाँ पर उन्हें असफलता ही हाथ लगी ।

इसी समय एक दैवी सहायता की तरह कन्सास के रिपब्लिकन किन्तु एन्ड्रू जानसन समर्थक सिनेटर जिमलेन के आत्महत्या कर लेने और उसके स्थान पर रास के चुने जाने की घटना घटी । उन्होंने समझा कि अब हम महाभियोग चलाने की स्थिति में आ गये हैं । अतः १८६७ के आरम्भ में ही उन्होंने राष्ट्रपति को मुठभेड़ के लिये ललकारना आरम्भ कर दिया । उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदन न करने की परवाह नहीं करते हुए ऐसा कानून बना दिया जिसके अनुसार प्रत्येक नये कर्मचारी की नियुक्ति सीनेट की पुष्टि के बिना नहीं हो सकती थी और किसी पुराने कर्मचारी को हटाने के लिये राष्ट्रपति को सीनेट की स्वीकृति लेना आवश्यक था ।

५ अगस्त, १८६७ को मुठभेड़ का अवसर भी आ गया । राष्ट्रपति ने अपने युद्ध मन्त्री एडविन एम० स्टेटन से त्यागपत्र की माँग की तो उसने अकड़कर सीनेट के पूर्व त्यागपत्र न देने की बात कही । इस पर राष्ट्रपति ने उसे

—— ——

निलम्बित करके उसके स्थान पर जनरल ग्रौंट की नियुक्ति कर दी । इस नियुक्ति का सीनेट ने १३ जनवरी, १८६८ की बैठक में विरोध किया । उसे संविधान के अनुसार निरर्थक मान राष्ट्रपति ने स्टैटन को पदच्युत कर दिया ।

इसी घटना को आधार बनाकर २४ फरवरी, १९६८ को प्रतिनिधि सभा में राष्ट्रपति पर महाभियोग का प्रस्ताव रखा जो भारी बहुमत से पारित हुआ । उस दिन सदन का वातावरण बड़ा ही अशोभनीय था । रिपब्लिकन राष्ट्रपति के लिये अपशब्दों तक का प्रयोग कर रहे थे । बाद में ५ मार्च के दिन संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास में पहली बार राष्ट्रपति पर चलाये गये महाभियोग की सुनवाई सीनेट में आरम्भ हुई । अमेरिका के मुख्य न्यायाधीश उसके अध्यक्ष थे । राष्ट्रपति एक भी दिन उपस्थित नहीं रहे । १६ मई तक यह महाभियोग चलता रहा ।

ज्यों-ज्यों महाभियोग की सुनवाई का कार्य चला त्यों-त्यों रिपब्लिकन सिनेटरों की कलई खुलती गयी । उनकी दिलचस्पी निष्पक्ष न्याय में नहीं वरन् राष्ट्रपति को नीचा दिखाना भर था । कई सिनेटरों ने तो अपनी इस दो टूक बात को खुल्लम-खुल्ला कह भी दिया । रिपब्लिकनों को पूरा विश्वास था कि ५४ सदस्यों की उस समय की सीनेट के ४२ रिपब्लिकन सदस्यों में से ३६ तो राष्ट्रपति के विरुद्ध निर्णय दे ही देंगे । उनका महाभियोग सफल हो जायगा ।

रिपब्लिकनों का यह विश्वास सही भी उतर जाता यदि कन्सास के सिनेटर एडमन्ड जी० रास दलगत दुराग्रह के आधार पर निर्णय देने की अपेक्षा न्याय और अपने अन्तःकरण से प्रेरित होकर निर्णय नहीं देते तो । आरम्भ में वह उग्र रिपब्लिकनों के समर्थक थे । किन्तु ज्यों-ज्यों महाभियोग की सुनवाई होती गयी और उन लोगों का दुराग्रह स्पष्ट होता गया उन्होंने अपना निर्णय बदल दिया । एन्ड्रु जानसन से उनका कोई सैद्धान्तिक मतभेद तो था नहीं आरम्भ में वह लिंकन की दासत्व विरोधी नीति का समर्थक भी रहा था, साथ ही उनकी अमेरिका की संवैधानिक शासन प्रणाली में अत्यधिक आस्था भी, जब कि उग्र रिपब्लिकन तो उसकी ही धज्जियाँ उड़ाने पर तुले हुए हैं । अतः उन्होंने राष्ट्रपति एन्ड्रू जानसन का पक्ष लेने का निश्चय कर लिया ।

वह जानते थे कि उनके इस प्रकार अपनी पार्टी के विरोध में निर्णय देने का उनके राजनीतिक जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा । उन्हें तो अपने क्षेत्र के लोगों द्वारा अपमानित होने व परेशान किये जाने की भी पूरी आशंका थी । किन्तु इन सब हानियों की अपेक्षा न्याय और विवेक के विपरीत निर्णय देने पर राष्ट्र की जो हानि होगी वह उससे कई गुना होगी । इस प्रकार के हठधर्मियों का साथ देने का अर्थ तो सिद्धान्तों व लोकतन्त्र की हत्या ही होगी ।

उग्र रिपब्लिकन तक यह खबर उड़ती-उड़ती पहुँच ही गयी कि रास भी अपने अन्तःकरण के अनुसार ही निर्णय देगा तो उन्हें हर तरह से दबाया गया । उन्हें राजनीतिक जीवन समाप्त हो जाने का भय दिखाया गया, धन का लोभ दिया गया, क्षेत्र के लोगों की इच्छा को आदर करने की दुहाई दी गयी । किन्तु रास अपने निश्चय पर अटल रहे । उन्होंने उन सबका एक ही उत्तर दिया–"मैंने शपथ ली है कि संविधान और कानून के अनुसार निष्पक्ष न्याय करूँगा और मुझे विश्वास है कि अपने विवेक के अनुसार तथा देशहित की दृष्टि से वोट देने का साहस मुझ में रहेगा ।"

महाभियोग की सुनवाई होने के पहले संविधान और कानून की रक्षा करने की शपथ तो सब सदस्यों ने ली थी । किन्तु रास ने उसे पूरी करने में जिस साहस का परिचय दिया वह अनूठा था । उन्होंने लाख दबाव पड़ने पर भी अपने निर्णय को बदला नहीं । यहाँ तक कि उस पर रिश्वत खाकर निर्णय बदल देने का आरोप भी लगाया गया । उसके लिये प्रतिनिधि सदन के सम्मुख पेशेवर गवाह कहा गया जिसने जोश में उसके रिश्वत खाने की बात कही । किन्तु रास अविचलित रहे और उन्होंने राष्ट्रपति को निर्दोष घोषित किया । रास के इस साहस ने महाभियोग को असफल कर दिया । राष्ट्रपति भी बच गये और अमरीकी संवैधानिक शासन भी ।

इस महाभियोग की विफलता पर उग्र रिपब्लिकनों का सारा क्रोध रास पर उतरा । १८७१ में जब वे कन्सास लौटे तो उनका राजनीतिक जीवन ही समाप्त नहीं हुआ वरन् उनकी धन-सम्पदा भी लोगों ने छीन ली, परिवार को मारपीट कर समाज से बहिष्कृत कर दिया । उनका शेष जीवन घोर गरीबी में गुजरा फिर भी उन्हें इसका कोई दुःख नहीं हुआ । न्याय और संविधान की रक्षा करते हुए रास स्वेच्छा से बुलाये गये कष्टों को सहते हुए उनके चेहरे पर आत्मसन्तोष की मुस्कान खिलती रही । ८० वर्ष बाद उनके इस न्याय व साहस का मूल्य आँकते हुए जान एफ० केनेडी ने उन्हें 'भावी सन्तति के लिए अमेरिका के संवैधानिक शासन को बचाने वाले' साहसी अमृत पुत्र कहा ।

एडमण्ड जी० रास का यह अनूठा साहस राजनीतिज्ञों की निष्ठा की सच्ची कसौटी कहा जा सकता है । यह कसौटी आज के राजनीतिज्ञों के लिये आत्म निरीक्षण और जनता के लिये उनके पात्रत्व को आँकने की दृष्टि से अतीव उपयोगी है ।

महान जन-नेता–

अलबर्ट लुथिली

दक्षिण अफ्रीका का शार्पवील स्थान । सन् १९५२ । एक विशाल जनसमुदाय पर सरकार ने कुत्तों को छोड़ा । कुत्तों ने स्त्री, पुरुषों तथा बालकों को चीर डाला । पर वे विचलित न हुए । इस पर निहत्थी भीड़ पर पुलिस से गोलियों की वर्षा कराई गई । कितने ही व्यक्ति मर गए कितने ही घायल हो गए पर भागे नहीं । वे चट्टान की तरह अड़े रहे ।

इन निरपराध सत्याग्रहियों का एक ही दोष था कि वे काले थे । इस काले रंग के कारण वे हर दृष्टि से हीन माने जाते थे । उन्हें पशुओं की तरह खरीदा बेचा जाता था । उन्हें पशुओं जैसा जीवन जीना पड़ता था । उनको मनुष्य नहीं 'दास' कहा जाता था । उन्हें गोरे शासकों के विरुद्ध एक शब्द भी कहने का अधिकार न था ।

इस सत्याग्रह का एक ही उद्देश्य था कि उनके नेता अलबर्ट लुथिली को छोड़ दिया जाय । अलबर्ट लुथिली को इन दिनों राजद्रोह का अपराधी घोषित कर गोरी सरकार उन पर मनमाने अत्याचार कर रही थी ।

लुथिली का जन्म रोडेशिया में सन् १८९८ में हुआ था । इनके पिता ईसाई मिशनरी के थे तथा चाचा जुलू जाति के सरदार थे । इन्होंने जुलू साहित्य तथा इतिहास का अध्ययन किया । तदनन्तर १५ वर्ष तक जुलू साहित्य तथा इतिहास के अध्यापक के रूप में कार्य करते रहे ।

जब से इन्होंने अपना होश सम्हाला, अफ्रीकावासी काले लोगों की दुर्दशा से ये पीड़ित रहने लगे । गोरे शासकों द्वारा रंग-भेद के कारण इन पर जो अत्याचार हो रहे थे उनका ये व्यापक प्रतिरोध करना चाहते थे । पढ़ते, पढ़ाते समय भी वे निरन्तर इसी चिन्तन में लगे रहते थे कि इस स्थिति से किस प्रकार मुक्ति पाई जाय । इसके लिये उन्हें कोई कारगर माध्यम नहीं मिल पाया था ।

इसी समय जुलू जाति के सरदार का पद रिक्त हो गया । अलबर्ट लुथिलि को जुलू सरदार बनाया गया । अब तो यह समस्या उनके सामने और भी भयंकर हो उठी । इनकी जाति के लोगों को इस समय दक्षिणी अफ्रीका की सरकार वहाँ के काले मूल निवासियों का दमन करने का साधन बना रही थी । आदर्श और स्वार्थ का, मन और अन्तरात्मा का भयानक संघर्ष उठ खड़ा हुआ । यदि दक्षिणी अफ्रीका की सरकार का समर्थन करते हैं तो मान, सम्मान, सुख, सुविधा मिलती है पर आत्मा का हनन होता है और समर्थन नहीं करते तो दुःख, कष्ट तथा यातना मिलती है । इन्होंने दुख-कष्टों का जीवन स्वीकार करने का निश्चय किया ।

इसी वर्ष सन् १९३८ में वे अन्तर्राष्ट्रीय ईसाई परिषद में भाग लेने भारत आये । यहाँ वे गाँधी जी से भी मिले । रंग-भेद के सम्बन्ध में उनसे वार्ता की । अब उन्हें इस अनाचार का व्यापक प्रतिरोध करने का साधन मिल गया । वह था अहिंसात्मक आन्दोलन ।

स्वदेश लौटकर वे इसे कार्यरूप में परिणित करने लगे । वे अफ्रीकी राष्ट्रीय काँग्रेस में सम्मिलित हो गए । उन्होंने जुलू जाति के सरदार बनते समय सरकार के प्रति वफादार रहने की शपथ लेते हुए भी अमानवीय व्यवहारों के प्रति संघर्ष करते रहने की घोषणा की थी ।

जनजागरण का जो कार्य इन्होंने अपने हाथ में लिया वह बड़ा कठिन कार्य था । एक तो समर्थ गोरी सरकार जिसका समर्थन एक तिहाई विश्व करता है । उनसे अधिकारों की माँग वह भी अहिंसात्मक आन्दोलन से स्वीकार कराना तो बड़ा ही कठिन लगता था । उन्हें अपने आप पर विश्वास था और वे आत्मा की शक्ति पर विश्वास करते थे । सोच-विचार में पड़े रहना छोड़कर उन्होंने कर्म पथ अपनाया ।

काले लोगों में सदियों से चली आई हीन भावना को मिटाकर उन पुरानी जड़ताओं को दूर करने का भागीरथ प्रयास उन्होंने आरम्भ किया । उनके साथियों की संख्या बढ़ने लगी । लोगों का अहिंसा के प्रति विश्वास बढ़ने लगा । जो गई-गुजरी स्थिति को स्वीकार बैठे थे उन्होंने इस गुलामी के जुये को उतार फेंकने की कसम खाई । देखते ही देखते एक सेना खड़ी हो गई ।

१९४६ में वे खुलकर मैदान में आए, एक विशाल आन्दोलन का सूत्रपात किया । काँग्रेस के नेता अहिंसात्मक आन्दोलन करने के लिये तैयार हो गये । इसी का परिणाम था कि दासत्व जिन की रग-रग में रक्त के साथ घुल गया था उस नशे से यह वर्ग मुक्ति पा गया, संघबद्ध रूप से अपने अधिकारों की माँग करने लगा ।

लुथिली को बन्दी बना लिया गया । क्रूर यातनाएँ दी गईं, बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गए पर ये अपने निश्चय से डिगे नहीं । इन्होंने कहा कि अहिंसात्मक आन्दोलन केवल राजनैतिक शस्त्र नहीं वरन् आत्मिक पवित्रता तथा आत्म-बल पाने का साधन है । आत्मबल को किसी बल से नहीं जीता जा सकता ।

इस प्रकार का ज्ञान पाकर वहाँ की जनता अपने इस जननेता को छुड़ाने के लिये व्यापक सत्याग्रह करने लगी ।

शासन को अहिंसा के इस आन्दोलन के आगे झुकना पड़ा । उन्हें छोड़ दिया गया पर नेटाल में उनके खेत में नजरबन्द करके रखा गया । वे इस हत्याकांड से दुःखी तो हुए पर अहिंसा पर उनकी आस्था और दृढ़ हो गई । उन्होंने घोषणा की "मैं फिर दोहराता हूँ कि राष्ट्रीय काँग्रेस की नीति अहिंसा की नीति है और हम भरसक चेष्टा करेंगे कि दक्षिण अफ्रीका की काली और गोरी नस्लों के लोग इस नीति का अनुसरण करें ।"

इस आन्दोलन के जन्म देने के कारण सन् १९५२ में इन्हें नोबल-शान्ति पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा की गई । यह असत्य की सत्य पर विजय का बहुत बड़ा प्रतीक था । दक्षिण अफ्रीका की सरकार यह सहन न कर सकी इस पर उसने उनके साथियों पर घोर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया । उन्हें पुरस्कार लेने के लिये ओस्लो जाने की अनुमति तो दे दी पर वापस आने पर उन पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाने लगा ।

अन्याय का प्रतिकार करना हर मनुष्य का परम कर्त्तव्य है । लुथिलि का सारा जीवन इसी प्रतिकार में

लगा । नोबल पुरस्कार लेते समय भी उनके मन में यही व्यथा थी । अफ्रीका में हो रहे इस अत्याचार के कारण वहाँ भी वे व्यथित थे ।

अफ्रीका के लोग इनमें गाँधीजी की तरह श्रद्धा रखते हैं । यह स्वाभाविक ही है । जिस व्यक्ति ने अपने आपको तिल–तिल करके एक उद्देश्य को पाने के लिये गलाया उसके प्रतिदान में यह फिर भी बहुत कम है ।

इस जननेता ने गोरी सरकार के जो अत्याचार सहे और रात–दिन अपने भाइयों को जगाने के लिये, उन्हें एक संगठन की माला में पिरोने के लिए अधिक परिश्रम करते रहे । जीवन का एक–एक क्षण इसी में नियोजित करते रहे । इस प्रयास में उनका शरीर इतना जर्जर हो गया था कि वे लम्बे समय तक अस्वस्थ रहे । उनकी आँखें जाती रहीं । वे कानों से बहरे हो गए ।

सन् १९६७ में वे डरबन के निकट रेल की पटरी पार करते हुए सामने से आती हुई मालगाड़ी से टकराकर गम्भीर रूप से घायल हो गए । इनको बचाया नहीं जा सका, काफी चिकित्सा के बाद वे सदा के लिए मानवता का दर्द हृदय में छिपाए चले गए ।

साधनों की परवाह न करते हुए सच्चाई के लिए तिल–तिल कर जलने वाले दीपक की तरह इनका जीवन हमें प्रकाश व प्रेरणा देता रहेगा ।

जो विश्व शान्ति के लिये जिये, विश्व शान्ति के लिये मरे–

डाग हेमर शोल्ड

१७ सितम्बर, १९६१ को अफ्रीका के लियोशोल्ड हवाई अड्डे से दोपहर बाद एक विमान नडोला के लिये रवाना हुआ । इस विमान में अठारह व्यक्ति सवार थे । उड़ान का रास्ता और समय सब बिल्कुल अज्ञात रखे गये थे । क्योंकि उसके मार गिराये जाने की पूरी आशंका थी अतः इस ओर पूरी सावधानी बरती गयी थी फिर भी यह विमान अपने गन्तव्य से साढ़े नौ मील पहले ही रात्रि के प्रथम पहर के अंधकार में ऊँची–ऊँची लपटों के साथ ही दुर्घटनाग्रस्त हो गया । विमान में सवार सत्रह यात्री दूसरे दिन सबेरे सहायता पहुँचने तक दम तोड़ चुके थे । एक यात्री जो गम्भीर रूप से घायल था वह भी कुछ दिन अस्पताल की शरण रहा पर उसे बचाया नहीं जा सका ।

दो–दो जाँच आयोग बिठाये गये पर दुर्घटना के कारणों का पता नहीं चल सका । यह दुर्घटना वस्तुतः विश्व के महान शान्तिवादी व्यक्ति का विश्वशान्ति के लिये दिया गया अमर बलिदान था । काँगो के शीत युद्ध को समाप्त करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डाग हेमर शोल्ड अफ्रीका आये थे । इसी विमान से वे कटांगा के नवोदित तानाशाह शोम्बे से वार्तालाप करने के लिये जा रहे थे । उनकी विमान दुर्घटना के बारे में कई अटकलें लगायी जाती हैं । उस समय काँगो की स्थिति बड़ी विषम हो चली थी । ब्रिटेन और फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश काँगो में संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा शान्ति स्थापना के लिये भेजी गयी सेनाओं का विरोध कर रहे थे । संयुक्त राष्ट्रों की सेनाओं के पास हवाई आक्रमण से बचने के कोई साधन नहीं थे । जबकि फ्रांस के जेट विमान इस क्षेत्र पर बमवारी करने की स्थिति में थे । इस स्थिति में क्या हो सकता है इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है । डाग हेमर शोल्ड ने विश्व शान्ति के प्रयासों में निरत रहकर बहुत बड़े खतरे को मोल लिया और अन्त में स्वयं भी बलिदान हो गये । बड़े–बड़े राष्ट्र जो कि मुँह से तो विश्व शान्ति का राग अलापते रहते हैं और भीतर ही भीतर शीत युद्ध भड़काते रहते हैं । डाग हेमर शोल्ड ने उन्हीं द्वारा उगले विष को पीने के लिये नीलकण्ठ की भूमिका निभायी थी ।

हेमर शोल्ड १९५३ से संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद पर कार्य कर रहे थे । उनका समय विश्व की राजनीति की दृष्टि से बड़ा ही विषम समय था । ऐसे समय में उनका पाँच वर्ष बाद दोबारा महासचिव चुना जाना उनकी शान्ति निष्ठा, योग्यता, कर्मठता व व्यवहार कुशलता का परिचायक है ।

साढ़े आठ वर्ष के अपने संयुक्त राष्ट्र संघ के महा–सचिव कार्यकाल में उन्होंने उसके उद्देश्यों को पूरा करने के लिये जो प्रयास किया संयुक्त राष्ट्र संघ के इतिहास में विशिष्ट महत्व रखता है । इस काल में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ को वास्तव में शक्तिशाली और समर्थ संघ बनाने का भरसक प्रयास किया था ।

२९ जुलाई, १९०५ में स्वीडन के एक विशिष्ट घराने में उनका जन्म हुआ । उनके पिता प्रथम विश्वयुद्ध के समय स्वीडन के प्रधानमंत्री रहे, उनकी माता ईश्वर भक्त और दयालु महिला थीं । मनुष्य और उसकी मानवता के प्रति उनके मन में बड़ी निष्ठा थी । वे केवल जीओ और जीने दो के सिद्धान्त में विश्वास ही नहीं रखती थीं स्वयं जीओ उससे पूर्व दूसरे के जीवन की चिन्ता करो इस सिद्धान्त को मानती थीं ।

हेमर शोल्ड पर उनकी माता का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था । उनके विचारों और मार्गदर्शन ने हेमर शोल्ड को महान मानवतावादी राजनीतिज्ञ बना दिया । उनके पिता पर देश व समाज के इतने उत्तरदायित्व थे कि वे परिवार के लिये बहुत कम समय दे पाते थे । परिवार का सारा दायित्व उनकी माता पर ही था । अपनी माता से उन्होंने बहुत कुछ सीखा ।

एक उच्च घराने में जन्मे व्यक्ति के पढ़ने–लिखने के लिये जो साधन–सुविधाएँ मिल सकती थीं । वे उन्हें भी उपलब्ध हुईं ऐसे घराने के बच्चे प्राय: उच्छृंखल हो जाया करते हैं क्योंकि उन्हें मनमानी सुख–सुविधाएँ अनायास ही मिल जाती हैं । किन्तु हेमर शोल्ड के साथ ऐसा नहीं हुआ । उनके माता–पिता का उदाहरण उनके सामने था । उनके पिता प्रधानमंत्री इसलिये बनाये गये थे कि वे इसके योग्य थे और प्रधानमंत्री बनने के कारण उन्हें सामान्य व्यक्ति से कई अधिक जिम्मेदारियाँ उठानी पड़ती थीं । उन्हें यश, मान या अतिरिक्त सुविधाएँ इसी दायित्व निर्वाह के लिये मिली थीं । मौज करने के लिये नहीं । समझा, साथ ही अपने कर्त्तव्य को महसूस भी किया देश, समाज व विश्व के प्रति ।

जब वे उपशाला विश्वविद्यालय में पढ़ते थे तो उन्होंने अपने शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास के अपने प्रारम्भिक दायित्व को पूरी तरह निभाया । वे पढ़ाई में तो तेज थे ही साथ ही जिमनेशियम, पर्वतारोहण व स्कीइंग में भी वे अपने साथियों से सदा आगे रहते थे । जनसम्पर्क के स्वैच्छिक कार्यों में उन्हें बड़ी दिलचस्पी थी । वे अपने आस–पास के लोगों में सहज ही घुल–मिल जाते थे । इसके साथ ही अपने देशवासियों के मिलनसार स्वभाव का उनके मानस में भी प्रतिरोपण हुआ ।

पच्चीस वर्ष की आयु में उनका परिवार राजधानी स्टाकहोम चला गया । वे वहीं शासकीय सेवा में नियुक्त हो गये । यहाँ के कुछ जाने–माने अर्थशास्त्री १९३० की मंदी के सम्बन्ध में अध्ययन कर रहे थे । डाग हेमर शोल्ड भी उनके दल के सदस्य थे । आगे चलकर उन्होंने अपने देश में बेरोजगारी मिटाने के कार्य में अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाएँ दीं । आज स्वीडन ही एक ऐसा देश है जहाँ बेकारी पूरी तरह समाप्त हो चुकी है । बेकारी की इस समाप्ति में उनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था ।

व्यक्ति आयु से नहीं अपने ज्ञान और कर्मनिष्ठा से बड़ा होता है । डाग हेमर शोल्ड ने इस तथ्य को अपने जीवन में सत्य कर दिखाया था । तीस वर्ष की आयु में ही वे स्वीडन के समाज कल्याण मंत्री अर्नेस्ट विंगफोर्स के सहायक नियुक्त हुए । उन्होंने स्वीडन को आदर्श लोक कल्याणकारी राज्य बनाने की नीति निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । अर्नेस्ट विंगफोर्स ने उनके विषय में कहा है–"उनकी प्रखर योग्यता, न्याय सामर्थ्य और चिंताजनक स्थिति में भी कोई न कोई राह खोज लेने की क्षमता ही वे आर्हताएँ थीं जो उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव पद तक ले गयीं और वे उस पद को साढ़े आठ वर्षों तक सफलतापूर्वक निभाते रह सके ।"

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुई । इसके पूर्व भी लीग ऑफ नेशन्स नामक एक राष्ट्र संघ की स्थापना हुई थी पर वह अधिक समय तक चल नहीं सका था । लीग ऑफ नेशन्स प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बना था और संयुक्त राष्ट्र संघ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद । दोनों के जन्म के कारण विश्वयुद्ध ही है । विश्व को भावी महायुद्धों से बचाना और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के लिये विश्व के कई राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की ।

जहाँ तक उद्देश्यों का प्रश्न है, यह संघ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है पर इसकी अपनी कोई प्रथम शक्ति व सत्ता न होने के कारण कुछ बड़े–बड़े राष्ट्र इसकी आड़ में अपना हित साधन करते रहे । डाग हेमर शोल्ड जब इसके महासचिव बने तो उन्होंने इसे मात्र लोकदिखाऊ संगठन न रखकर इसके उद्देश्यों को पूरा करने की ओर पूरा ध्यान दिया । वे इसे मात्र प्रस्ताव और बहस तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे । यदि यह राष्ट्र संघ यहीं तक सीमित रहे तो फिर उसका लाभ ही क्या ? यह सोचकर उन्होंने बड़े देशों की नाराजगी से भय न खाते हुए अपने कर्त्तव्य को निभाया ।

जब अप्रैल, १९५३ में उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव का पद भार ट्रिगेव ली से सम्हाला तो उन्हें यह सीधा–सादा, शांत और एकांतप्रिय–सा लगने वाला अड़तालीस वर्षीय स्वीडनवासी इस राजनीतिक दावपेचों और रूसी अमेरिकी गुटों की खींचतान से भरे संयुक्त राष्ट्र संघ को सम्हालने में सर्वथा अनुपयुक्त लगा था, किन्तु थोड़े दिनों में उनकी यह शंका निराधार रही । डाग हेमरशोल्ड ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय के ३५०० कर्मचारियों को किसी भी राष्ट्र के प्रभाव से मुक्त रखने की घोषणा कर दी । संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्य विभाग या एफ० बी० आई० के किसी भी एजेण्ट को उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के आहाते में आने की इजाजत नहीं दी । उनकी यह दृढ़ता अमेरिका व रूस को बड़ी नागवार गुजरी पर वे नहीं चाहते थे कि संयुक्त राष्ट्र संघ किन्हीं बड़े देशों के सहारे चले या उनके दबाव को सहने को विवश हो । रूस व अमेरिका को उनसे सहमत होना पड़ा ।

उनके व्यक्तित्व व व्यवहार कौशल का प्रमाण १९५४ में देखने को मिला जब संयुक्त राष्ट्र में कोरिया के युद्ध में जनवादी चीन द्वारा बंदी बनाए गये एयरमैनों को मुक्त करने का प्रस्ताव पारित कर लिया गया । समस्या यह थी कि जनवादी चीन तो संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य ही नहीं था । उसे इसके लिये सहमत कैसे किया जा सकता था । संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बनाये जाने के कारण वह पहले ही खीझा हुआ बैठा था । इस कठिन काम को पूरा करने के लिये डाग हेमर शोल्ड ने स्वयं चीन जाकर वहाँ के नेताओं से बातचीत करने का निश्चय किया । परिस्थितियाँ विपरीत थीं । पिछले कुछ महीनों पूर्व ही जनवादी चीन ने चांग–काई शेक के राष्ट्रवादी चीन के दो द्वीपों पर बमबारी की थी ।

यह डाग हेमर शोल्ड का ही नीति कौशल था कि वे चीन से आमंत्रण पाकर पेकिंग गये । चीन के विदेश मंत्री चाउ-एन-लाई से वार्तालाप हुआ । चीन ने इसे अपना निजी मामला बताते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ की माँग को ठुकरा दिया पर वह डाग हेमर शोल्ड के आग्रह को ठुकरा न सका । उनकी खातिर छह महीने बाद चीन ने उन सब बन्दी एयरमैनों को छोड़ दिया जो कोरिया के युद्ध में पकड़े गये थे । यह हेमर शोल्ड के व्यक्तित्व की विजय थी ।

राष्ट्रीय पुनरुत्थान व विश्व-शान्ति के कामों में उनकी इतनी दिलचस्पी थी कि वे अपने पूरे समय का नियोजन इसी में करना चाहते थे । अतः वे आजीवन अविवाहित ही रहे । १९५६ में इजराल के प्रधानमंत्री बेन गुरीन ने उनसे एक अनौपचारिक वार्तालाप के दौरान पूछ लिया था—"आप विवाह क्यों नहीं कर लेते ?" तो डाग हेमर-शोल्ड ने यह उत्तर दिया था—मुझे अभी बहुत से दायित्व ढोने हैं विश्व-शान्ति व जन-कल्याण के । मैं अपना प्रथम परिवार बनाकर क्या करूँ मुझे तो यह सारा संसार ही अपना परिवार लगता है" ऐसी दृष्टि बिरले ही पाते हैं ।

पहले ही बताया जा चुका है कि उनके कार्यकाल में संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने सबसे अधिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं । १९५६ में मिस्र के सर्वेसर्वा कर्नल नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी । इसके साथ ही अरब इजराइल युद्ध भी भयंकर हो उठा । फ्रांस और इंग्लैण्ड की सेनाओं ने पोर्ट ऑफ सईद पर आक्रमण कर दिया था । इस विनाश को रोकने और मामले को शान्ति- पूर्वक निपटाने का बहुत कुछ श्रेय हेमर शोल्ड को है । उनके लिये अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति आइजन हावर ने लिखा है—"उनकी शारीरिक कार्यशीलता अनूठी थी ।"

एक रात के बाद दूसरी रात यों करके कई रातें सिर्फ दो-दो घण्टे नींद लेकर पूरी कर लिया करते थे और रात-दिन काम किया करते थे ।१९५६ में ही हंगरी में हुए विद्रोह को सोवियत संघ ने बड़ी निर्दयतापूर्वक दबाया उस प्रश्न को लेकर भी हेमर शोल्ड को बहुत व्यस्त रहना पड़ा था । अन्य देशों के नैतिक दबावों के आगे रूस को लज्जित होना पड़ा था ।

डाग हेमर शोल्ड ने संयुक्त राष्ट्र संघ को महज बड़े राष्ट्रों के हितों की रक्षा का कागजी घोड़ा बनने न देकर उसे उद्देश्य युक्त संस्था का सही स्वरूप प्रदान करने के लिये बड़ा संघर्ष किया । उन्हीं के कार्यकाल में पूँजीवादी और साम्यवादी गुट के बीच अवरोध तटस्थ शक्ति के रूप में अफ्रीकी एशियाई देशों का एक संगठन खड़ा हुआ था । उन्होंने अफ्रीका के छोटे-छोटे राष्ट्रों को भी संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनाने में बड़ी सहायता की ।

विश्व प्रसिद्ध सफल जन नायकों के जीवन प्रसंग

'हीरो ऑफ दि सोवियत यूनियन'–

मार्शल जुकोब

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की करारी हार के बाद यह लगने लगा था कि वह हमेशा-हमेशा युद्ध लड़ने का दुस्साहस नहीं करेगा । सभी राष्ट्र जिन्होंने जर्मनी और उसके समर्थक एक्सिस पॉवर कहलाने वाले देशों से लोहा लिया था यह मानने लगे थे कि हमने जर्मनी को करारी शिकस्त दी है और वह अब युद्ध की सामर्थ्य खो बैठा है । अब मानवता का यह तकाजा था कि सर्वनाशी दावानल में जल चुके जर्मनी को पुन: विकास पथ पर अग्रसर करने में सहयोग दें । युद्ध के लिए वहाँ की जनता तो दोषी नहीं थी और इसी आधार पर उसे दीर्घकाल तक क्यों विभिन्न समस्याओं और कष्ट-कठिनाइयों से जूझने के लिए छोड़ दिया जाय ।

हिटलर भी कुछ ऐसा ही प्रचार कर रहा था कि वह अब एक शांतिवादी राष्ट्र के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रहना चाहता है और इस बहाने उसके शत्रु रहे मित्र-राष्ट्र अब उसके भी मित्र बन चुके थे । इस मैत्री को निभाने में सर्वाधिक तत्परता दिखाई रूस ने । इन दोनों देशों में अनाक्रमण सन्धि हुई और यह भी निश्चित हुआ कि वे अब एक दूसरे के विकास में सम्मानपूर्ण योगदान देंगे । रूस ने इसीलिए जर्मनी की भारी सहायता की थी, पर राजनीति तो ऐसा खेल है, जिसमें कहना मुश्किल होता है कि सामने वाले के मन में क्या है ? और वह भी हिटलर जैसे तानाशाह के लिए जो सारे विश्व पर अपने साम्राज्य का स्वप्न देख रहा था और उसी के ताने-बाने बुन रहा था । इधर तो हिटलर अपने नये मित्रों से जर्मनी के कायाकल्प में काफी योगदान ले रहा था और उधर अन्दर ही अन्दर प्रथम महायुद्ध में अधूरे रह गये सपनों को पूरा करने की तैयारी कर रहा था । इतनी होशियारी के साथ कि किसी को खबर भी नहीं लग पायी ।

अप्रैल, १९४१ में सहायता के नाम पर रूस के प्रधान-मंत्री स्टालिन ने अपने देश से जर्मनी को २ लाख ८ हजार टन अनाज, ९० हजार टन तेल, चार हजार टन रबर और लगभग साढ़े आठ हजार टन अन्य धातुयें दिलवायी थीं । यदि इस बात का जरा भी सन्देह होता कि हिटलर पुन: युद्ध छेड़ेगा तो इस सहायता की क्या सम्भावना थी । लेकिन एक साधारण-सी घटना से हिटलर को लड़ाई लड़ने का बहाना मिल गया और युद्ध छिड़ा । सभी देश तो इस युद्ध की कल्पना भी नहीं किये हुए थे अत: अचानक सामना कैसे होता ? इसके लिए कोई तैयारी भी तो नहीं थी । अप्रैल में स्टालिन ने जर्मनी को विभिन्न सहायतायें दी थीं और इसके लगभग दो महीने बाद जर्मनी ने रूस में तीन ओर से घुसना आरम्भ कर दिया । २२ जून, १९४१ को पता चला कि जर्मनी सेनायें रूस में घुस आयी हैं ।

यह घटना सर्वथा अप्रत्याशित थी । रूस के सभी नेता हड़बड़ा गये जिसमें स्टालिन की दशा तो सबसे ज्यादा ही बुरी थी । हालांकि इसी माह स्टालिन को कुछ दिन पहले यह सूचना दी गयी थी कि जर्मनी आक्रमण करने वाला है तो स्टालिन ने सूचना देने वाले का खूब मजाक बनाया और उसे झिड़का भी सही था । वस्तुत: यह आक्रमण इतना अप्रत्याशित था कि रूस और जर्मनी के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की उस समय जो स्थिति थी और स्टालिन की जगह पर कोई और नेता भी रहा होता तो वह भी यही कहता । लेकिन २२ जून को जब सचमुच हिटलर की सेनायें रूस की सीमा में तीन ओर से घुसने लगीं तो स्टालिन किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया । उस समय स्टालिन की मनोदशा का वर्णन करते हुए रूस के भू० पू० प्रधानमंत्री खुश्चोव ने कहा है-"स्टालिन ने कहा कि लेनिन ने जो कुछ निर्माण किया है वह सब हम खो ही चुके समझो" उसी दिन से स्टालिन ने सब कामों से हाथ खींच लिया और काफी समय तो उसने सेना को कोई मार्गदर्शन ही नहीं दिया । पोलिट ब्यूरो ने उसे धैर्य बँधाया तब कहीं जाकर स्टालिन पुन: कार्यशील हुए ।

स्थिति थी भी इसी प्रकार की । एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति इस प्रकार विश्वासघात का उदाहरण विश्व के इतिहास में शायद ही कहीं देखने को मिले पर रूस की सेनायें तत्काल कुछ न कर सकीं । तीन महीने के भीतर मार्ग के सभी मोर्चे खटखटाती हुई जर्मन सेनायें लेनिनग्राड तक पहुँच गयीं और उसके चारों और घेराबंदी करने लगीं । आस-पास के सभी सैनिक अड्डे ध्वस्त होने लगे । रसद सहित जीवनोपयोगी अन्य वस्तुओं की सप्लाई भी कट गयी । आधुनिक शस्त्रबलों से लैस और पहले से ही तैयार प्रशिक्षित जर्मनी सेनाओं का मुकाबला करने की सामर्थ्य रूसी सेना में नहीं थी । रसद की सप्लाई बन्द हो जाने से लेनिनग्राड निवासियों को अनाज उपलब्ध नहीं हो पा रहा था । रूस की राजधानी मास्को तक जाने वाले मार्ग पर भी नाकेबन्दी कर दी गयी थी । कहने का अर्थ यह है कि हर ओर से यही भय लग रहा था कि लेनिनग्राड का पतन सन्निकट ही है, अभी हुआ ।

ऐसी विषम परिस्थितियों में शत्रु से लोहा लेने के लिए सेना की कमान मार्शल जुकोव को सौंपी गयी । कुछ लोगों ने यह मत व्यक्त किया कि थुलथुले शरीर का यह आत्म विज्ञापक मार्शल, हिटलर की सेनाओं से क्या मुकाबला करेगा ? अधिकांश नागरिक यह सोचने लगे कि चार दिन में यदि रूस हारता तो अब दो ही दिन में हार जायगा पर यह आदेश सुप्रीम–कमाण्ड की ओर से आया था, जिन्हें जुकोव की रणनीतिज्ञता, वीरता, पराक्रम, शौर्य और साहस का भलीभाँति पता था और उस समय कमाण्ड की दृष्टि में केवल जुकोव से ही आशा की जा सकती थी कि वे रूस को हिटलर के शिकंजे में फँसने से बचा लेंगे और सचमुच उन्होंने इस आशा को पूरा कर दिखाया ।

जुकोव के द्वारा रूसी सेना की कमान सम्हालने से पूर्व लेनिनग्राड की सुरक्षा का भार मार्शल बोरोशिलोव पर था । पर अपनी अनुभवहीनता, रणनीति में अकुशल दूरदर्शिता के कारण वे जर्मनी सेनाओं को आगे बढ़ने से रोक नहीं पा रहे थे । दुश्मन उसी गति से आगे बढ़ा आ रहा था, यहाँ तक कि मास्को और लेनिनग्राड को जोड़ने वाली एकमात्र सड़क भी काट देने के प्रयत्न किये जाने लगे थे । बोरोशिलोव को सफल न होते देख सुप्रीम–कमाण्ड ने युद्ध के बहुत पुराने अनुभवी नायक जुकोव को बोरोशिलोव के स्थान पर नियुक्त किया और उन्हें रूस को इस विकट परिस्थिति से उबारने का दायित्व सौंपा ।

जुकोव जार के समय से ही सेना में काम कर रहे थे । उस समय उन्होंने अपनी वीरता और बहादुरी के बल पर साधारण सैनिक से उच्च अधिकारी बनने में सफलता प्राप्त की । रूस में जब साम्यवादी क्रान्ति हुई और जार का तख्ता उलटा तो भी जुकोव अपनी सेवायें रूस को देते रहे । साम्यवादी–क्रान्ति के सफल होने पर कई बार राजभक्त अधिकारियों को मौत के घाट उतार दिया पर जुकोव इसलिए बच गये कि वे व्यक्तिपूजक नहीं राष्ट्रपूजक थे । उनकी निष्ठायें किसी व्यक्ति के लिए नहीं समग्र राष्ट्र की एकता, अखण्डता और सुरक्षा के लिए थीं । साम्यवादियों ने जब ऐसे व्यक्तियों को मौत के घाट उतारना आरम्भ किया तो जुकोव जैसे देशभक्त और राष्ट्रपूजक शूरवीर की हत्या कर एक भारी क्षति उठाना स्वीकार नहीं किया । फिर भी सन्देह तो था ही और आया स्टालिन का जमाना जिसने जरा भी सन्देह होने पर व्यक्ति को परलोक की राह दिखाने में क्षण भर भी विलम्ब नहीं किया । लेकिन स्टालिन के कान में कभी ऐसी भनक नहीं पड़ी कि जुकोव किसी भी प्रकार पुरानी व्यवस्था के प्रति सहानुभूति रखते हैं या उस समय भी जार के प्रति चापलूसी भरी निष्ठायें रखते थे ।

अपने काम से काम और कर्त्तव्य से मतलब रखने वाले जुकोव के लिए दूसरे किसी भी बखेड़े में पड़ने का समय ही नहीं मिलता था । जो भी काम या अभियान उन्हें सौंपा जाता उसे पूरा करने के लिए वे सम्पूर्ण तत्परता से काम में जुट पड़ते थे । कर्त्तव्यपालन में दृढ़तापूर्वक डटे रहना उनके फौलादी संकल्प और प्रत्युत्पन्नमति अद्‌भुत निश्चयों के कारण ही सफल होता रहा । जिस प्रकार वे कर्त्तव्य पालन कर अपना सारा ध्यान केन्द्रित रखते थे उसी तरह यह भी चाहते थे कि मेरे सहयोगी और अधीनस्थ व्यक्ति भी कर्त्तव्य–निष्ठा पर अविचल दृढ़ रहें । बोरोशिलोव के हाथ से कमान लेते ही उन्होंने सुप्रीम–कमाण्ड को तुरन्त सूचित किया कि मैं आज ही से अधिक अच्छी कारगर कार्यवाही शुरू कर रहा हूँ ।

उधर जर्मनी विमान रूस की सुरक्षात्मक कार्यवाहियों को असफल बनाने के लिए रूसी टैंकों पर दनादन बमबारी कर रहे थे और दनादन उन्हें नष्ट किये जा रहे थे । जुकोव ने कर्नल बीचेब्स्की को इन्जीनियर कोर का अध्यक्ष बनाया और उनसे नकली टैंक तैयार करने के लिए कहा । इससे पूर्व उन्होंने देखा था दो नकली टैंक रूस के युद्ध मैदान में तैनात थे । ये टैंक सामरिक दृष्टि से तो आक्रामक नहीं होते थे पर दुश्मन को छकाने में इनका अच्छा उपयोग हो सकता था । कर्नल ने दो टोलियाँ इसलिए बनाकर छोड़ी थीं कि जर्मन बमवार धोखा खा जाय और अपने बम उन पर नष्ट कर डाले । जुकोव ने इन टैंकों की संख्या सौ कर देने का आदेश दिया । इस सख्ती के साथ कि आदेश का पालन एक रात में ही हो जाना चाहिए ।

कर्नल को जब यह आदेश दिया गया तो वे बड़ी दुविधा में पड़ गये । उन्होंने अपनी दुविधा व्यक्त करते हुए कहा–'सर ! एक ही रात में तो यह व्यवस्था कर पाना मुश्किल है ।'

'कुछ नहीं'–मार्शल ने एक भी न सुनते हुए कहा–चाहे जो हो यह व्यवस्था आज रात में ही हो जानी चाहिए और यदि तुमने जरा भी लापरवाही की तो कल तुम्हारा कोर्टमार्शल किया जायगा ।

कोर्टमार्शल यानि कि बिना सफाई का मौका दिये मृत्युदण्ड की सम्भावना ।

बीचेब्स्की ने अपने मातहत अधिकारियों तक कोर्ट–मार्शल की सम्भावना बताते हुए रात भर में ही नकली टैंकों की व्यवस्था करने का आदेश दिया । सारा काम रातोंरात किया गया और दूसरे दिन सौ ही टैंक बाहर यहाँ वहाँ खड़े कर दिये गये । इसने जर्मनी बमवारों को खूब छकाया ।

जुकोव को जिन्दगी भर लड़ाई के अनुभव थे । उन्होंने एक सुदृढ़ रक्षा–पंक्ति तैयार की और साम्यवादी पार्टी के सदस्यों को भी हथियार देकर मोर्चे पर तैनात कर दिया । शहर में जितनी भी सेना थी उसे लड़ने के लिए बाहर भेज दिया और लेनिनग्राड के लाखों नागरिकों को काम में जुटाकर थोड़े ही समय में पिल बॉक्सों की एक मजबूत दीवार खड़ी कर दी । जर्मन सेनायें उस समय लेनिनग्राड से ढाई मील दूर थीं । इन सब तैयारियों के बाद मार्शल ने प्रत्याक्रमण शुरू किये । रूसी सेनायें इतने प्रचण्ड वेग से शत्रु सेनाओं पर आक्रमण करतीं कि उन्हें पीछे हटना ही पड़ता । जुकोव की सख्त आज्ञा थी–"हमला करो, दुश्मन को पीछे हटाओ और इतना नहीं हो सके तो मर मिटो पर पीछे लौटकर अपना कृष्ण मुख वापस मत दिखाओ ।"

इस वेगपूर्ण अभियान में उन्होंने कुछ ऐसे सैनिक अधिकारियों की भी छुट्टी कर दी जो सामरिक दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर दिखाने में अक्षम थे और उनके स्थान पर नये खून को मौका दिया जिसमें कुछ करने का उबाल भी था और था शत्रु को लोहे के चने चबाने का साहस । जर्मन सेनायें फानलीब के निर्देशन में आक्रमण कर रही थीं पर उसे बार–बार प्रत्याक्रमण की तीखी मार सहकर पीछे हटना पड़ता और जितनी वह आगे बढ़तीं उतनी ही वापस लौट कर पीछे आ जातीं । उधर हिटलर ने पैंतरा बदला और लेनिनग्राड से हटकर मास्को पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किया । फानलीब ने वहाँ से कुमक हटाकर मास्को की ओर बढ़ा दी ।

मार्शल जुकोव भी कहाँ पीछा छोड़ने वाले थे वे मास्को भी पहुँचे । इस समय सर्दियाँ आ गयी थीं और लादोगा झील का पानी जम गया, जो रूसी सेनाओं के पक्ष में सहायक सिद्ध हुआ । मास्को स्तालिनग्राड और अन्य मोर्चों से रूसी सेनाओं ने मार्शल जुकोव के नेतृत्व में शत्रु सेनाओं को खदेड़ दिया और जर्मनी–सेनायें जो रूस की जमीन पर छा रही थीं १९४४ में पूरी तरह पीछे हट गयीं । यही नहीं मार्शल ने पोलैण्ड को भी जर्मनी से मुक्त करा लिया । जिस पर जर्मनों ने सबसे पहला कब्जा किया । इस विजय का आधार एक ही सूत्र था और वह यह कि–अभियान में तनिक भी शिथिलता उसकी सफलता के आसारों को कम कर देती है ।

इस विजयश्री के कारण रूस सरकार ने उन्हें 'हीरो ऑफ दि सोवियत यूनियन' के सर्वोच्च पदक से तीन बार सम्मानित किया । उन्हें मित्र राष्ट्रों ने भी कई उपाधियों से सम्मानित किया । १८ जून, १९७४ को उनका देहान्त हो गया ।

जनता के स्वामी, जापान के उन्नायक–

मुत्सु हीटो

जिन दिनों भारत में राजतंत्र–देशी रियासतें थीं तब वहाँ के राजघरानों में बालकों को शिक्षा देने के लिए बड़ी विचित्र–विचित्र बातें सुनने में आती हैं । कहा जाता है कि राजकुमारों को शिक्षा देने के लिए जो अध्यापक नियुक्त किये जाते थे वे गुरु कम चाकर ही ज्यादा होते थे । राजकुमारों का जब मन होता तब पढ़ते और जब मन चाहता कि खेला जाय या मनोविनोद किया जाय तब अध्यापकों को उन्हें छुट्टी देनी पड़ती । यहाँ तक कि कोई पाठ याद नहीं होता या राजकुमार ठीक से पढ़ नहीं पाते तो दण्ड देने के लिए दूसरों के लड़के रखे जाते । गल्ती करते राजकुमार और पिटाई होती उन नौकरों के लड़कों की । राजकुमार साहब को दया आ जाती तो ठीक अन्यथा वे तालियाँ पीट–पीट कर हँसते–कूदते ।

भारतीय रियासतों में ही नहीं उन अन्य देशों में भी जहाँ राजतंत्र शासन प्रणाली प्रचलित थी प्रायः राजकुमारों को शिक्षा देने का यही ढंग था । शिक्षा क्या इसे शिक्षण का नाटक ही कहना चाहिए और अन्य देशों की तरह जापान में भी यही पद्धति थी । वहाँ भी राजकुमारों को इसी ढंग से शिक्षा दी जाती थी । संयोग से, सौभाग्य से कोई राजकुमार बौद्धिक विकास कर गया तो ठीक अन्यथा राजपरिवार के षड्यन्त्र और दाँव भरे वातावरण में वह भी कुछ कुटिल चालें सीख–सिखाकर बुद्धिमत्ता की दृष्टि से कोरा ही रह जाता । राजकुमारों की इस शिक्षण–प्रणाली की त्रुटि पर गौर किया जापान के एक सौ बीसवें सम्राट ने, जिन्हें पदेन टेनों कहा जाता था । टेनों औसा हीटो ने अनुभव किया कि इस प्रकार राजकुमार शिक्षित होने की अपेक्षा बौद्धिक दृष्टि से कोरे के कोरे ही रह जाते हैं और ऐसे कूपमण्डूक युवराज जिन्हें आगे चलकर सम्राट बनना है जनता के हितों का ध्यान रखने की अपेक्षा अपने कर्मचारियों और अधिकारियों की कठपुतली ही रह जाते हैं ।

अतः औसा हीटो ने अपने पुत्र युवराज मुत्सु हीटो को आम बालकों की तरह शिक्षा दिलवाने का निश्चय किया । उन्हें इस प्रकार की शिक्षा दी जाने लगी जिससे वे आम राजकुमारों की तरह नरम गद्दों और स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों के दास बनने के स्थान पर कष्ट–सहिष्णु और अनुशासन परायण बनें । उनके साथ शिक्षकों को वही व्यवहार करने के लिए कहा गया जो वे आम छात्रों से करते थे । जब उनसे गल्तियाँ होतीं तो उन्हें भी सामान्य विद्यार्थियों की तरह दण्डित किया जाता और इसका परिणाम यह हुआ कि उनका विकास कर्त्तव्यनिष्ठ, अनुशासित, संयमी और कष्ट–सहिष्णु परिश्रमी व्यक्तित्व के रूप में होने लगा । उन्होंने घुड़सवारी से लेकर जापानी व्यायाम जूजुत्सु तथा अस्त्र–शस्त्रों के प्रयोग में भी दक्षता प्राप्त की । साथ ही बौद्धिक विकास भी इतनी तीव्रता के साथ हुआ कि वे बचपन से ही कवितायें करने लगे ।

इन अर्जित योग्यताओं के बल पर ही मुत्सु हीटो ने जापान को एक शक्तिशाली, सम्पन्न और समृद्ध राष्ट्र के रूप में विकसित किया तथा जापानियों के संस्कारों में कुछ ऐसी विशेषतायें डालीं जिनसे कि दो–दो बार विश्वयुद्ध में तबाह होकर अपना सब कुछ स्वाहा होने के बाद भी जापान ने इस तेजी के साथ प्रगति की कि आज उसकी गणना संसार के सर्वाधिक सम्पन्न राष्ट्रों में की जाती है और लगभग सभी देशों के वासी जापानी नागरिकों को राष्ट्रभक्ति का आदर्श समझते हैं ।

मुत्सु हीटो का जन्म जापान के अति प्राचीन राजवंश में १८५२ ई० में हुआ था । इस राजवंश की स्थापना दिम्मू टेनों ने सन् ६६७ ई० में की थी अतः इस दृष्टि से जापान का यह राजवंश विश्व के बहुत पुराने राजवंशों में से समझा जाता है । वहाँ के राजाओं को टेनों अथवा टेनेशी कहा जाता था, उनके सम्मान हेतु मिकाडो शब्द भी लगाया जाता, जिस प्रकार कि हमारे देश में श्रीमन् ! और इसी राज्यवंश के १२१वें उत्तराधिकारी मुत्सु हीटो के शासनकाल में जापान संसार के उन्नत देशों की श्रेणी में आ गया ।

बौद्धिक विकास और राजनीति कला सिखाने के साथ मुत्सु को शारीरिक दृष्टि से भी बलशाली बनाया गया। उन्होंने पूरे मन से स्वयं को इस दिशा में उन्मुख, प्रवृत्त व तन्मय रखा। प्राय: देखा जाता है कि सम्पन्न घरानों के लड़के इधर-उधर रंगारंग और मौजमजों में ही अपना समय बर्बाद करते हैं। यही स्थिति राजघरानों के लिए भी है लेकिन मुत्सु ने समय के सदुपयोग की कला सीखी और उनका अधिकतम उपयोग अपनी योग्यताओं को अर्जित करने में किया।

१८६७ में जब उनके पिता का देहान्त हुआ तो मुत्सु हीटो जापान के सम्राट बने। उन दिनों जापान की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। सम्राट की शासन तंत्र में न तो कोई विशिष्ट भूमिका होती थी और न ही प्रजा से कोई सम्बन्ध। उन्हें देवता और भगवान के रूप में समझा जाता था, अत: जनता को किन्हीं विशेष अवसरों पर ही उनके दर्शन सुलभ हो सकते थे अन्यथा नहीं। राज-काज यों तो सम्राट के नाम से ही चलता था पर उसकी व्यवस्था, नीति निर्धारण एक विशेष वर्ग करता था। यह वर्ग कुछ उच्च अधिकारियों का था जिन्हें शोगन कहा जाता था।

शोगन लोगों से मनमाना व्यवहार करते, मनमानी नीतियाँ और कानून बनाते तथा उन्हें तोड़ दिया करते। लोगों को उनके व्यवहार से जो परेशानी होती उसकी हवा भी राजा को नहीं लग पाती। परम्परागत रूप से युवराज मुत्सु जब मिकाडो के पद पर आसीन हुए तो उन्हें यह मर्यादा बड़ी खली कि जनता से उनका कोई सम्पर्क ही नहीं रहे। उन्होंने इस नियम को तोड़ने का फैसला किया, जिससे स्वाभाविक ही शोगन चिन्तित हुए-क्योंकि इससे एक तो उनकी मनमानी नहीं चलती और दूसरे इनकी पिछली करतूतों के पर्दाफाश होने का भी भय लगने लगा। अत: उन्होंने मुत्सु को परम्परा और सम्राट पद की मर्यादा का हवाला देकर मना किया। लेकिन मुत्सु ने एक न सुनी। इस पर शोगन विरोध करने लगे और विद्रोह पर उतर आये, तो मुत्सु ने शोगन का पद ही समाप्त कर दिया और शासन व्यवस्था को अपने हाथ में सम्हाला। शोगनों ने कुछ उत्पात मचाये पर जनता उनसे पहले ही चिढ़ी थी अत: उनकी एक न चल सकी और जनता ने भी उनका साथ नहीं दिया। इस प्रकार शोगन का पद समाप्त हो गया और शासन तंत्र को बदनाम करने वाले उच्छृंखल स्वार्थी वर्ग का पदोच्छेद भी।

जनता से सीधे सम्बन्ध और शासन तंत्र पर प्रत्यक्ष नियंत्रण से मुत्सु ने कई ऐसी बातें जानीं जो शोगनों द्वारा उत्पन्न की गयी थीं और उनसे जन-धन के साथ-साथ राष्ट्रीय हितों को भी क्षति पहुँचती थी। उन दिनों कुछ विदेशी व्यापारी जापान में व्यापार करना चाहते थे, बार-बार उनकी ओर से निवेदन भी आता रहा था पर शोगनों की स्वेच्छाचारिता के कारण विदेशी व्यापारियों को निराश ही रह जाना पड़ता था।

मुत्सु हीटो ने सर्वप्रथम विदेशी व्यापार प्रतिनिधियों तथा राजदूतों से भेंट की और उनसे जापान में व्यापार सम्बन्धों की शर्तें तय कीं। जापानियों में से कुछ सम्राट के इस निर्णय से नाराज हो उठे। कई गुण्डे तत्त्वों ने तो बाजार में निकलने वाले विदेशियों पर हमले भी किये तथा उन्हें क्षति भी पहुँचाई। मुत्सु हीटो ने ऐसे तत्त्वों का कड़ाई से दमन किया और दोषी-तत्त्वों को दण्डित करने के साथ विदेशी व्यापारियों की क्षतिपूर्ति भी की। इस प्रकार जापान ने विदेशों से सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध कायम करने का पहला कदम उठाया। अधिकांश जापानी नागरिक सम्राट के इसलिए भी भक्त बन गये थे कि सम्राट अब उनके निकट आ गये थे।

मुत्सु हीटो का समूचा ध्यान अपने राष्ट्र की जनता के उत्थान पर केन्द्रित था। अत: उन्होंने देश के गणमान्य और प्रतिष्ठित व्यक्तियों को बुलाकर एक सभा का संगठन किया, जिसका उद्देश्य था लोक-कल्याण के कार्यक्रम बनाना और उनके क्रियान्वयन की व्यवस्था करना। इस प्रतिनिधि सभा के अधिकांश सदस्य जमींदार थे और विश्व के इतिहास में पहली बार जमींदारों ने जन-हित के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना का परिचय दिया और जमींदारी प्रथा को ही समाप्त कर डाला। सब जमींदारों ने मिलकर अपने अधिकारों के समर्पण की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा- "हम और हमारे पूर्वजों ने चिरकाल तक जमींदारी की आमदनी से सुख भोगे हैं परन्तु देश और जाति की उन्नति के लिए हमारी जाति संसार की उन्नत जातियों में गिनी जाने लगे, इस उद्देश्य से इस जमींदारी से जिस पर आज तक हमें स्याह और सफेद करने का अधिकार था, जिनकी आमदनी से हम मौज-मजे लूटते थे और जिसके निवासियों को हम गुलामी की रस्सियों से बाँधे हुए थे अब अपने सब सत्त्वों का त्याग करते हैं। वह सब राष्ट्र के चरणों में समर्पित है, उसे राष्ट्रहित में जिस प्रकार भी प्रयोग किया जा सके करें।"

कहना नहीं होगा कि इस आत्मोत्सर्ग से एक ओर जहाँ सम्राट की शक्ति बढ़ी वहीं जमींदारों के अधीन उनकी भूमि पर काम करने वाले गरीब मजदूरों भी लाभ हुआ और सबसे बड़ी बात तो यह हुई है कि सम्राट को विश्वासपात्र सहयोगी मिले। अब जापान में एक नये परिवर्तन के युग का सूत्रपात हुआ। जापानी नियमों का पुन: निर्माण किया गया और अमानुषी अत्याचारपूर्ण दण्डों को सर्वथा बन्द कर दिया गया। राजधानी को क्वेटों से बदलकर इडो ले जाया गया जो आज भी टोकियो के नाम से जापान की राजधानी बनी हुई है। युवकों के लिए अब तक किसी प्रकार की उन्नतशील शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी, उनके लिए समुचित शिक्षण व्यवस्था की गयी और विशेषज्ञों द्वारा इस प्रकार का पाठ्यक्रम तैयार किया गया, जिससे जापानी युवक विद्यासम्पन्न होने के साथ स्वावलम्बी भी बन सकें। राज-काज को चलाने के लिए कैलैण्डर का प्रयोग किया जाने लगा। प्रतिभाशाली युवकों को राजकीय खर्च पर अमेरिका और इंग्लैण्ड शिक्षा प्राप्त करने भेजा गया। सम्पन्न व्यक्ति और समृद्ध व्यापारी भी

पीछे न रहे–लोककल्याण के इतने सारे कार्य होते देख उन्होंने भी अपना योगदान देना आरम्भ किया और १८७२ में यातायात के लिए पहली रेलगाड़ी चली ।

सुधारों की यह प्रक्रिया लगभग दस वर्षों तक चली । सैन्यशक्ति की दृष्टि से भी जापान में मुत्सु हीटो के नेतृत्व में काफी प्रगति की । उनके शासन काल में स्थल सेना और नौ सेना का अच्छा विकास हुआ । सन् १८७० में पहली पार्लियामेण्ट गठित हुई ताकि शासन व्यवस्था को जनता अपना काम समझे और अपने दायित्व को भली प्रकार निबाह सके । इस प्रकार जापान का एकदम नया कायाकल्प हो गया और वहाँ बहुत कुछ बदल गया ।

परन्तु ये परिवर्तन न तो अनायास ही हुए और न ही निर्विघ्न । जिस समय ये सुधार कार्यक्रम चले उस समय निश्चित ही कुछ स्वार्थी लोगों के स्वार्थ पर आघात हुआ और इससे वे व्यग्र भी हो उठे । अतः स्थान-स्थान पर विप्लव होने लगे और खतरा उत्पन्न हुआ कि तीन शताब्दियों से चले आ रहे राजवंश की कहीं नींव ही न उखड़ जाय । इधर यह आंतरिक कलह उधर फरमोसा द्वीप के आस-पास जलदस्यु भी जापानी पोतों को लूटने लगे । नौ सेना को उधर लगाना पड़ा तथा गृहयुद्ध की स्थिति से निबटने के लिए स्वयं मुत्सु हीटो ने कमर कस ली । देशभक्त और विश्वासपात्र सैनिकों तथा सेनाधिकारियों को लेकर उन्होंने विप्लव को दबाने का अभियान छेड़ा । इस अभियान में वे स्वयं भी शस्त्र ग्रहण कर बलवाइयों का दमन करने निकल पड़े, इससे सैनिकों के हौसले बढ़े और सफलतापूर्वक विप्लवकारी अवांछनीय तत्त्वों पर काबू पा लिया गया ।

शासन व्यवस्था में सुधार तथा जन-कल्याण की अन्य कई नई परम्परायें विनिर्मित कर उन्होंने अपने देश को प्रगति के पथ पर खड़ा कर दिया–यही नहीं उसमें गति भी लाये । कई स्वतंत्र और उन्नत राष्ट्रों ने जापान से सम्मानपूर्ण समानतासूचक सन्धियाँ कीं पर मुत्सु हीटो को परीक्षा के दौर से और गुजरना पड़ा । १८७४ में चीन ने और १९०४ में रूस ने जापान पर आक्रमण किया । जिसका सामना उन्होंने तथा उनके देशवासियों ने जी जान से किया । अन्ततः विजयश्री ने उन्हीं का वरण किया ।

२९ जुलाई, १९१२ को जापान के उन्नायक इस महान सम्राट का देहान्त हो गया । जिस समय वे मृत्युशय्या पर अन्तिम साँसें ले रहे थे–राजभवन के चतुर्दिक हजारों नागरिक ईश्वर से अपने बदले में अपने सम्राट का जीवन माँग रहे थे । राजसिंहासन पर ही नहीं लोगों के हृदय पर भी आसीन होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा ? सेवा और कठोर कर्त्तव्य-निष्ठा के बल पर सर्वसाधारण में अपनी इतनी प्रतिष्ठा बढ़ा लेना पूजनीय मूर्ति बना लेना ही वह कारण है कि जापानवासी चिरकाल तक मुत्सु हीटो को नहीं भूल सकेंगे ।

राष्ट्र धर्म का प्रचारक–
मेजिनी

धर्म के अनेक स्वरूप होते हैं । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सत्य, न्याय, दया, परोपकार, पवित्रता आदि धर्म के अमिट सिद्धान्त हैं और इनका व्यक्तिगत रूप से पालन किये बिना कोई व्यक्ति धर्मात्मा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता । पर इनके सिवाय और भी ऐसी बहुत-सी बातें हैं जो सामुदायिक दृष्टि से मनुष्य का कर्त्तव्य मानी जाती हैं और उनसे विमुख रहने पर मनुष्य अपने कर्त्तव्य से पतित माना जाता है । देश-भक्ति भी एक ऐसा ही पवित्र कर्त्तव्य है । जिस देश में मनुष्य ने जन्म लिया है और जिसके अन्न-जल से उसकी देह पुष्ट हुई है उसकी रक्षा और भलाई का ध्यान रखना भी मनुष्य के बहुत बड़े धर्मों में से एक है । विशेषतया जब किसी शत्रु का आक्रमण हो, या किसी लालची विदेशी शक्ति ने अपने देश पर अधिकार कर लिया हो, तो वहाँ के प्रत्येक निवासी का यह धर्म हो जाता है कि वह मातृभूमि को अत्याचारियों के पंजे से छुड़ाने का प्रयत्न करे । यदि वह अपने निर्दोष देशभाइयों पर अत्याचार होते देखता रहता है और केवल एकान्त में बैठकर पूजापाठ करके ही अपने धार्मिक कर्त्तव्य की पूर्ति समझ लेता है तो वह वास्तव में भ्रम में है ।

इटली का जोजेफ मेजिनी ऐसे ही 'धर्म' का दृढ़ अनुयायी था । उसके समय में आस्ट्रिया और फ्रांस ने इटली के विभिन्न भागों पर अधिकार कर रखा था । आस्ट्रिया वाले वहाँ के निवासियों के साथ दासों का-सा व्यवहार करते थे । उन्होंने अनेक विषयों में उनकी स्वाधीनता अपहरण कर रखी थी और जो कोई उनके विरुद्ध जरा भी जबान खोलता था या उनके आदेशों की अवहेलना करता था, उसी को जेलखाने में डाल दिया जाता था या फाँसी पर चढ़ा दिया जाता था । ऐसे समय में कुछ बड़ा होते ही मेजिनी इस अन्याय का अनुभव करने लगा और १६-१७ वर्ष की आयु में ही उसने देशसेवकों की विपत्ति की बातें सुनकर शोकसूचक काला वस्त्र धारण करने का निश्चय लिया और आजन्म इस प्रतिज्ञा का पालन करता रहा । बीस-बाईस वर्ष की आयु होते-होते वह 'कारबोनेरी' नाम की राज विद्रोही गुप्त संस्था का सदस्य बन गया और २५ वर्ष की आयु में सरकार ने उसे गिरफ्तार करके काल कोठरी में डाल दिया ।

जब मेजिनी ने देखा कि इटली में रहकर विदेशी शासन के विरुद्ध एक शब्द भी उच्चारण करना कठिन है तो वह फ्रांस चला गया और फिर इसका समस्त जीवन इधर-उधर घूमकर भिन्न-भिन्न देशों में गुप्त या प्रकट रूप से रहते ही व्यतीत हुआ ।

देश को पराधीनता के अभिशाप से मुक्त करने के लिये मेजिनी ने 'युवा इटली' नाम की संस्था की स्थापना की । उसने अपने संगठन को केवल एक राजनैतिक दल का रूप

न देकर 'राष्ट्रीय धर्म' का रूप दिया, जिसका उद्देश्य बतलाते हुये उसने लिखा कि "प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र को ईश्वर ने एक महान उद्देश्य सौंपा है । ईश्वरीय प्रेरणा से हम उसका अनुसरण करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं और ईश्वरीय प्रेरणा से ही उन उद्देश्यों की पूर्ति करके हम उन्नति का मार्ग ग्रहण करते हैं । इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने, सत्य और न्याय में विश्वास रखने और त्याग की भावना पर चलने से हम विजय प्राप्त कर सकते हैं ।"

पुराने आन्दोलनों की असफलता पर विचार करके मेजिनी ने 'युवा इटली' के उद्देश्यों में एक बात यह भी रखी कि ऊँचे आदर्शों और कर्त्तव्य का प्रभाव तो शिक्षित और मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों पर ही पड़ सकता है । परन्तु देश के अशिक्षित और साधारण श्रेणी के व्यक्तियों की समझ में ये बातें नहीं आ सकतीं, इसलिये हमको अपने कार्यक्रम में लोगों के स्थूल लाभ तथा सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने की बात भी शामिल करनी चाहिए । यह तो स्पष्ट ही है कि जब तक साधारण जनता में जाग्रति न हो जाय और वह स्वतंत्रता आन्दोलन में भाग न लेने लगे तब तक सफलता की आशा न करनी चाहिए । इसलिये हमको अपने प्रचार में विशेष ध्यान गरीबों, दु:खियों और समाज के पैरों तले रौंदे जाने वाले लोगों की तरफ देना चाहिए और उनको क्रांति में सहायक बनाना चाहिए । हम जिस प्रजातंत्र शासन का स्वप्न देख रहे हैं उसमें सब व्यक्ति समान भाव से एक दूसरे के हित का ध्यान रखकर ही व्यवहार करेंगे और दूसरों के कल्याण के लिये अपने सुख और विलास को त्याग करने की भावना रखेंगे । ऐसा होने से ही जर्जर शरीर वाले, फटे-पुराने चिथड़े पहने, आधे नंगे और आधा पेट भोजन करने वाले हतभाग्य लोग सुखी हो सकते हैं और समाज के सब अंगों के सुखी होने पर ही सम्पूर्ण मानव-समाज यथार्थ सुख-भोग सकता है ।

'युवा इटली' की गुप्त संस्था का काम किस प्रकार चलाया जाता था, इसका वर्णन करते हुये एक क्रांतिकारी ने लिखा है कि हम लोगों के पास न तो कोई दफ्तर था और न कोई सहायक । सारे दिन और रात को भी बड़ी देर तक हम लोग काम में जुटे रहते थे । हम ही लेख और पत्र लिखते रहते, यात्रियों से पूछकर इटली के समाचार संग्रह करते, मल्लाहों को अपने दल में भरती करते ताकि उनके द्वारा गुप्त साहित्य को इटली में भेजा जा सके, कागज मोड़ते, लिफाफा चिपकाते । एक व्यक्ति छपने के लिये टाइप कम्पोज करता तो दूसरा छपने वाले मजमून को शुद्ध करता था । हम में से ही कोई व्यक्ति कुली का काम करता ताकि मजदूरी का खर्च बचे । हम सब एक समान भाई की तरह रहते । हम सबका एक विचार, एक आशा, एक आदर्श था जिस पर हम दृढ़ रहते थे । हम लोग वास्तव में बड़ी दरिद्र हालत में थे, किन्तु सब कोई निश्चिन्त, हँसमुख बने रहते थे क्योंकि अपने कार्य की श्रेष्ठता और भविष्य की सफलता में हमको पूरा विश्वास था ।"

मेजिनी के आन्दोलन से उत्साहित होकर इटली के पीडमाण्ट राज्य की सेना के कुछ अधिकारियों ने विद्रोह करने का निश्चय किया । विचार यह था कि विद्रोही जनता और सेना मिलकर अकस्मात लम्बार्डी प्रान्त पर हमला करके उसे आस्ट्रिया के पंजे से मुक्त कर लें । इस षड्यन्त्र का एक खास नेता जैको पो रुफिनी था जो मेजिनी का सबसे घनिष्ठ और अन्तरंग मित्र था । पर इस षड्यन्त्र का भंडाफोड़ समय से पहले ही हो गया । कितने ही फौजी अफसर मारे गये और रूफिनी कैद कर लिया गया । उसके सामने दो बातें रखी गईं कि या तो वह इस षड्यन्त्र में भाग लेने वालों के नाम बतला दे, अन्यथा उसको बड़े कष्ट के साथ मारा जायगा । रूफिनी को सन्देह हुआ कि कहीं कष्टों को सहन न कर सकने के कारण किसी का नाम उसके मुँह से न निकल जाय । इसलिये किसी उपाय से उसने जेलखाने में ही आत्महत्या कर ली । मेजिनी को इस घटना का अत्यधिक शोक हुआ और वह आजीवन अपने इस मित्र को स्मरण करता रहा ।

अपने निर्वासन का बहुत-सा समय मेजिनी को इंग्लैण्ड में बिताना पड़ा और गरीबी के कारण ऐसे-ऐसे कष्ट सहन करने पड़े जिन पर सहज में विश्वास भी नहीं होता, इसकी माता इसके खर्च को बराबर कुछ रुपया भेजती रहती थी, जिसमें इसका निर्वाह साधारणत: हो सकता था । पर उस रुपये को भी यह अपने ही काम में नहीं लाता था, वरन् अन्य साथियों का निर्वाह भी उसी से होता था । इससे उसकी आर्थिक दशा गिरते-गिरते इतनी खराब हो गई कि उसे अपने मित्रों और सम्बन्धियों से भेंट स्वरूप मिली हुई चीजें गिरवी रखनी पड़ीं । एक दिन ऐसा आ गया कि उसे अपना पुराना जूता और कोट भी गिरवी रखना पड़ा । इसके बाद जब कोई भी चीज शेष न रही तो उसे उन समितियों से कर्ज लेना पड़ा जो चालीस-पचास रु० सैकड़ा सूद लेती हैं और मनुष्य का खून तक चूस लेती हैं । सूद न मिलने पर बदन का कपड़ा उतरवा लेती हैं और एक चिथड़ा तक नहीं छोड़तीं । इन समितियों का दफ्तर अक्सर शराबखानों में होता है और शराब के चंगुल में फँसे हुये लोग ही इनसे प्राय: कर्ज लेते हैं । मेजिनी जैसे प्रसिद्ध विद्वान और राजनैतिक नेता को घोर दरिद्रता के कारण बहुत समय तक इन समितियों के जाल में फँसा रहना पड़ा और शराबियों की पंक्ति में खड़े होकर अपनी जरूरतें पूरी करनी पड़ीं । इन विपत्तियों का जिक्र करते हुये मेजिनी ने लिखा है–

"मैं नहीं चाहता कि इन विपत्तियों का वर्णन करूँ, परन्तु उनका उल्लेख इसलिये करता हूँ कि यदि भविष्य में कोई भाई इन विपत्तियों में मेरी ही तरह फँस जाय तो इस लेख से उसे सांत्वना मिले । मेरा चित्त तो यह चाहता है कि मैं योरोप की माताओं से विनम्र निवेदन करूँ कि मेरी विपत्तियों को सम्मुख रखकर वे निश्चय कर लें कि

वर्तमान अवस्था में हमारे यहाँ कोई भी मनुष्य स्वयं अपना स्वामी नहीं है । कोई भी नहीं कह सकता कि उस पर अथवा उसके अत्यन्त निकट सम्बन्धी पर कल कैसी बीतेगी । ऐसी दशा में उचित यही है कि वे अपनी संतान को लाड़-प्यार में न पालें, उनको भोग विलास का अभ्यस्त न बनावें । उन्हें चाहिए कि वे आरम्भ से ही उन्हें कठिनाइयों का अभ्यस्त बनावें जिससे उन्हें भविष्य में कष्ट पड़ने पर असह्य न हो ।"

इस प्रकार मेजिनी आजीवन देशभक्ति के धर्म का प्रचार करता रहा और उसके उपदेशों से इटली ही नहीं समस्त पराधीन देशों के जन-सेवकों को बड़ी प्रेरणा मिली ।

कनाडा का जनक—

मेकडोनाल्ड

कनाडा आज विश्व के शक्तिशाली व सम्पन्न राष्ट्रों में गिना जाता है । आकार की दृष्टि से भी वह अन्य देशों की तुलना में बड़ा है । इस समृद्ध और विशाल राष्ट्र को अस्तित्व में लाने के लिये एक व्यक्ति ने कितनी कठिनाइयों का सामना किया, किस प्रकार उसने आपस में झगड़ने वाले छोटे-छोटे राज्यों को अपनी राजनैतिक प्रतिभा व बुद्धि बल के सहारे संगठित किया, इस संगठन के लिये उसे कितनी भयंकर जोखिम उठानी पड़ी, यह एक लम्बी और दिलचस्प कहानी है । इस कहानी का नायक है जॉन अलेक्जेण्डर मेकडोनाल्ड, जिसे कनाडा का जनक भी कहा जा सकता है ।

मेकडोनाल्ड का कनाडा के इतिहास में वही स्थान है जो सं. रा. अमेरिका के इतिहास में अब्राहिम लिंकन का था । अब्राहिम लिंकन ने दास प्रथा के उन्मूलन को लेकर जिस प्रकार गृह युद्ध की भयंकर जोखिम उठायी थी उसी प्रकार अलेक्जेण्डर मेकडोनाल्ड ने ब्रिटिश कोलम्बिया को कनाडा में मिलाने के लिये कनाडियन पैसिफिक रेलवे लाइन निर्माण की जोखिम उठायी थी ।

इतना बड़ा काम करने वाले मेकडोनाल्ड की योग्यताओं की ओर दृष्टिपात करें तो वह हमें सामान्य-सा आदमी ही लगता है, फिर वह कैसे यह कार्य कर सका ? इस प्रश्न का उत्तर उसके धैर्य व साहस रूपी सद्गुण ही दे सकते हैं । अलेक्जेण्डर मेकडोनाल्ड का जन्म इंग्लैण्ड के ग्लासगो नगर में एक सामान्य परिवार में सन् १८१५ में हुआ था । जब वह पाँच वर्ष का था तब उसके माता-पिता रोजगार के लिये कनाडा आ गये । वह केवल पाँच वर्ष तक ही नियमित रूप से स्कूल में पढ़ने जा सका था । उसके बाद पारिवारिक परिस्थितियों ने उसे कुछ न कुछ काम-धन्धा करने को विवश किया, परिणामस्वरूप पढ़ाई छोड़नी पड़ी । यही पाँच वर्ष तक ही स्कूल में पढ़ने जा सकने वाला मेकडोनाल्ड तैंतीस वर्ष की आयु में कनाडा की विधानसभा का सदस्य नियुक्त हुआ, अनुदार दल की ओर से ।

नियमित पढ़ाई नहीं कर सकना उसके व्यक्तित्व के निर्माण में विशेष बाधक नहीं बना । पढ़ने की उसकी बड़ी इच्छा थी पर उसके लिये वह स्कूल जा सके ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थीं । किन्तु 'जहाँ चाह वहाँ राह' के प्राकृतिक नियम में विश्वास रखने वाला मेकडोनाल्ड निराश नहीं हुआ । उसने दुनिया में इधर-उधर बिखरे ज्ञान को यत्नपूर्वक समेटकर अपने मस्तिष्क में सँजोना आरम्भ कर दिया । स्वाध्याय के द्वारा अपना बौद्धिक विकास करना उसने अपनी नित्य की दिनचर्या में सम्मिलित कर लिया ।

मेकडोनाल्ड का यह श्रम व सूझ-बूझ काम आयी । उसे एक वकील ने अपना क्लर्क बना लिया । कुछ वर्षों तक उक्त वकील के ऑफिस में काम करके अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसने स्वतंत्र रूप से वकालत करना आरम्भ कर दिया । उन दिनों वकालत करने के लिये आजकल की तरह एल० एल० बी० नहीं करना पड़ता था । सनद पाने के लिये एक सामान्य-सी परीक्षा दे देना ही पर्याप्त होता था ।

वकील बन जाने के बाद भी उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ समाप्त नहीं हुई थीं । वह राजनैतिक नेता बनकर कनाडा को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करना चाहता था । विश्व राजनीतिक घटनाक्रम का गहराई से अध्ययन करने वाला मेकडोनाल्ड यह आवश्यक समझता था कि कनाडा भी सं० रा० अमेरिका की तरह संगठित हो जाय । इसके लिये अनुभव और योग्यता की आवश्यकता थी, जिसे उसने तत्सम्बन्धी पुस्तकें पढ़कर व अपने निकट सम्पर्क में आने वाले वकील बन्धुओं से प्राप्त किया ।

साहसी तो वह पहले दर्जे का था ही । जिस वर्ष वह विधान सभा के लिये चुनाव लड़ा था उसी वर्ष उसने एक ऐसा मुकदमा लड़ा था जिससे महारानी विक्टोरिया नाराज हो सकती थी और उनकी नाराजगी किसी भी कनाडा वासी के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती थी, क्योंकि कनाडा उन दिनों एक ब्रिटिश उपनिवेश था । उसने सेंट लॉरेन्स पार करके कनाडा में आ बसे कुछ अमरीकियों के पक्ष में मुकदमा लड़ा था । उसके इस साहस ने मतदाताओं का हृदय जीत लिया और वह विधान सभा का सदस्य बन गया ।

कनाडा उन दिनों एक छोटा-सा ब्रिटिश उपनिवेश भर था, जिसमें थोड़े से कीचड़ सने-कस्बे और आधे-साफ हुए खेतों के अतिरिक्त जंगल ही जंगल था । यह सेंट लॉरेन्स के आस-पास ही फैले हुए थे । बस यही छोटा-सा भू-भाग कनाडा कहलाता था । बड़ी मुश्किल से १८४१ में वर्तमान ओण्टेरियो और क्यूबेक प्रदेशों को संगठित करके कनाडा को थोड़ा बड़ा आकार दिया जा सका । इस एकीकरण में नये-नये पार्षद मेकडोनाल्ड का बड़ा सहयोग रहा ।

इन तीन प्रदेशों के संयुक्त कनाडा के अतिरिक्त अन्ध महासागर से लगे हुए नोवा स्कॉटिया, न्यू ब्रुसविक, प्रिंस एडवर्ड, आइलैण्ड और न्यू फाउन्डलैण्ड आदि ऐसे राज्य थे जो आपस में झगड़ा करते थे और कनाडा उनके लिये एक वीरान विदेशी राज्य जैसा था। इसके बीच इन प्रदेशों के रहने वालों की ब्रिटिश प्रोटेस्टेण्ट व फ्रेंच कैथोलिक सम्प्रदायवादी आस्थाएँ भी दीवारों का काम कर रही थीं। ऐसी विषम स्थिति में कनाडा के एकीकरण का स्वप्न मेकडोनाल्ड जैसा दुस्साहसी व्यक्ति ही देख सकता था।

कनाडा को एकीकृत करके एक बड़ा राष्ट्र बनाने का मेकडोनाल्ड का सपना चंद वर्षों में पूरा नहीं हो गया। इसकी प्रगति कछुए की चाल से हुई। अत्यधिक मंदगति में बीच में उसे राजनीतिक क्षेत्र में असफलतायें भी मिलीं। पर वह इससे निराश होने वाला नहीं था। उसके प्रयास चलते ही रहे। कनाडा में ही अभी एकता नहीं थी। फ्रैंच कैथोलिक और ब्रिटिश प्रोटेस्टेण्ट आपस में खींचतान किया करते थे। मेकडोनाल्ड की पहली सफलता यह थी कि वह इनका एक संयुक्त संगठन बनाने में सफल हुआ।

कनाडा का एकीकरण उसे एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का उसका यह सपना उसकी कोई व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा नहीं थी वरन् वह इसके पीछे सम्पूर्ण कनाडा वासियों का हित देखता था, क्योंकि बिना छोटे-छोटे राज्यों के एक हुए इस प्रदेश का कुछ भी भविष्य नहीं था। किन्तु उसकी इस दूरदर्शिता को उसके देश के राजनीतिज्ञ भी समझ नहीं पा रहे थे। उसकी अपनी 'लिबरल कंजरवेटिव पार्टी' भी दो प्रकार के मतवादियों का गठबंधन थी, जो मात्र राष्ट्र में अपना प्रभुत्व रखना चाहती थी।

अपने विचारों से पार्टी के सदस्यों व देशवासियों को सहमत कराने के उसके प्रयास चलते ही रहे। उनका प्रभाव मंदगति से ही होता रहा। १८५७ में वह अपने उपनिवेश का प्रधानमंत्री बना। उसका विचार भी तब तक लोगों के दिमाग में पहुँच चुका था। प्रधानमंत्री बनने पर वह अपनी बात और अच्छे ढंग से समझा सका था।

इन्हीं दिनों अमेरिका में गृहयुद्ध की आग भड़क उठी थी। इंग्लैण्ड ने दक्षिणी राज्यों का समर्थन किया था। कनाडा ब्रिटिश उपनिवेश होने के नाते उत्तरी राज्यों के कोप का शिकार हो सकता था। इस आशंका ने उसके इस विचार की पुष्टि की। उसके विरोधी भी उससे सहमत हुए। जार्ज ब्राउन नामक उसका घोर विरोधी राजनैतिक नेता भी उसके साथ मिलकर काम करने के लिये तैयार हो गया।

यहाँ मेकडोनाल्ड ने बड़ी तेजी से काम किया। यह अवसर था जब कनाडा के एकीकरण के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ बन रही थीं। इनसे लाभ उठाने में वह चूका नहीं। तभी उसे ब्रिटिश गर्वनर जनरल का आदेश मिला संविधान सभा भंग करने के सम्बन्ध में। साहस और धैर्य के धनी मेकडोनाल्ड ने उक्त आदेश को अपनी अलमारी की दराज में डाल दिया और वह तुरन्त जार्ज ब्राउन के पास पहुँचा। एक घण्टे की बातचीत के बाद उन्होंने अपनी संयुक्त सरकार बनाकर ब्रिटिश उपनिवेशों को एकीकृत करके वृहद कनाडा राज्य की स्थापना करने के लिए जोरदार प्रयत्न करने का निश्चय कर लिया।

इन दोनों ने मिलकर ब्रिटिश उपनिवेशों के एकीकरण के लिए प्रयास करने आरम्भ कर दिये। महीनों के भाषणों, राजनीतिक समझौतों और प्रचार के बाद १८६४ में यह निश्चित हुआ कि सब उपनिवेश मिल जायें। इसी उद्देश्य से क्विबेक में प्रतिनिधि बुलाये गये संविधान की रचना करने के लिये। लम्बे प्रयास और राजनीतिक गठजोड़ के बाद एक बड़ा देश-कनाडा कागजों पर अस्तित्व में आया।

इसके लिए जान अलेक्जेण्डर मेकडोनाल्ड को क्या-क्या नहीं करना पड़ा। वह दिन को संविधान सभा के सामने आयी भिन्न-भिन्न गुत्थियों को सुलझाने के लिए सिर खपाता। रात्रि में उसे दूसरे उपनिवेशों से आये हुए प्रतिनिधियों के मनोरंजन और संतुष्टि के लिए हर सम्भव प्रयत्न करने पड़े। किन्तु यह सब उसने अपने लिए नहीं सभी उपनिवेशों के हित के लिए किया था। अपने इस आचरण द्वारा मेकडोनाल्ड ने यह आदर्श प्रस्तुत किया है कि राजनीतिक दावपेंच भी किसी सद्उद्देश्य के लिए काम में लाये जाने चाहिए, न कि अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ साधना के लिए।

जब सभी उपनिवेशों के प्रतिनिधि नये विशाल राष्ट्र कनाडा की नयी राजधानी ओटावा में एकत्रित हुए और जब मेकडोनाल्ड भाषण देने खड़ा हुआ तो वह कतई राजनीतिज्ञ नहीं लग रहा था। उसका झुर्रियों भरा लम्बोतर चेहरा और ढीली-ढीली वेशभूषा उसके व्यक्तित्व को कोई आकर्षण प्रदान नहीं कर रही थी। किन्तु जब उसने भाषण देना शुरू किया तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो सुनते ही रह गये।

१ जुलाई, १८६७ को ओटावा में नये संघ राज्य कनाडा की स्थापना हुई। इस दिन सारे देश में उत्सव मनाये गये। अभी तक इसमें चार राज्य आन्टेरियो, क्विबेक, नोवा स्कोटिया और न्यू ब्रुसविक ही सम्मिलित हुए थे। मेकडोनाल्ड इस देश का प्रधानमंत्री बना।

अभी ब्रिटिश कोलम्बिया नामक समृद्ध उपनिवेश को इसमें और मिलना बाकी था। इसके लिए जान अलेक्जेण्डर मेकडोनाल्ड ने अटलांटिक से प्रशान्त महासागर तक रेलवे लाइन बनाने की शर्त पर समझौता किया जो बहुत भारी पड़ता था। चालीस लाख से भी कम जनसंख्या वाला कनाडा सेंट लारेन्स से प्रशान्त महासागर तक रेलवे लाइन बना सकता था? मार्ग में बड़ी-बड़ी झीलें, दलदल और रॉकी पर्वत जैसी बाधायें खड़ी थीं, पर मेकडोनाल्ड अपने स्वप्न को सत्य करके रहा। इसके लिए उसे अपना प्रधानमंत्री पद भी दाँव पर लगाना पड़ा। किन्तु कनाडियन पैसिफिक रेलवे निर्मित हुई। यों कहना चाहिए कि मेकडोनाल्ड ने अपना बलिदान दे दिया इसके लिए। इस रेलवे लाइन के निर्माण को लेकर उसे जितनी

दिक्कतें व विरोध सहने पड़े, जितना अधिक काम करना पड़ा उसे उसकी दुर्बल काया सह नहीं सकी । १८८५ में इस रेलवे लाइन के बन जाने के कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई ।

कनाडा का निर्माता अपने उस स्वप्न को साकार कर गया जो नितांत असम्भव लगता था । मेकडोनाल्ड के जीवन की यह कहानी मानवीय कर्तृत्व की अनूठी मिसाल है ।

निष्काम कर्मयोगी–

यिरास

३९ वर्षीय अलबर्टो यिरास ने सन् १९४५ में लिबरल पार्टी के उम्मीदवार की हैसियत से कोलम्बिया के राष्ट्रपति पद के लिये चुनाव लड़ा और सफल हुए । दुर्योग से एक वर्ष बाद ही उनका दल विघटित हो गया और उन्हें राष्ट्रपति पद से स्तीफा देना पड़ा । वे इतने लोकप्रिय थे कि उनके दल के ही नहीं अन्य दलों के सदस्यों ने भी उन्हें राष्ट्रपति पद पर आरूढ़ रहने की बात कही तथा चुनाव नहीं कराके राष्ट्रपति शासन लागू कर देने की राय दी । यिरास नैतिकता रहित राजनीति को परले सिरे धोखाधड़ी मानते थे । वे अपने आदर्शों और उद्देश्यों के प्रति पूरे ईमानदार थे । अतः उनके मन में पद का तनिक भी मोह नहीं व्यापा और राजनीतिज्ञों की इस सम्मति का उत्तर उन्होंने 'ना' में ही दिया । उन्होंने 'सेमना' नामक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया । ऐसे निस्पृह राजनेताओं की आज विश्व में बड़ी कमी है । किन्तु सच पूछा जाय तो राजनेता की कसौटी भी यही है । ऐसे ही निस्पृह राजनीतिज्ञ देश का भी भला कर सकते हैं और स्वयं भी यशस्वी बन सकते हैं ।

उनके एक मित्र ने उनसे इस पद त्याग का कारण पूछा तो उन्होंने कहा था–"मैं चाहता तो राजनीतिज्ञ जोड़-तोड़ करके राष्ट्रपति पद पर बना रह सकता था । किन्तु किसी व्यक्ति के जीवन में पद का जितना महत्त्व नहीं होता उससे लाख गुना महत्त्व होता है उसके सिद्धान्तों का । जिस मनुष्य के जीवन में कोई उच्च सिद्धान्त नहीं उसे मनुष्य कहना मानवता का अपमान करना है और मैं राष्ट्रपति पद से सच्चे मानव का पद ऊँचा मानता हूँ ।" आज जब हरेक व्यक्ति के मुँह से सुना और समाज में देखा जाता है कि नैतिक मानदण्ड ही बदलते जा रहे हैं । व्यक्ति जमाने को दोष देता हुआ व्यावहारिकता के नाम पर सिद्धान्तों का हनन करने में कोई संकोच नहीं करता, अलबर्टो यिरास जैसे उदाहरण सोयी मानवता को जगाने के लिए उत्प्रेरक का काम करते हैं ।

कोलम्बिया के एक अति निर्धन परिवार में जन्मे और गरीबी के समस्त अनुभवों को सिद्ध करने और अपनी राह स्वयं बनाते हुए राष्ट्रपति पद तक पहुँचने और फिर उसे तिनके की तरह त्याग देने वाले यिरास के जीवन में ऐसे कितने ही प्रेरक आदर्श भरे पड़े हैं जो कितने ही व्यक्तियों को आदर्शयुक्त जीवन जीने की प्रेरणा देने को अपर्याप्त नहीं हैं ।

वे सात वर्ष तक 'अमेरिकन ऑरगनाइजेशन ऑफ स्टेट्स' के निर्देशक रहे । इस काल में उन्हें प्रतिवर्ष ९३,००० रुपये के कर मुक्त वेतन के अतिरिक्त निःशुल्क निवास, कार, कार चालक व भृत्यादि की सुविधाएँ प्राप्त थीं । किन्तु इस पद को भी उन्होंने अपने देश के एडेन्स विश्वविद्यालय के अवैतनिक अध्यक्ष बनकर जाने के लिए इसलिये त्याग दिया कि वे अपने देश में स्थापित हो चली तानाशाही को उखाड़ने का जोखिमपूर्ण कार्य हाथ में लेना चाहते थे । जिस व्यक्ति ने गरीबी को निकट से देखा हो, भोगा हो वही स्वेच्छा से उसे पुनः वरण करे ऐसे उदाहरण कम ही देखने को मिलते हैं । देश के, देशवासियों के हित के लिए इतने सुख-सुविधापूर्ण पद को त्यागने वाले यिरास का जीवन इस बात का साक्षी है कि आनन्द आराम भोगने में ही नहीं मिलता कठिनतम कर्त्तव्य निभाने के लिये महानतम त्याग करने में भी मिलता है और पूर्वापेक्षा सहस्रावधि अधिक मिलता है ।

यिरास उन व्यक्तियों में से हैं जिनके लिये अँग्रेजी भाषा का 'सेल्फमेड' विशेषण प्रयुक्त होता है । अपने बचपन की कष्टपूर्ण कहानी को वे भूले नहीं हैं और कई लोगों की तरह भूल जाना चाहते भी नहीं हैं, क्योंकि भूल जाने पर पथ विचलित हो जाने का भय रहता है । बचपन घोर निर्धनता में व्यतीत हुआ । दस वर्ष के थे और पिता साथ छोड़ गये । माँ ने दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया । रिचार्ड के सैनिक विद्यालय में अठारह वर्ष की आयु तक किसी तरह उनकी पढ़ाई चली । उसके बाद बोगोटा में एक समाचार पत्र के कार्यालय में अल्प वेतन पर नौकरी करते हुए वे सम्वाददाता बने ।

मनुष्य की जिज्ञासा, श्रम, लगन और संकल्प वे साथी-सहयोगी हैं जो उसे निरन्तर आगे बढ़ाते ही रहते हैं । इस बात को उन्होंने अल्पवय में ही जान लिया था । वे तो अपनी गरीबी और विपरीत परिस्थितियों को धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने इन साथी-सहयोगियों से शीघ्र ही परिचय करवा दिया नहीं तो किसी समृद्ध घर में उत्पन्न हुए होते तो शायद वे तो भीड़ में खो गये होते, उन्हें आज कोई जानता न होता । यिरास को लिखने-पढ़ने के लिए भले ही अधिक समय तक स्कूल का सहारा न मिला हो, कॉलेज की तो बात ही पृथक है, पर विश्व में इस विशालतम विश्वविद्यालय में उन्होंने जो कुछ सीखा वह अनूठा है । ज्ञान किसी शिक्षण संस्थान की बपौती नहीं, जो यत्र-तत्र बिखरे ज्ञान को बटोरने की क्षमता उपजाता है वह बिना इन चहारदीवारियों में सत्र गुजारी किये ही बहुत कुछ पा लेता है । व्यवहार से, भाषणों से, पुस्तकों से, समाज से, पशु-पक्षियों से और अपनी अन्तःप्रेरणा से प्रांगण में बिखरे ज्ञान के एक-एक कण-कण को बटोरते हुए, उसे अपने

जीवन में उतारते हुए, व्यवहार में लाते हुए एक अनाथ बालक से कोलम्बिया के राष्ट्रपति पद तक पहुँचे थे, एक दम नहीं एक-एक सोपान चढ़ते गए ।

अठारह वर्ष की आयु में उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया । अपनी लगन, सूझ-बूझ, परिश्रमशीलता और योग्यता के बल पर ही वे बोगोटा के प्रमुख पत्र 'टोइम्पो' के प्रधान सम्पादक बन गये । वे अपनी सरल और स्पष्ट टिप्पणियों और सुलझे हुए प्रौढ़ सम्पादकीय लेखों के माध्यम से जनता में बहुत लोकप्रिय हुए । उनके प्रशंसकों में कोलम्बिया के तत्कालीन राष्ट्रपति 'अलफांसो लोपेज' भी थे । उन्होंने यिरास को अपना भाषण लेखक बना लिया ।

"मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है ।" इस उक्ति को यिरास ने अपने जीवन में सार्थक किया है । छब्बीस वर्ष की आयु में चेम्बर ऑफ डिप्टीज के अध्यक्ष, सत्ताईस वर्ष की आयु में राज्य मन्त्री, सैंतीस वर्ष की आयु में सं० रा० अमेरिका में लैटिन कोलम्बिया के राजदूत और उन्तालीस वर्ष की आयु में वहाँ के राष्ट्रपति बनकर दिखाने वाले यिरास से अच्छा उदाहरण और क्या होगा ? इस सच्चाई को आधार देने के लिये और सबसे बड़ी बात तो यह कि मात्र योग्यता और निष्ठा के बल पर प्राप्त किया गया, छल-छन्दों व सिफारिशों की अनैतिक वैसाखियों के सहारे नहीं । उनकी ये उपलब्धियाँ जितनी आश्चर्यजनक हैं उतनी ही प्रेरक भी हैं ।

राष्ट्रपति पद को अलबर्टो यिरास ने आदर्श के लिए त्याग दिया । उनके लिए पदों की कमी नहीं थी जिस व्यक्ति ने पात्रता अर्जित कर ली है पद तो उसे मिलते ही हैं । उन्हें भी संयुक्त राज्य अमेरिका के 'ऑरगनाइजेशन ऑफ अमेरिकन स्टेट्स' के निर्देशक का पद मिल गया । सात वर्ष तक इस पद का योग्यतापूर्वक निर्वाह करते हुए जब उन्होंने कोलम्बिया को राजनैतिक गृह युद्ध की विनाशकारी लपटों में घिरा देखा तो वे बोगाटा लौट आये । व्यक्ति समाज से कितना बँधा होता है इसका उदाहरण उनका यह आचरण था । उन्हें कौन-सी कमी थी जो इतने उच्च पद को त्यागते, पर वह देश प्रेम और मानवता की भावना ही थी जो उन्हें खींच लायी थी ।

तत्कालीन राष्ट्रपति 'लाडरिनो गोमेज' अपने प्रतिपक्षी लिबरल सदस्यों से बहुत जलता था । उसकी इस जलन ने घृणित प्रतिहिंसा का रूप ले लिया था । परिणामस्वरूप राजनैतिक हत्याओं की एक लम्बी शृंखला उन दिनों चल पड़ी थी । अराजकता व कानून विरोधी हरकतों की बाढ़-सी आ गयी थी । नृशंस हत्या, लूटपाट व महिलाओं की इज्जत से खेलना एक सामान्य बात हो गई थी । प्रतिवर्ष बीस लाख कोलम्बियावासी इस हिंसा की चपेट में आकर समाप्त हो रहे थे ।

इन समाचारों ने उनके दिल को दहला दिया और वे 'ऑरगनाइजेशन ऑफ अमेरिकन स्टेट्स' के वाशिंगटन स्थिति कार्यालय को छोड़कर कोलम्बिया लौट आये । यह बड़ा जोखिम भरा पग था । उनकी भी हत्या होने की पूरी-पूरी आशंका थी पर वे किसी भी मूल्य पर इस अराजकता को समाप्त करना चाहते थे । फिर वह मूल्य उनका जीवन ही क्यों न हो उन्हें चिन्ता नहीं थी । यह उनकी आत्मा की पुकार ही थी, जो यहाँ खींच लायी थी । वे वहाँ गये तो कोलम्बिया के मसीहा के रूप में पूजे भी गये ।

कोलम्बिया आकर उन्होंने जनता में गृह-युद्ध से परित्राण पाने का साहस व शक्ति जगायी । तीन वर्षों में ही गोमेज का तख्ता उलट दिया गया और जनरल गस्ताव रोजस वहाँ का तानाशाह बन बैठा । यह तो उससे भी बुरा सिद्ध हुआ । उसने बयालीस प्रतिशत कृषकों को भूमि से बेदखल कर दिया । वे शहरों में रोजगार के लिए मारे-मारे फिरने लगे । विद्यार्थियों ने आन्दोलन किये तो उन्हें गोलियों से भून दिया । अलबर्टो यिरास जनता को पूरी तरह क्रान्ति के लिए तैयार कर रहे थे । छुटपुट आन्दोलन करके वे अपनी शक्ति को क्षीण नहीं करना चाहते थे ।

१९५५ के ग्रीष्म काल में एक ऐसी बर्बरतापूर्ण घटना घटित हुई कि यिरास को क्रान्ति का शंखनाद करना ही पड़ा । वह रविवार कोलम्बिया के इतिहास में कलंक कालिमा बनकर रोजस की निर्दयता की गवाही देता रहेगा और इस अमर सत्य का उद्घाटन करता रहेगा कि पाप का घड़ा देर-सबेर फूटे बिना नहीं रहता । इस दिन तानाशाह रोजस की पुत्री नगर में साँड-युद्ध देखने आयी थी । पिता द्वारा बेदखल किसानों ने पुत्री से अपने पिता को समझाने का निवेदन किया । सत्ता के गर्व से गर्वित उस तानाशाह की पुत्री ने कृषकों को दुत्कार दिया, इस पर किसी उग्र स्वभाव के व्यक्ति ने कोई ऐसी बात कह दी जो उसे अप्रिय लगी । उसने पिता से उनकी शिकायत की । फिर क्या था वह बिफर उठा । उसने भीड़ पर गोली वर्षा करने का क्रूर आदेश दे दिया । मौत खुलकर खेली । देखने वालों का कहना है कि उस दिन बोगाटा की सड़कों पर लाशों की इस प्रकार लड़ियाँ लग गयीं जैसे जलाऊ लकड़ी के ढेर लगते हैं ।

इस भीषण हत्याकाण्ड के बाद यिरास चुप नहीं बैठ सके वे खुलकर सामने आये । उसी रात उन्होंने बोगोटा नगर में विशाल सार्वजनिक सभा करके उन्होंने रोजस की तीव्र भर्त्सना की । उसी दिन उन्होंने एंडेन्स विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष पद से स्तीफा दे दिया और कर्मक्षेत्र में कूद पड़े ।

क्रूर तानाशाह रोजस के पास सत्ता थी, सैन्य बल था इस कारण जनता खुलकर सामने आने से डरती थी । पर यिरास उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो मृत्यु के भय से अन्याय को सह लें । उनके पास नैतिकता और सत्य की शक्ति थी । उसी को लेकर वे तानाशाही आतंक को तोड़कर सामने आये । वे जब खुलकर सामने आये तो अनुदार दल के प्रसिद्ध नेता गिवलेरओ लिन वालन्सिया भी उनका साथ देने के लिये मैदान में आ कूदे । पुलिस द्वारा पकड़े जाने का भय, गुण्डों द्वारा हत्या करा दिये जाने की आशंका आदि के बीच निर्भय

होकर उन्होंने अत्याचारपूर्ण तानाशाही से कोलम्बिया को मुक्त कराने के लिए प्रबल जन आन्दोलन उठाया । तानाशाही सरकार के समानान्तर इन दोनों दलों ने संयुक्त सरकार व संयुक्त मन्त्रि–मण्डल का गठन किया ।

जनता में आक्रोश व छटपटाहट तो पहले थी ही अब तक कोई नेता सामने न होने के कारण इसे प्रकट करने का कोई मार्ग नजर नहीं आ रहा था । अब उन्हें नेता मिल गया था । फिर ६ मई, १९५० का वह स्मरणीय दिन आया जब जनता ने एकमत होकर अपने नेता के आग्रह पर 'बोगोटा बंद' का आयोजन किया । इस दिन सारा नगर निद्रामग्न-सा हो गया । सभी घरों में बन्द हो गये । कोई मजदूर कारखाने में नहीं गया, किसी व्यापारी ने दुकान नहीं खोली, सड़क पर कोई आदमी चलता-फिरता नजर नहीं आया । न कोई बस न कोई वाहन चला । सर्वत्र मरघट की-सी नीरवता फैल गयी । क्रुद्ध रोजस ने हथियारों से लैस सैनिकों को विद्रोहियों को पकड़ने भेजा । नगर में गश्ती टैंक घूमने लगे । तीस हजार सैनिकों ने नगर में गश्त लगायी पर सड़क पर उन्हें एक बच्चा तक नजर नहीं आया । जनता जाग चुकी थी अब तानाशाही कैसे टिकती । वह अपने सेनाध्यक्षों के हाथ में शासन सूत्र थमाकर भाग खड़ा हुआ । विरास ने सैनिक शासन समाप्त करके चुनाव कराये । चुनाव होने तक अस्थायी सरकार बनी । वे स्वयं चुनाव में खड़े हुए और राष्ट्रपति बने । अपने राष्ट्रपति काल में उन्होंने देश की दशा सुधारने के लिए सराहनीय प्रयास किये ।

मॉरीशस के मसीहा–

डॉ० शिवसागर रामगुलाम

मॉरीशस में जन्मे, भारतीय मूल के एक २४ वर्षीय महात्वाकांक्षी व्यक्ति ने इंग्लैण्ड में जब डॉक्टर की सम्मानित डिग्री हासिल की तो उसके मित्र ने बधाई देते हुए पूछ ही लिया–''अब क्या इरादे हैं श्रीमान् के ।''

''इरादे क्या होंगे अपने देश लौटना है ।''

''कैसी बातें करते हो मित्र ! इंग्लैण्ड जैसे सम्पन्न समृद्ध और विकसित देश में रहकर जिन्दगी का सुख भोगने की अपेक्षा तुम उसी पिछड़े हुए द्वीप में लौट जाना चाहते हो । यहाँ तुम्हें अच्छा वेतन मिल सकता है, चाहो तो सभ्य, सुसंस्कृत जीवन संगिनी भी । तुम्हारे लिये प्रगति के द्वार भी खुले हैं । वहाँ तुम्हें कौन-सा सुख मिल जाएगा । बोलो 'हाँ' करते हो तो किसी अच्छे अस्पताल में चिकित्सा अधिकारी के पद पर लगवा दूँ ।''

''नहीं मित्र ! तुम्हारी इस सलाह और कृपा के लिए धन्यवाद । लेकिन एक व्यक्ति के लिए जो जीवन का सुख है वह सबके लिये सुख नहीं हो सकता, सुख तो व्यक्ति के दृष्टिकोण की उपज है । जिसे तुम सुख कहते हो वही मेरे लिये शुष्क हो सकता है और जिसे तुम पागलपन मानते हो वही मेरे लिये विवेकशीलता की बात हो सकती है । सच पूछा जाय तो मैं इंग्लैण्ड में रहने के लिये नहीं आया । मैं तो वह योग्यता हासिल करने आया था जिससे अपनी मातृभूमि की कुछ सेवा कर सकूँ ।''

इंग्लैण्ड का सुख, समृद्धि भरा जीवन जिसे चौदह वर्ष तक वहाँ रहते-रहते भी अनुरक्त नहीं कर पाया था वह व्यक्ति थे डॉ० शिवसागर रामगुलाम । १८ सितम्बर, सन् १९०० के दिन पूर्वी मॉरीशस के एक छोटे से गाँव बैलरिव के साधारण श्रमिक परिवार में जन्मे श्री शिवसागर का डॉक्टर बनना उनके दृढ़ संकल्प, महत्त्वाकांक्षा, लगन और निष्ठा और श्रम सातत्य का ही परिणाम था । उनके पूर्वज बिहार के थे । १८३४ में वे कमाने के लिये मॉरीशस पहुँचे थे ।

उनके गाँव में कोई पाठशाला नहीं थी अत: वे रोज कई मील पैदल चलकर दूसरे गाँव की पाठशाला में पढ़ने जाया करते थे । एक दिन उनके अध्यापक ने उनसे पूछा– ''शिब्बू ! तुम रोज इतने पैदल चलकर पढ़ने आते हो क्या तुम्हें इसमें कष्ट नहीं होता ?'' कष्ट क्यों होगा मैं पढ़ लिखकर गवर्नर बनना चाहता हूँ और कुछ बनने के लिये कष्ट तो सहना ही पड़ता है ।'' उनकी यह बात सुनकर उनके सहपाठी खिल-खिलाकर हँस पड़े, रहते हैं झोंपड़े में और ख्वाब देखते हैं महलों के । अध्यापक बालक के इस उत्तर से बहुत प्रभावित हुए थे । वे गवर्नर तो नहीं पर उसी के समकक्ष प्रधानमंत्री अवश्य बन गये ।

उनके परिवार की दशा देखते हुए तो उन पर उनके सहपाठियों का यह हँसना स्वाभाविक ही था । उन्हीं की बात नहीं वहाँ के अधिकांश भारतीयों की स्थिति सामान्य मजदूर से कुछ अच्छी नहीं थी । संख्या में अधिक होते हुए भी वे मुट्ठी भर फ्रेंच लोगों के गुलाम थे । शिक्षा और जागरूकता का सर्वथा अभाव ही था ।

मॉरीशस से प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके वे १९२० में इंग्लैण्ड पहुँचे । घर की स्थिति तो ऐसी थी कि यहाँ भी उन्हें कमाते हुए ही पढ़ना पड़ता था । इंग्लैण्ड जाकर उच्च शिक्षा पाने की स्थिति उनकी कतई नहीं थी । किन्तु जिनके मन में लगन होती है उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं होता । इंग्लैण्ड जाने तक के किराये के पैसे जुटते ही वे चल पड़े । वहाँ वे बहुत कम खर्च में अपना गुजर चलाते । दैनिक व साप्ताहिक पत्रों में लेख लिखकर और छोटा-मोटा अंशकालिक काम करके वे अपनी पढ़ाई और निर्वाह के लिये खर्चा जुटाते ।

अँग्रेजी और फ्रेंच भाषा पर उन्होंने अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया । उनके विद्वतापूर्ण लेखों ने उन्हें वहाँ के राजनेताओं और समाजसेवियों में पर्याप्त लोकप्रिय बना दिया था । चौदह वर्ष तक वे इंग्लैण्ड में रहे । वहाँ से डॉक्टरी की डिग्री हासिल करके वे स्वदेश लौटे ।

वहाँ की चकाचौंध उनके मातृभूमि के प्रति प्रेम को किंचित मात्र भी धुँधला न सकी थी ।

एक कृषक श्रमिक परिवार का व्यक्ति चौदह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद इंग्लैण्ड से डॉक्टर बनकर स्वदेश

लौट रहा है यह जानकर मॉरीशस के भारतीय प्रवासियों का मन प्रसन्नता से झूम उठा । उनका वहाँ भव्य स्वागत हुआ ।

तत्कालीन मॉरीशसवासी भारतीयों में राजनैतिक चेतना का तो अभाव ही था किन्तु धर्म चेतना जी रही थी । मुट्ठी भर फ्रेंच लोग बहुसंख्यक भारतीयों की राजनैतिक अचेतनता का लाभ उठाकर ऐश्वर्य भरा जीवन बिता रहे थे जबकि अधिकांश भारतीय प्रवासी न ढंग का खाना जुटा पाते थे, न मकान, न कपड़े । बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करने का तो सवाल ही कहाँ पैदा होता था । खेतों में काम करते थे हिन्दुस्तानी मजदूर और उनका लाभ उठाते थे फ्रेंच मालिक । इस असमानता को मिटाने के लिये भारतवासियों में राजनैतिक चेतना जगाना अत्यावश्यक था । डॉक्टर साहब ने अपनी चिकित्सा सेवाएँ अपने बन्धुओं को समर्पित करने के साथ ही उनमें इस चेतना को जगाने का काम भी किया । धार्मिक संस्थाओं के नेताओं को उन्होंने इस दिशा में उनका सहयोग देने की बात कही । कुछ भारतीय धनपतियों से भी इस पुण्य कार्य में सहयोग देने की बात कही । शिक्षा प्रसार की सामाजिक स्तर पर व्यवस्था बनायी ।

धार्मिक उत्सवों, त्यौहारों तथा सभा–सम्मेलनों के अवसर पर वे वहाँ जाते और लोगों को बताते कि किस तरह बहुसंख्यक और मॉरीशस को समृद्ध बनाने वाले हम भारतवासी थोड़े से लोगों के अधिकार में रहकर त्रस्त और शोषित का-सा जीवनयापन कर रहे हैं । दिन-रात श्रम करके भी हम भूखे पेट और खाली हाथ हैं और जो काम नहीं करते वे ऐशो आराम का जीवन व्यतीत कर रहे हैं । सुख और समृद्धि हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है पर वह हमें प्राप्त नहीं । उसे पाने के लिये हमें संघर्ष करना पड़ेगा । संघर्ष करने के लिये हमें अपने अज्ञान को दूर करना होगा, उनकी इन बातों से लोग बहुत प्रभावित होते और उनके बताये अनुसार जागरूकता उत्पन्न करते ।

सपनियर का उनका दवाखाना एक प्रकार का सार्वजनिक चिकित्सालय कहा जा सकता था । वे गरीबों की चिकित्सा की कोई फीस नहीं लेते थे । यदि उनके पास दवा के पैसे नहीं होते तो वे दवाई भी अपनी ओर से दे देते थे । चिकित्सा उनके लिये पैसा कमाने का साधन नहीं वरन् सेवा करने का साधन थी । आपकी इस उदार हृदयता और परोपकार ने उन्हें शीघ्र ही सारे मॉरीशस में लोकप्रिय बना दिया । तत्कालीन गवर्नर डी० बी० क्लीफोर्ड ने उन्हें वहाँ की धारा सभा का सदस्य मनोनीत किया ।

इंग्लैण्ड से लौटने के बाद दूसरे ही वर्ष उन्होंने 'डेली एडवान्स' नामक दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन किया । यह फ्रेंच व अँग्रेजी दोनों भाषाओं में छपता था । उनके अपने पास तो पत्र प्रकाशन के लिये पर्याप्त धन नहीं था । परोपकार से अधिक कभी उन्होंने अर्थ संचय को महत्त्व ही नहीं दिया था । पत्रों के लिये उनके सम्पन्न भारतवंशी मित्रों ने आर्थिक सहयोग दिया था । पत्र प्रकाशन के पीछे उनका उद्देश्य जनता में जाग्रति लाना ही था । उनकी लेखनी का चमत्कार इंग्लैण्डवासी पहले ही देख चुके थे । मॉरीशस में भी यही चमत्कार देखने को मिला, वे पत्र शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये । आज वे वहाँ मुख्य पत्रों में गिने जाते हैं ।

चिकित्सा, पत्रकारिता और राजनीति इन तीन भिन्न–भिन्न क्षेत्रों में समान रूप से दखल रखने के उदाहरण कम ही मिलते हैं । यह उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की विशेषता है और इससे भी बड़ी विशेषता उन्हें निस्पृह रूप से चलाने में निहित है । इन तीनों साधनों को उन्होंने परमार्थ दृष्टि से ही प्रयोग में लिया ।

१९३७ में उन्होंने श्री सुखदेव बालगोविन्द और श्री रामजी आदि मित्रों के सहयोग से श्रमिक संगठन बनाया । श्रमिक बड़ी भारी संख्या में इसके सदस्य बने । वस्तुतः यह उनके द्वारा चलाये गये मॉरीशस के स्वाधीनता संग्राम का प्रथम चरण था । उसी वर्ष अपनी उचित माँगों को मनवाने के लिये मजदूरों ने उनकी प्रेरणा से जबरदस्त संघर्ष किया । फ्रेंच मालिकों ने कारखाने बन्द कर दिये । पर संगठित जनशक्ति के आगे उन्हें झुकना पड़ा । भारतवंशी मॉरीशसवासियों की यह बहुत बड़ी विजय थी । जनशक्ति धनशक्ति को पछाड़ सकती है इस सच्चाई ने उन्हें बहुत बल दिया ।

फ्रेंच उद्योगपतियों ने धन के बल पर ही मॉरीशस का औपनिवेशिक शासनतन्त्र अपने कब्जे में कर रखा था । १९४२ में डॉक्टर साहब ने उस काले कानून के विरोध में संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया । जिसमें यह नियम था कि तीन हजार से अधिक की जायदाद का मालिक ही वोट देने का अधिकारी होता है । इससे अस्सी प्रतिशत गरीब जनता वोट देने के अधिकर से वंचित रह जाती थी । उनके इस संशोधन को स्वीकार कर लिया गया । अब हर शिक्षित व्यक्ति को मतदान का अधिकार प्राप्त हो गया था ।

इंग्लैण्ड से लौटने के पश्चात् उन्होंने अपने मित्रों, सहयोगियों और धार्मिक संस्थाओं जिनमें आर्यसमाज प्रमुख थी, के सहयोग से शिक्षा प्रसार का क्रम तेज करा दिया था । संशोधन विधेयक पारित हो जाने पर शिक्षित व्यक्तियों की मतदाता सूची बनी तो लोगों को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि सबसे अधिक संख्या भारतीय प्रवासियों की है ।

१९४८ के चुनाव में दो एक स्थानों को छोड़कर शेष सभी सीटों से भारतीय मूल के प्रत्याशी ही चुने गये । डॉ० शिवसागर रामगुलाम त्रिओले क्षेत्र से चुने गये थे । चुनाव के पश्चात् उन्हें प्रधानमंत्री बनने का अवसर मिला । अपने इस प्रधानमंत्री काल में उन्होंने मॉरीशस की जनता की बहुमुखी प्रगति के लिये क्रान्तिकारी कदम उठाये । श्रमिकों को उचित वेतन, पर्याप्त रोजगार देने की व्यवस्था की ।

शिक्षा, चिकित्सा, न्याय आदि सुविधाएँ जनसाधारण के लिए सुलभ करने का भरपूर प्रयास किया । उसमें वे सफल भी हुए । उनके और उनके साथियों के प्रयासों से १२ मार्च, १९६८ में मॉरीशस साम्राज्यवादी क्रूर पंजों से मुक्त हो गया । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् मॉरीशस ने जो द्रुत प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय डॉक्टर साहब को है ।

धर्म में उनको अपार निष्ठा है । बचपन से ही भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति वे एकान्तिक निष्ठा रखते थे जो कभी टूटी नहीं, उनका अपना अनुभव था कि भारतीय जनमानस किसी भी बात को धर्म के माध्यम से जितना शीघ्र स्वीकार कर लेता है उतना अन्य किसी माध्यम से नहीं । मॉरीशस को छोटा भारत भी कहा जाता है । उसका बहुत कुछ श्रेय उनके समर्पित व्यक्तित्व को है ।

प्रधानमंत्री होते हुए भी वे स्वयं को एक सामान्य व्यक्ति ही मानते थे । प्रधान मन्त्रित्व उनके लिये जनसेवा का एक साधन भर था। जब उन्हें यह सूचना मिलती कि अमुक गरीब आदमी बीमार है तो वे अपना डॉक्टरी उपकरणों का बैग उठाकर स्वयं उसके घर पहुँच जाते और उसका निदान, उपचार करते । फलों से लदे वृक्ष की तरह सम्मान, यश और पद ने उन्होंने अपने अहम् की शाखाओं को झुकाये ही रखा ।

विद्वानों का आतिथ्य करने की भारतीय परम्परा को वे किस तत्परता और उत्साह से निभाते यह तो उनको घर आतिथ्य ग्रहण करने वाले ही जान सकते हैं । कई भारतीय विद्वान, राजनेता और धर्म नेता उनका आतिथ्य ग्रहण कर चुके हैं ।

अपनी प्रगति तो सभी करते हैं पर उसके साथ समाज की, अपने देशवासी भाइयों की प्रगति को जोड़ने और अपनी योग्यता, प्रतिभा का लाभ सभी को बाँटने वाला ही विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में 'सहज मानुष' कहलाता है । डॉ० शिवसागर रामगुलाम ऐसे ही सहज मानुष थे । यह स्थिति पाना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है इसे निभाये बिना मनुष्य जन्म को सार्थक नहीं कहा जा सकता है ।

प्रजातन्त्र के त्राता–

सिसरो

ईसा के सौ वर्ष पूर्व रोमन प्रजातन्त्र के इतिहास का एक ऐसा पहलू भी है जो वस्तुस्थिति पर पड़ा हुआ पर्दा उठाता है और ऐसे तथ्य प्रस्तुत करता है जिनसे व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को पोषक तानाशाही और साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था तत्कालीन रोमन राष्ट्र की स्थिति के सामने फीकी पड़ जाय । वह है रोमन राष्ट्र के तत्कालीन साहित्यकार मार्कस तूलियस सिसरो का जीवन इतिहास ।

यद्यपि रोम उस समय ज्ञान और शिक्षा का केन्द्र था । संसार के अधिकांश देशों द्वारा अपनायी गयी शासन व्यवस्था–प्रजातंत्र का उदय भी वहीं से हुआ बताते हैं । इसके पूर्व रोमन राष्ट्र अभिजात कुल के महत्त्वाकांक्षी लोगों की रंगस्थली बना हुआ था । इस अभिजाततन्त्र के कीचड़ में ही प्रजातन्त्र का कमल उगा और इसका अधिकांश श्रेय किसी एक व्यक्ति को दिया जाय तो उसके लिए सिसरो से अधिक योग्य व्यक्ति कोई नहीं मिलेगा ।

सिसरो एक ऐसे व्यक्ति के रूप में सदैव स्मरण किये जायेंगे, जिन्होंने निःशस्त्र अभिजात तन्त्र का विरोध किया और उसके पराभव का कारण बना । उनका जन्म १०६ ई० पू० एक साधारण परिवार में हुआ । उस समय इटली की जमीन पर खून की नदियाँ बह रही थीं । स्पेन से ग्रीस, बीथीनिया और सीरिया तक युद्ध की आग प्रचण्डरूप से प्रज्ज्वलित हो रही थी । लोगों का घर से बाहर निकलना मुश्किल था । लुकते-छुपते देशवासी बाजार से अपनी जरूरतों का सामान लाते । जिनके पास पैसा था वे तो किसी न किसी प्रकार अपनी व्यवस्था कर लेते । परन्तु रोज कुँआ खोदकर रोज पानी लाने वालों की क्या दशा हुई होगी यह सोचकर ही कलेजा काँप उठता है । ऐसे ही एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा सिसरो ।

बचपन से ही उन्हें बड़ी दैन्य दुःस्थिति का सामना करना पड़ा । कोमल बालमन पर इस रक्तपात के जिम्मेदार अभिजात वर्ग की कुत्सित लीलाओं के कारण विद्रोही संस्कार जन्मे और ये संस्कार ही समय पाकर संकल्प में परिणत हुए । उस समय–जब अभिजात वर्ग विजय के मद में चूर हो रहा था, साधारण और मध्यवर्गीय लोग अपनी विवशताओं और मजबूरियों को निरुपाय सहन कर रहे थे । तब सिसरो अपने व्यक्तित्व निर्माण की साधना में जुटे हुए थे ताकि उस समाज और शासन व्यवस्था पर चोट की जा सके । तत्कालीन परिस्थितियों और व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश ने सिसरो को अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र रूप से विकसित करने के लिए प्रेरित किया और वे सागर की राह एथेंस जा पहुँचे ।

वहीं पर उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर दर्शन और राजनीति का उच्चतम अध्ययन किया । घर छोड़ देने के कारण कई नयी परेशानियाँ सामने आयीं परन्तु अपने साधारण और गरीब परिवार में अभावग्रस्त जीवन का अभ्यस्त होने के कारण सिसरो को अधिक चिन्तित नहीं होना पड़ा । वे अपने निर्वाह के लिए आवश्यकता भर उपार्जन इधर-उधर काम तलाश कर लेते थे । प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद सिसरो ने एथेंस की अकादमी में दर्शन का वर्षों तक अध्ययन किया ।

इस अध्ययन का प्रयोजन मात्र ज्ञानार्जन ही नहीं था, बल्कि वे तो किसी न किसी प्रकार समाज में सुख-शान्ति पूर्ण व्यवस्था लाने के लिए कृत संकल्प थे । इसलिए आवश्यक था कि प्राप्त ज्ञान और विकसित प्रतिभा से अधिकाधिक लोगों को लाभान्वित होने का अवसर मिले । इस तथ्य को समझकर सिसरो ने विचार किया तो इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सशस्त्र-क्रान्ति की अपेक्षा जनक्रान्ति

का मार्ग अधिक सुगम और स्थायी परिणाम देने वाला होगा । इसके लिए आवश्यक है कि जनसाधारण में उपयुक्त चेतना भरी जाय । जनजागरण के लिए सिसरो ने वाग्मिता का अभ्यास आरम्भ किया । निरन्तर प्रयास और लगन निष्ठा ने उन्हें सफलता प्रदान की । उनकी वाक्शक्ति लोगों को चमत्कृत करने लगी ।

सिसरो जानते थे कि उन्होंने सीधे ही जनजागरण के क्षेत्र में प्रयास किया तो सत्ताधिकारी उन्हें कुचलने के लिए हर सम्भव प्रयास करेंगे । शक्ति और स्थिति इस योग्य भी नहीं है कि उनका मुकाबला किया जा सके । उन्होंने बड़ी सोच-समझ से काम लिया और मार्ग ढूँढ़ निकाला । कुशल वाग्मिता उन्हें अभिजात वर्ग में निरन्तर लोकप्रिय बनाती आ रही थी । कईयों ने उनकी प्रतिभा का अपने लिए उपयोग करने की बात भी सोची । इसके लिए अनेकों अभिजात्य-कुल के व्यक्तियों ने उनकी ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया । सिसरो ने इसे दुर्लभ सौभाग्य माना क्योंकि इस प्रकार वे शासन तन्त्र में आसानी से प्रवेश कर सकते थे । अन्य माध्यमों से उन जैसे मध्यवर्गीय व्यक्ति का नाटकीय प्रजातन्त्र में भाग लेना असम्भव-सा ही था । सिसरो ने कुलीन और धनाढ्य लोगों की मैत्री को स्वीकार कर लिया ।

धीरे-धीरे सम्पन्न मित्रों की संख्या बढ़ने लगी । वे सभी उनका उपयोग अपने शत्रुओं को नष्ट करने के लिए करना चाहते थे । इसीलिए उन्होंने सिसरो को सिनेट सदस्य चुनवा दिया । यद्यपि उस समय भी सिनेटर के पद अभिजात्यों लिए ही सुरक्षित थे । इस प्रकार उनकी मन-वांछित आकांक्षा-सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने व लक्ष्य पूर्ति का द्वार खुल गया ।

सिसरो ने अपनी व्यवहार कुशलता और प्रतिभा के बल पर अपना अच्छा स्थान बना लिया । व्यक्ति चाहे अकिंचन स्थिति में हो परन्तु उसके पास व्यवहार कुशलता और व्यावहारिक सूझ-बूझ के दो रत्न हों तो वह स्वयं को अच्छे पद और प्रतिष्ठा पर आसीन कर सकता है । सिसरो इन दो विशेषताओं के कारण अच्छे से अच्छे पदों पर नियुक्त किये गये । जिस-जिस पद पर भी वे रहे उस पर निर्धारित आयु की अल्पतम अवस्था में पहुँचे । अभिजात वर्ग के लोग तो किसी न किसी प्रकार उन्हें अपना समर्थक और प्रशंसक बनाने के चक्कर में थे । इधर सिसरो भी किसी प्रकार अपना स्थान बनाकर अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे ।

ई० पू० ६३ में वह कौंसलर के रूप में चुने गये । तत्कालीन संसद का यह एक महत्त्वपूर्ण पद था इस पर रहते हुए उन्होंने जो व्याख्यान दिये, उनको संसार के सर्वोच्च साहित्य में स्थान मिला है । आज भी दुनिया के उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान तथा विद्यार्थी उन भाषणों के अंश रटते हैं और उद्धरित करते हैं । इन व्याख्यानों ने सिसरो के यश को रोम की सीमाओं के पार तक विस्तारित कर दिया । उन्होंने ये व्याख्यान एक महत्त्वाकांक्षी अनाचारी अधिकारी कातिलाइन के विरोध में दिये थे । कातिलाइन किसी भी प्रकार प्रजातन्त्र का वर्तमान स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट कर खुद तानाशाह बन जाना चाहता था । सिसरो ने उसके षड्यन्त्रों और कुटिल नीतियों का पर्दाफाश कर दिया । परिणामस्वरूप लोगों ने उसका अस्तित्व ही मिटा दिया । कातिलाइन ने उन्हें कई प्रकार से धमकाया और दबाव भी डाला, प्रलोभन भी दिये परन्तु वे अपने माध्यम से अभिव्यक्त होने वाले सत्य में किसी भी प्रकार का गतिरोध नहीं लाना चाहते थे ।

उसी समय जूलियस सीजर पूर्व से विजयी होकर लौटा था । उसकी विजय ने काफी लोकप्रियता प्रदान की । इस लोकप्रियता का लाभ उठाकर वह रोमन साम्राज्य का निरंकुश सर्वेसर्वा बन जाना चाहता था । सिसरो ने सीजर के इरादों को भाँप लिया और रोमन राष्ट्र को सम्भावित खतरे से सावधान किया । सीजर के विरोध में कई भाषण दिये । फलस्वरूप उसे अपनी महत्त्वाकांक्षायें दबा देनी पड़ीं ।

अपना विरोध करते देखकर सीजर सिसरो का जानी दुश्मन बन गया । पहले तो उसने भी प्रलोभन दिखाकर अपनी ओर फुसलाने का प्रयत्न किया परन्तु प्रजातन्त्र के त्राता और रोमन राष्ट्र के उन्नायक के रूप में प्रतिष्ठित सिसरो अपने लोक की गरिमा को अच्छी प्रकार समझते थे और ऐसा कोई भी काम न करने के लिए कृतसंकल्प थे जिसके कारण उनके गौरव को आघात पहुँचे । किसी भी प्रकार बात न बनते देख सीजर ने उन्हें रास्ते से हटा देने की योजना बनायी । उसके एक मित्र और अधीनस्थ कर्मचारी मार्क अतोनी ने सिसरो की हत्या कर दी । वह जबान जो रोम को तीस वर्षों से सचेत करती आ रही थी अचानक बन्द हो गयी परन्तु मरी नहीं । बाद में जब इस षड्यन्त्र का भेद खुला तो सिसरो के समर्थकों ने जूलियस सीजर को रोमन सीनेट हॉल में ही मार डाला ।

सहकारी समाज व्यवस्था के जनक-

रॉबर्ट आवेन

यूरोप की मध्ययुगीन आर्थिक क्रान्ति ने वहाँ की समाज व्यवस्था को बड़ा प्रभावित किया । मशीनीकरण और यांत्रिकीय संसाधनों से वहाँ के महत्त्वाकांक्षी और सम्पन्न लोग तुरन्त अमीर बनने की बात सोचने लगे । इसके लिए जो कुछ भी उचित-अनुचित दिखाई पड़ा उसे करने में कोई कोर कसर नहीं रखी । सम्पन्न लोगों की इस नयी नीति से कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा किये जिनके समाधान खोजना जरूरी हो गया । साम्यवाद, समाजवाद, समष्टिवाद और सर्वोदय जैसी विचारधारायें इन प्रश्नों के समाधानस्वरूप में ही जन्मीं । इन विचारधाराओं में एक तत्व सभी में समान रूप से पाया जाता है और वह है सहकारिता तथा सामंजस्य का

विचार । यह जानकर आश्चर्य होगा कि सहकारिता के विचार का जनक एक ऐसा व्यक्ति जो अपने समय का एक बड़ा धनाढ्य उद्योगपति और शासन सम्पन्न व्यक्ति रहा था उस व्यक्ति का नाम था रॉबर्ट आवेन ।

आवेन अपने समाज के विख्यात उद्योगपति होने के साथ-साथ नयी समाज व्यवस्था के स्वप्नदृष्टा, अर्थशास्त्री और विचारक भी थे । उनका जन्म १७७१ में हुआ । पिता देश के धनाढ्य व्यवसायी थे । पुत्र भी इसी व्यवसाय में लगा और २९ वर्ष की आयु में ही ब्रिटेन की न्यू लानार्क कॉटन मिल खरीद ली ।

इस कॉटन मिल के श्रमिकों की स्थिति बड़ी दयनीय थी । उन्हें बहुत कम वेतन पाकर गंदी बस्ती में अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करना पड़ता था । मजदूर निर्धनता, दुर्दशा, दरिद्रता के नागपाश में फँसे थे । जिन्हें देखकर रॉबर्ट आवेन का मानव हृदय रो उठा । उन्होंने मिल की प्रबन्ध व्यवस्था सम्हालते ही कई महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए । उचित पारिश्रमिक, चिकित्सा, निवास आदि के नियमों में सुधार करते हुए मजदूरों के बच्चों के लिए शिक्षा की भी व्यवस्था की । उनके इन निर्णयों से मिल के कई साझीदार विरोधी बन गये । आवेन के हाथ से सारे अधिकार छीनने के षड्यन्त्र भी रचे जाने लगे । परन्तु सूझबूझ और प्रगतिशील सहायकों के बल पर आवेन ने विरोधियों को उखाड़ फेंका । अपने अधिकार क्षेत्र में सुधार के बाद वे सामाजिक क्षेत्र में आये और देखा कि श्रम की दुरावस्था के लिए दो तत्व जिम्मेदार हैं । पहले तो वे विचारक जो श्रमिकों को पूँजी उत्पादन का एक जड़ साधन मात्र मानते थे । जबकि पूँजी स्वयं संचित श्रमिक के अतिरिक्त कुछ नहीं है । श्रम को उत्पादन के जड़ साधनों में से ही एक मानने वाले लोग श्रम का मूल्यांकन अन्य वस्तुओं की तरह माँग और पूर्ति के नियमानुसार करते थे, अर्थात् उपलब्ध मात्रा से श्रम की माँग कम है तो मूल्य घट जायेगा और अधिक है तो बढ़ जायेगा । इस सिद्धान्त में श्रम के मानवीय पक्ष की एकदम अवहेलना कर दी गयी ।

रॉबर्ट आवेन ने इस सिद्धान्त को अनुपयोगी और अनुचित ठहराया । शोषण का मूल कारण यही सिद्धान्त था इसलिए उन्होंने कहा कि उद्योग व्यवसाय का मूल उद्देश्य श्री समृद्धि है । जो मजदूरों का शोषण किये बिना भी प्राप्त की जा सकती है । उनके स्वयं के मिल में श्रमिकों की स्थिति सुधर जाने के बाद उत्पादन काफी बढ़ा था इसका कारण था कि सन्तुष्ट और सम्मानित स्थिति को प्राप्त कर लेने से मजदूरों का उत्साह स्वाभाविक ही बढ़ता है और वे दूने मनोयोग से काम करने लगते हैं । अपनी नीतियों का प्रायोगिक निष्कर्ष सामने रखकर उन्होंने उद्योगपतियों-श्रमिकों के प्रति न्यायपूर्ण रवैया अपनाने का आग्रह किया । परन्तु बात किसी को जँची नहीं । आवेन ने अब दूसरा तरीका अपनाया । कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए उन्होंने आन्दोलन छेड़ा जो कई दिनों तक चला । इस आन्दोलन में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और सन् १८१९ में एक फैक्ट्री अधिनियम पास हुआ । जिसके अनुसार श्रमिकों की स्थिति में सुधार की व्यवस्था की गयी ।

उनके मत में मजदूरों की दुरावस्था के लिए जिम्मेदार दूसरा तत्व वह था जो यह मानता था कि दरिद्रता के लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं । यदि वह कोशिश करता तो निश्चित ही अपने प्रयत्न, सूझबूझ और साहस के बल पर धनाढ्य बन सकता था । इस धारणा को बल देने वाला पहला वर्ग था 'धर्माचार्य' और पादरियों का । यह लोग अप्रत्यक्ष रूप से शोषण और अनाचार को बढ़ावा देते थे । इसका कारण पूँजीपतियों से लाभान्वित होने का लोभ था । चर्च और पादरियों को काफी पैसा इस वर्ग से प्राप्त होता था और उन्हें बहाना भी अच्छा मिल गया था । धर्म और अध्यात्म का एक सामान्य सिद्धान्त है कर्मफल । इस सिद्धान्त को आधार बनाकर धर्मपुरोहित यह प्रचार करते थे कि श्रमिक अपने पाप फल के कारण दीन-हीन हैं तथा पूँजीपतियों को उनके पुण्य फल से ईश्वर ने अन्य लोगों से लाभ उठाने का अधिकारी बनाया है । रॉबर्ट ने कर्मफल के सिद्धान्त की आड़ में चलाये जाने वाले शोषण के कुचक्र का कड़ा विरोध किया और धर्माचार्यों को सुझाया कि कोई भी धार्मिक मान्यता मानवता की उपेक्षा नहीं करती । लोग अपने कर्मों से गरीब बनते हैं यह ठीक है परन्तु कर्मफल के कारण दूसरों को उन्हें लूटने का क्या अधिकार ? परन्तु धर्माचार्यों ने उनका विरोध ही किया ।

आवेन भी धर्मचिन्तन को मानवीयता और विवेक से सम्बद्ध करने पर तुले हुए थे । इधर चर्च भी संगठित होकर उन्हें उखाड़ने पर तुले हुए थे । परन्तु इसका कोई बड़ा प्रभाव नहीं हुआ । प्रबुद्ध और विचारशील लोगों ने उनकी बात को ध्यान से सुना और समर्थन किया । सामाजिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में उनकी मान्यता थी कि मजदूरों को काम प्राप्त करने का अधिकार है और वे पूँजीपतियों के समान ही उद्योग कारखानों के प्रबन्ध में भाग लेने के भी अधिकारी हैं । वे पूँजीपतियों को उस सीमा तक रखना चाहते थे जिससे आगे बढ़ने पर श्रमिक हितों को खतरा न हो । उनका मन्तव्य वर्ग संघर्ष और पूँजीपतियों को समाप्त करना नहीं था । वे समन्वयवादी थे । पूँजीवादी और साम्यवाद के प्रमुख तत्त्वों का समन्वय कर उन्होंने सहकारी समाजवाद को जन्म दिया । वे इस विचारधारा के पिता माने जाते हैं । उन्होंने स्पर्धा और दौड़ के स्थान पर सहकारिता और सामंजस्य की अर्थ प्रणाली का प्रतिपादन किया ।

उनका विश्वास था कि पूँजीपतियों के अन्तःकरण को जगाया जाये तो उनके मन में अधिक न्याय की भावना उत्पन्न हो सकती है और वे श्रमिकों को उद्योगों में बराबर का साझीदार बनाने के लिए तैयार हो जायेंगे । किन्तु आगे चलकर उनकी मान्यता टूट गयी । पूँजीपतियों के हृदय

परिवर्तन की आशा टूट गयी । ब्रिटेन के कई उद्योगपतियों के सामने उन्होंने अपने विचार रखे । उन विचारों का समर्थन करना तो दूर रहा लोगों ने आवेन की भर्त्सना आरम्भ कर दी । उनकी आशा निराधार सिद्ध हुई । परन्तु फिर भी वे हताश नहीं हुए । किन्हीं भी परिस्थितियों में निराश नहीं होने वाले नर-केहरि तो विश्व और समाज के सामने अनुकरणीय आदर्श स्थापित कर जाते हैं । उसके प्रकाश में मानवता कई पीढ़ियों तक सुख-शान्ति के आलोकित पथ पर बढ़ती रहती है ।

१८१७ में यूरोप के दौरे पर निकले । कई स्थानों पर उन्होंने अपना नया विचार रखना आरम्भ किया । आरम्भ में तो लोग उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखते परन्तु उनकी योजना के सम्बन्ध में अच्छी तरह समझते ही लोग तुरन्त उनकी ओर खिंचते चले जाते । १८२१ में उन्होंने एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें मूल्य के उस श्रम-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे मार्क्स ने भी अपनी विचारधारा का मुख्य आधार बनाया ।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन का अधिकांश भाग श्रमिकों को मजदूरी के रूप में दी जानी चाहिए । श्रमिकों की आर्थिक स्थिति अच्छी होगी तो वस्तुओं की खपत बढ़ेगी, इससे उत्पादन में आशातीत वृद्धि होगी । जिससे नये उद्योग खुलेंगे, रोजगार की सम्भावना बढ़ेगी और समाज के अधिकांश लोग सुखी और सम्पन्न होंगे । जब ज्यादा लोगों ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया तब उन्होंने श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए अब ऐसे प्रयास चलाने का विचार किया जिसके अनुसार मजदूर स्वयं ही अपनी समस्यायें सुलझा सकें और वे १८२४ में अमेरिका आ गये । वहाँ उन्होंने इंडियाना के न्यू हार्मनी गाँव में एक प्रयोग करना आरम्भ किया । सहकारी जीवन का एक ऐसा प्रयोग जिससे सारे संसार का मार्गदर्शन किया जा सके । न्यू हार्मनी के निवासियों को शीघ्र ही बहका दिया गया और रॉबर्ट आवेन अमेरिका छोड़कर ब्रिटेन आ गये । न्यू हार्मनी का प्रयोग अधूरा ही रह गया ।

रॉबर्ट आवेन के विदेश प्रवास के समय ब्रिटेन के कई विचारकों ने उनके दर्शन का अध्ययन किया और उस आधार पर शोषण का विरोध किया । श्रमिकों ने ट्रेड यूनियन बनाये परन्तु सरकार ने इन संगठनों पर पाबन्दी लगा दी । मिल मालिकों ने यूनियन के सदस्य श्रमिकों को कारखानों से निकालने का सिलसिला शुरू किया । फलस्वरूप मजदूर आन्दोलन करने लगे और कारखानों में तालेबंदियाँ चलने लगीं । अब ट्रेड यूनियन आन्दोलन ने नया रूप ग्रहण किया ।

आवेन के समर्थक विलियम टाम्सन ने श्रमिकों को सुझाया कि वे सहकारी समितियाँ बनाकर स्वतन्त्र उत्पादन करना आरम्भ कर दें । टाम्सन की मान्यता थी कि आवेन के प्रतिपादित सहकारिता सिद्धान्त पर अमल करने से एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जबकि समूची आर्थिक सत्ता पर पूँजीपतियों का एकाधिकार समाप्त हो जायगा । तभी रॉबर्ट आवेन भी ब्रिटेन लौटे । श्रमिक संगठन उन्हें अपना नेता मार्गदर्शक चुनना चाहते थे उन्हें लगा कि अब स्थिति कुछ अनुकूल है और इसमें उनके स्वप्न साकार होने की सम्भावनायें अधिक प्रबल हैं । नये श्रम सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिये उन्होंने श्रमिक बैंक की स्थापना लन्दन में की । आगे चलकर जिसकी कई शाखायें खुलीं ।

इधर सहकारी समितियों का व्यवसाय भी बढ़ने लगा । अनेक सहकारी स्टोर और उद्योग धंधे खुलने लगे, जहाँ श्रमिकों को उचित और सस्ते दामों पर चीजें मिलने लगीं । ये समितियाँ बड़ी जल्दी लोकप्रिय हुईं । सहकारिता के सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए अनेकों पत्रिकायें भी निकाली जाने लगीं ।

तभी आवेन के मार्गदर्शन में सन् १८३४ में ग्राण्ड कन्सालिडेटेड यूनियन बनी जो श्रमिकों का एक मुख्य संगठन था । परन्तु आगे चलकर इसी संस्था के प्रमुख सहयोगियों की नीति से आवेन को बड़ी ठेस पहुँची । आवेन सहमति और समझौते के आधार पर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो पूर्णतः नैतिक हो और उसमें पूँजीपति तथा श्रमिक दोनों ही तत्व अपनी योग्यताओं का लाभ समाज को पहुँचा सकें । इसके विपरीत आवेन के कुछ सहयोगी श्रम संगठन की सामूहिक शक्ति का प्रयोग करके पूँजीपतियों को मिटाने के पक्ष में थे । आवेन ने इन विषम परिस्थितियों में भी अपने आदर्श को साकार करने का प्रयास जारी रखा । १८३९ में उन्होंने ब्रिटेन के हैम्पायर में हार्मनी हाल की स्थापना की । यह उनकी कल्पना के सहकारी ग्राम का प्रयोग था ।

१८४६ में रोशडेल पायोनियर्स सोसायटी की स्थापना हुई । सहकारी आन्दोलन की विचारधारा का विकास इसी संस्थान से हुआ । इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद आवेन ने शोषण और अनाचार के विरुद्ध पूँजीवाद के विरुद्ध सामाजिक जीवन की महानता को स्वीकार किया इसी कारण उन्हें समाजवादी जीवन दर्शन का आदि पिता माना जाता है । वे राज्य और शक्ति बल के नहीं मनुष्य की स्वाभाविक सज्जनता के प्रति आस्थावान बने रहकर एक नैतिक क्रान्ति लाना चाहते थे । यदि उन्हें गाँधीवादी चिन्तन धारा का आदि स्रोत भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

सन् १८५७ में आवेन का देहान्त हो गया किन्तु आगे चलकर कई समानतावादी आन्दोलनों का पोषण संसार के कई देश सहकारिता का सिद्धान्त अपनाकर आज उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे हैं । यद्यपि वे एक सम्पन्न उद्योगपति थे चाहते तो प्रचलित पद्धति को ही जारी रख कर अच्छा सुखी जीवन बिता सकते थे । परन्तु उनके हृदय की जाग्रत मानवता को यह सब स्वीकार नहीं हुआ और वे कठिन संघर्षों को झेलकर विश्व को एक ऐसा विकल्प दे गये जिसमें अधिकाधिक लोगों के हित की व्यवस्था थी ।

हँसमुख रूजवेल्ट

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति श्री फ्रेंकलिन रूजवेल्ट किसी समय पक्षाघात रोग से पीड़ित थे। यदि भारत में कोई व्यक्ति पक्षाघात रोग से पीड़ित होता तो समझ लेता कि मृत्यु का पूर्वाभास आरम्भ हो गया है पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट दूसरे ही मसाले से बने हैं। उन्होंने खूब मन लगा कर व्यायाम किया और भोजन आदि के सम्बन्ध में सतर्कता से काम लिया। अब उनका स्वास्थ्य–पक्षाघात के दौरे के पहले से भी अच्छा है।

अब से बीस वर्ष पहिले की बात है। बालकों में पक्षाघात का रोग बुरी तरह फैल निकला। कहीं–कहीं उसने वयस्क स्त्री–पुरुषों पर भी हाथ साफ किया। इन्हीं में एक रूजवेल्ट थे। कई दिनों तक वह जीवन और मृत्यु के बीच में लटकते रहे। इसके बाद यकायक उन का रोग शान्त हुआ पर अब वह बिल्कुल ही दूसरे मनुष्य हो गये थे न हाथ हिला सकते थे न पैर। उनके मित्रों ने समझ लिया कि बस अब बाकी उम्र पहियादार कुर्सी पर काटेंगे।

यदि उनके मित्रों का ऐसा विचार था तो राष्ट्रपति रूजवेल्ट उनसे सहमत न थे। वह जार्जिया गये और वहाँ गर्म सोतो में स्नान किया। धीरे–धीरे उनके हाथ–पाँव खुलने लगे। उन्होंने हाथ–पाँव निकम्मे होने पर भी पानी में तैरने की एक ऐसी नई विधि निकाली जिसके द्वारा वह केवल छाती की सहायता से तैर सकते थे। अब बाहर निकलने पर वह अपनी सारी शारीरिक और मानसिक शक्ति अपने हाथों पर अधिकार रखने में लगा देते। धीरे–धीरे उनके पाँव हिलने लगे।

इस तरह स्वास्थ्य की कान्ति उन के शरीर से फूट पड़ती है। उनकी बाँहें किसी पहलवान की बाँह की भाँति स्वस्थ हैं। हाँ, उनकी टाँग अभी तक प्राय: निकम्मी है। काम करते समय यह अपनी टाँगों को लोहे के फीतों से जकड़े रहते हैं। उनमें कार्यकारिणी शक्ति की इतनी प्रचुरता है कि वह सुबह के चार बजे से रात के बारह बजे तक लगातार काम करते रहते हैं।

उनका कलेवा बड़ा सादा है। संतरे का रस और एक गिलास दूध। पर सप्ताह में वह चार बार रोटी और मक्खन भी खाते हैं। उनका दोपहर का भोजन उनकी काम करने की मेज पर ही लगा दिया जाता है। उन्हें इतनी फुरसत नहीं कि अपने परिवार के साथ भोजन कर सकें। पर जब वह परिवार के साथ भोजन करते हैं तो एक दो नहीं बीसों आदमी आमन्त्रित होते हैं। वे सब स्वादिष्ट पदार्थों पर हाथ साफ करते हैं। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट हलके भोजन से ही अपना सन्तोष कर लेते हैं। वह कभी कुछ और कभी कुछ उठाते जाते हैं और उस समय उपस्थिति डॉक्टरों को उनकी विवेचन बुद्धि की सराहना करनी पड़ती है।

पर यदि यह कहा जाय कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट के स्वास्थ्य में कायापलट व्यायाम या भोजन ने किया, तो भूल होगी उनके कायाकल्प का रहस्य है उनका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण। वह बड़े ही आशावादी हैं और हमेशा हँसते रहते हैं। उनकी मुस्कराहट अब इतनी प्रसिद्ध हो गई है कि वह संसार भर में 'मुस्कराने वाले राष्ट्रपति' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्र के प्रधान शासन पद पर काम करते हुये भी उनका स्वास्थ्य बना हुआ है। यह पद इतना उत्तरदायित्व पूर्ण है कि हार्डिंज और विलसन अपनी अवधि समाप्त होने के बाद अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। एक रूजवेल्ट हैं जिनके बारे में एक चिकित्सक ने कहा है कि वह छ: वर्ष तक राष्ट्रपति के पद पर काम करने के बाद अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ दिखाई पड़ते हैं।

दिन भर में कम–से–कम तीस बार भेंट मुलाकात करनी पड़ती है। इन सारे अवसरों पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट मुलाकातियों के साथ बात करते हैं और बीच–बीच में खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। वह किसी का उपहास करते हों, सो बात नहीं है। वास्तव में वह संसार को क्रीड़ा स्थल समझते हैं और उन्होंने निश्चय कर लिया है कि जहाँ तक उनसे सम्भव होगा, वह चिन्ता और उदासी को पास न फटकने देंगे। वैसे राज्य की चिन्ता ने उनके चेहरे पर झुर्रियाँ डाल दीं हैं, पर उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो वह चिन्ताओं से दिन–रात कभी न समाप्त होने वाला संघर्ष करते रहते हैं।

राष्ट्रपति रूजवेल्ट संध्या के ६–३० बजे अपने लिये खासतौर से तैयार किये गये तालाब में जाते हैं। तालाब में कूदने से पहले एक सादा–सा बनियान पहन लेते हैं। इसके बाद खूब तैरते हैं। साथ ही उनकी धर्मपत्नी भी रहती हैं। इसके बाद यह निकल कर वाष्प स्नान करते हैं और फिर शरीर पर मालिश करवाते हैं। कभी–कभी वह केवल वाष्प स्नान और मालिश ही काफी समझते हैं।

जब उन्होंने पहली बार राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया था तो उनकी आयु ५१ वर्ष की थी। उनके चेहरे पर गम्भीरता की एक हलकी मुद्रा तथा प्रसन्नता सदैव उनके व्यक्तित्व की ऊँचाई का दिग्दर्शन कराती रहती थी। उनका निजी सचिव पत्र टाइप करने में कितनी भी सावधानी क्यों न बरते, राष्ट्रपति हस्ताक्षर करते समय कुछ संशोधन अवश्य कर देते या कुछ शब्द जोड़ देते थे। एक बार उसने एक पत्र दोबारा टाइप कर दिया और उसमें वह वाक्य भी बढ़ा दिया, जो राष्ट्रपति ने अपने हाथ से लिखा था।

हस्ताक्षर के लिए पत्र जब राष्ट्रपति के पास भेजा गया तो उन्होंने सचिव को बुलाकर समझाया। "मेरे मित्र मैं प्रत्येक पत्र में कुछ शब्द अपने हाथ से इसीलिए लिखा करता हूँ ताकि पत्र सौहार्द्रपूर्ण बन जाये।"

जो सच्चे अर्थों में राष्ट्रपति बने–

रेस्ट्रेपो लिरास

लेटिन कोलम्बिया के इतिहास में केरलस लिरास रेस्ट्रेपो राष्ट्र उद्धारक की तरह अवतरित होने वाले लौह पुरुष हैं । १९०८ में विश्वविख्यात जीवशास्त्री केरलास लिरास के घर जन्मे अपने छह भाइयों में सबसे छोटे रेस्ट्रेपो उसकी दीवार फाँदकर अपने सब भाइयों से आगे निकल गये । १९६७ में वे लेटिन कोलम्बिया के राष्ट्रपति चुने गये ।

जून, १९६७ के वे दिन बड़े ही विषम हो चले थे । एक दिन बोगोटा की नेशनल यूनिवर्सिटी के विद्रोही छात्रों ने छात्र–आन्दोलन के नाम पर समाज व नीति–विरोधी प्रवृत्ति अपना ली । उन्होंने कई बसों व कारों में आग लगा दी और कई पर पथराव किया । जिन वाहन चालकों ने उनकी अनुचित माँगों को पूरा न किया, उनसे अभद्र व्यवहार किया तथा बुरी तरह मारपीट की । इन वाहनों में दो बम वर्षक गाड़ियाँ भी थीं । उन पर जब पथराव किया गया तो उनसे भयंकर विस्फोट हुआ । इस विस्फोट को सुनकर यूनिवर्सिटी के अधिकांश छात्र घटनास्थल पर एकत्रित हो गये तथा लोगों को डराने–धमकाने लगे । वे कह रहे थे–"अब विद्यार्थी विद्रोह को कोई रोक नहीं सकता, यह सारे देश में फैलकर रहेगा ।"

विद्यार्थियों की उन उच्छृंखल हरकतों का आधार लेटिन कोलम्बिया की तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ थीं । इन परिस्थितियों से परित्राण पाने की जो राह इन विद्यार्थियों ने अपनायी थी, वह नितांत अनुचित थी ।

रेस्ट्रेपो अभी नये–नये राष्ट्रपति निर्वाचित हुए ही थे । वे कोलम्बिया को इन परिस्थितियों से मुक्त करने के ताने–बाने चुन ही रहे थे कि यह नेशनल यूनिवर्सिटी काण्ड सामने आ उपस्थित हुआ । छात्रों की इस उच्छृंखलता की राष्ट्रव्यापी प्रतिक्रिया हुई । यह प्रवृत्ति विद्यार्थी वर्ग के लिये भी घातक थी ।

श्री रेस्ट्रेपो ने एक सप्ताह तक तो छात्रों से शान्तिपूर्ण तरीके से बातचीत की ताकि वे उन्हें समस्याओं से निपटने दें । विद्रोह करके स्थिति को और जटिल न बनायें । किन्तु विद्यार्थियों ने उनके इस आग्रह पर ध्यान ही नहीं दिया । वे यह समझते थे कि विश्वविद्यालय कानून, पुलिस तथा राजनीतिक बन्दिशों से मुक्त थे । अतः उनका विद्रोह बढ़ता ही गया ।

राष्ट्रपति रेस्ट्रेपो लिरास कोई कठोर कदम उठाना नहीं चाहते थे किन्तु विवशता थी । वे लेटिन कोलम्बिया की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को मिटाने के लिये कृत संकल्प थे । समय की नाजुक हालत को देखते हुए वे विश्वविद्यालयों के अधिकारों का अतिक्रमण करने में हिचकिचाये भी नहीं ।

उन्होंने आठवें दिन शिक्षामन्त्री तथा मुख्य सेनाध्यक्ष को बुलाकर यह आदेश दिया कि एक घण्टे के भीतर यूनिवर्सिटी केम्पस को पुलिस की शस्त्रवाही गाड़ियों तथा हल्के टैंकों से घेर लिया जाय । रेडियो, टेलीविजन तथा अन्य प्रचार साधनों के माध्यम से छात्रों तक यह सूचना पहुँचा दी जाय कि किसी भी प्रकार की कानून विरोधी हरकत करने पर किसी भी विद्यार्थी को बन्दी बनाया जा सकता है । यदि सामूहिक रूप से ऐसे कानून विरोध क्रिया–कलाप चलते रहे, तो सरकार को विवश होकर विश्वविद्यालय तथा छात्रावास जबरदस्ती खाली कराने पड़ेंगे ।

अपने देशवासियों की समृद्धि और पुनरुत्थान के लिये श्री रेस्ट्रेपो ने यह बहुत बड़ी राजनीतिक जोखिम उठाना ही उचित समझा । एक नये–नये राजनीतिक के लिये यह बहुत साहस का काम था । इसकी प्रतिक्रिया उलटी भी हो सकती थी, उन्हें अपने राष्ट्रपति पद से हाथ भी धोना पड़ सकता था । किन्तु उनके लिये राष्ट्रपति पद एक साधन नहीं था । अतः वे हिचकिचाये नहीं ।

बढ़ते व्रण को ठीक करने के लिये की गयी शल्य–चिकित्सा का परिणाम शुभ ही होता है । छात्रों के विद्रोह को रोकने के लिये राष्ट्रपति का यह कदम वैसा ही शुभ सिद्ध हुआ । एक महीने में ही छात्र–विद्रोह पूरी तरह शांत हो गया । उच्छृंखल छात्रों को सही रास्ते पर आना पड़ा । विद्रोह की रीढ़ टूट गयी और सभी कॉलेज नियमित रूप से चलने लगे ।

रेस्ट्रेपो जानते थे कि इस प्रकार के उपद्रवों में थोड़े से उच्छृंखल छात्रों का हाथ होता है, ये अपनी दादागिरी के बल पर अन्य छात्रों को गुमराह करके अपने पीछे चलाने में सफल होते हैं । ऐसे उच्छृंखल छात्रों के काबू में आते ही सब कुछ सामान्य हो गया । रेस्ट्रेपो लिरास के इस कदम को तानाशाही नहीं कहा जा सकता, यह एक अप्रिय कर्त्तव्य था जो उन्हें निभाना पड़ा था ।

वंश परम्परा से मिली अपनी मेधा को उन्होंने समुचित विकास दिया था । बोगटा हाईस्कूल के मेधावी छात्र तथा बॉक्सिंग चैम्पियन के रूप में उभरते हुए, उन्होंने अपने सहपाठियों का नेतृत्व करना सीखा । नेशनल यूनिवर्सिटी में वे छात्र नेता के रूप में उभरकर सामने आये । अपने छात्र जीवन के अनुभवों के आधार पर उन्हें राष्ट्रपति के रूप में छात्र विद्रोह को शान्त करने में सफलता पायी थी । नेशनल यूनिवर्सिटी से ही उन्होंने एम० ए० तथा कानून की परीक्षाएँ अच्छे अंकों से उत्तीर्ण कीं और अपने चहेते क्षेत्र राजनीति में उतर आये ।

राजनीति की धूप–छाँव ने इस नवोदित राजनीतिज्ञ की अगवानी की । १९५२ के हिंसक–विद्रोह के समय दंगाइयों की भीड़ ने उनके घर को उजाड़ दिया और उसमें आग लगा दी । उन्हें अपने परिवार सहित १९५४ में निर्वासन का

दण्ड भी सहना पड़ा। सामूहिक क्षमा मिलने पर ही वे अपने देश लौट सके थे।

अपने राजनीतिक जीवन के थोड़े ही समय में अपनी सूझबूझ, ज्ञान तथा देशवासियों के सच्चे समर्थन व प्यार के कारण वे कंजरवेटिव पार्टी के चोटी के नेता बन गये। उन्होंने कोलम्बिया के उत्साही तथा सुशिक्षित युवकों का एक संगठन बनाया जिसका उद्देश्य कोलम्बिया में प्रजातन्त्र की स्थापना व उसकी समृद्धि थी।

कई उतार-चढ़ाव देखने के बाद वे १९६७ में कोलम्बिया के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। इस पद के लिये उन्हें शिक्षित जनसमुदाय का समर्थन प्राप्त था। उन्हें आशा थी कि वे ही समस्याओं के अम्बार में दबे उनके देश का उद्धार कर सकते हैं।

रेस्ट्रेपो ने उनकी इस आशा को फलवती बनाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। उनके नेतृत्व में कोलम्बिया ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। यह प्रगति उनकी राजनीतिक कुशलता, परिश्रमशीलता व लोकप्रियता के कारण सम्भव हुई।

दिन भर के चौबीस में से रेस्ट्रेपो बीस घण्टे अपने देश को समर्पित करते हैं। प्रातःकाल ५ बजे से शैया त्याग से लेकर अर्धरात्रि तक उनका व्यस्त कार्यक्रम चलता ही रहता है। पहले वे सिगरेट पीते थे पर राष्ट्रपति बनने पर उन्होंने उसका सर्वथा परित्याग कर दिया। मदिरापान तो वे कभी करते ही नहीं। पाश्चात्य देशों में इसे बुरा नहीं माना जाता वरन् इसे सामाजिक आचार व्यवहार का एक अनिवार्य अंग माना जाता है पर रेस्ट्रेपो के विवेक ने इस प्रचलित तथ्य को कभी स्वीकार नहीं किया। कोई आग्रह करता भी तो वे बड़ी चतुरता से टाल देते वे कहा करते मुझे कभी इस ओर सोचने की फुर्सत ही नहीं मिलती।

राष्ट्रपति पद पर आसीन होते ही उन्होंने राष्ट्रीय समस्याओं से जूझना आरम्भ कर दिया। वे नाम के राष्ट्रपति नहीं बने वरन् राष्ट्र के एक जिम्मेदार व्यक्तित्व की तरह उन्होंने अपना दायित्व निभाया।

कोलम्बिया में उन दिनों मुद्रास्फीत इतनी बढ़ गयी थी कि हर वस्तु के भाव आसमान छू रहे थे। देशवासियों को भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटाने के मार्ग में यह सबसे बड़ी बाधा थी। देश पर काफी विदेशी ऋण चढ़ा हुआ था। लैटिन कोलम्बिया की अर्थ-व्यवस्था का मुख्य आधार कॉफी का निर्यात था, जिसके दाम काफी घट चुके थे। जनसंख्या की वृद्धि भी साढ़े तीन प्रतिशत थी। यही नहीं अन्य कई आर्थिक समस्यायें उन्हें चुनौती दे रही थीं।

इन समस्याओं से निपटना तथा देश की दशा सुधारना एक उजड़ते घर को आबाद करने जैसा कठिन काम था। इस कठिन कार्य को करके दिखाने के लिये ही रेस्ट्रेपो का जन्म हुआ था। इस ठिगने से व्यक्ति ने असम्भव को सम्भव बनाया। कोलम्बियावासी अपने इस जननेता को प्यार व श्रद्धा से 'कोलम्बिया का सबसे ठिगना आदमी' कहते हैं।

अपनी असाधारण शक्ति व कर्मठता के एक-एक क्षण का उपयोग उन्होंने राष्ट्र के हित में दिया। उनका मस्तिष्क देश-विदेश की जानकारियों का एक जटिल कम्प्यूटर कहा जा सकता है। यह उनकी स्वाध्यायशीलता का ही परिणाम है। अपने ज्ञान व अनुभव पर आधारित जो भी बात वे अपने देशवासियों के सामने रखते, वह इतनी प्रभावपूर्ण तथा विश्वस्त होती कि हर कोई उसका पालन करने लगता। उनका आग्रह जनता के मन मस्तिष्क में जमकर बैठ जाता। जन-सहयोग और अपने नेतृत्व कौशल के बल पर उन्होंने कोलम्बिया की जनता के अनेकानेक प्रश्नों को सुलझाया है।

राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी रेस्ट्रेपो के निर्णय बड़े जोखिम भरे और चौंका देने वाले होते। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने कोलम्बिया की मुद्रा 'पैसों' के अवमूल्यन का प्रस्ताव रखा। उस प्रस्ताव का उत्तर उन्होंने नकारात्मक दिया। इतने बड़े मुद्राकोष की प्रतिष्ठा को इस प्रकार नकारने का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से हाथ धो बैठना था किन्तु कोलम्बिया के जनसामान्य के हित को ध्यान में रखते हुये यह जोखिम भी उठायी और उनका यह जोखिम उठाना हितकारी ही सिद्ध हुआ।

जनता पर लगने वाले नवीन टैक्सों का भार उन्होंने नहीं लादा वरन् पुराने टैक्सों में भी कमी कर दी। जीवनदायी वस्तुओं यथा भोजन, मकान आदि का मूल्य निर्धारित कर दिया और उसका कड़ाई से पालन किया गया।

अब तक लेटिन कोलम्बिया की जो अर्थ व्यवस्था काफी उत्पादन पर टिकी हुई थी। रेस्ट्रेपो लिरास ने उस पर भार कम करके सूती वस्त्र, रुई, लकड़ी, शक्कर आदि वस्तुओं का निर्यात आरम्भ कराया।

भूमि के प्रबन्ध विषयक सुधार करके रेस्ट्रेपो ने यह प्रयास किया कि राष्ट्र की भूमि का अधिकाधिक उपयोग सम्भव हो सके। भूमि व्यर्थ न पड़ी रहे। दस वर्ष से अधिक परती रहने पर भूमि के स्वामित्व की समाप्ति का नियम बनाकर तथा अतिरिक्त भूमि विक्रय करने के नियम बनाकर उन्होंने भूमि के असमान वितरण को मिटाने का प्रयास किया, जिससे स्थिति में सुधार हुआ।

दो करोड़ की जनसंख्या वाले कोलम्बिया में स्वास्थ्य शिक्षा तथा समाज कल्याण की सुविधाओं का प्रसार भी आवश्यक था। राष्ट्र स्तर पर इन्हें बढ़ाने का व्यापक प्रयास भी रेस्ट्रेपो ने अपने समय में आरम्भ किया।

उनके राष्ट्रपति बनने के पहले लिबरल तथा कंजरवेटिव पार्टियों में हिंसात्मक संघर्ष हुआ करते थे। १९४८ में हुए बोगटा संघर्ष में तो मृतकों की संख्या दो लाख तक पहुँच चुकी थी। इस संघर्ष को समाप्त करने तथा देश को स्वस्थ राजनैतिक संगठन देने का प्रयास भी उन्होंने किया।

दोनों दलों में सद्भाव उत्पन्न करने के लिए उन्होंने अपने दल की ओर से पहल की। संविधान में कतिपय ऐसे

नियम बनाये जिससे दोनों दलों के मध्य स्वस्थ राजनैतिक स्पर्धा तो रहे पर वह हिंसा का सहारा न हो सके । उन्होंने अपनी उदार नीति के कारण दोनों दलों का विश्वास जीता तथा सामान्य बहुमत के आधार पर भी नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त किया ।

समस्याएँ तो प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख आती ही रहती हैं । पर उनका सटीक समाधान खोजना तथा उसे हल करना प्रत्येक राजनीतिज्ञ के बलबूते का नहीं होता । कई तो अपने पद की चिन्ता में ही लगे रहते हैं । कई जोखिम उठा नहीं सकते । पद का मोह छोड़कर राष्ट्र की अहर्निश सेवा का व्रत निभाने और समस्याओं की जड़ तक पहुँचकर उन्हें ढंग से सुलझाने वाले गिने-चुने राजनेताओं में रेस्ट्रेपो लिरास की गणना की जाती है । ऐसे लोगों के लिये राजनीति व्यक्तिगत हित साधना या निजी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति का साधन नहीं वरन् समाज व देश की सेवा का माध्यम होती है । ऐसे राजनेता जिस राष्ट्र को मिलते हैं वह राष्ट्र अपनी जटिल से जटिल समस्याएँ सुलझाता हुआ प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकता है ।

रेस्ट्रेपो लिरास को अपने देशवासियों पर विश्वास था कि ये देश के हित में जो कदम उठायेंगे, जनता उसका समर्थन करेगी । जनता को भी विश्वास था कि वे जो भी काम करेंगे, उनके हित में ही होगा । ये विश्वास के धागे यों ही दृढ़ नहीं हुए हैं ।

रेडियो पर या टेलीविजन पर या अपने भाषण आदि कार्यक्रमों के माध्यम से वे जनता के कानों तक प्रतिदिन पहुँचाते रहते वे उनकी बातों को सुनते-समझते । उन्होंने जनता व राष्ट्रपति के बीच की दूरी को पाटकर स्वयं को कोलम्बिया वासी प्रत्येक परिवार का एक सदस्य-'अपना ही आदमी' बनाया, वे कहीं भी यात्रा करते हैं, किसी भी गाँव में जाते हैं तो उनके साथ कोई अंगरक्षक नहीं होता । वे कहा करते-"जनता के प्रतिनिधि को जनता के बीच पुलिस और अंगरक्षकों को साथ ले जाने की आवश्यकता ही क्या है ? "

रेस्ट्रेपो लिरास के इस अकृत्रिम व्यवहार ने कोलम्बियावासियों के दिलों को जीता। प्रत्येक कोलम्बियावासी के हृदय में वे यह बात भर देना चाहते कि तुम तब तक उत्तम शासन नहीं पा सकते जब तक कि तुम उसके लिये प्रयास नहीं करते । जन-जन में वह चेतना जगाने का काम उन्होंने बखूबी किया । यही उनकी सफलता का रहस्य भी था ।

उनका यह निर्भीक व्यवहार राजनेताओं के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है कि उन्हें जनता का विश्वास पाने के लिये किस निष्ठा से, किस ईमानदारी से काम करना चाहिए । देश-सेवा और स्वार्थ साधन दोनों एक साथ नहीं सध सकते । रेस्ट्रेपो जैसे ही राजनेताओं ने राजनीति को गरिमा प्रदान की है ।

विगत वर्षों में लेटिन कोलम्बिया ने जो प्रगति की है उसका बहुत कुछ श्रेय श्री रेस्ट्रेपो को है । उनका जीवन इस तथ्य की साक्षी देता है कि राजनीति भी सेवा का बहुत बड़ा माध्यम सिद्ध हो सकती है यदि उसे उसी भावना के साथ स्वीकार किया जाय ।

जिनकी साधना शहादत से सफल हुई-

डॉ० लिबिंग्स्टन

डॉ० लिबिंग्स्टन एक रात अपने तम्बू में सो रहे थे । दिन भर और रात देर तक परिश्रम करते रहने के कारण बिस्तर पर लेटते ही वे प्रगाढ़ निद्रा में पहुँचे गये । न कोई स्वप्न और न कोई कल्पना-गहरी नींद । अचानक एकदम वे चौंक कर बिस्तर से उठ बैठे । इस तरह एकदम नींद टूट जाने का कारण था एक चीख जो उन्होंने अभी-अभी सुनी थी । थोड़ी देर तक उन्होंने वस्तुस्थिति को समझने का प्रयास किया । दिन भर मरीजों की चीख-पुकार सुनते गुजरता है और एक से एक करुण चीत्कार उनके कानों में उतरती है । शायद उन्हीं चीखों में से किसी की स्मृति रह गयी होगी । यह सोचकर वे पुनः लेटने लगे ।

तभी पुनः चीख सुनाई दी । इस बार उन्हें अपनी जाग्रत स्थिति पर पूरा विश्वास था । पहले तो समझा था कि किसी स्वप्न के कारण मेरी नींद टूट गयी होगी, परन्तु दुबारा पूर्ण जागती हुई स्थिति में जब पुनः चीख सुनाई दी तो उन्हें अपना विचार गलत लगने लगा । फिर उस चीख के बाद तो लगातार चीखें सुनाई देने लगीं । डॉक्टर अब स्पष्ट सुन रहे थे और समझ भी रहे थे कि ये किसी नारी कण्ठ की चीखें हैं । लगता था कोई असहाय दुस्थिति में फँसी हुई स्त्री अपनी आत्मरक्षा के लिए पुकार रही थी । ऐसी स्थिति में डॉक्टर को सोना तो दूर वहाँ रुकना भी मुश्किल था और वे उसी अवस्था में अपने मकान से बाहर आ गये ।

घटना दक्षिण अफ्रीका के एक ऐसे स्थान की है जहाँ के निवासी आधुनिक सभ्यता से हजारों साल पिछड़े हुए थे । इन आदिवासियों को सभ्य और सुसंस्कृत बनाने के लिए डॉ० लिबिंग्स्टन को कैथोलिक चर्च मिशन की ओर से ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए भेजा गया था । सेवा के मंत्र से वे इसी उद्देश्य की प्राप्ति में लगे हुए थे कि अधिक से अधिक लोगों को ईसा का अनुयायी बनाया जाये । अभी-अभी उन्होंने जो चीख सुनी थी यद्यपि उसका उनके कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं था, परन्तु उनके शरीर कलेवर में स्थित मानवीय अंतःकरण से तो इसका गहरा सम्बन्ध था और उसी अंतःकरण की पुकार पर वे स्त्री को बचाने के लिए चल दिये । बाहर आकर उन्होंने उस दिशा में कदम बढ़ाये जिधर से कि वे चीखें आ रही थीं ।

थोड़ी दूर चलने पर उन्होंने कुछ आदिवासी कबीले वालों को देखा जो एक पन्द्रह सोलह वर्ष की लड़की के आस-पास खड़े हुए थे और उसे एक वृद्ध सा व्यक्ति बड़ी बुरी तरह पीट रहा था । डॉक्टर के वहाँ पहुँचते ही कबीले वाले उनके सम्मान में झुक गये ।

उन्होंने पूछा-क्या बात है ? क्यों इस तरह लड़की को पीट रहे हो ? "

कबीले वालों ने तो कोई जवाब नहीं दिया । डॉक्टर की आवाज सुनते ही लड़की उनके पाँवों से लिपटी और बोली-'फादर मेरे कुनबे वालों ने मुझे गाँव के मुखिया के हाथों बेच दिया है । जबकि ये उम्र में मेरे पिता समान हैं । आप ही सोचिये डॉक्टर मैं ऐसे व्यक्ति की घरवाली कैसे बन सकती हूँ जिनकी अपनी जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है ।

'अच्छा-अच्छा ठीक है तुम मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें अपने पास बेटी बनाकर रखूँगा और किसी योग्य लड़के से तुम्हारी शादी करवा दूँगा'- डॉक्टर ने कहा और पाँवों में पड़ी हुई लड़की को बाँह पकड़ कर उठाया । वहाँ से पीठ करने के साथ ही उन्होंने उपस्थित कबीले वालों की ओर देखा । जो सिर अभी तक सम्मान से झुके हुए थे वे तन गये और आदिवासियों ने अपने शस्त्र सम्हाल लिए थे । उनकी आँखों से आग बरस रही थी और हाथ मुखिया के आदेश का इन्तजार कर रहे थे ।

डॉक्टर ने उन लोगों के इरादों को भाँपा और मुखिया से पूछा-"क्या बात है भाई आप लोग नाराज हैं क्या ? " "होंगे नहीं, इस लड़की के लिए नकद पाँच सौ सिक्के दिये हैं "-मुखिया गुर्राया ।

'तो ठीक है तुम पाँच सौ सिक्के मुझ से ले लेना ।' डॉक्टर लिंबिग्स्टन ने उसी रात मुखिया को पाँच सौ सिक्के दे दिये । लड़की उनके प्रति कृतज्ञता से भर उठी, और अपनी चिन्तायें समाप्त हुई जानकर चैन की नींद सोने लगी । परन्तु डॉक्टर की आँखों से नींद खो गयी । वे सारी रात सो न सके ।

इस घटना ने उनके जीवन में एक नया आयाम दिया । वे सोचने लगे-कितनी दुर्भाग्य की बात है कि यहाँ की नारी अपनी भाग्य का आप निर्णय भी नहीं कर सकती । समाज ने उसे यह अधिकार ही नहीं दिया । दे भी कैसे ? वह तो उसे सम्पत्ति के रूप में मानता है, जो बेची जा सके बदली जा सके ? और बेचारी अफ्रीकी नारी इतनी बेबस है कि वह उस समाज व्यवस्था के खिलाफ आवाज भी नहीं उठा सकती । अफ्रीका के नारी समाज की इस दुर्दशा पर उन्होंने जितना विचार किया उतनी ही करुणा उमड़ने लगी और वे एक निश्चय, एक संकल्प से बँध गये कि चाहे जो हो नारी समाज की इस भयानक दुर्दशा को बदल कर रहेंगे ।

बाद में डॉक्टर लिंबिग्स्टन ने उस युवती का विवाह उसके प्रेमी मनपसंद युवक से करवाया । उक्त घटना ने उन्हें जिन दायित्वों का बोध कराया था-विवाह के बाद ही वह पूरा नहीं हो पाया वरन् यह तो उसकी शुरूआत थी । उस दिन से लिंबिग्स्टन के लिए चिकित्सा-व्यवसाय और ईसाई धर्म के प्रचार का कार्य गौण बन गया तथा समाज सुधारक और महिला उत्थान की साधना ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया ।

लिंबिग्स्टन ने जब अपने निश्चय के सम्बन्ध में अपने साथियों को बताया तो साथियों ने इस मार्ग में आने वाली बाधाओं से अवगत कराया । यह परामर्श उन्हें मैत्री या स्नेह के कारण नहीं दिया गया था । इसका उद्देश्य तो था कि लिंबिग्स्टन अपने इस मार्ग को छोड़ दे और अन्य साथियों की तरह आदिवासियों को ईसाई धर्म में ही दीक्षित करें । जब इस तरह के परामर्श आते रहे तो लिंबिग्स्टन ने कहा-'मैं सब जानता हूँ कि इस कार्य में कौन-कौन सी समस्यायें बाधा बनकर खड़ी होंगी । उन सब से निपटने के लिए मैं तैयार हूँ और उनके सम्बन्ध में जानकर ही मैंने यह निश्चय किया है । अब इस मार्ग से हटने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

उनके एक साथी ने कहा-'आपको याद है जब आप इंग्लैण्ड में भाषण देने के लिए खड़े हुए थे तो आप एक वाक्य से दूसरा वाक्य नहीं बोल पाये थे और वाक्य यह- "मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ वह भूल गया ।" इसके बाद आप अपने स्थान पर आ कर बैठ गये थे । सामाजिक स्थिति में कोई भी सुधार या परिवर्तन लाना बड़े दिल और बड़ी हिम्मत वालों का काम है । इसके लिये तो ऐसा साहस चाहिए जिसमें अपने प्राणों का भी मोह न रहे । आपके पास है ऐसी योग्यता ।'

'मेरे प्यारे मित्र ! इस सुहृदय परामर्श के लिए धन्यवाद । मुझे यह तो पता नहीं है कि मुझमें क्या-क्या योग्यतायें हैं । परन्तु मेरे हृदय में मनुष्यता के प्रति जो दर्द पैदा हुआ है उसके सहारे ही मैं यह काम शुरू कर रहा हूँ । सफल हो जाऊँ या न होऊँ इसकी मुझे चिन्ता नहीं है । मुझे तो केवल अपने कर्त्तव्य की पुकार सुनना है । समाज उठे या इससे भी बदतर स्थिति में जाय-लिबिंग्स्टन ने बड़ी ही नम्रतापूर्वक कहा और उनके मित्र को निराश होकर लौट जाना पड़ा । वह समझ गया था कि संकल्प और साहस के धनी इस व्यक्ति को भी कर्त्तव्य के मार्ग से हटा पाना आसान नहीं है । एक-एक कर उनके सभी साथी चले गये ।

लिंबिग्स्टन ने अपनी सेवा साधना की जो पद्धति चुनी उसकी बहुत गहराई से सम्बन्ध था अफ्रीका समाज को ऊँचा उठाने से । वे इस स्थिति का बाहरी उपचार कर के ही सन्तुष्ट हो जाने वाले नहीं थे वरन् उन्होंने समस्याओं का गहन अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि दुनिया में किसी भी जाति या समाज की जीवन धारा में आयी विकृतियों का एकमात्र कारण है-अज्ञान । उन्होंने इस जड़ पर प्रहार करने की योजना बनायी और सद्ज्ञान तथा शिक्षा प्रचार के माध्यम से जन जागरण का शंख फूँका । अफ्रीकन लोगों की आस्था और श्रद्धा के केन्द्र तो वे थे ही, बाद में भी बने रहे । लेकिन जब उन्होंने अफ्रीका समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों, कुरीतियों और रूढ़ियों को तोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया तो कुछ लोग जिनका कि इन परम्पराओं से स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध था, उनसे रुष्ट हुए । एक ओर तो लिंबिग्स्टन इन सामाजिक कुरीतियों

से लड़ रहे थे दूसरी ओर उन्होंने दास प्रथा के लिए ब्रिटिश सरकार का भी विरोध करना आरम्भ किया । सरकार से इस घृणित प्रथा को बन्द करने के लिए उन्होंने कई बार शान्तिपूर्ण प्रयत्न किये परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला । फलस्वरूप वे और भी खिन्न हुए साथ ही साथ सक्रिय भी ।

इसका परिणाम यह हुआ कि दो ओर से उनके शत्रु तैयार होने लगे । एक तो अफ्रीकनों के स्वार्थी मुखिया और दूसरी ओर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट । एक बार तो उन्हें किसी कबीले के सामंतों ने बन्दी बना लिया और ऐसे स्थान पर ले गये जहाँ मनुष्य तो क्या किसी पशु की छाया भी नहीं दिखाई देती । वहाँ उन्हें बड़ी यातनायें दी गयीं । परन्तु लिंबिग्स्टन जानते थे कि ये लोग बहकाये गये हैं । अशिक्षित, अल्पज्ञ और अज्ञानी लोगों को बहकाकर अपना उल्लू सीधा करने वाली ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने एक तीर से दो शिकार करने का इरादा किया । एक तो लिंबिग्स्टन जो उस सरकार के प्रधान शक्तिशाली विरोधी बनते जा रहे थे, दूसरा करवट बदल रहा अफ्रीकी जन समाज, जो कभी भी उस व्यवस्था को तोड़ सकता था ।

कबीले के मुखिया ने कहा-यदि तुमने एक सप्ताह में पानी नहीं बरसाया तो हम तुम्हें जिन्दा जला देंगे । अगुआ बनने के लिए सुलतानी (ईश्वरीय) ताकत भी चाहिए । तुम्हें कोई चमत्कार दिखाना पड़ेगा नहीं तो तुम बड़ी बुरी तरह जान से हाथ धो बैठोगे ।

चमत्कार के प्रति आस्था मनुष्य का विश्वास अपने निज के पुरुषार्थ पर से उठा देती है । इसी से वंचित होकर लोग कष्ट और पीड़ायें भोगते हैं । लोग अपने पुरुषार्थ पर विश्वास कर सकें । इसका सबसे बढ़िया अवसर है यह । उन्होंने कुछ सोच-विचार कर कहा-अच्छा हम पानी बरसायेंगे । इतना पानी बरसायेंगे कि यहाँ के लोगों को साल भर तक पानी की कोई कमी न रहे, पर पहले मुझे पच्चीस मेहनती युवक चाहिए । सामन्त ने यह व्यवस्था कर दी और एक रात वे अपने निकट की उस पहाड़ी पर पहुँचे जहाँ पानी का एक चश्मा था । इन युवकों की सहायता से उन्होंने एक नाला खुदवाया और चश्मे का सम्बन्ध उस नाले से जोड़ दिया । अगली सुबह जब वहाँ के आदिवासियों ने यह सुखद आश्चर्य देखा तो हर्ष से फूल उठे । लिंबिग्स्टन को फूल चढ़ाने लगे और लिंबिग्स्टन ने उन लोगों से एक ही अनुरोध किया-पढ़ो । इस घटना ने कबीले वालों पर बड़ा प्रभाव डाला । फलतः शिक्षा प्रचार में उन लोगों से अच्छी मदद मिलने लगी ।

सतत साधना, श्रम और पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने अपना मिशन पूरा करने के लिए बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलीं । यहाँ तक कि उन्हें शरीर का एक हिस्सा भी गँवाना पड़ा परन्तु संकल्प और श्रम में इससे कहीं भी कमी नहीं आयी । वय पूरी होने पर जब उनका देहान्त हुआ तो आजीवन उनका विरोध करने वाले अँग्रेजों ने अन्त्येष्टि क्रिया के समय भी विरोध किया । लिंबिग्स्टन की अन्तिम आकांक्षा थी कि उनका शव अफ्रीकन लोग ही अपने रस्म के अनुसार समाप्त करें और अँग्रेज चाहते थे कि उनका शव हमें सौंपा जाय । इस प्रश्न पर दोनों वर्गों में तना-तनी हो गयी परन्तु विजय अफ्रीकन की हुई ।

डॉ० लिंबिग्स्टन ने एक साधारण-सी घटना से प्रभावित होकर जिस प्रकार अपने उद्देश्य का विस्तार किया वह हर किसी के लिए अनुकरणीय है । जीवन में छोटी-छोटी घटनाओं के सम्बन्ध में हम भी जागें तो समाज सेवा के कई पथ खुल सकते हैं ।

बूट पॉलिश करने वाला बालक एक दिन उप राष्ट्रपति बना-

लिन्डन बी० जानसन

यदि आप किसी नगर की मुख्य सड़क पर गुजर रहे हों तो आपको दोनों ओर कुछ बूट पॉलिश करने वाले लड़के दिखाई देंगे । यदि आप जूते पर पॉलिश न कराना चाहें तो शायद आपकी दृष्टि भी उस ओर न जायेगी और यदि पॉलिश कराई भी तो पैसे देकर आगे बढ़ जायेंगे । साधारणतः लोग इनके प्रति उदासीन रहते हैं । किसी स्टेशन या बस स्टेण्ड पर कोई किशोर जबरन पॉलिश करने की जिद करता है तो आपके मन में उसके प्रति थोड़ी देर के लिए सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है पर यह तो आपकी कल्पना में भी न आता होगा कि इन में से कोई बालक किसी दिन महान भी बन सकता है ।

९ वर्ष की आयु खेलने और खाने की होती है । पर इस आयु में लिंडन जानसन अपने जन्म स्थान टैक्सास में जूतों पर पॉलिश कर धनोपार्जन किया करते थे । अमेरिका के प्रत्येक व्यक्ति को बचपन से ही सिखाया जाता है "किसी कार्य को छोटा और अपमानजनक मत समझो ।"

जानसन के मन में तो स्वतन्त्रता की भावना समाई हुई थी फिर वह इस कार्य को छोटा कैसे समझ सकते थे । एक ओर पॉलिश का कार्य और दूसरी ओर पढ़ाई का कार्य निरन्तर चलता रहा । उसका परिणाम यह निकला कि १५ वर्ष की आयु में हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली । रोजगार के चक्कर में पड़कर उन्होंने अपना अध्ययन क्रम बन्द न किया और न लक्ष्य की पूर्ति मानकर पढ़ाई ही बन्द की । इसके बाद उन्होंने कार की धुलाई, एलिवेटर संचालन तथा सड़क निर्माण के कार्य अपने हाथों में लिये । जानसन प्रत्येक कार्य को ईश्वर का कार्य मानकर बड़ी तन्मयता से पूर्ण करते थे ।

मनुष्य जीवन की प्रगति में उसकी आर्थिक दशा का भी पूरा-पूरा योगदान रहता है । आज कितने ही लड़के उच्च शिक्षा ग्रहण करने से इसलिये वंचित रह जाते हैं कि उनके परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होती । अब अगली शिक्षा के लिए वह सेण्ट मार्कोस नगर आ

गये । वहाँ साउथ वेस्ट स्टेट टीचर्स कॉलेज में प्रवेश ले लिया । खर्च की समस्या सामने आई तो वे विचलित न हुये, क्योंकि वह तो बचपन से ही स्वावलम्बन का पाठ क्रियात्मक रूप से पढ़ चुके थे । अतः उसी विद्यालय में द्वारपाल का कार्य करने लगे ।

साढ़े तीन वर्ष बाद २२ वर्षीय जानसन ने बी० ए० सी० की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और एक हाईस्कूल में अध्यापक हो गये । उनकी ज्ञान पिपासा अभी शांत न हुई थी । अध्यापक का कार्य उन्हें एकांगी लगा अतः छोड़कर वाशिंगटन आ गये । यहाँ रिचेड क्लेबर्ग के सचिव बन गये । दिन में सचिव का कार्य करते थे और रात्रि को जार्जटाउन विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा ग्रहण करते थे ।

लिन्डन जानसन का सम्पूर्ण जीवन उन साधनहीन छात्रों के लिए प्रकाश स्तम्भ है जो गरीबी और अभावग्रस्तता का रोना रोकर पढ़ाई बन्द कर देते हैं और जीविका के लिए किसी मामूली से कार्य में लगकर जीवन की प्रगति पर विराम लगा देते हैं । जो व्यक्ति महत्त्वाकांक्षी होते हैं, उन्हें जीवन की अनेक कठोर सीढ़ियों से गुजरना होता है और जब अपने उद्देश्य की पूर्ति देख लेते हैं तभी संतोष का अनुभव करते हैं ।

यहाँ सचिव बनने पर वह संतोष कर सकते थे और वकालत की परीक्षा पास कर किसी शहर में बैठकर वकालत करने लगते पर वह प्रगति की दौड़ में पीछे नहीं रहना चाहते थे । उनका मन सचिव बनकर ही सन्तुष्ट न हुआ । १९२५ में राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा टैक्सास नेशनल यूथ एडमिनिस्ट्रेशन के निर्देशक पद पर नियुक्त हुये । यहाँ कार्य करते दो ही वर्ष हुये थे कि १९३७ में प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन होने लगा । महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति अवसर का लाभ उठाना बखूबी जानते हैं क्योंकि अवसर एक ऐसा अजीब प्राणी है जिसके सिर पर सामने की ओर बाल तो होते हैं पर पीछे की ओर की खोपड़ी खल्वाट ही होती है अतः जो सामने से उसे पकड़ लेते हैं अवसर उनके अधीन तो हो जाता है पर जो थोड़ी भी ढील-ढाल डाल देते हैं उन्हें वह पकड़ाई देने वाला नहीं है ।

जानसन ने अपनी प्रतिभा के निखार के लिये निर्वाचन का समय उपयुक्त ही समझा । वह ९ प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर टैक्सास राज्य के प्रतिनिधि निर्वाचित हुये । जानसन ने राजनैतिक जीवन में पहला ही कदम रखा था जहाँ उन्हें सफलता प्राप्त हुई । वह अच्छी तरह जानते थे कि इस क्षेत्र में अधिक बुद्धिमत्ता और सूझबूझ की आवश्यकता पड़ती है । ज्ञान उनमें कम न था फिर भी अपने में गुणों की वृद्धि कर वह उत्कर्ष की ओर निरन्तर बढ़ते जा रहे थे ।

सन् १९४८ और १९५४ में सीनेट के सदस्य निर्वाचित होकर जनता पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डाली । वह निर्धनता की राह से गुजर कर आये थे अतः उनमें पीड़ित मानवता के प्रति दर्द था और उसे दूर करने के लिये सहानुभूति का मरहम भी ।

सन् १९५३ में उनकी कार्य क्षमता और नेतृत्व शक्ति ने ही उन्हें सीनेट में अल्पसंख्यक दल का नेता बना दिया । उनकी आयु इस समय केवल ४४ वर्ष थी । अब तक जितने नेता चुने गये थे उनमें सबसे कम आयु के जानसन ही थे । आयु बढ़ने के साथ उनकी योग्यता, बुद्धिमत्ता और अनुभव निरन्तर बढ़ते जा रहे थे । सन् १९५४ में तो वे बहुमत दल के नेता निर्वाचित हो गये । १९६२ में राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद वे राष्ट्रपति काल की शेष अवधि तक अमेरिका के राष्ट्रपति भी रहे ।

कौन जानता था कि जूतों पर पॉलिश करने वाला ९ नवम्बर, १९६० को अमेरिका जैसे महान देश का उपराष्ट्रपति बन जायेगा । परिस्थितिवश कोई व्यक्ति छोटे कार्य करता रहे अथवा अभावग्रस्तता का जीवन व्यतीत करता रहे तो उसके कार्यों में या परिस्थितियों में किसी की आँखें महानता को ढूँढने का प्रयत्न नहीं करतीं ।

नेता के रूप में उन्होंने जिस योग्यता का परिचय दिया था वह बहुत कम व्यक्तियों में देखने को मिलती है । सेवा काल में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य हुये हैं जो देखने में सर्वथा असम्भव प्रतीत होते हैं ।

उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को 'टैक्सास क्वाटर्ली' में बहुत थोड़े शब्दों में प्रकट किया था "मैं क्रम से एक स्वतंत्र मानव, एक अमेरिकी नागरिक, एक अमेरिकी सेनेटर और एक डेमोक्रेट हूँ ।"

जिसकी चेरी बनीं प्रतिभाएँ—

लियोनार्दो दा विंची

उसे माँ का प्यार नहीं मिला । वह दो वर्ष का ही था कि उसकी माता ने उसके पिता से तलाक लेकर दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया । उसको यह बहुत अखरा पर क्या करता उसके बस की बात तो नहीं थी । जिन बालकों को बचपन में माँ का प्यार नहीं मिलता वे ही जान सकते हैं कि यह अभाव कितना खलने वाला होता है ? जब किसी बालक को उसकी माता द्वारा दुलार पाते देखता तो वह उदास हो जाता । एक दिन उसने अपने पिता से पूछ ही लिया—"पिताजी आप नयी माँ को क्यों नहीं ले आते ?"

"जब तुम्हें जन्म देने वाली माँ ही प्रेम न दे सकी तो यह आवश्यक नहीं की नयी माँ तुम्हें प्यार दे ही । वह उपेक्षा भी तो कर सकती है तुम्हारी और देखो बेटे तुम मुझे तो प्यार करते हो ना ?" हाँ बहुत, "लेकिन तुम्हारी माँ मुझे भी छोड़कर चली गयी । कमी कुछ मुझमें ही रही होगी कि मैं उसका प्यार जीत नहीं सका । प्यार पाने का रास्ता किसी से प्यार की भीख माँगना नहीं है वरन उसे जीतना है । तुम चाहो तो अपने जीवन में एक व्यक्ति का ही नहीं हजारों व्यक्तियों का प्यार पा सकते हो ।"

"सो कैसे पिताजी ?"

"अपनी प्रतिभाओं को विकसित करके । तुम अभी बच्चे हो, नहीं जानते कि किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों ने हजारो लाखों लोगों का प्यार जीता है अपनी प्रतिभाओं के बल पर । किसी के स्नेह, श्रद्धा को पाने का एक ही मार्ग है और वह यह है कि अपने को उतना अच्छा, योग्य और प्रतिभाओं का आगार बनाओ कि हर कोई तुम्हारे प्रखर व्यक्तित्व के आगे अभिभूत हो उठे तुम्हें प्यार करने लगे ।"

अपने अनुभवी और विद्वान पिता की बात इस बालक ने गाँठ बाँधकर रख ली और संकल्प कर लिया कि वह प्यार के लिये किसी के आगे रोयेगा, गिड़गिड़ायेगा नहीं वरन् वह अपने को ऐसा बनाएगा कि हर कोई उसे चाहने लगे । बचपन में मातृ-स्नेह से वंचित यही बालक अपने जीवन में हजारों हृदय जीतने में सफल हुआ । साथ ही वह इतिहास का आश्चर्य भी बन गया । इस व्यक्ति का नाम था लियोनार्दो दा विंची-सर्व विद्या-विशारद ।

सुन्दर, सुगठित, बलिष्ठ और आकर्षक शरीर का स्वामी महान मूर्तिकार, चित्रकार, कवि, साहित्यकार, विचारक, गणितज्ञ, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, तकनीशियन, भूगोल-वेत्ता, आविष्कर्त्ता, युद्ध विद्या विशेषज्ञ, विद्वान, धार्मिक, सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत तथा सच्चरित्र व्यक्ति कोई इतिहास के पृष्ठों पर दीखता है तो वह मात्र लियोनार्दो दा विंची ही है, जिसने अपने जीवन में किसी भी कार्य को असम्भव नहीं माना । उसे सीखा ही नहीं उसके शिखर पर पहुँचा । माँ के स्नेह के अभाव में जो बालक एक दिन उदास बैठा रहता था अपने जीवन में हजारों के हृदय जीत गया था अपनी प्रतिभाओं के बल पर ।

ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी में लियोनार्दो ने इटली के फ्लोरेंस नगर में जन्म लिया, जिसे कलाकारों की जन्मस्थली भी कहा जाता है । पिता अच्छे वकील थे । उन्हीं ने पुत्र का पालन-पोषण ही नहीं निर्माण भी किया । बचपन से ही यह बात उसके मस्तिष्क में बैठ गयी थी कि प्रतिभा और योग्यता वह शक्ति है जिसको पाकर व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो जाता है जो जितनी अधिक प्रतिभा विकसित करेगा वह उतना ही सम्मान का पात्र बनेगा । अत: उसने भी प्रतिभाओं के अर्जन और विकास पर अपना पूरा मनोयोग, आत्मविश्वास व श्रम जुटाया । उसने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा में ही यह जान लिया कि उसके पिता की बात कितनी सच है । वह पढ़ने में सबसे तेज था अत: उसके सब अध्यापक उसे बहुत प्यार करते थे । इससे उसका उत्साह और भी बढ़ गया । वह गणित और चित्रकला में उस समय भी इतना तेज हो गया था कि अध्यापक उसके प्रश्न सुनकर चकरा जाते थे और उसका काम देखकर विस्मित हो उठते थे ।

लोग कहा करते हैं 'पूत के लक्षण पालने में ही दीख जाते हैं' इस उक्ति में काफी सच्चाई है । बालक बीज रूप में पूरा वृक्ष होता है । यदि उसके अभिभावक उसकी सम्भावित प्रतिभाओं को समझकर तदनुरूप साधन-सुविधाएँ और विकास के अवसर जुटाएँ तो वह बहुत कुछ बन जाता है । किन्तु अधिकांश माता-पिता बच्चों के अपने लघु संस्करण समझकर उन्हें अपने ढंग से अपनी इच्छानुसार बनाने का प्रयास करते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि उसकी सहज प्रतिभा का विकास नहीं होता । माता-पिता द्वारा आरोपित प्रतिभा को उसे विकसित करना पड़ता है अत: वह बात नहीं बन पाती जो बननी चाहिए और उसकी गति भी मन्द होती है । लियोनार्दो के पिता ने उसमें अंकुरित होती प्रतिभाओं को समझा और उन्हें विकास के पूरे अवसर दिये तो वह बचपन में ही गणित, संगीत, कविता और चित्रकला में आयु के अनुपात में बहुत आगे निकल गया । जो माता-पिता यह मान लेते हैं कि मेरा बच्चा तो निकम्मा है उसे जो सिखाते हैं वह सीखता ही नहीं है । वे यह देखने का प्रयास नहीं करते कि वह जो सिखाते हैं वह नहीं सीखता तो इसके पीछे कारण क्या है ? कहीं हम उसकी क्षमता व रुचि को परखने में भूल तो नहीं कर रहे हैं तो बहुत सम्भव है उन्हें अपने पुत्र में प्रतिभा के वे अंकुर दीखने लग जाएँ ।

चित्रकला और मूर्तिकला में लियोनार्दो की रुचि देखकर उसके पिता ने उसे फ्लोरेंस के एक दक्ष कलाकार वैरोच्चियो का शिष्य बना दिया । अपने शिक्षक के मार्गदर्शन में वह दो वर्ष में ही चित्रकला व स्थापत्य कला में इतना प्रवीण हो गया कि वह स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगा । दूसरी कलाओं साहित्य, गणित, विज्ञान आदि विषयों में भी वह इसी गति से प्रवीणता प्राप्त करता चला गया ।

बीस वर्ष की आयु में जब वह मिलान के शासक लुडोविको स्फोर्जा के पास अपनी मूल्यवान सेवाएँ समर्पित करने के लिये उपस्थित हुआ तो उसने बताया "मैं युद्ध कला, सार्वजनिक और व्यक्तिगत भवन निर्माण, नहरें और सरोवर निर्माण आदि में भी किसी भी जानकार व्यक्ति से बराबरी कर सकता हूँ और मूर्तिकला, चित्रकला में किसी भी कलाकार से पीछे नहीं हूँ साथ ही संगीत और साहित्य में भी अधिकार रखता हूँ ।" स्फोर्जा उसके इस अनूठे व्यक्तित्व पर मुग्ध हो उठा और उसने लियोनार्दो की सेवाएँ सहर्ष स्वीकार कर लीं ।

बचपन में माता के स्नेह-दुलार, यौवन में पत्नी का प्रेम-समर्पण और जीवन में दूसरे लोगों का सम्मान पाने की लालसा मनुष्य की सहज, स्वाभाविक कामना होती है । इसके पीछे अपनी जीवन और व्यक्तित्व की सार्थकता, उपयोगिता का भाव रहता है । सभी लोग उपरोक्त व्यवहार की आशा तो करते हैं किन्तु उसके लिये अपना पात्रत्व विकसित करने की बात अधिकांश व्यक्ति भूल जाते हैं । लियोनार्दो को बचपन में ही उसके पिता ने ऐसी भूल नहीं करने के लिये सचेत कर दिया था । अत: उसने यह चिन्ता नहीं की कि लोग उसे स्नेह, श्रद्धा, सम्मान देते हैं या नहीं, वह तो इसी में लगा रहा कि कैसे वह क्षमता उत्पन्न की जाय कि वह सभी का चहेता बन जाए । उसका यह

सोचना बिल्कुल ठीक था । सम्मान के पीछे-पीछे फिरने पर वह नहीं मिलता उसकी और ध्यान दिये बिना प्रतिभाओं के विकास की बात सोची जाय, उसे क्रियान्वित किया जाय तो सम्मान पीछे-पीछे चलने लगता है ।

बयालीस वर्ष की आयु में उसने अपना प्रसिद्ध चित्र 'अन्तिम सायंकाल का भोजन' बनाया । उस चित्र को कई वर्षों बाद फ्रांस के राजा लुई बारहवें ने उसे देखा तो वह उस कलाकृति से इतना प्रभावित हुआ कि अपने दरबारियों से पूछने लगा—"क्या यह सम्भव नहीं है कि इस दीवारों को ही, जिस पर यह चित्र बना है, उठाकर फ्रांस ले जाया जा सके ।" जबकि आश्चर्य तो इस बात का भी था कि उस समय तक उस चित्र का मसाला कहीं-कहीं से उड़ गया था ।

चित्रकला के क्षेत्र में लियोनार्दो दा विंची ने कई मौलिक उपलब्धियाँ हस्तगत की थीं । वह पहला चित्रकार था जिसने छाया और प्रकाश का महत्त्व पहचाना था । रंगीन चित्रों में प्रकृति के यथार्थ रंगों को भरने की पद्धति को चलाने वाला भी वह पहला व्यक्ति था । युवावस्था में वह बाँसुरी वादन में बहुत रुचि लेता था । उसने अपने हाथों से एक चाँदी की सुन्दर बाँसुरी बनायी थी । जिसके बारे में कहा जाता है, उस समय इतना अच्छा और कोई वाद्य यन्त्र योरोप भर में नहीं था ।

उसका अपना व्यक्तित्व भी प्रकृति की सौन्दर्य सुषमा सा मनमोहक रंगों से भरा पूरा था । उसके व्यवहार, शालीनता, शिष्टता, उदारता, आत्मीयता, विनोदप्रियता और आकर्षक व्यक्तित्व के कारण जो भी उसके सम्पर्क में आता वही उसे चाहने लगता । राजा से लेकर रंक तक उसके प्रशंसक थे ।

लियोनार्दो शरीर विज्ञान और वनस्पति शास्त्र का जनक कहलाता है । इसके पूर्व किसी ने इन विद्याओं को अध्ययन का विषय नहीं माना था । विज्ञान के क्षेत्र में उसने तरंगों की गति के नियमों का अध्ययन करके कई उपयोगी सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे । प्लेग फैलने के समय मिलान-वासियों के लिये नये नगर का नक्शा उसी ने बनाया था । कृष्ण सागर और केस्पीयन सागर के ज्वारभाटों का अध्ययन उसको उतना ही प्रिय था जितना चित्रांकन । उसने इटली के छह सुन्दर नक्शे भी बनाये थे जो आज भी इंग्लैण्ड में सुरक्षित हैं । इन्हें मानचित्र कला की श्रेष्ठ कृतियों में माना जाता है । उसने अपनी डायरी में वायुयान और वाष्पचालित यन्त्र की विषद योजनाएँ लिख रखी थीं । वायुयान का उसका प्लान इतना वैज्ञानिक था कि यदि उस समय उसे ऑयल इंजिन उपलब्ध होता तो निश्चय ही वायुयान निर्माण का सेहरा राइट बन्धुओं के सिर नहीं उसके सिर बँधता । इतालवी भाषा के गद्य को परिमार्जित रूप देने का श्रेय भी उसे मिलता है ।

एक ही व्यक्ति द्वारा ज्ञान, विज्ञान, कला, तकनीक के क्षेत्र में इतना अधिकार रखना सचमुच एक आश्चर्य की बात है । कहाँ हृदय की गहराइयों से निःसृत होने वाली, आत्मा की सच्चाइयों को अभिव्यक्त करने वाली कला और कहाँ गति, प्रकाश, किरणों व पदार्थों का शुष्क नीरस मस्तिष्कीय व्यायाम-विज्ञान । इन दो ध्रुवों को मिलाने का काम लियोनार्दो के इस धारित्री जैसे विशाल व्यक्तित्व ने किया ।

कला और विज्ञान की एक ही शाखा में शिखरस्थ होना भी बहुत बड़ी बात मानी जाती है तो फिर सर्व विद्याओं को 'हस्तामूलक-करतलगत' करने की बात आश्चर्य ही मानी जाएगी । किन्तु सही बात तो यह है कि मनुष्य को सामर्थ्य मिली हुई है वह उसका सौवाँ, हजारवाँ अंश ही काम में ले रहा है और शेष या तो प्रसुप्त पड़ा है या गलत कार्यों में लगकर नष्ट हो रहा है । लियोनार्दो के इस आश्चर्यजनक व्यक्तित्व के निर्माण में उसकी एक प्रवृत्ति बहुत सहायक हुई थी । वह प्रवृत्ति थी हर बात को गहराई से लेना । वह किसी भी नई बात की गहराई तक पैठने के लिये सचेत, सचेष्ट रहा करता था । 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' की उक्ति से सीख लेकर उसने ज्ञानोदधि में ऊपर-ऊपर से ही जानकारी रूपी मछलियाँ नहीं पकड़ी वरन् गहरा गोता लगाकर प्रतिभा, दक्षता के पानीदार मोती खोजे, जिनकी आभा आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है । गहराई में जाने पर उसे सब विद्याएँ एक दूसरे की पूरक लगीं । चित्रों में छाया व प्रकाश का कलात्मक अभिव्यक्ति देने के साथ-साथ उसने उनकी गति का, शक्ति का, वैज्ञानिक अध्ययन भी किया । उसी प्रकार चित्रकला और मूर्तिकला में प्रवीणता पाने के लिये उसने शरीर विज्ञान और वनस्पति विज्ञान का भी अध्ययन किया । कला और विज्ञान वस्तुतः आदर्श और व्यवहार की तरह समान रूप से उपयोगी हैं । इसे उसने तभी स्वीकार कर लिया था ।

पाँच सौ वर्ष बाद भी लियोनार्दो दा विंची अपनी चित्रकला और ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों के रूप में जीवित है । उसका प्रसिद्ध चित्र 'मोनालिसा' नारी की गरिमा, उच्चता और महानता के सजीव अंकन के कारण कला जगत में अपना शीर्ष स्थान बनाये हुए है । दूसरों द्वारा की गयी उपेक्षा को भी व्यक्ति यदि सही ढंग से ले तो वह सन्त तुलसीदास, सूरदास व लियोनार्दो दा विंची बन सकता है । दुनिया में शिकायत वे किया करते हैं जिन्हें अपने पर विश्वास नहीं है, जिन्हें अपने पर विश्वास है और जो जिज्ञासा, मनोयोग, श्रम और सूझ-बूझ जुटा सकते हैं वे लियोनार्दो की तरह दुनिया का प्रेम, स्नेह, श्रद्धा व सम्मान जीत लेते हैं ।

सच्चे नेतृत्व के प्रतीक—

लियोनिद ब्रेझनेव

जर्मन में हिटलर और उसके सहयोगी नाजीवादियों के विश्व विजय का स्वप्न उन्मत्तता की तरह छाने लगा तो आस-पास के पड़ौसी राष्ट्र उनकी बर्बरता के शिकार होने लगे । ऐसी ही उन्मत्त स्थिति में जर्मनी सेनाओं ने सोवियत संघ पर आक्रमण बोल दिया । तब रूस की जनता

साम्यवादी क्रांति के बाद राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य में तन्मय होकर लगी थी । अनपेक्षित इस आक्रमण ने राष्ट्र निर्माण के प्रयासों को आघात तो पहुँचाया ही, लोगों का मनोबल भी तोड़ना आरम्भ किया । सोवियत जनता घबड़ाने-सी लगी । आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस और साम्राज्यवादी मद से प्रेरित नाजी सेनायें लगातार आगे बढ़ती जा रही थीं । उनसे आत्मरक्षा का कोई समर्थ उपाय ही नहीं सूझ पड़ता था ।

तब सोवियत नेताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ कि राष्ट्र निर्माण के लिए जनता का मनोबल स्थिर रखना आवश्यक है । नेतृत्व का यही अर्थ नहीं है कि जनता को केवल भाषणों द्वारा ही मनोबल बनाये रखने के लिए कहा जाता रहे और स्वयं नेतृत्व के दायित्व से सम्पन्न व्यक्ति उनके पीछे भयभीत से अपनी कोठियों और बँगलों में चुपचाप बैठे रहें । नेतृत्व का दायित्व तो, क्या राष्ट्र निर्माण और क्या आत्मरक्षा हर क्षेत्र में आगे रहने की पुकार करता है । रूस के नेता जो अब तक सामान्य जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश के पुनर्निर्माण में रत थे-राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या उठ खड़ी होने पर भी आगे आये ।

संकटपूर्ण इस घड़ी में कम्युनिस्ट पार्टी की प्रादेशिक समिति के सचिव लियोनार्दो ब्रेझनेव भी कंधे पर बन्दूक रखकर सुरक्षा अभियान में आगे आये । उनके साथ थे उनके ही पीढ़ी के लाखों लोग जो अब तक अपने नेतृत्व की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहे थे कि कब उस पद पर आसीन अगुआ का आगामी संकेत हो और कब वे राष्ट्रीय कर्त्तव्य के पालन हेतु कदम बढ़ायें । परन्तु संकेत नहीं हुआ कोई, दिखने में आयी क्रियाशीलता । वस्तुत: ऐसे समय में आचरण ही सर्वाधिक प्रभावशाली संकेत होता है । लोग तो सोचते हैं कि नेता शायद कोई मार्गदर्शन देगा । परन्तु नेतृत्व जब क्रियाशील होता दिखाई देता है तो अनुगामियों का उत्साह कई गुना बढ़ जाता है, संकट की उस बेला में ।

ब्रेझनेव उस युद्ध में आदि से अंत तक लड़े । पूरे युद्ध काल में वे सक्रिय रूप से डटे रहे । अठारहवीं सेना के साथ काम करते हुए उन्होंने अनेक सैनिक अभियानों का नेतृत्व किया । अपने अधीनस्थ सैनिकों को वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से देश के लिए मर मिटने हेतु तैयार करने में प्रत्येक बार सफल रहे । कृष्ण सागर के तट पर ब्रेझनेव को स्वयं भी सैनिक अभियान के दौरान अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । कई बार तो अकेले पहरा देते हुए वे शत्रुओं से भी घिर गये परन्तु प्रत्येक बार वीरतापूर्ण त्याग बलिदान की भावना से ओतप्रोत होकर संघर्ष करते रहे । अन्ततः विजय उनकी सूझबूझ और बुद्धिमत्ता की ही रहती । एक सामान्य व्यक्ति के लिए वह अवधि तो शायद बड़ी पीड़ाजनक और कष्टकारक ही सिद्ध होती । लेकिन ब्रेझनेव को उस एकाकी और आपदपूर्ण जीवन का अभ्यास पहले से ही था इसलिए उन्हें कोई विशेष असुविधा नहीं हुई । उन्होंने अपना जीवन एक मजदूर-श्रमजीवी-सर्वहारा परिवार में जन्म लेकर ही तो आरम्भ किया था । रूस के मजदूरों की तत्कालीन अवस्था देखकर तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सैनिक अभियान के दौरान आने वाली कठिनाइयाँ उस जीवन की अपेक्षा कहीं सहज रही होंगी ।

लियोनिद ब्रेझनेव का जन्म उक्रेन प्रान्त के एक मजदूर परिवार में सन् १९०७ ई० में हुआ था । उस समय रूस का श्रमजीवी बहुसंख्यक वर्ग समाज व्यवस्था पर हावी कुछेक धनपतियों के अमानवीय शोषण से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था । ब्रेझनेव के पिता कामेन्स कोये नामक शहर की एक इस्पात मिल में आजीवन मजदूरी करते रहे । उन दिनों उस परिवार को बड़ी मार्मिक आर्थिक तंगियों और अभावग्रस्त परिस्थितियों का सामना करना पड़ता था । सदियों से उस क्षेत्र के किसान कंगाली और मोहताजी का सामना करते थे । आरम्भ में ब्रेझनेव को भी अपने छोटे भाई-बहनों के साथ कठोर मेहनत कर जीवन निर्वाह की व्यवस्था करनी पड़ी । परिवार का खर्च तब भी मुश्किल से चलता था ।

लेनिन के नेतृत्व में उन्हीं दिनों सन् १९१७ में रूस की जनता ने जारशाही का अन्त किया और समाजवादी गणराज्य की स्थापना की । अब देश के सामने एक नयी चुनौती थी । जार का रूस जिसका अर्थतंत्र विदेशी हस्तक्षेपों के कारण अस्त-व्यस्त हो गया था । उसका जीर्णोद्धार करना था । उन दिनों ब्रेझनेव ने अपना अध्ययन भी जारी रखा । रूस की सरकार और जनता दोनों खण्डहर से हुए रूस को नया व उन्नत रूप देने के लिए श्रमशील थे । वहाँ आधुनिक फैक्ट्रियाँ, बिजलीघर, कारखाने, स्कूल, भवन आदि कार्यों का निर्माण चल रहा था ।

किशोर वय के श्री ब्रेझनेव ने ऐसे समय में अपना दायित्व निश्चित किया और वे विद्याध्ययन जारी रखते हुए मेहनत कर देश के पुनर्निर्माण में योगदान देते रहे । यद्यपि इसके पूर्व भी मेहनत-मजदूरी कर रहे थे परन्तु तब की और अबकी स्थिति में अन्तर था । तब उनके हृदय में अवसाद, बोझिलता, अनुत्साह और निराशा की कालिमा छाई रहती थी और अब सोवियत समाज के पुनर्रचना काल में उनके हृदय में उल्लास, निश्चिन्तता, उत्साह और आशा का आलोक व्याप्त था । उनकी पारिवारिक और आर्थिक स्थिति में भी शायद ही कोई अन्तर आया हो । परन्तु देश में तब जो हवा बनी हुई थी और वातावरण तैयार था वह सुखद भविष्य की सुस्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करता था । समाज के उत्कर्ष में अपना व्यक्तिगत विकास भी होता स्पष्ट दिखाई दे रहा था । जब कोई ऐसा अभियान चलता है जिसमें सभी वर्ग का कल्याण होना हो तो समझदार व्यक्ति अभावग्रस्त होते हुए भी आश्वस्त-सा रहता है ।

ब्रेझनेव वय: संधि की उम्र में राष्ट्र निर्माण के यज्ञ में और भी अधिक घनिष्ठ सहयोग देने के लिए सन् १९२४ ई०

में कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार हो गये । तत्कालीन नेताओं ने इस अल्पवय के किन्तु उत्साही किशोर को पार्टी में प्राथमिकता दी एवं हर्ष व्यक्त किया । ब्रेझनेव कार्यकारी जीवन में तो श्रम और निष्ठापूर्वक व्यस्त रहे ही कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे ।

एक अवसर पर पार्टी की मीटिंग में उन्हें युवकों की ओर से बोलने के लिए कहा गया । तब तक ब्रेझनेव ने कभी भी किसी भी अवसर पर अपने विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं किया था । इस अवसर पर उन्होंने थोड़ी हिचक महसूस की । फिर भी स्वयं को ढाढ़स देते हुए वे बोलने के लिए आये और गम्भीर किन्तु ओजस्वी वाणी में अपने विचार व्यक्त करने लगे । इस प्रथम भाषण में उन्होंने समाजवादी समाज रचना के प्रति दृढ़तापूर्वक विश्वास व्यक्त किया । उस भाषण के श्रोताओं की यह राय रही है कि सचमुच वह यौवन और जवानी का ही प्रतिनिधित्व था ।

पार्टी ने श्रमजीवी जनता के प्रति उन्हें संवेदनशील और सहानुभूति से पूर्ण पाया । मजदूर जीवन के वे भुक्त-भोगी तो रहे ही थे, इससे श्रमिकों की समस्याओं और कठिनाइयों की उन्हें बड़ी अच्छी जानकारी थी । इसलिए पार्टी ने सन् १९३७ ई० में उन्हें कुर्स्क गुर्बेनिया और यूराल प्रान्त के मेहनतकश किसानों की स्थिति जानने के लिए सर्वेक्षक नियुक्त किया । ब्रेझनेव ने उस समय प्रचलित भूमि-पट्टा प्रणाली का परीक्षण इतनी गहराई से किया कि वहाँ के सभी कृषक और मजदूर उन्हें देवता के रूप में मानने लगे । यह सर्वेक्षण ब्रेझनेव स्वयं अपने लिए शिक्षाप्रद और जानकारी को बढ़ाने वाला मानते हैं । उस क्षेत्र के किसान मजदूर तो उनसे प्रभावित थे ही-उसी प्रभाव और लोकप्रियता के कारण उन्हें जिला सोवियत का युवा सर्वेक्षक नियुक्त किया । यह कार्य सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में उनका अगला कदम था ।

उस समय सारे देश में औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित किये जा रहे थे । ब्रेझनेव ने भी तब इंजीनियरी का प्रशिक्षण प्राप्त ही किया । उस समय जगह-जगह पर स्थापित किये जा रहे औद्योगिक केन्द्रों के लिए तकनीकी विशेषज्ञों की आवश्यकता थी । उच्च सोवियत के समर्थक और आधार होने के नाते ब्रेझनेव ने स्वयं इस प्रकार की योग्यता हासिल करना आवश्यक समझा । इसे उनके स्वभाव की विशेषता ही कहना चाहिए, कि जब भी कहीं, जहाँ भी और जैसी भी सेवा की आवश्यकता हुई-ब्रेझनेव किसी को कहने-सुनने की अपेक्षा स्वयं ही उस प्रकार की सेवा योग्यता अर्जित करने के लिए आगे आये । लियोनिद ब्रेझनेव औद्योगिक प्रतिष्ठानों की तकनीकी आवश्यकता को समझते हुए एक धातु कर्म संस्थान में भर्ती हुए । पूरी तन्मयता और मनोयोग के साथ उन्होंने इंजीनियरिंग का पाठ्यक्रम पूरा किया । प्रबल पुरुषार्थ और अनथक परिश्रम करते हुए सन् १९३५ में स्नातक की डिग्री ली । स्नातक बन जाने के बाद वे अपनी जन्मस्थली में ही एक इस्पात मिल में इंजीनियर के रूप में कार्य करने लगे । पार्टी में कई उच्च पदों पर कार्य करते हुए सम्मान और प्रतिष्ठा से भरा-पूरा जीवन व्यतीत करने के बाद भी उन्हें इस्पात मिल में काम करते हुए किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ । सन् १९३८ में कम्युनिस्ट पार्टी ने उनको प्रादेशिक समिति का सचिव चुना ।

इस पद पर रहते हुए ही उन्हें जर्मन की नाजी सेनाओं का मुकाबला करने के लिए युद्ध क्षेत्र में जाना पड़ा था । जब युद्ध समाप्त हुआ तो उन्हें प्रान्तीय संगठन का नेता चुना गया । ब्रेझनेव एकनिष्ठा से सौंपे गये उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए कार्य करते रहे । उद्योग और कृषि के क्षेत्र में वे अपनी सेवा-प्रतिभा का परिचय तो दे ही चुके थे । युद्ध के मोर्चे पर भी उन्होंने स्वयं को अद्वितीय अगुआ सिद्ध किया । राष्ट्र की जनता उनके व्यक्तित्व की क्षमता और प्रतिभा से धीरे-धीरे परिचित होती गयी और जैसे-जैसे उनकी प्रतिभा मुखरित होती गयी, एक से एक बड़े दायित्व जनता उन्हें सौंपती गयी ।

छठे दशक में विशाल क्षेत्रफल वाले दुनिया के सबसे बड़े राज्य की बंजर पड़ी धरती पर खेती का कार्यक्रम हाथ में लिया गया । कजाखिस्तान-जिसकी लाखों एकड़ जमीन यों ही पड़ी हुई थी के एक कार्याधिकारी बनकर ब्रेझनेव को कृषि उत्पादन का मोर्चा सम्हालना पड़ा । यहाँ भी उन्होंने निर्देश देने और मार्ग-दर्शन भर करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं मानी । ब्रेझनेव अपने साथियों के साथ उजाड़ पड़े जमीन के टुकड़ों पर फसल उगाने के लिए मेहनत करते रहे । उनसे प्रेरणा लेकर प्रोत्साहन पाकर लाखों नवयुवकों ने कजाखिस्तान की धरती पर पसीना बहाया । अन्ततः पसीने के फूल खिले जिनकी सुरभि देश में ही नहीं विदेशों में भी फैली । कजाखिस्तान आज सोवियत संघ का प्रधान अनाज उत्पादक केन्द्र है ।

बाद के वर्षों में ब्रेझनेव मास्को में पार्टी के एक शीर्षस्थ पद पर कार्य करते रहे । प्रतिरक्षा क्षमता के विकास सम्बन्धी कार्यों, वैज्ञानिक प्रगति तथा औद्योगिक उन्नति में उन्होंने जो योगदान दिया वह ऐतिहासिक बन पड़ा है । यह तो नहीं कहा जा सकता है कि विश्व के मानचित्र में रूस का आज जो विशिष्ट स्थान है उसका समूचा श्रेय ब्रेझनेव को ही दिया जाना चाहिए । क्योंकि देश के विकास की नींव लाखों-करोड़ों लोगों ने मजबूत की है । फिर भी ब्रेझनेव ने अपने माध्यम से एक सच्चे राष्ट्र भक्त और जन नेता का आदर्श प्रस्तुत किया वह सभी नेता कहलाए जाने वालों के लिए अनुकरणीय है । जब भी अवसर आया ही ब्रेझनेव ने स्वयं को उसके अनुरूप ढाला और उस क्षेत्र में आगे कदम बढ़ाया, देशवासियों को विकास के पथ पर अग्रसर किया ।

१९५२ ई० में आयोजित सोवियत संघ की उन्नीसवीं काँग्रेस में ब्रेझनेव पार्टी की केन्द्रीय समिति में निर्वाचित

हुए । सन् १९६४ में वे केन्द्रीय समिति के प्रथम सचिव और दो वर्ष बाद महासचिव बने । एक मजदूर से अपना जीवन आरम्भ कर सोवियत संघ जैसे महान के सर्वोच्च पद तक पहुँचने में उन्हें जो लम्बा यात्रापथ तय करना पड़ा है वह उनकी धैर्य भरी अनवरत साधना का ही प्रतीक है ।

युद्धोत्तर फ्रान्स के राष्ट्र निर्माता-

लुई अर्माद

सन् १९६४-६५ में फ्रान्स में 'दगाल के बाद कौन' विषय पर जनमत संग्रह किया गया था । इस जनमत संग्रह का उद्देश्य यह था कि तत्कालीन राष्ट्रपति दगॉल के बाद लोग किस व्यक्ति को अपने लोकतंत्र का अधिपति बनाना पसंद करेंगे । जब इसके परिणाम सामने आये तो सारा संसार आश्चर्यचकित रह गया । फ्रान्स की जनता ने एक ऐसे व्यक्ति का नाम लिया था जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था । हालांकि वह व्यक्ति फ्रान्स की जनता में इतना अधिक लोकप्रिय रहा है कि शायद ही किसी और देश में ऐसा साधारण व्यक्ति रहा हो । अपनी लोकप्रियता से परिचित होते हुए भी उस व्यक्ति को राजनीति में भाग लेने की कतई दिलचस्पी नहीं रही है ।

लोकप्रियता के उच्च शिखर पर आसीन इस असाधारण व्यक्तित्व का नाम है-लुई अर्माद । अर्माद का राजनीति से दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी उनकी लोकप्रियता का अन्दाज इसी बात से लगाया जा सकता है कि फ्रान्स के लोग उन्हें अपने देश और समाज के सर्वोच्च पद पर देखने के लिए कितने उत्सुक थे । अर्माद की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण है उनकी निस्वार्थ सेवा भावना । युद्धोत्तर फ्रान्स के नव निर्माण में उनके द्वारा दिया गया योगदान महान ही कहा जा सकता है । पेशे और व्यवसाय से वे एक इंजीनियर रहे हैं परन्तु उन्हें लोकप्रियता किसी भी राजनेता से कम नहीं वरन् कई गुना ज्यादा ही मिली है ।

फ्रान्स में-सेवाय के एक छोटे से गाँव में उनका जन्म हुआ । माता-पिता दोनों ही अध्यापक थे । न इतने अधिक धनवान कि अपने पुत्र के लिए सभी प्रकार की सुख-सुविधायें जुटा सकें और न इतने गरीब की प्राथमिक आवश्यकतायें भी पूरी न हों । कुल मिलाकर मध्यवर्गीय स्तर का परिवार । माता-पिता दोनों ही सुशिक्षित थे इसलिए अपने बालक के विकास पर उन्होंने पूरी तरह ध्यान दिया । भले ही वे उत्तराधिकार में कोई धन-सम्पत्ति देने में समर्थ नहीं रहे हों परन्तु अपनी सूझ-बूझ, उच्च गुणों की छाप और विकासमान बौद्धिक क्षमता के रूप में उन्होंने जो कुछ दिया वह किसी भी धन सम्पदा से लाख गुना बेहतर था । धनवान और अदूरदर्शी लोग ही अपनी संतान को उत्तराधिकार में धन सम्पदा देने की बात सोचते हैं । यदि ऐसा नहीं हो सका तो वे मरते हुए भी यही सोचते हैं कि हम अपनी औलाद के भविष्य के लिए कुछ नहीं कर सके ।

लुई अर्माद के माता-पिता ने उन्हें बचपन में स्कूल पढ़ने भेज दिया । श्रमशीलता, अध्ययन और धैर्य जैसे मानवोचित गुणों के विकास पर पूरा ध्यान देते हुए उन्होंने अपने पुत्र को राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध होने में किंचित भी लापरवाही नहीं की । उचित देखभाल और सावधानी के कारण अर्माद की अन्तर्निहित प्रतिभा निखरने लगी वैज्ञानिक प्रयोगों तथा गणित के सवालों में उनकी आरम्भ से ही रुचि रही । माता-पिता ने भी अर्माद को इसी दिशा में प्रेरित किया ।

बारह-तेरह वर्ष की आयु में उनका परिचय एक मेडीकल स्टोर के मालिक से हुआ । निःसन्तान होने के कारण वह अर्माद को बहुत प्यार भी करता था । इस मेडीकल स्टोर के मालिक ने उन्हें फोटोग्राफी का प्रशिक्षण दिया । अर्माद की वैज्ञानिक प्रयोगों में रुचि तो आरम्भ से ही रही थी । फोटोग्राफी सीखने के बाद अपने मुहल्ले के कसाई के यहाँ से हड्डियाँ लाकर उबालीं तथा उनमें से जिलेटिन निकाला जो फोटोग्राफी की प्लेटें तैयार करने में काम आता है ।

विज्ञान की दिशा में प्रेरित करने के लिए माता-पिता ने अर्माद को शुरू से प्रकृति के रहस्यों से परिचित कराना आरम्भ कर दिया था । इसका परिणाम यह हुआ कि अर्माद प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना सीख गये । चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में सूक्ष्म निरीक्षण के स्वभाव के परिणामस्वरूप अर्माद कई पेड़-पौधों तथा वनस्पतियों के बारे में इतना जानने लगे थे, जितना कि सामान्य युवक या प्रौढ़ व्यक्ति भी नहीं जानता है । फफूँद की सौ से भी अधिक जातियों तथा कुकुरमुत्ते की सैकड़ों किस्मों के बारे में वे अच्छी तरह जानते थे । यह भी इनमें से कौन-सी खाने योग्य है और कौन सी नहीं । इस जानकारियों ने उन्हें आगे चलकर बड़ा लाभ दिया । उन्होंने जंगली फलों के रस से एक एसिड तैयार किया जो फोटो प्लेटें डेवलप करने के काम आता है ।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर उन्होंने एनेसी और लियोन के विद्यालयों में आगे की पढ़ाई जारी रखी और उसके बाद एकोल पोलिटेक्निक कॉलेज में प्रवेश किया । यहाँ की परीक्षायें पास कर वे खनिज इंजीनियरी के महाविद्यालय में भर्ती हुए । वहाँ उनके अध्ययन का विषय था भूमि की स्तर रचना । इसकी स्नातक परीक्षा में वे सर्वोत्तम आये । इस प्रकार अर्माद को लगातार सफलता मिलती गई । निस्सन्देह इन सफलताओं का कारण उनका बुद्धि कौशल था । इसके अभाव में कोई और साधन चाहे कितने ही प्रभावशाली

और सशक्त क्यों न हों–व्यक्ति रईसों के पुत्र भी मन्दबुद्धि होने के कारण स्कूली परीक्षाओं व जीवन के क्षेत्र में असफल होते देखे गये हैं ।

शिक्षा समाप्त कर अर्माद के सामने व्यवसाय के चुनाव का प्रश्न खड़ा हुआ । वे नहीं चाहते थे कि उनकी उपार्जित योग्यता और प्रतिभा पैसे कमाने अथवा अपने ही लिए सुख–सुविधायें जुटाने के काम आये । वे अपने ज्ञान का लाभ अन्य औरों को भी देना चाहते थे इसीलिए उन्होंने निश्चय किया कि वे इसी कॉलेज में प्राध्यापकी करें । परन्तु उस समय वहाँ कोई पद रिक्त नहीं था ।

अर्माद इससे निराश नहीं हुए । सेवाभावी व्यक्तियों के लिए कई क्षेत्र खुले पड़े हैं जहाँ वे अपनी प्रतिभा का उपयोग कर समाज को लाभान्वित कर सकते हैं । ऐसे लोगों के सामने कभी 'नो वेकेन्सी' की समस्या नहीं रहती । उन्हीं दिनों क्लेरमोते फेर्राद में वैज्ञानिक शोधकर्त्ताओं की आवश्यकता हुई । अर्माद को पता चला और मालूम हुआ कि इन शोधकर्त्ताओं को फेर्राद के चश्मों का अध्ययन करना पड़ेगा क्योंकि चश्मों के पानी में कई रासायनिक तत्त्व मिले हुए हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिए आश्चर्यजनक रूप से लाभदायी सिद्ध हुए हैं । अर्माद ने अपना प्रार्थनापत्र सम्बन्धित अधिकारियों को दे दिया । अधिकारियों ने भी उनकी योग्यता, प्रतिभा और लगन देखकर उन्हें नियुक्त कर लिया ।

अर्माद यद्यपि एक रसायनशास्त्री थे फिर भी उन्होंने इस पानी का प्रयोग रोगग्रस्त चूहों पर किया । इन प्रयोगों के निष्कर्ष इतने महत्त्वपूर्ण थे कि फ्रान्स की 'मेडीकल एकेडमी ने उन्हें अपना सदस्य चुन लिया । चश्मों के पानी का अध्ययन समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने वहाँ की नौकरी छोड़ दी और रेलवे में नौकरी कर ली ।

रेलवे विभाग में एक जटिल समस्या उनकी प्रतीक्षा कर रही थी । उस समय रेल के इंजनों में वायलर लवण जम जाने के कारण जल्दी खराब हो जाया करते थे । जमे हुए लवणों को खुरचना भी बड़ा मुश्किल का काम था । अर्माद ने एक ऐसी चीज खोज निकाली जिसे पानी में मिला देने पर वायलरों में लवण जमते ही नहीं । इससे वायलर पहले से दुगने समय तक काम देने लगे ।

१९३८ में, फ्रान्स की रेलों का राष्ट्रीयकरण हुआ । अर्माद की तेजी से पदोन्नति होने लगी । किन्तु तभी विश्वयुद्ध छिड़ गया । जर्मनी ने फ्रान्स को विजित भी कर लिया । फ्रान्स ने तब तक काफी प्रगति कर ली थी । उसके विकसित साधनों का उपयोग कर जर्मनी पूरी यूरोप को जीतने के लिए प्रयत्न करने लगा । अर्माद ने तब देशभक्ति का जो परिचय दिया वह कई फ्रान्सीसी युवकों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया । अर्माद और उनके साथी जर्मन सेनाओं की कार्यवाही में बाधा डालने के लिए तोड़–फोड़ करने लगे । जर्मन की खुफिया पुलिस परेशान हो गयी । पूरे चार साल तक तोड़–फोड़ मूलक गतिविधियों के आयोजक लुई अर्माद पर हाथ भी नहीं डाल पाये । अपने बुद्धि कौशल के बल पर वे यहाँ भी सफल होते रहे ।

परन्तु जून, १९४४ में वे आखिर जर्मन की खुफिया पुलिस के हाथों पड़ ही गये और उनका कोर्ट मार्शल हुआ । सैनिक न्यायालय ने उन्हें मृत्यु दण्ड का फैसला सुनाया और उनको कारावास की काल कोठरी में डाल दिया । अर्माद के जीवन यह कारावास बड़ा महत्त्व रखता है उन्होंने मानसिक संतुलन को कभी डिगने नहीं दिया और लगातार यह सोचते रहे कि कभी ईश्वर की कृपा से मुक्त जीवन जीने का अवसर मिले तो वे फिर उसी निष्ठा के साथ राष्ट्र के नव निर्माण तथा मानव जाति के कल्याण के लिए प्रयत्न करेंगे । यहाँ तक कि उन्होंने कारावास में ही फ्रान्स की राष्ट्रीयकृत रेलों के विद्युतीकरण की योजना भी बना डाली ।

आखिर फ्रान्स विमुक्त हुआ । उस समय वहाँ की अस्सी प्रतिशत रेलवे सम्पदा नष्ट–भ्रष्ट हो चुकी थी । इन्जिन, यात्री डिब्बे, माल के डिब्बे और अधिकांश कारखाने बर्बाद हो गये थे । प्रधान इंजीनियर के पद पर नियुक्त कर फ्रान्स की सरकार ने उन्हें इन सब को पुनर्व्यवस्थित करने का गुरुतर भार सौंपा था । अर्माद को तो जैसे इन उत्तरदायित्वों से ही प्रेम था । अधिकांश लोग अपने अधिकारों की चिन्ता करते हैं परन्तु जो उनकी ओर ध्यान न देकर अपने कर्त्तव्य पालन का ही ध्यान रखते हैं उन्हें अधिकार के साथ–साथ अन्य अमूल्य उपहार भी स्वयमेव ही मिल जाते हैं ।

अर्माद ने रेलों को पुनर्व्यवस्थित करने के साथ–साथ ही उनके विद्युतीकरण की योजना भी सरकार के सामने रखी । उस समय विद्युत इन्जनों में हल्के वोल्ट का करैण्ट ही काम में लाया जाता था । अर्माद ने ऐसी विधि खोज निकाली जिससे इन्जनों में औद्योगिक करेण्ट का उपयोग किया जाने लगा और भी कई सुधारों के कारण विद्युतीकरण का खर्च बहुत घट गया । आज सारा संसार उस विधि का लाभ उठा रहा है ।

कुछ समय बाद उन्हें रेलवे बोर्ड का डायरेक्टर जनरल और बाद में अध्यक्ष बनाया गया । इन पदों पर रहकर उन्होंने महत्त्वपूर्ण कदम उठाये । अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यूरोपीय देशों को यातायात के मामले में एकीकरण के लिए तैयार कर लिया । पहले होता यह कि दूसरे देश में माल भेजने के लिए सीमा पर माल को उस देश की वैगनों में भरा जाता था । इससे समय और श्रम का अनावश्यक अपव्यय होता था । अर्माद ने यूरोपीय देशों में यह परम्परा बनायी कि वही वैगनें दूसरे देशों में भी आने–जाने लगीं । इससे वैगनों का पूर्ण उपयोग भी होने के साथ–साथ पश्चिमी यूरोप का यातायाती एकीकरण हो गया ।

मशीनों के सम्बन्ध में अहर्निश सोचते रहने के बावजूद भी उनकी एक मूल मान्यता मशीनों के मूल्यांकन और महत्त्वबोध को स्पष्ट कर देती है । वे मानते हैं कि आधुनिक युग में यन्त्रों का अपना महत्व है परन्तु उनका विचार है कि ये यंत्र तो मानव जाति को सुखी बनाने के साधन मात्र हैं जहाँ उसके अस्तित्व शक्ति और मूल स्वरूप

को कोई हानि पहुँचाने लगती है अर्मांद वहाँ यांत्रिक सभ्यता के सबसे बड़े विरोधी हैं। वस्तुतः आज तक युद्ध जीतने या धन कमाने की आकांक्षा ने ही आविष्कारकों को प्रेरणा दी है। इसी मूल आकांक्षा का परिणाम एक से एक बढ़-चढ़ कर संहारक अस्त्र, विनाशकारी अणु-परमाणु बम आदि वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं। परन्तु अर्मांद विज्ञान के इस स्वरूप के घोर विरोधी हैं। वे मानते हैं कि मानव मात्र का हित साधन विज्ञान का आधार होना चाहिए।

अपने साथी इंजीनियरों को भी वे आर्थिक लाभ को गौण मानकर काम करने के लिए प्रेरित करते हैं और कहते हैं कि हमें तकनीकी दृष्टि से सम्भव और आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद योजना पर भी इस कसौटी पर कसने के बाद विचार करना चाहिए कि वे औसत आदमी को कितना लाभ पहुँचाती हैं।

इसीलिए उन्होंने १९५८ में यूरेटस योजना बनायी जिसके अनुसार औद्योगिक क्षेत्र में अणुशक्ति का उपयोग करने के लिए पश्चिम यूरोप के कई देशों ने मिलकर प्रयास आरम्भ किये। मानवमात्र के हित साधक, विचारों से उदार और आदर्शवादी लुई अर्मांद को फ्रान्सीसी जनता इतना अधिक प्यार करती तो उसे मात्र संयोग नहीं कहा जाना चाहिए। वास्तव में इस प्यार की कीमत उन्होंने स्वयं को ही समर्पित कर चुकाई है।

राजनीति के क्षेत्र में भले ही उसकी कोई दिलचस्पी न रही हो परन्तु वे किसी भी राजनेता से अधिक समय तक याद किये जाते रहेंगे।

जिन्होंने सामन्तशाही के विरुद्ध आवाज उठायी—

लू–शुन

लू-शुन की मृत्यु के बाद उन्हें श्रद्धांजलि-देते हुए चीन के राष्ट्राध्यक्ष माओत्से तुंग ने कहा था वे सौंस्कृतिक क्रान्ति के महान सेनापति और वीर सेनानी थे। वे केवल लेखक ही नहीं वरन् एक महान विचारक और क्रांतिकारी भी थे, एक ऐसे तपे हुए असाधारण राष्ट्रीय वीर जो प्रतिभाशाली तत्वों से संघर्षों को अपना कर्त्तव्य मानकर जूझते रहे।

ये शब्द उस समय कहे गये जब माओ स्वयं भी एक क्रांतिकारी सैनिक के रूप में काम कर रहे थे। सन् १९३६ में चीन में परिवर्तनों का दौर-दौरा चल रहा था। जर्जर और अस्त-व्यस्त समाज व्यवस्था तथा शासनतन्त्र को तीव्र कर नये समाज की रचना के प्रयत्न चल रहे थे। तो ऐसे समय में अर्पित किये गये ये श्रद्धासुमन इस बात के प्रतीक नहीं हो सकते थे कि लू-शुन चीन के वर्तमान शासकों के अन्धभक्त या अन्ध समर्थक रहे हों। उस समय जब सामान्य जनता और बुद्धिजीवी हर कोई शिक्षण तथा उत्पीड़न का शिकार हो रहा था। यद्यपि स्वदेशी शासन व्यवस्था थी परन्तु सामन्तों तथा जागीरदारों का समाज में इतना प्रभुत्व था कि उसका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं था।

उस समय में इन तत्वों के खिलाफ आवाज उठाने का एक ही अर्थ था घुट-घुट कर मर जाने के लिए मृत्यु को निमन्त्रण। इसलिए ऐसा दुस्साहस शायद ही किसी का होता हो और जो यह दुस्साहस करता भी उसे बड़ी नारकीय स्थिति में जीना पड़ता। कुछेक आदर्शवादी और सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति ऐसा साहस करते भी तो भूख, बेकारी और पत्नी-बच्चों की कराह उन्हें जल्दी ही तोड़ देती। इन सब सम्भावनाओं के बावजूद भी लू-शुन ने चीन के नागरिकों को नये जीवन का सन्देश दिया तथा नये समाज के सृजन का आह्वान किया।

उपरोक्त परिस्थितियों का चित्रण करते हुए उन्होंने एक मार्मिक कहानी लिखी है—"भूतकाल का पश्चाताप"। जिसमें उनका यह आक्रोश बड़ी तीव्रता से व्यक्त हो उठा है। इस कहानी का नायक शिक्षित है और लेखक भी। बदलती परिस्थितियों में वह मितव्ययिता से अपना गुजारा चलाने का प्रयत्न करता है परन्तु परिस्थितियों से तालमेल नहीं बैठता। नायक की मनःस्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है इस कहानी में, उसे कोई काम नहीं मिलता। वह सोचता है कि जब मेरे पास आजीविका का कोई साधन नहीं है तो मैं अपनी पत्नी से प्रेम भी कैसे कर सकता हूँ और वह अपनी पत्नी को कहीं और भेज देता है—जहाँ वह मर जाती है। पत्नी के देहान्त का समाचार पाकर नायक अवाक् रह जाता है। इस स्थिति में एक सिद्धान्तनिष्ठ व्यक्ति की क्या मनोदशा होगी, यह तो उसी स्तर का व्यक्ति अनुभव कर सकता है। लू-शुन सोचता है, उसके विचार बदलते हैं और वह विचार बदलने के साथ-साथ अपनी जीवन-दशा भी बदल देता है। उन निर्णायक क्षणों में वह कहता है कि निस्सन्देह इन परिस्थितियों से समझौता करने के लिए मुझे अपने हृदय को घायल करना पड़ेगा परन्तु जीने के लिए मुझे अपने घायल हृदय में सत्य को छिपाना ही पड़ेगा। जीने का एक यही रास्ता है कि अपने जीवन-दर्शन को भुलाकर असत्य को ही अपना मार्गदर्शक बनाना पड़ेगा। इस कहानी के शिल्प और भाषा में इतना करारा और तीव्र व्यंग्य किया गया था कि जो लोग उसका निशाना बने वे तिलमिला उठे। लू-शुन जानते थे कि नौकरशाही को नाराज कर उसके क्या कुपरिणाम भोगना पड़ेंगे। जानबूझ कर खतरा मोल लेना तो वस्तुतः एक बड़े साहस की बात है। अनजाने आ गये खतरों से साधारणतः बचाव ही करना पड़ता है, उससे व्यक्तित्व का उतना उत्कर्ष नहीं होता जितना कि जानबूझ कर खतरों को निमन्त्रण देने और उनसे जूझने में।

ऐसे संघर्षशील तपस्वी साहित्यकार लू-शुन का जन्म सन् १८८१ में चीन से चेकियांग प्रांत के शाओशिंग नगर में एक सामन्ती परिवार में हुआ था। उनके माता-पिता

सम्पन्न और समृद्ध होने के साथ-साथ विद्वान और उदार व्यक्तित्व के भी थे । लू-शुन का बचपन का नाम चाओ-शैरेन था । उनके व्यक्तित्व पर माता का अधिक प्रभाव रहा था । जिसका नाम लू था । पिता कठोर अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे । नियमों और मर्यादाओं में तनिक-सा ढीलापन भी उन्हें बर्दाश्त नहीं होता । इसी विशेषता के कारण वे कभी-कभी तो अपनी पत्नी के प्रति भी कठोर रूप हो जाया करते थे । माँ के सहृदय निकट सानिध्य में रहने से चाओ स्वयं को पिता के स्वभाव से सुरक्षित अनुभव करते और वे प्रभावित भी अपनी माँ से ही अधिक रहे । इसी कारण उन्होंने आगे चलकर लू-शेन के नाम से लेखन कार्य आरम्भ किया ।

छहवर्ष की अवस्था में उन्हें स्कूल में भर्ती करवाया गया । उन्हें जो अध्यापक मिला था वह बहुत अच्छे ढंग से कहानियाँ कहना जानता था । अध्यापक की सुनाई हुई कहानियों ने लू-शुन का रुझान कहानी विधा की ओर मोड़ा । कथा-कहानी सुनने और सुनाने में उन्हें बड़ा मजा आता । कालान्तर में उनकी रुचि चित्रकला में भी हुई लेकिन कहानी की ओर उनकी रुचि ज्यों की त्यों ही बनी रही । ११ वर्षों में लू-शुन ने इस स्कूल की पढ़ाई पूरी करली और नानकिंग के एकेडमी स्कूल में प्रविष्ट हुए ।

यहाँ उन्होंने चार वर्ष तक पाठ्य-पुस्तकों के साथ पाठयक्रमेतर साहित्य भी पढ़ा । विदेशी लेखकों और साहित्यकारों द्वारा लिखी गयी पुस्तकें उन्हें विशेष रूप से अच्छी लगती थीं । विदेशी साहित्य का अध्ययन करते समय वे यह भी सोचते कि चीनी भाषा में ऐसे साहित्य का वस्तुतः अभाव था । विदेशी साहित्यकारों की इन कृतियों को देखकर ही उन्होंने चीनी भाषा में सृजनात्मक साहित्य लिखने की प्रेरणा जागी । उस समय के संस्मरण लिखते उन्होंने एक स्थान पर कहा-जब कभी मैं कोई चीनी पुस्तक पढ़ता तो मुझे लगता था कि जैसे मैं मानवीय अस्तित्व का अंश नहीं हूँ । परन्तु विदेशी पुस्तकें पढ़ते समय मुझे बड़ी तीव्रता से यह अनुभूति होती है कि मैं मानवीय अस्तित्व के सम्पर्क में आ गया हूँ और मेरे शरीर में विद्युत-सी दौड़ने लगती । निस्सन्देह यह चीनी साहित्य की दीनता थी और इस दीनता को दूर करने के लिए मेरे अन्तःकरण में निरन्तर प्रेरणायें उठती रहती थीं ।

लू-शुन ने सन् १९०१ में बी० ए० पास किया और सरकारी छात्रवृत्ति पर पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा दर्शन और साहित्य का अध्ययन करने के लिए जापान चले गये । इन विषयों के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने जापानी जन-जीवन का अध्ययन भी किया जो प्रखर रूप से राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत था । वहाँ के नागरिकों की तुलना जब वे चीनी नागरिकों से करते तो दुःख और वेदना के कारण उनकी आँखें नम हो जातीं और वे सोचते कि चीनी जनता की यह उदासीनता न जाने कब दूर होगी । आठ वर्ष तक जापान में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर जब वे चीन लौटे तो उनकी वेदना और अधिक बढ़ गयी तथा उन्होंने संकल्प लिया कि वे लोगों की शारीरिक चिकित्सा के स्थान पर मस्तिष्कीय, भावनात्मक-चिकित्सा, चेतना की चिकित्सा के लिए प्रयत्न करेंगे । शरीर के स्वास्थ्य की अपेक्षा मनुष्य का मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसी की प्राप्ति के लिए साहित्य ही सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम सिद्ध हो सकता है । लू-शुन ने ऐसी स्थिति में डॉ० बनने की अपेक्षा शाओशिंग स्कूल में अध्यापक हो गये ।

सन् १९११ में क्रांतिकारी लहरें उठने लगीं । इस क्रान्ति से राजवंशों का खात्मा तो हुआ लेकिन साम्राज्य-वाद और सामन्तवाद का उन्मूलन नहीं हो सका । सामन्ती समाज का प्रभाव और प्रभुता ज्यों की त्यों बनी रही । इस स्थिति को उलटने के लिए लू-शुन ने अपनी कलम उठायी और ऐसे तत्वों से लोहा लेने लगे । वे शाओशिंग से पेकिंग आ गये । पेकिंग उन दिनों साहित्यिक और सांस्कृतिक हलचलों का केन्द्र बना हुआ था । लू-शुन को सरकारी शिक्षा विभाग में एक अच्छा पद मिल गया तथा आगे चलकर १९१९ में वे जब पेकिंग विश्वविद्यालय में अध्यापक बने तो 'नवयुवक' पत्र का सम्पादन भी करने लगे ।

यह पत्र लू-शुन की साहित्यिक गतिविधियों का प्रमुख माध्यम बना । इसी के माध्यम से पुरानी जर्जर व्यवस्था को नष्ट करने तथा नवसृजन के लिए युवकों और विद्यार्थियों को प्रेरणा दी व उनका मार्गदर्शन किया । जब लगा कि यह आंदोलन कुछ समय में पुरानी व्यवस्था के लिए चिंतनीय समस्या बन जायेगा तो सन् १९२६ ई० में इसका तीव्र दमन किया गया । इसी दमन के परिणामस्वरूप लू-शुन को पीकिंग विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग से पृथक भी होना पड़ा ।

बचपन की अभिरुचि से विकसित कथा-शिल्प की प्रतिभा को उन्होंने और माँज कर निखारा तथा वे कहानियाँ लिखने लगे, ये कहानियाँ तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर लिखी गयीं । अपनी लेखनी द्वारा उन्होंने सामन्ती व्यवस्था पर करारे प्रहार किये । उन्होंने दोनों पक्षों का ध्यान रखा । पहला पक्ष तो था उन व्यवस्था से पीड़ित लोगों का जो शोषण के इस चक्र में बुरी तरह पिस चुके थे और पिसते जा रहे थे उनका करुणार्द्र चित्रण तथा दूसरा इसका विकल्प प्रतिपादन । वर्तमान व्यवस्था को तोड़ा जाय तो इसके स्थान पर किया क्या जाय ?

पहले पक्ष में उन्होंने शोषित और उत्पीड़ित वर्ग का बड़ा ही करुण तथा मार्मिक चित्रण किया । जो आज भी इतना सजीव है कि पढ़कर नेत्र सजल हो उठें । सन् १९२८ में शंघाई आकर रहने लगे । उन्होंने यहाँ रहकर समाजवाद के सिद्धान्तों का अध्ययन किया । इस पक्ष को जन-साधारण के सामने रखने के लिए उन्होंने आलोचनात्मक निबन्ध तथा ऐतिहासिक कहानियाँ

लिखीं । अन्य देशों की रचनाओं का साहित्यानुवाद प्रकाशित किया । उनकी कहानियाँ पढ़कर तिलमिला उठा हृदय समाधान पाकर तृप्त सा हो जाता । मात्र तृप्त ही नहीं वरन् एक दिशा भी प्राप्त कर लेता था ।

इस प्रकार उन्होंने समाजवादी क्रांति की सम्भावनाओं को मजबूत बनाया । यह सच है कि कोई भी परिवर्तन चाहे बड़ा हो या छोटा विचारों के रूप में ही जन्म लेता है । मनुष्यों और समाज की विचारणा तथा धारणा में जब तक परिवर्तन नहीं आता तब तक सामाजिक परिवर्तन भी असम्भव ही है और कहना यही होगा विचारों के बीज साहित्य के हल से ही बोये जा सकते हैं । लू-शुन ने चीनी जनता को समृद्ध व सुखी बनाने के लिए इसी कृषि उपकरण का सफल प्रयोग किया ।

सितम्बर, १९३६ में लू-शुन का देहान्त हो गया । परन्तु उन्होंने चीनी भाषा के साहित्य को जो समृद्धि और सम्पन्नता दी वह चिरस्मरणीय है ।

व्यवस्थित जीवन की कुञ्जी—समय की पाबन्दी—

जार्ज वाशिंगटन

नियमपूर्वक तथा समय पर काम करने से सब काम भली प्रकार हो जाते हैं । जो लोग समय के पाबन्द नहीं होते उनके काम आधे-अधूरे और हमेशा धमा-चौकड़ी मची रहती है । काम अच्छी तरह समाप्त हो जाता है तो उत्साह भी मिलता है और प्रसन्नता भी होती है । काम पूरा न होने से असन्तोष और अप्रसन्नता होती है, इसलिये विचारवान व्यक्ति सदैव समय का पालन करते हैं । इस तरह दूसरी व्यवस्थाओं और प्रबन्ध के लिये भी समय बनाये रखते हैं ।

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन के जीवन की एक घटना से समय की पाबन्दी की उपयोगिता का प्रकाश मिलता है । एक बार उन्होंने कुछ मेहमानों को तीन बजे भोजन के लिये आमन्त्रित किया । साढ़े तीन बजे सैनिक कमाण्डरों की एक आवश्यक बैठक में भाग लेना था ।

नौकर जानता था कि जार्ज साहब समय की नियमितता को कितनी दृढ़ता से निबाहते हैं । ३ बजे ठीक मेज तैयार हो गई । सूचना दी गई भोजन की मेज तैयार है । तीन बज गये, अभी तक मेहमान नहीं आये ।

एक बार ही वाशिंगटन के मस्तिष्क में एक चित्र उभरा-''मेहमानों की प्रतीक्षा न की गई तो वे अप्रसन्न हो जायेंगे । तो फिर क्या बैठक स्थगित करें । यह समय सारे राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित है । क्या अपनी सुविधा के लिये राष्ट्र का अहित हो सकता है ? क्या राष्ट्र हित को दो-तीन व्यक्तियों की अप्रसन्नता के लिये उत्सर्ग करना बुद्धिमानी होगी ।''

हृदय ने दृढ़तापूर्वक कहा-''नहीं नहीं, जब परमात्मा अपने नियम से एक सेकण्ड आगे-पीछे नहीं होता, जिस दिन जितने बजे सूरज को निकलना होता है, बिना किसी की परवाह किये वह उतने ही समय उग आता है तो मुझे ही इस ईश्वरीय आदेश का पालन करने में संकोच या भय क्यों होना चाहिए ?''

ठीक है-नौकर को सम्बोधित कर उन्होंने कहा- शेष प्लेटें उठा लो हम अकेले ही भोजन करेंगे । मेहमानों की प्रतीक्षा नहीं की गई ।''

आधा भोजन समाप्त हो गया तब मेहमान पहुँचे । उन्हें बहुत दुःख हुआ देर से आने का, कुछ अप्रसन्नता भी हुई । वे भोजन में बैठ गये तब तक वाशिंगटन ने अपना भोजन समाप्त किया और निश्चित समय विदा लेकर उस बैठक में भाग लिया ।

मेहमान इसी बात पर रुष्ट थे कि उनकी १५ मिनट प्रतीक्षा नहीं की गई, अब उन्हें और भी कष्ट हुआ क्योंकि मेजबान भोजन समाप्त कर वहाँ से चले भी गये । किसी तरह भोजन करके वे लोग भी अपने घर लौट गये ।

सैनिक कमाण्डरों की बैठक में पहुँचने पर उन्हें पता चला कि यदि वे नियत समय पर नहीं पहुँचते तो अमेरिका के एक भाग में भयंकर विद्रोह हो जाता । समय पर पहुँच जाने के कारण स्थिति सम्हाल ली गई और एक बहुत बड़ी जन-धन की हानि को बचा लिया गया ।

इस बात का पता कुछ समय बाद उन मेहमानों को भी चला तो उन्हें समय की नियमितता का महत्त्व मालूम पड़ा । उन्होंने अनुभव किया प्रत्येक काम निश्चित समय पर करने, उसमें आलस्य-प्रमाद या ढील न देने से भयंकर हानियों को रोका जा सकता है और जीवन को सुचारु ढंग से जिया जा सकता है ।

वे फिर से राष्ट्रपति के घर गये और उनसे उस दिन हुई भूल की क्षमा माँगी । राष्ट्रपति ने कहा-''इसमें क्षमा जैसी तो कोई बात नहीं है पर हाँ जिन्हें अपने भोजन की व्यवस्था, परिवार, समाज और देश की उन्नति का ध्यान हो उन्हें समय का कड़ाई से पालन करना ही चाहिए ।''

परिश्रम करना गौरव की बात है हीनता की नहीं—

अमेरिका में स्वतन्त्रता संग्राम चल रहा था । सुरक्षा की दृष्टि से एक किले की मरम्मत हो रही थी । मरम्मत के काम में संलग्न एक सैनिक टुकड़ी अपने नायक की देख-रेख में एक बड़ा लट्ठा दीवार पर चढ़ाने की कोशिश कर रही थी । लट्ठा ज्यादा भारी था इसलिये वह चढ़ नहीं रहा था । टुकड़ी का नायक सैनिकों पर झल्लाता, उन्हें डाँटता और कभी-कभी उत्साहित भी करता । किन्तु कोई फल न निकलता था । तभी एक घुड़सवार उधर से निकला

यह दृश्य देखकर उसने नायक से कहा–"महोदय ! यदि आप भी इसमें हाथ लगा दें तो यह लट्ठा शीघ्र ही दीवार पर चढ़ जाये ।"

नायक ने भौंहें तानकर कहा–"यह आप क्या कहते हैं जानते नहीं मैं इस टुकड़ी का नायक हूँ ।" घुड़सवार अपने शब्द वापस लेकर घोड़े से उतर पड़ा और अपना कोट उतार कर सैनिकों के साथ काम में जुट गया । लट्ठा बात की बात में दीवार पर चढ़ गया ।

सवार ने आकर अपना कोट पहना, हैट लगाया और घोड़े पर सवार हो लिया तभी नायक ने उसे धन्यवाद दिया ! सवार ने नायक से कहा कि धन्यवाद की आवश्यकता नहीं है । किन्तु यदि आपको कभी इस प्रकार परिश्रम के कामों में अड़चन हो तो मुझे इस पते से याद कर लिया करें ।

"वाशिंगटन–प्रधान सेनापति अमेरिका ।" इसके पूर्व ही कि हक्का-बक्का हुए नायक के मुँह से कोई शब्द निकले वाशिंगटन यह कहकर आगे बढ़ गये–"परिश्रम करना गौरव की बात है हीनता की नहीं ।"

सभ्यता का स्तर

अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन अपने कुछ मित्रों के साथ कहीं जा रहे थे । मार्ग में एक हब्शी ने अपनी टोपी उतार, अदब से झुककर उनका अभिवादन किया । प्रत्युत्तर में जार्ज वाशिंगटन ने भी उसी ढंग से अभिवादन किया । उनके मित्रों को यह बुरा लगा बाद में अवसर मिलने पर कहा–"आपको ऐसा करना कोई आवश्यक नहीं था ।" इस पर वे बोले–"राष्ट्रपति होने का मतलब यह तो नहीं कि कोई सभ्यतापूर्वक अभिवादन करे उसका उत्तर भी न दिया जाय ।" एक अनपढ़ हब्शी झुककर नमस्कार करता है तो यह उसकी सभ्यता है पर एक पढ़ा-लिखा सभ्य जो अमेरिका का राष्ट्रपति है वह उनका वैसा ही प्रत्युत्तर न देता तो यह असभ्यता ही होती ।"

शान्ति, स्वतन्त्रता का अमर उपासक–

विलियम पेन

विश्व-मानव को समृद्ध, आश्वस्त और सुखी बनाने के लिए नूतन आदर्श व सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वालों को काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता । भविष्य के ये द्रष्टा अपने गहन चिन्तन के परिणाम स्वरूप ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित कर जाते हैं जो उनके समय में सर्वथा काल्पनिक व अव्यावहारिक लगते हैं, किन्तु आगे जाकर वे ही व्यवस्था में आते हैं–उन्हें कार्यान्वित किया जाता है । ऐसे ही एक व्यक्ति थे विलियम पेन जिन्होंने आज से २५० वर्षों पहले व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिये ब्रिटिश शासन से संघर्ष किया था । उन्होंने प्रजातन्त्र व स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि तैयार की थी । इस प्रतिपादन के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रसंघ की योजना भी बनाई थी ।

विलियम पेन का जन्म लन्दन में सन् १६४४ में हुआ था । उन दिनों व्यक्ति की आत्मा पर भी राजा का पहरा होता था । इंग्लैण्डवासियों को वही धर्म मानना होता था जो उनके राजा को पसन्द होता था । व्यक्ति की श्रद्धा व विश्वास पर पहरे बिठाये हुये थे । विलियम ज्यों-ज्यों वयस्क होते गये त्यों-त्यों उन्हें यह बन्धन अखरने लगे । घर में कमी कुछ भी नहीं थी, उनके पिता ब्रिटिश नौ सेना में एडमिरल थे । भविष्य में उनके लिए भी उच्च पद मिलना सुनिश्चित था किन्तु सोने के पिंजरे में रहकर भी पक्षी उस आनन्द से वंचित ही रहता है जो उसे स्वतन्त्र रहकर प्रकृति की गोद में उन्मुक्त विचरण से मिल सकता है ।

चौबीस वर्ष की आयु में ही उन्हें 'लन्दन टावर' नामक कारावास की सैर करनी पड़ी । उसका कारण उनका क्वेकर (शान्ति संगठन) नामक सम्प्रदाय का अनुयायी बनना था, जो राजाज्ञा के अनुसार प्रतिबन्धित था । क्वेकर सम्प्रदाय के सदस्यों को राजा के विधान द्वारा क्रूर यातनाएँ दी जाती थीं ।

पिता ने अपने पुत्र से बड़ी-बड़ी लौकिक कामनाएँ लगा रखी थीं । उनका सपना उनके पुत्र को ब्रिटिश शासन तन्त्र के उच्चधिकारी के रूप में देखने का था । किन्तु विलियम के कार्य-कलापों से उनका यह स्वप्न चूर-चूर हो गया । उन्होंने उसे बुरी तरह तिरस्कृत किया, मारा-पीटा भी पर वह अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ थे । इसी कारण उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से भी निष्कासित कर दिया गया ।

नौ महीने के सश्रम कारावास ने उनके संकल्पों को दृढ़ ही किया था डिगाया नहीं । क्योंकि यह उनके अकेले की समस्या नहीं थी लाखों व्यक्ति इस अन्याययुक्त कानून से अपने धर्म, विश्वास तथा निष्ठा को बनाए नहीं रख सकते थे । जन-जन की इस पीड़ा को अपने हृदय में स्थान देने के कारण ही वे इतने दृढ़ बन सके थे ।

जेल से मुक्त होते ही उन्होंने ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, हालैण्ड आदि देशों की यात्रा की । उन्होंने स्थान-स्थान पर जनसभाएँ आयोजित करके लोगों को अपनी अंतःप्रेरणा को अभिव्यक्त करने के माध्यम धर्म को राज्य के कारागृह से मुक्त कराने का उद्‌बोधन दिया । इन जन सभाओं में अधिकांश क्वेकर मतावलम्बी आते थे या वे लोग आते थे जो अपने खोये हुए अधिकारों को पाना चाहते थे । इनकी संख्या हजारों में होती थी ।

लन्दन में अपने हजारों अनुयायियों की एक सभा में भाषण देते समय ब्रिटिश सरकार के सिपाहियों ने सभागृह के ताले डाल दिये । विलियम पेन को पकड़ लिया गया ।

उन्हें न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया गया । इस तथाकथित न्यायालय में इस प्रकरण के समय जो कुछ हुआ वह न्याय के नाम पर अन्याय ही था ।

न्यायाधीश सर सेमुअल स्टार्लिंग लार्ड मेयर ऑफ लन्दन ने उनसे कहा–'तुम्हें राजाज्ञा उल्लंघन का अपराधी पाया गया है ।''

विलियम पेन ने न्यायालय को चुनौती देते हुए कहा–''प्रश्न यह नहीं है कि मैं अपराधी हूँ या नहीं । प्रश्न यह है कि मुझे जिस प्रकार पकड़कर यहाँ अपराधी के कटघरे में खड़ा कर दिया है क्या वह वैधानिक है ?''

विलियम पेन के इस उत्तर को सुनकर न्यायाधीश क्रोध से जल उठा । उसने पेन को अभद्र वचन कहते हुए सिपाहियों से उसे जानवरों के कटघरे में बन्द करवा दिया । पेन का उद्देश्य इंग्लैण्डवासियों में स्वतन्त्रता की भावना जगाना था । कटघरे में बन्द करके भी उनकी आवाज को तो बन्द नहीं किया जा सकता था । उन्होंने जूरी से अनुरोध करते हुए कहा–''देखिये आप लोग ब्रिटेन-वासी हैं । किस प्रकार एक भद्र व्यक्ति को जानवरों के कटघरे में बन्द किया गया है । क्या यह न्याय है ? आप अपने अधिकारों को छोड़ियेगा नहीं । यह मेरी ही बात नहीं एक सम्मानित देश के सामान्य नागरिक की बात है ।''

जूरी ने पेन को निर्दोष घोषित किया । क्रुद्ध न्यायाधीश ने उन्हें साम, दाम, दण्ड और भेद सभी नीतियों से अपने निश्चय से डिगाना चाहा पर वे अटल रहे । उन्हें मारा गया तथा उन्हें न्यायालय का अपमान करने का अपराधी मानकर जेल में डाल दिया । बाद में उन्होंने न्यायाधीश पर मुकदमा दायर किया और वे जीते ।

विलियम पेन को पाँच बार जेल जाना पड़ा । जेल में भी उनका चिन्तन–मनन चलता रहा । इस समय में उन्होंने अपने सिद्धान्तों को व्यवस्थित स्वरूप दिया । नयी-नयी योजनाएँ बनायीं । जेल की दीवारों पर अपने सिद्धान्तों को लिखा । वह एक सम्प्रदाय के नेता से ऊपर उठकर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के जनक बन गये । उनकी ख्याति देश–विदेश में फैल गयी । यह उनकी उस धीरता का परिणाम था कि जेल भी उनके लिए वरदान बन गयी ।

वे जेल से बाहर निकले तो यूरोप के एक सशक्त लोकप्रिय व्यक्तित्व के धनी थे । उन्हें पीटर के समान महान माना गया । चार्ल्स द्वितीय, जेम्स द्वितीय, विलियम ऑफ ओरेंज तथा रानी एनी जैसे राज परिवार के लोग भी उनके प्रशंसक बन चुके थे । अपने इस प्रभाव से उन्होंने कितने ही लोगों को अन्याय के दमनचक्र से छुड़ाया ।

कुछ लोगों के कहने पर उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में भी जमने का प्रयास किया । उनका यह विश्वास था कि सुशासन लाने के लिए राजनीति में दखल रखना भी आवश्यक है । किन्तु दो चुनावों के परिणाम देखकर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि दो नावों पर पाँव रखकर चलने पर धोखा भी खाना पड़ता है । उनके उम्मीदवार दो बार उचित–अनुचित दोनों तरीके काम में लाने के कारण हार गये । सच तो यह है कि बिना नैतिकता व आदर्शों की पुनर्प्रतिष्ठापना के समाज की समग्र प्रगति नहीं हो सकती । अतः उन्होंने 'एकै साधे सब सधे' की उक्ति के अनुसार ही कार्य करना आरम्भ किया ।

अपने 'पवित्र प्रयोग' के लिए उन्होंने इंग्लैण्ड छोड़कर अमेरिका को चुना । चार्ल्स द्वितीय से उन्होंने ५०,००० पौण्ड में अमेरिका के एक विस्तृत भूभाग को खरीदा । व्यक्ति, समाज, देश और विश्व को सुनियोजित कड़ियों में जोड़ने और अपने उस चिन्तन को एक व्यावहारिक रूप देने का कार्य किया, जिसे उन्होंने जेल की काल कोठरी में बैठकर किया था । यह प्रदेश डेल्वेयर नदी के पास था तथा क्षेत्रफल में इंग्लैण्ड जितना ही बड़ा था । यहाँ के निवासी रेड इण्डियन, डच, स्वीडिश तथा ब्रिटिश थे । यहाँ कोई व्यवस्थित सरकार नहीं थी । यहीं उसने अपने सिद्धान्तों का बीज रूप में रोपण किया जो कालान्तर में फले फूले ।

१६८२ में अक्टूबर माह में विलियम पेन का डेल्वेयर नदी के तटवर्ती प्रदेश में पदार्पण हुआ । इस प्रदेश के निवासियों ने उनका बड़े जोर-शोर से स्वागत किया । उनके विचार, सिद्धान्त तथा ख्याति उनके आने के पहले ही यहाँ फैल चुकी थी । उन लोगों ने उस प्रदेश का नामकरण संस्कार उन्हीं के नाम पर पेन्सिलवेनिया कर दिया । आज यह प्रदेश संयुक्त राज्य अमेरिका की समृद्धतम स्टेट है किन्तु उस समय यहाँ विशाल जंगल था ।

यहाँ उन्होंने अपने उन महत्त्वपूर्ण स्वप्नों को साकार करना आरम्भ किया । १०,००० एकड़ में फिलडेल्फिया नगर की योजना बनाई । यह एक बालक के उत्साह जैसा ही कार्य था । इतने बड़े नगर में रहने वाले कहाँ से आयेंगे अतः अनुभवी लोगों ने उन्हें १,२०० एकड़ में ही नगर बसाने की सलाह दी । किन्तु आज वह नगर उनके अनुमान से अधिक फैल चुका है । प्रत्येक मकान का अपना बगीचा और प्रत्येक सड़क वृक्षों से ढकी हुई बनायी गयी थी ।

उनके सुशासन में सभी प्रकार से सुख-शान्ति थी । आदिवासी रेड इण्डियन तथा अन्य योरोपीय देशों से आकर बसने वाले लोग भाईचारे से रहते थे । पेन ने इस कोलोनी का अपना एक संविधान बनाया था । इसमें प्रत्येक नागरिक को अपने वैयक्तिक अधिकार मिले हुए थे । चुनाव द्वारा पार्षद चुने जाते थे तथा वे स्टेट का प्रबन्ध करते थे । प्रत्येक वयस्क को मताधिकार था । सभी को समान रूप से न्याय मिलने की व्यवस्था थी । धर्म व संस्कृति के मामले में सरकार कोई दखल नहीं देती थी ।

पेन ने न्यायपालिका को राज्यपालिका के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखा । वहाँ के न्यायालय में रेड इण्डियनों को भी जूरी में स्थान दिया था ।

प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता ही नहीं आत्मनिर्भर तथा समृद्ध बनाने की सुविधाएँ भी उसने पेंसिलवेनिया के

नागरिकों को प्रदान की । पेंसिलमेनिया में कलाकारों, कारीगरों तथा योग्य कृषकों को बसने की पूरी-पूरी सुविधाएँ जुटाई गयीं । जहाज निर्माण, खनिज दोहन तथा फल के व्यापार को प्रोत्साहन दिया गया ।

कालोनी में शिक्षा व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध था । गरीबों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी । यह शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान की परिधि में ही नहीं सिमटी हुई थी वरन् जीवन के समग्र विकास की कसौटी पर भी खरी उतरती थी । रूढ़िवाद तथा निरर्थक परम्पराओं से जनता को मुक्त रखा गया ।

पेन का अपना परिवार सुखी तथा सम्पन्न था । उन्होंने पेंसिलवरी में अपना सुन्दर मकान बनाया तथा अपने परिवार के साथ आनन्दपूर्वक वहाँ रहे । १७०१ में उन्हें अपनी कालोनी की प्रगति के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड आना पड़ा । उसके बाद वे पुनः अमेरिका नहीं लौट सके ।

अपने 'एन ऐसे ऑन दी प्रजेण्ट एण्ड फ्यूचर पीस ऑफ यूरोप' (यूरोप की वर्तमान तथा भविष्य सम्बन्धी शान्ति पर एक लेख)नामक दस्तावेज में उन्होंने अपने गहन चिन्तन के आधार पर विश्व-शान्ति के सम्भाव्य हल तथा युद्ध की विभीषिका से मुक्ति का मार्ग सुझाया यह दस्तावेज आज भी विश्व-शान्ति के लिये पथ प्रदर्शन कर सकता है । उनमें से बहुत-सी बातें अब अपनायी जा रही हैं ।

उस काल में राज्य-तन्त्र तथा युद्ध मनुष्य की त्रासदियाँ थीं । आज भौतिक-समृद्धि को ही चरम सत्य मान बैठने की भूल मनुष्य कर रहा है । विलियम पेन की तरह आज कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्तों द्वारा भावी सुख-शान्ति का विधान रच रहा हो तो यह कोई असम्भव बात नहीं । आज वह नगण्य लगे पर कल उसका महत्त्व स्वीकार करना ही होगा ।

आत्मविश्वास के धनी–

विंस्टन चर्चिल

सन् १९३९ की बात है । तब ब्रिटेन के प्रधानमंत्री थे नेवाइल चैम्बरलैन । स्वभाव से शान्तिप्रिय और युद्ध से घबड़ाने वाले । विश्व राजनीति के घटनाक्रम में जर्मनी एक बार फिर सिर उठा रहा था । चैम्बरलैन ने हिटलर को सन्तुष्ट करने और शांत रखने का हर सम्भव प्रयास किया परन्तु सब निष्फल गया । हिटलर ने आखिर पोलैण्ड पर आक्रमण कर ही दिया ।

उन्नत वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रों के सामने पोलैण्ड की सेनाओं के पैर नहीं जम सके और यह देश तीन सप्ताह में ही हार गया । जर्मनी, बेल्जियम, हालैण्ड और फ्रांस को रौंदता हुआ इंग्लैण्ड की ओर बढ़ने लगा । उस समय ब्रिटेन विश्व की सबसे बड़ी महाशक्ति थी । इसलिए वहाँ चिन्ता व्याप जाना स्वाभाविक ही था । चैम्बरलैन के सामने अजीब किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति पैदा हो गयी थी । उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था । बाहर से शत्रु सेनाओं का बढ़ता दबाव और अन्दर जनता को तथा जनता के प्रतिनिधियों को जवाब देना मुश्किल । लोग माँग करने लगे 'चैम्बरलैन को हटाओ'- युद्ध काल में देश की इमेज को बचाने में असमर्थ नेता भले ही कितना लोकप्रिय क्यों न रह चुका हो, स्थिति पर काबू न पाने के कारण जनता का विश्वास खो ही देता है ।

अब समस्या खड़ी हुई कि स्थिति का सामना करने के लिए किसे निमन्त्रित किया जाय और कौन नेता काँटों का ताज अपने सिर पर रखने के लिए आसानी से तैयार होगा । इस समस्या का समाधान भी सुझाया स्वयं ही जनता ने । 'चैम्बरलैन को हटाओ'-नारा लगाने के साथ-साथ एक माँग और रखी 'चर्चिल को बुलाओ ।' लोगों का विश्वास था कि एकमात्र यही व्यक्ति ऐसा है जो देश को संकट के दौर में से उबारकर आगे खींच ले जा सकता है ।

इसके पूर्व भी चर्चिल कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रहकर देश की सेवा कर चुके थे । जनता उनकी प्रतिभा, सूझबूझ, योग्यता और नेतृत्व पर अगाध विश्वास रखती थी । इतना अधिक विश्वास कि संकटकाल में अपने नेतृत्व की क्षमता उन्हें एकमात्र चर्चिल में ही दीख पड़ी और चर्चिल ने सिद्ध कर दिखाया वास्तव में जनता का विश्वास सही है ।

चैम्बरलैन ने इस्तीफा दे दिया और अगले ही दिन १० मई, १९४० को ६६ वर्ष के वृद्ध विन्सटन चर्चिल ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री बन गये । उस समय उनके चेहरे पर दृढ़ता के भाव थे । जब लग रहा था कि इंग्लैण्ड का पतन अब निकट ही है । इस बात की पूरी सम्भावना लग रही थी शीघ्र ही जर्मन की सेनाएँ इंग्लैण्ड की धरती पर उतर जायेंगी । तब चर्चिल ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा–"हम अन्तिम दम तक लड़ेंगे । हम समुद्र तट और हवाई अड्डों पर लड़ेंगे, खेतों और खलिहानों में हम अपना बलिदान देंगे । भले हमें इंग्लैण्ड छोड़कर चला जाना पड़े तो भी हम दुनिया के किसी भी कोने में रहकर उस क्षण तक लड़ाई लड़ते रहेंगे जब तक कि हमें पूरी विजय प्राप्त न हो जाय।"

विश्व के कई राजनायकों ने इसे कोरी डींग कहा परन्तु वह चर्चिल का आत्मविश्वास बोल रहा था । जनता में भी उसी विश्वास की प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी और इंग्लैण्डवासियों के हौसले बढ़ गये । चारों ओर से चर्चिल के सन्देश का स्वागत हुआ । लोग घर-परिवार छोड़कर सड़कों पर निकल पड़े । सैनिक कार्यालयों के सामने भीड़ इकट्ठी हो गयी । इधर हिटलर अपनी सेनायें ब्रिटेन की धरती पर उतारने की तैयारी कर ही रहा था कि देश भर में फैले हुए जासूसों के जाल से पता चला । इंग्लैण्ड की जनता में अभूतपूर्व मनोबल जाग गया । कोई भी कदम सोच समझकर ही उठाया जाना चाहिए । अन्यथा व्यर्थ ही हानि उठानी पड़ सकती है ।

अपनी आवाज से जादू फूँककर सोये हुए राष्ट्र को जगाकर चर्चिल ने खड़ा कर दिया । इस प्रभाव का मूल

कारण उनका अपना व्यक्तित्व और मनोबल था, जिसे उन्होंने तनिक भी असन्तुलित नहीं होने दिया। उन क्षणों का स्मरण करते हुए जब चर्चिल ने प्रधानमन्त्री का पद भार ग्रहण ही किया था लिखा है–१० मई की रात को मैंने महायुद्ध के समय राष्ट्रीय शासन और सत्ता का मुख्य सूत्र हाथ में लिया। पिछली राजनीतिक हलचलों की सनसनी पैदा कर देने वाली घटनाओं के बावजूद भी मेरी नब्ज की रफ्तार बिल्कुल भी तेज नहीं हुई। मैंने सभी घटनाओं को सहज भाव से स्वीकारा।

लेकिन मैं यह नहीं छिपाऊँगा कि उस रात करीब तीन बजे बिस्तर पर लेटा तो मुझे ऐसा लगा कि मेरे मन से एक बड़ा बोझ उतर गया है और वह क्षण आ गया है जब मैं समग्र राष्ट्रीय मंच पर घटनाओं का निर्देशन और संचालन कर सकता हूँ। मुझे लगा कि मैं स्वयं नियति के साथ कदम मिलाकर चल रहा होऊँ और मेरा समूचा विगत जीवन, इसी जीवन की तैयारी में बीता है। इन शब्दों में विंस्टन चर्चिल का आत्मविश्वास अभिव्यक्त हुआ है साथ ही इतनी प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सन्तुलन बनाये रखने का उपाय भी बता दिया है और वह है–घटना क्रम को सहजता से स्वीकार कर लेना।

प्रायः लोग सरल और महत्त्वहीन घटनाओं के बारे में भी इतना ऊल–जलूल सोचने लगते हैं कि वे सचमुच ही बड़ी परेशानियों का कारण बन जाती हैं। जबकि बड़ी से बड़ी चिन्ताजनक परिस्थितियों को भी सहजता से स्वीकार करना उन्हें सहज और आसानी से बदल देने के योग्य बना देती है। सर चर्चिल ने अपने देश को घोर संकट से इसी मन्त्र द्वारा उबार लिया।

ऐसे मनस्वी और शौर्य बल के धनी चर्चिल का जन्म ३० नवम्बर, १८७४ को ड्यूक ऑफ मार्लबरो के कुलीन परिवार में हुआ। उनके पिता लार्ड रेन्डोल्फ ब्रिटिश सरकार में वित्तमन्त्री थे। सम्पन्न और उच्च प्रतिष्ठित परिवार का सदस्य होने के कारण उन्हें अच्छी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। परन्तु उन्होंने अपने आसपास-बिखरे पड़े साधनों का कभी उपयोग नहीं किया। बचपन में चर्चिल बड़े शरारती थे। इसलिए स्कूल में सदैव ही पिछड़े रहे। पिता चाहते थे कि उनका बेटा पढ़ लिखकर बैरिस्टर बने परन्तु बेटे को तो खेलकूद और शरारतों से अवकाश नहीं था।

बैरिस्टर बनाने का विचार छोड़कर पिता ने सेना में भर्ती करवाने के लिए सैण्टहार्ट के विख्यात ट्रेनिंग स्कूल में भर्ती करवा दिया। इन परीक्षाओं में भी वे दो बार फेल हुए तब कहीं आगे बढ़ पाये। खेलकूद और शरारतों में मन लगने के कारण इस शिक्षा में उन्होंने तेजी से प्रगति की और सेण्टहार्ट के प्रशिक्षणार्थियों की अग्रिम पंक्ति में उन्होंने अपना स्थान बना लिया।

सन् १८९६ से ९९ तक उन्होंने सैनिक जीवन व्यतीत किया। सदा से उन्मुक्त और स्वतन्त्र जीवन बिताने वाले चर्चिल को सेना का कठोर अनुशासन रास नहीं आया और उन्होंने शीघ्र ही अपना कार्यक्षेत्र बदल दिया। अब वे राजनीति की ओर आकृष्ट हुए तथा इस दिशा में प्रगति करने के लिए सेना से नाता तोड़ लिया।

१८९९ में उन्होंने पार्लियामेण्ट का चुनाव लड़ा परन्तु किस्मत ने साथ नहीं दिया और वे हार गये। चर्चिल इससे निराश नहीं हुए। तभी क्यूबा में लड़ाई छिड़ी और चर्चिल ने कुछ समय के लिए अपना ध्यान राजनीति से हटा लिया। अब वे युद्ध सम्वाददाता के रूप में सामने आये। क्यूबा और बाद में भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर फिर सूडान और अफ्रीका के बोअर युद्ध के मोर्चे से उन्होंने युद्ध का सजीव वर्णन लिखकर भेजा। उनकी वाणी की तरह लेखनी भी मनमोहक थी। उनके प्रेषित युद्ध समाचार अखबारों में छपे तो पाठकों ने उन्हें बड़ा पसन्द किया। चर्चिल की इससे अच्छी आमदनी हुई और उन्हें प्रसिद्धि भी खूब मिली।

उनकी लेखनी और वक्तृता शैली में मनमोहकता का गुण उनके व्यक्तित्व से ही निःसृत हुआ था। वस्तुतः कर्त्ता के व्यक्तित्व की छाप कार्य की शैली पर किसी न किसी रूप में अवश्य ही पड़ती है इसलिए कोई भी काम प्रत्येक व्यक्ति एक ही ढंग से नहीं कर सकता। चर्चिल की लेखनी ने जादू का काम किया और यह जादू उनके व्यक्तित्व से बहकर ही कागजों पर उतरा।

बोअर युद्ध में उन्हें गिरफ्तार भी कर लिया गया। कैद में उन्हें बड़ा यातनापूर्ण जीवन बिताना पड़ा। चर्चिल को जब लगा कि उनके प्राण खतरे में हैं तो उन्होंने बड़ा दुःसाहस किया और वे भाग निकले। इन सब घटनाओं ने उन्हें विख्यात और लोकप्रिय बना दिया।

इस ख्याति का उपयोग उन्होंने अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी करने के लिए किया। सन् १९०० में पार्लियामेण्ट का चुनाव लड़ा और विजयी हुए। उस समय वे ब्रिटेन की संसद के सबसे छोटे सदस्य थे। पार्लियामेण्ट में उनके अनुभव और विचारों ने संसद सदस्यों में विशिष्ट बना दिया। उनकी ख्याति लगातार बढ़ती रही। वे ब्रिटिश सरकार के गृहमन्त्री नियुक्त हो गये।

सन् १९१४ में पहला विश्वयुद्ध छिड़ गया था। ऐसे समय में गृह मन्त्रालय का कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण बन गया था। चर्चिल ने अपने उत्तरदायित्व को इतनी कुशलता के साथ निबाहा कि लोग दंग रह गये। प्रथम महायुद्ध की परिसमाप्ति के बाद उन्हें एक और उत्तरदायित्वपूर्ण विभाग सौंपा गया, बाद में उन्हें वित्तमन्त्री भी बनाया गया। लगभग तीस वर्ष तक ब्रिटेन की राजनीति के आकाश में छाये रहने के बाद उन्होंने अचानक राजनीतिक जीवन से संन्यास ले लिया। यह संन्यास उन्होंने प्रत्यक्षतः ही लिया था, राष्ट्र के उत्थान की चिन्ता और प्रयत्न तो वे अविराम करते रहते थे।

राजनीति से दूर रहकर चर्चिल ने साहित्य साधना की और अँग्रेजी साहित्य को कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ देकर समृद्ध बनाया। राजनीतिक गतिविधियों में भी वे कुछ ही काल

बाद खुलकर भाग लेने लगे । अब की बार वे सीधे युद्ध क्षेत्र में कूदे थे । रणक्षेत्र के मोर्चे पर शत्रु से डटकर मुकाबला करते हुए उन्होंने अद्‌भुत शौर्य और पराक्रम का परिचय दिया ।

राजनीति और साहित्य के कुशल खिलाड़ी होने के साथ-साथ वे एक अच्छे चित्रकार भी थे । चित्रकारिता का अभ्यास वे खाली समय में किया करते थे । उनका एक और शौक था राजगीरी का । फुरसत के समय वे इस प्रकार का अभ्यास किया करते थे । उनके कई चित्र और कलाकृतियाँ तो काफी लोकप्रिय भी हुए हैं । सच्चे अर्थों में वे अपने देश के नेता थे ।

दूसरे महायुद्ध में समय, देश जब विषम परिस्थितियों और कठिनाइयों के दौर से गुजर रहा था चर्चिल ने अपूर्व कार्य-शक्ति और प्रभावशीलता का परिचय दिया । अन्ततः महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय हुई । उसका अधिकांश श्रेय चर्चिल को ही दिया जाता है । उन्होंने अपने काल में कई महत्त्वपूर्ण सुधार किये, जिससे वहाँ का प्रशासन चुस्त और कड़ा हो गया ।

इन सब सफलताओं का कारण था चर्चिल का आत्म विश्वास । कई पुस्तकों में उन्होंने अनेक स्थलों पर आत्मविश्वास में अपनी आस्था व्यक्त की है । उन जैसा अनुकरणीय व्यक्तित्व शायद ही कोई दूसरा दिखने में आया हो ।

चर्चिल की कर्त्तव्यनिष्ठा

यद्यपि इंग्लैण्ड को भौतिकता प्रधान देश कहा जाता है, तो भी उसके प्रधानमन्त्री श्री चर्चिल की ईमानदारी और देश-प्रेम निम्न उदाहरण से स्पष्ट होता है । मि० डब्लू० एच० टामसन ने अपनी पुस्तक 'मैं मि० चर्चिल का प्राइवेट सेकेट्री था' में लिखा है–

"मि० चर्चिल को प्रधानमन्त्री की हैसियत से जो सुविधाएँ उपलब्ध थीं उनका कभी निजी कार्मों में प्रयोग नहीं करते थे । अगर वह अपनी सरकारी कार को निजी काम के लिए प्रयोग करते थे तो चाहे वह बहुत ही मामूली दूरी तय करें, मुझे यह आदेश था कि मैं चलने से पहले गाड़ी के मोटर में जितने मील अंकित हैं लिख लूँ और फिर वापिसी पर लिख लूँ । फिर उन मीलों को सरकारी गैरज के अफसर के पास भेज दिया जाता था और वह उनके (मि० चर्चिल के) निजी हिसाब में दर्ज करके उनकी कीमत वसूल कर लेता था । कौन-सा काम सरकारी है और कौन सा गैर सरकारी इसका निर्णय करने में मि० चर्चिल ने कभी सन्देह का लाभ नहीं उठाया...... मैंने तो यहाँ तक देखा है कि जब वह सरकारी कार पर सरकारी काम से जा रहे हों तो उन्होंने अपने रिश्तेदारों और अपने दोस्तों को भी बिठाने से इस कारण इन्कार कर दिया कि कार को जरा-सा भी चक्कर न लगाना पड़े ।"

विश्व शान्ति के लिए समर्पित जीवन–

विली ब्राण्ट

१ दिसम्बर, १९१३ को जर्मनी के बाल्टिक सागर स्थित ल्यूबेक नगर की एक दुकान पर काम करती एक युवती हर्बर्ट ने प्रसव-काल में मालिक से छुट्‌टी के लिये आवेदन किया और उसकी सदा के लिए छुट्‌टी हो गयी । दुकानदार ने उसे सेवा मुक्त कर दिया । पति रहे नहीं थे । असमय के वैधव्य और फिर मातृत्व तथा विषम आर्थिक परिस्थितियों से हर्बर्ट को अपने पिता के आश्रय में जाना पड़ा ।

उसी युवती के गर्भ से विली ब्राण्ट का जन्म हुआ जो आगे चलकर पश्चिम जर्मनी के चांसलर पद पर निर्वाचित हुए । तीन दशाब्दियों पूर्व जिस देश के एक अगुआ ने विश्व शान्ति की धज्जियाँ उड़ा दी थीं और समूचे संसार को महायुद्ध की आग में झोंक दिया था, कैसे संयोग की बात है कि उसी देश का एक अगुआ अपने शान्ति प्रयासों के लिये नोबुल पुरस्कार से अभिनन्दित किया गया । भीषण नर संहार करने वाला हिटलर यदि राजनीतिज्ञ और अपने देश के सर्वोच्च पद पर आसीन था तो उसी देश के विली ब्राण्ट भी राजनीति के पुराने खिलाड़ी हैं और जर्मन संघ राज्य के प्रधानमन्त्री हैं ।

विली ब्राण्ट के बचपन का नाम हर्बर्ट एर्वेस्ट कार्ल फ्राह्म था । जन्म के पूर्व ही पिता का साया क्रूर काल ने छीन लिया था । विवश परिस्थितियों में कमजोर आर्थिक दशा वाले नाना की परवरिश में वे पले । वे एक कारखाने में एक्स्ट्रा-श्रमिक थे । कभी काम लगता और कभी नहीं । जब उन्हें जबरन छुट्टियों पर रहना पड़ता या कारखाने में हड़ताल हो जाती तो भूखों मरने की स्थिति आ जाती । ऐसे ही एक समय की बात है । कारखाने में हड़ताल थी । बालक हर्बर्ट भूख से बिलबिला रहा था । नाना बाजार गये हुए थे, ज्यादा देर हो जाने के कारण माँ ने हर्बर्ट को उन्हें ढूँढने भेजा । नाना को खोजने निकले हर्बर्ट की आँतें बोल रही थीं । बाल सुलभ वृत्ति से वह बाजार की दुकानों पर ताक-झाँक करने लगा । एक नानबाई की दुकान पर सजी हुई डबल रोटियाँ देखकर बालक का मन मयूर अटक गया और वह दुकान के आस-पास चक्कर काटने लगा । मालिक ने देखा तो चेहरे पर खिंच आयी भूख की वेदना से उसने स्थिति का अनुमान लगाया और हर्बर्ट को कुछ रोटियाँ दीं । खुश होता हुआ, नाना को खोजने की बात भूलकर हर्बर्ट घर दौड़ आया ।

देखा तो नाना दरवाजे पर ही खड़े मिले । हाथ में डबल रोटियों का पैकेट देखकर नाना ने पूछा । सारी बात सुनकर उनका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा और नन्हें हर्बर्ट को उनकी डाँट-फटकार सुननी पड़ी–हमें दान भीख

नहीं चाहिए । इन रोटियों को तुरन्त वहीं ले जाकर वापिस करो जहाँ से कि ये आयी हैं ?

ऐसे संस्कारवान परिवार और लोगों के बीच पाला-पोसा हर्बर्ट यदि आगे चलकर समाजवादी दल का कार्यकर्त्ता बन बैठा तो कौन से आश्चर्य की बात है ? सत्रह वर्ष की आयु में ही हर्बर्ट जर्मनी सोशलिस्ट पार्टी का सदस्य बन गया । यद्यपि दल की संविदा के अनुसार अठारह वर्ष से कम आयु के लड़कों को क्रान्ति दल में सम्मिलित नहीं किया जाता था । फिर भी हर्बर्ट को उसकी कुशाग्र बुद्धि, तीक्ष्ण विचारशीलता और उत्साह के कारण पार्टी के संयोजकों ने उनकी प्रतिभा को तत्काल उपयोग का सूझबूझ भरा निर्णय लिया ।

हर्बर्ट फ्राह्म के नाना की आर्थिक स्थिति यद्यपि अच्छी नहीं थी फिर भी उन्होंने अपने नाती की शिक्षा-दीक्षा की उपेक्षा नहीं की । हर्बर्ट भी पढ़ने में मेधावी तथा होशियार था फलस्वरूप ल्यूबेक के अच्छे से अच्छे स्कूल में जहाँ वह पढ़ा उसे उसकी प्रतिभा के कारण सदैव छात्रवृत्ति मिलती रही । उसकी गणना सफल परिश्रमी छात्रों में होती रही । अपने छात्र जीवन में ही वह पत्रों के लिये कभी-कभी लेख लिखने लगा था । १९३२ में मैट्रिक कर लेने के बाद तो उसने ल्यूबेक के ही एक समाजवादी पत्र 'वाक्सवोट' में काम भी कर लिया ।

उसके उत्साह और समाजवादी विचारधारा के प्रति अगाध निष्ठा के कारण शीघ्र ही दल के सक्रिय कार्य-कर्त्ताओं में उसकी गणना होने लगी । मार्च, १९३३ में बर्लिन में समाजवादियों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ । जिसमें हर्बर्ट भी भाग लेने पहुँचा । दुनिया कहाँ तक आगे बढ़ चुकी है ? अपनी पहली विदेश यात्रा में हर्बर्ट को यह देखने का मौका मिला । जर्मनी की तत्कालीन स्थितियों से वह खिन्न भी हुआ ।

हर्बर्ट ने अपने देश के लिये कुछ कर सकने योग्य स्थिति निर्माण हेतु जर्मनी छोड़ लेने का निश्चय किया और विली ब्राण्ट नाम बताकर मछेरों की एक नाव में छुप कर नार्वे जा पहुँचा । उसकी गतिविधियाँ यहीं पर प्रखर हुईं । पत्रकारिता को पेशे के रूप में अपनाकर विली ब्राण्ट ने जर्मनी से भागकर आये हुए लोगों से सम्पर्क स्थापित करने का काम आरम्भ किया । समाजवादी आन्दोलन को सफल बनाने के लिये विली ने अपनी योजनाओं को मूर्त रूप यहीं देना शुरू किया ।

वे कई यूरोपीय देशों में घूमे । उनकी गतिविधियों के समाचार जर्मन नाजियों तक पहुँचे और उन्होंने विली को देशद्रोही घोषित कर उनका नाम अपनी काली सूची में लिख लिया । आन्दोलन को गति देने के उद्देश्य से वे १९३६ में चोरी छुपे बर्लिन भी गये और वहाँ कई महीनों तक भूमिगत रहकर उन्होंने सक्रिय सहयोगी बनाये ।

जैसे-जैसे वे राजनीति के क्षेत्र में उतरते गये पत्र-कारिता से उनका सम्पर्क टूटता रहा । सन् १९४७ में एक प्रकार से उनका पत्रकार व्यक्तित्व लोप हो गया और राजनीति में ही उनका सारा समय लगने लगा ।

युद्ध समाप्त होने के बाद वे बर्लिन में ही स्थायी रूप से आकर रहने लगे । यद्यपि घृणा और समर की सम्भावनाएँ समाप्त हो गयी थीं । नाजी हिटलर का भी अन्त हो गया था फिर भी बर्लिन शहर को दुनिया घृणा, संदिग्ध और उपेक्षित दृष्टि से देखती रही । वर्षों तक यही स्थिति रही । अनिश्चितता और गिरी हुई जन-भावना के कोहरे से आवृत्त इस नगर की व्यवस्था १९५७ में विली ब्राण्ट ने अपने हाथ में ली, जबकि वे नगर आयुक्त चुने गये और नौ वर्षों तक उन्होंने इस उत्तरदायित्व को बड़ी दक्षता से निबाहा ।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी यूरोप के दो विश्व युद्ध में झोंकने का कारण बन चुका था । दूसरे महायुद्ध में जब इस देश का पतन हुआ तो चारों विजयी राष्ट्र रूस, अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने इस देश को इसलिए आपस में बन्दर बाँट कर ली कि कहीं जर्मनी फिर शक्ति सँजोकर उन्हें आँख न दिखाने लगे । इस कारण जर्मनी का ही नहीं वहाँ की राजधानी-बर्लिन का भी बँटवारा हो गया । कुछ समय बाद रूस के हिस्से की जर्मन पर जरमन जनवादी गणराज्य (पूर्व जर्मनी) का उदय हुआ और अन्य तीन राष्ट्रों के आधीन भू-भाग जर्मन संघ गणराज्य (पश्चिम जर्मनी) कहलाया । विली ब्राण्ट जहाँ के प्रधानमन्त्री हैं ।

पूर्व जर्मनी की राजधानी पश्चिम जर्मनी बनी । विश्वयुद्ध के बाद चारों मित्र राष्ट्रों द्वारा किये गये समझौते में कालान्तर बाद मतभेद आ गये । बर्लिन नगर के बीचों-बीच एक दीवार चिनवाकर शहर की आत्मा के दो भाग कर दिये गये । इससे स्थिति इतनी विस्फोटक हो उठी कि लगा तीसरे विश्व युद्ध का सूत्रपात फिर बर्लिन से ही होगा ।

क्षेत्रीय राजनीति से ऊपर उठकर विली ब्राण्ट जब पश्चिम जर्मन के विदेशमन्त्री बने तो उन्होंने अपना ध्यान सर्वप्रथम इसी बिन्दु पर केन्द्रित किया और पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के प्रति सौहार्द्र एवं सहयोग की नीति अपनाना शुरू की । सोवियत संघ, पोलैण्ड आदि देशों से मैत्री संधि कर इस दिशा में प्रभावी पग उठाये । यथार्थ स्थिति से अवगत रहते हुये भी उन्होंने पूर्व जर्मनी से मैत्री का हाथ बढ़ाया ।

उनके प्रयासों से अठारह माह की लम्बी पेशकश के बाद दूसरे विश्वयुद्ध के चार मित्र राष्ट्रों-अमरीका, रूस, फ्रांस और ब्रिटेन के राजदूतों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये । जिससे बर्लिन से सम्भावित तीसरे विश्वयुद्ध का निश्चित अनुमान खत्म हो गया । पूर्वी व पश्चिमी जर्मनी दो

मूल्यों में सहयोगी वातावरण के सूत्रपात के सिवा नोबेल शान्ति पुरस्कार के लिये इससे अधिक क्या पात्रता होगी ?

औचित्य और न्याय के प्रबल समर्थक--

विलियम वेडर वर्न

सन् १८६० में बम्बई बन्दरगाह पर एक बाईस वर्ष का नवयुवक उतरा और उसने भारतभूमि को प्रणाम किया । यह युवक बम्बई प्रान्त की सिविल सर्विस में एक अच्छा अधिकारी बनकर इंग्लैण्ड से आया था । उसके साथी ने युवक को इस प्रकार प्रणाम करते हुए देखकर बड़ा आश्चर्य व्यक्त किया । युवक ने फिर आसपास देखा और भारतभूमि की निराली छटा को देखकर उसका मन मयूर नाच उठा । वह कहने लगा--''कितना सुन्दर है यह देश और कितने सौभाग्यशाली होंगे इस देश के निवासी ।''

युवक के साथी से अब तो रहा नहीं गया । वह बोल ही उठा--''बेवकूफ हो क्या ? आसपास कोई सुन लेगा तो क्या कहेगा ।''

'क्या कहेगा--निर्दोष भाव से युवक ने पूछा--' मैंने तो पृथ्वी माता की प्रशंसा की है । उस देश और भू-भाग की वन्दना की है, जिसका अन्न जल खा कर मुझे जीना है । तरुण साथी का आश्चर्य अभी भी समाप्त नहीं हुआ था । वह कहने लगा--पगले यह हमारा गुलाम देश है । हम यहाँ के शासक हैं और इस देश के निवासी हमारे सेवक ।

मनुष्य-मनुष्य में भेद की दीवार युवक को असह्य लगी और उसने पूछा--'नहीं भाई । इस दुनिया में कोई किसी का गुलाम नहीं है । सभी लोग भगवान की संतान हैं ।' लगता है तुम सिविल सर्विस में किसी की सिफारिश से आये हो । अन्यथा ऐसा कभी नहीं कहते । एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति इस बात से अनभिज्ञ नहीं होता कि शासक जाति को शासित जाति और देश के प्रति किस प्रकार सोचना चाहिए ।

''मैं यह सब जानता हूँ । परन्तु इसे ठीक नहीं समझता । किसी के प्रति दुर्व्यवहार और दुर्भावना बरतना मनुष्य को तो शोभा नहीं देता'' युवक ने कहा ।

दोनों साथियों में इस विषय पर देर तक वाद-विवाद चलता रहा और अंत में उस युवक का साथी अपने दोस्त से नाराज होकर चला गया । अपने तर्कों और प्रश्नों द्वारा इस अवांछनीय व्यवहार नीति का विरोध करने वाला वह युवक और कोई नहीं विलियम वेडर वर्न ही था जिन्होंने इंग्लैण्ड का नागरिक होते हुए भी सत्य, न्याय और औचित्य के आधार पर भारत के राष्ट्रीय हितों का समर्थन किया ।

२५ मार्च, १८३८ को उनका जन्म एडिनबर्ग में मरजाम वेडरबर्न के घर हुआ । जान वेडरबर्न भी भारतीय सिविल सर्विस में थे । परन्तु विलियम की शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण इंग्लैण्ड में ही हुआ । उनके पिता जब भी भारत से कभी घर आते तो यहाँ की घटनायें सुनाते रहते । अँग्रेज़ लोग भारतीयों से किस प्रकार व्यवहार करते हैं, उनकी उद्दण्डता को कैसी विवशता से यहाँ के देशवासी सह लेते हैं । ये सब बातें वे चटखारे ले-लेकर सुनाया करते थे ।

विलियम को इन बातों में कोई रस तो नहीं आता उलटे वे बड़ी बुरी तरह झल्ला उठते । एक बार जान वेडर वर्न सुन रहे थे कि उन्होंने किस प्रकार एक भारतीय की बेंतों से बुरी तरह पिटाथी की और वह चुपचाप पिटता रहा । सभी परिजन जोर-जोर से हँस रहे थे और विलियम उदास ।

पिता ने पूछा-- क्यों बेटा । क्यों तुम्हें ये बातें अच्छी नहीं लगतीं ।

'मैं इन्हें सुनता तो हूँ परन्तु यह भी सोचता हूँ कि एक आदमी कितना गिर सकता है और एक कितना महान हो सकता है ।

अधिकारपूर्वक पीटने के कारण शायद मेरा बेटा मुझे महान समझने लगा हो । यह सोचकर अपने विश्वास की पुष्टि के लिए जान वेडर वर्न ने पूछा--महान कौन है ? बेटा ।

यह भारतीय आदमी, जो चुपचाप पिटता रहा और गिरा हुआ वह जो अधिकार मद में मनुष्यता को भी भुला बैठा ।'

'नॉन सेन्स'--सुनकर पिता एकदम क्रोध से उबल पड़े तुम क्या जानो कि ये हिन्दुस्तानी कितने जंगली और फूहड़ होते हैं ।''

हिन्दुस्तानी जंगली है या फूहड़ यह तो मैं नहीं जानता परन्तु यह मेरी मान्यता है कि इन्सानियत को ताक में रख कर व्यवहार करने वाला व्यक्ति सभ्य और सुशिक्षित तो नहीं हो सकता । इस प्रत्युत्तर ने पिता की क्रोधाग्नि में आग का काम किया । माँ ने यदि बीच में बचाव न किया होता तो पता नहीं विलियम की पीठ पर कितने नीले निशान उभर आते ।

इतनी निष्पक्षता के साथ मानवीय आदर्श को समझने वाले विलियम में यह सूझबूझ कहाँ से आयी ? यह मानवीय प्रश्न है । स्कूली पाठ्यक्रम पढ़ने के बाद विलियम अपना समय व्यर्थ की बातों में न गँवाकर उपयोगी तथा उत्कृष्ट-साहित्य का अध्ययन करने में लगाते थे । उपलब्ध समग्र धर्म-साहित्य और ईसा के उपदेशों का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था । स्वाध्याय-साधना के माध्यम से प्राप्त प्रेरणाओं ने उनका प्रकाशदीप बनकर मार्गदर्शन किया । मानवता सत्य और न्याय के सिद्धान्तों पर उनकी आस्थायें दृढ़ बनीं । अच्छे साहित्य का प्रभाव पाठक की मनोभूमि पर निश्चित रूप से पड़ता है । जासूसी उपन्यास, अपराध फिल्म और अश्लील साहित्य पढ़कर कोई व्यक्ति चोर, डाकू और लुटेरा बन सकता है, तो यह क्यों सम्भव नहीं कि सत्साहित्य का अध्ययन मनुष्य के व्यक्तित्व और विचार का उत्कर्ष न करे ।

स्वाध्याय और अध्ययन के निष्कर्षों पर चिंतन-मनन करने से ही विलियम वेडर वर्न में अनौचित्य की भर्त्सना का साहस जाग पड़ा । बाद में तो उन्होंने इस दिशा में सक्रिय कदम भी उठाये ।

भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार की बातें सुन-सुनकर विलियम यह सोचने के लिए विवश हो गये कि हिन्दुस्तान का आदमी आखिर किस मिट्टी का बना हुआ है जो इतने अत्याचारों को भी चुपचाप सहन कर लेता है, उफ् तक नहीं करता । यहाँ के जन-जीवन को निकट से देखने की इच्छा उनमें दिनोंदिन बलवती होने लगी । इसके पूर्व भारत के जनमानस को समझने के लिए इस देश से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना आरम्भ किया ।

एडिनवर्ग में इस विषय में जो भी पुस्तकें मिल सकती थीं ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ डालीं । तत्कालीन भारतीय जनमानस के प्रति उनका यह दृष्टिकोण बना–इस देश की जनता में राष्ट्रीय चेतना का अभाव है । अन्यथा वहाँ की संस्कृति तो इतनी महान है कि नये विश्व का काया-कल्प कर सकती है ।

भारत के लोग आवश्यकता से अधिक भाग्यवादी और परिस्थितियों से समझौता कर उसे स्वीकार करने वाले हैं । जब इस युग में कर्मवाद और संघर्ष में विश्वास करने वाले व्यक्ति और जातियाँ ही अपने अहं और अस्तित्व को सुरक्षित रख सकती हैं ।

विलियम ने इस निष्कर्षों पर पहुँचकर ही संतोष नहीं कर लिया । भारतीय समाज की इस दशा को बदलने का प्रयास भी उन्हें आनुषंगिक कर्तव्य लगा । चाहे जिस प्रकार हो भारत पहुँच कर वहाँ के लोगों में राष्ट्रीय चेतना का जागरण करना चाहिए–यह निश्चय कर वे इसे पूरा करने का मार्ग ढूँढ़ने लगे । मनुष्यत्व की गरिमा और वैभव को समझने वाले तथा उसमें निष्ठा रखने वाले व्यक्ति अपने लक्ष्य को कभी ताक में नहीं रखते । एक काम पूरा कर लेने के बाद अगला कार्य वे पहले से ही निश्चित कर लेते हैं । वस्तुतः उनका लक्ष्य वह रहता भी नहीं है । वह तो जीवन ध्येय की प्राप्ति के मार्ग का एक दूरी सूचक पत्थर मात्र है ।

विलियम ने महसूस किया कि भारत प्रवास का मूल कारण बताया गया तो शायद पिताजी न जाने दें । इसलिए उन्होंने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षाओं में बैठने की अनुमति माँगी । अपने पदचिह्नों पर चल रहे पुत्र के व्यक्त विचारों से पिता शीघ्र ही तैयार हो गये । विलियम वेडरवर्न ने परीक्षायें दीं और उत्तीर्ण भी हुए । तुरन्त उन्हें नियुक्ति भी मिल गयी और बाईस वर्ष की आयु में ही वे निर्धारित कार्यक्षेत्र में आ पहुँचे ।

भारत की सिविल सर्विस में वे सात वर्ष तक रहे परन्तु उनके अधीनस्थ कर्मचारियों में कभी यह अनुमान नहीं किया कि हमारा अफसर अँग्रेज है । सभ्य, नम्र और शिष्ट जनोचित व्यवहार, दुःख-दर्द की घड़ियों में जिन लोगों की भी खबर मिली विलियम भाग उठते । भले ही वह परिचित हो या अपरिचित । इस मानवीय व्यवहार ने उन्हें अधिनस्थों का श्रद्धेय बना दिया । अभी तक इतना सज्जन अँग्रेज कोई देखने में नहीं आया था । शासकीय सेवा में होते हुए भी वे आस-पास के लोगों में स्वाभिमान पैदा करने का प्रयत्न करते हैं ।

परन्तु उनके सद्‌विचारों का विपरीत परिणाम सामने आया । वे भारतीय कर्मचारी जो पहले समय-असमय पर अँग्रेज अधिकारियों को बुरा-भला कहा करते थे अब विलियम की प्रशंसा करने लगे । विलियम को यह समझते देर न लगी कि इस प्रकार भारतीयों में राष्ट्रीय चिंतन तो नहीं वरन् अँग्रेजी शासन के प्रति निष्ठा भक्ति अवश्य जाग रही है । ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने विलियम की इस मनचाही उपलब्धि पर उन्हें सम्मानित भी किया और 'सर' की उपाधि से विभूषित किया ।

अपने प्रयासों का यह परिणाम देखकर विलियम को बड़ी निराशा हुई । उन्होंने गलती को पहचाना । जितनी सफलता के साथ वे स्वतंत्र रहकर चेतना जगाने का कार्य कर सकते हैं उतनी सफलता अँग्रेज सरकार का एक पुर्जा बनकर प्राप्त नहीं की जा सकती ।

उन्होंने तुरन्त सिविल सर्विस से त्याग पत्र दे दिया और स्वतन्त्र रूप से काम करने लगे । १८८७ में उनका नाम सर एलेन ह्यूम के साथ उभरा । वे स्वयं तो काँग्रेस के गठन और उसकी गतिविधियों का संचालन करने के कारण ही विख्यात हुए, विलियम भारतीय राष्ट्रवादी के रूप में राजनीति के क्षितिज पर चमके । यद्यपि राष्ट्रीय काँग्रेस के विकास में उन्होंने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । १८९० में वे बम्बई काँग्रेस अधिवेशन के सभापति भी चुने गये । इससे उनके सजातीय बंधु बड़े नाराज हुए । सभापति के पद से उन्होंने जोरदार भाषण दिया और भारत राष्ट्र के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की ।

इस भाषण को लेकर सभी क्षेत्रों में खलबली मच गयी । एक उच्च पदस्थ भू० पू० अँग्रेज अधिकारी भारतीय हितों के पक्ष में इतनी दृढ़ता और स्पष्टता से बोल सकता है । यह सभी के लिए आश्चर्य की बात थी । परन्तु विलियम को स्वयं को तो बड़ा संतोष हुआ । औचित्य और अत्याचार के विरुद्ध उन्होंने पहली बार अपना आक्रोश सार्वजनिक रूप से व्यक्त किया था । उनके मित्रों ने कहा अँग्रेज होकर तुम अँग्रेज राज्य के हितों पर चोट कर अच्छा नहीं कर रहे हो ।

"महाशय ! मैं अँग्रेज होने से पहले इन्सान हूँ और इन्सान होने के नाते मुझसे यह कभी सहन नहीं होता कि किसी के अधिकृत हितों पर स्वार्थ के वशीभूत होकर किसी भी प्रकार आघात किया जाये ।"

मित्रों ने उन्हें यह भी समझाया कि यह उन जैसे देशभक्त को शोभा नहीं देता तो विलियम बोले–"यदि किसी देश और समाज की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाना ही देशभक्ति है तो मुझे स्वप्न में भी उसकी चाह नहीं ।"

एक बार उन्होंने कहा था–"मैं अपने शेष जीवन को भारत के लिए ही अर्पित करता हूँ । स्वयं को भारत का नागरिक मानकर मेरा सिर गर्व से ऊँचा हो उठा है । सचमुच स्वयं को इस देश और वहाँ की जनता के लिए अर्पित कर दिया । इंग्लैण्ड में वे ब्रिटिश काँग्रेस कमेटी के सदस्य बनकर और पार्लियामेण्ट के मेम्बर के रूप में भारतीय हितों की वकालत करते रहे ।

१९१० में उन्हें फिर काँग्रेस अध्यक्ष चुना गया । इस पद पर रहकर उन्होंने काँग्रेस के अंदरूनी विवादों को जिस सूझबूझ के साथ सुलझाया वह उनकी भारत–भक्ति का ही परिचायक है । उन्होंने भारत में एक ऐसा वर्ग तैयार किया जिसने आगे चलकर स्वराज्य आंदोलन का नेतृत्व किया । गोपाल कृष्ण गोखले, महामना मालवीय और लोकमान्य तिलक जैसे अनेकों विभूतियों को ढूँढ़ने और आगे बढ़ाने का अधिकांश श्रेय भाई विलियम वेडर बर्न को ही है ।

सन् १९१८ में उनका देहान्त हो गया । उनकी मृत्यु के समय महादेव गोविन्द रानाडे ने कहा था "इस समय जब स्वराज्य का प्रश्न पहली भूमिका में है । विदेश में भारतीय हितों की आवाज उठाने वाला व्यक्ति कोई भी यदि रहते हैं तो वे थे । भारतीय हितों के लिए ही नहीं समूचे मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए जीवन भर संघर्ष करते रहे ।" अपने जन्म समाज का बैर विरोध और चुनौती भी उन्हें अपने पथ से नहीं डिगा सकी । आज भी संसार को ऐसे ही साहसी शूरवीरों की आवश्यकता है ।

विल्सन की विपत्ति पाठशाला

अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन से वार्ता करते हुए एक बार एक पत्रकार ने पूछा–"आपने किस विद्यालय में शिक्षा पाई ? "

विपत्ति की पाठशाला में विल्सन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया । लीजिये उस पाठशाला का विवरण नीचे पढ़िये ।

विल्सन की आयु तब तक दस वर्ष की थी । इस आयु के बच्चे कक्षा ४ उत्तीर्ण कर लेते हैं । सम्पन्न परिवारों के बच्चे अपनी योग्यतायें और बढ़ा लेते हैं और मनुष्य जीवन का बहुत–सा हास–उल्लास भी पा लेते हैं, पर अभागे विल्सन के लिये भरपेट भोजन मिलना भी कठिन था, कक्षायें बेचारा क्या उत्तीर्ण करता ?

एक दिन बालक ने विचार किया यों परिस्थितियों से हार नहीं माननी चाहिए । बच्चा हूँ तो क्या ? बाहर निकल कर भाग्य से दो बातें करनी चाहिए और यह विचार आते ही विल्सन घर से निकल पड़ा । यह उसके पाठशाला की पहली कक्षा थी, जिसमें उसने सीखा आत्मोन्नति के लिये भाग्य और मोह–माया में बैठे न रहकर परिस्थितियों से संघर्ष करना ।

लोग संघर्ष से घबराते हैं, पर विपत्ति का फल मीठा होता है । उसी से अपनी शक्तियों का पता चलता है । उत्साह का विकास, चरित्र में दृढ़ता और जीवन में ऐश्वर्य एवं तेजस्विता आती है । शिशु–चरण से दूसरी कक्षा में प्रवेश करने पर यह अनुभव विल्सन ने पाये ।

बीस वर्ष की आयु तक विल्सन ने बैल हाँके, बोझा ढोया, लकड़ी काटी, होटलों में बर्तन साफ किये, जंगलों में घूमा । प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक उसे परिश्रम ही परिश्रम का पाठ पढ़ना पड़ता था । १० वर्ष की इस कठिन श्रम–साधना के परिणामस्वरूप उसे ८४ डालर मिले । यह धन इतना था कि कोई पूरी खुराक का व्यक्ति उससे १ माह भी पार न पाता ।

विल्सन ने इस रुपयों का उपयोग आत्म–शक्तियों के विकास में किया । जिह्वा के स्वाद और सिनेमा या थियेटर देखने में नहीं । विल्सन कहते थे–"तब मुझे एक डालर ऐसा लगता था जैसे यह चन्द्रमा जैसा अत्यन्त प्यारा और वृहत् वस्तु है ।"

पैसे बचाना विचार–संकीर्णता या कंजूसी न थी । बालक उस धन को आत्म–कल्याण में लगाना चाहता था । उसने अनुभव किया कि–शिक्षा और बौद्धिक क्षमता के अभाव में लोग नहीं पढ़ पाते हैं । इसलिए पढ़ना अनिवार्य है–पर पढ़ा कैसे जाय ? यह समस्या थी । विल्सन ने देखा कि विद्यार्थी थोड़ा समय पढ़ने में लगाते हैं, शेष समय व्यर्थ गँवाया करते हैं यदि तल्लीनता और परिश्रम से पढ़ा जाय तो उतनी पढ़ाई एक माह में ही पूरी हो सकती है ।

फिर क्या था, उसने वर्ष के ग्यारह महीने काम और एक महीने पढ़ाई । इस तरह ११ वर्ष तक उसने कमाई भी की और पढ़ाई भी । आजीविका भी जुटाई और ज्ञान भी बढ़ाया । अध्यवसायी जीवन सच्चाई और चरित्र ने उसे दृढ़ता और शारीरिक शक्ति दी । इस तरह उसने अभावों, आसक्तियों और अज्ञान के तीनों दरवाजे बन्द किये और उन्नति का पुण्य प्रमाण–पत्र उपलब्ध कर लिया ।

विल्सन की यह संघर्ष शक्ति और परिश्रमशीलता काम आई, वह जिस क्षेत्र में बढ़े लोगों ने सम्मान दिया । अनुभवी व्यक्ति और चरित्रवान व्यक्ति ही लोक–नेतृत्व में सफल होते हैं यही विल्सन के साथ भी हुआ । विल्सन अन्त में अमेरिका के लोकप्रिय नेता हुए । देश ने उन्हें राष्ट्रपति के अति सम्माननीय पद पर प्रतिष्ठित किया । दरअसल यह प्रतिष्ठा विल्सन के शरीर की नहीं गुणों की थी, जिनका विकास उन्होंने विपत्ति की पाठशाला में किया ।

सफल जननायक–

हिटलाम

ऑस्ट्रेलियन श्रमिक दल का एक युवा सदस्य राजनीति के क्षेत्र में आगे आना चाहता था । उसका प्रभावशाली व्यक्तित्व, अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय राजनीति में गहरी पैठ, उत्तम वक्तृत्व शैली, सिद्धान्त निष्ठा सभी कुछ उसमें थे जो उसे सफल राजनीतिज्ञ बना सकने में समर्थ थे

किन्तु उसकी प्रगति कछुए की-सी मन्दगति से हो रही थी। अपनी इस मंदगति से वह बहुत ही क्षुब्ध रहता था।

१९५२ में बड़ा जोर लगाने पर वह संसद सदस्य बन पाया किन्तु फिर उसकी प्रगति पर लगभग विराम-सा लग गया। "मैं सफल क्यों नहीं हो पा रहा हूँ?" इस पर उसने गहने चिन्तन किया। आत्म निरीक्षण के दौर में उसे पता चला कि उसके व्यक्तित्व में एक भारी कमी है। उसमें सहनशीलता का अभाव है। इस सहनशीलता के अभाव के कारण वह लोकप्रिय नहीं हो पाता। उसके साथी उसका साथ छोड़ जाते हैं। उसे सब बातें भी स्मरण हो आयीं जो उसके व्यवहार में झलकी थीं और जिन्हें शालीन नहीं कहा जा सकता।

असहनशीलता व शीघ्र ही क्रोधित हो जाने के कारण उसने प्रधानमन्त्री, गवर्नर जनरल तथा चीफ जस्टिस को भी अपशब्द कह दिये थे। यह अमर्यादित व्यवहार उसकी प्रगति में बाधक था। एक बार तो उसने गवर्नर जनरल पर पानी का गिलास ही फेंक दिया था।

आत्म निरीक्षण करने के पश्चात् उसने अपने स्वभाव को सुधारने का दृढ़ निश्चय कर लिया। श्रमिक दल में उन दिनों साम्यवादियों का वर्चस्व था। उनसे सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी उसने आत्मीय व शालीन व्यवहार रखना आरम्भ कर दिया। उसके मित्र जो पहले उससे रुष्ट हो गये थे वे भी उससे प्रसन्न रहने लगे। साम्यवादी वर्ग भी उसके व्यक्तित्व का लोहा मानने लगा।

अपनी इस भूल सुधार के द्वारा उसने आस्ट्रेलिया की राजनीति में एक नया मोड़ ला दिया। दिसम्बर, १९७२ में आस्ट्रेलिया में पूरे २३ वर्षों के बाद श्रमिक दल का नेता अपनी सरकार बनाने में सफल हुआ था। यह और कोई नहीं वही राजनेता था जो अपने क्रोधी स्वभाव के कारण अन्य सब योग्यताओं के रहते हुए भी अलोकप्रिय बना हुआ था। यह व्यक्ति थे आस्ट्रेलिया के प्रधानमन्त्री श्री एडवर्ड गो ह्विटलाम।

उनका वह आक्रोश जो समय-समय पर प्रधानमन्त्री, गवर्नर जनरल अथवा अपने किसी दलीय साथी के ऊपर प्रकट हो जाता था अपमानजनक शब्दों के रूप में। वह यों ही नहीं था। वह उनकी गलत नीतियों के कारण था। किन्तु उस समय वह व्यर्थ रहा था। जब तक कि स्वयं लोकप्रियता अर्जित कर अपनी श्रेष्ठ नीतियों से जनसाधारण व विश्व को लाभान्वित न कर दें।

शासन सूत्र हाथ में आते ही उन्होंने अपनी उन विश्व हितकारी नीतियों तथा राष्ट्र हितकारी कार्यक्रमों को पूरा करना आरम्भ कर दिया। चुनाव के समय उनकी पार्टी ने जनता को जो आश्वासन दिए उन्हें पूरा करने में उन्होंने कुछ भी देर नहीं की। अपने वचनों के पालन करते देख जनता के मन में उनके प्रति विश्वास तो उत्पन्न हुआ ही, विश्व भी उनके इस कार्य को देख आश्चर्यचकित रह गया।

श्री ह्विटलाम का जन्म ऑस्ट्रेलिया के एक मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। उनके पिता किसी समय कामन वेल्थ क्राउन में सॉलीसीटर रह चुके थे। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा प्राइवेट स्कूलों में पूरी करते हुए वे सिडनी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। वहाँ से उन्होंने वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की और वकालत आरम्भ कर दी। वे सफल वकील व सफल राजनीतिज्ञ दोनों हैं।

उन्होंने प्रधानमन्त्री बनते ही विश्व में फैली हुई गुटबन्दी को समाप्त करने के प्रयास आरम्भ कर दिये। उन्होंने सत्ता हाथ में आते ही ताईवान से सम्बन्ध तोड़ लिए तथा साम्यवाद व पूँजीवाद की रस्साकस्सी को रोकने के लिए साम्यवादी चीन से बातचीत आरम्भ कर दी। सिडनी स्थित रोडेशियाई केन्द्र को बन्द कर दिया। यही नहीं उन्होंने अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन को वियतनाम युद्ध बन्द करने के लिए उनकी नीतियों के विरुद्ध पत्र लिखा। यह निश्चय ही विश्व में फैली हुई गुटबाजी को समाप्त करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम थे। अब तक आस्ट्रेलिया इंग्लैण्ड व अमेरिका की हाँ में हाँ मिलाया करता था। अब उसकी आवाज एक शान्तिप्रिय राष्ट्र की बन चुकी है। इसका श्रेय ह्विटलाम को ही जाता है।

उन्होंने भारत के प्रति बहुत विवेकपूर्ण दृष्टि रखी। वे एक सुलझे विचारों के राजनीतिज्ञ के रूप में उभरे। प० जर्मनी के चांसलर विली ब्राण्ट की तरह ह्विटलाम भी विश्व बन्धुत्व में विश्वास रखते। अपने भारत प्रवास के दौरान उन्होंने नई दिल्ली में हुए एक संवाददाता सम्मेलन में कहा था—"मैं आशा करता हूँ कि बंगला देश की वस्तुस्थिति को पाकिस्तान तथा चीन स्वीकार करेंगे। यदि इस बात को लेकर युद्ध हुआ तो मुझे बड़ा आश्चर्य होगा।" उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि कोई सिरफिरा राष्ट्रनायक ही युद्ध को बढ़ावा दे सकता है।

अपनी भारत यात्रा के दौरान उन्होंने भारत तथा ऑस्ट्रेलिया के सम्बन्धों को और भी दृढ़ किया है। पाकिस्तानी युद्ध बन्दियों के सम्बन्ध में भारत ने जो प्रस्ताव रखा है उसकी उन्होंने बड़ी सराहना की।

व्यक्ति जब अपने आप पर नियन्त्रण रखने में सफल हो जाता है तो दूसरे अपने आप नियन्त्रण में आ जाते हैं। उन्होंने अपने स्वभाव पर नियन्त्रण रखकर अपने दल के सदस्यों का विश्वास प्राप्त किया था। अपनी असाधारण योग्यता व वक्तृता के बल पर वे सामान्य सदस्य से प्रगति करते हुए १९६० में श्रमिक दल के उपनेता चुने गये। अब तक उनकी पार्टी कई गुटों में बँटी थी उसे उन्होंने कम किया। १९६७ में वे दल के नेता चुने गये तथा १९७२ के चुनाव में उनके दल को विजय मिली और वे प्रधानमन्त्री बनाए गये।

प्रधानमन्त्री बनने के बाद उन्होंने राष्ट्रीय मोर्चे पर भी बहुत काम किया। उन्होंने अनिवार्य सैनिक भर्ती समाप्त कर दी। आदिवासियों की प्रगति के लिए उन्होंने अधिगृहीत भूमि का आबंटन उनमें कर दिया ताकि वे कृषि व पशुपालन करके आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो सकें। महिलाओं को वहाँ पर पुरुषों से कम वेतन मिलता था।

उस अधिनियम पर पुनर्विचार करके उन्होंने महिलाओं के लिए समान वेतन पाने का अधिनियम बनाया । इन महत्त्वपूर्ण निर्णयों को लेने के कारण वे ऑस्ट्रेलिया के न्यायप्रिय, निर्णय कुशल, योग्य, प्रतिभाशाली तथा लोकप्रिय प्रधानमन्त्री बन गये ।

श्री ह्विटलाम की नीतियों को देखते हुए यह आशा की जा सकती है कि सभी देशों में ऐसे ही विश्व-बन्धुत्व के समर्थक राष्ट्रनायक हों तो युद्ध की सम्भावनाएँ बहुत कम हो जायें । एक सामान्य वकील से ऊपर उठकर प्रधानमन्त्री पद तक पहुँचना भी उनकी कर्मनिष्ठा व आत्मविश्वास का बहुत बड़ा प्रमाण है । इनसे प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति यह प्रेरणा लेता रहेगा कि प्रयास करने पर सफलता सुनिश्चित है, साथ ही साथ आत्म-निरीक्षण व आत्म-विकास के प्रयास भी अनिवार्य हैं । वस्तुत: नेतृत्व की क्षमता उन्हीं व्यक्तियों में उत्पन्न हो पाती है जो सच्चे नागरिक को-समाज के एक जागरूक और नैष्ठिक सदस्य की योग्यता भी अर्जित कर सके । कहना नहीं होगा ह्विटलाम ने इन मूलभूत आधारों को गम्भीरतापूर्वक समझते और स्वीकार करते हुए ही यह पात्रता विकसित की थी ।

पुर्तगाल के चाणक्य—

सालाजार

पुर्तगाल का एक छोटा-सा गाँव सान्ता कोम्बा । एक ३७ वर्षीय प्रतिभा और लगन का धनी युवक अपनी बीमार माँ की सेवा में संलग्न है । कहने को तो यह युवक कोयम्बरा यूनिवर्सिटी का अर्थशास्त्र का प्रोफेसर है पर उसकी यह सेवा भावना देखने से लगता था कि वह मानवता के प्रति अटूट श्रद्धा वाली कोई सन्त आत्मा है । तभी तो पुर्तगाल के अच्छे-अच्छे सामन्त समाज के हित-चिन्तक और राजनीतिक आज शहरों के महल छोड़कर उस गाँव में पहुँचे थे एक आग्रह लेकर । वहाँ पहुँच कर इन लोगों ने प्रार्थना की आज देश को भ्रष्टाचार, दारिद्र्य, अनाचार आदि से बचाने के लिये आपकी आवश्यकता है, आपने हमारा मार्गदर्शन और नेतृत्व न किया तो पुर्तगाल कहीं का नहीं रहेगा ।

उत्तर मिला-"अभी तो मेरे सामने मेरी माँ की सेवा की बात है इसलिये कोई निश्चित उत्तर पीछे मिलेगा आप लोग जा सकते हैं ।"

प्रजा के हित की तब तक उपेक्षा हुई जब तक राज्य सत्ता वैभव विलास और महत्त्वाकांक्षाओं से ग्रस्त हुई चाहे वह प्रजातन्त्र शासन पद्धति रही हो अथवा राजतन्त्र । यह कहना गलत है कि राजतन्त्र में भ्रष्टाचार की सम्भावनायें अधिक होती हैं प्रजातन्त्र में कम । सच तो यह है कि सत्ताधिकारियों का त्याग, सेवा भाव और उसकी प्रजा के हित में सुदृढ़ निष्ठा ही राज्यों और राष्ट्रों में सुख-समृद्धि का विकास करती रही है । छोटा-सा देश पुर्तगाल उसका एक ज्वलन्त उदाहरण है । इस देश के प्रजातन्त्र में राजतन्त्र के दर्शन का समन्वय यह अनुभव देता है कि प्रजातन्त्र जिसे चुनकर आये प्रतिनिधि नहीं त्यागी-तपस्वी, सेवाभावी प्रशासक चलाते हैं भले ही उनकी संख्या सात हो या कुल एक ।

इन पंक्तियों में जिस व्यक्ति की चर्चा की जा रही है वह ऐसा ही एक व्यक्ति है । चन्द्रगुप्त के महामन्त्री चाणक्य की तरह पुर्तगाल के प्रधानमन्त्री डॉ० आन्टोनियो डी. ओलिवरा सालाजार । उस समय तो उन्होंने आग्रह-कर्त्ताओं को लौटा दिया पीछे माँ अच्छी हो गई तो सालाजार अपने कर्तव्य पर विचार करने लगे । आज तक कभी भी कोई काम अच्छी तरह विचार किये बिना नहीं किया था । बहुत दूर तक की सोचकर निर्णय लेने के इस गुण ने ही उसका जीवन सशक्त, संयत तथा प्रतिभासम्पन्न बनाया था । प्रोफेसर होने पर भी देश के वरिष्ठ, लोग उसे जानते और पूरी तरह उससे प्रभावित थे ।

बात उन दिनों की है जब पुर्तगाल में जबरदस्त प्रशासनिक अस्थिरता चल रही थी । वहाँ के सम्राट कारलौस ने सत्ता के मद में प्रजा को जितना निचोड़ना सम्भव था निचोड़ा । भोग-विलास और अमोद-प्रमोद में जनता का जितना धन खर्च किया जा सकता था किया, तो खजाने खाली होने ही थे फलत: करों का बोझ बढ़ा, महँगाई, भुखमरी ने आ दबोचा यह तो अच्छा हुआ कि प्रजा जागरूक थी उसने विद्रोह कर दिया और निरंकुश राज्य सत्ता का अन्त कर दिया अन्यथा न जाने क्या से क्या हो जाता ।

प्रजातन्त्र की स्थापना कर दी गई पर उससे जो आशा बाँधी गई थी वह कुछ ही दिन पीछे बालू के ढेर की तरह धूसरित हो गई । राजनीति में नये चेहरे आये पर उन सबकी महत्त्वाकांक्षायें, लिप्सायें कारलौस से बढ़-चढ़कर थीं । वे प्रजा के धन पर ही पूरी हो सकती थीं सो उनने भी शोषण, छल, कपट का वही बाना धारण कर लिया जो सम्राट से अभी-अभी उतरवाया गया था । राजनीति की अस्थिरता प्रजा की अस्थिरता के रूप में प्रतिबिम्बित हुई । साम्प्रदायिक दंगे, भ्रष्टाचार और प्रशासनिक कर्मचारियों में रिश्वत आदि के मामले बढ़ गये । सन् १९०८ से १९२४ तक के १६ वर्षीय पुर्तगाली प्रजातन्त्र में ४३ मन्त्रिमण्डल बदले, २० साम्प्रदायिक दंगे हुये, आठ राष्ट्रपति चुने गये जिनमें से ३ ने त्यागपत्र दे दिया एक निकाल दिया गया, एक की हत्या कर दी गई ।

पुर्तगाल के शुभचिन्तक एक बार फिर सालाजार के पास गये । सालाजार ने अब तक निश्चित कर लिया था कि देश में अनुशासन स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि शासनतन्त्र की सारी शक्तियाँ किसी विश्वासपात्र देशभक्त के हाथ में सौंपी जायें । उन्हें अपने आप पर पूरी तरह आत्मविश्वास था । मैं राज्यसत्ता में आकर भी कामिनी-कंचन से अपने आपको मुक्त रख लूँगा सो जब दुबारा वही लोग आये तो उन्होंने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी ।

नेतृत्व सम्भालने से पूर्व सालाजार ने स्पष्ट कर दिया कि उनकी योजनाओं में कार्यपद्धति में कोई दखल नहीं देगा । लोगों को उन पर पूरा और पक्का विश्वास था इसलिए उनके इस कठोर रुख को भी सहर्ष अपनाया गया । इस तरह सालाजार ने अपना उदाहरण देकर सिद्ध कर दिया कि यदि व्यक्ति अपने आप में निष्काम और निष्पाप है । यदि उसके अन्तःकरण में किसी प्रकार का छल-कपट, दम्भ और पाखण्ड नहीं तो वह माता और पिता की तरह कठोर होकर भी शासन कर सकता है ।

सालाजार को उपनिवेशित देश अपना शत्रु मानते हैं । गोआ के मामले में सालाजार इस देश के भी शत्रु रह चुके हैं पर जहाँ तक उनकी प्रजा की सेवा और देशभक्ति की बात है उनकी सराहना न करना मानवीय सभ्यता का गलत मूल्यांकन ही हो सकता है ।

राजनीति का प्रारम्भ सालाजार ने एक वित्तमन्त्री की हैसियत से १९२८ में प्रारम्भ किया था । उन्होंने शासन में आने पर भी अपनी आवश्यकतायें बढ़ाई नहीं । वित्तमन्त्री थे तब उनका वेतन ४००० इस्कूडस या कुल ४६ डालर था और ४ वर्ष बाद जब वे प्रधानमन्त्री बन गये तो बहुत दबाव के बाद कुल १७८ डालर लेना स्वीकार किया जिसे वे अपने घर खर्च से अधिक मानते रहे और बचा हुआ धन देश के दूसरे आवश्यक कार्यों में खर्च करते रहे । उनका कहना था-धन प्रजा का है प्रशासक उसमें से अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति भर के लिये ले सकता है, शेष धन प्रजा के हित में लगना चाहिए ।

सालाजार ने सत्ता में आते ही अपना सारा ध्यान व्यवस्था, आर्थिक साधनों के विकास, सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन और बेरोजगारी को जड़ से समाप्त करने में लगा दिया । प्रशासन के प्रति उनकी दृढ़ता और कठोरता के कारण कुछ ही दिन में उखड़ी व्यवस्थायें जमने लगीं और छोटा-सा देश होने पर भी पुर्तगाल दुनिया के पर्दे पर शीशे की भाँति चमकने लगा ।

इस बीच किसी ने यह भी नहीं जाना सालाजार रहते कहाँ हैं, खाते और पहनते क्या हैं, उनके घर में मेज, कुर्सियाँ और आलीशान सोफासेटों के साथ राजवैभव प्रदर्शित करने वाले ऐशो अशरत हैं भी या नहीं, विदेशी शराब, महँगे कलाकारों के चित्र और गगनचुम्बी राजप्रासाद भी हैं अथवा नहीं ? एक दिन पत्रकारों का दल पता लगाता हुआ मुश्किल से प्रधानमन्त्री सालाजार के निवास पर पहुँच पाया वहाँ पहुँचकर उन सबने जो कुछ देखा उसे देखकर सबने दाँतों तले अँगुली दबाली । क्या यह उसी सालाजार का महल है जो प्रशासन के मामले में पहाड़ की तरह मजबूत और ज्वालामुखी की तरह तड़पन वाला है । यह लोग कठिनाई से निश्चित कर सके ।

सालाजार का घर एक साधारण घर, कपड़े ठीक शिक्षकों जैसे, प्रातःकाल नियमित रूप से भगवान की उपासना, घंटों एकान्त में बैठकर अध्ययन, न कोई चमक-दमक और न कोई शान-शौकत, ठीक चाणक्य जैसे सालाजार को देखकर देशवासियों के मस्तिष्क श्रद्धा से झुक गये । उन्हें यही कहते बना यदि सालाजार इतने त्यागी न होते तो शायद पुर्तगाल की उखड़ी व्यवस्था को सम्हाल भी न पाते ।

आज इस देश की राजनैतिक अस्थिरता पर नियन्त्रण पाने के लिये सालाजार जैसे ही विप्लवी और विद्रोही देशभक्तों की आवश्यकता है जो देश को अपने त्याग, तप, सेवा और परिश्रम से सींचकर हरा-भरा बना सकें । प्रजा को अपने वोट का सदुपयोग अब ऐसे ही निस्पृह प्रशासकों की खोज में करना चाहिए ऐसा व्यक्ति एक भी मिल सके तो काफी है वह चाणक्य और सालाजार की तरह अकेला ही प्रजातन्त्र को चलाये तो भी कुछ बुरा नहीं ।

केलिफोर्निया के गान्धी–

सेसार कावेज

अमेरिका का डेलानो नगर । सन् १९४१ की बात है वहाँ के एक थियेटर में बैठे एक किशोर से मैनेजर उलझ रहा था । बात यह थी कि थियेटर में व्यवस्था के अनुसार गोरी चमड़ी वाले अमरीकनों को बैठने का अलग से स्थान था । वह किशोर मैक्सिकन (चिकानी) नस्ल का अमरीकी ही था जो दृढ़तापूर्वक गोरों की सीट पर बैठ गया था । कुछ गोरे दर्शकों ने इसे उठाना चाहा तो वह नहीं उठा । इस बात पर मैनेजर भी आ गया और उसे उठने के लिए जोर देकर कहने लगा । किशोर जिसका नाम 'सेसार कावेज' था, का कहना था कि हम भी तो इन्सानों में से ही, अमरीकन नागरिक हैं । एक ही प्रगतिशील देश के नागरिकों के अधिकारों में यह असमानता क्यों ?

सत्ता का मद किसी भी व्यक्ति, जाति या समाज को पथ भ्रष्ट कर सकता है । गोरी नस्ल के लोगों का शासन था इसलिए वे अपने विशिष्ट स्थान पर किन्हीं नीच जाति के लोगों को बैठना कैसे सहन करते । कावेज ने कहा-अगर आपको मुझे उठाना ही है तो मैं बिना हाथ-पैर तुड़वाये नहीं उठूँगा । आखिर पुलिस को बुलाया गया । वे कावेज को पुलिस स्टेशन ले गये ।

कावेज चला तो गया परन्तु पुलिस अधिकारियों के सामने भी उसने हार न मानी । अधिकारी चाहते थे कि वह आगे से ऐसी गलती न करने का वचन दे और कावेज का कहना था कि मैंने कोई गलती की ही नहीं है तो जबरन कैसे स्वीकार कर लूँ । आगे ऐसा न करने का वचन दिए बगैर ही पुलिस ने उसे अबोध और हठी लड़का समझकर छोड़ दिया ।

बचपन से ही अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहने वाला यही कावेज आगे चलकर अपनी सिद्धान्तनिष्ठा और मानवीय अधिकारों की रक्षा में अपना सारा जीवन अर्पित कर देने के कारण कैलिफोर्निया के गाँधी के नाम से प्रख्यात हुआ ।

महात्मा गान्धी की अहिंसक रणनीति और साध्य तथा साधन की समानता वाला जीवन दर्शन विश्वविख्यात हो चुका था । देश में ही नहीं विदेशों तथा दूर-देशान्तरों में भी उनके सिद्धान्त लोकप्रिय होने लगे थे । भारत के असंख्य स्त्री-पुरुषों ने गाँधी के नेतृत्व में मानवतावादी आन्दोलनों में भाग लिया । विदेशी लोग भी उससे प्रभावित हुए थे । कावेज तब सोलह वर्षीय अल्पवय का किशोर छात्र था ।

उसका बचपन बहुत गरीबी में बीता । सन् १९२५ में यूमा गाँव के निकट एक पठारी फार्म में काम करती हुई गरीब महिला के गर्भ से वह जन्मा था । उस फार्म में उसके माता-पिता मजदूरी करते थे और दो जून का खाना बड़ी मुश्किल से जुटा पाते थे । अपने आरम्भिक जीवन में कावेज वहीं रहा और महसूस किया कि गोरे अमरीकी लोग उसकी नस्ल के लोगों को घृणा और उपेक्षा के भाव से देखते हैं ।

उसे जब स्कूल में भरती किया गया तो छात्रों का व्यवहार अपने अभिभावकों की तरह उपेक्षा और घृणा पूर्ण था । गोरे लड़के कावेज तथा उसके साथियों को अवसर आते ही पीटते और अध्यापक भी इनमें बीच-बचाव करने की अपेक्षा गोरे लड़कों को प्रोत्साहित ही करते ।

ऐसे पददलित दशा में पड़े हुए लोगों का जीवन कितना दुःखपूर्ण रहता है । अल्पायु में ही कावेज के परिवार पर एक घोर संकट आया । सन् १९३५ के लगभग अमरीका में जबरदस्त मन्दी आयी । जिस फार्म में कावेज का परिवार मजदूरी कर रहा था वह बन्द हो गया । उनकी जीविका का मुख्य आधार ही टूट गया । कावेज का पिता परिवार को लेकर कोलोरैडो नदी के किनारे आ गया । वहाँ मटर छीलने का मौसमी काम मिला । कुछ दिनों बाद यह काम भी समाप्त हो गया । कावेज परिवार को रोजी-रोटी की तलाश में खानाबदोशी की तरह इधर-उधर भटकना पड़ा ।

जाड़े के मौसम में आक्सनार्ड शहर की एक उदार महिला ने अपनी खाली पड़ी जमीन का एक टुकड़ा दिया । वहाँ इसके परिवार ने एक तम्बू बना लिया । स्थान की कमी के कारण समूचा परिवार सिमटकर इस तम्बू में पड़ा रहता । सर्दी से बचने के लिए पास-पास सोने से और कोई अच्छा साधन नहीं जुट पाया । कभी-कभी जब बारिश होती तो उनके परिवारों को गीली सर्द जमीन पर ही पड़े रहना पड़ता । उन दिनों के संस्मरण कितने ही कठोर हृदय को आर्द्र कर सकते हैं ।

सन् १९४० तक 'सेसार' को अपने परिवार के साथ बन्जारों की तरह घूमना पड़ा । परिस्थितियों तथा मानवता का मुखौटा पहने गोरे लोगों के अत्याचारों ने कावेज को विद्रोही बना दिया ।

१९४३ में गोरे लोगों ने चिकानों पर खूब अत्याचार किए । गुलामों से भी गयी-गुजरी स्थिति बन गई । कावेज के विवश अन्तर्मन से क्रान्ति का स्रोत फूट पड़ा और वह विद्रोही संगठन 'पचूको' का सदस्य बन गया । पुलिस और सेना के अत्याचारों को दूर करने में सारा जीवन लगा देने का संकल्प कर सेसार अठारह वर्ष की आयु में ही सामाजिक अन्यायों से जूझ उठा ।

कावेज ने देखा कि चिकानो लोग गरीब ही नहीं अशिक्षित भी हैं । स्कूल में जब वे अपनी मातृभाषा स्पेनी में बोलते हैं तो दण्डित किया जाता है । उपेक्षित सामाजिक स्थिति के कारण रोजगार और शिक्षा की सुविधाएँ भी नहीं मिल पातीं । इस कारण वह स्वयं भी सातवीं कक्षा से आगे नहीं पढ़ पाया । परन्तु प्रकृति और समाज की पाठशाला में उसने जो पढ़ा वही शिक्षा उसको महामानव बनाने में सहयोगी सिद्ध हुई । सोल एंलिस्की में मजदूरी करते वक्त उसका चिन्तनशील मस्तिष्क इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मजदूर हितों की रक्षा तथा अधिकारों की प्राप्ति केवल संगठन शक्ति के माध्यम से ही सम्भव है ।

बुरी परिस्थिति और कष्ट-कठिनाइयाँ मनुष्य की महानता को अनावृत कर देती हैं । इस मायने में समझदार लोग आपत्तियों को ईश्वरीय वरदान समझकर सहन कर लेते हैं और तपाए हुए कुन्दन की तरह अपना भी व्यक्तित्व निखार लेते हैं । अहिंसा और प्रेम मानवता के दो आधार स्तम्भ हैं । बचपन से ही अत्याचार और अन्याय सहते हुए भी कावेज का मनुष्यत्व निखर उठा । अमानवीय दैत्य को परास्त करने के लिए वह उत्साही तो था परन्तु उसके लिए कावेज ने मानवीय सिद्धान्तों को ही अपनाया ।

उसने घाटियों के अंगूर फार्म में काम करने वाले चिकानी मजदूरों को संगठित किया । चिलचिलाती धूप और कड़कड़ाती ठण्ड में धूल और विषैले कीड़ों के खतरों में वे अहर्निश काम करते । गुलामों की तरह मालिकों का व्यवहार और काम लेने की पद्धति में उन्हें अपने खून का पसीना बहाना पड़ता, फिर भी भरपेट भोजन उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाता । अधिकांशतया उन्हें भूखे रहना पड़ता और कई मजदूर तो इस असह्य भूख के कारण मर भी जाते । उसकी तंग झोपड़ियों में रोशनी की व्यवस्था भी नहीं होती तथा न ही पानी की । मजदूरों की इसी व्यथा वेदना से द्रवीभूत होकर सेसार कावेज ने 'नेशनल फार्म वर्कर्स ऐसोसिएशन' की स्थापना की और लगभग ५० हजार मजदूरों को अपने विचारों से प्रभावित कर अन्याय और शोषण से मोर्चा लेने के लिए संगठित किया ।

सन् १९६४ में उन्होंने अन्याय के विरुद्ध पहली आवाज उठाई । फार्म के एक मालिक के विरुद्ध नियत राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन दर से कम मजदूरी देने के कारण मुकदमा चलाया । जीत संगठन शक्ति और न्याय की हुई । मनुष्यों की बनायी हुई न्याय व्यवस्था का पलड़ा भी शक्ति की ओर ही झुकता है । संगठन शक्ति की महत्ता को समझ लेने के कारण एक समय का मजदूर और मोहताज किशोर अपने जीवन के बहुत थोड़े समय में श्रमिक हितों

का रक्षक बन गया । मई ६५ में कावेज ने गुलाब की खेती करने वाले मजदूरों को संगठित किया तथा उचित पारिश्रमिक के लिए असहयोग का अस्त्र सम्हाला । चार दिन की हड़ताल से ही मालिकों ने मजदूरों की माँग स्वीकार कर ली ।

अंगूर श्रमिकों की न्यायोचित माँगों के लिए कावेज को और कड़ा रुख अपनाना पड़ा । १९६७ में मजदूरी बढ़वाने के लिए उसे बहिष्कार का सहारा लेना पड़ा । उसके आन्दोलन से प्रभावित होकर गृहणियों ने अंगूर खरीदना बन्द कर दिया, होटलों में अंगूर परोसने से बैरों ने इन्कार कर दिया । मजदूरों ने अंगूर की पेटियाँ ट्रकों पर लादने तथा उतारने से लेकर जहाजों पर चढ़ाना तक बन्द कर दिया । सेसार कावेज का यह आन्दोलन यद्यपि पूर्णतया अस्वाभाविक था परन्तु अन्याय और पीड़ा सहने के कारण व्यक्ति में पाशविक भावनाओं का भड़क उठना भी स्वाभाविक है । कहीं–कहीं हिंसक कृत्य भी हुए । कावेज को इन कृत्यों से बहुत पश्चाताप हुआ ।

किसी और को दोष देने की अपेक्षा उसने इन अमानवीय कृत्यों के लिए स्वयं प्रायश्चित रूप उपवास किए । यों तो उसने उपवास की घोषणा निजी तौर पर की थी परन्तु धीरे–धीरे यह प्रायश्चित कर्म सार्वजनिक उपवास के रूप में परिणित हो गया । भारी संख्या में उसके अनुयायियों ने उपवास में भाग लिया । श्रमिकों के झुण्ड के झुण्ड आने लगे और कावेज से क्षमा माँगने लगे । फिर हिंसा का सहारा न लेने का आश्वासन लेकर कावेज ने उपवास तोड़ा । मालिकों का ह्रदय भी इस प्रायश्चित रूप तप से पसीजा और उचित श्रमिक माँगों को अविलम्ब स्वीकार कर लिया ।

इसी उपवास के दौरान कावेज को एक बार न्यायालय में बयान देने के लिए अदालत में भी जाना पड़ा था । जिस समय वह न्यायालय में बयान दे रहे थे हजारों श्रमिक बाहर सीढ़ियों पर घुटने टेके ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे । राबर्ट केनेडी की उपस्थिति में अहिंसा की जयघोष के बीच उन्होंने उपवास तोड़ा ।

वे सच्चे गाँधीवादी जननेता हैं । विदेशी होते हुए भी उन्होंने शराब की बात तो दूर सिगरेट तक को नहीं छुआ । श्रमिक संगठन कार्यालय में वे सोलह घण्टे श्रम करते हैं तथा सप्ताह में निर्वाह के लिए मात्र दस डालर का पारिश्रमिक जो अमेरिका के जीवन स्तर को देखते हुए बहुत कम है ही लेते हैं । वे समिति के प्रधान कार्यालय में ही सभी कर्मचारियों के साथ सामूहिक भोजन करते हैं । अपनी पत्नी और बच्चों सहित तीन कमरों वाले साधारण किन्तु सुव्यवस्थित तथा स्वच्छ मकान में रहकर सोने के समय को छोड़कर शेष पूरे समय में वे कठोर श्रम करते हैं । अपने यौवन काल में हो अधिक से अधिक लोगों के लिए परिश्रमरत रहने के कारण उनका स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगा । सन् ६८ में उनके पाँव बिल्कुल बेकार हो गए । सामान्य से रोग में ही जहाँ लोग विलाप करने लगते हैं वहाँ सेसार कावेज के चेहरे पर एक मृदुल मुस्कान खेलने लगी । वे यही कहते रहे कि ईश्वर जिन पर प्रसन्न होता है कष्ट–कठिनाइयों द्वारा उसे सबसे पहले मजबूत बनाता है ।

पाँच वर्ष पूर्व चलाए गये उनके श्रमिक आन्दोलनों ने मालिकों तथा मजदूरों को इतना समीप कर दिया कि श्रमिकों का पारिश्रमिक आन्दोलन के पूर्व की तुलना में दुगुना हो गया ।

वे यथार्थ में गान्धी के अनुयायी हैं । बिनोवा भारत के वर्तमान गान्धी हैं तो सेसार कावेज एक विदेशी कैलिफोर्नियाई गान्धी ।

लौह पुरुष–स्टालिन

पिता जूते गाँठने का काम करते थे और माता लोगों के कपड़े धोया करती थी । अपने पुत्र के लिए उन्होंने अपने अनुरूप ही भावी जीवन की कल्पनाएँ की थीं । पिता चाहता था कि उसका पुत्र बड़ा होकर उसी की तरह जूते गाँठने का कार्य करे । माँ कुछ अधिक ऊँचे और सामाजिक धरातल पर सोचा करती थी कि उसका बेटा पादरी बन जाय, जिससे उसका जीवन भी धार्मिक बन जाय और वह लोगों को सच्ची राह दिखाने का काम भी करे । सामान्यतया महिलाएँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक सामाजिक ढंग से सोचती हैं तब उन्हें क्या पता था कि उनका पुत्र एक दिन रूस के जार से भी महत्त्वपूर्ण पद पा लेगा । यह बालक– इयोसिफ विसारियोनोविच अपने भावी जीवन में सोवियत संघ का प्रधानमंत्री बना और अपने स्वभाव और दृढ़ता के कारण उसके साथियों द्वारा स्टालिन–इस्पात पुरुष कहा गया ।

स्टालिन का जन्म जोर्जिया केस्पीयन सागर व कृष्ण सागर के मध्य स्थित प्रान्त के एक छोटे से गाँव में १८७९ में हुआ था । रूस की सामाजिक दशा उन दिनों बहुत बिगड़ी हुई थी । वहाँ दो वर्ग थे एक धनी सामन्त वर्ग जो भूमि का स्वामी था साथ ही खूब सम्पन्न, सुखी और अत्याचारी भी । दूसरा वर्ग सामान्य कृषक गुलामों का जो भूमि पर खेती करते थे । मालिक खेती के साथ उन्हें भी बेच दिया करते थे । यह वर्ग अत्यन्त निर्धन और दीन–हीन पराधीन सा था । आर्थिक असमानता किस प्रकार के विद्रोह और सामाजिक विस्फोट–क्रान्ति को जन्म देती है । यह रूस के इतिहास में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । कृषक श्रमिक कुछ कर नहीं सकते थे पर मन ही मन सामन्त वर्ग से घृणा करते थे । यह घृणा जब विस्फोट बनकर उठी तो सामन्त वर्ग को ही उड़ा गयी । आज रूस में सामन्त (बुर्जुआ) शब्द गाली का पर्याय बन गया है । यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि यदि धनिक लोगों ने निर्धनों की उपेक्षा की, अपने स्वार्थ में ही लिप्त रहकर वे सामाजिक हितों से विमुख हुए तो यह स्थिति कहीं भी दोहरायी जा सकती है ।

स्टालिन का जन्म इसी दूसरे पराधीन कृषक वर्ग के परिवार में हुआ । उसके जन्म के कुछ समय पहले रूस में दास प्रथा का कानून समाप्त कर दिया गया था पर आर्थिक दासता का जुआ तो अभी भी उनके कन्धे पर रखा ही हुआ था । जमीनें तो सामन्तों के पास ही रहीं । वे बेचारे विवश होकर पुनः उनके यहाँ मजदूरी करने लगे । स्टालिन के पिता ने जूते गाँठने और माता ने कपड़े धोने का काम आरम्भ किया ।

माता की इच्छानुसार उसे तिफलिस के ईसाई धार्मिक विद्यालय में प्रविष्ट कराया गया । उसकी गरीबी को देखकर स्कूल के अधिकारियों ने उसके लिये छात्रवृत्ति का प्रबन्ध भी कर दिया । पर स्टालिन को पादरी नहीं बनना पड़ा । संयोग से एक दिन उसके हाथ में मार्क्स की पुस्तक 'पूँजी अथवा राजनैतिक-अर्थव्यवस्था' की एक समीक्षा लग गयी । साम्यवाद लाने का श्रेय इस पुस्तक में प्रकट किये गये कार्ल मार्क्स के सत्य पर आधारित प्रखर विचारों को कम नहीं जाता । मार्क्स के विचार ही साम्यवाद के जनक थे । विचार मनुष्य को क्या से क्या बना देते हैं । विचार व्यक्ति व समाज का कायाकल्प करके रख देते हैं । इस कथन की सत्यता को आज के सोवियत संघ के रूप में देखा जा सकता है ।

मार्क्स की इस पुस्तक का प्रतिपादन ही कुछ इस ढंग का है और तथ्य इतने सत्य पर आधारित हैं कि समाज के विषमता व्यक्ति के सामने उजागर हो नहीं होती वह उसे मिटाने के लिये कृत संकल्प भी हो जाता है । फिर उसे इस वैषम्य को मिटाने के लिये जो रास्ता मार्क्स ने बताया था वही अच्छा लगता है । इस पुस्तक ने स्टालिन को पादरी बनने से बचा लिया और क्रान्तिकारी बना दिया । उसकी गतिविधियाँ देखकर शिक्षण संस्थान के अधिकारियों ने उसे बाहर निकाल दिया । इसकी उसे परवाह भी कहाँ थी । वह तो सामजिक क्रान्ति के लिये प्राण विसर्जन जैसे बलिदान के लिये भी तैयार हो चुका था । वह क्रान्ति में भाग लेने लगा । मूल रूप से घर-घर जाकर क्रांति सम्बन्धी पर्चे बाँटना, किसानों को उसके लिये तैयार करना उसका काम हो गया । पुलिस उसके पीछे लग गयी । पुलिस को चकमा देने के लिये उसे आज यहाँ तो कल वहाँ भटकना पड़ा । किन्तु पुलिस का तो जाल बिछा था । वह कब तक बचता । वह पाँच बार पकड़ा गया और दण्ड भुगतने के लिए साइबेरिया भेजा गया । पाँचों बार वह वहाँ से भाग आया ।

मनुष्य अपने सुखद भविष्य के लिये किस प्रकार दुःख पूर्ण वर्तमान को सह लेता है और फिर उसके साथ देश हित या समाज हित की भावनाएँ जुड़ी हुई हैं तो उसका कहना ही क्या ? स्टालिन को गालियाँ, चाबुक, मार, यंत्रणाएँ कम नहीं सहनी पड़ीं इस दौरान, क्रान्ति के मार्ग में तो यही सब उपहार मिलते हैं । इन सबने उसके संकल्प को दृढ़ ही बनाया, कमजोर नहीं ।

छटी बार जब वह पकड़ा गया तो ऐसे स्थान पर भेज दिया गया जहाँ से वापिस आना सम्भव नहीं था । उत्तरी ध्रुव प्रदेश से लगी रूस की सीमा के एक गाँव में उसे रखा गया जिसमें केवल चार ही मकान थे जिनमें बन्दी रहते थे । यहाँ न कोई प्रहरी था न कोई चहारदीवारी और न जेलर फिर भी वहाँ जेल थी । यहाँ से कोई आदमी भाग नहीं सकता था क्योंकि उस गाँव के निकट दो सौ मील तक कोई बस्ती ही नहीं थी । बारहों महीने यहाँ कड़ाके की शीत पड़ती थी । इस शीत से बचने का, अपने को गर्म रखने का एक ही साधन था खूब श्रम करना । ऐसी भयंकर जेल में स्टालिन ने चार वर्ष बिताये और अन्त में १९१७ में क्रान्ति के सफल होने पर मुक्त हुआ ।

बीस से भी अधिक वर्षों तक वह क्रान्ति के लिये जी-जान से जुटा रहा था । इस दौरान लेनिन से उसका घनिष्ठ परिचय हो गया था और वह लेनिन का दाहिना हाथ बन चुका था । १९०५ में क्रान्ति का प्रयास असफल हो जाने पर लेनिन व ट्राटस्की तो प्राण बचाने के लिये स्विटजरलैण्ड भाग गये थे पर स्टालिन रूस में ही रहा । पुलिस की आँखों में धूल झोंकता हुआ वह देशवासियों को प्रबल क्रान्ति के लिये तैयार करता रहा । यह निश्चित था कि यदि इन दिनों वह पकड़ा जाता तो उसे मृत्यु दण्ड अवश्य मिलता । जान की जोखिम उठाकर भी वह रूस में ही रहा । सच है कि जो अपने क्षुद्र व्यक्तित्व को किसी लोकोपयोगी महान लक्ष्य से जोड़ लेते हैं तो उनमें स्टालिन जैसी सामर्थ्य स्वतः उत्पन्न हो जाती है ।

लेनिन विदेशों से गुप्त रूप से जो योजनाएँ बनाकर भेजते उसे वह कार्यान्वित करता, उनके गुप्त रूप से भेजे लेखों को क्रान्तिकारियों के भूमिगत मुद्रणालय में छापकर वितरित करता । स्टालिन इस प्रकार सोवियत जनता का हृदय सम्राट बनता जा रहा था और फिर एक दिन वह भी आया जब मानवीय संकल्पों ने सपनों को साकार कर दिखाया । लालक्रान्ति की सफलता के साथ ही रूस की अन्याय और स्वेच्छाचारिता के पाप-पंक में लिपटी जारशाही की समाप्ति हो गयी । वर्षों से धनी सामन्त वर्ग की दासत्व व अत्याचार सहने वाले कृषक और श्रमिक अब सोवियत संघ के भाग्य विधाता बन गये । सामन्तों को अपने उगाये काँटों को ही रोते-कलपते काटना पड़ा । क्रान्ति के बाद उनकी बड़ी दुर्गति हुई ।

क्रान्ति का नेता लेनिन सोवियत रूस का सर्वेसर्वा बना । फिर भी अभी रूस को बहुत कुछ सहना था । नये-नये साम्यवादी संघ पर कई संकट आये । लेनिन की मृत्यु के पश्चात् स्टालिन व ट्राटस्की में नेता पद के लिये संघर्ष हुआ जिसमें विजय स्टालिन की हुई । ट्राटस्की मेक्सिको चला गया । शासन हाथ में आते ही वह सचमुच इस्पात पुरुष सिद्ध हुआ । उस समय इस नवोदित राष्ट्र को ऐसे ही मिथ्या भावुकता रहित व कठोर अनुशासन रखने वाले राष्ट्र नेता की आवश्यकता थी । क्योंकि दूसरे देश अभी भी साम्यवादी रूस को अच्छी नजरों से नहीं देखते थे ।

यह पूरी तरह फौजी आदमी था–अनुशासन का पक्का । उसने श्रम करना सबके लिये अनिवार्य कर दिया । कोई श्रम करने से बच नहीं सकता था । उसकी दृष्टि में व्यक्ति का राष्ट्र के सन्दर्भ में कोई मूल्य नहीं था । चाहे वह उसका मित्र ही क्यों न हो यदि उसे लगता कि वह देश के साथ गद्दारी कर रहा है तो उसे वह गोली मरवा देता था । यह उसके व्यक्तित्व का हलका पहलू है । फिर भी यह उस समय सोवियत संघ के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ ।

वर्षों से दासत्व व दीनता में जकड़े रहे व्यक्तियों में कुछ स्वाभाविक कमजोरियाँ भी आ जाती हैं । उन्हें कठोर अनुशासन में रखकर दूर करने का यह प्रयास राष्ट्र के हित में ही था । उस अनुशासन का ही परिणाम था कि १९४० में फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश को पाँच सप्ताह में धरती दिखा देने वाले जर्मनी को इस नवोदित राष्ट्र ने पराजित कर दिया । इंग्लैण्ड व अमेरिका से सहायता लेने का उसका कदम भी कम सराहनीय नहीं था ।

अपने कठोर अनुशासन और प्रभुत्व के पीछे स्टालिन के मन में कोई व्यक्तिगत एषणा रही हो, ऐसा नहीं लगता । बीस वर्ष तक सोवियत संघ का एकछत्र शासक रहने वाला यह व्यक्ति जार के शानदार महल में रहने की बजाय सचिवालय में काम करने वाले सामान्य कर्मचारी को मिलने वाले क्वार्टर में ही रहा करता था । उन्हीं जैसा खाना खाता था, उन्हीं जैसे कपड़े पहनता था । जार के निरंकुश शासन से मुक्ति दिलाने के लिये अपने जीवन के स्वर्णिम बीस वर्ष समर्पित कर पग-पग पर मृत्यु की संभावना और कष्ट–कठिनाइयों से जूझने के तप, त्याग और बलिदान का मुआवजा स्टालिन ने सुख, वैभव और आरामतलबी के रूप में नहीं लिया । जार के नौकरों के रहने के क्वार्टर में रहने वाले इस रूस के प्रधानमन्त्री का यह उदाहरण कितना प्रेरक है, मार्गदर्शक है जननेताओं के लिये ।

स्टालिन की पहली पत्नी को क्षय हो गया था । उस क्षय ने ही उसके प्राण ले लिये पर क्रान्ति में जुटा स्टालिन समाज के हित पर अपने व्यक्तिगत हित को बलिदान करके क्रान्ति के कामों में बाधा नहीं आने दी । दूसरा विवाह उसने चालीस वर्ष की आयु में किया । दूसरी पत्नी से एक पुत्र व पुत्री उत्पन्न हुई । स्टालिन और उसकी पत्नी के विचार नहीं मिलने के कारण वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रह सका । फौलाद के स्टालिन को ईश्वर ने जीवन की इस मधुरता से वंचित रखकर उसे सजा दी या सोवियत संघ पर अनुकम्पा की यह सोचने का विषय है ।

आत्म–प्रशंसा व आत्म विज्ञापन से वह कोसों दूर रहता था । मास्को में रहने वाले विदेशी राजदूत उसे कम ही देख पाते थे । वह बोलता कम था, काम अधिक करता था ।

स्टालिन बहुत कठोर था और कहते हैं वह निर्मम भी था । मरणोपरान्त उसके विरोधियों ने उसके विरुद्ध इतना प्रचार किया कि उसके नाम पर बसाये नगर स्टालिन ग्राड नाम भी बदल दिया गया । उसके शव को लेनिन की समाधि से हटा दिया गया । फिर भी सोवियत संघ की जो सेवाएँ स्टालिन ने कीं वे भुलाई नहीं जा सकती थीं । उसकी कठोरता और निर्ममता भी राष्ट्र के हित में होने के कारण उपयोगी सिद्ध हुई । 'मनुष्य में अच्छाइयाँ भी होती हैं और बुराइयाँ भी होती हैं, न कोई पूर्णरूपेण अच्छा होता है न कोई बिल्कुल बुरा । गुण, कर्म, स्वभाव में हर मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होता है । किन्तु यदि सामाजिक हित पर व्यक्तिगत एषणाओं को वारे जाने का दृष्टिकोण अपनाने पर उसका यह मिश्रित स्वरूप भी उपयोगी और चिर- स्मरणीय बन सकता है ।' स्टालिन इसका सटीक उदाहरण है।

गरीबों के साथ गरीब बनकर रहो

खलीफा अबूबक्र के उपरान्त उस स्थान पर हजरत उमर नियुक्त हुए । उनकी शासकीय कुशलता, बहादुरी और दूरदृष्टि में कोई कमी न थी । पर वे निज की सुविधाओं में कटौती ही करते रहते । रूखा-सूखा खाते और मोटा–झोटा पहनते ।

दरबारियों ने उन्हें सुख–सुविधापूर्वक रहने और अच्छी पोशाक पहनने के लिए प्रेरित किया । उन्होंने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा–"राजकोष प्रजा की अमानत है । मैं उसका सर्वोत्तम उपयोग करने के लिए संरक्षक मात्र हूँ । उसकी दौलत का भक्षक नहीं बन सकता ।"

वे जौ की रोटी खाते थे । किसी ने कहा देश में गेहूँ उपजता है फिर आप उसका उपयोग क्यों नहीं करते ? उन्होंने कहा–"कि क्या इतना गेहूँ उपजता है कि हर एक के हिस्से में पर्याप्त मात्रा में आ सके ? यदि नहीं तो किन्हीं को तो मोटे अनाज पर गुजर करनी ही पड़ेगी । यदि यह कार्य मैं करने लगूँ तो यह अच्छा ही रहेगा । इससे विषमता न पनपेगी और ईर्ष्या फैलने की गुंजाइश न रहेगी ।"

वे मोटा कपड़ा ही नहीं पहनते थे वरन् फट जाने पर उसमें पैबन्द लगा लेते थे । उनकी निजी पोशाक में बारह पैबन्द थे । कपड़े की कमी से उसे बाहर न धुलाते । स्वयं ही धोते और एक ही होने के कारण तब तक बाहर न निकलते जब तक कि वह सूख न जाता । सीरिया की विदेश यात्रा पर भी उन्होंने शाही पोशाक बनवाने की जरूरत नहीं समझी । वहाँ के लोग इस सादगी पर मुग्ध होकर रह गये ।

हजरत गरीब–अमीर सभी को अपने साथ बिठाकर खाने की प्रार्थना कराते । भोजन इतना सादा होता था कि न खाने वालों को संकोच होता और न राजकोष पर कोई बड़ा भार पड़ता । बावर्ची भी खीजता नहीं था । वे स्वयं

किसी के यहाँ भोजन करने जाते तो कीमती पकवानों को हाथ न लगाते । कहते–''इस प्रचलन से देश में फिजूलखर्ची, विलासिता और गरीबी बढ़ेगी । '' राजदूतों को भी वे वैसा ही खाना खिलाते ताकि वे अपने यहाँ ऐसी ही सादगी की आवश्यकता पर जोर दें ।

एक बार अकाल पड़ा । उन दिनों साधन जुटाने के प्रयत्नों के साथ उन्होंने जनता को इस बात के लिए प्रशिक्षित किया कि सभी मिलबाँट कर खायें और अपने हिस्से में कमी करें ।

एक बार निजी खर्च में तंगी पड़ी । मित्र से उधार ले लिया । उसने दे तो दिया पर साथ ही यह भी कहा–''आप तो शासनाध्यक्ष हैं । इतनी छोटी रकम तो राजकोष से भी उठा सकते हैं ।'' उन्होंने कहा–''यह परम्परा डालने पर अन्य कर्मचारियों से ऐसा करना कैसे रोक पाऊँगा ?''

राजकर्मचारियों की नियुक्ति करते समय वे हिदायत देते–''महीन कपड़े न पहनना । मैदा प्रयोग न करना । दरवाजे पर द्वारपाल न बिठाना । ताकि बिना रोक-टोक के प्रजाजन तुम तक अपनी बात कहने आ सकें ।'' नौकर नियुक्त करते समय उसकी निजी सम्पदा का हिसाब लिया जाता और बीच-बीच में उसे जाँचा जाता कि यह बढ़ तो नहीं रही है ।

मिस्र के इलाके की ओर नियुक्त किया गया एक अफसर महीन कपड़े पहनने व ठाट-बाट बनाने लगा था । शिकायत सही पाई गई तो उन्होंने उस अफसर को बुलवाकर कपड़े उतरवा लिए और एक कम्बल लपेटकर रहने तथा बकरियाँ चराने का काम दे दिया । अफसर अचकचाया तो उन्होंने कहा–''तेरा बाप भी तो बकरियाँ चराता था । किसी काम को छोटा समझना और बड़ी पदवी के लिए आग्रह करना बुरी बात है ।''

उस जमाने में शासकों के सामने हाथ बाँधकर खड़े होने और सिर पैरों पर रखने का रिवाज था । हजरत उमर ने उस रिवाज को बिल्कुल बन्द करा दिया और घोषित किया कि सभी इंसान खुदा के बन्दे और समान हैं ।

वे विचारशील लोगों से कहा करते थे कि ऊँट की तरह न रहो जो नकेल ढीली करते ही बेकाबू हो जाता है और लगाम खींचते ही गरदन मरोड़कर पीछे रख लेता है । दबाव का इन्तजार न करो । उसे स्वेच्छापूर्वक अपनाओ जो विवेकपूर्ण व न्यायोचित है ।

अमेरिका के ३१ वें राष्ट्रपति–

महान हर्बर्ट हूवर

महान हर्बर्ट हूवर जब केवल नौ साल के थे इनके माँ-बाप का देहान्त हो गया और वे संसार में अनाथ होकर अकेले रह गये । घर पर कोई ऐसी पैतृक सम्पत्ति भी न थी जो इनका सहारा बनती । इनके पिता लोहारी का काम करते थे और बहुत गरीब थे ।

गरीबी के कारण हूवर के माता-पिता इन्हें शिक्षा न दिला पाये थे, फिर इतनी कम आयु में वह पढ़ भी क्या पाते ? किन्तु घर पर माता-पिता के काम में हाथ बँटाते-बँटाते वे परिश्रमी स्वभाव के हो गये थे । हूवर अपने इस अनाथ-जीवन से घबराये नहीं । माता-पिता का शोक मनाने के बाद उन्होंने श्रम को अपना जीवन-सहचर बनाया और घर से चल निकले ।

सबसे पहले उन्होंने आयोवा में अपने एक चाचा के फार्म में कार्य करना शुरू किया । यद्यपि उनका चाचा उन्हें अधिक श्रम के काम में नहीं लगाना चाहता था और कुछ कृपा करना चाहता था । किन्तु कर्मठ पिता का पुत्र किसी की कृपा पर उस कच्ची आयु में भी निर्भर रहना नहीं चाहता था । बालक हूवर ने अपने चाचा के फार्म पर एक असम्बन्धित मजदूर की भाँति श्रम किया और अपने को लगन के साथ फार्म के विविध कामों को करने योग्य बनाया ।

इसके बाद औरेगौन में अपने दूसरे चाचा के भूमि और खान सम्बन्धी कार्यों में चले गये । अन्य कामों के साथ-साथ वे उसके कार्यालय में कुछ देर छोटे-मोटे काम करते, जिससे उन्हें कुछ पढ़ना-लिखना आ गया ।

अपने जीवन-संघर्ष में बहुत कम आयु से पड़ जाने के कारण उन्हें शिक्षा का कोई अवसर न मिला । किन्तु उनकी पढ़ने की जिज्ञासा दिनों-दिन प्रबल होती गई । अपने काम के बाद जो भी अवकाश मिलता, वह सारा समय पढ़ाई और पढ़े-लिखों के बीच बिताते ।

'जहाँ इच्छा है वहाँ मार्ग भी है' के सिद्धान्तानुसार लगभग १६-१७ साल की आयु में वे कैलीफोर्निया के नवीन स्थापित विश्वविद्यायल में किसी प्रकार पहुँच गये । यों वे विश्वविद्यालय में भरती तो हो गये, किन्तु वहाँ उनके खर्चे की समस्या सामने आई । स्वाभिमानी हूवर इस समय भी किसी की सहायता लेना नहीं चाहते थे । अस्तु, उन्होंने इस बार फिर अपने श्रम का सहारा लिया । विश्वविद्यालय के समय के बाद जो भी काम उन्हें मिल जाता, उसे पूरे परिश्रम से करते और उससे जो कुछ आय होती उससे अपना तथा शिक्षा का खर्च चलाते । इस प्रकार अपने अध्यवसाय और परिश्रम से उन्होंने छह वर्ष में इंजीनियरिंग की परीक्षा उत्तम श्रेणी से उत्तीर्ण की ।

किन्तु उस समय अमेरिका में इंजीनियरों की जरूरत न होने से विश्वविद्यालय से निकलते ही उन्हें कहीं कोई पद न मिल सका, पर इससे वे न तो निराश हुए और न हिम्मत हारे । उन्होंने पुनः अपने श्रम का सहारा लिया और एक साल तक एक सोने की खान में मजदूर का काम करते रहे । उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि मैं इंजीनियर की उपाधि रखने वाला किसी खान में मजदूरी कैसे करूँ, न कभी उन्होंने अपने साथी मजदूरों पर इसका रौब दिखाया और न अपनी इस योग्यता के लिये खान के मालिक से कोई रियायत चाही । वे वास्तव में एक मजदूर की भाँति काम करते और अपनी मजदूरी के पैसे लेते । इस मजदूरी

काल में वे केवल काम और दाम तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि अपने कुसमय को मजदूरों की गतिविधि और उनकी समस्याओं को समझने के रूप में सुअवसर बना लिया ।

एक वर्ष के घोर परिश्रम और ठोस अनुभवों के बाद उन्होंने एक खान-इंजीनियर के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया । प्रारम्भ से अब तक अभावों और कष्टों के बीच दिन-रात पसीना बहने के बाद आय, प्रतिष्ठा और सुविधाओं से पूर्ण इंजीनियर का पद पाकर किसी भी युवक के लिये काफी था कि वह अपने को चारों ओर से समेट कर भूतकाल की कठिनाइयों को याद करता हुआ वर्तमान की सुख-सुविधाओं का आनन्द बढ़ा-चढ़ा कर लेता और एक निर्विघ्न जीवन-यापन करता ।

किन्तु हूवर के विगत कठिन जीवन में उनमें एक ऐसी कर्मठता का जादू कर दिया था कि आराम से बैठकर खाना-पीना और मौज उड़ाना वे जानते ही न थे । संयोग-वश जो खान-इंजीनियर का पद उन्हें मिला था, उसमें बराबर दौरा करते रहना पड़ता था । महान हूवर ने इस अस्थिरता का खूब उपयोग किया । सात वर्षों में उन्होंने सात बार सारे विश्व का भ्रमण किया । अपने भ्रमणकाल में उन्होंने विश्व की समस्त गतिविधियों, समस्याओं और राजनैतिक वातावरण का बड़ा गहन अध्ययन किया । अपने अनुभवों में उन्हें मानवता के प्रति जो कसक मिली वह आजीवन उनके जीवन को मानव-कल्याण की ओर अग्रसर करती रही ।

विविध छोटी-मोटी सार्वजनिक सेवा-कार्यों के अतिरिक्त जो उन्होंने बड़ा और ठोस कार्य किया, वह था–प्रथम विश्वयुद्ध से प्रभावित बेल्जियम और फ्रांस के लिए सहायता कार्यक्रम को कार्यान्वित करना । उनका यह कार्य ही विश्व में अपने ढंग का अनोखा और उपादेय कार्य था । विश्व ने इसके लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे इसके लिए काफी प्रसिद्ध हो गये । अपनी इस महान निःस्वार्थ सेवा के लिए हूवर को २४ योरोपीय देशों से सम्मानित नागरिकता प्राप्त हुई ।

हर्बर्ट हूवर जिस समय राष्ट्रपति चुने गये, वह समय अमेरिका के अर्थतन्त्र के लिए बड़ा ही संक्रामक काल था । उस समय अमेरिका में इतनी मन्दी आई हुई थी कि अमेरिका के अर्थतन्त्र के असफल हो जाने का भय था । किन्तु हूवर ने अपनी दक्षता, योग्यता और परिश्रम के बल पर यह परिस्थिति सम्भाल ली । इस कार्य से वे इतने लोकप्रिय हो गये कि ह्वाइट-हाउस से संन्यास लेने के बाद आजीवन उनका मान राष्ट्रपति के समान ही होता रहा ।

राष्ट्रपति का कार्यकाल पूर्ण होने पर वे पुनः राजनीति की गतिविधियों से हटकर सार्वजनिक सेवाओं में लग गये । वह अपना अधिकाँश समय परोपकार और शिक्षा-प्रसार में बिताने लगे । उन्होंने अनेक शिक्षा-संस्थानों की स्थापना की, अनेक शिक्षा-सम्बन्धी योजनायें सरकार को दीं और अपना बहुत-सा धन पुरस्कारों और छात्रवृत्तियों के रूप में व्यय किया ।

किन्तु प्रेसीडेण्ट ट्रूमेन के समय में उन्हें पुनः साधारण सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र से उठकर विश्वव्यापक और उत्तरदायित्व पूर्ण सेवा-कार्य में संलग्न होना पड़ा ।

राष्ट्रपति ट्रूमेन ने उन्हें द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पड़े अकाल के निवारणार्थ संसार की खाद्य-स्थिति का अध्ययन करने का उत्तरदायित्व सौंपा, जिसके लिये उन्होंने योरोप और ऐशिया के लगभग ३७ देशों का दौरा किया, जिसमें उन्हें लगभग पचास हजार मील की यात्रा करनी पड़ी । उन्होंने उक्त दुर्भिक्ष के अध्ययन का जो विवरण अमरीकी सरकार को दिया उसके अनुसार ही दुर्भिक्ष से लड़ने का कार्यक्रम बनाया गया और सहायता, पुनःस्थापना व सहयोग आदि की योजनाएँ बनीं तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत बाल कोष की स्थापना हुई ।

नौ साल की आयु से ९० साल की आयु तक हूवर ने एक क्षण को भी आराम से बैठकर जीवन नहीं बिताया । वे सरकार और गैर सरकारी प्रत्येक रूप में मानवता की सेवा करते रहे । वे राजनीति को छल-नीति से बदलने के पक्षपाती न थे । उनका कहना था कि आवश्यकतानुसार राजनीति में जाना पड़ता है किन्तु जो आनन्द और आजादी उनसे अलग जन-सेवा में प्राप्त होती है, उसका राजनीति में अभाव है । सच्चे जन-सेवी राजनीति की शृंखला में बँधने की अपेक्षा स्वतन्त्र रहना अधिक पसन्द करते हैं ।

अपने इन्हीं महान विचारों और कार्यों के कारण श्री हर्बर्ट हूवर जीवन के अन्तिम क्षण तक अमरीकी जनता के श्रद्धा और संसार के सम्मान के पात्र बने रहे । जनता ने उन्हें सदैव सच्चे जन-सेवी के रूप में याद किया और यदा-कदा उनकी क्षमताओं का लाभ उठाती रही ।

लगातार घोर परिश्रम करने से जीवन के अन्तिम दिनों में वे अस्वस्थ हो गये, फिर यों कुछ न कुछ लिखते ही रहते और राजनीति, अर्थशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे ।

श्री हर्बर्ट हूवर यद्यपि आज संसार में नहीं हैं, किन्तु उनकी मानव-सेवायें मनुष्य जाति के हृदय में आज भी ताजी हैं और अमेरिकी जनता इस परोपकारी नेता, राज-नीतिज्ञ और सेवक को बड़ी श्रद्धा से याद करती है ।

सविनय-असहयोग आन्दोलन के प्रवर्तक–

हेनरी थोरो

"प्रभो ! मुझे इतनी शक्ति दे दो कि मैं अपने को अपनी करनी से कभी निराश न करूँ । मेरे हस्त मेरी दृढ़ता, श्रद्धा का कभी अनादर न करें । मेरा प्रेम मेरे मित्रों के प्रेम से घटिया न रहे । मेरी वाणी जितना कहे–जीवन उससे ज्यादा करता चले । तेरी मंगलमय सृष्टि का हर अमंगल पचा सकूँ इतनी शक्ति मुझ में बनी रहे ।"

रोम्याँ रोला ने इस प्रार्थना को पढ़कर कहा कि गीतकार की वाणी में उपनिषदों का प्रभाव है । गाँधीजी

की रचना इतनी भाई कि उन्होंने इसे 'प्रार्थनाओं की प्रार्थना' कहकर पुकारा ।

इस गीत का गायक लगता है कोई नवनीत हृदय संत रहा होगा पर आप को यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि यह गायक एक ऐसा सशक्त विचारक, सुदृढ़ व्यक्तित्व का था, जिसने अमरीका सरकार की नैतिक और आर्थिक ज्यादतियों के विद्रोह में एक ऐसे तत्वदर्शन को जन्म दिया जो एक साधारण व्यक्ति को भी चट्टान की तरह मजबूत और स्थिर बना सकता है ।

उस तत्वदर्शन की शक्ति को वह सभी जानते होंगे जिन्होंने महात्मा गाँधी का जीवनचरित पढ़ा होगा । 'सविनय असहयोग आन्दोलन' जिसके बल पर किसी दिन भारतवर्ष का एकछत्र संगठन स्थापित हुआ और जिसके सामने ब्रिटिश-सामन्तशाही को झुकना पड़ा, गाँधी जी ने यह मंत्र उसी व्यक्ति के जीवन से पाया था-उसका नाम था हेनरी डेविड थोरो ।

थोरो का जन्म लगभग सन् १८२५ में अमरीका में हुआ था । लोकतन्त्र का काफी विकास हो चुका था तथापि वोटों से जीते हुये राजनेताओं में आर्थिक शोषण, लाल फीताशाही और ज्यादतियों की वही स्थिति थी जो आज भारतवर्ष में दिखाई देती है । थोरो ने कहा-लोकतन्त्र पर मेरी आस्था है, पर वोटों से चुने गये व्यक्ति स्वेच्छाचार करें मैं यह कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता । राज-संचालन उन व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए जिनमें मनुष्य मात्र के कल्याण की भावना और कर्त्तव्य-परायणता विद्यमान हो और जो उसकी पूर्ति के लिये त्याग भी कर सकते हों ।

किसी ने कहा-"यदि ऐसा न हुआ तो ?" तो उस राज्य सत्ता के साथ हम कभी भी सहयोग नहीं करेंगे चाहे उसमें हमें कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े ।" इसके लिये उसने जो कदम उठाया वह विध्वंसात्मक नहीं लोकतांत्रिक ही था ।

उसका सत्याग्रह लोगों को इतना भाया कि थोड़े ही दिनों में अमेरिका में उसके समर्थकों की भीड़ लग गई । इसी समय दास प्रथा को कायम रखने में मदद करने वाला 'पोल-टैक्स' लगाया गया । थोरो को उसके विरोध में पकड़ा गया और जेल भेज दिया गया । जेल में उसे अनेक तरह की यातनायें दी गईं पर उसने मानवीय स्वत्वाधिकार के विरुद्ध कभी भी झुकना स्वीकार न किया । जेल जाते समय अपने अनुयायियों से उसने कहा-"भाइयो ! मनुष्य जीवन का कोई मूल्य नहीं यदि वह अपने पीड़ित भाइयों के काम नहीं आता । अन्याय चाहे अपने घर में होता हो या बाहर उसका विरोध करने से नहीं डरना चाहिए और कुछ न कर सके तो भी बुराई के साथ सहयोग तो करना ही नहीं चाहिए ।"

अमरीकनों के दिलों में बात घर कर गई । सरकार प्रबल जन-प्रतिरोध देखकर घबड़ा गई और अन्त में उसे झुकना पड़ा । दास-प्रथा का अन्त कराने के साथ-साथ राजनीतिकों में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में भी इस आन्दोलन को प्रमुख स्थान दिया जाता है । थोरो जीवन भर ऐसी ही विचारधारा का प्रसार करते रहे ।

बुराइयाँ चाहे राजनैतिक हों अथवा सामाजिक, नैतिक या धार्मिक जिस देश के नागरिक उनके विरुद्ध उठ खड़े हो जाते हैं, सविनय असहयोग से उसकी शक्ति कमजोर कर देते हैं वहाँ अमेरिका की तरह ही सामाजिक जीवन में परिवर्तन भी अवश्य होते हैं । आज हमारे देश में भी एक ऐसी ही लोकतांत्रिक क्रांति की आवश्यकता है ।

कर्मयोगी सन्त—

सम्राट हिरोहितो

वर्षा ऋतु आई, एक किसान अपने खेत की ओर चल पड़ा, दूसरे किसान खड़े देख रहे थे उसकी हिम्मत वह खेत तक कैसे जाता है, किस प्रकार उसकी जोताई करता है, कैसे उसमें धान रोपता है और फसल काटकर किस प्रकार अपने पोषण के लिये बढ़िया चावल तैयार कर अपने अन्न गोदाम में जमा कर लेता है ।

कृषि को किसान का सहज स्वाभाविक धर्म है, इसमें आश्चर्य की क्या बात ? दरअसल आश्चर्य यह है कि यह किसान कोई सर्व साधारण किसान नहीं जापान के सम्राट हिरोहितो हैं-कर्मयोगी हिरोहितो-महाराज जनक की तरह वह अपनी आजीविका आप कमाते हैं । सत्ताधीश होने का अर्थ उसकी हुकूमत, वैभव, विलासिता और दंभ नहीं प्रजा की सेवा माना है । सत्ताधिकारी का आदर्श क्या हो ? वे इसके मूर्तिमान प्रतीक कहे जा सकते हैं । प्रतिवर्ष बसन्त और वर्षा ऋतु में अपने खेतों पर अपने हाथ से काम करके उन्होंने यह दिखाया कि परिश्रम मनुष्य जीवन का सौन्दर्य है, स्वास्थ्य की रक्षा करता है और सबसे बड़ी बात है कि मनुष्य का मूल्य भी उसका परिश्रमी होना ही बढ़ाता है ।

कुछ लोग पदाधिकार और शासन-सत्ता पा जाने पर यह मान लेते हैं कि उनके जीवन का उद्देश्य मात्र सुखोपभोग और आदेश चलाना रह गया पर सम्राट हिरोहितो की मान्यता उस अन्धविश्वास से भिन्न थी । उनका कहना था कि शासन की सामाजिक और राष्ट्रीय जिम्मेदारी का पालन करते हुए भी व्यक्ति को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह अन्ततः एक मनुष्य ही है भगवान नहीं, सो मानवीय प्रतिभा के विकास का मार्ग किसी भी स्थिति में नहीं रुकना चाहिए । हिरोहितो इस बात के जीते जागते उदाहरण थे ।

वनस्पतिशास्त्र के विद्यार्थी होने के कारण उनकी बाल्यावस्था से ही इस विषय में गहन अभिरुचि थी । विद्यार्थी जीवन से निकलने के बाद भी हिरोहितो ने अपनी इस अभिरुचि को बनाये ही नहीं रखा वरन् वनस्पतिशास्त्र

तथा जीवशास्त्र की अपनी जानकारियों को शोध का रूप प्रदान किया । मनुष्य के पास बुद्धि थोड़ी है पर यह कोई निराशाजनक बात नहीं है, दुःखद बात यह होती है कि मनुष्य अपनी बुद्धि का विवेकजन्य उपयोग नहीं करता इसीलिये वह जहाँ की तहाँ स्थिति में पड़ा रहता है हिरोहितो ने अपनी प्रारम्भिक जानकारियों के आधार पर वनस्पति और जीवशास्त्र का गम्भीर अध्ययन कर आठ पुस्तकें लिखने की उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की, इसके बाद भी उनके जीवन का यह क्रम बन्द न हुआ । उनका कहना था सौ पुस्तकें लिखने और अपनी भावी पीढ़ी को पका पकाया ज्ञान और अनुभव दे जाने की लालसा में अपनी मृत्यु तक अवश्य पूरी कर लूँगा । उसके लिये अपने समय के हर क्षण का उपयोग वे प्रयोगशाला और खुले आकाश में जाकर अध्ययन किया करते थे ।

'इम्पीरियल हाउस होल्ड' नामक संस्था शाही परिवार का खर्च उसकी व्यवस्था जुटाती थी । इस संस्था के मत में 'हिरोहितो सम्राट कम संत अधिक हैं'- सचमुच ही उन्होंने अपने जीवन में संत के गुणों को धारण करने का सदैव प्रयास किया । मानवीय दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए झूठा अहंकार उन्होंने कभी भी प्रदर्शित नहीं किया । अमेरिका के साथ युद्ध में राजप्रासाद ध्वस्त हो गया था । 'इम्पीरियल हाउस होल्ड' ने बाद में एक विशाल भव्य और आधुनिकतम राजमहल बनाने की योजना तैयार की । पाँच एकड़ भूमि में लगभग ५० करोड़ की लागत से पुख्ता कंक्रीट का महल बनाये जाने का प्रस्ताव था-सम्राट के सामने यह योजना आई तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उसे अस्वीकार करते हुये अपनी वेदना इन शब्दों में व्यक्त की-अमेरिका की बमबारी से मेरी बहुत-सी प्रजा के घर नष्ट हो चुके हैं, देश अभी गरीब है, जिन लोगों के पास खाने को नहीं, जिनके अपने मकान नहीं उन्हीं के पैसों से मेरे लिये भव्य महल बने यह मानवता और देशभक्ति के नाम पर अपमान है, जब तक जापान का हर नागरिक उद्योग में नहीं लग जाता, जब तक सब के अपने घर नहीं हो जाते मैं अपने लिये नया राजप्रासाद कदापि स्वीकार नहीं कर सकता ।

मंत्रिमंडल को यह बात पसंद नहीं थी कि शाही परिवार एक साधारण मकान में रहे । 'इम्पीरियल हाउस होल्ड' की मान्यता भी ऐसी ही थी इसलिये इन पर फिर से जोर डाला गया । उन्होंने पहले तो योजना को आधा किया फिर यह वचन लिया कि जब इमारत बन जायेगी तो उसमें उनका स्टाफ और राज कर्मचारियों के कार्यालय काम करेंगे । उनका भी एक ऑफिस उसी में रहेगा । अपना निवास स्थान वे अपने पुराने महल में ही रखेंगे । आदर्शों के आगे किसी की एक न चली और अन्ततः यह योजना ही अन्तिम रूप से क्रियान्वित हुई ।

सम्राट हिरोहितो प्रजा के स्वास्थ्य के प्रति बहुत जागरूक थे । सामान्य प्रजाजन में खेल-कूद के प्रति अभिरुचि बनाये रखने के लिये वे स्वयं भी प्रतिदिन नियमित रूप से खेलते थे । यहाँ तक कि उन्होंने कुश्ती का अभ्यास करने के लिये भी अपने लिये क्रीड़ा निर्देशक सुमोदारा को नियुक्त कर रखा था । प्रजाजन को इस बात का पता चला कि उनका राजा एक सामान्य व्यक्ति के साथ मल्लविद्या का अभ्यास करता है तो लोगों को अच्छा नहीं लगा, विरोध उन तक भी पहुँचा तब उन्होंने अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रजा की इच्छा का आदर अवश्य किया किन्तु अपनी खेलों के प्रति अभिरुचि को उन्होंने छोड़ा नहीं । उसी का परिणाम है कि आज जापान समस्त एशिया का प्रथम श्रेणी का खिलाड़ी देश है । किसी ने सच ही कहा है 'जैसा राजा वैसी प्रजा' आज हमारे देश में प्रजातंत्र है पर प्रजा और सत्ताधिकारियों के बीच जमीन-आसमान का अन्तर है । आदर्श सिद्धान्त की बातें भाषणों में तो बहुत की जाती हैं पर व्यावहारिक दृष्टि से प्रजा जब अपने मार्गदर्शकों को खोखला पाती है तो वह भी फिसल जाती है यही कारण है कि इतने वर्ष की स्वाधीनता के बाद देश अपनी आन्तरिक समर्थता, स्थिरता, अनुशासन और व्यवस्थायें जमा नहीं पाया । राष्ट्रीय जीवन भ्रष्ट और खोखला है तो उसका दोष उन राजनेताओं पर है जो बातें तो हिरोहितो से भी ऊँची करते हैं पर करनी में सिवाय गन्दगी के और कुछ परिलक्षित नहीं होता । देश हिरोहितो की तरह से कर्मवादी होकर ही अपनी समर्थता चरितार्थ कर पाता है भाषणों और लेखनी से नहीं ।

हिरोहितो को पश्चिमी सभ्यता के रंग में लाने की कोशिश की गई । होटलों में उन्हें पश्चिमी जीवन की आकर्षक रंगीनियों की ओर आकर्षित किया गया । सुरा-सुन्दरी के दिवास्वप्न उन्हें आतिथ्य में प्रदान किये गये पर वे विचारशील थे । तात्कालिक इन्द्रिय सुखों के प्रलोभन में यथार्थ से आँख मूँदना उन्हें मानवीय बुद्धि और विवेक का अपमान लगा । उन्होंने पश्चिमी जीवन दर्शन का गहराई से अध्ययन किया तो मिला कि यौवन और सौन्दर्य के उन्माद का एक और रस है वहाँ का सामाजिक पारिवारिक जीवन बहुत विषाक्त है । ऐसी रंगीनी को उन्होंने ठुकरा दिया और इस अध्ययन से उन्हें मानव जीवन के यथार्थ की ओर झाँकने का अवसर मिला । फलतः हिरोहितो का मन अध्यात्मवाद की ओर मुड़ता गया उन्होंने संत सामाने जी को अपना आध्यात्मिक मार्गदर्शक चुना और उनके आदेशानुसार अपने आप को पारमार्थिक लक्ष्य की ओर गतिशील बनाये रहे ।

इतना सब होते हुये भी वे परम्परावादी नहीं थे । नियमानुसार राजपरिवार कुछ सीमित कुलीन वंशों में से साम्राज्ञी चुनते जा रहे थे । वही बात जब हिरोहितो के सम्मुख आई तो उन्होंने कहा सारा मनुष्य परिवार एक है-संस्कार और विशेषतायें किन्हीं वंशों तक ही सीमित नहीं छोटे से छोटे व्यक्ति में भी महानता के संस्कार हो सकते हैं । इस धारणा के अनुसार ही उन्होंने अब तक चली आ रही परिपाटी तोड़ दी और एक गरीब घर की सुशील कन्या को ही अपनी धर्मपत्नी चुना ।

सम्राट होकर हिरोहितो ने एक सामान्य किन्तु असाधारण जीवन जीकर यह बता दिया कि मनुष्य जीवन का मूल उद्देश्य सुखोपभोग नहीं है, समाज और स्वदेश की सच्ची सेवा करते हुये आत्म कल्याण करना है । उनका यह आदर्श चिरकाल तक हर वर्ग के व्यक्ति को मार्गदर्शक प्रकाश देता रहेगा ।

अफसोस कि मेरे पास एक ही जीवन है--
हैलनैथन

संयुक्त राज्य अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम लगभग ६ वर्षों तक चला था । एक ओर थे स्वाधीनता प्रेमी क्रान्तिकारी, जो जार्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में अपने भाग्य को बनाने का अधिकार स्वयं प्राप्त करने के लिये लड़ रहे थे तो दूसरी ओर थी अधिकार और साधन सम्पन्न ब्रिटिश सेनायें । इस स्वतन्त्रता युद्ध में कई उतार-चढ़ाव आये । कभी क्रान्तिकारियों का पलड़ा भारी होता तो कभी सत्तारूढ़ विदेशी सरकार की दमनकारी सेनाओं का । सन् १७७६ ई० में ब्रिटिश सेनाओं का पक्ष मजबूत था । वैसे भी ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला करना कोई हँसी खेल नहीं था पर स्वतन्त्रता प्रेमी अमेरिकी नागरिक जीवन साहस और हौसले के बल पर उस गम्भीर चुनौती का सामना कर रहे थे । शस्त्रास्त्र और साधनों के अभाव में उस वर्ष कुछ ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित हुई कि जार्ज वाशिंगटन को पीछे हटना पड़ा और कब्जे में आया आइलैण्ड का मोर्चा एक बार फिर शत्रुओं के हाथ में चला गया । इससे क्रान्तिकारियों के खेमे में एक बारगी निराशा दौड़ गयी । कुछ लोग यह सोचने लगे कि ब्रिटिश राज्य में कभी सूर्य अस्त न होने की बात एक दम सही है और उसे झुठलाना आसान नहीं है ।

इस प्रकार निराश होने वाले क्रान्तिकारियों में कई ऐसे बुलन्द हौसले के व्यक्ति भी थे जो अपनी विजय को सुनिश्चित मानकर चल रहे थे और अगली रणनीति क्या हो इस पर विचार-विनिमय कर रहे थे । इस विचार-विनिमय के दौरान इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सका कि किसी प्रकार ब्रिटिश सेना की गतिविधियों का रहस्य पता लगाया जाय और उसी के अनुरूप अपनी रणनीति तय की जाय ताकि विजय असंदिग्ध रहे । निष्कर्ष तो निकाल लिया गया परन्तु प्रश्न उठा कि इस प्रकार प्रत्यक्ष मौत के मुँह में घुसने का साहस कौन करे ? अधिकारियों का विश्वास प्राप्त करना आवश्यक था । स्वाभाविक ही इस कार्य में जोखिम उठाने का साहस और परिस्थितियों को देखकर तत्काल निर्णय लेने की सूझ-बूझ का एक साथ होना आवश्यक था । जब इस प्रश्न पर विचार किया जा रहा था कि इस मुहिम पर कौन जाये तो वहाँ उपस्थित एक सैनिक अधिकारी ने कहा-"मैं जाऊँगा ।" किसी को इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता तो सम्भव था कि वह अपेक्षित साहस और उत्साह न जुटा पाता । किन्तु उक्त सैनिक अधिकारी ने इस कार्य के लिए स्वयं को प्रस्तुत किया और कहा-"मैं जानता हूँ कि युद्ध के मोर्चे की अपेक्षा शत्रु सेनाओं के कैम्प में जाना अधिक जोखिम का काम है । किन्तु हम लोग अपने परिवार वालों से अन्तिम विदा लेकर आते हैं और यह मानकर चले हैं कि मौत कभी भी आ सकती है तो उसे टालने के लिए क्यों बगलें झाँका जाय ।"

हैलनैथन का यह उत्साह देखकर न केवल उपस्थित दूसरे सैनिकों में विजय की आशा जगी वरन् उसमें भी वैसा ही उत्साह उमगने लगा । वे भी इस बात के लिए कृतसंकल्प दिखाई दिये कि गोली खायेंगे तो सीने में । जीते जी पीछे न हटेंगे और न पीठ दिखायेंगे । हैलनैथन ने इस खतरनाक और जोखिम भरे कार्य में स्वयं को झोंककर आत्माहुति दे दी परन्तु उसकी आत्माहुति भी एक इतिहास बन गयी और अमेरिकावासी हैलनैथन का नाम भी श्रद्धा व आदर के साथ लेते हैं ।

राष्ट्रहित के लिए, समाजहित के लिए स्वयं को झोंक देने की उत्सर्ग भावना के बीज हैलनैथन में बचपन से ही पड़ गये थे । यद्यपि उनका जन्म एक कृषक परिवार में हुआ था किन्तु सेवा और कष्ट-पीड़ितों की सहायता के लिए जोखिम उठाने के संस्कार उन्हें अपने परिवार से विरासत के रूप में मिले थे । जब भी कभी ऐसी घटना होती जिसमें हैलनैथन दूसरों के लिए कुछ करते तो उन्हें अपने माता-पिता से प्रोत्साहन मिलता था । एक बार की घटना है, वे अपने साथियों के साथ गाँव के पास ही एक झील के किनारे खेल रहे थे । उसी झील में कुछ बड़ी उम्र के लड़के मछलियाँ पकड़ रहे थे । उनमें से एक लड़के को न जाने क्या सूझी कि वह गहरे पानी में जाकर मछलियाँ पकड़ने लगा । साथियों ने मना किया तो भी वह नहीं माना और गहरे पानी में आगे बढ़ता ही चला गया ।

झील में एक गड्ढा था, वह वहाँ तक पहुँच गया और यकायक ही उसका पैर फिसल गया । हड़बड़ाहट में उसने हाथ-पैर मारे किन्तु कुछ बन न सका । किनारे पर मछलियाँ पकड़ रहे लड़के शोर मचाने लगे किन्तु किसी में इतना साहस नहीं हुआ कि वे डूबते हुए साथी तक तैर कर जाते और उसे बचाने की कोशिश करते । किनारे पर खेल रहे हैल ने जब यह चीख-पुकार सुनी तो वह भागता हुआ आया, चिल्ला रहे लड़कों से पूछने लगा कि क्या बात है ? सारी स्थिति को तुरन्त समझकर वह झील में कूदा और आयु तथा शरीर में अपने से दुगने लड़के को आनन-फानन में निकाल कर ले आया और कोई माता-पिता होते हो इस जोखिम भरे साहस के लिए समझाते-बुझाते और आगे से वैसा न करने के लिए कहते किन्तु हैलनैथन के माता-पिता ने न केवल उसकी सराहना की वरन् उसे एक सुन्दर पुरस्कार लाकर भी दिया । उस समय हैल के पिता ने अपने बेटे को प्रोत्साहित करते हुए कहा था-"बेटे जोखिम तो सभी कामों के लिए उठाना पड़ता है

परन्तु दूसरों की भलाई के लिए उठायी जाने वाली जोखिम सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

स्वतंत्रता संग्राम के मोर्चे पर ब्रिटिश सेनाओं के भेद लाने को जोखिम उठाकर हैलनैथन ने अपने पिता की सीख को सर्वाधिक श्रेष्ठ ढंग से जीवन में उतार लिया था । क्योंकि तब किसी दूसरे व्यक्ति या वर्ग विशेष का नहीं, समूचे राष्ट्र का हित सामने था । इससे पूर्व भी हैलनैथन ने पढ़-लिखकर कोई लाभदायक व्यवसाय करने की अपेक्षा अपने लिए अध्यापन का पेशा चुना था । यह जानते थे कि शिक्षा ही किसी देश के चरित्र को ऊँचा उठाती है और किसी के चरित्र की सुदृढ़ आधारशिला रख देना उसका सबसे बड़ा लाभ कर देना है । वे अपने विद्यार्थियों को केवल स्कूल में ही नहीं घर पर भी पढ़ाया करते, यही नहीं अन्य निरक्षर व्यक्तियों को भी शिक्षा का महत्व समझा कर उन्हें पढ़ने-लिखने के लिए प्रेरित करते रहते थे ।

हैलनैथन ने अपने छात्रों के लिए शिक्षण की अनूठी ही शैली अपनायी थी । तथ्यों की जानकारी के अलावा वे अपने व्यक्तित्व से ही छात्रों का शिक्षण करते थे । उज्ज्वल चरित्र, आदर्श कर्त्तव्य, देशभक्ति, समाज सेवा और राष्ट्रीयता के भावों का विकास उनके सम्पर्क में रहने वाले छात्रों में अपने आप ही होने लगता । निष्ठा और लगनपूर्वक वे अध्यापन कार्य में लगे हुए ही थे कि स्वतन्त्रता-युद्ध का उद्घोष हुआ । जार्ज वाशिंग्टन के नेतृत्व में देश उठ खड़ा हुआ और उत्साही व्यक्ति इस समय कूद पड़े । सेवा परायणता और देशहित की प्रेरणायें बचपन से ही प्राप्त करते रहने वाले हैलनैथन कैसे पीछे रहते ? वे भी समाज में कूद पड़े । उनके साहस, शौर्य और उत्साह ने उन्हें जार्ज वाशिंगटन के साथ लड़ने वाली अग्रपंक्ति में पहुँचा दिया ।

और जब आईलैण्ड के मोर्चे पर पराजय की स्थिति आयी तो भी हैल ने सबसे बढ़ा-चढ़ा उत्साह दर्शाया, वे एक डच अध्यापक का वेश बनाकर ब्रिटिश लाइनों में पहुँचे और अपना उत्तरदायित्व इतनी कुशलता के साथ निभाया कि किसी को भी संदेह न हुआ । वे काफी समय तक अपना काम बखूबी करते रहे । इस प्रकार सैनिक रहस्य स्वतन्त्रता सेनानियों के पास पहुँचते रहे और उन्हें विजय भी मिलती रही । ब्रिटिश सेनाओं का हर दाँव असफल जाता । बार-बार मिलने वाली पराजय और उसके कारणों को जानने के लिए सैनिक अधिकारियों की पैनी दृष्टि ने हैलनैथन का रहस्य खोल दिया और गिरफ्तार कर लिये गये । युद्ध नियमों के अनुसार उन्हें मृत्यु दण्ड दिया गया । उस समय हैलनैथन ने जो शब्द कहे वे असंख्यों देशभक्तों और समाजसेवियों के लिए प्रेरणा बन गये । उन्होंने कहा-"मुझे अफसोस है तो सिर्फ एक बात का कि मेरे पास अपने देश के लिये, अपने समाज के लिए न्योछावर करने हेतु एक ही जीवन है ।"

नाजी दुरभिसन्धि से जूझने वाला-

होराल्ड

संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति डिग्विट डी आइजनहावर ने अपनी पुस्तक 'क्रूसेड इन यूरोप' में लिखा है "यदि जर्मन अपने नवीन अस्त्रों को जिस समय काम में ला सके उसके छह महीने पहले यदि उन्हें काम में ला सके होते तो यूरोप पर मित्र राष्ट्रों का आधिपत्य रह पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाता ।"

जर्मन चाहते थे कि उनके नवीनतम अस्त्र वी-१ बम का प्रयोग वे इंग्लैण्ड को पूर्णतया नष्ट करने के लिए १९४३ के अन्तिम महीनों में ही हो जाय । हिटलर ने अकेले लन्दन नगर पर ५० हजार वी-१ बम गिराने का लक्ष्य रखा था । वह अपने इस अभिप्राय को पूरा नहीं कर सका । ५० हजार के बजाय जर्मन बमवर्षक केवल २ हजार बम ही गिरा सके । उनसे ही लन्दन की दुर्गति हो गई थी । जबकि ये बम १९४४ के मध्य में गिरे थे तब तक मित्र राष्ट्र पूरी तरह सँभल चुके थे तथा सं० रा० अमेरिका की सहायता उन्हें मिल गई थी ।

यह देरी जर्मनी की तरफ से नहीं हुई थी, न वे असावधान थे । किन्तु उनके इन भ्रष्ट इरादों को मिट्टी में मिला देने के लिए एक व्यक्ति अपनी जान पर खेला था । तथा उसकी सूचनाओं के कारण ब्रिटिश वायु सेना उन बम-वर्षक अड्डों को भूमिसात कर सकी थी जहाँ से लन्दन समूचे इंग्लैण्ड पर वी-१ नामक बमों की वर्षा की जाने वाली थी । यह साहसी व्यक्ति था फ्रांस का एक साधारण औद्योगिक डिजाइनर माइकल होराल्ड ।

यह पेरिस के एक अनुसन्धान केन्द्र का अल्प वेतन भोगी कर्मचारी था । द्वितीय विश्वयुद्ध के समय पेरिस पर जब जर्मन सेना का अधिकार हो गया तो उसके मालिक को भी जर्मनों के लिये काम करना पड़ा ।

माइकल साधारण कर्मचारी तो था फिर भी उसमें अपने देश तथा विश्व-मानव के प्रति श्रद्धा भक्ति थी । वह जानता था कि हिटलर सारे विश्व का अकेला निरंकुश शासक बनना चाहता है तथा सब देशों को जर्मनी के अधिकार में ले आने का कुचक्र रच रहा है, तो उसके सहयोग के लिये कार्य करना उस जैसे स्वतन्त्रताप्रिय मनुष्य के लिए सम्भव नहीं हो सका । उसने अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया ।

उसने केवल अपनी नौकरी से ही त्यागपत्र नहीं दिया वरन् स्वयं भी हिटलर तथा उसके घृणित नाजी समर्थकों के विरुद्ध संघर्ष करने की ठान उठा ।

वह मित्र राष्ट्रों विशेषकर ब्रिटेन के लिये अपनी जासूसी सेवाएँ देना चाहता था । उसने उसी के उपयुक्त काम भी चुन लिया । उसने ऐसे निर्माता के यहाँ काम शुरू कर दिया जो लकड़ी के कोयलों से चलने वाले गैस जनरेटरों का निर्माण करता था ।

उसे अपने इस सेवाकाल में कई बार जंगलों में जाना तथा कोयला उत्पादन का काम देखना पड़ता था। यह लकड़ी का कोयला बनाने वाले क्षेत्र फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड की सीमा पर थे। यह उसके लिये उपयुक्त कार्य क्षेत्र था।

माइकल होराल्ड ने यह निश्चय किसी भावुकता अथवा आवेश में नहीं किया था। इसके पीछे उसकी अन्तःप्रेरणा थी जो उसे प्रेरित कर रही थी कि विश्व शान्ति को संकट उपस्थित करने वालों की घृणित कामनाओं के विरुद्ध उसे जमकर संघर्ष करना है, चाहे इसमें प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े।

मनुष्य के अन्तःकरण में ईश्वर के सत्कार्यों के लिये साहस कर गुजरने की अद्‌भुत सामर्थ्य प्रदान की है। यह सामर्थ्य प्रत्येक दिशा में फूट पड़ती है। यही सामर्थ्य उसे कुछ कर गुजरने के लिये विवश कर रही थी।

उसने विश्वयुद्ध के दौरान ४९ बार फ्रांस तथा स्विट्जरलैण्ड की सीमाओं को पार किया था। फ्रांस में जर्मनी का अधिकार था तथा स्विटजरलैण्ड तटस्थ राष्ट्र था। यहाँ उसे ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर मिल जाते थे जिन्हें वह जर्मन सेना की गतिविधियाँ तथा बमवर्षक अड्डों के पते व नक्शे दिया करता था।

उसने पूरे एक अभियान का सूत्र संचालन किया था। जर्मनों की गतिविधियों का पता वह अकेला नहीं लगा सकता था। उसने अपने मित्रों, परिचितों तथा ऐसे देशभक्तों का एक संगठन बनाया जो अपने देश को जर्मनों के पंजों से छुड़ाना चाहते थे तथा विश्व संकट को दूर करना चाहते थे।

बुरे काम के लिये चोर-डाकुओं को भी साथी सहयोगी मिल जाते हैं तो एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर चलने वाले को साथी क्यों न मिलते? पहले वह अकेला इस काम में जुटा फिर उसके साथियों की संख्या बढ़ती गई। यह संख्या तीस वर्षों में १२० तक पहुँच गई। इनमें से बीस जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिये गये तथा मृत्यु के घाट उतार दिये गये।

होराल्ड तथा उसके साथियों ने सबसे बड़ा काम जो किया गया वह बी-१ बमवर्षक अड्डों की सूचना एकत्रित करके ब्रिटिश सरकार तक पहुँचाना था।

ये अस्त्र बिना चालक के वायुयानों द्वारा गिराये जाते थे। इस प्रकार के भयानक अस्त्र अन्य किसी देश के पास नहीं थे। फ्रांस में इनके चार अड्डे बन रहे थे।

होराल्ड के कान में इस प्रकार के अस्त्रों की भनक पड़ी तथा यह ज्ञात हुआ कि ये अड्डे यहाँ फ्रांस में भी बन रहे हैं तथा इनमें जो मजदूर काम में लगाये गये हैं वे स्विस हैं जिससे कि उनका भेद कोई जान न पाये। यह बड़ी सावधानी तथा गुप्त रीति से बनाये जा रहे थे।

वह यह खबर सुनकर काँप उठा। उसने तीन वर्ष तक अपनी बीबी-बच्चों का मुँह नहीं देखा। दिन-रात ऐसे गुप्त अड्डों की खोज में भटकना ही उसका काम था। उसके साथी तथा वह साइकिलों पर पूरे देश का चप्पा-चप्पा छानने लगे। उनके न कोई खाने का समय था, न सोने का। जो मिल जाता खा लेते तथा जहाँ जगह मिल जाती वहीं पड़े रहते। पूरे तीन वर्षों तक उसकी यह तपस्या चलती रही।

जहाँ भी नई इमारत बन रही होती वहाँ मजदूर के वेश में, भिखारी के वेश में वह पहुँच जाता तथा पता लगाता कि यहाँ कोई बमवर्षक अड्डा तो नहीं बन रहा है।

उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता भी मिल रही थी। तीन सप्ताह में ही उन्हें साठ ऐसे अड्डों का पता लग गया था। चौथे सप्ताह में चालीस का और पता चला। यह सब दो सौ मील के घेरे में बन रहे थे।

अड्डों का पता लगा लेना ही काफी नहीं था। उनकी पूर्ण स्थिति के नक्शे बनाना तथा बनने वाले अड्डों के ट्रेस लेना और उन्हें ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों के हाथ में पहुँचाने का जोखिम भरा काम भी वही करते थे। होराल्ड इस प्रयास में कई बार क्रूर नाजियों के चंगुल में फँसते-फँसते बचा था।

सीमा पार करना बड़ा ही साहस का काम था। फ्रांस की सीमा पर जर्मन सैनिक तथा उनके खूँख्वार कुत्ते मनुष्य की गन्ध पाते ही उस ओर लपकते थे। ऐसे कड़े पहरे को पार करके स्विट्जरलैण्ड की सीमा में पहुँचना तथा वहाँ से पुनः फ्रांस की सीमा में घुस आना पूरी तरह जान पर खेलना था।

एक बार सीमा की कँटीली बाड़ फाँदते समय होराल्ड की पिन्डली जर्मन सैनिकों के कुत्ते ने पकड़ ली। उस समय वह एक घसियारे के वेश में था। उसके पास आलुओं से भरी एक टोकरी थी जिसमें वे गुप्त कागजात रखे हुए थे जिनमें अड्डों के नक्शे थे।

होराल्ड के पास कोई शस्त्र भी नहीं था। उसने ऐसी विकट परिस्थिति में साहस नहीं छोड़ा। उसके हाथ में एक लकड़ी मात्र थी। उसका एक भरपूर वार कुत्ते की नाक पर किया वह चारों खाने चित्त हो गया तथा होराल्ड ने तुरन्त अपनी राह ली।

तीन वर्षों में वह थक कर चूर हो चुका था। दिन-रात की दौड़ तथा सिर पर मँडराती पकड़े जाने की आशंका के बीच वह अपना काम करता रहा था। जर्मनों को आश्चर्य होता था कि उनके बनते हुए अड्डे किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं। इंग्लैण्ड में बैठे चर्चिल को कैसे इन गुप्त भेदों का पता चल जाता है।

वे अपने इरादों को धूमिल होते देखकर बौखला उठते। नाजी गुप्तचर गली-गली में इस प्रकार की सूचना भेजने वालों की टोह लेते घूमते-फिरते थे। इन सब के बीच माइकल होराल्ड विश्व को अपनी पराधीनता के दमन चक्र से बचाने के लिये प्राणपण से जूझता रहा। वह जानता था कि इंग्लैण्ड का पतन हो जाने पर जर्मनी की

शक्ति से लोहा लेना किसी के बस का नहीं रहेगा । वह अपने उद्देश्य को पूरा करने में सफल रहा । यद्यपि वह युद्ध के अन्तिम समय में जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिया गया था तथा फ्रांस में अपनी हार होती देखकर उसे अन्य बन्दियों के साथ एक अँधेरे जहाज में बैठाकर उस जहाज को समुद्र में उतार दिया था । किन्तु मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है । एक रेडक्रासशिप की सहायता से वे सब मनुष्य बच गये ।

अपने इस साहसिक कृत्य के लिये माइकल होराल्ड को ब्रिटिश सेना का सर्वोच्च पदक प्रदान किया गया । उसके ले जाने के लिये राजकीय वायु सेना का वायुयान आया तथा पूरे सम्मान से वह पदक भेंट किया गया । वह इस सर्वोच्च सैनिक पदक को पाने वाला प्रथम विदेशी नागरिक था ।

इतिहास के पृष्ठों में माइकल होराल्ड का नाम जब तक रहेगा विश्व–मानवता के लिए अपनी जान जोखिम में डालने वालों का प्रेरणा स्रोत बना रहेगा ।

वियतनाम के राष्ट्रपिता–
हो ची मिन्ह

सन् १९१०–११ के लगभग की बात है । तब दक्षिण पूर्व एशिया के एक छोटे से देश वियतनाम पर फ्रान्सीसियों का कब्जा था । कहना नहीं होगा कि उपनिवेशवादियों का उद्देश्य अपने अधीन देशों का शोषण करना ही होता था । वियतनाम में कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होता–वहाँ के शासक जाति उस माल को अपने देश में ले जाती और उस माल से चाँदी काटती । चूँकि प्रचुर मात्रा में होता था कच्चा माल, इसलिए वियतनाम के प्रमुख बन्दरगाह सैगोन पर फ्रान्सीसी जहाजों का तौंता लगा रहता था ।

ऐसे ही जहाज के आस–पास चक्कर काट रहा था एक इक्कीस वर्षीय शिक्षित नवयुवक । इरादा था कि जहाज में कोई छोटा–मोटा काम मिल जाये और विदेशों में घूमने का अवसर प्राप्त हो । उस युवक ने जहाज के मजदूरों से पूछताछ की कि कोई काम मिल सकेगा क्या, पर वे सब उपेक्षा भरी निगाहों से उसकी ओर देख भर लेते, जो यह कहती कि तुम क्या काम करने लायक हो या किसी काम के योग्य नहीं हो ।

जिन मजदूरों से भी उसने पूछा उन्होंने यही रूखा–सा जबाव दिया । आखिर एक कर्मचारी के हृदय में न जाने क्यों युवक के प्रति सहानुभूति उमड़ आयी और वह उसे कप्तान के पास ले गया । कप्तान ने वियतनामी युवक को देखकर शाही अन्दाज में पूछा–'तुम क्या काम कर सकते हो ।'

'जो भी आप बता दें'–युवक ने कहा ।

'ठीक है'–कप्तान बोला और उसने जहाज के रसोइये का सहायक बनाकर इस प्रकार उनकी ओर देखा कि उसने किसी भिखारी की थैली में अशर्फियाँ उड़ेल दी हों पर युवक इसी में सन्तुष्ट था और वह जी लगाकर मेहनत से रसोइए के सहायक का काम करने लगा । इस जहाज के कर्मचारियों सहित सवार यात्रियों की कुल संख्या लगभग एक हजार थी और इन सबके लिए एकमात्र किचन में सहायक था वह युवक । जो सुबह चार बजे उठकर रसोई साफ करता, अँगीठियाँ जलाता, निचली मंजिल से सब्जियाँ और अनाज ढोकर लाता, उन्हें काटता, बरतन माँजता और थक जाने के बाद रात के नौ दस बजे के करीब बिस्तर पर पहुँचता जहाँ कुछ घण्टों तक किताबें पढ़ता रहता ।

जहाज पर रसोइए का सहायक बनकर विदेश यात्रा के उद्देश्य से निकलने वाला वह नवयुवक और कोई नहीं वर्तमान वियतनाम का राष्ट्रपिता हो ची मिन्ह ही था । जो एक स्कूल में अध्यापकी की अच्छी नौकरी छोड़कर जहाज पर यह साधारण–सा कठोर मेहनत का काम स्वीकार करने के लिए निकल पड़ा था और यह सब इसलिए कि किसी प्रकार वियतनाम को फ्रान्सीसी शिकंजे से मुक्त किया जा सके । वे एक उच्च अधिकारी के बेटे थे परन्तु फिर भी उन्हें देशभक्ति अपने पिता से विरासत के रूप में मिली थी ।

यद्यपि उनके पिता का बचपन बड़ी गरीबी में बीता । वे एक चरवाहे का काम किया करते परन्तु पढ़ने–लिखने और शिक्षा प्राप्त करने में उनकी रुचि बचपन से ही रही थी । अतः वे शिक्षा प्राप्त करने के बाद एक अध्यापक बन गये । उन्हीं के परिवार में सन् १८९० ई० में उनका जन्म हुआ । एक शिक्षक के रूप में अपना जीवन आरम्भ कर आगे वे जिलाधीश बने । इस कारण ही तथा उनके भाई–बहनों को आम वियतनामी जनता द्वारा भोगी जा रही यंत्रणाओं से मुक्ति तो मिली परन्तु हो का हृदय अपने ही स्वदेश बंधुओं पर फ्रान्सीसी अफसरों द्वारा ढोये जा रहे जुल्मों को देखकर विदग्ध हो उठता । अक्सर वियतनाम की साधारण जनता को बेगार में लगा दिया जाता । नाम मात्र को मजदूरी और पशुओं की तरह दिन–रात काम में जुटे रहना जैसा उन मजदूरों की नियति ही बन गया था । कैसा भी मौसम हो और कैसा भी स्वास्थ्य, क्या मजाल है कि इस जूए से थोड़ी गर्दन भी हिला सकें । जरा भी किसी कारण से काम में ढिलाई आती तो उन्हें बैंतों और हण्टरों से बड़ी बुरी तरह पीटा जाता । कई लोग जो अपुष्ट खाद्य और कड़ी मशक्कत के कारण अपना सारा माँस गलाकर हड्डियाँ ही बचाये रह सके थे, इस पिटाई के कारण हड्डियों का यह पिंजरा भी छोड़कर अपने प्राण पखेरू ले उड़ते । इन अत्याचारों को हो ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था और करुणा तथा आक्रोश का समन्वित भाव उदय हो उठता था ।

हो के पिता भी एक देशभक्त और क्रान्तिकारी विचारधारा के व्यक्ति थे । भले ही वे उच्च पदाधिकारी रहे हों पर जनचेतना जगाने का उनका अपना अलग ढंग था और उसी हिसाब से वे इस दिशा में काम भी करते रहे ।

काफी समय तो फ्रान्स के उच्च अधिकारियों को इस बात का पता नहीं चला, लेकिन जब उन्हें सुराग मिल गया तो उन्हें नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया।

पुनः उनका परिवार पूर्व की स्थिति में आ गया। लेकिन न पिता निराश हुए न पुत्र ने हिम्मत हारी। जिस कार्य को वे शासकीय सेवा में रहते हुए चोरी-छुपे करते थे वह काम अब वे खुल्लम-खुल्ला करने लगे और देश के निर्धन मजदूरों में जन-चेतना जगाने का कार्य शुरू कर दिया। परन्तु परिवार की प्राथमिक आवश्यकताएँ पूरी करना भी तो जरूरी था। अतः हो ची मिन्ह ने एक गैर सरकारी स्कूल में शिक्षक का पेशा अपनाया। गैर सरकारी स्कूल में इसीलिए कि वहाँ के विद्यार्थी बच्चों में देश-भक्ति के बीज बोये जा सकें।

डफथान्ह के उस स्कूल में हो ने लगभग एक वर्ष तक नौकरी की और एक दिन नौकरी छोड़कर सैगोन पहुँच गये। अपने अध्यापक काल में हो ने ये अनुभव कर लिया था कि वियतनामी जनता को दासता और शोषण से मुक्त करने में इस प्रकार के छुट-पुट प्रयास ही काफी नहीं होंगे-वरन् इसके लिए दीर्घकालिक अभियान संघर्ष की आवश्यकता है। उस आवश्यकता को पूरा करने के लिए एक यन्त्र बना जा सके, इसके लिए उन्होंने विदेश जाकर आवश्यक अध्ययन और समुचित शिक्षण प्राप्त करने का निश्चय किया और इक्कीस वर्ष की आयु में ही एक जहाज के किचन-सहायक बनकर उन्होंने यह अवसर भी प्राप्त कर लिया।

जहाज-जिसमें कि हो रसोइए के सहायक बनकर यात्रा कर रहे थे मार्सेल्स (फ्रान्स) पहुँचा। वहाँ सभी कर्मचारियों को वेतन दिया गया और साथ में टिप भी। लेकिन हो को जो वेतन मिला वह अन्य कर्मचारियों की तुलना में बहुत कम था। जबकि उनका काम था सबसे कठोर परिश्रमपूर्ण। हो से न्यूनतम अधिक जिस कर्मचारी को वेतन और टिप मिला था उसका दसवाँ हिस्सा हो को दिया गया था। परन्तु उन्होंने निरापदभाव से इतना मात्र ही स्वीकार कर लिया क्योंकि वेतन के उद्देश्य से तो उन्होंने जहाज में नौकरी नहीं की थी-नौकरी तो की थी विदेशों की यात्रा के उद्देश्य से ताकि पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर वे अपने देश के स्वतन्त्रता सैनिकों को मार्गदर्शन करा सकें, जहाज जितने दिन मार्सेल्स में रुका उतने दिन तक हो फ्रान्स घूमते रहे और वहाँ के जन-जीवन का निकट से अध्ययन करते रहे। मार्सेल्स से रवाना होकर जहाज स्पेन, पुर्तगाल और ट्यूनेशिया होता हुआ अफ्रीकी महाद्वीप में पहुँचा। इन सभी स्थानों पर हो ने बड़ी गम्भीरता से वहाँ के जन-जीवन को देखा और पाया कि सभी स्थानों पर गरीबी है परन्तु वहाँ के शासन तंत्र का अपनी जनता से व्यवहार इतना गिरा हुआ नहीं है जितना कि वियतनाम में। उन देशों में गुलाम देश के नागरिक को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है-यह भी हो ने अनुभव किया। उपनिवेशवादी देश के नागरिक जिस दृष्टि से गुलाम देश के नागरिकों को देखते थे वह उन्हें सहन न हुआ।

एक बार किसी बन्दरगाह पर-शायद अफ्रीकी देश के ही-समुद्र में तूफान आया। उस समय जहाज बन्दरगाह के बाहर था और तूफान इतना तेज था कि जहाज का बन्दरगाह में प्रवेश कर पाना लगभग असम्भव-सा हो गया। ऐसी परिस्थिति में नावें भी नहीं उतारी जा सकती थीं। अतः तट पर खड़े फ्रान्सीसी अधिकारियों ने जहाज से सम्पर्क साधने के लिए अफ्रीकी तैराकों को समुद्र में उतारा। पहले एक तैराक उतरा-कुछ देर तक तो वह समुद्री तूफान से संघर्ष करता रहा परन्तु बाद में लहरों में खो गया। होना तो यह चाहिए था कि ऐसी स्थिति में अधिकारीगण खेद व्यक्त करते और पुनः वैसी गलती न दोहराते परन्तु हुआ इसके विपरीत ही-समुद्री लहरों में अफ्रीकी तैराक को खो गया देखकर वे खिलखिला उठे और उन्होंने दूसरे तैराक को उतारा। दूसरे अफ्रीकन को अपनी मौत सामने खड़ी देखकर भी समुद्र में उतरना पड़ा उसका भी वही परिणाम हुआ-परिणाम की प्रतिक्रिया भी वही। अन्य यात्रियों और कर्मचारियों के साथ हो भी यह दृश्य देख रहे थे और इसमें फ्रान्सीसी अधिकारी अपना मनोरंजन करते तो अन्य गैर फ्रान्सीसी मूक दृष्टा बने रहे। जिनसे नहीं देखा गया वे डैक पर से चले आये। लेकिन हो को यह दृश्य देखकर रोना आ गया।

अफ्रीका के बाद अमेरिका और यूरोप के कई देशों में जहाज के साथ घूमते हुए १९१६ में इंग्लैण्ड आ गये और वहीं उन्होंने जहाज छोड़ दिया। उनकी दृष्टि में ब्रिटेन में जन-जीवन का अध्ययन महत्त्वपूर्ण रूप से सहायक सिद्ध हो सकता था इसलिए उन्होंने यहीं रहने का निश्चय किया और 'एक स्कूल' में सफाई कर्मचारी का पद प्राप्त कर लिया। यह काम भी बड़ी मेहनत का था और वहाँ उन्होंने अनुभव किया कि इस प्रकार कठोर परिश्रम करते हुए वे अपने स्वास्थ्य को नहीं बचा पायेंगे। अतः शीघ्र ही एक और काम खोज लिया-लेकिन वह भी अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ तो उन्होंने लंदन के एक होटल में बैरे की नौकरी कर ली।

इन्हीं दिनों पहला विश्वयुद्ध भी छिड़ चुका था अतः हो ने इंग्लैण्ड में ही रहने का विचार किया। होटल की ड्यूटी देने के बाद जो समय बचता उसे वह अँग्रेजी सीखने में लगाने लगे। इन दिनों मित्रराष्ट्रों ने अपने गुलाम देशों से इस वचन पर मदद ली थी कि विश्वयुद्ध समाप्त हो जाने के बाद वे उन्हें आजाद कर देंगे, पर जैसे ही विश्वयुद्ध समाप्त हुआ युद्ध के विजेता राष्ट्र अपने वायदे से मुकर गये। इसी युद्ध के दौरान रूस में लेनिन की साम्यवादी सरकार का गठन हुआ था। रूस की क्रान्ति ने हो को एक नयी दिशा दी और वह अपने देश के संदर्भ में इस निर्णय पर पहुँचे कि यदि उपनिवेशों की गुलामी के चंगुल से मुक्त होना है तो वहाँ की जनता को स्वयं ही इसके लिए लड़ाई लड़नी होगी।

अब यहीं से उनके सक्रिय जीवन का आरम्भ होता है। उक्त आशय का एक पैम्फलेट छपवाकर वियतनामी

मजदूरों और फ्रान्सीसी सेना के वियतनामी सिपाहियों में बँटवाया । जिसका बड़ा प्रभाव हुआ ।

इंग्लैण्ड छोड़कर वे फ्रान्स आ गये क्योंकि वहाँ वे अपना कार्य अधिक सुविधापूर्वक चला सकते थे । अत: उन्होंने लगातार लेख और पर्चे लिखकर जनता में बँटवाना आरम्भ कर दिया । यहीं रहकर उन्होंने साम्यवादी विचारधारा का अध्ययन किया और फ्रान्सीसी सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य भी बने । इस समय तक उनका प्रभाव क्षेत्र भी काफी बढ़ गया था और राजनैतिक गतिविधियों में व्यस्तता भी । जीविकोपार्जन के लिए अधिक समय लगा पाना सम्भव नहीं रहा अत: उन्होंने फोटोग्राफी का धन्धा सीखा और उससे कामचलाऊ उपार्जन करके अपनी जीविका चलाने लगे । किसी भी ध्येय विशेष के लिए समर्पित महामानवों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं पर जरा कम ही समय लगा पाना सम्भव रहता है । हो के लिए भी यही सिद्धान्त लागू होता था अत: वे बहुत थोड़ा समय अपने निर्वाहोपयोगी साधन जुटा पाने में लगाते और अधिकांश समय पुस्तकालयों अथवा राजनैतिक कार्यक्रमों में । रहने के लिए भी उन्होंने पेरिस की मजदूर बस्ती में एक छोटे से कमरे की व्यवस्था की थी ।

१९२३ में मास्को में कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल कॉंग्रेस का अधिवेशन हुआ । फ्रैंच कम्युनिस्ट पार्टी ने उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा । वहीं पर साम्यवादी नेताओं ने वियतनाम में क्रान्तिकारी आंदोलन का संगठन करने का काम सौंपा । वियतनाम में भी हालांकि कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हो चुका था, पर उनमें एकता नहीं थी । पार्टी तीन गुटों में बँटी हुई थी और प्रत्येक गुट जनता पर अपना–अपना प्रभाव जमाने की कोशिश में एक दूसरे की टाँग खींच रहे थे । फलस्वरूप जनसाधारण पर कम्युनिस्ट आंदोलन का कोई प्रभाव नहीं होता था, उल्टे बिखरी हुई शक्तियाँ समाजवाद की स्थापना में बाधक ही बनती थीं ।

इन्हीं दिनों वे चीनी क्रान्ति में हिस्सा लेने के लिए चीन भी गये और वहाँ से ही तीन गुटों के कर्णधारों से सम्पर्क साधा व उन्हें एकजुट होकर एक ध्येय की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने हेतु एकता के सूत्र में बाँधा । हो ची मिन्ह के प्रयत्न सफल रहे और अप्रैल, १९३० में वियतनाम की जनता ने क्रान्ति का उद्‌घोष सुना व जनक्रान्ति का आरम्भ भी हो गया । फ्रान्सीसी सरकार के लिए यह एक अप्रत्याशित घटना थी अत: पहले तो वह बौखला उठी और फिर उसने जनता की आवाज को कुचलने के लिए उपनिवेशवादी का प्रमुख शस्त्र सम्हाला, दमन–चक्र । जनक्रान्ति का श्रीगणेश तौकिन से हुआ था अत: सरकार ने उन्हें बड़ी बुरी तरह रौंद डालने का प्रयास किया लेकिन इसका परिणाम उल्टा ही हुआ । क्रान्तिकारियों के पक्ष में सारे देश की जनता उठ खड़ी हुई और एक स्थान पर दबायी गयी जनता की आवाज स्थान–स्थान से मुखर और बुलन्द होने लगी । देश में कई जगहों के मजदूरों और श्रमजीवियों ने हड़तालें कीं और सरकार ने अपना दमन चक्र और तेज कर दिया । यहाँ तक कि हवाई जहाज द्वारा बमबारी करके भी उन्होंने मजदूरों को पस्त हिम्मत और परास्त करने का कदम उठाया परन्तु दमन चक्र के दौरान किये गये सभी प्रयास क्रान्ति की आग में घी का काम करने लगे । यहाँ तक कि कुछ प्रान्तों में तो जनवादी सरकारें भी बन गयीं ।

फ्रान्सीसी सरकार ने सेना के बल पर, अपने साथी देशों के बल पर इस आन्दोलन को तेजी से दबा दिया । अब तक हो ची मिन्ह बाहर रहकर ही क्रान्ति का नेतृत्व कर रहे थे । समस्त विपत्तियों के सूत्रधार वे हैं, यह पता चलते ही उन्हें हांगकांग में गिरफ्तार किया गया । लेकिन जल्दी ही छोड़ भी दिया क्योंकि उनकी गिरफ्तारी से तो और भी अनर्थ होने की सम्भावना थी ।

जब दूसरा विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ तो फ्रान्स का सारा ध्यान महायुद्ध की ओर लग गया तथा उसका दमन चक्र भी ढीला पड़ा । इस अवसर का फायदा उठाने के लिए हो ची १९४१ की शुरूआत में वियतनाम लौट आये । अपनी मातृभूमि पर उन्होंने तीस साल बाद कदम रखे और रखते ही क्रान्ति को मुक्ति संग्राम का आयाम दिया । चीनी सीमा के नजदीक एक पहाड़ी स्थान पर उन्होंने गुरिल्ला कैम्प लगाने आरम्भ किये और उन्हें संगठित कर मुक्ति संघर्ष में जुटा देने का कार्य आरम्भ किया ।

गुरिल्ला कैम्प के संचालन–उनके संगठन और उनके निर्देशन में हो ची मिन्ह दिन रात लगे रहते, फलस्वरूप वे बीमार पड़ गये । बीमारी की अवस्था में भी उन्होंने काम करना नहीं छोड़ा, जिससे स्वास्थ्य इतना गिर गया कि उन्हें सन्निपात के दौरे पड़ने लगे । बड़ी मुश्किल से चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया और वे स्वस्थ हो गये । स्वस्थ होते ही पुन: काम में भूत की तरह डट गये ।

और मुक्ति संघर्ष में, मुक्ति मोर्चे को प्रतिदिन सफलतायें मिलती गयीं और मोर्चे ने २ सितम्बर, १९४५ को अपनी सरकार बना ही ली । हनोई पर तो विजय प्राप्त कर ली परन्तु अभी संघर्ष शेष था– जो सन् १९५४ तक चला । जनवादी सरकार का राष्ट्रपति हो को ही बनाया गया । हालांकि सितम्बर, १९४५ में ही मुक्ति मोर्चे ने फ्रान्सीसी सेनाओं को परास्त कर डाला परन्तु प्रतिपक्ष की सेनाओं ने अपने बर्बर आक्रमण जारी रखे और मुक्ति मोर्चे ने लम्बे संघर्ष के बाद उनकी भी कमर तोड़ कर रख दी ।

इस रक्तपात का अन्त १९५५ में हुआ । उस समय वियतनाम को दक्षिणी और उत्तरी वियतनाम दो भागों में बाँट दिया । हो को यह कदापि स्वीकार नहीं हुआ फिर भी एक भाग में शांति की स्थापना के लिए उन्होंने विवशता से इसे स्वीकार किया और दूसरे क्षेत्र में मुक्ति संघर्ष जारी रखा । जिसका अभी थोड़े समय पूर्व ही अन्त हुआ है और खण्डित वियतनाम पुन: एक हुआ है । पर यह देखने के लिए तो हो ची जीवित नहीं रहे । १९६७ में ही उनका देहान्त हो गया । अपने देश को अखण्ड देखने की उनकी यह आकांक्षा इतनी बलवती थी कि इसके बिना उन्हें

अपना ध्येय अधूरा मिला लग रहा था । १९६७ में रूस सरकार ने जब उन्हें लेनिन पुरस्कार देना चाहा तो इसी कारण उन्होंने अस्वीकार करते हुए कहा–"यदि हम अमेरिका के विरुद्ध युद्ध में अन्तिम विजय प्राप्त कर लें, तभी मेरे लिए कोई पुरस्कार लेना उचित होगा ।"

सैद्धान्तिक क्रान्ति के स्रष्टा–

टॉमस जैफर्सन

ब्रिटिश शासन काल में औपनिवेशिक विधान सभा–हाउस ऑफ बर्जेसिज के सदस्य का चुनाव लड़कर टॉमस जैफर्सन ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरूआत की । यों पेशे से वह एक न्यायाधीश थे परन्तु कुछ कारणों से उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया । इन कारणों का उल्लेख करते हुए उन्होंने जनता के सामने शपथ ली–"मैं मनुष्य के मन पर किये जाने वाले हर प्रकार के अत्याचार का अनन्त काल तक विरोध करूँगा ।"

उन्होंने अपने देश में मानवता पर भयानक अत्याचार होते देखा । परमात्मा के पुत्रों का मनुष्य द्वारा सम्पत्ति के व्यवसाय की तरह लेन–देन, व्यापार, दास प्रथा का घृणित तम रूप, निरीह और पद दलित नीग्रो लोगों पर अमानवीय अत्याचार उस समय चरम सीमा पर था । टॉमस जैफर्सन के मन में शुरू से ही नीग्रो गुलामों के प्रति सहानुभूति थी और जब वे कुछ कर सकने की स्थिति में आये तो सहानुभूति कर्त्तव्य में बदल गयी ।

जैफर्सन को विरासत में अच्छी जायदाद मिली थी । बचपन से ही गुलामों ने जैफर्सन को अपने प्रति सुहृदय पाया तो काले नीग्रो भी उन्होंने भरपूर हृदय से प्यार करने लगे । उनकी सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति की तरह समझकर और अच्छी देखभाल करने लगे । परन्तु जैफर्सन इन गुलामों की स्थिति को मानवता पर कलंक समझते थे । इसलिए वे यही सोचा करते कि जब भी मुझे अवसर मिलेगा मैं इस कलंक को मिटाकर रहूँगा ।

वह अवसर भी शीघ्र ही आया । जैफर्सन अपने पिता की जायदाद के उत्तराधिकारी बने और उन्होंने सभी गुलामों को स्वतन्त्र कर देने की घोषणा का विचार किया । परन्तु उस समय का कानून मार्ग में बाधा बनकर खड़ा हुआ । तब गुलामों का मालिक भी स्वेच्छा से अपने गुलामों को मुक्त नहीं कर सकता था । इस बाधा को दूर करने के लिए उन्हें राजनीति में प्रवेश करने की बात सोचनी पड़ी । क्योंकि काफी समय तक प्रयत्न करने के बाद भी उनके विचार से कोई सहमत होता नहीं दिखाई देता था । वे वर्जिनिया के हाउस ऑफ बर्जेसिज के सदस्य चुन भी लिये गये ।

टॉमस जैफर्सन का जन्म एक सम्पन्न परिवार में १३ अप्रैल, १७४३ ई० को हुआ । माता–पिता ने उनकी योग्यता विकास के साथ–साथ चरित्र और मानवीय गुणों के अभिवर्द्धन की ओर भी समुचित ध्यान दिया था । इसी कारण वे आगे चलकर न्याय और प्रेम के प्रबल पोषक बने । मानवीय गुणों और तकाजों की अवहेलना कर किया गया सम्पत्ति का उपभोग अनर्थकारी ही होता है । विपुल सम्पदा में तो और भी अधिक उपेक्षा की सम्भावना रहती है परन्तु उसका यदि विवेक सम्मत उपयोग किया जाय तो मनुष्य महान भी बन सकता है ।

टॉमस जैफर्सन ने अपना जीवन काल एक वकील के रूप में आरम्भ किया । वे समझते थे कि इस पेशे को अपनाकर न्याय की अधिक सेवा कर सकेंगे । परन्तु शीघ्र ही उनकी यह धारणा टूट गयी । इस क्षेत्र में आते ही उन्होंने अनुभव किया कि वकील एक ऐसा व्यक्ति है जिस का काम हर तरह के सवाल करना, स्वयं कुछ भी न करना और घण्टों बातें करते रहना है । स्वार्थ और पैसे के लोभ में वकील अपनी प्रतिभा के बल पर हर अनुचित को उचित भी ठहरा सकता है और उचित को अनुचित भी । इस प्रकार न्याय सस्ता नहीं दुरूह और खर्चीला बन जाता है । यही नहीं तर्क–वितर्कों के जंजाल में पड़ जाने से कभी–कभी तो न्याय के स्थान पर अन्याय ही मिलता है । सैद्धान्तिक रूप से उन्हें अपना पेशा ठीक नहीं जँचा और उन्होंने वकालत छोड़ दी ।

कुछ वर्षों बाद वे न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुए । कालान्तर में इस पर कार्य करते हुए जैफर्सन ने देश के लाखों लोगों के लिये जो न्याय पाने के लिए किसी भी अदालत का दरवाजा नहीं खटखटा सकते थे, न्यायाधीश का पद भी छोड़ दिया और औपनिवेशिक सभा के सदस्य चुने गये ।

सदस्य बनते ही उन्हें प्रतिज्ञा को पूरा करने का अवसर मिला और संसद में उन्होंने एक ऐसा कानून पेश किया जिसके अनुसार किसी भी गोरे स्वामी को यह आदेश दिया जा सकता था कि वह अपने अधीनस्थ गुलामों को मुक्त कर सके । दास प्रथा पर यह उनकी पहली चोट थी । वे जानते थे कि इससे बड़ी चोट करना अपनी स्थिति और पहुँच के बाहर की बात है । इस विधेयक का भी बहुत विरोध हुआ परन्तु अन्ततः पारित हो गया और उन्होंने अपने सभी दासों को मुक्त करा दिया ।

अब उन्होंने राजनीति को ही जनसेवा का उपयुक्त माध्यम बना लिया था । तभी कौन्टिनेण्टल काँग्रेस का गठन हुआ । यह काँग्रेस अमेरिका की स्वतन्त्रता घोषणा के लिए गठित की गयी थी । जैफर्सन को भी इसका सदस्य बनाया गया । उस समय उनकी आयु केवल ३३ वर्ष की थी । इस घोषणा का मसविदा तैयार करते हुए उन्होंने लिखा कि–"सब मनुष्य समान उत्पन्न हुए हैं । उनके स्रष्टा ने उन्हें कुछ अनपहरणीय अधिकार दिये हैं जिनसे जीवन, स्वतन्त्रता और सुख–प्राप्ति के प्रयत्न भी हैं ।"

इस घोषणा की सर्वत्र सराहना की गयी । उनके समकालिक विद्वानों ने उन्हें 'क्रान्ति की कलम' कहकर

सम्मानित किया । किन्तु जैफर्सन इससे भी अधिक थे । उनकी गतिविधियाँ और क्रियाशीलता मात्र यहीं तक सीमित नहीं थीं । वे इस घोषणा को कार्यरूप में परिणत हुआ देखना भी चाहते थे ।

जॉर्ज वाशिंगटन के नेतृत्व में गठित सरकार ने उनकी प्रतिभा का उपयोग अमेरिकी संविधान के निर्माण और अधिकार पत्र जोड़ने में किया । अमेरिकी संविधान में पहले दस संशोधनों को अधिकार पत्र कहा जाता है । यह राज्य के शासनाधिकारों को परिमित कर नागरिकों की मान्यता और आस्थाओं की सुरक्षा के लिए जोड़ा गया था । इन अधिकारों में पूजा-उपासना, समाचार पत्रों और विचारों के प्रकाशन के अधिकार भी सम्मिलित हैं ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जैफर्सन को जॉर्ज वाशिंगटन ने अपना प्रमुख सहयोगी बनाया और एक वरिष्ठ मंत्रालय सौंपा । परन्तु वाशिंगटन की कुछ नीतियों से असहमत होने के कारण उन्होंने थोड़े ही समय बाद मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया ।

उन्होंने एक नये राजनीतिक दल का गठन किया जो आगे चलकर सत्तारूढ़ दल के समकक्ष ही लोकप्रिय बना । यह दल था डैमोक्रेटिक पार्टी । इस पार्टी का विश्वास था कि विकेन्द्रित शासन प्रणाली द्वारा ही व्यक्ति को सर्वोत्तम संरक्षण प्राप्त हो सकता है । यह दल संघवाद के विरुद्ध राज्यों के अधिकारों का प्रबल समर्थक रहा है ।

सन् १८०० में वह अपने देश के तीसरे राष्ट्रपति चुने गये । वाशिंगटन के बाद उस समय जैफर्सन से योग्य उनका उत्तराधिकारी कोई दूसरा नहीं था । अपने चारों ओर व्याप्त विपुल सम्पदा तथा उसके उपभोग का अधिकारी होने के बावजूद भी वे किसी भी प्रकार की शान-शौकत के खिलाफ थे । देश के अधिकांश लोग जिस स्तर का जीवन जीते हैं उनकी दृष्टि में उसी स्तर का जीवन एक राष्ट्राध्यक्ष को भी जीना चाहिए । लाखों-करोड़ों आम नागरिकों को जो सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं उतनी सुविधाओं के उपभोग का नैतिक अधिकार ही एक राष्ट्रपति को है । उनकी इस महानता ने कई विरोधियों को भी अपना प्रशंसक बना लिया । मरने के बाद भी किसी भी प्रकार का दिखावा या धन का अपव्यय न हो इस प्रकार की कड़ी हिदायतें दी थीं । उनकी कब्र पर केवल चार पंक्तियाँ अंकित हैं जिनमें लिखा है—"यहाँ अमेरिकी स्वातन्त्र्य घोषणा और वर्जिनिया के धार्मिक स्वाधीनता कानून का लेखक एवं वर्जिनिया विश्वविद्यालय का जनक टॉमस जैफर्सन दफनाया गया है ।" लोग उनके जीवन और विचारों से प्रेरणा प्राप्त करें—इसी तथ्य का ध्यान यहाँ रखा गया है न कि उनके राष्ट्राध्यक्ष होने की सफलता से प्रभावित हों ।

१४ जुलाई, १८२० को ८३ वर्ष की अवस्था में उनका देहान्त हो गया । उनका जीवन सिद्धान्त के प्रति निष्ठावान एक जाग्रत अन्तःकरण की कहानी है । उन्होंने असंख्य लोगों के मानवीय अधिकारों के लिए संकल्प का सूत्रपात किया जो आगे चलकर कुछ ही दशाब्दियों में सफल होकर रहा ।

जैफर्सन की समरसता

भू० पू० अमरीकी राष्ट्रपति टॉमस जैफर्सन, एक भव्य होटल में गये और ठहरने के लिए स्थान माँगा । वे कृषक की-सी मामूली पोशाक में थे । होटल के मालिक ने उन्हें मामूली व्यक्ति समझकर स्थान देने से इन्कार कर दिया । जैफर्सन चुपचाप चले गये ।

थोड़ी देर बाद यह पता चलने पर कि अभी जो आये थे—वे राष्ट्रपति जैफर्सन थे, होटल मालिक ने उन्हें ससम्मान वापस बुलाने के लिए अपने आदमी दौड़ाये, किन्तु जैफर्सन ने उन्हें यह कहकर लौटा दिया कि "अपने मालिक से कहना कि अगर तुम्हारे होटल में एक कृषक के लिए स्थान नहीं है तो अमरीका का राष्ट्रपति ही वहाँ कैसे ठहर सकता है ।"

राष्ट्रपति जैफर्सन ने आजीवन अपने देशवासियों के समकक्ष रहकर महान उत्तरदायित्वों का पालन किया ।

मृत्यु को निमन्त्रण देने वाले टेरेन्स—मैकस्विनी

कार्क—आयरलैण्ड के लॉर्ड मेयर पद पर २६ वर्षीय तरुण नेता टेरेन्स मैकस्विनी निर्वाचित हुए तो सिनफिनी दल की बैठक में भाषण करते हुए उन्होंने कहा—"मैं बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता, या तो मारा जाऊँगा या कैद में पड़ा सड़ रहा होऊँगा और वहाँ मैं अपना बलिदान कर दूँगा ।" इन उद्‌गारों को सुनकर दल के अन्य सदस्यों में उत्साही और देशभक्त मैकस्विनी के प्रति अपार करुणा और सद्‌भावना जाग्रत हुई थी । उस समय आयरलैण्ड अँग्रेजों का गुलाम था और वहाँ की जनता दासता के निर्मम दमन चक्र में पिस रही थी ।

मैकस्विनी— जैसे विचारशील और देशभक्त नागरिकों ने स्वाधीनता के जन्मसिद्ध अधिकार को पुनरार्जित करने का नारा बुलन्द तो किया था परन्तु वह अभी जनता की आवाज नहीं बन सकता था । स्वतन्त्रता प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर उसके लिए कार्य करने वाले नेताओं ने सिनफिन पार्टी नामक एक संगठन बनाया था और वे उसके माध्यम से अपने ढंग से काम भी कर रहे थे । मैकस्विनी इसी दल से सम्बन्धित थे । मेयर चुने जाने के बाद उन्होंने जो भाषण दिया था वह स्पष्ट मृत्यु के आगमन की घोषणा और उसकी प्रतीक्षा करने का संकल्प था । यह १९२० की बात है । मैकस्विनी को भली-भाँति मालूम था कि सरकारी अधिकारी उन पर निगाह रखे हुए हैं और उन्हें किसी भी क्षण गिरफ्तार किया जा सकता है । अब तक के अनुभव तो मृत्यु के निश्चित आगमन की ही सूचना देते थे ।

कुछ माह बाद ही उनके उद्‌गार सत्य सिद्ध हुए । १२ अगस्त, १९२० को अचानक उनके घर पर छापा पड़ा और

वे गिरफ्तार कर लिए गये । उनके पास कुछ क्रांतिकारी साहित्य बरामद हुआ था । सरकार को उन्हें अपराधी प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त था । उन पर अभियोग लगाया गया कि मैकस्विनी अँग्रेजी सरकार के विरुद्ध विद्रोह फैलाने का षड्यन्त्र रच रहे हैं । उन पर साधारण अदालत में नहीं सैनिक अदालत में मुकदमा चला । मुकदमा तो क्या चलना था पूरा नाटक करना था ताकि कहा जा सके कि मैकस्विनी ने कानूनन अपराध किया है और उन्हें वैधानिक ढंग से दण्डित किया गया है ।

कोर्टमार्शल में नियुक्त न्यायाधीशों ने उनसे पूछा- "आपको अपने बचाव की ओर से कुछ कहना हो तो कह सकते हैं ।"

तब मैकस्विनी ने कहा-"मेरे कहने का आप पर क्या असर होगा । क्योंकि जब भी किसी अनीति और अन्याय को सैद्धान्तिक रूप देना होता है तो बचाव पक्ष की सभी दलीलें भी कोई काम नहीं आती हैं । स्पष्ट है आप की कार्यवाही गैरकानूनी है क्योंकि आप लोगों ने मेरे विरुद्ध जिस प्रकार षड्यन्त्र रचा था वह मुझे ही नहीं मेरे देश की आत्मा को, उसकी आवाज को जिसका प्रतिनिधित्व मैं और मेरा दल कर रहा था, कुचल देने का ही प्रयास था । आपके कहने पर केवल मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप जो कुछ भी कर रहे हैं वह अमानवीय तथा अवैधानिक भी है ।"

मैकस्विनी की इस स्पष्टता को न्याय का अपमान समझा गया और उन्हें कठोर कारावास की सजा दी गयी । अदालत से जेल में ले जाते समय जब उनके साथी उनसे मिलने के लिए आये तो पूछा-"यह तो सचमुच बहुत बुरा हुआ है । आपके न रहने से तो हमारा कार्यक्रम ही असफल हो जायगा ।"

"आप लोग गलत सोचते हो मित्रो"-मैकस्विनी बोले-"मेरे रहने या न रहने से स्वाधीनता की प्राप्ति के मार्ग में कोई लाभ या हानि नहीं होनी है । हमारा कार्य और भी द्रुतगति से बढ़ेगा ।"

साथियों ने फिर भी ममतावश पूछा-क्या हम न्याय के हित में कुछ करें । आपका मार्ग-दर्शन हमारे लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है ।

"न्याय के हित में, मैं व्यक्तिगत रूप से अपना कार्यक्रम निर्धारित कर चुका हूँ और आपसे कई बार उसके विषय में भी कह चुका हूँ । मैं वही करने जा रहा हूँ ।"

मैकस्विनी के यह कहने पर उनके साथी समझ गये कि उसका आशय क्या है ? जेल में वे सत्याग्रह करने के लिए कटिबद्ध थे । कई बार वे अपने साथियों से कह चुके थे कि यदि मैं पकड़ा गया तो जेल में अनशन करने लगूँगा और सरकार को अपनी बात का औचित्य-मनवाने के लिए उस पर दबाव डालूँगा । लेकिन मैकस्विनी के साथियों को बिल्कुल भी आशा नहीं थी इस बात की कि उनके सत्याग्रह का सरकार पर कोई प्रभाव भी पड़ेगा । विपरीत इसके मैकस्विनी की जान पर खतरा ही पैदा होगा । शासन तो उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं देगा । उन्होंने यह आशंका भी व्यक्त कर दी, तब मैकस्विनी ने कहा-"मुझे मृत्यु का जरा भी भय नहीं है और आप लोगों को भी मेरे मरने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । क्योंकि उससे तो लाभ ही होगा । मेरा बलिदान राष्ट्र की आत्मा में नया प्राण फूँकेगा, मित्रो ।" कहते-कहते वे जोश से भर उठे । आखिर उनके साथियों को निरुपाय हो लौट जाना पड़ा । और कारागृह में मैकस्विनी अपने ढंग से न्यायिक पक्ष की ओर से संघर्ष करने लगे । उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया । मैकस्विनी के मित्र उन्हें छुड़ाने के लिए वैधानिक उपाय भी करते रहे परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला । न तो किसी मन्त्री ने उनके मामले में हस्तक्षेप किया और न ही सम्राट ने । क्योंकि इस प्रकार तथाकथित न्याय की व्यवस्था में गड़बड़ी हो जाती थी । एक दिन-दो दिन, इस प्रकार ढाई माह गुजर गया परन्तु किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी । ७४ दिन की लम्बी तपश्चर्या के बाद उनकी आत्मा देह से मुक्त हो गयी और सचमुच उनकी आशा के अनुरूप उनका बलिदान रंग लाया । उनके बलिदान से देश भर में ऐसी जाग्रति की लहर आयी कि आयरलैण्ड वासियों को अपना अपेक्षित लक्ष्य प्राप्त होकर ही रहा ।

स्वाधीनता और स्वाभिमानपूर्ण जीवन के लिए संघर्ष करते हुए प्राणोत्सर्ग कर जाने वाले देश और संस्कृति से प्रेम करने वाले देशभक्त टेरेन्स मैकस्विनी का जन्म आयरलैण्ड के ही एक गाँव में १८९४ ई० में हुआ था । परिवार की स्थिति कोई खास अच्छी नहीं थी । उस समय तो शायद ही कोई ऐसा आयरिश परिवार रहा हो जिसे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न कहा जा सके । क्योंकि उस समय तो प्रत्येक आर्थिक शोषण का शिकार बना हुआ था ।

माता-पिता ने परिश्रमपूर्वक जैसे-तैसे प्रयत्न कर जीविका चलाकर मैकस्विनी को बी० ए० तक पढ़ाया ताकि सरकार के ही किसी विभाग में कर्मचारी बन जाये और सम्मानित जीवन जिये । मैकस्विनी के संवेदनशील हृदय पर तत्कालीन वातावरण का ऐसा कुछ प्रभाव हुआ कि उनका मन व्यवस्था के प्रति घृणा से भर उठा । थोड़ी समझ विकसित होने पर उन्हें पता चला कि इस समय आयरलैण्ड पर विदेशियों का राज्य है और यही कारण है कि कठोर श्रम के बावजूद भी आयरिश लोगों को भूखों मरना पड़ता है । अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहना पड़ता है । सारी गतिविधियाँ देख-देख कर उनका हृदय आक्रोश और विद्रोह से भर उठा तथा वह विद्रोह व्यक्त हुआ नाटकों और काव्य-कृतियों के माध्यम से । उनकी रचनायें प्रखर अनुभूतियों से भरी होने के कारण युवकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनीं ।

यही था उनका पहला अपराध जिसके कारण उन्हें अधिकारियों का कोपभाजन बनना पड़ा और १९२६ में वे गिरफ्तार कर लिए गये । बिना कोई अभियोग या मुकदमा

चलाये उन्हें इंग्लैण्ड की एक जेल में रखा गया और कुछ दिनों बाद बड़े नाटकीय ढंग से मुक्त कर दिया गया। इस घटना ने उनकी ख्याति बढ़ा दी और उनके आक्रोश को भी एक नयी दिशा दी। कभी-कभी अनचाही और अनपेक्षित परिस्थितियाँ मनुष्य को अद्भुत और अयाचित लाभ दे जाती हैं। उनकी ख्याति के साथ-साथ उनके विचार भी फैलते गये और सरकार ने फिर १९२७ में गिरफ्तार कर लिया। चार माह जेल में रहकर वे फिर मुक्त हो गये लेकिन कुछ ही महीनों के बाद उन्हें फिर गिरफ्तार किया गया। उन्होंने चौथी बार जेल में अनशन किया और राष्ट्रीय-यज्ञ में आत्माहुति दे दी।

जनहित के लिए संघर्षरत सेनानी– डेविड मोर्स

कोलम्बिया स्टेट की एक एस्बेस्टस फैक्ट्री में दुर्घटना घटित हो गयी। जिससे तीन श्रमिकों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। श्रमिक दिन भर लोहे के दैत्य जैसी मशीनों के साथ जो झोंककर काम करता है तब कहीं परिवार की गाड़ी खिंचती है। उसकी परिवार रूपी मोटर में उसके श्रम का ईंधन जलता है तो वह चलती है।

उन अकाल कवलित हुए श्रमिकों की पत्नियाँ उनके काम से लौटने की प्रतीक्षा कर रही थीं। बच्चे अपने आपको आश्वस्त कर रहे थे कि उनके पापा आने ही वाले हैं फिर सब मिलकर खाना खायेंगे। उनके कान अपने पिता के जर्जर जूतों की चिर-परिचित चरमराहट सुनने को आतुर थे। किन्तु उन्हें अपने पिता के स्थान पर उनकी मृत्यु के हृदय बेध देने वाली सूचना मिली। क्रूर काल के एक झोंके ने उनकी दुनिया में अँधेरे की काली चादर तानकर रख दी।

एक सोलह वर्ष का किशोर जो उसी कारखाने के बेकिंग रूप में काम करता था मृतक श्रमिक के स्ट्रेचर को थामते समय फूट-फूट कर रो पड़ा। उसके बहते आँसू उसके मन में पनपते संकल्प को पानी दे रहे थे। उसने संकल्प किया कि वह अपना जीवन श्रमिकों के जीवन की सुरक्षा व उनके परिवार के भविष्य को अंधकार में निमज्जित होने से बचायेगा।

उन दिनों दुर्घटनाग्रस्त श्रमिकों को मालिकों की ओर से कोई क्षतिपूर्ति की राशि देना मालिक की स्वेच्छा का विषय था। ऐसे सुदृढ़ कानूनों का अभाव ही था जिससे चोट लगने पर श्रमिकों को तथा मृत्यु हो जाने पर उसके परिवार वालों को क्षतिपूर्ति की पर्याप्त राशि मिल सके। युवक ने वकील बनकर श्रमिक वर्ग की सेवा करने-श्रमिक हितकारी कानून बनवाने तथा उनका पालन करवाने का परमार्थ-युक्त संकल्प लिया।

वह दिन को कारखाने में काम करता था तथा सुबह शाम पढ़ने जाता था। यह साधनहीन युवक अपने दृढ़ निश्चय, पुरुषार्थ एवं परिश्रम के बल पर अमेरिका का प्रसिद्ध श्रमिक विधि-दक्ष वकील बना तथा उसकी योग्यता को देखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा संचालित अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का महानिदेशक बनाया गया। इस पद पर रहते हुए उसने विश्व के श्रमिकों का जो कल्याण किया वह भुलाया नहीं जा सकता। यह युवक था डेविड मोर्स।

जिस घटना ने मोर्स के अन्तःकरण में अपने आपको समर्थ बनाकर दूसरों की सेवा-सहायता करने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न की वैसी घटनायें प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में उसके आस-पास के सामाजिक परिवेश में घटती रहती हैं जो मानवीय चेतना पर दबी राख को झाड़कर उसे प्रखर तेजोमय वन्हि रूप प्रदान करने का प्रयास करती है, हृदय में भावनात्मक आवेश उत्पन्न करती हैं। उस आवेश को यदि स्थायित्व दे दिया-उस समय उठे हुए संकल्पों को साकार करने में जुट जाया जाय तो फिर क्या कहने? किन्तु अधिकांश मनुष्य उसे विस्मृत कर देते हैं तथा अपने पुरुषार्थ को सान पर नहीं धरते।

डेविड मोर्स इस तथ्य से अनभिज्ञ न थे कि दृढ़ता से उठाया हुआ एक-एक चरण उत्तुंग गिरि शिखरों पर मनुष्य की विजय पताका फहरा देता है, बूँद-बूँद जल संचित करके सरिताएँ महासागर का विशाल उदर भर देती हैं, उसी प्रकार सफलता की दिशा में बढ़ाया हुआ एक-एक पग लक्ष्यपूर्ति का सोपान बनता है। इस धैर्य और विश्वास का सम्बल जिसे मिल जाता है फिर उसे कोई रोक नहीं सकता।

एस्बेस्टस फैक्ट्री में काम करने वाला यह श्रमिक युवक विश्वविद्यालय के वाद-विवाद दल का शीर्षस्थ वक्ता तथ फुटबाल टीम का श्रेष्ठ खिलाड़ी इसी विश्वास के आधार पर बना था।

वकालत की सम्मानित डिग्री पाने के बाद वह जम कर अपने क्षेत्र में काप करने लगा। तब तक मजदूरों के हित को ध्यान में रखते हुए अमेरिकी सरकार ने श्रमिक कानून बना दिये थे। वह श्रमिकों के मुकदमे बिना फीस अथवा नाममात्र की फीस लेकर पूरे मनोयोग व तैयारी से लड़ता था। वकालत का यह प्रश्न भी उसके अपने लोक हितकारी दृष्टिकोण के कारण परमार्थ साधन का हेतु बन गया। न्यूजर्सी की ड्राई क्लीनिंग इन्डस्ट्री व न्यूमार्क के दुग्ध उद्योग के श्रमिकों को अपने अधिकार दिलाने के लिए उसने धुआँधार पैरवी की जिससे उसकी ख्याति विश्वस्तर पर फैल गयी।

अफ्रीका, इटली तथा जर्मनी की सरकारों ने अपने देश में श्रमिक हितकारी अधिनियम बनाने के लिये उन्हें आमंत्रित किया गया। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना पर उसके समक्ष उसका महानिदेशक बनने का प्रस्ताव रखा गया, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया। १९४८ में उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण पद को स्वीकार कर लिया।

प्राय: देखा जाता है कि जो व्यक्ति साधारण श्रमिक के रूप में श्रमिकों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आंदोलन किया करते हैं उन्हें संगठित करते हैं, किन्तु जब वह उस संचित श्रम शक्ति के धक्के के साथ उच्च पद पर पदासीन हो जाते हैं तो उसको धन से–पद से एक प्रकार का मोह-सा हो जाता है तथा वह बड़ा बन जाने पर खजूर के वृक्ष की भाँति छाया व फल की दृष्टि से जनसामान्य की पहुँच से बाहर हो जाते हैं । किन्तु मोर्स के साथ यह नहीं हुआ । वे जिनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के निर्देशक की कुर्सी पर बैठकर भी कोलम्बिया की फैक्ट्री में खून पसीना एक करने वाले मजदूर ही बने रहे ।

इस पद का निर्वाह तथा अपने लक्ष्य की पूर्ति इन दोनों का निर्वाह करना सही माने में टेढ़ी खीर थी । साढ़े पाँच करोड़ वार्षिक बजट में विश्व स्तर पर श्रम कल्याण योजनाएँ कार्यान्वित करना तथा ७९ देशों को प्रतिनिधियों को संतुष्ट करना मोर्स जैसे कुशल व्यक्ति का ही काम था । इतने कम, बजट में भी उन्होंने जो बड़े-बड़े काम किये उनसे उनकी श्रमिक सर्वहारा वर्ग के प्रति जो पीड़ा सद्भावना है । वह स्पष्ट झलकती है ।

स्वयं मोर्स इस सिद्धान्त के मानने वाले हैं अपनी सहायता करने के लिये जब कोई व्यक्ति तैयार है तो उसे थोड़ा–सा प्रोत्साहन, थोड़ी–सी सहायता भी पर्याप्त हो जाती है । यही स्वयं की शक्तियों को जगाने की प्रक्रिया उन्होंने प्रत्येक राष्ट्र के जनमानस के मन में जाग्रत की । जिस प्रकार उपासना के दौरान साधक अपने इष्ट को प्रतीक रूप में स्वीकार करके वैसे ही तेजस्विता, प्रखरता अपने आप में उत्पन्न करता है वैसी ही प्रखरता उन्होंने प्रत्येक राष्ट्र में जगाई ।

अविकसित तथा पिछड़े हुए देशों की औद्योगिक प्रगति की दिशा में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित कराये । विगत दस वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने देशों में परस्पर सहयोग के आधार पर १००० तकनीकी सहायता विशेषज्ञ स्तर से अधिक देशों में भिजवाये हैं ।

खानों में तथा कारखानों में होने वाली दुर्घटनाओं पर मजदूरों तथा उनके परिवारों को मिलने वाली सुरक्षा तथा क्षति पूर्ति की राशि, काम के घण्टे, कार्य मुक्त होने पर मिलने वाला निर्वाह वेतन, महिला श्रमिकों को मिलने वाला प्रसवकालीन अवकाश, रुग्णावस्था में मिलने वाली चिकित्सा सुविधाएँ, बोनस, बाल श्रमिकों से श्रम लेने पर पाबन्दी आदि विषयक विधान प्रत्येक देश में बनवाने का पूरा–पूरा प्रयास उन्होंने किया ।

श्रमिक अपना श्रम बेचता है । श्रम तथा पूँजी में यही अन्तर होता है कि श्रम पूँजी का विनियोग नहीं किया जाय तो वह नष्ट नहीं होती । किन्तु श्रम का श्रमिक से पृथक कोई मूल्य नहीं होता अत: श्रमिक बेकार बैठा रहता है तो उसका श्रम नष्ट ही होता है । श्रमिक अपना श्रम बेचने में यहीं कमजोर पड़ता है । उसकी इसी कमजोरी से लाभ उठाकर पूँजीपतियों ने उसको खूब निचोड़ा और आज भी निचोड़ने से बाज नहीं आते हैं उनका बस चले तो समूचे श्रमिक समूह को निचोड़ कर रख दें । इस शोषण से श्रमिकों को बचाने तथा इस संघर्ष को विस्फोटक बना जाने से पहले ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने स्थिति पर नियंत्रण कर लिया । इस नियंत्रण में मोर्स का योगदान भुलाया नहीं जा सकता ।

मोर्स की योग्यता व व्यवहारकुशलता से श्रमिक वर्ग ही लाभान्वित हुआ हो ऐसी बात नहीं, उत्पादकों को भी काफी लाभ मिला है । उनकी यह मान्यता कि एक व्यक्ति भी पूरे उद्योग को लाभ पहुँचा सकता है, उत्पादन वृद्धि में बहुत योगदान कर श्रम बचाने तथा उत्पादन बढ़ाने के लिए देशों में भेजे गये अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में एक-एक विशेषज्ञों ने उत्पादन क्षमता में २० से लगाकर ४० प्रतिशत तक वृद्धि की है । इससे एक ओर श्रमिकों का वेतन बढ़ा है वहीं दूसरी ओर उत्पादन लागत में भी कमी आयी है ।

इस प्रकार के विशेषज्ञों को खोज लेना तथा उनकी सेवाएँ प्राप्त कर लेने में दक्ष होने के कारण १९४० में इस श्रम संगठन के महानिर्देशक बनने के पश्चात् उनके कार्य काल में निरन्तर वृद्धि होती गयी ।

उच्च लक्ष्य को सामने रखकर चलने वाले व्यक्ति को किस प्रकार वैयक्तिक लाभ अनायास ही प्राप्त होते जाते हैं इसका अनुपम उदाहरण मोर्स के जीवन में देखने को मिलता है । वे कहा करते हैं कि जिस प्रकार एक कसाई की दुकान पर काम करने वाले व्यक्ति को अपने उपार्जन के साथ-साथ निरन्तर घृणा, जुगुप्सा तथा हत्या के घृणित व्यापार की नारकीय वेदना भोगनी पड़ती है वैसे ही ओछे लक्ष्य को अपनाकर व्यक्ति को भी कष्ट क्लेश भोगने पड़ते हैं । गुलाब की खेती करने वाला किसान अपने उपार्जन के साथ मनभावन सौरभ भी पाता है तथा चित्त में आह्लाद व प्रसन्नता भरता है–आम के उपवन का रखवाला जिस प्रकार पके आम मुफ्त में ही खा लेता है वैसे ही मैं भी श्रमिक वर्ग की, जनसमाज की सेवा का लक्ष्य चुनकर इस महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँच सका हूँ नहीं तो मैं भी कोलम्बिया की उस एस्बेस्टस फैक्ट्री में काम करते–करते तन–मन से जर्जर हो गया होता ।

डेविड मोर्स के इस कथन में राई रत्ती झूठ नहीं है सन् १९०३ में एक साधारण श्रमिक परिवार में जन्म लेने वाला यह साधारण बालक अपने अन्त:करण से उठने वाली सद्प्रेरणाओं का अनुगमन करता हुआ विश्वविख्यात हुआ तथा कोटि–जनसमुदाय की सेवा का पुण्य–लाभ प्राप्त कर

सका । उनकी यह सफलता भला किसे उनका अनुगमन करने को लालायित न करेगी ।

प्रारब्ध बड़ा या पुरुषार्थ ? सदेह उत्तर–

डॉ० तहाहुसेन

मिस्र का एक छोटा-सा गाँव । तमाम बच्चे खेलने के लिये हँसते, किलकारी मारते दौड़ रहे हैं । एक छोटा बच्चा दौड़ता है, मैं भी खेलने जाऊँगा । दो कदम भी न चल पाया था कि एक पत्थर से जा टकराया । माथा फूट गया । रक्त बहने लगा । लोग दौड़े, घर वाले आये । डाँट पड़ी अभागे से चुप नहीं बैठा जाता । परमात्मा ने आँख छीन ली तो इतनी बुद्धि भी नहीं कि चुपचाप एक स्थान पर बैठा रहे ।

बच्चा बैठ गया । प्रतिदिन उसी स्थिति में बैठा रहता । एक दिन पड़ौस की स्त्री उधर से गुजरी और करुणार्द्र होकर कह ही तो बैठी–"भगवान ऐसी, जिन्दगी से मौत अच्छी थी ।"

चोट खाये हुए बालक का मर्म कुरेद गया । उसने निश्चय कर लिया अब मरना ही श्रेयस्कर है, बेचारा आहट लेता हुए कुँये की ओर बढ़ चला ।

पड़ौस में एक मौलवी साहब रहते थे । वह बच्चे का इरादा समझ गये । बच्चा कुएँ में छलाँग लगाने की युक्ति बना ही रहा था कि वह दौड़े और हाथ पकड़ कर उसे बचा लिया ।

छाती से लगाते हुए उन्होंने कहा–बच्चे । मानता हूँ, तुम्हारी आँखें छीनी गई हैं पर अभी तुम्हारे पास मन है । तुम नहीं जानते मन में एक संकल्प शक्ति रहती है, उसे जगाओ तो तुम वह काम कर सकते हो जो आँखों वाले न कर सकें ? "

"यह संकल्प शक्ति क्या होती है बाबा !" बच्चे ने सरल भाव से पूछा । "इच्छाशक्ति की दृढ़ता और लक्ष्य पूर्ति तक प्रयत्न का नाम है संकल्प । तुम एक बार यह निश्चय कर लो कि मुझे यह होना है, यह करना है, अमुक सफलता पानी है । अमुक प्रकार का जीवन जीना है और फिर उसकी पूर्ति के लिये अपनी सम्पूर्ण चेष्टाओं के साथ लग जाओ तो तुम देखोगे कि यह मन ही आँखें दे देगा, मन ही संसार के हर सुख-साधन सुलभ कर देगा । इतनी प्रचंड शक्ति पास रखकर भी तुम घबड़ाते हो । यह तो मानवीय शक्ति का अपमान है मेरे बच्चे ।"

बच्चे ने मौलवी साहब के पाँव छुए "बाबा, यह बात मुझे अभी तक किसी ने नहीं बताई थी । अब आपके दिखाए हुए–रास्ते पर चलूँगा, मेरी कायरता दूर हो गई, निराशा भाग गई ।

मिस्र में आज इसी बालक का उदाहरण देकर लोग हारे हुए, परिस्थितियों से घबड़ाये हुए असफल व्यक्तियों को हिम्मत बँधाया करते हैं । कहते हैं–तहा को देखो–तीन वर्ष की आयु में ही अन्धा हो गया था । कोई रास्ता दिखाने वाला न था । कोई साधन न थे पर उसने अपने जीवन की पतवार किस दृढ़ता और हिम्मत के साथ पकड़ी और उसे किस शान से पार ले गया । असहाय और अपंग व्यक्ति जब अपनी क्रिया-शक्ति, संकल्प-शक्ति को जगाकर बड़े मनोरथ पूर्ण कर लेते हैं तो स्कूली शिक्षा, आर्थिक उद्योग, खोये हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करने या और कोई सफलता पाने के लिए शारीरिक दृष्टि से समर्थ व्यक्तियों को क्यों निराश होना चाहिए ।"

यह बालक जिसका पूरा नाम तहाहुसेन था, अब दूसरों से सुनकर कुरान शरीफ पढ़ने लगा । कुछ ही दिनों में उसने कुरान कंठस्थ कर ली । इसके बाद वह 'अलजहर' में शिक्षा पाने लगा । आंशिक सफलताओं से उसका उत्साह बढ़ता गया । १९१४ में उसने काहिरा विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० और कई विश्व-विद्यालयों से डाक्ट्रेट पाई ।

बौद्धिक शक्तियों के विकास के साथ ही उसने साहित्यिक सेवा भी प्रारम्भ कर दी और १९४६ में मिस्र का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार घोषित हुआ । १९५० में यह मिस्र के मंत्री बनाये गये । यूनेस्को के 'डायरेक्टर जनरल' पद के लिये कई बार बुलाया गया पर मिस्र ने अपने इस 'हीरे' को छोड़ने में असमर्थता प्रकट की ।

डॉ० तहाहुसेन ने मन की सामर्थ्य को जगाकर केवल अपनी प्रगति का पथ प्रशस्त नहीं किया वरन् यह भी सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य का प्रारब्ध बड़ा नहीं । हिम्मत हो तो पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध को भी सरल और सद्य बनाया जा सकता है ।

जर्मनी में पुनर्प्राण प्रतिष्ठा करने वाले–

वान थेडन

१९६१ की जुलाई का एक दिन पश्चिमी बर्लिन के उस विशाल ओलम्पिक स्टेडियम में जहाँ कभी नाजीवाद के झण्डे लहराते थे, उस दिन एक लाख से अधिक श्रोता उपस्थित थे । एक ऊँची मीनार पर पवित्र क्रॉस को स्थापित किया हुआ था । एक निश्चित समय पर सारी जर्मनी के गिरजाघरों के घंटे एक साथ निनादित हो उठे तीन हजार जोड़ी हाथ ऊपर उठे तथा उपस्थित जन समुदाय ने पुराने धर्म स्तोत्र का सस्वर पाठ किया ।

उस छोटे से मंच पर जहाँ कभी हिटलर खड़ा होकर परेड की सलामी लिया करता था अथवा सार्वजनिक सभाओं उत्सवों में भाषण दिया करता था उसी स्थान पर एक ६९ वर्षीय व्यक्ति भाषण देने के लिये खड़ा था । उसका लम्बा तना हुआ छरहरा शरीर, उसके लहराते हुए धवल केश तथा उसकी मर्मभेदी नीली आँखों पर श्रोताओं की नजरें जैसे आकर रुक सी गई थीं । यह व्यक्ति रेनोल्ड वान थेडन ट्रीगलाफ था जिसे सारा यूरोप जर्मनी राष्ट्र में पुनः प्राण प्रतिष्ठा करने वाला मनुष्य मानता है ।

यह जनसमुदाय यहाँ उसी के द्वारा चलाये गये धार्मिक आन्दोलन 'क्रिस्वेन्टाग (उपासना का दिन) के अन्तर्गत यहाँ उपस्थित हुए थे । इस आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध की भयंकर मार खाकर औंधे मुँह पड़े हुए जर्मनीवासियों के मन अन्तःकरण में एक नवीन प्रेरणा तथा नये उत्साह का सृजन किया है । इसके प्रणेता को यूरोपवासी जर्मनी की खोयी आत्मा का दाता कहते हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है ।

इस अभियान के अंतर्गत विशाल रैली का आयोजन किया जाता था । जिसमें हजारों-लाखों व्यक्ति भाग लेते थे । इन भाग लेने वालों में अधिकांश सामान्य व्यक्ति थे । कृषक, मजदूर, क्लर्क तथा अन्य सभी वर्ग के व्यक्ति इन रैलियों में भाग लेते थे ।

इस अभियान का उद्देश्य लोगों में धर्म के प्रति निष्ठा उत्पन्न करना था । ईसाई दुनिया में जो कुछ अनिष्टकारी घटनाएँ सामने आयी थीं उनमें प्रमुख नाजीवाद का उदय तथा साम्यवाद का प्रसार था । इन दोनों ने जर्मनी को तहस-नहस करके रख दिया था । जनसामान्य को विघटन के प्रति अपना दायित्व अनुभव कराने का ही उद्देश्य इस अभियान के प्रणेता का था । वह कहता था "ईसाई समाज में जो कुछ घटा है उसके जिम्मेदार ईसाई ही हैं ।"

इस अभियान के मूलभूत सिद्धान्त को स्थान विशेष तथा समुदाय, धर्म विशेष से पृथक करके देखा जाय तो यह सत्य समझ आये बिना नहीं रहता कि जब भी जन जीवन धर्म से दूर हुआ है समाज में विकृति आयी है-युद्ध हुए हैं-विघटन हुए हैं । वस्तुतः धर्म का शाश्वत सत्य ही जन-जीवन की धुरी है जिसके चारों ओर अन्य समृद्धियाँ पल्लवित-पुष्पित होती हैं । हमारा भारतीय संस्कृति में भी धर्म को अर्थ, काम तथा मोक्ष से प्रथम स्थान मिला है । वान थ्रेडन ने उसे सामान्य जर्मनवासी समझ सके वैसी शब्दावली में उनके सम्मुख रखा । वैसे यह सत्य सभी देश व जातियों के ऊपर लागू होता है ।

वान थ्रेडन का व्यक्तित्व इस अभियान के प्रणयन की योग्यता से भरा पूरा था । उसका जन्म प्रशिया के एक सम्भ्रान्त कुल में हुआ था । उसके पिता एक बड़े पादरी थे । धर्म के प्रति निष्ठा उसे अपने पैतृक गुणों के रूप में मिली थी ।

ग्रिफस्वाल्ड नगर के कॉलेज में प्रवेश पाने के बाद उसकी इस आस्था को क्रियात्मक रूप मिला । उसने विद्यार्थी धार्मिक आन्दोलन में भाग लेना आरम्भ कर दिया । १९२८ में जबकि जर्मनी में हिटलर का समाजवाद अपना सिर उठा रहा था उसे जर्मनी के विद्यार्थी आंदोलन का प्रधान बनाया गया । हिटलर के प्रति उसके मन में अच्छे भाव थे । वह हिटलर के उदय से प्रसन्न था । किन्तु जब हिटलर ने सभी प्रोटेस्टेण्ट चर्चों को नाजी धार्मिक मंत्री के अधीन कर दिया तो हिटलर के प्रति उसके विचार बदल गये तथा उसने धर्म पर इस प्रकार प्रतिबंध लगाने के विरोध में 'कन्फेसिंग चर्च' नामक गुप्त आन्दोलन में पूरा-पूरा सहयोग दिया । इस आन्दोलन में उसका नाम पास्टर निमोलर तथा बिशप डिबिलियर जैसे धर्माध्यक्षों के समकक्ष गिना गया ।

यद्यपि यह आन्दोलन नितान्त गोपनीय रीति से संचालित किया जाता था फिर भी नाजी गुप्तचर विभाग गेस्टोपो की नजरों से वान थ्रेडन बच नहीं सका तथा वह नाजियों द्वारा बंदी बना लिया गया । बंदी बना लेने पर भी वे उसका कोई अपराध सिद्ध नहीं कर पाते थे तथा उसे छोड़ देते थे । इस प्रकार वह कई बार पकड़ा व छोड़ा गया । उसे अपना बंदी बनाकर तरह-तरह से क्रूर यन्त्रणाएँ दीं जिससे कि वह आन्दोलन की पूरी-पूरी जानकारी उन्हें दे किन्तु उन यातनाओं को सहते हुए उसने 'उफ' तक नहीं किया । यह साहस तथा सहनशीलता उसे उसकी धर्मनिष्ठा ने ही दी थी ।

उसकी इस चुप्पी के कारण नाजीदल ने उस पर विश्वास कर लिया तथा द्वितीय विश्व युद्ध के समय उसे सेना में उच्च पद देकर बेल्जियम के नगर लुवीयन का प्रशासक बनाया । प्रायः आक्रान्ता जर्मनों के प्रति विजित प्रदेश के नागरिकों के हृदयों में असीम घृणा थी किन्तु लुवीयन नगर के नागरिक आज भी उसके सुशासन की प्रशंसा करते नहीं थकते हैं ।

किसी विवाद को लेकर जर्मन पुलिस ने लुवीयन निवासी तीस बेल्जियमों को गिरफ्तार करके जर्मनी भेजने का आदेश दिया, जिसे अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा किसी भी देश के नागरिकों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना मानवता के विरुद्ध है अतः उन्हें बिना किसी अपराध के बंदी नहीं बना सकते ।

हिटलर तथा उसकी पुलिस सेना को यह दो टूक उत्तर देने का साहस स्तुत्य था । कोई और होता तो इस तरह इन्कार नहीं कर सकता था किन्तु वान थ्रेडन जानते थे कि मनुष्य 'अभय' से दूर नहीं है । कष्ट-कठिनाइयाँ तथा दंड उसका शरीर भोगता है । आत्मा तो सदा निर्भय रहती है वह दुःख कष्टों से परे है ।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी की हार हो जाने पर उन्हें सोवियत रूस द्वारा बंदी बना लिया गया । उन्हें रशियन सिपाहियों ने बुरी तरह पीटा तथा सोवियत सरकार ने उन्हें उत्तरी महासागर के तटवर्ती भयंकर शीत के प्रदेश में बंदी बनाकर रखा ।

बंदीगृह में भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे रहे । शरीर पर तो इस समय कठोर पाबन्दियाँ थीं कि मन तथा मस्तिष्क पर उस समय कोई बोझ नहीं था । इस काल में उन्होंने जर्मनी के पतन तथा साम्यवाद के उदय के कारणों पर गहन चिन्तन किया । इस चिन्तन का निष्कर्ष यह था कि मनुष्यों की धर्म के प्रति आस्था समाप्त प्राय हो जाने तथा उसके शाश्वत सत्यों को भूल जाने के कारण ही जर्मनी में जाति तथा वर्ण की उच्चता को लेकर हिटलर तथा उसकी नाजी पार्टी ने समूचे विश्व पर जर्मन प्रभुत्व का अमानवीय स्वप्न

देखा । यहाँ भी ईसाई मत ही प्रचलित था । फिरकापरस्ती तथा नये-नये चर्चों के उदय ने जनमानस को धर्म से दूर कर दिया था । रूस में भी यही हुआ था । उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम का निर्धारण भी इस कारावास में ही कर लिया था । यह कार्यक्रम था ईसाई मतावलम्बियों को निकटतम लाना तथा उनमें धर्मिक जाग्रति उत्पन्न करना ही था ।

नौ महीने के कारावास में उनका शरीर सूखकर अस्थि कंकाल मात्र रह गया था । किन्तु इस अस्थि पिंजर में आत्म ज्योति की प्रखर किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं । नौ महीने के एकांत चिंतन तथा तितीक्षामय जीवन ने उनके आत्मबल में अनुपम वृद्धि जो की थी । उनका शरीर रोग तथा भूख का शिकार हुआ था । किन्तु आत्मा नहीं ।

वहाँ भी उन्होंने अपने नित्य क्रम में कोई व्यवधान नहीं आने दिया था । वे प्रसन्नचित रहते तथा उपासना, स्नान, पूजा, चिंतन, स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त रहते । बंदियों के कैम्प में ही उन्होंने धर्म प्रचार करना आरम्भ कर दिया । उनके साथ प्रार्थना में सम्मिलित होने वालों की काफी संख्या हो चली थी यहाँ तक कि रूसी गार्ड भी उनसे अप्रभावित नहीं रहे थे ।

युद्ध समाप्त होने पर वे अपने देश जर्मनी आये । जर्मनी की दशा उस समय भूमिसात खंडहर-सी थी । उनका परिवार भी इस विनाश से बचा न था । उनके पाँच में से तीन बच्चे युद्ध की भेंट चढ़ गये थे । उन्होंने अपने परिवार को पुनः व्यवस्थित किया पश्चात् अपने मिशन में जुट पड़े ।

उनके पहले वाले कन्फेसिंग चर्च की व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो चली थी । सरकार द्वारा नियंत्रित लूथेरियन, रिफोर्मूड तथा यूनाइटेड चर्च चल रहे थे । कन्फेसिंग चर्च की एक शाखा इवांगेसिकल चर्चों के नाम से चल रही थी । वान थ्रेडन इन भिन्न-भिन्न चर्चों में समन्वय स्थापित कर ईसाइयत के शाश्वत सिद्धान्तों को जन-सामान्य तक पहुँचाने वाला आन्दोलन चलाने के काम में जुट पड़े ।

प्रथम तो उन्होंने सब चर्चों के प्रमुखों को अपनी योजना से अवगत कराया । उन्होंने बताया कि जर्मनी को इन दो महायुद्धों में जो चोटें सहनी पड़ी हैं कि जनता का मनोबल समाप्त प्रायः हो गया है । उस खोये मनोबल को पुनः वापस दिलाने का एक ही रास्ता है और वह है धार्मिक क्रान्ति । वान थ्रेडन से पहले ही सब चर्चों के प्रधान प्रभावित थे अतः उनकी इस योजना से असहमत तो कोई नहीं हुआ किन्तु उन्हें सफलता में संदेह ही दिखाई दे रहा था अतः उन्होंने उसका दायित्व सब उन पर ही छोड़ा ।

नवम्बर, १९४८ में उनका यह अभियान व्यापक रूप से जर्मन जनता के सामने आया । विशाल रैलियों का आयोजन किया जाता । इनमें भाग लेने वाले व्यक्तियों से एक ही आग्रह किया जाता था कि वे उस दिन पूरी तरह पावन जायें । इन रैलियों में प्रारम्भ में उपस्थिति हजारों की संख्या में हुई तथा बाद में यह बढ़ती हुई लाखों तक पहुँच गयी ।

इन रैलियों के माध्यम से एक व्यक्ति दूसरे के सम्पर्क में आया । उनमें आत्मीयता की भावना उत्पन्न हुई । एक ने दूसरे के दुःख-दर्द को समझा तथा उसे दूर करने का भरसक प्रयास किया । कुछ ही वर्षों में इस अभियान की सफलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगी ।

१९५० में पश्चिमी जर्मन के इसेन नगर में एक रैली का आयोजन किया गया । इसमें दो लाख व्यक्तियों ने भाग लिया । इस रैली में भाग लेने के कारण मिल मालिकों तथा ट्रेड यूनियन में सद्भाव बढ़ा तथा उनके बीच जो झगड़े चल रहे थे वे निपट गये तथा भावी हड़ताल तथा तालेबंदी की सम्भावनाएँ समाप्त ही हो गयीं ।

म्यूनिख में हुई रैली में साढ़े तीन लाख, लिपजिंग में छह लाख तक व्यक्ति उपस्थित हुए । इस प्रकार की रैलियों ने भिन्न-भिन्न चर्च के अनुयाइयों को निकट आने में सहायता की तथा वे समझ गये कि धर्म में कोई विभेद नहीं है ।

जर्मनी ने महायुद्ध के बाद जिस गति से प्रगति की है उसे देखकर आश्चर्य होता है । उस प्रगति में वान थ्रेडन के इस अभियान का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है । ऐसे व्यक्तियों की विश्व को सदा सर्वदा आवश्यकता रहती है ।

विश्व शांति और विश्व बंधुत्व के स्वप्न दृष्टा—

निकोलाई रोरिख—

"सुन्दरता में ही हम संगठित हैं, सुन्दरता के ही माध्यम से हम प्रार्थना करते हैं और सुन्दरता से ही हम विजयी होंगे-इन कुछ शब्दों को अपने जीवन का मूल मन्त्र मानकर निकोलाई रोरिख ने कला साधना आरम्भ की और इसी मन्त्र की उत्कट साधना ने उन्हें विश्व में सिरमौर चित्रकार के उच्च शिखर पर जा पहुँचाया । चित्रकारों की कमी नहीं है दुनिया में और न ही कवियों तथा गीतकारों की । परन्तु उन सब चित्रकारों और कलाकारों में रोरिख चन्द्रमा की भाँति अलग ही दैदीप्यमान होते दिखाई देंगे । क्यों ? इसलिए कि सब चित्रकार एक जैसे चित्रकार नहीं होते । तूलिका और रंग सभी के हाथों में होते हैं, प्रत्येक कलाकार इन उपकरणों के माध्यम से अपनी कृति को श्रेष्ठ रूप प्रदान करने की आकांक्षा रखता है । परन्तु वह आकांक्षा जिस भावभूमि से उद्भूत होती है, जिस प्रेरणा से प्रेरित होकर कलाकार अपनी तूलिका उठाता है वह भिन्न और विशिष्ट हो सकती है । यही भिन्नता तथा विशिष्टता उसे भी भिन्न , अद्वितीय और विशिष्ट स्थान प्रदान कर जाती है ।

रोरिख ऐसे ही कलाकार थे । जिन्होंने केवल चित्र के लिए चित्र नहीं बनाये, कविताओं के लिए कवितायें नहीं लिखीं, गीतों के लिए गीत नहीं गाये और यहाँ तक कि

राजनीति के लिए राजनीति में भाग नहीं लिया । यह सब एक विशिष्ट उद्देश्य से अन्तःप्रेरणा से अभिभूत होकर किया गया था और इसी कारण वे कला के आकाश में नक्षत्रों के अधिपति चन्द्रमा बनकर कला सम्राट के रूप में चमके । वे जो कुछ भी करते थे सब इस प्रतिपादना के लिए कि वर्ग, जाति, सम्प्रदाय और राष्ट्रीयता के खेमों में बँटा समूचा मानव समाज स्वयं की एकता को अनुभव और स्थापित कर सके । इस उद्देश्य की दिशा में उन्हें अपनी साधना की सफलता भी इसी जीवन में मिलती दिखाई भी दी ।

समस्त मानव जाति में एकात्मा के दर्शन करने वाले रोरिख में इस दिशा में बढ़ने के लिए पहले तो स्वयं को समस्त दलों और वादों से ऊपर उठाया था । प्राय: देखा गया है कि एक दल का व्यक्ति दूसरे दल के व्यक्ति को अपने सामने शत्रु के स्थान पर खड़ा मानता है । लेकिन वहीं यह भी सत्य है कि दल और वाद से ऊपर उठ चुकी विभूति को सभी दलों से और वाद के व्यक्तियों से आदर, सम्मान तथा अपेक्षा मिलती है । रोरिख भी इसी श्रेणी के व्यक्ति थे । अपने निर्दलीय और वाद निरपेक्ष व्यक्तित्व के कारण उन्हें हर वर्ग का व्यक्ति चाहने लगा था । इसका प्रमाण है जिन निकोलाई को १९०४ में रूस के सम्राट ने शाही परिवार का सदस्य होने के लिए आमन्त्रित किया था, उन्हीं निकोलाई को १९२७ में रूस की साम्यवादी सरकार ने कलामन्त्री का पद सौंपा । हालांकि उस समय सरकार में कलामन्त्री का कोई पद नहीं था परन्तु निकोलाई के अपेक्षित सहयोग और मार्गदर्शन ने सरकार को यह पद निकालने के लिए विवश किया ।

ऐसी महान विभूति का जन्म १८७४ में पीटर्सबर्ग (बाद में लेनिनग्राद) के एक अभिजात्य कुल में हुआ था । उनके पिता कॉन्स्टेटिन रोरिख अपने समय के प्रख्यात और सफल बैरिस्टर थे । रोरिख का घराना रूस के महान पीटर का वंशज था । अभिजात कुल के स्तरीय और ऐश्वर्यसम्पन्न वातावरण में निकोलाई का पालन पोषण हुआ ।

किशोरावस्था में ही उनका रुझान कवितायें लिखने की ओर हुआ । इसी समय से वे चित्रकारी भी करने लगे थे । उनकी प्रथम कविता सन् १८८९ ई० में प्रकाशित हुई जबकि उनकी आयु मात्र १५ वर्ष की थी और २४ वर्ष की आयु में प्रथम चित्र प्रदर्शित हुआ–सन्देश वाहक । जिसने उन्हें चित्रकार के रूप में प्रतिष्ठित किया । चित्रकार और काव्यकला को उन्होंने शौकिया तौर पर ही अपनाया था । अन्यथा उन्होंने तो अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में आरम्भ किया था ।

सन् १८९८ में वे पुरातत्व के आचार्य नियुक्त हुए । यद्यपि वे मूलरूप में चित्रकार कवि थे फिर भी पुरातत्व के साथ उन्होंने विज्ञान का ही गम्भीर अध्ययन और अध्यापन किया था । इन क्षेत्रों में उनकी अपार रुचि रही । रूस के अध्यापकी जीवन अमेरिका के प्रवासकाल तथा भारत की निवास अवधि में उन्होंने पुरातत्व और विज्ञान में गहन रुचि ली । अपने जीवन में वे भारत से सर्वाधिक प्रभावित रहे और अधिकांश विख्यात कृतियाँ यहीं की पृष्ठभूमि पर चित्रित की गयी हैं । भारतीय पृष्ठभूमि पर बनाये गये चित्रों में भी उनके वे चित्र सर्वाधिक विख्यात रहे हैं जो हिमालय की प्रेरणाओं से निसृत होकर निकोलाई के अन्तःकरण से हाथों और तूलिकाओं में होते हुए कैनवास पर उतरे हैं । इन चित्रों को देखकर पण्डित जवाहरलाल नेहरू भी कह उठे थे–जब हम इन चित्रों की ओर देखते हैं जिनमें से अधिकांश हिमालय से सम्बद्ध हैं तो ऐसा लगता है कि हमने उन पर्वतों की आत्मा को पकड़ लिया है जो भारत के मैदानों पर मीनारों की तरह छाई हुई है और युग युगान्तर से हमारी प्रहरी है । हमारा इतिहास, हमारा चिन्तन, हमारी संस्कृति और हमारी आध्यात्मिक विरासत का वे इस कदर स्मरण कराते हैं कि उसका सम्बन्ध न केवल हमारे अतीत के साथ ही रहता है वरन् भारत में जो शाश्वत और नित्य है उससे भी जुड़ जाता है । तभी हमें लगता है कि हम रोरिख के कितने ऋणी हैं जिन्होंने इन चित्रों में अपनी आत्मा को उड़ेल दिया है ।

अपनी कृति में अपनी आत्मा को अभिव्यक्त कर पाना उच्च कला साधना और उसकी गहन गहराइयों में बैठने की क्षमता से ही सम्भव है । इसकी उपलब्धि का श्रेय रोरिख ने हिमालय को दिया है और इसी कारण वे भारत भूमि को अपनी मातृभूमि की तरह प्यार करते रहे । निकोलाई रोरिख जो वस्तुतः विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व के उपासक हो गये अपनी कला साधना के बल पर, उसका श्रेय और प्रेरणा स्रोत भी हिमालय को ही माना जाता है । सन् १९७४ में जब उनकी जन्म शताब्दी मनायी जा रही थी तो एक विख्यात पत्रकार ने लिखा था– 'हिमालय में कितना जबरदस्त आकर्षण है, उसे कोई भुक्तभोगी ही जानता है । भारत में ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्हें हिमालय ने कभी अपनी ओर आकर्षित न किया हो । हिमालय केवल भारत के भूगोल और इतिहास का ही निर्माण नहीं करता बल्कि स्मरणातीत काल से वह भारत की अन्तरात्मा को भी जोड़ता है । हिमालय की इसी मोहिनी ने रूस में जन्मे, पले, यूरोप और अमरीका में प्रौढ़त्व को प्राप्त हुए आधुनिक बुद्धिजीवी और प्राचीन ऋषि को अपने व्यक्तित्व में समाहित करने वाले निकोलाई रोरिख को अपनी ओर आकर्षित किया । यह आकर्षण इतना जबरदस्त सिद्ध हुआ कि विश्व–शान्ति और विश्व भ्रातृत्व का यह उपासक अन्ततः हिमालय का ही होकर रह गया ।

विश्व–बन्धुत्व का स्वप्न देखने वाले रोरिख अपने सपनों को यथार्थ के धरातल पर साकार करने में भी सफल हुए थे । जीवन भर उन्होंने अपना यह स्वप्न साकार करने के लिए अनथक प्रयत्न किये और उन्हीं के प्रयासों से ६० से भी अधिक देश इस बात के लिए तैयार हो गये कि संसार की सांस्कृतिक धरोहरों की सुरक्षा के लिए वे सभी

परस्पर सहयोग और सद्‌भावपूर्वक प्रयत्न करेंगे तथा एक दूसरे की संस्कृति, जीवन मूल्यों को समादर देंगे । यह समझौता एक सन्धि के रूप में किया गया था जिसे रोरिख–पैक्ट नाम दिया गया । एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के रूप में मान्य इस सन्धि की प्रथम परिकल्पना १९१४ में की गयी थी । १९३५ में अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने २१ देशों के प्रतिनिधियों से इस पर बातचीत की और बाद में ३६ देशों ने इस पर हस्ताक्षर किये । सातवें दशक के आते-आते तो साठ से भी अधिक देश रोरिख–पैक्ट को मान चुके थे ।

निकोलाई रोरिख की धर्मपत्नी हेलेना भी उनके कार्यों में रुचि लेती थी । हेलेना के पिता एक सिद्धहस्त शिल्पकार थे और दर्शन तथा धर्म स्वयं हेलेना के प्रिय विषय थे । इन विषयों पर उन्होंने स्वयं भी लिखा तथा अपने पति को भी लिखने की प्रेरणा दी व सहयोग किया । धर्म और दर्शन तथा विविध विषयों पर रोरिख ने काफी लिखा । अब तक उनके आठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । उनका पूरा साहित्य ३० बड़े खण्डों में प्रकाशित करने की योजना है ।

बहुमुखी और बहुआयामी प्रतिभा के धनी निकोलस रोरिख ने विभिन्न क्षेत्रों में जो प्रगति की वह सामान्य व्यक्ति के लिए दुर्लभ है । दुर्लभ इसलिए नहीं कि उन्हें कोई पा नहीं सकता वरन् इसलिए कही गयी है कि उसे पाने के लिए उस स्तर के प्रखर प्रयत्न करने का साहस बहुत कम लोग ही करते हैं । यदि उनकी सी निष्ठा और लगन से कोई व्यक्ति इन साधना समर में उतरे तो ऐसी सिद्धि प्राप्त करना कोई मुश्किल बात नहीं है । रोरिख जिस कार्य को भी हाथ में लेते उसे पूरी गम्भीरता और निष्ठा से पूरा करते थे । काम कितना ही बड़ा हो या कैसा ही छोटा उसे पूरा करने में वे इतने तन्मय हो जाया करते थे कि उन्हें अपने आसपास का कोई ध्यान नहीं रहता था । बड़े से बड़े कैनवास और छोटे से छोटे चित्र में भी उन्हें उसी प्रकार तन्मय और तल्लीन हुआ देखा गया । इसी का परिणाम है कि वे अपनी कला और अपने सृजन के माध्यम से विश्व को बहुत कुछ नया दे सके–ऐसी अनूठी देन जो शायद ही किसी और ने दी हो ।

चित्रकला के विकास एवं प्रशिक्षण हेतु उन्होंने देश विदेशों में कई संस्थाओं को जन्म दिया । अमरीका में कला समन्वय की धारा के विकास हेतु उन्होंने 'यूनाइटेड आर्टस् म्युजियम' के नाम से विभिन्न कला संस्थाओं का इन्स्टीट्यूट, शिकागो इन्टरनेशनल सोसायटी ऑफ आर्टिस्ट्स, इन्टरनेशनल आर्ट सेन्टर, भारत में हिमालय रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा उरुस्वती आदि विभिन्न संस्थाओं को जन्म दिया । इन सभी संस्थाओं का एक ही लक्ष्य था–विश्व शान्ति और सांस्कृतिक एकता ।

प्रस्तुत लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने विभिन्न कोणों से विभिन्न कदम उठाये और औरों को भी प्रेरित किया । विश्व बन्धुत्व को लक्ष्य बनाकर चित्रकारिता के मार्ग से आत्माभिव्यक्ति में निष्णात निकोलाई रोरिख ने चित्रकला को अनूठा योगदान दिया । उन्होंने अपने पूरे जीवनकाल में ७,००० से भी अधिक चित्र बनाये । जो विश्व की प्रत्येक वीथिका में गौरवपूर्ण स्थान पर स्थापित हैं । उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं से लेकर, प्राकृतिक दृश्यों और रहस्यवादी कल्पनाओं तक सभी पृष्ठभूमियों पर जो रेखायें खींची और आकृतियाँ उभारी हैं वे संगीत की भाँति हृदय तक पहुँचती, फूल की भाँति मन को लुभातीं और प्राण की भाँति जीवन को स्पन्दित करती हैं ।

भारत प्रवास के दौरान उन्होंने हिमालय को भी विविधता, समग्रता और विशालता के साथ चित्रित किया । हिम पर्वत पर सूर्यास्त, सौभाग्य अश्व लद्दाख, हिमालय की महान आत्मा–उनकी महानतम कलाकृतियाँ हैं । एक समीक्षक ने उनकी कृतियों का अवलोकन कर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था–"उनके चित्रों में आनंद की भारतीय परिकल्पना साकार हुई है । लोकोत्तर भी और अलौकिक भी । रंगों की बहुलता के बीच भी एक अद्‌भुत रहस्य की सृष्टि उनके चित्रों में है । जैसा कि शोपेन होवर ने कहा था हर कला लगातार संगीत की दिशा में प्रेरित होती है, उनके चित्रों में भी ऐसी लयबद्धता दिखाई देती है । हिमालय की महान आत्मा उनका एक ऐसा चित्र है जिसमें एक ओर से सारे गुण हैं साथ ही स्थापत्य का वैशिष्ट्य भी । "

उनका देहान्त सन् १९४५ में हुआ । पूरे विश्व में उन्होंने विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व के लिए जो प्रयास किये वे वस्तुतः किसी राजनेता की तुलना में कम नहीं अधिक ही थे । निकोलाई ने यह सिद्ध कर दिया कि कोई भी व्यक्ति किसी एक ही क्षेत्र को पकड़े और उसी में आगे बढ़ सके यह कोई जरूरी नहीं है वरन् वह अपनी गतिविधियों और क्रियाकलापों को बहुमुखी बनाकर उन सभी क्षेत्रों में असाधारण प्रगति कर दिखा सकता है । वे प्रभावशाली वक्ता थे और उनकी वक्तृता लोग मन्त्र मुग्ध होकर सुनते थे यह सच है । परन्तु यह भी सच है कि उन्होंने यह तथ्य वाणी या लेखनी से नहीं अपने जीवन और व्यक्तित्व से प्रतिपादित किया । जिसे अपनाकर कई जन प्रगति पथ पर बढ़े हैं, बढ़ रहे हैं और बढ़ते रहेंगे । काश ! हम भी इस तथ्य को सुन-समझ और अंगीकार कर सकें ।

चैकोस्लोवाकिया के गान्धी–
मैसरिक

उन दिनों आस्ट्रिया और इटली में युद्ध चल रहा था । दोनों ओर की सेनाएँ मार्गवर्ती गाँवों में लूटमार मचाती हुई आगे बढ़ रही थीं । गाँववासी लोग अपने घर छोड़कर भाग रहे थे । जहाँ मालूम हो जाता कि सेना पास आ गयी है तो वे भाग जाते परन्तु जिस गाँव में समाचार पहुँचने के पहले ही सैनिक पहुँच जाते उन लोगों के सामने चुपचाप

अत्याचार सहने के अलावा क्या चारा था । ऐसे ही एक गाँव में सुना गया कि सेना मुश्किल से मील दो मील दूर है । सब लोग घबरा गये । गाँव की चौपाल पर एकत्रित होकर इस उत्पीड़न से बचने के लिए सलाह-मशविरा होने लगा । किसी ने कोई मार्ग सुझाया किसी ने कोई ।

एक लड़के ने उठकर कहा मैं गाँव वालों को बचा सकता हूँ । लोगों ने पूछा—'कैसे' गाँव में प्रवेश के सबसे पहले वाले मकान पर लिख दिया जाय कि इस गाँव में हैजा फैल रहा है । बात सबकी समझ में आयी । परन्तु फिर भी जो लोग भाग सकते थे वे गाँव छोड़कर चले गये ।

सेनाएँ जब इस गाँव के पास पहुँचीं तो प्रवेश द्वार के पहले मकान पर लिखा देखा—इस गाँव में भीषण हैजा फैल रहा है और वह चुपचाप गाँव को छोड़ती हुई चली गई । बाद में इस नवयुवक की बड़ी प्रशंसा हुई और सेना के मूर्ख बन जाने पर खूब हँसे भी सही ।

आस्ट्रिया में उन दिनों दास प्रथा का बोलबाला था यह नवयुवक एक ऐसे ही दास दम्पत्ति का बेटा था जो आगे चलकर स्वतन्त्र चैकोस्लोवाकिया का राष्ट्रपिता और प्रथम राष्ट्रपति मैसरिक बनकर विख्यात हुआ । माता-पिता गाड़ीवान थे । दरिद्रता के कटु अनुभवों को सहते हुए बालक असाधारण रूप से जिज्ञासु वृत्ति का था । पिता ने अपने इस बालक को पढ़ाने के लिए बड़ी कोशिशें कीं । अपने स्वामियों की लाख मिन्नत कर इसे स्कूल में भर्ती करवाया । घर में गरीबी इतनी कि सर्दी के दिनों में भी माँ-बाप और बेटे को पर्याप्त कपड़े नहीं मिल पाते । पिता की फटी पुरानी पोशाक को काट-छाँटकर माँ-बेटे के लिए कपड़े तैयार करती । धनी पुत्रों की पुरानी गरम पोशाक भी कोई दया दृष्टि से दे देता तो ठीक अन्यथा इसी दैन्य-स्थिति में जीवन की गाड़ी लुढ़कती रहती ।

पिता ने अपने मालिक से याचना कर उसे स्कूल में तो भर्ती करवाया परन्तु शिक्षा ज्यादा देर तक नहीं चल सकी । गाँव के ही लोहार कारखाने में मैसरिक ने लोहा पीटने की नौकरी कर ली और कुछ दिनों बाद फिर पढ़ने लगा । शिक्षा पूरी कर लेने के बाद उसी गाँव के एक स्कूल में मास्टरी का काम मिल गया और वहाँ उसे अपनी ज्ञान पिपासा शान्त करने का अच्छा सुयोग मिला । दर्शन, इतिहास और साहित्य मैसरिक के प्रिय विषय थे । इस प्रकार के अध्ययन में स्वाधीन देशों की जीवन प्रणाली, रीति रिवाज और शासन तन्त्र का ज्ञान हुआ । इसके लिए उन्होंने अरबी भाषा भी सीखी और विदेशों के प्रति उनमें गहन जिज्ञासा जागी । मैसरिक ने विदेश में राजदूत बनने का सपना देखा । परन्तु उन जैसे साधनहीन व्यक्ति के लिए यह सपना निरा सपना ही लगता था । वे अपनी स्थिति और सामर्थ्य से अनभिज्ञ नहीं थे इसलिए उन्हें निराश ही रहना पड़ा । अध्ययन और मुक्त आकाश के तले दूर तक फैली हुई हरियाली को निहारते रहकर चिन्तन करते रहना ही उनकी जीवनचर्या बन गयी थी ।

इसी चिन्तन प्रक्रिया के दौर में वे साहित्य सृजन की ओर झुके और लिखने लगे । मृत्यु के विषय पर उनकी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई और वे अपना भाग्य आजमाने के लिए वियेना से लिपजिग चले आये थे । मैसरिक ने सोचा था कि उनकी विद्वता के कारण लिपजिग विश्वविद्यालय में अध्यापक का पद मिल जायगा परन्तु उन्हें निराश ही रह जाना पड़ा और वे फिर दर्शन शास्त्र के अध्ययन में जुट गये ।

यहीं उनका परिचय एक अमेरिकन किशोरी से हुआ जो प्रेम में परिणत होकर दाम्पत्य सूत्रों में बँध गया । दोनों सच्चे साथी सिद्ध हुए । मैसरिक ने अपनी पत्नी के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है कि—मेरे जीवन विकास में मेरी पत्नी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । अन्धकारपूर्ण निराशा से भरे क्षणों में उसके मधुर सम्पर्क और उत्साहवर्धक प्रेरणाओं से मुझे बड़ा बल मिला है । मैसरिक लिपजिग से प्राग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बनकर आये । प्राग उन दिनों सांस्कृतिक और राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र था । चेक जाति की स्वतन्त्रता और संस्कृति के रक्षण की आवश्यकता महसूस की । उन्होंने चेक जाति को मुक्त बनाने के लिए क्रान्तिकारी गतिविधियाँ चलाने का निश्चय किया और प्राग से ही एक समाचार पत्र प्रकाशित करने लगे ।

साठ वर्ष की उम्र तक पहुँचने पर उन्होंने अपने अभियान को अधिक तीव्र बनाना शुरू किया । १९०८ में आस्ट्रिया ने बलगारिया को जीत लिया था और वहाँ के मूर्धन्य नेताओं को राजद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया था । इसी घटना से मैसरिक के हृदय में विद्रोह की चिंगारी भड़क उठी । सन् १९१४ में यूरोप का प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ उस समय मैसरिक की आयु ६५ वर्ष हो चुकी थी । यद्यपि इस आयु में सभी लोग शान्त जीवन की कामना करते हैं परन्तु उन्होंने अपने शरीर और मन को पहले से भी अधिक सशक्त मानकर मुक्ति संग्राम की वन्हि शिखा जला दी । आस्ट्रिया के उद्धत साम्राज्य का अन्त करने के लिए उन्होंने विप्लवी मार्ग को ही उचित माना और उन्होंने अपने साथियों को एकत्र कर एक गुप्त योजना भी बना ली । इस योजना के बारे में उन्होंने अपनी पत्नी को भी कुछ नहीं बताया ।

नवम्बर, १९१४ में मैसरिक इटली जाने वाली ट्रेन पर सवार हो गए । सीमा पार करने के लिए पासपोर्ट था नहीं । वे अपना क्रान्ति-चक्र चलाने के लिए इटली जा रहे थे । कानून की आँखों में किसी प्रकार धूल झोंककर वे इटली पहुँच गए । रोम पहुँचकर उनका सम्बन्ध कई विप्लववादियों से हुआ और आस्ट्रिया के अत्याचारी राजतन्त्र का अन्त करने के लिए उन्होंने षड्यन्त्र का ताना-बाना बुन लिया ।

विप्लव के लिए सैन्य दल का गठन आवश्यक था । मैसरिक समर-नीति से अनभिज्ञ थे फिर भी उन्होंने बड़ी सूझबूझ का परिचय दिया । आस्ट्रिया से रूस भागकर आये

चेक-नागरिकों को उन्होंने एक स्वयंसेवक दल बनाया और उन्हें सैन्य प्रशिक्षण दिया गया । इन्हीं दिनों रूस में जारशाही का पतन हो गया था । इससे यह काम और भी सुलभ हो गया । दर्शनशास्त्र के अध्यापक का सैन्य दल के अधिनायक बनने की कहानी कम आश्चर्यजनक नहीं है । परन्तु पैंसठ साल की वृद्धावस्था में भी मैसरिक ने अदम्य उत्साह और साहस के बल पर दार्शनिक से कुशल सेनापति बनकर दिखा दिया ।

सन् १९१८ में वे साइबेरिया होते हुए अमेरिका गये और राष्ट्रपति बुड्रो विल्सन से भेंट की । विल्सन को जब उनकी गतिविधियों और सैनिक संगठन का पता चला था तो आस्ट्रिया के विभाजन से वे सहमत हो गए । मैसरिक का स्वप्न साकार हुआ । तीन सौ वर्षों की दु:सह पराधीनता के बाद चेक जनता ने राहत की साँस ली । स्वाधीन प्रजातन्त्र राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति उन्हें ही घोषित किया गया ।

परन्तु अभी संघर्ष की शुरूआत ही हुई थी । मैसरिक यद्यपि राष्ट्रपति घोषित कर दिये गये थे फिर भी आस्ट्रिया साम्राज्यवाद से संघर्ष की घड़ी तो अब आयी थी । आस्ट्रिया के शासकों ने उनकी पत्नी को गिरफ्तार कर लिया, जेल में ही तड़प-तड़प कर एक पुत्र मर गया और एक को बाध्य होकर आस्ट्रियन सैनिक बन जाना पड़ा ।

अन्ततः साम्राज्यशाही को प्रजातन्त्र के आगे घुटने टेकने पड़े और प्राग के जिस दुर्ग में सम्राट का सिंहासन था, उसी पर राष्ट्रपति मैसरिक का अभिषेक किया गया । राष्ट्रपति निर्वाचित होकर भी वे निष्क्रिय नहीं बैठे तथा सत्तर वर्ष की आयु तक वैसा ही कठिन श्रम करते रहे । राष्ट्रपति होते हुए भी उन्होंने सामान्य स्तर का सादा जीवन जिया । एक साधारण से मकान में निवास, सामान्य सा निर्वाह वेतन । उन्होंने राष्ट्राध्यक्ष की निर्वाह परम्परा डाली जो सभी देशों के आदर्श के लिए अनुकरणीय है । इसी कारण वे अमर हैं । चैकोस्लोवाकिया के गान्धी कहे जाते हैं ।

हजारों की प्राण रक्षा करने वाले–

डॉ० आटमर कोहलर

जर्मन सेना की सातवीं मोटराइज्ड डिवीजन का कप्तान ऑटमर कोहलर १ जनवरी, १८५४ को रशियन कैद से मुक्त हो स्वदेश लौट आया । इस प्रकार ग्यारह वर्ष की यन्त्रणा, अभाव, निरासक्ति और मानवीय कुशाग्र बुद्धि की मिली-जुली कहानी का अन्त हुआ । यह कहानी चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अनूठी मानी गई है ।

रूस के भयावह बन्दी शिविरों में डाक्टर कोहलर ने बिना किसी बेहोशी की दवा के और शल्य चिकित्सा के उपकरणों के पुराने रेजर, ब्लेडों से हाथ-पैर व शरीर के अन्य अंगों के छोटे-बड़े हजारों ऑपरेशन किये । घावों व चीरों को सीनों के लिए उपयुक्त धागे के अभाव में उन्होंने मोची के धागे से काम लिया । इस प्रकार उन्होंने इस ग्यारह वर्ष के बन्दी काल में २०,००० से भी अधिक लोगों को रोग मुक्त किया तथा हजारों लोगों के ऑपरेशन किये । दवा, चिकित्सा, उपकरण, बेहोशी की दवा तथा पट्टियों आदि की जो स्थानापन्न वस्तुएँ उनके पास थीं वे थीं मानवीय सम्वेदना, तीव्र बुद्धि और ईश्वर में अगाध निष्ठा ।

डॉक्टर कोहलर सन् १९०८ में जर्मन के कोलोन नगर में जन्मे । उनके पैदा होने के कुछ ही महीने पहले उनके पिता जो व्यवसाय से डॉक्टर थे, उनके सहित चार अल्प व्यस्क बच्चों का भार उनकी माँ के कमजोर कन्धों पर छोड़कर परलोकवासी हो गये । इस प्रकार डॉक्टरी और अभाव उन्हें पैतृक सम्पदा के रूप में मिले थे । साधन-सुविधाओं और सम्पन्नता के नन्दनवन में तो हर कोई अपने व्यक्तित्व के पुष्प को सहज ही खिला सकता है किन्तु जो गरीबी और अभावों के बीहड़ वन प्रान्तर में अपने व्यक्तित्व के पादप को पल्लवित-पुष्पित करता है–अपनी सौरभ से उस प्रदेश को भरता है जहाँ उसकी आवश्यकता है, वह प्रशंसनीय होता है ।

बालक कोहलर अपने स्वयं के परिश्रम तथा पुरुषार्थ के सहारे डॉक्टर बने । वह विश्वविद्यालय में नौकरी भी करते और पढ़ते भी । उन्होंने रोस्तोक, वियेना तथा कोलोन में अपनी शिक्षा पूरी की । सन् १९३४ में उन्होंने अपना निजी चिकित्सालय खोला । पाँच वर्ष बाद उन्हें जर्मन सेना में आठ सप्ताह के सैनिक सर्जन का पाठ्यक्रम पूरा करने के लिए बुलाया गया ताकि जब कभी अवसर आ जाये तो वे युद्ध पीड़ितों की सेवा कर सकें । यह आठ सप्ताह का प्रशिक्षण पन्द्रह वर्ष तक लम्बा खिंच गया ।

१९४२ में वे रशियन सीमा से सिर के भारी घाव को ठीक करने के लिए छुट्टी पर घर लौटे । स्वास्थ्य लाभ होते ही पुनः अपने काम पर जाने लगे । मित्रों-परिजनों ने उन्हें छुट्टियाँ बढ़ाने का आग्रह किया । किन्तु वे रुके नहीं वे जानते थे कि सीमा पर डॉक्टरों की बड़ी आवश्यकता है । अपनी छह वर्ष की बच्ची उथ और पत्नी एरीना को छोड़कर वे सीमा पर लड़ने वाले घायल सिपाहियों की सेवा करने के लिए चल पड़े । इस जुदाई के बाद वे वापस लौटे तब उनकी पुत्री सत्रह वर्ष की हो चुकी थी ।

डॉ० कोहलर गम्भीर प्रकृति के धर्म प्राण व्यक्ति थे । युद्ध से उन्हें बड़ी घृणा थी । युद्ध को रोक सकना उनके बस की बात नहीं थी । युद्ध भले ही नहीं रोका जा सके युद्ध से होने वाली जन-हानि को बहुत कुछ अंशों में वे रोक सकते थे । इसी मानवीय प्रयोजन की सिद्धि के लिए वे सीमा पर आये । उन्हें रशिया और जर्मनी की संकीर्णता से मतलब नहीं था । बमबारी से ध्वस्त एक मकान में वे अपना अस्पताल चलाते थे । एक दिन रूसी सैनिकों को उनके अस्पताल का पता चल गया । उन्होंने डॉक्टर कोहलर को बन्दी बना लिया और अपने साथ ले गये ।

शून्य से भी कम तापमान वाले प्रदेश में दो दिन तक वे रशियन सैनिकों तथा अन्य युद्ध बन्दियों के साथ भूखे प्यासे चलते रहे । तदनन्तर उन्हें दुब्रोवको के अस्थायी बन्दीगृह में रखा गया । यह बन्दी गृह बिना छत का एक गिरजाघर था । जिसमें कोई खिड़की नहीं थी । इसमें बकरी की तरह २५०० आदमियों को ठूँस रखा था । टाइफाइड, अतिसार, पैर के फोड़े तथा ठण्ड से पीड़ित सौ से भी अधिक व्यक्ति प्रतिदिन मर जाते थे । किन्तु उतने ही बंदी फिर उनका खाली स्थान भरने के लिए आ जाते थे ।

अनिश्चित भविष्य, अस्वास्थ्यकर वातावरण तथा अपर्याप्त भोजन ने लोगों के धैर्य को समाप्त कर दिया था । वे निराश हो चुके थे । उनके पास ऐसा कोई सम्बल नहीं था जिसके सहारे वे जी सकें । डा० कोहलर जानते थे कि धर्म और ईश्वर ये दो शक्तियाँ ही मनुष्य के खोये हुए विश्वास को लौटाती हैं । इनको धारण करने वाला मनुष्य हर परिस्थिति में प्रसन्न रह सकता है । उन्होंने इन निराश लोगों में मनुष्य के प्रति, ईश्वर के प्रति पुन: विश्वास उत्पन्न किया । वे सब मिलकर ईश्वर से प्रार्थना करते । इस प्रार्थना से इन्हें अपूर्व शान्ति मिलती । वे बाइबिल को सदा अपने पास रखते थे । बारी-बारी से सब लोग उसका पाठ करते ।

इस बन्दीगृह में उन्होंने चिकित्सा अभियान आरम्भ किया । शल्य चिकित्सा के उपकरणों के रूप में उन्हें दो तीन पुराने रेजर, ब्लेड तथा एक टूटी-फूटी कैंची मिली जिसे पत्थर पर घिसकर तेज किया गया । दवाइयों के नाम पर 'फर्स्ट एड किट' ही उनके पास था । मृतकों के शरीर से उतारे हुए कपड़ों को उबालकर, फाड़कर उनकी पट्टियाँ बनायी गईं । बेहोशी की दवा के अभाव में पुरानी लकड़ी के शिकंजे की पद्धति अपनायी गई । औजारों को उबालने के लिये भोजनालय का एक टिन काम में लिया गया ।

इतने ही उपकरणों व औषधियों से उनका अस्पताल चल पड़ा । इनसे उन्होंने छोटे से छोटे व बड़े से बड़े ऑपरेशन किये । एक व्यक्ति की रीढ़ की हड्डी का जटिल ऑपरेशन इन्हीं साधनों से सम्पन्न किया गया जो सफल हुआ । एक व्यक्ति की टाँग का ऑपरेशन किया गया तो उसे २० डिग्री फारनहाइट के ठण्डे तापमान में भी पसीना आ गया । क्योंकि बेहोशी की दवा थी नहीं और उसे टेबल से बाँधकर ऑपरेशन किया गया था ।

छह महीने के बाद उन्हें वह बन्दी शिविर छोड़कर दूसरे शिविर में ले जाया गया । इस शिविर में ५००० जर्मन ऑफीसर बन्दी थे । इन बन्दियों को जंगल में जाकर लकड़ी काटने का कठोर श्रम करना पड़ता था । वे जब जंगल से लौटते थे तो बड़ी बुरी तरह थके व भूखे होते थे । डा० कोहलर ने बहुत कमजोर व्यक्तियों के पाँवों की मालिश करने के लिए एक स्वयं सेवक दल का गठन किया ।

रोग से यह शिविर भी मुक्त नहीं था । वे अपने पुराने उपकरण वहीं भूल आये थे । यहाँ उनके सामने फिर वही समस्या आयी । यहाँ फिर उन्हें नये उपकरण बनाने पड़े । अन्य बन्दियों के सहयोग से उन्होंने आप्थाल्मास्कोप बनाया । सीमेंट से वे प्लास्टर का काम लेते थे ।

इस प्रकार उन्हें एक-एक करके तेरह कैम्प बदलने पड़े सब में यही हाल था । चिकित्सा की कोई सुविधाएँ इन बन्दियों को उपलब्ध नहीं थीं । हर स्थान पर उन्हें नये उपकरण बनाने पड़े । इस ग्यारह वर्ष के बन्दी जीवन में एक भी दिन उन्हें हताश, उदास व मायूस बने किसी ने नहीं देखा । दूसरों की सेवा के बाद उन्हें समय ही नहीं बचता कि वे अन्य बात सोचते । वह बन्दी जीवन उनके लिए एक अभिनव प्रयोग व आत्मतुष्टि का पाथेय बन गया था ।

एक कैम्प में मलेरिया बड़ी तेजी से फैल रहा था । हजार में से पन्द्रह व्यक्तियों को ही रशियन अफसर बीमारों की सूची में लेते थे । शेष को बिना किसी चिकित्सा सुविधा के ज्वर का प्रकोप सहना पड़ता था । औषधियों के अभाव में वह पुरानी पद्धति की सुलभ औषधियों से मलेरिया की चिकित्सा करते रहे । जर्मन व रूसी का भेदभाव किये वे रूसी गार्डों की भी चिकित्सा करते थे । बाद में उन्होंने भी सहयोग देना आरम्भ कर दिया, जिससे उनका काम काफी आसान हो गया ।

सबसे कठिन ऑपरेशन उन्होंने स्लोनी में एक बन्दी का किया । जिसका सिर व हाथ एक पेड़ के गिर जाने से बुरी तरह कुचल गये थे । रूसी सैनिकों ने उसे मरने के लिए अकेला छोड़ देने का आदेश दिया किन्तु कोहलर माने नहीं उन्होंने अपने हाथ के बने चाकू से उसकी खोपड़ी को उधेड़ा तथा सुथारी के काम में आने वाली रुखानी से उसकी खोपड़ी में छेद करके उसमें घुसे हड्डियों के टुकड़ों को निकालकर दर्जी के काम आने वाले धागे से पुन: चमड़ी के टाँके लगाये । हाथों का भी ऑपरेशन किया । पन्द्रह दिन तक वह अचेत रहा । उसके बाद उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधरने लगा और कुछ ही महीनों में वह पूरी तरह ठीक हो गया ।

सन् १९४८ में बड़े दिनों के आस-पास एक रूसी सैनिक उसके पास आया । उसकी पत्नी चार दिन से प्रसव वेदना सह रही थी । यदि वह थोड़ी देर बाद आता तो प्रसूता तथा बालक दोनों की मृत्यु निश्चित थी । स्थिति बहुत गम्भीर थी । डाक्टर कोहलर के प्रयास से प्रसव ठीक प्रकार हो गया तथा दोनों की जान बच गयी । उस रूसी सैनिक ने डॉ० कोहलर से पूछा—"हम तुम्हें बन्दी बनाए हुए हैं । तुम्हारे साथ शत्रु का सा व्यवहार करते हैं फिर तुमने मेरी पत्नी के प्राण क्यों बचाये ?"

"क्योंकि तुम्हारी पत्नी भी मनुष्य है । मनुष्य ही मनुष्य की सहायता नहीं करेगा तो और कौन करेगा ?" सच है जीवन की इस सच्चाई को जिसने आत्मसात कर लिया हो उसके लिए यह धरा स्वर्ग बन जाती है और हर मनुष्य उसका परिजन ।

यह समाचार सुनकर कई रूसी भी उनके पास चिकित्सा कराने आने लगे । अपने बन्दी जीवन में उन्होंने ३००० से भी अधिक रूसियों की चिकित्सा की थी ।

औषधियों की कमी को उन्होंने आदिम औषधियों का प्रयोग करके पूरा किया । अतिसार की औषधि के रूप में उन्होंने जानवरों की हड्डियों के कोयले का चूर्ण काम में लिया । एक अन्य रोग में ओक की पत्तियों का काढ़ा काम में लिया गया । इस प्रकार कई जड़ी-बूटियों का प्रयोग भी वे करते रहे ।

१९४९ में १,३०० बन्दियों को छोड़ दिया गया । उन्हें जर्मनी भेज दिया गया । किन्तु कोहलर को नहीं छोड़ा गया । उन पर अभियोग चलाया गया । न्यायालय ने उन्हें दस वर्ष का सश्रम कारावास दिया । इस काल में भी उन्होंने रूसी अस्पतालों में चिकित्सा सेवाएँ दीं । स्टालिन-ग्राड के एक अस्पताल में वे मानवता की सेवा करते रहे ।

दिसम्बर, १९५३ में रूसी सरकार ने उन्हें जर्मनी सरकार से किए समझौते के अनुसार अपने देश भेज दिया । मानवता की अनुपम सेवा करने तथा युद्ध बन्दियों का आत्मविश्वास बनाए रखने के कारण उनका पश्चिमी जर्मनी में भव्य स्वागत किया गया । उन्हें ग्रेट क्रास प्रदान किया गया । तीन दिन में ही उनके पास दो हजार से अधिक अभिनन्दन पत्र आये जिनके भेजने वाले व्यक्ति उनके युद्ध बन्दी काल के मरीज थे । सभी ने एक ही कहानी दोहरायी थी "आपने हमारी प्राण रक्षा की है ।"

पश्चिमी जर्मनी सरकार ने उन्हें कोलोन-मरियम म्युनिसिपल मेडीकल सेन्टर में मुख्य सर्जन का पद दिया । दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा से भी अधिक समझने का जीवन दर्शन अपनाकर उन्हें जो श्रद्धा व सम्मान मिला है वह लोभ-मोह की संकीर्णता अपनाने वालों को भला कहाँ नसीब होता है ?

काँग्रेस के जन्मदाता–

सर ऐलेन ह्यूम

आज के युवकों को यदि यह बताया जाय कि भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के जन्मदाता एक अँग्रेज आई० सी० एस० अधिकारी थे, तो वे सहसा इस पर विश्वास नहीं करेंगे । यह बात उनके गले नहीं उतर पाती कि एक अँग्रेज अधिकारी भारत में अँग्रेजी राज्य की समाप्ति की प्रेरणा लोगों का दे सकता है । पर सत्य है, उतना ही यह सत्य है, जितनी कि हमारी आज की स्वतन्त्रता । यह अँग्रेज व्यक्ति ऐलेन आटेवियम ह्यूम थे जो ब्रिटिश सरकार के उच्चाधिकारी रह चुके थे । वे निर्भीक भद्र पुरुष थे और उस महान व्यक्तित्व परम देशभक्त व समाज-सुधारक जोसेफ ह्यूम के सुपुत्र थे । भारत के साथ सहानुभूति और प्रजातंत्र में दृढ़ विश्वास उन्हें अपने पिता से विरासत में मिला था ।

आज ८५ वर्ष पूर्व जब अँग्रेजी शासन हमारे देश में दृढ़तापूर्वक जमा हुआ था, वे कौन-सी परिस्थितियाँ थीं, जिनसे प्रेरित होकर इस अँग्रेज अधिकारी ने भारतीयों को स्वतन्त्रता के लिए प्रेरित किया, उन्हें उत्साहित किया, तैयार किया, सहयोग दिया और सर्वस्व न्यौछावर किया ? सर ह्यूम ने एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया । उन्होंने भारतीय काँग्रेस की स्थापना की और भारत को अँग्रेजों से मुक्ति दिलाने का बीड़ा उठाया । आज देश के उलझे हुए वातावरण और काँग्रेस पार्टी की आन्तरिक फूट को देखते हुए इस बात का खास महत्व है ।

ऐलेन ह्यूम का जन्म सन् १८२९ में हुआ । ये अपनी युवावस्था में अपने समकालीन अँग्रेज समाज सुधारकों से बहुत प्रभावित हुए थे । इन नेताओं के आन्दोलन का मुख्य ध्येय जनता के लिए आजादी की, रोटी की पुकार, अपने अधिकार की माँग था । इस आन्दोलन का ह्यूम के युवा-हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा था ।

२० वर्ष की अवस्था में उन्होंने भारत में ब्रिटिश सरकार की सेवा में आना पसंद किया । अपने इस निश्चय में वे अपने पिता से विशेष रूप से प्रभावित हुए थे, जिन्होंने भारत में रहकर ईस्ट इंडिया कम्पनी और भारतीय रियासतों के राजे-महाराजों, नवाबों के बीच अनेक महत्त्वपूर्ण समझौते कराने में असाधारण योग्यता, विवेक और अद्भुत दूरदर्शिता एवं प्रतिभा का परिचय दिया था ।

भारत में ह्यूम की प्रथम नियुक्ति सन् १८४९ में बंगाल के उच्च अधिकारी के रूप में हुई थी । आरम्भ से ही उन्होंने भारतवासियों की भावनाओं को समझने और उनकी समस्याओं को सुलझाने में गहरी रुचि प्रदर्शित की थी । इसके पश्चात् उत्तर प्रदेश के इटावा जिले में डिप्टी कलेक्टर की नियुक्ति के दौरान भी देश में शिक्षा प्रसार के लिए उन्होंने कई सराहनीय कार्य किये । इन्हीं के प्रयत्नों से जनवरी १८५७ तक इटावा जिलों में लगभग १८१ निशुल्क प्राथमिक पाठशालाओं की स्थापना हो चुकी थी । इन्हीं के अथक परिश्रम और लगन से इटावा में प्रथम मेडीकल कॉलेज खोला गया ।

सन् १८५९ में ह्यूम ने एक भारतीय मित्र के सहयोग से एक समाचार पत्र 'दि पिपुल्स फ्रेन्ड' आरम्भ किया, जो बड़ा लोकप्रिय हुआ और देश के कोने-कोने में इसका प्रचार हुआ ।

सर ह्यूम एक कुशल प्रशासक थे । अपनी सरकार के प्रति पूरी कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ-साथ भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार बड़ा स्नेहपूर्ण और उदारता का रहा । अपने कार्यकाल के दौरान कुछ वर्षों तक वे कस्टम कमिश्नर भी रहे और सन् १८७० में भारत-सरकार के सचिव के रूप में उनकी नियुक्ति हुई । भारत के ग्रामीण जीवन और कृषि की अवस्था की उन्हें विशेष जानकारी थी । अतः वाइसराय लार्ड मेयो ने भारत के ग्रामीण सुधार का सारा कार्य भार उन्हें सौंपा । ह्यूम इस कार्य में जी-जान से जुटे थे और चाहते थे कि भारत के कृषि सुधार के कार्य

के लिए एक रचनात्मक योजना तैयार की जाए परन्तु अँग्रेज उच्चाधिकारियों ने एक ऐसा षड्यन्त्र इनके विरुद्ध रचा कि इन्हें नौकरी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।

उन्होंने इस घोर अन्याय को चुपचाप सहन कर लिया पर इससे उनके हृदय को बड़ी ठेस लगी। इस विपत्ति में एक प्रकार का आत्मदर्शन हुआ। उन्हें यह साफ़ महसूस हुआ कि ब्रिटिश शासन जनता के हित में नहीं। उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो चला कि भारत के लोगों की जो निरन्तर दुर्दशा हो रही है, इसकी रोकथाम के लिए कोई ठोस कदम उठाने होंगे।

विदेशी राज्य के उस काल में अँग्रेजों शासकों और भारतीय जनता के बीच ऐसी कोई कड़ी नहीं थी और न कोई ऐसे संवैधानिक उपाय थे, जिनके द्वारा भारत की निरीह जनता के दुःखों, कष्टों, भावनाओं आदि का सरकार को पता चल सकता। ह्यूम इस विचारधारा के थे कि भारत में अँग्रेजी शासन चलाने तथा सरकार द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए भारतीयों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

पर कोई काम आरम्भ करने से पूर्व ह्यूम ने उचित समझा कि क्यों न पहले तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड डफरिन से परामर्श कर लिया जाए क्योंकि स्वयं वायसराय भी लोगों की वास्तविक भावनाओं को समझने में कठिनाई अनुभव कर रहे थे। वे भी इस मत के थे कि कोई ऐसी जिम्मेदार संस्था भारत में होनी चाहिए, जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार को हिन्दुस्तानियों की सही भावनाओं का पता चलता रहे।

उन दिनों कोई भारतीय राजनैतिक संस्था विद्यमान न हो, ऐसा नहीं था। बंगाल में सन् १८७६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना कर चुके थे तथा मद्रास में महाजन सभा का भी जन्म हो चुका था। दोनों संस्थाएँ देश में राष्ट्रीयता का बीज बोने का सफल कार्य कर रही थीं पर ह्यूम एक ऐसे केन्द्रीय संगठित आन्दोलन का सूत्रपात करना चाहते थे, जो राष्ट्रीय इकाइयों को एक सूत्र में पिरो दे।

इस लक्ष्यपूर्ति के लिए वे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना के कार्य में जुट गये। ह्यूम की इस संकल्पित संस्था का उद्देश्य था—"भारत का एक राष्ट्र के रूप में आध्यात्मिक, चारित्रिक, सामाजिक और राजनैतिक पुनरुत्थान और पुनरुद्धार।"

इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया बड़ी सबल हुई। देश भर में इसका स्वागत हुआ। भारत के प्रत्येक भाग से राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत व्यक्ति इस आन्दोलन को सहयोग देने आगे आए। ह्यूम ने इनके सहयोग से प्रथम भारतीय राष्ट्रीय यूनियन की स्थापना की। बाद में यह यूनियन केन्द्रीय आन्दोलन की प्रेरणा स्रोत बनी। इसके साथ ही कराँची, अहमदाबाद, सूरत, बम्बई, पूना, मद्रास, कलकत्ता, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा और लाहौर में स्थापित की गई। इनकी गतिविधियों को केन्द्रित करने के लिए पूना में इस यूनियन की एक परिषद का आयोजन भी किया गया। ये सब कार्य बड़ी तेजी से सम्पन्न हुए।

देश की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह जानना बड़ा दिलचस्प प्रतीत होता है कि इस यूनियन का सदस्य होने के लिए जो पाँच योग्यतायें अनिवार्य रखी गई थीं। वे इस प्रकार हैं:-

(१) सार्वजनिक रूप से निष्कलंक चरित्र।

(२) भारत के लोगों के आर्थिक, शारीरिक, चारित्रिक, मानसिक तथा राजनीतिक स्तर के उत्थान की प्रबल इच्छा और सच्ची भावना से ओत-प्रोत होना।

(३) बौद्धिक शक्ति और विस्तृत दृष्टिकोण, तर्क-वितर्क की जन्मजात प्रतिभा व शिक्षा ग्रहण द्वारा मानसिक संतुलन बनाए रखने की क्षमता।

(४) जनता के हित में स्वयं के हित को बलिदान करने को तत्पर होना।

(५) स्वाधीन एवं स्वतन्त्र विचार तथा अपने निर्णय में निष्पक्ष होना।

अपने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए ह्यूम इंग्लैण्ड भी गए और वहाँ वे अनेक प्रमुख नेताओं, समाचार-पत्रों के सम्पादकों आदि से मिले और उन्हें अपने मिशन का उद्देश्य समझाया। उन्हें इन सबसे पर्याप्त सहानुभूति मिली। इस सफलता से प्रसन्न हो, इंग्लैण्ड से जब वे लौटे पूना में दिसम्बर, १८८५ में यूनियन के प्रथम अधिवेशन की तैयारियाँ हो चुकी थीं। इस बीच यह निर्णय किया गया कि यूनियन को 'भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' नाम दिया जाए, क्योंकि यह संस्था अब राष्ट्रीय महत्व का रूप धारण कर चुकी है और देश के कोने-कोने से इसे समर्थन मिलने लगा है।

पर यूनियन का यह अधिवेशन पूना में न हो सका क्योंकि पूना में उन्हीं दिनों अकस्मात प्लेग की बीमारी फूट पड़ी। इसलिए अधिवेशन का स्थान पूना से बदलकर बम्बई में रखा गया। इस प्रकार २७ दिसम्बर, १८८५ को भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का सर्वप्रथम अधिवेशन का श्रेय बम्बई को मिला। काँग्रेस के आरम्भिक दिनों में ब्रिटिश अधिकारी इस संस्था की उपेक्षा करते रहे पर जब यह आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो उनके कान खड़े हुए और इसके प्रति उनके व्यवहार में कठोरता आने लगी। अनेक अँग्रेज अधिकारियों ने यहाँ तक राय प्रकट की कि काँग्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया जाए और ह्यूम को भारत से निर्वासित कर दिया जाए। फलतः उन्हें भारत छोड़ने को विवश होना पड़ा।

भारत में ब्रिटिश सरकार के प्रतिरोध को खत्म करने के लिए ह्यूम ने इंग्लैण्ड में भारतीयों के अधिकारों के बारे में प्रचार का एक सशक्त कार्यक्रम तैयार किया। १८८६ में इंग्लैण्ड में एक संस्था की स्थापना की गई, जो भारतीयों की भावनाओं को इंग्लैण्ड के लोगों तक पहुँचा सके। दादा भाई नौरोजी जो उन दिनों इंग्लैण्ड में थे, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के प्रथम भारतीय प्रतिनिधि नियुक्त

हुए । बाद में सर विलियम वेडरवर्न और ब्राडला ने भी सहयोग दिया ।

ह्यूम १८९२ में इंग्लैण्ड लौटे । वहाँ वे कुछ वर्ष रहे । वृद्धावस्था और निरन्तर गिरते स्वास्थ्य के बावजूद भारत के हितों के लिए वे अन्त तक ब्रिटिश सरकार से जूझते रहे । अनेक कठिनाइयों का उन्हें सामना करना पड़ा फिर भी वे काँग्रेस को सुदृढ़ बनाने और इस देश में राष्ट्रीयता जगाने के लिए अहर्निश लगन से काम करते रहे । इंग्लैण्ड से वे भारत लौटना चाहते थे । पर वे अकस्मात् बीमार पड़ गये और ८४ वर्ष की आयु में ३१ जुलाई, १९१२ को उनका देहान्त हो गया ।

मानवीय समता का प्रतिष्ठापक–

कार्ल मार्क्स

सन् १८४८ का वर्ष योरोप के निरंकुश शासकों के लिये बड़ा अमंगलकारी था । जन क्रांति की ज्वाला एक बड़े देश से दूसरे में फैलती जाती थी और एकाधिकार के बड़े-बड़े दुर्ग धराशायी होते जाते थे । फ्रांस में पुराने शासन को लौट दिया गया और उसकी जगह सामान्य जनता का अस्थायी शासन कायम हो गया । उधर बेलजियम में भी साम्यवादी विचार वालों ने मध्यमवर्गीय नेताओं पर आक्रमण करके उनको अपमानित किया । इस झगड़े में मार्क्स को भी, जो उन दिनों अपने देश जर्मनी को त्यागकर बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में रहता था, हानि उठानी पड़ी । अब तक वहाँ के अधिकारियों ने जर्मन सरकार के आपत्ति करने पर भी उसको अपने यहाँ रहने दिया था । पर इस घटना के बाद वे भी उससे डरने लगे और उसे गिरफ्तार करके देश निकाले का दण्ड दे दिया । उसी समय उसके पास फ्रांस की अस्थायी सरकार के एक सदस्य 'फर्डीनेण्ड फ्लोकन' का पत्र आया, जिसमें लिखा था–

"वीर और विश्वस्त मार्क्स ! अत्याचारियों ने तुम को देश निकाले की आज्ञा दी है । पर स्वाधीन-फ्रांस तुम्हारे लिये अपना दरवाजा खोलता है–तुम्हारे लिये और उन सब लोगों के लिये जो मनुष्य-मात्र के उद्धार के पवित्र उद्देश्य के लिये लड़ रहे हैं । इस सम्बन्ध में फ्रांसीसी सरकार का प्रत्येक कर्मचारी अपना कर्त्तव्य भली-भाँति समझता है । भ्रातृ-भाव पूर्वक नमस्कार ।"

मार्क्स पेरिस पहुँच गया और वहाँ की क्रांति में भी यथाशक्ति भाग लिया । पर उधर उसके घर जर्मनी में भी क्रांति की चिंगारियाँ अपना काम कर रही थीं । मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट लीग' के जर्मन सदस्यों को प्रेरणा दी कि वे जर्मनी पहुँचकर क्रांति में भाग लें । फिर जब आग भड़कने का अवसर आया वह भी अपने सहयोगी एंजिल्स को लेकर राइनलैण्ड में चला आया और 'न्यू राइनिश बीटुंग' नाम का एक दैनिक पत्र निकालने लगा । यह उस समय सबसे प्रभावशाली पत्र था, जिससे सरकार भी डरती थी । इसके सम्बन्ध में एंजिल्स ने, जो उसका सहकर्मी सम्पादक था, एक स्थान पर लिखा है–

उस समय यही एक ऐसा पत्र था जो श्रमजीवियों का पूर्ण रूप से समर्थन करता था । कुछ अन्य पत्रों ने उसके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन किया, क्योंकि वह उन सभी बातों का विरोध करता था जिन्हें वे 'पवित्र' मानते थे । वह निरंकुश शासन-सत्ता का घोर विरोधी था चाहे वह सत्ता बादशाह की हो और चाहे पुलिस के एक सिपाही की । इन बातों को वहाँ रहकर लिखता था जहाँ छावनी में आठ हजार सिपाही सदा तैयार रहते थे । जर्मनी का केन्द्रीय न्याय विभाग उसके लेखों को बराबर गैर कानूनी करार देता रहता था और सरकारी वकील पर मुकदमा चलाने का जोर डालता रहता था । दो बार उस पर मुकदमा चलाया भी गया, पर जूरियों ने निर्दोष कहकर छोड़ दिया । अन्त में जब केन्द्रीय सरकार की बहुत बड़ी सेना राइनलैण्ड में आ गयी और क्रांति पूरी तरह से दबा दी गयी तब सरकार इस पत्र को बन्द करने का साहस कर सकी । इसकी अंतिम संख्या १८ मई १८४९ के 'रक्त-अंक' के नाम से प्रकाशित हुई जो लाल रंग के कागज पर छपी थी ।

"न्यू राइनिश बीटुंग" को जीवित रखने के उद्देश्य में मार्क्स को अपना सर्वस्व स्वाहा कर देना पड़ा । यद्यपि यह बड़ा लोकप्रिय पत्र था और साल भर के भीतर ही इसकी ग्राहक संख्या काफी बढ़ गई थी; पर सरकार की दमन नीति का मुकाबला करने के कारण पत्र पर बहुत सा कर्ज हो गया । मार्क्स ने अपना सब कुछ बेचकर कर्जदारों का १५ हजार रु० चुकाया । इसके बाद वह पेरिस पहुँचा, पर वहाँ देखा कि 'लाल प्रजातन्त्र' के बजाय शासन में क्रान्ति विरोधी दल का बोलवाला हो गया है । तब वह लन्दन चला आया और अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत किया ।

लन्दन में मार्क्स लगभग इकत्तीस वर्ष की आयु में पहुँचा और चौंतीस वर्ष तक वहीं निवास करता रहा । इस बीच में जिस प्रकार आर्थिक कष्ट सहन करते हुए उसने जनसेवा का कार्य जारी रखा, उसी से वह आज तक संसार के श्रमजीवियों का आराध्य बना हुआ है । उस समय वह कितना दरिद्र हो गया था इसका पता एक इसी बात से लग सकता है कि जब उसे अपने जर्मनी स्थित साथियों का समर्थन करने के लिये एक ट्रैक्ट निकालने की आवश्यकता हुई तो उसको अपना अन्तिम कोट गिरवी रखकर कुछ रुपया प्राप्त करना पड़ा । सन् १८५१ से १८६० तक मार्क्स की आमदनी का खास जरिया अमरीका से प्रकाशित होने वाले 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' के लिये लेख भेजना ही था उसे प्रति लेख १५ रु० मिलते थे । सन् १८६२ में उसका आर्थिक कष्ट इतना बढ़ गया कि उसने रेलवे ऑफिस में क्लर्क की नौकरी के लिए दरख्वास्त दी । पर कितने ही बड़े लेखकों की तरह उसकी हस्तलिपि इतनी अस्पष्ट थी कि उसे नौकरी न मिल सकी, जिस

महापुरुष के सम्मुख इस समय आधी दुनिया श्रद्धा से मस्तक झुकाती है, उसे पेट भरने के लिये क्लर्क की नौकरी भी न मिल सकी इससे बड़ी विधि-विडम्बना और क्या हो सकती है ?

पर उस कठिन परिस्थितियों में भी वह अपने सिद्धान्तों पर कितनी अधिक निष्ठा रखता था, इसका पता एक अन्य घटना से लगता है । कुछ समय पश्चात् जर्मनी के शासकों ने मार्क्स के एक मित्र द्वारा उससे जर्मनी के सरकारी पत्र का आर्थिक-सम्वाददाता बन जाने को कहलाया । इस काम में काफी आमदनी थी और उसका भयंकर अर्थकष्ट और दरिद्रता पूर्ण रूप से दूर हो सकती थी । पर साथ ही इसका अर्थ यह भी था कि वह अपने प्राणों से प्यारे सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर सरकार का पक्ष समर्थन करने वाली बातें लिखे । मार्क्स ने जर्मन सरकार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और वह सांसारिक सुखों के लिए अपनी आत्मा का खून करने को तैयार न हुआ । यही एक घटना मार्क्स को त्यागी और अपरिग्रही ऋषियों की कोटि में पहुँचाने को पर्याप्त है ।

इस आपत्तिकाल में उसकी पत्नी ने जिस धैर्य और आत्मत्याग का परिचय दिया उससे प्रकट होता है वह सच्चे अर्थों में एक पतिव्रता थी । वह एक रईस घराने की पुत्री थी और उनका एक भाई उस समय भी जर्मनी के मंत्रिमण्डल का सदस्य था । आयु में भी वह मार्क्स से कुछ बड़ी थी पर घोर दरिद्रता या अर्थकष्ट से घबड़ाकर उसने कभी मार्क्स की शिकायत न की, न अपने भाग्य को उसके साथ विवाह होने के कारण कोसा । वह स्वयं और घर के अन्य सब लोग, मार्क्स का हार्दिक सम्मान करते थे और कभी किसी ने यह इच्छा प्रकट न की कि वह अपना प्रचार कार्य त्याग कर धन-कमाने के लिये कोई दूसरा काम करे । वह सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी थी । वह सदा प्रसन्नचित्त रहती थी और ऐसी व्यवहार कुशल थी कि मार्क्स के समस्त इष्ट-मित्र और अनुयायी उसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे ।

मार्क्स के छ सन्तानें हुईं । जिनमें से तीन कन्यायें जीवित रहीं और दो लड़कों तथा एक लड़की का देहान्त बचपन में ही हो गया । इनकी मृत्यु का एक बड़ा कारण मार्क्स की कंगाली भी था । अगर इनकी सेवा-सुश्रूषा का ठीक प्रबन्ध होता और डाक्टरों के कहने के मुताबिक उचित इलाज किया जाता, तो सम्भवतः उनकी जीवन-लीला इस प्रकार अकाल में समाप्त न हो जाती ।

यद्यपि मार्क्स एक भयंकर क्रान्तिकारी समझा जाता था, जिसके नाम से योरोप की शक्ति-शाली सरकारें भी डरती थीं, पर व्यक्तिगत जीवन में वह बड़ी कोमल प्रकृति का और विनोदप्रिय था, छुट्टी के दिन शाम को जब वह अपने कुटुम्बियों और मित्रों के साथ सैर करने को निकलता या दिल बहलाव को गपशप करता तो उसकी चुटकियों और मजाक पर लोग खूब हँसा करते थे । उस समय किसी को यह ख्याल भी नहीं आता कि वह एक भयंकर क्रान्तिकारी है । लन्दन की गलियों में खेलने वाले गरीबों के बच्चे उसे 'दादा मार्क्स' कहते थे और वह राह चलते हुये सदा उनके साथ खेलने को तैयार रहता था । प्रसिद्ध कवि हेन ने जो पेरिस में मार्क्स के परिवार का सबसे अधिक घनिष्ठ मित्र था और जिसने एक बार घोर परिश्रम और सेवा करके मार्क्स के एक बच्चे की प्राण रक्षा की थी, लिखा है–"मैं जितने मनुष्यों को जानता हूँ, मार्क्स उन सब में कोमल और मीठी प्रकृति का व्यक्ति है ।"

पर इतनी कठिनाइयों और अभावग्रस्त हालत में रहते हुये भी मार्क्स अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन में जितना अधिक परिश्रम करता था उसे जानकर आश्चर्य होता है । लंदन पहुँचने पर दिन के समय तो उसे अक्सर अनेक सभा-संस्थाओं में भाग लेना पड़ता था और कई घंटे वहाँ पर निकल जाते थे । इसलिये वह पढ़ने-लिखने का काम रात में करने लगा । धीरे-धीरे यह आदत यहाँ तक बढ़ गई कि वह सारी रात काम करता रहता और सुबह होने पर थोड़ी देर सो लेता । उसकी पत्नी ने इसका विरोध किया, पर उसने उसकी बात हँसी में उड़ा दी और समझा दिया कि उसे इसी प्रकार काम करने की आदत है । पर प्रकृति के विरुद्ध चलने का फल उसे भोगना पड़ा । यद्यपि उसका शारीरिक गठन जन्म से बहुत मजबूत था, पर इस असाधारण परिश्रम के कारण आठ-दस साल में ही उसके शरीर में अनेकों रोग पैदा हो गये । डॉक्टरों से सलाह लेने पर उन्होंने रात का पढ़ना-लिखना कतई बन्द कर देने और नित्य-प्रति कुछ व्यायाम करने तथा दूर तक घूमने को कहा । इसके अनुसार चलने से उसका स्वास्थ्य सुधरने लगा । पर जैसे ही शक्ति कुछ बढ़ गई वह फिर रात को काम करने और अर्थशास्त्र के अध्ययन में अत्यधिक परिश्रम करने लगा, नतीजा यह हुआ कि वह फिर बीमार हो गया और डॉक्टरों की शरण में जाना पड़ा । इसी प्रकार अधिक परिश्रम करने के कारण उसे बार-बार बीमार पड़ना पड़ता । जिस डॉक्टर ने अन्तिम बीमारी में उसका इलाज किया उसने कहा था कि अगर मार्क्स इस प्रकार शक्ति से बाहर काम न करता तो वह बहुत दिनों तक जिन्दा रह सकता था ।

पर मार्क्स का यह असाधारण परिश्रम व्यर्थ न गया । उसका अमर ग्रंथ 'कैपिटल' इसी परिश्रम का परिणाम है । अर्थशास्त्र और साम्यवाद के अध्ययन में उसने लन्दन के जगत विख्यात पुस्तकालय 'ब्रिटिश म्यूजियम लायब्रेरी' में सोलह-सोलह घन्टे बैठकर इस सम्बन्ध में साहित्य को मथ डाला था । उस युग में अर्थशास्त्र के साहित्य पर उससे अधिक जानकारी रखने वाला विद्वान दूसरा न था । इसी ज्ञान के आधार पर उसने 'कम्यूनिज्म' के सिद्धान्तों को ऐसे सुदृढ़ आधार पर स्थापित किया कि वे आज तक दुनिया को हिला रहे हैं । उसका यह 'कैपिटल' ग्रंथ अभी तक 'कम्यूनिज्म की बाइबिल' के नाम से प्रसिद्ध है और श्रम जीवियों के विकास तथा अधिकारों का प्रतिपादन करने वाली सर्वोपरि रचना मानी जाती है । इस कई हजार पृष्ठों

के महा-ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुये १४ मार्च, १८८३ को मार्क्स की मृत्यु हो जाने पर उसके परम मित्र एंजिल्स ने कहा था–

"आज मनुष्य जाति एक बड़े महत्त्वपूर्ण मस्तिष्क से रहित हो गई । जिस प्रकार डार्विन ने जीव-जगत के सिद्धान्त का पता लगाया था ठीक उसी प्रकार मार्क्स ने मानव इतिहास के विकास सम्बन्धी नियम की खोज की । यह नियम बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है, पर तब तक यह आदर्शवाद के घटाटोप में छिपा हुआ था । मार्क्स ने 'समाज-प्रजातन्त्रवाद' को एकमत या सिद्धान्त के बजाय एक जीवित सत्य बना दिया जो आज बिना हार माने युद्ध कर रहा है और अन्त में अवश्य विजयी होगा । मार्क्स ने अपनी समस्त योग्यता और शक्ति को मानव जाति के हितार्थ लगा दिया । वह स्वयं जन्म भर गरीबी और अभावग्रस्त दशा में रहा, पर उसने करोड़ों दीन-हीन लोगों के लिये उद्धार का रास्ता खोल दिया ।"

वास्तव में ऐसे ही परमार्थ में जीवन अर्पण करने वाले ऋषि और मुनि कहलाने के अधिकारी होते हैं । 'कैपिटल' के लिखने में यद्यपि मार्क्स ने अमानुषीय परिश्रम किया था और प्राणों की बाजी लगा दी थी, पर फिर भी साधनों के अभाव से जब वह अपने जीवन के अन्तिम समय तक उसे पूरा प्रकाशित न करा सका तो वह बहुत दुःखी हुआ । जिस समय मार्क्स की मृत्यु हुई उन दिनों उसका प्रभाव इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी में बराबर बढ़ता जा रहा था और अनेक प्रसिद्ध साम्यवादी नेता उसके सिद्धान्तों का प्रचार जोरों से करने लगे थे । मार्क्स के सिद्धान्तों के पक्ष या विपक्ष में अनेक संस्थाओं की स्थापना की जा रही थी पर जिस महापुरुष के नाम पर ये सब कार्य किये जा रहे थे वह स्वयं बर्बाद हो चुका था । परिश्रम का दुनिया ने उसे कुछ भी पुरस्कार नहीं दिया ।

साम्यवाद के जन्मदाता

अन्य आदर्शवादियों की तरह साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स को भी गरीबी और कठिनाई के बीच दिन गुजारने पड़े । उनकी पुत्री दवा के लिए पैसा न होने के कारण बेमौत मर गई ।

जब कर्जा भी न मिला तो उनकी पत्नी ने पुराने कपड़े खरीदकर उनमें से छोटे कपड़े निकालने और गली-गली घूमकर बेचने का धन्धा किया और पति को अपने महान कार्य में संलग्न रहने में कुछ व्यवधान न पड़ने दिया ।

दृढ़ सिद्धान्तवादी

कार्ल मार्क्स लन्दन में निर्वासित जीवन जी रहे थे । फ्रान्स और जर्मनी की सरकारों ने उन्हें क्रान्तिकारी घोषित कर देश निकाला दे दिया था । यहीं पर रहकर उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दास कैपीटल' की रचना की थी । लन्दन प्रवास के दौरान मार्क्स को घोर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । इस बीच उन्हें गरीबी और भूख के कारण दो बच्चों से भी हाथ धोना पड़ा था ।

समय पर किराया न चुकाने के कारण कई बार मकान मालिकों ने घरों से भी निकाल दिया था । रोटी के लिए बिस्तर भी बेचने पड़े । किन्तु श्रमिकों के उद्धार का संकल्प उन्होंने उठाया था । उसे भूखों रहकर आजीवन निभाया । उसमें राई-रत्ती भर शिथिलता नहीं आने दी ।

उन्हीं दिनों जर्मनी में बिस्मार्क का प्रभुत्व था । वे जर्मनी के प्रधानमंत्री भी थे । पूँजीवादी राष्ट्रों में जर्मनी अग्रणी था । बिस्मार्क को डर था कि यदि मार्क्स के विचार समाज में फैल गये तो मजदूरों को काबू में रख पाना सम्भव न होगा । पूँजीवाद की नींव जर्मनी से सदा के लिए उखड़ जायगी । बिस्मार्क को एक ठकि सूझी । क्यों न मार्क्स को प्रलोभन देकर खरीद लिया जाय और उसके बढ़ते प्रभाव को समाप्त कर दिया जाय । मार्क्स के पुराने साथी बूचर को लालच देकर अपने पक्ष में कर लिया । उसके हाथों गुप्त पत्र भिजवाया । जिसमें कार्ल मार्क्स को सरकारी समाचार पत्र का सम्पादक बनने की बात कही थी इस पत्र में पारिश्रमिक की मोटी रकम अदा करने की बात कही गई थी तथा सुरक्षा का पूरा आश्वासन भी दिया गया था । पत्र के अन्त में कहा गया था कि सरकार के समर्थन से राष्ट्र की सेवा और अच्छी तरह हो सकती है ।

किन्तु मार्क्स खरीदे नहीं जा सके । बिस्मार्क अपने कुटिल इरादों में असफल रहा । मार्क्स श्रेष्ठ सिद्धान्त और पवित्र-लक्ष्य तथा जन-कल्याण की भावना लेकर कार्य के प्रति समर्पित थे । इसलिए अभाव भरे जीवन से भी उन्हें कोई शिकायत नहीं थी । कार्ल न झुके न बिगरे । यह प्रलोभनों पर आदर्शों की महान विजय थी, जो मार्क्स को सदा के लिए महान बना गई ।

कम परिश्रम में अधिक कमाई

एक युवक सिर झुकाये अपने काम पर तेजी से जा रहा था । रास्ते में एक मजदूर को दीवार पर पेन्ट करते देखा । युवक कुछ समय रुका और मजदूर के पास जाकर बोला–"दोस्त ! इससे भी कम समय और कम रंग में इससे अच्छी रंगाई हो सकती है । क्या तुम उस तरकीब को सीखना चाहोगे । " मजदूर भौंचक्का रह गया । पास ही मालिक भी खड़ा था । दोनों ने कहा–"भाई ऐसी तरकीब हो सकती है तो कर दिखाओ न ।"

युवक आस्तीन ऊँची करके मजदूर का ब्रुश और रंग डिब्बा हाथ में लेकर काम पर जुट गया । शाम होने से पहले ही उसने अपनी बात सही सिद्ध करके दिखा दी । चलते समय मालिक ने इस युवक के हाथ में पारिश्रमिक और इनाम थमाया तो उसने उसे काम पर लगे मजदूर को दे दिया । कहा-करना तो इन्हीं को है–मैंने तो ऐसे ही थोड़ी अक्ल लगा दी ।

यह युवक था–कार्ल मार्क्स । जिसकी अक्ल ने दुनिया को अधिक अच्छी कम समय और कम परिश्रम में बना देने की तरकीब बताई और वह साम्यवाद के रूप में सबके सामने आई ।

जाम्बिया के गाँधी–

राष्ट्रपति कैनेथ कोण्डा

आठ वर्ष के निर्धन और काले नीग्रो बालक कोण्डा को देखकर कोई यह अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि यह आगे चलकर एक नवोदित राष्ट्र का अध्यक्ष ही नहीं राष्ट्रपिता का गौरव और सम्मान प्राप्त करेगा । परन्तु सफलता किसी के चेहरे पर नहीं लिखी होती वह मनुष्य के पुरुषार्थ, पराक्रम और अडिग निष्ठा के बल पर स्वयं लिखनी होती है । एक तो ऐसे परिवार में जन्म, जिसे न तो मनुष्य की तरह जीने दिया जा रहा था और न ही वह पशुओं का कुनबा था । मनुष्य का मनुष्य के प्रति यह दुर्व्यवहार आज की नहीं सदा की पैशाचिक वृत्ति रही है । शक्तिशाली और समर्थ लोगों में आसुरी तत्व घुसकर उन्हें मानवता के पद से कितना नीचा गिरा देते हैं यह जानना हो तो कोई उस समय का इतिहास पढ़े ।

ज्यादा पुरानी नहीं कुछेक दशक पूर्व की ही बात है तब जाम्बिया में यूनियन जैक फहराता था और वहाँ की बहुसंख्यक नीग्रो जनता चन्द गोरी चमड़ी वालों की बिना मूल्य गुलामी कर रही थी । इन लोगों के साथ अँग्रेजों ने जिस स्तर का व्यवहार किया उसे सुनकर आने वाले नये युग का इन्सान शायद परीलोक की कहानियाँ ही समझेगा । जगह-जगह उस समय अफ्रीकियों को नफरत की निगाह से देखा जाता था । गृहस्थी में जरूरत पड़ने वाली चीजें भी वे बाजार जाकर दुकान के सामने खड़े हो कर खरीद नहीं सकते थे । उनके लिए दुकान की बगल में एक छेद होता था । जिसमें से बेचारे अफ्रीकी अपना काला मुँह बिना दिखाये सामान खरीदते थे । दुकानदार-मुँह-माँगा दाम वसूल करता और अफ्रीकी ग्राहक थोड़ी भी आनाकानी करता तो वस्तु तो नहीं मिलती कोड़ों की मार भी खानी पड़ती ।

होटलों के यूरोपियन मालिकों के कुत्तों को भी आदाब बजाता और कोई अफ्रीकी गेट के आसपास भी नजर आता तो कुत्तों की तरह दुत्कार दिया जाता । अपने जातीय भाईयों के साथ इस प्रकार का व्यवहार होते देख कैनेथ कोण्डा का कोमल मन इस कदर व्यथित और इतना आक्रोश युक्त हो उठता कि वह सोचता काश उसका बस चलता तो वह इन नरपिशाचों का मुँह नोच लेता ।

उसका बस तो चला नहीं दुर्दैव से सिर से पिता का साया भी उठ गया । अब जीवन निर्वाह की समस्या भी खड़ी हो गयी । परन्तु माता-पिता ने अपने इकलौते पुत्र को इस प्रकार प्रशिक्षित किया था कि उसने हिम्मत नहीं हारी । उस समय कैनेथ कोण्डा स्कूल में पढ़ रहे थे । कुछ अफ्रीकी समझदार लोगों ने कम से कम इतना तो कर रखा था । गोरी सरकार ने भी अपनी दयालुता का प्रदर्शन करने के लिए इस प्रकार की छूट दे रखी थी । कैनेथ के माता-पिता ने इसी आशा के साथ अपने बेटे को स्कूल में भर्ती करवाया था कि शायद उसके जीवन में कभी ऐसा समय आये जब वह अपनी शिक्षा और योग्यता के बल पर सम्मानित जीवन जी सके ।

पिता का देहान्त हो जाने के बाद फीस जमा करवाने के लिये भी पैसे नहीं रहते । स्कूल के प्रधानाचार्य ने कैनेथ कोण्डा को बगीचे में निराई-गुड़ाई का काम दे दिया जिसे उन्होंने वरदान समझा । फीस तथा पुस्तकों की व्यवस्था के साथ निर्वाह में भी सहायक सिद्ध होने वाला एक साधन मिल गया । वे उसी तरह तन्मयतापूर्वक अध्ययन में जुटे रहे जिस प्रकार अपने पिता के जीवन काल में थे । कैनेथ कोण्डा ने दुर्भाग्यपूर्ण घड़ियों से भी स्वावलम्बन का पाठ पढ़ कर उन्हें सुखद बना लिया । सच है कोई भी परिस्थितियाँ और विपत्तियाँ ईश्वर का भेजा हुआ एक ऐसा वरदान हैं जो व्यक्ति के उन गुणों और विशेषताओं को उद्घाटित करती हैं जिनके बल पर भविष्य को सुखद बनाया जा सकता है ।

१७ वर्ष की आयु में कैनेथ कोण्डा ने स्कूल शिक्षा समाप्त कर ली और अध्यापक बन गये । उन्हें प्रशिक्षण लेने के लिए पास के कस्बे में भेजा गया था । यह बाहर की दुनिया देखने का पहला अवसर था । आज तक वे अपने गाँव से कभी बाहर नहीं निकले थे । इसी दौरान उन्हें अफ्रीकी समाज पर गोरे लोगों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का व्यापक अनुभव हुआ और उन्होंने संकल्प लिया कि जब कभी अवसर मिला तो इस व्यवस्था पर करारे प्रहार करेंगे ।

प्रशिक्षण समाप्त कर लेने के बाद वे अपने ही गाँव में अध्यापक बनकर आये । अध्यापक जीवन से ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया और एक वेलफेयर ऐसोसियेशन का गठन किया । जिसका उद्देश्य था अफ्रीकी लोगों में आत्म-विश्वास तथा साहस की भावना का संचार । आगे चलकर वे प्रबुद्ध अफ्रीकी नेताओं के आन्दोलनात्मक संगठन-अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के भी सदस्य बने । इस संगठन में भाग लेने के कारण उन्हें अपनी नौकरी भी छोड़नी पड़ी ।

फरवरी, १९५२ में अफ्रीकी नेताओं का एक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुआ । इसमें रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया तथा न्यासालैण्ड के कई नेताओं ने भाग लिया । सम्मेलन का उद्देश्य था ब्रिटिश सरकार द्वारा इन देशों का एक संघ बनाने की योजना का विरोध । संघ बनाने से अँग्रेज जो थोड़ा बहुत ध्यान स्थानीय समस्याओं पर देते थे वह भी नहीं देते । ब्रिटिश सरकार की इस योजना का सभी अफ्रीकी नेताओं ने विरोध किया । इस सम्मेलन में एन्कुमबुला जैसे नेता भी सम्मिलित हुए थे । कैनेथ कोण्डा सम्मेलन में भाग लेने के बाद और अधिक सक्रिय हो गये ।

उत्तरी प्रान्त में संगठन की स्थान-स्थान पर शाखायें खोलने का भार उन्होंने अपने ऊपर लिया । इस समय उन्हें स्वयं की और परिवार की भी चिन्ता नहीं रहती । उनके स्वभाव में अनुकूल पत्नी मिलने से अपने कार्य में और भी

निश्चिन्तता पूर्वक लगे रहते । घर पर पत्नी सेकण्ड हैण्ड कपड़े बेचकर गुजारा करती और खेती-बाड़ी सम्हालती तथा कोण्डा गाँव-गाँव घूमकर स्वाधीनता का अलख जगाते, साइकिल पर दिन भर में मीलों सफर तय करते और गाँववासियों में पुकार करते ।

काँग्रेस के काम में मनोयोग के साथ जुट जाने के कारण उन्हें सफलता भी मिली । उनके प्रयासों से पूरे प्रान्त की जनता जाग उठी और स्वतन्त्रता के लिए मर मिटने को उठ खड़ी हुई । जन-जागरण अभियान को सफल बनाने में प्रचार से अधिक उनके व्यक्तित्व का योगदान था । यह जानकर कि कोण्डा परिवार तंगियाँ और कठिनाइयाँ उठा रहा है फिर भी कैनेथ लोकहित के लिए पारिवारिक सुख-सुविधाओं का बलिदान देकर जनता को जगाने के लिए निकले हैं, लोग बड़े प्रभावित होते । किसी भी प्रचारक की सफलता उसके क्रिया-कलापों में नहीं उसके आत्मोत्सर्ग की भावना पर आधारित है । कैनेथ कोण्डा की सफलता का यही रहस्य था ।

अपने क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य करता देखकर पार्टी के नेताओं में इस छोटे से कार्यकर्त्ता की योग्यता और प्रतिभा का मान हुआ और देशहित में उनका साधन उपयोग करने के लिए एक बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा । अगस्त, १९५३ में उन्हें अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस का अध्यक्ष चुना गया । अब सारा देश उनका कार्यक्षेत्र बन गया था । वे उसी प्रकार इसी निष्ठा से लगे । श्रम और समय की तो एक सीमा होती है परन्तु उत्तरदायित्व को समझने के बाद बढ़ी हुई निष्ठा उतने ही श्रम और समय में कई गुना परिणाम प्रस्तुत कर देती है ।

जाम्बिया की जनता पर कोण्डा छाते गये । जैसे-जैसे उनकी लोकप्रियता बढ़ती गयी, सरकार को चिन्ता होने लगी । अन्ततः सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करना ही उचित समझा और सन् १९५५ में उन्हें जेल में डाल दिया । जेल का यातनाओं से भरा जीवन और घर कष्ट सहते पत्नी बच्चे तथा परिजन । उस समय कोण्डा को स्वयं का ही नहीं उनसे सम्बधित सभी स्वजनों का जीवन कष्टपूर्ण हो गया । सरकार ने दबाव डाला परन्तु वे न तो क्षमा याचना के लिए झुके और न राष्ट्र सेवा के अपने निश्चय से हटे । सरकार उन्हें अधिक समय तक कारावास में नहीं रख सकी और वे जल्द ही स्वतन्त्र हो गये ।

जेल से लौटने के बाद उनकी लोकप्रियता उगते सूरज के प्रकाश की तरह फैलने लगी । सरकार अब तो और भी चिन्तित हुई । उसे डर लगा कि कहीं यह आदमी भी जाम्बिया का गाँधी न बन जाये । अभी सात-आठ वर्ष पूर्व ही तो एक ऐसे ही निहत्थे आदमी के कारण एक बड़ा राष्ट्र उनके हाथ से निकला था । कैनेथ कोण्डा भी निहत्थे थे । वे चाहते तो सशस्त्र क्रान्ति की योजना भी बना सकते थे और वह बड़ी सफल भी होती । लेकिन गाँधी की ही तरह उनका भी विश्वास जनशक्ति की अपराजेय क्षमता में था, बिना शस्त्र उठाये ही एक देश की सामान्य जनता के हाथों मानवीय सिद्धान्तों के आधार पर लड़ी गयी लड़ाई में शस्त्र बल और सैन्य बल से सुसज्जित राष्ट्र की सरकार को पराजित होते हुए देखा था । विश्व इतिहास की इस अद्वितीय घटना ने मानवता की शक्ति-सामर्थ्य पर कई गुना विश्वास जमा दिया था । कैनेथ कोण्डा ने भी साध्य और साधन की समानता का सिद्धान्त स्वीकार किया और ३१ जनवरी, १९५८ के दिन अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस के सदस्यों के नाम एक परिपत्र जारी किया । जिसमें स्वतन्त्रता के लक्ष्य प्राप्ति हेतु कौन-सा मार्ग अपनाया जाय इस विषय में उन्होंने विचार व्यक्त किये थे । उन्होंने लिखा था-

''मैं यह महत्त्वपूर्ण पत्र आपको उस दिन लिख रहा हूँ जबकि न केवल भारत, बल्कि संसार उस महापुरुष को याद कर रहा है, जिसने अहिंसा के शक्तिशाली अस्त्र का सफल प्रयोग किया था । उन्होंने इस हथियार से संसार की एक बड़ी ताकत और सबसे बड़े साम्राज्य ब्रिटेन से टक्कर ली थी ।'' इस पत्र में गाँधीजी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी थी और इसे एक ईश्वरीय संयोग माना गया था कि पिछले सात वर्षों से अफ्रीकी जनता का आन्दोलन अहिंसक ही रहा है ।

सरकार को जितना खतरा पहले अनुभव नहीं हो रहा था उतना अब होने लगा था । आसुरी-शक्तियों के विरुद्ध मानवीय-शक्तियों के उठ खड़े होने पर वे भयभीत हो जाती हैं । पवित्र साधनों से एक अच्छे और सच्चे लक्ष्य के लिए जो संघर्ष छेड़ा जाता है उसमें बाधक तत्व बड़ी जल्दी घबरा उठते हैं । भारत में सत्य और अहिंसा के हाथों अन्याय और अनाचार की भीषण पराजय अभी ही हुई थी । उसी देश के उन्हीं आततायियों को पुनः इसी शक्ति का सामना करने की हिम्मत जुटाना मुश्किल पड़ रहा था । सो सरकार ने कैनेथ कोण्डा को जो इस संग्राम के अग्रणी नेता थे पुनः गिरफ्तार कर लिया । १९५९ में उन्हें देश के दुर्गम क्षेत्र में नजरबन्द कर दिया गया । वहाँ उन्हें दूसरे राजनैतिक कैदियों से अलग रखा गया तथा किसी से मिलने-जुलने की सुविधायें भी नहीं दी गयी थीं । उल्टे कसकर काम लिया जाता ।

सरकार ने स्वाधीनता आन्दोलन को कुचलने के लिए अफ्रीकी नेशनल पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा दिया । कुछ ही महीनों बाद कैनेथ कोण्डा भी रिहा कर दिये गये । जैसे ही वे जेल से बाहर निकले पार्टी के कार्यकर्त्ताओं में जोश आ गया । कोण्डा और अन्य नेताओं ने मिलकर एक नया संगठन बनाया जिसका नाम रखा गया-''यूनाइटेड नेशनल इन्डिपेण्डेण्ट पार्टी ।'' कैनेथ कोण्डा इसके अध्यक्ष चुने गये और पार्टी की तरफ से आयोजित पहली ही जनसभा में अपनी नीतियों को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा-''यदि किसी व्यक्ति को हवा से उछालकर जमीन पर फेंका जाय तो भी उसे यही कहना चाहिए कि मुझे मार डालो पर मैं स्वतन्त्र हो कर रहूँगा ।''

अहिंसक आन्दोलन का प्रभाव जल्दी नहीं हुआ फलस्वरूप जनता अधीर होने लगी । कई लोगों ने कोण्डा

को क्रान्ति का रास्ता अपनाने के लिए कहा जिनमें उनके स्वयं के साथी भी थे परन्तु वे तैयार नहीं हुए । मुक्ति का संघर्ष चलते-चलते १९ वर्ष हो गये । परन्तु सफल न होते देखकर निराश हुए लोगों को धैर्य बँधाते, भारत ने तो वर्षों तक यह लड़ाई लड़ी है । मुक्ति संग्राम का परिणाम धीरे-धीरे सामने आया । १९६३ में उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया तथा न्यायालैण्ड का संघ टूट गया । इस सफलता ने वहाँ की जनता का उत्साहवर्धन किया और लोग धैर्य तथा साहस के साथ आजादी की लड़ाई लड़ने लगे ।

यह अहिंसक संग्राम शीघ्र ही निर्णायक बिन्दु पर पहुँचा और २३ अक्टूबर, १९६४ को जाम्बिया सदियों की दासता से मुक्त हुआ । रात के बारह बजते ही जाम्बिया की राजधानी में वहाँ का नया ध्वज फहराने लगा । सत्ताधारियों ने शासन तंत्र कैनेथ कोण्डा को सौंपा ।

जिस देश की आजादी के लिए उन्होंने दिन रात एक कर दिया अब उसी तरह वे अपने देश के पुनर्निर्माण में जुटे । महामानव एक लक्ष्य प्राप्त कर लेने के बाद अगला लक्ष्य पहले से ही चुन लेते हैं । विश्राम नहीं करते हैं ।

कर्मयोगी ऐसे ही होते हैं–
डा० चार्ल्स

"तुम्हारा ऑपरेशन अभी करना पड़ेगा । तुम तैयार हो जाओ ।" डॉक्टर के यह वचन सुनकर रोगी यकायक घबरा उठा । वह अपने साथ किसी परिवार के सदस्य को नहीं लाया था । उसने सकुचाते हुए डॉक्टर से अपनी दुविधा बताई–"मैं अकेला हूँ, मेरे साथ कोई नहीं ।"

डॉक्टर ने उसकी पीठ पर आत्मीयता पूर्वक हाथ फेरते हुए कहा–"इसकी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं । हम जो हैं तुम्हारे साथ ।" रोगी ने इस श्वेत केशी वृद्ध डॉक्टर को देखा जिसके चेहरे पर विश्वास की मन्द मुस्कान थिरक रही थी ।

रोगी आश्वस्त हो गया । उसे पता था कि उसे सम्हालने का दायित्व जब डाक्टर ने अपने ऊपर लिया है तो उसे चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ।

यह डाक्टर थे विश्वविख्यात मेयो अस्पताल के जाने माने शल्य चिकित्सक डा० चार्ल्स मेयो । जिन्हें उनके हजारों रोगी प्यार से डॉ० चुक कहा करते हैं ।

उनका यह आत्मीयतापूर्ण व्यवहार उस मान्यता से सर्वथा भिन्न है जिसे लोगों ने अधिकांश डॉक्टरों के व्यवहार में देखकर बना ली है कि ये लोग बहुत अनात्मीय तथा व्यवहार में रुक्ष होते हैं । प्रतिदिन पच्चीस से भी अधिक जटिल ऑपरेशन करते हुए भी वे न तो थके ही हैं न उनके चेहरे पर खेलने वाली मुस्कान बन्द हुई है ।

डॉ० चार्ल्स मेयो के पिता, चाचा तथा दादा सभी डाक्टर थे तथा उन्होंने इसी मेयो अस्पताल में रोगियों की सेवा करते-करते सारा जीवन व्यतीत कर दिया था ।

इन्हीं लोगों के पुण्य प्रयासों तथा सेवा भावना के परिणामस्वरूप उनके दादा विलियम वारेल मेयो द्वारा स्थापित यह निजी चिकित्सालय एक छोटे से औषधालय से विकसित होते-होते विश्व का सबसे बड़ा निजी अस्पताल बन चुका है जिसमें ९०० डॉक्टर कार्यरत हैं ।

डॉ० चार्ल्स मेयो के पिता चार्ली मेयो एक प्रसिद्ध सर्जन थे तथा उनकी माँ रोचेस्टर की प्रथम प्रशिक्षण प्राप्त नर्स तथा एनेस्थेटिक (बेहोशी की दवा सुँघाने वाली) थी ।

'सर्जरी' की प्रतिभा उन्हें अपने माता-पिता से पैतृक गुण के रूप में ही मिली थी । उसका विकास उन्होंने मेयो फाउण्डेशन से एम० डी० की उपाधि पाकर किया । वे आगे चलकर विश्वविख्यात 'सर्जन' बने ।

जिस प्रकार उन्हें 'सर्जरी' की प्रतिभा अपने माता-पिता से मिली थी । उसी प्रकार सेवा की भावना भी उसके साथ ही साथ मिली थी । वे प्रसिद्धि तथा धन से दूर रहकर मेयो चिकित्सालय के अन्य डॉक्टरों की तरह एक डॉक्टर ही रहे । उन्होंने 'चीफ सर्जन' तथा मुख्य चिकित्सक बनना अस्वीकार कर दिया ।

ये पेंसिलवेनिया मेडीकल कॉलेज में पढ़ते हुए उनका सम्पर्क एक सुन्दर, सभ्य युवती एलिस प्लेंक से हुआ । यह सम्पर्क घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया । एक दिन एलिस ने उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा । इस पर उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य उसके समक्ष रख दिया । "मैं तुम्हें यह स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मेरे जीवन में पहला स्थान अपने चिकित्सालय का है । दूसरा स्थान तुम्हें मिल सकता है । ठीक उसी प्रकार तुम्हें भी पहला स्थान हमारे अस्पताल को तथा दूसरा अपने पति को देना होगा ।"

डॉ० चार्ल्स ने परमार्थ का लक्ष्य प्रथम रखा तथा और परिवार तथा स्वार्थ का द्वितीय । उनकी मान्यता है कि मनुष्य को अपने गौरव के अनुरूप ही कार्य करना चाहिए । समाज में रहकर वह जितनी सुख-सुविधाएँ पाता है उसके बदले में उसे समाज को कुछ न कुछ देने का भरसक प्रयास भी तो करना चाहिए ।

वे कहा करते हैं–"काम का महत्त्व उसके साथ जुड़ी हुई भावना से होता है । बेगार या मजदूरी समझकर किसी काम को किया जाय तो कार्य कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो भावना निम्नकोटि की होने से महत्त्वहीन हो जायगा । छोटे काम को भी यदि पूरी निष्ठा से ईश्वरोपासना समझकर किया जाय तो वह महत्त्वपूर्ण हो जाता है ।"

वे आगे कहते हैं–"मुझे स्मरण है जब मैं मेयो अस्पताल में नया-नया 'सर्जन' बनकर आया था तो कई रोगी यह समझते थे कि यह लड़का अपने दादा तथा पिता की सी लगन से मरीजों की सेवा नहीं कर सकेगा । एक सत्तर वर्ष के वृद्ध सज्जन ने तो मुझे मुँह पर ही कह दिया

था "मैंने कई वाचाल पिताओं के मूक पुत्र देखे हैं।" "लेकिन मेरी निष्ठा तथा भावना कमजोर नहीं थी।"

उनके सम्पर्क में आने वाले रोगी जानते हैं कि उनमें युवावस्था का वह उत्साह ज्यों का त्यों बना हुआ है।

सन् १९३१ में जब वह प्रथम बार डॉ० ई० स्टार जुड के सहायक के रूप में मेयो अस्पताल में आये थे प्रथम दिन ही उन्हें तेरह ऑपरेशन केस दिये गये थे। कोई और होता तो उसके हाथ-पाँव फूल जाते। लेकिन डॉ० चुक (चार्ल्स) ने उन्हें सफलतापूर्वक पूरा किया।

उनके दिन भर का कार्यक्रम पूर्व निश्चित रहता है। उसमें वे एक मिनट की देर नहीं करते। अपने इस कार्य विभाजन के कारण वह व्यस्त दिनचर्या में भी अपने मित्रों तथा परिवार के अन्य सदस्यों से वार्तालाप तथा मनो-विनोद करने का समय निकाल लेते हैं।

नित्य कर्म से निवृत्त हो अपने निवास से रवाना हो कार द्वारा सवा छ: बजे अपने अस्पताल पहुँच जाना उनका नित्य का क्रम है। वहाँ पहुँचकर वे अपने वार्ड का 'राउण्ड' लेते हैं। उनका यह 'राउण्ड' चिकित्सा तथा शल्य क्रिया से भी महत्त्वपूर्ण जादू है। रोगी को थोड़े ही क्षणों में आशा-उत्साह तथा आत्मीयता की वर्षा से सराबोर कर देते हैं।

सात बजे तक अपना राउण्ड पूरा करके वे अपने सहायकों को आवश्यक निर्देश दे देते हैं। तदनन्तर साढ़े सात बजे अपना श्वेत चोगा पहनकर ऑपरेशन के लिये तैयार हो जाते हैं। मुख्य ऑपरेशन वे करते हैं तथा प्रारम्भिक तैयारी तथा टाँके लगाने आदि का कार्य उनके कुशल सहायक करते हैं।

अपनी इस क्रिया-पद्धति को अपनाकर वे दिन के दो बजे तक अपने सभी ऑपरेशन केस निबटा लेते हैं। मेयो चिकित्सालय के प्रत्येक 'सर्जन' को छ: से लगाकर बारह ऑपरेशन नित्य करने पड़ते हैं। डॉ० चार्ल्स मेयो प्रतिदिन बारह से अधिक ही ऑपरेशन करते हैं। ऑपरेशन क्रम के बीच ही वे भोजन तथा अल्पाहार भी ले लेते हैं।

बासठ वर्ष की आयु में भी वे थकने का नाम नहीं लेते। उनके साथ चार सहायक होते हैं। इन सहायकों से वे पूरी-पूरी सहायता लेते हैं फिर भी जिम्मेदारी का काम वे स्वयं करते हैं। वे कहा करते हैं कि "मैं अपने सहायक को रोगी की वही शल्य क्रिया सौंपता हूँ जो वे मेरे शरीर पर कर सकते हैं।" उनके कहने का तात्पर्य यह है कि वे प्रत्येक रोगी के दर्द को अपना दर्द समझते हैं। दूसरे की पीड़ा को इस प्रकार अपनी पीड़ा मानने के कारण उनके लगभग सभी ऑपरेशन सफल होते हैं।

अपने घर पर रहते हुए भी वे उन रोगियों के विषय में चिन्तन करते हैं जिनकी महत्त्वपूर्ण शल्य क्रिया का भार वे अपने किसी सहायक को सौंप चुके होते हैं। यदि उन्हें उसके सम्बन्ध में किंचित भी शंका होती है तो वे अपनी कार में बैठकर वहाँ जाते हैं तथा आश्वस्त होकर ही लौटते हैं।

अपने सहायकों को वे कभी ऐसा भार नहीं सौंपते जो उनके बूते का नहीं होता। जो लोगों की भावनाओं को समझने की सामर्थ्य नहीं रखते उन्हें वे अपने सहायक चुनते भी नहीं हैं।

उनका अपना निवास 'मेयो वुड' १६०० एकड़ का एक डेरी तथा कृषि फार्म है। यहाँ जुम्बको नदी के तट पर छोटे से पहाड़ी टीले पर उनका मकान है। वे अपने मित्रों को भोजन के समय वार्तालाप हेतु आमन्त्रित करते हैं। प्राय: चार-पाँच व्यक्ति उनके सायंकालीन भोजन में उनका साथ देते हैं। इस प्रकार वे समय की बचत भी करते हैं तथा अपनी मैत्री का क्षेत्र भी बढ़ाते हैं।

साढ़े नौ बजे के बाद वे अपनी मित्रगोष्ठी समाप्त करके आधा घण्टे तक अपने परिवार के साथ टेलीविजन का आनन्द लेते हैं तदनन्तर सो जाते हैं ताकि वे दूसरे दिन अपना सेवा धर्म पूरी निष्ठा से निभा सकें।

वे कहा करते हैं "मैं केवल एक सर्जन या डॉक्टर नहीं रहना चाहता। मैं नहीं चाहता कि कोई व्यक्ति मेरे अस्पताल में आये और चिकित्सा कराकर अपने घर चला जाय और मुझे भूल जाय। मैं अपनी एक स्थायी स्मृति उनके हृदय पटल पर अंकित कर देना चाहता हूँ। उनके इस कथन को उन्होंने सदा निबाहने का पूरा-पूरा प्रयास किया है। वे हजारों लोगों के प्रिय डॉक्टर बन चुके हैं।

मेयो अस्पताल विशुद्ध सेवा दृष्टिकोण से चलाया जाता है। कोई लाभ का दृष्टिकोण इसके पीछे नहीं है। यह एक संस्थान द्वारा चलाया जाता है। डॉ० चार्ल्स मेयो इस संस्थान के अध्यक्ष तथा बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के सदस्य हैं।

डॉ० चार्ल्स का यह चिकित्सालय "मरीजों का उच्चतम न्यायालय" कहलाता है। सभी जगहों से निराश रोगी इसकी शरण लेते हैं। उनमें से अधिकांश स्वास्थ्य लाभ पाते हैं। इस चिकित्सालय को ऐसी प्रतिष्ठा दिलाने में डॉ० चार्ल्स का पूरा-पूरा योगदान रहा है।

वे चिकित्सा क्षेत्र की प्रमुख पत्रिका 'पोस्ट ग्रेजुएट मेडीसिन' का सम्पादन भी करते हैं। बड़ी आँत सम्बन्धी ऑपरेशन में विश्व में उनकी श्रेणी के कुछ ही सर्जन हैं। उन्होंने इस क्षेत्र में दो बार ऑपरेशन किये जाने वाले केस एक ही ऑपरेशन में कर दिखाये। यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास है।

वस्तुत: डॉक्टर को उपार्जन के साथ-साथ सेवा का अलभ्य अवसर भी प्राप्त होता है। डॉ० चार्ल्स ने अपने डॉक्टरी जीवन में यह सिद्ध कर दिखाया कि लोभ-मोह के प्रपंचों में न फँसकर पूरे मनोयोग से इस पेशे को

किया जाय तो मानवता की महान सेवा की जा सकती है। उनका यह जीवन सहस्रों को प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त है।

धर्म एक और सनातन है

गाँधीजी दक्षिण अफ्रीका में थे। अफ्रीकियों के स्वत्वाधिकार के लिये उनका आन्दोलन सफलतापूर्वक चल रहा था, ब्रिटिश सरकार के इशारे पर एक दिन मीर आलम नामक एक पठान ने गाँधीजी पर हमला कर दिया। गाँधी जी गम्भीर रूप से घायल हुये। मनुष्य का सत्य, सेवा और सच्ची धार्मिकता का मार्ग है ही ऐसा कि इसमें मनुष्य को सुविधाओं की अपेक्षा कष्ट ही अधिक उठाने पड़ते हैं।

पर इससे क्या, उच्च आत्मायें कभी अपने पथ से विचलित हो जाती हैं क्या ? बुराई की शक्ति अपना काम बन्द नहीं करती तो फिर भलाई की शक्ति तो सौगुनी अधिक है वह हार क्यों मानने लगे। गाँधीजी को स्वदेश लौटने का आग्रह किया गया पर वे न लौटे। घायल गाँधीजी पादरी जोसेफ डोक के मेहमान बने और कुछ ही दिनों में यह सम्बन्ध घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया।

पादरी जोसेफ डोक यद्यपि बैपटिस्ट पंथ के अनुयायी और धर्म गुरु थे तथापि गाँधीजी के सम्पर्क से वे भारतीय धर्म और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित हुये। वे धीरे-धीरे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का भी समर्थन करने लगे।

पादरी डोक के एक अँग्रेज मित्र ने उनसे आग्रह किया कि वे भारतीयों के प्रति इतना स्नेह और आदर भाव प्रदर्शित न करें अन्यथा जातीय कोप का भाजन बनना पड़ सकता है इस पर डोक ने उत्तर दिया–मित्र, क्या अपना धर्म पीड़ितों और दुखियों की सेवा का समर्थन नहीं करता ? क्या गिरे हुओं को ऊपर उठाने में मदद देना धर्म-सम्मत नहीं ? यदि ऐसा है तो मैं अपने धर्म का ही पालन कर रहा हूँ। भगवान ईसा भी तो ऐसा ही करते हुए सूली पर चढ़े थे फिर मुझे घबराने की क्या आवश्यकता ?

मित्र की आशंका सच निकली कुछ ही दिन में गोरे उनके प्रतिरोधी बन गये और उन्हें तरह-तरह से सताने लगे। ब्रिटिश अखबार उनकी सार्वजनिक निन्दा और अपमान करने से भी नहीं चूकते थे लेकिन इससे पादरी डोक की सिद्धान्त-निष्ठा में कोई असर नहीं पड़ा। बहुत सताये जाने पर भी वे भारतीयों का समर्थन भावनापूर्वक करते रहे।

गाँधीजी जहाँ उनके इस त्याग से प्रभावित थे वहाँ उन्हें इस बात का दुःख भी बहुत अधिक था, वे पादरी डोक को उत्पीड़ित नहीं देखना चाहते थे इसलिये जिस तरह भी उनके पास गये और बोले–आपको इन दिनों अपने जाति भाइयों से जो कष्ट उठाने पड़ रहे हैं उसका कारण हम भारतीय हैं, मैं भारतीयों की ओर से आपका आभार मानता हूँ पर आपके कष्ट हमसे नहीं देखे जाते। आप हमारा समर्थन करना बन्द कर दें। परमात्मा हमारे साथ है-यह लड़ाई भी हम लोग निबट लेंगे।

इस पर पादरी डोक ने कहा–मि० गाँधी। आपने ही तो कहा था कि धर्म एक और सनातन है। पीड़ित मानवता की सेवा। फिर यदि साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की अवहेलना करके मैं सच्चे धर्म का पालन करूँ तो इसमें दुःख करने की क्या बात और यह तो मैं स्वान्तसुखाय करता हूँ। मनुष्य धर्म की सेवा करते आत्मा को जो पुलक और प्रसन्नता होनी चाहिए वह प्रसाद मुझे मिल रहा है इसलिये बाह्य अड़चनों, दुःखों और उत्पीड़नों की मुझे किंचित भी परवाह नहीं।

पादरी डोक अन्त तक भारतीयों का समर्थन करते रहे, उन जैसे महात्माओं के आशीर्वाद का फल है कि हम भारतीय आज अपना धर्म] आदर्श और सिद्धान्तों पर निष्कंटक चलने के लिए स्वतन्त्र है।

जिन्होंने फ्रांस को नयी सामर्थ्य दी–
जार्ज पाम्पीद

फ्रांस के उन्नीसवें राष्ट्रपति जार्ज जीन रेमांपाम्पीदू का २ अप्रैल, १९७४ की रात ९ बजे देहावसान हो गया। जॉर्ज पाम्पीदू तिरसठ वर्ष के थे। सात वर्ष के उनके कार्यकाल में अभी दो वर्ष और बाकी थे। पिछले कई दिनों से वे बीमारियों से संघर्ष करते हुए भी राष्ट्र की बागडोर सम्हाले हुए थे।

जॉर्ज पाम्पीदू का तिरेसठ वर्ष का जीवन विविधताओं से भरा पड़ा है। हर क्षेत्र में सफल होने वाले पाम्पीदू का जीवन महत्वाकांक्षियों के लिये एक पथ प्रदर्शक बन सकता है। कैसे कोई व्यक्ति प्रगति करता हुआ राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है। यह देखने के लिए उनके जीवन को गहराई से देखना होगा।

जॉर्ज पाम्पीदू का जन्म १९११ में हुआ था। उनके माता-पिता दोनों अध्यापक थे। पाम्पीदू ने भी शिक्षा समाप्त करने के बाद अध्यापक बनना पसन्द किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा मध्य फ्रांस के कैंटराल जिले में हुई। १९३५ में अपनी शिक्षा समाप्त करके लीससेन्ट चार्ल्स में साहित्य के अध्यापक हो गये।

जार्ज पाम्पीदू की जीवन बगिया कई प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित-सुसज्जित रही है। वे एक सफल अध्यापक, सफल साहित्यकार, अर्थवेत्ता तथा सफल राजनेता रहे हैं। इन क्षेत्रों में उन्होंने जो सफलताएँ अर्जित की वे आदर्श हैं। निश्चित रूप से इन सफलताओं का श्रेय उनके श्रम, साहस, संकल्प व अध्यवसाय को है।

अध्यापन के साथ-साथ वे साहित्य सृजन भी किया करते थे। किन्तु उनके इस सृजन के बीच में ही उन्हें हाथ रोककर संघर्ष के पथ पर चलना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल पूरे योरोप पर मँडराने लगे थे। युवा जार्ज

पाम्पीदू अपनी स्वर्गादपि गरीयसी मातृ भूमि–फ्रांस की रक्षा के लिए सेना में भर्ती हो गये । अपने अदम्य साहस और विवेक के सहारे उन्होंने शत्रुओं की कई गुप्त चालों का पता लगाया था । इससे उनके व्यक्तित्व को परखने वाले लोगों से उनका सम्पर्क बढ़ा । इन्हीं लोगों में से जनरल दगाल भी एक थे ।

युद्ध समाप्ति के अनन्तर १९४५–४६ में जनरल दगाल की शिक्षा नीति के सलाहकार बनाये गये । यहीं से दगाल और पाम्पीदू ने एक दूसरे को समझा परखा । दगाल को पाम्पीदू के रूप में एक सुयोग्यतम सहायक प्राप्त हो गया और पाम्पीदू को दगाल जैसा समर्थ मार्गदर्शक । पाम्पीदू की तीक्ष्ण बुद्धि के दगाल कायल हो चुके थे ।

१९४५ में कुछ ऐसी घटनाएँ घटी कि दगाल के न चाहते हुए भी पाम्पीदू को शिक्षा सलाहकार का पद छोड़ देना पड़ा । वे बैंक में नौकर हो गये । प्रायः लोगों को अपने पद की जितनी चिंता होती है अपने व्यक्तित्व की नहीं होती । वे किसी भी प्रकार कोई पद हाथ लग जाय तो उससे येन केन प्रकारेण चिपके हुए रहना चाहते हैं । वह वस्तुतः उनकी मानसिक गरीबी का परिचायक होता है । किन्तु जिन्हें अपने व्यक्तित्व पर भरोसा होता है, उन्होंने यत्नपूर्वक उसे समर्थ बनाया होता है, उनके लिए कोई भी नया 'कैरियर' चुनने की जोखिम उठाना एक प्रकार का 'एडवेंचर' ही होता है । सच पूछा जाय तो यही जीवन की सच्ची सहानुभूति भी कराता है ।

जार्ज पाम्पीदू शिक्षा सलाहकार का पद त्याग कर बैंक की सर्विस में आये और थोड़े ही समय में अपनी कर्त्तव्यपरायणता, लगन व निष्ठा के कारण उस बैंकिंग संस्थान के महानिदेशक पद पर जा पहुँचे । अध्यापक, कवि, साहित्यकार व सैनिक पाम्पीदू अर्थवेत्ता के रूप में भी सफल रहे । यह सफलता किसी के लिए क्या कम सुखकारक होगी ?

योग्य व्यक्ति की हर जगह पूछ होती है । १९५८ में जब जनरल दगाल फ्रांस की सत्ता में आये तो उन्होंने पाम्पीदू को राजनीति में खींच लिया । फ्रांस की निरन्तर अस्थिर राजनीति के कारण जनरल दगाल को ही सत्ता की बागडोर सम्हालने का अनुरोध किया गया । वे वृद्ध हो चले थे, अतः उन्हें एक युवा सहयोगी चाहिए था । यह युवा सहयोगी और कोई नहीं उनके विश्वस्त सलाहकार जॉर्ज पाम्पीदू ही हो सकते थे ।

१९५९ में वे जनरल दगाल के प्रधानमन्त्री बनाए गये । १९६३ में दगाल ने एक संवैधानिक संशोधन प्रस्तुत किया जिसे लेकर प्रतिपक्ष से उनकी ठन गयी और उसमें उनकी सरकार को पराजय का मुँह देखना पड़ा । फलतः पाम्पीदू को प्रधानमन्त्री पद छोड़ना पड़ा । उन्हें इस पद को पाकर न तो किसी प्रकार की विशेष प्रसन्नता हुई और न उसे खोकर किसी प्रकार की खिन्नता ही ।

दगाल ने अपने अधिकारों का प्रयोग करके राष्ट्रीय एसेम्बली को भंग कर दिया । कुछ समय बाद एसेम्बली के अधिकांश सदस्यों ने जनरल दगाल की नीतियों का पूर्ण समर्थन करने का आश्वासन दिया तो पाम्पीदू पुनः प्रधानमंत्री बनाये गये ।

१९६५ में दगाल के पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित होने पर वे भी पुनः प्रधानमन्त्री बनाये गये । मई–जून १९६८ में फ्रांस फिर एक क्रान्ति के दौर से गुजरा । सामाजिक व आर्थिक घटनाएँ बड़ी तेजी से घटित हुईं । छात्रों और श्रमिकों ने हड़ताल कर दी । ऐसे समय में जार्ज पाम्पीदू ने महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित की । इससे वे राष्ट्रपति दगाल के प्रिय ही नहीं हुए वरन् जनमत में भी उन्हें अच्छी-खासी प्रतिष्ठा मिली । लोग उन्हें दगाल का उत्तराधिकारी समझने लगे ।

दगाल से सैद्धान्तिक ऐक्य होते हुए भी कार्यपद्धति को लेकर पाम्पीदू उनसे सहमत नहीं थे । कुछ स्थितियाँ ऐसी पैदा हुईं कि उनके बीच मतभेद पैदा होने लगा । वे जनरल दगाल की कार्यकारी नीतियों के प्रति असहमति जताने लगे, यहीं उनके व्यक्तित्व का खरापन प्रकट होता है । 'समझौता परस्ती' उनके स्वभाव में नहीं थी । वे समझौता करते भी क्यों ? उन्हें कोई स्वार्थ तो था नहीं । वे अपनी बात में देश का हित समझते थे सो अपनी बात पर दृढ़ रहे । फलस्वरूप उन्हें प्रधानमन्त्री पद से हटना पड़ा ।

पाम्पीदू एक सफल राजनीतिज्ञ थे । पर उनकी सफलता दाँव पेचों पर आधारित न होकर आदर्शों पर आधारित थी । वे यह मानते थे कि किसी भी राजनैतिक व्यक्ति के जीवन में उसके पदों का उतना महत्त्व नहीं होता जितना अपने आदर्शों का होता है । अतः कई बार उन्हें प्रधानमन्त्री पद को त्याग देने में ही अपना हित दिखाई पड़ा था ।

१९६९ के चुनाव में वे राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए । वे सैद्धान्तिक दृष्टि से दगाल की नीतियों के समर्थक थे । उन्हें दगालवादी ही कहा जाता है । उन्होंने अपने देश के हित को सर्वोपरि स्थान दिया था । वह कहा करते थे कि उनकी अपनी नीतियाँ हैं, वह उन्हीं नीतियों का अनुसरण करेंगे जो उनके देश के लिए हितकर होंगी । उन्होंने ऐसी ही नीति योरोपीय साझा मण्डी के साथ भी अपनायी । मृत्यु के एक दिन पूर्व ही उन्होंने कहा था कि योरोपीय साझा मण्डी अपनी पूर्व निषेधाधिकार नीतियों में परिवर्तन करने का प्रयास करेगी तो फ्रांस निषेधाधिकार का प्रयोग करेगा ।

जॉर्ज पोम्पीदू दगाल की परम्परा के प्रतिनिधि थे । ऐसे काल में जब फ्रांस आपस की राजनीतिक दलबन्दी से बीमार हो गया था और उसकी प्रतिष्ठा क्षीण हो चुकी थी, तब दगाल ने राजनीतिक मंच पर आकर फ्रांस को नयी शक्ति से समन्वित किया । अमेरिका के आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव से फ्रांस को मुक्त किया और अटलांटिक सैनिक सन्धि का जुआ फ्रांस के कन्धों से उतार फेंका । अल्जीरिया को आजादी दी । ब्रिटेन से स्वतन्त्र रहकर पश्चिमी योरोपीय देशों का साझा मण्डी का व्यापार क्षेत्र बनाया । राजनैतिक क्षेत्र में महायुद्ध के बाद फ्रांस ने ही यूरोप के स्वाभिमान के लिए सिर ऊँचा किया जिसका अनुकरण आज यूरोप के सब देश कर रहे हैं ।

जॉर्ज पाम्पीदू के नेतृत्व में फ्रांस और जर्मनी के मनोमालिन्य दूर होकर उनमें एकता का बीज वपन हुआ और पश्चिमी जर्मनी के सम्बन्ध रूस और पूर्वी योरोप के देशों के साथ पुनः स्थापित हुए । दो जर्मन देशों की प्रथम सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था में पुनः मित्रता और बराबरी के सम्बन्ध बने । पूर्वी जर्मनी की साम्यवादी सरकार को विश्व के अन्य देशों द्वारा मान्यता दिलाने और पूर्व पश्चिम की धुरियों को एक शांति चक्र पर घुमाने के महत्वपूर्ण कार्यों में जार्ज पाम्पीदू ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी ।

उन्होंने ये सब कार्य इस राजनैतिक दक्षता से किये थे कि उनमें अमेरिकी कुटिल नीति की दाल नहीं गलने पायी थी । जो शांति-सन्तोष योरोप को इन दिनों मिल रहा है बीसवीं सदी में उसे कभी नसीब नहीं हुआ था । इसमें फ्रांस के प्रधानमन्त्री व राष्ट्रपति के रूप में जॉर्ज पाम्पीदू ने जो भूमिकाएँ निभायी थीं वे राजनीति के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगी । वे अपने इन कार्यों के कारण सर्वत्र सराहे गये । अपने युग के राष्ट्र-नेताओं में उनकी गणना होती है ।

उन्होंने भारत जैसे तटस्थ और शांतिप्रिय देश से मित्रता के सम्बन्ध प्रगाढ़ किये । यों भारत की कोरी आदर्शवादी दब्बू नीति के अंध समर्थक वे कभी नहीं रहे । कई बार उन्होंने भारत की अप्रसन्नता मोल लेकर भी फ्रांस को पाँच बड़ी ताकतों में से एक बनाया । साथ ही भारत से सम्बन्ध सुधारने के लिए सैनिक सहयोग किया और सैनिक गुटबन्दी से अलग होकर अपनी निष्पक्षता का परिचय भी दिया । अरब देशों से सम्बन्ध सुधारने की पहलभी उनकी तरफ से ही की गयी । संयुक्त राष्ट्र संघ व सुरक्षा परिषद में फ्रांस ने अपने आपको किसी गुट में न रखते हुए तटस्थता की नीति अपनायी, जो जॉर्ज पोम्पीदू की विश्व शान्ति के लिए निष्ठा का प्रदर्शन करती है ।

राजनीति किस प्रकार देशसेवा का, राष्ट्र के उत्थान का एक हेतु हो सकती है यह जार्ज पोम्पीदू के जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है । यही नहीं अपने देश को समर्थ और शक्तिमान बनाने के प्रयास करते हुए विश्वमैत्री के लिए भी भरसक प्रयास किये जाते हैं । भारतीय नेतागण जो घर में तो राजनीति के खेल खेलते हैं और बाहर आदर्शों की दुहाई देते हैं, उनके इस व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीख सकते हैं । काश वे देश को सही मायने में अपनी राजनीति से कुछ दे पाते जिस प्रकार जॉर्ज पाम्पीदू ने फ्रांस को नया जीवन दिया है ।

पिछले एक वर्ष से जार्ज पोम्पीदू अपनी अस्वस्थता से संघर्ष कर रहे थे । यों राजनीतिज्ञ का जीवन संघर्षों का जीवन ही होता है । उसे कई स्तरों में संघर्ष करना होता है । अपनी अस्वस्थता के दौरान भी उन्होंने राष्ट्र की बागडोर को जिस तरह सम्हाला यह उनकी आन्तरिक शक्ति की परिचायक है । जॉर्ज पाम्पीदू का निधन फ्रांस की ही नहीं विश्व-राजनीति की बहुत बड़ी क्षति है, जिसे उन्हीं जैसा कोई व्यक्तित्व पूरा कर सकता है ।

परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँच स्थापनाएँ

युगद्रष्टा के स्तर की अवतारी सत्ता के रूप में परमपूज्य गुरुदेव ने अपने अस्सी वर्ष के जीवनकाल में जो कुछ किया, उसकी मिसाल कहीं देखने को नहीं मिलती। करोड़ों व्यक्तियों के मनों का निर्माण, उनके सोचने के तरीके में बदलाव एवं युग निर्माण की पृष्ठभूमि बनाकर रख देने का कार्य इन्हीं के स्तर की सत्ता कर सकती थी, जो लाखों वर्षों में कभी-कभी धरती पर आती है। उनके द्वारा की गयी स्थापनाओं का जब प्रसंग आता है तब ईंट-गारे-चूने-सीमेंट से बने भवनों से पहले उनकी स्नेह संवेदना से सिक्त हुए, ममत्व में स्नानकर उनके अपने हो गये लाखों व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, जिनने उनके एक इशारे पर अपना सब कुछ उनको अर्पित कर दिया। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में कभी ऐसा ही वातावरण भारत के कोने-कोने में दिखाई देता था, जब हर घर से सत्याग्रही निकलकर आ रहे थे। भावनाओं का आवेग चिरस्थायी नहीं रहता। वे ही लोग जो कभी राष्ट्र निर्माण के लिए अपना सब कुछ छोड़, पढ़ना-लिखना छोड़ देश को आजाद बनाने के लिए कूद पड़े थे, कभी गड़बड़ाने न पाएँ, उसी के लिए बापू ने आजादी के बाद काँग्रेस भंग कर देने व सभी को एक आदर्श स्वयं-सेवक की तरह दरिद्र नारायण का उत्थान कर राष्ट्र निर्माण में लग जाने की सलाह दी थी।

सभी इस तथ्य को जानते हैं कि ऐसा नहीं हुआ, राष्ट्र का कीर्ति-स्तम्भ रूपी वह महापुरुष भी एक वर्ष के अंदर ही शहादत को प्राप्त हो चला गया। गिने-चुने उनके आदर्शों पर चलने वाले रह गये, अवसरवादियों को राजनीति भाने लगा एवं राष्ट्र आजाद होकर भी उनके हाथ में आ गया जो ब्रिटिश तो नहीं थे किन्तु, उसी देश में ऐसे सत्ता के उन्माद में काम करने वाले शासक थे-- सुजेता नहीं। जिंदा रहा तो मात्र बापू का दर्शन जिसकी आधार पर टिका- मानव को बनाने का तंत्र आश्रम तंत्र जो सेवाग्राम-साबरमती आश्रम के रूप में चलता रहा और वह भी शीर्ष-पुरुष के न रहने, विनोबाजी के चले जाने के बाद अस्तित्व व महत्व की दृष्टि से गौण हो गया। परमपूज्य गुरुदेव ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह सब पूर्व में ही देख लिया था कि कोई भी भवन निर्माण, आश्रम या तंत्र बनाने से पूर्व राष्ट्र को सांस्कृतिक, भौतिक, आध्यात्मिक आजादी दिलाने वाले अगणित व्यक्ति तैयार करने पड़ेंगे। १९११ में आज से ८४ वर्ष पूर्व वि.संवत् २०८६ में जन्मे, राष्ट्र की आजादी में उनके बने श्रीरामभत्त कहलाने वाले, आचार्यश्री ने पहले स्वयं को तपाया, वैचारिक क्रान्ति के निर्माण का आधारभूत तंत्र स्वयं व परमवंदनीया माताजी के रूप में खड़ा किया, 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका अपनी लेखनी से लिखी, प्यार भरी चिट्ठियों व छोटी छोटी एक आने की किताबों से जन-जन के मन को छुआ, तब जाकर अपने एक लक्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर उन्होंने गायत्री तपोभूमि, मथुरा की स्थापना की बात १९५२-५३ में सोची। सबसे पहली मंत्र दीक्षा वहीं पर १९५३ में दी व यह मानते हुए कि बिना आध्यात्मिक आधार बनाये, मनोभूमि में, भावनाओं के स्तर पर बदलाव लाये कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती, धीमी खुराक देते हुए हर व्यक्ति को गायत्री व यज्ञ के तत्त्वदर्शन से जोड़ते हुए चले गये। गायत्री परिवार रूपी विराट वृक्ष का मूल आधार वह स्थापना है जो जन-जन के मनों में पहले हुई- उनकी भाव संवेदनाओं के उदात्तीकरण के रूप में सम्पन्न हुई व उनके अंदर अपनी गुरुसत्ता को त्याग करने की, यज्ञीय जीवन अपनाने की प्रेरणा अलकली होने लगी। उन्होंने सर्वमेध के रूप में अपना सर्वस्व बलिदान एवं नरमेध के रूप में अपने आप को समाज के हित न्यौछावर करने की भावना से दो यज्ञ किये। अपनी जमींदारी के बाण्ड बेचकर एवं परमवंदनीया माताजी के कीमती सोने के जेवर (ढाई सौ तोले) बेचकर जो स्वेच्छा से सम्पन्न हुआ, एक स्थापना भवन के रूप में जो हुई-- वह थी **गायत्री तपोभूमि, मथुरा** जो वृन्दावन रोड पर ऋषि दुर्वासा की जन्मस्थली पर बनी आज से ४२ वर्ष पूर्व १९५३ में। प्रारंभिक स्थापना यों अखण्ड ज्योति संस्थान को माना जा सकता है जहाँ अखण्ड दीपक अपनी जन्मभूमि आँवलखेड़ा से जो वहाँ से मात्र ४० मील दूर थी, स्थापित किया गया था एवं प्रारंभिक तप-तितिक्षा वहीं पर १९४१ से, तपोभूमि की स्थापना से भी १२ वर्ष पूर्व आरम्भ हो गयी थी। इस प्रकार जन-जन के मनों का निर्माण उनके अंत:स्थल में प्रवेश कर उनके अंदर देवत्व के जागरण की ललक पैदा करने वाली पृष्ठभूमि पर स्थापनाओं का क्रम बना। किराये की ऐसी हवेली जिसे भुतहा हवेली कहा

जाता था, में अखण्ड दीपक की स्थापना, उसके समक्ष तप, **अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा** के रूप में विकसित हुआ एवं एक और दूसरा निर्माण मथुरा में ही गायत्री तपोभूमि के रूप में हुआ जो कि ३ मील दूर वृन्दावन रोड पर १९५३ में बनाई गई। १९५३ में क्रमशः सुसंगठित गायत्री परिवार के बनने की प्रक्रिया चल पड़ी।

इस प्रारंभिक भूमिका को समझने के बाद ही परमपूज्य गुरुदेव की पाँच मूल स्थापनाओं एवं बाद में देश के कोने-कोने में बनी भव्य इमारतों के रूप में शक्तिपीठों, प्रज्ञा संस्थानों, भारत व विश्वभर में घर-घर में स्थापित स्वाध्याय मण्डलों व गायत्री परिवार की शाखाओं, प्रज्ञापीठों, चरणपीठों का महत्त्व समझा जा सकता है। नहीं तो जैसे अन्यान्य आश्रम-संस्थान बनते हैं, ऐसे इनका भी वर्णन किया जा सकता था व यह कहा जा सकता था कि यह वैभवपूर्ण स्थापनाएँ पूज्यवर ने कीं। उनमें यदि प्राण फूँके गये हों, प्राणवान व्यक्ति वहाँ रहते हों व उस शक्ति के महा-अवसान के बाद भी वे सतत् उसी दिशा में चल रहे हों तो माना जाना चाहिए कि प्रारंभिक पुरुषार्थ जो किया गया, वह औचित्यपूर्ण था।

परमपूज्य गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण पाँच स्थापनाएँ इस प्रकार हैं—

(१) युगतीर्थ आँवलखेड़ा (२) अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा (३) गायत्री तपोभूमि, मथुरा (४) शान्तिकुंज, गायत्री तीर्थ, सप्तसरोवर, हरिद्वार तथा (५) ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान, सप्तसरोवर, हरिद्वार ।

युगतीर्थ आँवलखेड़ा का नाम सबसे पहले इसलिए लिखा कि यहीं पर वह युगपुरुष संवत् १९६८ की आश्विन कृष्ण त्रयोदशी तिथि के दिन, ब्राह्ममुहूर्त में, जो अँग्रेजी तारीख से २० सितम्बर, १९११ के दिन आती थी, में जन्मा। एक श्रीमंत ब्राह्मण परिवार में, जहाँ धन की कोई कमी नहीं थी, पूरा परिवार संस्कारों से अनुप्राणित, पिता भागवत के प्रकाण्ड पंडित, बहुत बड़ी जागीर के मालिक। आज जहाँ पूज्यवर की स्मृति में एक विराट स्तंभ की, एक चबूतरे की तथा उनके कर्तृत्व रूपी शिलालेखों की स्थापना हुई है- वहीं पूज्यवर ने शरीर से जन्म लिया था। समीप बनी दो कोठरियाँ जो काल प्रवाह के क्रम में गिर सी गयी थीं, जीर्णोद्धार कर वैसी ही निर्मित कर दी गयी हैं- जैसी उनके समय में थीं। जन्मभूमि का कण-कण उस दैवीसत्ता की चेतना से अनुप्राणित है। उनके हाथ से खोदा कुँआ जिसे पूरे गाँव का एकमात्र मीठे जल वाला कुँआ माना गया- वह अभी भी है, उनके हाथ से रोपा नीम का पेड़ एवं वह बैठक जहाँ स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सब बैठकर चर्चा करते थे, आज भी उन दिनों की याद दिलाते हैं। पास में ही दो कोठरियाँ हैं जिनमें से एक कक्ष में वह स्थान है जहाँ दीपक के प्रकाश में से सूक्ष्म शरीरधारी गुरुसत्ता प्रकट हुई थी तथा जिसने उनके जीवन की दिशाधारा का १९२६ के बाद के क्रम का निर्धारण कर दिया था। यह सब देखकर मस्तिष्क-पटल पर वह दृश्य उभर आता था, जिसे गुरुसत्ता ने कभी देखा था व जो गायत्री परिवार की स्थापना का मूल आधार बना। आँवलखेड़ा में ही उनकी माताजी की स्मृति में स्थापित माता दानकुँवरि इण्टर कालेज है जो उनके द्वारा दान दी गयी जमीन में प्रदत्त धनराशि द्वारा विनिर्मित है। १९६३ से चल रहे इस इंटर कालेज से कई मेधावी छात्र निकल कर आत्म-निर्भर बने हैं व उच्च पदों पर पहुँचे हैं।

१९७९-८० में गायत्री शक्तिपीठ एवं कन्या इंटर कॉलेज की स्थापना का [illegible] एक विशाल शक्तिपीठ तथा आसपास के दो सौ ग्रामों की बालिकाओं के पठन-पाठन की [illegible] उन्हें सुशिक्षित, संस्कारवान, आत्मावलम्बी बनाने वाले कन्या महाविद्यालय का अब [illegible] पूर्णाहुति हेतु इसी भूमि को जो शक्तिपीठ-जन्मभूमि-ग्रामीण क्षेत्र के चारों ओर है, इसीलिए [illegible] से उद्भूत प्राण ऊर्जा से यहाँ आने वाला हर संकल्पित साधक अनुप्राणित होकर [illegible] की सांस्कृतिक व भावनात्मक क्रान्ति की पृष्ठभूमि रख सके। यहाँ पूज्यवर १९३५-३७ तक [illegible] आगरा रहकर १९४०-४१ में मथुरा चले गये, जहाँ दो-तीन मकान बदलने के बाद वर्तमान मकान [illegible] लिया जिसे आज अखण्ड-ज्योति संस्थान कहते हैं।

अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा में स्थित है। परमपूज्य गुरुदेव [illegible] अखण्ड दीपक के साथ यहीं रहने लगे एवं यहीं से क्रमशः आत्मीयता विस्तार की जन-जन [illegible] क्रान्तिकारी चिंतन के विस्तार की प्रक्रिया 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका, जो आगरा से ही आरम्भ [illegible] थी, की 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ व अन्यान्य लेखों की पंक्तियों के माध्यम से सम्पन्न होने लगी। व्यक्तिगत पत्रों द्वारा उनके अंतःस्थल को स्पर्श कर एक महान स्थापना का बीजारोपण होने लगा। यहीं पर अगणित दुःखी, [illegible]

व्यक्तियों ने आकर उनके स्पर्श से नये प्राण पाये तथा उनके व परमवंदनीया माताजी के हाथों से भोजन-प्रसाद पाकर उनके अपने होते चले गये। हाथ से बने कागज पर छोटी ट्रेडिल मशीनों द्वारा यहीं पर अखण्ड ज्योति पत्रिका छापी जाती थी व छोटी-छोटी किताबों द्वारा लागत मूल्य पर उसे निकालने योग्य खर्च निकलता था। बगल की एक छोटी-सी कोठरी में जहाँ अखण्ड दीपक जलता था, आज पूजाघर विनिर्मित है। पूरी बिल्डिंग को खरीद कर उनके सुपुत्र ने एक नया आकार व मजबूत आधार दे दिया है किन्तु यह कोठरी अंदर से वैसी ही रखी गयी है जैसी पूज्यवर के समय में १९४२-४३ में रही होगी। तब से लेकर आगामी ३० वर्ष का साधनाकाल-लेखनकाल पूज्यवर का इसी घीयामण्डी के भवन में छोटी-छोटी दो कोठरियों में गहन तपश्चर्या के साथ बीता। तपोभूमि निर्माण की पृष्ठभूमि यहीं बनी, १९५८ में सहस्र कुण्डी यज्ञ की आधारशिला यहीं रखी गयी, यहीं सारी योजना बनी एवं विधिवत-गायत्री परिवार बनता चला गया। रोज आने वाले पत्रों को स्वयं परमवंदनीया माताजी पढ़ती जातीं एवं पूज्यवर इतनी ही देर में जवाब लिखते जाते, यही सूत्र संबंधों के सुदृढ़ बनने का आधार बना। हर परिजन को तीन दिन में जवाब मिल जाता, शंका-समाधान होता चला जाता एवं देखते-देखते एक विराट गायत्री परिवार बनता चला गया। गायत्री महाविज्ञान के तीनों खण्ड, युग निर्माण परक साहित्य, आर्ष-ग्रन्थों के भाष्य को अंतिम आकार देने का कार्य यहीं सम्पन्न हुआ। जनसम्मेलनों, छोटे-बड़े यज्ञों एवं १००८ कुण्डी पाँच विराट् यज्ञों में पूज्यवर यहीं से गये एवं विदाई सम्मेलन की रूपरेखा बनाकर स्थायी रूप से इस घर से १९७१ की २० जून को विदा लेकर चले गये। इस संस्थान के कण-कण में जहाँ आज १० लाख से अधिक संख्या में हिन्दी सहित सभी भाषाओं में अखण्ड ज्योति पत्रिका के प्रकाशन, विस्तार, डिस्पैच आदि का एक विराट तंत्र स्थापित है, परमपूज्य गुरुदेव की चेतना संव्याप्त अनुभव की जा सकती है। भले ही बहिरंग का कलेवर बदल गया हो, अंदर प्रवेश करते ही परमपूज्य गुरुदेव व परमवंदनीया माताजी की सतत विद्यमान प्राणचेतना के स्पन्दन वहाँ विद्यमान हैं, यह प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा को परमपूज्य गुरुदेव की चौबीस महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति पर की गयी स्थापना माना जा सकता है, जिसे विनिर्मित ही गायत्री परिवार रूपी संगठन के विस्तार के लिए किया गया था। इसकी स्थापना से पूर्व चौबीस सौ तीर्थों के जल व रज को संग्रहीत करके यहाँ उनका पूजन किया गया, एक छोटी किन्तु भव्य यज्ञशाला में अखण्ड अग्नि स्थापित की गयी तथा एक गायत्री महाशक्ति का मन्दिर विनिर्मित किया गया। चौबीस सौ करोड़ गायत्री मंत्रों का लेखन जो श्रद्धापूर्वक नैष्ठिक साधकों द्वारा किया गया था, यहाँ पर संरक्षित कर रखा गया है। पू. गुरुदेव की साधनास्थली व प्रातःकाल की लेखनी की साधना की कोठरी यदि अखण्ड ज्योति संस्थान में थी तो उनकी जन-जन से मिलने, साधनाओं द्वारा मार्गदर्शन देने की कर्म-भूमि गायत्री तपोभूमि थी। यहीं पर १०८ कुण्डी गायत्री महायज्ञ में १९५३ में पहली बार पूज्यवर ने साधकों को मंत्र दीक्षा दी। यहीं पर १९५६ में नरमेध यज्ञ तथा १९५८ में विराट सहस्रकुण्डी यज्ञायोजन सम्पन्न हुए। श्रेष्ठ नररत्नों का चयन कर गायत्री परिवार को विनिर्मित करने का कार्य यहीं व्यक्तिगत मार्गदर्शन द्वारा सम्पन्न हुआ। हिमालय प्रवास से लौटकर पूज्य आचार्यश्री ने युग निर्माण योजना के शत-सूत्री कार्यक्रम एवं सत्संकल्प की तथा युग निर्माण विद्यालय के एक स्वावलम्बन प्रधान शिक्षा देने वाले तंत्र के आरम्भ होने की घोषणा की। यह विधिवत् १९६४ से आरम्भ किया गया एवं अभी भी सफलतापूर्वक चल रहा है। जिस कक्ष में परमपूज्य गुरुदेव सभी से मिला करते थे, अभी भी यहाँ देखा जा सकता है। भव्य निर्माण परमपूज्य गुरुदेव की १९७१ की विदाई के बाद यहाँ हो गया है किन्तु, कण-कण में उनकी प्राणचेतना का दर्शन किया जा सकता है। विराट प्रज्ञानगर, युग निर्माण विद्यालय, साहित्य की छपाई हेतु बड़ी-बड़ी ऑफसेट मशीनें तथा युग निर्माण साहित्य जो पूज्यवर ने जीवन भर लिखा, उसका वितरण-विस्तार तंत्र यहाँ पर देखा जा सकता है।

शान्तिकुंज, हरिद्वार ऋषि परम्परा के बीजारोपण केन्द्र के रूप में १९७१ में स्थापित किया गया था, जब परमपूज्य गुरुदेव मथुरा स्थायी रूप से छोड़कर परमवंदनीया माताजी को अखण्ड ज्योति दीपक की रखवाली हेतु यहाँ छोड़कर हिमालय में चले गये। गुरुसत्ता के निर्देश पर वे पुनः एक वर्ष बाद लौटे व तब शांतिकुंज को उनने एक बड़ा विराट रूप देने, सभी ऋषिगणों की मूलभूत स्थापनाओं को यहाँ साकार बनाने का निश्चय किया। इससे पूर्व परमवंदनीया माताजी ने २४ कुमारी कन्याओं के साथ अखण्ड दीपक के समक्ष २४० करोड़

गायत्री मंत्र का अखण्ड अनुष्ठान आरंभ कर दिया था। पूज्यवर ने प्राण प्रत्यावर्तन सत्र, जीवन साधना सत्र, वानप्रस्थ सत्र आदि के माध्यम से विभिन्न क्षेत्र में सक्रिय कार्य करने वाले कार्यकर्त्ता यहीं गढ़े। यह सत्र शृंखला कल्प साधना, संजीवनी साधना सत्रों के रूप में तब से ही ९ दिवसीय सत्रों व एक माह के युग शिल्पी प्रशिक्षण सत्रों के रूप में चल रही है, अभी भी अनवरत उसमें आने वालों का ताँता लगा रहता है। पहले से ही सब अपनी बुकिंग इसमें करा लेते हैं।

शांतिकुंज को गायत्री तीर्थ का रूप देकर सप्तऋषियों की मूर्तियों की स्थापना १९७८-७९ में की गयी, एक देवात्मा हिमालय विनिर्मित किया गया एवं यहाँ सभी संस्कारों को सम्पन्न करते रहने का क्रम बन गया जो सतत् चल रहा है। नित्य यहाँ दीक्षा, पुंसवन, नामकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध-तर्पण आदि संस्कार सम्पन्न होते हैं। इस बीच परमवंदनीया माताजी ने जागरण सत्र शृंखलाएँ सम्पन्न करना आरम्भ रखा। देव कन्याओं को प्रशिक्षित कर पूरे भारत में जीप टोलियों में भेजा गया। इनके माध्यम से तीन वर्ष तक भारत के कोने-कोने में तुमुलनाद होता रहा।

शांतिकुंज का गायत्री नगर जो आज एक विराट स्थापना के रूप में, एक एकेडमी के रूप में नजर आता है व जिसमें एक बार में एक साथ दस हजार व्यक्ति एक साथ ठहर सकते हैं, १९८१-८२ में बनना आरम्भ हुआ । विलक्षण, दुर्लभ जड़ी-बूटियों के पौधे यहाँ लगाये गये तथा प्रखर प्रज्ञा-सजल श्रद्धा रूपी तीर्थस्थली का पूज्यवर ने अपने सामने निर्माण कराया। यहीं उनके निर्देशानुसार उनके शरीर छोड़ने पर दोनों सत्ताओं को अग्नि समर्पित की जानी थी। स्वावलम्बन विद्यालय से लेकर एक विशाल चौके का निर्माण एवं गायत्री विद्यापीठ से लेकर भारत के सभी सरकारी विभागों के प्रशिक्षण के तंत्र की स्थापना यहाँ पर की गयी है एवं यह एक जीता-जागता तीर्थ अब बन गया है, जहाँ पर उज्ज्वल भविष्य की पूर्व झलक देखी जा सकती है। कम्प्यूटरों से सज्जित विशाल कार्यालय से लेकर पत्राचार विद्यालय जहाँ नित्य हजारों पत्रों के द्वारा पूरे तंत्र का मार्गदर्शन किया जाता है, यहाँ की विशेषता है।

ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान परमपूज्य गुरुदेव की अभिनव पाँचवीं स्थापना है, जहाँ पर विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का अभिनव शोध कार्य चल रहा है। इसे १९७९ की गायत्री जयंती पर आरम्भ किया गया था। वर्तमान शांतिकुंज- गायत्री तीर्थ से आधा किलोमीटर दूरी पर गंगातट पर स्थित यह संस्थान अपनी आकर्षक बनावट के कारण सहज ही सबके मनों को मोहकर आमंत्रित करता रहता है। इसमें तीन मंजिलों में प्रथम तल पर एक विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित यज्ञशाला विनिर्मित है तथा चौबीस कक्षों में गायत्री महाशक्ति की चौबीस मूर्तियाँ बीजमंत्रों व उनकी फलश्रुतियों सहित स्थापित हैं। द्वितीय तल पर एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला है, जहाँ ऐसे उपकरण स्थापित हैं जो यह जाँच-पड़ताल करते हैं कि साधना से पूर्व व पश्चात्, यज्ञादि मंत्रोच्चारण के पूर्व व पश्चात् क्या-क्या परिवर्तन शरीर-मन की गतिविधियों व रक्त आदि संघटकों में देखने में आये। इनके आधार पर साधकों को साधना संबंधी परामर्श दिया जाता है। यहाँ पर वनौषधियों का विश्लेषण भी किया जाता है तथा यज्ञ ऊर्जा-मंत्र शक्ति का क्या प्रभाव साधक की मस्तिष्कीय तरंगों, जैव विद्युत आदि पर पड़ा, यह देखा जाता है। विभिन्न प्रकार के मनोवैज्ञानिक परीक्षण भी यहाँ किये जाते हैं। तृतीय तल पर एक विशाल ग्रंथागार स्थापित है, जहाँ विश्वभर के शोध प्रबंध वैज्ञानिक अध्यात्मवाद पर एकत्रित किये गये हैं। यहाँ प्राय: ४५००० से अधिक ग्रंथ हैं, जिनमें कई पुरातन पाण्डुलिपियाँ हैं। यह अपने आप में एक अनूठा संकलन है जो और कहीं एक साथ देखने में नहीं मिलता।

परमपूज्य गुरुदेव की उपरोक्त पाँच स्थापनाएँ किसी को भी यह परिचय दे सकती हैं कि किस विलक्षण दृष्टास्तर की वह महासत्ता थी जो हम सबके बीच अपना लीली संदोह रचकर चली गयी। प्रत्यक्ष तो यह केन्द्रीय पाँच स्थापनाएँ नजर आती हैं किन्तु ४८०० से अधिक अपने भवनों वाले प्रज्ञा संस्थान ४०००० से अधिक प्रज्ञामण्डल व स्वाध्याय मण्डल तथा अगणित गायत्री परिवार की शाखाएँ यदि इनमें मिलाई जाएँ तो इनका मूल्य राशि में आँका नहीं जा सकता। यही वह सब है जो उस महापुरुष को एक अवतारी स्तर की सत्ता के रूप में प्रतिष्ठापित करता है व जिसके कर्तृत्व पर श्रद्धावनत होने का मन करता है। ☐☐☐

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१ युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरद: शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६. ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपने आत्मीय जनों से अपनी बातें

❑❑❑